CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1615

3063

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवराज जैन ग्रन्थमाला : हिन्दी विभाग-३०

श्रीमत् आचार्य शुभचन्द्रविरचित

ज्ञानार्णव

ग्रन्थमाला-सम्पादक

स्व. डॉ. हीरालाल जैन — श्रीमान् पं. कैलाशचन्द्रजी

स्व. डॉ. ए. एन. उपाध्ये — सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी

अनुवादक

श्रीमान् पं. बालचन्द्रजी शास्त्री

प्रकाशक

जैन संस्कृति संरक्षक संघ

सोलापूर

वीर संवत् २५०३] सन् १९७७ [मूल्य : बीस रुपये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशक :
श्रीमान् सेठ लालचन्द हीराचन्द
अध्यक्ष–जैन संस्कृति संरक्षक संघ
सोलापूर

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथमा आवृत्ति : प्रति १०००

मुद्रक :
सन्मति मुद्रणालय,
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–२२१००१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

JĪVARĀJA JAIN GRANTHAMĀLĀ No. 30

SHUBHACHANDRACHARYA'S

JÑĀNĀRṆAVA

General Editors

Late. Dr. H. L. Jain
Late. Dr. A. N. Upadhye

Pt. Kailash Chandra
Siddhantacharya, Varanasi

Hindi Translation of

Pt. Balchandra Shastri

3063

Published by

Jain Saṁskriti Saṁrakshaka Sangha

SHOLAPUR

1977

Twenty five

Price : Rs. ~~Twenty~~ Only

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Published by

LALCHANDA HIRACHAND DOSHI

Jain Sanskriti Samrakshaka Sangha

Sholapur.

All Rights Reserved

First Edition : 1000 Copies

Printed by

Sanmati Mudranalaya,

Durgakund Road, Varanasi–221001

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सादर समर्पण

श्रीमान् स्व. डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, कोल्हापूर, जिन्होंने जीवराज जैन
ग्रन्थमालाके आजीवन ऑनरेरी सम्पादक रूपसे ग्रन्थमालाकी
तथा जैन साहित्यकी असाधारण सेवा की
एतदर्थ
यह **ज्ञानार्णव** ग्रन्थ
उनकी पावन स्मृतिनिमित्त
सादर समर्पित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय निवेदन

यह ज्ञानार्णव ग्रन्थ ध्यान-योगका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेवाला अपूर्व अध्यात्म ग्रन्थ है। इस ग्रन्थके हिन्दी अनुवाद करनेमें श्रीमान् पं. बालचन्द्रजी शास्त्रीने सहयोग दिया उसके लिए हम उनका हार्दिक धन्यवाद मानते हैं।

तथा इस ग्रन्थके प्रकाशन कार्यमें सन्मति मुद्रणालय वाराणसीका सहयोग मिला जिसके लिए हम उनका आभार मानते हैं।

यह ग्रन्थ ध्यान धारणा करनेवाले मुमुक्षु भव्य जीवोंको अतीव उपयुक्त होगा ऐसी हम आशा करते हैं।

मन्त्री
बालचन्द देवचन्द शहा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवराज जैन ग्रन्थमाला

परिचय

सोलापुर निवासी स्व. ब्र. जीवराज गौतमचन्द दोशी कई वर्षोंसे उदासीन होकर धर्मकार्यमें अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० में उनकी प्रबल इच्छा हो उठी कि अपनी न्यायोपार्जित सम्पत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म तथा समाजकी उन्नतिके कार्यमें करें। तदनुसार उन्होंने अनेक स्थानोंपर भ्रमण कर जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित रूपसे सम्मतियाँ इस बातकी संग्रह कीं, कि कौन-से कार्यमें सम्पत्तिका उपयोग किया जाये। स्फुट मतसंचय कर लेनेके पश्चात् सन् १९४१ में ग्रीष्मकालमें श्रीमान् ब्रह्मचारीजीने सिद्ध क्षेत्र गजपन्थाजी क्षेत्रके शीतल वातावरणमें अनेक विद्वानोंको आमन्त्रित किया। उनके सामने ऊहापोह पूर्वक निर्णय करनेके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया।

विद्वान् सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैन संस्कृति तथा प्राचीन जैन साहित्यके समस्त अंगोंका संरक्षण-उद्धार और प्रचारके उद्देश्यसे **'जैन संस्कृति संरक्षक संघ'** नामक संस्थाकी स्थापना की। उसके लिए रु. ३०००० के दानकी घोषणा कर दी।

उनकी परिग्रह निवृत्ति प्रतिदिन बढ़ती गयी। सन् १९४४ में उन्होंने लगभग अपनी दो लाखकी सम्पूर्ण सम्पत्ति संघको ट्रस्टरूपसे अर्पण की।

इसी संघके अन्तर्गत जीवराज जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्राचीन प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी-मराठी पुस्तकोंका प्रकाशन हो रहा है।

आजतक इस ग्रन्थमालासे हिन्दी विभागमें ३० ग्रन्थ, कन्नड विभागमें ३ ग्रन्थ तथा मराठी विभागमें ४५ ग्रन्थ प्रकाशित हो गये हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ इस ग्रन्थमालाका ३०वाँ पुष्प है।

□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

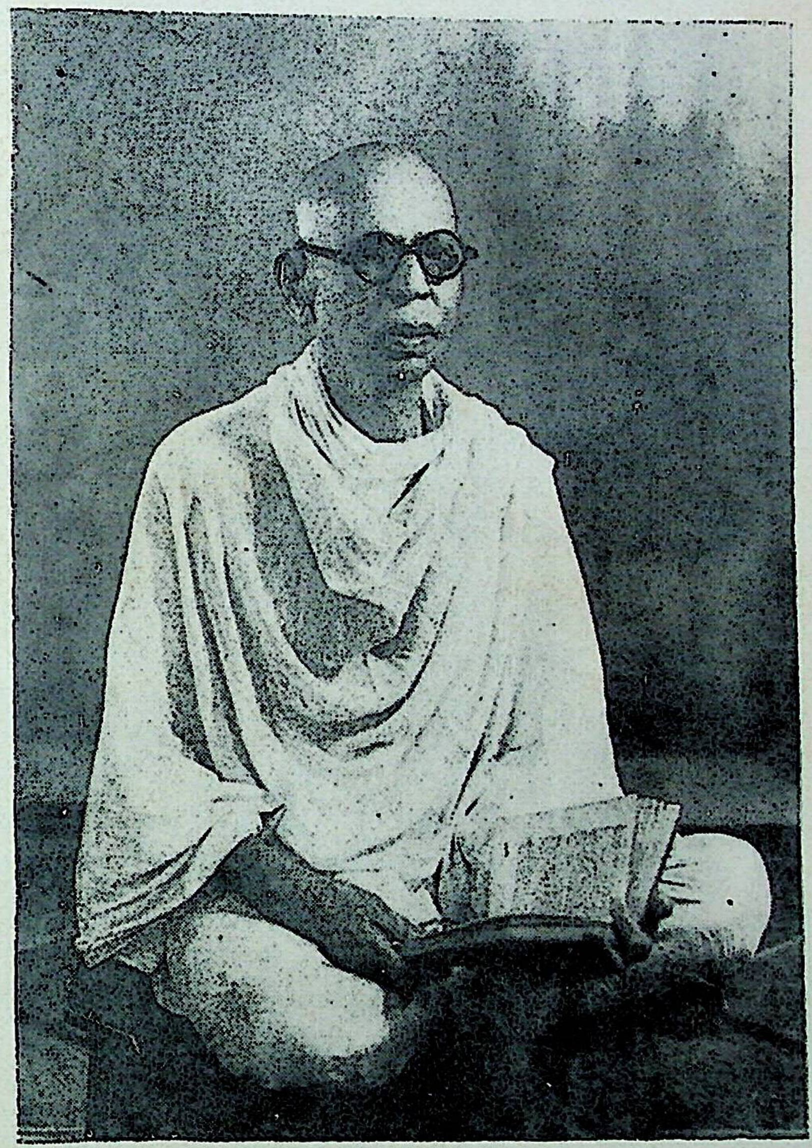

स्व. ब्र. जीवराज गौतमचन्द दोशी
स्व. रो. ता. १६-१-५७ (पोष शु. १५)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रधान सम्पादकीय

जैन सिद्धान्तके अनुसार जीव कर्मसे बद्ध होकर अनादिकाल से इस संसारमें परिभ्रमण करता रहता है। जब वह अपने स्वरूपको पहचान उसकी श्रद्धा करके उसीमें लीन होता है तो संसारके बन्धनसे मुक्त होता है। मुक्तिके उपाय हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। जीव और अजीवके परस्परमें मेलका नाम संसार है। संसारके प्रधान कारण आस्रव और बन्ध हैं। और संसारके विरामरूप मोक्षके प्रधान कारण संवर और निर्जरा हैं। संवर और निर्जराका प्रधान कारण सम्यक्चारित्र है और उसमें तप भी गर्भित है। तपके दो भेद हैं—बाह्य और अभ्यन्तर। उनमें-से भी प्रत्येकके छह भेद हैं। अभ्यन्तर तपके ही छह भेदोंमें-से एक भेद ध्यान है। ध्यानके चार भेद हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। इनमें-से प्रथम दो संसारके कारण हैं और अन्तिम दो मोक्षके कारण हैं। इससे स्पष्ट है कि ध्यान शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है। किन्तु जब हम ध्यानकी चर्चा करते हैं तो हमारा लक्ष्य शुभ ध्यान ही होता है, अशुभ ध्यान नहीं होता। किन्तु ध्यानका शुभत्व और अशुभत्व ध्याता और ध्येयपर निर्भर है। यदि ध्याता विषय और कषायसे ग्रस्त है और उन्हींके विचारमें निमग्न है तो वह ध्यान अशुभ ध्यान है। आर्त और रौद्र ऐसे ही अशुभ ध्यान हैं। इन ध्यानोंके लिए किसी प्रकारके शिक्षण या योगाभ्यासकी आवश्यकता नहीं होती। आहार, भय, मैथुन और परिग्रहरूपी संज्ञा प्रत्येक संसारी प्राणीमें सामान्य है। अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार सभी प्राणी इनकी चिन्ताओंमें फँसे रहते हैं। उनका जीवन इन्हींकी चिन्तामें बीतता है अतः इनकी चिन्तासे निवृत्त होनेपर ही शुभध्यानमें प्रवृत्ति हो सकती है। इसीसे (ज्ञाना. २६९) कहा है—यदि तू कामभोगोंसे विरक्त होकर तथा शरीरमें स्पृहा छोड़कर निर्ममत्व भावको प्राप्त कर सका है तो तू ध्यानका अधिकारी है। उसीकी तैयारीके लिए ज्ञानार्णवके प्रारम्भमें बारह अनुप्रेक्षाओंका कथन किया है। तथा विविध उपदेश दिये हैं।

ध्यानका स्वरूप

तत्त्वार्थसूत्रके नवम अध्यायके अन्तमें ध्यानका वर्णन है और उससे पूर्वमें जो संवर और निर्जराके प्रसंगसे गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रका वर्णन है वह सब एक तरहसे धर्म और शुक्लध्यानके योग्य ध्याता बनानेकी ही प्ररूपणा है। उस सब तैयारीके बिना इन शुभ ध्यानोंका ध्याता होना सम्भव नहीं है। पातंजल योगदर्शनके प्रारम्भमें भी हम ऐसा ही पाते हैं। उसके बिना चित्तवृत्तिका निरोध सम्भव नहीं है और चित्तवृत्तिके निरोधको ही योग कहा है।

किन्तु त. सू. (९।२७) में ध्याताके लिए केवल उत्तम संहनन पद ही दिया है। जिसका अस्थिबन्धन आदि सुदृढ़ और अभेद्य होता है उसे उत्तम संहनन कहते हैं। दिगम्बर व्याख्याकारोंके अनुसार छह संहननोंमें-से आदिके तीन संहनन ध्यानके लिए उत्तम हैं किन्तु मोक्षप्राप्तिके लिए केवल प्रथम संहनन ही उपयोगी है। किन्तु श्वेताम्बर व्याख्याकारोंके अनुसार आदिके चार संहनन उत्तम हैं।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यह कथन सामान्य ध्याताका है। यह अशुभ ध्यानके ध्यातामें कैसे संगत हो सकता है? इसका उत्तर है कि जैन सिद्धान्तके अनुसार सप्तम नरकमें वही मनुष्य मरकर जन्म लेता है जो प्रथम उत्तम संहननका धारी होता है। अर्थात् जिस संहननसे मोक्षकी प्राप्ति होती है उसी संहननसे सप्तम नरकमें उत्पत्ति होती है। अतः जैसे उत्कृष्ट शुभ ध्यानके लिए उत्तम संहनन आवश्यक है उसी प्रकार उत्कृष्ट अशुभ ध्यानके लिए भी उत्तम संहनन आवश्यक है।

उसी सूत्रमें ध्यानका लक्षण 'एकाग्रचिन्तानिरोध' किया है। यह लक्षण योगदर्शनके चित्तवृत्तिनिरोधसे भिन्न है और उस भिन्नताका कारण है जैन मान्यता। जैन मान्यताके अनुसार चित्त अर्थात् मनकी वृत्तियाँ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्माकी ही वृत्तियाँ हैं, क्योंकि भावमन ज्ञानरूप है और ज्ञान आत्माका गुण है। जैनदर्शनमें गुणकी सत्ता गुणीसे भिन्न नहीं है। दोनोंका तादात्म्य है। अतः आत्मा ज्ञानरूप है और ज्ञान आत्मरूप है। किन्तु भावमन ज्ञानरूप होकर भी ईषत् इन्द्रिय होनेसे अनिन्द्रिय कहा जाता है। संसार अवस्थामें अल्पज्ञानी जीवके गुण-दोष विचार स्मरण आदि व्यापारोंमें वह सहायक होता है। जैसे इन्द्रियाँ रूप, रस, स्पर्श आदिका ज्ञान करानेमें सहायक होती हैं। गुण-दोषका विचारक और स्मरण आदिका कर्ता तो आत्मा ही है। अतः जिन्हें चित्तकी वृत्तियाँ कहा जाता है वे सब मूलमें आत्माकी ही वृत्तियाँ हैं। रागी-द्वेषी आत्मा ही मनके द्वारा उन व्यापारोंमें प्रवृत्त होता है। अतः जबतक राग-द्वेषपर नियन्त्रण नहीं होता तबतक चित्तकी चंचलतापर नियन्त्रण नहीं हो सकता। और जबतक चित्तकी चंचलतापर नियन्त्रण नहीं होता। तबतक ध्यान द्वारा आत्मदर्शन सम्भव नहीं है। कहा भी है—

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्। स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः॥३५॥—समाधितन्त्र।

'जिसका मनरूपी जल रागद्वेष आदि लहरोंसे चंचल नहीं होता, वह आत्माके यथार्थ स्वरूपको देखता है, अन्य जन उस आत्मतत्त्वका दर्शन नहीं कर सकते।'

इसके सिवाय चंचलचित्तका ही नाम चिन्ता[1] है। उसका अवलम्बन एक अर्थ न होकर अनेक अर्थ होते हैं। अनेक अर्थोंसे हटाकर एकमें ही उसके नियमनको 'एकाग्रचिन्तानिरोध' कहते हैं। किन्तु 'एकाग्र'में अग्र शब्दका प्रयोग अर्थपरक नहीं है। यदि अर्थपरक हो तो पृथक्त्ववितर्क नामक शुक्लध्यानमें जो अर्थसंक्रान्ति होती है उसमें विरोध आता है। वहाँ एक अर्थमें निरोध नहीं रहता। किन्तु अग्रका अर्थ मुख लेनेसे अनेक-मुखताकी निवृत्ति हो जाती है। एकमुख होते हुए भी अर्थसंक्रम होनेपर भी ध्यान होता है किन्तु अनेक-मुखतामें व्यग्रता रहती है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि केवल चिन्तानिरोधको ही ध्यान क्यों नहीं कहा। निरोधका अर्थ अभाव भी होता है और ऐसी अवस्थामें ध्यान केवल चिन्ताका अभाव अर्थात् किसी प्रकारकी कोई चिन्ता न होना मात्र रह जाता है।

किन्तु तत्त्वार्थसूत्रके व्याख्या ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि और तदनुसारी तत्त्वार्थवार्तिककी उक्त व्याख्याकी आलोचना अपराजित सूरिने अपनी विजयोदया[2] टीकामें की है। वह लिखते हैं—

कोई आचार्य ऐसा कहते हैं कि नाना अर्थोंका अवलम्बन लेनेसे चिन्ता परिस्पन्दनशील होती है। उसको एक अग्रमें नियमित करना चिन्तानिरोध है। उनसे पूछना चाहिये कि जब चिन्ताके आश्रय नाना अर्थ हैं तो वह एक अर्थमें ही नियमित कैसे हो सकती है। यदि वह एक ही अर्थमें प्रवृत्त होती है और नाना अर्थोंके अवलम्बनरूप परिस्पन्दवाली नहीं है तो उसका निरोध कहना असंगत है। अतः यहाँ ऐसा व्याख्यान करना चाहिए—चिन्ता शब्दसे चैतन्यको कहा है। वह चैतन्य भिन्न-भिन्न अर्थोंको जाननेपर ज्ञानपर्यायरूपसे वर्तन करनेसे परिस्पन्दरूप होता है उसका निरोध अर्थात् एक ही विषयमें प्रवृत्ति चिन्ता-निरोध है।

इसी एकाग्रचिन्तानिरोधका एक अन्य व्याख्यान तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्रमें मिलता है। उसमें कहा है—'अंगति' अर्थात् जो जानता है वह अग्र है। इस निरुक्तिके अनुसार अग्रका अर्थ होता है आत्मा। तत्त्वोंमें अग्रगण्य होनेसे भी 'अग्र' शब्दसे आत्माका स्मरण किया गया है। 'एक' का अर्थ होता है केवल अथवा तथोदित अर्थात् शुद्ध। और अन्तःकरणकी व्यक्तिको चिन्ता कहते हैं उसका रोध अर्थात् नियन्त्रण। अर्थात् शुद्ध आत्मामें चित्तवृत्तिका नियन्त्रण ध्यान है। और यदि निरोधका अर्थ अभाव करते हैं तो आत्मामें चिन्ताका अभाव ध्यान है और वह स्वसंवेदन रूप श्रुतज्ञान है जो रागद्वेषसे रहित होनेसे उदासीन यथार्थ अतिनिश्चल होता है। [तत्त्वानु. ६२-६६ श्लो.]।

---

१. 'चलचित्तमेव चिन्ता'।—त. भा. सिद्ध. टी. ९।२७ २. भग. आरा., गा. १६९९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यान और ज्ञान

यहाँ ध्यान और ज्ञानका भेद भी द्रष्टव्य है। जैन दर्शनमें आत्मामें अनन्तगुण माने गये हैं। किन्तु उनमें अपना और परका बोध करानेवाला एक ज्ञानगुण ही है अतः जैन अध्यात्ममें कहा है—

'आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किम्।'—समयसार कलश

आत्मा ज्ञान है। ज्ञानके सम्बन्धसे ज्ञान नहीं है किन्तु स्वयं ज्ञान है। वह जाननेके सिवाय अन्य कुछ नहीं करता। करना उसका काम नहीं है मात्र जानना ही उसका काम है। जबतक उसमें कर्तृत्वबुद्धि रहती है तबतक उसकी संसारसे मुक्ति नहीं होती। उसकी कर्तृत्वबुद्धि ही उसकी आकुलताका मूल कारण है। उसमें योग देते हैं उसके मन-वचन-काय। मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति ही, जिसे जैनधर्ममें योग शब्दसे कहा है, क्रोध मान माया और लोभ नामक कषायसे अनुरक्त होकर उसके संसार बन्धनको अनन्त बनाती है। जब उसमें ज्ञानमूलक चारित्रकी धारा प्रवाहित होती है तो कषायोंके साथ उक्त योगका भी निरोध होता है। वस्तुतः तभी वह ध्याता बनता है। उसमें प्रवाहित ज्ञानकी धारा ध्यानावस्थामें निश्चल हो जाती है। इसलिए उसे ज्ञान[1] न कहकर ध्यान कहते हैं।

ज्ञानार्णव

सम्भवतया इसीसे आचार्य शुभचन्द्रने अपने इस ध्यानशास्त्रका नाम ज्ञानार्णव रखा है और अन्तिम पुष्पिकाओंमें अपर नाम योगप्रदीपाधिकार दिया है। ध्यानके लिए योगशब्दका चलन जैनपरम्परामें नहीं रहा है। यों तो प्रकरणवश ध्यानका वर्णन आगमिक साहित्यमें तथा उत्तरकालीन साहित्यमें मिलता है किन्तु ध्यान पर स्वतंत्र ग्रन्थ कम ही मिलते हैं। अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिक (९।२७) में ध्यानका वर्णन करते हुए अन्तमें एक ध्यानप्राभृत नामक ग्रन्थका उल्लेख किया है किन्तु वह उपलब्ध नहीं है। हरिभद्रसूरिने एक ध्यानशतकपर टीका रची है। और उस टीकाके साथ वह ध्यानशतक वीर. सं. २४६७ में जामनगरसे मुद्रित हुआ है। उसपर उसे जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण रचित छपा है। किन्तु पं. दलसुखजी मालवणिया-जैसे विद्वान् उसे उनका नहीं मानते। उसे हम ध्यानपर रचा गया प्रथम स्वतन्त्र ग्रन्थ कह सकते हैं। इसमें १०५ गाथाएँ हैं। दूसरी गाथामें स्थिर अध्यवसानको ध्यान और चंचल चित्तको भावना अनुप्रेक्षा तथा चिन्ता शब्दसे कहा है। हरिभद्रसूरिकी टीकासे यह तो स्पष्ट है कि यह उनसे पूर्वका है। इसकी लगभग पचास गाथाएँ षट्खण्डागमकी धवला टीका (पु. १३, पृ. ६४-८७) में उद्धृत हैं। इसमें भी चारों ध्यानोंका कथन है।

हरिभद्रसूरिने योगपर कुछ ग्रन्थ रचे हैं। किन्तु दिगम्बर परम्परामें तत्त्वानुशासनके पश्चात् ध्यानपर उपलब्ध ग्रन्थ एक ज्ञानार्णव ही है। ज्ञानार्णवके पश्चात् भास्करनन्दिने एक ध्यानस्तव रचा है जिसमें १०० श्लोक हैं। अतः ज्ञानार्णव अपने विषयका एक विस्तृत ग्रन्थ है। इसमें ध्यानके अंगभूत ऐसे विषयोंकी भी चर्चा है जिसका वर्णन उससे पूर्वके जैन साहित्यमें नहीं है।

जैन परम्परामें ध्यानके आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल ये चार भेद ही प्राचीनकालसे मान्य रहे हैं। किन्तु दिगम्बर परम्परामें योगसार (९८) में ही सर्वप्रथम पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानोंका उल्लेख मात्र मिलता है। परमात्मप्रकाश (पृ. ६) और बृहद्द्रव्यसंग्रहकी टीका (गा. ४८) में टीकाकार ब्रह्मदेवने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें इन चारोंका स्वरूप कहा है। वि. सं. १०८६ में रचे गये ज्ञानसार[2]में धर्मध्यानके भेदोंमें पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ भेद गिनाकर तीनोंका वर्णन किया है।

किन्तु सर्वप्रथम ज्ञानार्णवमें ही इन ध्यानोंका वर्णन विस्तारसे मिलता है। श्वेताम्बर परम्पराके

---

१. ज्ञानमेवापरिस्पन्दाग्निशिखावदवभासमानं ध्यानमिति। —सर्वार्थ., तत्त्वार्थवार्तिक ९।२७।

२. झाएह तिप्पयारं अरुहं कम्मिधणाण णिद्दहणं। पिण्डत्थं च पयत्थं रूवत्थं गुरुपसाएण॥१८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साहित्यमें तो इन चारों ध्यानोंके नामों तकका भी उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी आचार्य हेमचन्द्रने अपने योगशास्त्रमें ज्ञानार्णवकी शैलीमें ही उनका विस्तारसे कथन किया है। प्रायः विद्वानोंका यही मत रहा है कि हेमचन्द्राचार्यने शुभचन्द्राचार्यके ज्ञानार्णवका ही अनुसरण किया है। किन्तु इधर दो लेख दृष्टिगोचर हुए जिनमें शुभचन्द्रके ज्ञानार्णवको हेमचन्द्रके योगशास्त्रका रूपान्तर कहा है।

इसमें तो सन्देह नहीं कि दोनोंमें इतनी एकरूपता है कि दोनोंमें-से कोई एक दूसरेका रूपान्तर अवश्य है। किन्तु कौन किसका रूपान्तर है यही विचारणीय है। आचार्य हेमचन्द्रका समय तो निश्चित है। उनका स्वर्गवास वि. सं. १२२९ में हुआ था। अतः यह निश्चित है कि उनका योगशास्त्र उससे पूर्व रचा गया था। किन्तु आचार्य शुभचन्द्रका समय अज्ञात है। पं. आशाधरने भगवती आराधनाकी अपनी टीकामें ज्ञानार्णवसे कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं। और इस मूलाराधनाका उल्लेख आशाधरने जिनयज्ञकल्पकी अपनी प्रशस्तिमें किया है और उसी प्रशस्तिमें उसका रचनाकाल विक्रम संवत् १२८५ दिया है। इससे स्पष्ट है कि जिस मूलाराधना दर्पणमें ज्ञानार्णवसे श्लोक उद्धृत किये गये हैं वह वि. सं. १२८५ से पूर्वमें रचा गया था और ऐसी स्थितिमें ज्ञानार्णव उससे भी पहले रचा जा चुका था। किसी ग्रन्थसे कोई अन्य ग्रन्थकार तभी उद्धरण देता है जब वह प्रचलित होकर ज्ञानियोंमें अपना स्थान बना लेता है और उसमें कुछ समय तो लगता ही है। तब पाटणकी प्रतिके अन्तमें दिये गये उसके लेखनकाल संवत् १२८४ को ही उसका रचनाकाल कैसे माना जा सकता है। १२८४ से पूर्व तो आशाधरका मूलाराधनादर्पण ही रचा गया था जिसमें ज्ञानार्णवसे श्लोक उद्धृत हैं।

पाटणकी प्रतिकी लेखक प्रशस्ति भी विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है। उसके पहले अन्तिम पुष्पिका वाक्य इस प्रकार है— 'इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे पण्डिताचार्यश्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते।' तथा प्रशस्तिके अन्तिम दो श्लोक इस प्रकार हैं—

तया कर्मक्षयस्यार्थं ध्यानाध्ययनशालिने। तपःश्रुतनिधानाय तत्त्वज्ञाय महात्मने॥
रागादिरिपुमल्लाय शुभचन्द्राय योगिने। लिखाप्य पुस्तकं दत्तमिदं ज्ञानार्णवाभिधम्॥

आगे अन्तिम वाक्य इस प्रकार है—संवत् १२८४ वर्षे वैशाख सुदि १० शुक्रे गोमंडले दिगम्बरराजकुलसहस्रकीर्ति (र्त) स्यार्थे पं. केशरीसुतवीसलेन लिखितमिति।

उक्त भ्रमका कारण यह है कि ज्ञानार्णवके रचयिताका तथा जिसे लिखाकर पुस्तक भेंट की गयी उनका नाम समान है। यदि नाम समान न होता तो ग्रन्थके लिपिकालको ही उसका रचनाकाल मान लेनेकी गलती न की जाती। किन्तु नाम समान होनेपर भी दोनोंकी उपाधियोंमें भिन्नता है। इसके सिवाय यह भी विचारणीय है कि यदि जिस शुभचन्द्रने ज्ञानार्णव रचा उन्हें ही उसकी प्रति भेंट की गयी तो क्या जिस शुभचन्द्र योगीकी प्रशंसामें दो श्लोक रचे गये उनमें इतनी बड़ी बात छोड़ दी जाती कि जिन्होंने इस ग्रन्थको रचा उन्हें ही यह पुस्तक दी गयी। रचयिताको ही उसकी पुस्तक लिखाकर दी जाये और इतनी विस्तृत प्रशस्तिमें इतनी मौलिक बात छूट जाये या छोड़ दी जाये यह तो अत्यन्त ही आश्चर्यजनक है।

फिर अन्तिम वाक्यमें कहा है कि संवत् १२८४ वर्षमें वैसाख सुदी १० शुक्रवारको गोमण्डलमें दिगम्बर राजकुल सहस्रकीर्तिके लिए केशरीसुत वीसलने लिखा।

विचारणीय यह है कि यह वि. सं. १२८४ लेखनकाल तो उस प्रतिका है जो वीसलने सहस्रकीर्तिके लिए दी थी। और वह प्रति वही है जिसपर उसका लेखनकाल लिखा है। क्या वही प्रति जाहिणीने लिखाकर शुभचन्द्र योगीको दी थी। तब यह अन्तिम लेखकप्रशस्ति किस प्रतिकी है? हमें लगता है कि जिस प्रतिसे यह प्रति की गयी है उसमें उक्त प्रशस्ति रही है। और उसीकी प्रतिलिपि पाटणकी प्रतिमें है। यह प्रति वह प्रति नहीं है जिसे जाहिणीने लिखाकर शुभचन्द्र योगीको भेंट किया था। वह प्रति इससे भी प्राचीन रही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसीसे इस प्रतिके परिचयमें डॉ. उपाध्येने लिखा है कि 'प्रतिके देखनेसे लगता है कि काफ़ी प्राचीन प्रतिके आधारपर इसका संशोधन किया गया है, यदि यह माना ही जाता है कि जाहिणीने ज्ञानार्णवकी प्रति लिखाकर उसके रचयिताको भेट की थी तो यह नहीं कहा जा सकता कि ई. १२२७ (वि. सं. १२८४) में इस प्रतिके होनेसे पूर्व कितनी पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं।'

अतः ग्रन्थकार और जाहणवींके द्वारा लिखाकर जिसे प्रति दी गयी उसके नामकी साम्यता तथा पाटण की प्रतिके अन्तमें लिखे गये उसके लेखनकालको ही जाहणवींके द्वारा भेंट की गयी प्रतिका लेखनकाल समझ लेनेकी भूलोंके कारण ही ज्ञानार्णवका रचनाकाल संवत् १२८४ मान लेनेकी भूल की गयी है अतः उसके आधारपर यह किसी भी तरह नहीं माना जा सकता कि ज्ञानार्णव हेमचन्द्रके योगशास्त्रका रूपान्तर है।

इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य हेमचन्द्र बहुश्रुत विद्वान् होनेके साथ प्रतिभाके धनी थे। शास्त्रोंकी कोई ऐसी शाखा नहीं है जिसे उन्होंने अपनी कृतिसे अलंकृत न किया हो। साहित्य, काव्य, पुराण, दर्शन, व्याकरण, कोश, संस्कृत, प्राकृत सभी तो उनसे अनुप्राणित हैं। और इसीसे वे कलिकाल सर्वज्ञ कहे जाते हैं।

किन्तु आलोचकोंकी दृष्टिमें हेमचन्द्र संग्राहकके रूपमें विशेष महत्त्व रखते हैं। उनका काव्यानुशासन काव्यमीमांसा, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक आदिका ऋणी है। उनके व्याकरणमें पूर्व व्याकरणोंसे प्रभूत सामग्री ली गयी है। देशीनामलालामें धनपालरचित पाइअलच्छि नाममालाका बहुशः उपयोग किया गया है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितके अन्तर्गत अर्हत्सहस्रनाम जिनसेनके महापुराणके अन्तर्गत रचित जिनसहस्रनामकी ही शब्दशः अनुकृति है। ऐसी स्थितिमें उनका योगशास्त्र उनकी इस संग्राहकवृत्तिसे अछूता हो, यह सम्भव प्रतीत नहीं होता।

उसकी रचना चौलुक्य कुमारपालकी अत्यर्थ अभ्यर्थनावश की गयी है। हमें ऐसा लगता है कि उनकी अत्यर्थ अभ्यर्थनासे प्रेरित होकर आचार्य हेमचन्द्रने ज्ञानार्णवको उपजीव्य बनाकर योगशास्त्र रचा है।

ज्ञानार्णवमें तो ग्रन्थकारने जो पद्य अन्य ग्रन्थोंसे लिये हैं उनका 'उक्तं च' करके निर्देश किया है। उनमें तत्त्वार्थ सूत्र, महापुराण, तत्त्वानुशासन, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और सोमदेव उपासकाध्ययन (यशस्तिलक) के पद्य भी हैं। अन्य अनेक श्लोकोंका स्थान खोजा नहीं जा सका है। उनमें कुछ जैनेतर ग्रन्थ भी प्रतीत होते हैं जो योगविषयक हैं। हेमचन्द्रके योगशास्त्रका उत्तरार्ध ही यथार्थमें योगसे सम्बद्ध है। पूर्वार्धकी पृष्ठ संख्या ३४० है किन्तु उत्तरार्ध की ५५ पृष्ठ मात्र हैं। उनमें भी पाँचवाँ प्रकाश बड़ा है और उसमें २५ पृष्ठोंमें प्राणायामका वर्णन है। शेष तीस पृष्ठोंमें ध्यानका वर्णन है। उसमें उद्धृत पद्य अत्यन्त ही विरल है। तीन पद्य हमें मिले और तीनों ही ज्ञानार्णवमें उद्धृत हैं। ज्ञानार्णवमें उद्धृत दो श्लोक ऐसे मिले जिन्हें परिवर्तित करके मूलमें मिला लिया गया है। उनमें एक प्रसिद्ध श्लोक इस प्रकार है—

सूक्ष्मं जिनेन्द्रवचनं हेतुभिर्यन्न हन्यते। आज्ञासिद्धं च तद् ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः॥

यह श्लोक दिगम्बर परम्परा में बहुत प्रसिद्ध है। उसमें जिनेन्द्रवचनंके स्थानमें 'जिनोदितं तत्त्वं' पाठ है। इसका अन्तिम चरण आज्ञाविचय धर्मध्यानके प्रसंगमें सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक दोनोंमें है। ज्ञानार्णवमें भी आज्ञाविचयके प्रसंगमें ही यह उद्धृत है। हेमचन्द्राचार्यने भी इसे उसी प्रसंगमें इस प्रकार परिवर्तित किया है—

सर्वज्ञवचनं सूक्ष्मं हन्यते यन्न हेतुभिः। तदाज्ञारूपमादेयं न मृषाभाषिणो जिनाः॥–१०।९

ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त श्लोक श्वेताम्बर परम्परामें प्रचलित नहीं है इसीसे परिवर्तित करना पड़ा है। क्योंकि ज्ञानार्णव में तो दिगम्बर ग्रन्थोंके भी अनेक उद्धरण हैं किन्तु उनमें-से कोई भी योगशास्त्रमें उद्धृत नहीं है, परिवर्तित हो सकता है। अस्तु।

१. ज्ञानार्णव १९३४, २०२९, २०७६ और योगशास्त्र ९।१४, ८।७९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उक्त तथ्योंके प्रकाशमें यह स्पष्ट है कि ज्ञानार्णव योगशास्त्रका रूपान्तर नहीं है किन्तु योगशास्त्र ही ज्ञानार्णवका रूपान्तर है।

योगशास्त्र (गुजराती) के उपोद्घातमें श्री गोपालदासजी पटेलने लिखा था—'दोनों ग्रन्थोंका विषय-निरूपण देखते हुए ही लगता है कि हेमचन्द्राचार्यका योगशास्त्र बहुत व्यवस्थित तथा संक्षिप्त है जबकि ज्ञानार्णव शास्त्र ग्रन्थ की अपेक्षा उपदेशग्रन्थ अधिक है। और इस कारण उसका निरूपण जरा शिथिल है। अर्थात् ज्ञानार्णवको ही अधिक व्यवस्थित और संक्षिप्त करके योगशास्त्र रचा गया होगा, ऐसा जान पड़ता है।'

हमें श्री पटेलका उक्त कथन ही यथार्थ प्रतीत होता है। अमितगतिके श्रावकाचारका जितना स्पष्ट प्रभाव हेमचन्द्रके योगशास्त्रपर है उतना ज्ञानार्णवपर नहीं है। अमितगतिने वि. सं. १०५० में सुभाषित रत्न-सन्दोह और १०७३ में पंचसंग्रह रचा है। इसी कालमें श्रावकाचार रचा गया है। अतः ज्ञानार्णव भी उसीके आसपास रचा गया होना चाहिए। इस तरह ज्ञानार्णवसे योगशास्त्र अवश्य ही पूर्वमें रचा गया है। अस्तु।

स्व. डॉ. आ. ने. उपाध्येने बड़े श्रमके साथ इस ग्रन्थका सम्पादन किया था। उनके द्वारा लिखित हस्तलिखित प्रतियोंके परिचय तथा ज्ञानार्णवके मूल पाठको सुरक्षित और सुव्यवस्थित करनेकी विधिसे उसका स्पष्ट आभास मिलता है। किन्तु खेद है कि वह इसके प्रकाशनसे एक वर्ष पूर्व ही स्वर्गवासी हो गये। वह यदि जीवित रहते तो इसकी प्रस्तावना और सम्पादकीयके रूपमें ज्ञानार्णव और योगविषयपर उनका विद्वत्ता-पूर्ण निबन्ध पढ़नेका लाभ विज्ञ पाठकों को प्राप्त होता।

डॉ. उपाध्ये ग्रन्थ-सम्पादन कलाके आचार्य थे। उनका विद्यारस प्रगाढ़ था, उनकी दृष्टि बड़ी पैनी, सूक्ष्म और निष्पक्ष थी। अपने सम्पादित ही नहीं, किन्तु सम्पादनमें प्रकाशित होनेवाले प्रत्येक ग्रन्थके प्रति वह जितना श्रम करते थे उतना श्रम करनेवाले आज विरल हैं। अपने मित्र स्व. डॉ. हीरालाल जीके साथ एकरस होकर जिस निष्ठाके साथ उन्होंने भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला और जीवराज ग्रन्थमालाके द्वारा जैन साहित्यके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थरत्नोंको सम्पादित करके प्रकाशित किया है, उनकी वह निष्ठा अविस्मरणीय है।

इस ग्रन्थके सम्पादनादिमें उन्हें जिनका सहयोग मिला, उन सबको यथार्थ रीतिसे धन्यवाद तो वे स्वयं ही दे सकते थे। मुझे तो उन सबका ज्ञान भी नहीं है। फिर भी मैं उस स्वर्गीय आत्माकी ओरसे उन सबका आभार मानता हूँ। जिन भण्डारोंसे या व्यक्तियोंसे ज्ञानार्णवकी हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुईं, जिनके आधारसे यह बहुमूल्य संस्करण प्रकाशित हो सका, उन सबका आभार मैं सादर स्वीकार करते हुए धन्यवाद देता हूँ। मुनिवर पुण्यविजयजी महाराजकी उदारतासे पाटन भण्डारकी सर्वाधिक प्राचीन प्रतिके फोटू प्राप्त हुए थे। खेद है कि मुनिजी भी स्वर्गवासी हो गये हैं। उनके प्रति मैं विशेष रूपसे श्रद्धानत हूँ।

इस ग्रन्थका अनुवाद तथा प्रस्तावनादि लेखनका कार्य पं. बालचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्रीने किया है। अन्य किस-किसने इसमें क्या-क्या योगदान दिया है यह तो डॉ. उपाध्ये ही जानते थे। मैं उन सभीके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

जैन संस्कृति संरक्षक संघके सभापति सेठ लालचन्द हीराचन्द और मन्त्री सेठ बालचन्द देवचन्द शाहकी कार्य तत्परताके कारण ही इस ग्रन्थमालाका कार्य सुचारु रूपसे चालू है। उनके आग्रहवश तथा आचार्य समन्तभद्रजी महाराजके आदेशवश मुझे अपनी इस वृद्धावस्थामें सम्पादन कार्य स्वीकार करना पड़ा है अतः मैं आचार्य महाराजको नमन करते हुए उक्त दोनों महानुभावोंके प्रति भी आभारी हूँ। भारतीय ज्ञानपीठके सहयोगसे उसके प्रेसमें इस ग्रन्थका मुद्रण कार्य हो सका है अतः ज्ञानपीठके व्यवस्थापकों तथा प्रेस-कर्मचारियोंका भी आभारी हूँ।

स्याद्वाद महाविद्यालय
वाराणसी
दीपावली–२५०३

—कैलाशचन्द्र शास्त्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

INDEX OF THE MSS. OF JÑĀNARṆAVA

No.	*Names of MSS.*	*Place*	*Particulars*	*MS. No.*	*Pages in MS. or folios*	*Saṁvat*
1	P	Patan	Photo-few expanding notes	—	1 to 207	1284
2	Q	Patan	Photo	—	21 to 29	
3	M	Moodbidrī	Kānadi, Moodbidrī Math Bhandar	628	107 to 145	
4	N	Moodbidrī	Kānadi—by Pt. Vardhaman Shastri	—	1 to 115	
5	L	Kolhapur	Laxmisen Math. No comme.	31 or 59	1 to 161	
6	S	Sholapur	Bubane Mandir	—	1 to 72	
7	T	Sholapur	Bubane Mandir	—	1 to 88	1811
8	F	Sholapur	By Fadakule Shastri, with commentary	—	1 to 338 (209)	1950
9	V	Varanasi	Syādvād Mahavidyalaya	290	1 to 100	
10	B	Poona	Bhandarkar O. R. I. (with commentary)	497 / 1884-86	1 to 67	
11	C	Poona	Bhandarkar O. R. I. with commentary (only)	1061 / 1884-87	1 to 55	
12	D	Poona	Bhandarkar O. R. I. Prose Portion commentary (only)	498 / 1884-86	1 to 11	1726
13	E	Poona	Bhandarkar O. R. I. Prose commentary (only)	1423 / 1886-92	1 to 12	
14	J	Jayapur	With commentary	—	1 to 202 (3) and 1 to 79	
15	K	Jodhapur Rajasthan	With commentary	6731	177 to 242	
16	X	Amadabad	Only verses with few notes	1717	1 to 71	
17	Y	Amadabad	Only verses with few notes	394	1 to 61	1485
18	R		Printed with Hindi translation	—		1907 A.D.

□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

CONSTITUTION AND PRESENTATION OF THE JÑĀNĀRṆAVA TEXT

The text of the Jñānārṇava is critically constituted with the help of 17 MSS. They hail from different parts, especially from western India and Karnatak. Two of them are in Kannad characters and rest of them in Nāgarī. Most of them bear no dates of coping. Among the dated one *P* is the earliest (Sam. 1284) and *Y* comes next (Sam. 1485).

The MS. *P* is the earliest dated one. It is well preserved and it is corrected with the help of a MS. possibly earlier than itself. In constituting the text therefore preference is shown, as a rule in accepting the verses genuin and selecting the reading. All the verses which are not found in *P* are put in square brackets. Every verse thus included is serially numbered at the beginning in Arabic figures. Again in each chapter the verses are numbered in Nāgarī. In case the verses are 'Uktam' or not found iu *P* are numbered 1, 2 etc. with a star along with the previous number.

A careful study of readings show that a difficult, absolute, unusual and exceptional readings of *P* are generally replaced differently in different MSS. As a rule the readings of *P* are accepted and those of others are noted below. Not only the needs of a text critic are thus satisfied but an attempt to the thirst of a pious reader, such verses as are not found in *P* are not relegated to footnotes but they are running text itself in square brackets. These are reasons to believe that they are not composed by Śubhacandra himself. There is bound to be different opinions about the 'Uktam Ch' verses. Even here *P* is followed, while those in other MSS. are put in square brackets.

The vary nature of the containts of the Jñānārṇava is such that the text is bound to get inflated in course of time in the succession of MSS. Intelligent copiests often add verses of parallel containts, quotations of conformitive characters and explainatory information. At times on the margin which in due course get include in the text. Some of the verses including in the square brackets were as worthy as those in the Jñānārṇava, but as long as the earliest known MS. do not admit them the question of their authorship by Śubhacandra remains doubtful. It is hoped that the text so presented will be satisfied both the critical students and the pious readers. From the tabulation of the verses found in different MSS. the following facts are obvious.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

PRESENTATION OF THE COMMENTRAY
AND MSS. MATERIAL

The text of the Jñānārṇava included in this edition is accompanied by a Sanskrit commentary. Among the MSS. collected by us *F & C* have an anonymous commentary more or less similar in character. MSS. B, J & K give the commentary of Nayavilāsa. The make up of the MS. J has suffered. After 202 folios there is a gap and then again we have folios differently numbered 1 to 79. The MS. K also contains the commentary of Nayavilāsa. The portion available coincides neither with the beginning nor with the end, but its end (व्यव—) fits remarkably with the beginning of the latter part of J (—स्थित:, folios 1 to 79).

As thing stands B is incomplete but in this portion it agrees with J. The common portion in J & K show differences in presenting the commentary. The entire K has been adopted continuing it with the latter section of J and the earlier section is adopted only to link it with K.

Though apparantly one feels satisfaction with the commentary presented here, but the correct nature and formate of Nayavilāsa's commentary can be finally fixed with one more entire MS. of Nayavilāsa is discovered.

On the prose portion there is the commentary of Śrutasāgara. The commentary found in J (which accompanied by Nayavilāsa's Teekā) shows good deel of independence from Śrutasāgara. Under the circumstance the commentary of Śrutasāgara and of Nayavilāsa (as in K) so far available are given in the edition for this portion.

On those verses where the SK. commentary was not available or were described as Sugamam a concise explainatory commentary is added in square brackets.

The Sanskrit text and the commentary are presented in a standardized orthography ignoring the special peculiarities of MSS. Such confusion between Ṣ and Kh, V & B, dy & Jy and conjuncts like र्म्म, र्द्ध etc.

The Jñānārṇava has been a popular work for the pious Jain Śrāvakas. The text of it along with the Dhundhari Bhasha Teekā (rendered into modern Hindi) of Pandit Jayachandra was published by Pannalal Bakaliwal in the Rayachandra Jain Shastramala in 1907 A.D. The need of an exhaustive Hindi Anuwad was well established. So in this edition an exhaustive Hindi Anuwad prepared by Pandit Balchandraji (while he was working in the Sholapur office) is included. The editor has added a short Hindi Anuwad of additional verses into square bracket.

1. P. This stands for the photostat copy of the Pattan Manuscript (see a descriptive catalogue of MSS. of Jaina Bhandaras at Patan. Vol. I Palm-leaf MSS., published by the Oriental Research Institute Baroda, 1936) so kindly spared for my use by Muni Shri Punyavijayaji Mahārāj, Amedabad.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Measuring from the photostat copy, the length of the palm-leaf varies from 32 to 34 cms. and the breadth 2 to 6 cms. The ends of the folios are broken here and there. The central hole intended for the string has also become wide. The total number of folios is 207. Nos. 1 to 207 are written on one side only. The written matter on each folio is divided into two columns, one on the left side and one on the right side of the central hole. There is broad margin at both the ends. In the centre also 2.5 cms. space is left. The marginal lines are three both at the centre and at the ends. The numbers of the folios are put on one side of the folio at both the ends of the margin on coloured spot. The number of lines on each page varies from 2 to 5 depending on the available breadth of the palm-leaf. The maximum space in which is used by the copiest. The number of letters in a line on full page varies from 45 to 53. The manuscript is written in Nāgarī characters in a careful manner. The hand writing is uniformed. The letters are squarish. The Padimatras are uniformaly used. The Anuswāra at the top of the first line of the folio is conspicuously big like a spacious zero.

As a rule Anuswār is used for Parasavarṇa and also at the end of a Pāda for M. Letters C & V,V & B, Kṣ & khy, Dy & Jy, Tṛ & Tri are mutually confused. Sometimes ri is written for ṛ, visarga followed by s is often shown as double ss. In some places kim + n = Kinn, क + इह = कयिह, कथंचनः, केचनः are seen. When r is a first member of a letter the letter is doubled. The verses or the chapters are not numbered. Only in one place there are 1 to 66 numbers for verses from verse No. 1288 (in our printed text) onwards.

This MS. has carefully read by anybody and acceptable corrections are made. There are some notes on the margin and some additions and corrections also are there in some of the verses added on the margin. The older form of I (·,·) is found in the addition. This indicates that this MS. is chacked with the help of a pretty old MS. The sign of Kākapada is sometimes shown to indicate the splitting of Sandhi. Quotations are indicated by Uktam ch at the beginning and iti at the end. The change over the different meter is marked by a symbol which looks like th or chh with double Daṇda on both the sides. Apparently folio No. 45 (a) is not tressed in this photo-state-set. So the result is there is a gap of 9 verses (Verse No. 496 to 504 in our printed text.) Instead of that however one page of folio No. 49 is found twice.

The MS. opens thus : ६०॥ उं नमो वीतरागाय ॥ ज्ञानलक्ष्मीघना° etc. and ends thus : अस्यां श्रीम-नृपुर्यां श्रीमदर्हदे° etc. printed at the end of the printed text.

The present MS. is written in Saṁvat 1284 (—57 = 1227 A. D.) by Keshari-suta Vīsal for one Sahasrakīrti who is styled Rajakul (Bhattarak ?) of Digambar af Gomandal i. e. Gondal. This copy is obviously written from another MS. or a successor of it, which was presented to Śubhacandra who is called Yogin and described as a learned ascetic by Jāhiṇi. This Jāhiṇi had taken renunciation in her youth, much against the wish of her relatives and had practiced a severe penance and was well-known for religious, virtueous and pious austerity. She was

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

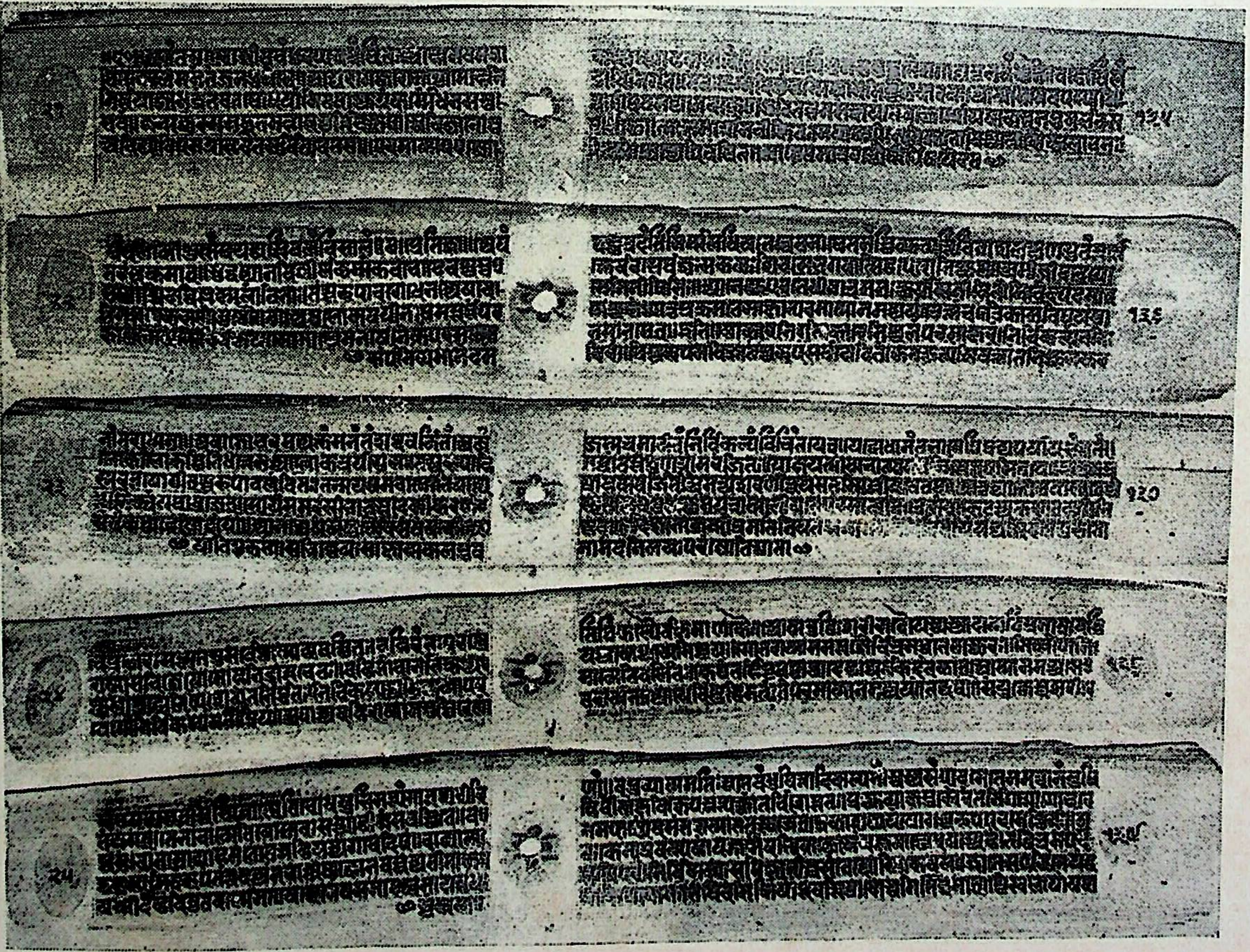

Photostat copy of MS. *Q.*

See : Verse No. 1470 onwards in Printed Book.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

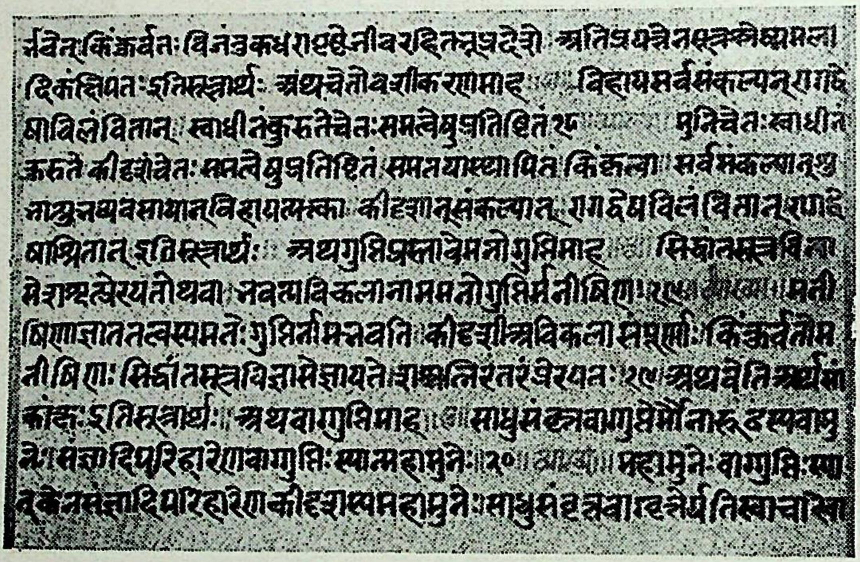
र्वयेत् किं कुर्वतः विनेतृकथराद्देहेनीवरहितन्तद्देशे अतिशयेन स्वकीयमला
दिकं क्षिपतः इति सूत्रार्थः अथ चेतोवशीकरणमाह विहाय सर्वसंकल्पान् रागद्वे
षाविलं वितान् स्वाधीनं कुरुते चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितं २५ मुनिश्चेतः स्वाधीनं
कुरुते कीदृशं चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितं समतायाम्स्थापितं किं कृत्वा सर्वसंकल्पान् स्तु
ताम्स्तुन्मध्यवसायान् विहाय त्यक्त्वा कीदृशान् संकल्पान् रागद्वेषाविलं वितान् रागद्वे
षाश्रितान् इति सूत्रार्थः अथ गुप्तिप्रस्तावे मनोगुप्तिमाह सिद्धान्तसूत्रविन्या
से शश्वत्प्रेरयतोथवा भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिणः २६ मनी
षिणाज्ञाततत्वस्य मतेः गुप्तिर्भवति कीदृशी अविकला संपूर्णा किं कुर्वतो म
नीषिणः सिद्धान्तसूत्रविन्यासे ज्ञायते शश्वन्निरन्तरं प्रेरयतः २७ अथ वेति अर्थान्त
कारः इति सूत्रार्थः अथ वाग्गुप्तिमाह साधुसंवृतवाग्वृत्तेर्मौनारूढस्य वा मु
नेः संज्ञादिपरिहारेण वाग्गुप्तिः स्यान्महामुनेः २८ महामुनेः वाग्गुप्तिः स्या
त् केन संज्ञादिपरिहारेण कीदृशस्य महामुनेः साधुसंवृतवाग्वृत्तेर्यतिस्वा वा सा

Photostat copy of MS. *J* with Commentary,
See : Verse No. 901 onwards in Printed Book.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

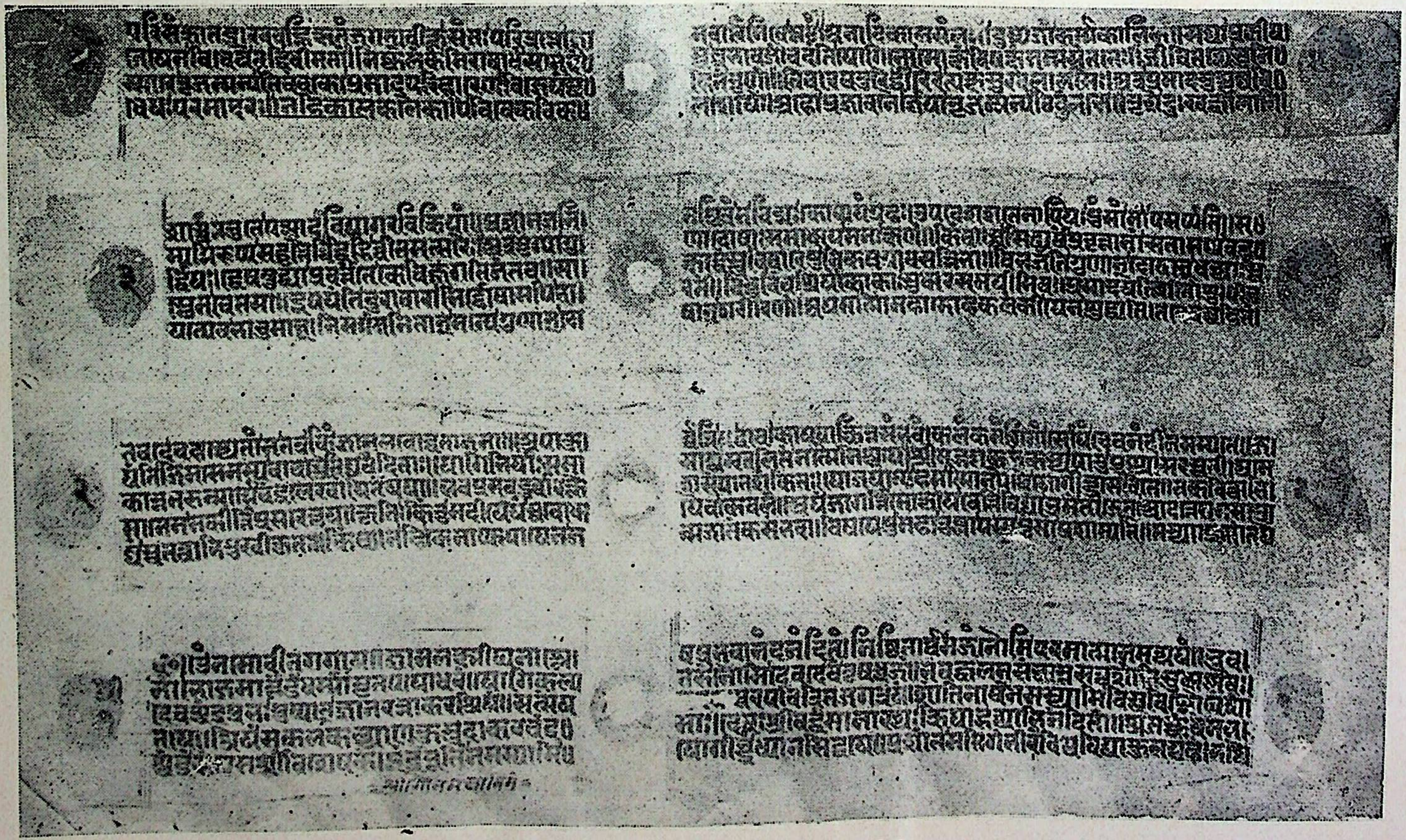

ज्ञानार्णवकी किसी प्रतिके प्रारम्भिक पत्रोंका फोटो

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

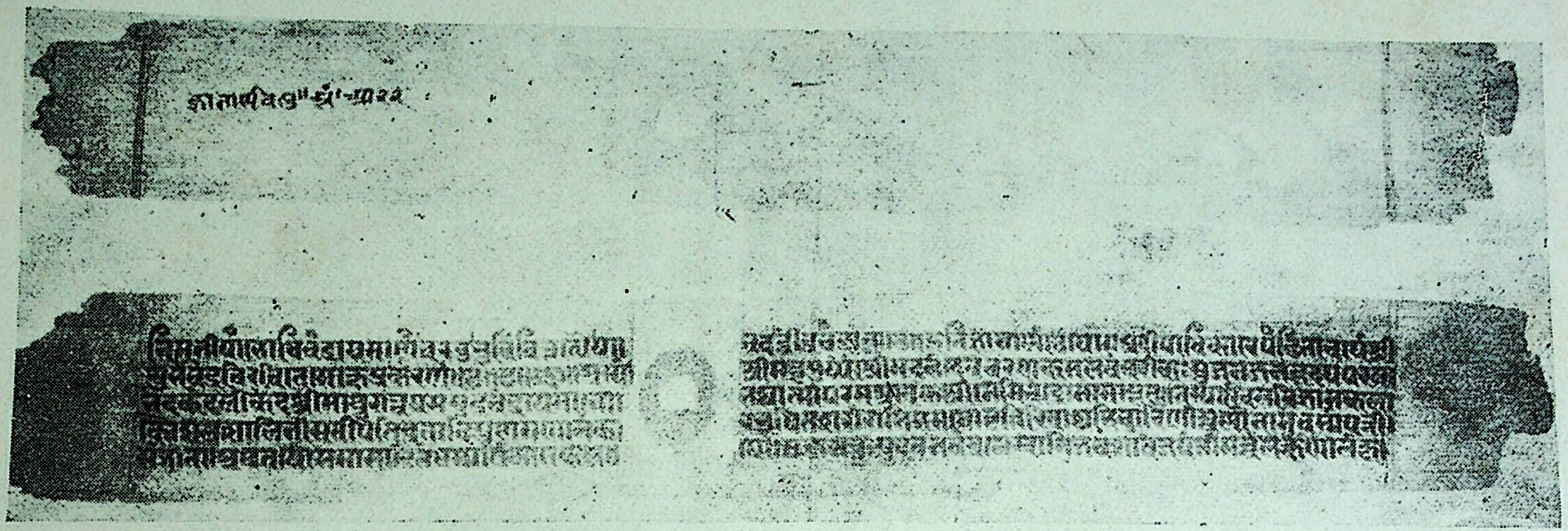

ज्ञानार्णवकी एक प्राचीन प्रतिके अन्तिम पत्रका फोटो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

the daughter of a pious Śrāvaka of the Māthurānvaya and devoted to Jainisum Nemichandra by name. He possibly lived at Nṛipuri i. e. Narvar. Her two brothers were Gokarṇ and Śrīcandra.

The adjectives used for Śubhacandra for the author of the Jñānārṇava this cannot be ruled out, but should not be insisted upon as a deceiver evidence.

1) The colophons mention Śubhacandra only an Ācarya and not Yogin. And in this Praśasti the term Ācarya is not used.

2) Even if it is presumed that Jāhiṇi got written a palm-leaf MS. of the dictated draft of the Jñānārṇava and presented it to the author himself, it cannot be said that through how many generations it have been passed before it recopied in 1227 A. D.

3) The present copy itself shows that it was chacked and corrected with the help of pretty earlier MS.

Under the circumstances and in the absence of any positive evidence Śubhacandra for whom Jāhiṇi prepared a MS. need not be identified with the author himself.

2. Q. This stands for an incomplete palm-leaf MS. of the Jñānārṇava taken out from a bigger bundle of palm-leaf MSS. containing some other works. (See the cat. of MSS.)

This microfilm of this portion was kindly spared for my use by Muni Shri Punyavijayaji Mahārāj. The palm-leaves are numbered 21 to 30 on the left side and 135 to 144 on the right side of margin in a coloured spot, on one side of the leaf.

The matter covered in this MS. corresponds to our printed, text verse Nos. 1470 to 1616. (Chapters 28.29). In some aspects this MS. agrees with P but many variant readings different readings from P and agree with others.

The style of writing is more or less like P.b. and V, Ś and s are interchange and duplicates of rmm र्मं are usual. Some minor slips of coping are seen here and there. Padimatras are uniformaly used. It opens with the symbol of Bhale. The colophon at the end of 28 runs thus : इत्याचार्यश्रीशुभचन्द्रविरचिते ज्ञानार्णवे सवीर्यध्यानप्रकरणम् । and that at the end of 29 thus : इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे सुद्धोपयोगविचारप्रकरणम् । Nither the verses nor the chapters are numbered.

3. M. This is a palm-leaf MS. belonging to the collection of the Jain Math at Moodbidrī (S. A.). Its registered No. is 628. It is written in old Kannad characters and contains complete text of the Jñānārṇava.

Its folios measure 47×5 cms. Its folios are numbered from 107 to 145. Folio No. 123 is absent. There are 9 to 12 lines on each page and 100 to 122 letters in each line. The first leaf is partly broken.

Uniformaly Anuswār alone is used. The consonants with r is the first member, is doubled. Distinction between i and ī is not made.

It opens thus : नमः सिद्धेभ्यः ॥ ज्ञानलक्ष्मी° etc. It ends thus : ॥८८॥ इति ज्ञानार्ण्नवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य्यं श्रीशुभचन्द्रविरचिते मोक्षप्रकरणम् ॥ इति ज्ञानार्ण्नव ग्रंथः समाप्तः ॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4. N. This palm-leaf MS. belongs to the collection of the Jain Math Bhandar in Moodbidrī (S. A.). Its registered No. is 172. It measures 26.5×4 cms. It has 115 folios. Each page has 7 lines and each line 40 to 53 letters. It contains the text of Jñānārṇava written in old Kannad characters. The peculiarities of writing are as those in M-MS.

It opens thus : श्रीशान्तिनाथाय नमः । जिनेन्द्रवाण्यै नमः । ज्ञानलक्ष्मीघना° etc. and ends thus : ॥89॥ इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य्य श्री शुभचन्द्रविरचिते ध्यानफलमोक्षस्वरूपप्रतिपादनप्रकरणम् ॥श्रीशांति-नाथाय नमः । जिनेन्द्रवाण्यै नमः॥ श्रीचंद्रकीर्तिमुनये नमः । अस्मद्विद्यागुरुभ्यो नमः ॥श्री॥७॥

This MS. was received through Pt. Vardhaman Shastri and the various readings in comparison with printed text are taken in the Sholapur office. The Editor has availed himself of this material.

5. L. This is a paper MS. belonging to Laxmisen Math, Kolhapur. It is numbered 31. It has got 161 folios measuring 27.0×12.7 cms. Excepting the first, other folios are written on both the sides. Every page has got 8 to 9 lines and every line has 33 to 38 letters.

This MS. contains the Jñānārṇava Mūla. It is written in black ink. The marginal lines, Daṇdas, Subject-endings, Numbers, Colophons of the chapters etc. are in red ink. The MS. is written by one person and hand-writing is good.

In this MS. Anuswār is for Parasavarṇ. Sometimes Y is written like P. The consonant with r is not doubled.

This begins thus : ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥ ज्ञानलक्ष्मीघना° etc. and ends thus : इत्याचार्यश्रीशुभचंद्र विरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे ध्यानकृत इति फलं ॥४२॥ इति कतिपय...°दद्रींद्रचंद्रः ।२॥ इत्याचार्यश्रीशुभचंद्रविरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे मोक्षप्रकरणं समाप्तं ॥४३॥ इति ज्ञानार्णवः समाप्तिमगमत् ॥श्री॥ ज्ञानार्णवस्य...भवार्णवः ॥१॥ शुभं भवतु ॥कल्याणमस्तु॥ श्रीरस्तु॥

6. S. This is a paper MS. belonging to Bubane Adinath Mandir, Sholapur. It contains 72 folios. It measures 25.4×12.8 cms. Each page has 13 to 15 lines and each line has 38 to 40 letters. The paper is thin and sufficiently old.

It opens thus : ॥६०॥ ओं नमः सिद्धां : ॥ ज्ञानलक्ष्मी° etc. and ends thus : ॥९१॥ इति श्री ज्ञानार्णव संस्कृत ग्रन्थकी देशभाषामय वचनिका प्रकरण समाप्त भया । संपूर्णः ॥ श्रीरस्तु । कल्याणमस्तु ॥

This MS. contains the text and Jayachandra's Vachanika in Hindi. The readings from this MS. were taken down in the Sholapur office and the Editor availed himself of them.

7. T. This paper MS. belongs to the Bubane Adinath Mandir, Sholapur. It contains 88 folios. It measures 25.4×12.8 cms. In the beginning folios 1 to 6 each page has 10 to 12 lines and thereafter 13 lines. The number of letters in each line varies from 33 to 39.

It opens thus : ॥६०॥ श्रीमद्वीरेहं सद्गुरुभ्यो नमः ॥श्री॥ ज्ञानलक्ष्मी etc. and ends thus : इत्याचार्यशुभचन्द्रविरच्यते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे मोक्षप्रकरणम् ॥छ॥ ग्रन्थाग्रन्थसंख्या २७०० इति श्रेयं शुभं रस्तु ॥ समष्टादशरुद्रेण मासाश्वनिपक्षलीलयोः । आनन्दानन्दमूमिज्य प्रतक्षे शास्त्रमेतनं ।छ॥ पूज्यंमभिलापुकैः पूज्यश्रीमद्भावो-ब्धिसूरिभिः तस्य चरणानुसंजाति लिख्यते लेखपूर्वकं ॥छ॥ जलं तैलं etc. ॥श्रीवर्धनपुरे ।

This MS. is full of copyist's mistakes. It is written in Sam. 1811 (i. e. 1754 A. D.). The name of the copyist is not mentioned but his teacher's name appears to

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

be Bhāvasāgar Sūri. It is written at Shrivardhanpur possibly Badnavar in Madhya Pradesh.

8. F. This paper MS. belongs to Pt. Jinadas Phadakule, Sholapur. It measures 30.10 × 18 cms. and contains 209 folios. Each page has 13 lines and each line about 38 letters. It is comparatively a late copy, prepared by Parshwanath Phadakule in Sam. 1950 (i.e. 1893 A.D.)

It opens thus : ॐ नमः सिद्धेभ्यः। अथ ज्ञानार्णव लिख्यते। ज्ञानलक्ष्मी etc.

It is accompanied by Sanskrit commentary. It runs thus : अहं श्रीशुभचन्द्राचार्यः परमात्मानं अव्ययं नौमि नमामि। किंभूतं परमात्मानं। पुनः किंभूतं परमात्मानं। अव्ययं विनाशरहितम्। etc..

The concluding colophon runs thus : भवार्णवः ॥३॥ इति ज्ञानार्णवशास्त्रं परिसमाप्तम्।

The subsequent portion gives details of the copying and presentation of this MS. The readings from this MS. were taken down in Sholapur office and the Editor is availed himself of them.

9. V. This is a paper MS. belonging to Syādwād Mahavidyalaya, Varanasi. It is numbered there 290. It measures 27.5 × 17.5 cms. and contains 100 folios. Each page has 15 lines and each line about 40 letters. The text is accompanied by a Teekā. The MS. is incomplete and ends with verse No. 40 of the 19th chapter.

The MS. begins thus : ६०॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः॥ and the colophon of the 18th chapter stands thus : इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य श्रीशुभचन्द्रविरचिते रत्नत्रयप्रकरण अष्टादशमः सर्गः॥

10. B. This is paper MS. belonging to Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona. Its S. No. is $\frac{497}{1884\text{-}86}$. It contains both the text and commentary. It is an incomplete MS. It begins with folio No. 1 and ends with folio No. 67; but the folio No. 31 is missed and 26 is doubled. Thus the total number of folios is 67. Each folio has been written on both the sides except the first. The folio numbers are written in black ink in the margin on the b-side of the folio. At some places the numbers are not clear. Somewhere the numbers are circled in red ink. The MS. measures 31.5 × 14.5 cms. Each page has 13 lines and each line has about 38 to 45 letters. It is all written in black ink. However the marginal lines, Ḍaṇdas, colophons, titles, numbers of verses and some words are written in red ink.

The writing is uniform. Some letters like Ṣ and Kh, Y and P, U and AU, Dhy and Vy are mutually confused. As a rule, the copiest uses Anuswār and not Parasavarṇa.

The MS. opens thus : ॥६०॥ नमः श्रीवीतरागाय॥ स्वस्ति श्रीनिलयं सुधामपि सुधासारं etc. and ends thus : परमाणोः परं नाल्पं न महत् गगनात्परं। यथा किंचित्तया धर्मो नाहिंसालक्षणात्परः ॥४१॥ परमाणोः सकाशात् अल्पं स्तोक etc.

On the last page there are numbers "61-13-38 श्लो. 2000" in the right side of the page. The ending portion is of Ahiṃsa Prakaraṇam ॥8॥, verse No. 41. This MS. is identical with the MS. received from Jain Sāhitya Shodha Sansthā, Jaipur, i. e. J, described below.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

11. C. This is a paper MS. belonging to the B. O. R. I., Poona. It is numbered $\frac{1061}{1884\text{-}87}$ It is incomplete. It has 55 folios measuring 25.5 × 14 cms. each. Excepting the first folio other are written on both the sides. Every page has got 15 fo 19 lines, and in every line there are 38 to 45 letters. It contains the text of the Jñānārṇava with a Sanskrit commentary. It is written in black ink, but Ḍaṇdas, Bhale etc. are written in red ink. Some pages are torn and many letters could not be read. In the middle of the last four folios there is a squar with letters.

Here is confusion between the letters V-B, Ś-Ṣ, ḠH-DH. Anuswār is for Parasavarṇa. The consonant with r is doubled.

The MS. begins with ॥६०॥ उँ नमः सिद्धेभ्यः श्रीपरमात्मने नमः ॥ ॥ ज्ञानलक्ष्मीघनाश्लेष... etc. ॥१॥ अथ टीका। अहं श्रीशुभचन्द्राचार्यः परमात्मानमव्ययं नौमि। नमामि। किंविशिष्टं परमात्मानं। अजं जन्ममृत्युजरादिरहितं। पुनः किंमूतं। परमात्मानं। अव्ययं। विनाशरहितं। etc. and ends with सत्यव्रतप्रकरणं संपूर्णं॥ ॥ अनासाद्य व्रतं नान...मुनिः स्थिति न धत्ते प्रायः अतिशयेन किं कृत्वा गुणभूषणं तृतीयं व्रतं अचौर्यव्रतं अनासाद्य

12. D. This is a paper MS. belonging to the B. O. R. I. Poona. It is numbered $\frac{498}{1884\text{-}86}$. It measures 29 × 12 cms. Excepting the first folio, other folios are written on both the sides. Every page has got 9 lines and every line 40 to 42 letters.

This MS. contains only Gadya portion with Śrutasāgar's commentary in Jñānārṇava. It is written in black ink. The marginal lines, Ḍaṇdas etc. are also in black ink.

In this MS. Anuswār is written for Parasavarṇa. In a few cases there is confusion between V and B. So also somewhere the consonant with r is doubled. This MS. begins thus : ॥६०॥ शिवोयं वैनतेयश्च स्मरश्चात्मैव कीर्तितः। etc. and ends thus : यदिह जगति किंचिदित्यादि सुगमं ॥ आचार्य्यैरिह शुद्धतत्त्वमतिभिः श्रीसिंहनंद्याह्वयैः संप्रार्थ्य श्रुतसागरं कृतिवरं भाष्यं शुभं कारितं। गद्यानां गुणवत्प्रियं विनयतो ज्ञानार्णवस्यांतरे विद्यानंदिगुरुप्रसादजनितं देयादमेयं सुखं ॥ इति श्रीज्ञानार्णवस्थितगद्यटीका तत्त्वत्रयप्रकाशिनी समाप्ता ॥ ॥ संवत् १७२६ सहोमासः कृष्णषष्ठयां ॥ तक्षकपुरे वादिराजेनालेखि ॥ ॥

13. E. This is a paper MS. belonging to the B. O. R. I. Poona. It is numbered $\frac{1423}{1886\text{-}92}$. . It measures 30.5 by 14.5 cms. It has 12 folios. Excepting the first, other folios are written on both the sides. Every page has got 11 lines and every line has got 25 to 32 letters.

This MS. contained only Gadya portion of Jñānārṇava with Śrutasāgar's commentary. The MS. is written in black ink but some words like 'Tadyathā, Siddhebhyaḥ' etc., Ḍaṇdas, colophons of the chapter, marginal lines etc. are written in red ink. The unwanted letters are covered with yellow paste.

In the margin of first seven folios there are some Mantras like 'ॐ ह्रीं अष्टमीप्रोषध-तपोंगाय, ॐ ह्रीं श्रुतज्ञानत्यागाय etc. Whole the MS. is written by one person. Anuswār is for

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Parasavarṇa. When R is first member the consonant is double. V and B, GH and DH are mutually confused.

This MS. begins thus : ॥सिद्धेभ्यः॥ शिवोयं वैनतेयश्च स्मरश्चात्मैव कीर्त्तितः । अणिमादिगुणानर्घ्यं । रत्नवार्द्धिर्बुधैर्मतः etc. and ends thus : यदिह किंचिदित्यादि सुगमं ॥छ॥

आचार्य्यैरिह शुद्धतत्वमतिभिः श्रीसिंहनंद्याह्वयैः ।
संप्रार्थ्य श्रुतसागरं कृतिवरं भाष्यं शुभं कारितं
गद्यानां गुणवत्प्रियं विनयतो ज्ञानार्णवस्यांतरे
विद्यानंदिगुरुप्रसादजनितं देयादमेयं सुखं ॥ इति श्री ज्ञानार्णवस्थितगद्यटीकातत्त्वत्रयप्रकाशिनी समाप्ता ॥शुभं भूयात् ।।श्री।।

14. J. This MS. belongs to Jain Sāhitya Shodha Sansthān, Mahaveer Bhavan, Jaipur. It measures 33.5×20.5 cms. It has 1 to 202 (3) folios, (where there is a gap) followed by the colophon of chapter 23, and again folios 1 to 79 (according to numbering of pages but actual folios 87.) Last page of 79 is blank.

The paper is of the indiginous thick quality. Two folios stand uncut together. Each folio as a rule, is written on both the sides and numbered continuously. The mode of numbering is different after the folio 202. There are some mistakes in numbers. Some pages have blank gaps. The last page of the first duplicate folio has the written matter on it. Each folio has three marginal lines as well as the page-edge–lines in red ink. The written portion in the middle of the page measures 24.5×13 cms. Each page has 12 lines and each line about 40 letters.

The MS. has a new appearance, and is perhaps copied from an older one. The letters of which, though now and then misread appear to have been well imitated from the Ādarśa.

The major portion is written in black ink, but Ḍaṇdas, single or double, now and then numbers of verses, opening and concluding colophons, terms like Vyākhyā, Śloka etc. the decoration etc. are written in red ink. On the whole it is a good readable MS. and with a little acquiantance with the earlier phases of Nāgarī, one can easily conjecture the correct reading. There are marginal additions here and there. So also interlinear erasures and corrections. The MS. opens on the last page of the duplicate first folio. The second alone is numbered as 1. These numbers are put on the top of the left corner and the bottom of the right corner, some 4 to 5 cms. away from the top and the bottom of the page.

The MS. opens with Bhale between two Ḍaṇdas and then नमः श्रीवीतरागाय ॥ स्वस्ति श्रीनिलयं etc. Parallel to the first line in the margin Jñānārṇava is written in red ink followed by Ti in black, just above the page No. 1 and so it is further noted in black ink as Jñānārṇava Teekā and on some pages as Jñānārṇava Satīk on all the folios. After folio No. 202 (3) there is a big gap in the MS. in which is missed the printed text from 1223 to 1517 alongwith their commentary.

The Sanskrit commentary included in this edition is based on this MS. which was so kindly loaned out to me through the kind efforts of Pt. Chainsukhadas Shastri and Dr. Kasturachand Kasliwala. In this connection, I would also mention the Pood Offices of Shri Chhotelalaji Jain, Calcutta.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

15. K. This is a paper MS. belonging to the Rajasthan Puratattvanveshan Mandir, Jodhapur and it bears the number 6731. It has 66 folios. Some of these folios are damaged at the left margin. The folios are numbered in the margin on the b-side of the folio. The office has stamped every page on the margin on the b-side of the folio with a circle-stamp bearing the letters रा. प्रा. म. This MS. is incomplete. The folio numbers are from 177 to 242. The folios are written on both the sides.

The MS. measures 29.5 × 13.5 cms. Each page has ten or eleven lines and each line has about 39 to 45 letters. It is all written in black ink. However the marginal lines, Ḍaṇdas, colophons, titles, numbers of the verses etc. are in red ink.

The writing is fair and the style of writing is sufficiently uniform. Some letters like V and B, Dhy and Vy, C and V, U and Au are mutually confused. As a rule, the copist uses Anuswār and not Parasavarṇa. Sometimes the Ḍaṇdas are unnecessarily given in the commentary.

The MS. opens thus : कवलितं ग्रसितं यद्गहनं गुपिलं...etc. and ends thus : ४६ व्याख्या॥ सर्वेपु भूतेपु त्रिःप्रकारः आत्मा व्यव—

16. X. This is a paper MS. belonging to the L. D. B. S. Vidyamandir, Amadabad. It is numbered 1717. It measures 25.3 × 11.5 cms. and has 71 folios. Excepting the first and the last folios, other are written on both the sides. Every page has got about 13 lines and every line 40 to 44 letters. The MS. is written in black ink. The marginal lines and Ḍaṇdas are in red ink. Red powder is used to spot the colophons of the chapters and yellow paste is used to cover the unwanted letters.

This MS. contains interleaniar notes giving explainatory equivalents of difficult words. The number of notes is pretty large and they are writren in the middle of two lines or in the margin. The hand-writing is good. Ịn conjuncts if r is the first member the consonant is double. Anuswār is written for Parasavarṇa. Some letters like v-b, s-s, Dv-Ddh, Ṣ-kh are mutually confused.

The MS. opens thus : ॥६॥ श्रीपार्श्वजिनं नमः ॥ ज्ञानलक्ष्मीघनाश्लेष...and ends thus :

इति श्रीशुभचन्द्रविरचितं ज्ञानार्णवग्रंथ संपूर्णं ॥
ज्ञानार्णवस्य माहात्म्यं चित्रं को वेत्ति तत्त्वतः ।
यत् ज्ञानात्तीर्यते भव्यैर्दुस्तरोऽपि भवार्णवः ॥

[This verse is written afterwards in a different hand on the margin.]

अस्वनवदि रविवार । तिथ एकादसी जानिये । लिष्यो ग्रंथसुभसार । अंबहटानगरसुभथानि मे ।१ ज्ञानार्णव यह सार । लिष्यो चित्त कीउ मगसों । जाको अतविस्तार ।२। सोरठा । पठत सुनत सुष ऊपजै । पावन पदनिर्वान । अर्थसहितया कों पढै उपजै । अद्भुत ज्ञान ॥३॥ अडिल्ल ॥ आचारजब्रथमान सुगुनन्प्रति हीन्नस्वो । ताको शिष्य महासिंघ आचारज पदधस्यो । ताको शिष्य जैगुपाल सुपदधारीभए । तासिष्यमूलानामदासपदसोलए ॥४। जलं रक्षे स्थलं रक्षे रक्षेसि थलवंधनात् । मूर्षहस्ते न दातव्यं इम वदंति पुस्तका ॥५॥ श्री श्री...

17. Y. This is a paper MS. belonging to the L.D.B.S. Vidyamandir, Amadabad. It is numbered 394. It measures 28 × 11 cms. and has 61 folios. Excepting the first folio, other are written on both the sides. From pages 4a to 60 onwards every page has got 13 lines. The first page has also 13 lines though the letters are bigger in size. Other pages have 12 lines only. On the first page we have four illustrations.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

On the left side there is the illustration of Vriṣabh Teerthankar. Below that there is an illustration of a monk in sitting pose with a rosery of beeds in his left hand and a bunch of peacock feathers in his right hand near the elbow. On the right side there are illustrations of two female figures, each with four hands. A detailed study of these figures is necessary. They are pointed in five colours i.e. red, white, black, yellow and green. On the second page there is a similar illustration of the map of Loka having the images of two Teerthankaras in the upper corners and the monks in the lower corners. The MS. is written in black ink. The marginal lines are black. Red ink is used between the marginal black lines also. This red colour is used to spot numbers of verses and colophons. Here and there is yellow paste to cover the unwanted letters.

This MS. contained interleaniar notes giving explainatary equivalents of difficult words. The number of notes is pretty large. The conjuncts with r is the first member the consonant is double. Generally Anuswār is written for Parasavarṇa.

It opens thus : ॥६०॥ ॐ नमो वीतरागाय। ज्ञानलक्ष्मीघनाश्लेष etc. and ends thus : ज्ञानार्णवस्य...भवार्णवः ॥७॥ ग्रंथाग्रं श्लोकसंख्या २७०० छ ॥छ॥ यादृशं पुस्तके दृष्टं तादृशं लिखितं मया। यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयते ॥छ श्री सं. १४८५ वर्षे कार्तिक सुदि ११ सोमदिने। निजप्रतापप्रभावपराकृततरुणतरणिमण्डलान्। नयविनय विवेकसौराज्यरञ्जिताखण्डलानां। महाराजाधिराजश्रीमोकलदेवराज्यप्रवर्तमानानां। त्रिदिवपति पत्तनसमृद्धिस्पर्धिश्रीकान्। श्रीमतिदेवकुलवाटके। श्रीनेमिनाथचैत्यालये। श्रीमूलसंघे। सरस्वतीगच्छे। वलात्कारगणे। नन्दिसंघे। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये अनेकपट्टावलीविराजमाने। श्रीशुभकीर्तिदेवपट्टान्वये धवलयशधवलमहाधवलमहासिद्धान्तसुकण्ठीकृतरायराजगुरुपोषित जिनमतश्रीधर्मचन्द्रदेवाः। तत्पट्टे। उपशममेरुचाल्यमाणेन समवसरणेन सह विराजमानान्। भट्टारक श्रीरत्नकीर्तिदेवाः। तत्पट्टे संस्थितवान्। महाराजाधिराजसुरत्राणमहमद साहि अनुरञ्जितचित्तान्। तत्पट्टराजावलीसंस्थितसुरत्राणपेरोजसाहि अनुरंजितचित्तान्। अनेकम्लेच्छसंस्तुतचरणकमलान्। षट्तर्कचक्रवर्तिनिर्जितपरमतपाषण्डिनां कृतगर्वोपहारान्। भट्टारक श्रीप्रभाचन्द्रदेवान्। तत्पट्टे संस्थितवान्। अष्टव्याकरणीयरहस्यरंजितविद्वज्जनचित्तान्। भट्टारक श्रीपद्मनन्दिदेवान्। तच्छिक्षपाण्डित्यकमलाकमलिनीकमलबन्धून् निश्चयरत्नत्रयतन्निष्ठान्। मुनिश्रीदेवेन्द्रकीर्तिदेवान्। तद्दीक्षिततपोधनउत्तमक्षमारिदशलक्षणोधर्मोद्गरप्रकटनसमर्थान्। मुनिश्रीविद्यानन्दिदेवोपदेशात् हूंबडान्वये अनुव्रतादिद्वादशव्रतभारभरणोपेतः। निर्मलश्रीजिनेन्द्रचरणसरोजराजीराजहंसान् वात्सल्यदशविधवैयाव्रतकरणैकतत्परान्। सा जैता तज्जायासम्यक्त्वगुणगुणशालिनी साहू। तयोः पुत्र सकलशास्त्रविशारदान्। निजसौजन्येन श्रीकृतशत्रुमित्रान्। दानैकमहीतले कल्पवृक्षान्। परोकारकरण परायणान्। अखिलमहीतलप्रसिद्धान्। साहुभोजा भार्या वसू। तयोः पुत्र धरणउ। भोजाभ्राता द्वितीयजिनचरणाराधनतद्गतचित्तान्। देवपूजादिषट्कर्मनिरतान्। साहु गोसल भार्या करमी। एतेषां मध्ये साधुभोजा ज्ञानावर्णीकर्मक्षयार्थे ज्ञानार्णवग्रन्थं लिखापि दत्तं मुनिश्रीविद्यानन्दिदेवयोग्यं ॥शुभं भवतु॥ दातृलेषकपाठयोः। ज्ञानवाज्ञानदानेन निर्भयो ऽभयदानतः। अन्नदानात् सुखी नित्यं निर्व्याधी भेषजा भवेत्। अपरस्मिन् भवे जीवो बिभर्ति सकलं श्रुतम्। मोक्षसौख्यमवाप्नोति शास्त्रदानफला नरः॥ लिषित्वा लेषयित्वा वा साधुभ्यो दीयते श्रुतम्। व्याख्यायते तं थवा तेन शास्त्रदानं तदुच्यते॥ वर्धतां जिनशासनं। शुभं भवतु लेखकपाठयोः। सं. १४८५ वर्षे कार्तिक सुदि ११ सोमवासरे रुद्रपल्लीयगच्छे वाचनाचार्यं श्रीनरचन्द्रशिष्यणीमिलितं। मुनिविद्यानंदलिषितं पठनार्थं। आचन्द्रार्कं चिरं नन्द्यात्। ॥छ॥ श्रीदेवगुरुभ्यः।

□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तावना

१. ज्ञानार्णव

जैसी कि ग्रन्थकारके द्वारा स्वयं सूचना की गयी है, प्रस्तुत ग्रन्थका नाम ज्ञानार्णव[1] है। यह नाम उसका सार्थक ही है। कारण यह है कि उसमें अनेक विषयोंका वर्णन किया गया है। अतएव ग्रन्थके अध्ययनसे अध्येताको उन सब विषयोंका ज्ञान प्राप्त होनेवाला है। इस हेतुसे यदि उसे 'ज्ञानार्णव—ज्ञानका समुद्र' कहा गया है तो यह संगत ही है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थकारके द्वारा इसे ध्यानशास्त्र भी कहा गया है।[2] सो यह भी ठीक है, क्योंकि इसमें प्रमुखतासे ध्यानका वर्णन किया गया है। अन्य कितने ही विषयोंका जो इसमें वर्णन किया गया है वह उस ध्यानके प्रसंगसे ही किया गया है। इसके प्रत्येक प्रकरणकी अन्तिम पुष्पिकामें इसका उल्लेख 'योगप्रदीपाधिकार'के रूपमें किया गया है। योग और ध्यान ये समानार्थक शब्द हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ यतः ध्यानके दिखलानेमें दीपकका काम करता है, अतः 'योगप्रदीपाधिकार' कहनेसे भी उसकी सार्थकता प्रकट होती है।

२. आचार्य शुभचन्द्र और उनका समय

प्रस्तुत ग्रन्थके रचयिता आचार्य शुभचन्द्रने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थको रचकर अपना कहीं कोई परिचय नहीं दिया। यह उनकी निरभिमानताका द्योतक है। इस अभिप्रायको उन्होंने स्वयं व्यक्त भी कर दिया है[3], जिसे केवल शिष्टता न समझकर उनकी आन्तरिक भावना ही समझना चाहिए। ग्रन्थके परिशीलनसे यह तो ज्ञात हो ही जाता है कि सिद्धान्तके मर्मज्ञ आचार्य शुभचन्द्र बहुश्रुत विद्वान् एवं प्रतिभासम्पन्न कवि भी रहे हैं। ग्रन्थकी भाषा सरस, सरल व सुबोध है। कविता मधुर व आकर्षक है। ग्रन्थमें जो अनेक विषयोंके साथ इतर सम्प्रदायोंकी भी चर्चा व समीक्षा की गयी है उसीसे उनकी बहुश्रुतताका पता लग जाता है। उनके समयमें जो भी योगविषयक साहित्य प्रचलित रहा है उसका उन्होंने गम्भीरतापूर्ण अध्ययन किया है तथा अपनी इस कृतिमें उन्होंने उसका समुचित उपयोग भी किया है। इसका उदाहरण प्राणायाम और पिण्डस्थ-पदस्थ आदि ध्यानोंका विस्तृत वर्णन है।

ग्रन्थकारके समयका विचार करनेके लिए यह देखना होगा कि उन्होंने इस ग्रन्थकी रचनामें पूर्ववर्ती किन ग्रन्थोंका आश्रय लिया है। प्रस्तुत ग्रन्थकी रचनामें उन्होंने आचार्य पूज्यपाद (वि. 5-6ठी शताब्दी) विरचित समाधितन्त्र व इष्टोपदेश, भट्टाकलंकदेव (8वीं शती) विरचित तत्त्वार्थवार्तिक, आचार्य जिनसेन (9वीं शती) विरचित आदिपुराण (21वाँ पर्व), अमृतचन्द्र सूरि (10वीं शती) विरचित पुरुषार्थ-सिद्‌ध्युपाय, रामसेनाचार्य (10वीं शती) विरचित तत्त्वानुशासन, सोमदेव सूरि (11वीं शती) विरचित

---

१. देखिए श्लोक 11 और 2230।

२. देखिए श्लोक 2229।

३. न कवित्वाभिमानेन न कीर्तिप्रसरेच्छया।
कृतिः किंतु मदीयेयं स्वबोधायैव केवलम्॥ 1-19।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपसकाध्ययन तथा आ. अमितगति प्रथम (10-11वीं शती) विरचित योगसारप्राभृत आदि ग्रन्थोंका आश्रय लिया है। इनके अतिरिक्त अमितगति-श्रावकाचारके कर्ता आ. अमितगति (द्वितीय) भी यदि आ. शुभचन्द्रके पूर्ववर्ती या समकालीन हो सकते हैं तो सम्भव है उनके श्रावकाचारका भी उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थकी रचनामें उपयोग किया हो।[१] इसका कारण यह है कि प्रस्तुत ज्ञानार्णवमें जिन पिण्डस्थ-पदस्थ आदि ध्यानोंका कुछ विस्तृत वर्णन किया गया है उनका विशेष वर्णन अमितगति-श्रावकाचारके 15वें परिच्छेदमें उपलब्ध होता है। पर वर्णनशैली दोनोंकी कुछ भिन्न प्रतीत होती है।

उपर्युक्त ग्रन्थोंमें-से कुछके पद्य भी प्रस्तुत ज्ञानार्णवमें 'उक्तं च' आदिके निर्देश पूर्वक अथवा बिना किसी प्रकारकी सूचनाके भी पाये जाते हैं। यथा—

कटस्य कर्ताहमिति संबन्धः स्याद् द्वयोर्द्वयोः।
ध्यानं ध्येयं सदात्मैव संबन्धः कीदृशस्तदा ॥

यह पद्य इष्टोपदेश (25) का है, जिसे ज्ञानार्णवमें 1510 संख्याके अन्तर्गत उद्धृत किया गया है।

इसी प्रकार पुरुषार्थ सिद्धयुपायका 116 वाँ पद्य ज्ञानार्णवमें 825 संख्याके अन्तर्गत, तत्त्वार्थवार्तिक पृ. 14 पर तथा उपासकाध्ययन (23) में उद्धृत 'हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं' आदि पद्य 315 संख्याके अन्तर्गत, उपासकाध्ययनके 21, 22 व 241 ये तीन पद्य क्रमसे 313, 314 व 395 संख्याके अन्तर्गत उद्धृत पाये जाते हैं।

आदिपुराणके 21 वें पर्वके 102, 131, 176 व 177 ये पद्य ज्ञानार्णव में ज्योंके त्यों अथवा कुछ शब्द-भेदके साथ क्रमसे 1328, 1616, 2162 और 2163 संख्याके अन्तर्गत पाये जाते हैं। इनमें अन्तिम दोके पूर्वमें 'उक्तं च' का निर्देश किया गया है।

तत्त्वानुशासनके श्लोक 218 को ज्ञानार्णवमें 'तथान्यैरप्युक्तम्' कहकर 1072 संख्याके अन्तर्गत उद्धृत किया गया है। तत्त्वानुशासनके ऐसे भी कुछ श्लोक ज्ञानार्णवमें पाये जाते हैं जिनमें किसीका पूर्वार्ध समान है तो किसीका उत्तरार्ध समान है, किसीके 1-2 चरणोंमें समानता पायी जाती है।

इस विवेचनसे इतना तो निश्चित हो जाता है कि आ. शुभचन्द्र अमृतचन्द्र सूरि और सोमदेव सूरिके बाद हुए हैं, विक्रमकी 11वीं शताब्दीके पूर्व उनके होनेकी सम्भावना नहीं रहती। इसके कितने समय बाद वे हुए हैं, यह जाननेके लिए यह देखना होगा कि उनके इस ग्रन्थका प्रभाव अन्य किन ग्रन्थोंके ऊपर रहा है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाके अन्तर्गत गा. 487 की भट्टारक शुभचन्द्र (16वीं शती) विरचित टीकामें 'तथा ज्ञानार्णवे' कहकर ज्ञानार्णवके क्रमसे 2201, 2195, 2196, 2197 और 2202 इन श्लोकोंको उद्धृत किया है।[२]

भट्टारक शुभचन्द्रके पूर्ववर्ती पं. आशाधर (१३वीं शती) ने भगवती आराधनाकी गा. १८८७ की

---

१. इसका स्पष्टीकरण आगे पृथक्-पृथक् रूपसे किया जायेगा।

२. यहाँ यह एक विशेषता देखनेमें आयी है कि प्रस्तुत संस्करणमें पाटण प्रतिके अनुसार श्लोक 2195 का उत्तरार्ध इस प्रकार ग्रहण किया गया है—प्रक्षतयस्तदा। अस्मिन् सूक्ष्मक्रिये ध्याने देवदेवस्य दुर्जयाः ॥ पर इसके रामचन्द्र जैन शास्त्रमालासे प्रकाशित (ई. 1927) संस्करणके अनुसार उसका उत्तरार्ध इस प्रकार रहा है—प्रक्षतयो द्रुतम्। उपान्त्ये देवदेवस्य मुक्तिश्रीप्रतिबन्धकाः ॥ यही पाठ पाटण प्रतिको छोड़कर अन्य सभी प्रतियोंमें रहा है। भट्टारक शुभचन्द्रके सामने भी यही पाठ रहा है और तदनुसार उसी रूपमें उन्होंने उसे उद्धृत कर दिया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीकामें 'उक्तं च ज्ञानार्णवे विस्तरेण' ऐसी स्पष्ट सूचना करते हुए ज्ञानार्णवके क्रमसे 2186, 2187, 2189, 2190, 2191, 2193 और 2194 इन श्लोकोंको उद्धृत किया है।

पं. आशाधरके पूर्ववर्ती पद्मप्रभ मलधारिदेव (१३वीं शती) ने नियमसार गा. ३९ की टीकामें 'तथा चोक्तं' कहकर निम्न पद्यको उद्धृत किया है जो ज्ञानार्णवमें 2144 संख्याके अन्तर्गत है—

निष्क्रियं करणातीतं ध्यान-धारणवर्जितम्।
अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते॥

नियमसारकी टीकामें 'धारण' के स्थानमें 'ध्येय' और 'इति पठ्यते' के स्थानमें 'योगिनो विदुः' इतना पाठभेद है। पर यह श्लोक स्वयं ज्ञानार्णवकारके द्वारा रचा गया नहीं दिखता। इसका कारण यह है कि उसके पूर्वमें ज्ञानार्णवकी अन्य प्रतियोंमें यद्यपि 'उक्तं च' ऐसी सूचना नहीं उपलब्ध होती है, पर उसकी प्राचीनतम पाटण प्रतिमें 'उक्तं च' ऐसा निर्देश उसके पूर्वमें किया गया है। इससे यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि उक्त श्लोक ज्ञानार्णवसे ही नियमसारकी उक्त टीकामें उद्धृत किया गया है। सम्भव है वह ज्ञानार्णवसे पूर्व अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थमें भी रहा हो।

आचार्य प्रभाचन्द्र (११-१२वीं शती) ने रत्नकरण्डक श्रावकाचारके श्लोक ५-२४ की टीकामें 'क्षेत्रं वास्तु धनं' आदि एक श्लोकको उद्धृत किया है। यह श्लोक 'वास्तु क्षेत्रं' जैसे कुछ साधारण शब्द भेदके साथ ज्ञानार्णवमें 822 संख्याके अन्तर्गत पाया जाता है।[1]

इन प्रमाणोंसे आ. शुभचन्द्र सोमदेव सूरि और आ. प्रभाचन्द्रके मध्यवर्ती सिद्ध होते हैं।

इसके अतिरिक्त जिस पाटण प्रतिके आधारसे प्रस्तुत ग्रन्थका सम्पादन हुआ है वह विक्रम संवत् १२८४ में लिखी गयी है। इसकी प्रशस्ति, जो ग्रन्थके अन्तमें दे दी गयी है, उसमें इसके पूर्व यह सूचना की गयी है कि आर्यिका जाहिणीने अपने कर्मक्षयार्थ ज्ञानार्णव नामक पुस्तकको लिखाकर ध्यानाध्ययनमें निरत योगी शुभचन्द्रके लिए दी। इसके पश्चात् वहाँ यह निर्देश किया गया है कि सहस्रकीर्तिके लिए इसे केशरिसुत वीसलने संवत् १२८४ में लिखा।[2] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रतिको लिखाकर आर्यिका जाहिणीने योगी शुभचन्द्रके लिए दी वह सहस्रकीर्ति देनेके लिए संवत् १२८४ में लिखी गयी प्रस्तुत प्रतिके भी पूर्वकी होना चाहिए।

कुछ भी हो, इतना तो निश्चित है कि ग्रन्थकी कुछ प्रतियाँ सं. 1284 के पूर्व भी लिखी जा चुकी थीं व ग्रन्थ पठन-पाठनमें आने लगा था। इसका एक अन्य कारण यह भी है कि भगवती आराधनाकी जिस मूलाराधना टीका में पं. आशाधरके द्वारा ज्ञानार्णवके पूर्वोक्त श्लोक उद्धृत किये गये हैं वह वि. सं. १२८५ के पूर्व लिखी जा चुकी थी। इसका प्रमाण यह है कि पं. आशाधरने जिनयज्ञकल्प (प्रतिष्ठासारोद्धार) की प्रशस्तिमें उसके रचे जानेकी सूचना स्वयं की है। यह जिनयज्ञ कल्प वि. सं. 1285 में लिखकर समाप्त किया गया है। पं. आशाधरको मूलाराधनाके रचने और ज्ञानार्णवके परिशीलनमें भी समय लग सकता है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि ज्ञानार्णव उससे कमसे ४०-५० वर्ष पूर्व या उससे भी अधिक समय पूर्व लिखा जाना चाहिए। इस परिस्थितिमें आ. शुभचन्द्रके समयकी सम्भावना सोमदेव सूरि विरचित उपासकाध्ययनके रचनाकाल वि. सं. १०१६ के बाद और वि. सं. १२३५ के पूर्व की जा सकती है।

इस कालको कुछ और संकुचित करनेके लिए हम हेमचन्द्र सूरि विरचित योगशास्त्रको लेते हैं। उसका हमने जो तुलनात्मक रूपसे ज्ञानार्णवके साथ अध्ययन किया है उससे हम इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि

---

१. यह श्लोक पाटण प्रतिमें नहीं रहा है।
२. देखिए पृ. ७०१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हेमचन्द्र सूरिके सामने ज्ञानार्णव रहा है और उन्होंने उसमें विस्तारसे प्ररूपित विषयको कुशलताके साथ व्यवस्थित रूपमें संक्षेपीकरण करके अपने योगशास्त्रमें स्थान दिया है। इसकी चर्चा हम आगे विस्तारसे करनेवाले हैं अतः उसे यहाँ इतना कहकर ही छोड़ देते हैं। सम्भव है उसे पढ़कर कुछ पाठक हमारे इस मतसे सहमत हो सकें। इस प्रकारसे यदि आ. शुभचन्द्र हेमचन्द्र सूरिके पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं तो उनका सद्भाव ११-१२ वीं शताब्दीके मध्य मानना युक्तिसंगत ठहरेगा। हेमचन्द्र सूरिका समय सुनिश्चित है। उनका जन्म विक्रम सं. ११४५ में और स्वर्गवास वि. सं. १२२९ में हुआ है।[1]

३. ग्रन्थका स्वरूप

प्रस्तुत संस्करणमें समस्त ग्रन्थ ३९ प्रकरणोंमें विभक्त है। इसके पूर्व रायचन्द्र जैन शास्त्रमालासे प्रकाशित (१९२७) संस्करणके अनुसार वह ४२ प्रकरणोंमें विभक्त रहा है। इन प्रकरणोंका विभाग स्वयं ग्रन्थकारके द्वारा किया गया नहीं दिखता। वह सम्भवतः टीकाकारके द्वारा किया गया है। प्रकरणोंके जैसे नाम हैं तदनुसार वहाँ क्रमबद्ध विषयका विवेचन देखनेमें नहीं आता, बीच-बीचमें क्रमविहीन अन्यान्य विषयों-की भी चर्चा की गयी है व पुनरुक्ति भी उसमें अधिक हुई है। उदाहरणस्वरूप २५वें प्रकरणको लेते हैं। उसका नाम 'ध्यानविरुद्धस्थान' है। यहाँ सर्वप्रथम धर्मध्यानके निरूपणके लिए प्रेरणा करते हुए उसके भेद-प्रभेदोंके साथ फल पर्यन्त वर्णन करनेकी सूचना की गयी है (1267-68)। आगे मैत्री आदि चार भावनाओंकी प्रशंसा करते हुए उनके स्वरूपको दिखलाया गया है व पुनः उसकी प्रशंसा की गयी है (1270-85)। फिर यह कहा गया है कि श्रेष्ठ मुनिजन ध्यानकी सिद्धिके लिए कुछ स्थानोंको प्रशस्य और कुछको निन्द्य बतलाते हैं (1287)। तत्पश्चात् कुछ ऐसे स्थानोंका निर्देश किया गया है जो ध्यानमें बाधक हो सकते हैं (1289-1301)। यह वर्णनक्रम प्रकरणके अनुरूप नहीं रहा। प्रकरणके अनुसार यदि यहाँ प्रथम ही ध्यानके अयोग्य स्थानोंका निर्देश कर दिया गया होता तो वह जिज्ञासुके लिए अधिक सरल और सुबोध हो सकता था। अथवा प्रकरणका नाम केवल 'ध्यानस्थान' ही रहा होता और जैसी कि श्लोक 1287 में सूचना की गयी है, तदनुसार यदि यहाँ ध्यानके योग्य और अयोग्य दोनों ही प्रकारके स्थानोंका निरूपण कर दिया गया होता तो वह प्रकरणके अनुरूप व अधिक सुविधाजनक रहा होता।

आगेका २६वाँ प्रकरण 'प्राणायाम' है। पर यहाँ भी प्रारम्भके ४० श्लोकोंमें क्रमविहीन ध्यानके योग्य स्थान और आसनोंका निर्देश करते हुए योग्य स्थान व आसनपर ध्यानारूढ़ हुए ध्याताकी प्रशंसा की गयी है और तत्पश्चात् प्राणायामकी प्ररूपणा की गयी है।

आगे २७वाँ प्रकरण 'प्रत्याहार' है। यहाँ प्रत्याहारके स्वरूपको दिखलाते हुए समाधिसिद्धिके लिए उसे प्रशंसनीय बतलाया गया है (1456-59)। उसकी प्रशंसा करनेके साथ यहाँ पूर्वोक्त प्राणायामको अस्वास्थ्यकर, कष्टप्रद व मुक्तिकी प्राप्तिमें बाधक कहा गया है (1459-65)। प्राणायामसे होनेवाली इस अस्वस्थताका निर्देश यदि पूर्वोक्त प्राणायामके ही प्रकरणमें कर दिया गया होता तो उससे अध्येताको एक ही साथ उसकी हेयोपादेयताका परिज्ञान हो सकता था। पर ऐसा न करके वहाँ तो उसे सिद्धान्तके पारंगत मुनियोंके द्वारा ध्यानकी सिद्धिके लिए प्रशंसनीय व मनकी स्थिरताका असाधारण कारण भी कहा गया है (1342-43)। आगे इसी प्रकरणमें इन्द्रियोंके निरोधपूर्वक साम्यभावका आलम्बन लेकर मनके ललाटदेशमें स्थिर करनेकी प्रेरणा करते हुए कुछ शरीरगत ध्यानस्थानोंका निर्देश किया गया है, जहाँ चित्तको विश्रान्त होना चाहिए। यह एक धारणाका रूप है (1467-69)।

---

१. कुमारपालप्रबन्ध (उ. जिनमण्डन गणि) पृ. ११४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस परिस्थितिको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थमें विवेचनीय विषयोंका विवेचन निर्दिष्ट प्रकरणोंके अनुसार नहीं हुआ है। यहाँ चर्चित विषय जहाँ-तहाँ बिखरा हुआ है। इसीसे मेरी यह कल्पना है कि निर्दिष्ट प्रकरणोंका विभाजन स्वयं ग्रन्थकारके द्वारा नहीं किया गया है। उन्हें तो जहाँ जब जो भी वर्णनीय प्रतीत हुआ उसीका वे वर्णन करते चले गये हैं। ग्रन्थका कुछ भाग सुभाषित जैसा रहा है, इससे पुनरुक्ति भी अधिक हुई है।

४. संस्कृत टीका और टीकाकार

प्रस्तुत संस्करणके साथ जो संस्कृत टीका प्रकाशित है वह पं. नयविलासके द्वारा रची गयी है। टीका बहुत संक्षिप्त व साधारण है। अध्येता उसके आश्रयसे ग्रन्थके अभिप्रायके समझनेमें कठिनाई ही अनुभव करेगा। विवक्षित श्लोककी टीका करते हुए टीकाकारने खण्डान्वयका अनुसरण कर 'कथंभूतम्' आदि कुछ प्रश्नार्थक पदोंके निर्देशपूर्वक प्रायः श्लोकगत उन्हीं पदोंकी पुनरावृत्ति कर दी है, किसी भी श्लोकका भाव प्रायः उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। यथा—

जयन्ति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिताः।
योगिभिर्याः समासाद्य स्खलितं नात्मनिश्चये ॥

इस (१-१६) श्लोककी टीका इस प्रकार की गयी है—'जिनसेनस्य वाचः जयन्ति। कथंभूताः वाचः? त्रैविद्यवन्दिताः—त्रयाणां विदां समाहारः त्रैविदी, तस्या भावः त्रैविद्यम्, तेन वन्दिताः। लक्षण-साहित्य-तर्कवेदिभिर्वन्दिता मनोवाक्कायनमस्कृता वा। योगिभिर्या वाचः समासाद्य प्राप्य आत्मनिश्चये आत्मानुभवे न स्खलितं न व्यपस्थितम्।

दूसरा एक उदाहरण लीजिए—

अलक्ष्यं लक्ष्यसंबन्धात् स्थूलात् सूक्ष्मं विचिन्तयेत्।
सालम्बाच्च निरालम्बं तत्त्ववित्तत्त्वमञ्जसा ॥1620

टीका—तत्त्वविदञ्जसा सुखेन तत्त्वं विचिन्तयेत्। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः।

टीकाकारकी दृष्टिमें 'अञ्जसा' मात्र दुरवबोध रहा, इसीलिए उसका अर्थ 'सुखेन' कर दिया। शेषको 'सुगमम्' कहकर छोड़ दिया। इस प्रकारसे वस्तुतः श्लोकका अभिप्राय कुछ भी स्पष्ट नहीं हुआ है। टीकाकारकी यही पद्धति प्रायः सर्वत्र रही है।

आगराके निवासी पं. नयविलास दि. जैन विद्वान् थे। वे जम्बूस्वामिचरित, लाटीसंहिता, अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड और पंचाध्यायीके कर्ता पं. राजमल्लके समकालीन रहे हैं। प्रस्तुत ज्ञानार्णवकी टीका उन्होंने साहु टोडरके ज्येष्ठ पुत्र ऋषिदासकी प्रार्थनापर की है। इसकी सूचना टीकाके प्रारम्भमें स्वयं पं. नयविलासने कर दी है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थगत प्रत्येक प्रकरणके अन्तमें उपलब्ध टीकाके अन्तिम पुष्पिका वाक्योंसे भी यही सूचना प्राप्त होती है।

द्वितीय प्रकरण (द्वादश भावनाः) के प्रारम्भमें टीकाको शुरू करते हुए जो तीन श्लोक कहे गये हैं (देखिए पृ. २३) उनमें यह निर्देश किया गया है कि सद्धर्म-धौरेय पार्श्व (साहु पासा) पूर्वज हुए। उनके उदार वंशमें सूर्यके समान उत्तम धर्मका परिपालक टोडर हुआ। उसी वंशमें जीवाजीव पदार्थोंके स्वरूपका ज्ञाता नामसे साह ऋषिदास (टोडरका पुत्र) हुआ। उसकी प्रेरणासे नयविलासने ज्ञानार्णवकी प्रसिद्ध प्रकट विवृति की। श्रावकाचार रूप समुद्रको वृद्धिगत करनेके लिए चन्द्रमण्डल समान वह टोडरका पुत्र ऋषिदास चिरजीवी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो। उसके उपदेशको ग्रहण कर मनमें भक्तिभावसे प्रेरित होता हुआ मैं बालकोंके प्रबोधके लिए ज्ञानार्णवकी प्रदीपिकाको करता हूँ।

साहु टोडरके पितामहका नाम रूपचन्द और पिताका नाम पासा था।[1] पत्नीका नाम कौसुभी था।[2]

साहु टोडरके तीन पुत्र हुए—ऋषिदास, मोहनदास और रूपमांगद।[3] साहु टोडर जातिसे अग्रवाल गर्गगोत्रीय थे। बादशाह अकबरके एक विश्वासपात्र उच्च अधिकारी कृष्णामंगल चौधरीके वे मन्त्री थे। श्री पं. परमानन्दजी शास्त्रीने सम समयमें होनेवाले टोडर नामक दो व्यक्तियोंको पृथक्-पृथक् सिद्ध किया है—एक राजा टोडर और दूसरे साहु टोडर।[4]

कवि राजमल्लने साहु टोडरकी प्रशंसा करते हुए उन्हें सुधी, उदार, कुलदीपक, धर्मतत्पर, देव-शास्त्र-गुरुके वत्सल, विनयी और दानी आदि अनेक विशेषणोंसे विशिष्ट किया है।[5] पिताके समान ऋषिदास भी गुणज्ञ, धर्मात्मा और उदारहृदय थे। उनकी प्रेरणा और पं. जिनदासके सहयोगसे पं. नयविलासके द्वारा प्रस्तुत टीका रची गयी है। उसका रचनाकाल विक्रमकी १७वीं शताब्दी समझना चाहिए। क्योंकि साहु टोडरके निकटवर्ती प्रशंसक कवि राजमल्लके द्वारा वि. सं. १६३२ में जम्बूस्वामिचरित और वि. सं. १६४१ में लाटी संहिता रची गयी है।

५. अन्य टीकाएँ

१. तत्त्वत्रयप्रकाशिनी—प्रस्तुत ज्ञानार्णवके अन्तर्गत जो त्रितत्त्व प्रकरण (१९वाँ) है उसमें प्रचुर लम्बे समासवाले गद्य भागके द्वारा शिव, वैनतेय (गरुड़) और काम इन तीन तत्त्वोंकी प्ररूपणा की गयी है। केवल इतने गद्य भागके ऊपर श्रुतसागर सूरिके द्वारा संस्कृतमें एक टीका लिखी गयी है। इस टीकाके आश्रय-से इन तत्त्वोंका कुछ स्पष्टीकरण हो जाता है। इस टीकाके अन्तमें जो एक श्लोक (पृ. ३६८) उपलब्ध है उससे ज्ञात होता है कि प्रकृत टीका (भाष्य) आचार्य सिंहनन्दीकी प्रार्थनापर विद्यानन्दी गुरुके प्रसादसे श्रुतसागर सूरिके द्वारा की गयी है।

---

१. उग्राग्रोतकवंशजो वरमतिर्गोत्रे च गर्गोऽभवत्
तत्पुत्रः पुनरद्भुतोदयगुणग्रामैकचूडामणिः
श्रीपासांवरसाधु साधु गदितः सर्वे समं साधुभिः।
रेखा यस्य विराजते धुरि तदारम्भे महौजस्विनां
धर्मश्रीसुखदानमानयशसां जैनेऽथ धर्मे रतः॥—जम्बूस्वामिचरित १, ६४-६५
तस्य भार्या यथा नाम्ना कौसुभी शोभनानना।
साध्वी पतिव्रता चेयं भर्तुश्छंदानुगामिनी॥—जम्बू. च. १-७३

२. काष्ठासंघभद्यानियां (?) च नगरे कोलेति नाम्ना वरात्।
श्रीसाधुर्मदनाख्यया तदनुजो भ्राता स आसू सुधी-
स्तत्पुत्रो जिनधर्मशर्मनिरतः श्रीरूपचद्राह्वयः॥

३. जम्बू. च. १, ७५-७७।

४. महावीर जयन्ती स्मारिका अप्रैल १९६३, पृ. १०७-११ पर 'साहु और राजा टोडरमल'-शीर्षक—लेख।

५. जम्बू. च. १,६६-७२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रुतसागर सूरि—बहुश्रुत विद्वान् श्रुतसागर सूरि विक्रमकी १६वीं शताब्दीमें हुए हैं।[1] ये अनेक विषयोंके प्रखर पण्डित थे। संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंपर उनका पूरा अधिकार था। उनके द्वारा षट्प्राभृत, तत्त्वार्थसूत्र, जिनसहस्रनाम और यशस्तिलकचम्पू (अपूर्ण) आदि ग्रन्थोंपर टीका की गयी है। इन टीकाओंकी अन्तिम पुष्पिकाओं या प्रशस्तियोंमें उन्होंने अपनेको बड़े अभिमान के साथ तर्क, व्याकरण, छन्द, अलंकार और साहित्य आदि शास्त्रोंमें तीक्ष्णबुद्धि (त. सू. प्र. अध्यायकी अन्तिम पुष्पिका), कलिकाल-गौतमस्वामी और उभय-भाषाकविचक्रवर्ती (द. प्रा. की अन्तिम पुष्पिका) आदि विशेषणोंसे विशेषित किया है। मोक्षप्राभृतकी टीकाके अन्तमें तो उन्होंने स्वरचित एक श्लोकके द्वारा यह भी व्यक्त किया है कि जो बुद्धिमान् उमास्वामी, समन्तभद्र, कुन्दकुन्द, भट्टाकलंक, प्रभाचन्द्र, विद्यानन्द और पूज्यपादके देखनेकी मनमें अभिलाषा रखता है वह त्रैविद्य धीमानोंके द्वारा नमस्कृत श्रुतसागरको देख ले।[2]

इन टीकाओंमें उन्होंने कुछ अप्रसिद्ध और विचित्र पद्धतिसे निष्पन्न शब्दोंका भी सम्भवतः बुद्धि-पुरस्सर उपयोग किया है। यथा—अप्पित्ति (त. वृत्ति ७-२१), पितृबीज (बो. प्रा. ५५), अण्डायिक, पोतायिक, जरायिक, रसायिक (त. वृ. २-१४) व अपान[3] (त. वृ. ५-१९) आदि।

२. हिन्दी पद्यमय टीका—जैसी कि श्री डॉ. कस्तूरचन्दजी कासलीवालके द्वारा सूचना की गयी है प्रस्तुत ज्ञानार्णवपर एक हिन्दी पद्यमय टीका संवत् १७२८ में लब्धिविनय गणिके द्वारा लिखी गयी है। उसकी एक प्रति अजमेरके भट्टारकीय शास्त्रभण्डारमें और एक प्रति जयपुरके गोधोंके मन्दिरमें संगृहीत है।[4]

३. हिन्दी वचनिका—एक टीका पं. जयचन्द्रजी छावड़ाके द्वारा हिन्दी (ढूंढारी) में लिखी गयी है। इस टीकाको लिखकर उन्होंने माघ सुदी पंचमी भृगुवार संवत् १८०८ में समाप्त किया है।

४. हिन्दी वचनिकाका रूपान्तर—ढूंढारी भाषामय उपर्युक्त वचनिकाका खड़ी बोली में रूपान्तर श्री पं. पन्नालालजी बाकलीवालने किया, जो मूल ग्रन्थके साथ रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला द्वारा प्रकाशित हो चुका है तथा अधिक प्रचारमें आनेसे सम्भवतः उसके २-३ संस्करण भी निकल चुके हैं।

६. विषय-परिचय

समस्त ग्रन्थ जिन ३९ प्रकरणोंमें विभक्त हैं उनमें क्रमसे विषयका विवेचन इस प्रकार हुआ है—

१. पीठिका—यहाँ सर्वप्रथम मंगलके रूपमें कृतकृत्य परमात्माको नमस्कार करते हुए आगे क्रमसे आदिनाथ, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ और वर्धमान जिनेन्द्रका स्मरण किया गया है। इस प्रकारसे जो यहाँ क्रमसे पहले, आठवें, सोलहवें और चौबीसवें इन चार तीर्थंकरों की स्तुति की गयी है उससे ग्रन्थकारका आशय चौबीसों तीर्थंकरोंकी स्तुतिका रहा है। आगे ध्यानकी सिद्धिके लिए योगीन्द्र इन्द्रभूति (गौतम गणधर) को नमस्कार करते हुए प्रस्तुत ज्ञानार्णवके कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है। पश्चात् समन्तभद्रादि कवीन्द्रोंकी भारतीके

---

१. जैन साहित्य और इतिहास' पृ. ४०६-१२ पर 'श्रुतसागर सूरि' शीर्षक, स्व. श्री पं. नाथूरामजी प्रेमीका निबन्ध।

२. श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रममलं श्रीकुन्दकुन्दाह्वयं
यो धीमानकलङ्कभट्टमपि च श्रीमत्प्रभेन्दुप्रभुम्।
विद्यानन्दमपीक्षितुं कृतमनाः श्रीपूज्यपादं गुरुं
वीक्षेत श्रुतसागरं सविनयात् त्रैविद्यधीमन्नुतम् ॥

३. अपअनिति हर्षेण जीवति विकृत्या वा जीवति येन जीवः स अपानः।

४. जैन सन्देश—शोधांक १८, २६ मार्च १९६३, पृ. २६६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महत्त्वको प्रकट करते हुए क्रमसे देवनन्दी (पूज्यपाद), जिनसेन और भट्टाकलंककी वाणीका कीर्तन किया गया है। तत्पश्चात् ग्रन्थरचनाके उद्देशको प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि मैं संसारतापसे सन्तप्त अपनेको योगीन्द्रोंके द्वारा सेवित मार्गमें—योगके अनुष्ठानमें—नियोजित करता हूँ। ग्रन्थकी यह रचना न तो कवित्वके अभिमानवश की जा रही है और न उससे मुझे ख्यातिलाभकी भी कोई इच्छा है। इस प्रकारसे ग्रन्थरचनाकी भूमिकाको बाँधते हुए ग्रन्थकार द्वारा समीचीन व असमीचीन शास्त्ररचनाके गुणावगुणका भी विचार किया गया है (1-49)।

२. द्वादश भावना—मोक्ष-महलकी सोपान-पंक्तिके समान अनित्यत्वादिरूप बारह भावनाएँ अनेक ग्रन्थोंमें चर्चित हैं। इनके निरन्तर चिन्तनसे प्राणी सचेतन स्त्री-पुत्रादि और अचेतन धनसम्पत्ति आदि की भिन्नता और नश्वरताको जानकर उनसे राग-द्वेष न करता हुआ समताभावको प्राप्त होता है, जो दर्शनविशुद्धिका प्रमुख कारण है। इस प्रकारसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके अभिमुख होकर वह मुमुक्षु भव्य ध्यानपर आरूढ़ होता है (50-246)।

३. ध्यानलक्षण—यहाँ ध्यानके स्वरूप व उसके साधनकी प्रक्रियाको प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि मनुष्य पर्याय काकतालीय न्यायसे दुष्प्राप्य है। वह यदि संयोगसे प्राप्त हो गयी है तो उसके आश्रयसे पुरुषार्थको सिद्ध कर लेना चाहिए। यही उस मनुष्य पर्यायकी प्राप्तिका फल है। पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके भेदसे चार प्रकारका है। इनमें प्रथम तीन विनश्वर व संसारपरिभ्रमणके कारण होनेसे हेय हैं। यहाँ इन तीन पुरुषार्थोंमें धर्मपुरुषार्थको भी जो संसारपरिभ्रमणका कारण व इसीसे हेय कहा गया है वह देवपूजा व गुरुपास्ति आदिरूप गृहस्थधर्मको लक्ष्यमें रखकर ही कहा गया है। कारण यह कि इस प्रकारका धर्म स्वर्गादि अभ्युदयका ही साधक है, न कि निराकुल सुखमय मोक्षका। निराकुल सुखका साधक तो आत्माका स्वभावभूत रत्नत्रयस्वरूप धर्म ही सम्भव है। इसे लक्ष्यमें रखकर जबतक उस रत्नत्रयस्वरूप स्वाभाविक धर्मकी प्राप्ति सम्भव नहीं है तबतक नरकादि दुर्गतिसे बचनेके लिए उक्त गृहस्थधर्मका परिपालन करना भी हितकर है। इस वस्तुस्थितिको समझ लेना चाहिए[1]। आगे इसी प्रकरणमें स्वयं ग्रन्थकारने इसी अभिप्रायको व्यक्त करते हुए जीवके आशयको पुण्याशय, अशुभाशय और शुद्धोपयोगके भेदसे तीन प्रकारका बतलाया है तथा यह निर्देश किया है कि उनमें पुण्याशयके वशीभूत होकर शुद्ध लेश्याका आलम्बन लेता हुआ जो भव्य जीव वस्तुस्वरूपका चिन्तन करता है उसके प्रशस्त ध्यान होता है। इसके विपरीत पापाशयके वशीभूत होकर चिन्तन करनेवालेके असद्ध्यान (दुर्ध्यान) होता है। रागादिके क्षीण हो जानेके कारण अन्तरात्माके प्रसन्न होनेपर जो आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होती है उसे शुद्धोपयोग या शुद्ध आशय कहा गया है।

---

१. आचार्य पूज्यपादने भी निम्न श्लोकों द्वारा इसी अभिप्रायको व्यक्त किया है—

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥
अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत् तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥—समाधितंत्र-८३-८४
वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्व्रतनारकम्।
छाया तपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥—इष्टोपदेश-३

लगभग यही अभिप्राय आत्मानुशासनमें भी इस प्रकारसे प्रकट किया गया है—

अशुभात् शुभामायातः शुद्धः स्यादयमागमात्।
रवेरप्राप्तसंध्यस्य तमसो न समुद्गमः ॥ १२२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुभ ध्यानका फल जहाँ स्वर्गमें देव या इन्द्रके वैभवकी प्राप्ति है वहाँ दुर्ध्यानका फल नरकादि दुर्गतिकी प्राप्ति है। तीसरे शुद्धोपयोगकी प्राप्तिका फल ज्ञानराज्य (कैवल्य) की प्राप्ति है।

इस प्रकारसे यहाँ यह कहा गया है कि तत्त्वके ज्ञाता आत्महितैषी पूर्वोक्त चार पुरुषार्थोंमें प्रथम तीन को छोड़कर अन्तिम जो मोक्ष पुरुषार्थ है उसीके सिद्ध करनेमें प्रयत्नशील रहा करते हैं। अनन्त ज्ञान-दर्शनादिसे सम्पन्न वह मोक्ष उस शाश्वतिक एवं निर्बाध सुखका कारण है, जो समस्त कर्मोंके क्षयसे प्राप्त होता है। वह कर्मक्षय सम्यग्ज्ञानके बिना सम्भव नहीं है, तथा सम्यग्ज्ञानकी सिद्धि ध्यानके बिना सम्भव नहीं है। इसीलिए मुक्तिके इच्छुक भव्य जीवोंको उस ध्यानका आश्रय लेना चाहिए तथा उसमें स्थिरता प्राप्त कर लेनेके लिए मोह और विषयासक्तिको छोड़ देना चाहिए (247-83)।

४. ध्यानगुण-दोष—यहाँ प्रथमतः उस ध्यानके लक्षणके कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है जो पूर्व, प्रकीर्णक और अंग श्रुतमें विस्तारसे प्ररूपित है। पश्चात् ध्याता, ध्यान, ध्येय और फल इन चारमें ध्याताके स्वरूपका विचार करते हुए यह कहा गया है कि जो मुमुक्षु जन्म-मरणस्वरूप संसारसे विरक्त होकर स्थिरतापूर्वक इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर चुका है वह ध्याता प्रशंसाके योग्य है। इस ध्यानकी सिद्धि जिस प्रकार प्रमादसे अभिभूत संयमहीन गृहस्थोंके सम्भव नहीं है उसी प्रकार वह मिथ्यादृष्टि साधुओंके भी सम्भव नहीं है। प्रसंगवश यहाँ नित्यत्व, अनित्यत्व एवं विज्ञानाद्वैत आदि कुछ एकान्तवादोंकी समीक्षा करते हुए यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये समस्त रूपमें मुक्तिके साधक हैं। उनमें-से कितने ही मिथ्यादृष्टि किसी एकको और अन्य कितने ही उनमें-से किन्हीं दोको ही मुक्तिका साधक मानते हैं। कुछ ऐसे भी मिथ्यादृष्टि हैं जो उन तीनोंमें-से किसीको भी मुक्तिका साधन नहीं मानते हैं। इस प्रकारसे यहाँ सात (३ + ३ + १) मिथ्यादृष्टियोंका निर्देश किया गया है। ध्यानशास्त्रमें केवल उक्त मिथ्यादृष्टियोंका ही निषेध नहीं किया गया, बल्कि जिनाज्ञाके प्रतिकूल प्रवृत्ति करनेवाले अस्थिरचित्त मुनियोंका भी निषेध किया गया है। इस प्रकारसे यहाँ ध्यानके योग्य-अयोग्य आचरणका विस्तारसे विवेचन करते हुए यहाँ तक कहा गया है कि जो साधुवेषको जीविकाका साधन बनाते हैं उन्हें लज्जा आनी चाहिए। उनका यह कृत्य आजीविकाके लिए माताको वेश्या बनाने जैसा है। मनुष्य पर्याय व लोकपूज्य मुनि-धर्मको पाकर बुद्धिमान् आत्महितैषियोंको हेयाहेयका विचार करना चाहिए (284-353)

५. योगीप्रशंसा—यहाँ संयमी योगीकी प्रशंसा करते हुए यह कहा गया है कि कामभोगोंसे विरक्त होकर शरीरसे भी जो निःस्पृह हो चुका है और इसीलिए जिसका चित्त इतना स्थिर हो चुका है कि जो प्राण जानेपर भी स्वीकृत संयमको नहीं छोड़ता है, वस्तुतः वही ध्याता प्रशंसाके योग्य है। ऐसे ध्याताको यहाँ ध्यान-धनेश्वर कहा गया है। इत्यादि प्रकारसे यहाँ योगीकी प्रशंसा करते हुए यह भी कहा गया है कि पवित्र आचारसे उपलक्षित मुनिजन ही ध्यानसिद्धिके पात्र कहे गये हैं (354-82)

६. दर्शन विशुद्धि—यहाँ सम्यग्दर्शनकी महिमाको प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि मुक्तिलक्ष्मीकी प्राप्ति सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रके आश्रयसे ही होती है। इनमें तत्त्वरुचिका नाम सम्यग्दर्शन, तत्त्वके प्रख्यापनका नाम सम्यग्ज्ञान और पापक्रियाकी निवृत्तिका नाम सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार संक्षेपमें रत्नत्रयके स्वरूपको प्रकट करते हुए आगे जीवादि पदार्थोंके श्रद्धानरूप उस सम्यग्दर्शनका लक्षण पुनः निर्दिष्ट किया गया है। तत्पश्चात् उसके दो व तीन भेदोंका निर्देश करते हुए सराग और वीतराग सम्यग्दर्शनकी भी सूचना की गयी है। आगे उसके पचीस दोषोंका निर्देश करते हुए क्रमसे जीव-अजीवादि पदार्थोंकी प्ररूपणा की गयी है (383-448)।

७. ज्ञानोपयोग—यहाँ ज्ञानके स्वरूपको दिखलाते हुए यह कहा गया है कि जिसमें तीनों काल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्बन्धी अनन्त गुण-पर्यायोंसे संयुक्त पदार्थ स्फुरायमान होते हैं उसे ही यथार्थ ज्ञान माना गया है। इस प्रकार स्वाभाविक ज्ञानके लक्षणको बतलाकर आगे उसे मतिज्ञानादिके भेदसे पाँच प्रकारका निर्दिष्ट किया गया है। इन पांच ज्ञानोंमें भी मतिज्ञानके अवग्रहादि व बहु आदिके आश्रयसे तीन सौ छत्तीस भेद दिखलाये गये हैं। इसी प्रकार अवधि और मनःपर्यय ज्ञानोंके भी दो-दो भेदोंका निर्देश करके केवलज्ञानके स्वरूपको प्रकट करते हुए उस ज्ञानके माहात्म्यको व्यक्त किया गया है (449-71)।

८. अहिंसाव्रत—यहाँ सर्व सावद्यके परिहारस्वरूप चारित्रका निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि ऋषभादि जिनेन्द्रोंने उसे सामायिकादिके भेदसे सविस्तर पाँच प्रकारका कहा है। उसे सन्मति (वर्धमान) जिनेन्द्रने पाँच महाव्रतों, पाँच समितियों और तीन गुप्तियोंस्वरूप कहा है। आगे हिंसादि पापोंसे निवृत्तिको व्रतका लक्षण बतलाते हुए अन्य सत्यादि महाव्रतोंके कारणभूत अहिंसा महाव्रतका विस्तारसे वर्णन किया गया है, जिसमें हिंसाको दुर्गतिका कारण और अहिंसाको श्रेयस्कर बतलाया है (472-530)।

९. सत्यव्रत—यहाँ असत्य वचनको अहितकर और सत्य वचनको हितकर बतलाते हुए विविध रूपमें सत्यकी स्तुति और असत्यकी निन्दा की गयी है। जो वचन प्राणियोंका हित करनेवाला हो उसे असत्य होते हुए भी सत्य माना गया है तथा जो सत्य होते हुए भी पापोत्पादक है उसे असत्य माना गया है। असत्य भाषणका परिणाम मूकता (गूँगापन), बुद्धिकी हीनता, मूर्खता, बहिरापन और मुखरोगिता है (531-72)

१०. चौर्यपरिहार—गुणोंके भूषणस्वरूप अचौर्यव्रतके बिना मुनि मोक्षमार्गमें स्थित नहीं हो सकता, ऐसा निर्देश करते हुए यहाँ चौर्यकर्मको अनेक प्रकारसे अनर्थकर सिद्ध किया गया है व अन्तमें यह कहा गया है कि जिस धर्मरूप वृक्षकी जड़ विषयविमुखता है, शाखाएँ अनेक प्रकारका संयम हैं, पत्ते यम-नियम हैं, पुष्प कषायोंका उपशमन हैं, फल ज्ञानकी लीलाएँ हैं, और आश्रय लेनेवाले पक्षी विद्वज्जन हैं; उस धर्मवृक्षको चौर्यकर्मके वशीभूत हुआ मुनि चौर्यकर्मरूप प्रबल अग्निके द्वारा भस्मसात् कर डालता है (573-92)।

११. कामप्रकोप—जिस ब्रह्मचर्यव्रतका आश्रय लेकर योगीजन परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त किया करते हैं उस गहन ब्रह्मव्रतके सविस्तर कहनेकी प्रतिज्ञा करते हुए ग्रन्थकारने उसे दुर्बल प्राणियोंके लिए दुश्चर बतलाया है। ब्रह्मचर्यका विघातक मैथुनकर्म आपाततः रमणीय दिखता हुआ भी परिणाममें नीरस है। यहाँ मैथुनके शरीरसंस्कार आदि दस भेदोंका निर्देश करते हुए उन्हें छोड़ देनेकी प्रेरणा की गयी है। काम-वासनाकी निन्दा करते हुए यहाँ यह भी निर्देश किया गया है कि सर्पके द्वारा डँसे गये प्राणीके जहाँ सात ही वेग होते हैं वहाँ कामरूप सर्पसे कवलित प्राणीके वे भयानक दस वेग होते हैं। इन दस वेगोंका यहाँ नामोल्लेख भी किया गया है। आगे यहाँ तक कहा गया है कि कामार्त मनुष्य पुत्रवधू, सास, पुत्री, धाय, गुरुपत्नी, साध्वी और तिर्यंचनी तकके सेवनकी इच्छा किया करता है। इसीलिए योगीजन कामके परिपाकसे भयभीत होकर संयमका सहारा लिया करते हैं (593-640)।

१२. स्त्रीस्वरूप—यहाँ स्त्रीके स्वरूपपर विचार करते हुए यह कहा गया है कि कामोन्मत्त स्त्रियाँ जो अनर्थ किया करती हैं उसका शतांश भी नहीं कहा जा सकता। स्त्रियोंके वचनमें स्वभावतः अमृत, पर हृदयमें हालाहल विष हुआ करता है। पता नहीं किसने इन स्त्रियोंको रचा है। इस प्रकारसे यहाँ स्त्री जातिकी निन्दा करते हुए उसे सर्पिणी व पिशाची-जैसा भयानक कहा गया है।[1] आगे चलकर यहाँ यह भी कहा गया

1. जहाँ भी स्त्रियोंकी निन्दा की गयी है वह प्रायः पुरुष ग्रन्थकारोंके द्वारा की गयी है। ये ग्रन्थकार प्रायः साधुसंघके अधिनायक रहे हैं। इससे अपने साधुसंघको स्वीकृत संयममें स्थिर रखनेका उनका परम कर्तव्य था। इसी सद्भावनासे प्रेरित होकर उन्होंने संघस्थ साधुओंको ब्रह्मचर्य महाव्रतमें स्थिर रखनेके लिए स्त्रियोंके सत्-असत् दोषोंको दिखलाकर उनकी ओरसे एक मात्र विमुख रखनेका प्रयत्न किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है कि संसारसे विरक्त हुए संयमी जनोंने यद्यपि स्त्रियोंको घृणास्पद बतलाया है तथापि उन्हें सर्वथा पापिष्ठ नहीं समझना चाहिए। लोकमें कुछ ऐसी भी स्त्रियाँ हैं जो शील और संयमसे विभूषित तथा श्रुत और सत्यसे सम्पन्न होकर अपने कुलको उद्दीप्त करनेवाली हैं। इतना ही नहीं वे अपने सतीत्व, महत्त्व, विनय और विवेकसे भूमण्डलको भूषित करती हैं (641-99)।

१३. मैथुन—कामाग्निसे पीड़ित जो पुरुष उसका प्रतीकार मैथुनसे करना चाहता है उसका यह प्रतीकार घीसे अग्निको शान्त करने-जैसा है। जिस प्रकार कोढ़ी मनुष्य खुजलाकर उसकी पीड़ाको दूर करना चाहता है, पर वह उससे शान्त न होकर उत्तरोत्तर वृद्धिको ही प्राप्त होती है; उसी प्रकार वह कामकी पीड़ा उस मैथुन क्रियासे स्थायी रूपमें शान्त न होकर उत्तरोत्तर बढ़ती ही है। मैथुनसे मनुष्यको मूर्च्छा, परिश्रम और क्षयरोगादिका सामना करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त वह प्राणिहिंसाका भी कारण है। इस प्रकारसे यहाँ मैथुन कर्मको अतिशय घृणित व कष्टकर कहा गया है (700–25)।

१४. संसर्ग—स्त्रीका संसर्ग किस प्रकारसे मनुष्यको संयमसे च्युत कर देता है, इसका विचार करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि जितेन्द्रिय व तपस्वी साधु भी स्त्रीके सम्पर्कमें आकर चिरप्रवर्धित संयमको क्षण-भरमें नष्ट कर देता है। प्रथमतः स्त्रीकी ओर दृष्टिपात होता है, पश्चात् उसके प्रति मनमें व्यामोह होता है, फिर परस्परमें वार्तालापकी इच्छा होती है, अनन्तर दोनोंमें प्रेमानुबन्धका प्रादुर्भाव होता है, तत्पश्चात् परस्परमें विश्वास उत्पन्न किया जाता है, और अन्तमें मनके मिल जानेपर दोनों निर्लज्ज होकर असदाचरणमें प्रवृत्त हो जाते हैं। इससे जो मुमुक्षु संयममें स्थिर रहना चाहता है वह इस समस्त अनर्थके मूल कारणभूत उस ओर दृष्टिपातको ही नहीं करता है। इस प्रकारसे यहाँ स्त्री-संसर्गके दोषोंको दिखलाकर न केवल उस स्त्री-संसर्गसे ही दूर रहनेका उपदेश दिया गया है, बल्कि स्त्रीके संसर्गमें रहनेवाले निन्द्य दुराचारी जनोंसे भी दूर रहनेकी प्रेरणा की गयी है (726-70)।

१५. वृद्धसेवा—यहाँ दोनों लोकोंकी विशुद्धि, परिणामोंकी निर्मलता और विद्या एवं विनयकी वृद्धिके लिए वृद्धसेवाको आवश्यक बतलाया गया है। वृद्धसे यहाँ जो केवल आयुसे वृद्ध हैं उनका अभिप्राय नहीं रहा, किन्तु जो तप, श्रुत, धैर्य, ध्यान, विवेक, यम और संयमसे वृद्धिगत हैं उनकी विवक्षा रही है। जिनका सदाचार कभी कलंकित नहीं होता वे आयुसे हीन होते हुए भी वृद्ध माने गये हैं। इसके विपरीत आयुसे वृद्ध होकर भी जो हीन आचरण करता है उसे वृद्ध नहीं माना गया। ऐसे वृद्ध जनोंके समागममें रहनेसे उनके आदर्श जीवन व सदुपदेशसे प्रेरणा पाकर मार्गभ्रष्ट भी जब सन्मार्गमें लग सकता है तब सरलहृदय आत्म-हितैषीका तो कहना ही क्या है? इस प्रकारसे यहाँ वृद्धसेवा—सत्समागम—से प्राप्त होनेवाले अनेक गुणोंको प्रकट किया गया है (771–818)।

१६. परिग्रहदोषविचार—जिस प्रकार कुशल कारीगरके द्वारा उत्तम सामग्रीके द्वारा निर्मित भी सुदृढ़ नौका अत्यधिक भारके रखनेसे नदी या समुद्रमें डूब जाती है उसी प्रकार परिग्रहके भारसे—धन-धान्यादि विषयक ममता की अधिकतासे—संयमी पुरुष भी संसार-समुद्रमें डूब जाता है। परिग्रह बाह्य व अभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारका है। बाह्य परिग्रहमें चेतन माता-पिता, पत्नी, पुत्र, मित्र, दास-दासी व हाथी-घोड़ा आदि तथा अचेतनमें सोना-चाँदी, महल एवं बाग-बगीचा आदि आते हैं। अभ्यन्तर परिग्रह मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्य-रति आदि छह नोकषाय और क्रोधादि चार कषायके भेदसे चौदह प्रकार का है। परिग्रहका लक्षण मूर्च्छा—'यह मेरा है। और मैं इसका स्वामी हूँ' इस प्रकारका ममेदंभाव है। परिग्रह वस्तुतः यही है। इस अभ्यन्तर परिग्रहपर विजय प्राप्त करनेके लिए ही बाह्य परिग्रहके परित्यागको अनिवार्य बतलाया गया है। कारण यह कि जो बाह्य परिग्रहको नहीं छोड़ सकता है वह वस्तुतः अभ्यन्तर परिग्रहका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्यागी नहीं हो सकता। ध्यानकी धुराको वही धारण कर सकता है जो मन व इन्द्रियोंको स्वाधीन करके समस्त परिग्रहसे निर्मुक्त हो चुका है। इस प्रकारका साधु निर्जन वनमें अथवा जनसंकीर्ण नगर आदिमें कहींपर भी निर्भयतापूर्वक रह सकता है। इस प्रकारसे यहाँ परिग्रहकी सदोषताका विचार किया गया है (819–63)।

१७. आशापिशाची—जबतक शरीर और धन आदिके विषयमें आशा बनी रहती है तबतक परिग्रहत्याग महाव्रत सम्भव नहीं है। इसीलिए यहाँ बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहके परित्यागरूप महाव्रतको सिद्ध करनेके लिए अनेक दोषोंकी खानिस्वरूप उस आशाके छोड़नेकी प्रेरणा की गयी है (864–84)।

१८. अक्षविषयनिरोध—पूर्वनिर्दिष्ट छठे प्रकरण में सम्यग्दर्शन और सातवें प्रकरणमें सम्यग्ज्ञानका निरूपण करके आठवें प्रकरणसे सम्यक्चारित्रके कथनका उपक्रम किया गया है। उसमें क्रमसे अहिंसा आदिका निरूपण करते हुए प्रस्तुत प्रकरणके प्रारम्भमें महाव्रतके निरुक्त अर्थको प्रकट किया गया है। वहाँ यह कहा गया है कि उक्त अहिंसादि महाव्रतोंका परिपालन चूँकि महापुरुषोंके द्वारा किया जाता है, महान् अर्थके—मोक्षरूप परम पुरुषार्थके—वे साधक हैं, तथा स्वयं भी महान् हैं; इसीलिए उन्हें महाव्रत कहा जाता है। आगे इन महाव्रतोंकी विशुद्धिके लिए उनकी पचीस भावनाओंके चिन्तनकी प्रेरणा करते हुए पाँच समितियों और तीन गुप्तियोंके स्वरूपको दिखलाया गया है। इन आठको संयमी जनोंकी जन्मदात्री माताएँ—आठ प्रवचनमातृकाएँ—कहा गया है। जिस प्रकार माता बालकका सब प्रकारसे संरक्षण किया करती है उसी प्रकारसे उक्त आठ प्रवचनमाताएँ संयमी साधु जनोंका दोषोंसे संरक्षण किया करती हैं (906)। इस प्रकारसे पांच महाव्रतों, पांच समितियों और तीन गुप्तियोंस्वरूप तेरह प्रकारके सम्यक्चारित्रका निरूपण करते हुए रत्नत्रयस्वरूप आत्माके प्रभावको प्रकट किया गया है।

आगे यहाँ क्रोधादि कषायों और इन्द्रियोंके वशीभूत होनेसे उत्पन्न होनेवाले दोषों तथा उनपर विजय प्राप्त कर लेनेसे प्रकट होनेवाले गुणोंको दिखलाते हुए अनेक प्रकारसे उक्त कषायों और इन्द्रियोंको वशमें करनेका व्याख्यान किया गया है (885–1050)।

१९. त्रितत्त्व—कितने ही योगी शिव, गरुड़ और काम इन तीन तत्त्वोंके चिन्तनको इच्छित फलका दाता मानते हैं। उनको लक्ष्य करके यहाँ यह कहा गया है कि ये आत्मासे भिन्न नहीं हैं, अनन्त ज्ञानादिस्वरूप जो आत्मा है वही शिव (परमात्मा), गरुड़ और काम है। अतएव उस रूपमें उसीका ध्यान करना योग्य है जो अभीष्ट प्रयोजनका साधक है। यहाँ परमात्मा, पृथिव्यादि चतुष्टयस्वरूप गरुड़ और काम इन तीन तत्त्वोंका निरूपण दुरूह गद्य-भागमें किया गया है (1051-70)।

२०. मनोव्यापारप्रतिपादन—महर्षि पतंजलि आदि कितने ही योगियोंने योगके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठको तथा अन्य कितने ही ऋषियोंने उन आठमें-से यम और नियमको छोड़कर शेष छहको ही योगका अंग माना है। कहींपर उत्साह, निश्चय, धैर्य, सन्तोष, तत्त्वदर्शन और जनपदत्याग इन छहसे योगकी सिद्धि निर्दिष्ट की गयी है। मनकी स्थिरताके कारणभूत इन सबकी सूचना करते हुए यहाँ मनकी शुद्धिपर विशेष जोर दिया गया है। यह मनकी शुद्धि ध्यानकी विशुद्धिको तो करती ही है, साथ ही वह मुमुक्षुको अनादि कर्मबन्धनसे भी छुड़ाती है। जिसके आश्रयसे मुमुक्षु जीव मनस्तत्त्व (आत्मस्वरूप) में स्थिर हो जाता है उसे ही यथार्थमें ध्यान, विज्ञान और ध्येय तत्त्व कहा जा सकता है। मनकी स्थिरताके बिना तप, श्रुत और कायक्लेश आदि तुषखण्डनके समान निरर्थक रहते हैं। इस प्रकार यहाँ उस मनकी शुद्धिका विवेचन अनेक प्रकारसे किया गया है (1071-1106)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२१. रागादिनिवारण—पूर्व प्रकरणमें ध्यानकी सिद्धिके लिए मनकी स्थिरताको अनिवार्य बतलाया जा चुका है। पर वह मनकी स्थिरता तबतक सम्भव नहीं है जबतक कि अन्तःकरणसे राग आदि नहीं हट जाते। योगी चित्तको आत्मस्वरूपमें स्थित करना चाहता है, पर निमित्त पाकर रागादिके प्रकट होनेपर मनकी आत्मस्थिति रह नहीं पाती। वे रागादि मनको कभी मूढ़, कभी भ्रान्त, कभी भयभीत, कभी संक्लिष्ट और कभी शंकित किया करते हैं। इसलिए वस्तु-स्वरूपका विचारकर इन्द्रियविषयोंमें इष्ट-अनिष्टकी कल्पनाको छोड़ देना चाहिए। राग और द्वेष दोनों अविनाभावी हैं—यदि एक ओर राग होता है तो दूसरी ओर द्वेषका होना अनिवार्य है। राग और द्वेष ये दोनों मोह (मूढ़ता या अज्ञानता) के दो रूप हैं। इस प्रकार यहाँ राग, द्वेष एवं मोहकी विरूपताको प्रकट करते हुए उनके छोड़नेकी प्रेरणा की गयी है (1107-46)।

२२. साम्यवैभव—कर्मबन्धके कारणभूत उक्त राग-द्वेषके नष्ट करनेका उपाय समताभाव है। इष्ट-अनिष्ट प्रतीत होनेवाले पदार्थोंमें जब समताभाव प्रादुर्भूत हो जाता है तब योगीको इस चराचर विश्वमें न तो कुछ हेय रहता है और न कुछ उपादेय भी रहता है। इस प्रकार साम्यभावको प्राप्त हुआ योगी दूसरोंके द्वारा की जानेवाली स्तुति और निन्दामें हर्ष-विषादसे रहित समबुद्धि रहता है। ऐसी स्थिर स्थितिके निर्मित हो जानेपर वह न परीषहोंसे विचलित होता है और न दुष्ट जनोंके द्वारा किये जानेवाले भयानक उपद्रवोंसे भी व्याकुल होता है, वह उन्हें कर्मनिर्जराका कारण जानकर शान्तिके साथ सहन ही करता है (1147-79)।

२३. आर्तध्यान—साम्यभाव और ध्यानमें परस्पर आविनाभाव सम्बन्ध है—जैसे साम्यभावके बिना ध्यान सम्भव नहीं है वैसे ही ध्यानके बिना साम्यभाव भी सम्भव नहीं है। कुछ अज्ञानी जनोंने ध्यानका प्रणयन लौकिक कार्यों—जैसे वशीकरण, मारण और उच्चाटन आदि—के लिए किया है। उसको नरकादि दुर्गतिका कारण बतलाते हुए चिन्ताके निरोधस्वरूप ध्यानके दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। इनमें प्रशस्त ध्यान जहाँ मुक्तिका कारण है वहाँ अप्रशस्त ध्यान संसार-परिभ्रमणका कारण है। इनमें जैसे आर्त और रौद्रके भेदसे अप्रशस्त ध्यान दो प्रकारका है वैसे ही धर्म और शुक्लके भेदसे प्रशस्त ध्यान भी दो प्रकारका है। प्रकृतमें यहाँ अप्रशस्त ध्यानके प्रथम भेदभूत आर्तध्यानका निरूपण करते हुए कहा गया है कि अनिष्ट पदार्थोंके संयोग, इष्ट पदार्थोंके वियोग, रोगजनित वेदना और आगामी भोगाकांक्षारूप निदानके आश्रयसे जो संक्लेशतापूर्ण चिन्तन होता है वह आर्तध्यान कहलाता है। आगे इन चार आर्तध्यानोंका विस्तारसे विवेचन करते हुए यह निर्देश किया गया है कि वह आर्तध्यान प्रमत्तसंयत (छठे गुणस्थान) तक होता है। विशेष इतना है कि निदान नामक चौथा आर्तध्यान प्रमत्तसंयतके नहीं होता, उससे पूर्वके पाँच गुणस्थानोंमें ही वह सम्भव है (1180-1222)।

२४. आर्त-रौद्र—दूसरा अप्रशस्त ध्यान रौद्र है। वह क्रूर अभिप्रायसे होता है। उसके यहाँ ये चार भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और संरक्षणानन्द। आगे इन चारोंका यहाँ पृथक्-पृथक् बिस्तारसे वर्णन किया गया है (1223-66)।

२५. ध्यानविरुद्धस्थान—यहाँ ज्ञान-वैराग्यसे सम्पन्न ध्याताकी प्रशंसा करते हुए प्रथमतः मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा (मध्यस्थता) इन चार भावनाओंके स्वरूपको दिखलाकर उनके चिन्तनकी प्रेरणा की गयी है। तत्पश्चात् जहाँ म्लेच्छ व अधम जनोंका निवास हो, जो दुष्ट राजाके द्वारा शासित हो, तथा पाखण्डि-समूह, मिथ्यादृष्टि, कौलिक, कापालिक, भूत-बैताल, जुवारी, मद्यपायी, विट, शिल्पी, कारु, उन्मत्त, उपद्रवी एवं दुराचारिणी स्त्रियोंसे व्याप्त हो ऐसे स्थानका यहाँ ध्यानमें बाधक होनेके कारण निषेध किया गया है (1267-1301)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२६. प्राणायाम—पूर्वमें ध्यानके अयोग्य उपर्युक्त स्थानोंको बतलाकर यहाँ यह निर्देश किया गया है कि ध्यानकी सिद्धि सिद्धक्षेत्र, महातीर्थ, पुराणपुरुषोंसे अधिष्ठित और तीर्थंकरोंके कल्याणकोंसे सम्बद्ध क्षेत्रमें हुआ करती है। इनके अतिरिक्त वृक्षकोटर, जीर्ण उद्यान, श्मशान, गुफा, सिद्धकूट, जिनालय और कोलाहल एवं उपद्रवसे रहित जनशून्य गृह आदिको भी ध्यानके योग्य स्थान कहा गया है। इसके साथ यह भी निर्देश कर दिया गया है कि जहाँपर रागादि दोषोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना न हो ऐसा स्थान सदा ही, विशेषकर ध्यानके समयमें, योग्य माना गया है (1301-9)।

ध्यानके योग्य आसनके प्रसंगमें यह कहा गया है कि काष्ठफलक, शिला, भूमि अथवा रेतीले स्थानमें पर्यंक, अर्धपर्यंक, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन अथवा कायोत्सर्गसे स्थित होकर ध्यान करना चाहिए। साथ ही निष्कर्षके रूपमें यह भी कह दिया है कि स्थान चाहे निर्जन हो अथवा जनोंसे संकीर्ण हो, स्थिति भी चाहे सुखद हो अथवा दुखप्रद हो, जिस किसी भी अवस्थामें चित्त स्थिर रहता है उसी अवस्थामें स्थित होकर ध्यान करना उचित है। दिशाओंमें यहाँ पूर्व और उत्तर दिशाका विधान किया गया है (1310-25)।

धर्मध्यानके स्वामीका निर्देश करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि उसके स्वामी मुख्य रूपसे अप्रमत्त-संयत और गौण रूपसे प्रमत्तसंयत हैं। मतान्तरसे उसके स्वामी सम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक चार गुणस्थानवर्ती बतलाये गये हैं (1326-29)।

आगे लेश्याविशुद्धिके अनुसार ध्याता और ध्यानके तीन-तीन भेदोंका निर्देश करते हुए ध्यानकी कुछ प्रक्रिया भी बतलायी गयी है (1330-41)।

इस प्रकार धर्मध्यानका कुछ निरूपण करनेके पश्चात् प्राणायामका उपक्रम करते हुए यहाँ प्रथमतः यह निर्देश किया गया है कि अपने सिद्धान्तका भले प्रकारसे निर्णय कर लेनेवाले मुनियोंने ध्यानकी सिद्धिके निमित्त मनकी स्थिरताके लिए प्राणायामकी प्रशंसा की है। इसीलिए बुद्धिमान् भव्य जनोंको उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि उसके बिना मनके ऊपर विजय प्राप्त करना शक्य नहीं है। पूर्वाचार्योंने उसे लक्षणके भेदसे तीन प्रकारका माना है—पूरक, कुम्भक और रेचक। आगे संक्षेपमें इन तीनोंके लक्षणोंका निर्देश करते हुए प्राणायामसे होनेवाले लाभको प्रकट किया गया है। तत्पश्चात् नासिकाछिद्रोंमें रहनेवाले पार्थिव आदि चार मण्डलों, उनमें संचार करनेवाली पुरन्दर आदि चार वायुओं, उनके फलों, वाम-दक्षिण नाड़ियों, स्वरसंचारके आधारसे प्रश्नोंके उत्तरों, जीवन-मरण, जय-पराजय, वर्षा, धान्यनिष्पत्ति, वशीकरण, गर्भमें स्थित पुत्र-पुत्री आदिके जन्म, सित-पीतादि बिन्दुओंके द्वारा संचार करनेवाली वायुका परिज्ञान, नाड़ी-शुद्धि, नाड़ीमें पवनके बहनेका काल और वेध (परके मृत अथवा जीवित शरीरमें प्रवेश); इत्यादिका विचार किया गया है। अन्तमें वेध—अनेक प्रकारके पुष्पों, कपूर आदि द्रव्यों तथा भ्रमर, पतंगों, पक्षियों एवं मनुष्य व घोड़ा आदिके शरीरमें प्रवेश—का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि इस परपुरप्रवेशका फल कौतुक मात्र है। आगे कहा गया है कि वायुके संचारमें चतुर योगी कामवासना, भयानक विष, मनोजय, रोगक्षय और शरीरकी स्थिरताको करता है; इसमें सन्देह नहीं है। जितेन्द्रिय मुनिका प्राणायामसे सैकड़ों भवोंका संचित पाप दो घटिकाओं (मुहूर्त मात्र) में विलीन हो जाता है (1342-1455)।

२७. प्रत्याहार—यहाँ प्रत्याहारके स्वरूपको प्रकट करते हुए कहा गया है कि इन्द्रियोंके साथ मनको इन्द्रियविषयोंकी ओरसे खींचकर उसे इच्छानुसार जहाँ धारण किया जाता है उसका नाम प्रत्याहार है। आगे समाधिकी सिद्धिके लिए प्रत्याहारकी प्रशंसा करते हुए प्राणायामको मनकी अस्वस्थता का कारण व मुक्तिका बाधक कहा गया है। सूत्रमें प्राणायामसे सम्भव अतिरिक्त फलके न कहे जानेसे ग्रन्थकारने यहाँ उसके लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने अतिरिक्त श्रमके न करनेकी सूचना की है। अन्तमें यहाँ चित्तके आलम्बनभूत दस ध्यानस्थानोंका निर्देश करते हुए यह सूचना की है कि इन स्थानोंमें विश्रामको प्राप्त लक्ष्य (ध्येय) को विस्तृत करनेवाले मुनिके आत्मसंवेदनजनित बहुत-से ध्यानके प्रत्यय उत्पन्न होते हैं (1456-69)।

२८. सवीर्य ध्यान—यहाँ अनादि कालसे कर्मबन्धनमें बद्ध आत्माकी क्या अवस्था रही है तथा स्वभावतः वह कैसा है, इसका विचार करते हुए यह निश्चय कराया गया है कि ज्ञानकी दृष्टिसे मैं और परमात्मा दोनों समान हैं। विशेष इतना कि अनन्त ज्ञानादि गुणोंका समुदाय परमात्मामें प्रकट हो चुका है, पर मुझमें वह शक्तिरूपमें ही विद्यमान है। आज मुझे अपने सामर्थ्यको जानकर उस कर्मबन्धनसे मुक्त होनेके लिए धर्मध्यानका और विशेष शक्तिके होनेपर शुक्लध्यानका आश्रय लेना है, इस प्रकारकी यहाँ प्रतिज्ञा की गयी है। उस ध्यानमें चिन्तनीय चेतन-अचेतन—जीवाजीवादि पदार्थ और परमात्माका स्वरूप है। इस प्रसंगमें यहाँ परमात्माके स्वरूपका विचार करते हुए यह कहा गया है कि योगी जब निरन्तर उस परमात्माका स्मरण करता है तब वह स्वयं तन्मय हो जाता है। इसे ही यहाँ सवीर्य ध्यान कहा गया है (1470-1512)

२९. शुद्धोपयोग विचार—जो अपने आत्मस्वरूपको नहीं जानता है वह पूर्वोक्त परम पुरुष या परमात्माको नहीं जान सकता है। इसलिए यहाँ प्रथमतः आत्मस्वरूपके जान लेनेकी प्रेरणा करते हुए जीवके बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ये तीन भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। इनमें जो शरीर आदिसे भिन्न आत्माको न जानता हुआ उन शरीर आदिको ही आत्मा समझता है उसे बहिरात्मा कहा जाता है। जिसे पुद्गलमय जड़ शरीरसे भिन्न चेतन आत्मामें ही आत्माका निश्चय हो चुका है वह अन्तरात्मा कहलाता है। जो कर्म-मल व शरीरसे रहित होकर निर्मल हो चुका है तथा समस्त संकल्प-विकल्पोंसे निर्मुक्त होकर परमानन्दको प्राप्त कर चुका है उसे परमात्मा कहा जाता है। इस प्रकारसे यहाँ जीवके उपर्युक्त तीन भेदों व उनके पृथक्-पृथक् स्वरूपको दिखलाकर यह कहा गया है कि बहिरात्मा जीव पिता-पुत्र व धन-सम्पत्ति आदिको अपना मानता हुआ निरन्तर उनमें मुग्ध रहता है व कर्मबन्धसे बद्ध होता है, जिससे उसके जन्म-मरणकी परम्परा चलती ही रहती है। इसीसे यहाँ आत्महितैषी जीवको पूर्वोक्त बहिरात्मपनेको छोड़कर अन्तरात्मा हो जानेका विविध प्रकारसे उपदेश दिया गया है, जिससे कि परमात्माका ध्यान करके स्वयं परमात्मा बन सके। अन्तमें यहाँ उस परमात्मारूप ध्येयको धर्म और शुक्ल इन दोनों ही ध्यानोंका साधारण ध्येय बतलाते हुए दोनोंमें विशुद्धि और स्वामीके भेदसे भेदका निर्देश किया गया है (1513-1616)।

३०. आज्ञाविचय—यहाँ चित्तको आत्मस्वरूपमें स्थिर करनेके लिए धर्मध्यानके आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन चार भेदोंका निर्देश करते हुए प्रथम आज्ञाविचय ध्यानकी प्ररूपणा की गयी है। उसके स्वरूपको बतलाते हुए यह कहा गया है कि जिस ध्यानमें सर्वज्ञकी आज्ञाके अनुसार आगमसिद्ध वस्तुस्वरूपका विचार किया जाता है वह आज्ञाविचय कहलाता है। अनन्त गुणों और पर्यायोंसे संयुक्त चेतन-अचेतनरूप वस्तुका लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य है। उसका निर्णय प्रमाण, नय और निक्षेपके आश्रयसे किया जाना चाहिए। प्रसंगवश यहाँ श्रुतज्ञानके माहात्म्यको दिखलाते हुए उसके चिन्तनकी प्रेरणा की गयी है। अन्तमें फिरसे उस आज्ञाविचय धर्मध्यानके स्वरूपको दिखलाते हुए कहा गया है कि सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रमाण करके जिसमें पदार्थका यथार्थ रूपमें चिन्तन किया जाता है उसे योगीन्द्रोंने आज्ञाविचय धर्मध्यान कहा है (1617-39)।

३१. अपायविचय—अपायका अर्थ विनाश है, जिस ध्यानमें कर्मोंके विनाश और उसके उपायका विचार किया जाता है वह अपायविचय धर्मध्यान कहलाता है। इस ध्यानमें अनादि कालसे सम्बद्ध कर्मके विनाशके लिए साधु विचार करता है कि मैं कौन हूँ, मेरे कर्मोंका आस्रव किस कारणसे होता है, बन्ध उनका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कैसे होता है, किस प्रकारसे वे निर्जीर्ण होते हैं, मुक्ति क्या है तथा मुक्तिको प्राप्त जीवका स्वरूप कैसा है; इत्यादि। वह यह भी विचार करता है कि यदि मैंने अपनेको जान लिया तो तीनों लोकोंको ही जान लिया। मैं वस्तुतः सर्वज्ञ व सर्वदर्शी होकर कर्मकालिमासे रहित हूँ। अन्तमें यह प्रेरणा की गयी है कि इस प्रकार अनेक उपायों द्वारा आत्मसिद्धिके लिए कर्मोंके अपायका निश्चय करना चाहिए (1640-57)।

३२. विपाकविचय—पूर्वबद्ध कर्म उदयमें आकर जो अपना फल देता है, इसका नाम विपाक है। वह कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चारके अनुसार प्राणियोंको जो अनेक प्रकारके फलको दिया करता है उसको यहाँ पृथक्-पृथक् उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। मूल कर्मप्रकृतियाँ ज्ञानावरणादि रूप आठ तथा उनके उत्तर भेद यथासम्भव अनेक हैं। यहाँ संक्षेपमें उनके स्वरूपका भी दिग्दर्शन कराया गया है। जिस प्रकार आम आदि फलोंको तोड़कर व उन्हें पालमें देकर समयके पूर्व ही पका लिया जाता है उसी प्रकार तपश्चरणादिके द्वारा पूर्वबद्ध कर्मोंको उनकी स्थिति पूर्ण होनेके पूर्व ही उदयको प्राप्त कराकर निर्जीर्ण कराया जा सकता है। इस प्रकारसे विशुद्ध आत्मपरिणतिके द्वारा उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी कर्मनिर्जराके होनेपर जब चतुर्थ—व्युच्छिन्नक्रियानिवर्ती—शुक्लध्यानके द्वारा समस्त कर्म आत्मासे पृथक् हो जाते हैं तब शरीरसे रहित हो जानेपर पुरुषके आकारमें अवस्थित अमूर्तिक आत्मा सिद्धिपद (मुक्ति) को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यहाँ कर्मबन्धके वश होकर प्राणी किस प्रकारसे कष्टको सहता है तथा मुमुक्षु योगी ध्यान और तपश्चरणके द्वारा किस प्रकारसे उन कर्मोंको नष्ट करके शाश्वतिक एवं निराकुल सुखको प्राप्त करता है, इस प्रकारके चिन्तनकी यहाँ प्रेरणा की गयी है (1658-88)।

३३. संस्थानविचय—संस्थानका अर्थ आकार है। निराधार अनन्तानन्त आकाशके बीचमें चेतन-अचेतन द्रव्योंसे व्याप्त लोक अवस्थित है। वह अधः, मध्य और ऊर्ध्वकी अपेक्षा तीन भागोंमें विभक्त होकर क्रमसे घनोदधि, घन और तनु इन तीन वायुओं (वातवलयों) से वेष्टित है। अधोलोकका आकार वेंतके आसन-जैसा, मध्यलोकका झालर-जैसा और ऊर्ध्वलोकका आकार मृदंग-जैसा है। अधोलोकमें नारकी, मध्य-लोकमें मनुष्य व तिर्यंच तथा ऊर्ध्वलोकमें देवोंका निवास है। इस प्रकार यहाँ लोकके विभागोंसे आकार और वहाँ रहनेवाले प्राणियों—विशेषकर नारकियों व देवों—के सुख-दुख एवं आयु आदिका विस्तारसे वर्णन किया गया है। अन्तमें जैसा कि पूर्व प्रकरण (1686) में निर्देश किया जा चुका है, यहाँ भी यह कहा गया है (1875) कि इस प्रकारके चिन्तनसे जिनके समस्त कर्म नष्ट हो गये हैं उनका जो अपने शरीरके मध्यगत प्रकाशमान अतिशय निर्मल पुरुषाकार—सिद्धोंके आत्मप्रदेशोंका पूर्व शरीर-जैसा अमूर्तिक आकार—प्रकट हो जाता है उसका स्मरण करना चाहिए। इस प्रकार यहाँ प्ररूपित लोकके आकारका चिन्तन करनेवाला योगी नियमसे केवलज्ञानरूप राज्यको पा लेता है (1689-1876)।

३४. पिण्डस्थध्यान—यहाँ पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपवर्जित (रूपातीत) इन ध्यानके चार भेदोंका निर्देश करते हुए उनमें प्रथम पिण्डस्थ ध्यानका निरूपण किया गया है। उसमें पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना (मारुती), वारुणी और तत्त्वरूपवती इन वीरवर्णित पाँच धारणाओंको ज्ञातव्य बतलाते हुए प्रथम पार्थिवी धारणाके प्रसंगमें यह कहा गया है कि योगी मध्यलोकके समान क्षीर-समुद्र, उसमें जम्बूद्वीप प्रमाण हजार पत्तोंवाले कमल, उसमें मेरु पर्वत रूप कर्णिका, उसके ऊपर सिंहासन और उसके ऊपर विराजमान राग-द्वेष विरहित आत्माका स्मरण करता है।

आग्नेयी धारणामें वह नाभिमण्डलमें सोलह पत्तोंवाले कमल, उन सोलह पत्तोंपर क्रमसे अवस्थित अकारादि सोलह स्वरों, कर्णिकापर महामन्त्र (र्हं), उसकी रेफसे निकलती हुई धूमशिखा, अग्निकणों एवं ज्वालावलीका चिन्तन करता है। इस ज्वालासमूहके द्वारा वह हृदयस्थ उस आठ पत्तोंवाले अधोमुख कमलको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भस्म होता हुआ देखता है जिसके आठ पत्तोंपर ज्ञानावरणादि आठ कर्म स्थित हैं। पश्चात् वह शरीरके बाहर उस त्रिकोण अग्निमण्डलका स्मरण करता है जो शरीर और उस कमलको जलाकर दाह्यके शेष न रहनेसे स्वयं शान्त हो गया है।

मारुती धारणामें योगी आकाशमें संचार करनेवाली भयानक उस प्रबल वायुका विचार करता है जिसने पृथिवीतलमें प्रविष्ट होकर भस्मीभूत उस शरीर और कमलकी भस्मको उड़ा दिया है।

वारुणी धारणामें योगी आकाशमें इन्द्रधनुष और बिजलीसे युक्त उस मेघपटलको देखता है जिसने बड़ी-बड़ी बूँदोंमें वर्षा करते हुए पूर्वोक्त उस धूलिको धो डाला है।

अन्तिम तत्त्वरूपवती धारणामें योगी सात धातुओंसे रहित निर्मल सर्वज्ञ सदृश उस आत्माका स्मरण करता है जो दिव्य अतिशयोंसे सुशोभित और कल्याणक-महिमासे संयुक्त होकर सिंहासनपर विराजमान है। अन्तमें पूर्वके समान (1875) यहाँ भी कहा गया है कि इस प्रकारसे ध्यानमें कर्मसे निर्मुक्त पुरुषाकार उस परमात्माका स्मरण करना चाहिए (1877-1909)।

३५. पदस्थध्यान—यहाँ पदस्थध्यानके स्वरूपको दिखलाते हुए यह कहा गया है कि योगी जन पवित्र पदोंका आलम्बन लेकर जो चिन्तन किया करते हैं वह पदस्थध्यान कहलाता है। इस पदस्थध्यानके प्रसंगमें यहाँ वर्णमातृका (स्वर व व्यंजन वर्ण), मन्त्रराज (र्हं), अनाहत देव, प्रणव (ॐ), गुरु पंचनमस्कार मन्त्र, सप्ताक्षर मन्त्र, सोलह अक्षरयुक्त महाविद्या, छह वर्णयुक्त विद्या, चार वर्णयुक्त मन्त्र, दो वर्णयुक्त मन्त्र, अ वर्ण, पाँच वर्णमय विद्या, मंगल-उत्तम-शरण पदसमूह, तेरह अक्षरोंवाली विद्या, पाँच वर्णमय मन्त्र, आठ वर्णयुक्त मन्त्र, मायावर्ण, महाविद्या, सप्ताक्षर मन्त्र, प्रणव-शून्य-अनाहतत्रय; इत्यादि बहुत-से मन्त्रों व विद्याओंको चिन्तनीय बतलाते हुए उन सबका पृथक्-पृथक् फल भी प्रकट किया गया है। यहाँ सिद्धचक्रके सम्बन्धमें यह विशेष निर्देश किया गया है कि संजयन्त आदि मुनियोंके द्वारा विद्यानुवादसे उद्धृत उस सिद्ध-चक्रका स्मरण करना चाहिए जो भुक्ति (भोग) और मुक्तिका स्थान है—उनका कारण है। इस प्रकारसे यहाँ विविध मन्त्रों व विद्याओंका निर्देश करते हुए श्रुत-समुद्रसे समुद्भूत अन्य भी मन्त्रोंके ध्यानकी प्रेरणा की गयी है (1910-2032)।

३६. रूपस्थध्यान—यहाँ अरहन्त अवस्थाको प्राप्त होकर समस्त अतिशयों व प्रातिहार्यों आदिसे विभूषित सर्वज्ञ वीतराग जिनका अनेक सार्थक नामोंके द्वारा निर्देश करते हुए उनका स्मरण करनेकी प्रेरणा की गयी है (2033-79)।

३७. रूपातीतध्यान—यहाँ प्रारम्भमें यह निर्देश किया गया है कि जो वीतरागका स्मरण करता है वह वीतराग होकर मुक्तिको प्राप्त कर लेता है तथा इसके विपरीत जो रागी सरागका स्मरण करता है वह क्रूर कर्मोंका आश्रय लेकर संसारमें परिभ्रमण करता है। यद्यपि मुनिजनोंने विद्यानुवादसे असंख्यात कर्मोंको—मारण, उच्चाटन व वशीकरण आदि क्रियाओंको—प्रकट किया है, पर वे केवल कुतूहलके लिए ही प्रकट किये गये हैं, क्योंकि वे कुमार्गमें ले जानेवाले दुर्ध्यान हैं। इस प्रकारके दुर्ध्यानोंको यहाँ आत्म-घातक बतलाकर उनका निषेध किया गया है और ऐसे ध्येयके चिन्तनकी प्रेरणा की गयी है जो जीव और कर्मके सम्बन्धको नष्ट करनेवाला हो। पूर्वोक्त रूपस्थध्यानमें चित्तके स्थिर हो जानेपर फिर योगी रूपातीत-ध्यानमें तत्पर होता है। जिस ध्यानमें चिदानन्दस्वरूप, निर्मल, अमूर्त व अविनाशी आत्माका स्मरण किया जाता है वह रूपातीतध्यान कहलाता है। विशुद्ध और अशुद्ध—मुक्त और संसारी—इन दोनों आत्माओंमें स्वाभाविक ज्ञानादि गुणोंकी अपेक्षा समानता है। विशेषता केवल इतनी है कि विशुद्ध आत्माके वे गुण प्रकट हो चुके हैं, पर अशुद्ध आत्मामें वे शक्तिरूपमें ही विद्यमान हैं—प्रकट नहीं हैं, उन्हें प्रकट करना है।

[५]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस वस्तुस्वरूपको जिस योगीने समझ लिया है वह उस सिद्धस्वरूप परमात्माके चिन्तनमें तत्पर होता है। मुक्त हो जानेपर जीव जिस स्वरूप व आकारमें स्थित रहता है उसे यहाँ एक-दो उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है (2080-2111)।

३८. धर्मध्यानफल—यहाँ मुनिको मनोनिरोधकी प्रेरणा करते हुए यह कहा गया है कि हीन बल-वाले मुमुक्षु जन यद्यपि चित्तको स्थिर करना चाहते हैं, पर उनका वह चित्त विषयोंसे व्याकुल होकर स्थिर नहीं हो पाता। इसीलिए हीन बलयुक्त प्राणी शुक्लध्यानके अधिकारी नहीं माने गये। उसके स्वामी प्रथम संहननके धारक वे बलिष्ठ जीव हुआ करते हैं जो शरीरके छेदे-भेदे व जलाये जानेपर भी पत्थरकी मूर्तिके समान अडिग रहते हैं।

धर्मध्यानमें उद्यत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानवर्ती संयतोंमें जो क्षपक है उसके उत्तरोत्तर असंख्यात गुणित क्रमसे कर्मोंका क्षय होता है तथा जो उपशमक है उसके उसी क्रमसे उन कर्मोंका उपशम होता है। इस धर्मध्यानकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त, भाव क्षायोपशमिक और लेश्या शुक्ल ही होती है। विषयतृष्णाका अभाव, नीरोगता, दयालुता, शरीरकी सुगन्धता, मल-मूत्रकी हीनता, कान्ति, प्रसन्नता और उत्तम स्वर; ये उक्त ध्यानके चिह्न—अनुमापक हेतु हैं। उस ध्यानका ध्याता अन्तमें शरीरको छोड़कर ग्रैवेयकों, अनुत्तर विमानों अथवा सर्वार्थसिद्धिमें देव पर्यायको प्राप्त करता है। वहाँसे च्युत होकर वह उत्तम मनुष्य भवमें जन्म लेता है व वहाँ अपनी शक्तिके अनुसार धर्म और शुक्लध्यानका आश्रय लेकर परम पदको प्राप्त कर लेता है (2112-39)।

३९. शुक्लध्यानफल—पूर्वोक्त धर्मध्यानका उपसंहार करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि जो भव्य जीव अतीन्द्रिय सुखको चाहते हैं वे अपने विक्षिप्त चित्तको स्थिर करके विवेकपूर्वक धर्मध्यानरूप समुद्रमें अवगाहन करते हुए मुक्तिसुखका अनुभव करें। आगे कहा गया है कि धीर योगी आत्यन्तिकी शुद्धिको प्राप्त करके उस धर्मध्यानका अतिक्रमण करता हुआ शुक्लध्यानको प्रारम्भ करता है। शुक्लध्यानके स्वरूपका निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो चित्त क्रियासे रहित, इन्द्रियोंसे अतीत और ध्यान-धारणासे विहीन होकर अन्तर्मुख हो जाता है—समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित होकर आत्मस्वरूपमें लीन हो जाता है—उसे शुक्लध्यान जानना चाहिए। प्रथम संहननसे संयुक्त योगी चारों प्रकारके शुक्लध्यानके योग्य होता है। वह ध्यान निर्मलता तथा कषायोंके क्षय अथवा उपशम हो जानेके कारण चूँकि वैडूर्य मणिके समान अतिशय निर्मल व स्थिर होता है; इसीलिए उसे शुक्लध्यान कहा गया है। आगे लक्षणनिर्देशके साथ शुक्लध्यानके स्वामियों व भेदोंको दिखलाते हुए यह कहा गया है कि द्वितीय एकत्ववितर्क शुक्लध्यानके प्रभावसे आर्हन्त्य अवस्थाके प्राप्त हो जानेपर जब केवलीकी आयु अन्तर्मुहूर्तमात्र शेष रह जाती है तब वे तृतीय शुक्ल-ध्यानके ध्याता होते हैं। जो छह मासकी आयुके शेष रह जानेपर केवली हुए हैं वे नियमसे समुद्घातको किया करते हैं। किन्तु जो इससे अधिक आयुके शेष रहनेपर केवली हुए हैं उनके लिए समुद्घातका नियम नहीं है—कोई करते हैं और कोई नहीं भी करते हैं। यह समुद्घात क्रिया तब की जाती है जब कि उनके शेष कर्मोंकी स्थिति आयुसे अधिक होती है। इस प्रक्रियासे लोकपूरण समुद्घातमें उनके चारों अघाती कर्मोंकी स्थिति समान हो जाती है। तत्पश्चात् वे योगोंका निरोध करते हुए जब सूक्ष्म काययोगमें स्थित होते हैं तब वे पूर्वोक्त सूक्ष्मक्रिय नामक तृतीय शुक्लध्यानके योग्य होते हैं। इस ध्यानमें उनकी बहत्तर कर्मप्रकृतियाँ विलीन हो जाती हैं। उसी समय अयोग केवलीके समुच्छिन्नक्रिय नामका चौथा शुक्लध्यान प्रकट होता है। उसमें उनकी शेष तेरह कर्मप्रकृतियाँ भी अन्तिम समयमें विनष्ट हो जाती हैं। उक्त अयोग केवली पाँच ह्रस्व अक्षरोंके उच्चारणकाल तक स्थित रहकर तत्पश्चात् स्वाभाविक ऊर्ध्वगतिसे गमन करते हुए लोकशिखरपर जा विराजते हैं। तब वे वहाँ निर्बाध शाश्वतिक सुखके उपभोक्ता हो जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तमें ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकारसे मैंने कुछ उत्तम वर्णोंके द्वारा संक्षेपमें ध्यानके फलको कहा है। पूर्ण रूपसे यदि कोई उसके कथनमें समर्थ है तो वे वीर प्रभु ही हैं। मैंने जिनागमसे कुछ साररूपमें उद्धृत करके अपने बुद्धिवैभवके अनुसार इस ध्यानशास्त्रकी रचना की है। जो चित्तमें ज्ञानार्णवके माहात्म्यका वेदन करता है वह दुस्तर भवार्णवसे पार हो जाता है (2140-2230)।

७२ कर्मप्रकृतियोंका क्षय ?

प्रकृतमें श्लोक 2195 के द्वारा जो यह कहा गया है कि सूक्ष्मक्रिय ध्यानमें देवदेव (सयोग केवली) के ७२ कर्मप्रकृतियाँ विलीन हो जाती हैं वह पूर्व आगमग्रन्थोंसे—जैसे सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, षट्खण्डागमकी धवला टीका और आदिपुराण आदिसे—मेल नहीं खाता। कारण यह कि इन सभी ग्रन्थोंमें उक्त ७२ कर्मप्रकृतियोंका क्षय अयोग केवलीके द्विचरम समयमें निर्दिष्ट किया गया है[1]। सूक्ष्मकाययोगस्थ सयोगकेवलीके सूक्ष्मक्रिय ध्यानमें उक्त कर्मप्रकृतियोंका क्षय होता है, ऐसा अन्यत्र किसी ग्रन्थमें देखनेमें नहीं आया।

प्रस्तुत संकरण पाटण (P) प्रतिको आदर्श मानकर उसके आधारसे तैयार किया गया है। तदनुसार प्रकृत श्लोकका पाठ इस प्रकार रहा है— × × × प्रकृतयस्तदा। अस्मिन् सूक्ष्मक्रिये ध्याने देवदेवस्य दुर्जयाः॥ इस प्रतिको छोड़कर शेष सभी प्रतियोंमें उसके स्थानपर यह पाठ रहा है— × × × प्रकृतयो द्रुतम्। उपान्त्ये देवदेवस्य मुक्तिश्रीप्रतिबन्धकाः॥ इस पाठके अनुसार भी पूर्वोक्त विरोध तदवस्थ रहता है।

यह अवश्य है कि इस पाठके अनुसार यदि वह श्लोक (2195) श्लोक 2196 के बाद रहा होता तो उसमें निर्दिष्ट अयोगकेवलीका प्रसंग पाकर उसका अभिप्राय यह हो सकता था कि अयोगकेवलीके उपान्त्य (द्विचरम) समयमें बहत्तर कर्मप्रकृतियाँ विलयको प्राप्त होती हैं। इस अवस्थानमें भी आगेके श्लोक 2196 में उपयुक्त 'तस्मिन्नेव क्षणे' अर्थात् 'तृतीय शुक्लध्यानके ही समयमें' यह विचारणीय ही बना रहता है।

यह समस्या सम्भवतः पं. आशाधरके सामने भी रही है। यही कारण है जो उन्होंने भगवती आराधनाके अन्तर्गत गा. १८८७ की टीकामें 'उक्तं च ज्ञानार्णवे विस्तरेण' कहकर क्रमसे 2186-87, 2189-91 और 2193-94 इन सात श्लोकोंको उद्धृत किया है, पर आगेके विवादापन्न उक्त 2195वें श्लोकसे छोड़ दिया है। स्मरण रहे कि पं. आशाधरने धर्म्यध्यानके प्रसंगमें 'स एवं संक्षेपेण धर्मध्यानभेद-निर्णयो विस्तरतस्त्वार्षोक्तं धर्म्यं यथा' यह कहते हुए गा. १७०८ की टीकामें आदिपुराणके अन्तर्गत २१वें पर्वके १३४-६४ श्लोकोंको यथाक्रमसे उद्धृत किया है[2]। इसके पूर्व आर्त और रौद्रध्यानके प्रसंगको भी उन्होंने आदिपुराणसे उद्धृत किया है।

भ. शुभचन्द्रने भी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. ४८७ की टीकामें उपर्युक्त प्रसंगसे सम्बद्ध ज्ञानार्णवके 2201, 2195-97 और 2202 इन पाँच श्लोकोंको उद्धृत किया है, पर वे ज्ञानार्णवमें निर्दिष्ट क्रमके अनुसार उनके द्वारा वहाँ उद्धृत नहीं किये गये। उन्होंने वहाँ जिस क्रमको अपनाया है उसे शायद पूर्वोक्त आगम-

---

१. देखिए सर्वार्थसिद्धि १०-२; त. वा. १०, २, ३; धवला पु. ६, पृ. ४१७; आ. पु. २१, १९४-९८; कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका ४८७, पृ. ३८६ (विशेष इतना है कि धवलामें इन ७२ प्रकृतियोंके साथ मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वीको लेकर ७३ प्रकृतियोंका क्षय शैलेशी (अयोगकेवली) कालके द्विचरम समयमें और उस मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वीके बिना १२ प्रकृतियोंका क्षय उक्त शैलेशीकालके अन्तिम समयमें निर्दिष्ट किया गया है)।

२. बीचमें जिनाज्ञाकी विशेषताको दिखलानेवाले केवल २१, १३६-३९ इन ४ श्लोकोंको छोड़ा गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परम्पराके विरोधके टालनेकी दृष्टिसे अपनाया है। यह भी सम्भव है कि उनके सामने ज्ञानार्णवकी शायद ऐसी ही कोई प्रति रही हो जिसमें उसी क्रमसे वे श्लोक व्यवस्थित हों। श्लोक 2195 को उद्धृत करते समय उनके सामने पाटण प्रति-जैसा पाठ नहीं रहा, बल्कि अन्य प्रतियोंका ही पाठ रहा है।

७. ज्ञानार्णवकी अन्य ग्रन्थोंसे तुलना

१. ज्ञानार्णव व समाधितन्त्र—आचार्य पूज्यपाद विरचित समाधितन्त्र एक अध्यात्मप्रधान ग्रन्थ है। इसमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन जीवभेदोंका निर्देश करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि बहिरात्मा जीव बाह्य इन्द्रियोंके आश्रयसे शरीरको ही आत्मा समझता है व उन दोनोंमें भेद नहीं करता। जबतक शरीरमें आत्मबुद्धि बनी रहती है तबतक जीवके साथ शरीरका सम्बन्ध भी बना रहता है—उसकी परम्परा चलती रहती है। मुक्तिकी प्राप्ति शरीर व आत्मामें भेदविज्ञानसे होती है। उस भेदविज्ञानसे जीव अन्तरात्मा होकर स्वयं परमात्मा बन जाता है। तब उस अवस्थामें उपास्य और उपासकका भी भेद नहीं रहता।

प्रस्तुत ज्ञानार्णवमें जो 'शुद्धोपयोगविचार' नामक २९वाँ प्रकरण है उसमें उपर्युक्त समाधितन्त्रगत अभिप्रायको आत्मसात् किया गया है। दोनों ग्रन्थोंका एक साथ अध्ययन करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञानार्णवकारने यथाक्रमसे समाधितन्त्रका पद्यानुवाद ही किया है। उदाहरणके रूपमें दोनों ग्रन्थोंके इन श्लोकोंको देखिए—

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः॥
मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहम्।
तान् प्रपद्याहमिति मां पुरवेद न तत्त्वतः॥—समाधितन्त्र १५-१६

तनावात्मेति यो भावः स स्याद् बीजं भवस्थितेः।
बहिर्वीताक्षविक्षेपस्तत्त्यक्त्वान्तर्विशेत्तदा॥
अक्षद्वारैर्गलित्वा मन्निमग्नो गोचरेष्वहम्।
तानासाद्याहमित्येतन्न हि सम्यगवेदिषम्॥—ज्ञानार्णव 1534-35

यह क्रम आगे बराबर चलता रहा है।

इष्टोपदेश—उक्त आ. पूज्यपाद विरचित इष्टोपदेशका २५वाँ श्लोक प्रस्तुत ज्ञानार्णवमें 'उक्तं च' के साथ उद्धृत किया गया है। उसकी संख्या यहाँ 1510 है।

२. ज्ञानार्णव व तत्त्वार्थवार्तिक—भट्टाकलंकदेव विरचित तत्त्वार्थवार्तिकके पृ. १४ पर 'हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं' आदि एक श्लोक उद्धृत किया गया है। यह श्लोक प्रस्तुत ज्ञानार्णवमें भी 315 संख्याके अन्तर्गत 'उक्तं च' के साथ उद्धृत किया गया है। प्रकृत श्लोक किस ग्रन्थका है, ज्ञात नहीं होता। सम्भव है ज्ञानार्णवकारने उसे तत्त्वार्थवार्तिकपरसे ही यहाँ उद्धृत किया हो।

ज्ञानार्णवमें धर्मध्यानके स्वामीका निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि उसका स्वामी यथायोग्य मुख्य रूपसे अप्रमत्त और उपचारसे प्रमत्त होता है। सम्पूर्ण लक्षणवाला उसका ध्याता वही अप्रमत्त होता है जो उत्तम संस्थानसे सहित, वज्रकाय-वज्रर्षभनाराच आदि तीन प्रशस्त संहननवाला, जितेन्द्रिय, स्थिर, पूर्वश्रुतका ज्ञाता और यथासम्भव मिथ्यात्व आदि रूप आस्रवका निरोधक हो। आगे कहा गया है कि कुछ आचार्योंके द्वारा यथायोग्य हेतुसे उस धर्मध्यानके सम्यग्दृष्टिसे अप्रमत्त पर्यन्त चार स्वामी माने गये हैं (1326–29)। यहाँ श्लोकमें उपयुक्त 'कैश्चित्' पदसे सम्भवतः तत्त्वार्थवार्तिककारका ही अभिप्राय रहा है। यद्यपि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वार्थसिद्धिके रचयिता आ. पूज्यपादके द्वारा भी उक्त धर्म्यध्यानके ये ही चार स्वामी निर्दिष्ट किये गये हैं[1], पर तत्त्वार्थवार्तिकमें जो इस विषयमें शंका-समाधान किया गया है[2] उससे ज्ञानार्णवकारके द्वारा जो उक्त प्रकारसे संकेत किया गया है वह तत्त्वार्थवार्तिककारकी ओर ही किया गया दिखता है।

३. ज्ञानार्णव व आदिपुराण—आदिपुराणके २१वें पर्वमें ध्यानका काफी विस्तारसे वर्णन किया गया है। ज्ञानार्णवके कर्ता आ. शुभचन्द्रके समक्ष यह आदिपुराणका ध्यानप्रकरण रहा है व उन्होंने उसको प्रस्तुत ज्ञानार्णवकी रचनामें कुछ आधार भी बनाया है[3]। आदिपुराणमें आ. जिनसेनके द्वारा ध्यानके स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद, स्वामी, काल, लेश्या, भाव और फल आदि जिन विषयोंकी चर्चा की गयी है वे प्रायः सभी विषय ज्ञानार्णवमें भी चर्चित हैं। विशेष इतना है कि आदिपुराणमें जहाँ उस ध्यानकी प्ररूपणा क्रमबद्ध व व्यवस्थित रूपमें की गयी है वहाँ प्रस्तुत ज्ञानार्णवमें उसके निरूपणका व्यवस्थित क्रम नहीं रहा है, बीच बीचमें अन्यान्य विषयोंकी चर्चासे क्रमभंग हुआ है व विषय बिखर गया है। पुनरुक्ति भी वहाँ अधिक हुई है।

प्रस्तुत ज्ञानार्णवमें शब्द व अर्थकी अपेक्षा तो आदिपुराणसे समानता है ही साथ ही यहाँ आदिपुराणके कुछ श्लोक भी 'उक्तं च' के साथ व विना संकेतके भी ग्रहण कर लिये गये हैं। यथा—

पृथक्त्वं विद्धि नानात्वं वितर्कः श्रुतमुच्यते।
अर्थ-व्यञ्जन-योगानां वीचारः संक्रमो मतः॥
त्रियोगः पूर्वविद् यस्माद् ध्यायत्येनन्मुनीश्वरः।
सवितर्कं सवीचारमतः स्याच्छुक्लमादिमम्॥

ये दो श्लोक आदिपुराणके हैं (२१-१७२ व २१-१७४), जो ज्ञानार्णवमें बिना किसी संकेतके साधारण शब्दभेदके साथ आत्मसात् किये गये हैं। उनकी संख्या यहाँ क्रगसे 2155 व 2166 है।

आदिपुराणके श्लोक २१, १७६-७७ व १८२ को यहाँ 'उक्तं च' के साथ उद्धृत किया गया है। उनकी संख्या यहाँ क्रमसे 2162, 2163 और 2164 है।

ज्ञानार्णवमें आसनके प्रसंगमें यह कहा गया है कि कालदोषसे प्राणियोंके वीर्यकी विकलता होनेके कारण कुछ आचार्योंने कायोत्सर्ग और पर्यंक इन दो आसनोंको ही प्रशस्त बतलाया है (1313)। यहाँ 'कुछ आचार्यों' से उनका संकेत जिनसेनाचार्यकी ओर रहा है, क्योंकि उन्होंने ही इन दो आसनोंको प्रशस्त बतलाया है। यथा—

विसंस्थुलासनस्थस्य ध्रुवं गात्रस्य निग्रहः।
तन्निग्रहान्मनःपीडा ततश्च विमनस्कता॥
वैमनस्ये च किं ध्यायेत् तस्मादिष्टं सुखासनम्।
कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कस्ततोऽन्यद् विषमासनम्॥—आ. पु. २१, ७०-७१।

आदिपुराणके कुछ ऐसे भी श्लोक यहाँ उपलब्ध होते हैं जिनमें कुछ ही शब्द परिवर्तित हैं। यथा—

वज्रकाया महासत्त्वा सर्वावस्थान्तरश्रिताः।
श्रूयन्ते ध्यानयोगेन संप्राप्ताः पदमव्ययम्॥—आ. पु. २१-७३।

---

१. तदविरत-देशविरत-प्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां भवति। स. सि. ९-३६।

२. त. वा. ९, ३६, १३-१५।

३. ज्ञानार्णवके कर्ताने आ. जिनसेनको महत्त्व देते हुए उनके त्रैविद्यवन्दित वचनोंको योगियोंके आत्मनिश्चयमें स्थिरताका कारण बतलाया है (देखिए श्लोक १-१६)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वज्रकाया महासत्त्वा निष्कम्पा सुस्थिरासनाः ।
सर्वावस्थास्वलं ध्यात्वा गताः प्राग्योगिनः शिवम् ॥—ज्ञाना. 1314 ।

इस समानताके अतिरिक्त आदिपुराणकी अपेक्षा ज्ञानार्णवमें यह विशेषता देखी जाती है कि आदिपुराणकारने जहाँ शिव, गरुड़ और काम इन तीन तत्त्वोंकी उपेक्षा की है वहाँ ज्ञानार्णवमें उनका गद्यरूपमें (अमुमेवार्थं संप्रति गद्यैर्विशदयामः । तद्यथा—पृ. ३५२-६८) विवेचन करते हुए यह अभिप्राय प्रकट किया गया है कि उक्त तीनों तत्त्व अणिमा-महिमा आदि गुणरत्नोंके समुद्रस्वरूप आत्मासे भिन्न नहीं हैं, किन्तु अपने स्वाभाविक अनन्त ज्ञान-सुखादिसे सम्पन्न आत्मा ही स्वयं परमात्मा (शिव), गरुड़ और काम हैं (1059-60) ।

इसी प्रकार ज्ञानार्णवमें प्राणायाम व उसके प्रसंगमें वायुके संचार आदिसे सूचित जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, जय-पराजय एवं पुत्र-पुत्रीके जन्म आदिकी चर्चा काफी विस्तारसे की गयी है। पर आदिपुराणकारने उसे महत्त्व नहीं दिया है। इस प्रसंगको उठाते हुए वहाँ अपनी स्वतन्त्र दृष्टिसे योग, समाधि, स्मृति, प्राणायाम, धारणा, आध्यान और अनुध्यान इनके स्वरूपको प्रकट किया गया है (२१, २१७-३०) । इसके पूर्व वहाँ लोकप्रसिद्ध प्राणायामको ध्यानमें बाधक बतलाते हुए यह कहा गया है कि अतिशय तीव्र प्राणायाममें व्यग्रताको प्राप्त हुआ ध्याताका मन व्याकुल हो उठता है, जिसके कारण समाधिके भंग हो जानेसे ध्यानकी सम्भावना नहीं रहती[1] । हाँ, यह अवश्य है कि समाधिकी सिद्धिके लिए मन्द उच्छ्वास व निमेषादिका निषेध नहीं है (२१, ६५-६६) ।

ज्ञानार्णवमें संस्थानविचय धर्मध्यानकी प्ररूपणाके पश्चात् पिण्डस्थ (1877-1909), पदस्थ (1910-2032), रूपस्थ (2033-79) और रूपातीत (2080-2111) इन चार ध्यानोंका निरूपण किया गया है। पर आदिपुराणमें इन ध्यानोंका कहीं कोई उल्लेख नहीं किया गया। इन चारोंके नाम मात्रका निर्देश योगीन्दु विरचित योगसारमें अवश्य किया गया है[2] ।

४. ज्ञानार्णव व तत्त्वानुशासन—आ. रामसेन विरचित तत्त्वानुशासनमें हेय और उपादेय इन दो तत्त्वोंको स्पष्ट करते हुए प्रमुखतासे ध्यानका वर्णन किया गया है। इसीसे उसकी प्रसिद्धि ध्यानशास्त्रके रूपमें भी रही है। आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्लके भेदसे ध्यान चार प्रकारका है। इनमें-से दुर्ध्यानस्वरूप आर्त व रौद्रको तत्त्वानुशासनमें हेय बतलाते हुए धर्म्य और शुक्ल इन दो समीचीन ध्यानोंको मुमुक्षुओंके लिए उपादेय कहा गया है (३४) । साथ ही यहाँ यह भी निर्देश कर दिया गया है कि इस कालमें शुक्लध्यानके योग्य सामग्री—वज्रर्षभनाराचसंहनन व पूर्वश्रुत आदि—के सम्भव न होनेसे वर्तमान जीव उसके ध्यानमें असमर्थ हैं। इसीसे उन्हें लक्ष्य करके यहाँ धर्मध्यानका निरूपण किया जाता है (३५-३६) । यह कहते हुए यहाँ इन आठ योगांगोंके आश्रयसे विशेष रूपमें धर्म्यध्यानका ही वर्णन किया गया है—ध्याता, ध्यान, फल, ध्येय, स्वामी, देश, काल और विधि (३७) । यहाँ न आर्त-रौद्र इन दुर्ध्यानोंका वर्णन किया गया है और न शुक्लध्यानका भी। यहाँ ऐहिक फलवाले आर्त और रौद्रको परित्याज्य तथा धर्म्य और शुक्लको आराधनाके योग्य बतलाते हुए शुक्लध्यानके स्वरूप मात्रका निर्देश किया गया है (२२०-२२) ।

---

१. यह अभिप्राय अन्ततः ज्ञानार्णवमें भी प्रकट कर दिया गया है (1459-66) ।

२. जो पिंडत्थु पयत्थु बुह रूवत्थु वि जिणउत्तु ।
रूवातीत मुणेहु लहु जिमि परु होहि पवित्तु ॥९७
परमात्मप्रकाशकी प्रस्तावना (पृ. ६७) में स्व. डॉ. उपाध्येजीने योगीन्दुका समय छठी शताब्दी निश्चित किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तुत ज्ञानार्णवकी रचनाके समय ग्रन्थकारके समक्ष यह तत्त्वानुशासन रहा है व उन्होंने उसकी रचनामें इसका यथायोग्य उपयोग भी किया है। विषयविवेचन आदिकी अपेक्षा इन दोनों ग्रन्थोंमें कहाँ कितनी समानता रही है, इसका कुछ विचार यहाँ किया जाता है—

१. तत्त्वानुशासनमें ध्याताके स्वरूपका विचार करते हुए यह कहा गया है कि तत्त्वार्थ (तत्त्वार्थवार्तिक) में अप्रमत्त, प्रमत्त, सम्यग्दृष्टि और देशसंयत ये चार धर्म्यध्यानके स्वामी माने गये हैं। धर्म्यध्यान मुख्य और उपचारके भेदसे दो प्रकारका है। इनमें अप्रमत्तोंके वह मुख्य होता है और इतरों—शेष तीन—के वह औपचारिक होता है (४३-४७)।

ज्ञानार्णवमें भी ध्याता और ध्यानके योग्य स्थानका विचार करते हुए उस प्रसंगमें यह कहा गया है कि धर्मध्यानके स्वामी मुख्य व उपचारके भेदसे अप्रमत्त और प्रमत्त ये दो माने गये हैं। आगे यहाँ किन्हीं आचार्योंके मतानुसार उस धर्मध्यानके स्वामी सम्यग्दृष्टि आदि उपर्युक्त चार गुणस्थानवर्ती भी बतलाये गये हैं (1326 व 1329)। इस प्रकार तत्त्वानुशासनमें जहाँ स्पष्ट रूपमें 'तत्त्वार्थ'[१] का उल्लेख किया गया है वहाँ प्रस्तुत ज्ञानार्णवमें उसका संकेत 'कैश्चित्' पदके द्वारा अस्पष्ट रूपसे किया गया है।

२. इसी प्रसंगमें तत्त्वानुशासनमें द्रव्य-क्षेत्रादि रूप सामग्रीके अनुसार ध्याता और उसके ध्यानके तीन-तीन भेदोंका निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि आगममें विकल श्रुतसे भी मनकी स्थिरताके होनेपर उस धर्मध्यानका ध्याता सुना गया है[२]।

ज्ञानार्णवमें भी यही कहा गया है कि सूत्र (आगम) में श्रेणिके नीचे विकल श्रुतसे भी प्रबुद्धात्मा धर्मध्यानका स्वामी सुना गया है। दोनों ग्रन्थोंके कुछ श्लोकोंका शब्दसाम्य भी दर्शनीय है—यथा तत्त्वानु. ४८, ५० तथा ज्ञाना. 1330, 1328।

३. तत्त्वानुशासनमें प्रकारान्तरसे द्रव्य ध्येयका निर्देश करते हुए पिण्डस्थ ध्येयका उल्लेख किया गया है व उसके स्वरूपको दिखलाते हुए यह कहा गया है कि यतः ध्याताके पिण्ड (देह) में स्थित ही ध्येयका ध्यान किया जाता है, अतः कुछ आचार्य उसे पिण्डस्थ ध्येय कहते हैं (१३४)।

ज्ञानार्णवमें ध्यानके पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार भेदोंका निर्देश करते हुए पिण्डस्थ ध्यानमें पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना (मारुती), वारुणी और तत्त्वरूपवती इन पाँच धारणाओंको ज्ञातव्य कहा गया है। इनमें-से दूसरी आग्नेयी धारणामें ध्याता नाभिमण्डलमें सोलह पत्तोंवाले ऐसे कमलका स्मरण करता है, जिसके प्रत्येक पत्रपर यथाक्रमसे अकारादि १६ स्वर और कर्णिकापर महामन्त्र (र्हं) प्रतिष्ठित है। साथ ही वह हृदयमें स्थित आठ पत्तोंवाले दूसरे ऐसे कमलका स्मरण करता है जिसके प्रत्येक पत्रपर क्रमसे ज्ञानावरणादि आठ कर्म अवस्थित हैं। वह पूर्वोक्त महामन्त्रकी रेफसे निकलती हुई ज्वालाओंसे व्याप्त उस अग्निका स्मरण करता है जिसने दूसरे हृदयस्थ कमलको भस्मसात् कर दिया है। इस प्रकारसे जो इसमें ध्येयका चिन्तन किया जाता है वह ध्याताके शरीरसे ही सम्बद्ध है (1886-95)। इस प्रकार तत्त्वानुशासनमें पिण्डस्थ ध्येयके विषयमें जो मतान्तरका निर्देश किया गया है उससे यह संकेत मिलता है कि तत्त्वानुशासनकारके समक्ष इन पिण्डस्थ आदि ध्यानोंका कहीं कुछ उल्लेख अवश्य रहा है। और यह सम्भव है कि आ. शुभचन्द्रने ऐसे उल्लेखोंका आश्रय लेकर अपने इस ज्ञानार्णव ग्रन्थमें उन्हें कुछ विशेष विकसित किया हो।

तत्त्वानुशासनमें ही आगे चलकर ज्ञानार्णवमें निर्दिष्ट पार्थिवी आदि पाँच धारणाओंमें-से पिण्डसिद्धि

१. त. वा. ९, ३६, १३-१५।
२. सामग्रीके अनुसार आदिपुराणमें भी ध्यानकी विशेषता प्रकट की गयी है (२१-१०३)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और निर्मलीकरणके लिए मारुती, तैजसी और आप्या (वारुणी) इन तीन धारणाओंका निर्देश करते हुए संक्षेपमें उनका कुछ स्वरूप भी प्रकट किया गया है (१८३-८७)। आगे पुनः वहाँ यह कहा गया है कि पार्श्वनाथके ध्यानसे पार्श्वनाथ हुआ मन्त्री—मन्त्रशास्त्रका ज्ञाता योगी—शरीरकी सकलीकरण क्रियाको करता हुआ महामुद्रा, महामन्त्र एवं महामण्डलका आश्रय लेता है[1] तथा तैजसी आदि (मारुती व आप्या) धारणाओंको धारण करता है। इस प्रकारसे वह शीघ्र ही उदग्र ग्रहोंके निग्रह आदिको करता है (२०१-२)।

इस परिस्थितिमें ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञानार्णवकारने सम्भवतः तत्त्वानुशासनमें उपर्युक्त धारणाओं-का संकेत पाकर अपने ज्ञानार्णवमें उन्हें कुछ स्पष्ट व विस्तृत किया है।

४. तत्त्वानुशासनमें यह निर्देश किया गया है कि जो ध्याता गुरुके उपदेशसे निरन्तर ध्यानका अभ्यास करता है वह धारणाके बलसे ध्यान-प्रत्ययोंको देखता है (८७)। आगे पुनः इस प्रसंगमें यह कहा गया है कि समाधिका आश्रय लेनेवाला ध्याता जैसे-जैसे समाधिमें स्थितिको प्राप्त करता जायेगा वैसे-वैसे उसके समाधि-प्रत्यय प्रकट होते जायेंगे (१७९)।

ज्ञानार्णवमें इन ध्यान-प्रत्ययोंका निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि नेत्रयुगल व कर्णयुगल आदि कुछ नियत स्थानोंमें मनके विश्रान्त होनेपर लक्ष्यको विस्तृत करनेवाले मुनिके स्वात्मसंवेदन-से बहुत-से ध्यान प्रत्यय उत्पन्न होते हैं (1468-69)।

इस प्रकार यहाँ जो मनकी स्थिरता अथवा स्वात्मस्थितिसे उत्पन्न होनेवाले ध्यान-प्रत्ययोंका निर्देश किया गया है वह निश्चित ही तत्त्वानुशासनके उपर्युक्त कथनसे प्रभावित दिखता है।

५. तत्त्वानुशासनमें कहा गया है कि यह जो अन्यसे विभक्त आत्माका अवलोकन है वह धर्म्य और शुक्ल इन दोनों ही ध्यानोंका समान ध्येय है, उन दोनोंमें जो कुछ भेद है वह विशुद्धि और स्वामीके भेदसे है—ध्येयकी अपेक्षा कोई भेद नहीं है (१८०)।

ज्ञानार्णवमें भी लगभग इसी अभिप्रायको प्रकट करते हुए कहा गया है कि विशुद्ध आत्मदर्शनरूप इस प्रकारका ध्येय धर्म और शुक्ल इन दोनोंमें साधारण है। सूत्रमें जो इन दोनों ध्यानोंमें भेद कहा गया है वह विशुद्धि और स्वामीके भेदसे कहा गया है[2] (1616)।

६. तत्त्वानुशासनमें कहा गया है कि आत्मज्ञ आत्मा जिस भावसे जिस रूपमें आत्माका ध्यान करता है वह उसी स्वरूपताको प्राप्त हो जाता है। जैसे—स्फटिक मणिके सामने काला अथवा लाल आदि जैसा भी पदार्थ आता है वह उस रूपमें परिणत हो जाता है।

ज्ञानार्णवमें भी उक्त अभिप्रायको व्यक्त करते हुए उसकी पुष्टिमें 'उक्तं च' कहकर जिस श्लोक (2076) को उद्धृत किया है वह कुछ शब्दभेदके साथ तत्त्वानुशासन और आ. अमितगति प्रथम विरचित योगसारमें इस प्रकार उपलब्ध होता है—

> येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्।
> तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥—तत्त्वानु. १९१

---

१. मन्त्र, मण्डल और मुद्रा इनका निर्देश ज्ञानार्णवमें श्लोक 1933 और 2081 द्वारा किया गया है।

२. यह श्लोक आदिपुराण (२१-१३१), तत्त्वानुशासन (१८०) और ज्ञानार्णव (1616) में कुछ शब्द-परिवर्तनके साथ समान रूपसे उपलब्ध होता है। ज्ञानार्णवमें 'विशुद्धिः स्वामिभेदेन' पाठ P प्रतिके आधारसे लिया गया है, जबकि अन्य प्रतियोंमें 'विशुद्धि-स्वामिभेदेन' ही पाठ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

येन येनैव भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः।
तन्मयस्तत्र तत्रापि विश्वरूपो मणिर्यथा ॥—योगसारप्राभृत ९-५१

ये श्लोक भी परमात्मप्रकाशगत निम्न दोहाके छायानुवाद-जैसे हैं—

जेण सरूविं झाइयइ अप्पा एहु अणंतु।
तेण सरूविं परिणवइ जइ फलिहउ मणिमंतु ॥ २-१७३

७. तत्त्वानुशासनमें भावध्येयके प्रसंगमें यह कहा गया है कि जब ध्याता ध्यानके बलसे अपने शरीरको शून्य करके ध्येयस्वरूपमें प्रविष्ट होनेसे स्वयं उस रूप हो जाता है तब वही उस प्रकारके ध्यानके संवेदनसे कल्पनासे रहित होता हुआ परमात्मा (शिव), गरुड़ और कामस्वरूप हो जाता है (१३५-३६)।

ज्ञानार्णवमें लगभग इसी अभिप्रायको व्यक्त करते हुए यह कहा गया है कि विशुद्ध ध्यानसे कर्मको नष्ट कर देनेवाला यह आत्मा स्वयं परमात्मा है। ध्यानसे गुणोंका समुदाय प्रकट होता है तथा अनादि कर्मसमुदाय ध्वस्त होता है। तब उसे शिव, गरुड़ और काम कहा जाता है। यह कहते हुए आगे वहाँ 'उक्तं च' कहकर एक श्लोकको उद्धृत किया गया है, जिसमें उपर्युक्त अभिप्रायको पुष्ट करते हुए कहा गया है कि आत्यन्तिक स्वभावभूत अनन्त ज्ञान व सुखसे युक्त आत्मा परमात्मा, गरुड़ और काम है। आत्माकी महिमा अचिन्त्य है (1057-60)।

८. पूर्वोक्त दो श्लोकोंके अनन्तर तत्त्वानुशासनमें कहा गया है कि यह जो समरसीभाव है—ध्येयरूपता है—उसे ध्याता और ध्येयका एकीकरण कहा गया है।

ज्ञानार्णवमें इसे यों कहा गया है कि जिस समरसता (तन्मयता) में आत्मा अभेद रूपसे परमात्मामें लीन होता है उसे आत्मा और परमात्माका एकीकरण माना गया है।

दोनों ग्रन्थोंके वे श्लोक ये हैं—

सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम्।
एतदेव समाधिः स्याल्लोकद्वयफलप्रदः ॥—तत्त्वानु. १३७
सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम् ॥
अपृथक्त्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि ॥—ज्ञाना. 1508

९. तत्त्वानुशासनमें श्लोक २१८ के द्वारा ध्यानके ये चार प्रमुख हेतु निर्दिष्ट किये गये हैं—गुरूपदेश, श्रद्धान, सदा अभ्यास और स्थिर मन।

यह श्लोक ज्ञानार्णवमें 'तथान्यैरप्युक्तम्' इस संकेतके साथ पाया जाता है (2072)। पर वह उसकी दो प्रतियोंमें (M. और N.) ही मिलता है, शेष प्रतियोंमें नहीं मिलता।

१०. तत्त्वानुशासनका "शुचिगुणयोगाच्छुक्लं" इत्यादिश्लोक (२२२) ज्ञानार्णवमें 'उक्तं च'के निर्देशपूर्वक 'निष्क्रियं करणातीतं' इत्यादि श्लोकके साथ उपलब्ध होता है (2145)।

५. ज्ञानार्णव व पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—अमृतचन्द्र सूरि विरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें निम्न श्लोकके द्वारा अभ्यन्तर परिग्रहके १४ भेद गिनाये गये हैं—

मिथ्यात्व-वेद-रागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥११६॥

यह श्लोक ज्ञानार्णवमें 'उक्तं च' कहकर 825 संख्याके अन्तर्गत उद्धृत किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६. ज्ञानार्णव व उपासकाध्ययन—उपासकाध्ययन सोमदेव सूरि विरचित यशस्तिलक चम्पूका एक अंश है। इसमें श्रावकके आचारका विस्तारसे निरूपण किया गया है। प्रसंगवश यहाँ अनेक मत-मतान्तरोंकी समीक्षा भी की गयी है। इस प्रसंगमें वहाँ ये दो श्लोक कहे गये हैं—

ज्ञानहीने क्रिया पुंसि परं नारभते फलम्।
तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः ॥२१
ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम्।
ततो ज्ञान-क्रिया-श्रद्धात्रयं तत्पदकारणम् ॥२२

ये दोनों श्लोक प्रस्तुत ज्ञानार्णवमें 'उक्तं च' इस निर्देशके साथ क्रमसे 313 व 314 संख्याके अन्तर्गत उद्धृत किये गये हैं। यहाँ जो उनमें थोड़ा-सा पाठभेद दिखता है वह पाटण प्रतिके आधारसे है, अन्य प्रतियोंके आधारसे वह भी नहीं है।

इसी उपासकाध्ययनमें आगे सम्यग्दर्शनके पचीस दोषोंका निर्देश करते हुए यह कहा गया है—

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥२४१

395 यह श्लोक ज्ञानार्णवमें 'उक्तं च' कहकर 375 संख्याके अन्तर्गत उद्धृत किया गया है।

उपासकाध्ययन (७१९) में मनको स्थिर करनेके लिए शरीरगत इन ध्यानस्थानोंका निर्देश किया गया है—नाभि, चित्त, नासिकाका अग्रभाग, नेत्र, मस्तक और शिर।

ज्ञानार्णवमें प्रथमतः (1467) निश्चल मनको ललाटदेश (मस्तक) में लीन करनेकी प्रेरणा की गयी है। तत्पश्चात् 'अथवा' कहते हुए आगे जिन अन्य ध्यानस्थानोंका निर्देश किया गया है (1468) उनमें पूर्वोक्त उपासकाध्ययनमें निर्दिष्ट वे सभी स्थान गर्भित हैं। उनके अतिरिक्त यहाँ श्रवणयुगल, मुख और भ्रुकुटीयुगल ये ध्यानस्थान अधिक कहे गये हैं। उपासकाध्ययनमें निर्दिष्ट 'चित्त' से हृदयका ग्रहण समझना चाहिए।

७. ज्ञानार्णव व योगसारप्राभृत—जैसा कि पूर्वमें निर्देश किया जा चुका है, आ. अमितगति प्रथम विरचित योगसारप्राभृतका 'येन येनैव भावेन' इत्यादि श्लोक (९-५१) ज्ञानार्णवमें 'उक्तं च'के साथ 2076 संख्याके अन्तर्गत उद्धृत किया गया है। यद्यपि यह श्लोक तत्त्वानुशासनमें (१९१) भी पाया जाता है, पर ज्ञानार्णवमें वह जिस स्वरूपमें उद्धृत है वह उसका स्वरूप योगसारप्राभृतसे अधिक सम्बद्ध है, क्योंकि योगसारप्राभृतकी तुलनामें दोनोंके तृतीय चरणमें ही भेद हुआ है, जबकि तत्त्वानुशासनकी तुलनामें एक तृतीय चरण ही समान है, शेष तीन चरणोंमें भिन्नता है।

८. ज्ञानार्णव व अमितगति-श्रावकाचार—आचार्य अमितगति द्वितीय द्वारा विरचित उपासकाचार १५ परिच्छेदोंमें विभक्त है। इसके अन्तिम पन्द्रहवें परिच्छेदमें ध्यानका निरूपण किया गया है। यहाँ सर्वप्रथम सिद्धिके इच्छुक भव्य जीवोंसे साधक, साधना, साध्य और फल इन चारके जान लेनेकी प्रेरणा की गयी है। इनमें साधक संसारी जीव, साधन ध्यान, साध्य मोक्ष और फल अविनश्वर सुख कहा गया है (१५, ७–८)। आगे ध्यानके प्रसंगमें उसके भेद-प्रभेदों व स्वामियोंको दिखलाते हुए (१५, ९-१८) उसकी अभिलाषा करनेवाले जीवके लिए ध्याता, ध्येय, विधि और फल इनके जान लेनेकी प्रेरणा की गयी है (१५-२३) व तदनुसार ही क्रमसे उनका विवेचन भी किया गया है।

इस प्रकार उनका विवेचन करते हुए ध्यानके आलम्बनभूत ध्येयके प्रसंगमें उसे पदस्थ, पिण्डस्थ,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूपस्थ और अरूप (रूपातीत) के भेदसे चार प्रकारका कहा गया है (१५-३०) तथा इसी क्रमसे उनकी यहाँ प्ररूपणा भी की गयी है।

प्रस्तुत ज्ञानार्णवके साथ तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करनेपर दोनोंमें यदि कुछ समानता दिखती है तो वह इतनी ही है कि उपर्युक्त जिन पदस्थ-पिण्डस्थ आदि ध्यानोंका वर्णन तत्त्वार्थसूत्र, मूलाचार, भगवती-आराधना, ध्यानशतक और आदिपुराण-जैसे अन्य ग्रन्थोंमें नहीं किया गया है उनका वर्णन इन दोनों ग्रन्थोंमें विस्तारसे किया गया है। पर इनके विषयमें दोनों ग्रन्थकारोंकी विवेचनपद्धति कुछ भिन्न रही है यथा—

१. ज्ञानार्णवमें जहाँ इन चारों ध्यानोंका उल्लेख पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इस क्रमसे किया गया है (1877) वहाँ अमितगति-श्रावकाचारमें उनका उल्लेख पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और अरूपके क्रमसे किया गया है[1] (१५–३०)।

२. ज्ञानार्णवमें पिण्डस्थध्यानके प्रसंगमें पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना (मारुती), वारुणी और तत्त्व-रूपवती इन पाँच धारणाओंका विचार किया गया है (1878–1608)। पर अ. श्रावकाचारमें उक्त धारणाओंमें-से कहीं किसी भी धारणाका उल्लेख नहीं किया गया है।

अमितगति-श्रावकाचारमें पिण्डस्थ ध्यानके स्वरूपका विचार करते हुए यह कहा गया है कि उसमें ध्याता अनन्त ज्ञान-दर्शनादिसे सम्पन्न, आठ प्रातिहार्योंसे विभूषित एवं नौ केवललब्धियोंसे युक्त अरहन्तका ध्यान करता है। आगे पिण्डस्थकी सार्थकताको प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि जिस ध्यानमें घाति-कर्मजनित कलुषतासे रहित पिण्डस्थ—परमौदारिक शरीरमें स्थित—जिनेन्द्रका ध्यान किया जाता है उसे पिण्डस्थध्यान माना गया है। वह पिण्डपंचक—औदारिकादि पाँच शरीरको नष्ट करनेवाला है (१५, ५०–५३)।

ज्ञानार्णवमें इस पिण्डस्थध्यानके प्रसंगमें वर्णित पूर्वोक्त पार्थिवी आदि धारणाओंमें-से अन्तिम तत्त्व-रूपवती धारणामें सात धातुओंसे रहित, सिंहासनपर आरूढ़ और दिव्य अतिशयों एवं कल्याणमहिमासे युक्त सर्वज्ञकल्प आत्माके चिन्तनकी प्रेरणा की गयी है (1904–8)।

३. पदस्थध्यानके प्रसंगमें ज्ञानार्णवमें यह कहा गया है कि योगी जन पवित्र पदोंके आश्रयसे जिस ध्यानको किया करते हैं वह पदस्थध्यान कहलाता है (1910)।

अ. श्रावकाचारमें भी इस प्रसंगमें यह कहा गया है कि जो योगी पदस्थका ध्यान करना चाहता है उसे जो पंच नमस्कार आदि पद हैं उनका ध्यान करना चाहिए (१५-३१)।

इस थोड़ी-सी समानताके होनेपर भी उक्त पदस्थध्यानके प्रसंगमें दोनों ग्रन्थोंमें ध्येयस्वरूपसे जो अनेक प्रकारके मन्त्राक्षरों, वर्णों व वाक्योंका विवेचन किया गया है वह अपनी-अपनी शैलीमें कुछ भिन्न रूपसे किया गया है (ज्ञाना. 1911–2020; अ. श्रा. १५, ३२–४८)।

अन्तमें अ. श्रावकाचारमें इस पदस्थध्यानकी सार्थकताको प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि नाम-पदोंके द्वारा जो परमेष्ठी अभिधेय है वे पदस्थ किये जाते हैं, क्योंकि अर्थ पदमें व्यवस्थित होता है (१५–४९)।

४. ज्ञानार्णवमें रूपस्थध्यानके प्रसंगमें आर्हन्त्य महिमासे युक्त होकर अनेक विशेषताओंसे विशिष्ट आद्य जिनेन्द्र, सन्मति, सुगत, महावीर और वर्धमान आदि अनेक सार्थक नामोंसे उपलक्षित जिनेन्द्रके स्मरणकी प्रेरणा की गयी है। इसमें कुछ क्रम न रहनेके साथ पुनरुक्ति भी अधिक हुई है (2033–79)।

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह टीकामें उद्धृत इस श्लोकमें उनका क्रम अमितगति-श्रावकाचारके समान रहा है—

पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरंजनम्॥—बृ. द्र. सं. ४८.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अ. श्रावकाचारमें इस प्रसंगमें एक ही श्लोकके द्वारा यह कह दिया है कि प्रतिमामें परमेष्ठीके स्वरूप-को आरोपित कर जो ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थध्यान माना जाता है (१५–५४) ।

इसके विषयमें दोनों ग्रन्थकारोंका दृष्टिकोण भिन्न ही रहा है ।

५. ज्ञानार्णवमें रूपातीत ध्यानके प्रसंगमें यह कहा गया है कि ध्याता जब रूपमें स्थिरचित्त होकर भ्रान्तिसे रहित हो जाता है तब वह अमूर्त, अज और अव्यक्तके ध्यानको प्रारम्भ करता है । जिस ध्यानमें चिदानन्दस्वरूप, शुद्ध, अमूर्त और ज्ञानमय शरीरसे सहित आत्माका आत्माके द्वारा चिन्तन किया जाता है उसका नाम रूपातीत ध्यान है (2094–95) ।

अ. श्रावकाचारमें भी यह कहा गया है कि ध्याता स्फटिक मणिमें प्रतिबिम्बित जिनरूपके समान जो समस्त कर्मकालिमासे रहित ज्ञानस्वरूप अरूप (रूपातीत) सिद्धस्वरूपका ध्यान करता है वह उसके नीरूप व निष्पाप सिद्धस्वरूपकी प्राप्तिका कारण होता है (१५, ५५-५६) ।

इस प्रकार रूपातीत अथवा अरूप ध्यानके विषयमें उपर्युक्त दोनों ग्रन्थोंके कथनमें प्रायः समानता है । पर अमितगति-श्रावकाचारमें जहाँ इतने मात्रमें आवश्यक कथन कर दिया गया है वहाँ ज्ञानार्णवमें उसके प्रसंगमें अप्रासंगिक चर्चा बहुत की गयी है (2080–2111) ।

अ. श्रावकाचारमें इन ध्यानोंकी क्रमिक अवस्थापर ध्यान रखा गया है । जैसे—सर्वप्रथम वहाँ पदस्थ-ध्यानमें परमेष्ठियोंके वाचक वर्ण-पदोंके द्वारा अर्थरूपसे उनमें स्थित परमेष्ठीके ध्यानपर जोर दिया गया है । पश्चात् पिण्डस्थध्यानमें पिण्डस्थ—परमौदारिक शरीरमें स्थित—अरहन्तके चिन्तनका विधान किया गया है । रूपस्थध्यानमें प्रतिमामें आरोपित परमेष्ठीके ध्यानकी प्रेरणा की गयी है । सर्वान्तमें अरूपध्यानमें नीरूप सिद्धस्वरूपके ध्यानको महत्त्व दिया गया है । ऐसी कुछ क्रमिक व्यवस्था ज्ञानार्णवमें नहीं रही ।

अमितगति-श्रावकाचारमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनमें-से एक, दो अथवा तीनोंको ही न माननेवाले सात मिथ्यादृष्टियोंका निर्देश इस श्लोकके द्वारा किया गया है—

एकैकं न त्रयो द्वे द्वे रोचन्ते न परे त्रयः ।
एकस्त्रीणीति जायन्ते सप्ताप्येते कुदर्शनाः ॥२–२६॥

लगभग इसी अभिप्रायका बोधक यह श्लोक प्रस्तुत ज्ञानार्णवमें भी अवस्थित है—

एकैकं च त्रिभिर्नेष्टं द्वे द्वे नेष्टे तथा परैः ।
त्रयं न रुचये ऽन्यस्य सप्तैते दुर्दृशः स्मृताः ॥३१२॥

सम्भव है ज्ञानार्णवकारने उक्त अभिप्रायको अमितगति-श्रावकाचारगत उपर्युक्त श्लोकसे ग्रहण किया हो ।

९. ज्ञानार्णव व ज्ञानसार—पद्मसिंह मुनि विरचित ज्ञानसार (वि. सं. १०८६) मा. दि. जैन ग्रन्थ-माला द्वारा तत्त्वानुशासनादि संग्रहमें प्रकाशित हो चुका है । वह काफी अशुद्ध छपा है । इससे कुछ गाथाओंके अभिप्रायको अवगत करना भी कठिन हो रहा है । ६३ प्राकृत गाथामय इस ग्रन्थमें ज्ञानके महत्त्वको प्रकट करते हुए संक्षेपमें ध्यानकी प्ररूपणा की गयी है । उसमें आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चार ध्यानभेदोंका निर्देश करते हुए उन्हें क्रमसे तिर्यंच, नरक, व देवगति तथा शिवगति (मुक्ति) का कारण कहा गया है । यहाँ ताम्बूल, कुसुम, लेपन, भूषण व प्रिय पुत्र आदिके चिन्तनको आर्त और बन्धन आदिके चिन्तनको रौद्र-ध्यान कहा गया है । सूत्र, अर्थ, मार्गणा और महाव्रतोंके चिन्तनको धर्मध्यानका लक्षण तथा संकल्प-विकल्पके अभावको शुक्लध्यानका लक्षण निर्दिष्ट किया गया है । इनमें आर्त और रौद्र इन दो दुर्ध्यानोंको छोड़कर धर्म और शुक्लध्यानके चिन्तनकी प्रेरणा की गयी है (१०–१४) ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे यहाँ पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थके भेदसे तीन प्रकारके अरहन्तके ध्यानकी प्रेरणा करते हुए अपने नाभिकमलमें स्थित सूर्यसमान तेजस्वी अरहन्तके रूपके ध्यानको पिण्डस्थध्यान कहा गया है। इसे पुनः दुहराते हुए यह कहा गया है कि अपने कुर (?) के मध्यमें, मस्तकमें, हृदयमें और कण्ठदेशमें सूर्यके समान तेजस्वी जिनरूपका जो ध्यान किया जाता है उसे पिण्डस्थध्यान जानना चाहिए (१९–२०)।

पदस्थध्यानके प्रसंगमें यह कहा गया है कि सातवें वर्ग (य-वर्ग) के दूसरे वर्ण (र्) से आक्रान्त व शून्य जिसके ऊपर है ऐसे सुसंस्तुत (या र् से संयुक्त) आठवें वर्ग (स-वर्ग) के चौथे वर्ण (ह) को, अर्थात् 'हँ' या 'ह्रँ' को तत्त्व समझो। योगियोंके द्वारा उपदिष्ट एक, पाँच, सात और पैंतीस धवल वर्णोंके ध्यानको पदस्थध्यान कहा गया है। इस प्रकारसे यहाँ पदस्थध्यानके प्रसंगमें कुछ मन्त्राक्षरों व पदोंके ध्यानकी प्रेरणा की गयी है (२१–२७)।

यहाँ यद्यपि नामनिर्देशके साथ रूपस्थध्यानके स्वरूपको नहीं दिखलाया गया है, फिर भी यहाँ जो यह कहा गया है कि घातिया कर्मोंको निर्मूल करके उत्तम अतिशयों व प्रातिहार्योंसे संयुक्त होते हुए समवसरणमें विराजमान अरहन्तका ध्यान करना चाहिए, यह रूपस्थध्यानका ही लक्षण है (२८)।

आगे बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन जीवभेदों व उनके स्वरूपको प्रकट करते हुए परमात्माके प्रसंगमें जो शून्य (निरालम्ब) ध्यानकी चर्चा की गयी है उसे रूपातीत ध्यानका ही निरूपण समझना चाहिए (२९-४८)।

पश्चात् यहाँ नाड़ीचक्रमें रहनेवाले पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन पाँच तत्त्वोंका निर्देश करते हुए उनके प्रवाह, प्रमाण और वर्ण आदिका निरूपण किया गया है (५३-५९)।

इस प्रकारसे यहाँ जिन विषयोंकी चर्चा की गयी है, वर्णन शैलीके कुछ भिन्न होनेपर भी वे सब विषय ज्ञानार्णवमें चर्चित हैं। दोनोंमें अर्थतः कुछ समानता भी है। यथा—

१. ज्ञानसारमें पिण्डस्थध्यानके प्रसंगमें अपने नाभिकमलमें स्थित सूर्य समान तेजस्वी अरहन्तके रूपके ध्यानकी प्रेरणा करते हुए उसे पिण्डस्थध्यान कहा गया है (१९-२०)।

ज्ञानार्णवमें इस प्रसंगमें निर्दिष्ट पार्थिवी आदि पाँच धारणाओंमें-से आग्नेयी और तत्त्वरूपवती धारणाओंमें यह विषय अंशतः समाविष्ट है।

२. ज्ञानसारमें पदस्थध्यानके प्रसंगमें यह कहा गया है कि सातवें वर्ग (य-वर्ग) के दूसरे वर्ण (र्) से आक्रान्त तथा शून्य जिसके ऊपर है ऐसे सुसंस्तुत (अथवा र् से संयुक्त) आठवें वर्ग (स-वर्ग) के चौथे अक्षर (ह्) को, अर्थात् 'हँ' या 'ह्रँ' को तत्त्व जानना चाहिए (२१)।

ज्ञानार्णवमें श्लोक (1919) के द्वारा यह निर्देश किया गया है कि ऊपर और नीचे रेफसे संरुद्ध, बिन्दुसे चिह्नित एवं अनाहतसे सहित स-पर—'स' से आगेके अक्षर (ह)—को तत्त्व जानना चाहिए, इसे (ह्रँ) मन्त्रराज कहा जाता है। आगे एक श्लोक (1934) को उद्धृत करते हुए उसके द्वारा यह कहा गया है कि जिसके आदिमें अकार, अन्तमें हकार और मध्यमें रेफ है तथा जो बिन्दुसे सहित है वही परम तत्त्व है, उसे जो जानता है उसे तत्त्ववित् समझना चाहिए।

इस प्रकार 'ह्रँ' या 'अर्हँ' मन्त्रके विषयमें दोनों ग्रन्थोंमें कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है। विशेष स्वरूप उनका मन्त्रशास्त्रसे ज्ञातव्य है।

३. ज्ञानसारमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन जीवभेदोंके स्वरूपको प्रकट करते हुए परमात्माके प्रसंगमें उसके ध्यानकी प्रेरणा की गयी है। वहाँ यह कहा गया है कि सालम्ब ध्यानको यथार्थ रूपमें जानकर उसे छोड़ देना चाहिए और तत्पश्चात् निरालम्ब ध्यानका अभ्यास करना चाहिए (३७)।

ज्ञानार्णवके अन्तर्गत शुद्धोपयोग प्रकरण (१९) में इन जीवभेदोंकी चर्चा विस्तारसे की गयी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगे वहाँ आज्ञाविचय धर्मध्यानके प्रसंगमें (1620) यह कहा गया है कि तत्त्वज्ञ मुमुक्षुको लक्ष्यके सम्बन्धसे अलक्ष्य, स्थूलसे सूक्ष्म और सालम्बसे निरालम्ब तत्त्वका विचार करना चाहिए। इस प्रकार यहाँ ज्ञानसारके समान निरालम्ब ध्यानपर जोर दिया गया है।

४. ज्ञानसारमें आगे यह कहा गया है कि जिस प्रकार पुरुष क्रमसे पहली-दूसरी आदि सीढ़ियोंपर चढ़ता हुआ अपने अभीष्ट उच्च स्थानको पा लेता है उसी प्रकार योगी स्थूलसे शून्य—निरालम्ब रूपातीत ध्यान—को पा लेता है। इस शून्य ध्यानमें निरत होकर वह समस्त इन्द्रियोंके व्यापार और चित्तके प्रसारसे रहित होता हुआ परस्थान—परम पद—को प्राप्त कर लेता है। राग, द्वेष एवं मोहसे रहित होकर तत्त्व-स्वरूपसे परिणत हुए ज्ञानको ही जिनशासनमें शून्य ध्यान कहा गया है। यह शून्य ध्यान अतीन्द्रिय, मन्त्र-तन्त्रसे विहीन एवं ध्येय-धारणासे विमुक्त केवलज्ञानस्वरूप है जो आकाशके समान निर्लेप व सर्वव्यापक है। इस प्रकारसे यहाँ शून्य ध्यानका अच्छा विवेचन किया गया है[1] (३८-४५)।

ज्ञानार्णवकी अपेक्षा यह शून्य ध्यान रूपातीतसे भिन्न नहीं है, जिसका विवेचन ज्ञानार्णवमें रूपातीतके नामसे किया गया है[2] (2094-2111)। इसके पूर्व श्लोक 1942-43 में भी यह कहा गया है कि जो योगी क्रमसे लक्ष्योंकी ओरसे मनको हटाकर उसे अलक्ष्यमें निश्चल करता है उसके अतीन्द्रिय व अविनश्वर अन्तर्ज्योति स्फुरायमान होती है। इस अवस्थामें मुनिका समीहित सिद्ध हो जाता है।

५. ज्ञानसारमें गा. ४८ के द्वारा यह निर्देश किया गया है कि यह जो परमात्मतत्त्व है उसे ही गरुड़ और काम तत्त्व कहा गया है, उसे ध्यानविशेष गुरुप्रसादसे जानना चाहिए।

ज्ञानार्णवमें श्लोक 1059 द्वारा यही अभिप्राय प्रकट किया गया है। ज्ञानसारकी वह गाथा इस प्रकार है—

जं परमप्पयतच्चं तमेव विस-[विप-] कामतत्तमिह भणियं।
झाणविसेसेण पुणो णायव्वं गुरुपसाएण ॥४८

६. आगे जाकर ज्ञानसारमें नाड़ीचक्रमें—वाम व दक्षिण नाड़ियोंमें—रहनेवाले पृथिवी आदि पाँच तत्त्वोंका निर्देश करते हुए उनके प्रवाह, प्रमाण और वर्ण आदिका निरूपण किया गया है। साथ ही उनके द्वारा सूचित शुभाशुभ फलका भी निर्देश किया गया है (५३-५९)।

उनका वर्णन ज्ञानार्णवमें विशदतापूर्वक किया गया है (1360-72)। आगे उनके द्वारा सूचित शुभाशुभ फलका भी विस्तारसे वहाँ विचार किया गया है। विशेषता यह है कि ज्ञानसारमें जहाँ आकाशके साथ पार्थिव आदि पाँच मण्डलोंका निर्देश किया गया है (५३) वहाँ ज्ञानार्णवमें उक्त आकाशके बिना चार ही मण्डलोंका विवेचन किया गया है (1360-63)।

इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थोंमें विषयविवेचनकी पद्धतिके कुछ भिन्न होनेपर भी अर्थतः जो समानता दृष्टिगोचर होती है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः ज्ञानार्णवकारके समक्ष यह ज्ञानसार रहा है तथा उसका उपयोग भी उन्होंने अपनी इस कृतिमें किया है।

---

१. लगभग शून्य ध्यानविषयक इसी प्रकारका विवेचन देवसेनाचार्य विरचित आराधनासारमें भी उपलब्ध होता है। तुलनाके लिए उसकी ७१-७८ गाथाएँ देखी जा सकती हैं।
महर्षि पतंजलि विरचित योगसूत्रमें जो समाधिका लक्षण किया गया है वह भी लगभग इसी अभिप्रायको प्रकट करता है। यथा : तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।—यो. सू. ३-३

२. ज्ञानार्णवमें सवीर्य ध्यानके प्रसंगमें श्लोक 1490-97 के द्वारा भी इसी अभिप्रायको प्रकट किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१०. ज्ञानार्णव व योगशास्त्र—आचार्य हेमचन्द्र विरचित योगशास्त्रमें भी ज्ञानार्णवके समान अनेक विषयोंकी चर्चा की गयी है तथा उसका भी प्रमुख वर्णनीय विषय योग ही रहा है। इसीसे उसका योगशास्त्र यह नाम भी सार्थक है। वह १२ प्रकाशोंमें विभक्त है। इन दोनों ग्रन्थोंमें इतनी अधिक समानता दृष्टिगोचर होती है कि जिसे देखते हुए यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि एक ग्रन्थको सामने रखकर दूसरे ग्रन्थकी रचना की गयी है। दोनोंकी यह समानता न केवल विषय-विवेचनकी दृष्टिसे ही उपलब्ध होती है, बल्कि अनेक श्लोक भी ऐसे हैं जो दोनोंमें अविकल रूपसे पाये जाते हैं। कुछ श्लोकोंमें यदि पादपरिवर्तन हुआ है तो कुछमें उन्हीं शब्दोंका स्थान-परिवर्तन मात्र हुआ है। अभिप्रायकी समानता तो यथाक्रमसे बीसों श्लोकोंमें रही है। यहाँ इस सबको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया जायेगा। दोनों ग्रन्थोंमें विषयकी समानता इस प्रकार रही है—

विषय	ज्ञानार्णव	योगशास्त्र
बारह भावनायें	50-246	४,५५-११०
रत्नत्रय	383-927	१-१५से ३-१५५
क्रोधादि ४ कषायें	928-1012	४,६-२३
इन्द्रियजय	1013-50	४,२४-३४
मनोनिरोध	1071-1106	४,३४-४४
राग-द्वेषजय	1107-46	४,४५-५०
साम्यभाव	1147-79	४,५०-५४
मैत्री आदि ४ भावनाएँ	1270-85	४,११७-२२
ध्यानस्थान	1286-1309	४-१२३
ध्यानासन	1310-35	४,१२४-३६
प्राणायाम	1342-1443	५,१-२६३
परकायप्रवेश (वेध)	1444-52	५,२६४-७३
प्रत्याहार	1456-58	६-६
प्राणायामकी अहितकरता	1459-66	६, २-५
धारणा	1467-69	६,७-८
बहिरात्मा आदि जीवभेद	1517-24	१२,७-१२
आज्ञाविचयादि चार भेद	1621-1876	१०,७-२४
पिण्डस्थध्यान	1877-1909	७,८-२८
पदस्थध्यान	1910-2027	८,१-७८
रूपस्थध्यान	2033-79	९,१-१४
रूपातीतध्यान	2094-2111	१०,१-४
शुक्लध्यान	2142-2202	११,१-६१

ये श्लोक समान रूपसे दोनों ग्रन्थोंमें उपलब्ध होते हैं—

श्लोकांश	ज्ञानार्णव	योगशास्त्र
१. समाकृष्य यदा	1353	५-७
२. यत् कोष्ठादतियत्नेन	1354	५-६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्लोकांश	ज्ञानार्णव	योगशास्त्र
३. षट्शतान्यधिकान्याहुः	1442	५-२६२
४. इत्यजस्रं स्मरन् योगी	1506	१०-२
५. अनन्यशरणीभूय	1507	१०-३
६. सो ऽयं समरसीभावः	1508	१०-४
७. अलक्ष्यं लक्ष्यसंबन्धात्	1620	१०-५
८. तदष्टकर्मनिर्माण-	1891	७-१६
९. कृत्वा पापसहस्राणि	1960	८-३७
१०. अष्टरात्रे व्यतिक्रान्ते	2014	८-६९
११. वीतरागो भवेद् योगी	2029	८-७९
१२. येन येन हि भावेन	2076	९-१४

इनमें १ व २ नं. के श्लोक प्रस्तुत ज्ञानार्णवकी केवल S और R इन दो प्रतियोंमें 'उक्तं श्लोकद्वयम्' इस संकेतके साथ पाये जाते हैं, अन्य किन्हीं प्रतियोंमें वे उपलब्ध नहीं हैं।

श्लोक नं. ६ ज्ञानार्णवकी P प्रतिमें नहीं पाया जाता। इस श्लोकका पूर्वार्ध जैसाका तैसा तत्त्वानुशासनमें भी १३७ संख्याके अन्तर्गत पाया जाता है।

श्लोक नं. ११ के पूर्व कुछ प्रतियोंमें 'उक्तं च' निर्देश पाया जाता है, कुछ प्रतियोंमें वह उपलब्ध नहीं है।

श्लोक नं. १२ ज्ञानार्णवकी P M प्रतियोंमें 'उक्तं च' निर्देशके साथ पाया जाता है। यह आ. अमितगति प्रथम विरचित योगसारप्राभृतमें ९-५१ संख्याके अन्तर्गत उपलब्ध होता है।

साधारण परिवर्तन—उक्त दोनों ग्रन्थोंमें बहुत-से श्लोक ऐसे हैं, जिनमें साधारण-सा शब्द-परिवर्तन हुआ है। जैसे—

उदये वामा शस्ता सितपक्षे दक्षिणा पुनः कृष्णे।
त्रीणि त्रीणि दिनानि तु शशि-सूर्यस्योदयः श्लाघ्यः ॥ ज्ञाना. 1383
वामा शस्तोदये पक्षे सिते कृष्णे तु दक्षिणा।
त्रीणि त्रीणि दिनानीन्दु-सूर्ययोरुदयः शुभः ॥ यो. शा. ५-६५

यहाँ दोनों श्लोकोंमें छन्दका परिवर्तन होनेपर भी अधिकांश वे ही शब्द व्यवहृत हुए हैं। मात्र 'शशि'के स्थानमें 'इन्दु' और 'श्लाघ्य'के स्थानमें 'शुभ' शब्द परिवर्तित हुए हैं।

दूसरा एक उदाहरण लीजिए—

पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्द्धा ध्यानमाम्नातं भव्यराजीवभास्करैः ॥ ज्ञाना. 1877
पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं ध्यानस्यालम्बनं बुधैः ॥ यो. शा. ७-८

यहाँ 'ध्यान' के स्थानमें 'ध्येय' और 'भव्यराजीवभास्करैः'के स्थानमें 'ध्यानस्यालम्बनं बुधैः' इतना मात्र पाठ परिवर्तित हुआ है।

श्लोक 1889 योगशास्त्रगत श्लोक ७-१४ के उत्तरार्ध और १५ के पूर्वार्ध रूपमें अवस्थित है। इस पूर्वार्धमें थोड़ा-सा शब्द-परिवर्तन हुआ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्लोक 1904 योगशास्त्रमें यत्किंचित् शब्दपरिवर्तनके साथ श्लोक ७-२३ के रूपमें अवस्थित है।

इसी प्रकार अन्य भी कितने ही श्लोक दोनों ग्रन्थोंमें थोड़े-से परिवर्तनके साथ पाये जाते हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि दोनों ग्रन्थोंमें कितनी अधिक समानता है। विशेषता यह है कि ज्ञानार्णवमें जहाँ विवेचन विस्तृत होकर क्रमविहीन व कुछ अप्रासंगिक चर्चासे गर्भित रहा है वहाँ योगशास्त्रका विवेचन संक्षिप्त होकर क्रमबद्ध व अप्रासंगिक चर्चासे रहित है। जैसे—

१. ज्ञानार्णवमें प्रमुख वर्णनीय ध्यानसे सम्बन्ध जोड़ते हुए यह कहा गया है कि मोक्ष कर्मोंके क्षयसे होता है, वह कर्मोंका क्षय सम्यग्ज्ञानसे सम्भव है, तथा उस सम्यग्ज्ञानका बीज ध्यान है।

इसी अभिप्रायको योगशास्त्रमें इस प्रकारसे प्रकट किया गया है—मोक्ष कर्मोंके क्षयसे ही होता है, वह कर्मोंका क्षय आत्मज्ञानसे सम्भव है, और वह आत्मज्ञान ध्यानके आश्रयसे सिद्ध होता है। दोनों ग्रन्थगत वह श्लोक इस प्रकार है—

मोक्षः कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानजः स्मृतः।
ध्यानबीजं मतं तद्धि तस्मात्तद्धितमात्मनः॥ ज्ञाना. 259
मोक्षः कर्मक्षयादेव स चात्मज्ञानतो भवेत्।
ध्यानसाध्यं मतं तच्च तद्ध्यानं हितमात्मनः॥ यो. शा. ४-११३

इन दोनों श्लोकोंका प्रथम चरण समान है। द्वितीय चरणमें ज्ञानार्णवकारने जहाँ उस मोक्षका प्रादुर्भाव सामान्य सम्यग्ज्ञानसे प्रकट किया है वहाँ योगशास्त्रके कर्ताने उससे कुछ आगे बढ़कर उसका प्रादुर्भाव आत्मज्ञानसे प्रकट किया है। यह परिवर्तन सम्भवतः योगशास्त्रके कर्ता द्वारा बुद्धिपुरःसर दूर-दृष्टिसे किया गया है। ज्ञानार्णवकार योगशास्त्रगत 'आत्मज्ञानतः' के स्थानमें 'सम्यग्ज्ञानजः' पाठ परिवर्तित करें, यह जँचता नहीं है। पूर्व कृतिकी अपेक्षा उत्तरकालीन कृतिमें संशोधन अधिक हो सकता है।

२. ज्ञानार्णवमें श्लोक 1380 के द्वारा वाम नाड़ीसे प्रवेश करनेवाली वरुण और महेन्द्र (पुरन्दर) वायुको सिद्धिकर तथा सूर्यमार्गसे (दक्षिण नाड़ीसे) निकलनेवाली अग्नि व पवन वायुको विनाशका कारण कहा गया है। आगे इसी प्रसंगमें श्लोक 1382 के द्वारा वाम नाड़ीमें विचरण करनेवाली अग्नि व पवन वायुको तथा दक्षिण नाड़ीमें विचरण करनेवाली वरुण और इन्द्र इन दोनों वायुओंको भी मध्यम कहा गया है। इन दोनों श्लोकोंके बीचमें उपयुक्त श्लोक 1381 में यह कहा गया है कि मण्डलोंमें वायुओंके प्रवेश और निःसरणके कालको जानकर योगी समस्त वस्तुओं-विषयक सब प्रकारकी चेष्टाका उपदेश करता है। इस प्रकारसे इन दोनों श्लोकोंके बीचमें स्थित वह श्लोक (1381) प्रसंगके अनुरूप नहीं रहा।

इस प्रसंगका निर्वाह योगशास्त्रमें जिस रूपसे किया गया है वह भी ध्यान देने योग्य है। वहाँ दो श्लोकों (५,५९-६०) में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि चन्द्रमार्ग (वामा नाड़ी) से प्रवेश करनेवाली इन्द्र (महेन्द्र) और वरुण वायु सब सिद्धियोंकी देनेवाली तथा सूर्यमार्ग (दक्षिण नाड़ी) से निःसरण या प्रवेश करनेवाली वे दोनों वायु मध्यम हैं। दक्षिणसे निकलनेवाली अग्नि और पवन वायु विनाशका कारण तथा ये ही दोनों वायु वाममार्गसे प्रवेश व निःसरण करती हुई मध्यम मानी गयी हैं।

योगशास्त्रकी इस सरल व सुबोध प्रक्रियाको देखते हुए यदि यह सम्भावना की जाती है कि हेमचन्द्र सूरिने ज्ञानार्णवके उक्त प्रसंगको देखकर अपने बुद्धिकौशलसे उसे कुछ व्यवस्थित रूप दिया है तो यह अनुचित न होगा।

३. ज्ञानार्णवके श्लोक 1394 में यह सूचना की गयी है कि यदि कोई दूत आकर युद्धमें निरत दो विरोधियोंका नाम लेकर उनके मध्यमें किसकी विजय होगी, यह पूछता है तो उसके जानकार यदि प्रश्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्ण स्वरमें पूछा गया है तो पूर्व व्यक्तिकी विजयको कहते हैं, और यदि रिक्त स्वरमें प्रश्न किया गया है तो दूसरे व्यक्तिकी विजयका निर्देश करते हैं।

योगशास्त्रमें भी इस प्रसंगको लिया गया है तथा वहाँ इसको ज्ञानार्णवकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट भी किया है। यथा—

पूर्णे पूर्वस्य जयो रिक्ते त्वितरस्य कथ्यते तज्ज्ञैः।
उभयोर्युद्धनिमित्ते दूतेनाशंसिते प्रश्ने ॥ ज्ञानार्णव
को जेष्यति द्वयोर्युद्धे इति पृच्छत्यवस्थितः।
जयः पूर्वस्य पूर्णे स्याद् रिक्ते स्यादितरस्य तु ॥ यो. शा. २-२२५।

उक्त दोनों श्लोकोंको देखकर यह भलीभाँति समझा जा सकता है कि योगशास्त्रगत उस श्लोकमें जितने सरल और सुबोध पदोंके द्वारा उक्त प्रश्न और उत्तरकी सूचना की गयी है उतने झटिति बोध करानेवाले शब्दोंका उपयोग ज्ञानार्णवमें नहीं किया गया।

इसके अतिरिक्त योगशास्त्रमें उक्त श्लोकके अनन्तर रिक्त और पूर्णके लक्षणको इस प्रकार व्यक्त कर दिया गया है—

यत् त्यजेत् संचरन् वायुस्तद् रिक्तमभिधीयते।
संक्रमेद् यत्र तु स्थाने तत् पूर्णं कथितं बुधैः ॥ यो. शा. ५, २२६।

ज्ञानार्णवमें भी यद्यपि प्रकृत रिक्त और पूर्णके लक्षणका निर्देश किया गया है पर यहाँ, जहाँ उसकी आवश्यकता थी, उसका कुछ भी निर्देश न करके आगे श्लोक 1424 में उनके लक्षणको प्रकट किया गया है, जहाँ उसका प्रसंग भी नहीं है। इस श्लोकमें भी पूर्वार्धका उत्तरार्धसे सम्बन्ध बैठाना कष्टप्रद है (देखिए पृ. ४७८, श्लोक ११४)।

इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि हेमचन्द्र सूरिके समक्ष ज्ञानार्णवके ऐसे कुछ दुरूह प्रसंग रहे हैं जिन्हें उन्होंने अपने योगशास्त्रमें सरल व सुबोध बनाया है।

४. ज्ञानार्णवमें श्लोक 1452 के द्वारा यह निर्देश किया गया है कि इस परपुरप्रवेशका फल कौतुक मात्र है। वह कठोर परिश्रमके द्वारा समयानुसार महापुरुषोंके भी किसी प्रकारसे सिद्ध होता है और कदाचित् नहीं भी सिद्ध होता है।

इसी अभिप्रायको व्यक्त करते हुए योगशास्त्रमें यह कहा गया है कि वह परपुरप्रवेश आश्चर्य मात्रका करनेवाला है। वह परिश्रमके द्वारा दीर्घकालमें कदाचित् ही सिद्ध होता है व कदाचित् नहीं भी सिद्ध होता है। ये दोनों श्लोक ये हैं—

कौतुकमात्रफलोऽयं पुरप्रवेशो महाप्रयासेन।
सिध्यति न वा कथंचिन्महतामपि कालयोगेन ॥ ज्ञाना.
इह चायं परपुरप्रवेशश्चित्रमात्रकृत्।
सिध्येन्न वा प्रयासेन कालेन महताऽपि हि ॥ यो. शा. ६-१

इन दोनों श्लोकोंमें अधिकांश शब्दोंके समान होनेपर भी थोड़ा-सा जो परिवर्तन हुआ है उससे अभिप्रायमें भी कुछ भिन्नता हो गयी है। परिवर्तन जो हुआ है वह 'महतामपि' के स्थानमें 'महताऽपि' पाठका हुआ है। तदनुसार ज्ञानार्णवमें जहाँ उसका अर्थ 'महापुरुषोंके भी' ऐसा होता है वहाँ योगशास्त्रमें उसका अर्थ 'दीर्घ कालके द्वारा भी' ऐसा होता है। इस प्रकार इस पाठभेदमें ज्ञानार्णवकी अपेक्षा योगशास्त्रका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाठ अधिक संगत दिखता है। इसके अतिरिक्त ज्ञानार्णवमें 'महताम्' के साथ जो 'अपि' शब्द जुड़ा हुआ है वह भी कुछ उपयोगी नहीं दिखता, जबकि कालके विशेषणभूत 'महता' के साथ वह उपयोगी अधिक है। इससे मेरी यह निश्चित धारणा बन गयी है कि हेमचन्द्र सूरिने ज्ञानार्णवगत 'महतामपि' के स्थानमें बुद्धि-पुरस्सर 'महताऽपि' पाठको परिवर्तित किया है।

५. ज्ञानार्णवमें श्लोक 2022-23 के द्वारा अ सि आ उ सा इन मन्त्राक्षरोंके स्मरणकी प्रेरणा की गयी है। पर वहाँ इनमें इस प्रकार क्रमव्यत्यय हो गया है—अ सि सा आ और उ। योगशास्त्रमें उनका क्रम व्यवस्थित रहा है (८,७६-७७)। ज्ञानार्णवमें जहाँ 'साकारं मुखपङ्कजे' पाठ है वहाँ योगशास्त्रमें उसके स्थानमें 'आकारं वदनाम्बुजे' पाठ है (८-७६)। यदि क्रमकी अपेक्षा रखी जाती है तो यही पाठ संगत दिखता है। आगे ज्ञानार्णवमें जहाँ 'आकारं कण्ठकञ्जस्थं' पाठ है, वहाँ योगशास्त्र (८-७७) में 'साकारं कण्ठपङ्कजे' पाठ है। आगे ज्ञानार्णवमें श्लोक 2024 का पूर्वार्ध इस प्रकार है—सर्वकल्याणबीजानि बीजान्यन्यान्यपि स्मरेत्। योगशास्त्रमें श्लोक ८-७७ का उत्तरार्ध उसीके समान इस प्रकार है—सर्वकल्याणकारीणि बीजान्यन्यान्यपि स्मरेत्।

यहाँ ये कुछ ही उदाहरण दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। पर इतने मात्रसे यह कल्पनामें आ जाता है कि आचार्य हेमचन्द्रके सामने ज्ञानार्णव रहा है व उन्होंने उसका परिशीलन करके उसमें विवेचित विषयोंके वर्णनमें जहाँ जैसा व जितना आवश्यक समझा परिवर्तन व संशोधन किया है तथा अपने योगशास्त्रमें उन्हें स्थान दिया है।

ज्ञानार्णवमें श्लोक 2020 के द्वारा जिन संजयन्त आदि मुनियोंका उल्लेख किया गया है तथा योग-शास्त्रमें भी श्लोक ८-७४ द्वारा जिन वज्रस्वामी आदिका उल्लेख किया गया है उनका यदि कुछ ऐतिहासिक स्रोत उपलब्ध हो सकता है तो सम्भव है उसके आधारसे इस विषयमें कुछ विशेष प्रकाश पड़ सके।

यह भी निश्चित है कि इन दोनों ग्रन्थकारोंके समक्ष योगविषयक इतर साहित्य भी प्रचुर मात्रामें रहा है व उसका उपयोग भी उन्होंने अपने-अपने ग्रन्थकी रचनामें किया है। इसका संकेत भी दोनों ग्रन्थोंसे मिल जाता है।[1]

---

१. ज्ञानार्णव—

(१) अथ कैश्चिद्यम-नियमासन............(पृ. ३७३)

(२) सुनिर्णीतस्वसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते। मुनिभिः × × ×॥ (1342)

(३) त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभिः। (1344)

(४) × × × प्राज्ञैः प्रणीतः पवनागमे॥ (1349)

(५) × × × तदेवाहुराचार्याः॥ (1420)

(६) × × × सूरिभिः समुद्दिष्टम्। (1423)

(७) × × × केचित् प्रवदन्ति सूरयोऽत्यर्थम्। (1426)

(८) × × × विद्म इति केचित्। (1428)

(९) × × × पुरमितरेणेति केऽप्याहुः॥ (1438)

(१०) षोडशप्रमितः कैश्चिन्निर्णीतो वायुसंक्रमः। (1441)

(११) मुनिभिः संजयन्ताद्यैर्विद्यावादात् समुद्धृतम्। (2020)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हेमचन्द्र सूरिने प्रकृत योगशास्त्रकी रचनामें जिस प्रकार ज्ञानार्णवका अनुसरण किया है उसी प्रकार कुछ अंशमें उन्होंने इतर ग्रन्थोंका भी अनुसरण किया है। जैसे—ध्यानशतक (८वीं शती), आदिपुराण (९वीं शती), तत्त्वानुशासन (१०वीं शती), योगसारप्राभृत (१०-११वीं शती) और अमितगति-श्रावकाचार (११वीं शती) आदि।

१. ध्यानशतक—योगशास्त्रमें ध्यानका जो लक्षण किया गया है वह ध्यानशतकके अनुसार किया गया है। इसी प्रकार आसन व शुक्लध्यानके निरूपणमें भी ध्यानशतकका आश्रय लिया गया है। (इसके लिए ध्यानशतककी प्रस्तावनामें पृ. ६९-७२ पर 'ध्यानशतक व योगशास्त्र' शीर्षक देखिये)।

२. आदिपुराण—आदिपुराणके २१वें पर्वमें जो ध्यानका वर्णन किया गया है उसका परिशीलन योगशास्त्रकारने किया है। उदाहरणस्वरूप योगशास्त्रमें जो धर्मध्यानके प्रसंगमें क्षायोपशमिकादि भाव व क्रमविशुद्ध पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याओंका निर्देश किया गया है (१०-१६) उसका आधार आदिपुराण रहा है। वहाँ श्लोक २१-१५६ में धर्मध्यानको अतिशय विशुद्ध तीन लेश्याओंसे वृद्धिगत बतलाया गया है। आगे श्लोक २१-१५७ में उसे क्षायोपशमिक भावको आत्मसात् कर वृद्धिगत कहा गया है।

३. तत्त्वानुशासन—इसके श्लोक १३७ का "सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम्" यह पूर्वार्ध योगशास्त्रके १०वें प्रकाशमें ४ संख्याके अन्तर्गत आत्मसात् किया गया है।

४, योगसार-प्राभृत—इसके नौवें अधिकारका ५२वाँ श्लोक योगशास्त्रके नौवें प्रकाशमें १४ संख्याके अन्तर्गत आत्मसात् किया गया है। यहाँ 'येन येनैव' के स्थानमें 'येन येन हि' तथा 'तन्मयस्तत्र तत्रापि'के स्थानमें 'तेन तन्मयतां याति' जो पाठभेद है वह ज्ञानार्णवके अन्तर्गत उस श्लोक (2076) के पाठसे सर्वथा मिलता है। यह श्लोक ज्ञानार्णवमें 'उक्तं च' के साथ उद्धृत किया गया है। सम्भव है योगशास्त्रकारने उसे सीधा योगसारप्राभृतसे न लेकर ज्ञानार्णवसे ही लिया हो। इसका कारण दोनोंमें सर्वथा पाठकी समानता है।

५. अमितगति-श्रावकाचार—ज्ञानार्णव और योगशास्त्रके समान इस अमितगति-श्रावकाचारमें भी पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और अरूप (रूपातीत) ध्यानोंका वर्णन विस्तारसे किया गया है (१५, ३०-५६)। सम्भवतः इसका परिशीलन भी योगशास्त्रकारने किया है। इसके अतिरिक्त अमितगति-श्रावकाचारमें निम्न श्लोक द्वारा ध्यानके इच्छुकसे ध्याता, ध्येय, विधि और फलके जान लेनेकी प्रेरणा की गयी है—

ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं ध्याता ध्येयं विधिः फलम्।
विधेयानि प्रसिद्ध्यन्ति सामग्रीतो विना न हि ॥ १५-२३

यह श्लोक कुछ थोड़े-से परिवर्तनके साथ योगशास्त्रमें इस प्रकारसे आत्मसात् किया गया है—

ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं ध्याता ध्येयं तथा फलम्।
सिद्ध्यन्ति न हि सामग्रीं विना कार्याणि कर्हिचित् ॥७-१

योगशास्त्र—

(१) प्राणायामस्ततः कैश्चिदाश्रितो ध्यानसिद्धये। (५-१)
(२) ××× सप्तधा कीर्त्यते परैः ॥ (५-५)
(३) ××× इति कैश्चिन्निगद्यते ॥ (५-२४७)
(४) ज्ञानवद्भिः समाख्यातं वज्रस्वाम्यादिभिः स्फुटम्।
विद्यावादात् समुद्धृत्य ×××॥ (८-७४)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ यह स्मरणीय है कि उपर्युक्त सब ही ग्रन्थोंके रचयिता हेमचन्द्र सूरिके पूर्ववर्ती हैं। हेमचन्द्र सूरिका समय १२-१३वीं शताब्दी है। उनका जन्म कार्तिकी पूर्णिमा संवत् ११४५ को और स्वर्गवास संवत् १२२९ में हुआ है।[1]

११. ज्ञानार्णव और योगसूत्र—महर्षि पतञ्जलि विरचित योगसूत्र योगविषयक एक महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ है। वह प्रायः सांख्य सिद्धान्तके आधारसे रचा गया है। वह समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य इन चार पादोंमें विभक्त है। सूत्र संख्या सब १९५ (५१+५५+५५+३४=१९५) है। प्रत्येक पादके अन्तमें व्यास विरचित भाष्यमें जो पुष्पिकावाक्य पाये जाते हैं उनसे भी यही ज्ञात होता है कि वह सांख्य सिद्धान्तकी प्रमुखतासे रचा गया है।[2] उसके प्रथम पादमें चित्तवृत्तिनिरोधको योगका स्वरूप बतलाकर उसके उपायको दिखलाते हुए प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इन वृत्तियोंको क्लिष्ट व अक्लिष्ट दोनों स्वरूप बतलाया है। आगे संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात समाधिके साथ ईश्वरके भी स्वरूपको प्रकट किया गया है।

दूसरे पादमें क्रियायोगका निर्देश करते हुए हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय इन चारके स्वरूपको प्रकट किया गया है। इसीसे भाष्यकारने उसे चतुर्व्यूह रूप शास्त्र कहा है।[3] साथ ही वहाँ यम-नियमादि आठ योगांगोंका निर्देश करते हुए उनमें-से वहाँ प्रथम पाँच योगांगोंका विचार किया गया है। प्रथम यम योगांगके प्रसंगमें अहिंसा आदि पाँच महाव्रतोंके स्वरूपको तथा दूसरे नियम योगांगके प्रसंगमें शौच व सन्तोष आदिके स्वरूपको दिखलाते हुए उनके पृथक्-पृथक् फलको भी प्रकट किया गया है।

तीसरे पादमें धारणा, ध्यान और समाधि इन शेष तीन योगांगोंके स्वरूपको दिखलाते हुए उन तीनोंके समुदायको संयम कहा गया है। आगे अन्य प्रासंगिक चर्चा करते हुए योगके आश्रयसे होनेवाली विभूतियोंको दिखलाया गया है।

चौथे पादमें उपर्युक्त विभूतियोंको जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि इन यथासम्भव पाँच निमित्तोंसे उत्पन्न होनेवाली बतलाकर आगे शंका-समाधानपूर्वक कुछ अन्य प्रासंगिक चर्चा करते हुए सत्कार्यवादके साथ परिणामवादको प्रतिष्ठित और विज्ञानाद्वैतका निराकरण किया गया है। विशेष इतना है कि परिणामवादको प्रतिष्ठित करते हुए भी पुरुषको अपरिणामी—चित्स्वरूपसे कूटस्थनित्य—स्वीकार किया गया है। अन्तमें कैवल्यके स्वरूपको प्रकट करते हुए ग्रन्थोंको समाप्त किया गया है।

ज्ञानार्णवपर उसका प्रभाव

१. यम—प्रस्तुत ज्ञानार्णवकी रचना योगसूत्रप्ररूपित यम-नियमादि आठ योगांगोंको लक्ष्यमें रखकर की गयी है।[4] सर्वप्रथम वहाँ ध्यानकी साधनभूत बारह भावनाओं एवं मोक्षके मार्गभूत रत्नत्रयका निरूपण करते हुए सम्यक्चारित्रके प्रसंगमें जो अहिंसादि पाँच महाव्रतोंकी विस्तारसे प्ररूपणा की गयी है, यह

---

१. कुमारपाल प्रबन्ध (उ. जिनमण्डन गणि) पृ. ११४।

२. इति पातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे श्रीमद्व्यासभाष्ये प्रथमः समाधिपादः।

३. यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा—संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः, प्रधान-पुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः, संयोगस्यात्यन्तिकीनिवृत्तिर्हानम् हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। यो. सू. भाष्य २-१५। (लगभग यही अभिप्राय तत्त्वानुशासनमें श्लोक ३-५ के द्वारा प्रकट किया गया है।)

४. ज्ञानार्णवमें योगसूत्रनिर्दिष्ट इन आठ योगांगोंकी पृ. ३७३ पर सूचना भी की गयी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योगसूत्रके अनुसार योगका प्रथम अंग यम है। योगसूत्रकारको जो यमका लक्षण अभीष्ट रहा है[१] वह जैन आगम ग्रन्थोंमें काफी प्रसिद्ध है।[२]

२. नियम—यह योगका दूसरा अंग है। योगसूत्रमें शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान इनको नियम कहा गया है।[३] ज्ञानार्णवमें परिग्रह व आशाको हेय बतलाते क्रोधादि कषायोंके छोड़ने और राग-द्वेष-मोह व इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करने इत्यादिका जो स्थान-स्थानपर उपदेश दिया गया है वह सब नियमका ही रूप है। यमका विधान जहाँ सार्वकालिक और सार्वदेशिक है वहाँ नियमका विधान मर्यादित देश-कालसे सम्बद्ध है[४]। जैन सिद्धान्तके अनुसार अणुव्रतों व भोगोपभोग परिमाणका विधान इस नियमके ही अन्तर्गत है।

३. आसन—यह तीसरा योगांग है। योगसूत्रमें निश्चल व सुखावह आसनको योगका अंग माना गया है।[५] इसके स्पष्टीकरणमें भाष्यकारने पद्मासन, भद्रासन, स्वस्तिक व पर्यंक आदि कुछ विशेष आसनोंके नामोंका निर्देश भी कर दिया है।

ज्ञानार्णवमें ऐसे ही कुछ आसनोंका विधान किया गया है। वहाँ यह विशेष रूपसे कहा गया है कि जहाँ रागादिक दोष हीनताको प्राप्त होते हैं ऐसे ही स्थानमें ध्याताको ध्यानमें स्थित होना चाहिए तथा जिस-जिस आसनसे स्थित होनेपर मन निश्चल होता है उस-उस आसनसे स्थित होकर ध्यान करना योग्य है।[६] सांख्यदर्शनकारका भी यही अभिप्राय रहा दिखता है कि ध्यानमें जिस आसनसे व जहाँ भी मनकी स्थिरता हो सकती है वही आसन व स्थान उपयुक्त है, स्थिर सुख युक्त ही आसन हो, यह कोई नियम नहीं है।[७]

४. प्राणायाम—योगसूत्रमें आसनकी स्थिरताके होनेपर जो श्वास और प्रश्वासकी गतिका रेचन, स्तम्भन और पूरण क्रियाके द्वारा निरोध किया जाता है उसे प्राणायाम कहा गया है।[८]

---

१. अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। जाति-देश-काल-समयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम्।
—यो. सू. २, ३०-३१।

२. नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते॥ रत्नक. ८-७; यावज्जीवं यमो ज्ञेयः सावधिर्नियमः स्मृतः॥ उपासका. ७६१; अहिंसा-सूनृतास्तेय-ब्रह्माकिञ्चनता यमाः। दिक्कालाद्यनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्॥ द्वात्रि.-(यशो.) २१-२; हिंसाविरदी सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च बंभं च। संगविमुत्ती य तहा महव्वया पंच पण्णत्ता॥ मूला. १-४; एभ्यो हिंसादिभ्यः × × × सर्वतो विरतिर्महाव्रतम्। त. भा. ७-२; पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवचःकायैः। कृत-कारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम्॥ रत्न क. ७२।

३. शौच-संतोष-तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। यो. सू. २-३२।

४. रत्नक. ८७; उपासका. ७६१।

५. स्थिरसुखमासनम्। यो. सू. २-४६; सांख्यद. ३-३४; तद्यथा—पद्मासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्यङ्कं क्रौञ्चनिषदनं हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि। यो. सू. भा. २-४६।

६. ज्ञाना. 1309-14।

७. स्थिरसुखमासनमिति न नियमः। सां. द. ६-२४; न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात्। ६-३१।

८. तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। यो. सू. २-४९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानार्णवमें इस प्राणायामकी प्रशंसा करते हुए उसके पूरक, कुम्भक और रेचक इन तीन भेदोंके निर्देशपूर्वक उनका पृथक्-पृथक् स्वरूप भी दिखलाया गया है। आगे वहाँ पार्थिव आदि चार मण्डलों व वायुके संचारसे सूचित शुभा-शुभादिकी काफी विस्तारसे चर्चा की गयी है।[१]

५. प्रत्याहार—योगसूत्रमें प्रत्याहारके प्रसंगमें उसके स्वरूपका निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि अपने विषयमें चित्तके संप्रयोगका अभाव हो जानेपर—उसका निरोध हो जानेसे—इन्द्रियाँ भी जो उस चित्तका अनुसरण कर विषयोंकी ओरसे विमुख हो जाती हैं, इसका नाम प्रत्याहार है। इस प्रकार वे इन्द्रियाँ पूर्ण रूपसे स्वाधीन हो जाती हैं।[२]

योगसूत्रके समान ज्ञानार्णवमें भी प्रत्याहारके लक्षणमें यही कहा गया है कि योगी इन्द्रियोंके साथ मनको इन्द्रियविषयोंकी ओरसे हटाकर उसे इच्छानुसार जहाँ धारण करता है उसे प्रत्याहार कहा जाता है। इस प्रकार मनके स्वाधीन कर लेनेपर योगी कछुवेके समान इन्द्रियोंको संकुचित करके समताभावको प्राप्त होता हुआ ध्यानमें स्थिर हो जाता है।[३]

६. धारणा—योगसूत्रमें धारणाके स्वरूपको प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि चित्तको जो नाभिमण्डल, हृदय-कमल, शिर और नासिकाके अग्रभाग आदि देशोंमें बाँधा जाता है; इसका नाम धारणा है।[४]

ज्ञानार्णवमें धारणाका शब्दसे निर्देश न करके यह जो कहा गया है कि जितेन्द्रिय योगी विषयोंकी ओरसे इन्द्रियोंको, तथा उन इन्द्रियोंकी ओरसे निराकुल मनको पृथक् करके उसे निश्चलतापूर्वक ललाट देशमें धारण करता है, यह धारणाका ही स्वरूप है। आगे वहाँ नेत्रयुगल, कर्णयुगल, नासिकाका अग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि, शिर, हृदय, तालु और भृकुटियुगल; इन शरीरगत ध्यानस्थानोंका निर्देश भी कर दिया गया है जहाँ चित्तको धारण किया जाता है[५]।

७. ध्यान—योगसूत्रमें ध्यानके लक्षणमें यह कहा गया है कि धारणामें जहाँ चित्तको धारण किया गया है उस देशमें ध्येयका आलम्बन लेनेवाले प्रत्ययका अन्य प्रत्ययोंसे अपरामृष्ट रहते हुए जो सदृश प्रवाह चलता है उसका नाम ध्यान है[६]। इसका अभिप्राय यह है कि धारणामें पूर्वोक्त नाभिचक्रादि देशोंमें-से जिसमें चित्तको स्थिर किया गया है वहींपर एकाग्रतासे चिन्तन करते हुए स्थिर रहना व अन्य विषयोंका आलम्बन न लेना, यह ध्यानका लक्षण है।

ज्ञानार्णवमें जो एकाग्रचिन्तानिरोधको ध्यान कहा गया है उसका भी यही अभिप्राय है कि प्रत्यान्तरके संसर्गसे रहित होकर एक ही वस्तुका जो स्थिरतापूर्वक चिन्तन किया जाता है उसका नाम ध्यान है[७]।

---

१. ज्ञाना. 1342-1455।

२. स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। यो. सू. २-५४।

३. ज्ञानार्णव 1456-57।

४. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। यो. सू. ३-१। (नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा—व्यास भाष्य)

५. ज्ञाना. 1458 व 1467-69।

६. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। यो. सू. ३-१।

७. ज्ञाना. 1194-95।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

८. समाधि—योगसूत्रमें समाधिके स्वरूपको दिखलाते हुए कहा गया है कि उपर्युक्त ध्यान ही ध्येय अर्थके आकारके प्रतिभासरूप होकर जब स्वरूपसे शून्यके समान हो जाता है—ध्यान-ध्येय अथवा ज्ञान-ज्ञेयके विकल्पसे रहित हो जाता है—तब उसे समाधि कहा जाता है[1]।

ज्ञानार्णवके अनुसार इस समाधिका स्वरूप शुक्लध्यानमें निहित है। योगसूत्रमें समाधिके दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—सबीज समाधि और निर्बीज समाधि। दूसरे शब्दोंमें इन्हें सालम्बन ध्यान और निरालम्बन ध्यान कहा जा सकता है। जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिक मणिके सामने काला-नीला आदि जैसा भी पदार्थ आता है उसके आश्रयसे वह स्वच्छ स्फटिक मणि भी उसके उपरागसे उपरक्त होकर तद्रूप परिणत हो जाता है, इसी प्रकार योगीका निर्मल चित्त भी ग्राह्य (स्थूल व सूक्ष्म ध्येय), ग्रहण (इन्द्रिय) और गृहीता (पुरुष) इनमें-से जिसका आलम्बन लेता है तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है। इसका उल्लेख योगसूत्रमें समापत्ति शब्दसे किया गया है।[2] वह समापत्ति सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचारके भेदसे चार प्रकारकी है। इनमें स्थूल अर्थ (महाभूत व इन्द्रियाँ) को विषय करनेवाली सवितर्क समापत्ति जहाँ शब्द, अर्थ और ज्ञानविकल्पोंसे संकीर्ण रहती है वहाँ निर्वितर्क समापत्ति उक्त विकल्पोंसे रहित होती हुई स्वरूपसे शून्यके समान अर्थके प्रतिभासरूप है।[3] सविचार समापत्तिका स्वरूप सवितर्क समापत्तिके समान और निर्विचार समापत्तिका स्वरूप निर्वितर्क समापत्तिके समान है। विशेष इतना है कि सवितर्क और निर्वितर्क समापत्तियाँ जहाँ स्थूल (महाभूत और इन्द्रियों) को विषय करती हैं वहाँ सविचार और निर्विचार समापत्तियाँ सूक्ष्म (तन्मात्रा और अन्तःकरण) को विषय करती हैं।[4] इन चारों समापत्तियोंको सबीज या संप्रज्ञात समाधि कहा गया है।[5] इस संप्रज्ञातका निरोध हो जानेपर समस्त चित्तवृत्तियोंके हट जानेसे निर्बीज या असंप्रज्ञात समाधिका प्रादुर्भाव होता है, जिसमें पुरुष स्वरूपनिष्ठ हो जाता है। इसीसे उसे शुद्ध, केवली व मुक्त कहा जाता है।[6]

प्राचीन जैन आगम परम्पराके अनुसार ज्ञानार्णवमें जिस शुक्लध्यानका निरूपण किया गया है वह योगसूत्रप्ररूपित पूर्वोक्त समाधिकी प्रक्रियासे बहुत कुछ समानता रखता है। जैसे—ज्ञानार्णवमें शुक्लध्यानके ये चार भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—सवितर्क-सविचार-सपृथक्त्व, सवितर्क-अविचार-अपृथक्त्व, सूक्ष्मक्रिया, प्रतिपाती और समुच्छिन्नक्रिय। इनमें प्रथम शुक्लध्यान शब्द, अर्थ और ज्ञान विकल्पोंसे संकीर्ण पूर्वोक्त सवितर्क समापत्ति जैसा तथा द्वितीय शुक्लध्यान उक्त विकल्पोंसे रहित निर्वितर्क समापत्ति जैसा है। ज्ञानार्णवमें इन विकल्पोंका निर्देश अर्थसंक्रमण, व्यंजन (शब्द) संक्रमण और योगसंक्रमण इन पारिभाषिक शब्दोंके द्वारा किया गया है। योगसूत्रके अनुसार जिस प्रकार स्थूलको विषय करनेवाली प्रथम सवितर्क समापत्तिमें शब्द, अर्थ और ज्ञान विकल्प बने रहते हैं उसी प्रकार प्रथम शुक्लध्यानमें भी उक्त विकल्प बने रहते हैं। इसीसे

---

१. तदेवार्थनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। यो. सू. ३-२।
२. क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्गृहीतृ-ग्रहण-ग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः। यो. सू. १-४१।
३. तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः। स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। यो. सू. १, ४२-४३।
४. एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता। यो. सू. १-४४।
५. ता एव सबीजः समाधिः। यो. सू. १-४६ (ता एवोक्तलक्षणा समापत्तयः, सह बीजेनाऽऽलम्बनेन वर्तत इति सबीजः संप्रज्ञातः समाधिरित्युच्यते, सर्वासां सालम्बनत्वात्—भोज-वृत्ति)।
६. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। यो. सू. १-५१। (× × × तस्मिन् (चित्ते) निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽतः शुद्धः केवली मुक्त इत्युच्यते इति—व्यासभाष्य)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसे प्रथम समापत्तिके समान सवितर्क कहा गया है। तथा उक्त योगसूत्रके अनुसार जिस प्रकार वे विकल्प द्वितीय समापत्तिमें नहीं रहते, इसीसे उसे अविचार कहा गया है उसी प्रकार द्वितीय शुक्लध्यानमें भी चूँकि वे विकल्प नहीं रहते, इसीसे उसे भी अविचार कहा गया है।

उक्त निर्विचार समापत्तिमें निर्मलताके प्रादुर्भूत होनेपर योगसूत्रके अनुसार अध्यात्मप्रसाद होता है—चित्त क्लेश-वासनाओंसे रहित हो जाता है।[1] इस अध्यात्मप्रसादके प्रादुर्भूत हो जानेपर ऋतंभरा प्रज्ञा—यथार्थतासे परिपूर्ण ज्ञान—प्रकट हो जाता है।[2] इस ऋतंभरा प्रज्ञाका विषय श्रुतप्रज्ञा और अनुमान प्रज्ञासे भिन्न होता है।[3] इसका कारण यह है कि उक्त दोनों प्रज्ञाएँ सामान्यको विषय करती हैं—इन्द्रियाश्रित होनेसे उनका क्षेत्र व काल सीमित है, इससे वे सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंकी विशेषताओंको नहीं जान सकती हैं। परन्तु वह ऋतंभरा प्रज्ञा इन्द्रियातीत होनेके कारण उक्त सूक्ष्मादि पदार्थोंके भी ग्रहणमें समर्थ है।[4] उसके प्रादुर्भूत हो जानेपर पूर्वकी समस्त वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं। इस क्रमसे पूर्वोक्त सवितर्क आदि चार समापत्तिस्वरूप संप्रज्ञात योगका निरोध हो जानेपर चूँकि सभी चित्तवृत्तियोंका निरोध हो जाता है इसीसे उस समय निर्वीज समाधि—निरालम्ब ध्यान—प्रादुर्भूत होता है।[5]

ज्ञानार्णव आदि अनेक जैन ग्रन्थोंमें जो सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ती इन दो शुक्लध्यानोंकी प्ररूपणा की गयी है वह उपर्युक्त योगसूत्रप्ररूपित प्रक्रियासे बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। ये दोनों ध्यान, मोह और अज्ञान (अल्पज्ञता) के पूर्णतया विनष्ट हो जानेपर केवलीके हुआ करते हैं। वे केवली उन सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थगत सभी विशेषताओंको जानते हैं, जिनका निर्देश योगसूत्र व उसके भाष्य आदिमें किया गया है १-४९। इस केवलज्ञानके प्रकट हो जानेपर मोह और अज्ञानजनित समस्त वासनाएँ विलीन हो जाती हैं। इससे उसे जैसे योगसूत्र (१-५१) के भाष्यमें शुद्ध, केवली व मुक्त कहा गया है वैसे ही ज्ञानार्णव आदि अनेक जैन ग्रन्थोंमें भी उसे शुद्ध, केवली व मुक्त कहा गया है (2171-75 व 2198-2201)।

चार भावनाएँ—योगसूत्रमें चित्तप्रसादकी कारणभूत मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चार भावनाओंका परिकर्मके रूपमें निर्देश किया गया है (१-३३)।

ध्यानकी सिद्धिके लिए इन चार भावनाओंका निर्देश ज्ञानार्णवमें भी इन्हीं शब्दोंके द्वारा किया गया है तथा यथाक्रमसे उनका स्वरूप भी प्रकट कर दिया गया है (1270-85)।

अहिंसामाहात्म्य—योगसूत्रमें अहिंसामहाव्रतके प्रसंगमें यह कहा गया है कि अहिंसाका चिन्तन

---

१. निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। यो. सू. १–४७। (यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यं जायते तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः—भाष्य)।

२. ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा। यो. सू. १–४८। (अन्वर्था च सा, सत्यमेव बिभर्ति न च तत्र विपर्यासज्ञानगन्धोऽप्यस्तीति–भाष्य)।

३. श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया, विशेषार्थत्वात्। यो. सू. १–४९।

४. × × × इयं पुनर्निर्विचारवैशारद्यसमुद्भवा प्रज्ञा ताभ्यां विलक्षणा, विशेषविषयत्वात्। अस्यां हि प्रज्ञायां सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्टानामपि विशेषः स्फुटेनैव रूपेण भासते। यो. सू. भोजवृत्ति १–४९। (आ. समन्तभद्रने उक्त सूक्ष्मादि पदार्थोंमें प्रत्यक्षविषयताको सिद्ध करते हुए सर्वज्ञकी सिद्धि की है—आप्तमी. ५।)

५. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। यो. सू. १-५१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करनेवाले योगीके समीपमें स्वभावतः परस्पर विरोध रखनेवाले सर्प व न्योले जैसे प्राणी भी जन्मजात वैर-भावको छोड़कर साथ-साथ स्थित रहते हैं।[१]

ज्ञानार्णवमें अहिंसाके प्रतीक साम्यभावकी महिमाको प्रकट करते हुए कहा गया है कि मुनिके समीप साम्यभावके प्रभावसे स्वभावतः क्रूर भी प्राणी शान्तभावसे स्थित रहते हैं। क्षीणमोह योगीके समक्ष मृगी सिंहके बच्चेको पुत्रके समान स्पर्श करती है। इसी प्रकार गाय व्याघ्रके बच्चेको, बिल्ली हंसके बच्चेको और मोर सर्पको प्रेमके वशीभूत होकर स्पर्श करती है।[२]

योगजन्यविभूतियाँ—योगसूत्रके तीसरे पादमें विषयभेदके अनुसार धारणा, ध्यान और समाधिरूप संयमसे आविर्भूत होनेवाली अनेक प्रकारकी विभूतियोंको दिखलाया गया है। जैसे—धर्म, लक्षण और अवस्थारूप तीन परिणामविषयक संयमसे—तद्विषयक, धारणा, ध्यान और समाधिसे—योगीको अतीत व अनागतका ज्ञान होता है।[३]

जैनदर्शनके अनुसार पूर्वोक्त धर्म, लक्षण और अवस्थारूप परिणाम उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप हैं। यथा—मिट्टीरूप धर्मीका पिण्डरूप धर्मको छोड़कर घटरूप धर्मको स्वीकार करना, यह उसका धर्मपरिणाम है। उसी घटका अनागत अध्वानको छोड़कर वर्तमान अध्वानको स्वीकार करना, यह उसका लक्षण-परिणाम है। उसी घटका समान क्षणोंमें अन्वयी स्वरूपसे अवस्थित रहना, यह उसका अवस्थापरिणाम है। ये तीनों परिणाम जिस प्रकार जैनदर्शनके अनुसार चेतन-अचेतन सभी पदार्थोंमें स्वीकार किये गये हैं उसी प्रकार वे योगदर्शनमें भी चित्त, भूत और इन्द्रिय आदि सभी पदार्थोंमें स्वीकार किये गये हैं।

जैन दर्शनके अनुसार पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क नामक दो शुक्लध्यानोंका विषय उक्त उत्पादादि अवस्थाएँ हैं[४]। उनके ध्यानसे ध्याताके विशिष्ट ज्ञान सम्भव हैं।

इसके अतिरिक्त ज्ञानार्णवमें जो यह कहा गया है कि नेत्रयुगल और कर्णयुगल आदि शरीरगत नियमित ध्यानस्थानोंमें चित्तके स्थिर करनेपर बहुत-से ध्यानप्रत्यय उत्पन्न होते हैं, वह योगसूत्रनिर्दिष्ट अतीत-अनागत ज्ञान (३-१६), भूतरुतज्ञान—पशु-पक्षी आदि प्राणियोंके विविध शब्दविषयक ज्ञान (३-१७), पूर्वजातिज्ञान—जातिस्मरण (३-१८) और परचित्तज्ञान—मनःपर्ययज्ञान (३-१९) इत्यादि विभूतियों (ऋद्धियों) का बोधक है।

---

१. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः। यो. सू. २-३५। (तस्याहिंसां भावयतः संनिधौ सहजविरोधिनामप्यहि-नकुलादीनां वैरत्यागो निर्मत्सरतयाऽवस्थानं भवति, हिंस्रा अपि हिंस्रत्वं परित्यजन्तीत्यर्थः—भोजवृत्ति।)

२. ज्ञाना. 1166-72।

३. परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्। यो. सू. ३-१६।

४. उप्पाय-ट्ठिइ-भंगाइपज्जयाणं जमेगवत्थुंमि।
नानानयाणुसरणं पुव्वगयसुयानुसारेणं॥
सवियारमत्थ-वंजण-जोगंतरओ तयं पढमसुक्कं।
होइ पुहुत्तवितक्कं सवियारमरागभावस्स॥
जं पुण सुणिप्पकंपं निवायसरणप्पईवमिव चित्तं।
उप्पाय-ट्ठिइ-भंगाइयाणमेगंमि पज्जाए॥
अवियारमत्थ-वंजण-जोगंतरओ तयं बिदियसुक्कं।
पुव्वगयसुयावलंबणमेगत्तवितक्कमवियारं॥ ध्यानशतक ७७-८०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योग व जैन दर्शनोंमें विभूतिविषयक समानता

१. योगसूत्र (३-४) में धारणा, ध्यान और समाधिको समुदित रूपमें संयम कहा गया है। अभीष्ट विषयमें किये गये इस संयमसे योगीको तदनुरूप विभूति प्राप्त होती है। जैसे—हृदयमें जो अधोमुख छोटा कमल है[1] उसके अभ्यन्तरमें अन्तःकरणरूप सत्त्वका स्थान है। इसके विषयमें किये गये उक्त संयमसे योगीको अपने व परके चित्तका ज्ञान प्रादुर्भूत होता है (३-३४)।

जैन दर्शनमें इस स्व-परचित्तके ज्ञानको मनःपर्ययज्ञान कहा गया है, वह संयमीके ही होता है, असंयमीके नहीं होता।[2]

२. पुरुषसंयमसे—सत्त्व-पुरुषभेदविज्ञानविषयक संयमसे—योगीके प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, स्वाद और वार्ता ये ज्ञान उत्पन्न होते हैं (३-३६)। यहाँ प्रातिभसे सूक्ष्म-विप्रकृष्टादिविषयक ज्ञान, श्रावणसे दिव्य शब्दज्ञान, वेदनासे दिव्य स्पर्शज्ञान, आदर्शसे दिव्य रूपज्ञान, स्वादसे दिव्य स्वादविषयक ज्ञान और वार्तासे दिव्य गन्धज्ञान अभिप्रेत रहा है।

जैन दर्शनके अनुसार तिलोयपण्णत्तिमें गा. ४,९८४-९७ द्वारा जिन संभिन्नश्रोतृत्व, दूरास्वादित्व, दूरस्पर्शत्व, दूरघ्राणत्व, दूरश्रवणत्व और दूरदर्शित्व ऋद्धियोंको प्रकट किया गया है वे उन योगसूत्र प्ररूपित प्रातिभ आदि ऋद्धियाँ जैसी ही हैं। तत्त्वार्थवार्तिक (३,३६,३) में भी बुद्धि ऋद्धिके १८ भेदोंमें इनका निर्देश किया गया है।

३. योगसूत्र (३-२४) में कहा गया है कि अभीष्ट बलके विषयमें संयम करनेवाला योगी उसी प्रकारके बलको प्राप्त करता है। इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए उसके व्यास विरचित भाष्यमें यह कहा गया है कि योगी यदि हाथीके बलके विषयमें संयम करता है तो वह हाथी जैसा बलवान् होता है, यदि वह गरुड़के बलके विषयमें संयम करता है तो गरुड़ जैसा बलवान् होता है, तथा यदि वह वायुबलके विषयमें संयम करता है तो वायुबलसे युक्त होता है।

जैन दर्शनके अन्तर्गत तत्त्वानुशासनमें स्फटिक मणिका उदाहरण देते हुए यह कहा गया है कि आत्मज्ञ योगी जिस भावसे जिस रूपका ध्यान करता है वह तन्मय हो जाता है (१९०-९१)। इसे आगे कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि गरुड़के ध्यान द्वारा योगी स्वयं गरुड़ होकर क्षण-भरमें विषको दूर कर देता है, वह कामके ध्यानसे कामरूप परिणत होकर विश्वको वशमें करता है, अग्निके ध्यानसे वह अग्नि होकर रोगीको ज्वालाओंसे व्याप्त करता हुआ उसके शीतज्वरको नष्ट करता है[3]। सुधाके ध्यानसे वह सुधामय होकर अमृतकी वर्षा करता है, तथा क्षीरसमुद्रके ध्यानसे क्षीरसमुद्रस्वरूप होकर लोकको प्लावित करता है। इस प्रकारसे योगी ध्यानके द्वारा तन्मय होकर प्राणियोंके शान्तिक व पौष्टिक कर्मको करता है (२०५-८)।

४. योगसूत्र (३-३९) में उदान वायुके जयके फलको प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि उदान

---

१. ज्ञानार्णवमें पिण्डस्थ ध्यानके प्रसंगमें (1890-91) हृदयस्थ आठ पत्तोंवाले अधोमुख कमलका उल्लेख किया गया है।

२. स. सि. १-२५; त. वा. १,२५,२; धव. पु. १३, पृ. २१३।

३. शुभाशुभ तैजसलब्धिका स्वरूप भी लगभग इसी प्रकारका समझना चाहिए, जैसे द्वीपायन मुनिके।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वायुके जयसे योगी जल, कीचड़ और कण्टकसे संगत नहीं होता; किन्तु अतिशय लघु हो जानेके कारण वह महाददी आदि, विशाल कीचड़ और तीक्ष्ण काँटोंके ऊपरसे गमन करनेमें समर्थ होता है।[1]

हेमचन्द्र सूरि विरचित योगशास्त्रमें भी लगभग इसी अभिप्रायको इस प्रकारसे व्यक्त किया गया है—उदानके जीत लेनेपर योगी जल और कीचड़ आदिके द्वारा निर्बाध रूपसे उत्क्रमण करता है—उनके ऊपरसे अबाध गतिसे चल-फिर सकता है। दोनोंमें कुछ शब्दसाम्य भी दृष्टिगोचर होता है। यथा—

उदानजयाज्जल-पङ्क-कण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च। यो. सू. ३-३९।

उत्क्रान्तिर्वारि-पङ्काद्यैश्चाबाधोदाननिर्जये। यो. शा. ५-२४ (पू.)।

यहाँ यह विशेषता भी है कि योगसूत्र (३, ३९-४०) में जहाँ केवल उदान और समान इन दो ही वायुओंके जयका फल प्रकट किया गया है वहाँ योगशास्त्र (५, २२-२४) में पाँचों ही वायुओंके जयके फलका निर्देश किया गया है।

५. योगसूत्र (३-४१) के अनुसार श्रोत्र और आकाशके सम्बन्धविषयक संयमसे दिव्य श्रोत्र प्रवृत्त होता है। इसे स्पष्ट करते हुए इस सूत्रकी भोजदेव विरंचित वृत्तिमें कहा गया है कि उक्त संयमसे योगीके जो दिव्य श्रोत्र प्रवृत्त होता है उससे वह एक साथ सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट शब्दोंके ग्रहणमें समर्थ हो जाता है।

तत्त्वार्थवार्तिक (३, ३६, ३, पृ. २०२) में विशिष्ट तपके बलसे श्रोत्र इन्द्रियमें इस प्रकारका विशेष परिणमन बतलाया गया है कि जिसके प्रभावसे साधु बारह योजन लम्बे और नौ योजन चौड़े क्षेत्रमें स्थित हाथी-घोड़े एवं मनुष्य आदिके अक्षर-अनक्षरस्वरूप समस्त शब्दोंको एक कालमें ग्रहण कर सकता है।

६. योगसूत्र (३-४२) के अनुसार शरीर और आकाशविषयक संयमसे तथा लघु तूल (रूई) में तन्मयतास्वरूप समापत्तिसे योगी आकाशमें गमन कर सकता है। इस सिद्धिके प्रभावसे वह पाँवोंको धरते-उठाते हुए जलके ऊपरसे चलता है, मकड़ीके तन्तुओंके आश्रयसे गमन करता है, तथा सूर्यकी किरणोंके सहारे आकाशमें विचर सकता है।

तिलोयपण्णत्ति (४,१०३३-४९) और तत्त्वार्थवार्तिक (३,३६,३, पृ. २०२) आदि अनेक जैन ग्रन्थोंमें क्रियाविषयक ऋद्धिके चारणत्व और आकाशगामित्व ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। इनमें चारण ऋद्धिके भी जो अनेक प्रकार दिखलाये गये हैं उनमें जलचारण, मर्कटतन्तुचारण और ज्योतिश्चारण भी हैं। इन ऋद्धियोंके धारक योगी पृथिवीके समान जलके ऊपरसे गमन कर सकते हैं, मकड़ीके तन्तुओंके आश्रयसे विचरण कर सकते हैं तथा सूर्यकी किरणोंका आलम्बन लेकर विहार कर सकते हैं।

आकाशगामित्वके प्रभावसे पाँवोंके उठाने-धरनेके बिना पद्मासन अथवा कायोत्सर्गसे स्थित रहकर आकाशमें गमन कर सकते हैं।

७. योगसूत्र (३-४५) में भूतजयके प्रभावसे अणिमा आदिके प्रादुर्भावके साथ कायसम्पत् और तद्धर्मानभिघात—शरीरधर्मोंकी अप्रतिहतता—के आविर्भावकी सूचना की गयी है। इस सूत्रकी भोजदेव विरचित वृत्तिमें अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व इन आठका निर्देश करते हुए उनका पृथक्-पृथक् स्वरूप भी प्रकट किया गया है। भाष्यकारने भी एक गरिमाको छोड़कर शेष सातका उल्लेख किया है।

जैन दर्शनके अन्तर्गत पूर्वोक्त तिलोयपण्णत्ति (४, १०२४-३०) और तत्त्वार्थवार्तिक (३,३६,३,

---

१. वृत्ति सूत्र ३-३९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृ. २०२-३) आदिमें इन आठों ऋद्धियोंका निर्देश उसी क्रमसे किया गया है तथा स्वरूप भी प्रत्येकका वैसा ही कहा गया है।

योगसूत्रमें अणिमा आदिके साथ जिस तद्धर्मानभिघातका निर्देश किया गया है, पूर्वोक्त तिलोयपण्णत्ति (४-१०३१) और तत्त्वार्थवार्तिक (३, ३६, ३) में उसके समानार्थक अप्रतीघातका निर्देश किया गया है। अभिप्राय दोनोंका सर्वथा समान है।

इसी योगसूत्रमें जिस कायसम्पत्का निर्देश किया गया है उसका स्पष्टीकरण करते हुए अगले सूत्र (३-४६) में उससे रूप-लावण्य, बल और वज्रसंहननत्वको ग्रहण किया गया है।

तिलोयपण्णत्ति (४-१०३२) और तत्त्वार्थ वार्तिक (३,३६,३) में रूपलावण्यके समानार्थक कामरूपित्व ऋद्धिका निर्देश किया गया है। इन्हीं दोनों ग्रन्थोंमें जो बल-ऋद्धिका निरूपण किया गया है उसके अन्तर्गत कायबलमें बल और वज्र संहननत्वका भी समावेश होता है।

८. योगसूत्र (३-४९) में सत्त्व और पुरुषकी अन्यताख्याति (भेदविज्ञान) मात्र स्वरूपसे स्थित योगीके प्रादुर्भूत सर्व भावोंके अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्वका निर्देश किया गया है। इस सूत्रके भाष्यमें फलितार्थको प्रकट करते हुए यह कहा गया है कि[1] यह विशोका नाम की सिद्धि है जिसे पाकर योगी सर्वज्ञ क्षीणक्लेशबन्धन व वशी होकर विहार करता है।

जैन दर्शन के अनुसार शरीर और आत्माके भेद-विज्ञानपूर्वक ध्यानमें निरत हुआ योगी उत्तरोत्तर कर्मबन्धनसे रहित होता हुआ एकत्ववितर्क नामक शुक्लध्यानको, जिसे संप्रज्ञात समाधि कहा जा सकता है, प्राप्त करता है व उसके प्रभावसे वीतराग एवं सर्वज्ञ होकर विहार करता है।

९. इस तीसरे विभूतिपादको समाप्त करते हुए अन्तिम योगसूत्र (३-५५) में यह कहा गया है कि सत्त्व और पुरुषकी शुद्धिकी समानताके हो जानेपर कैवल्यका प्रादुर्भाव होता है—मोक्ष हो जाता है। सर्वकर्तृत्वविषयक अभिमानके हट जानेपर सत्त्वका जो स्वकारण (प्रकृति) में अनुप्रवेश होता है, यह उस-उस सत्त्वकी शुद्धि है तथा पूर्वमें जो उपचरित भोग था उसका अभाव हो जाना, यह पुरुषकी शुद्धि है। इस शुद्धिसाम्यमें मोक्ष होता है।

जैन सिद्धान्तके अनुसार विचार करनेपर तेरहवें गुणस्थानमें योगोंका निरोध करते हुए केवलीके सूक्ष्म काययोगमें स्थित होनेपर सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान होता है। उसके परिणामस्वरूप सूक्ष्म काययोगका भी निरोध हो जानेपर अशुद्धिके कारणभूत योगास्रवका जो सर्वथा अभाव हो जाता है, यही पुरुष या आत्माकी शुद्धि है। इस प्रकारसे अयोग अवस्थामें शैलेशीभाव—शैलेश (मेरु) के समान स्थिरता—को प्राप्त होकर योगी अनुदीर्ण (७२ या ७३) और उदीर्ण (१३ या १२) कर्म प्रकृतियोंका क्षय करता हुआ मुक्तिको प्राप्त कर लेता है।

निष्कर्ष—इस प्रकार जैन और योग दोनों ही दर्शनोंमें ऋद्धि-सिद्धिविषयक पर्याप्त समानता पायी जाती है। साथ ही दोनों दर्शनोंने इन सिद्धियोंको आत्माके चरमोत्कर्षका कारण नहीं माना, व्यवहार अवस्थामें ही उन्हें उपादेय माना गया है। योगसूत्रमें यह कहा भी गया है—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः। यो. सू. ३-३७।

अर्थात् पूर्वोक्त प्रातिभ आदि विभूतियाँ व्युत्थानावस्थामें—व्यवहारदशामें—भले ही सिद्धिस्वरूप हों, पर अन्ततः हर्ष-विषादादिकी कारण होनेसे उन्हें समाधिमें उपसर्गस्वरूप—विघ्न करनेवाली—ही बतलाया गया है।

---

१. इत्येषा विशोका नाम सिद्धिर्यां प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेश-बन्धनो वशी विहरति। यो. सू. भाष्य ३-४९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इतना ही नहीं, इसी योगसूत्रमें निर्दिष्ट यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ योगांगोंमें पूर्व पाँचकी अपेक्षा अन्तिम तीनको अन्तरंग कहा गया है,[1] क्योंकि संप्रज्ञात समाधिमें साक्षात् उपकारक ये तीन ही हैं, पूर्व पांच तो परम्परासे ही उसके उपकारक हैं। आगे चलकर इन अन्तिम तीनको भी शून्य भावना रूप[2] निर्बीज समाधि (निरालम्ब ध्यान) की अपेक्षा बहिरंग कह दिया गया है,[3] क्योंकि ये उस निर्बीज समाधिके साक्षात् उपकारक न होकर परम्परासे ही उपकारक हैं।

जैन दर्शनके अनुसार भी वे ऋद्धियाँ आत्माके चरमोत्कर्षमें बाधक हैं। इन विद्या-मन्त्रोंकी प्ररूपणा दसवें विद्यानुवाद पूर्वमें विस्तारसे की गयी है। उनके प्रसंगमें तिलोयपण्णत्ति (४,९९८-१०००) में यह कहा गया है कि विद्यानुवादके पढ़ते समय उसमें प्ररूपित रोहिणी आदि महाविद्याओंके पाँच सौ तथा अंगुष्ठप्रसेनादि क्षुद्र विद्याओंके सात सौ देवता आकर जब आज्ञा मांगते हैं तब संयममें प्रतिष्ठित अभिन्नदशपूर्वी महर्षि उनकी इच्छा नहीं किया करते। इसीसे वे उत्तरोत्तर ज्ञान-ध्यानमें उत्कर्षको प्राप्त होते हुए सर्वज्ञ केवली हो जाते हैं तथा अन्तमें मुक्तिको भी प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत जो उनकी इच्छा किया करते हैं वे अधःपतित मिथ्यादृष्टि होते हैं।

तत्त्वार्थाधिगम भाष्यमें भी प्रसंगप्राप्त इन ऋद्धियोंका वर्णन करते हुए अन्तमें (१०-७, पृ. ३१६) यही कहा गया है कि योगी ध्यानके बलसे अनायास ही प्राप्त हुई इन ऋद्धियोंके विषयमें तृष्णा व आसक्तिसे रहित होता है, इसीसे वह मोहको पूर्णतया नष्ट करके ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका भी क्षय कर देता है। तब वह संसारबन्धनके बीजको दग्ध करता हुआ केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शुद्ध, बुद्ध एवं कृतकृत्य होकर निर्वाणसुखको प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकारसे जैन और योग इन दोनों ही दर्शनोंने अपनी-अपनी तत्त्वव्यवस्थाके अनुसार कुछ विशेषताको अपनाते हुए भी मुमुक्षुके लिए सांसारिक सुखकी ओरसे विमुख कर प्रशस्त मुक्तिके मार्गको प्रस्तुत किया है।

१२. हरिभद्रसूरिकी योगदृष्टि—जैन परम्परामें हरिभद्रसूरि विविध विषयोंके प्रतिभाशाली विद्वान् हुए हैं। उनका योगविषयक भी गहन अध्ययन था। वर्तमानमें उनके द्वारा रचे गये योगविषयक चार ग्रन्थ उपलब्ध हैं—योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगविंशिका और षोडशक प्रकरण।

१. योगबिन्दुमें उन्होंने अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षयको योग कहा है। योगका अर्थ है मोक्षसे योजित करनेवाला व्यापार। इन पाँचोंका स्वरूप उन्होंने पृथक्-पृथक् कहा है।

२. दूसरे योगदृष्टिसमुच्चयमें योगका विचार करते हुए योगबिन्दुसे भिन्न ही प्रक्रियाको अपनाया है। यहाँ योगके इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग इन तीन भेदोंका निर्देश किया है। तथा सर्वसंन्यासरूप सामर्थ्ययोगको ही प्रधान योग कहा है। आगे उन्होंने मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा इन आठ योगदृष्टियोंका नामनिर्देश करके उनकी उपमा क्रमसे तृणाग्निकण, गोमय अग्निकण, काष्ठ अग्निकण, दीपप्रभा, रत्नप्रभा, सूर्यप्रभा और चन्द्रप्रभासे दी है। इनमें-से प्रथम चार दृष्टियाँ सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके अभिमुख उस मिथ्यादृष्टिके होती हैं जिसका संसार पुद्गलपरावर्त मात्र (?) शेष रह गया है। शेष चार दृष्टियाँ सम्यग्दृष्टिके ही होती हैं। इत्यादि कथन किया है।

---

१. त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः। यो. सू. ३-७।

२. ज्ञानसार (३७-४४) और आ. देवसेन विरचित आराधनासार (७४-८३) में निरालम्ब शून्यध्यानकी विशेष महिमा प्रकट की गयी है।

३. तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य। यो. सू. ३-८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. योगविंशिकामें स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन और निरालम्बगत धर्मव्यापारको योग कहा है। इनमें-से स्थान और ऊर्णको कर्मयोग तथा शेष तीनको ज्ञानयोग कहा है। स्थानसे अभिप्राय आसनविशेष पद्मासन आदिसे है। ऊर्णसे उस शब्दको लिया है जिसका उच्चारण अनुष्ठानमें किया जाता है। उस शब्दसे जो कहा जाता है वह अर्थ है। बाह्य प्रतिभा आदिके आश्रयसे होनेवाला ध्यान आलम्बन है और उससे रहित ध्यान अर्थात् निर्विकल्प समाधि निरालम्ब है। आलम्बनके दो प्रकार हैं—रूपी और अरूपी। अरहन्त व उनकी प्रतिमा रूपी आलम्बन है। सिद्धपरमात्माके केवलज्ञानादिरूप गुणोंकी परिणतिरूप आलम्बन अरूपी है। सूक्ष्म होनेसे इसे निरालम्ब कहा गया है।

४. षोडशक प्रकरणके तेरहवें प्रकरणमें योगविंशिकाके समान ही योगके सालम्बन और निरालम्बन दो भेद किये हैं।

ज्ञानार्णव और योगशास्त्रके अनुसार ये सालम्बन और निरालम्बन योग रूपस्थ और रूपातीत ध्यान-स्वरूप हैं उनसे भिन्न नहीं हैं। यह आश्चर्यकी बात है कि हरिभद्रसूरिके इस योगविषयक दृष्टिकोणका ज्ञानार्णव और योगशास्त्रपर कोई प्रभाव दृष्टि गोचर नहीं होता। जबकि इन दोनों ग्रन्थोंमें परस्पर अतिशय-साम्य रहा है। इतना ही नहीं, महर्षि पतञ्जलि विरचित योगसूत्रका प्रभाव तो दोनों ग्रन्थोंपर स्पष्ट दीखता है।

वीर सेवा मन्दिर
२१ दरियागंज
दिल्ली
६-७-७६

—बालचन्द्र शास्त्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय-सूची

प्रकरण	श्लोकांक	विषय	पृष्ठांक
१.	१–४९	पीठिका	१–२२
	१–६	परमात्मा, ऋषभदेव, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, श्रीवर्धमान और इन्द्रभूतिकी वन्दना	४–८
	७–९	सर्वज्ञशासनकी प्रशंसा	८–९
	१०–११	संसारकी असारता और ग्रन्थप्रयोजन	१०
	१२–१३	ग्रन्थकारका विनय	११
	१४–१७	समन्तभद्रादिकोंके वाङ्मयकी प्रशंसा	११–१२
	१८–२०	ग्रन्थ रचनेका कारण	१२–१३
	२१–२४	शास्त्रज्ञानकी उपयोगिता	१३–१४
	२५–३०	असत् शास्त्रोंकी निन्दा	१४–१६
	३१–३५	ग्रन्थका गुणदोषविवेचन करना	१६–१७
	३६–४४	आत्मशुद्धिका मार्ग	१८–२०
	४५–४९	मोक्षका स्वरूप और दुर्लभ नरजन्ममें मोक्षप्राप्तिके लिए प्रयत्नका उपदेश	२१–२२
२.	१–१९३	द्वादश भावना	२३–८५
	१–४	संसारकी नश्वरता और भावशुद्धिका आश्रय लेनेका उपदेश	२३–२४
	५–७	द्वादश भावनाओंकी श्रेष्ठता	२५
	८–४७	इन्द्रियसुख, संबन्ध, शरीर, पदार्थ आदिकी अनित्यता	२६–३७
	४८–६६	मृत्युका प्रभाव और जीवकी असहायता	३८–४४
	६७–७१	जीवोंका संसारमें भ्रमण	४५–४६
	७२–८३	जीवोंका उत्कृष्ट तथा निकृष्ट योनिमें जन्म और सुख-दुःखोंकी अशाश्वतता	४६–४९
	८४–९३	जीवका अकेलापन	४९–५३
	९४–९९	आत्माकी शरीरादिसे भिन्नता	५३–५६
	१००–१०५	पिता-पुत्र आदि सम्बन्धोंकी अनित्यता	५६–५७
	१०६–११८	शरीरकी अपवित्रता और अनित्यता	५७–६२
	११९–१२३	आस्रवका स्वरूप और शुभ आस्रव	६२–६३
	१२४–१२७	अशुभ आस्रव	६३–६५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण	श्लोकांक	विषय	पृष्ठांक
	१२८–१३०	संवर और उसके भेद	६५–६६
	१३१–१३९	संवरका स्वरूप और फल	६६–६८
	१४०–१४८	निर्जरा—स्वरूप, भेद तथा फल	६९–७१
	१४९–१७०	धर्म और उसकी श्रेष्ठता	७२–७८
	१७१–१७७	लोकका स्वरूप	७८–८०
	१७८–१९०	रत्नत्रयस्वरूप मोक्षकी दुर्लभता	८०–८३
	१९१–१९३	द्वादश भावनाओंका महत्त्व	८४–८५
३.	१–३५*१	ध्यानलक्षण	८६–९६
	१–५	नरजन्मकी दुर्लभता और चार पुरुषार्थ	८६–८७
	६–१४	मोक्षका स्वरूप और मोक्षप्राप्तिका कारण	८७–८९
	१५–२५	ध्यानकी सामग्री और फल	९०–९२
	२६–३५*१	ध्यानके तीन भेद और फल	९३–९६
४.	१–६०	ध्यानगुणदोष	९७–१२२
	१–५	ध्यानके भेद	९७–९९
	६–८	ध्याताके गुण	९९–१००
	९–१७	घरमें रहनेसे ध्यानसिद्धि नहीं	१०१–१०३
	१८–२१	मिथ्यादृष्टिसे भी ध्यानसिद्धि नहीं	१०४–१०६
	२१*१–२७	मिथ्यादर्शनोंके भेद	१०६–१०९
	२७*१–६०	ध्याताके दोष	११०–१२२
५.	१–२८*१	योगिप्रशंसा	१२३–१३३
	१–१९	योगियोंका स्वरूप—मनकी स्थिरता, तप, निःसंगता, पवित्र आचरण आदि योगियोंके गुण हैं	१२३–१२७
	२०–२८*१	योगियोंकी प्रशंसा	१२८–१३३
६.	१–५८	दर्शनविशुद्धि	१३४–१५८
	१–४*१	सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्रसे ही मोक्ष	१३४–१३५
	५–६*४	सम्यग्दर्शनका स्वरूप और भेद	१३५–१३७
	७–७*१	सम्यग्दर्शनके दोष	१३७–१३८
	८	जीव, अजीव आदि सात तत्त्व	१३९
	९–२४	जीवतत्त्वका वर्णन	१३९–१४४
	२५–४४	पाँच द्रव्य और उनका स्वरूप–(अजीव तत्त्व)	१४६–१५३
	४५–४८*१	बन्धतत्त्वका वर्णन	१५४–१५५
	४९–५८	सम्यग्दर्शनकी प्रशंसा	१५५–१५८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण	श्लोकांक	विषय	पृष्ठांक
७.	१–२३	ज्ञानोपयोग	१५९–१६८
	१–३	सम्यग्ज्ञानका लक्षण और उसके भेद	१५९
	४–७	मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञानके भेद	१६०–१६३
	८–२३	केवलज्ञानका स्वरूप और श्रेष्ठता	१६३–१६८
८.	१–५७	अहिंसाव्रत	१६९–१८७
	१–४	सम्यक्चारित्रका लक्षण और उसके भेद	१६९–१७०
	५	व्रतका स्वरूप	१७१
	६–८	अहिंसा महाव्रतका स्वरूप और फल	१७१–१७२
	९–२८	हिंसाके भेद और परिणाम	१७२–१७९
	२९–३२,४०-४२	अहिंसाकी प्रशंसा	१७९–१८०,१८१
	३३–३९,४३-४५	हिंसाका भयानक स्वरूप	१८०–१८२,१८३
	४६–५७	अहिंसाका फल	१८४–१८७
९.	१–४२	सत्यव्रत	१८८–२०१
	१–६	सत्यका स्वरूप और उसकी प्रशंसा	१८८–१८९
	७–१३	असत्यकी निन्दा	१८९–१९१
	१४–४२	सत्य और सत्यवादियोंका माहात्म्य तथा असत्य और असत्यवादियोंके दोष	१९१–२०१
१०.	१–२०	चौर्यपरिहार	२०२–२०७
	१–२	अचौर्यव्रत	२०२
	३–२०	चौर्यकी निन्दा और चोरी न करनेका उपदेश	२०२–२०७
११.	१–४८	कामप्रकोप	२०९–२२२
	१–५	ब्रह्मचर्यव्रतकी प्रशंसा	२०९–२१०
	६–१२	दस प्रकारका मैथुन और उसका परिणाम	२१०–२१२
	१३–४८	कामका भयावह स्वरूप	२१२–२२२
१२.	१–५९	स्त्रीस्वरूप	२२३–२३९
	१–५५	स्त्रियोंका भयानक स्वरूप और उनसे दूर रहनेका उपदेश	२२३–२३७
	५६–५९	शीलवती स्त्रियोंकी प्रशंसा	२३८–२३९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण	श्लोकांक	विषय	पृष्ठांक
१३.	१–२४	मैथुन	२४०–२४७
	१–२४	स्त्रीसंगका बीभत्स रूप और उसका निषेध	२४०–२४७
१४.	१–४४	संसर्ग	२४८–२६०
		स्त्रीसंगके परिणाम और स्त्रीसंगसे विरक्त होनेका उपदेश	२४८–२६०
१५.	१–४७	वृद्धसेवा	२६१–२७६
	१–३	वृद्धसेवाका कारण	२६१–२६२
	४–१०	वृद्धोंका लक्षण	२६२–२६४
	११–४७	वृद्धसेवाकी प्रशंसा	२६४–२७६
१६.	१–४१	परिग्रहदोषविचार	२७७–२९०
	१–५*१	परिग्रह और उसके भेद	२७७–२७८
	६–३८*२	परिग्रहसंगके परिणाम	२७९–२८८
	३९–४१	संगत्यागका उपदेश	२८८–२९०
१७.	१–२१	आशापिशाची	२९१–२९६
	१–२१	आशाके परिणाम और निःस्पृहताका महत्त्व	२९१–२९६
१८.	१–१५२	अक्षविषयनिरोध	२९७–३४७
	१–१*१	महाव्रतका लक्षण	२९७
	२–४	पचीस भावनाएँ, पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ	२९८
	५–१४	ईर्या, भाषा, एषणा, आदान और व्युत्सर्ग समिति	२९८–३०२
	१५–१८	मन, वाक् और कायगुप्ति	३०२–३०३
	१९	समितिगुप्तियोंका फल	३०३
	२०–२६	रत्नत्रयकी प्रशंसा	३०४–३०५
	२७–३७	आत्माका स्वरूप और उसके दर्शनका उपदेश	३०५–३०९
	३८–१०८	क्रोध, मान, माया और लोभका परिणाम	३१०–३३४
	१०९–११४	क्रोधादि कषायोंके निरासका उपदेश	३३४–३३६
	११५–१२६	इन्द्रियनिग्रहकी आवश्यकता	३३६–३३९
	१२७–१५०	इन्द्रियसुखकी निन्दा	३३९–३४७
	१५१–१५२	इन्द्रियजयका फल	३४७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण	श्लोकांक	विषय	पृष्ठांक
१९.	१–१९	त्रितत्त्व	३४९–३७१
	१–८	आत्माका स्वरूप और आत्मज्ञानका साधन	३४९–३५१
	९–९*१	आत्माके विविध रूप	३५१
	१–८	शिव, पृथ्वी, अप, वह्नि, वायु, वि और कामतत्त्व	३५२–३६८
	१०–१२	आत्माका सामर्थ्य	३६९
	१३–१९	आत्माकी कलंकमयता	३७०–३७१
२०.	१–३४	मनोव्यापारप्रतिपादन	३७३–३८३
	१–८	योगके अंग और योगसिद्धिका साधन	३७३–३७६
	९–३४	मनोरोध और उसका फल	३७६–३८३
२१.	१–३८	रागादिनिवारण	३८५–३९६
	१	मनको आत्मस्वरूपमें लीन करना	३८५
	२–१६	रागादिकोंका प्रभाव	३८५–३८९
	१७–२०	वीतरागका महत्त्व	३८९–३९०
	२१–३८	राग, द्वेष और मोहके परिणाम	३९१–३९६
२२.	१–३३	साम्यवैभव	३९७–४०८
	१–३३	साम्यकी आवश्यकता और साम्यफल	३९७–४०८
२३.	१–४१	आर्तध्यान	४०९–४२२
	१–४	समताका कारण ध्यान	४०९–४१०
	५–८	सद्ध्यानका फल	४१०–४११
	९–१३	असद्ध्यानका परिणाम	४११–४१२
	१४–२०	ध्यानके भेद—सद्ध्यान और दुर्ध्यान	४१२–४१५
	२१–४१	आर्तध्यानके भेद, स्वरूप और परिणाम	४१५–४२२
२४.	१–४२	आर्तरौद्र	४२३–४३६
	१–३	रौद्रध्यानके भेद और स्वरूप	४२३
	४–३३	हिंसारौद्र, मृषारौद्र, चौर्यरौद्र, विषयसंरक्षणरौद्र	४२४–४३३
	३४–४२	रौद्रध्यानका परिणाम	४३३–४३६
२५.	१–३५	ध्यानविरुद्धस्थान	४३७–४४५
	१–२	धर्मध्यानकी प्रशंसा	४३७
	३–४	ध्याताके गुण	४३७–४३८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण	श्लोकांक	विषय	पृष्ठांक
	५–१४	चार भावनाएँ—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा	४३८–४४०
	१५–१९	भावनाओंका फल	४४०–४४१
	२०–२२	ध्यानके लिए स्थानका महत्त्व	४४२
	२३–३५	निषिद्ध स्थान	४४२–४४५
२६.	१–१४१*१	प्राणायाम	४४७–४८६
	१–९	ध्यानके लिए योग्य स्थान	४४७–४४९
	१०–१२	ध्यानके लिए उचित आसन	४४९–४५०
	१३–२२	ध्याताओंकी श्रेष्ठता और योग्यता	४५०–४५२
	२३	ध्यानके लिए योग्य दिशा	४५३
	२४–२९	ध्याताके लक्षण	४५३–४५४
	३०–४०	आसनजय	४५४–४५७
	४१–१४१*१	प्राणायामका स्वरूप, सामर्थ्य और फल	४५७–४८६
२७.	१–१४	प्रत्याहार	४८८–४९२
	१–५	प्रत्याहारका स्वरूप	४८८–४८९
	६–११	प्राणायाम प्रत्याहारसे कनिष्ठ	४८९–४९०
	१२–१४	प्रत्याहारका स्वरूप	४९१–४९२
२८.	१–३८	सवीर्यं ध्यान	४९३–५०५
	१–१६	ध्यानाभिमुख मुनिके विचार	४९३–४९७
	१७–१८	ध्येयका स्वरूप	४९८
	१९–३३	आत्माका स्वरूप	४९९–५०३
	३४–३८	ध्यानका स्वरूप और फल	५०३–५०५
२९.	१–१०४	शुद्धोपयोग विचार	५०६–५३५
	१–४	परमात्माके लिए आत्मज्ञानकी आवश्यकता	५०६–५०७
	५–८	आत्माके तीन प्रकार	५०७–५०८
	९–२३	आत्मभिन्न पदार्थोंमें आत्मबुद्धि	५०८–५१२
	२४–३६	परमात्माका स्वरूप	५१२–५१६
	३७–४७	बन्धमोक्षका कारण	५१६–५१९
	४८–५४	आत्मज्ञानका फल	५१९–५२१
	५५–९३	अज्ञानी और आत्मज्ञानियोंमें तुलना	५२१–५३२
	९४–१०४	परमात्मज्ञानका फल	५३२–५३५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण	श्लोकांक	विषय	पृष्ठांक
३०.	१–२२	आज्ञाविचय	५३६–५४२
	१–२	योगीके चित्तविचलनका कारण	५३६
	३–५	धर्मध्यानकी आवश्यकता और धर्मध्यानके भेद	५३६–५३७
	६–९	आज्ञाविचयका स्वरूप	५३७–५३८
	१०–२२	श्रुतज्ञानका स्वरूप और श्रेष्ठत्व	५३९–५४२
३१.	१–१७	अपायविचय	५४३–५४८
	१–१७	अपायविचय ध्यानका स्वरूप	५४३–५४८
३२.	१–३०	विपाकविचय	५४९–५५८
	१–३०	विपाकविचय ध्यानका स्वरूप	५४९–५५८
३३.	१–१७९	संस्थानविचय	५५९–६०४
	१–९	लोकका स्वरूप	५५९–५६१
	१०–२७	नरकका स्वरूप	५६१–५६५
	२८–५७*१	नारकियोंके मनमें आनेवाले विचार	५६५–५७३
	५८–७८	नरककी भीषणता	५७४–५७८
	७९–८४*१	मध्यलोकका स्वरूप	५७८–५८०
	८५–८७	ज्योतिषी देवोंके विमान और देवेन्द्रोंके कल्प	५८०–५८१
	८८–१७७	देवलोकके सुख	५८१–६०३
	१७८–१७९	संस्थानविचय-ध्यान	६०३–६०४
३४.	१–३३	पिण्डस्थध्यान	६०५–६१३
	१	ध्यानके चार भेद	६०५
	२–३	पाँच धारणाएँ	६०५
	४–९	पार्थिवी धारणा	६०५–६०६
	१०–१९	आग्नेयी धारणा	६०७–६०९
	२०–२३	मारुती धारणा	६०९–६१०
	२४–२७	वारुणी धारणा	६१०–६११
	२८–३०	तत्त्वरूपवती धारणा	६११–६१२
	३१–३३	ध्यानका फल	६१२–६१३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण	श्लोकांक	विषय	पृष्ठांक
३५.	१–११७	पदस्थ ध्यान	६१४–६४५
	१–६*२	पदस्थ ध्यानका लक्षण और फल	६१४–६१६
	७–२५	मन्त्रराजका स्वरूप और ध्यानका उपदेश	६१६–६२१
	२६–३२	मन्त्रराजके ध्यानका फल	६२१–६२२
	३३–४०	ओंकारकी महत्ता और ध्यानका फल	६२३–६२४
	४१–४९	महामन्त्रकी आराधना और फल	६२५–६२६
	५०–५१	षोडशाक्षर विद्या और ध्यानफल	६२७
	५२	षडक्षर विद्या और फल	६२७
	५३–११७	चतुरक्षरादि विद्या और ध्यानफल	६२७–६४५
३६.	१–४६	रूपस्थध्यान	६४६–६५७
	१–३१	सर्वज्ञका स्वरूप	६४६–६५३
	३२–४६	सर्वज्ञके ध्यानका फल	६५३–६५७
३७.	१–३१	रूपातीत	६५८–६६६
	१–१०	रागी मनुष्यके ध्यानका प्रकार	६५८–६६०
	११–१४	सत् और असत् ध्यानके परिणाम	६६१–६६२
	१५–३१	रूपातीत ध्यानका स्वरूप और फल	६६३–६६६
३८.	१–२५	धर्मध्यानफल	६६८–६७५
	१–३	मनोरोधका उपदेश	६६८
	४–१२	शुक्लध्यान और उसके अधिकारी	६६९–६७१
	१३–२५	धर्मध्यानका फल	६७१–६७५
३९.	१–८१*१	शुक्लध्यानफल	६७६–७००
	१–२	धर्मध्यानलक्षण	६७६
	३–४	शुक्लध्यानके अधिकारी	६७७
	४*१–३६	शुक्ल ध्यानका लक्षण, भेद और फल	६७७–६८७
	३७	तृतीय ध्यानका अधिकारी	६८८
	३७*१–४०	समुद्घातविधि	६८८–६८९
	४१–५८	शुक्लध्यानका प्रभाव	६८९–६९३
	५९–७९	आत्मिक सुखकी विशेषता	६९४–६९९
	८०–८१–*१	ग्रन्थप्रशस्ति	६९९–७००

□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री

शुभचन्द्राचार्य-विरचितः

ज्ञानार्णवः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

I

नमः श्रीवीतरागाय

[पीठिका]

स्वस्ति श्रीनिलयं सुधामपि सुधासारं महः सार्वगं
शश्वद्दाहकशक्तियुक्तिमभितः सज्जातवेदःस्थितम् ।
स्फौर्यंत्सौर्यमयं महोमणिमयं तत्त्वं नभोमण्डले
नित्यज्ञानमनादिसिद्धमखिलं बोधस्वरूपं परम् ॥ १ ॥
प्रणम्य भारतीपादपद्मद्वन्द्वं महोदयम् ।
यज्जाड्यैकतमःस्तोमभानुबिम्बायितं सदा ॥ २ ॥
आचार्याः शुभचन्द्रास्ते क्व चाल्पमतिकोऽप्यहम् ।
भानोः परं किमु स्थातुं खद्योतैः शक्यते न हि ॥ ३ ॥
परित्यज्यान्यसिद्धान्तं दिगम्बरमताशयात् ।
ज्ञानार्णवस्य शास्त्रस्य कुर्वे वृत्तिं समासतः ॥ ४ ॥
बुधैरनुग्रहीतव्यः सापराधो गुणोत्तमैः ।
यतः शास्त्रैकदृश्वानः कृपापारीणबुद्धयः ॥ ५ ॥
शश्वत्स्याहिजलालदीनपुरतः प्राप्तप्रतिष्ठोदयः
श्रीमन्मङ्गलवंशशारदशशिर्विश्वोपकारोद्यतः ।
नाम्ना कृष्ण इति प्रसिद्धिरभवत् सत्क्षात्रधर्मोन्नते-
स्तन्मन्त्रीश्वरटोडरो गुणयुतः सर्वाधिकारोद्यतः ॥ ६ ॥
श्रीमत्तोडरसाहपुत्रनिपुणः सद्दानचिन्तामणिः
श्रीमच्छ्रीऋषिदासधर्मनिपुणः प्राप्तोन्नतिः स्वश्रिया ।
तेनाहं समवादि वादिनिपुणो न्यायाद्यलीलाह्वयः
श्रोतुं वृत्तिमतः परं सुविषयां ज्ञानार्णवस्य स्फुटम् ॥ ७ ॥

इह हि चिकीर्षितान्तरायापायनिमित्तं शास्त्रसमाप्तये च स्वेष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मङ्गलं दर्शयति । तत्र मनोवाक्कायसाधारणस्यैव नमस्कारस्य परमात्मनो योग्यत्वात् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1) [1]ज्ञानलक्ष्मीघनाश्लेषप्रभवानन्दनन्दितम् ।
निष्ठितार्थमजं नौमि परमात्मानमव्ययम् ॥ १

1) ज्ञानलक्ष्मी—अहं परमात्मानं नौमीति संबन्धः । परमश्चासौ आत्मा च परमात्मा, तं परमात्मानं परमेष्ठिनं नमस्करोमि । किंविशिष्टम् । ज्ञानलक्ष्मीघनाश्लेषप्रभवानन्दनन्दितम् । ज्ञानं केवलज्ञानम् । शेषज्ञानानां परमात्मन्यसंभवात् । उपलक्षणात् केवलदर्शनमपि । तस्य लक्ष्मीः चिदानन्दरूपा, तस्या यो घनाश्लेषो निबिडालिङ्गनं, तस्मात्प्रभवो य आनन्दः तेन नन्दितं मुदितम् । पुनः किंविशिष्टं परमात्मानम् । निष्ठितार्थं निष्पन्नप्रयोजनम् । पुनः कीदृशं परमात्मानम् । अजं स्वयंभुवं, नष्टकर्मबीजत्वात् जन्मरहितम् । पुनः कीदृशम् । अव्ययं नाशरहितं, नित्यस्वरूपत्वात् । इति श्लोकार्थः ॥१॥ अत्र शास्त्रादौ विषयप्रयोजनसंबन्धाधिकारिभेदात् संबन्धचतुष्टयं वक्तव्यम् । अत्र विषयः, परमात्मस्वरूपपरिज्ञानम् । प्रयोजनम्, अष्टकर्मक्षयात् केवलज्ञानोत्पत्तिः, घात्यघातिविशेषणद्वयं योज्यं, मोक्षप्राप्तिर्वा । संबन्धस्तु ध्यानध्यायकरूपो वाच्यवाचकरूपो वा । सम्यग्दर्शनपूर्वकध्यानध्याता अधिकारी । अथ सकलजगद्व्यवहारप्रवर्तकप्रथमधर्मादिकर्तृत्वेन प्रथमतीर्थंकरमादिनाथं नमस्करोमि ।

[हिन्दी अनुवाद]

मैं (शुभचन्द्र) उस परमात्माको नमस्कार करता हूँ जो कि ज्ञानरूप लक्ष्मीके दृढ आलिंगनसे उत्पन्न होनेवाले सुखसे आनन्दको प्राप्त है, जिसने अपने अभीष्ट प्रयोजनको सिद्ध कर लिया है, तथा जो अज अर्थात् जन्मसे रहित होता हुआ अव्यय भी है—मरणसे भी रहित हो चुका है । विशेषार्थ—यहाँ 'परमश्चासौ आत्मा परमात्मा' इस प्रकार कर्मधारय समास करनेपर 'परमात्मा'का अर्थ उत्कृष्ट आत्मा होता है । अथवा 'मा' का अर्थ लक्ष्मी होता है, अत एव 'परा मा यस्य असौ परमः, परमश्चासौ आत्मा परमात्मा' इस निरुक्ति के अनुसार जो अनन्तचतुष्टयस्वरूप लक्ष्मीसे सहित है वह परमात्मा कहा जाता है । वह सकल परमात्मा और विकल परमात्माके भेदसे दो प्रकारका है । इनमें जो ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंसे रहित होता हुआ अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यरूप अनन्तचतुष्टयसे संयुक्त हो चुका है वह सकल परमात्मा कहलाता है । उसे अरिहन्त, जिन, केवली और आप्त आदि शब्दोंसे कहा जाता है । तथा जो आठों कर्मोंसे मुक्त होकर सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अव्याबाध सुख, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व और अगुरुलघुत्व इन आठ गुणोंसे विभूषित हो चुका है उस शरीररहित सिद्ध परमात्माको विकल परमात्मा कहते हैं । यहाँ जो उस परमात्माका ज्ञानलक्ष्मीसे आलिंगितरूप प्रथम विशेषण दिया गया है उससे यह अभिप्राय प्रगट किया है । उक्त परमात्मा रागद्वेषसे रहित हो जानेके कारण स्त्रीरूपको धारण करनेवाली लक्ष्मीसे आलिंगित नहीं है । किन्तु समस्त विश्वके जाननेमें समर्थ ऐसे ज्ञान (सर्वज्ञता) रूप लक्ष्मीसे आलिंगित है । और इसीलिए वह अविनश्वर निराबाध सुखसे सदा प्रमुदित रहनेवाला है । दूसरा विशेषण है निष्ठितार्थ, जिसका अर्थ होता है

१. P ओं नमो वीतरागाय, N श्रीशान्तिनाथाय नमः, जिनेन्द्रवाण्यै नमः, L ओं नमः सिद्धेभ्यः, S ओं नमः सिद्धां:, T ओं नमः सिद्धेभ्यः । श्रीपरमात्मने नमः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2) भुवनाम्भोजमार्तण्डं [1]धर्मामृतपयोधरम् ।
योगिक[2]ल्पतरुं नौमि देवदेवं वृषध्वजम् ॥ २

2) भुवनाम्भोज—अहं वृषध्वजं नौमि। वृषं पुण्यं, उत वृषो वृषभः, स तद्वा ध्वजः चिह्नं यस्य स तम्। किंविशिष्टम्। भुवनाम्भोजमार्तण्डं, भुवनं जगत् तदेव प्रकाशनसाधर्म्यात् अम्भोजं कमलं तत्र मार्तण्ड इव मार्तण्डः तम्। पुनः कीदृशम्। धर्मो यतिगृहिभेदाद्द्विविधः। स एव जन्मजरामरणापहारकत्वादमृतं, तेन पयोधरवत् पयोधरस्तम्। पुनः कीदृशं वृषध्वजम्। योगिकल्पतरुम्। योगाः स्वस्वविषयेभ्यो निवृत्ता मनोवाक्कायरूपाः ते विद्यन्ते येषां ते योगिनस्तेषामभिमतसंपादने कल्पतरुरिव कल्पतरुस्तम्। पुनः कीदृशम्। देवदेवम्। देवा भवनपत्यादयः, तैर्दीव्यत इति देवदेवः तम्। इति द्वितीयश्लोकार्थः ॥२॥ श्रीयुगादिदेवानन्तरं त्रयोविंशतितीर्थंकराणां भावनमस्कारं विधाय, विशेषतस्तन्मध्ये चन्द्रप्रभशान्तिवर्धमानानां भावनमस्कारपूर्वं तद्गुणस्तुतिरूपद्रव्यनमस्कारं विवक्षुः तत्र यथोद्देशं निर्देशन्यायेन यथापूर्वं चन्द्रप्रभं नमस्करोति।

कृतकृत्य। इससे यह भाव प्रगट किया है कि उक्त परमात्मा राग-द्वेषसे रहित होकर चूँकि अपने अभीष्ट अन्तिम प्रयोजनको सिद्ध कर चुका है अत एव वह कृतार्थ हो जानेसे राग-द्वेषकी हेतुभूत सृष्टिका कर्ता नहीं है। तीसरे 'अज' विशेषणसे यह सूचित किया है कि मुक्त या सिद्ध हो चुकनेके बाद जीवका संसारमें पुनरागमन नहीं होता। अन्तिम उसका विशेषण 'अव्यय' है। उसका अभिप्राय यह है कि, वह परमात्माकी मुक्ति दीपकके बुझ जानेके समान शून्य या अभावस्वरूप नहीं है, किन्तु उक्त मुक्त अवस्थामें जीव अपने ज्ञानादि गुणोंसे अभिन्न होकर अनन्त कालतक उसी स्वरूपमें अवस्थित रहता है॥ १॥

वृष (बैल) के चिह्नको धारण करनेवाला जो देवोंका देव ऋषभ जिनेन्द्र समस्त लोकरूप कमलको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान है, धर्मरूप अमृतकी वर्षा करनेके लिए मेघके समान है, तथा योगी जनोंके मनोरथको पूर्ण करनेके लिए कल्पवृक्षके समान है, उसे मैं नमस्कार करता हूँ। विशेषार्थ—इस श्लोकके द्वारा वृषध्वज—बैलके चिह्नके धारक अथवा धर्मरूप ध्वजाके धारक—प्रथम जिनेन्द्रको नमस्कार किया गया है। जिस प्रकार सूर्य उदयको प्राप्त होकर समस्त कमलोंको प्रफुल्लित कर देता है उसी प्रकार उन प्रथम जिनेन्द्रने तीर्थंकरत्वरूप अभ्युदयको प्राप्त होकर संसारके समस्त प्राणियोंको प्रफुल्लित किया था—उन्हें यथार्थ सुखके स्वरूप और उसकी प्राप्तिके उपायको बतलाकर आनन्दित किया था। इस भरत क्षेत्रमें जब सुषमदुःषमा कालके समाप्त होनेमें पल्यका आठवाँ भाग ($\frac{1}{8}$) शेष रह गया था तबसे यहाँ दस प्रकारके कल्पवृक्षोंकी फलदानशक्ति क्रमशः उत्तरोत्तर क्षीण होने लगी थी। अन्तमें वे प्रजाजनोंको यथेच्छ भोजनादिके देनेमें सर्वथा असमर्थ हो गये थे। तब भूख आदिकी बाधासे व्याकुलताको प्राप्त हुए प्रजाजन नाभिराजकी शरणमें आये। उन्होंने उन्हें भगवान् ऋषभदेवके समीपमें जानेका संकेत किया। तदनुसार वे भगवान् ऋषभदेवकी शरणमें पहुँचे। उन सबने उनसे प्रार्थना की कि भगवन्! जिन कल्पवृक्षोंके द्वारा हमारी आजीविका सम्पन्न होती थी वे सब नष्ट हो चुके हैं, अतएव आप हमें आजीविकाके

१. B मार्तण्डधर्मामृत। २. C योगकल्प।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

3) भवज्वलनसंभ्रान्तसत्त्वशान्तिसुधार्णवः ।
देवश्चन्द्रप्रभः पुष्यात् ज्ञानरत्नाकरश्रियम् ॥३

3) भवज्वलन—चन्द्रप्रभो देवः ज्ञानरत्नाकरश्रियं पुष्यात्, पुष्टिं नयेत् । चन्द्रप्रभा यस्य स चन्द्रप्रभः, इति नाम्नान्वयः । ज्ञानमेव रत्नाकरः, तस्य श्रियमित्यर्थः । कीदृशः चन्द्रप्रभः । भव एव दुःखदायकत्वात् ज्वलनोऽग्निः, तेन संभ्रान्ता ये सत्त्वाः प्राणिनः, तेषां शान्तौ सुधार्णव इव सुधार्णवः, इति सूत्रार्थः ॥३॥ तदनन्तरं शान्तिनाथं प्रणमति ।

उपाय बतलाकर हम सबके कष्टको दूर करें। इसपर ऋषभदेवने विचार किया कि इस समय भोगभूमिकी अवस्था नष्ट हो चुकी है, अतएव अब पूर्व और अपर विदेहोंमें जिस प्रकार असि-मषी आदि छह कर्मोंकी स्थिति है उसी प्रकार उसकी प्रवृत्ति यहाँ भी करनी चाहिए। तदनुसार उन्होंने प्रजाजनको उन छह कर्मोंके स्वरूपको विस्तारपूर्वक समझाकर उनको आनन्दित किया था। उधर भगवान्‌के चिन्तन मात्रसे इन्द्रने आकर देश, नगर एवं ग्राम आदिकी रचना कर दी थी। यह अभिप्राय उक्त 'भुवनाम्भोजमार्तण्ड' रूप प्रथम विशेषणमें निहित है। तत्पश्चात् जब उन्हीं ऋषभ जिनेन्द्रने जिनदीक्षाको स्वीकार कर तपश्चरणके द्वारा केवलज्ञानको प्राप्त कर लिया था तब उन्होंने धर्मरूप अमृतकी वर्षा करके विश्वका कल्याण किया था। इसीलिए वे योगीजनोंके लिए कल्पवृक्ष प्रमाणित हुए। अभी तक भोगभूमिकी प्रवृत्ति रहनेसे योगका मार्ग बन्द हो रहा था--उसे कोई भी नहीं जानता था। तब सर्वप्रथम उन आदि जिनेन्द्रने उक्त योगमार्गको अपनाकर—दिगम्बर धर्मको स्वीकार कर—उसे आदर्श रूपमें स्वयं ही प्रचलित किया था। इस प्रकारसे वह अन्य मुमुक्षु योगीजनोंके लिए सुगम बन गया था। यह भाव उक्त श्लोकके अन्तर्गत अन्तिम दो विशेषणोंका समझना चाहिए ॥२॥

जो चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र संसाररूप अग्निके मध्यमें भ्रमण करते हुए जीवोंके लिए शान्ति-रूप सुधा (अमृत) के समुद्र समान हैं वे ज्ञानरूप समुद्रकी लक्ष्मीको पुष्ट करें। विशेषार्थ—आठवें जिनेन्द्रका नाम चन्द्रप्रभ है। चन्द्रप्रभका अर्थ होता है चन्द्रमाके समान प्रभावाला। तदनुसार वे भगवान् जब चन्द्रमाके समान हैं तब जिस प्रकार चन्द्रमा समुद्रको वृद्धिंगत करता है उसी प्रकार वे भगवान् मेरे ज्ञानरूप समुद्रको वृद्धिंगत करें ऐसी प्रार्थना यहाँ ग्रन्थकार श्री शुभचन्द्राचार्यके द्वारा की गयी है। साथ ही यहाँ जिस 'ज्ञान-रत्नाकर' शब्दका प्रयोग किया है वह रचनेके लिए अभीष्ट प्रकृत ग्रन्थ ज्ञानार्णवका पर्यायशब्द है। अतएव उससे यह भी ध्वनित होता है कि वे भगवान् हमारे इस अभीष्ट ग्रन्थ ज्ञानार्णवको पुष्ट करें—उसकी सुन्दर व परिपुष्ट रचनामें मुझे सहायता प्रदान करें। इसके अतिरिक्त चन्द्रका दूसरा नाम सुधासूति—अमृतको उत्पन्न करनेवाला—भी है। अतएव जिस प्रकार चन्द्रमा अमृतकी वर्षा करके सन्तप्त प्राणियोंको शान्ति प्रदान किया करता है उसी प्रकार उस चन्द्रकी समानता-को धारण करनेवाले वे जिनेन्द्र भी संसार-तापसे सन्तप्त प्राणियोंको शान्ति प्रदान करते हैं—उन्हें मोक्षमार्गका उपदेश देकर शाश्वतिक सुखको देते हैं ॥३॥

१. M N भवभ्रमण ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4) सत्संयमपयःपूरपवित्रितजगत्त्रयम् ।
शान्तिनाथं नमस्यामि विश्वविघ्नौघशान्तये[1] ॥४

5) श्रियं सकलकल्याणकुमुदाकरचन्द्रमाः ।
देवः श्रीवर्धमानाख्यः क्रियाद्भव्याभिनन्दिताम्[3] ॥५

4) **सत्संयम**—अहं शान्तिनाथं नमस्यामि । किमर्थम् । विश्वे जगति ये विघ्नास्तेषामोघः समूहः, तस्य शान्तये । कीदृशं शान्तिनाथम् । सत्संयमः इन्द्रियाणां स्वविषयनिवृत्तिरूपः, स एव पयःपूरः तेन पवित्रितं पवित्रीकृतं जगत्त्रयं येन स तम् ॥४॥ तदनन्तरं वर्तमानतीर्थाधिपतित्वेन श्रीवर्धमानं नौति ।

5) **श्रियं सकल**—देवः श्रीवर्धमानाख्यः श्रियं क्रियात् । श्रिया वर्धत इति श्रीवर्धमानः । एतच्छास्त्रपाठवतां श्रियं लक्ष्मीं कुर्यात् । कथंभूतो वर्धमानः । सकलकल्याणकुमुदाकरचन्द्रमाः । सकलानि समस्तानि कल्याणानि श्रेयांसि, तान्येव कुमुदानि निशि विकासीनि श्वेतकमलानि,

मैं सब प्रकारके विघ्नोंके समूहको शान्त करनेकी अभिलाषासे समीचीन संयम रूप जलके प्रवाहसे तीनों लोकोंके प्राणियोंको पवित्र करनेवाले शान्तिनाथ तीर्थंकरके लिए नमस्कार करता हूँ। विशेषार्थ—यद्यपि सब ही तीर्थंकर समानरूपमें अनन्तचतुष्टयसे संयुक्त होते हुए प्राणिमात्रके लिए शान्तिको प्रदान करनेवाले हैं, फिर भी छद्मस्थ जन तत्त्वार्थ श्रद्धानकी किंचित् दुर्बलतासे शान्तिनाथ तीर्थंकरको शान्तिका कर्ता मानते हैं। तदनुसार यहाँ ग्रन्थकर्ता श्री शुभचन्द्राचार्य अभीष्ट ग्रन्थ ज्ञानार्णवकी रचनाको प्रारम्भ करते हुए भगवान् शान्तिनाथ जिनेन्द्रसे यह प्रार्थना करते हैं कि वे इसमें उपस्थित होनेवाली सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंको नष्ट करें। सो है भी यह ठीक, क्योंकि जो समस्त दोषोंको उपशान्त करके स्वयं शान्तिलाभ कर चुका है वही अन्य प्राणियोंको शान्ति प्रदान कर सकता है, न कि दूसरा अशान्त व्यक्ति। जैसा कि स्वामी समन्तभद्राचार्यने भी कहा है—'स्वदोषशान्त्या विहितात्मशान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम्। भूयाद् भवक्लेशभयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ॥' (स्वयंभूस्तोत्र १०)। इसके अतिरिक्त यहाँ यह एक विशेषता भी प्रगट की गयी है कि जो जन साधारण विषयभोगोंकी सामग्रीको पाकर उससे उत्पन्न होनेवाले क्षणिक सुखमें मग्न होते हुए उसे नहीं छोड़ना चाहते हैं उनके लिए भगवान् शान्ति जिनेन्द्रके आदर्शको दिखलाते हुए यह बतलाया है कि जो शान्तिनाथ भगवान् तीर्थंकर होनेके साथ चक्रवर्तीकी भी असाधारण विभूतिके स्वामी थे उन्होंने जब शाश्वतिक निर्बाध सुखके सामने उस सब वैभवको तृणके समान तुच्छ समझकर छोड़ दिया और समीचीन संयमको धारण किया था तब भला साधारण-सी विभूतिको पाकर अन्य जनोंको उसमें इतना व्यामोह क्यों होना चाहिए ? उन्हें भी उसको छोड़कर आत्मकल्याणके लिए उस समीचीन संयमको ग्रहण करना ही चाहिए ॥४॥

जो वर्धमान जिनेन्द्र समस्त कल्याणरूप कुमुदसमूहको—चन्द्रविकासी सफेद कमलों-को—विकसित करनेके लिए चन्द्रमाके समान हैं वे अन्तिम जिनेन्द्र भव्य जीवोंसे प्रशंसित

१. N विघ्नोपशान्तये । २. M N कुर्याद् भव्या° । ३. N भिनन्दिनीम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

6) श्रुतस्कन्धनभश्चन्द्रं संयमश्रीविशेषकम् ।
इन्द्रभूतिं[1] नमस्यामि योगीन्द्रं ध्यानसिद्धये[2] ॥६

7) प्रशान्तमतिगम्भीरं विश्वविद्याकुलगृहम्[3] ।
भव्यैकशरणं जीयाच्छ्रीमत्सर्वज्ञशासनम् ॥७

तेषामाकरः समूहः, तत्प्रकाशने चन्द्रमा इव चन्द्रमाः। किंविशिष्टां श्रियम् । भव्याभिनन्दिताम् । भव्यैः अभि सामस्त्येन नन्दिताम् अनुमोदितां वाञ्छिताम् इत्यर्थः ॥५॥ तदनन्तरं श्रीवर्धमानप्रथम-गणधरं नमस्यति ।

6) श्रुतस्कन्ध—अहम् इन्द्रभूतिं चरमतीर्थंकृत्प्रथमगणधरं नमस्यामि । कथंभूतम् इन्द्र-भूतिम् । श्रुतस्कन्धं द्वादशाङ्गं तदेव विस्तृतत्वादनन्ता[न्तत्वा]च्च नभः आकाशं तदुद्द्योतने चन्द्र इव चन्द्रस्तम् । संयमश्रीः चारित्रलक्ष्मीः तस्या विशेषकमिव तिलकमिव स तम् । कस्यै इन्द्रभूतिं नमस्यामि । योगीन्द्रध्यानसिद्धये । योगीन्द्रा मनोवाक्कायसाधका मुनयः । तेषां ध्यानं शुभशुक्लादि-भेदभिन्नं, पिण्डस्थपदस्थादि वा तस्य सिद्धिर्निष्पत्तिस्तस्यै इति भावार्थः ॥६॥ अथ प्रथमगणधरादि-भिस्तच्छासनमङ्गीक्रियत इत्यतो जिनशासनं वर्णयति ।

7) प्रशान्तमति—श्रीमत्सर्वज्ञशासनं जीयात् । सर्वं जानातीति सर्वज्ञः । श्रीः केवलज्ञान-विराजमानातिशयरूपा, सा विद्यते यस्यासौ श्रीमान्, स चासौ सर्वज्ञश्च । तस्य शासनमाज्ञा जीयात् । कथंभूतं सर्वज्ञशासनम् । प्रशान्तं, सर्वजीवानां शान्तिनिमित्तम् । पुनः कथंभूतं तच्छा-सनम् । अतिगम्भीरं, पूर्वापराविरोधिगम्भीरार्थतया अतिगम्भीरम् । पुनः कथंभूतं तच्छासनम् ।

लक्ष्मीको करें। विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार चन्द्रमा कुमुदसमूहको प्रफुल्लित करता है उसी प्रकार चूँकि वे वर्धमान जिनेन्द्र भव्य जीवोंको कल्याणका मार्ग (मोक्षमार्ग) दिखलाकर उन्हें प्रफुल्लित करनेवाले हैं, अतएव वे उन्हें उनकी अभीष्ट लक्ष्मी (मोक्षलक्ष्मी) को करें ॥५॥

जो इन्द्रभूति (गौतम) गणधर द्वादशांग श्रुतरूप आकाशमें चन्द्रके समान प्रकाशमान हैं तथा संयमरूप लक्ष्मीके तिलक जैसे हैं—उसे विशेषता प्रदान करनेवाले हैं—उन योगियों-के इन्द्रस्वरूप गणधरको मैं ध्यानकी सिद्धिके लिए नमस्कार करता हूँ। विशेषार्थ—यह ज्ञानार्णव ग्रन्थ एक ध्यानप्रधान ग्रन्थ है। इन्द्रभूति गणधर चूँकि द्वादशांग श्रुतके रचयिता तथा स्वयं ध्यानके साधक थे, अतएव ग्रन्थकार इस ध्यानग्रन्थकी रचनाके प्रारम्भमें समस्त श्रुतके पारगामी तथा योग (ध्यान) के साधक ऐसे योगियोंमें अग्रगण्य उन इन्द्रभूति गणधर-को उस ध्यानकी सिद्धिके निमित्त नमस्कार करते हैं ॥६॥

जो सर्वज्ञका शासन—अनेकान्तात्मक मत—अतिशय शान्त, अधिक गम्भीर, समस्त विद्याओंका कुलगृह, भव्य जीवोंके लिए शरणभूत और लक्ष्मीसे सम्पन्न है, वह जयवन्त रहे। विशेषार्थ—यहाँ ग्रन्थकारने वीतराग सर्वज्ञके द्वारा प्ररूपित जैन शासनके चिरकाल तक जीवित रहनेकी भावना व्यक्त की है। कारण इसका यह है कि वह सर्वज्ञ और वीतराग-के द्वारा प्ररूपित होनेसे यथार्थताको प्राप्त होता हुआ भव्य जीवोंको शान्ति प्रदान करनेवाला

१. P इन्द्रभूतिं = गौतमस्वामिनं । २. N ज्ञानसिद्धये । ३. M N कुलं गृहं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

. CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

8) प्रबोधाय विवेकाय हिताय प्रशमाय च ।
सम्यक्तत्त्वोपदेशाय सतां सूक्तिः प्रवर्तते ॥८

9) तच्छ्रुतं तच्च विज्ञानं तद्ध्यानं तत्परं तपः ।
अयमात्मा यदासाद्य स्वस्वरूपे लयं व्रजेत् ॥९

विश्वविद्याकुलगृहम् । विश्वे जगति विद्याः सम्यग्दर्शनादिप्रतिपादकानि शास्त्राणि, तेषां कुलगृहमिव कुलगृहम् । पुनः किंविशिष्टम् । भव्या मोक्षगमनयोग्याः, तेषाम् एकम् अद्वितीयं शरणं त्राणमित्यर्थः ॥७॥ अथ जिनशासनवदन्येषां वचःप्रमाणं दर्शयति ।

8) **प्रबोधाय**—सूक्तिः सम्यग्वचः सतां सत्पुरुषाणां प्रबोधाय प्रकर्षज्ञानाय प्रवर्तते । विशेषणात् चकारः पुनरर्थं सर्वत्र योज्यः । चकारात् विवेकाय सदसद्विचाराय । च पुनः । हिताय हितोपदेशाय । च पुनः । प्रशमाय क्रोधाद्यभावाय । च पुनः । सम्यक्तत्त्वानि जीवाजीवादीनि, तेषामुपदेशाय । प्रवर्तते इति क्रियाध्याहारः सर्वत्र योज्यः । इति तात्पर्यार्थः ॥८॥ अथ सर्वतत्त्वानामात्मनः प्राधान्यख्यापनाय तस्य ध्यानं कथयति ।

9) **तच्छ्रुतं तच्च**—अनन्तभावपरिच्छेदकशुद्धबोधरूपे अयम् आत्मा यत् स्वमासाद्य लयं साम्यं व्रजेत् । तदा तदेव श्रुतं द्वादशाङ्गार्थपरिज्ञानम् । च पुनः । तदेव विज्ञानं सकलपदार्थ-

साधारण जनोंके लिए दुरवगाह, व्याकरण-न्यायादि रूप समस्त विद्याओंका साधक तथा अनन्तचतुष्टयस्वरूप लक्ष्मीकी प्राप्तिका कारण है। इसीलिए वही भव्य जीवोंका दुःखसे उद्धार करा सकता है, न कि असर्वज्ञ एवं राग-द्वेष विशिष्ट अन्यके द्वारा प्ररूपित अन्य कोई शासन ॥७॥

सत्पुरुषोंकी सुन्दर वाणी पदार्थोंके विशिष्ट ज्ञान, विवेक, हित, कषायोंकी शान्ति तथा समीचीन तत्त्वोपदेशके लिए होती है। विशेषार्थ—पूर्व श्लोकके द्वारा जो सर्वज्ञशासनके जयवन्त होनेकी भावना व्यक्त की गयी है। उसके कारणको व्यक्त करते हुए यहाँ यह बतलाया है कि सत्पुरुषोंकी वाणीमें यह विशेषता होती है कि उसका मनन करनेसे जीवोंको पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त होता है। वह पदार्थका ज्ञान भी कोरा ज्ञान न रहकर विवेकको—आत्म-परके भेद विज्ञानको—उत्पन्न करता है। कारण कि अनेक विषयोंमें पारंगत हो करके भी यदि विवेकज्ञान नहीं हुआ तो वह ज्ञान व्यर्थ ही होता है। विवेकके होनेपर हितमें प्रवृत्ति करना आवश्यक है, अन्यथा वह विवेक भी कुछ कार्यकारी नहीं होता। वह सन्तोंकी वाणी विवेकको उत्पन्न करके प्राणीको आत्महितमें प्रवृत्त करती है। इस प्रकारसे जो जीव आत्महितमें प्रवृत्त होता है उसकी कषायें उपशान्त हो जाती हैं और तब वह यथार्थ वस्तुस्वरूपके उपदेशका अधिकारी होता है। प्रकृत श्लोकसे यह भी भाव प्रगट होता है कि प्रस्तुत ज्ञानार्णव ग्रन्थ परम्परासे प्राप्त उस सर्वज्ञकी ही वाणी है, अतएव इससे भी उक्त पाँचों प्रयोजन—प्रबोध, विवेक, हित, प्रशम और सम्यक् तत्त्वोपदेश—सिद्ध होनेवाले हैं ॥८॥

जिसको प्राप्त करके यह जीव आत्मस्वरूपमें लीन होता है उसे ही यथार्थ श्रुत, उसे ही विज्ञान, उसे ही ध्यान और उसे ही उत्कृष्ट तप समझना चाहिए। विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि श्रुत, विज्ञान, ध्यान और तप इन सबका प्रयोजन आत्मस्वरूपमें लीन होना ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

10) दुरन्तं[1]दुरिताक्रान्तं निःसारमतिवञ्चकम् ।
जन्म विज्ञाय कः स्वार्थे मुह्यत्यङ्गी सचेतनः ॥१०

11) अविद्याप्रसरोद्भूतग्रहनिग्रह[2]कोविदम्[3] ।
ज्ञानार्णवमिमं[4] वक्ष्ये सतामानन्दमन्दिरम् ॥११

परिज्ञानम् । तदेव ध्यानं पिण्डस्थपदस्थादिरूपम् । तदेव परम् उत्कृष्टं मासद्विमासक्षमणादि तपः इति भावार्थः ॥९॥ एतदात्मस्वरूपपरिज्ञानं विना जीवो मोहं यातीत्यतः तदेव दर्शयति ।

10) **दुरन्त**—सचेतनो अङ्गी प्राणी कः स्वार्थे पुत्रकलत्रद्रव्यादिप्रयोजने विज्ञाय मुह्यति । अपि तु न को ऽपि । जन्म चतुर्गतिसंसारे उत्पत्तिं विज्ञाय विशेषेण ज्ञात्वा । कथंभूतं जन्म । दुरन्तानि दुष्टान्तकानि यानि दुरितानि पापानि, तैराक्रान्तं व्याप्तम् । पुनः कथंभूतं जन्म । निःसारं निर्गतः सारः परमार्थो यस्मात् तन्निःसारम् । पुनः कथंभूतं जन्म । अतिवञ्चकम् । सम्यग्दर्शनादिधर्मबन्धकमित्यर्थः ॥१०॥ अथ प्रकृतशास्त्रप्रारम्भः क्रियते ।

11) **अविद्याप्रसरोद्भूत**—अहं शुभचन्द्राचार्यं इमं ज्ञानार्णवशास्त्रं वक्ष्ये कथयामि । कथंभूतं ज्ञानार्णवशास्त्रम् । सतामानन्दमन्दिरम् । सतां सत्पुरुषाणाम् आनन्दमन्दिरं गृहम् । पुनः कीदृशम् । अविद्याप्रसरोद्भूतः उत्पन्नः ग्रहः कदाग्रहः, तस्य निग्रहे नाशे कोविदं पण्डितम् ॥११॥ स्वगर्वपरिहारं करोति ग्रन्थकर्ता ।

है । इनमें प्रवृत्त हो करके भी जो जीव आत्मस्वरूपमें लीन नहीं होता है उसके लिए वे सब व्यर्थ ही ठहरते हैं ॥९॥

जन्मस्वरूप यह संसार बहुत कष्टसे नष्ट होनेवाला, पापसे व्याप्त, साररहित और अतिशय धोखा देनेवाला है । इसके स्वरूपको जानकर भला ऐसा कौन सचेतन प्राणी है जो आत्मप्रयोजनमें मोहको प्राप्त होता है ? अभिप्राय यह है कि जो इस संसारके स्वभावको जान करके भी आत्महितमें प्रवृत्त नहीं होता है उसे जड़ जैसा ही समझना चाहिए ॥१०॥

मैं ज्ञानके समुद्रस्वरूप उस ज्ञानार्णव ग्रन्थको कहूँगा जो कि अविद्याके विस्तारसे उत्पन्न हुए दुराग्रहके नष्ट करनेमें दक्ष एवं सत्पुरुषोंके आनन्दका स्थान है । विशेषार्थ—यहाँ ग्रन्थकार ज्ञानार्णव ग्रन्थके रचनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसकी उपादेयताको प्रगट करते हैं । वे कहते हैं कि जिस ग्रन्थको मैं रचना चाहता हूँ वह दर्शन मोहनीयके उदयजनित मिथ्यादर्शन के अविनाभावी मिथ्याज्ञानके वशीभूत हुए प्राणियोंके एकान्त पक्षको नष्ट करनेवाला है । यह मिथ्यात्व गृहीत और अगृहीतके भेदसे दो प्रकारका है । इनमें जीवके उपदेशादिके बिना जो अनादि कालसे अतत्त्वश्रद्धान होता है उसका नाम अगृहीत मिथ्यात्व है । यह जीवके जब तक रहता है तब तक वह दुराग्रहके वशीभूत होकर आत्महितके साधनभूत उत्तम ध्यानादिमें प्रवृत्त नहीं होता है । दूसरोंके मिथ्या उपदेशको पाकर जो जीवके तत्त्वका विपरीत श्रद्धान होता है उसे गृहीत मिथ्यात्व कहा जाता है । इसके वशीभूत हुआ प्राणी दुराग्रही बनता है ।

१. Y दुरन्तं । २. B J विग्रह । ३. T कोविदः । ४. Y °मिदं वक्ष्ये ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

12) अपि तीर्येत बाहुभ्यामपारो मकरालयः ।
न पुनः शक्यते वक्तुं मद्विधैर्योगिरञ्जकम् ॥१२
13) महामतिभिर्निःशेषसिद्धान्तपथपारगैः[1] ।
क्रियते यत्र दिग्मोहस्तत्र[2] को ऽन्यः प्रसर्पति[3] ॥१३ अन्यच्च[4]—
14) समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः ।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः॥१४

---

12) **अपि तीर्येत**—मद्विधैर्योगिरञ्जकं वक्तुं कथयितुं न शक्यते। पुनः पादपूरणे। बाहुभ्यां मकरालयः समुद्रः तीर्येत। अपि पक्षान्तरे। कथंभूतो मकरालयः। अपारः पाररहितः, इति श्लोकार्थः ॥१२॥ आत्मव्यतिरिक्तपण्डितानां महत्त्वं दर्शयति।

13) **महामतिभिः**—तत्र शास्त्रकथनेऽस्मादृशः कथं प्रवर्तन्ते। न कथमपीति भावः। यत्र ज्ञानार्णवे महामतिभिः पण्डितैः सिद्धान्तपारंगतैः दृङ्मोह इदं भवति वा न वा इति क्रियते। इति श्लोकार्थः ॥१३॥ अथ सकलशास्त्रज्ञसमन्तभद्रादिकानां गुणं स्तौति।

14) **समन्तभद्रादि**—यत्र शास्त्रार्थपरिज्ञाने समन्तभद्रादिकवीन्द्रसूर्याणाम् अमलसुभाषितकिरणाः स्फुरन्ति, तत्र जना मद्विधा खद्योतवत् हास्यतां किं न व्रजन्ति। अपि तु व्रजन्त्येव। कथंभूता जनाः। ज्ञानलवोद्धताः ज्ञानलवादहंकारिणः। इति सूत्रार्थः ॥१४॥ तदनन्तरं देवनन्दिनं नमस्यति।

वह कथंचित् सत्-असत्, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद एवं शुद्ध-अशुद्ध आदि अनेक धर्मात्मक वस्तुको उस रूप न मानकर सर्वथा एकान्तरूप ही ग्रहण करता है। इससे जो उसके आर्त व रौद्र ध्यान होता है उसके कारण उसे धर्म व शुक्ल रूप समीचीन ध्यानकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसीलिए यहाँ यह स्पष्ट कर दिया है कि यह ज्ञानार्णव ग्रन्थ उनके उपर्युक्त दुराग्रहको नष्ट करके उन्हें समीचीन ध्यानमें प्रवृत्त करेगा। इस प्रकारसे यह ग्रन्थ उनके संसार तापको नष्ट करके उन्हें यथार्थ सुखकी प्राप्तिका साधन होगा ॥११॥

कदाचित् दोनों भुजाओंसे तैरकर अपार समुद्रको पार किया जा सकता है, परन्तु मुझ जैसे मन्दबुद्धि जन योगीजनको अनुरंजित करनेवाले इस ज्ञानार्णव ग्रन्थको नहीं कह सकते हैं ॥१२॥

जिस ज्ञानार्णवकी रचनामें अतिशय बुद्धिमान् व परमागमके पथके पार पहुँचे हुए बहुश्रुत विद्वान् भी दिशाभ्रमको प्राप्त होते हैं वहाँ अन्य अल्पज्ञ कौन चल सकता है? नहीं चल सकता है ॥१३॥

जहाँ स्वामी समन्तभद्र आदि बड़े-बड़े कवियोंरूप सूर्योंकी निर्दोष सूक्ति (सुभाषित) रूप किरणें प्रकाशमान हैं वहाँ थोड़े-से ज्ञानपर गर्वको प्राप्त हुए दूसरे जन क्या जुगनूके समान हँसीके भाजन नहीं बनेंगे? अवश्य बनेंगे ॥१४॥

---

१. N पदपारगैः। २. B दृग्मोहः। ३. F B C J प्रवर्तते। ४. Only in P M X Y अन्यच्च।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

15) अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसंभवम् ।
कलङ्कमङ्गिनां सो ऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥१५

16) जयन्ति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिताः ।
योगिभिर्याः[1] समासाद्य स्खलितं नात्मनिश्चये ॥१६

17) श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती ।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥१७

18) भवप्रभवदुर्वारक्लेशसंपातशङ्कितः[2] ।
योजयाम्यहमात्मानं पथि योगीन्द्रसेविते ॥१८

15) अपाकुर्वन्ति—देवनन्दी नामाचार्यो नमस्यते। यद्वाचः कलङ्कम् अङ्गिनां प्राणिनाम् अपाकुर्वन्ति तिरस्कुर्वन्ति। कथंभूतं कलङ्कम्। कायवाक्चित्तेभ्यो जातम् ॥१५॥ तदनन्तरं जिनसेनं नमति।

16) जयन्ति—जिनसेनस्य वाचः जयन्ति । कथंभूता वाचः। त्रैविद्यवन्दिताः, त्रयाणां विदां समाहारः त्रैविदी, तस्या भावः त्रैविद्यं तेन वन्दिताः। लक्षणसाहित्यतर्कवेदिभिर्वन्दिता मनोवाक्कायैर्नमस्कृता वा । योगिभिर्या वाचः समासाद्य प्राप्य आत्मनिश्चये आत्मानुभवे न स्खलितं न व्यपस्थितम् ॥१६॥ तदनन्तरमकलङ्काचार्यं नमस्करोति।

17) श्रीमद्भट्टाकलङ्क—श्रीमान् यो भट्टाकलङ्कः अकलङ्काचार्यः तस्य पुण्या पवित्रा सा सरस्वती वाणी पातु रक्षतु। व इति गम्यम्। यया सरस्वत्या अनेकान्तः स्याद्वादः एव मरुतां देवानां मार्गो व्योम, तत्र चन्द्रलेखायितं, चन्द्रलेखा इवाचरितमित्यर्थः ॥१७॥ अथात्मानं पूर्वंध्यानपथि स्थापयति।

18) भवप्रभव—अहमात्मानं पथि वक्ष्यमाणे मोक्षमार्गे योजयामि। कथंभूते पथि। योगीन्द्रसेविते। कथंभूतोऽहम्। भवः संसारः, तस्मात् प्रभव उत्पन्नः दुर्वारक्लेशसंघातः तेन शङ्कितः। इति श्लोकार्थः ॥१८॥ अथ कृतशास्त्रस्य परोपकारत्वं दर्शयति।

जिन देवनन्दी (पूज्यपाद) आचार्यके वचन प्राणियोंके शरीर, वचन और मनके निमित्तसे उत्पन्न हुए कलंकको नष्ट करते हैं उनको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१५॥

जिन जिनसेन स्वामीके वचनोंकी वन्दना तीन विद्याओं—सिद्धान्त, न्याय और व्याकरणके ज्ञाता भी करते हैं तथा जिनका आश्रय पाकर योगीजन आत्मस्वरूपसे विचलित नहीं होते हैं वे जिनसेन स्वामीके वचन जयवंत होते हैं ॥१६॥

जो श्रीमान् भट्टारक अकलंकदेवकी पवित्र वाणी अनेकान्तरूप आकाशमें चन्द्रकी रेखाके समान शोभायमान होती है वह हमें पवित्र करें ॥१७॥

जन्म-मरणरूप संसारमें परिभ्रमण करते हुए जो दुर्निवार कष्ट हुआ है उसके आ पड़नेसे भयभीत होकर मैं अपने आपको महान् ऋषियोंके द्वारा आराधित पथमें—मोक्ष अथवा ध्यानके मार्गमें संयोजित करता हूँ ॥१८॥

१. L S V B C R योगिभिर्यत् । २. M N संतापशङ्कितः । B J संघातशंकितः । T संपातपीडितं । X संपातपीडितः । L S V C R संतापपीडितं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

19) न कवित्वाभिमानेन न कीर्तिप्रसरेच्छया ।
कृतिः किं तु मदीयेयं स्वबोधायैव केवलम् ॥१९

20) अयं जागर्ति मोक्षाय वेत्ति विद्यां भ्रमं त्यजेत् ।
आदत्ते शमसाम्राज्यं स्वतत्त्वाभिमुखीकृतः ॥२० किं च-[1]

21) न हि केनाप्युपायेन जन्मजातङ्कसंभवा ।
विषयेषु महातृष्णा पश्य पुंसां प्रशाम्यति ॥२१

22) तस्याः प्रशान्तये पूज्यैः प्रतीकारः प्रदर्शितः ।
जगज्जन्तूपकाराय तस्मिन्नस्यावधीरणा[2] ॥२२

---

19) न कवित्वाभि—इयं मदीया कृतिः शास्त्रं केवलं किंतु स्वबोधायैव स्वज्ञानायैव भवति। कवित्वाभिमानेन कृतिर्न वर्तते । क्रियाध्याहारः पदद्वये योज्यः । पुनः कीर्तिप्रसरेच्छयापि न, इति तात्पर्यार्थः ॥१९॥ अथात्मस्वरूपाभिमुखी मुक्तस्तदेव दर्शयति ।

20) अयं जागर्ति—अयमात्मा स्वतत्त्वाभिमुखीकृतः संमुखीकृतः मोक्षाय जागर्ति । पुनस्तादृशः सन् विद्यां ज्ञानं वेत्ति । पुनः स्वतत्त्वाभिमुखीकृतः भ्रमं मिथ्याज्ञानं त्यजेत् । पुनस्तादृशः सन् शमसाम्राज्यं उपशमसौराज्यम् आदत्ते गृह्णाति ॥२०॥ अथ तृष्णाया दुःसाध्यत्वमाह । किं च ।

21) न हि—कश्चित् कंचन वक्ति । भो त्वं पश्य । पुंसां महातृष्णा विषयेषु केनाप्युपायेन न प्रशाम्यति । कथंभूता महातृष्णा । जन्मजातङ्कसंभवा । जन्मजो योऽसौ आतङ्कः तस्मात् संभवा उत्पन्ना ॥२१॥ यस्याः पूर्वाचार्योक्तं प्रतीकारमाह ।

22) तस्याः प्रशान्तये—तस्याः तृष्णायाः प्रशान्तये उपशमाय पूज्यैरकलङ्काचार्यैः सर्वज्ञैर्वा प्रतीकारः प्रकर्षेण दर्शितः । किमर्थम् । जगज्जन्तूपकाराय । जगज्जनहिताय । तस्मिन् प्रतीकारे

मैं जो यह ज्ञानार्णवकी रचना कर रहा हूँ वह न तो कवित्वशक्तिके अभिमानवश कर रहा हूँ और न कीर्तिके विस्तारकी इच्छासे भी कर रहा हूँ, किन्तु केवल अपने आत्मबोधके लिए ही कर रहा हूँ ॥१९॥

इसका कारण यह है कि आत्मस्वरूपके अभिमुख किया गया यह जीव मोक्षके लिए जागता रहता है—उसकी ओर निरन्तर ध्यान रहता है, वह भ्रमको छोड़कर विद्याको जानता है—विपरीत अभिनिवेशको छोड़कर सम्यग्ज्ञानको प्राप्त कर लेता है, तथा शान्तिरूप साम्राज्यको ग्रहण करता है ॥२०॥

इसके अतिरिक्त, देखो ! जीवोंकी संसाररूप संतापसे जो इन्द्रियविषयोंमें महती तृष्णा—अतिशय आसक्ति उत्पन्न होती है वह अन्य किसी भी उपायसे शान्त नहीं हो सकती है ॥२१॥

उक्त तृष्णाको शान्त करनेके लिए संसारी जीवोंके उपकारार्थ पूज्य पुरुषोंने—जिनेन्द्र एवं गणधरादिने—प्रतीकार बतलाया है उसके विषयमें इस जीवकी अनादरबुद्धि रहती है ॥२२॥

---

१. Only in P M F X Y किं च । २. B J °वधारणा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

23) अनुद्विग्नैस्तथाप्यस्य[1] स्वरूपं बन्धमोक्षयोः ।
कीर्त्यते येन निर्वेदपदवीमधिरोहति ॥२३

24) निरूप्य च स[2] को ऽप्युच्चैरुपदेशो ऽस्य दीयते ।
येनादत्ते[3] परां शुद्धिं तथा त्यजति दुर्मतिम्[4] ॥२४

25) अहो सति जगत्पूज्ये लोकद्वयविशुद्धिदे ।
ज्ञानशास्त्रे सुधीः कः स्वमसच्छास्त्रैर्विडम्बयेत्[5] ॥२५

अस्य जन्तोरवधीरणा अवगणना वर्तते इति भावार्थः ॥२२॥ अथात्मनो बन्धमोक्षयोः स्वरूपं निरूपयति ।

23) **अनुद्विग्नैस्तथा**—तथापि अनुद्विग्नैः स्वस्थचित्तैराचार्यैः बन्धमोक्षयोः स्वरूपं कीर्त्यते कथ्यते। येन स्वरूपेण आत्मा निर्वेदपदवीं वैराग्यपदवीमधिरोहतीत्यर्थः ॥२३॥ अथात्मनः स्वरूपनिरूपणाय उत्तमोपदेशो जायते तमेवाह ।

24) **निरूप्य च स**—च पुनः। तत्स्वरूपं निरूप्यास्यात्मनः स को ऽप्युपदेशः उच्चैर्यथा स्यात्तथा दीयते। येनोपदेशेन परां प्रकृष्टां शुद्धिमादत्ते गृह्णाति। तथा दुर्मतिं मिथ्यामतिं त्यजति, दूरीकरोति इति भावार्थः ॥२४॥ अथ ज्ञानशास्त्रकथनद्वारा असच्छास्त्रविडम्बनो [नामु] पदिशति ।

25) **अहो सति**—अहो आश्चर्ये। कः सुधीः पण्डितः ज्ञानशास्त्रे सति विद्यमाने स्वमात्मानमसच्छास्त्रैर्विडम्बयेत्। कथंभूते ज्ञानशास्त्रे। जगत्पूज्ये, जगतां पूज्ये मान्ये। पुनः कथंभूते। लोकद्वयविशुद्धिदे। लोकद्वयस्य इहलोकपरलोकस्य विशुद्धिं ददातीति लोकद्वयविशुद्धिदे इति भावार्थः ॥२५॥ अथासच्छास्त्रप्ररूपकानामपायं दर्शयति ।

तब भी वे उद्विग्न (खिन्न) न होकर उसे बन्ध और मोक्षके स्वरूपको बतलाते ही हैं, जिसके कि आश्रयसे वह वैराग्यरूप पदवीपर आरूढ़ होता है—संसार, शरीर एवं भोगोंसे विरक्त होता है ॥२३॥

यह देखकर उसके लिए वह कोई उत्तम उपदेश दिया जाता है कि जिसके द्वारा वह उत्कृष्ट शुद्धिको ग्रहण करता है और दुर्बुद्धिको छोड़ देता है ॥२४॥

आश्चर्य है कि विश्वके द्वारा पूजने योग्य व दोनों लोकोंमें विशुद्धिको देनेवाले ऐसे ज्ञानशास्त्र (समीचीन शास्त्र) के होनेपर कौन-सा ऐसा बुद्धिमान् है जो अपने आपको असमीचीन (मिथ्या) शास्त्रोंके द्वारा प्रतारित करेगा ? अर्थात् यथार्थ शास्त्रके होनेपर भी जो मिथ्या शास्त्रोंको पढ़कर आत्मवंचना करता है उसे मूर्ख ही समझना चाहिए ॥२५॥

---

१. P अस्य = जगतः । २. L F X निरूप्य स च, S T V C R निरूप्य सच्च । ३. B J यथा दत्ते । ४. T दुर्मतिः । ५. N असच्छास्त्रे विड° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

26) असच्छास्त्रप्रणेतारः प्रज्ञालवमदोद्धताः ।
सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे कवयः स्वान्यवञ्चकाः ॥२६

27) स्वतत्त्वविमुखैर्मूढैः कीर्तिमात्रानुरञ्जितैः ।
कुशास्त्रच्छद्मना लोको वराको व्याकुलीकृतः ॥२७

28) अधीतैर्वा श्रुतैर्ज्ञातैः कुशास्त्रैः किं प्रयोजनम् ।
यैर्मनः क्षिप्यते क्षिप्रं दुरन्ते मोहसागरे ॥२८

29) क्षणं कर्णामृतं सूते कार्यशून्यं सतामपि ।
कुशास्त्रं तनुते पश्चादविद्यागरविक्रियम् ॥२९

---

26) **असच्छास्त्रप्रणेतारः**—च पुनः । केचित् कवयः भूपृष्ठे भूमण्डले स्वान्यवञ्चकाः स्वस्य अन्यस्य च वञ्चकाः सन्ति । कथंभूताः कवयः । असच्छास्त्रप्रणेतारः असम्यक्शास्त्रकथकाः । पुनः कथंभूताः । प्रज्ञालवमदोद्धताः, बुद्धिलवाभिमानिन इत्यर्थः ॥२६॥ अथासच्छास्त्रप्ररूपकैर्लोको वञ्च्यते तदेव दर्शयति ।

27) **स्वतत्त्वविमुखैः**—मूढैर्मूर्खैर्लोको वराको व्याकुलीकृतः । केन । कुशास्त्रस्य छद्मना कुत्सितग्रन्थकपटेन । कथंभूतैर्मूढैः । स्वतत्त्वविमुखैरात्मतत्त्वपराङ्मुखैः । पुनः कथंभूतैः । कीर्तिमात्रानुरञ्जितैरित्यर्थः ॥२७॥ अथ कुशास्त्रपठनात् संसारे परिभ्रमति तदेव दर्शयति ।

28) **अधीतैर्वा श्रुतैः**—कुशास्त्रैः कुत्सितशास्त्रैरधीतैः पठितैर्वा । अथवा श्रुतैः श्रवणं गतैः ज्ञातैरवगतैरेवंभूतैः शास्त्रैः किं प्रयोजनम् । यैः कुशास्त्रैः क्षिप्रं शीघ्रं मनः क्षिप्यतेऽस्मिन् मोहसागरे मोहनीयसमुद्रे । कथंभूते । दुरन्ते दुःखप्रापके । इति तात्पर्यार्थः ॥२८॥ अथ कुशास्त्रं क्षणेकं सुखदायि सत्पुरुषाणां कर्णयोरमृतमिव तदेवाह ।

29) **क्षणं कर्णामृतं**—कार्यशून्यं कार्यरहितं कुशास्त्रं सतां सत्पुरुषाणां क्षणं क्षणमात्रं कर्णयोरमृतं सूते जनयति । तदेव कुशास्त्रं पश्चादविद्या अज्ञानं, तदेव मूर्च्छकत्वात् गरं विषं, तस्य

इस पृथिवीतलपर ऐसे कितने ही कवि हैं जो थोड़े-से ज्ञानको पाकर अभिमानमें चूर होते हुए मिथ्या शास्त्रोंकी रचना करते हैं। ऐसा करके वे दूसरोंको ही धोखा नहीं देते, बल्कि अपने आपको भी धोखा देते हैं—इस प्रकारसे वे स्वयं भी संसारमें परिभ्रमण करते हुए दुःख सहते हैं तथा दूसरोंके भी उस संसारपरिभ्रमणके कारण होते हैं ॥२६॥

जो कवि आत्मतत्त्वसे विमुख होकर केवल कीर्तिमें अनुराग रखनेसे मिथ्या शास्त्रोंकी रचना करते हैं और उनके छलसे बेचारे भोले-भाले प्राणियोंको व्याकुल करते हैं उन्हें मूर्ख समझना चाहिए ॥२७॥

जिन शास्त्रोंके पढ़ने अथवा जाननेसे मन शीघ्र ही दुर्विनाश मोहरूप समुद्रमें फेंका जाता है उन कुशास्त्रोंसे भला क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? अभिप्राय यह है कि जिन शास्त्रोंके पढ़ने-सुननेसे मनमें मोह उत्पन्न होता है उन्हें कुशास्त्र समझना चाहिए । उनसे जीवका कुछ भी आत्महित होनेवाला नहीं है ॥२८॥

मिथ्या शास्त्र प्रथमतः आत्मप्रयोजनसे रहित सत्पुरुषोंके भी कानोंमें क्षणभरके लिए अमृतको उत्पन्न करता है, परन्तु वही पीछे अज्ञानतारूप विषके विकारको उत्पन्न करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

30) अज्ञानजनितश्चित्रं न विद्मः को ऽप्ययं ग्रहः ।
उपदेशशतेनापि यः पुंसां नापसर्पति[1] ॥३०

31) सम्यग्निरूप्य सद्वृत्तैर्विद्वद्भिर्वीतमत्सरैः ।
अत्र मृग्या गुणा दोषाः समाधाय मनः क्षणम् ॥३१ किं च[2]—

32) स्वसिद्ध्यर्थं प्रवृत्तानां सतामप्यत्र[3] दुर्धियः ।
द्वेषबुद्ध्या प्रवर्तन्ते केचिज्जगति जन्तवः ॥३२

विक्रिया विकारः यस्मिन् तत् अविद्यागरविक्रियम् इति भावार्थः ॥२९॥ अथाज्ञानोत्पन्नकदाग्रहः कथमपि न नश्यति तदेवाह ।

30) **अज्ञानजनितः**—चित्रमाश्चर्यम् । वयं न विद्मः न जानीमहे । अयं को ऽपि अज्ञानजनितः कदाग्रहो ऽस्ति । यः कदाग्रहः उपदेशशतेनापि पुंसां नापसर्पति नापगच्छति इति तात्पर्यार्थः ॥३०॥ अथात्र पण्डितैर्गुणदोषा विचार्या तदेवाह ।

31) **सम्यङ् निरूप्य**—अत्र ग्रन्थे गुणा दोषा मृग्याः विचार्याः । किं कृत्वा । क्षणं क्षणमात्रं मनः समाधाय समाधौ विधाय । कथंभूतैर्विद्वद्भिः । वीतो गतो मत्सरो येभ्यः ते तथा तैः । पुनः कीदृशैः । सद्वृत्तैः सदाचारैः । किं कृत्वा । सम्यङ् निरूप्य कथयित्वा इति भावार्थः ॥३१॥ अथ स्वहितासक्तसत्पुरुषाणां दुर्बुद्धेर्द्वेषप्रवृत्तिमाह । किं च ।

32) **स्वसिद्ध्यर्थं**—केचिज्जन्तवा जीवा जगति संसारे द्वेषबुद्ध्या क्रोधमतया प्रवर्तन्ते । केषाम् । सतां सत्पुरुषाणाम् । अत्र स्वसिद्ध्यर्थं स्वप्रयोजनाय प्रवृत्तानामपि । कीदृशाः जन्तवः । दुर्धियः दुष्टमतिकाः । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ वस्तुगुणदोषविचारकानाह ।

तात्पर्य यह कि मिथ्या शास्त्र यद्यपि कभी-कभी सुनते समय क्षणभरके लिए सज्जनोंके भी मनको मुग्ध करता है, परन्तु परिणाममें वह विषके समान सन्तापजनक ही होता है ॥२९॥

आश्चर्य है कि अज्ञानसे उत्पन्न हुआ यह ऐसा कोई ग्रह (पिशाच) है जिसे हम नहीं जानते हैं और जो सैकड़ों उपदेशोंके द्वारा भी पुरुषोंका पिण्ड नहीं छोड़ता है। तात्पर्य यह कि मिथ्या शास्त्रोंको पढ़-सुनकर जो मिथ्यात्वरूप पिशाच प्रगट होता है उससे पीड़ित होकर प्राणी सैकड़ों सदुपदेशोंको भी पाकर आत्महितमें नहीं लग पाता ॥३०॥

मात्सर्यभावसे रहित जो सदाचारी विद्वान् हैं उन्हें भले प्रकार देखकर क्षणभरके लिए मनके समाधानपूर्वक इस शास्त्रमें गुण और दोषोंको खोजना चाहिए। अभिप्राय यह है कि यह जो शास्त्र रचा जा रहा है उसके विषयमें विद्वान् गुण और दोषोंको खोजते हुए मात्सर्यभावका परित्याग अवश्य करें, अन्यथा गुण और दोषोंकी यथार्थ प्रतीति होना सम्भव नहीं है ॥३१॥

दूसरे, संसारमें कुछ ऐसे भी दुर्बुद्धिजन हैं जो आत्मसिद्धिके लिए प्रवृत्त हुए सत्पुरुषों-के प्रति भी यहाँ द्वेषबुद्धिसे प्रवृत्त होते हैं। तात्पर्य यह कि संसारमें कुछ ऐसे दुष्ट भी हैं जो स्वभावसे सज्जनोंके प्रति द्वेषबुद्धि रखकर उनकी निरर्थक निन्दा किया करते हैं ॥३२॥

१. L X नोपसर्पति; M S V C R पुंसामपसर्पति । २. PXY किं च । ३. STVCR सतामपि च ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

33) साक्षाद्वस्तुविचारेषु निकषग्रावसंनिभाः ।
विभजन्ति गुणान् दोषान् धन्याः स्वस्थेन चेतसा ॥३३

34) दूषयन्ति दुराचारा निर्दोषामपि भारतीम् ।
विधुबिम्बश्रियं[1] कोकाः सुधारसमयीमिव ॥३४[2]

35) प्रसादयति शीतांशुः पीडयत्येव भानुमान्[3] ।
निसर्गजनिता[4] मन्ये गुणदोषाः[5] शरीरिणाम् ॥३५

33) साक्षाद्वस्तु—धन्याः पुरुषाः स्वस्थेन चेतसा गुणान् दोषान् विभजन्ति विभागीकुर्वन्ति । कथंभूता धन्याः । साक्षाद्वस्तुविचारेषु निकषग्रावसंनिभाः, कषपट्टसदृशा इत्यर्थः ॥३३॥ अथ शुद्धवाग्दूषकाणां दुराचारत्वमाह ।

34) दूषयन्ति दुराचारा—केचन दुराचारा दुष्टाचारा निर्दोषामपि भारतीं सरस्वतीं दूषयन्ति । इव उत्प्रेक्षते । कोकाः चक्रवाकाः सुधारसमयीम् अमृतमयीं विधुबिम्बश्रियं चन्द्रमण्डलकलां दूषयन्ति । अप्रयोजकत्वात् दोषं ददातीति तात्पर्यार्थः ॥३४॥ अथ गुणदोषाणां स्वभावजन्यत्वमाह ।

35) प्रसादयति शीतांशुः—अहम् एवं मन्ये । शरीरिणां गुणदोषा निसर्गजनिता स्वभावेनोत्पन्ना भवन्ति । तत्र दृष्टान्तमाह । यथा शीतांशुः चन्द्रः जगत् प्रसादवत् करोति । अंशुमान् सूर्यो जगत् पीडयति, तापवत्त्वेन तापयतीत्यर्थः ॥३५॥ अथात्मशुद्धिमाह ।

साक्षात् वस्तुस्वरूपके विचारमें शाणोपल (सुवर्णपरीक्षणका पाषाण-कसौटी) की समानताको धारण करनेवाले कुछ ऐसे प्रशंसनीय जन भी हैं जो शान्त मनसे गुण और दोषोंका विभाग किया करते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार शाणोपलपर सुवर्णके घसनेसे वह उसके खरे और खोटेपनको बिना किसी प्रकारके पक्षपातके प्रगट कर देता है उसी प्रकार सज्जन पुरुष भी राग और द्वेषबुद्धिको छोड़कर यथार्थमें गुण और दोषोंको प्रगट किया करते हैं ॥३३॥

जिस प्रकार चक्रवाक पक्षी अमृतस्वरूप चन्द्रबिम्बकी लक्ष्मीको दूषित करते हैं—चन्द्रोदयके होनेपर चकवीसे वियुक्त हो जानेके कारण चन्द्रबिम्बको दोष देते हैं—उसी प्रकार दुष्ट जन निर्दोष भी वाणीको सदोष बतलाया करते हैं ॥३४॥

चन्द्रमा प्राणियोंको आह्लादित (प्रमुदित) किया करता है और सूर्य उन्हें सन्तप्त ही किया करता है। इससे मैं ऐसा समझता हूँ कि प्राणियोंके गुण और दोष स्वभावसे उत्पन्न हुआ करते हैं। विशेषार्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा स्वभावसे अपनी चाँदनीके द्वारा जनोंको आनन्दित किया करता है उसी प्रकार सूर्य स्वभावसे अपनी तीक्ष्ण किरणोंके द्वारा उन्हें सन्ताप दिया करता है। इससे पता चलता है कि सज्जनमें गुणग्रहणकी भावना और

१. T विधुमिव । २. S T V C X R Verses 34-35 interchanged । ३. All others, except P, पीडयत्यंशुमान् जगत् । ४. P M N जनितान् । ५. X Y गुणा दोषाः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

36) अयमात्मा महामोहकलङ्की येन शुध्यति ।
तदेव स्वहितं धाम तच्च ज्योतिः[1] परं मतम् ॥३६

37) विलोक्य भुवनं भीमयमभोगीन्द्रशङ्कितम् ।
अविद्याव्रजमुच्छिद्य[2] धन्या ध्याने लयं गताः ॥३७

38) जन्मजानन्त[3]दुर्वारमहाव्यसनपीडितम् ।
जन्तुजातमिदं वीक्ष्य योगिनः प्रशमं गताः ॥३८[4]

---

36) अयमात्मा—अयं महामोहकलङ्की आत्मा येन केनचित् शुध्यति । तदेवात्मनः स्वहितम् । तदेव धाम तेजः । च पुनः, तदेव ज्योतिः । तदेव परं प्रकृष्टं मतमभिमतं भवतीति तात्पर्यार्थः ॥३६॥ अथ ध्यानमाहात्म्यमाह ।

37) विलोक्य भुवनं—ते धन्याः, ये ध्याने लयं गताः, ध्यानमया जाताः । किं कृत्वा । अविद्या मिथ्याज्ञानं, तस्य व्रजं समूहं उत्सृज्य त्यक्त्वा । पुनः किं कृत्वा । भुवनं जगत्, भीमयमभोगीन्द्रशङ्कितं रौद्रमृत्युनागेन्द्रशङ्कितं विलोक्येति तात्पर्यार्थः ॥३७॥ अथ दुःखार्णवस्वरूपं ज्ञात्वा बुधैर्विरतमित्याह ।

38) जन्मजानन्त—इदं जन्तुजातं प्राणिसमूहं वीक्ष्य विलोक्य प्रशममुपशमं गताः प्राप्ताः । कथंभूतं जन्तुजातम् । जन्मजानन्तदुर्वारमहाव्यसनपीडितम् । जन्मजानि अनन्तानि दुर्वाराणि महाव्यसनानि तैः पीडितमित्यर्थः ॥३८॥ अथ जगति योगिप्रभावमाह ।

दुर्जनमें दोषग्रहणकी भावना स्वभावसे ही हुआ करती है। जैसे आचार्य वीरनन्दीने भी कहा है—'गुणानगृह्णन् सुजनो न निर्वृतिं प्रयाति दोषानवदन्न दुर्जनः । चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः ॥' चन्द्रप्रभ० १-७ ॥३५॥

जिस तेजके द्वारा महान् मोहसे मलिन यह आत्मा शुद्धिको प्राप्त होता है वही तेज वस्तुतः अपना हित करनेवाला है और उसे ही परं ज्योति (अनन्त ज्ञान स्वरूप उत्कृष्ट प्रकाश) माना जाता है ॥३६॥

जो महापुरुष विश्वको भयानक यम (मृत्यु) रूप सर्पसे भयभीत देखकर अविद्यासमूहका—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका—परित्याग करते हुए ध्यानमें लीन हुए हैं वे धन्य हैं—अतिशय प्रशंसाके पात्र हैं ॥३७॥

योगी जन इस प्राणिसमूहको जन्मसमयसे ही उत्पन्न हुए तथा निवारणके लिए अशक्य ऐसे महा व्यसनसे—अतिशय विपत्ति या पापसे—पीड़ित देखकर शान्तिको प्राप्त हुए हैं—राग-द्वेषको छोड़कर आत्मस्वरूपमें मग्न हुए हैं ॥३८॥

---

१. F J तत्त्वज्योतिः । २. All others except P व्रजमुत्सृज्य । ३. S T F V B C X R जन्मजातङ्क । ४. Others except P M N L interchange 38-39 ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

39) हृषीकराक्षसाक्रान्तं स्मरशार्दूलचर्वितम् ।
दुःखार्णवगतं जन्म[1] विवेच्य[2] विरतं बुधैः ॥३९

40) भवभ्रमणविभ्रान्ते[3] मोहनिद्रास्तचेतने ।
एक एव जगत्यस्मिन् योगी जागर्त्यहर्निशम्[4] ॥४०

41) रजस्तमोभिरुद्धूतं कषायविषमूर्छितम् ।
विलोक्य सत्त्वसंतानं सन्तः शान्तिमुपाश्रिताः ॥४१

---

39) **हृषीकराक्षस**—बुधैः पण्डितैः दुःखार्णवगतं दुःखसमुद्रप्राप्तं जन्म विवेच्य विवेकीकृत्य विरतम् । कथंभूतं जन्म । हृषीकराक्षसाक्रान्तम् । हृषीकाणि इन्द्रियाणि, तान्येव राक्षसाः, तैराक्रान्तम् । स्मरशार्दूलचर्वितं कन्दर्पसिंहभक्षितमित्यर्थः ॥३९॥ अथ योगिनां प्रशमहेतुमाह ।

40) **भवभ्रमण**—अस्मिन् जगति अहर्निशम् अहोरात्रम् एक एव योगी जागर्ति । कथंभूते जगति । भवभ्रमणविभ्रान्ते संसारपर्यटनभ्रान्ते । पुनः कथंभूते । मोहनिद्रास्तचेतने मोहस्वापगतचेतने इति तात्पर्यार्थः ॥४०॥ अथैवंभूतं सत्त्वसंघातं दृष्ट्वा सन्तो विरक्तास्तदेवाह ।

41) **रजस्तमोभि**—सन्तः सत्पुरुषाः सत्त्वसंतानं प्राणिसमूहं विलोक्य शान्ति क्रोधाद्यभावम् । उपाश्रिताः प्राप्ताः । कथंभूतं सत्त्वसंतानम् । रजस्तमोभिरुद्धूतं रजोगुणतमोगुणैरुत्थापितैः उत्थापितम् । पुनः कथंभूतं सत्त्वसंतानम् । कषायविषमूर्च्छितमिति सुगमम् ॥४१॥ अथ मुनीनां कृत्यमाह ।

ज्ञानी जन संसारको इन्द्रियरूप राक्षसोंसे व्याप्त, कामरूप सिंहके द्वारा चबाया गया और दुखरूप समुद्रमें मग्न हुआ देखकर उसकी ओरसे विमुख हुए हैं । अभिप्राय यह है कि संसारमें परिभ्रमण करते हुए अज्ञानी जीव इन्द्रियविषयोंमें आसक्त होकर निरन्तर दुख भोगते हैं । उनकी इस दयनीय अवस्थाका विचार कर जिन्हें विवेक बुद्धि उत्पन्न हुई है वे ज्ञानी जीव उन इन्द्रियविषयोंसे विरक्त हुए हैं ॥३९॥

यह लोक जन्म-मरणस्वरूप संसारमें परिभ्रमण करते हुए प्राणियोंको भ्रान्ति उत्पन्न करके मोहरूप नींदके द्वारा उनकी विचारशक्तिको नष्ट करनेवाला है । इसीलिए इसके भीतर स्थित योगीजन दिन-रात जागते रहते हैं—मोहरूप निद्राको छोड़कर आत्मस्वरूपके विषयमें सदा ही प्रबुद्ध रहते हैं ॥४०॥

साधु जन प्राणिसमूहको ज्ञानावरणादिरूप कर्मधूलिसे तथा अज्ञानरूप अन्धकारसे अथवा रजोगुण और तमोगुणसे उत्कट एवं कषायरूप विषसे मूर्छित देखकर शान्तिको प्राप्त हुए हैं—कषायसे रहित हुए हैं ॥४१॥

---

१. S T V C R गतं विश्वं । २. P विविच्य । ३. N विभ्रान्तमोह, Y भ्रमणसंभ्रान्ते । ४. J अहर्निशि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

36) अयमात्मा महामोहकलङ्की येन शुध्यति ।
तदेव स्वहितं धाम तच्च ज्योतिः[1] परं मतम् ॥३६

37) विलोक्य भुवनं भीमयमभोगीन्द्रशङ्कितम् ।
अविद्याव्रजमुच्छिद्य[2] धन्या ध्याने लयं गताः ॥३७

38) जन्मजानन्त[3]दुर्वारमहाव्यसनपीडितम् ।
जन्तुजातमिदं वीक्ष्य योगिनः प्रशमं गताः ॥३८[4]

---

36) **अयमात्मा**—अयं महामोहकलङ्की आत्मा येन केनचित् शुध्यति । तदेवात्मनः स्वहितम् । तदेव धाम तेजः । च पुनः, तदेव ज्योतिः । तदेव परं प्रकृष्टं मतमभिमतं भवतीति तात्पर्यार्थः ॥३६॥ अथ ध्यानमाहात्म्यमाह ।

37) **विलोक्य भुवनं**—ते धन्याः, ये ध्याने लयं गताः, ध्यानमया जाताः । किं कृत्वा । अविद्या मिथ्याज्ञानं, तस्य व्रजं समूहं उत्सृज्य त्यक्त्वा । पुनः किं कृत्वा । भुवनं जगत्, भीमयमभोगीन्द्रशङ्कितं रौद्रमृत्युनागेन्द्रशङ्कितं विलोक्येति तात्पर्यार्थः ॥३७॥ अथ दुःखार्णवस्वरूपं ज्ञात्वा बुधैर्विरतमित्याह ।

38) **जन्मजानन्त**—इदं जन्तुजातं प्राणिसमूहं वीक्ष्य विलोक्य प्रशममुपशमं गताः प्राप्ताः । कथंभूतं जन्तुजातम् । जन्मजानन्तदुर्वारमहाव्यसनपीडितम् । जन्मजानि अनन्तानि दुर्वाराणि महाव्यसनानि तैः पीडितमित्यर्थः ॥३८॥ अथ जगति योगिप्रभावमाह ।

दुर्जनमें दोषग्रहणकी भावना स्वभावसे ही हुआ करती है । जैसे आचार्य वीरनन्दीने भी कहा है—'गुणानगृह्णन् सुजनो न निर्वृतिं प्रयाति दोषानवदन्न दुर्जनः । चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः ॥' चन्द्रप्रभ० १-७ ॥३५॥

जिस तेजके द्वारा महान् मोहसे मलिन यह आत्मा शुद्धिको प्राप्त होता है वही तेज वस्तुतः अपना हित करनेवाला है और उसे ही परं ज्योति (अनन्त ज्ञान स्वरूप उत्कृष्ट प्रकाश) माना जाता है ॥३६॥

जो महापुरुष विश्वको भयानक यम (मृत्यु) रूप सर्पसे भयभीत देखकर अविद्या-समूहका—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका—परित्याग करते हुए ध्यानमें लीन हुए हैं वे धन्य हैं—अतिशय प्रशंसाके पात्र हैं ॥३७॥

योगी जन इस प्राणिसमूहको जन्मसमयसे ही उत्पन्न हुए तथा निवारणके लिए अशक्य ऐसे महा व्यसनसे—अतिशय विपत्ति या पापसे—पीड़ित देखकर शान्तिको प्राप्त हुए हैं—राग-द्वेषको छोड़कर आत्मस्वरूपमें मग्न हुए हैं ॥३८॥

---

१. F J तत्त्वज्योतिः । २. All others except P व्रजमुत्सृज्य । ३. S T F V B C X R जन्मजातङ्क । ४. Others except P M N L interchange 38-39 ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

39) हृषीकराक्षसाक्रान्तं स्मरशार्दूलचर्वितम् ।
दुःखार्णवगतं जन्म[1] विवेच्य[2] विरतं बुधैः ।।३९

40) भवभ्रमणविभ्रान्ते[3] मोहनिद्रास्तचेतने ।
एक एव जगत्यस्मिन् योगी जागर्त्यहर्निशम्[4] ।।४०

41) रजस्तमोभिरुद्धूतं कषायविषमूर्छितम् ।
विलोक्य सत्त्वसंतानं सन्तः शान्तिमुपाश्रिताः ।।४१

---

39) **हृषीकराक्षस**—बुधैः पण्डितैः दुःखार्णवगतं दुःखसमुद्रप्राप्तं जन्म विवेच्य विवेकीकृत्य विरतम् । कथंभूतं जन्म । हृषीकराक्षसाक्रान्तम् । हृषीकाणि इन्द्रियाणि, तान्येव राक्षसाः, तैराक्रान्तम् । स्मरशार्दूलचर्वितं कन्दर्पसिंहभक्षितमित्यर्थः ।।३९।। अथ योगिनां प्रशमहेतुमाह ।

40) **भवभ्रमण**—अस्मिन् जगति अहर्निशम् अहोरात्रम् एक एव योगी जागर्ति । कथंभूते जगति । भवभ्रमणविभ्रान्ते संसारपर्यटनभ्रान्ते । पुनः कथंभूते । मोहनिद्रास्तचेतने मोहस्वापगतचेतने इति तात्पर्यार्थः ।।४०।। अथैवंभूतं सत्त्वसंघातं दृष्ट्वा सन्तो विरक्तास्तदेवाह ।

41) **रजस्तमोभि**—सन्तः सत्पुरुषाः सत्त्वसंतानं प्राणिसमूहं विलोक्य शान्ति क्रोधाद्यभावम् । उपाश्रिताः प्राप्ताः । कथंभूतं सत्त्वसंतानम् । रजस्तमोभिरुद्धूतं रजोगुणतमोगुणैरुत्थापितैः उत्थापितम् । पुनः कथंभूतं सत्त्वसंतानम् । कषायविषमूर्च्छितमिति सुगमम् ।।४१।। अथ मुनीनां कृत्यमाह ।

ज्ञानी जन संसारको इन्द्रियरूप राक्षसोंसे व्याप्त, कामरूप सिंहके द्वारा चबाया गया और दुखरूप समुद्रमें मग्न हुआ देखकर उसकी ओरसे विमुख हुए हैं। अभिप्राय यह है कि संसारमें परिभ्रमण करते हुए अज्ञानी जीव इन्द्रियविषयोंमें आसक्त होकर निरन्तर दुख भोगते हैं। उनकी इस दयनीय अवस्थाका विचार कर जिन्हें विवेक बुद्धि उत्पन्न हुई है वे ज्ञानी जीव उन इन्द्रियविषयोंसे विरक्त हुए हैं ।।३९।।

यह लोक जन्म-मरणस्वरूप संसारमें परिभ्रमण करते हुए प्राणियोंको भ्रान्ति उत्पन्न करके मोहरूप नींदके द्वारा उनकी विचारशक्तिको नष्ट करनेवाला है। इसीलिए इसके भीतर स्थित योगीजन दिन-रात जागते रहते हैं—मोहरूप निद्राको छोड़कर आत्मस्वरूपके विषयमें सदा ही प्रबुद्ध रहते हैं ।।४०।।

साधु जन प्राणिसमूहको ज्ञानावरणादिरूप कर्मधूलिसे तथा अज्ञानरूप अन्धकारसे अथवा रजोगुण और तमोगुणसे उत्कट एवं कषायरूप विषसे मूर्छित देखकर शान्तिको प्राप्त हुए हैं—कषायसे रहित हुए हैं ।।४१।।

---

१. S T V C R गतं विश्वं । २. P विविच्य । ३. N विभ्रान्तमोह; Y भ्रमणसंभ्रान्ते । ४. J अहर्निशि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

42) मुक्तिश्री[1]वक्त्रशीतांशुं द्रष्टुमुत्कण्ठिताशयैः ।
मुनिभिर्मथ्यते साक्षाद्विज्ञानमकरालयः ॥४२

43) उपर्युपरिसंक्रान्त[2]दुःखवह्निक्षतं जगत् ।
वीक्ष्य सन्तः परिप्राप्ता ज्ञानवारिनिधेस्तटम् ॥४३

44) अनादिकालसंलग्ना दुस्त्यजा[3] कर्मकालिका[4] ।
सद्यः प्रक्षीयते येन विधेयं तद्धि धीमताम् ॥४४

42) **मुक्तिश्रीवक्त्र**—मुनिभिः ज्ञानवद्भिः साक्षात्प्रकारेण विज्ञानमकरालयः विशिष्टज्ञानसमुद्रो मथ्यते । पुनः कथंभूतैः । मुक्तिश्रीवक्त्रशीतांशुमिव श्रीमुखचन्द्रं द्रष्टुम् उत्कण्ठिताशयै उत्कमानसैरित्यर्थः ॥४२॥ अथ सतां ज्ञानप्राप्तिहेतुमाह ।

43) **उपर्युपरिसंक्रान्त**—सन्तः सत्पुरुषा एवंभूतं जगद् वीक्ष्य ज्ञानवारिनिधेस्तटं परिप्राप्ताः । कथंभूतं जगत् । उपर्युपरि संक्रान्तः यः दुःखमेव वह्निः, तेन क्षतम् अर्थात् दग्धमित्यर्थः ॥४३॥ अथ कर्मणां दुस्त्यजत्वमाह ।

44) **अनादिकाल**—हि यस्मात् कारणात् । धीमता तद्विधेयं कर्तव्यम् । यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात् । येन कर्मकालिका सद्यः प्रक्षीयते । कथंभूता । अनादिकालः संसर्गो यस्यां सा तथा । पुनः कथंभूता । दुस्त्यजा इति भावार्थः ॥४४॥ अथ मोक्षस्वरूपमाह ।

जिन मुनियोंका मन मुक्तिरूप लक्ष्मीके मुखरूप चन्द्रको देखनेके लि[illegible]कण्ठित हो रहा है वे प्रत्यक्षमें विज्ञानरूप समुद्रको मथा करते हैं । विशेषार्थ—विष्णुपुर[illegible]ाण-ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध है कि दुर्वासा ऋषिके शापसे जब स्वर्गकी लक्ष्मी नष्ट हो गयी थी और देव दानवोंसे पराजित हो गये थे तब विष्णु भगवान्के उपदेशानुसार देवोंने समुद्रका मन्थन किया था । उसमेंसे तब चन्द्र और लक्ष्मी आदि प्रगट हुए थे । इसी कथानकपर दृष्टि रखते हुए यहाँ यह कहा गया है कि मुनिजन लक्ष्मीके समान मुक्तिको प्राप्त करनेके लिए समुद्रके समान गम्भीर ज्ञानका मथन किया करते हैं—निरन्तर श्रुतका परिशीलन किया करते हैं ॥४२॥

यह संसार उत्तरोत्तर आक्रमणको प्राप्त दुखरूप अग्निसे सन्तप्त हो रहा है । उसकी इस अवस्थाको देखकर साधु जन ज्ञानरूप समुद्रके किनारेको प्राप्त हुए हैं । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अग्निके तापसे पीड़ित प्राणी शीतल जलाशयका आश्रय लेते हैं उसी प्रकार संसारके दुखसे सन्तप्त साधुजन ज्ञानरूप जलाशयका आश्रय लेते हैं—श्रुतका परिशीलन करके तदनुसार आचरण करते हुए उस दुखसे छुटकारा पा लेते हैं ॥४३॥

जो कर्मरूपी कालिमा जीवके साथ अनादि कालसे सम्बद्ध होकर बड़े कष्टसे छूटनेवाली है वह जिस अनुष्ठानसे शीघ्र नष्ट की जा सकती है, बुद्धिमान् जनोंको उसीका अनुष्ठान करना चाहिए ॥४४॥

१. M L S F V J R मुक्तिस्त्री । २. L S F V C X Y R संभूत । ३. B J संसर्गाद्दुस्त्यजा । ४. P सलग्नां....दुस्त्यजां....कालिकां ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

45) निष्कलङ्कं निराबाधं सानन्दं स्वस्वभावजम् ।
वदन्ति योगिनो मोक्षं विपक्षं जन्मसंततेः ॥४५

46) जीवितव्ये सुनिःसारे नृजन्मन्यतिदुर्लभे[1] ।
प्रमादपरिहारेण विज्ञेयं स्वहितं नृणाम् ॥४६

47) विचारचतुरैर्धीरै[2]रत्यक्षसुखलालसैः ।
अत्र प्रमादमुत्सृज्य विधेयः परमादरः ॥४७

48) न हि कालकलैकापि विवेकविकलाशयैः ।
अहो प्रज्ञाधनैर्नेया[3] नृजन्मन्यतिदुर्लभे ॥४८

45) निष्कलङ्कं निराबाधं—योगिनः एवंभूतं मोक्षं वदन्ति । कथंभूतम् । निष्कलङ्कं कलङ्करहितम् । पुनः कथंभूतम् । निराबाधं, बाधारहितम् । पुनः कथंभूतम् । सानन्दम् आनन्दसहितम् । पुनः किंविशिष्टम् । स्वस्वभावजम् आत्मचैतन्यसंभवम् । पुनः किंभूतम् । जन्मसंततेः जन्मपरंपरायाः विपक्षं विपरीतम् इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ मनुष्यजन्मनोऽतिदुर्लभत्वमाह ।

46) जीवितव्ये—जन्मनि मनुष्यभवे अतिदुर्लभे प्रमादपरिहारेण नृणां स्वहितं विज्ञेयम् । क्व सति । जीवितव्ये सुनिःसारे सति इति तात्पर्यार्थः ॥४६॥ तत्र विचारचतुराणां कर्तव्यमाह ।

47) विचारचतुरैः—अत्र नृजन्मनि दक्षैः परमादरो विधेयः । किं कृत्वा । प्रमादम् उत्सृज्य त्यक्त्वा । कथंभूतैर्दक्षैः । विचारचतुरैः । पुनः कथंभूतैः । अतिक्रान्तेन्द्रियसुखलम्पटैरित्यर्थः ॥४७॥ अथ प्रज्ञाधनानां कर्तव्यमाह ।

48) न हि काल—अहो इत्याश्चर्ये । अतिदुर्लभे नृजन्मनि प्रज्ञाधनैः एकापि कालकला न हि ज्ञेया । कथंभूतैः । विवेकेन विकलः आशयः येषां ते । तैरित्यर्थः ॥४८॥ अथ संसारस्यानित्यतामाह ।

जन्मपरम्पराका विरोधी मोक्ष है और वह कर्म-कालिमासे रहित, निर्बाध, आनन्दसे परिपूर्ण एवं आत्माके स्वभावसे ही उत्पन्न होनेवाला है, इस प्रकार योगी जन उसका स्वरूप बतलाते हैं ॥४५॥

संसारी प्राणियोंके जीवनमें कुछ भी सार नहीं है। अत एव मनुष्योंका यह कर्तव्य है कि जब उन्हें अतिशय दुर्लभ मनुष्य पर्याय प्राप्त हो गयी है तो वे प्रमादको छोड़कर आत्महितको जानें और उसमें प्रवृत्त हों ॥४६॥

जो अपने हिताहितके विचारमें कुशल, साहसी और अतीन्द्रिय सुखके अभिलाषी हैं उन्हें प्रमादको छोड़कर इस मोक्षके विषयमें अतिशय आदर करना चाहिये ॥४७॥

जो जन बुद्धिरूप धनसे सम्पन्न हैं उन्हें अतिशय दुर्लभ मनुष्यभवको पाकर विवेकसे रहित होते हुए कालकी एक कला (समयका अतिशय सूक्ष्म भाग=तीस काष्ठा) को भी नहीं बिताना चाहिये ॥४८॥

१. P जन्मन्यतिवञ्चके । २. F V B C J Y चतुरैर्दक्षैर० । ३. P F B C J X Y धनैर्ज्ञेया ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

49) [1]भृशं दुःखज्वालानिचयनिचितं जन्मगहनं
यदक्षाधीनं[2] स्यात् सुखमिह तदन्ते ऽतिविरसम् ।
अनित्याः[3] कामार्थाः क्षणरुचिचलं[4] जीवितमिदं
विमृश्यैवं[5] स्वार्थे क इह सुकृती मुह्यति जनः ॥४९[6]

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्यश्रीशुभचन्द्रविरचिते[7]
प्रथमः सर्गः ॥१॥

49) भृशं दुःखज्वाला—इह जगति कः सुकृती जनः एवं विमृश्य विचार्य स्वार्थे मुह्यति । अपि तु न कोऽपि । एवं किम् । जन्मगहनं भृशम् अत्यर्थं दुःखज्वालानां निचयेन निचितं युक्तम् । इह भवे यत्सुखम् अक्षाधीनं स्यात् तत्सुखम् अन्ते प्रान्तेऽतिविरसम् । कामार्था अनित्या भवन्ति । इदं जीवितं क्षणमात्रं चञ्चलं भवतीत्यर्थः ॥४९॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डित-नयविलासेन
साहपासो-तत्पुत्र-साह-टोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहऋषिदासस्वश्रवणार्थं
पण्डित-जिनदासोद्यमेन कारापितः प्रथमः सर्गः ॥१॥

संसार रूप वन अतिशय दुखरूप अग्निकी ज्वालाओंके समूहसे व्याप्त है, यहाँ जो इन्द्रियोंके अधीन सुख है—विषयभोगोंसे उत्पन्न होनेवाला अस्थिर सुख है—वह अन्तमें अतिशय नीरस अर्थात् परिणाममें दुखदायक है, काम और अर्थ ये दोनों पुरुषार्थ अस्थिर हैं तथा यह प्राणीका जीवन बिजलीके समान चंचल है, ऐसा विचार करके वह कौन-सा पुण्यशाली (या विद्वान्) पुरुष है जो अपने प्रयोजनकी सिद्धिमें मूढ़ताको प्राप्त होगा ? कोई भी नहीं है—विवेकी जीव संसारके स्वरूपका विचार कर आत्महितमें लगता ही है ॥४९॥

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
प्रथम प्रकरण समाप्त हुआ ॥१॥

१. T किं च । २. J यदक्षातीतं । ३. F अनन्याः कामार्थाः । ४. [क्षणरुचि = विद्युत्] । ५. S T V विमृश्योच्चैः । ६. C om. । ७. S T F V C श्रीज्ञानार्णवे । ८. S F चन्द्राचार्यविरचिते । ९. B विरचिते पंडितजिनदासोद्यमनकारापितप्रथमः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

II

[द्वादश भावनाः]

50) संगैः किं न विषाद्यते वपुरिदं किं छिद्यते नामयै-
र्मृत्युः किं न विजृम्भते प्रतिदिनं द्रुह्यन्ति किं नापदः ।
श्वभ्राः किं न भयानकाः स्वपनवद्भोगा न किं वञ्चका
येन स्वार्थमपास्य किंनरपुरप्रख्ये भवे ते स्पृहा ॥१

यो पूर्वं समभावि पार्श्वपूर्वजवरः सद्धर्मधौरेयकः, तस्योदारान्वयैकप्रगुणदिनमणिष्टोडरः साधुधर्मा। जीवाजीवस्वरूपप्रवरविषयः साह ऋषिदासनाम्ना, चक्रे ज्ञानार्णवस्य प्रगटविवृतिर्नयविलासैः प्रसिद्धा ॥१॥ श्रावकाचारपाथोधिश्चन्द्रमण्डलसंनिभः। जीयाच्छ्रीऋषिदासस्तु साहितोडरनन्दनः ॥२॥ तस्योपदेशमादाय ज्ञानार्णवप्रदीपिकाम्। कुर्वे बालप्रबोधाय भक्तिभावितमानसः ॥३॥ अथ संसारवाञ्छामपाकरोति ।

50) संगैः किं न—हे श्रावकजन, येन कारणेन स्वार्थमपास्य दूरीकृत्य, किन्नरपुरप्रख्ये, गन्धर्वनगरसदृशे, भवे संसारे, ते तव, स्पृहा वाञ्छा वर्तते। यतः कारणात् संगैः पुत्रादिसंसर्गैः किं न विषाद्यते विषाद इव आचरते। अपि तु विषाद्यते एव। इदं वपुरामयैः रोगैः किं न छिद्यते अपि तु छिद्यते एव। मृत्युः किं न विजृम्भते। अपि तु विजृम्भते। प्रतिदिनम् आपदः किं न द्रुहयन्ति द्रोहं कुर्वन्ति। काकोक्तिः सर्वत्र योज्या। श्वभ्राः नरकाः किं न भयानकाः। अपि तु भयानका एव। भोगाः किं न वञ्चकाः स्वपनवत्। अपि तु वञ्चका इति तात्पर्यार्थः ॥१॥ अथ धर्मोपदेशमाह।

हे भव्य जीव! क्या परिग्रह तुझे खिन्न नहीं करते हैं, क्या यह तेरा शरीर रोगोंके द्वारा छिन्न-भिन्न नहीं किया जाता है, क्या मृत्यु तुझसे ईर्ष्या नहीं करती है, क्या आपत्तियाँ तुझे प्रतिदिन नहीं ठगती हैं, क्या नरक तुझे भयभीत नहीं करते हैं, और क्या विषयभोग तुझे स्वप्नके समान ठगनेवाले नहीं हैं, जिससे कि तेरी इच्छा आत्मप्रयोजनको छोड़कर किन्नरपुरके समान सुहावने दिखनेवाले इस संसारमें स्थित रहनेकी है॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि संसार एक मायामय नगरके समान है। उसमें पुत्र-स्त्री-मित्र आदि रूप सचित्त तथा धन-धान्यादिरूप अचित्त परिग्रह प्राणीको सदा व्याकुल किया करते हैं, शरीर सदा रोगोंसे घिरा रहता है, मृत्यु अपना ग्रास बनानेके लिए निरन्तर उद्युक्त रहती है, आपत्तियाँ सदा पीड़ित किया करती हैं, तथा ये नश्वर विषयभोग दूसरे ही लुभावने दिखते हैं। फिर ऐसी अवस्थामें हे भव्य! तू धर्मसे विमुख होकर परलोकमें प्राप्त होनेवाले नरकादि दुर्गतिके दुखसे क्यों नहीं भयभीत होता है? प्राणीको नरकादिके दुःखोंका स्मरण करते हुए नश्वर इन्द्रियविषयोंसे विरक्त होकर अपनेको आत्महितके साधनभूत संयमादिमें प्रवृत्त करना चाहिये ॥१॥

१. P स्वप्नवद्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

51) नासादयसि कल्याणं न स्वतत्त्वं समीक्षसे[2] ।
न वेत्सि जन्मवैचित्र्यं भ्रातर्भूतैर्विडम्बितः ॥२

52) असद्विद्याविनोदेन मात्मानं[3] मूढ वञ्चय ।
कुरु कृत्यं न किं वेत्सि विश्ववृत्तं विनश्वरम् ॥३

53) समत्वं भज भूतेषु निर्ममत्वं विचिन्तय ।
अपाकृत्य मनःशल्यं भावशुद्धिं समाश्रय ॥४

---

51) **नासादयसि**—भ्रातस्त्वं भवान् कल्याणं नासादयसि। न स्वतत्त्वं स्वचैतन्यं समीक्षसे। जन्मवैचित्र्यं न वेत्सि। कथंभूतः। भूतैः प्राणिभिरुपलक्षणात् विडम्बितः॥२॥ अथ संसारविनश्वरतां दर्शयति।

52) **असद्विद्या**—हे मूढ, मूर्ख, विश्ववृत्तं संसारचरितं, विनश्वरं नश्यत्, किं न वेत्सि। कृत्यं स्वहितं कुरु। पुनः मूढस्य कर्तुः संबोधनं कुरुते। मूढ, न आत्मानं वञ्चय। केन। असद्विद्याविनोदेन, असदज्ञानस्वरूपेणेत्यर्थः॥३॥ अथ भावशुद्धिमाह।

53) **समत्वं भज**—हे सुजन, भूतेषु प्राणिषु समत्वं भज। निर्ममत्वं निर्मायत्वं विचिन्तय। भावशुद्धिं समाश्रय। किं कृत्वा। मनःशल्यम् अपाकृत्य दूरीकृत्येति तात्पर्यार्थः॥४॥ अथ भावशुद्ध्यर्थं सिद्धान्तोक्तद्वादशभावनाः दर्शयति।

हे भाई! तू भूतोंसे प्रतारित किये गये (ग्रहाविष्ट) के समान न अपने हितको प्राप्त करता है, न वस्तुस्वरूपको देखता है, और न संसारकी विचित्रताका भी अनुभव करता है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार पिशाचादिसे पीड़ित पुरुष अपने हित-अहितको नहीं जान पाता है उसी प्रकार इन्द्रियविषयोंमें आसक्त हुआ जीव भी अपने हित-अहितको नहीं जान पाता है ॥२॥

हे मूर्ख! तू मिथ्याज्ञानमें अनुरक्त होकर अपने आपको मत ठग, किन्तु जिससे आत्महित होता है ऐसे योग्य कार्यको कर। क्या तू संसारकी सब बातोंको—इन्द्रियोंको मुग्ध करनेवाले विषयभोगादिकोंको—नश्वर नहीं जानता है? अर्थात् तुझे यह समझ लेना चाहिए कि संसारके सब ही पदार्थ नष्ट होनेवाले हैं, स्थिर वहाँ कुछ भी नहीं है ॥३॥

हे भव्य! तू सब ही प्राणियोंको समान समझ—एकसे राग और दूसरे द्वेष मत कर तथा यह विचार कर कि संसारमें न तो मेरा कोई है और न मैं भी उनका कोई हूँ। ऐसा विचार करते हुए तू अपने मनसे शल्यको—पापवासनाको निकाल दे और भावोंकी विशुद्धिका सहारा ले ले ॥४॥

---

१. S V C J R न त्वं तत्त्वं। २. P B समीक्ष्यसे। ३. M N L नात्मानं for मात्मानं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

54) चिनु चित्ते भृशं भव्य भावना भावशुद्धये ।
याः सिद्धान्तमहातन्त्रे देवदेवैः प्रतिष्ठिताः ॥५

55) ताश्च संवेगवैराग्ययमप्रशमसिद्धये ।
आलानिता मनःस्तम्भे मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः ॥६

56) अनित्याद्याः प्रशस्यन्ते द्वादशैता मुमुक्षुभिः ।
या मुक्तिसौधसोपानराजयो ऽत्यन्तबन्धुराः ॥७ तद्यथा

54) **चिनु चित्ते**—हे भव्य, भावशुद्धये प्रस्तावाद् द्वादश भावनाः भृशम् अत्यर्थम् । चित्ते चिनु दृढीकुरु । याः भावनाः सिद्धान्ते महातन्त्रे सिद्धान्ते महाशास्त्रे देवदेवैः तीर्थंकरैः प्रतिष्ठिताः स्थापिताः ॥५॥ ताः यदर्थं तीर्थंकरैर्दर्शिताः तद्दर्शयति ।

55) **ताश्च संवेग**—च पुनः । ता द्वादश भावना मुनिभिः ज्ञानिभिः मनःस्तम्भे आलानिता बन्धिताः । 'आलानं गजबन्धनम्' इति शे [को] षः । कस्यै । संवेगवैराग्ययमप्रशमसिद्धये, संवेगः संसारे विरक्तता । वैराग्यम् इन्द्रियविषयेषु अप्रवृत्तिः । यमाः व्रतानि । प्रशमः क्रोधाद्य-भावः । तेषां सिद्धये । कथंभूतैर्मुनिभिः । [१]मोक्तुमिच्छुभिः मुक्तिवाञ्छकैरित्यर्थः ॥६॥ ता नामग्राहं दर्शयन्ति ।

56) **अनित्याद्या**—एता द्वादशभावना अनित्याद्या मुमुक्षुभिर्मुक्तिकामैः प्रशस्यन्ते । या भावना मुक्तिसौधसोपानराजयः अत्यन्तबन्धुरा मनोहरा भवन्ति ॥७॥ तद्यथा—प्रथमतः संसारा-नित्यतां दर्शयति ।

हे भव्य ! तू उक्त भावोंकी विशुद्धिके लिए हृदयके भीतर उन भावनाओंको संचित कर जिनकी प्रतिष्ठा जिनेन्द्रोंके द्वारा सिद्धान्तरूप परमागममें की गयी है। तात्पर्य यह कि आत्मपरिणामोंको विशुद्ध रखनेके लिए निरन्तर जिनेन्द्रके द्वारा उपदिष्ट बारह भावनाओंका विचार करना चाहिए ॥५॥

कर्मबन्धनसे छुटकारा पानेकी इच्छा रखनेवाले मुनिजनोंने संवेग (धर्मानुराग), वैराग्य, संयम और कषायोंकी शान्तिके सिद्ध करनेके लिए उक्त बारह भावनाओंको अपने मनरूप खम्भेमें बाँध दिया है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार महावत उपद्रवसे रक्षा करनेके लिए बलवान् हाथीको आलानस्तम्भ (हाथीके बाँधनेका खम्भा) से बाँधके रखता है उसी प्रकार मुनिजन विषयादिकोंसे मनका संरक्षण करने और धर्मानुरागको वृद्धिंगत करनेके लिए उन भावनाओंको मनमें बाँधकर रखते हैं—मनसे सदा उनका चिन्तन किया करते हैं ॥६॥

जो अतिशय मनोहर अनित्यादिक बारह भावनाएँ मोक्षरूप प्रासादकी सोपानपंक्ति (पायरियों) के समान हैं उनकी मोक्षाभिलाषी मुनिजन निरन्तर प्रशंसा किया करते हैं ॥७॥

१. All others except P मोक्तुमिच्छुभिः । २. N S T V C J R omit तद्यथा, B omits the verse but has com.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

57) हृषीकार्थसमुत्पन्ने प्रतिक्षणविनश्वरे ।
सुखे कृत्वा रतिं मूढ विनष्टं भुवनत्रयम् ॥८

58) भवाब्धिप्रभवाः सर्वे संबन्धा विपदास्पदम् ।
संभवन्ति मनुष्याणां तथान्ते सुष्ठु नीरसा[1]: ॥९

59) वपुर्विद्धि रुजाक्रान्तं जराक्रान्तं च यौवनम् ।
ऐश्वर्यं च विनाशान्तं[2] मरणान्तं च जीवितम् ॥१०

60) ये दृष्टिपथमायाताः पदार्थाः पुण्यमूर्तयः ।
पूर्वाह्णे न च मध्याह्णे ते प्रयान्तीह देहिनाम् ॥११

57) **हृषीकार्थसमुत्पन्ने**—हे मूढ मूर्ख, भुवनत्रयं जगत्त्रयं, विनष्टं, नाशं गतम् । किं कृत्वा । सुखे इन्द्रियजे रतिम् आसक्तिं कृत्वा । कथंभूते सुखे । हृषोकार्थसमुत्पन्ने इन्द्रियविषयसमुत्पन्ने । पुनः कथंभूते सुखे । प्रतिक्षणविनश्वरे नाशशीले इति तात्पर्यार्थः ॥८॥

58) **भवाब्धिप्रभवाः**—सर्वे संबन्धाः भवाब्धिप्रभवाः भवसमुद्रजाता विपदास्पदमापदां गृहं मनुष्याणां संभवन्ति । तथा अन्ते प्रान्ते संबन्धाः सुष्ठु नीरसा भवन्ति इति श्लोकार्थः ॥९॥ पुनस्तदेव हि ।

59) **वपुर्विद्धि**—हे भव्य, वपुः शरीरं रुजाक्रान्तं रोगव्याप्तं भवति । च पुनः । यौवनं जराक्रान्तं वृद्धावस्थाव्याप्तम् । च पुनः । ऐश्वर्यं राज्यादि *विनाशान्तं स्यात् । च पुनः । जीवितं *मरणान्तं भवति इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ पदार्थानां स्वरूपमाह ।

60) **ये दृष्टिपथ**—ये पदार्थाः, पुण्यमूर्तयः पुण्यस्वरूपाः. देहिनां दृष्टिपथमायाता भवन्ति । पूर्वाह्णे प्रथमदिनार्धे । च पुनः । ते पदार्था इह संसारे मध्याह्णे तथा दृष्टिपथं नायान्ति इति सूत्रार्थः ॥११॥ पुनस्तदेवाह ।

१. अनित्यभावना—हे मूढ़ ! इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न सुख क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाला है । उसमें अनुराग करके तीनों लोक नष्ट हो चुके हैं । तात्पर्य यह कि तीनों लोकोंमें जिसने भी उन विषयोंसे अनुराग किया है उसे अनेक प्रकारका दुख सहना पड़ा है ॥८॥

संसार रूप समुद्रके भीतर उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंके सब ही सम्बन्ध विपत्तिके स्थान (दुखदायक) और अन्तमें अतिशय नीरस (आनन्दसे रहित) हैं ॥९॥

हे भव्य जीव ! तू शरीरको रोगोंसे घिरा हुआ, यौवनको बुढ़ापेसे घिरा हुआ, धन-सम्पत्तिको विनाशजन्य पीड़ाका देनेवाला और जीवनको मरणजन्य व्यथाका अनुभव करानेवाला समझ ॥१०॥

पवित्र आकारको धारण करनेवाले जो पदार्थ यहाँ प्राणियोंके द्वारा पूर्वाह्ण (प्रातः काल) में देखे जाते हैं वे मध्याह्न (दोपहर) में नहीं देखे जाते किन्तु नष्ट हो जाते हैं ॥११॥

१. P नीरसाः = दुःखदायकाः । २. M N S T F V B C J R विनाशान्तं मरणान्तं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

61) यज्जन्मनि सुखं मूढ यच्च दुःखं पुरःस्थितम् ।
तयोर्दुःखमनन्तं स्यात्तुलायां कल्पमानयोः[1] ॥१२

62) भोगा भुजङ्ग[2]भोगाभाः सद्यः प्राणापहारिणः ।
सेव्यमानाः प्रजायन्ते संसारे त्रिदशैरपि ॥१३

63) वस्तुजातमिदं मूढ प्रतिक्षणविनश्वरम् ।
जानन्नपि न जानासि ग्रहः को ऽयमनौषधः ॥१४

64) क्षणिकत्वं वदन्त्यार्या घटीघातेन भूभृताम् ।
क्रियतामात्मनः श्रेयो गतेयं नागमिष्यति ॥१५

61) **यज्जन्मनि**—हे मूढ मूर्ख, जन्मनि यत् सुखम् । च पुनः । यद्दुःखं पुरःस्थितम् । तयोः दुःखसुखयोः कल्पमानयोः तुलायां दुःखमनन्तं स्यात् इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ भोगानां फलमाह ।

62) **भोगा भुजङ्ग**—त्रिदशैर्देवैरपि सेव्यमाना भोगाः सद्यः प्राणापहारिणः प्रजायन्ते । क्व । संसारे । कथंभूता भोगाः । भुजङ्गभोगाभाः नागशरीरसदृशा इत्यर्थः ॥१३॥ अथ सकलपदार्थस्य विनश्वरतामाह ।

63) **वस्तुजातमिदं**—हे मूढ मूर्ख, इदं वस्तुजातं पदार्थसमूहः प्रतिक्षणविनश्वरं जानन्नपि न वेत्सि न जानासि । अयमनौषधग्रहः कोऽस्ति इति सूत्रार्थः ॥१४॥ पुनस्तदेवाह ।

64) **क्षणिकत्वं**—भूभृताम् आर्या क्षणिकत्वं वदन्ति । केन । घटीघातेन घटिकागतशब्देन ।

हे मूर्ख ! संसारमें जो सुख और जो दुख सामने अवस्थित हैं उन दोनोंको यदि तराजूके ऊपर तौलनेकी कल्पना की जाय तो उनमें सुखकी अपेक्षा दुख अनन्तगुणा प्रतीत होगा ॥१२॥

संसारमें देवोंके द्वारा भी सेवन किये जानेवाले विषयभोग सर्पके शरीर (विष) के समान शीघ्र ही प्राणोंका अपहरण करनेवाले हैं—इस लोकमें रोगादिके दुखको तथा परलोकमें दुर्गतिके दुखको देनेवाले हैं ॥१३॥

हे मूर्ख ! यह सब ही वस्तुओंका समूह क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाला है, इस बातको तू जानता-देखता हुआ भी वास्तवमें नहीं जानता है—उसका दृढ़तापूर्वक निश्चय नहीं करता है । यह तेरा वह कोई ग्रह (पिशाच या शनि आदि ग्रह) है जिसकी कोई औषध नहीं है । तात्पर्य यह कि मनुष्य विषयोंकी अस्थिरताको देखता हुआ भी जो उनकी ओरसे विरक्त न होकर उन्हींमें आसक्त रहता है यह ऐसा अविवेक है कि जिसका सदुपदेशादिके द्वारा नष्ट करना अशक्य है ॥१४॥

मुनिजन राजाओंके घटीयन्त्र (समयका सूचक) के अभिघात (ठोकर) से चेतन-

१. M V B C Y R कल्प्यमानयोः । २. P भुजग ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

65) यद्यपूर्वं शरीरं स्याद्यदि वात्यन्तशाश्वतम् ।
युज्यते हि तदा कर्तुमस्यार्थे कर्म निन्दितम् ॥१६

66) अवश्यं यदि[1] यास्यन्ति पुत्रस्त्रीधनबान्धवाः ।
शरीराणि तदेतेषां कृते किं खिद्यते[2] वृथा ॥१७

67) नायाता नैव[3] यास्यन्ति केनापि सह योषितः ।
तथाप्यज्ञाः[4] कृते[5] तासां प्रविशन्ति रसातलम्[6] ॥१८

अत आत्मनः श्रेयः क्रियताम् । इयं घटी गता नागमिष्यति इति तात्पर्यार्थः ॥१५॥ अथ शरीरस्याशाश्वतत्वमाह ।

65) यद्यपूर्वं शरीरं—यदि शरीरमपूर्वं मनोहरं स्यात् भवेत् । वा अथवा । यदि शरीरम् अत्यन्तशाश्वतं स्यात् । हि तस्मात् कारणात् । अस्य शरीरस्यार्थे निन्दितं कुत्सितं कर्म कर्तुं युज्यते । अन्यथा नेति भावः ॥१६॥ अथ पुत्रकलत्रादीनामनित्यतामाह ।

66) अवश्यं यदि—हे भव्य, तस्मात् कारणात् एतेषां कृते किं वृथा खिद्यसे* । यदि पुत्रस्त्रीधनबान्धवा अवश्यं यास्यन्ति, शरीराणि यास्यन्ति अवश्यम् । तस्मान्न खेदः कार्यः इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ स्त्रीणां चञ्चलत्वम् आह ।

67) नायाता नैव—तथा अज्ञाः मूर्खाः तासां योषितां कृते कारणाय रसातलं पृथ्वीतलं प्रविशन्ति । यथा ता योषितः केनापि सह नायाताः नैव यास्यन्तीत्यर्थः ॥१८॥ अथ जीवानां नानागतिमाह ।

अचेतन पदार्थोंकी क्षणनश्वरता (अनित्यता) को बतलाते हैं—जैसे घड़ी समयपर ठोकर द्वारा घड़ी-घंटा आदिकी सूचना करती है वैसे ही वह समयानुसार वस्तुओंके विनाशकी भी सूचना करती है । इसलिए विवेकी जीवको अपना हित करना चाहिए, क्योंकि, बीता हुआ काल फिरसे आनेवाला नहीं है ॥१५॥

यदि कदाचित् अपूर्व और अतिशय अविनाशी शरीर सम्भव हो तो उसके लिए निन्द्य कार्य करना योग्य भी हो सकता है । अभिप्राय यह है कि प्राणीको जो शरीर प्राप्त है वह बार बार प्राप्त हुआ है, उसमें नवीनता कुछ भी नहीं है । इसके अतिरिक्त वह पूर्वके समान ही नष्ट होनेवाला भी है । ऐसी अवस्थामें उसके निमित्त विवेकी जीवको निन्द्य कार्य करना योग्य नहीं है ॥१६॥

हे भव्य ! पुत्र, स्त्री, धन और बन्धुजन तथा शरीर भी; ये सब ही जब नियमसे नष्ट होनेवाले हैं तब तू इनके लिए व्यर्थ में क्यों खिन्न होता है—उनके वियोगमें शोक करना निरर्थक है ॥१७॥

स्त्रियाँ न तो किसीके भी साथ आयी हैं और न जानेवाली भी हैं । फिर भी अज्ञानी जन उनके लिए पातालमें प्रविष्ट होते हैं—उनकी प्राप्तिके लिए योग्य-अयोग्यका विचार न

१. S T V C R यान्ति for यदि । २. M N F B खिद्यसे वृथा । ३. N न च यास्यन्ति । ४. P अज्ञाः = अज्ञानिनः । ५. P कृते = निमित्तं । ६. B रसातले ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

68) ये जाता रिपवः पूर्वं जन्मन्यस्मिन् विधेर्वशात् ।
त एव तव वर्तन्ते बान्धवा बद्धसौहृदाः[1] ॥१९

69) रिपुत्वेन समापन्नाः प्राक्तनास्ते ऽत्र जन्मनि ।
बान्धवाः क्रोधरुद्धाक्षा दृश्यन्ते हन्तुमुद्यताः ॥२०

70) अङ्गनादिमहापाशैरतिगाढं नियन्त्रिताः ।
[2]पतन्त्यन्धमहाकूपे भवाख्ये भविनो ऽध्वगाः[3] ॥२१

68) ये जाता रिपवः—ये जीवाः पूर्वंजन्मनि रिपवः जाताः ते एव विधेर्वशात् अस्मिन् जन्मनि तव रे जीव, बान्धवा वर्तन्ते। कथंभूता बान्धवाः। बद्धसौहृदाः प्राप्तप्रीतयः सन्तीत्यर्थः ॥१९॥ अथ तेषामेव विपर्यासमाह।

69) रिपुत्वेन समापन्नाः—ये प्राक्तना बान्धवास्ते ऽत्र जन्मनि रिपुत्वेन समापन्ना जाताः, क्रोधरुद्धाक्षाः कोपरक्तनेत्राः हन्तुं मारयितुं उद्यताः सावधानाः दृश्यन्ते इति श्लोकार्थः ॥२०॥ अथाङ्गनासंसर्गे फलमाह।

70) अङ्गनादि—भविनो भव्याः त एवाध्वगाः पन्थिनो भवाख्ये अन्धकूपे पतन्ति। कथंभूता भविनः। अङ्गनादिमहापाशैर्नियन्त्रिता बद्धाः इति श्लोकार्थः ॥२१॥ अथ बान्धवानां हितत्वे विपरीतत्वमाह।

करते हुए वे महान् परिश्रम करते हैं और उसके परिणामस्वरूप अन्तमें जाकर नरकमें प्रविष्ट होते हैं ॥१८॥

जो जन पूर्व जन्ममें शत्रुताको प्राप्त थे वे ही दैववश इस जन्ममें मित्रभावसे बँधकर बन्धुभावको प्राप्त होते हैं। अभिप्राय यह है कि इस संसारमें शत्रुभाव और मित्रभाव सर्वथा नियत नहीं है जिसे किसी समय शत्रु माना जाता था वही अन्य समयमें गाढ मित्र भी समझा जाता है। कहा भी है—'अनादौ सति संसारे कस्य केन न बन्धुता। सर्वथा शत्रुभावश्च सर्वमेतद्धि कल्पना ॥'····॥१९॥

पूर्व जन्मके वे बन्धु इस जन्ममें शत्रुभावसे प्राप्त होकर क्रोधसे नेत्रोंको वेष्टित करते हुए मारनेमें उद्यत देखे जाते हैं ॥२०॥

स्त्री आदि रूप विशाल फाँसोंमें दृढतासे जकड़े हुए ये संसारी प्राणीरूप यात्री संसार-रूप विस्तृत अन्धकूपमें पड़ते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कोई यात्री (रास्तागीर) विशाल फाँसमें दृढ़तापूर्वक बाँधा जाकर गाढ अन्धकारसे परिपूर्ण गहरे कुएँमें गिराया जाता है उसी प्रकार संसारी प्राणी उन फाँसोंके समान स्त्री व पुत्र आदिरूप बन्धनोंमें दृढ़तासे बँधकर—उनके विषयमें अतिशय अनुरक्त होकर—संचित पापके कारण अन्धकूपके समान भयानक नारक बिलमें जा पड़ते हैं—नारकी उत्पन्न होते हैं ॥२१॥

१. All others except P M B सौहृदः। २. All others except P M N पतत्यन्ध।
३. P अध्वगाः = मार्गस्थाः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

71) पातयन्ति भवावर्ते ये त्वां ते नैव बान्धवाः ।
बन्धुतां ते करिष्यन्ति हितमुद्दिश्य योगिनः ॥२२

72) शरीरं शीर्यते नाशा गलत्यायुर्न पापधीः ।
मोहः स्फुरति नात्मार्थः पश्य वृत्तं शरीरिणाम् ॥२३

73) यास्यन्ति निर्दया नूनं ये दत्त्वा[1] दाहमुन्नतम्[2] ।
हृदि पुंसां कथं ते स्युस्तव प्रीत्यै परिग्रहाः ॥२४

74) अविद्यारागदुर्वारप्रसरान्धीकृतात्मनाम् ।
श्वभ्रादौ देहिनां नूनं सोढव्याः[3] सुचिरं व्यथाः ॥२५

71) **पातयन्ति भवावर्ते**—रे जीव, येन कारणेन भवावर्ते संसारचक्रे पातयन्ति त्वां, तेनैव कारणेन ते बान्धवाः न । महाविपरीतमेतत् । ते योगिनो बन्धुतां करिष्यन्ति । किं कृत्वा । हितमुद्दिश्य । तव योगिनो बान्धवाः परमार्थत इति तात्पर्यार्थः ॥२२॥ अथ जीवानां स्वरूपमाह ।

72) **शरीरं शीर्यते**—हे भव्य, शरीरिणां वृत्तं चरितं त्वं पश्य । किं तत् । शरीरं शीर्यते हानिं याति । नाशा वाञ्छा । आयुः गलति हानिं याति । न पापधीः गलति । मोहः स्फुरति नात्मार्थः स्फुरतीति भावः ॥२३॥ अथ परिग्रहस्य स्वरूपमाह ।

73) **यास्यन्ति निर्दयाः**—ते परिग्रहाः पुत्रादिविषयाः तव प्रीत्यै कथं स्युः । अपि तु नैव । ये परिग्रहा नूनं निश्चितं पुंसां हृदि उन्नतं दाहं दत्त्वा यास्यन्ति निर्दयाः सन्तः । ते कथं सुखाय स्युरिति भावः । ॥२४॥ अथ ज्ञानात्मनां स्वरूपमाह ।

74) **अविद्याराग**—नूनं निश्चितं, देहिनां प्राणिनां, श्वभ्रादेः नरकादेः व्यथाः सुचिरं

हे भव्य ! जो तुझे संसाररूप आवर्त (जलका चक्राकार परिभ्रमण) में गिराते हैं वे वास्तवमें तेरे बान्धव (हितैषी) नहीं हैं। किन्तु तेरे सच्चे बान्धव वे योगीजन हैं जो तेरे हितके विचारसे ही तुझसे बन्धुता (मित्रता) करनेवाले हैं ॥२२॥

भला इन संसारी प्राणियोंकी अवस्थाको तो देखो कि उनका शरीर तो क्षीण होता है, किन्तु आशा—उनकी विषयलालसा—क्षीण नहीं होती; उनकी आयु तो धीरे-धीरे घटती जाती है, किन्तु पापबुद्धि (पापाचरण) नहीं घटती; तथा उनका मोह तो विकसित होता है, किन्तु आत्माका हित विकसित नहीं होता ॥२३॥

जो परिग्रह प्राणियोंके हृदयमें निर्दयतापूर्वक अतिशय दाहको देकर—महा कष्ट पहुँचाकर नियमसे नष्ट हो जानेवाले हैं वे हे भव्य ! तेरे लिए प्रीतिके कारण कैसे हो रहे हैं ? अर्थात् उन दुखदायक एवं नियमसे ही नष्ट होनेवाले स्त्री-पुत्रादि तथा धन-धान्यादि रूप बाह्य वस्तुओंसे अनुराग करना निरर्थक है ॥२४॥

मिथ्या ज्ञान एवं रागके दुर्निवार विस्तारसे जिन जीवोंकी आत्मा (अन्तःकरण) अन्धी की जा चुकी है उन्हें नियमसे चिर काल तक नरकमें रहकर भयानक दुख सहना

१. S T V C R यद् दत्त्वा । २. S V C R दाहमूर्जितम् । ३. All others except P M B सोढव्या''''व्यथा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

75) वह्निं[1] विशति शीतार्थं जीवितार्थं पिबेद्विषम्[2] ।
विषयेष्वपि यः सौख्यमन्वेषयति मुग्धधीः[3] ॥२६

76) कृते येषां त्वया कर्म कृतं श्वभ्रादिसाधकम् ।
त्वामेव यान्ति ते पापा वञ्चयित्वा यथायथम् ॥२७

77) अनेन नृशरीरेण यल्लोकद्वयशुद्धिदम् ।
विविच्य[4] तदनुष्ठेयं हेयं कर्म ततो ऽन्यथा ॥२८

चिरकालं सोढव्याः । कथंभूतानां देहिनाम् । अविद्यारागदुर्वारप्रसरान्धीकृतात्मनाम्, अज्ञान-रागदुर्वारसमूहान्धीकृतात्मनामिति भावः ॥२५॥ अथ विषयाणां फलमाह ।

75) वह्निं विशति—यो मुग्धधीः विषयेष्वपि सौख्यमन्वेषयति स शीतार्थं वह्निं विशति । जीवितार्थं विषं पिबेत् इत्यर्थः ॥२६॥ यत्कर्म कृतं तत्फलं तस्यैवोपगच्छति तदाह ।

76) कृते येषां—कृते येषां त्वया कर्म कृतं, श्वभ्रादिसाधकं नरकदायकं कर्म कृतं त्वया, यथायथं यथाप्रकारम् । ते पापाः पापफलानि वञ्चयित्वा त्वामेव यान्ति । नान्यं भोक्तारमित्यर्थः ॥२७॥ अथ शरीरोपदेशमाह ।

77) अनेन नृशरीरेण—अनेन नृशरीरेण मनुष्यदेहेन तत्कर्म अनुष्ठेयं, यत्कर्म लोकद्वय-शुद्धिदम् इहपरत्रशुद्धिदम् । किं कृत्वा । विवेच्य* विवेकं कृत्वा । ततो विवेकपूर्वं कर्मणः सकाशात् इहपरत्रविरुद्धं कर्म हेयमित्यर्थः ॥२८॥ अथ नरभवे ऽप्यात्मनो हितं फलमाह ।

पड़ेगा । अभिप्राय यह है कि जो प्राणी अज्ञानताके कारण अस्थिर बाह्य विषयोंमें आसक्त रहकर विवेकबुद्धिको खो बैठते हैं वे नरकमें उत्पन्न होकर घोर दुखको सहते हैं ॥२५॥

जो मूढबुद्धि प्राणी विषयोंमें भी सुखको खोजता है—उन्हें सुखप्रद समझता है—वह मानो शीतलताको प्राप्त करनेकी इच्छासे अग्निके भीतर प्रविष्ट होता है, अथवा जीनेकी अभिलाषासे विषको पीता है । तात्पर्य यह कि जैसे अग्निके भीतर प्रविष्ट होनेपर शीतलताकी प्राप्ति असम्भव है, अथवा विषका पान करनेपर जीवित रहना असम्भव है वैसे ही विषयों-का सेवन करनेपर यथार्थ सुखकी प्राप्ति भी असम्भव ही है ॥२६॥

जिन बन्धुजनोंके लिए तूने नरकादि दुर्गतिके कारणभूत कर्मको संचित किया है वे तुझे ही धोखा देकर यथायोग्य—अपने-अपने समयके अनुसार चले जानेवाले हैं, उनमें सदा रहनेवाला कोई भी नहीं है ॥२७॥

इस मनुष्य शरीरको पाकर जो कार्य दोनों लोकोंमें शुद्धिको देनेवाला हो उसे ही विचारपूर्वक करना चाहिये और उससे विपरीत दोनों लोकोंमें कष्टदायक—कार्यको छोड़ना चाहिये ॥२८॥

---

१. P वह्निविशति, J वंसति । २. B विषं पिबेत् । ३. M N मूढधीः । ४. All others except P विवेच्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

78) वर्धयन्ति स्वघाताय ते नूनं विषपादपम् ।
नरत्वे ऽपि न कुर्वन्ति ये विविच्यात्मनो[1] हितम् ॥२९

79) यद्वद्देशान्तरादेत्य वसन्ति[2] विहगा नगे ।
तथा जन्मान्तरान्मूढ[3] प्राणिनः कुलपादपे ॥३०

80) प्रातस्तरुमतिक्रम्य[4] यथैते यान्ति पत्रिणः ।
स्वकर्मवशगाः शश्वत्तथैते क्वापि देहिनः ॥३१

81) गीयते यत्र सानन्दं पूर्वाह्णे ललितं गृहे ।
तस्मिन्नेव हि मध्याह्ने सदुःखमिह[5] रुद्यते ॥३२

78) **वर्धयन्ति**—नूनं निश्चितं ते पुरुषाः, विषपादपं विषवृक्षं वर्धयन्ति । किमर्थम् । स्वघाताय । ये पुरुषा विवेच्य* विवेकं कृत्वा नरत्वे ऽपि आत्मनो हितं न कुर्वन्ति इति भावः ॥२९। अथ संसारे प्राणिनामनियतोत्पादमाह ।

79) **यद्वद्देशान्तरात्**—यथा विहगाः पक्षिणः, नगे वृक्षे, देशान्तरादेत्य प्राप्य वसन्ति तथा मूढाः* प्राणिनः कुलपादपे जन्मान्तरात् प्राप्य वसन्तीति भावार्थः ॥३०॥ एतदेवाह ।

80) **प्रातस्तरुमति**—यथा एते पत्रिणः पक्षिणः प्रातः प्रभाते तरुं परित्यज्य* यान्ति । यथेच्छमिति भावः । तथा एते देहिनः शश्वत् निरन्तरं क्वापि गत्यादौ स्वकर्मवशगा यान्ति इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ सुखदुःखयोः समानतामाह ।

81) **गीयते यत्र**—यत्र पूर्वाह्णे ललितगृहे* मनोहरगृहे सानन्दं गीयते । इह संसारे । हि

जो प्राणी मनुष्य पर्यायको पा करके भी विवेकपूर्वक अपना हित नहीं करते हैं वे निश्चित ही अपने घातके लिए विषवृक्षको बढ़ाते हैं । अभिप्राय यह है कि आत्माका हित करनेवाले जो संयम एवं तप आदि हैं वे चूँकि इस दुर्लभ मनुष्य पर्यायमें ही सिद्ध किये जा सकते हैं, अतएव जो जन उस मनुष्य पर्यायको पा करके उक्त प्रकारसे आत्महितको नहीं करते हैं वे अपना अतिशय अहित करते हैं ॥२९॥

जिस प्रकार अनेक पक्षी भिन्न-भिन्न देशसे आकर रात्रिमें किसी एक वृक्षके ऊपर निवास करते हैं उसी प्रकार हे मूर्ख ! अन्य-अन्य भवसे आकर ये संसारी प्राणी भी किसी एक कुटुम्बरूप वृक्षपर निवास करते हैं ॥३०॥

ये ही पक्षी जिस प्रकार प्रातःकालमें उस वृक्षको छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं उसी प्रकार अपने-अपने कर्मके अनुसार ये प्राणी भी निरन्तर कहीं पर भिन्न-भिन्न गतियोंमें चले जाते हैं । यही भाव पूज्यपाद स्वामीने भी निम्न शब्दोंमें प्रकट किया है—'दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसन्ति नगे नगे । स्व-स्वकार्यवशाद्यान्ति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥' इष्टोपदेश ९ ॥३१॥

यहाँ प्रातःकालमें जिस घरके भीतर मनोहर गीत गाया जाता है, दोपहरके समय उसी घरमें दुखके साथ रुदन भी किया जाता है ॥३२॥

१. All others except P विवेच्य । २. M N विशन्ति विहगाः । ३. B J मूढाः प्राणिनः । ४. All others except P तरुं परित्यज्य । ५. Y सदुःखमिव ।

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

82) यस्य राज्याभिषेकश्रीः प्रत्यूषे ऽत्र विलोक्यते ।
तस्मिन्नहनि तस्यैव चिताधूमश्च दृश्यते ॥३३
83) अत्र जन्मनि निर्वृत्तं यैः शरीरं तवाणुभिः ।
प्राक्तनान्यत्र तैरेव खण्डितानि सहस्रशः ॥३४
84) शरीरत्वं न ये प्राप्ता आहारत्वं न ये ऽणवः ।
भ्रमतस्ते चिरं भ्रातर्न ते सन्ति जगद्गृहे[1] ॥३५

निश्चितम् । तस्मिन्नेव ललितगृहे मध्याह्ने सदुःखं यथा स्यात् तथा रुद्यते इति भावः ॥३२॥ अथैकस्मिन्नेवाहनि सुखदुःखमाह ।

82) यस्य राज्याभिषेक—अत्र जगति यस्य मनुष्यस्य प्रत्यूषे प्रभाते राज्याभिषेकश्रीर्विलोक्यते तस्मिन्नेवाहनि तस्यैव पुरुषस्य । च पुनः । चिताधूमो दृश्यते इति सूत्रार्थः ॥३३॥ एतदेवाह ।

83) अत्र जन्मनि—रे जीव, तव शरीरं यैरणुभिरत्र जन्मनि निर्वृत्तं तैरेवाणुभिरत्र जगति प्राक्तनानि शरीराणि सहस्रशः खण्डितानि भवन्तीत्यर्थः ॥३४॥ अथाणूनां बाहुल्यमाह ।

84) शरीरत्वं न—ये ऽणवः परमाणवः शरीरत्वं न प्राप्ताः । च पुनः । ये ऽणवः आहारत्वं न प्राप्ताः । भ्रातः, ते तव चिरं भ्रमतः परमाणवो जगद्गृहे न सन्ति । सर्वे अप्यणवः शरीरत्वेन भुक्ता इति तात्पर्यार्थः ॥३५॥ अथ सर्वस्यैश्वर्यस्य क्षणविनश्वरतामाह ।

इस संसारमें प्रातःकालके समय जिसके राज्याभिषेककी शोभा देखी जाती है उसी दिनमें उसकी चिताका धुआँ भी देखा जाता है ॥३३॥

इस संसारमें जिन परमाणुओंके द्वारा तेरा यह शरीर रचा गया है उन्हीं परमाणुओंके द्वारा पूर्वमें तेरे शरीरके हजारों टुकड़े भी किये गये हैं । विशेषार्थ—यहाँ संसारमें परिवर्तित होनेवाली स्थितियोंका दिग्दर्शन कराते हुए यह बतलाया है कि जिन पुद्गल स्कन्धोंके द्वारा कभी प्राणीके शरीरकी उत्पत्ति होती है उन्हीं स्कन्धोंके द्वारा कभी उसके शरीरके खण्ड-खण्ड भी किये जाते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि जो पुद्गल स्कन्ध कभी शरीररूप परिणत होते हैं वे ही पुद्गल स्कन्ध कभी विष या शस्त्रादिके रूपमें परिणत होकर प्राणीके शरीरके विनाशके भी कारण होते हैं ॥३४॥

हे भाई ! तू इस संसार रूप घरमें चिर कालसे—अनादि कालसे—परिभ्रमण कर रहा है । यहाँ वे परमाणु शेष नहीं हैं जो कि अनेकों बार तेरे शरीररूप और भोजनरूप न परिणत हुए हैं । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस शरीर और भोजन आदिके विषयमें प्राणीको अनुराग होता है उन्हें वह अनेकों बार प्राप्त कर चुका है । फिर उनके विषयमें प्राणीको इतना मोह क्यों होता है, यह विचारणीय है । कारण यह कि यदि उसे किसी अपूर्व नयी वस्तुमें अनुराग होता है तब तो वह उचित कहा जा सकता है । परन्तु जिन्हें वह बार-बार भोग चुका है उन्हींको वह फिर भी उच्छिष्टके समान प्राप्त करके भोगना चाहता है, यह खेदकी बात है ॥३५॥

१. L S F V C R भ्रातर्यन्न ते सन्ति तद्गृहे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

85) सुरोरगनरैश्वर्यं शक्रकार्मुकसंनिभम् ।
सद्यः प्रध्वंसमायाति दृश्यमानमपि स्वयम् ॥३६

86) यान्त्येव न निवर्तन्ते सरितां यद्वदूर्मयः ।
तथा शरीरिणां पूर्वा[1] गता नायान्ति भूतयः ॥३७

87) क्वचित् सरित्तरङ्गाली गतापि विनिवर्तते ।
न रूपबललावण्यं सौन्दर्यं तु[2] गतं नृणाम् ॥३८

88) गलत्येवायुरत्यर्थं[3] हस्तन्यस्ताम्बुवत्क्षणे ।
नलिनीदलसंक्रान्तं प्रालेयमिव यौवनम् ॥३९

85) **सुरोरग**—दृश्यमानमपि सुरोरगनरैश्वर्यं सद्यः शीघ्रमस्तं समायाति। कथंभूतं तदैश्वर्यम्। शक्रकार्मुकसंनिभम्। इन्द्रधनुः सदृशमिति भावार्थः ॥३६॥ अथ विभूतीनामनित्यत्वं दर्शयति।

86) **यान्त्येव न**—यद्वत् सरिताम् ऊर्मयः कल्लोला यान्त्येव गच्छन्त्येव न निवर्तन्ते न पश्चाद्गलन्ति। तथा शरीरिणां पूर्वा विभूतयः गता नायान्ति। पूर्वोपार्जितपुण्यहीनत्वात् नागच्छन्तीति भावः ॥३७॥ एतदेवाह।

87) **क्वचित् सरित्तरङ्गाली**—क्वचित् सरित्तरङ्गाली गतापि विनिवर्तते नदीकल्लोलावली कथंचित् पश्चाद्गलति। नृणां शरीरिणां यद्गतं* शरीरगतं रूपबललावण्यसौन्दर्यं न विनिवर्तते इति भावः ॥३८॥ अथ आयुःप्रमुखाणामनित्यतामाह।

88) **गलत्येवायुः**—क्षणम् उपलक्षणात् प्रतिक्षणम् आयुर्गलति। अव्यग्रम्* अश्रान्तम्। हस्तन्यस्ताम्बुवत् करस्थितजलवत्। इव उत्प्रेक्षते। यौवनं नलिनीदलसंक्रान्तं प्रालेयमिव हिममिवेति भावः ॥३९॥ संयोगानां क्षणक्षयित्वमाह।

देव, नागकुमार और मनुष्यों का ऐश्वर्य इन्द्रधनुषके समान देखते देखते स्वयं ही शीघ्र नष्ट हो जानेवाला है। तात्पर्य यह कि इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्तीका भी वैभव जब देखते देखते क्षण भरमें नष्ट हो जाता है तब अन्य साधारण जनकी तुच्छ विभूति का तो कहना ही क्या है—वह तो नष्ट होनेवाली है ही ॥३६॥

जिस प्रकार नदियों की लहरें जाती ही हैं, परन्तु वे लौटकर नहीं आती हैं उसी प्रकार प्राणियों की गयी हुई पूर्वकी विभूतियाँ भी वापिस नहीं आती हैं ॥३७॥

कहीं पर गयी हुई नदीकी लहरोंका समूह कदाचित् भले ही वापिस आ जावे; परन्तु मनुष्योंका गया हुआ रूप, बल, लावण्य और सुन्दरता फिरसे वापिस नहीं आती है ॥३८॥

जिस प्रकार हाथ की अंजुलीमें रखा हुआ पानी क्षणभरमें नष्ट हो जाता है उसी प्रकार प्राणियों की आयु भी क्षण-क्षणमें अतिशय क्षीण होती जाती है, तथा जिस प्रकार कमलिनीके पत्र पर पड़ी हुई मोती जैसी सुन्दर ओसकी बूँद शीघ्र ही बिखर जाती है उसी प्रकार प्राणियोंका यौवन भी शीघ्र बिखर जानेवाला है ॥३९॥

१. M शरीरिणां सर्वा। २. BJY सौन्दर्यं यद् गतं। ३. All others except P °वायुरव्यग्रं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

89) मनोज्ञविषयैः सार्धं संयोगाः स्वप्नसंनिभाः ।
क्षणादेव क्षयं यान्ति वञ्चनोद्धत[1]बुद्धयः ॥४०

90) घनमालानुकारीणि कुलानि च बलानि च ।
राज्यालंकारवित्तानि कीर्तितानि महर्षिभिः[2] ॥४१

91) फेनपुञ्जे ऽथवा रम्भास्तम्भे सारः प्रतीयते ।
न शरीरे[3] मनुष्याणां दुर्बुद्धे विद्धि वस्तुतः ॥४२

92) यातायातानि कुर्वन्ति ग्रहचन्द्रार्कतारकाः[4] ।
ऋतवश्च शरीराणि न हि स्वप्ने ऽपि देहिनाम् ॥४३

89) **मनोज्ञविषयैः**—संयोगाः इष्टविषयाः क्षणादेव क्षयं यान्ति । स्वप्नसंनिभाः सदृशाः, मनोज्ञविषयैः सार्धम् । कथंभूताः संयोगाः । वञ्चनोद्धतबुद्धयः इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथ सर्वेषां चञ्चलत्वमाह ।

90) **घनमालानुकारीणि**—घनमालानुकारीणि चञ्चलत्वात् मेघमालासदृशानि । च पुनः । बलानि कटकानि । राज्यालंकारवित्तानि कीर्तितानि । घनमालानुकारीणि इति दृष्टान्तः सर्वत्र योज्यः इति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथ शरीरस्यासारतामाह ।

91) **फेनपुञ्जेऽथवा**—हे दुर्बुद्धे, त्वं विद्धि जानीहि । मनुष्याणां शरीरे वस्तुतः परमार्थतः सारो न प्रतीयते अथवेति दृष्टान्ते । फेनपुञ्जे स्तम्भे आरम्भाः उपलक्षणात् गृहारम्भा न सन्तीति भावः ॥४२॥ अथ सर्वेषां पदार्थानामनित्यत्वमाह ।

92) **यातायातानि**—स्वप्ने ऽपि ग्रहचन्द्रार्कतारका यातायातानि गमनागमनानि कुर्वन्ति । च पुनः । ऋतवो वसन्ताद्या गमनागमनानि कुर्वन्ति । एवं सर्वत्र योज्यम् । देहिनां प्राणिनां स्वप्ने ऽपि शरीराणि यातायातानि न कुर्वन्ति । अपि तु कुर्वन्तीत्यर्थः ॥४३॥ अथ पुद्गलानां वैचित्र्यमाह ।

प्राणियोंके मनोहर विषयोंके साथ जो संयोग होते हैं वे स्वप्नमें देखे गये राज्य आदिके समान ठगनेमें दक्ष होते हुए क्षणभरमें ही नाशको प्राप्त होनेवाले हैं ॥४०॥

कुल, बल, राज्य, आभूषण और धन इन सबकी स्थिति महामुनियोंके द्वारा मेघपंक्तिके समान—देखते ही देखते नष्ट हो जानेवाली—निर्दिष्ट की गयी है ॥४१॥

हे दुर्मते (मूर्ख) ! कदाचित् फेनके समूहमें अथवा केलाके स्तम्भमें भले ही कुछ सार प्रतीत हो सके, परन्तु मनुष्योंके शरीरमें कुछ भी सार नहीं है; ऐसा तू निश्चित समझ ॥४२॥

शनि आदि ग्रह, चन्द्र, सूर्य, तारे और वसन्त आदि ऋतुएँ जाती हैं और फिरसे आती भी हैं; परन्तु प्राणियोंके शरीर जा करके फिरसे स्वप्नमें भी वापिस नहीं आते हैं ॥४३॥

१. M N वञ्चनोद्भूत । २. N मनीषिभिः । ३. S T F V B C T Y R शरीरे न । ४. B J ग्रहतारार्कचन्द्रमाः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

93) ये जाताः[1] सातरूपेण[2] पुद्गलाः प्राङ्मनःप्रियाः ।
पश्य पुंसां समापन्ना दुःखरूपेण ते ऽधुना ॥४४

94) मोहाञ्जनमिवाक्षाणामिन्द्रजालोपमं जगत् ।
मुह्यत्यस्मिन्नयं लोको[3] न विद्मः केन हेतुना ॥४५

93) ये जाताः—ये पुद्गलाः प्राक् पूर्वं सुखरूपेण* जाताः । कथंभूताः पुद्गलाः । मनःप्रियाः मनोऽभीष्टाः । हे भव्य, त्वं पश्य । पुंसां पुरुषाणाम् । अधुना ते पुद्गलाः दुःखरूपेण जाता दृश्यन्ते इति तात्पर्यार्थः ॥४४॥ अथ जगतो ऽनित्यत्वमाह ।

94) **मोहाञ्जनमिव**—इति वयं न विद्मः न जानीमहे । कथंभूतं जगत् अस्मिन् जगति अयं लोकः केन हेतुना मुह्यति मोहं याति इति । किं जगत् । इन्द्रजालोपमं वर्तते । अक्षाणाम् इन्द्रियाणां मोहाञ्जनमिव मोहनीयकज्जलवत् प्रतिभातीत्यर्थः ॥४५॥ अथ पदार्थानां विनश्वरत्वमाह ।

देखो ! जीवोंके मनको प्रिय लगनेवाले जो पुद्गल पहिले सुखरूपसे परिणत थे वे ही इस समय दुःखरूपसे परिणत हो रहे हैं । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि कोई भी पदार्थ न तो सर्वथा इष्ट है और न सर्वथा अनिष्ट भी है, किन्तु प्राणी उसे अपनी कल्पनाके अनुसार कभी इष्ट और कभी अनिष्ट मानता है । उदाहरणके रूपमें एक मनुष्य अपनी इच्छानुसार बहुत-सा धन खर्च करके सुन्दर भवनको बनवाता है और जब वह बनकर पूरा हो जाता है तब वह उसे अतिशय प्रिय दिखता है । परन्तु तत्पश्चात् यदि कोई निमित्तज्ञ आदि उसे अनिष्टकर बतला देता है और दुर्भाग्यसे उसमें किसी इष्ट जनकी मृत्यु हो जाती है तब तो वही भवन उसे विषके समान प्रतीत होने लगता है । इसी प्रकार मधुर संभाषणके साथ अपनी सब इच्छाओंको पूर्ण करनेवाली पत्नी मनुष्यको अतिशय प्यारी लगती है । परन्तु यदि पीछे उसका कुछ दुराचरण प्रकट होता है या तद्विषयक आशंका भी होती है तो फिर वही वल्लभा सर्पिणीसे भी भयानक प्रतीत होने लगती है । जो दुग्ध आदि स्वस्थ अवस्थामें अतिशय रुचिकर प्रतीत होते हैं वे ही ज्वर आदिकी अवस्थामें कडुए दिखने लगते हैं । वे ही वस्त्र भिन्न-भिन्न ऋतुओंके अनुसार मनुष्यको कभी इष्ट प्रतीत होते हैं तो कभी अनिष्ट भी । इससे निश्चित है कि इस परिवर्तनशील संसारमें किसी भी पदार्थकी अवस्था नियत नहीं है । अत एव अभीष्ट विषयोंको स्थिर मानकर उनके विषयमें अनुराग तथा अनिष्ट समझी जानेवाली वस्तुओंसे द्वेष व उनके निराकरणका चिन्तन आदि सब निरर्थक है । सुखका कारण तो वास्तवमें सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियोंका उदय ही है । इसलिए सुखाभिलाषी प्राणीको उन्हींका संचय करना योग्य है ॥४४॥

यह विश्व नेत्रोंमें मोहको उत्पन्न करनेवाले—पदार्थके स्वरूपको विपरीत दिखलानेवाले—अंजनके समान अथवा इन्द्रजाल—बाजीगरके कपटपूर्ण खेल—के समान है । फिर हम यह नहीं जानते कि यह प्राणी किस कारणसे उसके विषयमें मुग्ध होता है—अनुराग करता है ॥४५॥

१. M F V B C J ये याताः । २. F V C X शान्तरूपेण, B सुखरूपेण । ३. J लोके न ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

95) ये ये त्रि[1]जगतीमध्ये पदार्थाश्चेतनेतराः ।
ते ते मुनिभिरुद्दिष्टाः प्रतिक्षणविनश्वराः ॥४६

96) गगननगरकल्पं संगमं वल्लभानां
जलदपटलतुल्यं यौवनं वा धनं वा ।
स्व[2]जनसुतशरीरादीनि विद्युच्चलानि
क्षणिकमिति[3] समस्तं विद्धि संसारवृत्तम् ॥४७

[इति] अनित्यता [१]

97) न स को ऽप्यस्ति दुर्बुद्धे शरीरी भुवनत्रये ।
यस्य कण्ठे कृतान्तस्य न पाशः[4] प्रसरिष्यति ॥४८

95) ये ये त्रिजगती—त्रिजगतीमध्ये स्वर्गमृत्युपाताले ये ये पदार्थाः । चेतनाश्च इतराश्च चेतनेतराः प्रतिक्षणविनश्वराः मुनिभिरुद्दिष्टाः कथिता इति भावः ॥४६॥ अथ वल्लभानां चञ्चलत्वमाह । मालिनी छन्दः ।

96) गगननगरकल्पं—वल्लभानां रामाणां संगमं गगननगरकल्पं गन्धर्वनगरसदृशम् । वा अथवा । यौवनं जलदपटलतुल्यं मेघमालासंनिभम् । वा इति पक्षान्तरे । धनं मेघमालासंनिभं मेघमालासदृशमित्यर्थः । स्वजनसुतशरीरादीनि विद्युच्चलानि सौदामिनीचञ्चलानि । हे विद्वन्, संसारवृत्तं संसारचरितम् इति अमुना प्रकारेण क्षणिकं विद्धि जानीहि, इति तात्पर्यार्थः ॥४७॥ इति प्रथमभावना समाप्ता । अथ द्वितीयभावनामाह ।

97) न स कोऽप्यस्ति—हे दुर्बुद्धे, स को ऽपि भुवनत्रये शरीरी नास्ति यस्य शरीरिणः कण्ठे कृतान्तस्य यमस्य पाशः न प्रसरिष्यति, इति भावः ॥४८॥ अथ जीवस्य न को ऽपि त्राणमित्याह ।

यहाँ तीनों ही लोकोंके भीतर जो जो चेतन और अचेतन पदार्थ हैं वे वे सब क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाले हैं, ऐसा मुनियोंने निर्दिष्ट किया है ॥४६॥

अतिशय प्रिय दिखनेवाली स्त्रियोंका संयोग आकाशनगरके समान है—जिस प्रकार आकाशमें नगरकी रचना सम्भव नहीं है उसी प्रकार स्त्रियोंका सदा संयोग भी सम्भव नहीं है, अथवा जिस प्रकार देवके द्वारा आकाशमें रचा गया नगर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है उसी प्रकार सुन्दर स्त्रियोंका संयोग भी शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाला है। यौवन और धन-सम्पत्ति मेघपटलके समान नश्वर हैं। कुटुम्बीजन, पुत्र और शरीर आदि बिजलीके समान चंचल (अस्थिर) हैं। हे भव्य! इस संसारमें जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है उस सबको ही तू क्षणिक—क्षणभर रहकर नष्ट हो जानेवाला—समझ ॥४७॥

२. अशरणभावना—हे अज्ञानी प्राणी! तीनों लोकोंमें ऐसा कोई भी शरीरधारी जीव

१. S ये ये च जगती, V C R ये चात्र जगती । २. All others except P N B Y सुजनसुत ।
३. F V C क्षणिकमिव । ४. M N °स्य पाशो न ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

98) समापतति दुर्वारे[1] यमकण्ठीरवक्रमे ।
त्रायते ऽयं न हि प्राणी सोद्योगैस्त्रिदशैरपि ॥४९

99) सुरासुरनराहीन्द्रनायकैरपि दुर्धरा ।
जीवलोकं क्षणार्धेन बध्नाति यमवागुरा ॥५०

100) जगत्त्रयजयी वीर एक एवान्तकः स्फुटम्[2] ।
इच्छामात्रेण यस्यैते पतन्ति त्रिदशेश्वराः ॥५१

101) शोचन्ति[3] स्वजनं मूर्खाः स्वकर्मफलभोगिनम् ।
नात्मानं बुद्धिविध्वंसार्थमदंष्ट्रान्तरस्थितम् ॥५२

---

98) **समापतति**—हि निश्चितम् । प्राणी त्रिदशैरपि यन्न* त्रायते । कथंभूतैस्त्रिदशैः । सोद्योगैः सोद्यमैः । कदा । यमकण्ठीरवक्रमे यमसिंहपदे यदा पतति । कथंभूते यमकण्ठीरवक्रमे । दुर्वारे दुःशक्ये, इति सूत्रार्थः ॥४९॥ अथ जीवलोकस्य मृत्युवशतामाह ।

99) **सुरासुरनरा**—यमवागुरा यमबन्धनं जीवलोकं क्षणार्धेन बध्नाति । कथंभूताः । सुरासुरनराहीन्द्रनायकैः देवासुरमनुष्यनागेन्द्रनायकैरपि दुर्धराः दुःसहाः इति सूत्रार्थः ॥५०॥ अथ कृतान्तस्याधिपत्यमाह ।

100) **जगत्त्रयजयी**—एक एवान्तको वीरो वर्तते । कथंभूतो ऽन्तकः । जगत्त्रयजयी । स कः । क्षणे* मरणसमये यस्य इच्छामात्रेण त्रिदशेश्वराः पतन्ति मरणं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥५१॥ अथात्मानं विहायान्यजनं शोचन्ति मूर्खास्तदेवाह ।

101) **शोचन्ति स्वजनं**—मूर्खाः स्वजनं शोचन्ति । कथंभूतं स्वजनम् । कर्मफलभोगिनं निजशुभाशुभकर्मफलभोक्तारम् । ते आत्मानं न शोचन्ति । कस्मात् । बुद्धिविध्वंसात् विशिष्टज्ञान-

---

नहीं है जिसके गलेमें यमकी फाँस न फैलनेवाली हो—सब ही प्राणी मृत्युके ग्रास बननेवाले हैं, स्थिर रहनेवाला यहाँ कोई भी नहीं है ॥४८॥

दुर्निवार मृत्युरूप सिंहके पैरके पड़नेपर इस प्राणीको अन्यकी तो बात क्या, किन्तु अतिशय प्रयत्नशील देव भी नहीं बचा सकते हैं ॥४९॥

जिस यमराजकी वागुराको—मृगोंको फँसानेवाले व्याधके जालको—इन्द्र, असुरेन्द्र, चक्रवर्ती और धरणेन्द्र (या शेषनाग) भी नहीं रोक सकते हैं वह प्राणिसमूहको आधे ही क्षणमें बाँध लेती है ॥५०॥

जिसकी इच्छामात्रसे ये कल्पवासी इन्द्र भी च्युत हो जाते हैं—मरणको प्राप्त होते हैं—वह तीनों लोकोंको जीतनेवाला यमराज ही एक अद्वितीय सुभट है, यह स्पष्ट है—जग जाहिर है ॥५१॥

जिनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है वे मूर्ख अपने कर्मके फलको भोगनेवाले—अपने आयु-

---

१. S R त्रायते तु न । २. S T V B C J X R एवान्तकः क्षणे । ३. S T V C R शोच्यन्ते स्वजनं ।
४. All others except P M B X Y विध्वंसा यम ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

102) अस्मिन्[1] संसारकान्तारे यमभोगीन्द्रसेविते ।
पुराणपुरुषाः पूर्वमनन्ताः प्रलयं गताः ॥५३

103) प्रतीकारशतेनापि त्रिदशैर्न निवार्यते ।
यत्रायमन्तकः पापी नृकीटैस्तत्र का कथा ॥५४

104) गर्भादारभ्य नीयन्ते प्रतिक्षणमखण्डितैः ।
प्रयाणैः प्राणिनो मूढ कर्मणा यममन्दिरम् ॥५५

नाशात् । कथंभूतमात्मानम् । यमदंष्ट्रान्तरस्थितं मृत्युमुखान्तरगतमित्यर्थः ॥५२॥ अथ त्रैकाल्ये ऽपि मृत्योर्वशित्वं पुराणपुरुषाणामाह ।

102) **अस्मिन् संसार**—अस्मिन् संसारकान्तारे पुराणपुरुषाः पूर्वम् अनन्ताः प्रलयं गता नाशं प्राप्ताः । कथंभूते संसारकान्तारे । यमभोगीन्द्रसेविते इति सूत्रार्थः ॥५३॥ अथान्तकस्यानिवार्यत्वमाह ।

103) **प्रतीकारशतेनापि**—यत्र लोके अयम् अन्तकः पापी त्रिदशैर्देवैः प्रतिकार-[शतेन] उपायशतेनापि न निवार्यते । तत्र निवारणे नृकीटैः नरपतङ्गैः का कथा । न कापि इत्यर्थः ॥५४॥ अथ कर्मवशात् स्ववस्थासु प्राणिनः म्रियन्ते तदेवाह ।

104) **गर्भादारभ्य**—हे मूढ मूर्ख, प्राणिनः कर्मणा स्वकृतकर्मणा गर्भादारभ्य प्रतिक्षणं यममन्दिरं नीयन्ते अखण्डितैः प्रयाणैरित्यर्थः ॥५५॥

कर्मके क्षीण हो जानेपर मरणको प्राप्त हुए—कुटुम्बी जनका तो शोक करते हैं, किन्तु स्वयं अपने आपको यमकी दाढ़ोंके बीचमें स्थित—मरणोन्मुख—नहीं देखते हैं ॥५२॥

यमरूप सर्पराजसे सेवित इस संसाररूप वनके भीतर पहिले अनन्त पुराण पुरुष—पुराणोंमें वर्णित तीर्थंकर एवं चक्रवर्ती आदि—मृत्युको प्राप्त हो चुके हैं, अर्थात् उनकी भी रक्षा नहीं हो सकी है ॥५३॥

इस पापी यमराजको जहाँ सैकड़ों प्रकारसे प्रतीकारका प्रयत्न करके देव भी नहीं रोक सके हैं वहाँ क्षुद्र मनुष्यरूप कीड़ोंकी तो बात ही क्या है ? वे तो उसका निवारण किसी प्रकारसे भी नहीं कर सकते हैं ॥५४॥

हे मूर्ख ! कर्मके द्वारा ये प्राणी गर्भसे लेकर प्रति समयमें स्थिर प्रयाणों (पड़ाव—बीचमें ठहरनेके स्थान) के द्वारा यमालयको ले जाये जाते हैं। अभिप्राय यह है कि अपने अपने कर्मके अनुसार कोई प्राणी गर्भावस्थामें ही, कोई जन्म होनेपर और कोई शैशव आदि (कुमार, युवा व वृद्धत्व) अवस्थामें नियमसे मरणको प्राप्त होते हैं ॥५५॥

---

१. N S T V C R यस्मिन् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

105) यदि दृष्टः श्रुतो वास्ति यमाज्ञावञ्चको बली ।
तमाराध्य भज स्वास्थ्यं नैवं चेत्किं वृथा श्रमः ॥५६

106) परस्येव[1] न जानाति विपत्तिं स्वस्य मूढधीः ।
वने सत्त्वसमाकीर्णे दह्यमाने तरुस्थवत् ॥५७

107) यथा बालं तथा वृद्धं यथाढ्यं दुर्विधं तथा[2] ।
यथा शूरं तथा भीरुं साम्येन ग्रसते ऽन्तकः ॥५८

105) **यदि दृष्टः**—हे भव्य, त्वं स्वास्थ्यं भज । तं वक्ष्यमाणम् आराध्य । तमिति कम् । कश्चित् यमाज्ञावञ्चकः पुरुषः यदि दृष्टः अथवा श्रुतो ऽस्ति वा । कथंभूतः कः । बली बलवान् । एवं चेत् को ऽपि एतादृशो बली नास्ति तर्हि किं वृथा श्रमः क्रियते ॥५६॥ अथ मुग्धानां स्वकर्मफलमाह ।

106) **परस्येव न**—कश्चित् मूढधीः मूर्खः, इव यथा, परस्य विपत्ति मरणादिकीं जानाति तथा स्वस्य न जानाति । तत्र दृष्टान्तमाह । यथा वने दह्यमाने तरुस्थजीववत् न जानाति । कथंभूते वने । सत्त्वसमाकीर्णे । को ऽर्थः । तरुस्थजीवः वने दह्यमानान् अनेकान् सत्त्वान् पश्यन् आत्मानं दह्यमानं न पश्यति इति तात्पर्यार्थः ॥५७॥ अथान्तकसंहारविशेषमाह ।

107) **यथा बालं**—अन्तकोऽयं यमः सर्वान् जीवान् साम्येन ग्रसते । तत्कथम् । यथा बालं ग्रसते तथा वृद्धं ग्रसते । यथा आढ्यं धनिनं ग्रसते तथा दरिद्रं ग्रसते, यथा शूरं ग्रसते तथा भीरुं भयानकमिति भावः ॥५८॥ अथ मरणे प्राप्ते सर्वमौषधादिकस्य विफलत्वमाह ।

हे मूर्ख ! यदि तूने यमकी आज्ञाको ठुकरानेवाले—कभी भी न मरनेवाले—किसी भी बलवान्को देखा हो या सुना हो तो उसकी आराधना करके स्वास्थ्यकी सेवा कर—शरीरको स्वस्थ रखनेके लिए उसका पोषण भले ही कर परन्तु वैसे किसी बलवान्को यदि कहींपर न देखा है और न सुना है तो फिर तेरा उस शरीरको स्थिर रखनेके लिये परिश्रम करना व्यर्थ है—उचित नहीं है ॥५६॥

जिस प्रकार अनेक पशु-पक्षियोंसे व्याप्त वनमें आगके लग जानेपर वृक्षपर स्थित मनुष्य अन्य प्राणियोंको तो जलता हुआ देखता है, परन्तु यह नहीं सोचता कि इस वृक्षके जलनेपर मैं भी उसीमें भस्म हो जानेवाला हूँ; इसी प्रकार अज्ञानी जीव दूसरेकी विपत्तिको तो जानता है, परन्तु उसीके समान मुझे भी वह विपत्ति प्राप्त होनेवाली है, इसका विचार नहीं करता है ॥५७॥

यम (मृत्यु) जैसे बालकको ग्रसता है वैसे ही वह वृद्धको भी ग्रसता है, जैसे धनवान् मनुष्यको ग्रसता है वैसे ही निर्धनको भी ग्रसता है, तथा जैसे वीर सुभटको ग्रसता है वैसे ही कायरको भी ग्रसता है । इस प्रकार वह बिना किसी प्रकारके भेदभावके सभी प्राणियोंको समानरूपसे ग्रसता है—उसके आक्रमणसे कोई भी प्राणी नहीं बच सकता है ॥५८॥

१. N T परस्यैव न । २. X यथार्केन्दु [न्दुं] विधुंत्व[तु] दः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

108) गजाश्वनरसैन्यानि[1] मन्त्रौषधबलानि च ।
व्यर्थीभवन्ति सर्वाणि विपक्षे देहिनां यमे ॥५९
109) विक्रमैकरसस्तावज्जनः सर्वो ऽपि वल्गति ।
न शृणोत्यदयं[2] यावत् कृतान्तहरिगर्जितम् ॥६०
110) अकृताभीष्टकल्याणमसिद्धारब्धवाञ्छितम् ।
प्रागेवागत्य[3] निस्त्रिंशो हन्ति लोकं यमः क्षणे[4] ॥६१
111) भ्रूभङ्गारम्भभीतं[5] स्खलति जगदिदं ब्रह्मलोकावसानं
सद्यस्त्रुट्यन्ति शैलाश्चरणगुरुभराक्रान्तधात्रीवशेन ।

108) **गजाश्वनरसैन्यानि**—देहिनां प्राणिनां यमे विपक्षे प्रतिकूले सर्वाणि गजाश्वरथ*-सैन्यानि व्यर्थीभवन्ति । च पुनः । मन्त्रौषधबलानि व्यर्थीभवन्ति इत्यर्थः ॥५९॥ अथ तस्यैवाधिक्यमाह ।

109) **विक्रमैकरस**—सर्वो ऽपि जनो ऽभिमानी यावत् अदयं निर्दयं कृतान्तहरिगर्जितं यमसिंहशब्दं न शृणोति इति सूत्रार्थः ॥६०॥ अथ यमस्याधिक्यमाह ।

110) **अकृताभीष्ट**—क्षणे मरणसमये यमः लोकं हन्ति । कथंभूतः । निस्त्रिंशो निर्दयः । कथंभूतम् । अकृताभीष्टकल्याणम् अप्राप्ताभिमतश्रेयसम् । पुनः कथंभूतम् । असिद्धारब्धवाञ्छितमिति भावः ॥६१॥ अथ महावीराणामपि कालकृतापायमाह । स्रग्धरा ।

111) **भ्रूभङ्गारम्भभीतं**—ते ऽपि प्रवीराः सर्वे कतिपयदिवसैः कालराजेन मृत्युनायकेन नीता वार्तावशेषं प्राप्ताः कथावशेषजाताः । येषां प्रवीराणां चरणगुरुभराक्रान्तधात्रीवशेन पदगरिष्ठ-

उस यमके प्राणियोंके विरुद्ध होनेपर हाथी, घोड़ा, मनुष्य और सेना तथा मन्त्र व औषधकी भी सब शक्तियाँ निरर्थक होती हैं—उसके सामने इनमेंसे किसीका भी प्रभाव नहीं चलता है ॥५९॥

जब तक यमरूप सिंहकी निर्दय (भयानक) गर्जना नहीं सुनी जाती तब तक सब ही प्राणी अपने पराक्रममें चूर होते हुए प्रवर्तमान देखे जाते हैं—मृत्युका आक्रमण होनेपर सभीका पराक्रम नष्ट हो जाता है ॥६०॥

जिस प्राणीने अपने अभीष्ट हितको नहीं किया है तथा जिसकी आरम्भ किये हुए कार्यके पूर्ण करनेकी इच्छा भी सिद्ध नहीं हो सकी है—जो प्रारम्भ किये हुए कार्यको अभी पूरा भी नहीं कर सका है, ऐसे प्राणी को वह यम पहिले ही आकर क्षणभरमें मार डालता है ॥६१॥

जिन सुभटोंकी भ्रुकुटियोंके भंगमात्रसे ही केवल क्रोधित होनेपर ही—ब्रह्मलोकपर्यन्त यह सब जगत् गिर जाता है तथा जिनके पैरोंके भारी बोझसे दबी हुई पृथिवीके वश बड़े-बड़े

१. All others except P गजाश्वरथ । २. P अदयं = निष्ठुरं । ३. M प्रागेवागतनिस्त्रिंशो । ४. L F क्षणात् । ५. B J °रम्भभीरुं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

येषां ते ऽपि प्रवीराः कतिपयदिवसैः कालराजेन सर्वे
नीता वार्ताविशेषं तदपि हतधियां जीविते ऽप्युद्धताशा ॥६२

112) रुद्राशागजदेवदैत्यखचरग्राहग्रहव्यन्तरा
दिक्पालाः प्रतिशत्रवो हरिबलव्यालेन्द्रचक्रेश्वराः[2] ।
ये चान्ये मरुदर्यमादिबलिनः संभूय सर्वे स्वयं
नारब्धं यमकिंकरैः क्षणमपि त्रातुं क्षमा देहिनम्[3] ॥६३

भरव्याप्तपृथ्वीवशेन इदं जगत् स्खलितं चकितम् । कथंभूतं जगत् । भ्रूभङ्गारम्भभीतं भ्रूकटाक्षभीतम् । पुनः कथंभूतं जगत् । ब्रह्मलोकावसानं पञ्चमस्वर्गपर्यन्तम् । शैलाः पर्वताः सद्यः शीघ्रं त्रुट्यन्ति पतन्तीत्यर्थः । तेनैव चरणगुरुभराक्रान्तधात्रीवशेन । एतादृशसामर्थ्योपेता यदि मृताः । अपि इत्याश्चर्ये । तत्तस्मात् कारणाद् हतधियां गतबुद्धीनां जीविते ऽपि आशा उद्धता बलवत्तरा इत्यर्थः ॥६२॥ अथ सर्वेषां देवानां मृत्युवश्यतामाह । शार्दूलविक्रीडितम् ।

112) **रुद्राशागजदेव**—यदा यमकिंकरैरारब्धं मरणं तदा देहिनः* प्राणिनः त्रातुं क्षणमपि एते सर्वे स्वयं संभूय न क्षमाः समर्थाः भवेयुः । के ते । रुद्रो महादेवः, आशागजा दिग्गजाः, देवा भुवनपत्यादयः, दैत्याः प्रसिद्धाः, खचराः विद्याधराः, ग्राहाः अभिमानिनः, ग्रहाः सूर्यादयः, व्यन्तराः देवविशेषाः, तेषां समाहारः । ते त्रातुं क्षणमपि न समर्था इत्यध्याहारः सर्वत्र योज्यः । दिक्पालाः तथैव न समर्थाः । प्रतिशत्रवः प्रतिवासुदेवाः, हरिः कृष्णः, बलः बलभद्रः, व्यालेन्द्रो धरणीन्द्रः, चन्द्रः* प्रसिद्ध एव, ईश्वरः तेषां समाहारः । ते ऽपि न क्षणमपि त्रातुं समर्थाः । च पुनः । ये ऽन्ये मरुत् देवविशेषाः, अर्यमा सूर्यः, स आदिः येषां ते बलिनो बलवन्त इत्यर्थः ॥६३॥ अथ जीवं मृत्युमुखप्राप्तं न कोऽपि रक्षतीति दर्शयति । शार्दूलविक्रीडितम् ।

पहाड़ भी शीघ्र टूट जाते हैं उन सब अतिशय शूर-वीर सुभटोंकी भी उस मृत्युरूप राजाके प्रभावसे कुछ ही दिनोंमें केवल वार्ता मात्र शेष रह जाती है—वे भी शीघ्र उस मृत्युके ग्रास बन जाते हैं। फिर भी दुर्बुद्धि प्राणियों की इस जीवनके विषयमें उत्कट इच्छा बनी ही रहती है ॥६२॥

महादेव, दिग्गज, देव, दैत्य, विद्याधर, ग्राह (हिंसक जलजन्तु), ग्रह (शनि आदि) व्यन्तर, दिक्पाल, प्रतिनारायण, नारायण, बलदेव, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती तथा अन्य भी वायु एवं सूर्य आदि बलवान्; ये सब स्वयं मिल करके भी यमके दूतोंके द्वारा ग्रहण करनेके लिए प्रारम्भ किये गये (मरणोन्मुख) प्राणीकी क्षणभर भी रक्षा करनेके लिए समर्थ नहीं हैं ॥६३॥

---

१. L S T F V C J X Y हरिबला व्यालेन्द्र । २. M J Y चन्द्रेश्वराः । ३. T X देहिनां, B देहिनः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

113) आरब्धा मृगबालिकेव विपिने संहारदन्तिद्विषा
पुंसां जीवकला निरेति पवनव्याजेन भीता सती ।
त्रातुं न क्षमसे यदि क्रमपदप्राप्तां वराकीमिमां
न त्वं निर्घृण लज्जसे ऽत्र जनने भोगेषु रन्तुं तदा[1] ॥६४

114) पाताले ब्रह्मलोके सुरपतिभुवने[2] सागरान्तैर्वनान्ते[3]
दिक्चक्रे शैलशृङ्गे दहनवनहिमैर्ध्वान्तवज्रासिदुर्गे[4] ।
भूगर्भे संनिषण्णं[5] समदकरिघटासंकटे वा बलीयान्
कालो ऽयं क्रूरकर्मा कवलयति बलाज्जीवितं देहभाजाम् ॥६५

113) **आरब्धा मृग**—पुंसां पुरुषाणां जीवकला, संहारदन्तिद्विषा मृत्युसिंहेन, आरब्धा व्याप्ता, निरेति नितरां गच्छति । केन । पवनव्याजेन भीता सती श्वासोच्छ्वासकपटेन शङ्किता । रे निर्घृण निर्लज्ज ! अत्र जनने एतज्जन्मनि इमां जीवकलां वराकीं यमक्रमपदप्राप्तां यदि त्रातुं रक्षितुं न क्षमसे तदा भोगेषु रन्तुं न लज्जसे । का इव । मृगबालिकेव । यथा मृगबालिका विपिने वने पवनव्याजेन भीता सती निरेति नितरां गच्छत्येव ॥६४॥ अथ कालस्य सर्वव्यापकत्वमाह । स्रग्धरा छन्दः ।

114) **पाताले ब्रह्मलोके**—अयं कालो देहभाजां जीवितं बलात्कवलयति । कथंभूतः कालः । क्रूरकर्मा । पुनः कथंभूतः कालः । बलीयान् । कथंभूतं जीवितम् । भूगर्भे संनिविष्टं* पृथ्वीमध्ये स्थितम् । संनिविष्टमिति विशेषणं सर्वत्र योज्यम् । पाताले, ब्रह्मलोके, सुरपतिभवने* स्वर्गे, पुनः

जिस प्रकार घातक सिंहके द्वारा वनमें मारनेके लिए प्रारम्भ की गयी अल्पवयस्क हिरणी भयभीत होती हुई निकल कर भागना चाहती है, परन्तु उस सिंहके पैरों तले दबी हुई उस बेचारी की कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है; इसी प्रकार संसारमें घातक मृत्युके द्वारा ग्रहण करनेके लिए प्रारम्भ की गयी प्राणियोंकी जीवकला--आयुका अंश (निषेक)—भयभीत होकर वायु (श्वास) के मिषसे निकल रही है, परन्तु हे निर्दय ! जब तू अनुक्रम-से अन्तको प्राप्त होनेवाली उस बेचारी जीवकलाकी—आयुके अन्तिम निषेककी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है तब तुझे इस संसारमें भोगोंमें रमते हुए लज्जा नहीं आती । अभिप्राय यह है कि प्राणीकी आयु निरन्तर क्षीण हो रही है । वह कब समाप्त हो जावेगी, इसे जब वह नहीं जानता है तब उसकी परवाह न करके उसका निरन्तर भोगोंमें निरत रहना लज्जाजनक है ॥६४॥

पाताल लोकमें, ब्रह्मलोकमें, इन्द्रलोक (स्वर्ग) में, समुद्रके अन्तमें, वनके अन्तमें, दिशामण्डलमें, पर्वतके शिखरपर तथा अग्नि, वन, बर्फ, अन्धकार, वज्रमय प्रदेश, तलवार आदि शस्त्रोंसे रक्षित प्रदेश व दुर्ग (किला) के भीतर, पृथिवीके भीतर और मदोन्मत्त

१. S T F V C J X R रन्तुं सदा । २. All others except P M N F सुरपतिभवने । ३. All others except P सागरान्ते वनान्ते । ४. M N हिमे ध्वान्त । ५. All others except P भूगर्भे सन्निविष्टं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

115) अस्मिन्नन्तकभोगिवक्त्रविवरे संहारदंष्ट्राङ्किते
संसुप्तं भुवनत्रयं स्मरगरव्यापारमुग्धीकृतम् ।
प्रत्येकं गिलतो ऽस्य निर्दयधियः केनाप्युपायेन वै
नास्मान्निःसरणं[1] तवार्य कथमप्यत्यक्षबोधं विना ॥६६

[इति] अशरणम् । [२]

116) चतुर्गतिमहावर्ते दुःखवाडवदीपिते ।
भ्रमन्ति भविनो ऽजस्रं वराका जन्मसागरे ॥६७

सागरान्ते* समुद्रान्ते, वनान्ते, दिवसमूहे, शैलशृङ्गे पर्वतमस्तके । कथंभूते । दहनवनहिमध्वान्तवज्रासिदुर्गे । दहनो वह्निः, वनं च तस्य ते । हिमं जाड्यं, ध्वान्तं अन्धकारः, वज्रम् इन्द्रायुधम् एतैर्दुर्गे । पुनः समदकरिघटासंकटे । वा शब्दः सर्वत्र योज्यः, इति सूत्रार्थः ॥६५॥ अथ एवं कालस्वरूपं कथयित्वा आर्यं प्रतिबोधयति । शार्दूलविक्रीडितम् ।

115) **अस्मिन्नन्तक**—हे आर्य, अस्य तव अस्मात् प्रत्येकं गिलतः भक्षयतः । निर्दयधियः दयारहितबुद्धेः वै निश्चितं कथमपि महता कष्टेनापि केनापि उपायेन निःसरणं निर्गमो न भवति । अस्मिन् अन्तकभोगिवक्त्रविवरे यमनागमुखविवरे भुवनत्रयं संसुप्तम् । कथंभूतेऽस्मिन् । संहारदंष्ट्राङ्किते । कथंभूतं भुवनत्रयम् । स्मरगरव्यापारमुग्धीकृतम् । कन्दर्पविषव्यापारमूर्च्छितम् । अत्यक्षबोधम् अतीन्द्रियज्ञानं विना इति सूत्रार्थः ॥६६॥ इति द्वितीया अशरणभावना समाप्ता । अथ तृतीयां संसारभावनामाह ।

116) **चतुर्गतिमहा**—जन्मसागरे भविनो जीवाः अजस्रं निरन्तरं वराकाः निःशरणाः

हाथियोंके समूहसे गहन प्रदेशमें भी रखे जानेपर यह दुराचारी अतिशय बलवान् काल बलपूर्वक प्राणियोंके जीवनको अपना ग्रास बनाता ही है। अभिप्राय यह है कि सिद्ध क्षेत्रको छोड़कर लोकमें दूसरा कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँपर जाकर मृत्यु प्राणी को ग्रसित न करती हो ॥६५॥

तीनों लोकोंके प्राणी काम (विषयानुराग) रूप विषके व्यवहारसे मोहको प्राप्त होकर घातक (विषैली) दाढ़ोंसे संयुक्त इस यमरूप सर्पके मुखरूप छेदके भीतर गाढ़ निद्रामें सो रहे हैं। उनमेंसे प्रत्येकको वह यम निर्दयतापूर्वक अपना ग्रास बना रहा है। हे आर्य ! उसके मुखसे कोई भी प्राणी किसी भी प्रकारसे तब तक नहीं निकल सकता है जब तक कि वह अतीन्द्रिय ज्ञानको नहीं प्राप्त कर लेता। अभिप्राय यह है कि जो भव्य जीव केवलज्ञानको सम्पादित करके मुक्तिको प्राप्त कर लेते हैं वे ही उस मृत्युसे छुटकारा पा जाते हैं, शेष सब ही प्राणी समयानुसार उस मृत्यु को प्राप्त होते ही हैं ॥६६॥

३. संसार भावना—जीव जिस तरह संसारमें निरन्तर परिभ्रमण कर रहे हैं वह संसार समुद्रके समान है। कारण यह कि जिस प्रकार समुद्रमें जलके गोलाकार परिभ्रमण-

---

१. M N L तस्मान्निःशरणं, T V C नास्मान्निःशरणं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

117) उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते स्वकर्मनिगडैर्वृताः ।
स्थिरेतरशरीरेषु संचरन्तः शरीरिणः ॥६८
118) कदाचिद्देवगत्यायुर्नामकर्मोदयादिह ।
प्रभवन्त्यङ्गिनः स्वर्गे पुण्यप्राग्भारसंभृताः ॥६९
119) कल्पेषु च[1] विमानेषु निकायेष्वितरेषु[2] वा[3] ।
निर्विशन्ति सुखं दिव्यमासाद्य त्रिदिवश्रियम्[4] ॥७०

भ्रमन्ति । कथंभूते जन्मसागरे । चतुर्गतिमहावर्ते । पुनः कथंभूते । दुःखवाडवदीपिते । पदद्वयं सुगमम् ॥६७॥ अथ चतुर्गतिभ्रमणे कर्मणि हेतुत्वमाह ।

117) उत्पद्यन्ते—शरीरिणो जीवाः स्थिरेतरशरीरेषु स्थिरास्थिरदेहेषु संचरन्तः सन्तः उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते म्रियन्ते । पुनः कथंभूताः शरीरिणः । स्वकर्मनिगडैर्वृताः इति सूत्रार्थः ॥६८॥ अथ चतुर्गतिषु देवगत्योत्पादमाह ।

118) कदाचिद्देव—इह संसारे कदाचित् अङ्गिनः स्वर्गे प्रभवन्ति । कथंभूता अङ्गिनः । पुण्यप्राग्भारसंभृताः । कस्मात् । देवगत्यायुर्नामकर्मोदयात् । देवगतिः देवायुर्नामकर्मोदयादित्यर्थः ॥६९॥ देवगतावपि विशेषमाह ।

119) कल्पेषु च—चकारात्तेऽङ्गिनः कल्पेषु षोडशेषु । चकारात्तत्रस्थेषु विमानेषु । च पुनः । इतरेषु भवनपत्यादिनिकायेषु दिव्यं देवसंबन्धि सुखं निर्विशन्ति, धातूनामनेकार्थत्वात् भुञ्जते । किं कृत्वा । त्रिदिवश्रियं देवशोभां लक्ष्मीं वा आसाद्य प्राप्येत्यर्थः ॥७०॥ अथ तेषामेव च्यवनमाह ।

स्वरूप बड़े-बड़े आवर्त उठा करते हैं उसी प्रकार इस संसारमें भी चारों गतियोंके परिभ्रमण-स्वरूप आवर्त अवस्थित हैं तथा समुद्र जहाँ बड़वानलसे सन्तप्त रहता है वहाँ यह संसार दुःखोंकी ज्वालाओंसे सदा सन्तप्त रहता है। तात्पर्य यह कि जन्म और मरणकी परम्पराका नाम ही संसार है। यह अज्ञानी प्राणी अपने अविवेकसे उस संसारके भीतर निरन्तर अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करता रहता है ॥६७॥

अपने कर्मरूप साँकलोंसे जकड़े हुए प्राणी स्थिर (स्थावर) और अस्थिर (स्थावरसे विपरीत त्रस) शरीरोंमें परिभ्रमण करते हुए निरन्तर जन्म लेते हैं और फिर मरणको प्राप्त होते हैं ॥६८॥

प्राणी पूर्वोपार्जित प्रचुर पुण्यके बोझसे परिपूर्ण होते हुए कभी देवगति और आयु नामक कर्मके उदयसे यहाँ स्वर्गमें उत्पन्न हुआ करते हैं ॥६९॥

दिव्य देवोंकी लक्ष्मीको पाकर वे कल्पोंमें—सोलह स्वर्गोंमें, ग्रवेयक आदि कल्पातीत विमानोंमें अथवा अन्य निकायोंमें—भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें—प्रविष्ट होते हैं ॥७०॥

१. X कल्पेष्वपि । २. M N निकाय्येषु । ३. All others except P M N °ष्वितरेषु च । ४. M N Y त्रिदशश्रियम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

120) प्रच्यवन्ते ततः सद्यः प्रविशन्ति रसातलम् ।
भ्रमन्त्यनिलवद्विश्वं पतन्ति नरकोदरे ॥७१

121) विडम्बयत्यसौ हन्त संसारः समयान्तरे ।
अधमोत्तमपर्यायैर्नियोज्य प्राणिनां गणम् ॥७२

122) स्वर्गी भवति साक्रन्दं श्वा स्वर्गमधिरोहति ।
श्रोत्रियः सारमेयः स्यात् कृमिर्वा[1] श्वपचोऽपि[2] वा ॥७३

123) रूपाण्येकानि गृह्णाति त्यजत्यन्यानि संततम् ।
यथा रङ्गे ऽत्र शैलूषस्[3]तथायं यन्त्रवाहकः ॥७४

120) **प्रच्यवन्ते ततः**—ततः स्वर्गात् सद्यः शीघ्रं प्रच्यवन्ते रसातलं प्रविशन्ति । विश्वं जगत् अनिलवत् भ्रमन्ति । नरकोदरे पतन्ति । नरकप्रायोग्यकर्मबन्धं कृत्वा नरकमध्ये गच्छन्तीत्यर्थः ॥७१॥ अथ संसारस्य नानापर्यायमाह ।

121) **विडम्बयत्यसौ**—हन्त इति खेदे । असौ संसारः प्राणिनां गणं विडम्बयति । समयान्तरे आयुर्बन्धकाले अधमोत्तमपर्यायैः जघन्योत्तमदेहैर्नियोज्य इत्यर्थः ॥७२॥ अथ जीवानां गतिविपर्यासमाह ।

122) **स्वर्गी भवति**—स्वर्गी देवः साक्रन्दं पतति अधोगत्यादौ । श्वा कुक्कुरः स्वर्गमधिरोहति । श्रोत्रियो ब्राह्मणोत्तमः सारमेयः श्वा भवति । वा अथवा कृमिकीटविशेषो भवति । वा पक्षान्तरे श्वपचः चाण्डालः स्यात् । अत्र जातेः प्राधान्यं नास्ति किंतु कर्मणः इति सूत्रार्थः ॥७३॥ अतो जीवस्य नटवन्नानावेशकारित्वमाह ।

123) **रूपाण्येकानि**—अत्र रङ्गे रङ्गभूमिकायां यथा शैलूषो नटः एकानि रूपाणि

वहाँसे शीघ्र ही च्युत होकर वे पातालतलमें प्रविष्ट होते हैं—कभी कोई एकेन्द्रियोंमें भी जाकर उत्पन्न होते हैं । इस प्रकारसे वायुके समान लोकमें परिभ्रमण करते हुए वे नरकोंके बीचमें जा पड़ते हैं ॥७१॥

खेद है कि वह संसार समयान्तरमें ही प्राणियोंके समूहको निकृष्ट और उत्कृष्ट पर्यायोंसे संयुक्त करके प्रतारित किया करता है ॥७२॥

कभी स्वर्गवासी देव तो विलाप करता हुआ नीचे गिरता है—निकृष्ट योनिमें उत्पन्न होता है—और हीन गिना जाने वाला कुत्ता स्वर्गपर चढ़ जाता है—देव हो जाता है । इसी प्रकार श्रोत्रिय—वेदाध्यायी ब्राह्मण कभी कुत्ता, क्षुद्र कीड़ा अथवा चाण्डाल भी हो जाता है ॥७३॥

जिस प्रकार रंगभूमिमें नट निरन्तर अनेक रूपोंको ग्रहण करता है और अनेक

१. N कृमिः स्यात् । २. P श्वपचः = चाण्डालः । ३. P शैलूषः = नटः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

124) सुतीव्रासातसंतप्ता मिथ्यात्वातङ्कशङ्किताः[1] ।
पञ्चधा परिवर्तन्ते प्राणिनो जन्मदुर्गमे ॥७५

125) द्रव्यक्षेत्रतथाकाल[2]भवभावविकल्पतः ।
संसारो दुःखसंकीर्णः पञ्चधेति प्रपञ्चितः ॥७६

126) सर्वैः सर्वे ऽपि संबन्धाः संप्राप्ता देहधारिभिः ।
अनादिकालसंभ्रान्तैस्त्रसस्थावरयोनिषु ॥७७

गृह्णाति । संततं निरन्तरम् । अन्यानि त्यजति । यथा तेन प्रकारेण अयं यन्त्रवाहको जीवः एकानि रूपाणि गृह्णाति । अन्यानि त्यजति इति भावः ॥७४॥ अथ जीवानां पञ्चधात्वमाह ।

124) **सुतीव्रासातसंतप्ता**—जन्मदुर्गमे जन्माटव्यां प्राणिनः पञ्चधा पञ्चप्रकारत्वेन परिवर्तन्ते । कथंभूताः प्राणिनः । सुतीव्रासातसंतप्ताः । पुनः कथंभूताः प्राणिनः । मिथ्यात्वातङ्कशङ्किताः मिथ्यात्वभयभ्रान्ताः इति सूत्रार्थः ॥७५॥ पञ्चधात्वमेवाह ।

125) **द्रव्यक्षेत्रतथा**—संसारः इति पञ्चधा प्रपञ्चितः विस्तारितः । कथंभूतः । दुःखसंकीर्णः । इतीति कस्मात् । द्रव्यक्षेत्रतथाकालभवभावविकल्पतः । तत्र द्रव्यं द्व्यणुकादि, क्षेत्रं लोकाकाशप्रदेशमात्रं, कालः उत्सर्पिण्यादिलक्षणः सूर्यंगमागमादिव्यङ्ग्यो वा, भवो मनुष्यादिरूपः, भावः औदयिकादिरूपः, एते पञ्चप्रकाराः इति सूत्रार्थः ॥७६॥ अथ जीवानां त्रसस्थावरेषु परिभ्रमणमाह ।

126) **सर्वैः सर्वे ऽपि**—सर्वैः देहधारिभिः प्राणिभिः सर्वे ऽपि संबन्धाः संप्राप्ताः । केषु । त्रसाः द्वीन्द्रियादयः स्थावरा एकेन्द्रियाः । तेषां योनिषु । अनादिकालसंभ्रान्तैः इति सूत्रार्थः ॥७७॥ अथ जीवानां सर्वगतिपर्यायभ्रमणमाह ।

रूपोंको छोड़ता है उसी प्रकार यह शरीररूप यन्त्रको धारण करनेवाला प्राणी भी यहाँ संसारमें अनेक अवस्थाओं को ग्रहण करता है और अनेकोंको छोड़ता है ॥७४॥

अतिशय तीव्र दुःखसे सन्तापको प्राप्त हुए और मिथ्यात्वरूप रोगसे भयभीत प्राणी संसाररूप गहन वनमें पाँच प्रकारसे परिवर्तन करते हैं ॥७५॥

अनेक दुःखोंसे व्याप्त वह संसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके भेदसे पाँच प्रकार विस्तारपूर्वक कहा गया है ॥७६॥

अनादि कालसे त्रस और स्थावर योनियोंमें परिभ्रमण करनेवाले सब प्राणियों ने सब ही सम्बन्धोंको—पिता-पुत्र और पति-पत्नी आदि अवस्थाओंको—प्राप्त किया है । अभिप्राय यह है कि अनादि कालसे संसारमें परिभ्रमण करता हुआ यह प्राणी जिसका कभी पिता होता है उसीका पुत्र भी हो जाता है । इस प्रकार परिभ्रमण करते हुए ऐसा कोई भी सम्बन्ध शेष नहीं रहा है, जिसे इस प्राणीने अनेक बार न प्राप्त किया हो ॥७७॥

१. S V C R °तङ्कर्तकिताः । २. M N द्रव्यात् क्षेत्रात् तथा कालात्, L द्रव्यं क्षेत्रं तथा, S T C Y द्रव्यक्षेत्रे तथा, P adds this verse on the margin in a different hand.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

127) देवलोके नृलोके च तिरश्चि नरकेऽपि च ।
न सा योनिर्न तद्रूपं न स[1] देशो न तत्कुलम् ॥७८

128) न त[2]द्दुःखं सुखं किंचिन्न पर्यायः स विद्यते ।
यत्रैते प्राणिनः शश्वद्यातायातैर्न खण्डिताः ॥७९

129) न के बन्धुत्वमायाता न के [3]जातास्तव द्विषः ।
दुरन्तागाधसंसारपङ्कमग्नस्य निर्दयम् ॥८०

130) भूपः कृमिर्भवत्यत्र कृमिश्चामरनायकः ।
शरीरी परिवर्तेत कर्मणा वञ्चितो बलात् ॥८१

127-128) देवलोके—यत्र एते प्राणिनः शश्वत् निरन्तरं यातायातैः गतागतैः न खण्डिताः । स पर्यायो न विद्यते । देवलोके । च पुनः नृलोके । च पक्षान्तरे । तिरश्चि लोके तिर्यग्लोके । सा योनिः न । तद्रूपं न । स देशः न । तत्कुलं न । तद्दुःखं न । सुखमपि किंचिन्न इति श्लोकद्वयार्थः ॥७८-७९॥ पुनस्तदेवाह ।

129) न के बन्धुत्व—रे जीव, तव न के बन्धुत्वमायाताः । के न द्विषो जाताः । कथंभूतस्य तव । निर्दयं यथा स्यात् तथा दुरन्तागाधसंसारपङ्कमज्जितस्येति सूत्रार्थः ॥८०॥ अथ कर्मवशान्नानापर्यायमाह ।

130) भूपः कृमिर्भवत्यत्र—शरीरी बलात् वञ्चितः परिवर्तेत । अत्र संसारे । भूपः कृमिर्भवति । च पुनः । कृमिः अमरनायको भवतीति तात्पर्यार्थः ॥८१॥ अथ कुटुम्बस्यानियतत्वमाह ।

देवलोकमें, मनुष्यलोकमें, तिर्यग्लोकमें और नरकमें भी (चारों ही गतियोंमें) वह कोई योनि नहीं है, वह कोई रूप नहीं है, वह कोई देश नहीं है, वह कोई कुल नहीं है, वह कोई दुःख नहीं है, वह कोई सुख नहीं है, और वह कोई पर्याय नहीं है जहाँपर कि ये प्राणी निरन्तर यातायातोंसे—गति और आगतिसे—खण्डित न किये गये हों ॥७८-७९॥

हे भव्य ! दुःखके साथ नष्ट होनेवाले इस अथाह संसाररूप कीचड़के भीतर फँसे हुए तेरे साथ कौन तो बन्धुभावको नहीं प्राप्त हुए हैं और कौन निर्दयतापूर्वक शत्रुभावको नहीं प्राप्त हुए हैं—जो प्राणी कभी शत्रु रहे हैं वे ही कभी घनिष्ठ मित्र भी रहे हैं ॥८०॥

इस संसारमें कभी राजा तो मरकर क्षुद्र कीड़ा (लट) हो जाता है और कभी क्षुद्र कीड़ा भी देवोंका इन्द्र हो जाता है । इस प्रकार यह प्राणी कर्मके द्वारा बलपूर्वक ठगा जाकर अनेक योनियोंमें परिभ्रमण किया करता है ॥८१॥

१. S V C R न तद्देशो । २. M न स दुःखं । ३. B X के यातास्तव ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

131) माता पुत्री स्वसा भार्या सैव संपद्यते ऽङ्गिनाम्[1] ।
पिता पुत्रः पुनः सो ऽपि लभते पैतृकं[2] पदम् ॥८२

132) श्वभ्रे शूलकुठारयन्त्रदहनक्षारक्षुरव्याहतै-
स्तैरश्चे[3] कटुकर्मपावकशिखासंभारभस्मीकृतैः ।
मानुष्ये ऽप्यतुलप्रयासवशगैर्देवेषु रागोद्धतैः
संसारे ऽत्र दुरन्तदुर्गतिमये बम्भ्रम्यते प्राणिभिः ॥८३

[इति] संसारः । [३]

133) महाव्यसनसंकीर्णे दुःखज्वलनदीपिते ।
एकाक्येव भ्रमत्यात्मा दुर्गे भवमरुस्थले ॥८४

131) माता पुत्री—अङ्गजा* पुत्री । शेषं सुगमम् ॥८२॥ अथ चतुर्गतिदुःखस्वरूपमाह । शा० विक्रीडितम् ।

132) श्वभ्रे शूलकुठार—प्राणिभिः अत्र संसारे बम्भ्रम्यते अतिशयेन भ्रम्यते । कथंभूते संसारे । दुरन्तदुर्गतिमये दुःप्राप्यदुर्गतिस्वरूपे । कथंभूतैः । प्राणिभिः । श्वभ्रे नरके । शूलकुठार-यन्त्रदहनक्षारक्षुरव्याहतैः । यन्त्रं तैलनिक्वानकाष्ठं, दहनो वह्निः, क्षारं लवणादि, क्षुरो ऽपि अयोमयः शस्त्रविशेषः । तिर्यक्षु* तिर्यग्गतिषु । कथंभूतैः प्राणिभिः । श्रमदुःखपावकशिखासंभारभस्मीकृतैः । श्रमदुःखाग्निज्वालासमूहभस्मीकृतैः । मानुष्ये ऽपि अतुलप्रयासवशगैः । देवेषु रागोद्धतैः ॥८३॥ इति संसारभावना तृतीया ॥ अथ एकत्वभावनामाह ।

133) महाव्यसन—आत्मा एकाक्येव भ्रमति । क्व । दुर्गे भवमरुस्थले संसारमरुदेशे ।

प्राणियोंकी माता मरकर कभी पुत्री हो जाती है, कभी बहिन हो जाती है, और वही कभी स्त्री भी हो जाता है। इसी प्रकार पिता मरकर पुत्र हो जाता है और फिर वही पुनः पिताके पदको प्राप्त कर लेता है ॥८२॥

संसारी प्राणी नरकगतिमें शूल (शूली या त्रिशूल), कुठार (फरसा), यन्त्र (तिल आदिके पेरनेके यन्त्र), अग्नि, क्षार (पिघलनेवाले पदार्थ या खारे पदार्थ) और छुरा, इत्यादिके संयोगसे छिन्न-भिन्न होकर कष्ट पाते हैं; तिर्यंच अवस्थामें कड़ुए (कष्टप्रद) कर्मरूप अग्निकी ज्वालाओंके समूहसे भस्म किये जाते हैं—पाप कर्मके वशीभूत होकर बोझा ढोने एवं शीत-उष्ण व ताड़ने आदिके प्रचुर दुःखोंको सहते हैं; मनुष्य पर्यायमें अथक परिश्रम करते हुए दुःखी रहते हैं; तथा देवगतिमें रागसे उद्धत रहनेके कारण कष्ट भोगते हैं। इस प्रकारसे वे इस दुर्विनाश चतुर्गतिस्वरूप संसारमें बार-बार परिभ्रमण करते रहते हैं ॥८३॥ संसार भावना समाप्त हुई।

४. एकत्वभावना—भयानक विपत्तियोंसे व्याप्त और दुःखरूप अग्निसे सन्तप्त इस

१. L S T F V B C J X संपद्यतेऽङ्गजा । २. S T B J Y पौत्रिकं । ३. L तैर्यञ्चे, All others except P तिर्यक्षु श्रमदुःखपावक । ४. M शिखासंचार, N शिलासंचार ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

134) स्वयं स्वकर्मनिर्वृत्तं[1] फलं भोक्तुं शुभाशुभम् ।
शरीरान्तरमादत्ते एकः सर्वत्र सर्वथा[2] ॥८५

135) संकल्पानन्तरोत्पन्नं दिव्यं स्वर्गसुखामृतम् ।
निर्विशत्ययमेवैकः[3] स्वर्गश्रीरञ्जिताशयः ॥८६

136) संयोगे विप्रयोगे च संभवे मरणे ऽथवा[4] ।
सुखदुःखविधौ[5] चास्य न सखान्यो ऽस्ति देहिनः[6] ॥८७

कथंभूते । महाव्यसनसंकीर्णे महाकष्टसंकोचे । पुनः कथंभूते । दुःखज्वलनदीपिते दुःखाग्निप्रदीपिते इति श्लोकार्थः ॥८४॥ अथ जीवस्य कर्मफलमाह ।

134) **स्वयं स्वकर्म**—एको जीवः सर्वत्र सर्वगतिषु सर्वथा शरीरान्तरमादत्ते गृह्णाति । किं कर्तुम् । स्वयं निर्वृत्तं बद्धं शुभाशुभं कर्म भोक्तुमित्यर्थः ॥८५॥ स्वर्गसुखमाह ।

135) **संकल्पानन्तरो**—अयम् एकाकी* जीवः दिव्यं देवसंबन्धि स्वर्गसुखामृतं निर्विशति । 'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते,' इति न्यायात् भुङ्क्ते । कथंभूतं स्वर्गसुखामृतम् । संकल्पानन्तरोत्पन्नं मनसा जातम् । कथंभूतः अयम् । स्वर्गश्रीरञ्जिताशयः । सुगमम् । इति श्लोकार्थः ॥८६॥ अथ प्राणिनां सुखदुःखयोर्भोक्तव्ये न को ऽपि सखा एतदेवाह ।

136) **संयोगे विप्रयोगे**—देहिनः प्राणिनः अस्य सुखदुःखविधौ अन्यः सखा नास्ति । क्व । संयोगे इष्टमिलने । विप्रयोगे तदप्राप्तौ । संभवे जन्मनि । मरणे । अथवेति पक्षान्तरे । स्वकर्मफलं स्वयमेव भुङ्क्ते इति भावार्थः ॥८७॥ अथ स्वकर्मभोक्तव्ये न के ऽपि तत्फलं विभजन्तीत्याह ।

दुर्गम संसाररूप मरुस्थल (रेगिस्तान) में यह जीव अकेला ही परिभ्रमण किया करता है ॥८४॥

यह जीव स्वयं किये हुए कर्मका जो शुभ और अशुभ फल निर्मित हुआ है उसको भोगनेके लिए सब योनियोंमें सब प्रकारसे अकेला रहकर—असहाय होकर—अन्य अन्य शरीरको ग्रहण किया करता है। अभिप्राय यह है कि प्राणी अपने और कौटुम्बिक जन आदिके निमित्तसे जो भी भला-बुरा कार्य करता है उससे संचित हुए पुण्य व पापके फलको एक वही भोगता है—इसमें उसका अन्य कोई भी सहायक नहीं होता है ॥८५॥

प्राणी पूर्वोपार्जित पुण्यके उदयसे स्वर्गकी लक्ष्मीसे मनमें अनुरंजित होकर संकल्पके पश्चात् उत्पन्न हुए दिव्य स्वर्गीय सुखरूप अमृतको अकेला ही भोगता है ॥८६॥

संयोग और वियोगमें, जन्म और मरणमें तथा सुख और दुःखके विधानमें इस जीवका दूसरा कोई भी मित्र नहीं है—सहभागी नहीं होता है ॥८७॥

१. P निर्वृत्तं = निर्मापितं । २. N सर्वत्र सर्वदा । ३. S T V B J X R °त्ययमेकाकी; F C °त्ययमेको वै । ४. M N मरणे ऽपि च, X मरणे ऽपि वा, B मरणे तथा । ५. S T V C J Y विधौ वास्य, L दुःखादिके चास्य । ६. X देहिनाम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

137) वित्तपुत्रकलत्रादिकृते[1] कर्म करोत्ययम् ।
यत्तस्य फलमेकाकी भुङ्क्ते श्वभ्रादिभूमिषु[2] ॥८८
138) सहाया अस्य जायन्ते भोक्तुं वित्तानि केवलम् ।
न तु[3] सोढुं स्वकर्मोत्थां[4] निर्दयां व्यसनावलीम् ॥८९
139) [[5]एकत्वं किं न पश्यन्ति जडा जन्मग्रहार्दिताः ।
यज्जन्ममृत्युसंपाते[6] प्रत्यक्षमनुभूयते ॥८९*१]
140) अज्ञातस्वस्वरूपो ऽयं लुप्तबोधादिलोचनः ।
भ्रमत्यविरतं जीव एकाकी विधिवञ्चितः ॥९०

137) वित्तपुत्रकलत्रादि—अयं जीवः *मित्रकलत्रपुत्रादिकृते कारणाय कर्म शुभाशुभं करोति । यत्फलं तस्य कर्मणः एकाकी *स्वयमेव श्वभ्रादिषु नरकेषु भुङ्क्ते इति श्लोकार्थः ॥८८॥ अथ पुत्रादयः अनेकं पापोपार्जितं द्रव्यं भोक्तुं सहाया भवन्तीत्याह ।

138) सहाया अस्य—अस्य जीवस्य सहायाः परिजनाः केवलं वित्तानि भोक्तुं जायन्ते । सहाया इति अत्रापि योज्यन्ते । सहायाः स्वकर्मोत्थां व्यसनावलीं कष्टश्रेणीं निर्दयाः सोढुं न तु जायन्ते इति सूत्रार्थः ॥८९॥ अथ जीवानामेकत्वमाह ।

139) एकत्वं किं न—जडा मूर्खा एकत्वं परमार्थतः एकस्वरूपत्वं किं न पश्यन्ति । कथंभूता जडाः । जन्मग्रहार्दिताः पीडिताः । यत् एकत्वं जन्ममृत्युसंपाते जन्ममरणागमे प्रत्यक्षमनुभूयते ॥८९*१॥ एतदेवाह ।

140) अज्ञातस्वस्वरूपो ऽयं—अयं जीवः अविरतं निरन्तरं एकाकी भ्रमति । कथंभूतः

यह प्राणी धन, पुत्र और स्त्री आदिके निमित्तसे जो कर्म करता है उसके दुःख-सुख रूप फलको वह अकेला ही नरकादि पृथिवियोंमें भोगता है ॥८८॥

स्त्री और पुत्र आदि जो भी इस प्राणीके सहायक होते हैं वे केवल उसके द्वारा उपार्जित धनके भोगनेमें ही सहायक होते हैं। परन्तु उस धनके संचयमें उसने जिस कर्मको उपार्जित किया है उससे उत्पन्न हुए क्रूर दुःखोंके समूहके भोगनेमें उनमेंसे कोई भी सहायक नहीं होता है ॥८९॥

जो एकता जन्म और मृत्युके संयोगमें प्रगट देखी जाती है उस एकताको संसाररूप पिशाचसे पीड़ित ये अज्ञानी प्राणी क्यों नहीं देखते हैं ? अभिप्राय यह है कि जो जीव अकेला ही उत्पन्न होता है वही मरता भी अकेला ही है। इस प्रकार जन्म-मरणके बीचमें स्वयं एकताका अनुभव करते हुए भी प्राणी अज्ञानतावश उस एकान्तका अनुभव नहीं करते, यह खेदकी बात है ॥८९*१॥

ज्ञानादिरूप नेत्रसे रहित होनेके कारण अपने निज स्वरूपसे अनभिज्ञ यह प्राणी

१. All others except P M L मित्रपुत्र । २. All others except P श्वभ्रादिषु स्वयम् । ३. न ते सोढुं । ४. P T V C X Y स्वकर्मोत्थं । ५. P M N om. । ६. B J मृत्युसंघाते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

141) यदैक्यं मनुते मोहादयमर्थैः स्थिरेतरैः ।
तदा स्वं स्वेन बध्नाति तद्विपक्षः[1] शिवीभवेत्[2] ।।९१

142) एकाकित्वं प्रपन्नो ऽस्मि यदाहं वीतविभ्रमः ।
तदैव जन्मसंबन्धः स्वयमेव विशीर्यते ।।९२

143) एकः स्वर्गी भवति विबुधः[3] स्त्रीमुखाम्भोजभृङ्गः[4]
एकः श्वाभ्रं[5] पिबति कललं[6] छिद्यमानः कृपाणैः ।

अयम् । अज्ञातस्वस्वरूपः अज्ञातस्वचैतन्यः । पुनः कथंभूतः । लुप्तबोधादिलोचनः । पुनः कथंभूतः । विधिवञ्चितः कर्मवञ्चितः ।।९०।।

141) यदैक्यं मनुते—यदा अयं जीवः मोहात् अज्ञानात् अर्थैरैक्यं मनुते । कथंभूतैः । स्थिरेतरैः स्थिरचञ्चलैः । तदा जीवः स्वमात्मानं स्वेन प्रस्तावात्कर्मणा बध्नाति । अर्थैक्याभावाद्विपक्षः शिवी मुक्तो भवति । इति सूत्रार्थः ।।९१।। अथ एकाकित्वे जन्म भवतीत्याह ।

142) एकाकित्वं—यदा अहम् एकाकित्वं प्रपन्नोऽस्मि प्राप्तोऽस्मि । कथंभूतोऽहम् । वीतविभ्रमः गताज्ञानः । तदैव जन्मसंबन्धः स्वयमेव विशीर्यते हानिं याति इति संबन्धः ।।९२।। अथ जीवानां वैचित्र्यमाह ।

143) एकः स्वर्गीभवति—एको जीवः स्वर्गीभवति विबुधः । कथंभूतः । स्त्रीमुखाम्भोजभृङ्गः स्त्रीमुखकमलभ्रमरः । एको जीवः स्वास्रं स्वरुधिरं पिबति । कलिलं मांसं कृपाणैः छिद्य-

कर्मसे ठगा जाकर अकेला ही इस संसारमें निरन्तर परिभ्रमण करता है ।।९०।।

यह जीव मोहके वश होकर जबतक स्थिर और अस्थिर (विनश्वर) पदार्थोंके साथ अपनी एकता मानता है—ये मेरे हैं और मैं इनका हूँ इस प्रकार की ममत्व बुद्धि रखकर उनको आत्मासे भिन्न नहीं समझता है—तबतक वह अपने आपको उनसे स्वयं बाँधता है—उनके अधीन रहकर व्याकुल होता है । और इससे विपरीत प्राणी—जो स्थिर और अस्थिर सब ही बाह्य पदार्थोंको आत्मासे भिन्न समझकर उनमें अनुरक्त नहीं होता है—बन्धनसे मुक्त होकर शाश्वतिक सुखका भोक्ता हो जाता है ।।९१।।

जब मैं विपरीत बुद्धिको छोड़कर—बाह्य पर पदार्थोंमें आत्मबुद्धि न करके—एकाकीपनको (अद्वैतभावको) प्राप्त हो जाता हूँ उसी समय मेरे संसारका सम्बन्ध स्वयं ही नष्ट हो जाता है ।। विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि प्राणी जबतक शरीरादि बाह्य पदार्थोंको अपना मानकर उनमें मुग्ध रहता है तबतक वह कर्मबन्धनमें बद्ध होकर संसारमें परिभ्रमण करता है, और इसके विपरीत जब वह शरीरादिको आत्मासे भिन्न मानकर उनकी ओरसे विरक्त होता हुआ आत्मस्वरूपमें मग्न होता है तब वह नवीन कर्मबन्धसे रहित होकर पूर्वसंचित कर्मकी निर्जरा करता हुआ मुक्त हो जाता है ।।९२।।

एक विद्वान् (विवेकी) स्वर्गवासी देव होकर देवांगनाओंके मुखरूप कमलका भ्रमर बन जाता है—उनके साथ दिव्य भोगोंको भोगता है, इसके विपरीत एक प्राणी तलवारोंसे

१. All others except P M N B X तद्विपक्षैः । २. M N शिवो भवेत् । ३. P M श्रीमुखां° । ४. Y भृङ्गश्चैकः । ५. B J स्वास्रं पिबति । ६. All others except P कलिलं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकः क्रोधाद्यनलकलितः कर्म बध्नात्यविद्वान्[1]
एकः सर्वावरणविगमे ज्ञानराज्यं भुनक्ति ॥९३

[इति] एकत्वम् । [४]

144) अयमात्मा स्वभावेन शरीरादेर्विलक्षणः ।
चिदानन्दमयः शुद्धो बन्धं प्रत्यैक्यवानपि[2] ॥९४

मानः । एको ऽविद्वान् कर्म बध्नाति । क्रोधाद्यनलकलितः कोपाग्निसहितः । एको जीवः ज्ञानसाम्राज्यं भुनक्ति । क्व सति । सर्वावरणविगमे नाशे सति इति सूत्रार्थः ॥९३॥ इति एकत्वभावना समाप्ता । अथान्यत्वभावनामाह ।

144) **अयमात्मा स्वभावेन**—अयम् आत्मा जीवः स्वभावेन शरीरादेः विलक्षणः अस्ति । पुनः कथंभूतः । चिदानन्दमयः, विश्वरूपः, शुद्धः कर्ममलरहितः । बन्धं प्रत्येकवान् व्यवहारनयात् कर्मबन्धं प्रत्येकवान्* एकीभूत इति सूत्रार्थः ॥९४॥ अथानाद्यात्मकर्मणोः संबन्धमाह ।

छेदा जाकर नरकके कीचड़को पीता है—नरकमें नारकी होकर (महान्) दुःखको भोगता है, एक अज्ञानी प्राणी क्रोधरूप अग्निसे सन्तप्त होकर कर्मको बाँधता है, तथा इसके विपरीत एक जीव समस्त आवरणसे (ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंसे) रहित होकर ज्ञानरूप राज्यका उपभोग करता है—मुक्त होकर अनन्त ज्ञानादिसे संयुक्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि यह जीव जैसा आचरण करता है तदनुसार वह अकेला ही या तो कर्मबन्धनमें बँधकर नरकादि गतियोंमें परिभ्रमण करता या फिर उक्त कर्मबन्धनसे रहित होकर निराकुल सुखको भोगता है ॥९३॥ एकत्व भावना समाप्त हुई ॥

४. अन्यत्वभावना—यह आत्मा स्वभावसे शरीरादिसे भिन्न है, क्योंकि वह चेतन, आनन्दस्वरूप, शुद्ध और बन्धके प्रति एक होकर भी वस्तुतः एक नहीं है ॥ विशेषार्थ—यह आत्मा शरीरादिसे भिन्न है। क्योंकि, दोनोंका स्वभाव भिन्न-भिन्न है—आत्मा यदि चेतनस्वरूप होकर ज्ञानानन्दमय है तो शरीर ज्ञान, दर्शन वं सुखसे रहित होकर जड़ है तथा आत्मा जहाँ शुद्ध है वहाँ वह शरीर अत्यन्त अशुद्ध है। यद्यपि वह अनादिकालसे कर्म-पुद्गलोंके साथ एक क्षेत्रावगाहरूप (सम्बद्ध) होनेके कारण शरीरसे भिन्न नहीं दिखता है, परन्तु वस्तुतः वह मिले हुए दूध और पानीके समान उस शरीरसे भिन्न ही है। इस प्रकार जब वह इस शरीरसे भी भिन्न है तब प्रत्यक्षमें भिन्न दिखनेवाले पुत्र, स्त्री, धन-सम्पत्ति एवं भवन आदिसे तो अभिन्न हो ही कैसे सकता है ? कहा भी है—"यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्धं तस्यास्ति किं पुत्र-कलत्र-मित्रैः । पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥" अर्थात् जब आत्मा की एकता शरीरके साथ भी नहीं है—उससे भी वह भिन्न है—तब क्या पुत्र, स्त्री और मित्र आदिके साथ उसकी एकता हो सकती है ? नहीं हो सकती। ठीक है—शरीरके ऊपरके चमड़ेको अलग कर देनेपर भला रोमोंके छिद्र शरीरमें कहाँसे रह सकते हैं ? नहीं रह सकते ॥ द्वात्रिंशतिका २७. अभिप्राय यह कि जिस प्रकार रोमछिद्रोंका सम्बन्ध चमड़ेके साथ

१. L S F V C X बध्नाति विद्वान् । २. All others except P M N X प्रत्येकवानपि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

145) अचिच्चिद्रूपयोरैक्यं बन्धं प्रति न वस्तुतः ।
अनादिश्चानयोः श्लेषः स्वर्णकालिकयोरिव ॥९५

146) इह मूर्तममूर्तेन चलेनात्यन्तनिश्चलम्[1] ।
शरीरमुह्यते[2] मोहाच्चेतनेनास्तचेतनम् ॥९६

145) **अचिच्चिद्रूपयोरैक्यं**—वस्तुतः परमार्थतः निश्चयनयात् अचिच्चिद्रूपयोरैक्यं बन्धं प्रति ऐक्यं न भवति । च पुनः । अनयोर्ज्ञानाज्ञानयोः श्लेषः संबन्धः अनादिः । कयोरिव । स्वर्णकालिकयोरिव । स्वर्णकालिकयोरैक्याभावात् । उपचारात् अनादिः श्लेषो वर्तते इति सूत्रार्थः ॥९५॥ अथ मूर्तामूर्तसंबन्धमाह ।

146) **इह मूर्तममूर्तेन**—इह संसारे मूर्तंशरीरम् अमूर्तेन जीवेन मोहात् अज्ञानात् मुह्यते*

होनेसे वे उस चमड़ेके साथ ही पृथक् हो जाते हैं उसी प्रकार स्त्री, पुत्र-मित्र एवं धन-सम्पत्ति आदिका सम्बन्ध शरीरके ही साथ है, न कि आत्माके साथ—आत्माका निश्चयसे न कोई ब्राह्मण आदि वर्ण है, न जाति है, और न पिता-पुत्रादि सम्बन्ध भी । व्यवहारमें वह शरीरके साथ जिस वर्ण, जाति एवं वंश आदिमें उत्पन्न होता है उसी वर्ण आदिका मरण पर्यन्त ही माना जाता है । इस प्रकारसे यह निश्चित है कि वह आत्मा शरीर आदिसे सर्वथा भिन्न है । अतएव शरीर आदिको अपना मानकर उन्हींमें अनुरक्त रहना और आत्महित न करना, अज्ञानता है ॥९४॥

अचित्स्वरूप शरीर और चित्स्वरूप आत्मा इन दोनोंमें जो अभेद देखा जाता है वह बन्धकी अपेक्षा ही देखा जाता है, वस्तुतः स्वभावसे वे दोनों पृथक्-पृथक् हैं । और उन दोनोंका जो वह सम्बन्ध है वह सुवर्ण और उसकी कालिमाके सम्बन्धके समान अनादि है । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सुवर्णका उसकी कालिमाके साथ अनादिसे सम्बन्ध रहा है उसी प्रकार आत्माका सम्बन्ध भी कर्मके साथ अनादि कालसे चला आता है—वह अनादि कालसे कर्मबद्ध होकर पूर्वबद्ध कर्मकी निर्जरा (सविपाक) और नवीन कर्मका बन्ध प्रति समय करता रहा है । इतना अवश्य है कि जिस प्रकार वह सुवर्ण और कालिमाका सम्बन्ध अनादि होकर भी अग्निके संयोगसे नष्ट होता हुआ भी देखा जाता है—अग्निके नियमित तापके द्वारा वह सुवर्ण उस कालिमासे पृथक् होकर अपने शुद्ध स्वरूपमें आ जाता है—उसी प्रकार जीव और कर्मका भी वह अनादि सम्बन्ध नष्ट किया जा सकता है । यदि कोई जीव मुनिधर्मको धारण करके गुप्ति एवं समितियों आदिके द्वारा नवीन कर्मोंका निरोध (संवर) और तप के द्वारा पूर्वसंचित कर्मकी निर्जरा (अविपाक) करता है तो वह उस कर्मबन्धसे सर्वथा रहित होकर मुक्त हो जाता है । यही जीवका निज स्वरूप है जो इसके पूर्व कर्मसम्बद्ध रहनेके कारण प्रगट नहीं था ॥९५॥

यह चेतन आत्मा, जो कि स्वभावसे अमूर्त व चल है—ऊर्ध्व गमन स्वभाववाला है, मोहके वशीभूत होकर इस अचेतन मूर्त और निश्चल—चेतन आत्माकी प्रेरणाके बिना एक

१. P J जीवेनात्यन्त । २. M N शरीरं मुह्यते, T शरीरी मुह्यते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

147) अणुप्रचयनिष्पन्नं शरीरमिदमङ्गिनाम् ।
उपयोगात्मको ऽत्यक्षः शरीरी[1] ज्ञानविग्रहः ॥९७

148) [2]अन्यत्वं[3] किं न पश्यन्ति जडा जन्मग्रहार्दिताः ।
यज्जन्ममृत्युसंपाते सर्वतो ऽपि प्रतीयते[4] ॥९८

149) मूर्तैर्विचेतनैश्चित्रैः स्वतन्त्रैः परमाणुभिः ।
यद्वपुर्विहितं तेन कः संबन्धस्तदात्मनः ॥९९

मोहं प्राप्यते। कथंभूतं शरीरम्। अत्यन्तनिश्चलम्। कथंभूतेन जीवेन। चेतनेन। कथंभूतं शरीरम्। अस्तचेतनं नष्टचेतनमिति भावः ॥९६॥ अथ जीवशरीरयोः स्वरूपमाह।

147) **अणुप्रचय**—इदमङ्गिनां शरीरम् अणुप्रचयनिष्पन्नं परमाणुसमूहजातम्। जीवस्तु उपयोगात्मको ऽतीन्द्रियः शरीरं* ज्ञानविग्रहो ज्ञाननाशः इत्यर्थः ॥९७॥ अथान्यत्त्वमाह।

148) **अन्यत्वं किं न**—जन्मग्रहेणार्दिताः पीडिताः जन्ममृत्युसंपाते समागमने। शेषं सुगमम्। इति श्लोकार्थः ॥९८॥ अथ पर एवात्मनः संबन्धमाह।

149) **मूर्तैर्विचेतनैः**—यद्वपुः शरीरं परमाणुभिः विहितं निष्पन्नम्। कथंभूतैः परमाणुभिः। मूर्तैः पुद्गलरूपैः विचेतनैः अचेतनैः चित्रैः नानाप्रकारैः स्वतन्त्रैः पृथक्स्वरूपैः। तेन वपुषा आत्मनः कः संबन्धः। अपि तु न को ऽपीति भावः ॥९९॥ अथ बन्धोर्जीवस्यान्यत्वमाह।

देशसे दूसरे देशको न प्राप्त हो सकनेवाले—शरीरको इस प्रकारसे धारण करता है जिस प्रकार कि कोई मनुष्य—रामचन्द्र आदि (बलभद्र)—मोहके वश मृत शरीरको धारण करता है ॥९६॥

यह प्राणियोंका शरीर पुद्गल परमाणुओंके समूहसे उत्पन्न हुआ है। परन्तु उस शरीरको धारण करनेवाला जीव उपयोग (ज्ञान-दर्शन) स्वरूप, इन्द्रियोंका अविषय—चक्षु आदिके द्वारा न देखा जानेवाला—और ज्ञानरूप शरीरसे सहित है ॥९७॥

जीव और शरीरका जो यह भेद जन्म और मृत्युके समयमें सभीके अनुभवमें आता है उसे संसाररूप पिशाचसे पीड़ित अज्ञानी प्राणी क्यों नहीं जानते हैं ? ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि प्राणी जब गर्भाशयमें आकर जन्म ग्रहण करता है तब वह उस शरीरको साथमें नहीं लाता है—वह तो माता के द्वारा उपयुक्त आहार आदिके द्वारा वहींपर उत्पन्न होकर वृद्धिको प्राप्त होता है—तथा जब वह मरणको प्राप्त होता है तब भी वह शरीर यहींपर पड़ा रहता है और जीव उसके भीतरसे निकलकर गत्यन्तरको चला जाता है। इस प्रकारसे यद्यपि सब ही प्राणी शरीर और जीवके इस भेदको प्रत्यक्षमें देखते हैं फिर भी जो वे उन दोनोंकी भिन्नतापर विश्वास नहीं करते हैं, यह उनके अज्ञानका परिणाम है ॥९८॥

जो शरीर मूर्त और अचेतन अनेक प्रकारके स्वतन्त्र परमाणुओंके द्वारा रचा गया है उसके साथ भला उस चेतन और अमूर्त आत्माका क्या सम्बन्ध है ? कुछ भी नहीं—स्वभाव-भेदके कारण वे दोनों कभी भी एक नहीं हो सकते हैं ॥९९॥

१. B J शरीरं ज्ञान। २. C om.। ३. S अन्यत्वे किं, F अन्यत् किं किं। ४. All others except P सर्वेणापि प्रतीयते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

150) अन्यत्वमेव देहेन स्याद्भृशं यत्र देहिनः ।
तत्रैक्यं बन्धुभिः सार्धं बहिरङ्गैः कुतस्तनम्[1] ॥१००

151) ये ये संबन्धमायान्ति[2] पदार्थाश्चेतनेतराः ।
ते ते सर्वे ऽपि सर्वत्र स्वस्वरूपाद्विलक्षणाः ॥१०१[3]

152) पुत्रमित्रकलत्राणि वस्तूनि च धनानि च[4] ।
सर्वथान्यस्वभावानि भावय त्वं निरन्तरम्[5] ॥१०२

153) अन्यः कश्चिद्भवेत्पुत्रः पितान्यः को ऽपि जायते ।
अन्येन केनचित्सार्धं कलत्रेणानुरज्यते[6] ॥१०३

---

150) **अन्यत्वमेव देहेन**—यत्र संसारे देहिनो जीवस्य भृशमित्यर्थः। देहेन अन्यत्वमेव। तत्र बन्धुभिः बहिरङ्गैः बाह्यभूतैः सार्धं कथमैक्यं भवेत्। न कथमपीत्यर्थः ॥१००॥ अथ सर्वेषां पदार्थानां संबन्धमाह।

151) **ये ये संबन्ध**—ये ये चेतनेतराः पदार्थाः संबन्धमायान्ति ते ते सर्वेऽपि पदार्थाः सर्वत्र स्वस्वरूपात् स्वचैतन्यात् विलक्षणा भिन्ना इत्यर्थः ॥१०१॥ अथ परिजनस्यान्यस्वभावत्वमाह।

152) **पुत्रमित्रकलत्राणि**—वस्तूनि संबन्धाः प्रतिक्षणं नश्यत्स्वभावानि भावय प्रति*क्षण-मिति भावः ॥१०२॥ एतदेवाह।

153) **अन्यः कश्चित्**—अन्यः कश्चित् पुत्रो भवेत्। अन्यः कोऽपि पिता ज्ञायते। अन्येन केनचित् कलत्रेण सार्धमनुरज्यते प्रीतो भवति इति तात्पर्यार्थः ॥१०३॥ अथ त्रैलोक्यवर्तिपदार्थानां भिन्नत्वमाह।

इस प्रकार प्राणीकी जहाँ शरीरके साथ ही अतिशय भिन्नता है वहाँ भला बाहरी बन्धुजनोंके साथ तो उसकी एकता कहाँसे हो सकती है ? नहीं हो सकती ॥१००॥

जो जो चेतन और अचेतन पदार्थ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं वे वे सब ही सर्वत्र अपने-अपने स्वरूपसे विलक्षण होते हैं—पृथक्-पृथक् स्वभाववाले होते हैं ॥१०१॥

हे भव्य ! पुत्र, मित्र, स्त्री तथा अन्य वस्तुएँ व धन ये सब ही सर्वथा भिन्न स्वभाववाले हैं; ऐसा तू निरन्तर विचार कर ॥१०२॥

इस संसारमें अन्य कोई पुत्र होता है, अन्य कोई पिता होता है, तथा अन्य किसी स्त्रीके साथ अनुराग होता है। अभिप्राय यह है कि भिन्न-भिन्न प्राणियोंके मध्यमें जो पिता, पुत्र एवं स्त्री आदिका सम्बन्ध होता है वह नियत नहीं है—जो इस जन्ममें पिता-पुत्र आदि हैं वे जन्मान्तरमें भी उसी प्रकारसे पिता-पुत्र आदिके सम्बन्धको प्राप्त हों, यह प्रायः असम्भव ही है ॥१०३॥

---

१. All others except P कुतो भवेत्। २. S T V C Y R संबन्धमायाताः। ३. V Y 151 and 152 interchanged। ४. X धनान्यपि। ५. All others except P भावय त्वं प्रतिक्षणं। ६. L S T V C R °णानुयुज्यते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

154) स्वस्व[1]स्वरूपमतिक्रम्य पृथक् पृथग्व्य[2]वस्थिताः ।
सर्वे ऽपि सर्वथा मूढ भावास्त्रैलोक्यवर्तिनः ॥१०४

155) मिथ्यात्वप्रतिबद्धदुर्नयपथभ्रान्तेन बाह्यानलं
भावान् स्वान् प्रतिपद्य जन्मगहने खिन्नं त्वया प्राक् चिरम् ।
संप्रत्यस्तसमस्तविभ्रमभरै[3]श्चिद्रूपमेकं परं
स्वस्थं स्वं[4] प्रविगाह्य सिद्धिवनितावक्त्रं समालोकय ॥१०५

[इति] अन्यत्वम् [५]

154) **स्वस्वरूपमतिक्रम्य**—हे मूढ मूर्ख, सर्वथा सर्वे ऽपि त्रैलोक्यवर्तिनो भावाः पदार्थाः पृथक् पृथक् व्यवस्थिताः भिन्नभिन्नस्वरूपेण स्थिताः । *तत्स्वरूपमतिक्रम्य इति भावः । एकः पदार्थः अपरस्य स्वरूपमतिक्रम्य इति सूत्रार्थः ॥१०४॥ अथ चिद्रूपस्य मुक्तिकारणत्वमाह । शा० विक्रीडितम् ।

155) **मिथ्यात्वप्रतिबद्ध**—त्वया प्राक् पूर्वं चिरं चिरकालं बाह्यानलं बाह्याग्नि प्रति खिन्नं यथा स्यात् तथा । कथंभूतेन । मिथ्यात्वप्रतिबद्धदुर्नयपथभ्रान्तेन मिथ्यात्वयुक्तदुर्नीतिमार्गभ्रान्तेन । किं कृत्वा । भावान् स्वान् प्रतिपद्य अङ्गीकृत्य । क्व । जन्मगहने । एकं परं प्रकृष्टं स्वं स्वस्थं प्रतिगाह्य व्याप्य । संप्रति अधुना सिद्धिवनितावक्त्रं समालोकय । कथंभूतं स्वम् । चिद्रूपं ज्ञानस्वरूपम् । पुनः अस्तसमस्तविभ्रममनः* दूरीकृतसर्वभ्रान्तः सन् ॥१०५॥ इति अन्यत्वभावना ॥ अथाशुचिभावनामाह ।

हे मूढ ! तीनों लोकोंके भीतर जितने भी पदार्थ हैं वे सब ही अपने-अपने स्वरूपको छोड़कर सर्वथा भिन्न-भिन्न स्वरूपसे अवस्थित होते हैं—विभिन्न अवस्थाओंको प्राप्त होते हैं। अभिप्राय यह है कि संसारके भीतर कोई भी चेतन और अचेतन पदार्थ निरन्तर एक स्वरूपसे नहीं रहते हैं—जो आज घनिष्ठ मित्र है वही भविष्यमें कट्टर शत्रु भी हो जाता है तथा जो सचिक्कण गरिष्ठ भोजन स्वस्थ अवस्थामें शरीरका पोषक होता है वही रुग्णावस्थामें उसका घातक भी बन जाता है ॥१०४॥

हे मूर्ख ! तूने मिथ्यात्वसे सम्बद्ध एकान्त मार्गमें परिभ्रमण करते हुए बाह्य पदार्थोंको चूंकि अपना माना है इसीलिए तू संसाररूप वनमें चिरकालसे भटकते हुए अतिशय खेदखिन्न हुआ है। इस समय तू उस समस्त विपरीतताके भारको छोड़कर अपनी आत्माके भीतर स्थित जो अद्वितीय चैतन्यस्वरूप है उसको अपना समझकर उसीमें मग्न हो, जिससे कि मुक्तिरूप ललनाके मुखको देख सके—मुक्तिको प्राप्त कर सके। विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जीवके जब तक मिथ्यात्वका उदय रहता है तब तक वह वस्तुस्वरूपका निश्चय न होनेसे जो बाह्य पदार्थ कभी अपने नहीं हो सकते हैं उन्हें वह अपना मानता है और उन्हींमें अनुरक्त रहता है। उस समय तक उसे यह विवेक नहीं होता कि इस जड़ व मूर्तिमान् शरीर-

१. M N L S F V C R त्वत्स्वरूपं°, T X चित्स्वरूप, B J तत्स्वरूप । २. N पृथगवस्थिताः । ३. S V C R विभ्रमभव, B J विभ्रममन । ४. M N स्वस्थस्त्वं प्रतिगृह्य, B J स्वस्थं संप्रतिगाह्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

156) निसर्गमलिनं[1] निन्द्यमनेकाशुचिसंभृतम् ।
शुक्रादिबीजसंभूतं घृणास्पदमिदं वपुः ॥१०६

157) असृग्मांसवसापूर्णं [2]शीर्णकीकसपञ्जरम् ।
शिरानद्धं च दुर्गन्धं क्व शरीरं प्रशस्यते[3] ॥१०७

158) प्रस्रवन्नवभिर्द्वारैः [4]पूतिगन्धान्निरन्तरम् ।
क्षणक्षयि[5] पराधीनं शश्वन्नरकलेवरम् ॥१०८

156) निसर्गमलिनं—इदं वपुः घृणास्पदं वर्तते। कथंभूतं। निसर्गमलिनं स्वभावमलीमसम्। निन्द्यं निन्दनीयम्। अनेकाशुचिसंभृतं शुक्रादिबीजसंभूतमित्यर्थः ॥१०६॥ शरीराशुचित्वमाह।

157) असृग्मांसवसापूर्णं—क्व शरीरं प्रशस्यते। कथंभूतं शरीरम्। असृग्मांसवसाकीर्णं रुधिरमांस-वसाव्याप्तम्। शीर्णं हानिं गच्छत्। कीकशपञ्जरम् अस्थिसमूहम्। सिरानद्धं नसाव्याप्तं। च पुनः। दुर्गन्धमित्यर्थः ॥१०७॥ अथ शरीरस्य क्षणक्षयित्वमाह।

158) प्रस्रवन्नवभिः—नरकलेवरं शश्वन्निरन्तरं क्षणक्षयि वर्तते। कथंभूतं वपुः। नवभिः द्वारैः प्रस्रवत् क्षरत् पूतिगन्धान् निरन्तरं वर्तते ॥१०८॥ अथ शरीरस्याशुचित्वमाह।

से चेतन—ज्ञाता द्रष्टा—और अमूर्तिक (वर्णादिसे रहित) आत्मा भिन्न है। इसीलिए वह चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता हुआ निरन्तर कष्ट सहा करता है। और जब उसका वह मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है तब वह बहिरात्मस्वरूपको छोड़कर अन्तरात्मा हो जाता है। उस समय उसके अन्तःकरणमें जो विवेक उदित होता है उससे वह शरीर आदिको घर मानकर उनकी ओरसे विरक्त होता हुआ अपने निज स्वरूपमें ही मग्न होता है। उससे उसके नवीन कर्मका बन्ध न होकर पूर्वबद्ध कर्मकी निर्जरा ही होती है। इस प्रकारसे अन्तमें वह समस्त कर्म-मलसे रहित होकर अविचल अनन्त सुखको पा लेता है ॥१०५॥ अन्यत्व भावना समाप्त हुई ॥

६. अशुचिभावना—इस भावनाके चिन्तनमें प्राणी विचार करता है कि यह शरीर स्वभावसे मलिन—मल-मूत्रादि घृणित द्रव्योंसे परिपूर्ण, निन्दनीय, अनेक अपवित्र (रस-रुधिर आदि) वस्तुओंसे परिपूर्ण तथा रज व वीर्य आदिरूप बीजसे उत्पन्न हुआ है। इसीलिए वह घृणाका स्थान है—वह अनुरागके योग्य नहीं है ॥१०६॥

जो शरीर रुधिर, मांस और चर्बीसे व्याप्त है; जीर्ण हड्डियोंका ढाँचा है, नसोंसे बँधा हुआ है, तथा निरन्तर दुर्गन्धको फैलाता है, उस शरीरकी प्रशंसा कहाँपर की जा सकती है? नहीं की जा सकती है ॥१०७॥

यह मनुष्यका शरीर नौ द्वारोंसे—१ जननेन्द्रिय २ गुदा ३-४ दो कान ५-६ दो आँखें

१. N T V C R निसर्गगलिलं, S गलिनं, B मलिनः। २. All others except P वसाकीर्णं शीर्णकीकस। ३. F V C कः शरीरं प्रशंसति, Y क्व शरीरं प्रपश्यति। ४. M N F V C पूतिगन्धं, L पूतिगन्धि। ५. S F V C J R क्षणक्षयं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

159) कृमिजालशताकीर्णे रोगप्रचयपीडिते ।
जराजर्जरिते काये कीदृशी महतां रतिः ॥१०९

160) यद्यद्वस्तु शरीरे ऽत्र साधुबुद्ध्या विचार्यते ।
तत्तत्सर्वं[1] घृणां दत्ते[1] दुर्गन्धामेध्यमन्दिरे[2] ॥११०

161) [[3]लोष्टं च वारिणा स्नाति पुनः पुनः शतैरपि ।
मलं प्राप्नोति तद्वारि तनुनाशुचितां भजेत् ॥११०*१]

159) कृमिजालशताकीर्णे—महतां काये शरीरे कीदृशी रतिः । कथंभूते । कृमिजालशताकीर्णे कीटसमूहशताकीर्णे । पुनः कथंभूते काये । रोगप्रचयपीडिते । पुनः कथंभूते । जराजर्जरिते इति सूत्रार्थः ॥१०९॥ एतदेवाह ।

160) यद्यद्वस्तु शरीरे ऽत्र—अत्र शरीरे यद्वस्तु साधुबुद्ध्या विचार्यते तत्तत् सर्वं वस्तु घृणां लज्जां दत्ते । कथंभूतं शरीरम् । दुर्गन्ध्यमेध्यमन्दिरम् इति सूत्रार्थः ॥११०॥ [शरीरस्य मलिनतां दर्शयति ।

161) लोष्टं च—यद्यपि मृत्पिण्डः शतवारमपि जलेन क्षालितः तथापि न स शुध्यति अपि तु तत् वारि जलं मलिनतां प्राप्नोति । तथैव स्नानाद्यवसरे शरीरस्य संबन्धेन जलमशुचि भवति, न शरीरं शुध्यति । स्नानेन न शरीरशुद्धिरिति भावार्थः ॥११०*१॥] अथ शरीरस्य सर्वथाशोध्यत्वमाह ।

७-८ दो नासिकाके छिद्र और ९ मुखसे—निरन्तर दुर्गन्धयुक्त मलोंको बहानेवाला, क्षणमें विनाश स्वभाववाला (नश्वर) और पराधीन है—भोजन व पानी आदिके अधीन है ॥१०८॥

सैकड़ों क्षुद्र कीड़ोंके समूहोंसे व्याप्त, प्रचुर रोगोंसे पीड़ित और जराके द्वारा जीर्ण-शीर्ण किये जानेवाले उस शरीरमें महापुरुषोंको किस प्रकारसे प्रीति हो सकती है ? नहीं हो सकती—नीच व अविवेकी जन ही उसके विषयमें अनुराग किया करते हैं, न कि विवेकी जन ॥१०९॥

दुर्गन्ध एवं अपवित्र मल-मूत्रादिके स्थानस्वरूप—पुरीषालयके समान—इस शरीरमें जो-जो वस्तुएँ हैं उनके विषयमें यदि विवेक बुद्धिसे विचार किया जाय तो वे सब ही घृणा-को उत्पन्न करनेवाली हैं ॥११०॥

मिट्टी जलसे शतवार धोनेपर भी स्वयं निर्मल बननेके बजाय जलको मलिन बनाती है । उसी प्रकार (स्नानादिके समय) शरीरके सम्बन्धसे पानी ही अशुचि बनता है, न शरीर निर्मल बन जाता है । तात्पर्य, शरीर स्वयमेव इतना अशुचि है कि उसकी जलादिसे शुद्धि नहीं हो सकती है ॥११०*१॥

१. Y घृणां धत्ते । २. B मन्दिरम् । ३. Found only in X ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

162) यदीदं शोध्यते दैवाच्छरीरं सागराम्बुभिः ।
दूषयत्यपि तान्येवं[1] शोध्यमानमपि क्षणे ॥१११

163) कलेवरमिदं न स्याद्यदि चर्मावगुण्ठितम् ।
मक्षिकाकृमिकाकेभ्यः स्यात्त्रातुं कस्तदा प्रभुः ॥११२

164) सर्वदैव रुजाक्रान्तं सर्वदैवाशुचेर्गृहम् ।
सर्वदैव पतत्प्रायं[2] देहिनां देहपञ्जरम् ॥११३

165) तैरेव फलमेतस्य गृहीतं पुण्यकर्मभिः ।
विरज्य जन्मनः स्वार्थे यैः शरीरं कदर्थितम् ॥११४

162) यदीदं शोध्यते—यदीदं शरीरं दैवात् सागराम्बुभिः समुद्रजलैः शोध्यते शुद्धं क्रियते अपि तदा क्षणे प्रस्तावे शोध्यमानम् अपि तान्येव समुद्रजलानि दूषयति कलुषीकरोति इति सूत्रार्थः ॥१११॥ शरीरस्य कुत्सितत्वमाह ।

163) कलेवरमिदं—इदं शरीरं चर्मावगुण्ठितं यदि न स्यात् चर्मावनद्धं यदि न स्यात् तदा मक्षिकाकृमिकाकेभ्यः स्यात् त्रातुं कः प्रभुः समर्थः । अपि तु न को ऽपीति भावः ॥११२॥ एतदस्यैव स्वरूपमाह ।

164) सर्वदैव रुजाक्रान्तं—देहिनां प्राणिनां देहपञ्जरं सर्वदैव सर्वस्मिन् काले रुजाक्रान्तं रोगैर्व्याप्तम् । पुनः कथंभूतम् । सर्वदैव सर्वकाले अशुचेर्मलस्य गृहम् । सर्वदा सर्वस्मिन् समये *पतनप्रायं पातुकमिति श्लोकार्थः ॥११३॥ अथैतच्छरीरात् सारं ग्रहीतव्यम् । एतदेवाह ।

165) तैरेव फलमेतस्य—तैरेव एतस्य जन्मनः फलं गृहीतम् । कैः । पुण्यकर्मभिः पुण्यो-

यदि इस शरीरको दैववश समुद्रके जलसे भी शुद्ध किया जाय तो वह शुद्ध करते समय ही क्षणभरमें उस जलको भी मलिन कर देनेवाला है। अभिप्राय यह है कि इस शरीरको स्नानादिके द्वारा शुद्ध करनेका कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाय, किन्तु वह उनसे शुद्ध होनेवाला नहीं है—इसके विपरीत वह अपने संपर्कसे उन जल, चन्दनादिके लेपन एवं सुगन्धित पुष्पादिको ही मलिन कर देनेवाला है ॥१११॥

यह शरीर यदि चमड़ेसे आच्छादित न होता तो मक्खी, लट और कौओंसे भला उसकी रक्षा कौन कर सकता था ? अभिप्राय यह है कि वह शरीर भीतर रुधिर, मांस, चर्बी एवं मल-मूत्रादि घृणित वस्तुओंसे भरा हुआ है। परन्तु ऊपर चमड़ेसे आच्छादित होनेके कारण ये घृणित वस्तुएँ दृष्टिगोचर नहीं होतीं। यदि वे सब बाह्यमें दृष्टिगोचर होतीं तो फिर उसकी मक्खियों आदिसे रक्षा करना भी सम्भव नहीं था ॥११२॥

सदा ही रोगोंसे घिरा रहनेवाला उस शरीरका ढाँचा सदा ही अपवित्र वस्तुओंसे परिपूर्ण होता हुआ निरन्तर विनाशके सम्मुख रहता है ॥११३॥

जिन पुण्यशाली प्राणियोंने संसारसे विरक्त होकर अपने प्रयोजनको सिद्ध करनेके

१. S तान्येवं । २. All others except P सर्वदा पतनप्रायं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

166) शरीरमेतदादाय त्वया दुःखं विषह्यते ।
जन्मन्यस्मिन्नतस्तद्धि[1] निःशेषानर्थमन्दिरम्[2] ॥११५

167) भवोद्भवानि दुःखानि यानि यान्यत्र[3] देहिभिः ।
सह्यन्ते तानि तान्युच्चैर्वपुरादाय केवलम् ॥११६

168) कर्पूरकुङ्कुमागुरुमृगमदहरिचन्दनादिवस्तूनि ।
भव्यान्यपि संसर्गान्मलिनयति कलेवरं नृणाम् ॥११७

पार्जनैः । किं कृत्वा । विरज्य विरक्तीभूय । कैः । यैः पुरुषैः स्वार्थे आत्महिताय शरीरं कदर्थितम् । तपःसंयमादिषु प्रवर्तितमिति भावः ॥११४॥ अथ तच्छरीरस्य दुःखकारणत्वमाह ।

166) **शरीरमेतदादाय**—हे जीव, त्वया अस्मिन् जन्मनि एतच्छरीरम् आदाय गृहीत्वा दुःखम् आधिव्याधिरूपं विषह्यते विशेषेण सह्यते । अतः कारणात् हि निश्चितं तच्छरीरं निःशेषानर्थमन्दिरं सर्वानर्थगृहमित्यर्थः ॥११५॥ अथानन्तभवशरीरं दुःखकारणमित्याह ।

167) **भवोद्भवानि दुःखानि**—इह संसारे देहिभिः प्राणिभिः यानि यानि दुःखानि भवोद्भवानि संसारजातानि सह्यन्ते । उच्चैर्यथा स्यात् केवलं वपुरादाय गृहीत्वा तानि तानि सह्यन्ते इति भावः ॥११६॥ अथाशुचित्वमाह । आर्या ।

168) **कर्पूरकुङ्कुमागुरु**—नृणां कलेवरं शरीरं भव्यान्यपि वस्तूनि संसर्गात् संबन्धात् मलिनयति मलं प्रापयति । तानि वस्तूनि कानि । कर्पूरकुङ्कुमागरुमृगमदहरिचन्दनानि । कर्पूरः प्रसिद्धः । कुङ्कुमं काश्मीरकेशरम् । अगरुः कृष्णागरुः मृगमदः । कस्तूरिकाविशेषः । हरिचन्दनं महाचन्दनं तानि तथा इति सूत्रार्थः ॥११७॥ अथ भावनामुपसंहरति । मालिनी छन्दः ।

लिए—निराकुल मोक्षसुखको प्राप्त करनेके लिए—उस शरीरको संयम और तपके द्वारा कृश किया है उन्हींने वास्तवमें इस मनुष्यशरीरके फलको प्राप्त किया है ॥११४॥

हे प्राणी ! तू इस शरीरको ग्रहण करके ही इस संसारमें दुःखको सह रहा है । अतएव उसे ही तू समस्त अनर्थोंका घर समझ ॥११५॥

प्राणी संसारमें परिभ्रमण करते हुए उससे उत्पन्न जिन-जिन दुःखोंको यहाँ सहते हैं उन महान् दुःखोंको वे केवल उस शरीरको ग्रहण करनेके कारण ही सहा करते हैं ॥११६॥

वह मनुष्योंका शरीर अपनी संगतिसे कपूर, केसर, अगुरु, कस्तूरी और हरिचन्दन आदि उत्तम वस्तुओंको भी मलिन किया करता है । अभिप्राय यह है कि जब वह शरीर इतना घृणित है कि अपने संयोगसे कपूर आदि उत्तम वस्तुओंको भी मलिन कर देता है तब विवेकी जीवोंको उसमें अनुरक्त न होकर उससे सिद्ध करने योग्य अपने प्रयोजनको सिद्ध कर लेना चाहिए ॥११७॥

---

१. V C X R °न्यस्मिंस्ततस्तद्धि । २. T मन्दिरे । ३. All others except P यानीह देहिभिः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

169) अजिनपटलगूढं पञ्जरं कीकसानां
कुथितकुणिप[1]गन्धैः पूरितं मूढ गाढम् ।
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं
कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम् ॥११८

[इति] अशुचित्वम् । [६]

170) मनस्तनुवचःकर्म योग इत्यभिधीयते ।
स एवास्रव इत्युक्तस्तत्त्वज्ञानविशारदैः ॥११९

171) वार्धेरन्तः समादत्ते यानपात्रं यथा जलम् ।
[2]छिद्रैर्जीवस्तथा कर्म योगरन्ध्रैः शुभाशुभैः ॥१२०

169) **अजिनपटल**—इह संसारे हे मूढ, मूर्ख, मनुजानां मनुष्याणां शरीरं कथं प्रीतये स्यात् । कथंभूतं शरीरम् । अजिनपटलगूढम् । चर्मसमूहाच्छादितम् । पुनः कीदृशं शरीरम् । कीकसानामस्थिविशेषाणां पञ्जरम् । पुनः कीदृशं शरीरम् । कुथितकुणिपं मांसविशेषः तेन पूरितं भृतम् । पुनः कीदृशम् । यमवदननिषण्णं मृत्युमुखस्थितम् । पुनः कीदृशम् । रोगभोगीन्द्रगेहं रोगमहोरगगृहमिति सूत्रार्थः ॥११८॥ इति अशुचिभावना समाप्ता ॥ अथास्रवमाह ।

170) **मनस्तनुवचः**—तत्त्वज्ञानविशारदैरिति स एवास्रव उक्तः । सः कः । यो मनस्तनुवचः कर्मयोग इत्यभिधीयते इति श्लोकार्थः ॥११९॥ अथ तस्यैव विशेषमाह ।

171) **वार्धेरन्तः समादत्ते**—यथेति दृष्टान्तोपन्यासे । यानपात्रं छिद्रैः विवरैः जलं वार्धेरन्तः समुद्रमध्ये आदत्ते गृह्णाति तथा जीवः शुभाशुभैः योगरन्ध्रैः कर्म आदत्ते इति सूत्रार्थः ॥१२०॥ अथास्रवस्यैव शुभाशुभत्वमाह ।

जो यह मनुष्योंका शरीर चमड़ेके समूहसे ढका हुआ, हड्डियोंका ढाँचा, सड़े-गले मृत शरीर (मुर्दा) के समान दुर्गन्धसे अतिशय परिपूर्ण, यमके मुखमें बैठा हुआ—नाशोन्मुख—और रोगरूप भयानक सर्पोंका स्थान है वह यहाँ मनुष्योंको प्रीतिका कारण कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता—वह सर्वथा ही अनुरागके योग्य नहीं है ॥११८॥ अशुचिभावना समाप्त हुई ॥

७. आस्रवभावना—मन, शरीर और वचनकी क्रियाको योग कहा जाता है । इस योगको ही तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण आचार्य उमास्वामी (तत्त्वा. ६-१) आदिने आस्रव कहा है ॥११९॥

जिस प्रकार नाव या जहाज छेदोंके द्वारा जलको भीतर ग्रहण किया करती हैं उसी प्रकार जीव शुभ और अशुभ योगरूप छेदोंके द्वारा कर्मको ग्रहण किया करता है ॥१२०॥

१. M N T F V C Y कुणपगन्धैः । २. P छिद्रं जीव ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

172) यमप्रशमनिर्वेदतत्त्वचिन्तावलम्बितम् ।
मैत्र्यादिभावनारूढं मनः सूते शुभास्रवम् ॥१२१

173) कषायदहनोद्दीप्तं विषयैर्व्याकुलीकृतम् ।
संचिनोति मनः कर्म जन्मसंबन्धसूचकम् ॥१२२

174) विश्वव्यापारनिर्मुक्तं श्रुतज्ञानावलम्बितम् ।
शुभास्रवाय विज्ञेयं वचः सत्यंप्रतिष्ठितम्[1] ॥१२३

175) अपवादास्पदीभूतमसन्मार्गोपदेशकम् ।
पापास्रवाय विज्ञेयमसत्यं परुषं वचः ॥१२४

172) **यमप्रशमनिर्वेद**—मनः शुभास्रवं सूते जनयति। कथंभूतं मनः। यमप्रशमनिर्वेदतत्त्वचिन्तावलम्बितम्। व्रतक्षान्तिवैराग्यतत्त्वचिन्तास्थापितम्। पुनः कीदृशं मनः। मैत्र्यादिभावनारूढमिति सुगमम्। इति श्लोकार्थः॥१२१॥ अथ अशुभास्रवमाह।

173) **कषायदहनोद्दीप्तं**—मनः कर्म संचिनोति बध्नाति। कीदृशं कर्म। जन्मसंबन्धसूचकमिति सुगमम्। कीदृशं मनः। कषायदहनोद्दीप्तं कषायाग्निज्वलितम्। पुनः कीदृशं मनः। विषयैः इन्द्रियव्यापारैः व्याकुलीकृतमिति श्लोकार्थः॥१२२॥ पुनर्वाग्विषयसुस्रवमाह।

174) **विश्वव्यापारनिर्मुक्तं**—सत्यप्रतिष्ठितं वचः शुभास्रवाय विज्ञेयम्। कथंभूतं वचः। विश्वव्यापारनिर्मुक्तमिति सुगमम्। पुनः कीदृशं वचः। श्रुतज्ञानावलम्बितं श्रुतज्ञानस्थापितमिति श्लोकार्थः॥१२३॥ अथ वाग्विषयपापास्रवमाह।

175) **अपवादास्पदीभूत**—असत्यं वचः पापास्रवाय विज्ञेयम्। कथंभूतं वचः। परुषं कठोरम्। असन्मार्गोपदेशकमिति सुगमम्। पुनः कीदृशम्। अपवादास्पदीभूतं हीनधर्मप्ररूपकमिति भावः॥१२४॥ अथ कायविषयकशुभास्रवमाह।

संयम; कषायोंका उपशमन; संसार, शरीर एवं भोगोंसे विरक्ति; और तत्त्वका चिन्तन; इन सबके आश्रित होकर मैत्री व प्रमोद आदि भावनाओंमें संलग्न हुआ मन शुभ आस्रवको उत्पन्न करता है—पुण्य कर्मके आगमनका कारण होता है ॥१२१॥

इसके विपरीत कषायरूप अग्निसे सन्तप्त होकर विषयोंके द्वारा व्याकुल किया गया मन संसारके सम्बन्धसूचक—संसारपरिभ्रमणके कारणभूत—पापकर्मको संचित किया करता है ॥१२२॥

जो वचन सत्यका आश्रय लेकर समस्त व्यापारसे रहित होता हुआ श्रुतज्ञानका आलम्बन ले लेता है—आगमके पठन-पाठनमें निरत होता है—उसे पुण्यकर्मके आगमका कारण समझना चाहिए ॥१२३॥

निन्दाके स्थानभूत (निन्द्य), कुमार्गका उपदेश करनेवाले, असत्य और कठोर (सुननेमें कटु) वचनको पापकर्मके आगमनका कारण समझना चाहिए ॥१२४॥

१. M S V C R सत्यं प्रतिष्ठितम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

176) सुगुप्तेन[1] स्वकायेन[2] कायोत्सर्गेण वानिशम् ।
संचिनोति शुभं कर्म काययोगेन संयमी ॥१२५

177) सततारम्भयोगैश्च व्यापारैर्जन्तुघातकैः ।
शरीरं पापकर्माणि संयोजयति देहिनाम् ॥१२६

176) **सुगुप्तेन स्वकायेन**—संयमी संयमवान् काययोगेन शुभं कर्म संचिनोति अनिशं निरन्तरम्। केन। स्वकायेन शरीरेण गुप्तेन। पुनः कथंभूतेन। वा अथवा। कायोत्सर्गेण काये उत्सर्गो मोहत्याग इति सूत्रार्थः ॥१२५॥ अथ त्रयाणां योगानामास्रवत्वमाह।

177) **सततारम्भयोगैश्च**—देहिनां शरीरिणां शरीरं पापकर्माणि संयोजयति। कैः। व्यापारैः। च पुनः। सततारम्भयोगैः निरन्तरारम्भसंबन्धैः। च पुनः। कथंभूतैः। जन्तुघातकैः ॥१२६॥ अथ दुरितानां हेतुमाह। शिखरिणी।

संयमी जीव भलीभाँति संरक्षित—दुष्ट प्रवर्तनसे रोके गये— अपने शरीरके द्वारा अथवा ध्यानमें स्थिर किये गये काययोगके द्वारा निरन्तर पुण्य कर्मको संचित किया करता है ॥१२५॥

प्राणियोंका शरीर निरन्तर आरम्भसे सम्बद्ध और प्राणियोंका संहार करनेवाले व्यापारोंके द्वारा—अपनी दुष्ट प्रवृत्तियोंसे—पापकर्मोंका संयोग कराता है ॥ विशेषार्थ— मन, वचन और शरीरकी प्रवृत्तिसे जो आत्म-प्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है उसे योग कहते हैं। चूँकि यह योग कर्मके आगमनका कारण होता है अत एव उसे ही आस्रव कहा जाता है। वह योग मन, वचन और कायके भेदसे तीन प्रकारका है। इनमें प्रत्येक भी शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारका है। संसार, शरीर और भोगोंकी ओरसे विरक्त होकर तत्त्वका विचार करना तथा प्राणीमात्रमें मित्रताअभिलाषा रखना, सम्यग्दर्शनादि गुणोंको धारण करनेवाले गुणवान् जीवोंको देखकर हृदयमें विशेष अनुराग होना, दुःखी जीवोंको देखकर मनमें करुणाभावका उदित होना और अपने विपरीत आचरण करनेवाले प्राणियोंके दुर्व्यवहारसे क्षुब्ध न होकर उनके प्रति मध्यस्थभाव रखना; इस प्रकार इन भावनाओंका सदा चिन्तन करना, यह शुभ मनोयोग कहलाता है। इसके विपरीत कषायोंके वशीभूत होकर निरन्तर विषयोंके लिए व्याकुल रहना एवं दूसरोंके अहितका चिन्तन करना, इसका नाम अशुभ मनोयोग है। सदा सत्यसंभाषण करना, अन्य प्राणियोंको हितकारक उपदेश करना और परमागमका पठन-पाठन करना; इत्यादि शुभ वचनयोग कहलाता है। इसके विपरीत दूसरोंकी निन्दा करना, पापमें प्रवृत्त करनेवाले मिथ्या उपदेशको करना, तथा अन्य प्राणियोंको कष्ट पहुँचानेवाले वचनोंका उच्चारण करना; इसका नाम अशुभ वचनयोग है। शरीरकी दुष्ट प्रवृत्तिको रोककर उसे जिनपूजन, शास्त्रलेखन एवं ध्यान आदिमें जो प्रवृत्त किया जाता है उसे शुभ काययोग तथा इसके विपरीत जो उसे प्राणियोंकी हिंसा एवं निरन्तर बहुत आरम्भ आदिमें प्रवृत्त किया जाता है उसे अशुभ काययोग समझना चाहिए। इनमेंसे शुभ मन, वचन और काययोगके द्वारा सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियोंका तथा अशुभ मन,

१. J Y स्वगुप्तेन। २. P °नातिकायेन, V B C R सुकायेन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

178) कषायाः क्रोधाद्याः स्मरसहचराः पञ्च विषयाः
प्रमादा मिथ्यात्वं वचनमनसी काय इति च ।
दुरन्ते दुर्ध्याने विरतिविरहश्चेति नियतं
स्रवन्त्येते¹ पुंसां दुरितपटलं जन्मभयदम् ॥१२७

[इति] आस्रवः । [७]

179) सर्वास्रवनिरोधो यः संवरः स प्रकीर्तितः ।
द्रव्यभावविभेदेन स द्विधा भिद्यते पुनः ॥१२८

180) यः कर्मपुद्गलादानविच्छेदः स्यात्तपस्विनः ।
स द्रव्यसंवरः प्रोक्तो ध्याननिर्धूतकल्मषैः ॥१२९

---

178) **कषायाः क्रोधाद्याः**—एते पुंसां पुरुषाणां दुरितपटलम् इति अमुना प्रकारेण श्रयन्ते* । नियतं निश्चितम् । एते के । कषायाः क्रोधाद्याः पञ्च विषयाः । स्मरसहचराः कन्दर्पसहायाः पञ्चदश प्रमादाः । मिथ्यात्वं वचनमनसी काय इति च । च पुनः । दुरन्तैः दुर्ध्यानैः विरतिः विरहश्चेति । कथंभूतं दुरितपटलम् । जन्मभयदमिति सुगमम् ॥१२७॥ इत्यास्रवः ॥ अथ संवरमाह ।

179) **सर्वास्रवनिरोधो यः**—स संवरः प्रकीर्तितः सर्वास्रवनिरोधो यो वर्तते । स संवरः द्रव्यभावविभेदेन द्विधा भिद्यते । पुनः पादपूरणे । इति श्लोकार्थः ॥१२८॥ अथ द्रव्यसंवरमाह ।

180) **यः कर्मपुद्गलादान**—स द्रव्यसंवरः प्रोक्तः । कैः । ध्याननिर्धूतकल्मषैः ध्यानदग्ध-

---

वचन एवं काययोगके द्वारा असातावेदनीय आदि पापप्रकृतियोंका आगमन होता है। इस प्रकारके आस्रवके विषयमें जो बार-बार विचार किया जाता है इसका नाम आस्रवभावना है। वह आस्रव सामान्यतः दो प्रकारका है—द्रव्यास्रव और भावास्रव। उपर्युक्त शुभ-अशुभ योगोंके द्वारा जो पौद्गलिक ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंका आगम होता है, उसे द्रव्यास्रव कहा जाता है। तथा जीवके जिन परिणामोंके द्वारा उक्त पौद्गलिक कर्मोंका आगमन हुआ करता है उनका नाम भावास्रव है। आगे इसी भावास्रवका विवेचन किया जाता है ॥१२६॥

क्रोधादिक कषायें, कामके मित्रस्वरूप पाँचों इन्द्रियोंके पाँच विषय, पन्द्रह प्रमाद, मिथ्यात्व; मन, वचन व कायरूप तीन योग; दुर्निवार दो दुर्ध्यान (आर्त व रौद्र) और व्रतका अभाव (अविरति); इनके द्वारा प्राणियोंके नियमसे संसारमें भयको उत्पन्न करनेवाले कर्मसमूहका आगमन हुआ करता है ॥१२७॥ आस्रवभावना समाप्त हुई ॥

८. संवरभावना—उपर्युक्त आस्रवोंका जो निरोध हो जाता है उसे संवर कहा गया है। वह द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारका है ॥१२८॥

तपस्वी मुनिके जो नवीन कर्म-पुद्गलोंके ग्रहणका अभाव हो जाता है, इसे ध्यानके

---

१. J श्रयन्त्येते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

181) यो संसारनिमित्तस्य क्रियाया विरतिः स्फुटम् ।
स भावसंवरस्तज्ज्ञैर्विज्ञेयः परमागमात् ॥१३०

182) असंयममयैर्बाणैः संवृतात्मा न भिद्यते ।
यमी यथा सुसंनद्धो वीरःसमरसंकटे ॥१३१

183) जायते यस्य यः साध्यः स तेनैव निरुध्यते ।
अप्रमत्तैः समुद्युक्तैः संवरार्थं महर्षिभिः ॥१३२

184) क्षमा क्रोधस्य मानस्य मार्दवं त्वार्जवं पुनः ।
मायायाः संगसंन्यासो लोभस्यैते द्विषः क्रमात् ॥१३३

पापैः । स कः । तपस्विनः तपोयुक्तस्य यः कर्मपुद्गलादानविच्छेदः स्यात् कर्मपुद्गलग्रहणनाशः स्यात् ॥१२९॥ अथ भावसंवरमाह ।

181) **या संसारनिमित्तस्य**—तज्ज्ञैर्भावसंवरज्ञैः स भावसंवरो विज्ञेयः । कस्मात् परमागमात् । संसारनिमित्तस्य क्रियायाः कर्मणः स्फुटं प्रगटं या विरतिः इति सूत्रार्थः ॥१३०॥ एतदेवाह ।

182) **असंयममयैः**—यमी व्रती यथा प्रतीकारेण सुसंनद्धः अशुभयोगत्रययुक्तः असंयममयैः बाणैः न भिद्यते न भेदं प्राप्नोति । कथंभूतो यमी । संवृतात्मा । यथा वीरः सुभटः सुसंनद्धः कवचपरिवृतः समरसंकटे संग्राममध्ये बाणैः न भिद्यते इति सूत्रार्थः ॥१३१॥ अथ संवरमाह ।

183) **जायते यस्य**—यस्य पुरुषस्य यः साध्यो जायते स तेनैव निरुद्धयते महर्षिभिः । किमर्थम् । संवरार्थम् । कथंभूतैर्महर्षिभिः । अप्रमत्तैः प्रमादरहितैः । पुनः कीदृशैः । समुद्युक्तैः सावधानैः इत्यर्थः ॥१३२॥ अथ लोभस्य वैरानाह ।

184) **क्षमा क्रोधस्य मानस्य**—लोभस्य एते द्विषः वैरिणः क्रमात् जायन्ते । एते के । क्षमा

द्वारा उस कर्म-कालिमाको धो डालनेवाले गणधरादिकोंने द्रव्यसंवर बतलाया है ॥१२९॥

जिस मिथ्यात्वादिरूप क्रियाके द्वारा संसारके कारणभूत कर्मका ग्रहण होता है उस क्रियासे विरत होनेका नाम भावसंवर है, यह उस संवरके जानकारोंको परमागमसे जानना चाहिए ॥१३०॥

जिस प्रकार अपनेको कवचसे वेष्टित करके अस्त्र-शस्त्रादिसे सुसज्जित वीर योद्धा युद्धमें बाणोंके द्वारा नहीं भेदा जाता है—घायल नहीं किया जाता है—उसी प्रकार संवरसे युक्त होकर गुप्ति एवं समिति आदिसे सुसज्जित संयमी पुरुष इस संसारमें असंयमरूप बाणोंसे नहीं भेदा जाता है—वह असंयमके निमित्तसे आनेवाले कर्मोंसे लिप्त नहीं होता है ॥१३१॥

जो जिसका साध्य है वह प्रमादसे रहित होकर संवरके लिए उद्यम करनेवाले महामुनियोंके द्वारा उसीसे रोका जाता है ॥१३२॥

क्षमा, मार्दव, आर्जव और संगसंन्यास–ममत्वका परित्याग; ये क्रमसे क्रोध, मान,

१. P X यः संसार । २. X संयतात्मा न । ३. J चार्जवं पुनः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

185) रागद्वेषौ समत्वेन निर्ममत्वेन वानिशम् ।
मिथ्यात्वं दृष्टियोगेन निराकुर्वन्ति योगिनः ॥१३४

186) अविद्याप्रसरोद्भूतं तमस्तत्त्वावरोधकम् ।
ज्ञानसूर्यांशुभिर्बाढं स्फेटयन्त्यात्मदर्शिनः[1] ॥१३५

187) असंयमगरोद्गारं सत्संयमसुधाम्बुभिः[2] ।
निराकरोति निःशङ्कं[3] संयमी संवरोद्यतः ॥१३६

188) द्वारपालीव यस्योच्चैर्विचारचतुरा मतिः ।
हृदि स्फुरति तस्याघसूतिः स्वप्ने ऽपि दुर्घटा ॥१३७

शक्तौ सत्यां सहनं क्रोधस्य । तु पुनः । मानस्य मार्दवम् । पुनः मायाया आर्जवम् । लोभस्य संगन्यासः संत्यागः । इति सूत्रार्थः ॥१३३॥ अथ योगिनां मिथ्यात्वाभावमाह ।

185) **रागद्वेषौ समत्वेन**—योगिनो मिथ्यात्वं निराकुर्वन्ति दूरीकुर्वन्ति । रागद्वेषौ समत्वेन समतया निराकुर्वन्ति । वा अथवा । अनिशं निरन्तरं निर्ममत्वेन ममत्वरहितेन योगिनः इति सर्वत्र योज्यम् ॥१३४॥ अथ योगिनां तमोनिराकरणमाह ।

186) **अविद्या**—आत्मदर्शिनः तमः अज्ञानं स्फोटयन्ति । कैः । बाढं ज्ञानसूर्यांशुभिः । कथंभूतं तमः । अविद्याप्रसरोद्भूतम् अज्ञानसमूहोत्थम् । पुनः कथंभूतम् । तत्त्वावरोधकं तत्त्वप्रतिरोधकमिति भावः ॥१३५॥ अथ संवरलक्षणमाह ।

187) **असंयमगरोद्गारं**—संयमी असंयमगरोद्गारं असंयमविषोद्गारं निराकरोति । कैः । *सत्संयमशुद्धाम्बुभिः सत्संयमनिर्मलजलैः । कथंभूतः । निःशङ्कः* । पुनः कीदृशः । संवरोद्यतः इति सूत्रार्थः ॥१३६॥ अथ विचारवतो जन्माभावमाह ।

188) **द्वारपालीव**—यस्य उच्चैर्यथा स्यात् हृदि स्फुरति मतिः । कथंभूता मतिः ।

माया और लोभके शत्रु हैं—उनके रोधक हैं ॥१३३॥

योगी जन निरन्तर राग और द्वेषको समताभाव व निर्ममत्व (ममताका परित्याग) से तथा मिथ्यात्वको सम्यग्दर्शनके योगसे नष्ट किया करते हैं ॥१३४॥

आत्मस्वरूपका अवलोकन करनेवाले योगी अज्ञानताके विस्तारसे उत्पन्न होकर वस्तुस्वरूपको आच्छादित करनेवाले अन्धकारको—मिथ्याज्ञानको—सम्यग्ज्ञानरूप सूर्यकी किरणोंके द्वारा अतिशय नष्ट किया करते हैं ॥१३५॥

संवरमें उद्यत साधु असंयमरूप विषके विस्तारका समीचीन संयमरूप अमृतजलके द्वारा निर्भयतापूर्वक निराकरण करते हैं ॥१३६॥

हिताहितके विचारमें अतिशय दक्ष बुद्धि जिसके अन्तःकरणके भीतर द्वार-रक्षिकाके समान प्रकाशमान है उसके- पापकी उत्पत्ति स्वप्नमें भी सम्भव नहीं है। अभिप्राय यह है

१. B N स्फोटयन्त्यात्म° । २. J शुद्धाम्बुधिः, T सुधाम्बुधिः । ३. M N T J निःशङ्कः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

189) विहाय कल्पनाजालं स्वरूपे निश्चलं मनः ।
यदाधत्ते तदैव[1] स्यान्मुनेः परमसंवरः ॥१३८

190) सकलसमितिमूलः संयमोद्दामकाण्डः
प्रशमविपुलशाखो धर्मपुष्पावकीर्णः ।
अविकलफलबन्धैर्बन्धुरो भावनाभि-
र्जयति जितविपक्षः संवरोदारवृक्षः[2] ॥१३९

[इति] संवरः । [८]

विचारचतुरा । का इव । द्वारपालीव द्वारपालिकेव । अथेति पक्षान्तरे । तस्य सूतिः जन्म स्वप्ने ऽपि दुर्घटा ॥१३७॥ अथ संवरलक्षणमाह ।

189) **विहाय कल्पना**—यदा स्वरूपे निश्चलं मनः धत्ते । किं कृत्वा । कल्पनाजालं विहाय । मुनेः ज्ञानिनः । तदेव* परमसंवरः ॥१३८॥ अथ संवरस्य वृक्षदृष्टान्तेन द्रढयति । मालिनी छन्दः ।

190) **सकलसमितिमूलः**—संवरोद्दामवृक्षो* जयति । जितविपक्षः नष्टान्तरायः । पुनः कथंभूतः । सकलसमितिमूलः । सुगमम् । पुनः कथंभूतः । संयमोद्दामकाण्डः संयमोत्कटस्कन्धः । सुगमम् । पुनः कीदृशः । प्रशमविपुलशाखः । सुगमम् । पुनः कीदृशः । धर्मपुष्पावकीर्णः यतिगृहिधर्मप्रसून-व्याप्तः । पुनः कीदृशः । अविकलफलैर्बन्धुरः संपूर्णफलबन्धैर्मनोहरः । काभिर्जयति । भावनाभिः । इति सूत्रार्थः ॥१३९॥ अथ निर्जरामाह ।

कि जिस प्रकार द्वारपर स्थित पहरेदार किसी ऐसे-वैसे जनको भवनके भीतर नहीं प्रविष्ट होने देता है उसी प्रकार साधुकी विवेक बुद्धि नवीन कर्मको प्रविष्ट नहीं होने देती है—उसके आस्रवको रोकती है ॥ विशेषार्थ—आस्रवके निरोधका नाम संवर है । जैसा कि पीछे श्लोक १२८ में निर्दिष्ट किया गया है; क्रोधादि कषाय, इन्द्रियविषय (राग-द्वेष) और मिथ्यात्व आदिके द्वारा चूँकि कर्मोंका आगमन होता है अतएव ये सब आस्रव माने जाते हैं । साधु-जन उक्त क्रोधादि कषायों, राग-द्वेष और मिथ्यात्व आदिको उनके विपक्षभूत क्षमा, मार्दव, आर्जव, परिग्रह-परित्याग, निर्ममता और सम्यग्दर्शन आदिके द्वारा नष्ट करके उनके निमित्त-से आनेवाले नवीन कर्मोंको रोक देते हैं । इसीलिए वे संवरके स्वामी हो जाते हैं ॥१३७॥

जिस समय मुनिका मन समस्त कल्पनाओंके समूहको छोड़कर अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाता है उसी समय मुनिके उत्कृष्ट संवर होता है ॥१३८॥

समस्त समितियोंरूप जड़ोंसे स्थिर, संयमरूप प्रचण्ड स्कन्धसे सहित, कषायोंकी शान्तिरूप बहुत-सी शाखाओंसे सुशोभित, उत्तम क्षमादि धर्मोंरूप पुष्पोंसे व्याप्त और परि-पूर्ण फलोंके सम्बन्धके समान अनित्यादि भावनाओंसे मनोहर ऐसा यह संवररूप विशाल वृक्ष कर्म-शत्रुपर विजय प्राप्त करता हुआ जयवंत रहे ॥१३९॥ संवरभावना समाप्त हुई ॥

१. M तदेव स्यात् । २. All others except P F C संवरोद्दामवृक्षः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

191) यया कर्माणि शीर्यन्ते बीजभूतानि जन्मनः ।
प्रणीता यमिभिः[1] सेयं निर्जरा जीर्णबन्धनैः ॥१४०

192) सकामाकामभेदेन विकल्पद्वयमश्नुते ।
निर्जरा कर्मजानेकनिगडच्छेदकारणम्[2] ॥१४१

193) पाकः स्वयमुपायाच्च स्यात्फलानां तरोर्यथा ।
तथात्र कर्मणां ज्ञेयः स्वयं सोपायलक्षणः ॥१४२

---

191) **यया कर्माणि**—यमिभिः साधुभिः सेयं निर्जरा प्रणीता । कथंभूतैर्यमिभिः । जीर्णबन्धनैः । सा का । यया निर्जरया जन्मनो बीजभूतानि कर्माणि शीर्यन्ते नाश्यन्ते इति सूत्रार्थः ॥१४०॥ अथ निर्जराद्वैविध्यमाह ।

192) **सकामाकामभेदेन**—शरीरिणां सा निर्जरा द्विधा* स्यात् । केन । सकामाकामभेदेन । एका सकामा संसारे परिभ्रमतः गुरूपदेशादिना । एकाकामा धर्मं विना संसारे भ्रमतः । यमिनां व्रतिनां पूर्वा निर्जरा सकामा । ततः तस्मात् सर्वदेहिनामन्या अकामा ॥१४१॥ कर्मणां विपाकमाह ।

193) **पाकः स्वयमुपायाच्च**—उपायसहितः । इति सूत्रार्थः ॥१४२॥ अथ जीवशुद्धिमाह ।

---

९. निर्जराभावना—जिसके द्वारा संसारके बीजभूत कर्म नष्ट किये जाते हैं उसे कर्मबन्धसे रहित हुए मुनियोंने निर्जरा कहा है ॥१४०॥

वह निर्जरा सकाम और अकामके भेदसे दो भेदोंमें विभक्त है । उनमें कर्मजा निर्जरा अनेक बन्धनों के नाशका कारण है ॥ विशेषार्थ—पूर्वबद्ध कर्मोंके क्रमशः आत्मासे पृथक् होनेका नाम निर्जरा है । वह दो प्रकार की है—सकामनिर्जरा और अकामनिर्जरा । इनमें जो कर्म अभी उदयको प्राप्त नहीं हैं उनको तपके प्रभावसे उदयावलीमें प्रविष्ट कराके इच्छापूर्वक उनके फलको भोगना, यह सकामनिर्जरा कही जाती है । यह तपस्वियोंके हुआ करती है । स्थितिके पूर्ण होनेपर कर्म जो अपना फल देकर निर्जीर्ण होते हैं, इसका नाम अकामनिर्जरा है । यह सब ही प्राणियोंके हुआ करती है । इसमें चूँकि अनिच्छापूर्वक कर्मका फल भोगा जाता है इसीलिए इसे अकामनिर्जरा कहा गया है । उनमें सकामनिर्जराको अविपाकनिर्जरा व कर्मजानिर्जरा तथा अकामनिर्जराको सविपाकनिर्जरा व अकर्मजा निर्जरा भी कहा जाता है ॥१४१॥

जिस प्रकार यहाँ वृक्षके फलोंका परिपाक स्वयं भी होता है और उपायसे—कच्चे तोड़कर उन्हें पालमें देनेसे—भी होता है उसी प्रकार कर्मोंका परिपाक भी स्वयं और उपायस्वरूप—तपकी शक्तिसे होनेवाला—भी समझना चाहिए ॥१४२॥

---

१. M N यतिभिः सेयं । २. All others except P भेदेन द्विधा सा स्याच्छरीरिणाम् । निर्जरा यमिनां पूर्वा ततो ऽन्या सर्वदेहिनाम् ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

194) विशुध्यति हुताशेन सदोषमपि काञ्चनम् ।
यद्वत्तथैव जीवो ऽयं तप्यमानस्तपो ऽग्निना ॥१४३

195) चमत्कारकरं धीरैर्बाह्यमाध्यात्मिकं तपः ।
तप्यते जन्मसंतान[1]शङ्कितैरार्यसूरिभिः ॥१४४

196) तत्र बाह्यं तपः प्रोक्तमुपवासादिषड्विधम् ।
प्रायश्चित्तादिभिर्भेदैराध्यात्मं च [ापि] तद्विधम्[2] ॥१४५

197) [[3]उपवासादिभिर्भेदैः कायक्लेशाङ्गमूर्जितम् ।
प्रायश्चित्तादिभिर्भेदैराध्यात्मं ध्यानलक्षणम् ॥१४५*१]

194) विशुध्यति हुताशेन—यथा सदोषमपि काञ्चनं स्वर्णमपि हुताशेनाग्निना विशुध्यति तथैवायं जीवः तपो ऽग्निना तप्यमानो विशुध्यति विशुद्धो भवति इति सूत्रार्थः ॥१४३॥ अथ तपःस्वरूपमाह ।

195) चमत्कारकरं धीरैः—आर्यसूरिभिः आध्यात्मिकं बाह्यं तपः तप्यते । चमत्कारकरम् आश्चर्यकारकम् । कथंभूतैरार्यसूरिभिः । धीरैः । पुनः कथंभूतैः । जन्मसंतानशङ्कितैः भवपरम्पराशङ्कितैरित्यर्थः ॥१४४॥ अथ बाह्यतपोविशेषमाह ।

196) तत्र बाह्यं तपः—तत्र तपो ऽधिकारे उपवासादि षड्विधं षट्प्रकारं बाह्यं तपः प्रोक्तम् । च पुनः । षड्विधं षट्प्रकारं प्रायश्चित्तादिभिः भेदैः [अन्तर्] अङ्गं प्रोक्तम् ॥१४५॥ [तत्र द्विविधं तपो दर्शयति ।

197) उपवासादिभिर्भेदैः—बाह्यं तपः उपवासादिकायक्लेशान्तं षड्भेदं उत्तमं च मतम् । तथैव प्रायश्चित्तादिभेदैः अभ्यन्तरं षड्विधं तपः प्रोक्तम् । तत्र ध्यानं चरमं परमं च मतम् ॥१४५*१॥] अथ तपसः कर्मक्षपणत्वमाह ।

जिस प्रकार अग्निके संयोगसे दोषयुक्त—कीट व कालिमासे सहित—भी सुवर्ण शुद्ध (निर्दोष) हो जाता है उसी प्रकार यह संसारी जीव भी तपरूप अग्निसे सन्तप्त होकर शुद्ध हो जाता है—कर्म-मलसे रहित होता हुआ मुक्त हो जाता है ॥१४३॥

श्रेष्ठ मुनिजन संसारकी परम्परासे भयभीत होकर साहसपूर्वक आश्चर्यजनक बाह्य एवं अभ्यन्तर तपको तपा करते हैं ॥१४४॥

उनमें उपवास (अनशन) आदिके भेदसे बाह्य तप छह प्रकारका तथा प्रायश्चित्त आदिके भेदसे अभ्यन्तर तप भी छह प्रकारका कहा गया है ॥१४५॥

तप दो प्रकारका है । बाह्य और आन्तरिक । उपवास, अवमौदार्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश इस तरह छह प्रकारका उत्तम बाह्य तप है और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इस तरह छह प्रकारका आन्तरिक तप है ॥१४५*१॥

१. N जन्मसंताप । २. All others except P भेदैरन्तरङ्गं च षड्विधम् । ३. Found only in F ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

198) निर्वेदपदवीं प्राप्य तपस्यति यथा यथा ।
यमी क्षपति[1] कर्माणि दुर्जयानि[2] तथा तथा ॥१४६

199) ध्यानानलसमालीढमप्यनादिसमुद्भवम् ।
सद्यः प्रक्षीयते कर्म शुध्यत्यङ्गी सुवर्णवत् ॥१४७

200) तपस्तावद्बाह्यं चरति सुकृती पुण्यचरित-
स्ततश्चात्माधीनं[3] नियतविषयं ध्यानपरमम्[4] ।
क्षपत्यन्तर्लीनं[5] चिरतरचितं[6] कर्मपटलं
ततो ज्ञानाम्भोधिं विशति परमानन्दनिलयम् ॥१४८

[इति] निर्जरा । [९]

198) **निर्वेदपदवीं प्राप्य**—यमी व्रती यथा तपस्यति । किं कृत्वा । निर्वेदपदवीं वैराग्यपदवीं प्राप्य । तथा तथा कर्माणि क्षिपति* । कथंभूतानि कर्माणि । दुर्जयानि इति सूत्रार्थः ॥१४६॥ अथ जीवः कर्मक्षयात् शुध्यति ।

199) **ध्यानानलसमालोढं**—अङ्गी प्राणी शुध्यति स्वर्णवत् । यदा सद्यः शीघ्रं कर्म प्रक्षीयते । कथंभूतम् । ध्यानानलसमालीढं ध्यानाग्निव्याप्तमपि अनादिभवम् अनादिकालजातमिति भावः ॥१४७॥ अथ निर्जरामुपसंहरति । शिखरिणी ।

200) **तपस्तावद्बाह्यं**—सुकृती तावद्बाह्यं तपश्चरति । कथंभूतः । पुण्यचरितः । ततश्चात्माधीनं कर्मपटलं क्षिपति ।* कीदृशं ध्यानपरमम् । नियतविषयं नियता विषया यस्मिन् तत्तथा । कथंभूतं कर्मपटलम् । अन्तर्लीनं मध्येव्याप्तम् । ततस्तदनन्तरं ध्यानपरमं ज्ञानाम्भोनिधिं विशति । कथंभूतं ज्ञानाम्भोनिधिम् । परमानन्दनिलयं प्रकृष्टानन्दगृहमित्यर्थः ॥१४८॥ इति निर्जरा समाप्ता । अथ धर्मस्वरूपं निरूपयति ।

संयमका धारक साधु वैराग्यके मार्गको प्राप्त होकर जैसे-जैसे तपश्चरण करता है वैसे-वैसे उसके दुःखसे जीतने योग्य कठोर कर्म क्षीण होते जाते हैं ॥१४६॥

अनादि कालसे संचित कर्म ध्यानरूप अग्निके संयोगसे शीघ्र ही क्षीण हो जाता है । इससे प्राणी सुवर्णके समान निर्मल हो जाता है ॥१४७॥

पुण्यशाली सदाचारी विद्वान् प्रथमतः बाह्य तपका अनुष्ठान करता है और तत्पश्चात् अभ्यन्तर तपका अनुष्ठान करता हुआ आत्माधीन—बाह्य वस्तुओं की अपेक्षासे रहित—एवं नियमित विषयवाले उत्कृष्ट ध्यानका आचरण करता है । इस प्रकारसे वह बहुत कालसे संचित होकर आत्माके भीतर स्थित कर्मसमूहको नष्ट कर देता है और तब उत्कृष्ट आनन्दके स्थानभूत ज्ञानरूप समुद्रके भीतर प्रविष्ट होता है—अनन्तज्ञानादिस्वरूप मुक्तिको प्राप्त कर लेता है ॥१४८॥ निर्जराभावना समाप्त हुई ॥

१. F X क्षिपति । २. F V C X दुर्जराणि । ३. B ततः स्वात्माधीनं । ४. M N Y ध्यानमपरं । ५. L F B J X क्षिपत्यन्त° । ६. M N चिरपरिणतं कर्म ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

201) पवित्रीक्रियते येन येनैव ध्रियते[1] जगत् ।
नमस्तस्मै[2] दयार्द्राय धर्मकल्पाङ्घ्रिपाय वै ।।१४९

202) दशलक्ष्मयुतः सो ऽयं जिनैर्धर्मः प्रकीर्तितः ।
यस्यांशमपि संसेव्य विन्दन्ति[3] यमिनः शिवम् ।।१५०

203) न सम्यग्गदितुं शक्यं यत्स्वरूपं कुदृष्टिभिः ।
हिंसाक्षपोषकैः शास्त्रैरतस्तैस्तन्निगद्यते[4] ।।१५१

204) चिन्तामणिर्निधिर्दिव्यः[5] स्वर्धेनुः कल्पपादपाः[6] ।
धर्मस्यैते श्रिया सार्धं मन्ये भृत्याश्चिरंतनाः ।।१५२

---

201) **पवित्रीक्रियते येन**—तस्मै धर्मकल्पाङ्घ्रिपाय धर्मकल्पवृक्षाय नमः । कथंभूताय धर्मकल्पवृक्षाय । दयार्द्राय । येन पवित्रीक्रियते येन एवं जगत् ध्रियते इति सूत्रार्थः ।।१४९।। धर्मस्य स्वरूपमाह ।

202) **दशलक्ष्मयुतः**—सो ऽयं धर्मो दशलक्ष्मयुतः क्षान्त्यादिदशप्रकारयुक्तो जिनैः प्रकीर्तितः । यस्य धर्मस्य अंशमपि संसेव्य सेवित्वा यमिनः शिवं विदन्ति* इति सूत्रार्थः ।।१५०।। अथ कुदृष्टीनां धर्माभावं दर्शयति ।

203) **न सम्यग्गदितं**—कुदृष्टिभिः मिथ्यात्विभिः यत्स्वरूपं धर्मस्वरूपं सम्यग्गदितुं कथयितुं न शक्यम् । अतस्तैः कुदृष्टिभिः तद्धर्मस्वरूपं निगद्यते कथ्यते । कैः । शास्त्रैः । कथंभूतैः । हिंसाक्षपोषकैः । इति सूत्रार्थः ।।१५१।। अथ धर्मस्याधिक्यमाह ।

204) **चिन्तामणिर्निधिः**—अहम् एवं मन्ये । धर्मस्यैते चिरन्तनाः भृत्याः वर्तन्ते श्रिया सार्धम् । एते के । चिन्तामणिः रत्नम् । निधिः निधानम् । दिव्यः प्रधानः । स्वर्धेनुः कामधेनुः कल्पपादपाः कल्पवृक्षाः इति सूत्रार्थः ।।१५२।। अथ धर्मस्य फलमाह ।

---

१०. धर्मभावना—जो विश्वको पवित्र करता है व उसे धारण करता है उस दयासे आर्द्र (सिंचित) धर्मरूप कल्पवृक्षके लिए नमस्कार हो ।।१४९।।

जिस धर्मके अंशमात्रका भी आराधन करके संयमी जन मोक्षको (अथवा आत्म-कल्याणको) जानते हैं उस धर्मको जिन भगवान् ने उत्तम क्षमादिरूप दस लक्षणोंसे संयुक्त बतलाया है ।।१५०।।

उस धर्मके स्वरूपको चूँकि मिथ्यादृष्टि जन उन हिंसा एवं इन्द्रियोंके पोषक शास्त्रोंके द्वारा नहीं कह सकते हैं, इसीलिये यहाँ उसका स्वरूप कहा जाता है ।।१५१।।

चिन्तामणि, दिव्य निधि, कामधेनु और कल्पवृक्ष ये सब लक्ष्मीके साथ उस धर्मके चिरकालीन सेवक (दास) हैं; ऐसा मैं समझता हूँ ।।१५२।।

---

१. M N S V C J Y येनैवोद्ध्रियते । २. P नमस्तुभ्यं । ३. P M N L T J विदन्ति, B वदन्ति । ४. B तैश्च निगद्यते । ५. N °मणिनिर्धि° । ६. M कल्पपादपः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

205) धर्मो नरोरगाधीशनाकनायकवाञ्छिताम् ।
अपि लोकत्रयीपूज्यां श्रियं दत्ते शरीरिणाम् ॥१५३

206) धर्मो व्यसनसंपाते पाति विश्वं चराचरम् ।
सुखामृतपयःपूरैः प्रीणयत्यखिलं तथा[1] ॥१५४

207) पर्जन्यपवनार्केन्दुधराम्बुधिपुरंदराः ।
अमी विश्वोपकारेषु वर्तन्ते धर्मरक्षिताः ॥१५५

208) मन्ये ऽसौ लोकपालानां व्याजेनाव्याहतक्रमः ।
जीवलोकोपकारार्थं धर्म एव विजृम्भितः ॥१५६

205) **धर्मो नरोरगाधीश**—शरीरिणां श्रियं दत्ते । कः । धर्मः । कथंभूतां श्रियम् । लोकत्रयीपूज्याम् । अपि पुनः कीदृशीम् । नरोरगनाकनायकवाञ्छितां मनुष्यनागेन्द्राभिमतामित्यर्थः ॥१५३॥ अथ धर्ममाहात्म्यमाह ।

206) **धर्मो व्यसनसंपाते**—धर्मः चराचरं विश्वं पाति । कस्मिन् । व्यसनपाते कष्टागमने । धर्मः अखिलं जगत् प्रीणयति । कैः । सुखामृतपयःपूरैरित्यर्थः ॥१५४॥ अथ पर्जन्याद्या धर्मरक्षिताः [तेषाम्] उपकारकारित्वमाह ।

207) **पर्जन्यपवनार्केन्दु**—अमी प्रत्यक्षीभूताः पर्जन्यपवनार्केन्दुधराम्बुधिपुरंदराः मेघवायुसूर्येन्दुक्षितिसमुद्रेन्द्राः विश्वोपकारेषु वर्तन्ते । कथंभूताः । धर्मरक्षिता इति भावः ॥१५५। अथ धर्मोपकारमाह ।

२०४) **मन्ये ऽसौ**—अहम् एवं मन्ये । असौ धर्मः लोकपालानां व्याजेन जीवलोकोपकारार्थं विजृम्भितः प्रसृतः । कथंभूतः । अभ्याहतक्रमः सर्वव्यापीत्यर्थः ॥१५६॥ अथ धर्मस्वरूपमाह ।

धर्म प्राणियोंको तीनों लोकोंसे पूजनीय उस लक्ष्मीको प्रदान करता है जिसकी कि चक्रवर्ती, धरणेन्द्र और इन्द्र अभिलाषा करते हैं। तात्पर्य यह कि चक्रवर्ती आदिकी वह विभूति प्राणियोंको धर्मके प्रभावसे ही प्राप्त होती है ॥१५३॥

धर्म आपत्तिके समयमें त्रस और स्थावर जीवोंसे परिपूर्ण समस्त विश्वकी रक्षा करता है तथा सब ही लोकको वह सुखरूप अमृतजलके प्रवाहसे सन्तुष्ट करता है ॥१५४॥

मेघ, वायु, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, समुद्र और इन्द्र; ये सब धर्मसे रक्षित होकर ही लोकके सब प्रकारके उपकारमें प्रवृत्त होते हैं। अभिप्राय यह है कि धर्मके होते हुए मेघ एवं वायु आदि सब ही जगत्का उपकार किया करते हैं। परन्तु उस धर्मके बिना वे भी घातक हो जाते हैं ॥१५५॥

ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा स्वरूपसे कहते हैं कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जीवलोकका—लोकके समस्त प्राणियोंका—उपकार करनेके लिए लोकपालोंके छलसे स्वतन्त्रतापूर्वक सर्वत्र विचरण करनेवाला वह धर्म ही व्याप्त (या विकसित) हो रहा है ॥१५६॥

१. All others except P °त्यखिलं जगत् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

209) न तत्त्रिजगतीमध्ये भुक्तिमुक्त्योर्निबन्धनम् ।
प्राप्यते धर्मसामर्थ्यान्न यद्यमितमानसैः ॥१५७

210) नमन्ति पादराजीवराजिकां नतमौलयः ।
धर्मैकशरणीभूतचेतसां त्रिदशेश्वराः ॥१५८

211) धर्मो गुरुश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च बान्धवः[1] ।
अनाथवत्सलः सो ऽयं स[2] त्राता कारणं विना ॥१५९

212) [[3]धत्ते नरकपाताले निमज्जज्जगतां त्रयम् ।
योजयत्यपि धर्मो ऽयं सौख्यमत्यक्षमङ्गिनाम् ॥१५९*१]

209) न तत्त्रिजगतीमध्ये—तत् त्रिजगतीमध्ये भुक्तिमुक्त्योर्निबन्धनं कारणं नास्ति । यदि अमितमानसैः सकलचित्तैः धर्मसामर्थ्यात् न प्राप्यते इति श्लोकार्थः ॥१५७॥ अथ धर्मकर्तृणां देवेन्द्रपूज्यत्वमाह ।

210) नमन्ति पादराजीव—त्रिदशेश्वरा इन्द्राः धर्मैकशरणीभूतचेतसां पादराजीवराजिकां पदकमलरेखां नमन्ति । कथंभूताः त्रिदशेश्वराः । नतमौलयः नतमुकुटाः इति सूत्रार्थः ॥१५८॥ अथ धर्मस्यैव सर्वस्वमाह ।

211) धर्मो गुरुश्च—सो ऽयं धर्मः गुरुः हितोपदेष्टा । च पुनः । मित्रं सुहृत् । च पुनः । धर्मः स्वामी बान्धवः । स धर्मः कीदृशः । अनाथवत्सलः । स कारणं विना त्राता पालकः इति सूत्रार्थः ॥१५९॥ अथाधःपतज्जगतां धर्म एव त्रातेत्याह ।

212) धत्ते नरकपाताले—नरकपाताले निमज्जत् जगतां त्रयम् अयं धर्मः धत्ते उद्ध्रियते [उद्धरति] । अपि पक्षान्तरे । अङ्गिनाम् अत्यक्षम् अतीन्द्रियसौख्यं योजयति इति सूत्रार्थः ॥१५९*१॥ अथ धर्मस्यैव माहात्म्यमाह ।

तीनों लोकोंके मध्यमें भुक्ति—विषयभोगजनित इन्द्रियसुख—और मुक्तिकी—अतीन्द्रिय अव्याबाध सुखकी—कारणभूत वह कोई वस्तु नहीं है जिसे कि अपने मनको नियन्त्रित करनेवाले साधुजन उस धर्मके प्रभावसे न प्राप्त कर सकते हों। तात्पर्य यह कि स्वर्गादिका सुख और मोक्षका सुख भी प्राणियोंको उस धर्मके प्रभावसे ही प्राप्त होता है ॥१५७॥

जिन भव्य जीवोंका मन एकमात्र उस धर्मकी शरणको प्राप्त हुआ है—जो धर्मको ही रक्षक मानकर एकमात्र उसीका आराधन किया करते हैं—उनके चरण कमलोंमें इन्द्र भी आकर अपने मुकुटको नमाते हुए नमस्कार किया करते हैं ॥१५८॥

धर्म ही गुरु और मित्र है; वही धर्म स्वामी और बन्धु (हितैषी) भी है। असहाय प्राणियोंसे प्रेम करनेवाला वह यह धर्म बिना किसी भी प्रकारके स्वार्थके रक्षा करनेवाला है ॥१५९॥

यह धर्म अधोलोकमें स्थित नरकरूप पातालमें डूबते हुए तीनों लोकके प्राणियोंका

१. T बान्धवाः । २. L सो ऽयमत्राता, V C Y R संत्राता । ३. P M N om.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

213) नरकान्धमहाकूपे पततां प्राणिनां स्वयम् ।
धर्म एव स्वसामर्थ्याद्दत्ते हस्तावलम्बनम् ॥१६०
214) महातिशयसंपूर्णं कल्याणोद्दाममन्दिरम् ।
धर्मो ददाति निर्विघ्नं श्रीमत्सर्वज्ञवैभवम् ॥१६१
215) याति सार्धं ततः[2] पाति करोति नियतं हितम् ।
जन्मपङ्कात् समुद्धृत्य स्थापयत्यमले पथि ॥१६२
216) न धर्मसदृशः कश्चित् सर्वाभ्युदयसाधकः ।
आनन्दकुञ्[3]जकन्दश्च हितः पूज्यः शिवप्रदः ॥१६३

213) नरकान्धमहाकूपे—धर्म एव प्राणिनां स्वयं हस्तावलम्बनं दत्ते। कस्मात् स्वसामर्थ्यात्। कथंभूतानां प्राणिनाम्। नरकान्धमहाकूपे पतताम् इति सूत्रार्थः ॥१६०॥ अथ धर्मस्य तीर्थंकरत्वमाह।

214) महातिशयसंपूर्णं—धर्मो निर्विघ्नं यथा स्यात् तथा श्रीमत्सर्वज्ञशासनं ददाति। कीदृशं श्रीमत्सर्वज्ञवैभवं शासनम्[1]। महातिशयसंपूर्णम्। सुगमम्। पुनः कीदृशम्। कल्याणोद्दाममन्दिरम्। सुगममित्यर्थः ॥१६१॥ अथ धर्मस्य सार्थित्वमाह।

215) याति सार्धं ततः—स धर्मः सार्धं याति। परलोकादौ। तथा* पाति रक्षति दुर्गतिभ्यः। नियतं हितं करोति। जन्मपङ्कात्समुद्धृत्य निष्कास्य अमले पथि मार्गे स्थापयति। इति श्लोकार्थः ॥१६२॥ अथ धर्मस्य सर्वमङ्गलानां कारणत्वमाह।

216) न धर्मसदृशः कश्चित्—धर्मसदृशः नास्ति कश्चित्। कथंभूतो धर्मः। सर्वाभ्युदयसाधकः सर्वमङ्गलकारणम्। पुनः कथंभूतो धर्मः। आनन्दकुजकन्दः आनन्दवृक्षस्य कन्दः। च पुनः। हितः पूज्यः शिवप्रदः। विशेषणत्रयं सुगममिति सूत्रार्थः ॥१६३॥ अथ धर्मस्य फलमाह।

उद्धार करके उन्हें अतीन्द्रिय सुखसे संयुक्त करता है। तात्पर्य यह कि वह धर्म प्राणियोंके दुखको दूर करके उन्हें शाश्वतिक मुक्तिसुखको प्राप्त करा देता है ॥१५९*१॥

नरकरूप महान् अन्धकूपके भीतर स्वयं गिरते हुए प्राणियोंको धर्म ही अपने सामर्थ्यसे हाथका सहारा देता है—प्राणियोंको नरकके दुःसह दुःखोंसे वह धर्म ही बचाता है ॥१६०॥

धर्म अन्तरंग व बहिरंग लक्ष्मीसे संयुक्त उस सर्वज्ञ [तीर्थंकर) की विभूतिको देता है जो चौंतीस महान् अतिशयोंसे परिपूर्ण, गर्भादि पाँच कल्याणकोंका प्रखर स्थान और सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे रहित होती है ॥१६१॥

उक्त धर्म प्राणीके साथ परलोकमें जाकर उसको दुखसे रक्षा करता है, उसका सदा भला करता है, और उसे संसाररूप कीचड़से निकाल कर निर्मल मोक्षमार्गमें स्थापित करता है ॥१६२॥

धर्मके समान दूसरा कोई सब प्रकारके—स्वर्ग-मोक्षके—अभ्युदयको सिद्ध करनेवाला, आनन्दरूप वृक्षकी जड़, हितका कर्ता, पूज्य और मोक्षको देनेवाला नहीं है ॥१६३॥

१. B J सर्वज्ञशासनम्। २. All others except P सार्धं तथा। ३ T आनन्दकुञ्ज।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

217) व्यालानलगर[1]व्याघ्रद्विप[2]शार्दूलराक्षसाः ।
नृपादयोऽपि द्रुह्यन्ति न धर्माधिष्ठितात्मनाम्[3] ॥१६४

218) निःशेषं धर्मसामर्थ्यं न सम्यग्वक्तुमीश्वरः ।
स्फुरद्वक्त्रसहस्रेण भुजगेशो[4]ऽपि भूतले ॥१६५

219) धर्मं धर्मं[5] प्रजल्पन्ति तत्त्वशून्याः कुदृष्टयः ।
वस्तुतत्त्वं न बुध्यन्ते तत्परीक्षाक्षमा यतः ॥१६६

220) तितिक्षा मार्दवं शौचमार्जवं[6] सत्यसंयमौ ।
ब्रह्मचर्यं तपस्त्यागाकिंचन्यं[7] धर्म उच्यते ॥१६७

217) व्यालानलगर– धर्माधिष्ठितात्मने* पुरुषाय नृपादयो न द्रुह्यन्ति द्रोहं कुर्वन्ति इति भावः। अपिशब्दात् व्यालानलगरव्याघ्रद्विपशार्दूलराक्षसाः नागानलगरव्याघ्रदन्तिसिंहराक्षसाः न द्रुह्यन्ति इति सूत्रार्थः ॥१६४॥ अथ धर्मस्वरूपं कोऽपि वर्णयितुं न समर्थो भवतीत्याह ।

218) निःशेषधर्मसामर्थ्यं—भुजङ्गेशोऽपि* शेषनागोऽपि निःशेषधर्मसामर्थ्यं सम्यग् वक्तुं भूतले नेश्वरः । केन । स्फुरद्वक्त्रसहस्रेण इत्यर्थः ॥१६५॥ अथ कुदृष्टीनां वस्तुतत्त्वाज्ञानमाह ।

219) धर्मं धर्मं—कुदृष्टयः इति जल्पन्ति । इति इति किम् । धर्मः धर्मः इति* जल्पन्ति । कथंभूताः कुदृष्टयः । तत्त्वशून्याः परमार्थरहिताः वस्तुतत्त्वं न बुध्यन्ते । यतः कारणात् तत्परीक्षाक्षमाः धर्मपरीक्षासमर्था इति सूत्रार्थः ॥१६६॥ अथ धर्म उच्यते ।

220) तितिक्षा आर्जवं—स धर्मः उच्यते । स इति कः । तितिक्षा क्षमा । आर्जवं मायाभावः । शौचम् । मार्दवं मानाभावः । सत्यसंयमौ ब्रह्मचर्यं तपस्त्यागः । सर्वं सुगमम् । आकिञ्चन्यं लोभाभावः इति सूत्रार्थः ॥१६७॥ अथ धर्मलक्षणमाह ।

जिसकी आत्मा धर्मसे अधिष्ठित है उस धर्मात्माके साथ सर्प, अग्नि, विष, व्याघ्र, हाथी, सिंह और राक्षस तथा राजा आदि भी द्वेष नहीं करते हैं। तात्पर्य यह कि धर्मात्मा प्राणीका सर्प आदि भी कुछ अहित नहीं कर सकते हैं ॥१६४॥

इस भूमण्डलपर उस धर्मके प्रभावका समीचीनतया पूरा वर्णन करनेके लिए धरणेन्द्र भी हजार मुखोंके द्वारा समर्थ नहीं है ॥१६५॥

तत्त्वज्ञानसे रहित मिथ्यादृष्टि जीव 'धर्म-धर्म' यह तो कहते हैं, परन्तु यथार्थमें वे वस्तु तत्त्वको—वस्तुके स्वभावभूत उस धर्मको—जानते नहीं हैं। इसका कारण यह है कि वे उक्त धर्मका परीक्षा करनेमें असमर्थ हैं ॥१६६॥

क्षमा, मृदुता, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्यको धर्म कहा जाता है ॥१६७॥

१. S T °नलतरव्याघ्र, F V C J R °नलोरगव्याघ्र । २. N द्विषच्छार्दूल । ३. All others except P °धिष्ठितात्मने । ४ M N T J B X भुजङ्गेशो । ५. All others except P M N धर्मधर्मेति जल्पन्ति । ६. B J Y आर्जवं शौचं मार्दवं सत्य । ७. B J त्यागो ऽकिंचन्यं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

221) यद्यत्स्वस्यानिष्टं तत्तद्वाक्चित्तकर्मभिः कार्यम् ।
स्वप्ने ऽपि नापरेषामिति धर्मस्याग्रिमं लिङ्गम् ॥१६८

222) धर्मः शर्म भुजङ्गपुङ्गवपुरीसारं विधातुं क्षमो
धर्मः प्रापितमर्त्यलोकविपुलप्रीतिस्तदाशंसिनाम् ।
धर्मः स्वर्नगरीनिरन्तरसुखास्वादोदयस्यास्पदं
धर्मः किं न करोति मुक्तिललनासंभोगयोग्यं जनम् ॥१६९

223) यदि नरकनिपातस्त्यक्तुमत्यन्तमिष्ट-
स्त्रिदशपतिमहर्द्धिं प्राप्तुमेकान्ततो वा ।

221) **यद्यत्स्वस्यानिष्टं**—धर्मस्य इति अग्रिमं लिङ्गं लक्षणम् । इति किम् । यद्यत्स्वस्यानिष्टमयोग्यम् । तत्तद्वाक्चित्तकर्मभिः मनोवाक्कायकर्मभिः स्वप्ने ऽपि न कार्यम् । केषाम् अपरेषाम् इति सूत्रार्थः ॥१६८॥ अथ भव्यस्य धर्मोपदेशमाह । शा० वि० ।

222) **धर्मः शर्मभुजङ्ग**—मुक्तिललनासंभोगयोग्यं जनं धर्मः किं न करोति । कीदृशो धर्मः । भुजङ्गपुङ्गवः धरणेन्द्रः । तत्पुरी सारं प्रधानं शर्म सुखं विधातुं कर्तुं क्षमः समर्थो भवतीति भावः । धर्मः तदाशंसिनां धर्मवाञ्छकानां प्रापितमर्त्यलोकविपुलप्रीतिः वर्तते दत्तमनुष्यलोकविस्तीर्णप्रेमा वर्तते । धर्मः आस्पदं स्थानम् । कस्य । स्वर्नगरीनिरन्तरसुखास्वादोदयस्य इति सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१६९॥ अथ धर्मफलमाह । मालिनी ।

223) **यदि नरकनिपातः**—भो लोकाः, नामेति कोमलामन्त्रणे । यद्येतत्सर्वं प्राप्तुमिच्छसि तदा धर्मं विधत्त । एतत् किम् । यदि नरकनिपातः त्यक्तुमत्यन्तमिष्टः । वा अथवा एकान्ततः

जो-जो कार्य अपने लिए अनिष्ट प्रतीत होता है उस-उस कार्यको दूसरोंके प्रति वचन, मन और क्रिया (शरीरकी प्रवृत्ति) के द्वारा स्वप्नमें भी नहीं करना चाहिए। यह धर्मका प्रथम चिह्न है ॥१६८॥

जो धर्म धरणेन्द्रकी पुरीके सारभूत सुखके करनेमें समर्थ है, जो प्राणी धर्मकी प्रशंसा करते हैं—उसका आचरण करते हैं—उनको जो मनुष्यलोककी प्रचुर प्रीतिको प्राप्त कराता है, तथा जो धर्म स्वर्गपुरीके निरन्तर सुखके स्वादकी उत्पत्तिका स्थान है; वह, क्या प्राणीको मुक्तिरूप रमणीका संभोग करनेके योग्य नहीं करता है ? अवश्य करता है। अभिप्राय यह है कि प्राणीको उस धर्मके प्रभावसे अधोलोकमें धरणेन्द्रकी विभूति, मध्यलोकमें चक्रवर्तीकी विभूति और ऊर्ध्वलोकमें इन्द्रकी विभूति प्राप्त होती है। इस प्रकारसे धर्मात्मा जीव संसारके उत्कृष्ट सुखको भोगकर अन्तमें वह सर्वोत्कृष्ट मुक्तिसुखको भी प्राप्त कर लेता है ॥१६९॥

हे भव्य ! यदि तुझे नरकमें पड़नेका परित्याग अभीष्ट है—तू नरकमें नहीं पड़ना चाहता है, अथवा यदि तू सर्वथा इन्द्रकी महती ऋद्धिको प्राप्त करना चाहता है, अथवा

१. V C Y R नो परेषामिति । २. M सुखस्वादो° । ३. M N F V C महर्द्धिः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि चरमपुमर्थः प्रार्थनीयस्तदानीं
किमपरमभिधेयं नाम धर्मं विधत्त[1] ॥१७०

[इति] धर्मः । [१०]

224) यत्र भावा विलोक्यन्ते ज्ञानिभिश्चेतनेतराः ।
जीवादयः स लोकः स्यात्ततो ऽलोको नभः[2] स्मृतः ॥१७१

225) वेष्टितः पवनैः[3] प्रान्तर्महावेगैर्महाबलैः[4] ।
त्रिभिस्त्रिभुवनाकीर्णो लोकस्तालतरुस्थितिः[5] ॥१७२

226) निष्पादितः स केनापि नैव नैवोद्धृतस्तथा ।
न भग्नः किन्त्वनाधारो गगने स स्वयं स्थितः ॥१७३

त्रिदशपतिमहर्द्धिं प्राप्तुं वाञ्छसि । तदानीं यदि चरमपदार्थः मुक्तिपदार्थः प्रार्थनीयः । तदा अपरं किमभिधेयं कर्तव्यमिति सूत्रार्थः ॥१७०॥ अथ लोकस्वरूपमाह ।

224) **यत्र भावा विलोक्यन्ते**— यत्र यस्मिन् लोके जीवादयः भावाः पदार्थाः ज्ञानिभिः तीर्थंकरादिभिः विलोक्यन्ते । कथंभूताः पदार्थाः । चेतनेतराः जीवाजीवरूपाः । स लोकः स्यात् । ततो ऽलोकः नभः स्मृतम्* । इति सूत्रार्थः ॥१७१॥ अथ तस्यैव स्वरूपमाह ।

225) **वेष्टितः पवनैः**—लोकः तालतरुवत् स्थितिः यस्य तालतरुस्थितिः । कथंभूतो लोकः । त्रिभिस्त्रिभिर्महावलयैः समाकीर्णो व्याप्तः । कथंभूतैर्वेष्टितः समन्तात् व्याप्तः इति सूत्रार्थः ॥१७२॥ अथ लोकस्वरूपमाह ।

226) **निष्पादितः**—स लोकः केनापि नैव निष्पादितः नोत्पादितः । नैव धृतः केनापि

यदि तुझे अन्तिम पुरुषार्थ (मोक्ष) अभीष्ट है; तो फिर और क्या कहा जाय, तू उस धर्मका ही आचरण कर ॥१७०॥ धर्मभावना समाप्त हुई ॥

११. लोकभावना—जहाँपर ज्ञानियोंके द्वारा चेतन और अचेतन जीवादि—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल पदार्थ देखे जाते हैं वह लोकाकाश तथा उसके आगे—उक्त छह द्रव्योंसे शून्य—अलोकाकाश माना गया है ॥१७१॥

अन्तमें अतिशय वेगशाली प्रबल तीन वायुओंसे—घनवात, घनोदधिवात और तनुवात इन तीन वातवलयोंसे—वेष्टित एवं अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्वलोकरूप तीन लोकोंसे व्याप्त वह लोक तालवृक्षके समान अवस्थावाला है। अभिप्राय यह है कि वह लोक उक्त तीन वातवलयोंसे सर्वत्र इस प्रकारसे वेष्टित है जिस प्रकार कि वृक्ष त्वचा (बाकला) से सर्वत्र वेष्टित होता है ॥१७२॥

वह लोक न किसीके द्वारा—ब्रह्माके द्वारा—उत्पन्न किया गया है, न किसीके द्वारा—

१. P X विधत्तः, M N विधत्स्व, F V C Y विधत्ते । २. P M L T ततो लोकनभः, N लोको नभः स्मृतं, F V C लोकं नभः स्मृतं, B ततो लोका नभः श्रिताः । ३. Y विवृतः पवनैः । ४. L पवनैस्तैस्तैर्महा, S T F C J X Y प्रान्ते महा, V प्रान्तैर्महा, B प्रान्तो महा । ५. B J तरुस्थितः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

227) अनादिनिधनः सो ऽयं स्वयं सिद्धो ऽप्यनश्वरः ।
अनीश्वरो ऽपि जीवादिपदार्थैः संभृतो भृशम् ॥१७४

228) अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याज्झल्लरीनिभः ।
मृदङ्गसदृशश्चाग्रे स्यादित्थं स त्रयात्मकः[1] ॥१७५

229) यत्रैते जन्तवः सर्वे नानागतिषु संस्थिताः ।
उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते कर्मपाशवशंगताः ॥१७६

230) पवनवलयमध्ये संभृतो ऽत्यन्तगाढं
स्थितिजननविनाशालिङ्गितैर्वस्तुजातैः ।

न धृतः । पाठान्तरव्याख्यानम् । न भग्नः खण्डशो जातः । किन्तु अनाधारः आधाररहितः स लोकः गगने स्वयं स्थितः ॥१७३॥ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

227) अनादिनिधनः—सो ऽयं लोकः जीवादिपदार्थैः भृशम् अत्यर्थं संभृतः । कीदृशो लोकः । अनादिनिधनः अनाद्यनन्तः । पुनः कीदृशः लोकः । स्वयंसिद्धः केनापि नोत्पादितः । अपि पक्षान्तरे । अनश्वरः अविनाशी । अपिशब्दात् अनीश्वरः ईश्वररहितः लोकः इति सूत्रार्थः ॥१७४॥ अथ लोकसंस्थानमाह ।

228) अधो वेत्रासनाकारः—इत्थम् अमुना प्रकारेण स लोकः त्रयात्मकः आकारत्रययुक्तः । कथंभूतः लोकः । अधः अधस्तात् वेत्रासनाकारः, भाटचकारः (?) मध्ये झल्लरीसदृशः, अग्रे उपरि मृदङ्गसदृशः मृदङ्गाकारः इति सूत्रार्थः ॥१७५॥ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

229) यत्रैते जन्तवः—यत्र लोकसंस्थिता जन्तवः नानागतिषु उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते म्रियन्ते । कथंभूताः । कर्मपाशवशंगताः इति सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१७६॥ पुनस्तत्स्वरूपमाह । मालिनीच्छन्दः ।

230) पवनवलयमध्ये—एष लोकः स्मर्यतां भोः । लोकः कीदृशः । पवनवलयमध्ये अत्यन्तगाढं स्थितिजननविनाशालिङ्गितैः स्थित्युत्पादविनाशैः विनाशयुक्तैः वस्तुजातैः संभृतः इह

विष्णुके द्वारा—रक्षित है, और न किसीके द्वारा—शिवके द्वारा—नष्ट भी किया जाता है । किन्तु वह आकाशके मध्यमें आधारसे रहित होकर स्वयं स्थित है ॥१७३॥

आदि व अन्तसे रहित वह यह लोक स्वयंसिद्ध और अविनश्वर है। वह यद्यपि सृष्टिके निर्माता ईश्वरसे रहित है, फिर भी जीवादि द्रव्योंसे अतिशय भरा हुआ है ॥१७४॥

उक्त लोक नीचे बेंतके आसनके समान, मध्यमें झालर के समान और ऊपर मृदंगके सदृश है; इस प्रकारसे वह तीन आकृतियोंरूप है ॥१७५॥

इस लोकके भीतर अनेक (नरकादि) योनियोंमें स्थित प्राणी कर्मरूप फाँसके वशीभूत होकर उत्पन्न होते और मरते हैं ॥१७६॥

यह लोक वायुमण्डलोंके मध्यमें अतिशय दृढ़तासे पुष्ट; ध्रौव्य, उत्पाद व विनाशसे लक्षित वस्तुसमूहोंसे परिपूर्ण; अनादिसिद्ध—सृष्टिकर्ताके विना अनादि कालसे चला आया;

---

1. P स त्रसात्मकः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वयमिह परिपूर्णो ऽनादिसिद्धः पुराणः
कृतिविलयविहीनः स्मर्यतामेष लोकः ॥१७७

[इति] लोकः । [११]

231) दुरन्तदुरितारातिपीडितस्य प्रतिक्षणम् ।
क्व[1] स्यान्नरकपाताल[2]तलाज्जीवस्य निर्गमः ॥१७८

232) तस्माद्यदि विनिष्क्रान्तः स्थावरेषु प्रजायते ।
त्रसत्वमथवाप्नोति[3] प्राणी केनापि कर्मणा ॥१७९

233) यत्पर्याप्तस्तथा संज्ञी पञ्चाक्षो ऽवयवान्वितः ।
तिर्यक्ष्वपि[4] भवत्यङ्गी तन्न स्वल्पाशुभक्षयात्[5] ॥१८०

जगति पूर्णः । पुनः कीदृशः । अनादिसिद्धः पुराणः । पुनः कीदृशः । कृतिविलयविहीनः उत्पत्तिनाशरहितः इति सूत्रार्थः ॥१७७॥ संसारे जीवस्य गतागतिमाह ।

231) दुरन्तदुरितारातिर्—जीवस्य नरकपातालतलात् निर्गमः क्व । न क्वापि इत्यर्थः । कथंभूतस्य जीवस्य । प्रतिक्षणं दुरन्तदुरितारातिपीडितस्य दुष्टान्तपापवैरिपीडितस्य ॥१७८॥ अथ जीवस्य परिभ्रमणमाह ।

232) तस्माद्यदि विनिष्क्रान्तः—यदि तस्मात् संसारात् विनिष्क्रान्तो निर्गतः स्थावरेषु प्रजायते । अथवा त्रसत्वं प्राप्नोति प्राणी जीवः केनापि कर्मणा इति श्लोकार्थः ॥१७९॥ अथ तिर्यगत्वे उत्पादमाह ।

233) यत्पर्याप्तस्तथा—अङ्गी प्राणी ततस्तस्मात् कारणात् तिर्यगत्वे ऽपि* न भवति । कस्मात् । स्वल्पाशुभक्षयात् स्तोकपापकर्मक्षयात् । कीदृशः अङ्गी । तथा पर्याप्तसंज्ञी । यत् यस्मात् कारणात् । पुनः कीदृशः । पञ्चेन्द्रियः अवयवान्वितः ॥१८०॥ अथ जीवस्य नरेषु उत्पादमाह ।

पुराना और रचना व विनाशसे रहित है । इस प्रकारसे इस लोकभावनामें उस लोकके स्वरूपका स्मरण करना चाहिए ॥१७७॥ लोकभावना समाप्त हुई ॥

१२. बोधिदुर्लभभावना—प्रतिसमय दुर्विनाश पापरूप शत्रुसे पीडित इस जीवका नरकरूप पातालतल (अथवा नरक व निगोदस्थान) से निकलना कहाँ सम्भव है—वहाँसे निकलना अतिशय कठिन है ॥१७८॥

वहाँसे—निगोदस्थानसे—यदि प्राणी किसी प्रकारसे निकलता भी है तो स्थावर जीवोंमें जन्म लेता है, अथवा किसी शुभकर्मके उदयसे त्रस (द्वीन्द्रियादि) पर्यायको प्राप्त करता है ॥१७९॥

यदि प्राणी तिर्यंचोंमें भी उत्पन्न होकर संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त और शरीरके सब अवयवोंसे परिपूर्ण होता है तो यह थोड़ेसे पापके क्षयसे नहीं होता—किन्तु प्रबल पापके क्षयसे ही ऐसा होता है ॥१८०॥

१. S V C R कुच्छ्रान्नरक । २. B पातालाज्जीवस्यारातिनिर्गमः । ३. F V C Y त्रसत्वमप्यवाप्नोति । ४. P तिर्यडपि, B तिर्यगत्वे भव° । ५. M ततः स्वल्पाशुभः क्षयात्, N ततः स्वल्पो ऽशुभक्षयात् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

234) नरत्वं यद्‌गुणोपेतं देशजात्यादिलक्षितम्[2] ।
प्राणिनः प्राप्नुवन्त्यत्र तन्मन्ये कर्मलाघवात् ॥१८१

235) आयुः सर्वाक्षसामग्री बुद्धिः साध्वी प्रशान्तता ।
[3]यत्स्यात्तत्काकतालीयं मनुष्यत्वे ऽपि देहिनाम् ॥१८२

236) ततो निर्विषयं चेतो यमप्रशमवासितम् ।
यदि स्यात् पुण्ययोगेन न पुनस्तत्त्वनिश्चयः ॥१८३

234) **नरत्वं यद्‌गुणोपेतं**—तदहं मन्ये । प्राणिनः अत्र संसारे नरत्वं प्राप्नुवन्ति । कथंभूतं नरत्वम् । यद्‌गुणोपेतं नरगुणोपेतम् । पुनः कीदृशम् । देशजात्यादिलक्षितम् आर्यदेशो आर्यजातिः तदादिलक्षितम् । कस्मात् । कर्मलाघवात् ॥१८१॥ अथातर्कितहेतुः अत्रैव जीवस्य आयुष्कादिसामग्री-प्राप्तिः इत्याह ।

235) **आयुः सर्वाक्षसामग्री**—यद् यस्मात् कारणात् देहिनां प्राणिनां मनुष्यत्वे अपि मनुष्यप्राप्तौ अपि एतत्सामग्रीप्राप्तिः । का सामग्री । आयुः सत्यायुषि । सर्वाक्षसामग्री पटु-पञ्चेन्द्रियत्वम् । तथा साध्वी बुद्धिः प्रधानमतिः । तथा प्रशान्तता क्रोधाद्यभावः । तत्सर्वं काकतालीयं काकतालीयन्यायवत् अतर्कितोपस्थितम् इत्यर्थः ॥१८२॥ अथात्र चेतःस्वरूपमाह ।

236) **ततो निर्विषयं चेतः**—ततः तदनन्तरं यदि चेतः यमप्रशमवासितं व्रतक्षान्तियुक्तं पुण्ययोगेन निर्विषयं स्यात् । पुनः तथापि तत्र तत्त्वनिश्चयो नास्ति इति श्लोकार्थः ॥१८३॥ सत्स्वपि शुभायुष्कादिषु संसारपरिभ्रमणमाह ।

यदि यहाँ प्राणीको उत्तम देश व जाति आदिके साथ गुणयुक्त मनुष्य पर्याय प्राप्त हो जाती है तो वह कर्मको लघुतासे—पापके भारके कम होनेपर ही प्राप्त होती है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥१८१॥

मनुष्य पर्यायको पाकर भी जो लम्बी आयु सब इन्द्रियोंकी परिपूर्णता, उत्तम बुद्धि और कषायोंकी उपशान्ति होती है, वह काकतालीय न्यायसे ही प्राप्त होती है ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कोई कौआ ताल वृक्षके नीचेसे उड़ता हुआ जा रहा हो और उसी समय अकस्मात् उसका फल टूटकर नीचे गिरे व कौआ उसे चोंचमें पकड़ ले, यह सुयोग कदाचित् ही प्राप्त होता है; उसी प्रकार मनुष्य पर्यायके प्राप्त हो जानेपर भी लम्बी आयु आदिरूप उक्त सब सामग्रीकी प्राप्तिका सुयोग भी प्राणीको कदाचित् ही होता है । फिर उस सबके प्राप्त हो जानेपर भी यदि प्राणी आत्महितमें नहीं प्रवृत्त होता है तो यह उसका दुर्भाग्य ही समझना चाहिए ॥१८२॥

पूर्वोक्त सामग्रीके साथ यदि प्राणीका मन पुण्यके उदयसे विषयवांछासे रहित होकर संयम एवं कषायोंके उपशमसे संयुक्त भी होता है तो उसे तत्त्वका—आत्मस्वरूपका—निश्चय नहीं होता है ॥१८३॥

१. M नरत्वे । २. B जात्यादिलक्षणं । ३. F V C यदि तत्काक । X यदि स्यात् काक ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

237) अत्यन्तदुर्लभेष्वेषु दैवाल्लब्धेष्वपि क्वचित् ।
प्रमादात् प्रच्यवन्ते ऽत्र केचित् कामार्थलालसाः ॥१८४

238) मार्गमासाद्य केचिच्च सम्यग् रत्नत्रयात्मकम् ।
त्यजन्ति गुरुमिथ्यात्वविषव्यामूढचेतसः ॥१८५

239) स्वयं नष्टो जनः कश्चित् कश्चिन्नष्टैश्च[1] नाशितः ।
कश्चित् प्रच्याव्यते[2] मार्गाच्चण्डपाषण्डशासनैः ॥१८६

240) त्यक्त्वा विवेकमाणिक्यं सर्वाभिमतसिद्धिदम् ।
अविचारितरम्येषु पक्षेष्वज्ञः[3] प्रवर्तते ॥१८७

237) **अत्यन्तदुर्लभेष्वेषु**—अत्र जगति केचित् कामार्थलालसाः कामार्थलम्पटाः प्रमादात् प्रच्यवन्ते । दैवात् कर्मणः एषु क्वचित् शुभायुष्कादिषु लब्धेषु प्राप्तेषु । कीदृशेषु अत्यन्तदुर्लभेषु इति सूत्रार्थः ॥१८४॥ अथ प्राप्तमपि रत्नत्रयं केचित्त्यजन्ति तदेव दर्शयति ।

238) **मार्गमासाद्य**—च पुनः । केचित् जीवाः सम्यक् रत्नत्रयात्मकं सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकं मार्गम् आसाद्य त्यजन्ति । कीदृशाः जीवाः । गुरुमिथ्यात्वविषव्यामूढचेतसः गरिष्ठमिथ्यात्वगरविमोहितमनसः इति सूत्रार्थः ॥१८५॥ अथ पाखण्डानां स्वरूपमाह ।

239) **स्वयं नष्टो जनः**—चण्डपाखण्डशासनैः रुद्रपाखण्डवचनैः मार्गात् मोक्षमार्गात् प्रच्याव्यते तस्मात् भ्रष्टीक्रियते । कश्चित् जनः स्वयं नष्टः ।* तु पुनः । नष्टैः कश्चित् नाशितः इति सूत्रार्थः ॥१८६॥ अथ मूर्खाचरणमाह ।

240) **त्यक्त्वा विवेकमाणिक्यं**—अज्ञो मूर्खः पक्षेषु स्वमतेषु प्रवर्तते । कथंभूतेषु पक्षेषु । अविचारितरम्येषु इति सुगमम् । किं कृत्वा । विवेकमाणिक्यं त्यक्त्वा । कीदृशं विवेकमाणिक्यम् । सर्वाभिमतसिद्धिदं सर्ववाञ्छितदायकमिति सूत्रार्थः ॥१८७॥ अन्यशासनसेवनफलमाह ।

सौभाग्यसे किन्हींके इन अतिशय दुर्लभ साधनोंके प्राप्त हो जानेपर भी उनमें कितने ही प्रमादके वशीभूत होकर काम (विषयभोग) और धनकी अभिलाषासे यहाँ कल्याणके मार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं ॥१८४॥

कितने ही प्राणी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन रत्नोंस्वरूप मोक्षकार्यको पा करके भी तीव्र मिथ्यात्वरूप विषसे मूर्छित होते हुए उसे छोड़ भी देते हैं ॥१८५॥

कोई मनुष्य स्वयं ही कल्याणके मार्गसे भ्रष्ट होता है तो कोई स्वयं भ्रष्ट हुए अन्य मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा भ्रष्ट कराया जाता है, तथा कोई तीव्र पाखंडियोंके द्वारा प्रचलित किये गये मतोंके आश्रित होकर भ्रष्ट होता है ॥१८६॥

अज्ञानी प्राणी समस्त अभीष्ट वस्तुओंको सिद्ध करनेवाले विवेकरूप मणिको छोड़कर विचारके विना ही रमणीय प्रतीत होनेवाले पक्षों (मतों) में प्रवृत्त हो जाता है ॥१८७॥

१. F V C B J नष्टैस्तु । २. S V C X Y प्रच्यव्यते । ३. F V C पक्षेष्वन्यः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

241) अविचारितरम्याणि शासनान्यसतां जनैः ।
अधमान्यपि सेव्यन्ते जिह्वोपस्थादिदण्डितैः ॥१८८

242) सुप्रापं न पुनः पुंसां बोधिरत्नं[1] भवार्णवे ।
हस्ताद् भ्रष्टं यथा रत्नं महामूल्यं महार्णवे[2] ॥१८९

243) सुलभमिह समस्तं वस्तुजातं जगत्या-
मुरगनरसुरेन्द्रैः[3] प्रार्थितं चाधिपत्यम् ।
कुलबलसुभगत्वोद्दामरामादि चान्यत्
किमुत तदिदमेकं दुर्लभं बोधिरत्नम्[4] ॥१९०

[इति] बोधिः [१२]

241) **अविचारितरम्याणि**—जनैः, असताम् अधमानि शासनानि सेव्यन्ते । कीदृशानि । अविचारितरम्याणि अविचारमनोहराणि । पुनः कीदृशैः । जिह्वोपस्थादिदण्डितैः, जिह्वा च उपस्थं च जिह्वोपस्थौ, तदादि तैर्दण्डितैः ॥१८८॥ अथ योधेः दुष्प्राप्यत्वमाह ।

242) **सुप्रापं न पुनः**—बोधिरत्नत्रयं पुंसां सुप्रापं न भवार्णवे* । हस्ताद् भ्रष्टं यथा रत्नं महासंसारसमुद्रे । यथा दृष्टान्ते । महार्णवे समुद्रे हस्ताद् भ्रष्टं महामूल्यं रत्नमिव इति सूत्रार्थः ॥१८९॥ अथ बोधिमुपसंहरति । मालिनी छन्दः ।

243) **सुलभमिह समस्तं**—इह जगत्यां समस्तं वस्तुजातं सुलभं सुप्रापम् । च पुनः । उरग*सुरनरेन्द्रैः प्रार्थितं याचितम् आधिपत्यम् ऐश्वर्यं सुलभम् । च पुनः । अन्यत् कुलबलसुभगत्वोद्दामरामादि । तत्र सुभगत्वं सौभाग्यम् । उद्दामरामाः मदोन्मत्ताः स्त्रियः । तदादि सर्वं सुलभम् ।

जो लोग जिह्वा एवं उपस्थ आदि इन्द्रियोंसे दण्डित हैं—जीभ व जननेन्द्रियके वशीभूत होकर विषयोंकी अभिलाषा करते हैं—वे बिना विचार किये ही रमणीय प्रतीत होनेवाले दुष्ट मिथ्यादृष्टियोंके निकृष्ट मतोंका सेवन करते हैं ॥१८८॥

जिस प्रकार हाथसे भ्रष्ट होकर महासमुद्रके भीतर गया हुआ अतिशय मूल्यवान् रत्न पुनः सरलतासे प्राप्त नहीं हो सकता है उसी प्रकार इस संसाररूप समुद्रमें सौभाग्यसे प्राप्त हुआ अमूल्य बोधिरत्न—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग—नष्ट हो जानेपर पुनः सरलतासे नहीं प्राप्त हो सकता है ॥१८९॥

यहाँ संसारमें सब ही वस्तुओंका समूह सुलभ है। अन्यकी तो बात ही क्या है; किन्तु यहाँ धरणेन्द्र, चक्रवर्ती और इन्द्रको अभीष्ट आधिपत्य—उनकी विभूति—तथा उत्तम कुल, विशिष्ट सामर्थ्य और स्वतन्त्र स्त्री आदि भी सुलभतासे प्राप्त हो जाती हैं। यदि यहाँ कोई दुर्लभ है तो वह एकबोधि-रत्न—रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग—ही दुर्लभ है, इस प्रकारसे

१. X बोधरत्नं । २. M भ्रष्टं महारत्नं महामूल्यं यथार्णवे । ३. All others except P °मुरगसुरनरेन्द्रैः । ४. X बोधरत्नं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

244) दीव्यन्नाभिरयं[1] ज्ञानी भावनाभिर्निरन्तरम् ।
इहैवाप्नोत्यनातङ्कं सुखमत्यक्षमक्षयम् ॥१९१

245) विध्याति कषायाग्निर्विगलति रागो विलीयते ध्वान्तम् ।
उन्मिषति बोधदीपो[2] हृदि पुंसां भावनाभ्यासात् ॥१९२

246) एता द्वादश भावनाः खलु सखे सख्यो[3] ऽपवर्गश्रिय-
स्तस्याः संगमलालसैर्घटयितुं मैत्र्यं[4] प्रयुक्ता बुधैः ।

किमुत अथवा तदिदं बोधिरत्नम् एकं दुर्लभं दुष्प्रापम् इति सूत्रार्थः ॥१९०॥ अथ भावनामुपसंहरति ।

244) **दीव्यन्नाभिरयं**—अयं ज्ञानी इहैव संसारे भावनाभिः निरन्तरं अनातङ्कं निर्भयं सुखमाप्नोति । कीदृशाभिः भावनाभिः । दीव्यज्ञाभिः* धर्मक्रीडाज्ञाभिः (?) । कीदृशं सुखम् । अत्यक्षम् अतीन्द्रियम् । पुनः कीदृशम् । अक्षयम् अविनाशि इति सूत्रार्थः ॥१९१॥ भावनाकार्यमाह ।

245) **विध्याति कषायाग्निः**—पुंसां भावनाभ्यासात् हृदये बोधदीप उन्मिषति उद्द्योतयति । कषायाग्निः विध्याति उपशाम्यति । रागो विगलति । तथा ध्वान्तमन्धकारो विलीयते विनश्यति इति सूत्रार्थः ॥१९२॥ अथ भावनामुपसंहरति । शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः ।

246) **एता द्वादश भावना**—खलु निश्चयेन सखे, एताः द्वादश भावनाः अपवर्गश्रियः तस्याः सख्यः संजायन्ते । पुनः कीदृशाः । संगमलालसैः बुधैः मैत्रीं* घटयितुं प्रयुक्ताः । एतासु भावनासु

इस भावनामें उस बोधिकी दुर्लभताका बार-बार विचार करना चाहिए ॥१९०॥ बोधि-दुर्लभ-भावना समाप्त हुई ॥

इन भावनाओंके साथ निरन्तर क्रीड़ा करनेवाला—उनका बार-बार चिन्तन करनेवाला—यह ज्ञानी जीव यहाँपर ही निराकुल व अविनश्वर अतीन्द्रिय सुखको प्राप्त कर लेता है ॥१९१॥

इन भावनाओंके अभ्याससे जीवोंकी कषायरूप अग्नि शान्त हो जाती है, राग नष्ट हो जाता है, अज्ञानरूप अन्धकार विलीन हो जाता है, तथा हृदयमें ज्ञानरूप दीपक विकसित होता है ॥१९२॥

हे मित्र ! ये बारह भावनाएँ निश्चयसे मुक्तिरूप लक्ष्मीकी सहचरी हैं—उसका संयोग करानेवाली हैं। इसलिए उसके संयोगके इच्छुक विद्वानोंको उक्त भावनाओंके साथ मित्रताका व्यवहार करना चाहिए—उनका अनुरागपूर्वक पुनः पुनः चिन्तन करना चाहिए। इन

१. T दिव्यं चाभि° । २. N बोधिदीपो । ३. B सर्गोऽपवर्ग । ४. All others except P मैत्रीं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एतासु प्रगुणीकृतासु नियतं मुक्त्यङ्गना जायते
सानन्दा प्रणयप्रसन्नहृदया योगीश्वराणां मुदे ॥१९३

॥ इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे द्वादशभावनाप्रकरणम्[1] ॥२॥

प्रगुणीकृतासु वशीकृतासु योगीश्वराणां मुदे हर्षाय। मुक्त्यङ्गना सानन्दा जायते। कथंभूता मुक्त्यङ्गना। प्रणयप्रसन्नहृदया स्नेहप्रसन्नचित्ता इति सूत्रार्थः ॥१९३॥

इति शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवमूलसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन
साहपासा तत्पुत्र साह टोडर तत्पुत्र साह रिषिदासेन स्वश्रवणार्थं पण्डित-
जिनदासोद्यमेन कारापितेन द्वादशभावना-प्रकरणद्वितीयः ॥२॥

पायाच्छ्रीजिनशासने सुविपिने जैनैः समारोपितो नानाजीवदयाप्रभूतविपुलप्रस्थूलमूलो दृढः। शाखाद्वादशभावनो गृहयतिः स्वाचारसुस्कन्धकः स्वर्गश्रीकुसुमः सुनिर्वृतिफलः सद्धर्मकल्पद्रुमः ॥१॥ बभूव पूर्वं किल पार्श्वराजः श्रीतोडरस्तत्कुलकञ्जभानुः। तद्वंशपूर्वाचलतीव्रभानुः जीयात्सदा श्रीऋषिदाससाहः ॥२॥ इति आशीर्वादः। अथ संसारे नरत्वस्य दुष्प्राप्यत्वमाह।

भावनाओंके अनुकूल कर लेनेपर योगीन्द्रोंको आनन्दसे परिपूर्ण वह मुक्तिरूप स्त्री प्राप्त होती है जो प्रसन्न हृदयसे प्रेम करती हुई उनके हर्षका कारण होती है ॥१९३॥

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णवमें योगप्रदीपाधिकारमें
द्वादश भावना-रूप दूसरा प्रकरण समाप्त हुआ ॥२॥

---

१. L F द्वितीयः सर्गः, B प्रकरणं द्वितीयम्, S द्वितीयप्रकरण समाप्ता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

III

[ध्यानलक्षणम्]

247) अस्मिन्ननादिसंसारे दुरन्ते सारवर्जिते ।
नरत्वमेव दुःप्रापं[1] गुणोपेतं शरीरिभिः[2] ॥१

248) काकतालीयकन्यायेनोपलब्धं यदि त्वया ।
तत्तर्हि सफलं कार्यं कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम् ॥२

249) नृजन्मनः फलं कैश्चित् पुरुषार्थः प्रकीर्तितः ।
धर्मादिकप्रभेदैश्च[3] स पुनः स्याच्चतुर्विधः ॥३

247) **अस्मिन् अनादिसंसारे**—अस्मिन् अनादिसंसारे दुरन्ते सारवर्जिते नरत्वमेव दुष्प्रापम् । केषाम् । शरीरिणाम्* । कथंभूतम् । गुणोपेतं सुकुलजन्मादिगुणसहितम् । कीदृशे संसारे । सारवर्जिते । पुनः कीदृशे । दुरन्ते इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ तस्यैव सफलमाह ।

248) **काकतालीयकन्यायेन**—रे जीव, यदि त्वया काकतालीयकन्यायेन अतर्कितमेव उपलब्धं प्राप्तं नरत्वं तर्हि तन्नरत्वं सफलं कार्यम् । आत्मनि आत्मनिश्चयं कृत्वा इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ नृजन्मनः फलमाह ।

249) **नृजन्मनः फलं**—कैश्चित् पण्डितैः नृजन्मनः फलं पुरुषार्थः प्रकीर्तितः । पुनः स पुरुषार्थः चतुर्विधः स्यात् । धर्मादिकप्रभेदेन* धर्मार्थकाममोक्षभेदेन इति श्लोकार्थः ॥३॥ अथ पुरुषार्थस्य चतुर्विधत्वमाह ।

दुःखसे नष्ट होनेवाले इस निष्कृष्ट अनादि संसारमें प्राणियोंको संयम एवं तप आदि अनेक गुणोंको प्राप्त करानेवाली मनुष्य पर्याय ही दुर्लभ है ॥१॥

हे भव्य ! यदि वह काकतालीय न्यायसे तुझे प्राप्त हो गयी है, तो तू आत्मामें आत्मा का निश्चय करके—शरीरादि बाह्य पदार्थोंसे उसकी भिन्नताका निश्चय करके—उसे सफल कर ले ॥२॥

किन्हीं महर्षियोंने उस मनुष्य पर्यायका फल पुरुषार्थ बतलाया है । वह पुरुषार्थ धर्मादिके भेदसे चार प्रकारका है ॥३॥

१. All others except P M N दुःप्राप्यं । २. B शरीरिणां । ३. All others except P प्रभेदेन ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

250) धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चेति महर्षिभिः ।
पुरुषार्थो ऽयमुद्दिष्टश्चतुर्भेदः पुरातनैः ॥४॥ किं च[1]-

251) त्रिवर्गं तत्र सापायं जन्मजातङ्कदूषितम् ।
ज्ञात्वा तत्त्वविदः साक्षाद्यतन्ते मोक्षसाधने ॥५

252) द्रव्यभावोद्भवत्कृत्स्नबन्धं[2] विध्वंसलक्षणः ।
जन्मनः प्रतिपक्षो यः स मोक्षः परिकीर्तितः ॥६

250) धर्मश्चार्थश्च कामश्च—प्राचीनैर्महर्षिभिः धर्मः, अर्थः, कामः, मोक्षश्च एवं चत्वारः पुरुषार्थस्य भेदा निर्दिष्टाः ॥४॥ किं च ।

251) त्रिवर्गं तत्र—तत्र चतुर्षु पुरुषार्थेषु त्रिवर्गं धर्मार्थकामलक्षणं सापायं सकष्टं ज्ञात्वा । तत्तस्मात् कारणात् साक्षान्मोक्षसाधने यतन्ते । यत्र पराभवन्तीत्यर्थः । कीदृशम् त्रिवर्गं । जन्मजातङ्कदूषितम् । सुगममिति श्लोकार्थः ॥५॥ अथ मोक्षस्वरूपमाह ।

252) निःशेषकर्म—यः जन्मनः प्रतिपक्षः प्रतिकूलः स मोक्षः परिकीर्तितः । कीदृशः । निःशेषकर्मसंबन्ध*परिविध्वंसलक्षणः । सुगममिति गाथार्थः ॥६॥ अथ मोक्षस्वरूपमाह ।

यह पुरुषार्थ प्राचीन मुनियोंके द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; इस प्रकारसे चार प्रकारका बतलाया गया है ॥४॥

उनमें प्रथम तीन पुरुषार्थोंको—धर्म, अर्थ और कामको—अनर्थकारक (या घातक) और संसारजनित सन्तापसे दूषित जानकर तत्त्व (वस्तुस्वरूप) के जानकार साक्षात् मोक्षरूप अन्तिम पुरुषार्थके सिद्ध करनेका ही प्रयत्न किया करते हैं ॥५॥

द्रव्य और भावरूपसे उत्पन्न होनेवाले समस्त कर्मबन्धका जो विनाश है, यह उस मोक्षका स्वरूप है और वह संसारका शत्रुस्वरूप कहा गया है ॥ विशेषार्थ—मोक्ष शब्दका अर्थ है बन्धनसे छूटना, तदनुसार जीवके जो अनादिकालसे कर्मोंका बन्ध हो रहा है उससे छुटकारा पा लेनेका नाम ही मोक्ष है। वह कर्मबन्ध द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारका है। इनमें आत्माके साथ जो ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मोंका सम्बन्ध होता है उसे द्रव्यबन्ध कहते हैं। इस द्रव्यबन्धके कारणभूत जो राग-द्वेषादि परिणामोंका उस आत्मासे सम्बन्ध होता है, इसका नाम भावबन्ध है। इन दोनों बन्धोंकी परम्परा अनादि है—जिस प्रकार बीजसे वृक्ष और फिर उस वृक्षसे पुनः बीज, इस प्रकार बीज और वृक्षकी परम्परा अनादि है; उसी प्रकार भावबन्धसे द्रव्यबन्ध और फिर उस द्रव्यबन्धसे पुनः भावबन्ध, इस प्रकार इन दोनों कर्मबन्धोंकी भी परम्परा अनादि है। फिर भी जिस प्रकार विवक्षित बीज और वृक्षमेंसे किसी एकके नष्ट हो जानेपर उनकी वह परम्परा समाप्त हो जाती है उसी प्रकार भावबन्धस्वरूप रागादि परिणामोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर वह अनादि बन्धपरम्परा भी समाप्त हो जाती है। इस प्रकार उस बन्धपरम्पराके नष्ट हो जानेपर जन्म-मरणकी परम्परास्वरूप संसारका विनाश हो जानेपर प्राणीको शाश्वतिक मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ॥६॥

१. Only P M X किं च । २. All others except P निःशेषकर्मसंबन्धपरिविध्वंस ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

253) दृग्वीर्यादिगुणोपेतं जन्मक्लेशैक[1]विच्युतम् ।
चिदानन्दमयं साक्षान्मोक्षमात्यन्तिकं विदुः ॥७

254) अत्यक्षं विषयातीतं निरौपम्यं स्वभावजम् ।
अविच्छिन्नं सुखं यत्र स मोक्षः परिपठ्यते[2] ॥८

255) निर्मलो निष्कलः शान्तो निष्क्रियो[3] ऽत्यन्तनिर्वृतः ।
कृतार्थः साधुबोधात्मा यत्रात्मा तत्पदं शिवम् ॥९

256) तस्यानन्तप्रभावस्य कृते त्यक्ताखिलभ्रमाः[4] ।
तपश्चरन्त्यमी धीरा बन्धविध्वंसकारणम् ॥१०

253) **दृग्वीर्यादि**—आत्यन्तिकं मोक्षं साक्षात् चिदानन्दमयं विदुः। कथंभूतम्। दृग्वीर्यादिगुणोपेतम्। पुनः कीदृशम्। जन्मक्लेशैः *परिच्युतम् इति सूत्रार्थः ॥७॥ पुनस्तत्स्वरूपमाह।

254) **अत्यक्षं विषयातीतं**—स मोक्षः परिपठ्यते। यत्र एतादृशं सुखं वर्तते। कीदृशं सुखम्। अत्यक्षम् अतीन्द्रियम्। पुनः कीदृशम्। विषयातीतम्। निरौपम्यम् उपमारहितम्। स्वस्वभावजम्। पुनः कीदृशम्। अविच्छिन्नं निरन्तरमिति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ शिवपदमाह।

255) **निर्मलो निष्कलः**—यत्रात्मा कृतार्थो वर्तते। कीदृशः आत्मा। निर्मलः, निष्कलः, शान्तः। *निष्पन्नात्यन्तनिर्वृतः। निष्पन्नम् अत्यन्तं निर्वृतं सुखं यत्र सः। पुनः कीदृशः। साधुबोधात्मा। साधुप्रधानो बोधः ज्ञानं तदात्मा तत्पदं शिवम् उच्यते ॥९॥ तपःस्वरूपम् आह।

256) **तस्यानन्तप्रभावस्य**—अमी धीराः तपश्चरन्ति। किमर्थम्। तस्य मोक्षस्य कृते कारणाय। कीदृशस्य तस्य। अनन्तप्रभावस्य। कीदृशाः। त्यक्ताखिलभ्रमाः। कीदृशं तपः। बन्धविध्वंसकारणं कर्मबन्धनाशहेतुम्। ॥१०॥ अथ सम्यग्ज्ञानादिकस्य मोक्षकारणत्वमाह।

वह मोक्ष साक्षात् दर्शन व अनन्तवीर्यादि गुणोंसे सहित, जन्मके क्लेशसे सर्वथा रहित तथा चित्स्वरूप आनन्दसे परिपूर्ण है। यह जीवकी स्वाभाविकी अन्तिम अवस्था है, ऐसा जानना चाहिए। पूर्व श्लोकमें जो उस मोक्षका स्वरूप निर्दिष्ट किया है वह अभावस्वरूपसे तथा इस श्लोकमें उसीका स्वरूप भावस्वरूपसे निर्दिष्ट किया है ॥७॥

जहाँपर अतीन्द्रिय, विषयोंकी अपेक्षासे रहित, अनुपम, स्वभावसे उत्पन्न हुआ (परनिरपेक्ष) और सब प्रकारकी बाधाओंसे रहित सुख उपलब्ध होता है उसे मोक्ष कहा जाता है ॥८॥

जिस पदको प्राप्त होकर आत्मा कर्ममलसे रहित, शरीरसे रहित, शान्त, परिस्पन्दस्वरूप क्रियासे रहित, अतिशय सुखी, कृतकृत्य और उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप हो जाता है उस पदका नाम मोक्ष है ॥९॥

उस अनन्त प्रभाववाले मोक्षको प्राप्त करनेके लिए ये धीर पुरुष समस्त भ्रान्तिको छोड़कर बन्धविध्वंसके कारणभूत तपका आचरण करते हैं ॥१०॥

१. All others except P जन्मक्लेशैः परिच्युतम्। २. L परिकथ्यते। ३. All others except P निष्पन्नो ऽत्यन्त। ४. S F C V R त्यक्त्वाखिल, X त्यक्त्वाखिलभ्रमान्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

257) सम्यग्ज्ञानादिकं प्राहुर्जिना मुक्तेर्निबन्धनम् ।
तेनैव साध्यते सिद्धिर्यस्मात्तदर्थिभिः स्फुटम्[1] ॥११

258) भवक्लेशविनाशाय [2]पिब [3]ज्ञानसुधारसम् ।
कुरु जन्माब्धिमत्येतुं[4] ध्यानपोतावलम्बनम् ॥१२

259) मोक्षः कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानजः[5] स्मृतः ।
[6]ध्यानबीजं मतं तद्धि तस्मात्तद्धितमात्मनः ॥१३

260) अपास्य कल्पनाजालं मुनिभिर्मोक्षमिच्छुभिः[7] ।
प्रशमैकपरैर्नित्यं ध्यानमेवावलम्बितम् ॥१४॥ तथा च[8]-

257) **सम्यग्ज्ञानादिकं**—जिनाः सम्यग्ज्ञानादिकं मुक्तेर्निबन्धनं कारणमाहुः। यस्मात् कारणात् स्फुटं मुक्त्यर्थिभिः तेनैव सम्यग्ज्ञानादिना सिद्धिः साध्यते इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ ध्यानमाह।

258) **भवक्लेशविनाशाय**—ज्ञानसुधारसं पिब। किमर्थम्। भवक्लेशविनाशाय। जन्माब्धिमत्येतुं भवसमुद्रं तरीतुं ध्यानपोतावलम्बनं कुरु इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ पुनर्मोक्षमाह।

259) **मोक्षं कर्मक्षयादेव**—स मोक्षः कर्मक्षयादेव सम्यग्ज्ञानजः स्मृतः। हि यस्मात् कारणात्। तत्सम्यग्ज्ञानं ध्यानसाध्यं* मतम्। तस्मात् आत्मनः तद् हितम् इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ ध्यानकार्यमाह।

260) **अपास्य कल्पना**—मुनिभिः प्रशमैकपरैः नित्यं ध्यानमेव अवलम्बितम्। कीदृशैः मुनिभिः। *मोक्तुमिच्छुभिः। किं कृत्वा। कल्पनाजालमपास्य दूरीकृत्य इति सूत्रार्थः ॥१४॥ तथा च।

जिन भगवान् उस मोक्षकी प्राप्तिमें सम्यग्ज्ञान आदिको कारण बतलाते हैं। इसका कारण यह है कि मोक्षके अभिलाषी योगीजन स्पष्टतया उक्त सम्यग्ज्ञान आदिके द्वारा ही उस मोक्षको सिद्ध करते हैं ॥११॥

हे भव्य ! तू इस संसारके क्लेशको नष्ट करनेके लिए ज्ञानरूप अमृतरसका पान कर तथा उक्त संसाररूप समुद्रको लाँघनेके लिए ध्यानरूप जहाजका आश्रय ले ॥१२॥

मोक्ष कर्मके क्षयसे ही आविर्भूत होता है और वह कर्मका क्षय सम्यग्ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला माना गया है। उस सम्यग्ज्ञानका बीज ध्यान है। इसलिए आत्माका हित करनेवाला वह ध्यान ही है ॥१३॥

मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियोंने समस्त कल्पनाओंके समूहको छोड़कर एकमात्र प्रशममें—कषायोपशमनमें—तत्पर होते हुए निरन्तर उस ध्यानका ही आश्रय लिया है ॥१४॥

१. N सिद्धिः स्फुटं यस्मात्तदर्थिभिः, J यस्मान्मुक्तार्थिभिः, Y यस्मात्तत्त्वार्थिभिः। २. M पिबे दान, N पिबेत् ज्ञान। ३. Y जन्माब्धिमध्ये त्वं। ४. L ज्ञानपोता०। ५. Others except P M N B Y R ज्ञानतः स्मृतः। ६. All otbers except P ध्यानसाध्यं। ७. All others except P मोक्तुमिच्छुभिः। ८. P M B X तथा च—।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

261) त्यजाविद्यां[1] भज स्वार्थं[2] मुञ्च सङ्गान्[3] स्थिरीभव ।
यतस्ते ध्यानसामग्री सविकल्पा निगद्यते ॥१५

262) उत्तितीर्षुर्महापङ्काज्जन्मसंज्ञाद्दुरुत्तरात् ।
यदि किं न तदा धत्से[4] धियं[5] ध्याने निरन्तरम् ॥१६

263) चित्ते तव विवेकश्रीर्यद्यशङ्का स्थिरीभवेत् ।
कीर्त्यते ते[6] तदा ध्यानलक्षणं स्वान्तशुद्धिदम् ॥१७

264) इयं मोहमहानिद्रा जगत्त्रयविसर्पिणी ।
यदि क्षीणा तदा क्षिप्रं पिब ध्यानसुधारसम् ॥१८

261) **त्यजाविद्यां**—रे जीव, अविद्यामज्ञानं त्यज । स्वार्थं परलोकहितं भज । संगान् पुत्रादिविषयान् मुञ्च त्यज । स्थिरीभव । मनश्चञ्चलत्वमपास्य स्थिरो भव । यतः कारणात् ते तव ध्यानसामग्री सविकल्पा विकल्पसहिता निगद्यते । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ ध्याने धैर्यतामाह ।

262) **उत्तितीर्षुर्महापङ्कात्**—रे जीव, यदि महापङ्कात् उत्तितीर्षुः । कीदृशात् । जन्मसंज्ञात् दुस्तरात् दुस्तोर्यात् । तदा ध्याने निरन्तरं धैर्य* धत्से इति सूत्रार्थः ॥१६॥ शुद्धध्यानलक्षणमाह ।

263) **चित्ते तव**—हे जीव, तव चित्ते विवेकश्रीः यदि स्थिरीभवेत् । कीदृशी विवेकश्रीः । अशङ्का । तदा ध्यानलक्षणं ते तव स्वान्तःशुद्धिदं मनःशुद्धिदं कीर्त्यते ॥१७॥ अथ ध्यानलक्षणमाह ।

264) **इयं मोहमहानिद्रा**—यदि इयं मोहमहानिद्रा यदि क्षीणा । कीदृशी । जगत्त्रयविसर्पिणी । तदा क्षिप्रं शीघ्रं ध्यानसुधारसं पिब इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ ध्यानस्वरूपमाह ।

इसीलिए हे जीव ! तू अज्ञानभावको छोड़कर अपने प्रयोजन (मोक्ष) का आराधन कर और उसके लिए तू समस्त परिग्रहोंको छोड़कर स्थिर हो जा । तेरे लिए भेदपूर्वक उस ध्यानकी सामग्री कही जाती है ॥१५॥

यदि तू दुरुत्तर—दुःखसे पार हो सकनेवाले—उस संसार नामक महा कीचड़से पार होनेकी इच्छा करता है तो निरन्तर अपनी बुद्धिको ध्यानमें क्यों नहीं लगाता है ? अभिप्राय यह है कि जो प्राणी गहरे कीचड़के समान भयानक इस संसारसे अपना उद्धार करना चाहते हैं उन्हें अपनी बुद्धिको निर्मल ध्यानमें लगाना चाहिए ॥१६॥

यदि तेरे अन्तःकरणमें विवेकरूप लक्ष्मी निर्भय होकर स्थिरतासे रह सकती है तो तेरे लिए अन्तःकरणकी शुद्धिको प्रदान करनेवाले उस ध्यानके स्वरूपका कथन किया जाता है ॥१७॥

हे प्राणी ! यदि तेरी तीनों लोकोंको व्याप्त करनेवाली मोहरूप गाढ़ निद्रा नष्ट हो चुकी है तो तू शीघ्र ही उस ध्यानरूप अमृतरसका पान कर । तात्पर्य यह कि जब तक प्राणीकी

१. P अविद्यां त्यज, M S T R मोहं त्यज । २. M L S T F V C X Y R स्वास्थ्यं । ३. F V C संगं । ४. M N तथा वेत्सि । ५. M N L S T B J धैर्यं, F V C X Y ध्येयं । ६. F तत्तदा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

265) बाह्यान्तर्भूतनिःशेषसङ्गमूर्च्छा क्षयं गता ।
यदि तत्त्वोपदेशेन ध्याने चेतस्तदार्पय ॥१९

266) प्रमादविषम[1]ग्राहदन्तयन्त्राद्यदि[2] च्युतः ।
त्वं तदा जन्म[3]संघातघातकं ध्यानमाश्रय ॥२०

267) इमे ऽनन्तभ्रमासारप्रसरैकपरायणाः ।
यदि रागादयः क्षीणास्तदा ध्यातुं विचेष्टयताम्[4] ॥२१

265) **बाह्यान्तर्भूतनिःशेष**—तदा ध्याने चेतो ऽर्पय । तत्त्वोपदेशेन यदि बाह्यान्तर्भूत-निःशेषसंगमूर्छा क्षयं गता बाह्यान्तरङ्गीभूतसर्वसंगमूर्छा इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ ध्यान-विघ्नानाह ।

266) **प्रमादविषमग्राह**—रे जीव, यदि त्वं प्रमादविषमग्राहदन्तयन्त्रात् संपुटात् च्युतः तदा ध्यानमाश्रय ध्यानं कुरु । कीदृशं ध्यानं । *क्लेशसंघातघातकम् । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ रागादीनामभावः ध्यानस्य कारणं भवतीत्याह ।

267) **इमे ऽनन्तभ्रमासार**—रे जीव, यदि इमे रागादयः क्षीणाः । कीदृशा रागादयः । अनन्तभ्रमासारप्रसरैकपरायणाः अनन्तपरिभ्रमासारसमूहैकपरा इत्यर्थः । तदा ध्यातुं ध्यानं कर्तुं विचेष्टताम्* उद्यमं क्रियताम् इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथात्मध्यानप्राधान्यमाह ।

बाह्य पर पदार्थोंकी ओरसे ममत्व बुद्धि नहीं हटती है तब तक उसके निर्मल ध्यानकी सम्भावना नहीं है । इसलिए ध्यानके अभिलाषी प्राणीको उस ममत्व बुद्धिका परित्याग अवश्य करना चाहिए ॥१८॥

यदि तत्त्वके उपदेशसे तेरी बाह्य और अन्तरंगरूप समस्त ही परिग्रहसे मूर्च्छा—ममत्वबुद्धि—हट गई है तो तू अपने मनको ध्यानमें लगा ॥१९॥

यदि तू प्रमादरूप भयानक ग्राह (हिंस्र जलजन्तु) के दाँतोंके यन्त्रसे छुटकारा पा चुका है तो तू जन्मपरम्पराको नष्ट करनेवाले उस ध्यानका आश्रय ले ॥ विशेषार्थ—उत्तम कार्योंके विषयमें—सदाचार प्रवृत्तिमें—जो अनादरभाव या मनकी एकाग्रताके अभावरूप असावधानता होती है उसका नाम प्रमाद है । जिस प्रकार कोई मनुष्य अपनी असावधानीसे किसी जलाशयमें जाकर मगर आदिके मुखमें जा पहुँचता है और उसकी भयानक तीक्ष्ण दाढ़ोंके मध्यसे कठिनतापूर्वक ही छूट सकता है उसी प्रकार ४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रिय, निद्रा और प्रणय; इन १५ भेदरूप उस प्रमादके वशीभूत हुए प्राणीका भी उससे छुटकारा पाना कठिन है । और जब तक वह उस प्रमादके वशीभूत है तबतक उसकी ध्यानमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । इसलिए उस ध्यानकी सिद्धिके लिए विवेकी जीवको प्रयत्नपूर्वक उस प्रमादका परित्याग करना चाहिए ॥२०॥

यदि अनन्त संसारमें परिभ्रमण (या अनन्त भ्रान्ति) स्वरूप महावृष्टिके विस्तारमें

१. Others except P B J विषयग्राह । २. F V C यन्त्रात्परिच्युतः । ३. All others except P क्लेशसंघात । ४. B विचेष्टितम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

268) यदि संवेगनिर्वेदविवेकैर्वासितं मनः ।
तदा धीर स्थिरीभूय स्वस्मिन् स्वान्तं निरूपय ॥२२

269) विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।
निर्ममत्वं यदि प्राप्तस्तदा ध्यातासि नान्यथा ॥२३

270) निर्विण्णो ऽसि[1] भवोद्भूताद्दुरन्ताज्जन्मसंक्रमात् ।
यदि धीर तदा ध्यान[2]धुरां धैर्येण धारय ॥२४

271) पुनात्याकर्णितं चेतो दत्ते शिवमनुष्ठितम् ।
ध्यानतन्त्र[3]मिदं धीर धन्ययोगीन्द्रगोचरम् ॥२५

268) यदि संवेगनिर्वेद—हे धीर, तदा स्वस्मिन् स्वान्तं स्वचित्तं निरूपय स्थापय । किं कृत्वा । स्थिरीभूय । यदि संवेगनिर्वेदविवेकैः वासितं मनः स्यात्तदा इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ ध्यानलक्षणमाह ।

269) विरज्य कामभोगेषु—रे जीव, यदि निर्ममत्वं प्राप्तः तदा ध्यातासि नान्यथा । किं कृत्वा । कामभोगेषु विरज्य । पुनः किं कृत्वा । वपुषि स्पृहां विमुच्य इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ ध्यानधारणमाह ।

270) निर्विण्णो ऽसि—हे भ्रातः*, जन्मसंक्रमात् यदि* निर्विण्णो ऽसि श्रान्तो ऽसि । कीदृशाज्जन्मसंक्रमात् । दुरन्तात् । हे धीर, परां प्रकृष्टां ध्यानधुरां धैर्येण धारय इति सत्रार्थः ॥२४॥ अथ ध्यानस्वरूपमाह ।

271) पुनात्याकर्णितं चेतो—इदं ध्यानतन्त्रं ध्यानशास्त्रं, हे धीर, आकर्णितं चेतः पुनाति ।

अतिशय प्रवीण—अनन्त संसारमें परिभ्रमण करानेवाले—वे राग-द्वेषादि तेरे क्षीण हो चुके हैं तो तू ध्यानके लिए प्रयत्नशील हो ॥२१॥

हे धीर ! यदि तेरा मन संवेग (धर्मानुराग), निर्वेद (विषयविरक्ति) और विवेकसे संस्कृत हो चुका है तो तू अपनी आत्मामें आत्माका अवलोकन कर—आत्मध्यानमें लीन हो ॥२२॥

यदि तू कामभोगोंसे विरक्त होकर शरीरके विषयमें निःस्पृह होता हुआ निर्ममता-को प्राप्त हो चुका है तो ध्याता—ध्यानका अधिकारी—हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥२३॥

हे धीर ! यदि तू संसारमें उत्पन्न दुर्विनाश जन्मपरम्परासे विरक्त हो चुका है तो साहसपूर्वक ध्यानके बोझको धारण कर । अभिप्राय यह कि संसारमें परिभ्रमण करते हुए जीवको जो जन्म-मरणका कष्ट सहना पड़ता है वह एकमात्र ध्यानसे ही छूट सकता है । अत एव उक्त दुःखसे छुटकारा पानेके लिए प्राणीको उस ध्यानका आश्रय लेना चाहिए ॥२४॥

प्रशस्त योगीजनका विषयभूत—महर्षियोंके द्वारा आचरित—यह ध्यानका सिद्धान्त

१. MSTXYR ऽसि यदा भ्रातर्दुरं°, N L F V B C J X Y यदि भ्रातः । २. All others except P तदा धीर परां ध्यान° । ३. M N ध्यानतत्त्वमिदं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

272) विस्तरेणैव दुष्यन्ति[1] के ऽप्यहो विस्तरप्रियाः ।
संक्षेपरुचयः केचित् विचित्राश्चित्तवृत्तयः ॥२६

273) संक्षेपरुचिभिः सूत्रात्तन्निरूप्यात्मनिश्चयात् ।
त्रिधैवाभिमतं कैश्चिद्यतो जीवाशयस्[2]त्रिधा ॥२७॥ त्रिधा तावत्[3]–

274) तत्र पुण्याशयः पूर्वस्[4]तद्विपक्षो ऽशुभाशयः ।
शुद्धोपयोगसंज्ञो यः स तृतीयः प्रकीर्तितः ॥२८

अनुष्ठितं सत् शिवं कल्याणं दत्ते । कीदृशं ध्यानतन्त्रम् । योगीन्द्रगोचरमिति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ चेतोवृत्तेः वैचित्र्यमाह ।

272) **विस्तरेणैव तुष्यन्ति**—अहो इति संबोधने । के ऽपि विस्तरप्रियाः विस्तरेणैव तुष्यन्ति । च पुनः । अन्ये संक्षेपरुचयः । चित्तवृत्तयः विचित्राः इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ ध्यानत्रैविध्यमाह ।

273) **संक्षेपरुचिभिः**—केश्चित् संक्षेपरुचिभिः तद् ध्यानं त्रिधैव अभिमतं त्रिप्रकारकथितम् । सूत्रात् सिद्धान्तात् निरूप्य । कीदृशात् सूत्रात् । आत्मनिश्चयात् । आत्मनिश्चयो यस्मिन् स तथा । यतः कारणात् जीवाशयः त्रिधा त्रिप्रकारः इति सूत्रार्थः ॥२७॥ त्रिधा तावत् त्रैविध्यमाह ।

274) **तत्र पुण्याशयः**—तत्र पूर्वं* पुण्याशयः । तद्विपक्षः तद्विपरीतः अशुभाशयः । यः शुद्धोपयोगसंज्ञः शुद्धोपयोगलक्षणः । आशयः चित्ताभिप्रायः स तृतीयः इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ पुण्याशयमाह ।

(या ध्यानरूप विषनाशक औषधि) सुनने मात्रसे चित्तको पवित्र करता है तथा उसका आचरण करनेपर वह मोक्षको प्रदान करता है ॥२५॥

विस्तारमें अनुराग रखनेवाले कितने ही श्रोता विस्तारसे—विस्तृत विवेचनसे-ही सन्तुष्ट होते हैं । इसके विपरीत कितने ही श्रोता संक्षेपमें अनुराग रखनेवाले होते हैं । इस प्रकार श्रोताओं की मनोवृत्ति विविध प्रकार की हुआ करती है ॥२६॥

संक्षेपमें रुचि रखनेवाले कितने ही विद्वानोंने आत्मस्वरूपका निश्चय करानेवाले सूत्रसे—अर्थगम्भीर संक्षिप्त आगमवाक्यसे—देखकर उस ध्यानको तीन (प्रशस्त, अप्रशस्त और शुद्ध ध्यान) प्रकारका ही माना है । कारण कि जीवका आशय (अभिप्राय, उपयोग) भी तीन प्रकारका ही है ॥२७॥

वह तीन प्रकारका आशय इस प्रकार है—उनमें प्रथम पुण्याशय (शुभोपयोग) और इसके विपरीत दूसरा अशुभ उपयोग है । शुद्ध उपयोग नामवाला जो आशय है वह तीसरा उपयोग कहा गया है ॥२८॥

---

१. All others except P संक्षेपरुचयश्चान्ये । २. M जीवादयः, N जीवाश्रयः । ३. P M L X Y त्रिधा तावत् । ४. B पूर्वं तद् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

275) पुण्याशयवशाज्जातं[1] शुद्धलेश्यावलम्बनात् ।
चिन्तनाद्वस्तुतत्त्वस्य प्रशस्तं ध्यानमुच्यते ॥२९

276) पापाशयवशान्मोहान्मिथ्यात्वाद्वस्तुविभ्रमात् ।
कषायैर्जन्यते[2] ऽजस्रमसद्ध्यानं शरीरिणाम् ॥३०

277) क्षीणे रागादिसंताने प्रसन्ने चान्तरात्मनि ।
यः स्वरूपोपलम्भः[3] स्यात् स शुद्धाख्यः प्रकीर्तितः ॥३१

278) शुभध्यानफलोद्भूतां श्रियं त्रिदिवसंभवाम्[4] ।
निर्विशन्ति नरा नाके क्रमाद्यान्ति परं पदम् ॥३२

275) **पुण्याशयवशाज्जातं**—ध्यानं प्रशस्तं तदुच्यते । तत्किम् । यत् पुण्याशयवशाज्जातम् । कस्मात् । शुद्धलेश्यावलम्बनात् शुभादिलेश्यात्रयावलम्बनात् । वस्तुतत्त्वस्य चिन्तनात् इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथासद्ध्यानमाह ।

276) **पापाशयवशात्**—शरीरिणाम् असद्ध्यानं तद् उच्यते यद् अजस्रं निरन्तरं कषायाज्जायते* । कस्मात् । वस्तुविभ्रमात् । पुनः कस्माज्जायते । पापाशयवशात् । मोहात् मिथ्यात्वात् जायते इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ शुद्धाशयमाह ।

277) **क्षीणे रागादिसंताने**—यः स्वरूपोपलम्भः स्यात् । क्व । आत्मनि । कीदृशे । प्रसन्ने । क्व सति । रागादिसंताने क्षीणे इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ शुभध्यानमाह ।

278) **शुभध्यान**—नराः नाके श्रियं निर्विशन्ति भुञ्जते । कथंभूतां श्रियम् । त्रिदिवसंभवां देवसंबन्धिनीम् । पुनः कीदृशीम् । शुभध्यानफलोद्भूताम् । क्रमात् अनुक्रमात् परं पदं मोक्षं यान्ति इति सूत्रार्थः ॥३२॥ [दुर्ध्यानस्य फलमाह ।

उनमें शुभ उपयोगके वश शुद्ध लेश्याके आश्रयसे जो वस्तुस्वरूपका चिन्तन किया जाता है उससे उत्पन्न हुआ ध्यान प्रशस्त ध्यान कहा जाता है ॥२९॥

अशुभ उपयोगके वश प्राणियोंके मूढ़ता, मिथ्यात्व, वस्तुस्वरूपकी विपरीतता और कषायोंके निमित्तसे निरन्तर अप्रशस्त ध्यान हुआ करता है। अभिप्राय यह है कि अशुभ उपयोगके वशीभूत प्राणीके मोहादिके निमित्तसे जो आर्त व रौद्र स्वरूप चिन्तन होता है उसका नाम अप्रशस्त ध्यान है ॥३०॥

राग-द्वेषादिकी परम्पराके नष्ट हो जानेसे अन्तरात्माके प्रसन्न होनेपर—स्व-पर विवेकके प्रगट हो जानेपर—जो आत्मस्वरूपकी उपलब्धि होती है उसे शुद्ध ध्यान कहा जाता है ॥३१॥

मनुष्य (प्राणी) देवलोकमें जाकर शुभ ध्यानके फल (पुण्य) से उत्पन्न हुई स्वर्गीय लक्ष्मीको भोगते हैं और फिर क्रमसे उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं ॥३२॥

१. M N वशाज्जन्तो. । २. All others except P कषायाज्जायते । ३. F V C स्वरूपोपलब्धिः । ४. M S V B C R त्रिदशसंभवाम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

279) [1]दुर्ध्यानाज्जन्मजानन्तदुःखसंबन्धवर्धितम् ।
जायते देहिनां शश्वन्निसर्ग[2]विरसं फलम् ॥३३

280) [1][दुर्ध्यानाद्दुर्गतेर्बीजं जायते कर्म देहिनाम् ।
क्षीयते यन्न कालेन[3] महतापि कथंचन ॥३३*१]

281) निःशेषक्लेशनिर्मुक्तं स्वभावजमनश्वरम् ।
फलं शुद्धोपयोगस्य ज्ञानराज्यं शरीरिणाम् ॥३४

282) इति संक्षेपतो ध्यानलक्षणं समुदाहृतम्[4] ।
बन्धमोक्षफलोपेतं संक्षेपरुचिरञ्जकम् ॥३५

---

279) दुर्ध्यानात्—अशुभध्यानेन प्राणिनो जन्म लभन्ते । ते च तस्मिन् जन्मनि अनन्त-दुःखेन परिवर्धितं स्वभावेन नीरसं च फलं भूयोभूयः अनुभवन्ति॥३३॥ दुर्ध्यानं कर्मणः कारणमाह ।]

280) दुर्ध्यानाद्दुर्गतेर्बीजं—देहिनां कर्मबीजं जायते । कस्याः । दुर्गतेः । कस्मात् । दुर्ध्या-नात् । यत्कर्म महतापि कालेन न कथंचन क्षीयते इति सूत्रार्थः ॥३३*१॥ अथ शुद्धोपयोगलक्षणमाह ।

281) निःशेषक्लेशनिर्मुक्तं—शुद्धोपयोगस्य फलं ज्ञानराज्यं शरीरिणाम् । कीदृशं फलम् । निःशेषक्लेशनिर्मुक्तम् । पुनः कीदृशम् । स्वभावजम् । पुनः कीदृशम् । अनश्वरम् अविनाशि इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ ध्यानमुपसंहरति ।

282) इति संक्षेपतो—इति अमुना प्रकारेण संक्षेपतो ध्यानलक्षणं समुदाहृतम् उक्तम् । कीदृशम् । बन्धमोक्षफलोपेतम् । पुनः कीदृशम् । संक्षेपरुचिरञ्जकमिति सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ जगतो दुर्नयशताक्रान्तत्वमाह । शिखरिणी ।

अशुभ ध्यानसे प्राणी न केवल जन्म लेते हैं अपितु उस समय उन्हें बार-बार बहुत दुःख भुगतना पड़ता है । जिसका फल स्वभावतः नीरस रहता है ॥३३॥

दुर्ध्यानसे—अप्रशस्त अशुभ ध्यानसे—प्राणियोंके नरकादि दुर्गतिका कारणभूत वह पाप कर्म उत्पन्न होता है जो दीर्घकालमें भी किसी प्रकारसे नष्ट नहीं होता है ॥३३*१॥

शुद्धोपयोगके फलस्वरूप प्राणियोंको वह ज्ञानका साम्राज्य (अनन्त चतुष्टय) प्राप्त होता है जो समस्त क्लेशोंसे रहित, स्वभावसे उत्पन्न और विनाशसे रहित (अविनश्वर) होता है । तात्पर्य यह है कि प्रशस्त ध्यानका फल स्वर्गलक्ष्मी, अप्रशस्त ध्यानका फल नरकादि दुर्गति और शुद्ध ध्यानका फल मोक्षकी प्राप्ति है ॥३४॥

इस प्रकार संक्षेपमें रुचि रखनेवाले श्रोताजनोंको अनुरंजित करनेवाले उस ध्यानका संक्षेपमें लक्षण कहा गया है । उसका फल बन्ध और मोक्ष है । अभिप्राय यह कि अशुभ ध्यानका फल पापबन्ध, शुभ ध्यानका फल पुण्यबन्ध और शुद्ध ध्यानका फल मोक्ष है ॥३५॥

---

१. Only in P । २. All others except P read । ३. V B C R यन्न कष्टेन । ४. T लक्षणं यदुदाहृतम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

283) [[1]अविद्याविक्रान्तैश्चपलचरितैर्दुर्नयशतै-
र्जगल्लुप्तालोकं कृतमतिघनध्वान्तनिचितम् ।
त्वयोच्छेद्याशेषं परमततमोव्रातमतुलं
प्रणीतं[2] भव्यानां शिवपदमयानन्दनिलयम्[3] ॥३५*१]

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्यश्रीशुभचन्द्र-
विरचिते संक्षेपध्यानलक्षणम्[4] ॥३॥

283) अविद्याविक्रान्तैः—दुर्नयशतैः जगत् लुप्तालोकं नष्टज्ञानं कृतम् । कीदृशैः । अविद्या-विक्रान्तैः अज्ञानव्याप्तैः । पुनः कीदृशैः । चपलचरितैः चञ्चलचरित्रैः । पुनः कीदृशैः । अतिघन-ध्वान्तनिचितैः निबिडान्धकारयुक्तैः । रे जीव, त्वया अशेषं परमततमोव्रातम् अतुलम् आच्छिद्य छेदयित्वा । अथ* आनन्तर्ये । भव्यानां शिवपदं प्रणेयम्* । कीदृशं शिवपदम् । आनन्दनिलयम् इति सूत्रार्थः ॥३५*१॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवयोगप्रदोपाधिकारे साहपासा तत्पुत्र साहटोडर तत्पुत्र पदकमलदिवाकर साहरिषिदासश्रवणार्थं पण्डितनयविलासकृतायां पण्डित जिनदासो-द्यमनवृत्तिः ध्यानलक्षणाधिकारः समाप्तः ।

साहश्रीपार्श्वनामा प्रगटविभवो ऽभूच्च विख्यातकीर्तिः । तत्पुत्रो ऽध्यात्मवेत्ता परमचरित-ष्टोडरः शुद्धबुद्धिः । सद्दानोदारचित्तः सुकृतकमलो ध्यानसंधानचेताः । कारुण्यश्रीविलासो जयति सुतरां भूतले ऋषिदासः ॥१॥ इति आशीर्वादः । अथ चतुर्विधं [ध्यानम्] । तद्यथा ।

जो अज्ञानतासे आक्रान्त होकर चंचल चरित्रवाले—मनमाना आचरण करनेवाले—और सैकड़ों अनीतियोंसे सहित हैं ऐसे मिथ्यादृष्टियोंने लोकको प्रकाशसे—यथार्थ ज्ञानसे—रहित करके अतिशय घने अन्धकारसे—विपरीत ज्ञानसे—व्याप्त कर दिया है। तुझे उस समस्त असाधारण अन्य मतरूप अन्धकारके समूहको नष्ट करके भव्योंके लिए आनन्दके स्थान स्वरूप मोक्षपदसे अनुराग करना चाहिए ॥३५*१॥

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णवमें योगप्रदीपाधिकारमें
संक्षेप ध्यान लक्षणरूप तीसरा प्रकरण समाप्त हुआ ॥३॥

१. P omits; In Y २८२ and २८३ are interchanged। २. M N S T V B C J Y प्रणेयं। ३. M N पदमिहानन्द, T B J पदमथानन्द, Y पदमहानन्द। ४. F संक्षेपतो ध्यानलक्षणं तृतीयः सर्गः, B °जिनदासोद्यमनवृत्तिर्ध्यानलक्षणाधिकारः समाप्तः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

IV

[ध्यानगुणदोषाः]

284) अथ चतुर्विधम्[1]। तद्यथा[2]–

यच्चतुर्धा[3] मतं तज्ज्ञैः क्षीणमोहैर्मुनीश्वरैः।
पूर्वप्रकीर्णकाङ्गेषु ध्यानलक्ष्म सविस्तरम् ॥१

285) शतांशमपि तस्याद्य[4] न कश्चिद्वक्तुमीश्वरः।
तदेतत्[5]सुप्रसिद्धार्थं[6] दिङ्मात्रमिह वर्ण्यते ॥२

---

284) यच्चतुर्धा मतं—मुनीश्वरैर्यद्ध्यानं चतुर्धा मतं कथितम्। कीदृशैः मुनीश्वरैः। तज्ज्ञैः ध्यानज्ञैः। पुनः कीदृशैः। क्षीणमोहैः। क्व मतम्। पूर्वप्रकीर्णकाङ्गेषु ध्यानलक्ष्म [ध्यान] लक्षणं सविस्तरम् इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ तस्य ध्यानस्य अज्ञानतामाह।

285) शतांशमपि—तस्य ध्यानस्य शतांशमपि वक्तुम्. अद्य कश्चित् नेश्वरः न समर्थः। तत्ततः इह शास्त्रे दिङ्मात्रं वर्ण्यते। किमर्थम्। सुप्रसिद्धयर्थमिति* सूत्रार्थः ॥२॥ अथ ध्यानस्य सविकल्पकतामाह।

अथवा वह चार प्रकारका है जो इस प्रकार है—ध्यानके रहस्यको जाननेवाले वीतराग योगीन्द्रोंको जो चार प्रकारका ध्यान अभीष्ट है उसका स्वरूप चौदह पूर्वों, प्रकीर्णक ग्रन्थों (सामायिक व दशवैकालिक आदि) और आचारादि अंगोंमें विस्तारके साथ प्ररूपित है ॥१॥

उक्त पूर्वादिकोंमें जो विस्तारसे उसका कथन किया गया है उसके सौवें भागका भी वर्णन करनेके लिए आज कोई समर्थ नहीं है। अतिशय प्रसिद्ध प्रयोजन (मोक्ष) को सिद्ध करनेवाले उसी इस ध्यानका यहाँ अत्यन्त संक्षेपमें वर्णन किया जाता है ॥२॥

---

१. P M L अथ चतुर्विधम्। २. P M L X तद्यथा। ३. B J तच्चतुर्धा। ४. M N तस्यार्थं। ५. B J तदेव। ६. All others except P सुप्रसिद्धयर्थं।

१३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

286) अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गुणदोषैः प्रपञ्चितम् ।
हेयोपादेयभावेन सविकल्पं[1] निगद्यते ॥३

287) ध्याता ध्यानमितस्तदङ्गमखिलं दृग्बोधवृत्तान्वितं
ध्येयं तद्गुणदोषलाञ्छनयुतं[2] नामानि कालः फलम्[3] ।
एतत्सूत्रमहार्णवात् समुदितं यत्प्राक् प्रणीतं बुधै-
स्तत्सम्यक् परिभावयन्तु निपुणा अत्रोच्यमानं[4] क्रमात् ॥४

286) अन्वयव्यतिरेकाभ्यां—तद्ध्यानं सविकल्पं निगद्यते। हेयोपादेयभावेन त्याज्यग्राह्यभावेन गुणदोषैः प्रपञ्चितं विस्तारितम् । काभ्याम् । अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् । सति तद्भावेऽन्वयः । असति तदभावे व्यतिरेकः । तत्रानुमानमाह । इदं ध्यानं मोक्षसाधकम् । गुणवत्त्वात् । रत्नत्रयवत् । व्यतिरेकानुमानमाह । एतद् ध्यानं न मोक्षकारणम् । दोषवत्त्वात् । यन्न मोक्षकारणं न तद्दोषवत् प्रति न (?) इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां सविकल्पता इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ ध्यानद्वारमाह । शा० वि० ।

287) ध्याता—पूर्वं ध्याता ध्यानकर्ता । ततो ध्यानम् । कीदृशम् । तदङ्गं ध्यानाङ्गम् अखिलं समस्तम् । कीदृशम् अङ्गम् । दृग्बोधवृत्तान्वितं दृष्टिज्ञानचरित्रान्वितम् । पुनः ध्येयं वस्तु तद्गुणदोषलक्षणयुतम्* । सुगमम् । नामानि । ध्यानस्य कालः । फलं ध्यानफलम् ।

अन्वय और व्यतिरेकके साथ गुण व दोषोंसे विस्तृत तथा हेय व उपादेय स्वरूपसे भेदको प्राप्त हुए उक्त ध्यानका यहाँ वर्णन किया जाता है ॥ विशेषार्थ—विवक्षित किसी एकके सद्भावमें ही जो अन्यका नियमतः सद्भाव पाया जाता है इसका नाम अन्वय, तथा विवक्षित किसी एकके अभावमें जो अन्यका नियमतः अभाव पाया जाता है, इसका नाम व्यतिरेक है। जैसे धुएँका सद्भाव अग्निके सद्भावमें ही पाया जाता है (अन्वय) तथा अग्निके अभावमें नियमतः धुएँका अभाव पाया जाता है (व्यतिरेक)। प्रकृतमें अभिप्राय यह है कि विवक्षित गुणोंके सद्भावमें ही समीचीन ध्यानका सद्भाव और उन गुणोंके अभावमें उस समीचीन ध्यानका भी अभाव रहता है। इसी प्रकार विवक्षित दोषोंके सद्भावमें नियमसे असमीचीन ध्यान (दुर्ध्यान) का सद्भाव और उनके अभावमें उस असमीचीन ध्यानका भी अभाव पाया जाता है। इन गुणों और दोषोंके वर्णनके साथ उक्त ध्यानका वर्णन विस्तारसे किया गया है। साथ ही यहाँ यह भी कहा गया है कि जो ध्यान गुणोंसे संयुक्त है वह उपादेय (ग्राह्य) तथा जो दोषोंसे संयुक्त है वह हेय (त्याज्य) है। इस प्रकार हेय और उपादेयके भेदसे उक्त ध्यानके दो भेद हो गये हैं ॥३॥

ध्याता (ध्यान करनेवाला), ध्यान, सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्रसे संयुक्त उसके समस्त अंग, गुण-दोषोंकी पहिचानके साथ ध्येय (ध्यानके योग्य वस्तु), ध्यानके नाम,

१. P सविकल्पं = सभेदं । २. All others except P लक्षणयुतं । ३. Y कालः स्फुटम् । ४. M N निपुणास्त्वत्रोच्यमानं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

288) ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं फलं चेति चतुष्टयम् ।
इति [1]सूत्रसमासेन सविकल्पं निगद्यते ॥५

289) [2]मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः शान्तचित्तो वशी स्थिरः ।
जिताक्षः संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते ॥६ तद्यथा[3]–

एतत्सर्वं ध्यानादिसूत्रमहार्णवात् महार्णवसूत्रात् समुदितं कथितम् । बुधैः पण्डितैः यत् प्राक् पूर्वं प्रणीतम् । हे निपुणाः अत्र शास्त्रे उच्यमानं क्रमात् अनुक्रमेण परिभावयन्तु इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ सविकल्पतामाह ।

288) ध्याता ध्यानं—ध्याता, ध्यानं, ध्येयं, फलं चेति सविकल्पध्यानं चतुर्विधरूपेण संक्षेपतो वर्णितम् ॥५॥ तत्र यथोद्देशं निर्देशमिति ज्ञायेत । पूर्वं ध्यातारमाह ।

289) मुमुक्षुर्जन्म—एवंभूतो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते । कीदृशो ध्याता । मुमुक्षुः मोक्षं गन्तुमिच्छुः । जन्मनिर्विण्णः जन्मश्रान्तः । पुनः कीदृशः । शान्तचित्तादि सर्वं सुगमम् ॥६॥ तद्यथा । अथ जगत्स्वरूपमाह ।

उसका काल और फल; इन सबका समुदित रूपमें वर्णन सूत्ररूप महासमुद्रसे जैसे विद्वानोंके द्वारा पूर्वमें किया गया है वैसे ही क्रमसे उन सबका कथन यहाँपर (ज्ञानार्णवमें) किया जाता है । पण्डित जन उसका भलीभाँति पर्यालोचन (या मनन) करें ॥४॥

यहाँ ध्याता, ध्यान, ध्येय और उस ध्यानका फल इन चारोंका कथन भेदपूर्वक सूत्रके संक्षेपसे किया जाता है ॥५॥

वह इस प्रकारसे—जो मोक्षका अभिलाषी हो, संसार व शरीरादिसे विरक्त हो, शान्तचित्त हो, अपने आपपर—अन्तःकरणके ऊपर—नियन्त्रण रखनेवाला है, स्थिर हो—शरीरकी चंचलतासे रहित हो, इन्द्रियोंको वशमें रखता हो, और गुप्ति व समिति आदिसे आवृत हो—नवीन कर्मबन्धको रोक रहा हो; वह ध्याता है—ध्यानका अधिकारी है—और उसकी शास्त्रमें प्रशंसा की गयी है ॥ विशेषार्थ—इसके पूर्व श्लोक ३ में यह निर्दिष्ट किया गया था कि गुण और दोषोंके सद्भाव व असद्भावके साथ आगममें उस ध्यानका वर्णन विस्तृत है । तदनुसार यहाँ उस ध्यानके कर्तामें आवश्यक कौन-कौनसे गुण होने चाहिए, इसका दिग्दर्शन कराते हुए यहाँ यह कहा गया है कि सर्वप्रथम ध्याताको मोक्षका अभिलाषी होकर संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त होना चाहिए । कारण इसका यह है कि प्राणीको जब तक संसारमें परिभ्रमण करते हुए जन्ममरणके दुःखका अनुभव नहीं होगा तथा वह जब तक विषयानुराग व ममत्वबुद्धिको उसका कारण नहीं समझेगा तब तक वह संसारसे विरक्त होकर मोक्षका अभिलाषी नहीं हो सकता है । और जब तक उसे मोक्षकी अभिलाषा उत्पन्न नहीं होती है तब तक उसकी ध्यानमें प्रवृत्ति हो नहीं सकती है । इसके साथ उसे जितेन्द्रिय—इन्द्रियों और मनको वशमें रखनेवाला—भी होना चाहिए क्योंकि, इन्द्रियों व मनपर विजय प्राप्त कर लेनेके बिना ध्यानमें कभी स्थिरता नहीं रह सकती है । क्रोधादि कषायें चूँकि चित्तको

१. M N इति चात्र, B J इति ध्यानं । २. M N तद्यथा–मुमुक्षु । ३. P M तद्यथा–उदीर्ण ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

290) उदीर्णकर्मेन्धनसंभवेन दुःखानलेनातिकदर्थ्यमानम् ।
दंदह्यते विश्वमिदं समन्तात् प्रमादमूढं च्युतसिद्धिमार्गम् ॥७

291) दह्यमाने जगत्यस्मिन् महता मोहवह्निना ।
प्रमादमदमुत्सृज्य निष्क्रान्ता योगिनः परम् ॥८

---

290) **उदीर्णकर्मेन्धन**—इदं विश्वं जगत् समन्तात् दुःखानलेन अतिकदर्थ्यमानं पीड्यमानं दन्दह्यते । कीदृशेन दुःखानलेन । उदीर्णकर्मेन्धनसंभवेन उदीर्णं उदयं प्राप्तं यत् कर्म तदेवेन्धन-संभवेन । कीदृशम् । प्रमादमूढं प्रमादव्याप्तम् । पुनः कीदृशम् । च्युतसिद्धिमार्गं नष्टमोक्षमार्गमिति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ योगिवैराग्यमाह ।

291) **दह्यमाने जगत्यस्मिन्**—योगिनः परं केवलं निष्क्रान्ताः । किं कृत्वा । प्रमादमदम् उत्सृज्य त्यक्त्वा । क्व सति । अस्मिन् जगति मोहवह्निना महता दह्यमाने इति सूत्रार्थः ॥८॥ गृहवासकुत्सितत्वमाह ।

कलुषित करके समीचीन ध्यानसे विमुख करनेवाली हैं, अतएव ध्याताको उन कषायोंसे रहित होकर शान्तचित्त भी होना चाहिए। इसी प्रकार शरीरके ऊपर उसका इतना नियन्त्रण भी होना चाहिए कि इच्छानुसार वह किसी भी एक आसनसे स्थित हो दीर्घकाल तक ध्यान कर सके। इस प्रकारसे ध्याता योगी जब गुप्तियों एवं समितियों आदिका परिपालन करने लगता है तब उसके नवीन कर्मोंका आगमन रुककर—संवर होकर—तपके प्रभावसे पूर्वसंचित कर्मकी निर्जरा भी होती है। इस प्रकार वह अन्तमें उत्कृष्ट ध्यानके आश्रयसे अपने अभीष्ट मोक्ष पदको प्राप्त कर लेता है ॥६॥

प्रमादसे मोहको प्राप्त होकर मुक्तिमार्गसे भ्रष्ट हुआ यह सारा विश्व उदयमें प्राप्त हुए कर्मरूप ईंधनसे उत्पन्न हुई दुःखरूप अग्निसे अतिशय पीड़ित होता हुआ चारों ओरसे बार-बार जल रहा है—संतप्त हो रहा है ॥७॥

इस प्रकार तीव्र मोहरूप अग्निसे जाज्वल्यमान इस जगत्‌मेंसे केवल योगीजन ही प्रमादरूप नशाको छोड़कर बाहिर निकले हैं। विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मदिराको पीकर उन्मत्त हुआ—नशेमें चूर—मनुष्य घरके अग्निसे जलनेपर भी उसके भीतर ही स्थित रहता है और कष्ट सहता है, किन्तु उसके बाहिर नहीं निकलता है; उसी प्रकार प्रमादी जीव भी मोहसे संतप्त रहकर कष्ट तो भोगते हैं, किन्तु उस प्रमादको नहीं छोड़ते हैं। उस प्रमादको केवल वे योगीजन ही छोड़ते हैं जिनके अन्तःकरणमें सुख-दुःखका विवेक उदित हो चुका है ॥८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

292) न प्रमादजयः[1] कर्तुं धीधनैरपि पार्यते ।
महाव्यसनसंकीर्णे गृहवासे ऽतिनिन्दिते ॥९

293) शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मनः ।
अतश्चित्तप्रशान्त्यर्थं सद्भिस्त्यक्ता गृहस्थितिः[2] ॥१०

294) प्रतिक्षणं द्वन्द्वशतार्तचेतसां नृणां दुराशाग्रहपीडितात्मनाम् ।
नितम्बिनीलोचनचौरसंकटे गृहाश्रमे नश्यति पारमार्थिकम्[3] ॥११

292) **न प्रमादजयः**—धीधनैः प्रमादजयः कर्तुं न पार्यते । क्व । गृहवासे । कीदृशे । अतिनिन्दिते । पुनः कीदृशे । महाव्यसनसंकीर्णे महाकष्टव्याप्ते इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ मनश्चञ्चलत्वमाह ।

293) **शक्यते न वशीकर्तुम्**—गृहिभिः मनो वशीकर्तुं न शक्यते । अतः कारणात् चित्तप्रशान्त्यर्थं सद्भिः गृहस्थितिः त्यक्ता इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथात्मनो हिताभावमाह । वंशस्थ ।

294) **प्रतिक्षणं द्वन्द्व**—नृणां गृहाश्रमे । च पादपूरणे । आत्मनो* हितं* नश्यति । कीदृशां नृणाम् । प्रतिक्षणं द्वन्द्वशतार्तचेतसां क्लेशशतपीडितचित्तानाम् । पुनः कीदृशां नृणाम् । दुराशाग्रहपीडितात्मनाम् । सुगमम् । कीदृशे । नितम्बिनीलोचनचौरसङ्कटे इति सूत्रार्थः ॥११॥ पुनस्तदेवाह ।

जो गृहका निवास तीव्र दुःखोंसे व्याप्त व अतिशय निन्दित है उसमें अत्यन्त बुद्धिमान मनुष्य भी उस प्रमादको जीतनेके लिए समर्थ नहीं होते ॥९॥

गृहस्थ जन चंचल मनको वशमें करनेके लिए समर्थ नहीं हैं । इसीलिए सत्पुरुषोंने उस मनकी शान्तिके लिए—उसे वशमें करके ध्यानको सिद्ध करनेके लिए—उक्त गृहनिवासका परित्याग किया है ॥१०॥

स्त्रियोंके नेत्ररूप चोरोंसे विषम (भयानक) उस गृहस्थाश्रममें—गृहनिवासमें—मनुष्योंका मन सैकड़ों झंझटोंसे व्यथित तथा दुष्ट तृष्णारूप पिशाचसे पीड़ित रहा करता है । इसीलिए गृहके भीतर रहते हुए मनुष्योंकी—परमार्थता—संयम व मुक्तिका भाव—नष्ट हो जाता है । तात्पर्य यह है कि घरमें रहते हुए अनेक चिन्ताओंका सामना करना पड़ता है । अतएव वहाँ रहते हुए प्राणी मोक्षके साधनभूत संयम, तप एवं ध्यान आदिका आचरण नहीं कर सकता है ॥११॥

१. All others except P M X प्रमादजयं । २. All others except P M S J X गृहे स्थितिः । ३. M N J B गृहाश्रमे नश्यति चात्मनो हितम्, L F V C X Y स्वात्मनो हितं, S T R गृहाश्रमे स्वात्महितं न सिध्यति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

295) निरन्तरार्तानलदाहदुर्गमे कुवासनाध्वान्तविलुप्तलोचने[1] ।
अनेकचिन्ताज्वरजिह्मितात्मनां[2] नृणां गृहे नात्महितं[3] प्रसिध्यति[4] ॥१२

296) विपन्महापङ्कनिमग्नबुद्धयः प्ररूढरागज्वरयन्त्रपीडिताः ।
परिग्रहव्यालविषाग्निमूर्छिता विवेकवीथ्यां गृहिणः स्खलन्त्यमी ॥१३

297) हिताहितविमूढात्मा स्वं शश्वद्वेष्टयेद्[5] गृही ।
अनेकारम्भजैः पापैः कोशकारः कृमिर्यथा ॥१४

295) निरन्तरार्तानल—नृणां गृहे स्वात्महितं* न सिध्यति* । अनेकचिन्ताज्वरजिह्मितात्मनाम् अनेकचिन्ताज्वरपीडितात्मनाम् । कीदृशे । निरन्तरावर्तानलदाहदुर्गमे सदावर्ताग्निदाहदुर्ग्राह्ये । सुगमम् । पुनः कीदृशे । कुवासनाध्वान्तविलुप्तलोचने । सुगममिति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ सति परिग्रहे विवेकाभावमाह ।

296) विपन्महापङ्क—अमी गृहिणः विवेकवीथ्यां विवेकमार्गे स्खलन्ति । कीदृशाः । विपन्महापङ्कनिमग्नबुद्धयः आपन्महापङ्कमज्जितबुद्धयः । सुगमम् । प्ररूढरागज्वरयन्त्रपीडिताः गभीररागज्वरयन्त्रपीडिताः । पुनः कीदृशाः । परिग्रहव्यालविषाग्निमूर्छिताः परिग्रहसर्पगरानलमूर्छिताः इति सूत्रम् ॥१३॥ पुनर्गृहिस्वरूपमाह ।

297) हिताहित—गृही पापैः स्वं वेष्टयेत् । शश्वत् निरन्तरम् । कीदृशः । हिताहितविमूढात्मा । कीदृशैः पापैः । अनेकारम्भजैः । यथा कोशकारकृमिः कोशीटकनामा कीटविशेषः स्वं वेष्टयेत् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ संयमादिना रागाद्यभावमाह ।

निरन्तर आर्तध्यानरूप अग्निके सन्तापसे दुर्गम और कुत्सित वासनारूप अन्धकारसे आँखोंको अन्धा करनेवाले घरमें स्थित मनुष्योंकी आत्मा चूँकि अनेक चिन्तारूप ज्वरसे मन्द रहती है अतएव वहाँपर रहते हुए वे आत्महितको सिद्ध नहीं कर सकते हैं। अभिप्राय यह है कि गृहस्थाश्रममें रहनेवाले मनुष्य निरन्तर अनेक प्रकारकी चिन्ताओंसे ग्रसित रहते हैं; इसीलिए वहाँ आत्महितके साधनभूत तप, संयम एवं ध्यान आदिका आचरण सम्भव नहीं है ॥१२॥

घरमें रहते हुए जिनकी बुद्धि विपत्तिरूप गहरे कीचड़में फँसी रहती है, जो उत्पन्न हुए रागरूप ज्वरके यन्त्रसे व्यथित रहते हैं, तथा जो परिग्रहरूप सर्पके विषके सन्तापसे मूर्छित—सुध-बुध हीन—रहते हैं; वे गृहस्थ विवेकरूप वीथी (गली) में स्खलित होते हैं—मार्गको भूल जाते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सर्पके द्वारा काटा गया मनुष्य उसके विषसे मूर्छित होकर मार्गसे भ्रष्ट हो जाता है उसी प्रकार घरमें रहते हुए मनुष्य विषयतृष्णा-विषके समान भयानक से मूर्छित रहकर विवेकसे भ्रष्ट रहता है—उसे आत्म-परका विवेक नहीं रहता है ॥१३॥

हिताहितके विषयमें मूढ अन्तःकरणवाला गृहस्थ अपनेको निरन्तर अनेक आरम्भ

१. M N विलुप्तचेतने । २. M जिह्मितात्मना । ३. L S B J गृहे स्वात्महितं न सिध्यति । ४. F प्रसिध्यते । ५. B J °त्मा शश्वत्संवेष्टयेद्गृही ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

298) जेतुं जन्मशतेनापि रागाद्यरिपताकिनी ।
विना संयमशस्त्रेण न सद्भिरपि शक्यते ॥१५

299) प्रचण्डपवनैः प्रायश्चाल्यन्ते यत्र भूभृतः ।
तत्राङ्गनादिभिः स्वान्तं निसर्गतरलं न किम् ॥१६

300) खपुष्पमथवा शृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते ।
न पुनर्देशकाले ऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ॥१७

298) जेतुं जन्मशतेनापि—सद्भिः पुरुषैः रागाद्यरिपताकिनी रागादिवैरिसेना जन्मशतेनापि जेतुं नापि शक्यते संयमशस्त्रेण विना इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ स्त्रियो मनश्चञ्चलत्वमाह ।

299) प्रचण्डपवनैः—यत्र भूभृतः प्रायश्चाल्यन्ते । कैः । प्रचण्डपवनैः । तत्र अङ्गनादिभिः निसर्गतरलं स्वभावचञ्चलं किं न ॥१६॥ अथ ध्यानशुद्ध्यभावं गृहाश्रमे दर्शयन्नाह ।

300) खपुष्पमथवा—खपुष्पम् आकाशकुसुमं प्रतीयते । अथवा खरस्य शृङ्गं प्रतीयते । परं गृहाश्रमे देशकाले ऽपि पुनः ध्यानसिद्धिः न भवतीत्यर्थः ॥१७॥ अथ मिथ्यादृष्टीनां ध्यानसिद्ध्यभावमाह ।

जनित पापोंसे इस प्रकार वेष्टित करता है जिस प्रकार कि रेशमका कीड़ा उसके तारोंसे अपनेको स्वयं वेष्टित किया करता है ॥१४॥

संयमरूप शस्त्रके बिना सत्पुरुष भी एक जन्मकी तो क्या, किन्तु सैकड़ों जन्मोंमें भी रागादिरूप शत्रुसेनाको जीतनेके लिए समर्थ नहीं होते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार शत्रुपर विजय प्राप्त करनेके लिए तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रादिकी आवश्यकता होती है उसी प्रकार दुष्ट रागादिको जीतनेके लिए—उन्हें नष्ट करनेके लिए संयमकी आवश्यकता होती है, उसके बिना उनका जीतना सम्भव नहीं है ॥१५॥

जहाँ तीक्ष्ण वायुके द्वारा प्रायः करके बड़े-बड़े पर्वत विचलित कर दिये जाते हैं वहाँ क्या स्त्री आदिके द्वारा स्वभावसे चंचल अन्तःकरण क्या विचलित नहीं किया जाता है ? अवश्य किया जाता है ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार प्रलयकालीन तीक्ष्ण वायुके द्वारा स्थिर स्वभाववाले बड़े बड़े पर्वत भी स्थानभ्रष्ट कर दिये जाते हैं उसी प्रकार गृहस्थ जीवनमें स्त्री-पुत्रादिकोंके बीचमें रहनेवाले मनुष्यका मन—जो स्वभावसे ही चंचल है—उक्त स्त्री-पुत्रादिकोंके द्वारा संयमके मार्गसे नियमतः भ्रष्ट किया जाता है। इसलिए मोक्ष सुखके साधनभूत संयम व ध्यान आदिको सिद्ध करनेके लिए मनुष्यको उस गृहस्थाश्रमका परित्याग करना ही चाहिए ॥१६॥

कदाचित् आकाश कुसुम अथवा गधेके सींगकी भी उत्पत्ति देखी जा सकती है, परन्तु किसी भी देश और कालमें गृहस्थ जीवनमें मनुष्यके ध्यानकी सिद्धि नहीं देखी जा सकती है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार आकाशके कभी फूल सम्भव नहीं है, अथवा गधेके सिरपर कभी सींगोंकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, उसी प्रकार गृहस्थ अवस्थामें कभी ध्यानकी उत्पत्ति भी सम्भव नहीं है ॥ विशेषार्थ—इन श्लोकोंके द्वारा गृहस्थके जो ध्यानका सर्वथा निषेध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

301) दुर्दृशामपि न ध्यानसिद्धिः स्वप्ने ऽपि जायते ।
गृह्णतां दृष्टिवैकल्याद्वस्तुजातं यदृच्छया ॥१८

302) साध्यसिद्धिर्यतित्वे[1] ऽपि न स्यात् पाषण्डिनां क्वचित् ।
पूर्वापरविरुद्धार्थमतसत्तावलम्बिनाम्[2] ॥१९

303) किं च[3] पाषण्डिनः सर्वे सर्वथैकान्तदूषिताः ।
अनेकान्तात्मकं वस्तु प्रभवन्ति न वेदितुम् ॥२०

---

301) **दुर्दृशामपि न**—ध्यानसिद्धिः दुर्दृशां मिथ्यात्विनां स्वप्ने ऽपि न जायते । कीदृशां मिथ्यात्विनाम् । दृष्टिवैकल्यात् विपरीतदर्शनात् वस्तुजातं यदृच्छया गृह्णतामिति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ पाखण्डिनां सिद्ध्यभावमाह ।

302) **साध्यसिद्धिः**—पाखण्डिनां साध्यसिद्धिः ध्यानसिद्धिः यतित्वे अपि न स्यात् । क्वचित् कुत्रापि । कीदृशां पाखण्डिनाम् । पूर्वापरविरुद्धार्थमतसत्तावलम्बिनाम् । पूर्वापरविरुद्धः यः अर्थः, एतादृशी मतसत्ता मतास्तित्वं तदवलम्बिनाम् इति सूत्रार्थः ॥१९॥ किं च पक्षान्तरमाह ।

303) **किं च पाषण्डिनः**—सर्वे पाखण्डिनः अनेकान्तात्मकं स्याद्वादस्वरूपं वस्तु वेदितुं न प्रभवन्ति न समर्थाः । कीदृशाः । सर्वथैकान्तदूषिताः एकान्तमतदूषिताः इत्यर्थः ॥२०॥ अथ मिथ्यात्विनां जगत्परिज्ञाने नानात्वमाह ।

किया है उससे मोक्षके साधक उत्कृष्ट ध्यानका ही निषेध समझना चाहिए, अन्यथा स्वर्गीय अभ्युदयके साधनभूत धर्मध्यानको तो गृहस्थ भी कर सकता है ॥१७॥

दृष्टिकी विकलतासे सम्यग्दर्शनसे रहित होनेके कारण—वस्तुसमूह (तत्त्व) को इच्छानुसार ग्रहण करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंके भी उस ध्यानकी सिद्धि स्वप्नमें भी नहीं हो सकती है ॥१८॥

पूर्वापर विरुद्ध अर्थको प्रगट करनेवाले मतोंको समीचीन समझकर उनका आश्रय लेनेवाले धूर्त जनोंके साधुकी अवस्थामें भी साध्यकी—सिद्ध करने योग्य उस ध्यानकी—सिद्धि नहीं हो सकती है ॥१९॥

ये सब ढोंगी साधु चूँकि सर्वथा एकान्तसे—आत्मा नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, ज्ञानादि गुण आत्मासे सर्वथा भिन्न ही हैं अथवा अभिन्न ही हैं; इत्यादि प्रकारके दुराग्रहसे—दूषित होते हैं, अतएव वे अनेकान्तात्मक—कथंचित् नित्यानित्यादि व भिन्नाभिन्नादि स्वरूप—वस्तुको यथार्थरूपमें जाननेके लिए समर्थ नहीं होते हैं ॥२०॥

---

१. S T V C R ध्यानसिद्धि । २. M N मतसूत्राव°, L मसत्सत्ताव° । ३. M N किं च–पाषण्डिनः सदा सर्वे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

304) [[1]नित्यतां केचिदाचक्षुः केचिच्चानित्यतां खलाः ।
मिथ्यात्वान्नैव[2] पश्यन्ति नित्यानित्यात्मकं जगत् ॥२०*१]

304) नित्यतां केचिदाचक्षुः—केचित् खलाः दुर्जनाः जगत् नित्यानित्यात्मकं नैव पश्यन्ति । कस्मात् । मिथ्यात्वात् । केचित् पाखण्डिनः नित्यतामाहुः । च पुनः । केचित् अनित्यताम् आचक्षुरित्यर्थः ॥२०*१॥ अथ मिथ्यात्विनां ध्यानं केवलं प्रयासायेत्याह ।

कितने ही दुष्ट (मिथ्यादृष्टि) वस्तुकी सर्वथा नित्यताको और कितने ही उसकी सर्वथा अनित्यताको कहते हैं । वे उस मिथ्यात्वके ही कारण विश्वको कथंचित् नित्यानित्य-स्वरूप नहीं देखते हैं ॥ विशेषार्थ—नैयायिक, वैशेषिक और सांख्य आदि आत्माको जहाँ सर्वथा नित्य व एक स्वरूप ही मानते हैं वहाँ बौद्ध उसे सर्वथा क्षणिक ही मानते हैं । उक्त नैयायिक आदि जिस सामान्यको वस्तुभूत मानते हैं, उसे ही बौद्ध अवस्तुभूत व अज्ञान-जनित मानते हैं । इस प्रकार तीव्र मिथ्यात्वसे ग्रस्त कितने ही एकान्तवादियोंने परस्पर विरुद्ध अनेक मतोंको प्रचलित किया है । उनका आश्रय लेकर अनेक भोले जीव आत्महितसे वंचित होते हैं । यथार्थमें विचार किया जाय तो प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मवाली है । उदाहरण-स्वरूप यदि आत्मा द्रव्य दृष्टिसे—अपने अविनश्वर चैतन्य स्वभावकी अपेक्षा—नित्य है तो वही पर्याय दृष्टिसे—नर-नारकादि अवस्थाओं अथवा प्रतिक्षण परिवर्तित होनेवाली पर्याय (अर्थपर्याय) की अपेक्षा—अनित्य भी है । और ऐसा माननेमें कुछ विरोध भी नहीं है, क्योंकि, लोक व्यवहारमें भी किसी एक ही व्यक्तिके विषयमें परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले पिता व पुत्र आदिका अपेक्षाकृत व्यवहार देखा ही जाता है । इसी प्रकार वैशेषिक यदि आत्मासे ज्ञानादि विशेष गुणोंको सर्वथा भिन्न—समवाय नामक सम्बन्धसे सम्बद्ध—मानते हैं तो विज्ञानाद्वैतवादी दृश्यमान समस्त विश्वको ही ज्ञानस्वरूप मानते हैं—ज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुका सद्भाव नहीं मानते हैं । परन्तु दुराग्रहको छोड़कर यदि गम्भीरतासे विचार करें तो जिस प्रकार अग्निकी उष्णता तीनों ही कालोंमें कभी उस अग्निसे पृथक् नहीं पायी जाती है—सर्वथा उससे अभिन्न ही देखी जाती है—उसी प्रकार आत्मासे वे ज्ञानादि गुण भी कभी पृथक् नहीं हो सकते हैं, अन्यथा उस आत्माका फिर कोई निज स्वरूप ही नहीं रहेगा । इस दृष्टिसे आत्मासे वे ज्ञानादि अभिन्न हैं । परन्तु ज्ञानगुण आत्माका है इस सम्बन्धसूचक भेद व्यवहारके साथ दोनोंके नाम (आत्मा व ज्ञान) व लक्षण आदि भी पृथक् पृथक् देखे जाते हैं; अतएव व्यवहारकी अपेक्षा आत्मासे उक्त ज्ञानादिके भिन्न माननेमें भी कोई विरोध नहीं है । परन्तु जब तक जीवकी वह मिथ्या दृष्टि नहीं हटती है तब तक वह कदाग्रहको नहीं छोड़ता है, और जब तक कदाग्रह है तब तक वस्तुकी अनेका-न्तात्मकताका बोध नहीं हो पाता है । इस कारण मिथ्यादृष्टियोंके भी उस ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है ॥२०*१॥

१. P om. । २. M N मिथ्यान्धा नैव ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

305) वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् किं ध्येयं[1] क्व च भावना ।
ध्यानाभ्यासस्ततस्तेषां प्रयासायैव केवलम् ॥२१

306) [2]उक्तं च—
शतमाशीतं प्रथितं क्रियाविदां वादिनां प्रचण्डानाम् ।
चतुरधिकाशीतिरपि प्रसिद्धमहसां विपक्षाणाम् ॥२१*१

307) [3]षष्टिर्विज्ञानविदां सप्तसमेतां[4] प्रसिद्धबोधानाम् ।
द्वात्रिंशद्वैनयिका भवन्ति सर्वे प्रवादविदः ॥२१*२॥ इति[5] ।

308) ज्ञानादेवेष्टसिद्धिः स्यात्ततोऽन्यः शास्त्रविस्तरः ।
मुक्तेरुक्तमतो[6] बीजं विज्ञानं ज्ञानवादिभिः ॥२२

305) वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्—तेषां मिथ्यात्विनां ध्यानाभ्यासः केवलं प्रयासाय । कस्मात् । वस्तुतत्त्वपरिज्ञानाभावात् । च पुनः । किं ध्येयम् । भावना क्वेत्यर्थः ॥२१॥ [एकान्तवादिनां संख्याभेदानाह ।

306-7) शतमाशीतं—प्रचण्डानां क्रियावादिनां संख्या अशीत्यधिकशतमिता ज्ञेया । तद्विपक्षाणामक्रियावादिनां तु संख्या चतुरशीतिरिति प्रसिद्धा । विगतं ज्ञानं येभ्यस्ते विज्ञानिनः अज्ञानिनः । अज्ञानवादिनां संख्या सप्तषष्टिः । तथा च वैनयिकानां संख्या द्वात्रिंशत्प्रसिद्धा । एवं मिलित्वा एतेषाम् एकान्तवादिनां संख्या त्रिषष्ट्यधिकशतत्रयात्मिका भवति ॥२१*१-२॥] अथ ज्ञानवादिनमाह ।

308) ज्ञानादेवेष्टसिद्धिः—ज्ञानवादिभिर्विज्ञातं मुक्तेः बीजम् उक्तम् । अतः कारणात्

इस प्रकार वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान न होनेसे क्या ध्येय (ध्यानके योग्य वस्तु) हो सकता है और कहाँ भावना (चिन्तन, ध्यान) हो सकती है ? अर्थात् जब तक ध्यान और ध्येय आदिके स्वरूपका ज्ञान नहीं हो जाता है तब तक उस ध्यानकी सम्भावना ही नहीं रहती है । फिर भी मिथ्यादृष्टि जन जो उस ध्यानका अभ्यास करते हैं वह केवल उनके परिश्रमका ही कारण होता है—उसका फल उन्हें कुछ भी उपलब्ध नहीं होता है, केवल व्यर्थका कष्ट ही होता है ॥२१॥ कहा भी है—

प्रचण्ड क्रियाके ज्ञाता वादियोंके—क्रियावादियोंके—एक सौ अस्सी (१८०) भेद प्रसिद्ध हैं, प्रसिद्ध तेजवाले—प्रभावशाली—विपक्षभूतवादियोंके (अक्रियावादियोंके) चौरासी (८४) भेद हैं, प्रसिद्ध ज्ञानवाले ज्ञानविदोंके—अज्ञानियोंके—सड़सठ (६७) भेद हैं, तथा वैनयिक बत्तीस (३२) होते हैं । ये सब ही (१८० + ८४ + ६७ + ३२ = ३६३) प्रवादके जाननेवाले (वादी) होते हैं ॥२१*१-२॥

अभीष्टकी सिद्धि एकमात्र ज्ञानसे ही होती है । उसके अतिरिक्त अन्य सब शास्त्रका विस्तार मात्र है । इस कारण ज्ञानवादियोंने विज्ञानको मुक्तिका कारण बतलाया है ॥२२॥

१. N किं ध्यानं क्व । २. B J om. । ३. B J om. । ४. All others except P सप्तसमेता । ५. P Y इति । ६. M मुक्तिरुक्त ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

309) कैश्चिच्च कीर्तिता मुक्तिर्दर्शनादेव केवलम् ।
वादिनां खलु सर्वेषामपाकृत्य नयान्तरम् ॥२३

310) अथान्यैर्वृत्तमेवैकं मुक्त्यङ्गं परिकीर्तितम् ।
अपास्य दर्शनज्ञाने तत्कार्यविफलश्रमे ॥२४

311) [1]विज्ञानादित्रिवर्गे ऽस्मिन् द्वे द्वे इष्टे तथा परैः ।
स्वसिद्धान्तावलेपेन जन्मसंततिशातने ॥२५

312) एकैकं च त्रिभिर्नेष्टं द्वे द्वे नेष्टे[2] तथापरैः ।
त्रयं न रुचये ऽन्यस्य[3] सप्तैते दुर्दृशः स्मृताः ॥२६

ज्ञानादेव इष्टसिद्धिः स्यात्। ततो ज्ञानादन्यः शास्त्रविस्तरः इति सूत्रार्थः ॥२२॥ पुनः केषां मुक्तिमाह।

309) **कैश्चिच्च कीर्तिता**—केवलं दर्शनादेव कैश्चित् मुक्तिः कीर्तिता । च पादपूरणे। खलु निश्चयेन । सर्वेषां वादिनां नयान्तरम् । अपाकृत्य निराकृत्य इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथान्येषां चारित्रप्रधानमाह।

310) **अथान्यैर्वृत्तम्**—अथेति पक्षान्तरम्। अन्यैरेकं वृत्तमेव चारित्रम् एव मुक्त्यङ्गं परिकीर्तितम् । किं कृत्वा । दर्शनज्ञाने अपास्य दूरीकृत्य । कीदृशे दर्शनज्ञाने । तत्कार्यविफलश्रमे तयोः विफलश्रमः ययोः ते तथा ॥२४॥ अथैषां स्वरूपमाह ।

311) **विज्ञानादित्रिवर्गे**—तथा परैः अन्यवादिभिः द्वे द्वे ज्ञानदर्शनेन इष्टेन अभिलषते । क्व सति । अस्मिन् विज्ञानादित्रिवर्गे ज्ञानदर्शनचारित्रे । केन । स्वसिद्धान्तावलेपेन निजसिद्धान्ताहंकारेण । कीदृशे द्वे । जन्मसंततिशातने स्फुटने इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ वादिनां नानात्वमाह ।

312) **एकैकं च त्रिभिर्नेष्टं**—त्रिभिः एकैकं नेष्टं न प्रधानम् । च पुनः । द्वे द्वे नेष्टे । तथा परैः

किन्हीं वादियोंने अन्य सब वादियोंके मतान्तरका निराकरण करके मुक्तिका कारण केवल दर्शन (सम्यग्दर्शन) को ही बतलाया है ॥२३॥

अन्य वादियोंने उस मुक्तिरूप कार्यमें व्यर्थके परिश्रमस्वरूप सम्यग्दर्शन और ज्ञानका निराकरण करके केवल एक चारित्रको ही मुक्तिका कारण बतलाया है ॥२४॥

अन्य वादियोंको अपने मतके अभिमानमें चूर होनेसे जन्म परम्पराके विनाशस्वरूप उस मुक्तिमें उक्त विज्ञानादि तीनमेंसे दो दो—सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन-चारित्र और सम्यग्ज्ञान-चारित्र—कारण इष्ट हैं ॥२५॥

तीन मिथ्यादृष्टियोंको उक्त सम्यग्दर्शनादि तीनमेंसे एक एक इष्ट नहीं है, अन्य तीन मिथ्यादृष्टियोंको उनमेंसे दो दो इष्ट नहीं है, तथा दूसरे एक मिथ्यादृष्टिको वे तीनों ही नहीं रुचते हैं। इस प्रकार ये सात मिथ्यादृष्टि माने गये हैं ॥ विशेषार्थ—मुक्तिकी प्राप्ति सम्य-

---

१. Y Reads thus : विज्ञानादि ''' । त्रयं न रुचये'''' ॥२८॥ स्वसिद्धान्ता'''' । एकैकं च त्रिभि''''॥२९॥
२. S T F V C X R नेष्टं द्वे द्वे नष्टे । ३. N S T F V C X R रुच्यते ऽन्यस्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

313) [1]उक्तं च—

ज्ञानहीना[2] क्रिया पुंसि परं नारभते[3] फलम् ।
तरोश्छायेव किं न स्यात्[4] फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः ॥२६*१

314) ज्ञानं पङ्गौ[5] क्रिया चान्धे[6] निःश्रद्धे नार्थकृद् द्वयम् ।
ततो ज्ञानं क्रिया श्रद्धा त्रयं तत्पदकारणम् ॥२६*२

अन्यैः नाभिलषते । अन्यस्य वादिनः रुचये त्रयं ज्ञानदर्शनचारित्रं न भवति । एते सप्त दुर्दृशः मिथ्यादृष्टयः स्मृताः इति सूत्रार्थः ॥२६॥ उक्तं च । ज्ञानरहिता क्रिया फलवती नेत्याह ।

313) **ज्ञानहीना क्रिया**—ज्ञानहीना क्रिया चारित्रं परं फलं नारभते न प्रापयति नष्टदृष्टिभिः फलश्रीः किं लभ्या* । इवोत्प्रेक्षते । तरोः छाया इव । अपि तु न लभ्या इत्यर्थः ॥२६*१॥ अथ ज्ञानचारित्रयोः स्वरूपमाह ।

314) **ज्ञानं पङ्गौ**—ज्ञानं पङ्गु* । च पुनः । क्रिया अन्धा* । निःश्रद्धे सम्यग्दर्शनरहिते ज्ञानचारित्रे । अर्थकृत् शिवपददातृद्वयं ज्ञानचारित्रं न भवतीत्यर्थः । ततस्तस्मात्कारणात् । ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयं तत्पदकारणमिति सूत्रार्थः ॥२६*२॥ अथ ज्ञानचारित्रयोरन्योन्यं विना विफलत्वमाह ।

ग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी ही पूर्णतासे होती है । परन्तु कुछ (सात) मिथ्यादृष्टि ऐसे हैं जो उन तीनोंमें एक, दो अथवा तीनोंको ही मुक्तिका कारण नहीं मानते हैं । जैसे—१. सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानको ही मानता है, किन्तु सम्यक्चारित्रको नहीं मानता । २. सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रको तो मानता है, किन्तु सम्यग्ज्ञानको नहीं मानता । ३. सम्यग्ज्ञान और चारित्रको तो मानता है, किन्तु सम्यग्दर्शनको नहीं मानता । ४. केवल सम्यग्दर्शनको ही मानता है, शेष दोको नहीं मानता । ५. केवल सम्यग्ज्ञानको ही मानता है, शेष दोको नहीं मानता । ६. केवल सम्यक्चारित्रको ही मानता है, शेष दोको नहीं मानता । ७. उन तीनोंको ही मुक्तिका कारण नहीं मानता ॥२६॥ कहा भी है—

ज्ञानसे रहित क्रिया पुरुषमें उत्तम फलको नहीं प्रारम्भ करती है । ठीक है—जिनकी दृष्टि नष्ट हो गयी है—जो अन्धे हैं—उन्हें क्या वृक्षकी छायाके समान फलोंकी सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है ? उन्हें न वृक्षकी छाया प्राप्त हो सकती है और न फलसम्पत्ति भी ॥२६*१॥

लँगड़े पुरुषके ज्ञान है पर क्रिया नहीं है—वह अग्नि आदिको देखकर भी भाग नहीं सकता है; इसलिए उसका वह ज्ञान निरर्थक है । अन्धे मनुष्यमें क्रिया है—वह भाग सकता है, पर ज्ञान नहीं है; इसलिए उसकी क्रिया निरर्थक है । तथा जो श्रद्धासे रहित है उसका ज्ञान और क्रिया दोनों ही व्यर्थ हैं ॥२६*२॥

---

१. T om. three verses । २. M N S T V C X Y R ज्ञानहीने । ३. M नालभते । ४. All others except P किं लभ्या फल° । ५. M पङ्गोः, B J पङ्गु । ६. M चान्धे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

315) हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं[1] हता चाज्ञानिनः क्रिया।
धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्गुकः ॥२६*३॥ इति[2] ।
316) कारकादिक्रमो लोके[3] व्यवहारश्च जायते।
न पक्षे ऽन्विष्यमाणो[4] ऽपि सर्वथैकान्तवादिनाम् ॥२७

315) हतं ज्ञानं—क्रियाशून्यं ज्ञानं हतं नष्टम्। च पुनः। अज्ञानिनः क्रिया हता। अन्धकः धावन्नपि नष्टः। च पुनः। पश्यन् पङ्गुको नष्टः। इति सूत्रार्थः ॥२६*३॥ अथैकान्तवादिनां क्रियाभावत्वमाह।

316) कारकादिक्रमो—लोके कारकादिक्रमो क्रिया-कारकादिक्रमो जायते। च पुनः। व्यवहारो जायते। एकान्तवादिनां स व्यवहारः सर्वथा पक्षे अन्विष्यमाणो ऽपि न भवतीत्यर्थः ॥२७॥ उक्तं च। अथ क्रममाह। पृथ्वी।

जिस प्रकार क्रियासे रहित कोरा ज्ञान नष्ट होता है—व्यर्थ होता है—उसी प्रकार अज्ञानीकी क्रिया भी व्यर्थ होती है। ठीक है—ज्ञानहीन अन्धा मनुष्य मार्गका ज्ञान न होनेसे जिस प्रकार इधर-उधर भागता हुआ भी अग्निमें जलकर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार लँगड़ा मनुष्य भागनेकी क्रियासे रहित होनेके कारण अग्निको देखता हुआ भी उसमें जलकर नष्ट हो जाता है ॥२६*३॥

लोकमें सर्वथा एकान्त दृष्टि रखनेवाले वादियोंके पक्षमें—उनके मतके अनुसार—खोजा जानेवाला भी कारकोंका क्रम नहीं बनता है और न लोकव्यवहार भी उस अवस्थामें चल सकता है॥ विशेषार्थ—सर्वथा नित्यत्व आदि एकान्त पक्षको स्वीकार करनेवाले वादियोंके यहाँ—वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक, सांख्य और बौद्ध आदि मतोंमें—जो विभिन्न प्रकारके कार्योंके लिए विविध प्रकारके कर्ता आदि कारकोंकी गवेषणा की जाती है वह व्यर्थ होगी। उदाहरण स्वरूप वैशेषिक और नैयायिक द्रव्योंमें दिशा, काल, आकाश, आत्मा, मन और पृथिव्यादिके परमाणुओंको; गुणोंमें परम महत्त्वादिको तथा सामान्य, विशेष और समवाय इन पदार्थोंको भी सर्वथा नित्य मानते हैं। सो उनके मतानुसार जब ये सर्वथा ही नित्य हैं तब वें जिस स्वरूपमें कर्तादि कारकोंकी उपस्थितिके पूर्वमें थे उसी स्वरूपमें उनकी उपस्थितिके समय भी रहेंगे, क्योंकि, सर्वथा नित्य—एक ही स्वरूपमें अवस्थित—होनेसे उनमें किसी प्रकारके विकारकी सम्भावना नहीं है। अतएव उन कर्तादि कारकोंकी योजना व्यर्थ सिद्ध होती है। और यदि कर्तादि कारकोंकी उपस्थितिमें उनके स्वरूपमें कुछ परिवर्तन होता है तो फिर उनके द्वारा मानी गयी सर्वथा नित्यताके व्याघातका प्रसंग अनिवार्य होता है। इसके अतिरिक्त जब आत्मा आदि सर्वथा-नित्य हैं तो वे विकारसे रहित—अपरिणमनस्वभाव—होनेसे स्वयं कर्तादिकारकस्वरूपको नहीं प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि, क्रियाविशिष्ट द्रव्यको ही कारक कहा जाता है। सो वह क्रियाविशिष्टता सर्वथा नित्यस्वरूपसे अभिप्रेत उक्त आत्मा आदिमें सम्भव नहीं है। इस प्रकार सर्वथा नित्यत्व पक्षके ग्रहण करनेपर लोकमें जो कार्य-कारण आदिका व्यवहार देखा जाता है वह तथा

१. B क्रिया शून्या। २. P M इति। ३. M N लोकव्यवहारश्च। ४. L S °माणेऽपि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

,CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

317) तदुक्तम्[1]—

इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेषः क्रम[2]–
व्ययो ऽयमनुषङ्गजं फलमिदं दशेयं मम ।
अयं सुहृदयं द्विषत्प्रयतदेश[3]कालादिना
इति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः ॥२७*१॥ इति[4] ।

318) यस्य प्रज्ञा स्फुरत्युच्चैरनेकान्ते च्युतभ्रमा ।
ध्यानसिद्धिर्विनिश्चेया तस्य साध्वी महात्मनः ॥२८

317) इदं फलमियं—इदं फलम्, इयं क्रिया, एतत्करणम्, एषः क्रमः* । यथा पर्वोविदा [?] फलम् । द्वेधीभावः क्रिया । कुठारः करणम् । व्ययो नाशः अयम् । इदम् अनुषंगजं प्रसंगजं फलम् । इयं दशा मम । अयं सुहृत् । अयं द्विषत् वैरी । इमौ सुहृद्द्विषौ, नियतौ देशकालौ ययोस्तौ नियत-देशकालौ* । बुधः पण्डितः । इति वितर्कयन् प्रयतते यत्नं करोति । नेतरो जनः मूर्खजनः । इति सूत्रार्थः ॥२७*१॥ अथ स्याद्वादमतावलम्बिनः ध्यानसिद्धिमाह ।

318) यस्य प्रज्ञा—यस्यानेकान्तवादे स्याद्वादे उच्चैः प्रज्ञा बुद्धिः स्फुरति । कीदृशी

बन्ध-मोक्ष आदिकी व्यवस्था भी असम्भव हो जावेगी । इसी प्रकार शब्द और आत्मा आदिको सर्वथा नित्य माननेवाले मीमांसकोंके मतमें तथा पुरुषको कूटस्थ नित्य व निर्विकार माननेवाले सांख्योंके मतमें भी ये ही दोष समझने चाहिए । इसके विपरीत सब ही पदार्थोंको सर्वथा ही क्षणिक माननेवाले बौद्धोंके यहाँ भी उपर्युक्त कार्य-कारणभाव और बन्ध-मोक्ष आदिकी व्यवस्था नहीं बन सकती है । कारण इसका यह है कि कार्य-कारणभावकी व्यवस्था-के लिए स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान आदिकी आवश्यकता होती है । सो वे सर्वथा क्षणिकवादमें सम्भव नहीं हैं, क्योंकि, पूर्वमें जिसका दर्शन हो चुका है उसीके विषयमें स्मृति और प्रत्यभिज्ञान हुआ करते हैं । इसलिए जब तक विवक्षित पदार्थका कुछ काल तक अवस्थान न माना जावे तब तक वे सम्भव नहीं हैं । इसी प्रकार कुछ काल स्थायित्वके बिना बन्ध-मोक्षादिकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती है ॥२७॥ कहा भी है—

विद्वान् मनुष्य यह कार्य है, यह उसकी क्रिया है, यह करण है, यह उसकी उत्पत्तिका क्रम है, यह व्यय है—पूर्व अवस्थाका विनाश है अथवा हानि है, यह आनुषंगिक फल है, यह मेरी अवस्था है, यह मित्र है, यह शत्रु है, और ये निश्चित देश-काल हैं; इस प्रकारसे विचार करके ही किसी कार्यके लिए प्रयत्न करता है । परन्तु मूर्ख मनुष्य उस सबका विचार किये बिना ही कार्यमें प्रवृत्त हो जाता है जो अन्तमें या तो असफल होता है या फिर अनिष्ट फलका भोक्ता होता है ॥२७*१॥

जिस महापुरुषकी बुद्धि भ्रान्तिको छोड़कर अनेकान्तके विषयमें अतिशय प्रकाशमान

१. M B उक्तं च– । २. All others except P क्रमो व्ययो । ३. N द्विषन् प्रयतदेश, All others except P N द्विषन्नियत । ४. P M इति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

319) ध्यानतन्त्रे निषिध्यन्ते[1] नैते[2] मिथ्यादृशः परम् ।
मुनयो ऽपि जिनेशाज्ञाप्रत्यनीकाश्चलाशयाः ॥२९

320) योग्यता न यतित्वे ऽपि येषां ध्यातुमिह क्षणम् ।
अन्विष्य[3] लिङ्गमेतेषां सूत्रसिद्धं[4] निगद्यते ॥३०॥ तद्यथा[5]–

321) यत्कर्मणि न तद्वाचि वाचि यत्तन्न चेतसि ।
यतेर्यस्य स किं ध्यानपदवीमधिरोहति ॥३१

प्रज्ञा । च्युतभ्रमा नष्टभ्रान्तिः । तस्य महात्मनो ध्यानसिद्धिर्विनिश्चेया ज्ञातव्या । कीदृशी ध्यानसिद्धिः । साध्वी प्रधानेत्यर्थः ॥२८॥ अथ मिथ्यादृष्टीनां ध्याननिषेधमाह ।

319) ध्यानतन्त्रे—एते मिथ्यादृशः ध्यानतन्त्रे ध्यानशास्त्रे न केवलं निषेध्यन्ते* । परं केवलम् । अपि पक्षान्तरे । मुनयो जिनेशाज्ञाप्रत्यनीकाः प्रतिकूलाः निषेध्यन्ते । पुनः कीदृशाः । चलाशयाः चलचित्ताः । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथ यतीनामपि ध्यानाभावमाह ।

320) योग्यता न—इह जगति यतित्वेऽपि योग्यता तेषां न, येषां यतीनां धातुं लिङ्गचिह्नमन्विष्य विलोक्य । सूत्रसिद्धिः* सिद्धान्तप्रसिद्धिर्निगद्यते कथ्यते । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ यतेर्ध्यानाभावकारणमाह । तद्यथा ।

321) यत्कर्मणि न—यस्य यतेः कर्मणि यन्न तद्वाच्यपि न । यद्वाचि न तत् चेतस्यपि न । स यतिर्ध्यानपदवीं किमधिरोहति । अपि तु नेत्यर्थः ॥३१॥ अथ संगिनां लाघवमाह ।

होती है—जो एकान्तवादको छोड़कर दृढ़तासे अनेकान्तका आश्रय ले लेता है—उस महात्माके ही उत्कृष्ट ध्यानकी सिद्धि होती है, ऐसा निश्चय करना चाहिए ॥२८॥

ध्यानके व्यवहारमें केवल ये मिथ्यादृष्टि ही निषिद्ध नहीं हैं, किन्तु अस्थिर अभिप्रायवाले वे मुनि भी निषिद्ध हैं जो कि जिनेन्द्र-आज्ञा (जिनागम)के विपरीत आचरण करते हैं ॥२९॥

जिनके मुनि अवस्थामें भी क्षणभर भी ध्यान करनेकी योग्यता नहीं है उनके उस आगमोक्त चिह्नको खोजकर यहाँ बतलाते हैं ॥३०॥

वह इस प्रकार है—जिस मुनिके जो कुछ क्रियामें है वह वचनमें नहीं है—जो कहता कुछ है और करता कुछ अन्य ही है—तथा जो वचनमें है वह मनमें नहीं है—जो मनसे कुछ अन्य विचार करता है और वचनसे कुछ अन्य ही प्रगट करता है—वह मुनि क्या ध्यानके मार्गपर आरूढ़ हो सकता है ? नहीं हो सकता ॥३१॥

१. J निषेध्यन्ते । २. Y न ते मिथ्या । ३. M N अन्वीक्ष्य लिङ्ग । ४. M N L F V B C J Y सूत्रसिद्धिर्निगद्यते । ५. P M तद्यथा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

322) संगेनापि गुरुत्वं[1] ये मन्यन्ते स्वस्य लाघवम् ।
परेषां संगवैकल्यात्ते स्वबुद्धयैव वञ्चिताः ॥३२

323) [2]सत्संयमधुरां धृत्वा तुच्छशीलैर्मदोद्धतैः ।
त्यक्ता[3] यैः [4]प्रच्युतस्थैर्यैर्ध्यातुमीशं क्व तन्मनः ॥३३

324) कीर्तिपूजाभिमानार्तैर्लोकयात्रानुरञ्जितैः ।
बोधचक्षुर्विलुप्तं [5]यैस्तेषां ध्याने न योग्यता ॥३४

322) संगेनापि महत्त्वं—ये संगेनापि स्वस्य महत्त्वं* मन्यन्ते, परेषां लाघवं मन्यन्ते । संगवैकल्यात्, संगत्यागात् । ते स्वबुद्धयैव वञ्चिताः । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ तुच्छशीलानां संयमाक्षमत्वमाह ।

323) सत्संयमधुरां—यैः जीवैः सत्संयमधुरां भारं धृत्वा त्यक्ता । कीदृशैर्यैः । तुच्छशीलैः तुच्छाचारैः । पुनः कीदृशैः । मदोद्धतैः । पुनः कीदृशैः । च्युतस्थैर्यैः । तन्मनः तेषां मनः ध्यातुं ध्यानं कर्तुं क्वेशं क्व समर्थम् । अपि तु न क्वापीति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ पुनः केषांचित् ध्यानयोग्यताभावमाह ।

324) कीर्तिपूजा—ये बोधचक्षुर्विलुप्ताः* ज्ञानचक्षूरहिताः । पुनः कीदृशाः । कीर्तिपूजाभिमानार्ताः । सुगमम् । पुनः कीदृशाः । लोकयात्रानुरञ्जिताः । सुगमम् । तेषां ध्याने न योग्यता इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथान्तःकरणशुद्धयभावे तत्त्वज्ञानाभावमाह ।

जो साधु परिग्रहके निमित्तसे भी अपनेको महान् और उसके बिना दूसरोंको तुच्छ गिनते हैं वे अपनी ही दुर्बुद्धिसे ठगे जाते हैं। विशेषार्थ—सच्चा साधु निःस्पृह होकर आरम्भ और परिग्रहसे रहित होता है जो वस्तुतः प्रशंसनीय है। इसके विपरीत जो साधुका वेष धारण करके भी विषयोंमें अनुरक्त रहते हुए परिग्रहको धारण करते हैं वे अतिशय निकृष्ट हैं। उनकी अपेक्षा तो व्रतरहित सम्यग्दृष्टि गृहस्थ ही प्रशंसनीय होता है (र० भा० ३३)। इस प्रकार जो साधुके यथार्थ स्वरूपसे रहित होकर उसके वेषमें परिग्रहसे अनुराग ही नहीं रखते, बल्कि उसके आश्रयसे अपनेको महान् तथा उसके बिना दूसरोंको—समीचीन साधुओंको—हीन समझते हैं वे अपनी ही दुर्बुद्धिके कारण कष्टको आमन्त्रित करते हैं। ऐसे साधुओंके ध्यानकी सम्भावना नहीं है ॥३२॥

अतिशय अभिमानी व हीन स्वभाववाले जिन मनुष्योंने समीचीन संयमके भारको धारण करके भी पश्चात् अपने अस्थिर स्वभावके कारण उसे छोड़ भी दिया है उनका मन कहीं ध्यानके लिए समर्थ हो सकता है ? नहीं हो सकता है ॥३३॥

जो लोग कीर्ति, प्रतिष्ठा और अभिमानसे व्याकुल रहते हैं; लोक व्यवहारमें अनुराग रखते हैं; तथा जो ज्ञानरूप नेत्रसे रहित हैं—अज्ञानी व अविवेकी हैं; वे ध्यानके योग्य नहीं हैं ॥३४॥

१. All others except P संगेनापि महत्त्वं । २. M N सत्संगम, T स संयम । ३. N Y त्यक्त्वा यैः । ४. N यैस्तु च्युत, All others except P N यैः सा च्युत । ५. P M N J B मानार्ता''''रञ्जिता'''' विलुप्ता ये । [These readings of P are later corrections] L विलुप्ता ये ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

325) अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं मिथ्यात्वविषमुद्धतम् ।
निष्ठ्यूतं[1] यैर्न निःशेषं न तैस्तत्त्वं प्रमीयते ॥३५

326) दुःखमत्त्वादयं[2] कालः कार्यसिद्धेर्न साधकः[3] ।
इत्युक्त्वा स्वस्य चान्येषां कैश्चिद्ध्यानं निषिध्यते[4] ॥३६

327) संदिह्यते[5] मतिस्तत्त्वे यस्य कामार्थलालसा ।
[6]विप्रलब्धान्यसिद्धान्तैः स कथं ध्यातुमर्हति ॥३७

328) निसर्गचपलं चेतो नास्तिकैर्विप्रतारितम्[7] ।
स्याद्यस्य स कथं तत्त्वपरीक्षायां[8] क्षमो भवेत् ॥३८

325) अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं—यैर्जीवैर्मिथ्यात्वविषमन्तःकरणशुद्ध्यर्थं चित्तशुद्ध्यर्थं निःशेषं न निष्ठ्यूतं वमितम् । कीदृशं मिथ्यात्वं विषम् । उद्धतम् । तैस्तत्त्वं न प्रमीयते ज्ञायते इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ दुष्षमाकालस्य माहात्म्यमाह ।

326) दुःखमत्त्वादयं—केश्चित् वादिभिः स्वस्य च पुनरन्येषां ध्यानं निगद्यते* । किं कृत्वा । इत्युक्त्वा । इतीति किम् । अयं कालः कार्यसिद्धेर्ध्यानस्य न साधकः दुष्षमत्वात्* । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथान्यसिद्धान्तविप्रतारितस्य तत्त्वाभावमाह ।

327) संदिह्यते मतिस्तत्त्वे—यस्य पुरुषस्य तत्त्वे मतिः संदिह्यति* संदेहं करोति । कीदृशी मतिः । कामार्थलालसा । सुगमम् । पुनः कीदृशः । अन्यसिद्धान्तैः विप्रलुब्धो* विप्रतारितः । स मुनिर्ध्यातुं कथमर्हति । न अर्हतीति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ चेतश्चञ्चलत्वमाह ।

328) निसर्गचपलं चेतोः—यस्य मुनेः चेतो नास्तिकैर्विप्रतारितम् । कीदृशं चेतः । निसर्ग-

जिन्होंने अन्तःकरणको निर्मल करनेके लिए मिथ्यात्वरूप समस्त प्रबल विषको नहीं थूका है—नहीं नष्ट किया है—वे यथार्थ वस्तुस्वरूपको प्रमाण नहीं मानते हैं—उसे वे अयथार्थ स्वरूपमें ही ग्रहण करते हैं ॥३५॥

यह (पंचम) काल ध्यानके लिए अतिशय विषम होनेसे कार्यसिद्धिको—ध्यानके फलको—सिद्ध करनेवाला नहीं है, ऐसा कहकर कितने ही मनुष्य अपने आपको तथा अन्य जनोंके लिए भी उस ध्यानका निषेध किया करते हैं ॥३६॥

जिसकी बुद्धि तत्त्वके विषयमें सन्देहको प्राप्त है—जिसे वस्तुस्वरूपका निश्चय नहीं है, जिसे काम (विषयभोग) और धनकी अभिलाषा है, तथा जिसकी बुद्धि अन्य सिद्धान्तोंके आश्रयसे ठगी गयी है वह ध्यान करनेके लिए भला कैसे योग्य हो सकता है ? नहीं हो सकता है ॥३७॥

चित्त स्वभावसे ही चंचल है। फिर जिसके उस चंचल चित्तको नास्तिकोंने—ठग

१. M N निर्धूतं यैर्न '' प्रतीयते । २. All others except P B J दुःषमत्वात् । ३. S V B C J X Y साधकं । ४. B J ध्यानं निगद्यते । ५. F संदह्यते । ६. J विप्रलुब्धो । ७. M N नास्तिकैर्वा प्रता° । ८. All others except P ध्यानपरीक्षायां ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

329) कान्दर्पीप्रमुखाः[1] पञ्च भावना रागरञ्जिताः ।
येषां हृदि पदं चक्रुः क्व तेषां वस्तुनिश्चयः ॥३९

330) [[2]कान्दर्पी कैल्बिषी चैव भावना चाभियोगिकी[3] ।
दानवी चापि संमोही त्याज्या पञ्चतयी[4] च सा ॥३९*१]

चपलं स्वभावचञ्चलं यदि स्यात् स *ध्यानपरीक्षायां क्षमः समर्थः कथं भवेत् इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ कान्दर्पीप्रमुखभावनायुक्तस्य ध्यानाभावमाह ।

329) कान्दर्पीप्रमुखाः—कान्दर्पी-किल्बिषी-आसुरी-संमोही-आभियोगिकीप्रमुखाः पञ्चभावना येषां हृदि पदं स्थानं चक्रुः, तेषां वस्तुनिश्चयः आत्मनिश्चयः क्व । न क्वापीति भावार्थः ॥३९॥ अथ पञ्चभावनामाह ।

330) कान्दर्पी कैल्बिषी—कान्दर्पी, कैल्बिषी, आभियोगिकी, दानवी, संमोही एवं पञ्चप्रकारा भावनाः वस्तुज्ञातृभिस्त्याज्याः ॥३९*१॥ अथ कुत्सितचारित्रस्य त्रपाकरत्वमाह ।

लिया है मिथ्यादृष्टियोंने मोहित करके उसे सन्मार्गसे विमुख कर दिया है—वह ध्यानकी परीक्षामें कैसे समर्थ हो सकता है ? नहीं हो सकता है ॥३८॥

जिनके हृदयमें रागसे रंगी हुई कान्दर्पी आदि पाँच भावनाओंने स्थान बना रखा है उनके तत्त्वका निश्चय कहाँसे हो सकता है ? नहीं हो सकता है ॥३९॥

कान्दर्पी, कैल्बिषी, आभियोगिकी, दानवी और पाँचवीं सम्मोही भावना; ये पाँचों ही भावनाएँ छोड़नेके योग्य हैं । विशेषार्थ—कान्दर्पी आदि नामोंके अनुसार इन भावनाओंका स्वरूप निम्न प्रकार प्रतीत होता है—१. कन्दर्प नाम कामवासनाका है । उस कामके वशीभूत होकर असत्यके आश्रयसे हँसी-मजाक करना, इसका नाम कान्दर्पी भावना है । इस भावनाके वशीभूत हुआ प्राणी कन्दर्प जातिके देवोंमें जन्म ग्रहण करता है । २. किल्बिषका अर्थ पाप होता है । तीर्थंकर व संघकी महिमा तथा आगम ग्रन्थोंके प्रतिकूल रहकर उनका अनादर करना, यह कैल्बिषी भावना है । इसमें रत हुआ प्राणी किल्बिषिक जातिके देवोंमें उत्पन्न होता है । ३. भूतिकर्म (शरीरमें भस्मका लेपन) और मन्त्रादिमें आसक्त रहना, दूसरोंसे बलपूर्वक काम कराना तथा अन्यजनोंका परिहास करना; इसका नाम आभियोगिकी भावना है । इसके वशीभूत हुआ प्राणी आभियोग्य जातिके देवोंमें उत्पन्न होता है । ४. क्रोधादि कषायोंमें आसक्त रहकर क्रूरतापूर्ण आचरण करना तथा हृदयमें वैरभाव रखना, यह दानवी, (आसुरी) भावना कही जाती है । इस भावनामें रत रहनेवाला प्राणी असुर जातिके देवोंमें उत्पन्न होता है । ५. मूढताके वश कुमार्गका उपदेश करना तथा समीचीन मार्गके विषयमें विवाद करना, इसका नाम सम्मोही भावना है । इसके वशीभूत हुआ प्राणी सम्मोह जातिके देवोंमें उत्पन्न होता है । इसीलिए यहाँ इन उपर्युक्त पाँचों निकृष्ट भावनाओंके परित्यागकी प्रेरणा की गयी है ॥३९*१॥

१. F C कान्दर्पाप्रमुखाः, V कन्दर्पप्रमुखाः । २. P M N omit । ३. F कान्दर्पा योगिनी, S कान्दर्पी योगिकी, L योगिनी; J किल्बीषी चैव । ४. B संमोहा····पंचमो च सा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

331) मार्जाररसितप्रायं येषां वृत्तं त्रपाकरम् ।
तेषां स्वप्ने ऽपि सद्ध्यानसिद्धिर्[1]नैवोपजायते ॥४०

332) अनिरुद्धाक्षसंताना अजितोग्रपरीषहाः ।
अत्यक्तचित्तचापल्याः प्रस्खलन्त्यात्मनिश्चये[2] ॥४१

333) अनासादितनिर्वेदा अविद्याव्याधवञ्चिताः ।
असंवर्धितसंवेगा न विदन्ति परं पदम् ॥४२

331) **मार्जाररसितप्रायं**—येषां वृत्तं चारित्रं मार्जाररसितप्रायं मार्जारशब्दसदृशं निःष्पन्नं त्रपाकरं लज्जाकरमिति भावः। तेषां स्वप्ने ऽपि सद्ध्यानसिद्धिर्नैवोपजायते इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथाजितेन्द्रियाणामात्मनिश्चयाभावमाह।

332) **अनिरुद्धाक्ष**—एतादृशा मनुष्या आत्मनिश्चये आत्मज्ञाने प्रस्खलन्ति पतन्ति। कीदृशाः। अनिरुद्धाक्षसंतानाः। न निरुद्धमक्षसंतानमिन्द्रियसमूहो यैस्ते तथा। पुनः कीदृशाः अजितोग्रपरीषहाः। न जिता उग्रपरीषहा यैस्ते तथा। पुनः कीदृशाः। अत्यक्तचित्तचापल्याः, न त्यक्तं चित्तचापल्यं यैस्ते तथेति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथ केषांचित् परमपदाप्राप्तिमाह।

333) **अनासादितनिर्वेदा**—एवंभूताः मनुष्याः परं पदं मोक्षं न विदन्ति न जानन्ति। कीदृशाः। अनासादितनिर्वेदाः अप्राप्तवैराग्याः। पुनः कीदृशाः। अविद्याव्याधवञ्चिताः अज्ञानश्वपाक-

जिनका आचरण बिल्लीके कथनके समान लज्जाजनक है उनके समीचीन ध्यानकी सिद्धि स्वप्नमें भी नहीं हो सकती है ॥ विशेषार्थ—बिल्लीके विषयमें यह किंवदन्ती लोकमें प्रसिद्ध है कि एक बिल्लीको जब चूहे खानेके लिए दुर्लभ हो गये तब उसने यह प्रचार प्रारम्भ किया कि मैंने अनेक तीर्थोंकी यात्रा करके यह नियम किया है कि अबसे मैं किसी भी चूहेका भक्षण नहीं करूँगी। बिल्लीके इस कपटपूर्ण प्रचारसे प्रभावित होकर चूहे निःशंक होकर उसके पास आने लगे और वह उन्हें खाने लगी। इससे तात्पर्य यह हुआ जिन्होंने केवल दूसरोंको ठगनेके लिए ही सदाचारिताका ढोंग धारण किया है उन अधम मनुष्योंका समीचीन ध्यान कभी भी नहीं हो सकता है ॥४०॥

जिन्होंने विषयोंकी ओरसे अपनी इन्द्रियोंको नहीं रोका है, परीषहोंपर विजय प्राप्त नहीं की है, तथा चित्तकी अस्थिरताको भी नहीं रोका है वे आत्माके निश्चयमें स्खलित (च्युत) होते हैं—उन्हें कभी आत्मस्वरूपका निश्चय नहीं हो सकता है और इसीलिए वे ध्यानके पात्र नहीं हैं ॥४१॥

जिन्होंने कभी निर्वेदको प्राप्त नहीं किया है—जो संसार, शरीर और भोगोंकी ओरसे विरक्त नहीं हुए हैं, जो अविवेकरूप व्याधसे ठगे गये हैं—अविवेकके कारण समीचीन मार्गके

१. M सद्धयानं सिद्धिः। २. B °न्त्यात्मसिद्धये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

329) कान्दर्पीप्रमुखाः[1] पञ्च भावना रागरञ्जिताः ।
येषां हृदि पदं चक्रुः क्व तेषां वस्तुनिश्चयः ॥३९

330) [[2]कान्दर्पी कैल्बिषी चैव भावना चाभियोगिकी[3] ।
दानवी चापि संमोही त्याज्या पञ्चतयी[4] च सा ॥३९*१]

चपलं स्वभावचञ्चलं यदि स्यात् स ध्यानपरीक्षायां क्षमः समर्थः कथं भवेत् इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ कान्दर्पीप्रमुखभावनायुक्तस्य ध्यानाभावमाह ।

329) **कान्दर्पीप्रमुखाः**—कान्दर्पी-किल्बिषी-आसुरी-संमोही-आभियोगिकीप्रमुखाः पञ्चभावना येषां हृदि पदं स्थानं चक्रुः, तेषां वस्तुनिश्चयः आत्मनिश्चयः क्व । न क्वापीति भावार्थः ॥३९॥ अथ पञ्चभावनामाह ।

330) **कान्दर्पी कैल्बिषी**—कान्दर्पी, कैल्बिषी, आभियोगिकी, दानवी, संमोही एवं पञ्चप्रकारा भावनाः वस्तुज्ञातृभिस्त्याज्याः ॥३९*१॥ अथ कुत्सितचारित्रस्य त्रपाकरत्वमाह ।

लिया है मिथ्यादृष्टियोंने मोहित करके उसे सन्मार्गसे विमुख कर दिया है—वह ध्यानकी परीक्षामें कैसे समर्थ हो सकता है ? नहीं हो सकता है ॥३८॥

जिनके हृदयमें रागसे रंगी हुई कान्दर्पी आदि पाँच भावनाओंने स्थान बना रखा है उनके तत्त्वका निश्चय कहाँसे हो सकता है ? नहीं हो सकता है ॥३९॥

कान्दर्पी, कैल्बिषी, आभियोगिकी, दानवी और पाँचवीं सम्मोही भावना; ये पाँचों ही भावनाएँ छोड़नेके योग्य हैं । विशेषार्थ—कान्दर्पी आदि नामोंके अनुसार इन भावनाओंका स्वरूप निम्न प्रकार प्रतीत होता है—१. कन्दर्प नाम कामवासनाका है । उस कामके वशीभूत होकर असत्यके आश्रयसे हँसी-मजाक करना, इसका नाम कान्दर्पी भावना है । इस भावनाके वशीभूत हुआ प्राणी कन्दर्प जातिके देवोंमें जन्म ग्रहण करता है । २. किल्बिषका अर्थ पाप होता है । तीर्थंकर व संघकी महिमा तथा आगम ग्रन्थोंके प्रतिकूल रहकर उनका अनादर करना, यह कैल्बिषी भावना है । इसमें रत हुआ प्राणी किल्बिषिक जातिके देवोंमें उत्पन्न होता है । ३. भूतिकर्म (शरीरमें भस्मका लेपन) और मन्त्रादिमें आसक्त रहना, दूसरोंसे बलपूर्वक काम कराना तथा अन्यजनोंका परिहास करना; इसका नाम आभियोगिकी भावना है । इसके वशीभूत हुआ प्राणी आभियोग्य जातिके देवोंमें उत्पन्न होता है । ४. क्रोधादि कषायोंमें आसक्त रहकर क्रूरतापूर्ण आचरण करना तथा हृदयमें वैरभाव रखना, यह दानवी, (आसुरी) भावना कही जाती है । इस भावनामें रत रहनेवाला प्राणी असुर जातिके देवोंमें उत्पन्न होता है । ५. मूढताके वश कुमार्गका उपदेश करना तथा समीचीन मार्गके विषयमें विवाद करना, इसका नाम सम्मोही भावना है । इसके वशीभूत हुआ प्राणी सम्मोह जातिके देवोंमें उत्पन्न होता है । इसीलिए यहाँ इन उपर्युक्त पाँचों निकृष्ट भावनाओंके परित्यागकी प्रेरणा की गयी है ॥३९*१॥

१. F C कान्दर्पाप्रमुखाः, V कन्दर्पप्रमुखाः । २. P M N omit । ३. F कान्दर्पा योगिनी, S कान्दर्पी योगिकी, L योगिनी; J किल्बीषी चैव । ४. B संमोहा‥‥पंचमी च सा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

331) मार्जाररसितप्रायं येषां वृत्तं त्रपाकरम् ।
तेषां स्वप्ने ऽपि सद्ध्यानसिद्धिर्नैवोपजायते[1] ॥४०

332) अनिरुद्धाक्षसंताना अजितोग्रपरीषहाः ।
अत्यक्तचित्तचापल्याः प्रस्खलन्त्यात्मनिश्चये[2] ॥४१

333) अनासादितनिर्वेदा अविद्याव्याधवञ्चिताः ।
असंवर्धितसंवेगा न विदन्ति परं पदम् ॥४२

331) **मार्जाररसितप्रायं**—येषां वृत्तं चारित्रं मार्जाररसितप्रायं मार्जारशब्दसदृशं निःष्पन्नं त्रपाकरं लज्जाकरमिति भावः। तेषां स्वप्ने ऽपि सद्ध्यानसिद्धिर्नैवोपजायते इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथाजितेन्द्रियाणामात्मनिश्चयाभावमाह ।

332) **अनिरुद्धाक्ष**—एतादृशा मनुष्या आत्मनिश्चये आत्मज्ञाने प्रस्खलन्ति पतन्ति। कीदृशाः। अनिरुद्धाक्षसंतानाः। न निरुद्धमक्षसंतानमिन्द्रियसमूहो यैस्ते तथा। पुनः कीदृशाः अजितोग्रपरीषहाः। न जिता उग्रपरीषहा यैस्ते तथा। पुनः कीदृशाः। अत्यक्तचित्तचापल्याः, न त्यक्तं चित्तचापल्यं यैस्ते तथेति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथ केषांचित् परमपदाप्राप्तिमाह ।

333) **अनासादितनिर्वेदा**—एवंभूताः मनुष्याः परं पदं मोक्षं न विदन्ति न जानन्ति। कीदृशाः। अनासादितनिर्वेदाः अप्राप्तवैराग्याः। पुनः कीदृशाः। अविद्याव्याधवञ्चिताः अज्ञानश्वपाक-

जिनका आचरण बिल्लीके कथनके समान लज्जाजनक है उनके समीचीन ध्यानकी सिद्धि स्वप्नमें भी नहीं हो सकती है ॥ विशेषार्थ—बिल्लीके विषयमें यह किंवदन्ती लोकमें प्रसिद्ध है कि एक बिल्लीको जब चूहे खानेके लिए दुर्लभ हो गये तब उसने यह प्रचार प्रारम्भ किया कि मैंने अनेक तीर्थोंकी यात्रा करके यह नियम किया है कि अबसे मैं किसी भी चूहेका भक्षण नहीं करूँगी। बिल्लीके इस कपटपूर्ण प्रचारसे प्रभावित होकर चूहे निःशंक होकर उसके पास आने लगे और वह उन्हें खाने लगी। इससे तात्पर्य यह हुआ जिन्होंने केवल दूसरोंको ठगनेके लिए ही सदाचारिताका ढोंग धारण किया है उन अधम मनुष्योंका समीचीन ध्यान कभी भी नहीं हो सकता है ॥४०॥

जिन्होंने विषयोंकी ओरसे अपनी इन्द्रियोंको नहीं रोका है, परीषहोंपर विजय प्राप्त नहीं की है, तथा चित्तकी अस्थिरताको भी नहीं रोका है वे आत्माके निश्चयमें स्खलित (च्युत) होते हैं—उन्हें कभी आत्मस्वरूपका निश्चय नहीं हो सकता है और इसीलिए वे ध्यानके पात्र नहीं हैं ॥४१॥

जिन्होंने कभी निर्वेदको प्राप्त नहीं किया है—जो संसार, शरीर और भोगोंकी ओरसे विरक्त नहीं हुए हैं, जो अविवेकरूप व्याधसे ठगे गये हैं—अविवेकके कारण समीचीन मार्गके

१. M सद्ध्यानं सिद्धिः। २. B °न्त्यात्मसिद्धये ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

334) न चेतः करुणाक्रान्तं न च विज्ञानवासितम् ।
विरतं च न भोगेभ्यो यस्य ध्यातुं न स क्षमः ॥४३[१]

335) लोकानुरञ्जकैः पापैः कर्मभिर्गौरवं श्रिताः ।
अरञ्जितनिजस्वान्ता अक्षार्थगहने रताः ॥४४

336) अनुद्धृतमनःशल्या अकृताध्यात्मनिश्चयाः ।
अभिन्नभावदुर्लेश्या निषिद्धा ध्यानसाधने[२] ॥४५[३]

वञ्चिताः । पुनः कीदृशाः । असंवर्धितसंवेगाः, न वर्धितः संवेग इन्द्रियविषया प्रवृत्तिः इति सूत्रार्थः ॥४२॥ अथ कस्यचित् ध्यानाक्षमत्वमाह ।

334) न चेतः करुणा—यस्य चेतः करुणाक्रान्तं दयायुक्तं न । च पुनः यस्य चेतः विज्ञानवासितं न । च पुनः भोगेभ्यो न विरतं न विरक्तं, स ध्यातुं न क्षमः न समर्थः, इति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथैतदेवाह ।

335) लोकानुरञ्जकैः पापैः—एतादृशाः मनुष्याः अक्षार्थगहने इन्द्रियार्थगहने रताः । पुनः कीदृशाः । पापैः कर्मभिर्गौरवमाश्रिताः । कीदृशैः कर्मभिः । लोकानुरञ्जकैरिति । पुनः कीदृशाः । अरञ्जितनिजस्वान्ताः अरञ्जितस्वचित्ताः । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ ध्यानसाधनं केषांचिच्चाह ।

336) अनुद्धृतमनःशल्याः—एतादृशाः मनुष्याः ध्यानसाधने निषिद्धाः । कीदृशाः । अनुद्धृत्यमनःशल्याः अनुत्पाटितमनःशल्याः । पुनः कीदृशाः । अकृताध्यात्मनिश्चयाः । अभिन्नभावदुर्लेश्याः पृथग्भावदुर्लेश्याः । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

प्रतिकूल हैं, तथा जिनका संवेग—धर्मानुराग—वृद्धिको प्राप्त नहीं हुआ है वे उत्कृष्ट पदको—मोक्षको—नहीं जानते हैं ॥४२॥

जिसका अन्तःकरण दयासे व्याप्त, विज्ञानसे संस्कृत और भोगोंकी ओरसे विरक्त नहीं हुआ है वह ध्यानको करनेके लिए समर्थ नहीं है ॥४३॥

जो लोगोंको अनुरंजित करनेवाली पापक्रियाओंसे—मन्त्र-तन्त्रादिके प्रयोगसे—अपनेको महान् समझते हैं, जिनका अन्तःकरण निजमें—अध्यात्ममें—अनुरक्त नहीं हुआ है, जो इन्द्रियोंके विषयरूप वनमें विचरण करते हैं, जिन्होंने मनके भीतरसे शल्यको—माया व्यवहार, मिथ्यात्व एवं भोगाकांक्षाको—दूर नहीं किया है, जिन्होंने आत्माके स्वरूपका निश्चय नहीं किया है तथा जिन्होंने दुष्ट भावलेश्याको—अशुभलेश्याको—नष्ट नहीं किया है; वे ध्यानकी सिद्धिमें निषिद्ध हैं—वे ध्यानके अधिकारी नहीं हैं ॥४४-४५॥

---

१. X after this Vere युग्मम् । २. B J ध्यानगोचरे । ३. X afler this Vere युग्मम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

337) नर्मकौतुककौटिल्यपापसूत्रोपदेशकाः[1] ।
अज्ञानश्वित्रशीर्णाङ्गा[2] मोहनिद्रास्तचेतनाः ॥४६

338) अनुद्युक्तास्तपः कर्तुं विषयग्रासलालसाः ।
ससंगाः[3] शङ्किता भीता मन्ये ऽमी दैववञ्चिताः ॥४७

339) एते तृणीकृतस्वार्था मुक्तिश्रीसंगनिःस्पृहाः ।
प्रभवन्ति न सद्ध्यानमन्वेषितुमपि क्षणम् ॥४८

340) पापाभिचारकर्माणि सातर्द्धिरसलम्पटैः ।
यैः क्रियन्ते ऽधमैर्मोहाद्धा[4] हतं तैः स्वजीवितम् ॥४९ तथा[5] च-

337-38) **नर्मकौतुक**—अहम् एवं मन्ये । अमी मोहनिद्रास्तचेतनाः पुरुषाः तपः कर्तुमनुद्युक्ताः उद्यमरहिताः । पुनः कीदृशाः । नर्मकौतुककौटिल्यपापसूत्रोपदेशकाः हास्यकूटकौटिल्यपापशास्त्रोपदेशकाः । पुनः कीदृशाः । *अज्ञानज्वरशीर्णाङ्गाः । पुनः कीदृशाः । विषयग्रासलालसाः विषयभक्षणतत्पराः । पुनः कीदृशाः । ससङ्गाः सपरिग्रहाः । पुनः कीदृशाः । शङ्किताः भीताः दैववञ्चिताः । इति सूत्रद्वयार्थः ॥४६-४७॥ अथ मुनीनां स्वरूपमाह ।

339) **एते तृणीकृत**—एते मुनयः सद्ध्यानमन्वेषितुं विलोकयितुं क्षणमपि न प्रभवन्ति । कीदृशाः । तृणीकृतस्वार्थाः । पुनः कीदृशाः । मुक्तिश्रीसङ्गनिःस्पृहाः । सुगमम् ।इति सूत्रार्थः ॥४८॥ मोहात् पापैः स्वजीवितं हन्यते तानाह ।

340) **पापाभिचार**—हा इति खेदे । तैः स्वजीवितं हतम् । कस्मात् । मोहात् । तैः कैः । यैः पापाभिचारकर्माणि क्रियन्ते । कीदृशैः । सातर्द्धिरसलम्पटैः सातादिरसलम्पटैः इति सूत्रार्थः ॥४९॥ तथा च ।

जो क्रीड़ा, कौतूहल, कुटिलता और पापाचरणमें प्रवृत्त करनेवाले आगम (कुश्रुत) का उपदेश देते हैं; जिनका शरीर अज्ञानरूप कोढ़से गल रहा है; जिनकी चेतना (विवेक) को मोहरूप नींदने नष्ट कर डाला है, जो तपके करनेका कभी उद्यम नहीं करते हैं, जिनकी इच्छा विषयोंसे ग्रस्त है—जो विषयानुरागी, परिग्रहसे सहित हैं, तत्त्वके विषयमें सन्देहको प्राप्त हैं, तथा भयभीत हैं; उन्हें मैं ऐसा समझता हूँ कि वे दैवसे ठगे गये हैं—पापसे पीड़ित हैं। इसी कारण वे अपने स्वार्थको—आत्महितको—तृणके समान तुच्छ समझकर कभी मुक्तिरूप लक्ष्मीके सम्भोगकी इच्छा नहीं करते हैं। ऐसे मनुष्य क्षणभरके लिए उस समीचीन ध्यानके खोजनेके लिए भी समर्थ नहीं होते हैं ॥४६-४८॥

जो अधम मनुष्य मोहवश सात, रस और ऋद्धिरूप तीन गारवोंमें लम्पट होकर पापाचरणको करते हैं, खेद है कि उन्होंने अपने जीवनको नष्ट कर दिया है—उन्होंने अपने आपको भयानक कष्टमें डाल दिया है ॥४९॥

१. M N T कौटिल्याः पाप । २. All others except P अज्ञानश्वित्रसर्वा°, P श्वित्र = कुष्ट । ३. J सत्संगाः । ४. N मोहादाहतं । ५. P M L B X तथा च, F तद्यथा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

341) वश्याकर्षणविद्वेषं मारणोच्चाटनं तथा ।
जलानलविषस्तम्भो रसकर्म रसायनम् ॥५०

342) पुरक्षोभेन्द्रजालं च बलस्तम्भो[1] जयाजयौ ।
विद्याच्छेदस्तथा वेधं[2] ज्योतिर्ज्ञानं चिकित्सितम् ॥५१

343) यक्षिणीमन्त्र[3]पातालसिद्धयः कालवञ्चना ।
पादुकाञ्जननिस्त्रिंशभूतभोगीन्द्रसाधनम् ॥५२

344) इत्यादिविक्रियाकर्मरञ्जितैर्दुष्टचेष्टितैः ।
आत्मानमपि[4] न ज्ञातं[5] नष्टं लोकद्वयच्युतैः[6] ॥५३

341) वश्याकर्षणविद्वेषं—दुष्टचेष्टितैः दुष्कर्मकर्तृभिरात्मानमपि न ज्ञातम् । कीदृशम् । नष्टम् । कीदृशैस्तैः । लोकद्वयच्युतैः । पुनः कीदृशैः । इत्यादिविक्रियाकर्मरञ्जितैः । इतीति किम् । वश्यं मन्त्रादिना स्त्रीपुरुषयोर्वशीकरणम् आकर्षणं दूरस्थस्य मन्त्रादिना । विद्वेषं परस्परं विद्वेषः । मारणं दुष्टमन्त्रादिना । उच्चाटनं शिरसि स्मशानोत्क्षेपादि । जलानलविषाणां स्तम्भः । रसकर्म पारदादिक्रिया । रसायनं रूप्यसिद्धयादि । इति श्लोकार्थः ॥५०॥

342) पुरक्षोभेन्द्र—पुरक्षोभेन्द्रजालं च, पुरक्षोभः नगरक्षोभः, इन्द्रजालं इन्द्रजालविद्या । च पुनः । बलस्तम्भः कटकादिस्तम्भः । जयाजयौ जयपराजयौ । विद्याच्छेदः परविद्योच्छेदः । वेधः* ग्रहादिविषयः । ज्योतिर्ज्ञानं व्यवहारलग्नादिकम् । रत्नमालाभवनदीपादिचिकित्सितं भिषग्विद्यानिदानचिकित्सादिशास्त्रमिति सूत्रार्थः ॥५१॥

343) यक्षिणी—यक्षिणीमन्त्रपातालसिद्धयः निधिदर्शनाञ्जनादयः । कालवञ्चना वायुधारणा । पादुकां परिधायाकाशोत्क्षेपादि । अञ्जनं गुप्ताञ्जनम् । निस्त्रिंशभूतभोगीन्द्रसाधनं, खड्गसाधनं, भूतसाधनं क्षेत्रपालाद्याराधनम् । भोगीन्द्रसाधनं धरणेन्द्रपद्मावत्याराधनम् । इति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥५२॥ [एतासां दुष्टक्रियाणां फलमाह ।

344) इत्यादिविक्रिया—एतासु दुष्टक्रियासु अनुरक्ता जनाः इहपरलोकसुखात् च्युताः भवन्ति । आत्मानं आत्मस्वरूपं ज्ञातुमपि ते न प्रभवन्तीत्यर्थः ॥५३॥] अथ यतित्वे जीवनोपायाभावमाह ।

इसके अतिरिक्त—जो लोग वशीकरण, आकर्षण, विद्वेष, मारण, उच्चाटन—मन्त्रके प्रभावसे किसी वस्तुको अपने स्थानसे उड़ा देना, जल, अग्नि एवं विषको रोकना; रसकर्म—सुवर्णादि बनानेकी क्रिया, रसायन—आयुर्वेदमें निर्दिष्ट कुटीप्रावेशिक और वातातपिकरूप रसायनोंका प्रयोग, नगरको क्षोभित करनेवाला इन्द्रजाल (मायाकर्म), सेनाको कीलित करना, जीत-हार, विद्याको नष्ट करना, विद्ध करना, ज्योतिषका जानना, चिकित्साका परिज्ञान; यक्षिणी, मन्त्र व पातालकी सिद्धि; मृत्युको रोकना; पादुकासाधन—खड़ाउओंको पहनकर

१. B J बलस्तम्भौ । २. B J तथा बन्धज्योतिः । ३. M N यक्षिणीविलपाताल । ४. M N आत्मा शुद्धो ऽपि न ज्ञातो नष्टो । ५. L S T F V C Y R न ज्ञातुं । ६. P द्वयाच्युतैः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

345) यतित्वं[1] जीवनोपायं कुर्वन्तः किं न लज्जिताः ।
मातुः पणमिवा[2]लम्ब्य[3] यथा केचिद्गतघृणाः[4] ॥५४

346) निस्त्रपाः कर्म कुर्वन्ति यतित्वे ऽप्यतिनिन्दितम् ।
ततो विराध्य सन्मार्गं विशन्ति नरकोदरे ॥५५

347) अविद्याश्रयणं युक्तं प्राग्गृहावस्थितैर्वरम् ।
मुक्त्यङ्गं लिङ्गमादाय न श्लाघ्यं लोकदम्भनम्[5] ॥५६

345) यतित्वं जीवनोपायं—केचित् यतित्वमवलम्ब्य जीवनोपायं कुर्वन्तः किं न लज्जिताः । मातुः पणं मातुः शपथम् अवलम्ब्य किं यथा लज्जन्ते । कीदृशाः केचित् । गतघृणाः निर्दयाः । इति सूत्रार्थः ॥५४॥ अथ सन्मार्गच्युतानां नरकफलमाह ।

346) निस्त्रपाः कर्म—केचित् निस्त्रपाः निर्लज्जाः यतित्वे ऽपि अतिनिन्दितं कर्म कुर्वन्ति । ततस्तस्मात् । सन्मार्गं विराध्य नरकोदरे विशन्ति प्रविशन्तीत्यर्थः ॥५५॥ अथ मुक्तेः लिङ्गमाह ।

347) अविद्याश्रयणं—प्राक् पूर्वं गृहावस्थितैर्गृहस्थैरविद्याश्रयणं युक्तम् । मुक्त्यङ्गं लिङ्गचिह्नमादाय लोकदम्भनं लोकविप्रतारणं न श्लाघ्यं न शस्यम् ॥५६॥ अथ बुधानामशुभकर्मणो हेयत्वमाह ।

जलके ऊपरसे तथा आकाशमें गमन करना, अंजनसाधन—भूमिके भीतर स्थित धातु आदिको देख सकना, निस्त्रिंशसाधन—अग्नि व जलमय अस्त्र-शस्त्रादिको सिद्ध करना, भूत (व्यन्तर) साधन तथा सर्पसाधन—सर्पको वशमें करना, इनको आदि लेकर विविध प्रकारकी क्रियाओंमें अनुरक्त होकर दुराचरणमें प्रवृत्त हो रहे हैं वे आत्मस्वरूपके जाननेमें असमर्थ होकर दोनों लोकोंसे भ्रष्ट होते हैं ॥५०-५३॥

जिस प्रकार कितने ही निर्दय (या निर्लज्ज) मनुष्य माताके मूल्यका आलम्बन लेकर—उसे वेश्या बनाकर—आजीविकाको सिद्ध करते हैं और इसके लिए लज्जित नहीं होते हैं उसी प्रकार कितने ही निर्दय—अपने आपपर भी दया न करनेवाले मनुष्य मुनिलिंगको आजीविकाका साधन बनाकर लज्जित क्यों नहीं होते हैं ? अर्थात् उन्हें इसके लिए अवश्य लज्जित होना चाहिए । कारण यह कि जो लोग मुनिलिंगको धारण करके भी निर्लज्ज होते हुए अतिशय निन्दित कार्य करते हैं वे इस प्रकारसे समीचीन मार्ग (मोक्षमार्ग) की विराधना करके नरकके मध्यमें प्रविष्ट होते हैं ॥५४-५५॥

मुनिलिंग धारण करनेके पूर्व जिस प्रकार गृहमें अवस्थित थे उसी प्रकारसे घरमें रहकर ही अज्ञानताका आश्रय लेना—निन्द्य कार्य करना—कदाचित् योग्य कहा जा सकता था, परन्तु मुक्तिके कारणभूत लिंगको—मुनि अवस्थाको—ग्रहण करके लोगोंको ठगना अर्थात् उस मुनिलिंगके विरुद्ध आचरण करना, कभी भी प्रशंसनीय नहीं हो सकता है ॥५६॥

१. B यतित्वे जीव° । २. V B C X Y R मातुः पण्यमिव । ३. T °मिवालम्बं । ४. N यथा केचन निर्घृणाः । ५. M लोकडम्बनं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

348) मनुष्यत्वं समासाद्य यतित्वं च जगन्नतम्[1] ।
हेयमेवाशुभं कर्म[2] विवेच्य[3] नियतं[4] बुधैः ॥५७

349) अहो विभ्रान्तचित्तानां पश्य पुंसां विचेष्टितम् ।
यत्प्रपञ्चैर्यतित्वे ऽपि नीयते जन्म निष्फलम् ॥५८

350) उक्तं च—
भुक्ताः[5] श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
संतर्पिताः प्रणयिनस्तु[6] धनैस्ततः किम् ।
न्यस्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किं
कल्पं स्थितं[7] तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥५८*१

348) **मनुष्यत्वं समासाद्य**—बुधैरशुभं कर्म हेयमेव । किं कृत्वा । *स्वहितं आत्महितं विवेच्य विचार्य । च पक्षान्तरे । मनुष्यत्वं समासाद्य यतित्वं च समासाद्य । कीदृशम् । *जगन्नुतमिति सूत्रार्थः ॥५७॥ अथ यतित्वे ऽपि जन्म निष्फलमाह ।

349) **अहो विभ्रान्तचित्तानां**—अहो इत्याश्चर्ये । रे जीव, त्वं पश्य पुंसां विचेष्टितम् । कीदृशां पुंसाम् । विभ्रान्तचित्तानाम् । यत्प्रपञ्चैः पाषण्डैर्यतित्वे ऽपि जन्म निष्फलं भवतीत्यर्थः ॥५८॥ उक्तं च । अथ संसारसकलसुखानामसारतामाह । वसन्ततिलका छन्दः ।

350) **भुक्ताः श्रियः**—भो भव्याः, सकलकामदुघाः सर्ववाञ्छितदायकाः श्रियः भुक्ताः, तत् किं जातम् । न किमपि । तु धनैः प्रणयिनः सुजनाः संतर्पिताः प्रीणिताः । ततः किं जातम् । न किमपीत्यर्थः । विद्विषतां वैरिणां शिरसि यदि पदं न्यस्तं स्थापितं, ततः किं जातम् । कल्पं यावत् स्थितं, ततः किम् । कैः । तनुभृतां शरीरिणां तनुभिरिति सूत्रार्थः ॥५८*१॥ वसन्ततिलका ।

मनुष्य पर्याय और उसके साथ लोकपूज्य मुनिलिंगको पा करके विद्वान् मनुष्योंको विचारपूर्वक नियमसे उस अशुभ (निन्द्य) कार्यको छोड़ना ही चाहिए ॥५७॥

आश्चर्य है कि मनमें विपरीतताको स्थान देनेवाले उन मनुष्योंकी प्रवृत्तिको देखो कि जो मुनिलिंगका आश्रय लेकर भी दूसरोंको प्रतारित करनेवाले कार्योंको करके इस मनुष्य जन्मको व्यर्थ करते हैं ॥५८॥

कहा भी है—यदि सब मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली सम्पत्तियोंको भोग लिया है तो इससे भला क्या अभीष्ट सिद्ध हुआ ? कुछ भी नहीं । उन सम्पत्तियोंके द्वारा यदि स्नेहीजनोंको सन्तुष्ट किया है—उनकी इच्छाओंको भी पूर्ण किया है तो इससे क्या लाभ हुआ ? कुछ भी नहीं । यदि अभिमानके वश होकर शत्रुओंके शिरपर पाँव रखा है—उन्हें ठुकराया है—

१. All others except P जगन्नुतं । २. M L S F V C Y °शुभं कार्यं । ३. P विविच्य । ४. L S T F V B C X Y स्वहितं बुधैः, J R सुहितं । ५. P मुक्ता श्रियः, M मुक्त्वा श्रियः । ६. S T F V B C J X R प्रणयिनः स्वधनैः, Y प्रणयिनः सुधनैः । ७. J कल्पं भृतं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

351) इत्थं न किंचिदपि साधनसाध्यमस्ति
स्वप्नेन्द्रजालसदृशं परमार्थशून्यम् ।
तस्मादनन्तमजरं परमं विकासि
तद् ब्रह्म वाञ्छत जना यदि चेतनास्ति ॥५८*२॥ इति[1]

352) [2]किं ते सन्ति न कोटिशो ऽपि बहुशः[3] स्फारैर्वचोभिः परं
ये वार्तां प्रथयन्त्यमेयमहसां राशेः पर[4]ब्रह्मणः ।
तत्रानन्दसुधासरस्वति पुनर्निर्मज्ज्य मुञ्चन्ति ये
संतापं भवसंभवं त्रि[5]चतुरास्ते सन्ति वा नात्र वा ॥५९

---

351) इत्थं न किंचिदपि—इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण किंचिदपि साध्यसाधनमपि नास्ति । कीदृशम् । स्वप्नेन्द्रजालसदृशम् । पुनः कीदृशम् । परमार्थशून्यम् । तस्मात् कारणात् । हे जनाः यदि चेतनास्ति, तत् ब्रह्म वाञ्छत । कीदृशम् । अनन्तम् । पुनः कीदृशम् । अजरं जरारहितम् । पुनः कीदृशम् । परमं विकासि । इति सूत्रार्थः ॥५८*२॥ अथ परब्रह्मणः वाच्यमानाभावम् आह ॥ शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ।

352) किं ते सन्ति न—ये परब्रह्मणो वार्तां प्रथयन्ति । परं केवलम् । कीदृशात् परब्रह्मणः । अमेयमहसां तेजसां राशेः । कैः । स्फारैर्वचोभिः । ते सुधियः* कोटिशो ऽपि कोटिप्रमाणाः किं न सन्ति । तत्रात्मनि । वा अथवा । ते त्रिचतुराः त्रयश्च चत्वारश्च त्रिचतुराः । सन्ति वा न वा । किं कृत्वा । आनन्दसुधासरस्वति सरसि निर्मज्ज्य स्नात्वा ये भवसंभवसंतापं मुञ्चन्ति । इति सूत्रार्थः ॥५९॥ अथ केषां शमयमादीनामभावमाह ।

तो इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? कुछ भी नहीं । तथा यदि प्राणियोंके शरीर कल्पकाल तक स्थित रहे हैं (या स्वर्गमें स्थित रहे हैं) तो इससे भी क्या अभीष्ट सिद्ध हुआ ? कुछ भी नहीं । इस प्रकार कुछ भी इन साधनोंसे सिद्ध होनेवाला नहीं है । वे सब स्वप्न अथवा इन्द्रजालके समान अयथार्थ हैं—धोखा देनेवाले हैं । इसलिए हे प्राणियो ! यदि तुम्हारे अन्तःकरणमें विवेक है तो तुम उस आत्मपदकी इच्छा करो जो कि अविनश्वर, जरासे रहित, उत्कृष्ट और विकास स्वभाववाला है ॥५८*१-२॥

जो केवल अनेक प्रकारसे विस्तृत वचनोंके द्वारा अपरिमित तेजोंकी राशिस्वरूप उस परमात्माकी वार्ताको प्रसिद्ध करते हैं—उसके स्वरूपका विविध प्रकारसे व्याख्यान करते हैं—वे क्या करोड़ोंकी संख्यामें नहीं हैं ? अवश्य हैं । किन्तु जो आनन्दरूप अमृतके समुद्रस्वरूप उस परमात्मामें निमग्न होकर संसारके सन्तापको नष्ट करते हैं वे तीन-चार ही हैं—विरले ही हैं, अथवा वे यहाँ हैं ही नहीं । अभिप्राय यह कि परमात्माकी चर्चा करनेवाले तो बहुत हैं, किन्तु उसके स्वरूपमें स्वयं लीन होनेवाले अतिशय थोड़े हैं ॥५९॥

---

१. P इति । २. P adds this verse on the margin । ३. All others except P F Y कोटिशो ऽपि सुधियः । ४. M परं ब्रह्मणः । ५. M तु चतुराः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

353) एते पण्डितमानिनः शमयमस्वाध्यायचिन्ताच्युता[1][2]
रागादिग्रहवञ्चिता यतिगुणप्रध्वंसकृष्णाननाः ।
व्याकृष्टा विषयैर्मदैः प्रमुदिताः शङ्काभिरङ्गीकृताः
न ध्यानं न विवेचनं न च तपः कर्तुं वराकाः क्षमाः ॥६०

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्यश्रीशुभचन्द्रविरचिते
गुणदोषविचारः[3] ॥४॥

353) **एते पण्डितमानिनः**—के एते । वराकाः ध्यानं कर्तुं न क्षमाः समर्थाः । च पुनः । विवेचनं कर्तुं न क्षमाः । च पुनः । तपः कर्तुं न क्षमाः न समर्थाः । ते पण्डितमानिनः । पुनः कीदृशाः । शमयमस्वाध्यायचिन्ताच्युताः । पुनः कीदृशाः । रागादिग्रहवञ्चिताः । पुनः कीदृशाः । यतिगुणप्रध्वंस-कृष्णाननाः कालमुखाः । पुनः कीदृशाः । मदैर्मदजनकैः प्रमुदिताः । व्याकृष्टाः व्याप्ताः । शङ्काभिरङ्गीकृताः । इति सूत्रार्थः ॥६०॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डित-नयविलासेन साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहरिषिदासस्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन कारापितं गुणदोषव्याख्यानं कृतम् । चतुर्थः सर्गः ॥४॥

बभूव पूर्वं किल पासराजः सट्टोडरः शुद्धगुणप्रधानः । तदीयपुत्रो रिषिदासनामा पायात्सदा तं जिनधर्ममार्गः ॥ इति आशीर्वादः । अथ ध्यातारमाह ।

ये जो अपनेको पण्डित मानते हैं—यथार्थमें पण्डित न होकर भी उसका कोरा अभिमान करते हैं; शान्ति, संयम एवं स्वाध्यायकी चिन्तासे रहित हैं—जिनको इनकी परवाह नहीं है; रागद्वेषादिरूप पिशाचसे ठगे गये हैं, मुनिके योग्य मूल व उत्तर गुणोंको नष्ट करके अपने मुखको काला करनेवाले—साधुके योग्य आचरणसे रहित होनेके कारण निन्दाके पात्र होते हैं, विषयोंसे खींचे गये हैं—उनमें अनुराग रखते हैं, आठ मदोंसे आनन्दित रहते हैं, तथा शंकाओंसे स्वीकृत किये गये हैं—उन शंकादि दोषोंसे दूषित रहते हैं; वे बेचारे न ध्यान कर सकते हैं, न आत्म-परका विचार कर सकते हैं, और न तप भी कर सकते हैं ॥६०॥

इस प्रकार आचार्य शुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्णवमें योग प्रदीपाधिकारमें
गुण-दोष विचाररूप यह प्रकरण समाप्त हुआ ॥४॥

१. S V C J X Y R शमदम । २. M V C X Y R चिन्तायुताः । ३. L विचारप्रकरणं F °प्रकरणं चतुर्थः सर्गः, B गुणदोषव्याख्यानं कृतं । चतुर्थो सर्ग ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

V

[योगिप्रशंसा]

354) अथ निर्णीततत्त्वार्था धन्याः संविग्नमानसाः ।
कीर्त्यन्ते यमिनो जन्मसंभूतसुखनिःस्पृहाः ॥१
355) भवभ्रमणनिर्विण्णा[1] भावशुद्धिं समाश्रिताः ।
सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे योगिनः पुण्यचेष्टिताः ॥२॥ तद्यथा[2]–
356) विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।
यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते ॥३

---

354) **अथ निर्णीततत्त्वार्थाः**—अथेत्यानन्तर्ये । यमिनः कीर्त्यन्ते । कीदृशाः । निर्णीततत्त्वार्थाः ज्ञाततत्त्वाः । पुनः कीदृशाः । धन्याः पुण्यवन्तः । कीदृशाः । संविग्नमानसाः । पुनः कीदृशाः । जन्मसंभूतसुखनिःस्पृहाः । जन्मनः संभूतं सुखं, तस्मान्निःस्पृहाः । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ योगिनां स्वरूपमाह ।

355) **भवभ्रमणनिर्विण्णा**—च पुनः । केचित् योगिनः भूपृष्ठे सन्ति पुण्यचेष्टिताः । पुनः कीदृशाः । भवभ्रमणनिर्विण्णाः श्रान्ताः । पुनः कीदृशाः । भावशुद्धि समाश्रिताः । इति सूत्रार्थः ॥२॥ तद्यथा दर्शयति । पुनर्ध्यातृलक्षणमाह ।

356) **विरज्य कामभोगेषु**—स हि ध्याता प्रशस्यते । स इति कः । यस्य चित्तं स्थिरीभूतं वर्तते । किं कृत्वा । कामभोगेषु विरज्य विरक्तीभूय । वपुषि स्पृहां विमुच्य त्यक्त्वा । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ केचित् प्राणत्यागे ऽपि संयमभारं न त्यजन्तीति तानाह ।

अब इस प्रकरणमें उन प्रशंसनीय संयमी योगियोंका कीर्तन किया जाता है—उनके गुणोंकी प्रशंसा की जाती है—जिन्हें तत्त्वार्थका निश्चय हो चुका है, जिनका मन संवेगसे परिपूर्ण है—धर्ममें अनुराग रखता है, तथा जो संसारके विषयजनित सुखकी इच्छासे रहित हो चुके हैं ॥१॥

इस पृथिवीतलपर पवित्र आचरण करनेवाले कुछ ऐसे भी योगी विद्यमान हैं जो संसारके परिभ्रमणसे विरक्त होकर भावशुद्धिका आश्रय ले चुके हैं। अभिप्राय यह है कि जो संसार परिभ्रमणके दुःखसे खिन्न होकर राग-द्वेषसे रहित होते हुए अपने अन्तःकरणको अतिशय निर्मल रखते हैं ऐसे भी कुछ योगी यहाँ विद्यमान हैं। उनकी प्रशंसा करनी चाहिए ॥२॥ जैसे—

जिस ध्याताका चित्त इन्द्रियविषयभोगोंसे विरक्त होकर शरीरके विषयमें निर्ममत्व होता हुआ स्थिरताको प्राप्त कर चुका है वह ध्याता अतिशय प्रशंसनीय है ॥३॥

---

१. B भ्रमणसंविग्ना । २. P M B X तद्यथा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

357) सत्संयमधुरा धीरैर्न हि प्राणात्यये ऽपि यैः ।
त्यक्ता महत्त्वमालम्ब्य ते हि ध्यानधनेश्वराः ॥४

358) परीषहमहाव्यालैर्ग्राम्यैर्वाक्कण्टकैर्दृढैः[1] [2]।
मनागपि मनो येषां न स्वरूपात्परिच्युतम् ॥५

359) क्रोधादिभीमभोगीन्द्रै रागादिरजनीचरैः ।
अजय्यैरपि विध्वस्तं[3] न येषां[4] यमजीवितम् ॥६

360) मनः प्रीणयितुं येषां क्षमास्ता दिव्ययोषितः ।
मैत्र्यादयः सतां सेव्या ब्रह्मचर्ये ऽप्यनिन्दिते ॥७

---

357) **सत्संयमधुरा**—यैः प्राणात्यये ऽपि प्राणनाशे ऽपि सत्संयमधुरा न हि त्यक्ता । कीदृशैः । धीरैः । हि यस्मात् । ते ध्यानधनेश्वराः । किं कृत्वा । महत्त्वं समालम्ब्याश्रित्येति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ तेषां मनः परीषहैर्न च्याव्यते तानाह ।

358) **परीषहमहाव्यालैः**—येषां स्वरूपात् मनो मनागपि न परिच्युतं नष्टम् । कैः । परीषह-महाव्यालैः सर्पैः । ग्राम्यैर्ग्रामजनसंजातैर्वाक्कण्टकैः । कीदृशैः । दृढैरिति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ व्रतानां दृढतरत्वमाह ।

359) **क्रोधादिभीमभोगीन्द्रैः**—[येषां मुनीनां यमजीवितं संयमजीवनं न विध्वस्तं विनाशितम् । कैः । क्रोधादिभिः कषायैः एव भीमभोगीन्द्रैः भयंकरसर्पैः । रागादिभिः रागद्वेषरूपैः रजनीचरैः राक्षसैः । कथम् । अजस्रं सततम् । इति सूत्रार्थः ॥६॥] । अथ ब्रह्मचर्यस्वरूपमाह ।

360) **मनः प्रीणयितुं**—येषां ताः दिव्ययोषितः मनः प्रीणयितुं मनो मोदयितुं क्षमाः समर्थाः । तेषां सतां मैत्र्यादयः अनिन्दिते ऽपि ब्रह्मचर्ये सेव्याः । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ तपोविशेषमाह ।

जो धैर्यशाली महामुनि अपनी महानताका आश्रय लेकर प्राणोंके नष्ट होनेपर भी समीचीन संयमके भारको नहीं छोड़ते हैं वे ही वास्तवमें ध्यानरूप धनके स्वामी हैं—उन्हें ही यथार्थ ध्याता समझना चाहिए ॥४॥

जिनका मन परीषहरूप सर्पों अथवा हाथियोंसे तथा असभ्य व अश्लील वचनरूप दृढ़ काँटोंसे पीड़ित होकर आत्मस्वरूपसे किंचित् भी विचलित नहीं हुआ है, जिनके संयमरूप जीवनको—प्राणोंको अजेय (अतिशय प्रतापशाली) भी क्रोधादिरूप भयानक सर्प और रागद्वेषादिरूप राक्षस नहीं नष्ट कर सके हैं, जिनके निर्मल अखण्ड ब्रह्मचर्यके रहने पर भी सत्पुरुषोंके द्वारा सेवनीय मैत्री आदि—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य एवं माध्यस्थ्यभावनाओं रूप वे दिव्य स्त्रियाँ मनके प्रसन्न करनेके लिए समर्थ हैं, अर्थात् जो मैत्र्यादिभावनाओंका आश्रय

---

१. All others except P L वा कण्टकैः । २. S कण्टकैर्हठैः । ३. Y विस्त्रस्तं न । ४. M N न तेषां ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

361) तपस्तरलतीव्रार्चिःप्रचये[1] पातितः स्मरः ।
यै रागरिपुभिः सार्धं पतङ्गप्रतिमीकृतः ॥८

362) निःसङ्गत्वं समासाद्य ज्ञानराज्यं समीप्सताम्[2] ।
जगत्त्रयचमत्कारि चित्रभूतं च[3] चेष्टितम् ॥९

363) अत्युग्रतपसात्मानं पीडयन्तो ऽपि निर्दयम् ।
जगद्विध्यापयन्त्युच्चैर्ये मोहदहनक्षतम् ॥१०

364) स्वभावजनिरातङ्कनिर्भरानन्दनन्दिताः ।
तृष्णार्चिःशान्तये धन्या ये ऽकालजलदोद्गमाः ॥११

361) **तपस्तरल**—यैः रागरिपुभिः सार्धं स्मरः कामः पतङ्गप्रतिमीकृतः पतङ्गसदृशीकृतः । कीदृशः । तपस्तरलतीव्रार्चिःप्रचये पातितः । तपश्चञ्चलतीक्ष्णाग्निप्रचये समूहे पातितः । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ निःसङ्गत्वमाह ।

362) **निःसङ्गत्वं**—च पुनः येषां चेष्टितं क्रिया चित्रभूतमाश्चर्यकारि । पुनः कीदृशम् । जगत्त्रयचमत्कारि । कीदृशं ज्ञानराज्यम् । समीप्सतां बालकानाम् । किं कृत्वा । निःसङ्गत्वं समासाद्येति सूत्रार्थः ॥९॥ पुनस्तदेवाह ।

363) **अत्युग्रतपसा**—यैरुच्चैर्जगत् विध्यापयन्ति शमयन्ति । कीदृशं जगत् । मोहदहनक्षतं मोहाग्निक्षतम् । अपि ये पुरुषाः निर्दयं यथा स्यात् आत्मानं अत्युग्रतपसा पीडयन्तः । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ तृष्णाग्निशान्तिमाह ।

364) **स्वभाव**—ये तृष्णाग्निशान्तये ऽकालजलदोद्गमाः अकालजलदसदृशाः । ते धन्याः । पुनः । स्वभावजनि*तातङ्कनिर्भरानन्दनन्दिताः । स्वचैतन्यनिरातङ्कबहुतरानन्दनन्दिताः । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ ध्यानयोग्यान् मुनीनाह । षड्भिः कुलकम् ।

लेकर अखण्ड ब्रह्मचर्यका परिपालन करते हैं, जिन्होंने तपरूप चंचल व तीव्र ज्वालाओंके समूहमें कामदेवको गिराकर उसे रागरूप शत्रुओंके साथ पतंगेके समान भस्मीभूत कर दिया है, अपरिग्रह व्रतको स्वीकार करके ज्ञानरूप राज्यकी अभिलाषा करनेवाले जिन योगियोंकी प्रवृत्ति विश्वको आश्चर्यचकित करनेवाली व विचित्र ही रही है [आश्चर्यका कारण यह है कि राज्यकी अभिलाषा करनेवाले परिग्रहसे रहित नहीं होते, प्रत्युत उसकी अधिकतासे ही सहित होते हैं । परन्तु इन योगियोंने सब प्रकारके परिग्रहका परित्याग करके भी ज्ञानके साम्राज्य-को प्राप्त किया है—वे केवलज्ञानी हुए हैं], जो अपने-आपको निर्दयतापूर्वक अतिशय तीव्र तपसे पीड़ित करते हुए भी मोह रूप अग्निसे विश्वको अत्यन्त शीतल करते हैं—प्राणियोंके मोहजनित सन्तापको नष्ट करके उन्हें शान्त व सुखी करते हैं, जो प्रशंसनीय योगी स्वा-

१. Y °र्अचिःप्रचयैः । २. M S T F V C X R समीप्सितम् । ३. All others except P M B N भूतं विचेष्टितं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

365) अशेषसंगसंन्यासवशाज्जितमनोद्विजाः[1] ।
विषयोद्दाममातङ्गघटासंघट्टघातकाः ॥१२

366) वाक्पथातीतमाहात्म्या विश्वविद्याविशारदाः ।
शरीराहारसंसार[2]कामभोगेषु निःस्पृहाः ॥१३

367) विशुद्धबोधपीयूषपानपुण्यीकृताशयाः[3] ।
स्थिरेतरजगज्जन्तुकरुणावारिवार्धयः ॥१४

368) स्वर्णाचल इवाकम्पा ज्योतिःपथ इवा[4]मलाः ।
समीर इ[5]व निःसंगा निर्ममत्वं समाश्रिताः ॥१५

365-70) अशेषसङ्ग—मुनिमहेश्वराः, ध्यानसिद्धेः पात्रं स्थानं समाख्याताः । कीदृशाः । इत्यादिपरमोदारपुण्याचरणलक्षिताः । सुगमम् । अशेषसंगसंन्यासवशात् समस्तसंगत्यागवशात् जितमनोद्विजाः मनःपत्रिणः । पुनः कीदृशाः । विषयोद्दाममातङ्गघटासंघट्टघातकाः विषयाः इन्द्रियविषयपातः एव उद्दामा उत्कटा मातङ्गघटा तस्याः संघट्टः समूहः तस्य घातकाः । इति भावार्थः । पुनः कीदृशाः । वाक्पथातीतमाहात्म्याः । सुगमम् । पुनः कीदृशाः । विश्वविद्याविशारदाः समस्तविद्याविचक्षणाः । पुनः कीदृशा मुनयः । शरीराहारसंसारकामभोगेषु देहाहारभवकामभोगेषु निःस्पृहाः गतस्पृहाः । पुनः कीदृशाः । विशुद्धबोधपीयूषपानपुण्यीकृताशयाः शुद्धज्ञानामृतपानपवित्रीकृतचित्ताः । पुनः कीदृशाः । स्थिरेतराः त्रसस्थावरा ये जगज्जन्तवः तेषां करुणावारिदयाजल-वार्धयः समुद्राः इति सूत्रार्थः । पुनः कीदृशाः । स्वर्णाचलो मेरुरिवाकम्पाः निश्चलाः । पुनः कीदृशाः । ज्योतिष्पथः [इव] आकाशवत् अमलाः निर्मलाः । पुनः कीदृशाः । समीर इव वायुरिव निःसंगाः संगरहिताः । इत्यर्थः । पुनः कीदृशाः । निर्ममत्वं समाश्रिताः व्याप्ताः ।

भाविक एवं सन्तापसे रहित ऐसे अतिशय आनन्दसे वृद्धिको प्राप्त होते हुए तृष्णारूप अग्निकी ज्वालाको शान्त करनेके लिए असमयमें—वर्षाकालके बिना ही—उत्पन्न हुए मेघोंके समान हैं, जो समस्त परिग्रहके परित्यागके प्रभावसे मनरूप पक्षीपर विजय प्राप्त करते हुए विषयोंरूप मदोन्मत्त हाथियोंके समूहके घातक हैं—बाह्य व अभ्यन्तर परिग्रहसे रहित हो जानेके कारण जिन्होंने अपने मनरूप हाथीको वशमें कर लिया है तथा इसीलिए जो विषयतृष्णासे सर्वथा रहित हो चुके हैं; जिनका माहात्म्य वचनके अगोचर (अनिर्वचनीय) है, जो समस्त विद्याओंमें पारंगत होकर शरीर, भोजन, संसार एवं विषयभोगोंकी इच्छासे रहित हो चुके हैं, अतिशय निर्मल ज्ञानरूप अमृतका पान करनेसे जिनका अन्तःकरण पवित्र हो चुका है, जो स्थावर और त्रसरूप जगत्के जीवोंकी दयारूप जलके समुद्र हैं—उनका सदा संरक्षण करनेवाले हैं; जो मेरुके समान निश्चल, आकाशके समान निर्मल और वायुके समान परिग्रह

१. N मनोद्विषः, T मनोद्विपाः । २. X संहारकाम । ३. M N F V C पानपूर्णीकृता; S T B पुण्यकृता । ४. M ज्योतिष्पथमिवामलाः, N ज्योतिःपदमिवा । ५. M समीरा इव ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

369) हितोपदेशपर्जन्यैर्भव्यसारङ्गतर्पकाः ।
निरपेक्षाः शरीरे ऽपि सापेक्षाः सिद्धिसंयमे[1] ॥१६

370) इत्यादिपरमोदारपुण्याचरणलक्षिताः ।
ध्यानसिद्धेः समाख्याताः पात्रं मुनिमहेश्वराः ॥१७

371) तव गन्तुं[2] प्रवृत्तस्य मुक्तेर्भवनमुन्नतम्[3] ।
सोपानराजिकामीषां पदच्छाया[4] भविष्यति ॥१८

372) ध्यानसिद्धिर्मता सूत्रे मुनीनामेव केवलम् ।
इत्याद्यमलविख्यातगुणलीलावलम्बिनाम् ॥१९

इति सूत्रार्थः । पुनः कीदृशाः । हितोपदेशपर्जन्यैः भव्यसारङ्गतर्पकाः । पुनः कीदृशाः । शरीरे ऽपि निरपेक्षाः । पुनः कीदृशाः । सिद्धिसंगमे सापेक्षाः साभिलाषाः इति सूत्रार्थः । इतिं षड्भिः कुलकव्याख्यानम् ॥१२-१७॥ अथ मुनीनां माहात्म्यमाह ।

371) तव गन्तुं प्रवृत्तस्य—हे भव्य, मुक्तेर्भवनमुन्नतमुच्चैस्तरमारोढुं* प्रवृत्तस्य तस्यामीषां पूर्वोक्तमुनीनां पदच्छाया पदकान्तिः सोपानराजिका सोपानपंक्तिर्भविष्यति । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ पुनर्ध्यानसिद्धिर्मुनीनामाह ॥

372) ध्यानसिद्धिर्मता—सूत्रे परमागमे मुनीनामेव केवलं निष्केवलं ध्यानसिद्धिर्मता अभिमता । कीदृशां मुनीनाम् । इत्यादिसर्वोक्तनिर्मलप्रसिद्धगुणलीलाश्रितानाम् ॥१९॥ अथ योगीन्द्रगुणस्तुतिद्वारा परमनिर्वृतिं याचयन्नाह । शा० ।

से रहित होकर निर्ममत्व हो चुके हैं; जो हितोपदेशरूप मेघोंके द्वारा भव्य जीवोंरूप चातक पक्षियोंको सन्तुष्ट करते हुए शरीरके भी विषयमें निरपेक्ष (निर्मम) तथा मुक्तिके संयोगमें सापेक्ष (अनुरक्त) हैं; इस प्रकार जो इनको आदि लेकर अतिशय उदार और पवित्र आचरणसे पहचाने जाते हैं ऐसे वे महामुनि ध्यानकी सिद्धिके पात्र—उसके अधिकारी कहे गये हैं ॥५-१७॥

हे भव्य ! मुक्तिके ऊँचे भवनमें जानेके लिए उद्यत हुए तेरे लिए उपर्युक्त महामुनियोंके चरणोंकी छाया पायरियोंकी पंक्ति होगी । तात्पर्य यह कि ऐसे निःस्पृह महामुनीन्द्रोंके चरणकमलोंकी आराधना भव्य जीवोंके लिए मुक्तिप्राप्तिका कारण होती है ॥१८॥

परमागममें ध्यानकी सिद्धि केवल उन मुनियोंके ही मानी गयी हैं जो कि उपर्युक्त गुणोंके साथ अन्य भी निर्मल व प्रसिद्ध गुणोंकी क्रीड़ाका आलम्बन लेनेवाले हैं ॥१९॥

---

१. B सिद्धसंगमे । २. All others except P तवारोढुं । ३. M L T F V C X भवनमुत्तमं । ४. S T F V C X Y R पादच्छाया ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

373) निष्पन्दीकृतचित्तचण्डविहगाः पञ्चाक्षकक्षान्तका
ध्यानध्वस्तसमस्तकल्मषविषा विद्याम्बुधेः पारगाः ।
लीलोन्मूलितकर्मकन्दनिचयाः कारुण्यपुण्याशया
योगीन्द्रा भवभीमदैत्यदलनाः कुर्वन्तु ते निर्वृतिम् ॥२०

374) विन्ध्याद्रिर्नगरं गुहा वसतिकाः शय्या शिला पार्वती
दीपाश्चन्द्रकरा मृगाः सहचरा मैत्री कुलीनाङ्गना ।
विज्ञानं सलिलं तपः सदशनं येषां प्रशान्तात्मनां
धन्यास्ते भवपङ्कनिर्गमपथप्रोद्देशकाः सन्तु ते[3] ॥२१

373) निष्पन्दी—ते योगीन्द्रा निर्वृतिसुखं कुर्वन्तु । कीदृशा योगीन्द्राः । निष्पन्दीकृतचित्तचण्डविहगाः निष्पक्षीकृतचित्तरौद्रविहगाः । पुनः कीदृशाः । पञ्चाक्षकक्षान्तकाः पञ्चेन्द्रियकक्षान्तकाः । पुनः कीदृशाः । ध्यानध्वस्तसमस्तकल्मषविषाः ध्यानदूरीकृतसर्वपापविषाः । पुनः कीदृशाः । विद्याम्बुधेः शास्त्रसमुद्रस्य पारगाः पारगामिनः । पुनः कीदृशाः । लीलोन्मूलितकर्मकन्दनिचयाः लीलामात्रोत्थापितकर्मकन्दसमूहाः । पुनः कीदृशाः । कारुण्यपुण्याशयाः दयाभावपवित्रितचित्ताः । पुनः कीदृशाः । भवभीमदैत्यदलनाः संसाररौद्रदैत्यदलनाः इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ पुनः प्रशान्तात्मनां स्वरूपमाह । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ।

374) विन्ध्याद्रिर्नगरं—ते धन्याः नो ऽस्माकं भवपङ्कनिर्गमपथप्रोद्देशकाः संसारकर्दमनिर्गममार्गप्रोद्देशकाः कथकाः सन्तु । यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात् । येषां प्रशान्तात्मनाम् विन्ध्याद्रिः विन्ध्याचलं नगरम् । वसतिका गुहा । शय्या पार्वती शिला पर्वतसंबन्धिनी । दीपाश्चन्द्रकराः चन्द्रोद्द्योताः । के सहचराः । मृगाः । कुलीनाङ्गना मैत्री मित्रभावत्वम् । विज्ञानं सलिलं पानीयमित्यर्थः । सदशनं तपः । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ ध्यानावलम्बिनः परमानन्दमाह ।

जिन्होंने मनरूप अतिशय क्रोधी पक्षीको स्थिर करके पाँचों इन्द्रियोंरूप वनको भस्म कर दिया है, जिन्होंने ध्यानके द्वारा समस्त पापरूप विषको नष्ट कर दिया है, जो विद्यारूप समुद्रके पारको प्राप्त कर चुके हैं, जिन्होंने कर्मरूप वृक्षकी जड़ोंके समूहको क्रीड़ाके रूपमें—अनायास ही निर्मूल कर दिया है, तथा जिनका हृदय प्राणिदयासे पवित्र हो रहा है, ऐसे वे संसाररूप भयानक दैत्यका विध्वंस करनेवाले महायोगी तुम्हारे लिए मुक्तिके कारण होवें ॥२०॥

अतिशय शान्त जिन योगियोंके लिए विन्ध्याचल नगरके समान है, गुफाएँ गृहके समान हैं, पर्वतकी शिला (चट्टान) ही शय्या है, मृग मित्र जैसे हैं, समस्त प्राणियोंमें मित्रत्वकी भावना कुलीन स्त्री है, विशिष्ट ज्ञान जल है तथा तप ही उत्तम भोजन है; वे अतिशय प्रशंसनीय योगी तुम्हारे लिए संसाररूप कीचड़से निकलनेके पथके प्रदर्शक होवें ॥२१॥

१. N शीलोन्मूलितकर्म । २. M दैत्यदलनात्कुर्वन्तु । ३. M N सन्तु मे, S T F V B C J X Y R सन्तु नः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

375) रुद्धे[1] प्राणप्रचारे वपुषि नियमिते संवृते ऽक्षप्रपञ्चे
नेत्रस्पन्दे निरस्ते प्रलयमुपगते ऽन्तर्विकल्पेन्द्रजाले ।
भिन्ने[2] मोहान्धकारे प्रसरति महसि क्वापि विश्वप्रदीपे
धन्यो ध्यानावलम्बी कलयति परमानन्दसिन्धुप्रवेशम्[3] ॥२२

376) अहेयोपादेयं[4] त्रिभुवनमपीदं व्यवसतः[5]
शुभं वा पापं वा द्वयमपि दहत्[6] कर्म महसा ।
निजानन्दास्वादव्यवधिविधुरीभूतविषयं[7]
प्रतीत्योच्चैः कश्चिद्विगलितविकल्पं विहरति ॥२३

375) रुद्धे प्राणप्रचारे—धन्यो भाग्यवान् ध्यानावलम्बी ध्यानाश्रितः परमानन्दसिन्धुप्रवेशं परमहर्षसमुद्रप्रवेशनं कलयति जानाति । क्व सतीति सर्वत्र योज्यम् । प्राणप्रचारे उच्छ्वासे निःश्वासे रुद्धे सति । पुनः क्व सति । वपुषि शरीरे नियमितेऽशुभव्यापारेभ्यः संकोचिते । पुनः क्व सति । अक्षप्रपञ्चे इन्द्रियविस्तारे संवृते । पुनः क्व सति । नेत्रस्पन्दे लोचने मेषोन्मेषनिरस्ते । पुनः क्व सति । अन्तर्विकल्पेन्द्रजाले प्रलयं नाशमुपगते । पुनः क्व सति । मोहान्धकारे भिन्ने । पुनः क्व सति । महसि तेजसि प्रसरति । पुनः क्व सति । विश्वप्रदीपे सति । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ देहिनां वैचित्र्यमाह । शिखरिणी ।

376) अहेयोपादेयं—उच्चैर्यथा स्यात् तथा विगलितविकल्पं विहरति कश्चित् निजानन्दास्वादव्यवधिविधुरीभूतविषये[*] । किं कृत्वा । निजानन्दास्वादमर्यादारहितविषये प्रतीत्याश्रित्य इदं त्रिभुवनं व्यवसितम्[*] । कीदृशं जगत् । अहेयोपादेयम् । किं कुर्वन् । शुभं वा कर्म । वा अथवा

जिस योगीके ध्यानस्थ होनेपर प्राणवायु (श्वासोच्छ्वास) का संचार रुक जाता है, शरीर नियमित (स्थिर) हो जाता है, इन्द्रियोंका विस्तार—उनकी स्वेच्छाप्रवृत्ति—रुक जाती है, नेत्रोंका स्पन्दन—इधर-उधर देखना—नष्ट हो जाता है, अन्तःकरणका विकल्परूप इन्द्रजाल ध्वस्त हो जाता है, मोहरूप अन्धकार निःशेष हो जाता है, तथा विश्वको प्रदीप्त करनेवाला तेज सर्वत्र फैल जाता है; वह योगी धन्य है और वही उत्कृष्ट आनन्दके समुद्रमें प्रविष्ट होनेका अनुभव करता है ॥२२॥

जिसने हेय और उपादेयके विकल्पसे रहित इन तीन ही लोकोंका निश्चय कर लिया है, अर्थात् जो ध्यानमें लीन होकर हेय-उपादेयके विकल्पसे रहित हो चुका है, जो उस ध्यानरूप अग्निके तेजसे पुण्य और पापरूप दोनों ही प्रकारके कर्मको जला रहा है ऐसा कोई विशिष्ट योगी आत्मिक आनन्दके स्वादकी अपरिमिततासे—सीमातीत आत्मिक सुखके अनुभवसे—

१. M N शुद्धे प्राण । २. T ध्वस्ते मोहा° । ३. M सिन्धुप्रदेशं । ४. N न हेयोपादेयं । ५. M N L S T X Y R व्यवसितः, F V B C J व्यवसितं । ६. N S T X Y R दहन्कर्म, F V C महत्कर्म । ७. M N B J विषये, L S T R विषयः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

377) [1]दुःप्रज्ञाबल[2]लुप्तवस्तुनिचया विज्ञानशून्याशया
विद्यन्ते प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थोद्यता देहिनः ।
आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैर्निर्वाप्य जन्मज्वरं[3]
ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपरास्ते[4] सन्ति नो वा[5] यदि ॥२४

378) यैः सुप्तं हिमशैलशृङ्गसुभगप्रासादगर्भान्तरे
पल्यङ्के[6] परमोपधानरचिते दिव्याङ्गनाभिः सह ।
तैरेवाद्य निरस्तविश्वविषयैरन्तःस्फुरज्ज्योतिषि
क्षोणीरन्ध्रशिलाद्रिकोटँरगतैर्धन्यैर्निशा नीयते ॥२५

पापं द्वयमपि शुभाशुभं कर्म । महसा दहन्* । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ मुक्तिगामिनां स्तोकतरत्वमाह । शार्दूलविक्रीडितम् ।

377) दुष्प्रज्ञाबललुप्तवस्तु—एवंभूता देहिनः प्रतिमन्दिरं विद्यन्ते । कीदृशाः देहिनः । निजनिजस्वार्थोद्यताः । पुनः कीदृशाः । विज्ञानशून्याशयाः । पुनः कीदृशाः । दुष्प्रज्ञाबललुप्तवस्तुनिचयाः । सुगमम् । किं कृत्वा । जन्मानलं* जन्माग्निं निर्वाप्य विध्यापयित्वा । कैः । आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैः स्वानन्दपीयूषबिन्दुसमूहैर्यदि मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपराः मुक्तिमुखचन्द्रवीक्षणपराः । ते द्वित्राः सन्ति द्वौ च त्रयश्च द्वित्राः ॥२४॥ अथ विरक्तानां स्वरूपमाह । शार्दूलविक्रीडितम् ।

378) यैः सुप्तं हिमशैल—यैर्हिमशैलशृङ्गसुभगप्रासादगर्भान्तरे हिमाचलशिखरमनोहरधवलप्रासादमध्यान्तरे । पल्यङ्के परमोपधानरचिते सुप्तम् । काभिः सह । दिव्याङ्गनाभिः । तैरेव सुखभोक्तृभिः । अद्य तैः क्षोणीरन्ध्रशिला*द्रुकोटरगतैः पृथ्वीविवरशिलावृक्षकोटरशिखरप्राप्तैः ।

विषयवांछाको नष्ट करनेवाले निर्विकल्पक ध्यानका आलम्बन लेकर अतिशय क्रीड़ा करता है—सुखी होता है ॥२३॥

दुर्बुद्धि (मिथ्याज्ञान) के प्रभावसे वस्तुसमूहके स्वरूपको नष्ट करनेवाले तथा विज्ञान (विवेकबुद्धि) से रहित हृदयवाले जो प्राणी अपने-अपने स्वार्थमें तत्पर रहते हैं वे तो घर-घरमें पाये जाते हैं, परन्तु जो आनन्दरूप अमृतके समुद्र सम्बन्धी कणोंके समूहसे संसारके सन्तापको शान्त करके मुक्तिके मुखरूप चन्द्रमाके देखनेमें उद्यत हैं—मोक्षप्राप्तिके अभिमुख हैं—वे हैं अथवा हैं ही नहीं । अभिप्राय यह है कि मिथ्याज्ञानके वशीभूत होकर इन्द्रिय-विषयोंमें अनुराग रखनेवाले प्राणी तो बहुत अधिक पाये जाते हैं, परन्तु जो विवेकरूप जलसे संसारके सन्तापको नष्ट करके मोक्षप्राप्तिके सन्मुख हो रहे हैं वे बहुत ही थोड़े हैं ॥२४॥

जो पूर्वमें हिमालयके शिखरके समान उन्नत व सुन्दर भवनके भीतर उपधान (तकिया) से सुशोभित शय्याके ऊपर सुन्दर स्त्रियोंके साथ सोते थे वे ही इस समय अन्तः-

---

१. P writes this verse on the margin । २. M N दुःप्रज्ञालवलुप्त । ३. B जन्मानलं । ४. M N द्वित्रा यदा सन्ति ते । ५. All others except P सन्ति द्वित्रा यदि । ६. M पर्यङ्के परमो॰ । ७. L F V B C J शिलाद्रुकोटर, S R शिलादिकोटर ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

379) चित्ते निश्चलतां गते प्रशमिते रागाद्यविद्यामये
निद्राणे[1] ऽक्षकदम्बके विघटिते[2] ध्वान्ते भ्रमारम्भके।
आनन्दे[3] प्रविजृम्भिते पुरपतेर्ज्ञाने समुन्मीलिते
त्वां द्रक्ष्यन्ति कदा वनस्थमभितः पुस्तास्थया[4] श्वापदाः ॥२६

निशा रात्रिर्नीयते। पुनः कीदृशैः। धन्यैः। पुनः कीदृशैः। निरस्तविश्वविषयैर्दूरीकृतसर्वेन्द्रियव्यापारैः। क्व सति। अन्तः अन्तःकरणे स्फुरज्ज्योतिषि स्फुरद्ज्ञानप्रदीपे। इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ ज्ञानस्वरूपमाह। शार्दूलविक्रीडितम्।

379) चित्ते निश्चलतां गते—श्वापदाः सुप्ताशयाः चित्रलिखितमृगाः। त्वां वनस्थम्। अभितः समन्तात् कदा द्रक्ष्यन्ति अवलोकयन्ति। पुरपतेरात्मनो ज्ञाने समुन्मीलिते। क्व सति। चित्ते निश्चलतां गते। क्व सति। रागाद्यविद्यामये रागाद्यज्ञानमये प्रशमिते। अक्षकदम्बके इन्द्रियसमूहे निःशक्तिके। पुनः क्व सति। भ्रमारम्भके भ्रमोत्पादके ध्वान्ते विघटिते। पुनः क्व सति। आनन्दे *प्रतिजृम्भिते उल्लसिते। च पादपूरणे। इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ श्रीपरमज्ञानफलमाह। स्रग्धराछन्दः।

करणमें सम्यग्ज्ञानरूप ज्योतिके उदित होनेपर समस्त विषयभोगोंसे रहित होकर पृथिवीके छिद्र (गुफा आदि) शिला, पर्वत और कोटर (वृक्षकी पोल) में स्थित होते हुए रात्रिको व्यतीत करते हैं। वे ऋषीश्वर धन्य हैं ॥२५॥

ध्यानावस्थामें चित्तके स्थिर हो जानेपर, रागादि व अविद्या (अज्ञान) रूप रोगके शान्त हो जाने पर, इन्द्रियसमूहके निद्राको प्राप्त होनेपर—उनकी प्रवृत्तिके रुक जानेपर, संसारमें परिभ्रमण करानेवाले मोहरूप अन्धकारके नष्ट हो जानेपर, आनन्दके वृद्धिंगत होनेपर तथा आत्मज्ञानके प्रकट होनेपर वनमें स्थित तेरे लिए श्वापद्सिंहादि हिंस्र जन्तु—सब ओरसे भीतपर चित्रित मूर्तिके समान कब देखेंगे। अभिप्राय यह है कि योगीकी वही ध्यानावस्था प्रशंसनीय है कि जिसमें मोह व राग-द्वेषादिके नष्ट हो जानेपर योगीका शरीर, इन्द्रियाँ और मन सर्वथा स्थिर हो जाते हैं तथा इसीलिए जिसे वन्य जन्तु पाषाणादिसे निर्मित मूर्ति समझकर स्वतन्त्रतासे विचरण करते हुए अपने शरीरको घसने लगते हैं। मुमुक्षु जीव निरन्तर उसी अवस्थाकी अभिलाषा करते हैं ॥२६॥

---

१. All others except P विद्राणे। २. N विगलिते ध्वान्ते। ३. M आनन्दप्रवि°। ४. All others except P M N पुस्तेच्छया, B J सुस्ताशयाः श्वापदाः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

380) आत्मन्यात्मप्रचारः[1] कृतसकलबहिःसंगसंन्यासवीर्या-
दन्तर्ज्योतिःप्रकाशाद्विलयगतमहामोहनिद्रातिरेकः ।
निर्णीते स्वस्वरूपे स्फुरति जगदिदं यस्य शून्यं जडं वा
तस्य श्रीबोधवार्धेर्दिशतु तव शिवं पादपङ्केरुहश्रीः ॥२७

381) [2]आत्मायत्तं विषयविरतं[3] तत्त्वचिन्तावलीनं[4]
निर्व्यापारं स्वहितनिरतं निभृतानन्दपूर्णम्[5] ।
ज्ञानारूढं शमयमतपोध्यानलब्धावकाशं
कृत्वात्मानं कलय सुमते दिव्यबोधाधिपत्यम् ॥२८

380) आत्मन्यात्मप्रचारः—तस्य श्रीबोधवार्धेः ज्ञानसमुद्रस्य पादपङ्केरुहश्रीः पदकमललक्ष्मीः तव शिवं कल्याणं दिशतु । आत्मनि आत्मप्रचारः कृतः । कस्मात् । सकलबहिःसंगसंन्यासात् बाह्याभ्यन्तरसंगत्यागात् । पुनः कीदृशः । विलयगतमहामोहनिद्रातिरेकः । अतिरेकः आधिक्यम् । कस्मात् । अन्तर्ज्योतिःप्रकाशात् । यस्य स्वस्वरूपे इदं जगत् शून्यं जडं वा स्फुरति । कीदृशे स्वस्वरूपे । निर्णीते निश्चयीकृते इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथात्मतत्त्वमुपसंहरन्नाह । मन्दाक्रान्ता ।

381) आत्मायत्तं विषयविरतं—सुमते, आत्मानं कलय जानीहि । किं कृत्वा । दिव्यबोधाधिपत्यं कृत्वा । कीदृशम् । आत्मायत्तम् आत्माधीनम् । पुनः कीदृशम् । विषयविरतम् इन्द्रियव्यापाररहितम् । पुनः कीदृशमात्मानम् । तत्त्वचिन्तानि*लीनं परमात्मध्याने नितरां लीनम् । पुनः निर्व्यापारं व्यापाररहितम् । पुनः कीदृशम् । स्वहितनिरतम् । सुगमम् । पुनः कीदृशम् । निवृत्तानन्दपूर्णम्* मुक्तानन्दपूर्णम् । पुनः कीदृशमात्मानम् । ज्ञानारूढम् । सुगमम् । शमयमत-

समस्त बाह्य परिग्रहके परित्यागके बलसे जिसका आत्मसंचार अपनी आत्माके भीतर ही हो रहा है—जो बाह्य वस्तुओंसे निवृत्त होकर अपनी आत्मामें ही लीन हो रहा है, जिसके आत्मज्ञानरूप अभ्यन्तर ज्योतिके प्रकाशसे मोहरूप निद्राकी अधिकता नष्ट हो चुकी है तथा जिसे आत्मस्वरूपका निश्चय हो जानेपर यह जगत् शून्य अथवा जड़के समान प्रतीत हो रहा है उस ज्ञानके समुद्रस्वरूप योगीके चरण-कमलकी लक्ष्मी तुम्हारे लिए मुक्तिको प्रदान करे ॥२७॥

हे सुबुद्धे ! तू अपने-आपको अपने ही स्वाधीन, विषयोंसे विरक्त, तत्त्वके चिन्तनमें तल्लीन, शरीर व इन्द्रियों आदिके व्यापारसे रहित, अपने हितमें उद्यत, दुःखके संसर्गसे रहित, निराकुल सुखसे परिपूर्ण, ज्ञानमें आरूढ (ज्ञानानन्दस्वरूप), तथा शम, यम, तप और ध्यानमें अवस्थित करके दिव्य बोधके—केवलज्ञानके—स्वामित्वका अनुभव कर ॥२८॥

१. N S T V C X Y R प्रचारे, B आत्मज्ञानप्रचारः । २. M N J B 28 and 28*1 interchanged । ३. V B C J R विषयविरसं । ४. M चिन्ताविलीनं, B चिन्तातिलीनं, J X Y चिन्तानिलीनं । ५. All others except P निर्वृतानन्द ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

382) [1][दृश्यन्ते भुवि किं न ते[2] कृतधियः संख्याव्यतीताश्चिरं
ये लीलाः[3] परमेष्ठिनः प्रतिदिनं तन्वन्ति वाग्भिः परम् ।
तं साक्षादनुभूय नित्यपरमानन्दाम्बुराशिं पुन-
र्ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति पुरुषा धन्यास्तु ते दुर्लभाः ॥२८*१]

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्यश्रीशुभचन्द्रविरचिते
योगिप्रशंसाप्रकरणम्[4] ॥५॥

पोध्यानैर्लब्धः अवकाशः येन सः, तमिति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ तत्त्वज्ञानां दुर्लभत्वमाह । शार्दूलविक्रीडितम् ।

382) दृश्यन्ते भुवि किं—भुवि पृथिव्यां संख्याव्यतीताः ते कृतधियश्चिरं चिरकालं न दृश्यन्ते । ये कृतधियः वाग्भिः प्रतिदिनं परमेष्ठिनः परं तन्वन्ति । तु पुनः । ते जनाः दुर्लभाः । ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति । तं नित्यपरमानन्दाम्बुराशिं साक्षादनुभूय भुक्त्वा । इति सूत्रार्थः ॥२८*१॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा तत्पुत्र साह टोडर तत्कुलकमलदिवाकर साह रिषिदास स्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासाग्रहेण योगिप्रशंसाप्रकरणं व्याख्यातम् । समाप्तः पञ्चमः सर्गः ॥५॥

[समजनि पूर्वं पार्श्वस्तदीयकुलदिनकरष्टोडरो जीयात् । तत्पुत्रो रिषिदासः करोति योगिप्रशंसां च ॥ इत्याशीर्वादः । अथ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपमाह ।]

जो बुद्धिमान् प्रतिदिन वचनोंके द्वारा परमेष्ठीकी लीलाका विस्तार किया करते हैं—परमात्माके स्वरूपका रोचक व्याख्यान करते हैं—वे क्या चिरकाल तक असंख्यात नहीं देखे जाते हैं ? अवश्य देखे जाते हैं—परमात्माके स्वरूपका कथन करनेवाले तो बहुत अधिक हैं । किन्तु जो अविनश्वर व उत्कृष्ट आनन्दके समुद्रस्वरूप उस परमात्माका प्रत्यक्ष अनुभव करके संसारके परिभ्रमणको नष्ट करते हैं वे पुरुष धन्य हैं और वे दुर्लभ हैं ॥२८*१॥

इस प्रकार आचार्य शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णवमें योगप्रदीपाधिकारमें
योगिप्रशंसा प्रकरण समाप्त हुआ ॥५॥

---

१. P om. । २. M N भुवि न क्व ते कृत । ३. M N ये लीलां । ४. B प्रकरणं पंचमं सर्गः, X योगप्रशंसाप्रकरणं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

VI

[दर्शनविशुद्धिः]

383) सुप्रयुक्तैः स्वयं साक्षात् सम्यग्दृग्बोधसंयमैः ।
त्रिभिरेवापवर्गश्रीर्घनाश्लेषं प्रयच्छति ॥१

384) [1]तैरेव हि विशीर्यन्ते विचित्राणि बलीन्यपि ।
दृग्बोधसंयमैः कर्मनिगडानि शरीरिणाम् ॥२

385) त्रिशुद्धि[2]पूर्वकं ध्यानमामनन्ति मनीषिणः ।
व्यर्थं स्यात्तामनासाद्य तदेवात्र शरीरिणाम् ॥३

---

383) सुप्रयुक्तैः—अपवर्गश्रीः त्रिभिरेव घनाश्लेषं प्रयच्छति । त्रिभिः कैः । साक्षात् सम्यग्दृग्बोधसंयमैः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैः । कीदृशैः । स्वयं तीर्थंकरादिभिः सुप्रयुक्तैः सुकथितैरिति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ सम्यग्दर्शनादीनां कर्माभावकारणमाह ।

384) तैरेव हि—शरीरिणां कर्मनिगडानि विचित्राणि प्रकृतिस्थित्यनुभागभेदादनेकानि । पुनः कीदृशानि । बलीन्यपि बलकारीणि । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ ध्यानशुद्धिमाह ।

385) त्रिशुद्धिपूर्वकं—अत्र जगति शरीरिणां तां त्रिशुद्धिमनासाद्याप्राप्य तदेव ध्यानं व्यर्थं स्यात् । यां [यत्] त्रिशुद्धिपूर्वकं ध्यानं मनीषिणः योगिनः आमनन्ति इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ रत्नत्रयं विना ध्यानं न भवतीत्याह ।

यदि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों विधिपूर्वक स्वयं प्रत्यक्षतः प्रयोगमें लाये जाते हैं तो उनके आश्रयसे मुक्तिरूप लक्ष्मी गाढ़ आलिंगनको प्रदान करती है—विधिपूर्वक रत्नत्रयके परिपालनसे मोक्षपद प्राप्त होता है ॥१॥

प्राणियोंकी अनेक प्रकारकी दृढ़ भी कर्मरूप सांकलें उन्हीं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके द्वारा टूटती हैं ॥२॥

बुद्धिमान् गणधरादि रत्नत्रयकी शुद्धिपूर्वक ही ध्यानको सफल बतलाते हैं। उक्त रत्नत्रयकी शुद्धिके बिना प्राणियोंका वही ध्यान यहाँ निरर्थक होता है—उससे अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है ॥३॥

---

१. T om. this verse । २. N त्रिशक्तिपूर्वकं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

386) रत्नत्रयमनासाद्य यः साक्षाद् ध्यातुमिच्छति ।
खपुष्पैः कुरुते मूढः स वन्ध्यासुतशेखरम् ॥४

387) [[1]तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्त्वप्रख्यापकं भवेज्ज्ञानम् ।
पापक्रियानिवृत्तिश्चरित्रमुक्तं जिनेन्द्रेण ॥४*१]

388) [2]तत्रादौ सम्यग्दर्शनम् । तद्यथा—
यज्जीवादिपदार्थानां श्रद्धानं तद्धि दर्शनम् ।
निसर्गादधिगत्या[3] वा तद्भव्यस्यैव जायते ॥५

386) रत्नत्रय—स मूढः खपुष्पैराकाशकुसुमैः वन्ध्यासुतशेखरं मुकुटं कुरुते । स इति कः । यः रत्नत्रयमनासाद्याप्राप्य साक्षात्प्रकारेण ध्यातुमिच्छति । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ रत्नत्रयस्यैव विशेषार्थमाह ।

387) तत्त्वरुचिः—[तत्त्वरुचिः जीवादिसप्ततत्त्वेषु रुचिः श्रद्धानम् । सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनम् । तत्त्वप्रख्यापकं प्रकाशकं ज्ञानम् । विविधपापक्रियाभ्यो निवृत्तिश्चारित्रम् । इत्येतत् जिनेन्द्रेणोपदिष्टमित्यर्थः ॥४*१॥] तत्रादौ सम्यग्दर्शनम् । तद्यथा ।

388) यज्जीवादि—निसर्गेण* स्वभावेन अधिगत्या अभिनवप्राप्त्यां । शेषं सुगमम् ॥५॥ अथ सम्यक्त्वावान्तरभेदानाह ।

जो मूर्ख उस रत्नत्रयको नहीं प्राप्त करके साक्षात् ध्यान करनेकी इच्छा करता है वह मानो आकाशके फूलोंसे माला बनाकर उससे बांझ स्त्रीके पुत्रकी शिखाको अलंकृत करता है—रत्नत्रयकी प्राप्तिके बिना वह ध्यान आकाशकुसुम और बन्ध्यापुत्रके समान असम्भव है ॥४॥ उनमें सम्यग्दर्शनकी प्ररूपणा इस प्रकार है—

जीवादि तत्त्वोंकी रुचि (अनुराग या श्रद्धान) का नाम सम्यग्दर्शन, उनके प्रगट करनेका नाम सम्यग्ज्ञान और पापकार्यसे विरत होनेका नाम चारित्र है; इस प्रकारसे जिनेन्द्र देवने उक्त रत्नत्रयका स्वरूप निर्दिष्ट किया है ॥४*१॥

जीवादि पदार्थोंका जो श्रद्धान होता है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं । वह निसर्ग और अधिगमसे उत्पन्न होकर भव्य जीवके ही होता है, अभव्यके नहीं । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि वह सम्यग्दर्शन दो प्रकारका है—निसर्गज और अधिगमज । इनमें जो तत्त्वका श्रद्धान दूसरेके उपदेशके बिना स्वभावसे ही उत्पन्न होता है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहा जाता है । तथा दूसरेके उपदेशादिसे जो तत्त्वका श्रद्धान उत्पन्न होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है । अन्तरंग और बहिरंगके भेदसे कारण दो प्रकारका है । इनमें सम्यग्दर्शनका अन्तरंग कारण तो दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है जो उक्त दोनों ही सम्यग्दर्शन भेदोंमें समानरूपसे पाया जाता है । अधिगम अर्थबोध यह बाह्य कारण है । किसी जीवके अन्य मुनि आदिके उपदेशको सुनकर जो अर्थावबोध होता

१. P om. २. P L F B X तत्रादौ etc., Y तत्रादौ सम्यक्त्वम् । तद्यथा ।-३. All others except P निसर्गेणाधिगत्या ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

389) क्षीणप्रशान्तमिश्रासु मोहप्रकृतिषु क्रमात् ।
तत् स्याद्द्रव्यादिसामग्र्या पुंसां सद्दर्शनं त्रिधा ॥६

390) उक्तं च—
भव्यः पर्याप्तकः संज्ञी जीवः पञ्चेन्द्रियान्वितः ।
काललब्ध्यादिभिर्युक्तः[1] सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ॥६*१

391) सम्यक्त्वमथ तत्त्वार्थश्रद्धानं परिकीर्तितम् ।
तस्यौपशमिको भेदः क्षायिको मिश्र इत्यपि ॥६*२

392) सप्तानां प्रशमात् सम्यक् क्षयादुभयतो ऽपि च ।
प्रकृतीनामिति प्राहुस्तत्त्रैविध्यं सुमेधसः ॥६*३

389) क्षीणप्रशान्त—पुंसां पुरुषाणां तत् सद्दर्शनं त्रिधा स्यात् भवति । कासु सत्सु । मोहप्रकृतिषु अनन्तानुबन्धिचतुष्कादिषु क्रमात् क्षीणप्रशान्तमिश्रासु । मोहप्रकृतिक्षये क्षायिकम् । मोहप्रकृतिप्रशमे औपशमिकम् । मोहप्रकृतिक्षयोपशमे क्षायोपशमिकम् । इति त्रिधा सम्यग्दर्शनम् । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ सम्यक्त्वाङ्गीकारकमाह । उक्तं च—

390) भव्यः—[सम्यक्त्वं कः प्रतिपद्यते । जीवः । कीदृशः । पर्याप्तकः आहारादिपर्याप्तियुक्त इत्यर्थः ॥६*१॥] पुनः सम्यक्त्वविशेषार्थमाह ।

391) सम्यक्त्व—[सम्यक्त्वस्य कति भेदाः । त्रयः । के ते । औपशमिकः क्षायिको मिश्रः (क्षायोपशमिकः) चेत्यर्थः ॥६*२॥] अथ त्रैविध्यमाह ।

392) सप्तानां—सुमेधसः सुबुद्धयः तत्त्रैविध्यं सम्यक्त्वत्रैविध्यं, इति प्राहुः । सप्तानाम् अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्क-सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वभेदात् प्रकृतित्रयसंमिलिताः सप्तप्रकृतयो

है उसके निमित्तसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है । इसके विपरीत किसी जीवके तात्कालिक उपदेशके बिना भी पूर्व संस्कारसे वह सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है । यह इन दोनोंमें विशेषता है ॥५॥

द्रव्य-क्षेत्रादिरूप सामग्रीके साथ तीन दर्शनमोहनीयप्रकृतियोंके क्षय, उपशम और क्षयोपशमके होनेपर जीवोंके क्रमसे तीन प्रकारका—क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ॥६॥ कहा भी है—

जो जीव भव्य, पाँचों इन्द्रियोंसे संयुक्त, संज्ञी और पर्याप्तक होता है वही काललब्धि आदिको पा करके सम्यक्त्वको प्राप्त करता है ॥६*१॥

तत्त्वार्थश्रद्धानको—अपने-अपने स्वरूपसे संयुक्त जीवादि पदार्थोंके यथार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा गया है । उसके औपशमिक, क्षायिक और मिश्र (क्षायोपशमिक) ये तीन भेद हैं ॥६*२॥

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन दर्शनमोहनीय तथा क्रोध-मानादिरूप चार अनन्तानुबन्धी इस प्रकार इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे जो सम्यग्दर्शन

१. All others except P लब्ध्यादिना युक्तः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

393) एकं प्रशमसंवेगदयास्तिक्यादिलक्षणम् ।
आत्मनः शुद्धिमात्रं[1] स्यादितरच्च समन्ततः ॥६*४॥ इति[2] ।
394) द्रव्यादिकमथासाद्य तज्जीवैः प्राप्यते क्वचित् ।
पञ्चविंशतिमुत्सृज्य दोषांस्तच्छक्तिघातकान्[3] ॥७

भवन्ति । तासां सप्तप्रकृतीनां प्रशमात् औपशमिकम् । सम्यक् क्षयात् क्षायिकम् । च पुनः । उभयतः प्रशमात् क्षयाद्वा क्षायोपशमिकमिति सूत्रार्थः ॥६*३॥ अथ वीतरागसम्यक्त्वमाह ।

393) एकं—आत्मनः एकं सम्यक्त्वं स्यात् । कीदृशम् । प्रशमसंवेगदयास्तिक्यादिलक्षणम् । क्रोधाद्यभावः प्रशमः । संसारासारतासंवेगः दया । आस्तिक्यं जिनधर्मस्थापनम् । तदेव लक्षणं यस्य तत् । पुनः कीदृशम् । आत्मनः शुचिमात्रं* पवित्रम् । च पुनः । इतरत् सम्यक्त्वं समन्ततः सर्वप्रकारेण वीतरागसम्यक्त्वं भवतीत्यर्थः ॥६*४॥ अथ सम्यक्त्वप्राप्तिकारणमाह ।

394) द्रव्यादिक—अथेत्यानन्तर्ये । तत्सम्यक्त्वं जीवैः क्वचित् प्राप्यते । किं कृत्वा । द्रव्यादिकमासाद्य प्राप्य । पञ्चविंशतिदोषानुत्सृज्य त्यक्त्वा । कीदृशान् दोषान् । तच्छक्तिघातकान् सम्यक्त्वघातकान् । इति सूत्रार्थः ॥७॥ [अथ सम्यग्दर्शनदोषानाह । उक्तं च—

उत्पन्न होता है वह औपशमिक; उन्हीं सात प्रकृतियोंके क्षयसे जो उत्पन्न होता है वह क्षायिक तथा उन्हींके क्षयोपशमसे जो उत्पन्न होता है वह क्षायोपशमिक कहलाता है। इस प्रकार निर्मल बुद्धिके धारक गणधरादि उस सम्यग्दर्शनके तीन भेद बतलाते हैं ॥६*३॥

एक सम्यग्दर्शन प्रशम, संवेग, दया और आस्तिक्य स्वरूप तथा दूसरा सब ओरसे निवृत्त होकर केवल आत्माकी शुद्धिमात्रकी अपेक्षा करनेवाला है। विशेषार्थ—अभिप्राय इसका यह है कि उक्त सम्यग्दर्शन जिस प्रकार कारणकी अपेक्षासे तीन प्रकारका है उसी प्रकार से वह स्वामीकी अपेक्षासे दो प्रकारका भी है—सरागसम्यग्दर्शन और वीतरागसम्यग्दर्शन। जो सम्यग्दर्शन रागी जीवके होता है वह सराग और जो वीतरागके होता है वह वीतराग सम्यग्दर्शन कहलाता है। इनमें सरागसम्यग्दर्शनकी पहिचान प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन गुणोंके द्वारा होती है। बाह्य वस्तुओंके आश्रयसे मनमें राग-द्वेषबुद्धिका उत्पन्न न होना, इसका नाम प्रशम है। शारीरिक, मानसिक एवं आगन्तुक दुःखोंके कारणभूत संसारसे भयभीत होनेका नाम संवेग है। मनमें समस्त प्राणियोंके प्रति जो दयालुता उदित होती है उसे अनुकम्पा कहते हैं। आप्त, आगम और पदार्थोंके अस्तित्वकी दृढताको आस्तिक्य कहा जाता है। इन गुणोंके सद्भावमें उस सम्यग्दर्शनके सद्भावका अनुमान मात्र किया जा सकता है। परन्तु उनके अभावमें उस सम्यग्दर्शनका अभाव निश्चित जाना जाता है। वीतरागसम्यग्दर्शन आत्माकी शुद्धि मात्र है। इसमें आप्त, आगम एवं पदार्थ आदिका विकल्प ही नहीं रहता है ॥६*४॥

जीव द्रव्य-क्षेत्रादिरूप सामग्रीको प्राप्त करके सम्यग्दर्शन शक्तिके घातक पच्चीस दोषोंको नष्ट करते हुए कहींपर भी—चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें—उस सम्यग्दर्शनको प्राप्त करते हैं ॥७॥ कहा भी है—

१. N शक्तिमात्रं, B] शुचिमात्रं । २. P M इति । ३. V C R °तच्छक्तिघातकं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

395) [[1]उक्तं च—

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् ।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ।।७*१]

395) मूढत्रयं—सम्यग्दर्शनस्य पञ्चविंशतिदोषाः प्रोक्ताः। के ते। मूढत्रयं लोक-देवता-पाखण्डिमूढता इति त्रयो दोषाः। ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः। अष्टावाश्रित्य मानित्वम्। स्मयो नाम मदः। स चाष्टविधः। कुदेव-कुगुरु-कुधर्माः तेषां सेवकाश्च एवं षडायतनानि। शङ्का-काङ्क्षा - विचिकित्सा-मूढदृष्टिः-अनुपगूहनम्-अस्थितीकरणं-वात्सल्याभावः-प्रभावनाभावश्चेति अष्टौ शङ्कादयो दोषा इत्यर्थः ।।७*१।।] अथ सप्ततत्त्वान्याह।

तीन मूढ़ता, आठ मद, छह अनायतन और शंका आदि आठ; इस प्रकार ये पच्चीस दोष उक्त सम्यग्दर्शनको मलिन करनेवाले हैं। विशेषार्थ—मूढ़ताका अर्थ अज्ञानता होता है। वह अज्ञानता संक्षेपमें तीन प्रकारकी हो सकती है—धर्मके विषयमें, देवके विषयमें, और गुरुके विषयमें। गंगा आदिमें नहाने, बालु और पत्थरोंका ढेर करने, पर्वतसे गिरने और सती आदिके रूपमें अग्निमें जल मरने; इत्यादि क्रियाओंमें धर्मके न होते हुए भी धर्म मानना, यह धर्मविषयक अज्ञानता है। इसे लोकमूढ़ता या धर्ममूढ़ताके नामसे कहा जाता है। अभीष्टसिद्धिके कारण मानकर धन या सन्तानकी प्राप्ति आदिकी अभिलाषासे राग-द्वेषादिसे दूषित देवताओंकी—आप्ताभासोंकी—आराधना करनेका नाम देवमूढ़ता है। जो आरम्भ, परिग्रह एवं हिंसा आदिमें रत होते हुए भी साधुके वेषको धारण करते हैं उन असाधुओंको साधु समझ कर उनकी यथार्थ साधुके समान भक्ति व उपासना आदि करना, यह गुरुमूढ़ता है। बुद्धि, पूजा-प्रतिष्ठा, कुल (पितृवंश), जाति (मातृवंश), शारीरिक बल, धन-सम्पत्ति, तप (उपवास आदि) और शरीर सौन्दर्य; इन आठमेंसे जिस किसीके भी आश्रयसे अन्तःकरणके भीतर अभिमान प्रादुर्भूत होता है उसे उस उस नामका मद—जैसे बुद्धिमद व प्रतिष्ठामद आदि—समझना चाहिए। आयतनका अर्थ स्थान होता है। जो धर्मके आयतन होते हैं वे धर्मायतन कहे जाते हैं। किन्तु जो धर्मके वस्तुतः स्थान नहीं होते हैं वे अनायतन कहलाते हैं और वे संक्षेपमें छह हैं—कुदेव, कुश्रुत और कुलिंगी (कुगुरु) तथा इन तीनोंके भक्त—कुदेवभक्त, कुश्रुतभक्त व कुलिंगिभक्त। इन छहोंकी प्रशंसा आदि करनेसे सम्यग्दर्शन मलिन होता है। इनके अतिरिक्त जो शंका आदि आठ दोष हैं वे ये हैं—१. आगममें तपश्चरणसे अनेक ऋद्धियों एवं स्वर्ग-मोक्षकी जो प्राप्ति बतलायी गयी है वह सत्य है क्या, इत्यादि प्रकारसे होनेवाली तत्त्वश्रद्धानकी शिथिलताका नाम शंका है। २. सांसारिक सुखको स्थिर समझकर भोगोंकी अभिलाषा रखनेका नाम कांक्षा है। ३. मुनि आदिके मलिन शरीरको देखकर मनमें ग्लानिका भाव उत्पन्न होना, यह विचिकित्सा दोष है। ४. यथार्थ व अयथार्थकी परीक्षा न करके मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र तथा इनके धारकजनोंकी पूजा व स्तुति आदि करना; इसका नाम मूढ़दृष्टि है। ५. यदि अज्ञानी या अशक्तजनोंके कारण मोक्षमार्गकी निन्दा होती हो तो उसे दूर करनेका प्रयत्न नहीं करना तथा

१. P L F V C Y Om. this verse, M N उक्तं च– ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

396) जीवाजीवास्रवा बन्धः संवरो[1] निर्जरा ततः[2] ।
मोक्षश्चैतानि सप्तैव तत्त्वान्यूचुर्मनीषिणः ॥८॥ तद्यथा[3]–
397) अनन्तः सर्वदा सर्वो जीवराशिर्द्विधा स्थितः[4] ।
सिद्धेतरविकल्पेन त्रैलोक्यभुवनोदरे ॥९
398) सिद्धस्त्वेकस्वभावः स्याद् दृग्बोधानन्द[5]शक्तिमान् ।
मृत्यूत्पत्त्यादि[6]जन्मोत्थक्लेशप्रचयविच्युतः ॥१०

396) जीवाजीवा—[मनोषिणो विद्वांस ऊचुः कथितवन्त इत्यर्थः ॥८॥] तद्यथा । अथ जीवभेदानाह ।

397) अनन्तः—सिद्धेतरभेदात् । इतरे संसारिणः । शेषं सुगमम् ॥९॥ तत्राद्यभेदमाह ।

398) सिद्धस्त्वेक—सिद्धः । तु पुनः । एकस्वभावः स्यात् । कीदृशः । दृग्बोधानन्दशक्ति-

अपनी प्रशंसा और दूसरोंकी निन्दा करना, यह अनुपगूहन दोष है । ६. प्राणियोंको मोक्ष-मार्गसे भ्रष्ट होते हुए देख करके भी उन्हें उसमें स्थिर रखनेका प्रयत्न नहीं करना, इसे अस्थितीकरण कहा जाता है । ७. साधर्मीजनोंका सद्भावनाके साथ यथायोग्य आदर-सत्कार नहीं करना, इसका नाम अवात्सल्य है । ८. जैन धर्मविषयक अज्ञानताको दूर करके उसकी महिमाको प्रदर्शित करनेका प्रयत्न नहीं करना या स्वयं अज्ञानतावश ऐसा आचरण करना कि जिससे धर्मकी निन्दा हो सकती हो, इसका नाम अप्रभावना है । ये पच्चीस (२५) उस सम्यग्दर्शनके दोष हैं । उसे निर्मल रखनेके लिए इन दोषोंको दूर करना ही चाहिए ॥७*१॥

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सातोंको विद्वान् पुरुष तत्त्व कहते हैं ॥८॥

इनमेंसे प्रथमतः १६ श्लोकोंमें जीवतत्त्वका वर्णन इस प्रकारसे किया गया है—तीन लोकरूप भुवनके भीतर सिद्ध और संसारीके भेदसे सदा अवस्थित रहनेवाली समस्त जीवराशि अनन्त है । विशेषार्थ—जीवका स्वरूप ज्ञान-दर्शन है । ये जीव संसारी और सिद्ध-के भेदसे दो प्रकारके हैं । जो ज्ञानावरणादि कर्मोंके वशीभूत होकर निरन्तर जन्म-मरणको प्राप्त होते हुए चतुर्गतिमें परिभ्रमण किया करते हैं वे संसारी कहे जाते हैं । इसके विपरीत जो उन आठों कर्मोंसे रहित होते हुए जन्म-मरणके दुःखसे छुटकारा पाकर अविनश्वर एवं अबाधित सुखको प्राप्त हो चुके हैं वे सिद्ध या मुक्त जीव कहलाते हैं । इन सब जीवोंकी संख्या अनन्त है ॥९॥

जो जीव दर्शन, ज्ञान, आनन्द (सुख) और शक्ति (वीर्य) स्वरूप अनन्त चतुष्टयको

१. MN बन्धसंवरौ, B °जोवाश्रवबन्धः संवरो, Y जीवास्रवो बन्धः । २. All others except PMB तथा for ततः । ३. P M L B X तद्यथा, F उक्तं च । ४. B J द्विधा भवेत् । ५. F V C Y °बोधानन्तशक्तिमान् । ६. V C R मृत्यूत्पादादि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

399) चरस्थिरभवोद्भूतविकल्पैः कल्पिताः पृथक् ।
भवन्त्यनेकभेदास्ते जीवाः संसारवर्तिनः ॥११

400) पृथिव्यादिविभेदेन स्थावराः पञ्चधा मताः ।
त्रसास्त्वनेकभेदास्ते नानायोनिसमाश्रिताः ॥१२

401) चतुर्धा गतिभेदेन भिद्यन्ते प्राणिनः परम् ।
मनुष्यामरतिर्यञ्चो नारकाश्च यथायथम्[1] ॥१३

मान् दर्शनज्ञानानन्दशक्तियुक्तः । पुनः कीदृशः । मृत्यूत्पादादिजन्मोत्थक्लेशप्रचयविच्युतः मरणोत्पत्त्यादिजन्मभ्यः उत्थः क्लेशः तस्य प्रचयः समूहः तेन विच्युतो रहितः । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ संसारिजीवानाह ।

399) **चरस्थिर**—ते संसारवर्तिनो जीवा अनेकभेदा भवन्ति । कीदृशाः । पृथक् पृथक् कल्पिताः । कैः । चरस्थिरभवोद्भूतविकल्पैः ॥११॥ त्रसस्थावरभेदानाह ।

400) **पृथिव्यादि**—[पृथिवी, आपः, तेजः, वायुः, वनस्पतिः, इति पञ्चप्रकाराः स्थावरा एकेन्द्रियाः । नानायोनिषु समाश्रिताः त्रसाः द्वीन्द्रियादयः नैकभेदाः कथिता इत्यर्थः ॥१२॥] पुनः संसारिजीवानाह ।

401) **चतुर्धा**—[देवमनुष्यतिर्यञ्चनारका इति गतिभेदेन प्राणिनां चत्वारो भेदाः ॥१३॥ प्राणिनां भ्रमणमाह ।

प्राप्त कर चुका है वह सिद्ध कहा जाता है। सब सिद्ध जीव उक्त अनन्त चतुष्टयकी अपेक्षा एक ही स्वभाववाले (समान) हैं। ये मरण और जन्म आदिरूप संसारके कष्टसमूहसे सर्वदाके लिए रहित हो चुके हैं ॥१०॥

चर और स्थिर स्वरूप संसारपरिभ्रमणसे उत्पन्न हुए भेदोंके द्वारा पृथक्-पृथक् भेदकी कल्पनाको प्राप्त हुए वे संसारी जीव अनेक भेदोंमें विभक्त हैं। अभिप्राय यह है कि संसारी जीव मूलमें दो प्रकारके हैं—त्रस और स्थावर। जो त्रस नामकर्मके उदयसे चलने-फिरनेमें समर्थ होते हैं वे त्रस कहलाते हैं। किन्तु जो स्थावर नामकर्मके उदयसे इच्छानुसार गमनागमनमें असमर्थ होते हैं वे स्थावर कहे जाते हैं। वे सब अनेक प्रकारके हैं। इन भेदोंका निर्देश आगे ग्रन्थकार स्वयं करते हैं ॥११॥

स्थावर जीव पृथिवी आदिके भेदसे—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति इन भेदोंकी अपेक्षा—पाँच प्रकारके माने गये हैं। त्रस जीव अनेक प्रकारके हैं और वे विविध अवस्थाओंको प्राप्त हैं ॥१२॥

सब संसारी जीव यथायोग्य गतिकी अपेक्षा केवल चार भेदोंमें विभक्त हैं—मनुष्य, देव, तिर्यंच और नारक ॥१३॥

---

१. J यथायथा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

402) भ्रमन्ति[1] नियतं जन्मकान्तारे कश्मलाशयाः[2] ।
दुरन्तकर्मसंपात[3]प्रपञ्चवशवर्तिनः ॥१४

403) किं तु तिर्यग्गतावेव स्थावरा विकलेन्द्रियाः ।
असंज्ञिनश्च नान्यत्र प्रभवन्त्यङ्गिनः क्वचित् ॥१५

404) उ[4]पसंहारविस्तारधर्मा[5] दृग्बोधलाञ्छनः ।
कर्ता भोक्ता स्वयं जीवस्तनुमात्रो ऽप्यमूर्तिमान् ॥१६

402) भ्रमन्ति— कश्मलाशयाः पापबुद्धयो जीवा अनन्तकर्मसंघातविस्तारवशवर्तिनो जन्मकान्तारे पुनर्जन्मानुबन्धिनि संसारे नियतं निश्चितं भ्रमन्ति पर्यटन्ति, इत्यर्थः ॥१४॥] अथ जीवानां तिर्यग्गतिमाह ।

403) किं तु— अङ्गिनो जीवाः क्वचित् अन्यत्र न प्रभवन्ति नोत्पद्यन्ते । किं तु विशेषे । स्थावराः पञ्च पृथिव्यादयः । विकलेन्द्रिया द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः । चकारात् असंज्ञिनः । तिर्यग्गतावेव उत्पद्यन्ते । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ जीवस्वरूपमाह ।

404) उपसंहार— जीवः स्वयं कर्ता भोक्ता तनुमात्रो देहमात्रव्यापी अमूर्तिमान् । पुनः कीदृशः । दृग्बोधलाञ्छनः दर्शनज्ञानलक्षणः । पुनः कीदृशः । उपसंहारविस्तार*धर्मः कुन्थुदन्तिदेहप्रमाणोपसंहारविस्तारजीवप्रदेशः । इति तात्पर्यार्थः ॥१६॥ उक्तं च । अथ जीवस्योत्पत्तिमाह ।

हृदयमें मोह या मूर्च्छाको धारण करनेवाले वे सब संसारी जीव दुर्विनाश कर्मके उदयसे आरम्भ व प्रतारणामें संलग्न होकर नियमसे परिभ्रमण कर रहे हैं ॥१४॥

परन्तु उपर्युक्त पृथिवी आदिस्वरूप पाँच स्थावर, विकलेन्द्रिय— द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय व चतुरिन्द्रिय— तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी ये सब एक मात्र तिर्यंचगतिमें ही होते हैं, अन्य किसी गतिमें वे नहीं प्राप्त होते हैं ॥१५॥

जीव अमूर्तिक— रूप, रस, गन्ध व स्पर्शसे रहित— होकर भी संकोच व विस्ताररूप धर्म (स्वभाव) के कारण प्राप्त हुए शरीरके प्रमाण रहता है। वह ज्ञान और दर्शन स्वरूपको प्राप्त होकर स्वयं कर्मका कर्ता और उसके फलका भोक्ता भी है ॥ विशेषार्थ— जीव स्वभावसे अमूर्तिक है। परन्तु वह अनादि कालसे कर्मके साथ एकमेक हो रहा है। इस दृष्टिसे उसे मूर्तिक भी कहा जाता है। वह यद्यपि प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात प्रदेशी-लोकके बराबर है, फिर भी नामकर्मके उदयसे जिस अवस्थामें जो शरीर उसे प्राप्त होता है उसीके भीतर वह संकोच और विस्तारको प्राप्त होकर रहता है। उदाहरण स्वरूप जैसे— दीपकका प्रकाश यद्यपि असीमित है, फिर भी वह यथायोग्य छोटे-बड़े कमरे आदिको पाकर तत्प्रमाण ही रहता है। सांख्य प्रकृतिको कर्त्री और पुरुषको भोक्ता मानते हैं। इसे लक्ष्यमें रखते हुए यहाँ यह बतलाया गया है कि वह जीव स्वयं कर्ता भी है और स्वयं भोक्ता भी है ॥१६॥ कहा भी है।

१. P first line is written on the margin । २. Others except P M V B कल्मषाशयाः । ३. M N कर्मसंघात । ४. P adds this verse on the margin । ५. B विस्तारधर्मो ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

405) उक्तं च[1]—

तत्र जीवत्यजीवच्च[2] जीविष्यति सचेतनः ।
यस्मात्तस्माद्बुधैः प्रोक्तो जीवस्तत्त्वविदां वरैः ॥१६*१

406) एको द्विधा त्रिधा जीवश्चतुःसंक्रान्तिपञ्चगः[3] ।
षष्ठमः[4] सप्तभङ्गो ऽष्टाश्रयो नव-दशस्थितिः[5] ॥१७

407) भव्याभव्यविकल्पो ऽयं [6]जीवराशेर्निसर्गजः ।
मतः पूर्वो ऽपवर्गाय जन्मपङ्काय चेतरः ॥१८

405) तत्र—[भूतवर्तमानभाविकालेषु सचेतन एव जीवति इति तत्त्वविद्वरैः प्रोक्तमित्यर्थः ॥१६*१॥] अथ जीवानामनेकत्वमाह ।

406) एको द्विधा—एकश्चैतन्यरूपः । द्विधा त्रसस्थावरभेदात् । त्रिधा एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-सर्वेन्द्रियभेदात् । चतुर्धा एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-संज्ञ्यसंज्ञिभेदात् । पञ्च भेदा यथा एकेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियपर्यन्ताः । षड् भेदा यथा एकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियपर्यन्ताः षष्ठः त्रसस्थावररूपश्च । पञ्च-स्थावरविकलेन्द्रियसकलेन्द्रियभेदात् सप्त । पञ्चस्थावरविकलेन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिसंक्रमादष्टप्रकारः । सकलेन्द्रियविकलत्रयं पञ्च स्थावरा इति नव भेदाः । पञ्चस्थावरविकलत्रयं संज्ञ्यसंज्ञिभेदात् दशधा । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ भव्याभव्यस्वरूपमाह ।

407) भव्याभव्य—अयं जीव*राशिर्भव्याभव्यविकल्पो निसर्गजः स्वभावजो भवति । पूर्वो

जो चेतनासे संयुक्त रहकर जीता है, जीता था और जीवित रहेगा वह जीव है; ऐसी चूँकि जीवकी निरुक्ति है, इसीलिए तत्त्वज्ञोंमें श्रेष्ठ विद्वानोंने उसे जीव कहा है ॥१६*१॥

जीव चेतनतासामान्यकी अपेक्षा एक प्रकारका; त्रस और स्थावर अथवा भव्य और अभव्यकी अपेक्षा दो प्रकारका; एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रियकी अपेक्षासे तीन प्रकारका; एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञी और असंज्ञीकी अपेक्षा अथवा चार गतियोंकी अपेक्षा चार प्रकारका; इन्द्रियभेदसे पाँच प्रकारका; पाँच स्थावर और त्रस भेदोंकी अपेक्षा छह प्रकारका; पाँच स्थावर, विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय इन भेदोंकी अपेक्षा अथवा अस्तित्वादि भंगोंकी अपेक्षा सात प्रकारका; पाँच स्थावर, विकलेन्द्रिय, संज्ञी और असंज्ञी इन भेदोंकी अपेक्षा आठ प्रकारका; पाँच स्थावर और द्वीन्द्रियादि चार त्रस इस प्रकारसे नौ प्रकारका; तथा पाँच स्थावर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी और असंज्ञी पंचेन्द्रिय इस प्रकारसे दस प्रकारका है ॥१७॥

जीवराशिकी जो यह भव्य और अभव्यरूप विशेषता है वह स्वभावजनित है। इनमें भव्य जीव मोक्षके लिए और अभव्य जीव संसाररूप कीचड़में निमग्न रहनेके लिए माना गया

१. P M B उक्तं च– । २. V B C J X Y R जीवत्यजीवोच्च । ३. All others except P M N पञ्चमः, M N पञ्चकः । ४. M N L F षट्क्रमः, Others षट्कर्म । ५. M N नवदशस्थितः । ६. All others except P M N जीवराशिः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

408) सम्यग्ज्ञानादिरूपेण ये भविष्यन्ति जन्तवः ।
प्राप्य द्रव्यादिसामग्रीं ते भव्या मुनिभिर्मताः ॥१९

409) अन्धपाषाणकल्पं स्यादभव्यत्वं[1] शरीरिणाम् ।
यस्माद्यत्नशतेनापि[2] नात्मतत्त्वं पृथग्भवेत् ॥२०

410) अभव्यानां स्वभावेन सर्वदा[3] जन्मसंक्रमः ।
भव्यानां भाविनी मुक्तिर्निःशेषदुरितक्षयात् ॥२१

411) यथा धातोर्मलैः सार्धं संबन्धो ऽनादिसंभवः ।
तथा कर्ममलैर्ज्ञेयः संश्लेषो ऽनादिदेहिनाम् ॥२२

भव्यरूपो ऽपवर्गाय मतो ऽभिमतः । च पुनः । इतरो ऽभव्यरूपः जन्मपङ्काय संसारकर्दमाय मतः । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ भव्यस्वरूपमाह ।

408) सम्यग्ज्ञानादि—ये जन्तवो जीवाः सम्यग्ज्ञानादिरूपेण भविष्यन्ति । किं कृत्वा । द्रव्यादिसामग्रीं प्राप्य । ते जीवा मुनिभिर्भव्या मता इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ जीवस्वरूपमाह ।

409) अन्धपाषाण—शरीरिणां अव्यक्तत्वं* अन्धपाषाणकल्पं स्वर्णपाषाणतुल्यं स्यात् । यस्माज्जन्मशतेनापि आत्मतत्त्वं पृथग् न भवेत् ॥२०॥ अथाभव्यानां स्वरूपमाह ।

410) अभव्यानां—अभव्यानां जीवानां सर्वदा निरन्तरं स्वभावेन जन्मसंक्रमः स्यात् । भव्यानां भाविनी मुक्तिर्वर्तते । कस्मात् । निःशेषदुरितक्षयात् सर्वपापक्षयात् ॥२१॥ अथ जीवेन सहानादिसंबन्धमाह ।

411) यथा धातोः—यथेति दृष्टान्तोपन्यासे । धातोर्लोहादिकस्य स्वर्णादेर्वा । मलैः

है । अभिप्राय यह है कि भव्य जीव अपनी योग्यताके अनुसार मोक्षगामी है, परन्तु अभव्य जीव सदा संसारमें ही परिभ्रमण करनेवाला है—उसमें मोक्षप्राप्तिकी योग्यता नहीं है ॥१८॥

जो प्राणी द्रव्य-क्षेत्रादिरूप सामग्रीको प्राप्त करके सम्यग्ज्ञानादि स्वरूपसे परिणत होंगे वे मुनियोंके द्वारा भव्य माने गये हैं ॥१९॥

प्राणियोंका अभव्यपना अन्धपाषाणके समान है । कारण यह कि उन्हें सैकड़ों प्रयत्नोंके करने पर भी कभी आत्मतत्त्वका पृथक् अनुभव नहीं होता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अन्धपाषाण कभी सुवर्णस्वरूपसे परिणत नहीं हो सकता है उसी प्रकार अभव्य जीव कभी रत्नत्रयस्वरूपसे परिणत नहीं होते और इसीलिए उन्हें मुक्ति भी कभी प्राप्त नहीं होती, क्योंकि, उनमें वैसी योग्यताका अभाव है ॥२०॥

अभव्य जीवोंका स्वभावसे ही निरन्तर संसारमें संचरण हुआ करता है—वे सदा जन्म-मरणको प्राप्त होते हुए संसारमें ही परिभ्रमण किया करते हैं । परन्तु भव्योंको समस्त पापके—द्रव्य और भाव कर्मके—क्षयसे भविष्यमें मुक्ति प्राप्त होनेवाली है ॥२१॥

जिस प्रकार धातुका—सुवर्णपाषाणादिका—अनादि कालसे मलके साथ सम्बन्ध

१. B स्यादव्यक्तत्वं । २. All others except P यस्माज्जन्मशतेनापि । ३. M सर्वथा जन्म ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

412) द्वयोरनादिः[1] संसारः[2] सान्तः पर्यन्तवर्जितः।
वस्तुस्वभावतो ज्ञेयो भव्याभव्याङ्गिनोः क्रमात् ॥२३

413) चतुर्दश समासेषु मार्गणासु गुणेषु च।
ज्ञात्वा संसारिणो जीवाः श्रद्धेयाः शुद्धदृष्टिभिः[3] ॥२४॥जीवः[4]॥

सार्धमनादिसंभवः संबन्धो यथा वर्तते तथा देहिनां प्राणिनां कर्ममलैरनादिसंबन्धो ज्ञेयः। इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ भव्याभव्यानां कर्मसंबन्धमाह।

412) द्वयोः—भव्यस्यानादिः सान्तः कर्मबन्धः। अभव्यस्यानाद्यनन्तः। कस्मात्। अनादिसंसारात्* अयं कर्मबन्धो वस्तुस्वभावतो ज्ञेयः। भव्याभव्याङ्गिनः क्रमात्। इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ जीवानां मार्गणादिषु दर्शयन्नाह।

413) चतुर्दश—शुद्धदृष्टिभिः सम्यग्दर्शिभिः संसारिणो जीवाः चतुर्दशसमासेषु जीवभेदेषु श्रद्धेयाः। तत्र संज्ञिपञ्चेन्द्रियत्वं नारकमनुष्यदेवेषु। असंज्ञिपञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्च एव। द्रव्यभावमनोभावात् एकेन्द्रियाः सूक्ष्मबादररूपा असंज्ञिन एव। संज्ञ्यसंज्ञिभेदद्वयोपेताः पञ्चेन्द्रियाः। विकलत्रिकं द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः भेदत्रयमेतत्। सूक्ष्मबादररूपेणैकेन्द्रियं द्वयं चेति सप्तसु जीवसमासेषु पर्याप्तापर्याप्तभेदद्वयम्। ततो जाताः चतुर्दशसु जीवसमासाः। अथ मार्गणासु जीवान् दर्शयति। तत्र गाथा—"गइ इंदियेसु काये" (गोम्मटसार० जीवकाण्ड० १४१) तत्र नामकर्मोदयात् प्राप्तशुभाशुभफला देवनारकतिर्यङ्मनुष्यभेदेन चतुःप्रकारा गतिमार्गणा भवति। अतीन्द्रियज्ञानप्रतिकूला चैकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदात् पञ्चप्रकारा चेन्द्रियमार्गणा। शरीरनामकर्मोदयात् पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायभेदात् षड्भेदा कायमार्गणा। अव्यापारविशुद्धबोधात्मतत्त्वाभावात् मनोवचनकायभेदेन त्रिधा योगमार्गणा। अथवा प्रकारान्तरमाह। सत्यासत्योभयानुभयभेदेन चतुर्विधो मनोयोगो वचनयोगश्च। औदरिकौदरिकमिश्रवैक्रियिकवैक्रियिकमिश्रआहारकाहारकमिश्रकार्मणकाय-

रहता है उसी प्रकार प्राणियोंका अनादि कालसे कर्म-मलके साथ सम्बन्ध जानना चाहिए ॥२२॥

भव्य और अभव्य दोनोंका ही अनादि है। परन्तु वह अनादि संसार वस्तुस्वभावके अनुसार क्रमसे भव्यका सान्त—नष्ट हो जानेवाला है और अभव्यका वह अन्तसे रहित—अनन्त काल तक रहनेवाला—है ॥२३॥

शुद्ध सम्यग्दृष्टियोंको चौदह जीवसमासों, चौदह मार्गणाओं और चौदह गुणस्थानोंका आश्रय करके उन संसारी जीवोंके स्वरूपको जानना चाहिए और तदनुसार श्रद्धान भी करना चाहिए। विशेषार्थ—संसारी जीवोंके स्वरूपको जाननेके लिए जीवसमास, मार्गणा और गुणस्थान आदि (पर्याप्ति व प्राण आदि) का जानना आवश्यक है; क्योंकि उनके जाने विना उक्त जीवोंका पूर्ण बोध नहीं हो सकता है। उनमें जीवसमासका जीवोंका संक्षेप, अर्थात् जिन अवस्थाविशेषोंके द्वारा अनेक जीव और उनकी जातियोंका सामूहिक रूपमें बोध होता है उन्हें जीवसमास कहा जाता है। वे संक्षेपसे चौदह हैं—बादर एकेन्द्रिय,

१. All others except P द्वयोरनादिसंसारः। २. B संसारात् सान्तपर्यन्त। ३. X Y शुद्धबुद्धिभिः। ४. P L X जीवः, F इति जीवपदार्थः प्रतिपादितः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भेदात् त्रिधा वेदमार्गणाः। शुद्धात्मतत्त्वाभावात् क्रोधमानमायालोभभेदेन चतुर्विधाः कषायमार्गणाः विस्तरेण कषायनोकषायजनितभेदात् पञ्चविंशतिविधा: वा । मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानपञ्चकं कुमत्याद्यज्ञानत्रयं मेलादष्टप्रकारा ज्ञानमार्गणाः। सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातचारित्रभेदेन पञ्च प्रकाराः। संयमासंयमस्तथासंयमः प्रतिपक्षद्वयेन सह सप्तप्रकाराः संयममार्गणाः। चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदेन चतुर्विधा दर्शनमार्गणाः। अनन्तपरमात्मद्रव्यप्रतिकूलाः कृष्णनीलकापोततेजःपीतशुक्लभेदात् षट्प्रकारा लेश्यामार्गणाः। भव्याभव्यभेदेन द्विधा भव्यमार्गणाः। औपशमिक-क्षायोपशमिक-क्षायिक-सम्यक्त्वभेदाः त्रिधा सम्यक्त्वमार्गणाः। मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रसंज्ञविपक्षत्रयपतनात् षट्प्रकाराः सम्यक्त्वमार्गणाः। संज्ञ्यसंज्ञिभेदात् द्विविधाः संज्ञिमार्गणाः। आहारकानाहारकभेदाद् द्विविधाः आहारकमार्गणाः। इति चतुर्दशमार्गणा ज्ञातव्याः। तत्र सर्वासु गतिषु सर्वे संसारिजीवाः सन्ति इति गतिमार्गणा। अन्तरालगतिस्थजीवान् विहाय सर्वेन्द्रियेषु सर्वे जीवाः सर्वकायेषु सर्वे संसारिजीवा इति कायमार्गणा। कर्मणोपलक्षितान्तरालगतिस्थान् त्यक्त्वा सर्वयोगेषु सर्वे जीवा इति योगमार्गणा। व्यवहारापेक्षया अन्तरालस्थान् वेदक्षपकान् तान् जीवान् परित्यज्य त्रिषु वेदेषु सर्वे जीवाः प्राप्यन्ते इति वेदमार्गणा। एवं शेषास्वनुक्तासु यावन्तो जीवभेदा वर्तन्ते तत्र ग्रन्थान्तरादवसेया इति मार्गणासु संसारिजीवाः प्ररूपिताः। सांप्रतं गुणस्थानेषु तानाह। 'मिच्छो सासण'॥ (गोम्मटसार-जीवकाण्ड ९) निजपरमात्मतत्त्वस्य सर्वज्ञप्रणीतागमोक्तरत्नत्रयरूपमोक्षमार्गस्य श्रद्धानं यस्य नास्ति स मिथ्यादृष्टिः। देवमानुषनारकपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु केषांचित् सम्यक्त्वं तान् विहाय सर्वे मिथ्यादृष्टयः। अथ पाषाणरेखादिसमानानन्तानुबन्धिचतुष्कक्रोधमानमायालोभान्यतरोदयेन प्रथमौपशमिकसम्यक्त्वोत्पत्तितो मिथ्यात्वं नाद्यापि गच्छतीत्यन्तरालवर्ती सासादनः। उपशमश्रेणेः पतन् जीवः सासादनः स्वशुद्धात्मादितत्त्वं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतं परप्रणीतं च मन्यते यः दर्शनमोहनीयभेदमिश्रकर्मोदयेन दधिगुडमिश्रभाववत् मिश्रगुणस्थानम्। तत्रायं सम्यक्त्वप्राप्तिकाले केषांचित् भवति इति मिश्रगुणस्थानम्। ननु सर्वे देवा वन्दनीया न च निन्दनीया इत्यादिवैनयिकमिथ्यादृष्टेः सम्यग्मिथ्यादृष्टेः को विशेषः। उच्यते। तत्र वैनयिकमिथ्यादृष्टेः सर्वदेवभक्तिविषये कस्यापि वन्दनेन मम पुण्यं भविष्यति इति अभयेन भक्ति करोति, मम पुण्यं भविष्यत्येवेति निश्चयो नास्ति। मिश्रस्य पुनरुभयत्रापि निश्चयोऽस्तीति विशेषः। अप्रत्याख्याने द्वितीयकषायोदयेन आत्मनिन्दादिसहितः इन्द्रियसुखमनुभवति इत्यविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्। यद्यप्यन्यत्रापि स्यात्तथा स देवमनुष्ययोर्विशेषः इति अविरतगुणस्थानम्। अविरतसम्यग्दृष्टौ सत्यां तृतीयकषायोदयाभावेन

सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय; इस प्रकार ये सात हैं जो पर्याप्त और अपर्याप्त भेदोंमें विभक्त होनेसे चौदह हो जाते हैं। इनके उत्तरभेदों (पृथिवी व जल आदि) को ग्रहण करनेपर उक्त जीवसमासके सत्तावन (५७) भेद भी हो जाते हैं। मार्गणाका अर्थ अन्वेषण होता है। तदनुसार जिन अवस्था विशेषोंके द्वारा अथवा जिन अवस्थाओंमें जीवोंका अन्वेषण (खोज) किया जाता है उनका नाम मार्गणा है। वे मार्गणाएँ निम्न प्रकारसे चौदह हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार। इनका विशद वर्णन गोम्मटसार-जीवकाण्डमें किया गया है, वहाँसे देखना चाहिए। मोहनीय कर्मके उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय आदिके होनेपर जीवोंके जो परिणाम प्रादुर्भूत होते हैं उन्हें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

414) धर्माधर्मनभःकाला[1] पुद्गलैः सह योगिभिः ।
द्रव्याणि षट् प्रणीतानि जीवपूर्वाण्यनुक्रमात् ॥२५

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहनिवृत्तिलक्षणं देशविरतिगुणस्थानम् । तत्र पञ्चेन्द्रियसंज्ञितिर्यञ्चमनुष्याः एवं पूर्वप्राप्तसम्यक्त्वा वर्तन्ते । अथ धूलिरेखासदृशक्रोधादितृतीयकषायोदयाभावे सति हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहरूपेषु पञ्च महाव्रतेषु वर्तते । यदा दुःस्वप्नादिव्यक्ताव्यक्तप्रमादसहितो ऽपि षष्ठगुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयतो भवति । स पञ्चेन्द्रियमनुष्यसाधुरेव भवति इति प्रमत्तगुणस्थानम् । स एव जलरेखादिसमानसंज्वलनकषाये मन्दोदये सति शुद्धात्मतत्त्वमलजनकव्यक्ताव्यक्तप्रमादरहितः सन् सप्तमगुणस्थानवर्ती अप्रमत्तसंयतः । तत्रापि सम्यक्त्वादिसहितः साधुरेव इत्यप्रमत्तगुणस्थानम् । स एव गतसंज्वलनकषाये मन्दोदये सत्यपूर्वानन्दामृतसुखस्पर्शी उपशमक्षपकश्रेणिप्रारम्भको ऽपूर्वकरणगुणस्थानमष्टमम् । अत्रौपशमिकः क्षपको वा निःसंकल्पपरमात्मतत्त्वैकध्यानपरिणामेन द्वितीयकषायादि एकविंशतिभेदभिन्नचारित्रमोहनीयप्रकृतीनामुपशमक्षपकयोः समर्थो नवमगुणस्थानवर्ती जीवो भवति । तत्र द्वावप्युपशमक्षपकौ भवतः । सूक्ष्मपरमात्मतत्त्वध्यानबलात् सूक्ष्मोत्कृष्टगतलोभकषायस्योपशमकक्षपकौ स्तः इति दशमगुणस्थानम् । परमोपशमस्वभावस्वात्मसंबोधबलेन सर्वो ऽपि शान्तमोह एकादशगुणस्थानवर्ती शमकः । उपशमश्रेणिरहितेन क्षपकश्रेणिमार्गेण निःकषायः शुद्धात्मभावनाबलेन क्षीणकषायद्वादशगुणस्थानवर्ती भवति स चोपशमश्रेणिं विहाय क्षपकः मोहक्षयानन्तरान्तर्मुहूर्तंकालं स्वशुद्धात्मबोधरूपैकत्ववितर्कावीचारद्वितीयशुक्लध्यानभेदे स्थित्वान्त्यसमये ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायत्रययुगपदेकसमयेन छित्वा मेघमालाविनिर्गतदिनकर इव सकलविमलकेवलज्ञानकिरणैर्लोकालोकप्रकाशकाः त्रयोदशगुणस्थानवर्तिनो जिनभास्करा भवन्ति । मनोवचनकायवर्गणावलम्बनकर्मादानहेतुप्रदेशस्पन्दलक्षणे योगरहिताश्चतुर्दशगुणस्थानवर्तिनोऽयोगिनो भवन्ति । इति गुणस्थानेषु चतुर्दशसु संसारिजीवाः समाख्याता इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथ जीवप्रतिपक्षत्वात् प्राप्तनिर्देशत्वात् । अथ जीवपदार्थमाह ।

414) धर्माधर्म—सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनद्वयं शुद्धोपयोगः । मतिज्ञानादिरूपो विकलो ऽशुद्धोपयोगः चेतनालक्षणो वा । यत्र द्विधापि नास्ति स अजीवः । धर्माधर्मनभःकालपुद्गलभेदात् पञ्चधा । गतिस्थित्यवगाहवर्तनलक्षणा धर्माधर्माकाशकाला गलनपूरणधर्माणः पुद्गलाः । अथ गाथार्थं उच्यते । योगिभिः षड् द्रव्याणि प्रणीतानि अनुक्रमात् कथितानि । कीदृशानि । जीवपूर्वाणि । जीवस्वरूपं पूर्वमुक्तम् । शेषं सुगमम् ॥२५॥ अथ जीवादीनां स्वरूपमाह ।

गुणस्थान कहते हैं । वे गुणस्थान चौदह हैं—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत-सम्यग्दृष्टि, देशसंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली । इनका विशेष विवरण गोम्मटसार जीवकाण्ड (गा-८-६५) में देखना चाहिए ॥२४॥ जीवतत्त्वका वर्णन समाप्त हुआ ।

उक्त जीवोंके साथ क्रमसे धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल; इन छहको योगियोंने द्रव्य कहा है ॥ विशेषार्थ—जो चेतना अथवा ज्ञान-दर्शनसे रहित है वह अजीव कहलाता है । वह पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालके भेदसे पांच प्रकारका है । इनके साथ जीवों को ग्रहण कर वे छह द्रव्य कहे जाते हैं ॥२५॥

१. P कालः, M N धर्मोऽधर्मो नभःकालः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

415) तत्र जीवादयः पञ्च प्रदेशप्रचयात्मकाः ।
कायाः कालं विना ज्ञेया भिन्नप्रकृतयो ऽप्यमी ॥२६

416) अचिद्रूपा विना जीवममूर्ताः पुद्गलं विना ।
पदार्था वस्तुतः सर्वे स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकाः ॥२७

415) तत्र जीवादयः—तत्र तेषु जीवादयः पञ्च पदार्थाः प्रदेशप्रचयात्मकाः प्रदेशसमूहात्मका ज्ञेया ज्ञातव्याः । कालं विना कायाः । कालस्य कायत्वं न संभवति प्रदेशरहितत्वात् । अमी पूर्वोक्ता भिन्नप्रकृतयः भिन्नस्वभावाः । पृथग्लक्षणत्वात् । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ पुनस्तेषामेव स्वरूपमाह ।

416) अचिद्रूपाः—जीवं चेतनालक्षणं विना सर्वे पदार्था अचिद्रूपा अज्ञानस्वरूपाः । पुद्गलं गलनपूरणधर्मं विना अमूर्ता मूर्तत्वरहिताः । वस्तुतः परमार्थतः सर्वपदार्थाः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकाः स्थित्युत्पत्तिनाशस्वरूपाः इत्यर्थः ॥२७॥ अथ पुद्गलानां भेदमाह ।

उक्त छह द्रव्योंमें कालको छोड़कर शेष जीवादिक पाँच द्रव्य भिन्न-भिन्न स्वभाववाले होकर भी प्रदेश समूहात्मक होनेसे काय कहे गये हैं, ऐसा समझना चाहिए। विशेषार्थ—कायका अर्थ शरीर होता है। जो द्रव्य कायके समान बहुप्रदेशी हैं वे काय कहे जाते हैं। ऐसे द्रव्य पांच हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश। जितने क्षेत्रको एक परमाणु रोकता है उतने क्षेत्रका नाम प्रदेश है। ये प्रदेश प्रत्येक जीव, धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्यके असंख्यात (लोकाकाश प्रमाण) हैं। पुद्गलोंमें किसी (द्वयणुकादि) स्कन्धके संख्यात, किसीके असंख्यात और किसीके अनन्त होते हैं। आकाशके वे अनन्त हैं। इस प्रकार प्रदेशोंमें अधिक होनेसे ये द्रव्य अस्तिकाय कहे जाते हैं। परन्तु काल चूँकि एक ही प्रदेशरूप है अतएव वह अस्तिस्वरूप होकर भी काय नहीं माना गया है। उक्त पाँच द्रव्य कायत्वकी अपेक्षा समान होते हुए भी प्रकृतिभेदसे—क्रमशः चेतनत्व, मूर्तिमत्त्व, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व और अवकाश हेतुत्वसे—परस्पर भिन्न हैं ॥२६॥

उक्त छहों द्रव्योंमें जीवको छोड़कर शेष पाँच अचिद्रूप—अचेतन या जड़—तथा पुद्गलको छोड़कर शेष पाँच अमूर्त—रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे रहित—हैं। ये सब उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (स्थिति) स्वरूप होनेसे पदार्थ द्रव्य कहे जाते हैं। विशेषार्थ—जो सत् अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे सहित होता है वह द्रव्य या पदार्थ कहलाता है। ये तीनों अवस्थाएँ प्रत्येक पदार्थमें प्रति समय रहती हैं। इनमें अपनी जातिको न छोड़कर बाह्य और अभ्यन्तर निमित्तके वश जो अवस्थान्तरकी उत्पत्ति होती है उसका नाम उत्पाद और पूर्व पर्यायके विनाशका नाम व्यय है। जैसे—सुवर्णके कड़ेको तुड़वाकर उसकी सांकल बनवानेपर सांकल अवस्थाका उत्पाद और कड़ेरूप अवस्थाका व्यय तथा वस्तु जिस अनादि पारिणामिक स्वभावसे उत्पन्न और विनष्ट न होकर सदा स्थिर रहती है, उसका नाम ध्रौव्य है। जैसे—कड़ेसे सांकलके बननेपर भी उन दोनों ही अवस्थाओंमें सुवर्ण सामान्य जैसाका तसा अवस्थित रहता है—वह न उत्पन्न हुआ और न नष्ट भी हुआ है। यह ध्रौव्यका स्वरूप है ॥२७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

417) अणुस्कन्धविभेदेन भिन्नाः स्युः पुद्गला द्विधा ।
मूर्ता वर्ण[1]रसस्पर्शगुणोपेताश्च रूपिणः ॥२८

418) किं त्वेतत्[2] पुद्गलद्रव्यं षड्विकल्पं बुधैर्मतम् ।
स्थूलस्थूलादिभेदेन सूक्ष्मसूक्ष्मेण च क्रमात् ॥२९

417) अणुस्कन्ध—पुद्गला अणुस्कन्धविभेदेन द्विधा । शुद्धनयेन अणूनां रूपगन्धस्पर्शानामतीन्द्रियत्वं भवति । यथा शुद्धबोधैकस्वभावसिद्धजीवे ऽनन्तचतुष्टयं तथैव शुद्धपुद्गलपरमाणुद्रव्ये रूपादीनां सद्भावो भवति । यथा रागादिस्नेहगुणेन कर्मबन्धावस्थायां ज्ञानादिचतुष्टयस्य शुद्धत्वं, तथा स्निग्धरुक्षत्वगुणेन द्वयणुकादिबन्धावस्थायां रूपादिचतुष्टयस्याशुद्धत्वम् । अत एवाह । गन्ध*-रसस्पर्शगुणोपेताः परमाणुस्कन्धा इति विशेषणं युक्तम् । च पुनः । रूपिणः रूपोपेताः । पुनः कीदृशाः । मूर्ताः । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथैषां स्वरूपमाह ।

418) किन्त्वेतत्—किन्तु पक्षान्तरे । एतत्पुद्गलद्रव्यं बुधैः पण्डितैः षड्विकल्पैर्मतं स्थूलस्थूलादिभेदेन । परमाणोरपेक्षया द्वयणुकं स्थूलम् । च पुनः । क्रमात् त्र्यणुकापेक्षया द्वयणुकः सूक्ष्मः । द्वयणुकात् परमाणुः सूक्ष्मः । तेन एवमग्रे ऽपि वाच्यम् । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथ धर्मादीनां प्रत्येकद्रव्यत्वमाह ।

पुद्गल अणु और स्कन्धके भेदसे दो प्रकारके हैं । वे रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे सहित होनेके कारण मूर्त या रूपी कहे जाते हैं ॥२८॥

यह पुद्गल द्रव्य विद्वानोंके द्वारा छह प्रकारका भी माना गया है । वे छह भेद क्रमसे ये हैं—स्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मसूक्ष्म । विशेषार्थ—ऊपरके श्लोकमें जो अणु और स्कन्धरूप पुद्गलके दो भेद बतलाये गये हैं उनमें स्कन्धरूप पुद्गल स्थूलस्थूल आदिके भेदसे छह प्रकारके हैं । इनमें जो पुद्गलस्कन्ध विभक्त होकर स्वयं मिल नहीं सकते हैं वे स्थूलस्थूल कहे जाते हैं । जैसे—लकड़ी व पत्थर आदि जो विभक्त होकर भी फिरसे स्वयं मिल सकते हैं वे स्थूल कहलाते हैं । जैसे—दूध, घी, तेल एवं पानी आदि । जो चक्षुसे उपलब्ध होकर भी हाथसे नहीं ग्रहण किये जा सकते हैं तथा अन्य देशको भी नहीं ले जाये जा सकते हैं उन्हें स्थूलसूक्ष्म समझना चाहिए । जैसे—छाया, आतप और अन्धकार आदि । जो सूक्ष्म होकर भी स्थूलके समान प्रतिभासित होते हैं वे सूक्ष्मस्थूल कहे जाते हैं । जैसे—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द । अथवा जो चक्षु इन्द्रियके विषय न होकर शेष चार इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं उन्हें सूक्ष्मस्थूल समझना चाहिए । जो स्कन्ध किसी भी इन्द्रियके विषय नहीं हैं वे सूक्ष्म कहलाते हैं । जैसे—ज्ञानावरणादि कर्मवर्गणाओंके योग्य स्कन्ध जो इन कर्मवर्गणा योग्य स्कन्धोंकी अपेक्षा भी अतिशय सूक्ष्म हैं वे सूक्ष्मसूक्ष्म माने जाते हैं । जैसे—कर्मवर्गणा योग्य स्कन्धोंके नीचे द्वयणुक स्कन्ध तक ॥२९॥

१. B J गन्धरस । २. L S T F V C J R किं त्वेकं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

419) प्रत्येकमेकद्रव्याणि[1] धर्मादीनि यथायथम्[2] ।
आकाशान्तान्यमूर्तानि निष्क्रियाणि स्थिराणि च ॥३०

420) स लोकगगनव्यापी धर्मः स्याद्गतिलक्षणः ।
तावन्मात्रो ऽप्यधर्मो ऽयं स्थितिलक्ष्मा[3] प्रकीर्तितः ॥३१

421) स्वयं गन्तुं प्रवृत्तेषु जीवाजीवेषु सर्वदा[4] ।
धर्मो ऽयं सहकारी स्याज्जलं यादो ऽङ्गिनामिव ॥३२

422) दत्ते स्थितिं प्रपन्नानां[5] जीवादीनामयं स्थितिम् ।
अधर्मः सहकारित्वाद्यथा छायाध्ववर्तिनाम् ॥३३

419) **प्रत्येक**—प्रत्येकमेकद्रव्याणि धर्मादीनि । सुगमम् । यथायथं यथाप्रकारेण आकाशान्तानि । पुनः कीदृशानि । निष्क्रियाणि क्रियारहितानि । च पुनः । स्थिराणि स्थिरस्वरूपाणि । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ धर्मस्वरूपमाह ।

420-21) **स लोक**—स धर्मः लोके गगनव्यापी लोकाकाशप्रदेशव्यापी स्यात् । पुनः कीदृशः । गतिलक्षणः । को ऽर्थः । गतिपरिणतानां जीवपुद्गलानां धर्मो गमनसहकारिकारणं भवति । मत्स्यानां गमने तोयवत् । तावन्मात्रः तावत्प्रदेशप्रमाणात्मकः । अपि पक्षान्तरे । अधर्मः कीदृशः । स्थितिलक्ष्मा प्रकीर्तितः । को ऽर्थः । स्थानयुक्तानां जीवपुद्गलानां स्थितेः सहकारिकारणं भवति । तृतीयः आकाशः सहकारी स्यात् । यादो ऽङ्गिनां समुद्रः एव । इति सूत्रार्थः ॥३१-३२॥ अथ धर्मविशेषणमाह ।

422) **दत्ते स्थितिं**—प्रपन्नानां जीवादीनां स्थितिं दत्ते । कस्मात् । सहकारित्वात् । यथा

यथाक्रमसे आकाश पर्यन्त धर्मादि द्रव्य—धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य—प्रत्येक एक (भेद रहित अखण्ड), परिस्पन्दरूप क्रियासे रहित और स्थिर हैं—अपनी छह संख्याका अतिक्रमण नहीं करते हैं ॥३०॥

समस्त लोकाकाशमें व्याप्त वह धर्म द्रव्य गति लक्षणवाला है—गमनमें प्रवर्तमान जीव-पुद्गलोंके गति (चलने) में सहायक होता है । यह अधर्म द्रव्य भी उतना मात्र (लोकाकाशमें व्याप्त) होकर स्थितिलक्षणवाला कहा गया है—वह स्थित होते हुए जीव-पुद्गलोंके अवस्थानमें सहायक होता है ॥३१॥

जैसे मछली आदि जलचर प्राणियोंके चलनेमें जल सहायक हुआ करता है वैसे ही जीवों और पुद्गलोंके गमनमें स्वयं प्रवृत्त होनेपर यह धर्म द्रव्य सदा सहायक होता है ॥३२॥

जिस प्रकार मार्गमें संचार करनेवाले पथिकोंकी स्थितिमें सहायक होनेसे वृक्षकी छाया उन्हें स्थितिको देती है उसी प्रकार स्वयं स्थितिको प्राप्त होनेवाले जीव-पुद्गलोंको

१. Y प्रत्येकमेव । २. B यथायथा । ३. B L स्थितिलक्ष्म, M S T V C X Y R स्थितिलक्ष्मः । ४. M N सर्वथा । ५. M N T स्थितिप्रपन्नानां ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

423) अवकाशप्रदं व्योम सर्वगं स्वप्रतिष्ठितम् ।
लोकालोकविकल्पेन तस्य लक्ष्म प्रकीर्तितम् ॥३४

424) लोकाकाशप्रदेशेषु ये भिन्ना अणवः स्थिताः ।
परिवर्ताय भावानां मुख्यः[1] कालः स वर्णितः ॥३५

425) समयादिकृतं यस्य मानं ज्योतिर्गणाश्रितम् ।
व्यवहाराभिधः कालः स कालज्ञैः प्रपञ्चितः ॥३६

दृष्टान्तोपन्यासे । अध्ववर्तिनां पथिनां छाया स्थितिं दत्ते । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथाकाशस्वरूपमाह ।

423) अवकाश—व्योमाकाशं जीवादीनामवकाशप्रदम् । पुनः कीदृशम् । सर्वगं सर्वव्यापि । पुनः कीदृशम् । स्वप्रतिष्ठितं स्वस्मिन् स्थितमित्यर्थः । तस्याकाशस्य लक्ष्म लक्षणं प्रकीर्तितम् । केन । लोकालोकविकल्पेन दृश्यन्ते लोक्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोकः, तस्माल्लोकात्परतो बहिरनन्ताकाशमलोकः । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ कालस्वरूपमाह ।

424) लोकाकाश—स कालो वर्णितः । कीदृशः । लोकाकाशप्रदेशेषु ये अणवः कालाणवः भिन्नाः रत्नानां राशिवत् स्थिताः भावानां पदार्थानां परिवर्ताय स मुख्यकालो निश्चयकालो भवति ॥३५॥ [पुनस्तदेवाह ।]

425) समयादिकृतं—स व्यवहाराभिधः कालः कालज्ञैस्तीर्थंकृद्भिः प्रपञ्चितः विस्तारितः परमाणुरूपो निश्चयकालो विज्ञेयः । स इति कः । यस्य कालस्य मानसमयादिकृतं समयावलिमुहूर्तादिभिः कृतं ज्योतिर्गणाश्रितं कालकृतपरत्वात् परत्वाभिव्यङ्ग्यं भवति । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ पुनस्तस्यैव स्वरूपमाह ।

सहायक स्वरूपसे स्थितिको यह अधर्म द्रव्य देता है—उनके अवस्थानमें उदासीनतापूर्वक सहायक होता है ॥३३॥

आकाश द्रव्य अन्य सब द्रव्योंको स्थान देनेवाला है, यह उसका स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। वह सर्वव्यापक होकर अपने आपमें प्रतिष्ठित है—उसका कोई दूसरा आश्रय (आधार) नहीं है, किन्तु स्वाश्रित ही है। वह लोक और अलोकके भेदसे दो प्रकारका है। जितने आकाशमें जीवादिक द्रव्य देखे जाते हैं—पाये जाते हैं—उतनेका नाम लोकाकाश तथा उसके परे उक्त जीवादि द्रव्योंसे रहित शेष समस्त ही आकाशका नाम अलोकाकाश है ॥३४॥

पदार्थोंके परिवर्तनमें—अवस्थान्तरकी प्राप्तिमें—कारणभूत जो भिन्न-भिन्न कालाणु लोकाकाशके प्रदेशोंपर स्थित हैं वह मुख्य (निश्चय) काल कहा गया है ॥३५॥

जिसका समय व आवली आदिरूप प्रमाण ज्योतिषसमूहके आश्रित है उसे कालके ज्ञाता व्यवहार नामका काल कहते हैं और उसका वर्णन उनके द्वारा विस्तार पूर्वक किया गया है। अभिप्राय यह है कि लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर जो एक-एक कालाणु स्थित हैं उनको निश्चय काल कहते हैं जो वर्तनास्वरूप है। तथा सूर्यादि ज्योतिषियोंके गमनसे ज्ञात

१. M L S T F V C X Y R मुख्यकालः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

426) यदमी परिवर्तन्ते पदार्था विश्ववर्तिनः ।
नवजीर्णादिरूपेण तत् कालस्यैव चेष्टितम् ॥३७

427) भाविनो वर्तमानत्वं वर्तमानास्त्वतीतताम्[1] ।
पदार्थाः प्रतिपद्यन्ते कालकेलिकदर्थिताः ॥३८

428) धर्माधर्मनभःकाला[2] अर्थपर्यायगोचराः ।
व्यञ्जनाख्यस्य[3] संबन्धो[4] द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ ॥३९

426) **यदमी**—यद्यस्मात्कारणात् अमी पदार्था नवजीर्णादिरूपेण पर्यायेण परिवर्तन्ते । कीदृशाः पदार्थाः । विश्ववर्तिनः संसारस्थिताः । तत्कालस्यैव चेष्टितमित्यर्थः ॥३७॥ अथ वर्तमानादिरूपेण कालमाह ।

427) **भाविनो**—पदार्था जीवादयः भाविनो वर्तमानत्वं प्रतिपद्यन्ते स्वीकुर्वन्ति । तु पुनः । वर्तमाना अतीततां प्रतिपद्यन्ते । कीदृशाः । कालकेलिकदर्थिताः कालक्रीडापीडिताः । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ धर्मादीनां पर्यायानाह ।

428) **धर्माधर्म**—परस्परं षड् हानिवृद्धिरूपम् अनन्तासंख्यातभागहानि । अनन्तासंख्यातगुणवृद्धिरूपार्थपर्यायविषयाः । अन्यौ द्वौ जीवपुद्गलौ* व्यञ्जनाख्यस्य संबन्धौ । तत्र शब्दशब्दबन्ध-

होनेवाला जो समय, आवली, उच्छ्वास एवं दिन-रात्रि आदिके प्रमाणरूप काल है उसका नाम व्यवहारकाल है ॥३६॥

लोकमें स्थित ये जो सब ही पदार्थ नवीन और जीर्ण आदिके रूपसे अवस्थान्तरको प्राप्त हो रहे हैं, यह सब कालका ही कार्य है ॥३७॥

इस कालके प्रभावसे जो पदार्थ भावी हैं—भविष्यमें होनेवाले हैं—वे क्रमसे वर्तमान अवस्थाको प्राप्त होते हैं तथा जो वर्तमान पदार्थ हैं वे अतीत (भूत) अवस्थाको प्राप्त होते हैं । यह सब उस कालकी ही लीला है ॥३८॥

धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य अर्थपर्यायके गोचर हैं तथा जीव और पुद्गल ये जो दो अन्य द्रव्य हैं वे व्यञ्जन नामक पर्यायसे सम्बन्ध रखते हैं । विशेषार्थ—द्रव्य और गुणकी अवस्थाविशेषका नाम पर्याय है । वह दो प्रकारकी है—अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय । इनमें जो पर्याय सूक्ष्म, एकसमयवर्ती और वचनके अगोचर है उसे अर्थपर्याय कहा जाता है । यह पर्याय अगुरुलघुगुणके विकारभूत छह प्रकारकी वृद्धि और छह प्रकारकी हानि स्वरूप है । जो पर्याय स्थूल, चिरकाल तक रहनेवाली, वचनके गोचर और छद्मस्थके द्वारा देखी भी जा सकती है उसका नाम व्यञ्जन पर्याय है । यह दो प्रकार की है—स्वभावव्यञ्जन पर्याय और विभावव्यञ्जन पर्याय । इनमें स्वभावव्यञ्जनपर्याय जैसे जीवकी सिद्ध अवस्था और पुद्गलकी अविभागी परमाणु-

१. L वर्तमानत्वाद्वर्तमानाः । २. J नभः काला पुद्गलैः सह योगिभिः । द्रव्याणि षट् प्रणीतानि जीवपूर्वाण्यनुक्रमात् ॥ अर्थपर्याय…… । ३. M व्यंजनस्य च, N व्यंजनेन च । ४. N संबद्धौ, All others except PN संबन्धौ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

429) भावाः पञ्चापि[1] जीवस्य द्वावन्यौ[2] पुद्गलस्य च ।
धर्मादीनां तु[3] शेषाणां स्याद्भावः पारिणामिकः ॥४०

430) अन्योन्यसंक्रमोत्पन्नैः[4] स्याद् भावः सांनिपातिकः ।
षड्विंशद्भेद[5]भिन्नात्मा स षष्ठो[6] मुनिभिर्मतः ॥४१

सूक्ष्मस्थूलादेयः व्यञ्जनपर्यायः तद्विषयाः पुद्गलाः । जीवस्य अशुभशुभकर्मोदयजनितचतुर्गतिसंसार-पर्यटनं व्यञ्जनपर्यायो जीवस्य । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथ धर्मादिषु भावानाह ।

429) भावाः—जीवस्य पञ्चैव भावाः । १. औपशमिकः २. क्षायिकः ३. क्षायोपशमिकः ४. औदयिकः ५. पारिणामिकः भेदा वर्तन्ते । अन्यौ द्वौ पुद्गलस्य औदयिकपारिणामिकौ । धर्मादीनाम् । तु पुनरर्थे । कालपर्यन्तानां पारिणामिको भावः स्यात् इति सूत्रार्थः ॥४०॥ [पुनस्तदेवाह ।]

430) अन्योन्य—सांनिपातिको भावः स्यात् । अन्योन्यसंक्रमेण औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-औदयिक-पारिणामिकानां पुष्टो जातः, स स्यात् भवेत् । *षट्त्रिंशद्भेदेन भिन्नात्मा भिन्नस्वरूपः स भावो मुनिभिर्ज्ञानिभिर्मतो ऽभिमतः । इति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथ धर्मादीनां प्रदेश-स्वरूपमाह ।

रूप अवस्था। जीवकी नर व नारकादिरूप अवस्थाको तथा पुद्गलकी द्व्यणुकादिरूप अवस्थाको विभावव्यञ्जन पर्याय समझना चाहिए। जीवादि छह द्रव्योंमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्योंके अर्थपर्याय ही होती है; व्यञ्जनपर्याय नहीं होती। परन्तु जीव और पुद्गलोंमें अर्थपर्यायके साथ वह व्यञ्जनपर्याय भी होती है। इसका कारण यह है कि ये दोनों द्रव्य अनेक हैं, अतएव अनेकोंमें एकरूपताका बोध करानेवाली उक्त व्यञ्जनपर्याय इन दोनोंके सम्भव है ॥३९॥

जीवके औपशमिक व क्षायिक आदि पाँचों ही भाव होते हैं। पुद्गलके दो अन्य भाव होते हैं (?)। शेष धर्मादि चार द्रव्योंके एक पारिणामिक भाव होता है ॥४०॥

भिन्न-भिन्न भावोंके संयोगसे जो भाव उत्पन्न होता है उसका नाम सान्निपातिक भाव है। यह मुनियोंके द्वारा छठा भाव माना गया है जो छब्बीस भेदरूप है ॥ विशेषार्थ—किन्हीं आचार्योंने औपशमिक आदि पांच भावोंके साथ एक सान्निपातिक नामका छठा भाव भी माना है। यह भाव स्वतन्त्र न होकर उन औपशमिक आदि भावोंके ही द्विसंयोग (१०), त्रिसंयोग (१०), चतुःसंयोग (५) और पंचसंयोग (१) रूप है। उसके निम्न प्रकारसे छब्बीस भेद होते हैं—१. औदयिक-औपशमिक २. औदयिक-क्षायिक ३. औदयिक-क्षायोपशमिक ४. औदयिक-पारिणामिक ५. औपशमिक-क्षायिक ६. औपशमिक-क्षायोपशमिक ७. औपशमिक-पारिणामिक ८. क्षायिक-क्षायोपशमिक ९. क्षायिक-पारिणामिक १०. क्षायोपशमिक-पारिणामिक ११. औदयिक-औपशमिक-क्षायिक १२. औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक १३ औद-

१. All others except P भावाः पञ्चैव । २. MLSFVCJR द्वावन्त्यौ । ३. B धर्मादीनां च शेषाणां, °दीनां विशेषाणां । ४. P संक्रमोत्पन्नो । ५. M षड्विंशभेद । ६. स पृष्टो मुनिभिः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

431) धर्माधर्मैकजीवानां प्रदेशा गणनातिगाः ।
कियन्तो ऽपि न कालस्य व्योम्नः पर्यन्तवर्जिताः ॥४२

432) एकादयः प्रदेशाः स्युः पुद्गलानां यथायथम् ।
संख्यातीताश्च संख्येया अनन्ता योगिकल्पिताः ॥४३

433) मूर्तो व्यञ्जनपर्यायो वाग्गम्यो ऽनश्वरः स्थिरः ।
सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञकः[1] ॥४४॥अजीवः[2]॥

431) धर्माधर्मैक—धर्माधर्मैकजीवानां प्रदेशगणनातिगाः सर्वेषामसंख्यातप्रदेशत्वं कालस्य न कियन्तो ऽपि तस्यैकप्रदेशरूपत्वात् व्योम्नः आकाशस्य प्रदेशाः पर्यन्तवर्जिताः अनन्तरूपाः इत्यर्थः ॥४२॥ अथ पुद्गलानां प्रदेशसंख्यामाह ।

432) एकादयः—एकादयः संख्याता असंख्याता अनन्ताः पुद्गलानां प्रदेशाः स्युः । यथायथं यथास्थानम् । तत्र विशेषमाह । अनन्ताः प्रदेशाः योगिभिः कल्पिताः । इति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथ व्यञ्जनपर्यायमाह ।

433) मूर्तो व्यञ्जन—तत्र व्यञ्जनपर्यायः मूर्तः स्थूलरूपः । पुनः कीदृशः । वाग्गम्यो वचनगोचरः । अनश्वरो ऽविनाशी । पुनः कीदृशः । स्थिरः चिरकालस्थायी । आयुःप्रमाणछद्मदृष्टिगोचरजीवपुद्गलयोर्भवति नान्यत्र । अथ पर्यायमाह । च पुनः । अर्थसंज्ञकः पर्यायः । कीदृशः । सूक्ष्मः चक्षुराद्यविषयकः वचनागोचरः सर्वज्ञज्ञानगोचरः । पुनः कीदृशः । प्रतिक्षणध्वंसी सर्वद्रव्यसाधारणः । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अजीवपदार्थव्याख्यानम् ॥ अथ बन्धमाह ।

यिक-औपशमिक-पारिणामिक १४. औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक १५. औदयिक-क्षायिक-पारिणामिक १६. औदयिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक १७. औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक १८. औपशमिक-क्षायिक-पारिणामिक १९. औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक २०. क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक २१. औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक २२. औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक २३. औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक २४. औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-पारिणामिक २५. औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक २६. औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक । (देखिए तत्त्वार्थवार्तिक २, ७, २२) ॥४१॥

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीव इनके असंख्यात प्रदेश हैं । कालद्रव्यके कुछ भी प्रदेश नहीं है—वह प्रदेशरहित (एकप्रदेशी) है । आकाशके अनन्त प्रदेश हैं ॥४२॥

पुद्गलोंके यथायोग्य—परमाणु व द्व्यणुक आदिके क्रमसे—एक-दो आदि (संख्यात), असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं । इन प्रदेशोंकी कल्पना योगियोंके द्वारा की गयी है ॥४३॥

व्यञ्जनपर्याय मूर्त (स्थूल), वचनके गोचर, अविनश्वर व स्थिर है—बहुत समय तक रहनेवाली है । किन्तु अर्थनामकी पर्याय सूक्ष्म और प्रतिसमय नष्ट होनेवाली है ॥४४॥

इस प्रकार अजीव तत्त्वका निरूपण समाप्त हुआ ।

१. All others except P M संज्ञिकः । २. P L F X अजीवः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

434) प्रकृत्यादिविकल्पेन ज्ञेयो बन्धश्चतुर्विधः ।
ज्ञानावृत्यादिभेदेन सो ऽष्टधा प्रथमः[1] स्मृतः ॥४५

435) मिथ्यात्वाविरतिर्योग[2]कषायाश्च यथाक्रमम्[3] ।
प्रमादैः सह पञ्चैते विज्ञेया बन्धहेतवः ॥४६

436) उत्कर्षेणापकर्षेण[4] स्थितिर्या कर्मणां मता ।
स्थितिबन्धः स[5] विज्ञेय इतरस्तत्फलोदयः ॥४७

434) प्रकृत्यादि—कर्मात्मप्रदेशानामन्योन्यं क्षीरनीरवत् प्रवेशनं बन्धः । स बन्धश्चतुर्विधः । प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात् । स बन्धः प्रथमतो ऽष्टधा मतो व्याख्यातः । केन ज्ञानावरणादिभेदेन । तत्र ज्ञानावरणस्य का प्रकृतिः, का स्थितिः, को ऽनुभागः, के प्रदेशाः । देवतामुखवस्त्रमिव ज्ञानप्रच्छादनता । जीवप्रदेशे*ष्वपि यावत्कालं ज्ञानावरणादिकर्मबन्धानां स्थितिः तावत् स्थितिबन्धः त्रिंशत्सागरोपमादिका । को ऽनुभागः । ज्ञानावरणादिकर्मपुद्गलानामात्मप्रदेशेषु तारतम्येन रसविशेषः । जीवेन स्वशक्त्या कर्मयोग्यपरमाणुसंयोजनं प्रदेशबन्धः । एवं शेषदर्शनावरणादिषु कर्मसु प्रकृत्यादिचतुर्विधो बन्धो ज्ञातव्यः । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ कर्मबन्धहेतुमाह ।

435) मिथ्यात्व—एते पञ्च बन्धहेतवो विज्ञेयाः यथाक्रमात् । एते के । मिथ्यात्वाविरतियोगकषायप्रमादाः । तत्र मिथ्यात्वं जिनोक्तपदार्थानां विपरीतश्रद्धानम् । तत्पञ्चधा । सुगमम् । तत्प्रत्ययः कर्मबन्धो भवति । अविरतिः द्वादशधा । हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाकाङ्क्षारूपेण पञ्चप्रकारा । अथवा मनःसहितपञ्चेन्द्रियप्रभृतिषट्कायविराधनाभेदेन द्वादशप्रकारा । तत्प्रत्ययः कर्मबन्धो भवति । मनोवचनकायव्यापारभेदेन योगस्त्रिधा । तस्मादपि कर्मबन्धो भवति । विस्तरेण पञ्चदशप्रकारैर्वा पूर्वोक्ता एव कषायाः क्रोधमानमायालोभभेदेन चत्वारः । कषायनोकषायभेदेन पञ्चविंशतिप्रकारा वा । तैरपि कर्मबन्धो भवति । "विकहा तहा कसाया इंदियणिद्दा तहेव पणयो य । चदु चदु पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्णरस" इत्यादि गाथोक्तपञ्चदशप्रमादाः । तैरपि कर्माणि बध्यन्ते । एते सर्वे ऽपि मिथ्यात्वादयः कर्मबन्धहेतवः । इति सूत्रार्थः ॥४६॥ अथ स्थितिबन्धमाह ।

436) उत्कर्षेणाप—कर्मणां ज्ञानावरणादीनां या स्थितिर्मता अभिमता । केन । उत्कर्षेण त्रिंशत्यादिसागरप्रमाणा । अपकर्षेण अन्तर्मुहूर्तादिकादिभेदेन द्विविधः स्थितिबन्धः स विज्ञेयः ।

बन्ध प्रकृति आदि (स्थिति, अनुभाग व प्रदेश) के भेदसे चार प्रकारका है । इनमें प्रथम स्थितिबन्ध ज्ञानावरण आदिके भेदसे आठ प्रकारका माना गया है ॥४५॥

प्रमादोंके साथ यथाक्रमसे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन पाँचको उस बन्धके कारण जानना चाहिए ॥४६॥

कर्मोंका जो अधिकसे अधिक तथा कमसे कम काल तक आत्मप्रदेशोंके साथ अवस्थान

१. B J प्रथमं स्मृतः । २. M T विरती योग°, L B विरतिर्योगाः, N F V C विरतियोग°, S J X Y R विरती योगः । ३. All others except P M N यथाक्रमात् । ४. P writes this verse on the margin । ५. स्थितिबन्धश्च विज्ञेयः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

437) परस्परप्रदेशानुप्रवेशै[1]र्जीवकर्मणोः ।
यः संश्लेषः स निर्दिष्टो बन्धो विध्वस्तबन्धनैः ॥४८

438) [प्र[2]कृतिप्रदेशबन्धौ योगभवौ कीर्तितौ समासेन ।
स्थित्यनुभागविकल्पौ कषायजौ कीर्तितौ सूत्रे ॥४८*१]॥बन्धः[3]॥

439) प्रा[4]गेव भावनातन्त्रे निर्जरास्रवसंवराः ।
कथिताः कीर्तयिष्यामि मोक्षमार्गं सहेतुकम् ॥४९

440) एवं द्रव्याणि तत्त्वानि पदार्थान् कायसंयुतान् ।
यः श्रद्धत्ते स्वसिद्धान्तात्[5] स स्यान्मुक्तेः स्वयंवरः ॥५०

इतरोऽनुभागबन्धः । तेषां कर्मणां फलोदयः तत्फलोदयः । इति सूत्रार्थः ॥४७॥ अथ प्रदेशबन्धमाह ।

437) परस्पर—जीवकर्मणोर्यः संश्लेषः संबन्धः स बन्धो निर्दिष्टः । कैः । परस्परप्रदेशानुप्रवेशैरन्योन्यप्रदेशैः । अयःपिण्डवत् अनुप्रवेशः संक्रमः । कैर्निर्दिष्टः । विध्वस्तबन्धनैः दूरीकृतकर्मबन्धैः । इति सूत्रार्थः ॥४८॥ [अथ चतुर्धा बन्धविधीनाह ।

438) प्रकृतिप्रदेश—एते हि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाश्चतुर्धा बन्धविधयः । तत्र योगनिमित्तौ प्रकृतिप्रदेशौ । कषायनिमित्तौ स्थित्यनुभागौ चेत्यर्थः ॥४८*१॥ अथ ग्रन्थार्थमाह ।

439) प्रागेव भावना—अस्मिन् ग्रन्थे प्रागेव भावनाधिकारे निर्जरास्रवसंवरा निरूपिताः । अतःपरं च मोक्षमार्गो निरूप्यते ॥४९॥ अथ को मुक्तिभाग् भवति तदाह ।]

440) एवं द्रव्याणि—एवंप्रकारेण द्रव्याणि धर्मादीनि, तत्त्वानि जीवादीनि, पदार्थान् कायसंयुतान्, स्वसिद्धान्तान्* यः श्रद्धत्ते स मुक्तेः स्वयंवरः स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥५०॥ अथ जीवादिस्वरूपमुपसंहरति ।

माना गया है उसे स्थितिबन्ध जानना चाहिए। उक्त कर्मोंमें जो फलकी उत्पत्ति है—हीनाधिक फल देनेकी शक्तिका आविर्भाव है—उसका नाम अनुभागबन्ध है ॥४७॥

जीव और कर्मका जो एक-दूसरेके प्रदेशोंमें अनुप्रवेशरूपसे—एक क्षेत्रावगाह स्वरूपसे सम्बन्ध होता है उसे कर्मबन्धसे मुक्त हुए जिनेन्द्र देवने बन्ध (प्रदेशबन्ध) कहा है ॥४८॥

इस प्रकार बन्धतत्त्वका निरूपण समाप्त हुआ ।

निर्जरा, आस्रव और संवरका कथन पहले ही भावना (द्वादशानुप्रेक्षा) अधिकारमें किया जा चुका है । अब आगे कारणनिर्देशपूर्वक मोक्षमार्गका वर्णन करूँगा ॥४९॥

इस प्रकारसे जो छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ और पाँच अस्तिकाय इनका आगमके अनुसार श्रद्धान करता है वह मुक्तिका स्वयंवर होता है—मुक्तिके द्वारा स्वयं वरण किया जाता है । तात्पर्य यह कि उसे मुक्ति अवश्य ही प्राप्त होती है ॥५०॥

---

१. M X °नुप्रदेशैर्जीव, N S T V C J Y R °नुप्रवेशो जीव । २. M N Read । ३. P L F बन्धः । ४. B J Omit this verse । ५. B सिद्धान्तान् स ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

441) इति जीवादयो भावा दिङ्मात्रेणात्र वर्णिताः[1] ।
विशेषरुचिभिः सम्यग् विज्ञेयाः परमागमात् ॥५१

442) सद्दर्शनमहारत्नं विश्वलोकैकभूषणम् ।
मुक्तिपर्यन्तकल्याणदानदक्षं प्रकीर्तितम्[2] ॥५२

443) चरणज्ञानयोर्बीजं यमप्रशमजीवितम् ।
तपःश्रुताद्यधिष्ठानं सद्भिः सद्दर्शनं मतम् ॥५३

441) इति जीवादयो—अत्र ज्ञानार्णवे इति पूर्वोक्तप्रकारेण जीवादयः पदार्था दिङ्मात्रेण वर्णिताः कथिताः। परमागमात् विशेषरुचिभिः विशेषार्थरुचिभिः सम्यग्विज्ञेया। इति सूत्रार्थः ॥५१॥ अथ सम्यग्दर्शनफलमाह।

442) सद्दर्शन—सद्दर्शनं सम्यक्त्वं लोका भजत। कीदृशं सद्दर्शनम्। महारत्नं चिन्तामणिरत्नम्। पुनः कीदृशम्। विश्वलोकैकभूषणं सर्वलोकाभरणम्। पुनः कीदृशम्। मुक्तिपर्यन्तकल्याणदानदक्षं मुक्तिं यावत् मङ्गलदानचतुरं प्रतिष्ठितमुक्तं जिनवरैरिति शेषः ॥५२॥ पुनः सद्दर्शनस्वरूपमाह।

443) चरण—सद्भिः सत्पुरुषैः सद्दर्शनं सम्यक्त्वं मतम्। कीदृशम्। चरणज्ञानयोर्बीजं तदुत्पत्तिकारणमित्यर्थः। पुनः कीदृशम्। यमप्रशमजीवितं व्रतक्षान्तिस्वरूपम्। पुनः कीदृशम्। तपःश्रुताद्यधिष्ठानं बाह्याभ्यन्तरं तपः, श्रुतं द्वादशाङ्गं तयोरधिष्ठानमाश्रय इत्यर्थः ॥५३॥ अथ सम्यक्त्वमतान्तरमाह।

इस प्रकारसे यहाँ जीवादि तत्त्वोंका संक्षेपसे वर्णन किया गया है। विशेष जिज्ञासा रखनेवाले जीवोंको उनका यथार्थ ज्ञान परमागमसे प्राप्त करना चाहिए ॥५१॥

समस्त लोकके अद्वितीय भूषणके समान वह सम्यग्दर्शनरूप महारत्न मुक्तिके प्राप्त होने तक कल्याणके देनेमें समर्थ बतलाया गया है ॥५२॥

साधुजन उस सम्यग्दर्शनको चारित्र और ज्ञानका बीज (कारण), यम और प्रशमका प्राण तथा तप और आगमका आश्रय मानते हैं। विशेषार्थ—जब तक प्राणीको वह सम्यग्दर्शन नहीं प्राप्त होता है तब तक उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र ही रहता है—वही इन दोनोंकी यथार्थताका कारण है। उस सम्यग्दर्शनके बिना भले ही ग्यारह अंगों तकका ज्ञान क्यों न प्राप्त हो जावे, किन्तु वह निरर्थक ही रहता है। तथा उस सम्यग्दर्शनके साथ विशेष ज्ञानके न होने पर भी जीव केवलज्ञानको प्राप्त करके मोक्षपदको पा लेता है। इसी प्रकार उक्त सम्यग्दर्शनके बिना संयम और राग-द्वेषका उपशम ये दोनों भी निर्जीव (मुर्दा) से प्रतीत होते हैं—उसके बिना ये भी संसारपरिभ्रमणको नष्ट नहीं कर सकते हैं। साथ ही तप और श्रुतके अभ्यासकी सफलता भी इसी सम्यग्दर्शनके ऊपर निर्भर है। तात्पर्य यह कि सब धर्मोंका मूल यह सम्यग्दर्शन ही है ॥५३॥

१. B J °णात्र दर्शिताः। २. B J दक्षं प्रतिष्ठितम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

444) अप्येकं दर्शनं श्लाघ्यं चरणज्ञानविच्युतम् ।
न पुनः संयमज्ञाने मिथ्यात्वविषदूषिते ॥५४

445) अत्यल्पमपि सूत्रज्ञैर्दृष्टिपूर्वं यमादिकम् ।
प्रणीतं भवसंभूतक्लेशप्राग्भारभेषजम्[1] ॥५५

446) मन्ये मुक्तः स पुण्यात्मा विशुद्धं यस्य दर्शनम् ।
यतस्तदेव मुक्त्यङ्गमग्रिमं परिकीर्तितम् ॥५६

447) प्राप्नुवन्ति शिवं शश्वच्चरणज्ञानविच्युताः[2] ।
अपि जीवा जगत्यस्मिन् न पुनर्दर्शनं विना ॥५७

---

444) अप्येकं—अपि पक्षान्तरे। एके वादिनो दर्शनं सम्यक्त्वं चरणज्ञानरहितं श्लाघ्यं वदन्ति। संयमज्ञाने मिथ्यात्वमतदूषिते न श्लाघ्ये। इति सूत्रार्थः ॥५४॥ अथ सम्यग्दर्शनपूर्वक-चरणज्ञानसाफल्यमाह।

445) अत्यल्पमपि—सूत्रज्ञैर्यमादिकं व्रतादिकं अल्पमपि स्तोकमपि दृष्टिपूर्वं सम्यक्त्वपूर्वं भवसंभूतश्लेषप्राग्भारभेषजं संसारोत्पन्नश्लेषसमूहौषधम् ॥५५॥ अथ सम्यग्दर्शनस्य मुक्त्यङ्गतामाह।

446) मन्ये मुक्तः—यस्य दर्शनं विशुद्धं भवति। अहम् एवं मन्ये। स मुक्तः कर्ममुक्तः स पुण्यात्मा। यतः कारणात् तदेव दर्शनमग्रिमं प्रधानं मुक्त्यङ्गं मुक्तिकारणं परिकीर्तितं कथित-मिति सूत्रार्थः ॥५६॥ अथ दर्शनं विना ज्ञानचरणयोर्वैकल्यमाह।

447) प्राप्नुवन्ति—जीवा अस्मिन् जगति चरणज्ञानविच्युताश्चरणज्ञानरहिता अपि शश्वन्निरन्तरं शिवं मोक्षं न प्राप्नुवन्ति दर्शनसम्यक्त्वं विना। इति सूत्रार्थः ॥५७॥ अथ दर्शनं स्तुतिपूर्वमुपसंहरति। मालिनी।

यदि चारित्र और ज्ञानसे रहित एक ही वह सम्यग्दर्शन है तो वह अकेला भी प्रशंसनीय है। परन्तु उस सम्यग्दर्शन के बिना मिथ्यात्वरूप विषसे दूषित चारित्र और ज्ञान दोनों भी प्रशंसनीय नहीं हैं ॥५४॥

सम्यग्दर्शनके साथ यदि संयम आदि अतिशय अल्प प्रमाणमें भी हों तो भी उन्हें आगमके ज्ञाता गणधर आदिने संसारपरिभ्रमणसे उत्पन्न कष्टके भारी बोझको नष्ट करनेवाली ओषधि बतलाया है ॥५५॥

जिसे निर्मल सम्यग्दर्शन प्राप्त हो चुका है उस पवित्र आत्माको मैं मुक्त हुआ ही मानता हूँ। कारण इसका यह है मुक्तिका प्रधान अंग (साधन) उसे ही निर्दिष्ट किया गया है ॥५६॥

जो जीव चारित्र और ज्ञानसे भ्रष्ट हैं वे निरन्तर मुक्तिको प्राप्त करते हैं। परन्तु जो प्राणी उस सम्यग्दर्शनसे रहित हैं वे इस संसारमें कभी भी मुक्तिको प्राप्त नहीं होते हैं ॥५७॥

---

१. B J प्राग्भवभेषजम्। २. All others except P M L F विश्रुताः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

448) अतुलसुखनिधानं सर्वकल्याणबीजं
जननजलधिपोतं भव्यसत्त्वैकपात्रम् ।
दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थं[1] प्रधानं
पिबत[2] जितविपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बु[3] ॥५८

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्यश्रीशुभ-
चन्द्रविरचिते दर्शनविशुद्धिः[4] ॥६॥

---

448) अतुलसुख—भो भव्याः, दर्शनाख्यं सुधाम्बु पिबत। कीदृशम्। अतुलसुखनिधानमित्यादि सर्वं सुगमम् ॥५८॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन
साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहऋषिदास-स्वश्रवणार्थं
पण्डितजिनदासाग्रहेण *दर्शनशुद्धप्रकरणं व्याख्यातम् ॥६॥

सम्यग्दर्शनं यस्य हृदि स्फुरति संमतम्। स जीयादृषिदासस्तु जैनदर्शननैष्ठिकृत् ॥ इत्याशीर्वादः। अथ दर्शनज्ञानपूर्वकमनोज्ञानमुच्यते।

हे भव्य जीवो ! जो सम्यग्दर्शन नामका अमृतरस अनुपम सुख (मोक्षसुख) का भण्डार, समस्त कल्याणपरम्पराको उत्पन्न करनेवाला, संसाररूप समुद्रसे पार होनेके लिए जहाजके समान, एकमात्र भव्य जीवके आश्रित रहनेवाला—अभव्यको कभी न प्राप्त होने वाला, पापरूप वृक्षके छेदनेमें कुठारका काम करनेवाला, प्रधान पवित्र तीर्थके समान मलको हरनेवाला तथा शत्रुस्वरूप मिथ्यादर्शनादिपर विजय प्राप्त करनेवाला है, उसका तुम निरन्तर पान करो—उसे धारण करो ॥५८॥

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
दर्शनविशुद्धिका प्रकरण समाप्त हुआ ॥६॥

---

१. All others except P N S F तीर्थप्रधानं। २. L S पिबतु। ३. All others except P M सुधाम्बुम्। ४. B दर्शनशुद्धप्रकरणं, X दर्शनविशुद्धप्रकरणं, Y दर्शनशुद्धिः पूर्णः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

VII

[ज्ञानोपयोगः]

449) त्रिकालगोचरानन्तगुणपर्यायसंयुताः ।
यत्र भावाः स्फुरन्त्युच्चैस्तज्ज्ञानं ज्ञानिनां मतम् ॥१
450) ध्रौव्यादिकलितै[1] र्भावैर्निर्भरं निचितं[2] जगत् ।
बिम्बितं[3] युगपद्यत्र तज्ज्ञानं[4] योगिलोचनम्[5] ॥२
451) मतिश्रुतावधिज्ञानं[6] मनःपर्ययकेवलैः[7] ।
तदित्थं सान्वयैर्भेदैः पञ्चधेति प्रकल्पितम् ॥३

449) **त्रिकाल**—यत्र ज्ञाने भावाः पदार्थाः उच्चैः स्फुरन्ति प्रगटीभवन्ति । कीदृशा भावाः। त्रिकालगोचरानन्तगुणपर्यायसंयुताः त्रिकालविषयकानन्तगुणपर्यायव्याप्ताः । इति सूत्रार्थः ॥१॥ पुनर्ज्ञानस्य स्वरूपमाह ।

450) **ध्रौव्यादि**—यत्र ज्ञाने जगत् युगपत् बिम्बितम् । कीदृशं जगत् । भावैः पदार्थैर्निर्भरं यथा स्यात् तथा निचितं भृतम् । कीदृशैर्भावैः । ध्रौव्यादिकलितैर्ध्रौव्योत्पादव्ययरूपैर्युक्तैः । तज्ज्ञानं योगिलोचनं मतम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ ज्ञानभेदमाह ।

451) **मतिश्रुत**—[मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानं, अवधिज्ञानं, मनःपर्ययज्ञानं, केवलज्ञानमिति ज्ञानं पञ्चविधम् । प्रत्येकस्य भेदास्तत्त्वार्थसूत्रेषु अत्रैव च पुरस्तान्निरूपिता द्रष्टव्याः ॥३॥] तत्राद्यज्ञानमाह ।

जिसके भीतर तीनों कालोंके विषयभूत अनन्त गुणों और पर्यायोंसे सहित सब पदार्थ स्पष्टतया प्रतिभासित होते हैं वह ज्ञानी जनोंको ज्ञान अभीष्ट है—उसे ज्ञानीजन ज्ञान मानते हैं ॥१॥

जिसके भीतर ध्रौव्य आदि (उत्पाद व व्यय) से संयुक्त—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप—पदार्थोंसे अतिशय भरा हुआ विश्व एक साथ प्रतिबिम्बित होता है वह ज्ञान कहलाता है। उसे योगीजन नेत्रके समान मानते हैं ॥२॥

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान; इस प्रकारसे वह ज्ञान अपने वंशसहित—अपने अवान्तर भेदोंसे संयुक्त—भेदोंसे पाँच प्रकारका कल्पित किया गया है ॥ विशेषार्थ—वास्तवमें ज्ञान यह एक आत्माका अखण्ड गुण है और इसीलिए

१. M कल्पितैर्भावैं । २. L F V C R कलितं जगत् । ३. S V C X R चिन्तितं युगपद् । ४. P तं ज्ञानं । ५. M N योगिगोचरं । ६. N B ज्ञानमनः । ७. S V C J R केवलं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

452) अवग्रहादिभिर्भेदैर्बह्वाद्यन्तर्भवैः परैः ।
षट्त्रिंशत्त्रिशतीं[1] प्राहुर्मतिज्ञानं प्रपञ्चतः[2] ॥४

453)[3]प्रसृतं बहुधानेकैरङ्गपूर्वैः प्रकीर्णकैः ।
स्याद्वादन्यायसंकीर्णं[4] श्रुतज्ञानमनेकधा ॥५

452) अवग्रहादिभिः—विषयविषयिसंनिपाते समनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः । यथा चक्षुषा शुक्लं रूपमिति ग्रहणमवग्रहः । अवग्रहगृहीते ऽर्थे तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा । यथा शुक्लं रूपं, किं बलाका पताका चेति विशेषविज्ञानाद् यथार्थग्रहणमवायः । यथा उत्पतननिपतनपक्षविक्षेपादिभिर्बलाकेति । गृहीते ऽवाये कालान्तरे ऽविस्मरणकारणं धारणा । यथा सैवेयं बलाका पूर्वाह्णे याम-ह्रमद्राक्षमिति । अवग्रहेहावायधारणा [इति] चतुःप्रकारः स अवग्रहः । पञ्चेन्द्रियषष्ठमनोभिः षड्भिर्गुण्यते । जातश्चतुर्विंशतिप्रकारो ऽर्थावग्रहः । व्यञ्जनावग्रहसंज्ञं चक्षुर्मनोवर्जं चतुरिन्द्रियं क्षिपेत् । जाता भेदा अष्टाविंशतिः पूर्वं चतुर्विंशतिप्रकारो ऽर्थावग्रहो बह्वादिषड्भेदैर्गुण्यते । जातम् एकशतचतुश्चत्वारिंशत्प्रमाणम् । अष्टाविंशतिभेदा बहुषड्विधैः सह गुण्यते । जाता १६८ पश्चात् त एव भेदाः । बह्वादिभिः सेतरे द्वादशभिः सह ताडयते गुणनाज्जाताः । एते मतिज्ञानोत्तरभेदा ज्ञातव्याः । शतत्रयं षट्त्रिंशत्सहितं प्रपञ्चितं* विस्तृतं मतिज्ञानं प्राहुरवग्रहादिभेदैः । कीदृशैः । बह्वाद्यन्तर्भवैर्बहुप्रमुखानन्तर्भूतैः परैर्भेदैरिति श्लोकार्थः ॥४॥ अथ श्रुतज्ञानमाह ।

453) प्रसृतं—हि यस्मात्कारणात् अनेकैरङ्गपूर्वैराचाराङ्गेत्यादिभिः प्रकीर्णकैश्चतुर्दशभिः बहुधा प्रसृतम् । पुनः कीदृशम् । स्याच्छब्दलाञ्छितं स्याद्वादोपेतम् । तच्छ्रुतज्ञानमनेकधेति उप-लक्षणाद्द्विभेदं तावद् दर्शयति । अङ्गबाह्यम् अङ्गप्रविष्टं चेति । तत्राङ्गबाह्यमनेकविधम् । उपाङ्गादिदशविधकालिकोत्तराध्ययनादि वा । अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधम् । तद्यथा—आचारः

उसके भेदोंकी सम्भावना नहीं है । प्रथम श्लोकमें जो उस ज्ञानका यह लक्षण किया गया है कि जिसमें तीनों कालोंके समस्त पदार्थ अपने अनन्त गुणों और पर्यायोंके साथ युगपत् प्रतिबिम्बित होते हैं वह ज्ञान है; वह भी इस अखण्ड व निरावरण ज्ञानमें ही घटित होता है । उसके जो मति-श्रुतादिरूप भेद-प्रभेद माने गये हैं वे औपाधिक हैं—कर्मके निमित्तसे कल्पित किये गये हैं, इसीलिए वे उपचरित हैं, वास्तविक नहीं हैं । इन ज्ञानभेदोंकी प्ररूपणा आगे ग्रन्थकार स्वयं करते हैं ॥३॥

वह मतिज्ञान विस्तारकी अपेक्षा बहु आदिरूप अपने अवान्तर भेदोंके साथ अवग्रहादि भेदोंसे तीन सौ छत्तीस भेदवाला कहा जाता है (देखिये सर्वार्थसिद्धि १,१४-१९) ॥४॥

जो श्रुतज्ञान अनेक अंग, पूर्व और प्रकीर्णकरूप शाखाभेदोंके द्वारा बहुत प्रकारसे विस्तृत है तथा स्याद्वादन्यायसे व्याप्त है—अनेकान्तका अनुसरण करता है वह अनेक प्रकारका है (देखिये सर्वार्थसिद्धि १,२०) ॥५॥

१. L S F V B C J X R त्रिशतं । २. T ज्ञानप्रपञ्चितं, S F C X प्रपंचितं । ३. B om. ।
४. All others except P स्याच्छब्दलाञ्छितं तद्धि श्रुत ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१ सूत्रकृतम् २ स्थानम् ३ समवायः ४ व्याख्याप्रज्ञप्तिः ५ ज्ञातृधर्मकथा ६ उपासकाध्ययनम् ७ अन्तकृद्दशाङ्गम् ८ अनुत्तरोपपादिकदशाङ्गम् ९ प्रश्नव्याकरणम् १० विपाकश्रुतम् ११ दृष्टिवादः १२ इति। पूर्वं पदाक्षरप्रमाणं दर्शयति। षोडशलक्षप्रमाणकोटयः चतुस्त्रिंशत्सहस्रकोटयः अशीतिलक्षसप्तसहस्राणि अष्टशतानि अष्टाशीतियुक्तानि मध्यमपदाक्षराणि ज्ञेयानि। एतत्पदप्रमाणेनैव द्वादशाङ्गपदसंख्या क्रियते। तत्राचारे अष्टादशसहस्रं (१८०००) पदानां भवति। ततः सूत्रकृते षट्त्रिंशत्सहस्रपदप्रमाणं (३६०००)। ततस्तृतीयाङ्गे स्थानाख्ये द्विचत्वारिंशत्सहस्राणि (४२०००) पदानि भवन्ति। ततः समवाये एकलक्षचतुःषष्टिसहस्राणि (१६४०००) भवन्ति। ततः पञ्चमाङ्गे व्याख्याप्रज्ञप्तौ द्वे लक्षे अष्टाविंशतिसहस्रप्रमाणानि (२२८०००) पदानि भवन्ति। पञ्च लक्षाणि षट्पञ्चाशत्सहस्राणि (५५६०००) पदानां भवन्ति ज्ञातृधर्मकथायाम्। तत उपासकाध्ययने एकादश लक्षाणि सप्ततिसहस्राणि (११७००००) पदानाम्। ततश्चान्तकृद्दशायां त्रयोविंशतिलक्षाणां अष्टाविंशतिसहस्राणि (२३२८०००) पदानां भवन्ति। ततश्चानुत्तरोपपादिकदशायां द्विनवतिलक्षाणां चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राणि (९२४४०००) पदसंख्या भवति। ततश्च प्रश्नव्याकरणे त्रिनवतिलक्षाणि षोडशसहस्राणि (९३१६०००) पदानाम्। ततश्च विपाकश्रुते कोटिरेका चतुरशीतिसहस्राणि (१००८४०००) पदानां भवन्ति। सर्वेषां चाङ्गपदानां प्रमाणं दर्शयति। चतस्रः कोटयः पञ्चदश लक्षाणि सहस्रद्वयं च (४१५०२०००) सर्वाङ्गाणां पदप्रमाणं भवति। तत्र परिकर्मणां पदप्रमाणं दर्शयति। तत्र चन्द्रप्रज्ञप्त्यां षट्त्रिंशत् लक्षाणां पञ्चसहस्राणि (३६०५०००) पदानां भवन्ति। ततश्च सूर्यप्रज्ञप्त्यां पञ्चलक्षाणि सहस्रत्रयं (५०३०००) पदानां भवति। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यां लक्षत्रयं पञ्च सहस्राणि (३०५०००) पदानि। ततश्च द्वीपसागरप्रज्ञप्त्यां द्विपञ्चाशल्लक्षाणि षट्त्रिंशत्सहस्राणि (५२३६०००) पदानां भवन्ति। ततश्च व्याख्याप्रज्ञप्त्यां चतुरशीतिलक्षाणां षट्त्रिंशत्सहस्राणि (८४३६०००) पदानि भवन्ति। एवं पञ्चप्रकारपरिकर्मणि पदप्रमाणं दर्शयति। एका कोटिरेकाशीतिर्लक्षा पञ्च सहस्राणि पदानां संख्या भवति। अथ दृष्टिवादद्वितीयभेदसूत्रपदप्रमाणमाह। अष्टाशीतिर्लक्षाणां (८८०००००) पदसंख्या सूत्रे भवति। अथ पूर्वगतपदप्रमाणमाह। नवकाङ्कपञ्चपञ्चशून्यपञ्चकपञ्चाङ्कप्रमाणा (९५५०५५) पूर्वगतपदसंख्या भवति। प्रथमानुयोगपदप्रमाणमाह। पञ्चसहस्राणि (५०००) पदानां प्रमाणं प्रथमानुयोगे भवति। अथ पञ्चप्रकारचूलिकापदसंख्यामाह। तत्र प्रथमचूलिकाप्रतिमादिकायां पदसंख्यामाह। द्विकोटी अष्टानवतिर्लक्षाणां द्विनवतिसहस्राणि पदानां संख्या भवति। द्वितीया मातृगता चूलिका द्वे कोटी द्विनवतिसहस्राणि पदानां संख्या भवति। तृतीया भूगता चूलिका। तस्याः पदप्रमाणं द्वे कोटी अष्टानवतिर्लक्षाणां द्विनवतिसहस्राणि पदसंख्या भवति। चतुर्थी विद्यानुभावरूपगता। तस्याः पदसंख्या द्वे कोटी अष्टानवतिर्लक्षाणां द्विनवतिसहस्राणि पदप्रमाणम्। अथ गगनगता पञ्चमी। तस्याः प्रमाणं द्वे कोटी अष्टानवतिर्लक्षा द्विनवतिसहस्राणि पदानां संख्या भवति। अथ चूलिकानां पदसंख्योच्यते। दश कोटयः एकोनपञ्चाशल्लक्षाः षट्चत्वारिंशत्सहस्राणि पदानां संख्या वर्तते। तत्र दृष्टिवादस्य परिकर्मसूत्रपूर्वप्रथमानुयोगचूलिकाभेदैः पञ्चप्रकारत्वम्। तत्र पूर्वगतं चतुर्दशविधम्। उत्पादपूर्वम्, अग्रायणीयम्, वीर्यप्रवादम्, अस्तिनास्तिप्रवादम्, ज्ञानप्रवादम्, सत्यप्रवादम्, आत्मप्रवादम्, कर्मप्रवादम्, प्रत्याख्याननामधेयम्, विद्यानुवादम्, कल्याणनामधेयम्, प्राणावायम्, क्रियाविशालम्, लोकबिन्दुसारम्। तत्र तावत् उत्पादपूर्वपदप्रमाणमुच्यते। एका कोटिः पदानां संख्या भवति। द्वितीयाग्रायणीयपूर्वे षण्णवतिर्लक्षाणां पदप्रमाणं भवति। तृतीये वीर्यप्रवादे सप्ततिर्लक्षाणां

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

454) देवनारकयोर्ज्ञेयस्त्ववधिर्भवसंभवः ।
षड्विकल्पश्च शेषाणां क्षयोपशमलक्षणः ॥६

पदप्रमाणं स्यात् । अथ चतुर्थिकास्तिनास्तिप्रवादे षष्टिलंक्षाणां पदप्रमाणं भवति । अथ पञ्चमज्ञान-प्रवादे पदसंख्योच्यते । एकोनशतलक्षा एकोनशतसहस्राणि नवशतानि एकोनशतं पदप्रमाणं भवति । अथ षष्ठे सत्यप्रवादे षड्भिरधिका कोटिः पदानां संख्या वर्तते । ततश्च सप्तमात्मप्रवादे षड्विंशति-कोटयः पदप्रमाणं भवेत् । ततश्चाष्टमकर्मप्रवादे एका कोटिरशीतिर्लक्षाः पदसंख्या । नवमे प्रत्या-ख्यानप्रवादे चतुरशीतिलक्षं पदानां प्रमाणं भवति । ततो दशमे विद्यानुप्रवादे एका कोटिर्दश-लक्षाणि पदानां संख्या भवति । ततश्चैकादशे कल्याणप्रवादे कोटिषड्विंशतिपदप्रमाणसंख्या ज्ञातव्या । ततो द्वादशमे प्राणवाये त्रयोदशकोटयः पदानां प्रमाणं भवति । अथ त्रयोदशे लोकविशाले नवकोटयः पदप्रमाणं भवति । ततश्चतुर्दशे लोकबिन्दुसारे पदप्रमाणमाह । द्वादशकोटयः पञ्चा-शल्लक्षाः पञ्चाधिकाः पदप्रमाणं भवति । अथ सर्वदृष्टिप्रवादपदप्रमाणमुच्यते । अष्टोत्तरशतकोटयो ऽष्टषष्टिलंक्षा षट्पञ्चाशत्सहस्राणि पञ्चाधिकानि द्वादशाङ्गपदप्रमाणसंख्या भवति । अथ चतुर्दश-पूर्ववस्तुसंख्यामाह । पञ्चनवत्यधिकशतं वस्तुप्रमाणं वर्तते । एकस्मिन् वस्तुनि विंशतिः प्राभृता ज्ञातव्याः । अथ सर्वश्रुताक्षरप्रमाणमाह । एकाष्टचतुश्चतुःषट्सप्तचतुःचतुःशून्यसप्तत्रिसप्तशून्यनव-पञ्चपञ्चैकषडेकपञ्चप्रमाणाङ्काक्षरप्रमाणमङ्गप्रविष्टं सर्वश्रुतेर्ज्ञातव्यम् । चतुर्दशप्रकीर्णे अष्टौ कोटयो दशलक्षा अष्टौ सहस्राणि एकशतं पञ्चसप्तत्यधिकमक्षप्रमाणं भवति । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अवधिज्ञानमाह ।

454) देवनारकयोः—अवधिर्द्विविधः । भवप्रत्ययः क्षयोपशमलक्षणः । तत्र भवप्रत्ययो देवनारकाणाम् । शेषाणां जीवानां क्षयोपशमलक्षणः । स षड्विकल्पः षड्भेदः । अनुगामि-सूर्य-प्रतापवन्नीत्वा'''' । अननुगामि-समुद्रवत् पश्चात् कल्लोला उत्पद्यन्ते । वर्धमानम्—यथेन्धनैरग्निर्वर्धते तथा संयमेन वृद्धिं याति । हीयमानम्—दीपकवत् मन्दं मन्दं याति यथा वृत्तिः हीना भवति । अवस्थितः हारवत् एकरूपकान्तिः । अनवस्थितः लिङ्गवत् क्वापि वर्धते क्वापि विघटते । तथा विशुद्धतां प्राप्य वर्धते, मलिनतां प्राप्य विघटति । अवधिज्ञानावरणीयक्षयोपशमात् मूर्तं वस्तु जानाति । सो ऽपि त्रिविधः । परमावधिः सर्वावधिर्देशावधिः । परमावधिश्चरमदेहे भवति । स्थूल-

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोंके जानना चाहिए । क्षयोपशमरूप अवधि-ज्ञान शेष मनुष्य और तिर्यंचोंके होता है और वह छह प्रकारका है ॥ विशेषार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादायुक्त जो रूपी द्रव्य-विषयक अतींद्रिय निर्मल ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं । वह दो प्रकारका है—भवप्रत्यय और क्षयोपशमनिमित्तक । जिस अवधि-ज्ञानका कारण मुख्यतासे भव है उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहा जाता है और वह देव और नारकियोंके होता है । इसका अभिप्राय यह है कि देव और नारक भवको पाकर प्राणियोंके नियमतः यथासम्भव अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम होता ही है, इसीलिए क्षयोपशमके होने-पर भी इसे भवप्रत्यय कहा गया है । विशेषता इतनी समझनी चाहिए कि उक्त देव-नारकियों-में जो जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं उनके समीचीन अवधिज्ञान तथा मिथ्यादृष्टियोंके कुत्सित अवधिज्ञान (विभंग) होता है । जिस अवधिज्ञानमें क्षयोपशमकी ही प्रमुखता होती है—देव-नारकियोंके समान भवकी प्रमुखता नहीं होती—वह क्षयोपशमनिमित्तक कहा जाता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

455) ऋजुर्विपुल इत्येवं स्यान्मनःपर्ययो द्विधा ।
विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां[1] तद्विशेषो ऽवगम्यताम् ॥७

456) अशेषद्रव्यपर्यायविषयं विश्वलोचनम् ।
अनन्तमेकमत्यक्षं केवलं कीर्तितं जिनैः[2] ॥८

परमाणून् पश्यति । गुणप्रत्ययः सम्यक्त्वपूर्वंतपश्चरणकादिगुणप्रत्ययः सर्वावधिश्चरमदेहे भवति । वर्गवर्गणासूक्ष्मकर्मस्कन्धान् पश्यति । सो ऽपि गुणप्रत्ययः देशावधिश्चतुर्षु गतिषु भवति । देवनारकाणां तीर्थेशानां भवप्रत्ययः । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ मनःपर्ययज्ञानमाह ।

455) ऋजुर्विपुल—मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमाच्च स्वकीयमनो ऽवलम्बेन परकीयमनोगतं मूर्तं वस्तु पश्यति । स द्विविधः । ऋजुमतिर्विपुलमतिः । ऋजुमतिविपुलमत्योर्विशेषभेदः अवगम्यतां जानीयताम् (?) । तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति आत्मनः प्रसादे विशुद्धिः प्रतिपतनं प्रतिपातः । न प्रतिपातो ऽप्रतिपातः । उपशान्तकषायस्य चारित्रमोहोद्रेकात् प्रच्युतसंयमशिखरस्य प्रतिपातो भवति । क्षीणकषायस्य प्रतिपातकारणाभावात् अप्रतिपातश्च विशुद्धिश्च विशुद्धिप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषज्ञानम् । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ केवलज्ञानस्वरूपमाह ।

456) अशेषद्रव्य—जिनैः तीर्थंकरैः केवलं ज्ञानं कीर्तितम् । कीदृशम् । अत्यक्षम् अतीन्द्रियम् । इति सूत्रार्थः ॥८॥ पुनस्तदेवाह ।

और वह निम्न छह भेदवाला है । १. अनुगामी—क्षेत्रान्तर व भवान्तरमें साथ जानेवाला, २. अननुगामी, ३. वर्धमान—हानिसे रहित होकर उत्तरोत्तर बढ़नेवाला, ४. हीयमान—वृद्धिसे रहित होकर उत्तरोत्तर हानिको प्राप्त होनेवाला, ५. अवस्थित—उत्पन्न होनेके समय जिस प्रमाणमें था उतना ही रहनेवाला और ६. अनवस्थित—हीनता व अधिकताको प्राप्त होनेवाला ॥६॥

मनःपर्ययज्ञान ऋजुमति और विपुलमति इस प्रकारसे दो प्रकारका है । इन दोनोंमें विशुद्धि और अप्रतिपातकी अपेक्षा विशेषता समझनी चाहिए ॥ विशेषार्थ—जो दूसरेके मनमें स्थित चिन्तित, अचिन्तित अथवा अर्धचिन्तित पदार्थको जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं । वह दो प्रकारका है—ऋजुमतिमनःपर्यय और विपुलमतिमनःपर्यय । इनमें जो सरल मन, वचन व कायसे किये गये दूसरेके मनोगत पदार्थको जानता है उसे ऋजुमतिमनःपर्यय, तथा जो सरल व कुटिल भी मन, वचन एवं कायके द्वारा किये गये दूसरेके मनोगत पदार्थको जानता है, उसे विपुलमतिमनःपर्यय कहते हैं । इनमें ऋजुमतिमनःपर्ययकी अपेक्षा विपुलमति विशुद्धतर (अधिक विशुद्ध) और अप्रतिपाती है—वह संयम-शिखरसे न गिरनेवाले क्षीणकषायके होता है, उपशान्तकषायके नहीं होता । यह इन दोनोंमें विशेषता भी है ॥७॥

जो ज्ञान सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंको विषय करता है, समस्त लोकको देखनेके लिए नेत्रके समान है, अनन्त है—अनन्त पदार्थोंको युगपत् ग्रहण करनेवाला है, एक या केवल है—इन्द्रियों आदिकी सहायतासे रहित है, तथा अतीन्द्रिय है, उसे जिन-भगवान्ने केवलज्ञान कहा है ॥८॥

१. P विशुद्धिप्रति० । २. F कीर्त्यते बुधैः, All others except P M N कीर्तितं बुधैः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

457) कल्पनातीतमभ्रान्तं स्वपरार्थावभासकम् ।
जगज्ज्योतिरसंदिग्धमनन्तं सर्वदोदितम् ॥९

458) [1]अनन्तानन्तभागे ऽपि यस्य लोकश्चराचरः ।
अलोकश्च स्फुरत्युच्चैस्तज्ज्योतिर्योगिनां मतम् ॥१०

459) अगम्यं यन्मृगाङ्कस्य दुर्भेदं[2] यद्रवेरपि ।
तद्दुर्बोधोत्थितं[3] ध्वान्तं[4] ज्ञानभेद्यं प्रकीर्तितम् ॥११

457) कल्पनातीतम्—कीदृशं ज्ञानम् । कल्पनातीतं प्रसिद्धम् । अभ्रान्तं भ्रान्तिरहितम् । पुनः कीदृशम् । स्वपरार्थविभासकम् । पुनः कीदृशम् । जगज्ज्योतिः । पुनः कीदृशम् । असंदिग्धं संदेहरहितम् । पुनः कीदृशम् । अनन्तविषयम् । पुनः कीदृशम् । सर्वदोदितं सर्वदोदयमिति सूत्रार्थः ॥९॥ अथालोकस्वरूपमाह ।

458) अनन्तानन्त—उच्चैर्यथा स्यात् अलोकः स्फुरति । स अलोकः योगिनां तज्ज्योतिर्मतम् । च पादपूरणे । स कः । यस्यालोकस्यानन्तानन्त*भागो लोकश्चराचरो वर्तते । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ ज्योतिःस्वरूपमाह ।

459) अगम्यं—यज्ज्योतिर्मृगाङ्कस्येन्दोरगम्यं गमनायोग्यम् यज्ज्योती रवेः सूर्यस्य दुर्भेदं भेदनाशक्यमित्यर्थः । अपि पक्षान्तरे । पुनः कीदृशम् । यज्जोतिस्तद् *दुर्बोधोद्धतध्वान्तं विस्तीर्णाज्ञानोत्कटान्धकारं ज्ञानभेद्यं प्रकीर्तितमिति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ ज्ञानमाहात्म्यमाह ।

यह केवलज्ञान कल्पनासे रहित, भ्रान्तिसे रहित, स्व और पर दोनों ही पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला, विश्वको प्रकाशित करनेवाली अपूर्व ज्योति, सन्देहसे रहित, प्रमाणमें अनन्त और सर्वदा उदित रहनेवाला है—सूर्य-चन्द्रके समान कभी अस्त होनेवाला नहीं है ॥९॥

जिस केवलज्ञानरूप ज्योतिके अनन्तानन्तवें भागमें भी त्रस व स्थावर प्राणियोंसे व्याप्त समस्त लोक और अलोक भी स्पष्टतया प्रतिभासित होता है वह केवलज्ञानरूप ज्योति योगियोंके मानी गयी है। तात्पर्य यह कि तपश्चरणके द्वारा चार घातियाकर्मोंके नष्ट कर देनेपर वह केवलज्योति योगियोंको ही प्राप्त होती है ॥१०॥

मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न हुए जिस अज्ञानरूप अन्धकारको न चन्द्रमा नष्ट कर सकता है और न सूर्य भी नष्ट कर सकता है उस अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाला ज्ञान बतलाया गया है ॥११॥

१. B °नन्तभागो ऽपि । २. All others except P F दुर्भेद्यं । ३. All others except P दुर्बोधोद्धतं । ४. M N T C °र्बोधोद्धतध्वान्तं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

460) दुःखज्वलनतप्तानां संसारोग्रमरुस्थले ।
विज्ञानमेव जन्तूनां सुधाम्बु[1] प्रीणनक्षमम्[2] ॥१२

461) निरालोकं जगत्सर्वमज्ञानतिमिराहतम् ।
तावदास्ते उदेत्युच्चैर्न[3] यावज्ज्ञानभास्करः ॥१३

462) बोध एव दृढः पाशो हृषीकमृगबन्धने ।
गारुडश्च महातन्त्रैश्चित्त[4]भोगिविनिग्रहे ॥१४

463) निशातं[5] विद्धि निस्त्रिंशं भवारातिनिपातने ।
तृतीयमथवा नेत्रं विश्वतत्त्वप्रकाशने ॥१५

---

460) दुःखज्वलन—जन्तूनां संसारमरुस्थले विज्ञानमेव शुद्धाम्बु निर्मलजलम् । कीदृशम् । प्रीणनक्षमं तृप्तिजनकम् । कीदृशानां जन्तूनाम् । दुःखाग्नितप्तानामिति सूत्रार्थः ॥१२॥ पुनर्ज्ञानमाह ।

461) निरालोकं—जगत् सर्वं निरालोकं तावत् यावत् उच्चैर्ज्ञानभास्करः नाभ्युदेति* । कीदृशं जगत् । अज्ञानतिमिराहतम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ तदेवाह ।

462) बोध एव—हृषीकमृगबन्धने इन्द्रियमृगबन्धकः बोध एव ज्ञानमेव दृढः पाशः । चित्तभोगिविनिग्रहे मनःसर्पनाशे गारुडः । च पादपूरणे । *महामन्त्रः । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ पुनस्त-त्स्वरूपमाह ।

463) निशातं—भवारातिनिपातने भवारिमारणे निशातं तीक्ष्णं खड्गं विद्धि जानीहि । अथवा तृतीयं नेत्रं ज्ञातव्यं विश्वतत्त्वप्रकाशने । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ बोधाधिक्यमाह ।

संसाररूप भयानक मरुस्थलके भीतर दुखरूप अग्निसे सन्तप्त प्राणियोंके प्रसन्न करनेमें विशिष्टज्ञान (सम्यग्ज्ञान=विवेक) ही अमृतजलके समान समर्थ है ॥१२॥

जब तक ज्ञानरूप सूर्य अतिशय उदयको—अभिवृद्धिको—नहीं प्राप्त होता है तभी तक सब लोक प्रकाशसे रहित होकर अज्ञानरूप अन्धकारसे व्याप्त रह सकता है ॥१३॥

इन्द्रियोंरूप मृगोंके बाँधनेमें—उनके स्वाधीन करनेमें—ज्ञान ही मजबूत फाँस (जाल) है तथा मनरूप सर्पका प्रतीकार करनेमें वह ज्ञान ही गारुड—सर्पके विषको नष्ट करनेवाला—महामन्त्र है ॥१४॥

संसाररूप शत्रुके गिरानेमें—उसके नष्ट करनेमें—उस ज्ञानको तीक्ष्ण धारवाली तलवार अथवा समस्त तत्त्वोंके प्रकाशित करनेमें उसे तीसरा नेत्र समझो ॥१५॥

---

१. B J शुद्धाम्बुप्रीणं । २. L S F V C J X R प्रीणनक्षमः । ३. B J तावदास्ते ऽभ्युदेत्यु । ४. All others except P महामन्त्रश्चित्त । ५. J निशान्तं विद्धि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

464) क्षीणतन्द्रा जितक्लेशा वीतसंगाः स्थिराशयाः ।
तस्यार्थे ऽमी तपस्यंन्ति योगिनः कृतनिश्चयाः ॥१६

465) वेष्टयत्यात्मनात्मानमज्ञानी कर्मबन्धनैः ।
विज्ञानी मोचयत्येव प्रबुद्धः समयान्तरे ॥१७

466) यज्जन्मकोटिभिः पापं जयत्यज्ञस्तपोबलात् ।
तद्विज्ञानी क्षणार्धेन दहत्यतुलविक्रमः ॥१८

467) ज्ञानपूर्वमनुष्ठानं निःशेषं यस्य योगिनः ।
न तस्य बन्धमायाति कर्म कस्मिन्नपि क्षणे ॥१९

---

464) क्षीणतन्द्राः—अमी योगिनः तस्यार्थे बोधार्थे कृतनिश्चयाः तपस्यन्ति । कीदृशा योगिनः । क्षीणतन्द्राः गतालस्याः । पुनः कीदृशाः । जितक्लेशाः । पुनः कीदृशाः । वीतसंगाः संगरहिताः । पुनः कीदृशाः । स्थिराशयाः निश्चलचित्ताः । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ पुनस्तदेवाह ।

465) वेष्टयति—अज्ञानी ज्ञानरहितः पुमान् आत्मनात्मानं वेष्टयति । कैः कर्मबन्धनैः । तद्विपक्षतामाह । विज्ञानी मोचयत्येव दूरीकरोत्येव । समयान्तरे कालान्तरे प्रबुद्धः सन् । इत्यर्थः ॥१७॥ पुनर्ज्ञानस्वरूपमाह ।

466) यज्जन्म—अज्ञो मूर्खो यत्पापं तपोबलाज्जन्मकोटिभिर्जयति । तद्विज्ञानी पापं क्षणार्धेन दहति । कीदृशो विज्ञानी । अतुलविक्रमः महाबलः । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ पुनस्तदेवाह ।

467) ज्ञानपूर्वम्—यस्य योगिनः ज्ञानपूर्वमनुष्ठानं निःशेषं तस्य कर्मबन्धं कस्मिन्नपि क्षणे नायाति । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ तद्विपरीतमाह ।

आलस्यसे रहित, क्लेशोंके विजेता (कष्टसहिष्णु), परिग्रहसे रहित और मनमें दृढ़ताको धारण करनेवाले ये योगीजन तत्त्वका निश्चय करके उस ज्ञानके लिए ही तपश्चरण करते हैं ॥१६॥

अज्ञानी जीव अपनेआपको अपने द्वारा ही कर्मरूप बन्धनोंसे वेष्टित करता है, और इसके विपरीत विवेकी जीव प्रबोधको प्राप्त होकर एक समयके भीतर उन कर्म-बन्धनोंसे अपनेको छुड़ाता है ॥१७॥

अज्ञानी जीव जिस पापको तपके प्रभावसे करोड़ों जन्मोंमें जीतता है उसे विशिष्ट ज्ञानी जीव अनुपम पराक्रमसे आधे क्षणमें ही जला डालता है ॥१८॥

जिस योगीका सब ही आचरण ज्ञानपूर्वक होता है उस योगीके किसी भी क्षणमें कर्म बन्धको नहीं प्राप्त होता है ॥१९॥

---

१. NJ interchange Nos. 18-19 । २. Y क्षपयत्यज्ञस्तपो° । ३. N तद्वि ज्ञानी । ४. T V C J X Y R interchange Nos. 19-20 ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

468) अज्ञानपूर्विका[1] चेष्टा यतेर्यस्यात्र भूतले ।
स बध्नात्यात्मनात्मानं कुर्वन्नपि तपश्चिरम् ॥२०

469) यत्र बालश्चरत्यस्मिन् पथि तत्रैव तत्त्ववित् ।
बालः स्वमपि बध्नाति मोचयत्येव पण्डितः[2] ॥२१

470) दुरिततिमिरहंसं मोक्षलक्ष्मीसरोजं
मदनभुजगमन्त्रं चित्तमातङ्गसिंहम् ।
व्यसनघनसमीरं विश्वतत्त्वैकदीपं
विषयशफरजालं ज्ञानमाराधय त्वम् ॥२२

468) अज्ञान—अत्र भूतले यस्य यतेरज्ञानपूर्विका चेष्टा क्रिया भवति स यतिः आत्मनात्मानं बध्नाति । तपश्चिरं कुर्वन्नपि इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथाज्ञानपण्डितयोरेकत्वे (ऽपि) फले विशेषमाह ।

469) यत्र बालः—यत्र लोके ऽस्मिन् पथि बालो ऽज्ञाततत्त्वः चरति, तत्रैव पथि पण्डितश्चरति । बालः स्वमात्मानं बध्नाति । कर्मभिरिति शेषः । तत्त्ववित् पण्डितः ध्रुवं निश्चयेन मुच्यते । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ ज्ञानं वर्णयन्नाह । मालिनी छन्दः ।

470) दुरिततिमिर—हे भव्य, त्वं ज्ञानमाराधय । कीदृशं ज्ञानम् । दुरिततिमिरहंसं पापान्धकारसूर्यम् । पुनः कीदृशम् । मोक्षलक्ष्मीसरोजं मुक्तिकमलाकमलम् । वासार्थमिति गम्यम् । पुनः कीदृशम् । मदनभुजगमन्त्रं कामनागमन्त्रम् । पुनः कीदृशम् । चित्तमातङ्गसिंहम् । सुगमम् । पुनः कीदृशम् । व्यसनघनसमीरं सप्तव्यसनद्यूतादिमेघवायुम् । पुनः कीदृशम् । विश्वतत्त्वैकदीपम् । सुगमम् । पुनः कीदृशम् । विषयशफरजालं पञ्चेन्द्रियव्यापारमत्स्यबन्धनजालम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ ज्ञानफलं दर्शयति । स्रग्धरा छन्दः ।

इस पृथिवीतलपर जो मुनि अज्ञानतापूर्वक प्रवृत्ति करता है वह चिरकाल तक तपश्चरण करता हुआ भी अपनेआपको स्वयं बाँधता है—कर्मोंसे सम्बद्ध करता है ॥२०॥

संसारमें जिस मार्गसे अज्ञानी संचार करता है उसी मार्गसे तत्त्वज्ञ भी संचार करता है । फिर भी अज्ञानी जीव अपनेको कर्मसे सम्बद्ध करता है और वह ज्ञानी पण्डित अपनेको उस कर्मबन्धनसे छुड़ाता ही है । अभिप्राय यह है कि ज्ञानी और अज्ञानीके आचरणमें समानताके होनेपर भी ज्ञानीका वह आचरण विवेकपूर्वक होनेसे संवर और निर्जराका कारण होता है तथा वही अज्ञानीका आचरण अविवेकपूर्वक होनेसे कर्मबन्धका कारण होता है ॥२१॥

[हे भव्य जीव !] जो ज्ञान पापरूप अन्धकारको नष्ट करनेके लिए सूर्यके समान है, जो मुक्तिरूप लक्ष्मीके रहनेके लिए कमलके समान है—मुक्तिको प्राप्त करानेवाला है, कामदेवरूप सर्पके वशीभूत करनेके लिए मन्त्र जैसा है, मनरूपी हाथीका सिंहके समान निग्रह करनेवाला

१. M अज्ञानपूर्वका । २. All others except P तत्रैव पण्डितः । ....बध्नाति मुच्यते तत्त्वविद् ध्रुवम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

471) अस्मिन् संसारकक्षे यमभुजगविषाक्रान्तनिःशेषसत्त्वे
क्रोधाद्युत्तुङ्गशैले कुटिलगतिसरित्पातसंतानभीमे ।
मोहान्धाः संचरन्ति स्खलनविधुरिताः प्राणिनस्तावदेते
यावद्विज्ञानभानुर्भवभयदमिदं नोच्छिनत्त्यन्धकारम् ॥२३

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्यश्रीशुभचन्द्र-
विरचिते ज्ञानोपयोगः[1] ॥७॥

471) अस्मिन्—तावदेते प्राणिनो मोहान्धाः संचरन्ति । क्व । अस्मिन् संसारकक्षे भवघने । कीदृशे । यमभुजगविषाक्रान्तनिःशेषसत्त्वे मृत्युसर्पगरलव्याप्तसर्वजीवे । पुनः कीदृशे । क्रोधाद्युत्तुङ्गशैले क्रोधमानमायालोभोच्चपर्वते । पुनः कीदृशे । कुटिलगतिसरित्पातसंतानभीमे वक्रगतिनदीपातसमूहरौद्रे इति सूत्रार्थः ॥२३॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्य-विरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा तत्पुत्र-साहटोडर - तत्कुलकमलदिवाकर - साहरिखिदासश्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन ज्ञानोपयोगव्याख्यानं समाप्तम् । सप्तमसंधिः ॥७॥

श्रीटोडरकुलचन्द्रः कारुण्यपुण्यभासमानसबुद्धिः । ऋषिदासः श्रीयुक्तः जीयाद् जिननाथतद्भक्तः । इत्याशीर्वादः । अथ सम्यग्ज्ञानदर्शनपूर्वकं चारित्रं भवतीत्यतः "चारित्रमाह ।

है, व्यसनरूप बादलोंके उड़ानेमें वायुका काम करता है, समस्त तत्त्वोंके प्रकाशित करनेमें अद्वितीय दीपकके सदृश है तथा विषयरूप मछलियोंको नष्ट करनेके लिए जालके समान है, उसका तू आराधन कर—उसको सम्पादित करनेका प्रयत्न कर ॥२२॥

जिस संसाररूप वनके भीतर समस्त प्राणी यमरूप सर्पके विषसे व्याप्त हो रहे हैं, जहाँपर क्रोधादि कषायोंरूप ऊँचे पर्वत स्थित हैं, तथा जो कुटिलगति—नरकादि दुर्गतियों—रूप टेढ़ी-मेढ़ी बहनेवाली नदियोंमें गिरनेके प्रवाहसे भयानक है, उस संसाररूप वनके भीतर ये मोहसे अन्धे हुए प्राणी इधर-उधर गिरने-पड़नेसे व्याकुल होकर तभी तक संचार करते हैं जब तक कि विज्ञानरूप सूर्य संसाररूप भयको देनेवाले उस अन्धकारको नष्ट नहीं करता है। तात्पर्य यह कि प्राणीके जब तक अविवेक रहता है तभी तक वह संसार परिभ्रमणके दुखको सहता है, और जब वह उस अविवेकको छोड़कर प्रबुद्ध हो जाता है तब वह उस संसार परिभ्रमणके दुखसे छूटकर निर्बाध व अविनश्वर सुखको प्राप्त कर लेता है ॥२३॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
ज्ञानोपयोग प्रकरण समाप्त हुआ ॥७॥

१. X Y ज्ञानोपयोगप्रकरणम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

VIII

[अहिंसाव्रतम्]

472) यद्विशुद्धेः परं धाम यद्योगिजनजीवितम् ।
तद्वृत्तं सर्वसावद्यपर्युदासैकलक्षणम् ॥१

473) [1]सामायिकादिभेदेन पञ्चधा परिकीर्तितम् ।
[2]वृषभादिजिनैः पूर्वं चारित्रं सप्रपञ्चकम् ॥२

472) यद्विशुद्धेः—तद् वृत्तं चारित्रं भवति । कीदृशम् । सर्वसावद्यपर्युदासैकलक्षणं सर्वपापाभावैकलक्षणम् । तत्किम् । यत् चारित्रं विशुद्धेः परं प्रकृष्टं धाम गृहं, यत् चारित्रं योगिजनजीवितमिति सूत्रार्थः ॥१॥ तस्य विशेषमाह ।

473) सामायिकादि—वृषभादिजिनैः पूर्वं चारित्रं सामायिकादिभेदेन पञ्चधा परिकीर्तितम् । सामायिकं दिग्देशानर्थदण्डविरतिः । तच्च द्विविधम् । नियतकालमनियतकालं च । स्वाध्यायादि नियतकालम् । ईर्यापथाद्यनियतकालम् । प्रमादकृतानर्थप्रबन्धविलोपे सम्यक्प्रतिक्रिया च्छेदोपस्थापनं विकल्पनिवृत्तिर्वा । परिहरणं परिहारः प्राणिवधान्निवृत्तिः, तेन विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहारविशुद्धिचारित्रम् । अतिसूक्ष्मकषायत्वात् सूक्ष्मसांपरायं चारित्रम् । मोहनीयस्य निरवशेषस्योपशमात् क्षयात् च आत्मस्वभावावस्थोपेक्षालक्षणं यथाख्यातचारित्रम् । तेषां भेदेन पञ्चधोक्तम् । कीदृशं चारित्रम् । सप्रपञ्चं सविस्तारमिति सूत्रार्थः ॥२॥ पुनश्चरणस्वरूपमाह । आर्या ।

जो विशुद्धिका उत्कृष्ट स्थान है, योगीजनोंका जीवन (प्राण) है, तथा समस्त पापका परित्याग ही जिसका लक्षण है उसका नाम चारित्र है। अभिप्राय यह कि समस्त पापके परित्यागको चारित्र कहते हैं और वह योगियोंके होता है। उससे आत्मा अतिशय निर्मल होती है ॥१॥

ऋषभादि तीर्थंकरोंने पूर्वमें उस चारित्रको सामायिक आदि (सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात) के भेदसे पाँच प्रकारका विस्तारपूर्वक कहा है ॥२॥

१. P writes this on the margin, M N Om. । २. All others except P X ऋषभादि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

474) [पञ्चमहाव्रतमूलं समितिप्रसरं नितान्तमनवद्यम् ।
गुप्तिफलभारनम्रं सन्मतिना कीर्तितं वृत्तम् ॥२*१]

475) पञ्च पञ्च त्रिभिर्भेदैस्तदुक्तं मुक्तसंशयैः ।
भवभ्रमणभीतानां चरणं शरणं परम् ॥३

476) पञ्चव्रतसमित्यश्च गुप्तित्रयपवित्रितम् ।
श्रीवीरवदनोद्गीर्णं चरणं चन्द्रनिर्मलम् ॥४

474) पञ्चमहा—सन्मतिना तीर्थंकरादिना वृत्तं चारित्रं कीर्तितं कथितम् । कीदृशम् । पञ्चमहाव्रतमूलं सुगमम् । समितिप्रसरं ईर्यासमित्यादिविस्तारम् । पुनः कीदृशम् । नितान्तमतिशयेनानवद्यं निष्पापम् । पुनः कीदृशम् । गुप्तिफलभारनम्रं मनोगुप्त्यादिफलभारनम्रं नमनशीलम् । इति सूत्रार्थः ॥२*१॥ अतस्तद्भेदान् पुनराह ।

475) पञ्च पञ्च—मुक्तसंशयैः संशयरहितैः तच्चरणं चारित्रं पञ्चपञ्चत्रिभिर्भेदैः पञ्चव्रत-पञ्चसमिति-त्रिगुप्तिभिर्भेदैरुक्तम् । कीदृशं चरणम् । भवभ्रमणभीतानां परं प्रकृष्टं शरणमिति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

476) पञ्चव्रत—[अहिंसादीनि पञ्च व्रतानि, ईर्यादयः पञ्च समितयः, मनोवाक्कायगुप्तित्रयं च एतद् भगवता महावीरेण उक्तं चन्द्रवन्निर्मलं चारित्रम् इत्यर्थः ॥] विशेषस्त्वग्रे दर्शयति ॥४॥ अथ व्रतान्[नि] नामग्राहमाह ।

निर्मल बुद्धिके धारक गणधरादिके द्वारा अथवा वीर जिनेन्द्रके द्वारा वह अतिशय निर्दोष चारित्ररूप वृक्ष पाँच महाव्रतोंरूप जड़ोंसे दृढ़, पाँच समितियोंरूप शाखाओंसे विस्तृत और गुप्तियोंरूप फलोंके भारसे नम्र (झुका हुआ) बतलाया गया है । तात्पर्य यह कि वह चारित्र पाँच महाव्रतों, पाँच समितियों और तीन गुप्तियोंके भेदसे तेरह प्रकारका है ॥२*१॥

संशयसे रहित गणधरादिकोंने उस चारित्रको पाँच (महाव्रत), पाँच (समिति) और तीन (गुप्ति) भेदोंसे युक्त प्ररूपित किया है । वह संसारपरिभ्रमणसे भयभीत हुए प्राणियोंका अतिशय रक्षक है—उससे उद्धार करनेवाला है ॥३॥

पाँच महाव्रतों और पाँच समितियोंसे सुशोभित तथा तीन गुप्तियोंसे पवित्रताको प्राप्त हुआ वह चन्द्रमाके समान निर्मल चारित्र श्री वीर जिनेन्द्रके मुखसे निकला है—उसका उपदेश वीर प्रभुने दिया है ॥४॥

१. P M N Om., F gives after 4th, J reads here 5th । २. All others except P M भेदैर्यदुक्तं । ३. B Om । ४. All others except P M L F पञ्चव्रतं समित् पञ्च, M L F व्रतसमित्पञ्च ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

477) हिंसायामनृते स्तेये मैथुने ऽथ[1] परिग्रहे ।
विरतिर्व्रतमित्युक्तं सर्वसत्त्वानुकम्पकैः ॥५

478) सत्याद्युत्तरनिःशेषयमजातनिबन्धनम्[2] ।
शीलैश्वर्याद्यधिष्ठानमहिंसाख्यं महाव्रतम् ॥६

479) वाक्चित्ततनुभिर्यत्र न स्वप्ने ऽपि प्रवर्तते ।
चरस्थिराङ्गिनां घातस्तदाद्यं व्रतमीरितम् ॥७

477) **हिंसायामनृते**—सर्वसत्त्वानुकम्पकैस्तीर्थंकरैर्व्रतमित्युक्तम् । इतीति किम् । हिंसायां प्राणिवधे विरतिर्व्रतम् । अनृते ऽसत्ये वचसि विरतिर्व्रतमित्यादि प्रत्येकं योज्यम् । स्तेये चौर्ये । च पुनः । मैथुने स्त्रीसेवायाम् । परिग्रहे द्रव्यादिसंग्रहे विरतिर्व्रतम् । इति व्रतपञ्चकं सूत्रार्थः ॥५॥ तत्राद्यव्रतमाह ।

478) **सत्याद्युत्तर**—अहिंसाख्यं महाव्रतं भवति । कीदृशम् । सत्याद्युत्तरनिःशेषयमजात-निबन्धनं द्वितीयमहाव्रतसत्याद्युत्तराणि अग्रस्थानानि शेषाणि समस्तव्रतानि तेषां *जातमुत्पन्नं निबन्धनं कारणं यत्तथा । पुनः कीदृशम् । शीलैश्वर्याद्यधिष्ठानं शीललक्ष्म्या मूलमित्यर्थः ॥६॥ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

479) **वाक्चित्त**—तदाद्यं व्रतमहिंसाख्यमीरितं कथितम् । तीर्थंकरैरिति शेषः । तत्किम् । यत्र व्रते चरस्थिराङ्गिनां त्रसस्थावराणां स्वप्ने घातः न प्रवर्तते । कैः । वाक्चित्ततनुभिर्वचनमनः-कायैरिति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ तद्विशेषमाह ।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पाँच पापोंके विषयमें जो विरति—उनका परित्याग—किया जाता है उसे सब प्राणियोंपर दयाभाव रखनेवाले गणधरादिने व्रत कहा है ॥ विशेषार्थ—हिंसादि पाँच पापोंकी जो विरति (त्याग) की जाती है वह दो प्रकार-से की जाती है—एकदेशरूपसे और सर्वदेशरूपसे । इनमें जो एकदेशस्वरूपसे—स्थूल दृष्टिसे—जो उनका परित्याग किया जाता है उसका नाम अणुव्रत तथा पूर्णरूपसे जो त्याग किया जाता है उसका नाम महाव्रत है । यहाँ चूँकि ध्यानकी मुख्यता है और वह मुनियोंके ही सम्भव है, इसीलिए यहाँ महाव्रतके आश्रयसे ही उसकी प्ररूपणा की जा रही है, इसका स्मरण रखना चाहिए ॥५॥

अहिंसा नामका महाव्रत आगेके जो सत्यमहाव्रतादिरूप समस्त व्रतोंका समूह है उसका कारण है—उन सबकी स्थिति इस अहिंसा महाव्रतके आश्रित है । साथ ही वह अठारह हजार शीलोंके स्वामित्व आदिका भी आधार है—उसके बिना इन शीलोंके स्वामित्व आदिकी सम्भावना नहीं है ॥६॥

जिस व्रतमें वचन, मन और शरीरसे स्वप्नमें भी त्रस-स्थावर प्राणियोंका घात नहीं प्रवृत्त होता है वह आद्यव्रत—प्रथम अहिंसा-महाव्रत—कहा गया है ॥७॥

१. All others except P M N L मैथुने च । २. N यमजाल ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

480) मृते वा जीविते वा स्याज्जन्तुजाते प्रमादिनाम् ।
बन्ध एव न बन्धः स्याद्धिंसया[1] संवृतात्मनाम्[2] ॥८

481) संरम्भादित्रिकं योगैः कषायैर्व्याहतं क्रमात् ।
शतमष्टाधिकं ज्ञेयं हिंसाभेदैस्तु पिण्डितम्[3] ॥९

480) मृते वा—प्रमादिनां जन्तुजाते । वेति पक्षान्तरे । मृते जीविते वा बन्ध एव भवति हिंसायां* प्राणिवधे संवृतात्मनां न बन्धः । तत्कारणस्य कषायादेरभावात् । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ हिंसाभेदानाह ।

481) संरम्भादि—शतमष्टाधिकं ज्ञेयम् । किं तत् । संरम्भादित्रिकं संरम्भसमारम्भ-आरम्भत्रयम् । तत्र संरम्भः प्राणिवधादिषु प्रमादवतः प्रयत्नावेशः । तत्साधनसमभ्यासीकरणं समारम्भः । प्रक्रम आरम्भः । एतत्त्रयेषु क्रमात् योगैर्मनोवचनकायैर्व्याहतं, कषायैः क्रोधमान-मायालोभैर्व्याहतम् । तु पुनः । कीदृशम् । हिंसाभेदैः पिण्डितम् एकत्र कृतम् । तत्कर्म कृतकारितानुमोदत्रयं योगत्रययुक्तं क्रोधादिचतुष्कमिलितं भेदात्मकं भवति । तथा हि । कृतमनःक्रोधसंरम्भः कारितमनःक्रोधसंरम्भः अनुमोदितमनःक्रोधसंरम्भः, कृतमनःक्रोधसमारम्भः कारितमनःक्रोधसमारम्भः अनुमोदितमनःक्रोधसमारम्भः, कृतमनःक्रोधआरम्भः कारितमनःक्रोधआरम्भः अनुमोदितमनःक्रोधआरम्भः एते नव भङ्गाः क्रोधाज्जाताः । कृतमनोमानसंरम्भः कारितमनोमानसंरम्भः अनुमोदितमनोमानसंरम्भः, कृतमनोमानसमारम्भः कारितमनोमानसमारम्भः अनुमोदितमनोमानसमारम्भः, कृतमनोमानआरम्भः कारितमनोमानआरम्भः अनुमोदितमनोमानआरम्भः, एते नव भङ्गा मानाज्जाताः । कृतमनोमायासंरम्भः कारितमनोमायासंरम्भः अनुमोदितमनोमायासंरम्भः, कृतमनोमायासमारम्भः कारितमनोमायासमारम्भः अनुमोदितमनोमायासमारम्भः,

जो प्राणिसमूहके विषयमें प्रमादयुक्त होते हैं—उनके रक्षणमें असावधान होते हैं—उनके प्राणीका घात हो अथवा न भी हो, कर्मबन्ध होता ही है । किन्तु जिनकी आत्मा अहिंसासे संवृत है—जो प्राणिरक्षणमें सदा सावधान हैं—उनके कभी कर्मबन्ध नहीं होता है ॥८॥

संरम्भ आदि तीनको क्रमसे तीन योगों और चार कषायोंसे गुणित करके पुनः हिंसा-भेदोंसे—कृत, कारित और अनुमोदना इन तीनसे—भी गुणित करनेपर सब भेद एक सौ आठ (३×३×३×४=१०८) जानना चाहिए ॥ विशेषार्थ—हिंसाके संकल्प करनेका नाम संरम्भ है । उसके साधनोंको जुटाना व उनका अभ्यास करना, इसे समारम्भ कहा जाता है । तथा उसमें प्रवृत्त हो जाना, यह आरम्भ है । ये तीनों मन, वचन व कायसे सम्बद्ध होकर स्वयं किये जाते हैं, दूसरेको प्रेरित करके कराये जाते हैं, तथा किसीको करते-कराते देखकर उनके विषयमें प्रसन्नता भी प्रगट की जाती है । ये सब ही क्रोधादि चार कषायोंमेंसे किसी न किसी कषायकी अपेक्षा करते हैं । इसलिए इन सबको परस्पर गुणित करनेपर उनके १०८ भेद हो जाते हैं । इन भेदोंको इस प्रकारसे समझना चाहिए—१. क्रोधकृत कायसंरम्भ

१. S F V B C J स्याद्धिसायां, T X Y R हिंसायाः । २. T °त्मना । ३. N पिण्डितैः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृतमनोमायाआरम्भः कारितमनोमायाआरम्भः अनुमोदितमनोमायाआरम्भः, एते नव भङ्गा मायासंभूताः। कृतमनोलोभसंरम्भः कारितमनोलोभसंरम्भः अनुमोदितमनोलोभसंरम्भः कृतमनोलोभसमारम्भः कारितमनोलोभसमारम्भः अनुमोदितमनोलोभसमारम्भः, कृतमनोलोभआरम्भः कारितमनोलोभआरम्भः अनुमोदितमनोलोभआरम्भः, एते नव भङ्गा लोभाज्जाताः। ततश्चैते षट्त्रिंशद्भेदा मनोयोगसंभवाः। कृतवचनक्रोधसंरम्भः कारितवचनक्रोधसंरम्भः अनुमोदितवचनक्रोधसंरम्भः कृतवचनक्रोधसमारम्भः, कारितवचनक्रोधसमारम्भः अनुमोदितवचनक्रोधसमारम्भः, कृतवचनक्रोधआरम्भः कारितवचनक्रोधआरम्भः अनुमोदितवचनक्रोधआरम्भः, एते नव भङ्गाः क्रोधाज्जाताः। कृतवचनमानसंरम्भः कारितवचनमानसंरम्भः अनुमोदितवचनमानसंरम्भः, कृतवचनमानसमारम्भः कारितवचनमानसमारम्भः अनुमोदितवचनमानसमारम्भः, कृतवचनमानआरम्भः कारितवचनमानआरम्भ अनुमोदितवचनमानआरम्भः, एते नव भङ्गा मानाज्जाताः। कृतवचनमायासंरम्भः कारितवचनमायासंरम्भः अनुमोदितवचनमायासंरम्भः, कृतवचनमायासमारम्भः कारितवचनमायासमारम्भः अनुमोदितवचनमायासमारम्भः, कृतवचनमायाआरम्भः कारितवचनमायाआरम्भः अनुमोदितवचनमायाआरम्भः एते नव भङ्गा मायासंभवाः। कृतवचनलोभसंरम्भः कारितवचनलोभसंरम्भः अनुमोदितवचनलोभसंरम्भः, कृतवचनलोभसमारम्भः कारितवचनलोभसमारम्भः अनुमोदितवचनलोभसमारम्भः, कृतवचनलोभआरम्भः कारितवचनलोभआरम्भः अनुमोदितवचनलोभआरम्भः, एते नव भङ्गा लोभसंभवाः। एते षट्त्रिंशद्भेदा वचनयोगाज्जाताः। कृतकायक्रोधसंरम्भः कारितकायक्रोधसंरम्भः अनुमोदितकायक्रोधसंरम्भः, कृतकायक्रोधसमारम्भः कारितकायक्रोधसमारम्भः अनुमोदितकायक्रोधसमारम्भः, कृतकायक्रोधआरम्भः कारितकायक्रोधआरम्भः अनुमोदितकायक्रोधआरम्भः एवे नव भङ्गाः क्रोधाज्जाताः। कृतकायमानसंरम्भः कारितकायमानसंरम्भ अनुमोदितकायमानसंरम्भः, कृतकायमानसमारम्भः कारितकायमानसमारम्भः अनुमोदितकायमानसमारम्भः, कृतकायमानआरम्भः कारितकायमानआरम्भः अनुमोदितकायमानआरम्भः, एते नव भङ्गा मानाज्जाताः। कृतकायमायासंरम्भः कारितकायमायासंरम्भः अनुमोदितकायमायासंरम्भः, कृतकायमायासमारम्भः कारितकायमायासमारम्भः अनुमोदितकायमायासमारम्भः, कृतकायमायाआरम्भः कारितकायमायाआरम्भः अनुमोदितकायमायाआरम्भः एते नव भङ्गा मायासंभवाः। कृतकायलोभसंरम्भः कारितकायलोभसंरम्भः अनुमोदितकायलोभसंरम्भः, कृतकायलोभसमारम्भः कारितकायलोभसमारम्भः अनुमोदितकायलोभसमारम्भः, कृतकायलोभआरम्भः कारितकायलोभआरम्भः अनुमोदितकायलोभआरम्भः एते नव भङ्गा लोभाज्जाताः। एतैरष्टोत्तरसहित[शत] महिंसाव्रतमाख्यातमिति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ व्रतशुद्धिमाह।

२. मानकृतकायसंरम्भ ३. मायाकृतकायसंरम्भ ४. लोभकृतकायसंरम्भ ५. क्रोधकारितकायसंरम्भ ६. मानकारितकायसंरम्भ ७. मायाकारितकायसंरम्भ ८. लोभकारितकायसंरम्भ ९. क्रोधानुमतकायसंरम्भ १०. मानानुमतकायसंरम्भ ११. मायानुमतकायसंरम्भ १२. लोभानुमतकायसंरम्भ। इस प्रकार ये १२ भेद कायसंरम्भके हुए। इसी प्रकार १२-१२ भेद वचनसंरम्भ और मनःसंरम्भके भी होंगे। इस प्रकारसे संरम्भके सब भेद छत्तीस (३६) हो जाते हैं। इसी प्रकार ३६ समारम्भके और ३६ ही आरम्भके भेद करनेपर सब भेद १०८ हो जाते हैं। यदि क्रोधादि कषायोंमें अनन्तानुबन्धी व अप्रत्याख्यानावरणादिरूप विशेष क्रोधादिकी विवक्षा हो तो वे सब भेद ४३२ (१०८×४) हो जावेंगे ॥९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

482) अतः प्रमादमुत्सृज्य[1] भावशुद्धयाङ्गिसततिम् ।
यमप्रशमसिद्धयर्थं[2] बन्धुबुद्धया विलोकय ॥१०

483) यज्जन्तुवधसंजातकर्मपाकं[3] शरीरिभिः ।
श्वभ्रादौ सह्यते दुःखं तद्वक्तुं केन पार्यते ॥११

484) हिंसैव नरकागारप्रतोली प्रांशुविग्रहा ।
कुठारीवं[4] द्विधा कर्तुं भेत्तुं शूलातिनिर्दया[5] ॥१२

485) क्षमादिपरमोदारैर्यमैर्यो वर्धितश्चिरम् ।
हन्यते स क्षणादेव हिंसया धर्मपादपः ॥१३

482) अतः प्रमाद—रे भव्य, अङ्गिसंतर्ति जीवराशि बन्धुबुद्धया भ्रातृबुद्धया विलोकय । कया भावशुद्धया । किं कृत्वा । अतः कारणात् प्रमादमुत्सृज्य त्यक्त्वा । किमर्थंम् । यमप्रशमसिद्धयर्थं व्रतशान्तिसिद्धयर्थमिति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ हिंसाजन्यदुर्गतिदुःखमाह ।

483) यज्जन्तुवध—शरीरिभिः प्राणिभिः श्वभ्रादौ नरकादौ यद्दुःखं सह्यते, तद्दुःखं वक्तुं केन पार्यते । न केनापि । कस्मात् । जन्तुवधसंजातकर्मपाकात्* जीवहिंसोत्पन्नकर्मविपाकात् । इति सूत्रार्थः ॥१११॥ पुनस्तदेवाह ।

484) हिंसैव—हिंसैव नरकागारप्रतोलीप्रांशुविग्रहा नरकवप्रप्रतोली प्रोच्चतरविग्रहा । पुनः कीदृशी । द्विधा कर्तुं कुठारीव । भेत्तुं *शूलादिनिर्दयेति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ हिंसास्वरूपमाह ।

485) क्षमादि—यः धर्मपादपा यमैर्व्रतैश्चिरं वर्धितः । कीदृशैर्यमैः । क्षमादिपरमोदारैः

इसलिए प्रमादको छोड़कर परिणामोंकी निर्मलतापूर्वक संयम और कषायोपशमको सिद्ध करनेके लिए समस्त प्राणियोंके समूहको बन्धुकी बुद्धिसे—मित्रभावसे—देखना चाहिए ॥१०॥

प्राणियोंके वधसे जो कर्मबन्ध होता है तथा उसका फल जो प्राणियोंके द्वारा नरकादिमें भोगा जाता है उसका वर्णन करनेके लिए कौन समर्थ है ? उसका वचनके द्वारा वर्णन करना अशक्य है ॥११॥

यह हिंसा नरकरूप घरके भीतर प्रविष्ट होनेके उन्नत शरीरवाला (ऊँचा) गोपुरद्वार है—जिस प्रकार किसी नगर या विशाल प्रासादमें प्रविष्ट होनेके लिए उसका प्रधान द्वार ही कारण होता है उसी प्रकार नरकोंके भीतर प्रवेश पानेका मुख्य कारण वह हिंसा ही है । वहाँ नरकोंमें प्राणीके शरीरको खण्ड-खण्ड करनेके लिए वह हिंसा कुठारी (कुल्हाड़ी) के समान तथा उसको छिन्न-भिन्न करनेके लिए वह अतिशय कठोर शूलीके समान है ॥१२॥

जो धर्मरूप वृक्ष क्षमा-मार्दवादिरूप अतिशय महान् संयमोंके द्वारा चिरकालसे

१. M अन्तःप्रमाद । २. M प्रशमशुद्धयर्थं । ३. M पाकः, All others except P M F पाकात् । ४. M कुठारी च । ५. M N T शूलाशुनिर्दया, V शूलाविनिर्दयां, B J शूलादिनिर्दया, C X R शूलोऽतिनिर्दया ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

486) तपोयमसमाधीनां [1]दानाध्ययनकर्मणाम् ।
तनोत्यविरतं पीडां हृदि हिंसा क्षणं[2] स्थिता ॥१४

487) अहो व्यसनविध्वस्तैर्लोकः[3] पाखण्डिभिर्बलात्[4] ।
नीयते नरकं घोरं [5]हिंस्रशास्त्रोपदेशकैः ॥१५

488) रौरवादिषु घोरेषु विशन्ति पिशिताशनाः ।
तेष्वेव हि कदर्थ्यन्ते जन्तुघातकृतोद्यमाः ॥१६

क्षान्त्यादिप्रकृष्टोत्तमैः । स धर्मपादपः हिंसया प्राणिवधेन क्षणादेव हन्यते । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ हिंसाया ध्यानासक्तानां दुःखदायित्वमाह ।

486) **तपोयम**—हिंसा प्राणिवधो अविरतं निरन्तरं पीडां तनोति विस्तारयति । कीदृशी हिंसा । पुरुषाणां हृदि क्षणं स्थिता । पुनः केषाम् तपोयमसमाधीनां *ध्यानाध्ययनकर्मणां ध्यान-पाठकर्मणाम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ पाषण्डिनां हिंसोपदेशकत्वमाह ।

487) **अहो व्यसन**—अहो इत्याश्चर्ये । पाखण्डिभिर्लोकः बलात् घोरं रौद्रं नरकं नीयते । कीदृशैः । व्यसनविध्वस्तैः सप्तव्यसनपीडितैः । पुनः *हिंसाशास्त्रोपदेशकैरिति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ नरकदुःखमाह ।

488) **रौरवादिषु**—ते पिशिताशनाः मांसभोगिनः रौरवादिषु नरकेषु घोरेषु विशन्ति प्रविशन्ति । हि यस्मात् कारणात् । जन्तुघातकृतोद्यमाः जीवमारणकृतोद्यमाः । तेष्वेव रौरवादिषु कदर्थ्यन्ते पीडयन्ते । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

बढ़ाया गया था उसे हिंसा क्षणभरमें ही नष्ट कर देती है ॥१३॥

हिंसा क्षणभर भी हृदयमें स्थित होकर तप, संयम, समाधि, दान और स्वाध्याय आदि क्रियाओंको पीड़ा पहुँचाती है । अभिप्राय यह है कि यदि क्षणभरके लिए भी प्राणिघात-का विचार किया जाता है तो उससे तप-संयमादि सब ही नष्ट हो जाते हैं ॥१४॥

खेद है कि व्यसनोंसे आहत होकर हिंसक शास्त्रोंका उपदेश करनेवाले—हिंसा-विधायक शास्त्रोंकी रचना व उनका वैसा व्याख्यान करनेवाले—धूर्त मनुष्य प्राणियोंको जबरन् भयानक नरकमें ले जाते हैं । अभिप्राय यह कि जो दूसरोंसे हिंसाके उपदेशको सुनकर उसमें अनुरक्त होते हैं वे नियमसे नरकमें जाते हैं ॥१५॥

जो प्राणी मांसका भक्षण करते हैं तथा अन्य प्राणियोंके घातमें प्रयत्नशील रहते हैं वे भयानक रौरव (सातवीं पृथिवीमें स्थित एक नारक बिल) आदि नरकोंमें प्रविष्ट होकर वहीं-पर पीड़ाका अनुभव करते हैं ॥१६॥

---

१. All others except P L F Y ध्यानाध्ययन । २. All others except P M N Γ B क्षणस्थिता । ३. M N विश्वस्तैः । ४. M N °ण्डिभिः क्षणात् । ५. All others except P हिंसाशास्त्रो° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

489) शान्त्यर्थं देवपूजार्थं यज्ञार्थमथवा नृभिः ।
कृतः प्राणभृतां घातः पातयत्यविलम्बितम् ॥१७

490) हिंसैव दुर्गतेर्द्वारं हिंसैव दुरितार्णवः ।
हिंसैव नरकं घोरं हिंसैव गहनं तमः ॥१८

491) निःस्पृहत्वं महत्त्वं च नैराश्यं दुष्करं तपः ।
कायक्लेशश्च दानं च हिंसकानामपार्थकम् ॥१९

492) कुलक्रमागता हिंसा कुलनाशाय कीर्तिता ।
कृता च विघ्नशान्त्यर्थं विघ्नौघायैव जायते ॥२०

---

489) शान्त्यर्थं—नृभिर्मनुष्यैः प्राणभृतां घातो वधः कृतः । शान्त्यर्थं शान्तिनिमित्तम् । पूजार्थं दुष्टदेवपूजनार्थम् अथवा यज्ञार्थम् अजामेधादिकरणार्थम् । एतेषां निमित्तं कृतः प्राणिवधः अविलम्बितं विलम्बरहितं पातयति नरकादौ । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ पुनः हिंसास्वरूपमाह ।

490) हिंसैव—हिंसैव प्राणिवध एव दुर्गतेर्नरकगत्यादेर्द्वारम् । एवकारो ऽवधारणार्थः । हिंसैव दुरितार्णवः । हिंसा एव जीववध एव दुरितानां पापानाम् अर्णवः समुद्रः । हिंसैव नरकं घोरम् । हिंसैव जीवमारणमेव गहनं गुपिलं तमो ऽन्धकार इति सूत्रार्थः ॥१८॥ हिंसकानां सर्वमनुष्ठानं निरर्थकमित्याह ।

491) निःस्पृहत्वं—हिंसकानां वधकर्तॄणां एतत्सर्वमनुष्ठानमपार्थकम् । निःस्पृहत्वं निर्लोभत्वम् । च पुनः । महत्त्वं नैराश्यम् आशारहितत्वम् । दुष्करं तपः । च पुनः । कायक्लेशपञ्चाग्निसेवनादि । च पुनः । दानमाहारदानादि सर्वमपार्थकमिति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ हिंसाविशेषमाह ।

492) कुलक्रमागता—कुलक्रमागता हिंसा कुलनाशाय कीर्तिता कथिता । च पुनः । विघ्न-

---

मनुष्य रोगादिकी शान्तिके लिए, देवपूजाके लिए अथवा विशेष यज्ञ आदिको सिद्ध करनेके लिए जो प्राणियोंका घात किया करते हैं वे उसके कारण शीघ्र ही नरकमें जा पड़ते हैं ॥१७॥

हिंसा ही नरकादिरूप दुर्गतिका द्वार है, वही पापका समुद्र है, वही भयानक नरक है, और वही गाढ अन्धकार है ॥१८॥

निर्ममता, महानता, तृष्णाका परित्याग, दुर्द्धर तप, कायक्लेश और दान ये सब हिंसक जीवोंके व्यर्थ होते हैं—हिंसामें निरत होनेसे उन्हें इनका कुछ भी फल नहीं प्राप्त होता ॥१९॥

कुलपरम्परासे चली आयी हिंसा इस कुलके नाशका कारण कही गई है, तथा विघ्न शान्तिके लिए जो हिंसा की जाती है वह विघ्नसमूहका कारण होती है ॥ विशेषार्थ—बहुतोंके यहाँ कुलदेवता आदिके नामपर परम्परासे बकरों आदिकी बलिका कार्य चला आता है और इसी मोहसे वे उसे आगेके लिए भी नहीं छोड़ना चाहते हैं। परन्तु वास्तवमें कोई भी देवी-देवता इस प्रकारकी जीवहिंसासे सन्तुष्ट नहीं होते और न देवोंका वैसा स्वभाव भी है। यह निकृष्ट कार्य तो उन धूर्त लोगोंके द्वारा कराया जाता है जो मांस भक्षणके अनुरागी और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

493) सौख्यार्थे दुःखसंतानं मङ्गलार्थे ऽप्यमङ्गलम् ।
जीवितार्थे ध्रुवं मृत्युं कृता हिंसा प्रयच्छति ॥२१

494) तितीर्षति ध्रुवं मूढः स शिलाभिर्नदीपतिम् ।
धर्मबुद्ध्याधमो यस्तु घातयत्यङ्गिसंचयम् ॥२२

495) प्रमाणीकृत्य शास्त्राणि यैर्वधः क्रियते ऽधमैः ।
सह्यते तैः परे[1] लोके श्वभ्रशूलाधिरोहणम् ॥२३

शान्त्यर्थं कृता विघ्नौघाय विघ्नसमूहाय जायत एव। इति सूत्रार्थः ॥२०॥ हिंसावैचित्र्ये फलवैचित्र्यमाह ।

493) **सौख्यार्थे**—सौख्यार्थे कृता हिंसा दुःखसंतानं ददाति । कृतेति शब्दः प्रत्येकार्थं योज्यः । मङ्गलार्थे कृतापि हिंसा अमङ्गलं दत्ते इति क्रिया सर्वत्र प्रयोज्या । जीवितार्थे कृता हिंसा ध्रुवं मृत्युं मरणं प्रयच्छति । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ हिंसकानां मूर्खत्वमाह ।

494) **तितीर्षति**—स मूढः मूर्खः शिलाभिः प्रस्तरमयीभिः नदीपतिं समुद्रं तितीर्षति तरीतुमिच्छति । ध्रुवं निश्चितम् । तु पुनः । यो ऽधमः धर्मबुद्ध्याङ्गिसंचयं घातयति । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ यैः शास्त्रप्रमाणेन हिंसा क्रियते तेषां दुर्गतिफलमाह ।

495) **प्रमाणीकृत्य**—यैरधमैः पापैर्वधः क्रियते । किं कृत्वा । शास्त्राणि हिंसाप्रतिपादकानि प्रमाणीकृत्य । तैः *परलोके श्वभ्रे नरके *शूलादिरोहणं सह्यते । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ निर्दयत्वेनानुष्ठानं दुर्गतिहेतुमाह ।

स्वार्थी होते हैं। इस प्रकारसे कुलपरम्पराके नामपर की जानेवाली प्राणिहिंसा अन्तमें उस कुलके नाशका ही कारण बन जाती है। इसी प्रकार कितने ही अविवेकी मनुष्य विघ्न-बाधाओंको शान्त करनेके विचारसे हिंसाप्रधान यज्ञादिको करते-कराते हैं। परन्तु इससे प्रकृत विघ्नोंकी शान्ति तो नहीं होती, बल्कि पापकार्य होनेसे अन्य नवीन बाधायें (दुखके कारण) और भी आकर उपस्थित होती हैं ॥२०॥

सुखके विचारसे की गयी हिंसा दुखपरम्पराको, मंगलके निमित्त की गयी हिंसा अमंगल (अकल्याण) को तथा जीवित रहनेकी इच्छासे की गई हिंसा निश्चयसे मरणको ही देती है ॥२१॥

जो निकृष्ट मनुष्य धर्म समझकर प्राणिसमूहका घात करता है वह मूर्ख निश्चयसे शिलाओंके आश्रयसे समुद्रको पार करनेकी इच्छा करता है। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार पत्थरके सहारेसे समुद्रको तैरना असम्भव है उसी प्रकार हिंसासे धर्मका होना भी असम्भव है ॥२२॥

जो निकृष्ट जन हिंसापोषक शास्त्रोंको प्रमाण मानकर प्राणियोंका वध करते हैं वे परभवमें नरकको प्राप्त होकर वहाँ शूलीपर चढ़ने आदिके दुखको सहते हैं ॥२३॥

---

१. All others except P सह्यते परलोके तैः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

496) निर्दयेन[2] हि किं तेन श्रुतेना[3]चरणेन च[1] ।
यस्य स्वीकारमात्रेण जन्तवो यान्ति दुर्गतिम् ॥२४

497) वरमेकाक्षरं ग्राह्यं सर्वसत्त्वानुकम्पनम्[4] ।
न त्वक्षपोषकं पापं कुशास्त्रं धूर्तचर्चितम्[5] ॥२५

498) [6]चरुमन्त्रौषधानां[7] वा हेतोरन्यस्य वा क्वचित् ।
कृता सती नरैर्हिंसा पातयत्यविलम्बितम् ॥२६

499) विहाय धर्मं शमशीललाञ्छितं दयावहं भूतहितं गुणाकरम् ।
मदोद्धता अक्षकषायवञ्चिता दिशन्ति हिंसामपि दुःखशान्तये ॥२७

496) निर्दयेन—हि निश्चितम् । तेन श्रुतेन । च पुनः तेनाचरणेन चारित्रेण निर्दयेन दया-रहितेन किम् । यस्य निर्दयश्रुतचारित्रस्य स्वीकारमात्रेणाङ्गीकारमात्रेण जन्तवो जीवाः दुर्गतिं नरकादिगतिं यान्ति गच्छन्तीत्यर्थः ॥२४॥ सदयस्यैकाक्षरस्यापि प्रमाणत्वमाह ।

497) वरमेकाक्षरं—सर्वसत्त्वानुकम्पनं सर्वजीवहितकारि एकाक्षरं श्रुतं ग्राह्यं वरम् । अक्षपोषकमिन्द्रियपोषकं कुशास्त्रं पापं पापहेतुत्वात् । पुनः कीदृशम् । *धूर्तचर्वितं कितववद्भक्षितम् इत्यर्थः ॥२५॥ अथ प्रकारेण कृता दुःखदायिनीत्याह ।

498) चरुमन्त्रौषधानां—नरैः चरुमन्त्रौषधानां वा हेतोरन्यस्य वा क्वचित् हिंसा कृता सती अविलम्बितं विलम्बरहितं पातयति दुर्गतिमिति गम्यम् । चरुर्देवाग्रे नैवेद्यदानार्थं हिंसा कृता । मन्त्रसाधनाय मुष्टिघाताय दुष्टदेवसाधनार्थं बलिप्रदानं जीवस्य क्रियते । औषधार्थं कृता । वा अथवा । क्वचित् । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ धर्मं विहाय हिंसा दुःखाय क्रियत इत्याह । वंशस्थछन्दः ।

499) विहाय धर्मं—मिथ्यात्विनः हिंसामपि दुःखशान्तये दिशन्ति कथयन्ति । किं कृत्वा ।

जिस शास्त्रमें हिंसाका पोषण है उस शास्त्रसे, तथा जिस आचरणमें हिंसाका संसर्ग है उस आचरणसे भी क्या लाभ है ? कुछ भी नहीं । कारण यह कि उसके स्वीकार करने मात्रसे ही प्राणी दुर्गतिको प्राप्त होते हैं ॥२४॥

सब प्राणियोंके ऊपर दयाभावको प्रगट करनेवाले एक अक्षरका ग्रहण करना योग्य है, परन्तु धूर्तजनोंके द्वारा विरचित होकर इन्द्रियविषयोंको पुष्ट करनेवाले पापोत्पादक कुशास्त्र-को ग्रहण करना योग्य नहीं है ॥२४॥

नैवेद्य, मन्त्र, औषध तथा अन्य भी किसी निमित्तसे मनुष्योंके द्वारा की गई हिंसा शीघ्र ही अधःपात कराती है—दुर्गतिको ले जाती है ॥२६॥

जो जन मदोन्मत्त होकर इन्द्रियविषयों व कषायोंसे ठगे गये हैं वे ही शम (राग-द्वेष-

१. P Folio No. 45 is missing; therefore verses 24 to 32 are not found in it. २. B श्वभ्रेणाचरणेन, J श्वभ्रेण चरणेन । ३. Y °णेन किम् । ४. M N T °नुकम्पकम् । ५. J धूर्त-चर्वितम् । ६. Y सा तु for चरु । ७. M N च for वा, L °मन्त्रौषधादीनां ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

500) धर्मबुद्ध्याधमैः पापं जन्तुघातादिलक्षणम् ।
क्रियते जीवितस्यार्थे पीयते विषमं विषम् ॥२८

501) एतत्समयसर्वस्वमेतत्सिद्धान्तजीवितम् ।
यज्जन्तुजातरक्षार्थं भावशुद्ध्या दृढं व्रतम्[1] ॥२९

502) श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च ।
अहिंसालक्षणो धर्मस्तद्विपक्षश्च पातकम् ॥३०

धर्मं क्षान्त्यादिधर्मं विहाय । कीदृशम् । शमशीललाञ्छितम् । सुगमम् । पुनः कीदृशं धर्मम् । दयावहम् । पुनः कीदृशं धर्मम् । भूतहितं प्राणिहितकारिणम् । पुनः कीदृशम् । गुणाकरं ज्ञानादिगुणसमूहमित्यर्थः । कीदृशा मिथ्यात्विनः । मदोद्धताः मदोत्कटाः । पुनः कीदृशाः । अक्षकषायवञ्चिताः अक्षाणि इन्द्रियाणि, कषायाः क्रोधादयः तैर्वञ्चिताः । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ धर्मबुद्ध्या जन्तुघातफलमाह ।

500) **धर्मबुद्ध्या**—अधमैर्जन्तुघातादिलक्षणं पापं धर्मबुद्ध्या क्रियते । कस्मिन्नर्थे । जीवितव्यस्यार्थे । तैर्विषमं सहस्रघाति विषं हालाहलादि पीयते ॥२८॥ अथ व्रतस्वरूपमाह ।

501) **एतत्समय**—यद् दृढव्रतं जन्तुजातरक्षार्थं क्रियते । कया भावशुद्ध्या । एतद् दृढव्रतं* समयसर्वस्वं सिद्धान्तपरमार्थम् एतत्सिद्धान्तजीवितम् । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अत्र व्रतसाक्षकत्वमाह ।

502) **श्रूयते**—सर्वशास्त्रेषु श्रूयते । च पुनः । सर्वेषु समयेषु सिद्धान्तेषु श्रूयते । अहिंसालक्षणो जीवदयारूपो धर्मः । च पक्षान्तरे । तद्विपक्षः हिंसालक्षणः पातकं भवति । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अहिंसावर्णनमाह ।

का उपशम) व शीलसे चिह्नित, दयाको धारण करनेवाले, प्राणियोंको हितकर एवं गुणोंकी खानिस्वरूप धर्मको छोड़कर दुःखकी शान्तिके लिए हिंसाका भी उपदेश करते हैं ॥२७॥

जो नीच मनुष्य धर्मबुद्धिसे प्राणिघातादिरूप पापको करते हैं वे जीवित रहनेकी इच्छासे भयानक विषको पीते हैं—जिस प्रकार विषको पीकर मनुष्यका जीवित रहना असम्भव है उसी प्रकार प्राणिघातसे धर्मका होना भी असम्भव है ॥२८॥

जो जीवोंकी रक्षाके लिए परिणामोंकी निर्मलतापूर्वक दृढ़तासे व्रत किया जाता है—प्राणिहिंसादिका परित्याग किया जाता है—यह सब मतोंका सार है और यही आगमका प्राण है ॥२९॥

यह सब ही शास्त्रोंमें और सब ही मतोंमें सुना जाता है कि धर्मका लक्षण अहिंसा है और इसके विपरीत जो प्राणियोंका घात किया जाता है वह पाप है ॥३०॥

---

१. M B दृढव्रतम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

503) अहिंसैव जगन्माताहिंसैवानन्दपद्धतिः ।
अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥३१

504) अहिंसैव शिवं सूते दत्ते च त्रिदिवश्रियम्[1] ।
अहिंसैव हितं[2] कुर्याद् व्यसनानि निरस्यति ॥३२

505) सप्तद्वीपवती धात्री कुलाचलसमन्विता[3] ।
नैकप्राणिवधोत्पन्नं दत्ता[4] दोषं व्यपोहति ॥३३

506) सकलजलधिवेलावारिसीमां धरित्रीं
नगरनगसमग्रां स्वर्णरत्नादिपूर्णाम् ।
यदि मरणनिमित्ते[5] को ऽपि दद्यात् कथंचित्
तदपि न मनुजानां जीवितत्यागबुद्धिः[6] ॥३४

503) अहिंसैव—अहिंसा जीवदया। एव निर्धारणार्थः। जगन्माता हितकर्त्री। अहिंसैव आनन्दपद्धतिरानन्दश्रेणी। अहिंसैव साध्वी प्रधाना गतिः। मोक्षादिकारणत्वात्। अहिंसैव शाश्वती श्रीः। इति सूत्रार्थः ॥३१॥ पुनस्तत्स्वरूपमाह।

504) अहिंसैव—अहिंसैव जीवदया एव शिवं कल्याणं सूते जनयति। च पुनः। त्रिदिवश्रियं स्वर्गश्रियं दत्ते। अहिंसैव हितं कुर्यात्। व्यसनानि निरस्यति दूरीकरोतीत्यर्थः ॥३२॥ अथैकस्यापि प्राणिनो वधस्यासाम्यत्वमाह।

505) सप्तद्वीप—सप्तद्वीपवती सप्तद्वीपयुक्ता धात्री चेद्दत्ता सती एकप्राणिवधोत्पन्नं दोषं न व्यपोहति दूरीकरोति। कीदृशी धात्री। कुलाचलमहापर्वतसंयुक्ता। इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ जीवस्य दुस्त्यजत्वमाह। मालिनीछन्दः।

506) सकलजलधि—यदि को ऽपि समर्थः मरणनिमित्ते मरणरक्षार्थं कथंचिद् धरित्रीं पृथ्वीं दद्यात्। कीदृशीं धरित्रीम्। सकलजलधिवेलावारिसीमां सप्तसमुद्रकल्लोलजलमर्यादाम्। पुनः

अहिंसा ही विश्वकी माता है, अहिंसा ही आनन्द (सुख) का मार्ग है, अहिंसा ही उत्तम गति है, और अहिंसा ही अविनश्वर लक्ष्मी है ॥३१॥

अहिंसा ही स्वर्गकी लक्ष्मीको देती है और मोक्षको उत्पन्न करती है तथा वही अहिंसा व्यसनोंको—सब प्रकारकी आपत्तियोंको—नष्ट करके प्राणीका हित करती है ॥३२॥

दानमें दी गयी कुलाचलोंसे संयुक्त सात द्वीपवाली पृथिवी एक प्राणीके घातसे उत्पन्न हुए दोषको नहीं नष्ट करती है। अभिप्राय यह है कि एक ही प्राणीके घातसे इतना भारी पाप होता है कि जो सात द्वीपोंवाली समस्त पृथिवीके दान देनेसे भी नष्ट नहीं होता है ॥३३॥

जिसकी सीमा समस्त समुद्रका किनारा है, जो बहुतसे नगरों एवं पर्वतोंसे सहित है, तथा जो सुवर्ण व रत्नों आदिसे परिपूर्ण है, ऐसी विशाल पृथिवीको भी यदि कोई मरनेके

१. M त्रिदिवं श्रियम्। २. शुभं for हितं। ३. J R °वतीं धात्रीं····°न्वितां। ४. S T J R दत्त्वा दोषं। ५. M N मरणनिमित्तं। ६. All others except P M N जीविते त्याग।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

507) आत्मैवोत्क्षिप्य तेनाशु प्रक्षिप्तः श्वभ्रसागरे ।
स्नेहभ्रमभयेनापि येन हिंसा समर्थिता ॥३५
508) शूलचक्रासिकोदण्डैरुद्युक्ताः सत्त्वखण्डने ।
ये ऽधमास्ते ऽपि निस्त्रिंशैर्देवत्वेन प्रकल्पिताः ॥३६
509) बलिभिर्दुर्बलस्यात्र क्रियते यः पराभवः ।
परलोके स तैस्तस्मादनन्तः प्रविषह्यते ॥३७
510) भयवेपितसर्वाङ्गाननाथान् जीवितप्रियान् ।
निघ्नद्भिः प्राणिनः[2] किं तैः स्वं ज्ञातमजरामरम् ॥३८

कीदृशीम् । नगरनगसमग्राम् । सुगमम् । पुनः कीदृशीम् । स्वर्णरत्नादिपूर्णाम् । तदपि मनुजानां जीविते त्यागबुद्धिः न जायते । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ हिंसायां दुष्टत्वमाह ।

507) **आत्मैवोत्क्षिप्य**—तेन पुरुषेणाशु शीघ्रं श्वभ्रसागरे नरकसमुद्रे आत्मैव प्रक्षिप्तः । किं कृत्वा । उत्क्षिप्य । येन पुंसा स्नेहभ्रमभयेन हिंसा समर्थिता ॥३५॥ अथ शस्त्रभृतामधमत्वं दर्शयन्नाह ।

508) **शूलचक्रासि**—ते ऽपि देवा निस्त्रिंशैर्निर्दयैर्देवत्वेन प्रकल्पिताः । ते के । ये ऽधमाः पापाः सत्त्वखण्डने शूलचक्रासिकोदण्डैः शस्त्रैरुद्युक्ता उद्यता भवन्ति । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ बलवतां हीनानां दुःखदायित्वमाह ।

509) **बलिभिः**—अत्र जगति बलिभिर्बलवत्तरैर्दुर्बलस्य यः पराभवः क्रियते स पराभवः परलोके तस्मादनन्तः पराभवः प्रविषह्यते प्रकर्षेण सह्यते । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ प्राणिघातिनां निर्दयत्वमाह ।

510) **भयवेपित**—तैरधमैः प्राणिनो जीवान् निघ्नद्भिः स्वं अजरामरं ज्ञातं किम् । कथंभूतान् प्राणिनः । भयवेपितसर्वाङ्गान् भयकम्पितशरीराङ्गान्[1] । पुनः कीदृशान् प्राणिनः ।

निमित्त देता है तो भी मनुष्योंके जीवित देनेकी बुद्धि—मरनेकी इच्छा—किसी प्रकारसे भी नहीं होती है । अभिप्राय यह है कि मनुष्योंको विशाल साम्राज्य आदिकी अपेक्षा अपना जीवन ही अधिक प्रिय होता है ॥३४॥

जिस मनुष्यने स्नेह भ्रान्ति अथवा भयके कारण भी हिंसाका समर्थन किया है उसने अपनेआपको उठाकर शीघ्रतासे नरकरूप समुद्रमें फेंक दिया है ॥३५॥

जो अधम त्रिशूल (महादेव), चक्र (विष्णु), तलवार (काली आदि) और धनुष (राम) के द्वारा प्राणियोंके घातमें उद्यत हैं उन्हें भी निर्दय मनुष्य देवस्वरूपसे मानते हैं ॥३६॥

बलवान् प्राणियोंके द्वारा जो यहाँ दुर्बल प्राणीका पराभव किया जाता है—उसे जितना कष्ट पहुँचाया जाता है—उसकी अपेक्षा वे परलोकमें अनन्तगुणे कष्टको सहते हैं ॥३७॥

जिन बेचारे प्राणियोंका सब शरीर भयसे काँप रहा है, जिनकी रक्षा करनेवाला कोई नहीं है, तथा जिनको अपना जीवन प्यारा है—जो मरना नहीं चाहते हैं; उन दीन हीन

१. M N भयकम्पित । २. J प्राणिभिः किं तैः स्वज्ञातं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

511) स्वपुत्रपौत्रसंतानं[1] वर्धयन्त्यादरैर्जनाः ।
व्याप्यादयन्ति चान्येषामत्र[2] हेतुर्न बुध्यते ॥३९

512) परमाणोः परं नाल्पं न महद् गगनात्परम् ।
यथा किंचित्तथा धर्मो नाहिंसालक्षणात्परः[3] ॥४०

513) तपःश्रुतयमज्ञानध्यानदानादिकर्मणाम् ।
सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता ॥४१

अनाथान् । पुनः कीदृशान् । जीवितप्रियान् । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ स्वजनान् पालयन्ति । अन्यान् मारणे विशेषमाह ।

511) स्वपुत्रपौत्र—जनाः स्वपुत्रपौत्रसंतानम् आदरैर्वर्धयन्ति च । अन्येषां जीवानां व्यापादयन्ति । अत्र विषये हेतुर्न बुध्यते ज्ञायते । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथ हिंसाधिक्यमाह ।

512) परमाणोः परं—परमाणोः सकाशात् अल्पं स्तोकं नास्ति । गगनात्परं महन्नास्ति । यथेति दृष्टान्तोपन्यासार्थः । तथा अहिंसालक्षणात् धर्मात् परधर्मो न वर्तते, इति सूत्रार्थः ॥४०॥ सर्वधर्मे जीवदयाधिक्यमाह ।

513) तपःश्रुत—[तपः श्रुतादिकर्मणां तथा सत्यादिव्रतानां अहिंसैव परा जननी श्रेष्ठा माता इत्यर्थः ।] ॥४१॥ अथ यादृशस्य ध्यानं सिद्धं तादृशमाह ।

प्राणियोंका जो घात करते हैं उन्होंने क्या अपनेको अजर-अमर समझ लिया है ? अभिप्राय यह है कि जैसे घातक प्राणियोंको अपना जीवन प्रिय है वैसे ही अन्य प्राणियोंको—पशु-पक्षियों आदिको—भी अपना जीवन प्रिय है । अतएव अन्य प्राणियोंका घात करना उचित नहीं है ॥३८॥

जो मनुष्य अपने पुत्र और पौत्र आदिरूप सन्ततिका आदरके साथ प्रेमपूर्वक—परिवर्धन करते हैं वे ही अन्य (मृगादि) प्राणियोंकी सन्ततिका जो घात करते हैं, इसका कारण ज्ञात नहीं होता । तात्पर्य यह कि मनुष्य जैसे अपनी सन्तानका संरक्षण करते हैं वैसे ही उन्हें कर्तव्य समझकर अन्य प्राणियोंकी सन्तानका भी संरक्षण करना चाहिए ॥३९॥

जिस प्रकार परमाणुसे दूसरा कोई छोटा नहीं है, तथा आकाशसे दूसरा कोई बड़ा नहीं है उसी प्रकार हिंसासे निकृष्ट दूसरा कोई पाप नहीं है तथा अहिंसासे उत्कृष्ट कोई धर्म नहीं है—सब धर्मोंमें अहिंसा धर्म ही उत्कृष्ट है ॥४०॥

वह अहिंसा तप, श्रुत, संयम, ज्ञान, ध्यान और दान आदि क्रियाओंकी तथा सत्य, शील और व्रत आदिकी जननी मानी गयी है । अभिप्राय यह है कि—जिस प्रकार माता सन्तानको पुष्ट करती है उसी प्रकार अहिंसा उपर्युक्त तप व श्रुत आदिको पुष्ट करती है । उस अहिंसाके विना वे सब व्यर्थ रहते हैं ॥४१॥

१. M स्वपुत्रमित्रसंतानं । २. All others except P L F B J वान्येषां । ३. B ends here.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

514) करुणार्द्रं च विज्ञानवासितं यस्य मानसम् ।
इन्द्रियार्थेषु निःसङ्गं तस्य सिद्धं समीहितम् ॥४२

515) निस्त्रिंश इव[1] निस्त्रिंशं यस्य चेतो ऽस्ति जन्तुषु ।
तपःश्रुताद्यनुष्ठानं तस्य क्लेशाय केवलम् ॥४३

516) द्वयोरपि समं पापं निर्णीतं परमागमे ।
वधानुमोदयोः कर्त्रोरसत्संकल्पसंश्रयात् ॥४४

517) संकल्पाच्छालिमत्स्यो ऽपि स्वयंभूरमणार्णवे[2] ।
महामत्स्याशुभेन स्वं नियोज्य नरकं गतः ॥४५

---

514) करुणार्द्रं च—यस्य मानसं चित्तं करुणार्द्रं भवति । च पुनः विज्ञानवासितं भवति । पुनः मानसं इन्द्रियार्थेषु निःसंगं संगरहितं, तस्य समीहितं वाञ्छितं सिद्धमिति सूत्रार्थः ॥४२॥ अथ चित्ताशुद्धौ सर्वमनुष्ठानमशुद्धं तदाह ।

515) निस्त्रिंश इव—यस्य चेतः जन्तुषु प्राणिषु निस्त्रिंश इव निर्दयमस्ति तस्य तपः-श्रुताद्यनुष्ठानक्रिया केवलं क्लेशाय जायते इति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथ पापकर्तृत्वानुमोदनयोः साम्यमाह ।

516) द्वयोरपि समं—द्वयोरपि वधानुमोदनयोर्घातानुमत्योरपि निश्चयेन समं पापं परगमे सिद्धान्ते निर्णीतं निर्णयीकृतम् । वधानुमोदकर्त्रोः असत्संकल्पसंश्रयात् दुष्टमनोविकल्पा-श्रयात्, इति सूत्रार्थः ॥४४॥ दुष्टसंकल्पे दृष्टान्तमाह ।

517) संकल्पाच्छालि—[स्वयंभूरमणार्णवे स्वयंभूरमणसमुद्रे महामत्स्यस्य कर्णे स्थितः शालिमत्स्यः । संकल्पात् केवलमिच्छया । तद्यथा–यदा निद्रितमहामत्स्यमुखे नैके जलचरा आगमनं

जिसका मन दयासे भीगा हुआ, विज्ञान (विवेक) से, संस्कृत और इन्द्रियविषयोंमें मूर्छासे रहित (निर्ममत्व) हो चुका है उसका अभीष्ट सिद्ध हुआ ही समझना चाहिए ॥४२॥

जिसका अन्तःकरण प्राणियोंके विषयमें तलवारके समान कठोर है—दयासे रहित है—उसके द्वारा किया जानेवाला तपश्चरण और आगमाभ्यास केवल क्लेशका ही कारण होता है—प्राणिदयाके विना वे दोनों निरर्थक हैं ॥४३॥

जो प्राणिवधको स्वयं करता है और जो उसकी अनुमोदना करता है—उसे भला समझता है—उन दोनोंके ही पापको परमागममें समान निश्चित किया गया है। कारण इसका यह है कि—जैसा निकृष्ट विचार वध करनेवालेका होता है वैसा ही निकृष्ट विचार उसकी अनुमोदना करनेवालेका भी होता है ॥४४॥

स्वयम्भूरमण समुद्रमें स्थित शालिमत्स्य भी अपनेको महामत्स्यके समान पापसे संयुक्त करके नरकको प्राप्त हुआ है ॥ विशेषार्थ—जितना पाप हिंसा करनेवाले प्राणीके होता है उतना

---

१. All others except P N Y निस्त्रिंश एव । २. Y रवणार्णवे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

518) अहिंसैकापि यत्सौख्यं कल्याणमथवा शिवम् ।
दत्ते तद्देहिनां नायं तपःश्रुतयमोत्करः ॥४६

519) दूयते यस्तृणेनापि स्वशरीरे कदर्थिते ।
स निर्दयः परस्याङ्गे कथं शस्त्रं निपातयेत् ॥४७

520) जन्मोग्रभ्रम[1]भीतानामहिंसैवौषधी परा ।
तथामरपुरीं गन्तुं पाथेयं पथि पुष्कलम् ॥४८

गमनं च कुर्वन्ति स्म स महामत्स्यः च तान्न निगिलति स्म तदा तद् दृष्ट्वा शालिमत्स्यः एवम् अचिन्तयत्–यदि मम मुखं एते प्राणिनः प्रविशन्ति तर्हि अहं एतान् ध्रुवं भक्षयामि । एतादृश-संकल्पात् सः सप्तमं नरकं गतः । इति सूत्रार्थः] ॥४५॥ अथ तपःप्रमुखानुष्ठाने ऽहिंसाधिक्यमाह ।

518) **अहिंसैकापि**—एकाप्यहिंसा यत्सौख्यं दत्ते । कल्याणमथवा शिवं मोक्षं देहिनां दत्ते, तत् अयं तपःश्रुतयमोत्करः न कल्याणं शिवं देहिनां दत्ते इति सूत्रार्थः ॥४६॥ अथ स्वपरयोर्दुःखसाम्यमाह ।

519) **दूयते यः**—यः स्वशरीरे तृणेनापि कदर्थिते दूयते तप्यते, स निर्दयः पापः परस्याङ्गे परशरीरे शस्त्रं क्षुरिकादिकं निपातयेत्, तन्मारणोद्यतः कथं स्यादित्यर्थः ॥४७॥ अथाहिंसास्वरूपमाह ।

520) **जन्मोग्रभ्रम**—जन्मोग्रभ*यभीतानां पुरुषाणां अहिंसैव परा उत्तमा औषधी । तथा पक्षान्तरे । अमरपुरीं गन्तु पथि मार्गे पुष्कलं बहुतरं पाथेयं शम्बलं भवति ॥४८॥ अथ अहिंसा-स्वरूपमाह ।

ही पाप उसकी अनुमोदना करनेवाले प्राणीके भी होता है, इसके लिए यहाँ शालिमत्स्यका उदाहरण दिया गया है । उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—स्वयम्भूरमण समुद्रके भीतर जो महामत्स्य था उसके कानमें यह शालिमत्स्य स्थित था । महामत्स्य जब गहरी नींदमें रहता तब उसके मुखमें अनेकों जलचर जीव प्रवेश करते और बाहर निकलते । इस प्रकारसे उन्हें उसके मुखमें आते-जाते देखकर वह शालिमत्स्य व्याकुल होकर विचार करता कि यह कैसा मूर्ख है जो मुखके भीतर प्रविष्ट होनेपर भी वह उन्हें नहीं निगलता है, यदि मैं उस अवस्थामें होता तो उनमेंसे किसीको भी नहीं छोड़ता—सभीको खा जाता । इस प्रकारके रौद्र ध्यानसे वह मरकर सातवें नरकमें गया है । इससे अनुमोदनाजनित पापकी कल्पना की जा सकती है ॥४५॥

एक ही अहिंसा प्राणियोंके लिए जिस सुखको, कल्याणको अथवा मोक्षसुखको देती है उसे यह तप, श्रुत और संयमका समुदाय भी नहीं दे सकता है ॥४६॥

जो मनुष्य अपने शरीरके तिनकेके द्वारा भी पीड़ित किये जानेपर, व्याकुल होता है वह निर्दय होकर दूसरे प्राणीके शरीरपर शस्त्रका प्रहार कैसे करता है । तात्पर्य यह कि मनुष्यको अपनी पीड़ाके ही समान दूसरे प्राणियोंकी भी पीड़ाका अनुभव करना चाहिए ॥४७॥

संसाररूप भ्रम-रोगसे भयको प्राप्त हुए प्राणियोंके लिए उत्कृष्ट औषधि अहिंसा ही है । तथा वह अहिंसा अमरपुरीको—स्वर्ग अथवा मोक्षको—जानेके लिए प्रचुर पाथेय—मार्गमें खानेके योग्य भोजन—है ॥४८॥

---

१. All others except P M N जन्मोग्रभय ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

521) विद्धयहिंसैव भूतानां मातेव हितकारिणी ।
तथा रमयितुं कान्ता विनेतुं च सरस्वती ॥४९

522) स्वान्ययोरप्यनालोच्यं सुखं दुःखं हिताहितम् ।
जन्तून् यः पातकी हन्यात् स नरत्वेऽपि राक्षसः ॥५०

523) अभयं यच्छ भूतेषु कुरु मैत्रीमनिन्दिताम् ।
पश्यात्मसदृशं विश्वं जीवलोकं चराचरम् ॥५१

524) जायन्ते भूतयः पुंसां याः कृपाक्रान्तचेतसाम् ।
चिरेणापि न ता वक्तुं शक्ता देव्यपि भारती ॥५२

521) विद्धयहिंसैव—किंतु* पक्षान्तरे । अहिंसा जीवदया । एव निश्चयार्थः । माता इव हितकारिणी । तथा पक्षान्तरमाह । रमयितुं कान्ता स्त्री । च पुनः । विनेतुं शिक्षां दातुं सरस्वती, इति सूत्रार्थः ॥४९॥ अथ हिंस्रकानां नराणां राक्षसत्वमाह ।

522) स्वान्ययोरप्यनालोच्य—स नररूपेण राक्षसः । स कः । यः पातकी पापी आत्मनः परस्य च सुखदुःखं हिताहितं वा अनालोच्य अविचार्य जन्तून् प्राणिनः हन्यात्, इति सूत्रार्थः ॥५०॥ अथ दयावत्त्वं दर्शयति ।

523) अभयं यच्छ—रे जीव, भूतेषु प्राणिषु अभयं यच्छ देहि । अनिन्दितां मैत्रीं कुरु । विश्वं जगत् आत्मसदृशं पश्य । कीदृशं जीवलोकम् । चराचरं त्रसस्थावरम् । इति सूत्रार्थः ॥५१॥ अथाहिंसाजन्यसुखानन्त्यमाह ।

524) जायन्ते भूतयः—पुंसां पुरुषाणां याः भूतयः लक्ष्म्यो जायन्ते । कथंभूतानां पुंसाम् । कृपाक्रान्तचेतसां दयाव्याप्तचित्तानाम् । ताः भूत्यादयो लक्ष्म्यः चिरेणापि वक्तुं देवी भारत्यपि न शक्ता समर्था ॥५२॥ अथाहिंसास्वरूपमाह ।

प्राणियोंका माताके समान हित करनेवाली अहिंसा ही है । उस अहिंसाको रमण करनेके लिए स्त्री तथा शिक्षा देनेके लिए सरस्वती समझो ॥४९॥

जो पापी मनुष्य अपने और दूसरेके भी सुख-दुखका तथा हित-अहितका विचार न करके प्राणियोंका घात करता है उसे मनुष्यके रूपमें राक्षस ही समझना चाहिए ॥५०॥

हे भव्य ! तू प्राणियोंके विषयमें अभयको दे—उनका संरक्षण कर—तथा उनके साथ निर्दोष मित्रताका व्यवहार कर । त्रस और स्थावर रूप समस्त जीवलोकको तुझे अपने समान ही देखना चाहिए । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकारके व्यवहारसे तुझे स्वयं कष्ट होता है उस प्रकारके व्यवहारको तुझे दूसरे प्राणियोंके प्रति भी नहीं करना चाहिए ॥५१॥

जिन पुरुषोंका अन्तःकरण दयासे व्याप्त रहता है उनकी जो संपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं उनका वर्णन स्वयं सरस्वती देवी भी दीर्घकाल तक नहीं कर सकती हैं—अन्यकी तो फिर बात ही क्या है ? ॥५२॥

१. All others except P किन्त्वहिंसैव । २. All others except P °नालोक्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

525) किं न तप्तं तपस्तेन किं न दत्तं महात्मना ।
विर्तीर्णमभयं येन प्रीतिमालम्ब्य देहिनाम् ॥५३

526) यथा यथा हृदि स्थैर्यं करोति करुणा नृणाम् ।
तथा तथा विवेकश्रीः परां प्रीतिं प्रकाशते[2] ॥५४

527) [3][अन्ययोगव्यवच्छेदादहिंसा श्रीजिनागमे ।
परैश्च योगमात्रेण कीर्तिता[4] सा यदृच्छया ॥५४*१]

528) तन्नास्ति जीवलोके जिनेन्द्रदेवेन्द्रचक्र[5]कल्याणम् ।
यत्प्राप्नुवन्ति मनुजा न जीवरक्षानुरागेण ॥५५

525) किं न तप्तं—तेन किं तपो न तप्तम् । तेन महात्मना किं न दत्तम् । येन प्रीतिमालम्ब्य देहिनामभयं दानं वितीर्णम्, इति सूत्रार्थः ॥५३॥ अथ विवेकस्य दयाकार्यत्वमाह ।

526) यथा यथा—नृणां मनुष्याणां हृदि स्थैर्यं करुणा दया यथा यथा करोति तथा तथा विवेकश्रीः परामुत्कृष्टां प्रीतिं प्रकाशयेत्* । इति सूत्रार्थः ॥५४॥ अथाहिंसाया विशेषमाह ।

527) अन्ययोग—श्रीजिनागमे अहिंसा कीर्तिता । कस्मात् । अन्ययोगा ये ज्ञानादयस्तेषां व्यवच्छेदात् नाशात् । च पुनः । परैर्मिथ्यात्विभिः । सा अहिंसा यदृच्छया योगमात्रेण यज्ञादिकरणेन कीर्तिता, इति सूत्रार्थः ॥५४*१॥ अथ जीवदयासाध्यं किमपि नास्तीत्याह ।

528) तन्नास्ति—जीवलोकेषु तत् जिनेन्द्रदेवेन्द्रचक्रकल्याणं नास्ति । यन्मनुजाः मनुष्याः जीवरक्षानुरागेण न प्राप्नुवन्ति, इति सूत्रार्थः ॥५५॥ अथ हिंसाफलमाह । आर्या ।

जिस मनुष्यने प्रेमपूर्वक प्राणियोंको अभय दिया है उसने कौन-से तपका अनुष्ठान नहीं किया है तथा उस महापुरुषने क्या नहीं दिया है ? अभिप्राय यह है कि दयालुताके वशीभूत होकर जो प्राणियोंका संरक्षण किया जाता है, यह तपसे बढ़कर व सब दानोंमें श्रेष्ठ है ॥५३॥

मनुष्योंके हृदयमें दया जैसे-जैसे स्थिरताको करती है वैसे ही वैसे विवेकरूप लक्ष्मी उत्कृष्ट प्रीतिको प्रगट करती है । तात्पर्य यह कि मनुष्यके अन्तःकरणमें जैसे-जैसे दया वृद्धिको प्राप्त होती है वैसे-वैसे उसकी विवेकबुद्धि भी वृद्धिंगत होती है ॥५४॥

जिनागममें जो अहिंसा कही गयी है वह अन्ययोगव्यवच्छेदसे कही गयी है, अर्थात् अहिंसाको छोड़कर दूसरा कोई भी धर्म नहीं है—वही मुख्य धर्म है इस दृढ़तासे उसे स्वीकार किया गया है । किन्तु दूसरोंने स्वेच्छापूर्वक योगमात्रसे उसका उपदेश किया है—उन्होंने यदि कहीं अहिंसाको धर्म बतलाया है तो कहीं हिंसाको भी धर्म बतलाया है ॥५४*१॥

इस जीवजगत्से तीर्थंकर, इन्द्र और चक्रवर्तीका वह कोई भी कल्याणकारक पद नहीं है, जिसे कि मनुष्य जीवरक्षाके अनुरागसे न प्राप्त कर सकते हों—जीवोंके विषयमें दयालुतापूर्ण आचरण करनेवाले मनुष्य इन्द्र, चक्रवर्ती और तीर्थंकरके भी पदको प्राप्त करते हैं ॥५५॥

१. M N महात्मनाम् । २. F V C X प्रकाशयेत् । ३. P om. । ४. M कीर्तिताम् । ५. M J Y चक्रिकल्याणं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

529) यत्किंचित्संसारे शरीरिणां दुःखशोकभयबीजम् ।
दौर्भाग्यादि समस्तं तद्धिंसासंभवं ज्ञेयम् ॥५६

530) ज्योतिश्चक्रस्य चन्द्रो हरिरमृतभुजां चण्डरोचिर्ग्रहाणां
कल्पागः[1] पादपानां सलिलनिधिरपां स्वर्णशैलो गिरीणाम् ।
देवः श्रीवीतरागस्त्रिदशमुनिगणस्यात्र नाथो यथायं
तद्वच्छीलव्रतानां शमयमतपसां विद्धयहिंसा[2] प्रधानम् ॥५७

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्यश्रीशुभचन्द्रविरचिते
अहिंसाव्रतप्रकरणम् ॥८॥

529) **यत्किंचित्संसारे**—संसारे जगति शरीरिणां दुःखशोकभयबीजं कारणं यत् किंचित् वर्तते, अन्यत् समस्तं दौर्भाग्यादि वर्तते, तत्सर्वं हिंसासंभवं वधाज्जातं ज्ञेयं ज्ञातव्यम्, इति सूत्रार्थः ॥५६॥ अथ अहिंसाप्रधानं दृष्टान्तमाह । स्रग्धरा ।

530) **ज्योतिश्चक्रस्य**—यथा ज्योतिश्चक्रस्य मध्ये चन्द्रो महान्, यथा अमृतभुजां देवानां मध्ये हरिरिन्द्रो महान्, ग्रहाणां मध्ये चन्द्ररोचिः प्रधानम् । पादपानां यथा कल्पागः कल्पवृक्षः प्रधानः । अपां मध्ये सलिलनिधिः प्रशस्यः । गिरीणां मध्ये स्वर्णशैलो मेरुः प्रधानः । देवमुनिगणस्य मध्ये अत्र जगति श्रीवीतरागो देवः । 'यथा नाथः' इति शब्दः प्रत्येकं वाच्यः प्रधानः । तद्वत्तथा शीलव्रतानां शमयमतपसां मध्ये अहिंसा प्रधानं विद्धि जानीहि, इति सूत्रार्थः ॥५७॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रयोगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन
साहपासा-तत्पुत्रसाहटोडरतत्कुलकमलदिवाकरसाहरिषिदास-स्वश्रवणार्थं
पण्डितजिनदासोद्यमेन अहिंसाप्रकरणं समाप्तम् ॥८॥

त्यक्तान्यधर्मसंसर्गः स्वर्गप्रतिपालकः । तोडरस्येह सत्पुत्रो जीयात् श्रीऋषिदासो ऽस्तु ॥१॥ आशीर्वादः । अथ व्रताधिकारे अहिंसानन्तरं क्रमेण सत्यस्वरूपमाह ।

संसारमें प्राणियोंके दुख, शोक और भयका कारणभूत जो दौर्भाग्य (पाप कर्म) आदि है वह सब हिंसासे ही उत्पन्न होता है, ऐसा निश्चय करना चाहिए ॥५६॥

जिस प्रकार यहाँ ज्योतिषी देवोंका चन्द्र, देवोंका इन्द्र, ग्रहोंका सूर्य, वृक्षोंका कल्पवृक्ष, जलाशयोंका समुद्र, पर्वतोंका सुमेरु तथा देवों व मुनिगणोंका श्री वीतराग (अरिहन्त) देव स्वामी है, उसी प्रकार शील, व्रत, शम, यम और तपका प्रधान—उनकी अधिष्ठात्री—अहिंसा है ॥५७॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
अहिंसा प्रकरण समाप्त हुआ ॥८॥

१. M N S T F V C कल्पांगः, B J X R कल्पांगं । २. All others except P N T °हिंसां प्रधानाम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

IX

[सत्यव्रतम्]

531) यः संयमधुरां धत्ते धैर्यमालम्ब्य संयमी ।
स पालयति यत्नेन वाग्वने सत्यपादपम् ॥१

532) अहिंसाव्रतसिद्ध्यर्थं[1] यमजातं जिनैर्मतम् ।
नारोहति[2] परां कोटिं तदेवासत्यदूषितम्[2] ॥२

533) असत्यमपि तत्सत्यं यत्सत्त्वाशंसकं वचः ।
सावद्यं यच्च पुष्णाति तत्सत्यमपि गर्हितम् ॥३

---

531) यः संयमधुरां—यः संयमी संयमवान् संयमधुरां भारं धत्ते । किं कृत्वा । धैर्यमालम्ब्याश्रित्य । स संयमधुराधरणः यत्नेन वाग्वने वचनकानने सत्यपादपं वृक्षं पालयति इत्यर्थः ॥१॥ सत्यव्रतस्य माहात्म्यमाह ।

532) अहिंसाव्रत—जिनै रागादिजेतृभिरहिंसाव्रतरक्षार्थं* यमजातं व्रतसमूहः मतं कथितम् । तदेव यमजातं परां कोटिं नारोहति । कीदृशम् । असत्यदूषितम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ [अथ सत्यासत्ययोर्निर्णयमाह ।

533) असत्यमपि—प्राणिनां यद्धितकारिवचः तदसत्यमपि सत्यं मन्तव्यम् । तद्विपरीतं च यत् प्राणिघातकं पापपोषकं तत्सत्यमप्यसत्यवद् गर्हितम्, इत्यर्थः ॥३॥] अथ यादृक् सत्यवादी तमाह ।

जो मुनि धैर्यका आश्रय लेकर संयमके बोझको धारण करता है वह वचनरूप वनमें सत्यरूप वृक्षका प्रयत्नपूर्वक रक्षण करता है । अभिप्राय यह है कि मुनिधर्मको स्वीकार करनेपर सत्यमहाव्रतका पूर्णतया पालन करना अनिवार्य होता है ॥१॥

अन्य सत्य आदि व्रतोंका जो समुदाय है उसे जिन भगवान् अहिंसाव्रतकी सिद्धिका कारण मानते हैं, क्योंकि, वही अहिंसाव्रत यदि असत्यसे दूषित है तो वह उत्कृष्ट अवस्थाको नहीं प्राप्त होता है ॥२॥

जो वचन जीवोंके हितका सूचक हो वह यदि असत्य भी हो तो भी उसे सत्य (संभाषणयोग्य) ही समझना चाहिए, तथा इसके विपरीत जो वचन पापको पुष्ट करता है वह सत्य होते हुए भी घृणास्पद है ॥३॥

---

१. All others except P व्रतरक्षार्थं । २. M न रोहति… तदेवासाध्यदूषितम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

534) अनेकजन्मजक्लेशशुद्धयर्थं यस्तपस्यति ।
सर्वसत्त्वहितं[1] शश्वत्स ब्रूते सूनृतं वचः ॥४

535) सूनृतं करुणाक्रान्तमविरुद्धमनाकुलम् ।
अग्राम्यं गौरवाश्लिष्टं वचः शास्त्रे प्रशस्यते ॥५

536) मौनमेव हितं पुंसां शश्वत्सर्वार्थसिद्धये ।
वचो वाति[2]प्रियं तथ्यं[3] सर्वसत्त्वोपकारि[4] यत् ॥६

537) यो जिनैर्जगतां मार्गः प्रणीतो ऽत्यन्तशाश्वतः ।
असत्यबलतः सो ऽपि निर्दयैः कथ्यते ऽन्यथा ॥७

534) अनेकजन्मज—यस्तपस्वी अनेकजन्मजक्लेशशुद्धयर्थं प्राग्जन्मोत्पन्नक्लेशशुद्धये तपस्यति, स नरः शश्वन्निरन्तरं सर्वसत्त्वहितं सर्वजीवोपकारकं वचः सूनृतं ब्रूते कथयति, इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ वचःस्वरूपमाह ।

535) सूनृतं—एतादृशं वचः शास्त्रे प्रशस्यते श्लाघ्यते । कीदृशं वचः । सूनृतं सत्यम् । पुनः कीदृशम् । करुणाक्रान्तं दयाव्याप्तम् । पुनः कीदृशम् । अविरुद्धं पूर्वापराविरोधि । अनाकुलम् । पुनः कीदृशम् । सकोमलम् । पुनः कीदृशम् । गौरवाश्लिष्टं गम्भीरमिति सूत्रार्थः ॥५॥ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

536) मौनमेव हितं—यत् यस्मात् कारणात् मौनमेव पुंसां पुरुषाणां हितं हितकारि । शश्वन्निरन्तरं सर्वार्थसिद्धये वचो वाचि* वक्तव्यम् । कीदृशम् । प्रियं मनोहरम् । पुनः कीदृशम् । तथा सत्यं सर्वसत्त्वोपकारकम्*, इत्यर्थः ॥६॥ अथ जिनप्रणीतमार्गो ऽपि असत्यबलाद् विपरीत इत्याह ।

537) यो जिनैर्जगतां—[यः सदाचरणात्मको मार्गो ऽत्यन्तशाश्वतः भगवद्भिर्जिनेश्वरैः प्राणिमात्राय दर्शितः स दयाहीनः पाखण्डिभिरसत्यबलेनान्यथा कथित इत्यर्थः ॥७॥ अथ लोकस्वरूपमाह ।

जो मुनि अनेक जन्मसे उत्पन्न हुए कष्टको दूर करनेके लिए तपश्चरण करता है वह निरन्तर समस्त प्राणियोंको हितकर सत्य वचनको बोलता है ॥४॥

जो वचन सत्य, दयासे व्याप्त, विरोधसे रहित, आकुलताको दूर करनेवाला, ग्राम्यस्वरूपसे रहित (सभ्य व शिष्ट) और गौरवसे आलिंगित—महानताका कारण—हो उसकी शास्त्रमें प्रशंसा की जाती है ॥५॥

मनुष्योंको सब ही प्रयोजनोंकी सिद्धिका कारणभूत निरन्तर मौन ही हितकर है, अथवा वह वचन हितकर है जो कि अतिशय प्रिय, यथार्थ और सब प्राणियोंका उपकारक हो ॥६॥

जिन भगवान्ने संसारी प्राणियोंके लिए जिस अनन्त और अविनश्वर मार्ग (मोक्षमार्ग)का उपदेश दिया है उसका भी वर्णन दुष्टजन असत्यके बलसे विपरीत करते हैं ॥७॥

१. All others except P M सर्वं सत्त्व । २. All others except P M N वाचि प्रियं । ३. J प्रियं तस्य । ४. M N सत्त्वोपकारकं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

538) विचर्च्यासत्यसंदोहं खलैर्लोकः खलीकृतः ।
कुशास्त्रैः स्वमुखोद्गीर्णैरुत्पाद्य गहनं तमः ॥८

539) जयन्ति ते जगद्वन्द्या यैः सत्यकरुणामये ।
अवञ्चके च लोको ऽयं पथि शश्वत् प्रतिष्ठितः ॥९

540) असद्वदनवल्मीकेविशालविषसर्पिणी ।
उद्वेजयति वागेवं जगदन्तर्विषोल्बणा ॥१०

541) न सास्ति काचिद्व्यवहारवर्तनी न यत्र वाग्विस्फुरति प्रवर्तिका ।
ब्रुवन्नसत्यामिह तां हताशयः करोति विश्वव्यवहारविप्लवम् ॥११

538) **विचर्च्यासत्य**—खलैर्दुर्जनैर्लोकः खलीकृतः दुर्जनीकृतः । किं कृत्वा । असत्यसन्दोहं समूहं विचर्च्यं [अ]त्यज्य । पुनः किं कृत्वा । गहनं तमः उत्पाद्य । कैः । कुशास्त्रैः । कथंभूतैः । स्वमुखोद्गीर्णैर्निजवदनोक्तैरित्यर्थः ॥८॥ अथ सत्यवादिनां स्वरूपमाह ।

539) **जयन्ति ते**—ते जगद्वन्द्याः जयन्ति । यैर्जगद्वन्द्यैः लोको ऽयं शश्वत् निरन्तरं पथि सन्मार्गे प्रतिष्ठितः स्थापितः । कीदृशे पथि । सत्यकरुणामये । सुगमम् । पुनः कीदृशे । अवञ्चके सरले । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथासत्यवचनस्वरूपमाह ।

540) **असद्वदन**—वागेव जगत् उद्वेजयति पीडयति । कीदृशी वाक् । विशालविषसर्पिणी । सुगमम् । पुनः कीदृशी । अन्तर्विषोल्बणा मध्यविषरौद्रा । क्व । असद्वचनवल्मीके* असत्यवचनसर्पस्थाने, इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ वचनव्यापकत्वमाह । वंशस्थछन्दः ।

541) **न सास्ति काचिद्**—यत्र सा वाक् काचिन्न विस्फुरति । कीदृशी वाक् । व्यवहारवर्तिनो सर्वव्यवहारवर्तिनो* । पुनः कीदृशो । प्रवर्तिनी प्रवर्तिका । इह जगति तां सत्यां वाचं ब्रुवन्

दुष्ट मिथ्यादृष्टियोंने अपने मुखसे निकले हुए कुशास्त्रोंके द्वारा गहरे अन्धकारको उत्पन्न करके—अज्ञानान्धकारको फैला करके—असत्यसमूहकी विशेष चर्चा करते हुए विश्वको अपने समान दुष्ट बना लिया है ॥८॥

जिन साधु जनोंने इस लोकको सत्य व दयास्वरूप तथा वंचनासे रहित (सरल) मार्गमें निरन्तर प्रतिष्ठित किया है वे विश्वके वन्दनीय साधु जयवन्त होते हैं ॥९॥

दुष्ट जनोंके मुखरूप बाँबीमें अवस्थित, अतिशय विषैली एवं भीतर तीव्र विषको धारण करनेवाली सर्पिणीके समान यह वाणी ही लोकको उद्विग्न करती है ॥१०॥

ऐसा कोई भी व्यवहारमार्ग नहीं है जहाँपर कि वाणी प्रवर्तक स्वरूपसे न प्रकाशमान होती हो । इसीलिए जो दुर्बुद्धि यहाँ उस असत्य वाणीको बोलता है वह समस्त व्यवहार ही लोप करता है । अभिप्राय यह है कि समस्त लोकव्यवहार वचनपूर्वक ही चलता है, इसलिए

१. L विवेच्यासत्य । २. Y करुणामयैः । ३. S F V C J X R अवञ्चकेऽपि, Y अवञ्चकैश्च । ४. All others except P M N वल्मीके । ५. J X Y R विशाला विष । ६. M वागेयं । ७. All others except P वर्तिनी ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

542) पृष्टैरपि न वक्तव्यं न श्रोतव्यं कथंचन[1] ।
वचः शङ्काकुलं पापं दोषाढ्यं चाभ्यसूयकम्[2] ॥१२

543) मर्मच्छेदि मनःशल्यं च्युतस्थैर्यं विराधकम्[3] ।
निर्दयं च वचस्त्याज्यं[4] प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥१३

544) धन्यास्ते हृदये येषामुदीर्णः करुणाम्बुधिः ।
वाग्वीचिसंचयोल्लासैर्निर्वापयति देहिनः ॥१४

विश्वव्यवहारविप्लवं जगद्व्यवहारनाशं करोति। इति सूत्रार्थः ॥११॥ पुनरेतादृशं वचः न वक्तव्यं तदाह।

542) **पृष्टैरपि न**—पृष्टैः केनापि किंचिन्न वक्तव्यम्। *कदाचनापि न श्रोतव्यम्। कीदृग् वचः। शङ्काकुलं शङ्काव्याप्तम्। पुनः। पापं पापकारि। पुनः कीदृशम्। दोषाढ्यं दोषयुक्तम्। च पुनः। अभ्यसूयकं परगुणान् दृष्ट्वा ईर्षा [युक्तम्], इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ वचःस्वरूपमाह।

543) **मर्मच्छेदि**—च पुनः। एतादृशं वचो न वक्तव्यम्। मर्मच्छेदि। पुनः कीदृशम्। मनःशल्यं मनसि शल्यमिव। च्युतस्थैर्यं गतधैर्यम्। पुनः कीदृशम्। विरोधकं सुगमम्। च पुनः। निर्दयं दयारहितम्। प्राणैः कण्ठगतैरपि त्याज्यम् ॥१३॥ अथ दयामाह।

544) **धन्यास्ते हृदये**—ते पुरुषा धन्याः। येषां हृदि करुणाम्बुधिः दयासमुद्रः उदीर्णः। कीदृशः। वाग्वीचिसंचयोल्लासैर्वचनकल्लोलैः। देहिनः निर्वापयति शीतलीकरोति। इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ सति धर्मादिनाशे ऽपृष्टैरपि वक्तव्यम्।

जो असत्यभाषण करता है वह समस्त लोकव्यवहारको ही नष्ट करता है, ऐसा समझना चाहिए ॥११।

जो वचन शंकाको उत्पन्न करनेवाला (अथवा भयावह), पापस्वरूप, दोषोंसे परिपूर्ण और ईर्ष्याको उत्पन्न करनेवाला हो; ऐसे वचनको पूछे जानेपर भी सत्पुरुषोंको नहीं बोलना चाहिए और न वैसे वचनको किसी प्रकारसे सुनना भी चाहिए ॥१२॥

जो वचन मर्मको विदीर्ण करनेवाला, मनमें काँटेके समान चुभनेवाला, स्थिरतासे भ्रष्ट करनेवाला, विरोधको उत्पन्न करनेवाला और दयासे शून्य हो; ऐसे वचनका प्राण जानेपर भी परित्याग ही करना चाहिए। तात्पर्य यह कि मृत्यु को स्वीकार करना अच्छा है, पर उपर्युक्त दुर्वचनको बोलना अच्छा नहीं है ॥१३॥

जिनके हृदयमें दयाका समुद्र उत्पन्न होकर वचनरूप लहरोंके समूहसे प्राणियोंको शान्ति पहुँचाता है वे महापुरुष धन्य हैं ॥१४॥

---

१. J कदाचन। २. M N चाप्यसूयकं, S V C X R चाभिसूयकं, F चान्यसूयकं। ३. All others except P विरोधकं। ४. M वचस्त्याज्या।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

545) धर्मनाशे क्रियाध्वंसे स्वसिद्धान्तार्थविप्लवे[1] ।
अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपप्रकाशने ॥१५

546) या मुहुर्मोहयत्येव विश्रान्ता कर्णयोर्जनम् ।
विषमं विषमुत्सृज्य सावश्यं पन्नगी न गीः ॥१६

547) असत्येनैव विक्रम्य चार्वाकद्विजकौलिकैः ।
सर्वाक्षपोषकं धूर्तैः पश्य पक्षं प्रतिष्ठितम् ॥१७

548) मन्ये पुरजलावर्तप्रतिमं[2] तन्मुखोदरम् ।
यतो वाचः प्रवर्तन्ते कश्मलाः कार्यनिष्फलाः ॥१८

545) **धर्मनाशे**—सत्यव्रतस्थैरपृष्टैरपि वक्तव्यम् । कुत्र । धर्मनाशे दयादिधर्मध्वंसे । पुनः क्व । क्रिया चारित्रं तस्य ध्वंसे विनाशे । पुनः कस्मिन् । स्वसिद्धान्तार्थविप्लवे स्वसिद्धान्तस्य द्वादशाङ्गस्यार्थविप्लवे नाशे अपृष्टैरपि वक्तव्यम् । पुनः क्व । तत्प्रकाशने सत्यप्रगटने, इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथासत्यस्वरूपमाह ।

546) **या मुहुर्मोहयत्येव**—जनं या वाणी मुहुर्वारंवारं मोहयत्येव मूर्च्छयत्येव । कीदृशी । कर्णयोर्विश्रान्ता कर्णाभ्यां श्रुतेत्यर्थः । सावश्यं पन्नगी सर्पिणी । गीः वाणी न । अपि तु स्तोवे (?) त्यर्थः । विषमं दुष्टं विषं गरलं उत्सृज्य त्यक्त्वा । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ पुनरसत्यमाह ।

547) **असत्येनैव**—चार्वाकद्विजकौलिकैर्नास्तिक-ब्राह्मण-कणादैर्दंशोयैरसत्येनैव पक्षं प्रतिष्ठितं स्थापितम् । किं कृत्वा । विक्रम्य शक्तिमालम्ब्य । कीदृशैः । धूर्तैः छद्मिभिः । कीदृशम् । सर्वाक्षपोषकं सर्वेन्द्रियपोषकम् । रे जीव, त्वं पश्य, इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथासत्यवाचो दुष्टतामाह ।

548) **मन्ये पुरा**—अहम् एवं मन्ये । तन्मुखोदरं तदाननविवरं पुरजलावर्तप्रतिमं नगर-प्रणालसदृशं यतो मुखोदरात् कश्मलाः मलिनाः वाचः प्रवर्तन्ते । कीदृश्यो वाचः । कार्यशून्याः ।

धर्मनाशके उपस्थित होनेपर, शास्त्रविहित अनुष्ठानका विनाश होनेपर अथवा परमागमके अर्थके नष्ट होनेपर सत्पुरुषोंको पूछनेके बिना भी उसके स्वरूपको प्रकाशित करनेवाला सम्भाषण करना ही चाहिए ॥१५॥

जो वाणी दोनों कानोंके भीतर विश्रामको प्राप्त होती हुई भयानक विषको छोड़कर मनुष्यको बार-बार मुग्ध किया करती है वह अवश्य ही सर्पिणी है, वाणी नहीं है । अभिप्राय यह है कि जो वचन सुननेमें मनोहर होनेपर भी परिणाममें अहितकारक होता है उसे विषैले सर्पके समान जानकर सदा ही छोड़ना चाहिए ॥१६॥

देखो, धूर्त चार्वाक, ब्राह्मण (क्रियाकाण्डी) और कौलिक (तान्त्रिक) जनोंने असत्यके बलपर ही इन्द्रियविषयोंको पुष्ट करनेवाले पक्षको स्थापित किया है ॥१७॥

जिस मुखके मध्यसे मोहको उत्पन्न करनेवाले निरर्थक वचन प्रवृत्त होते हैं उस मुखके मध्यको मैं नगरकी नालीके समान मानता हूँ । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार नगरकी

१. All others except P M X सुसिद्धान्ता° । २. J V C पुरा जलावर्त ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

549) प्राप्नुवन्त्यतिघोरेषु रौरवादिषु संभवम् ।
तिर्यक्ष्वथ[1] निगोदेषु मृषावाक्येन देहिनः ॥१९

550) न तथा चन्दनं चन्द्रमणयो[2] मालतीस्रजः ।
कुर्वन्ति[3] निर्वृतिं पुंसां यथा वाणी श्रुतिप्रिया[4] ॥२०

551) अपि दावानलप्लुष्टं सार्द्रं[5] संजायते वनम् ।
न लोकः सुचिरेणापि जिह्वानलकदर्थितः ॥२१

यथा नगरप्रणालद्वारा कश्मलं निर्गच्छति तथा तन्मुखोदरात् कश्मला वाचः प्रवर्तन्ते, इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ मृषावादफलमाह ।

549) प्राप्नुवन्त्यति--देहिनः प्राणिनः । रौरवादिषु अतिघोरेषु रौद्रेषु । अथ तिर्यक्षु संभवं दुःखं प्राप्नुवन्ति । केन । मृषावाक्येन । निगोदेषु दुःखं प्राप्नुवन्ति ॥१९॥ अथ वाणी-स्वरूपमाह ।

550) न तथा चन्दनं—तथा चन्दनं, चन्द्रमणयः चन्द्रकिरणाः, तथा मालतीस्रजः पुंसां निर्वृतिं न कुर्वन्ति यथा वाणी श्रुतिप्रिया कर्णप्रिया निर्वृतिं करोति । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथासत्यमाह ।

551) अपि दावानल—वनं दावानलप्लुष्टमपि दावानलदग्धं सार्द्रं संजायते । अपि यथार्थे । तथा लोकः जिह्वानलकदर्थितः सुचिरेणापि सार्द्रो न जायते । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ असत्यमेव वक्तव्यमाह ।

नालीसे घृणित व निष्फल मलमूत्र आदि पदार्थ बहते रहते हैं उसी प्रकार दुर्बुद्धि जनोंके मुखसे निन्दनीय निरर्थक वचन निकला करते हैं ॥१८॥

प्राणी असत्य वचनके प्रभावसे अतिशय भयानक रौरव आदि नारकबिलोंमें, तिर्यंचोंमें और निगोद जीवोंमें जन्मको प्राप्त करते हैं ॥१९॥

सुननेमें मनोहर व आगमके अनुकूल वाणी मनुष्योंके लिए जिस सुखको उत्पन्न करती है उसे चन्दन, चन्द्रकान्त मणि और मालती पुष्पोंकी मालायें नहीं उत्पन्न करती हैं ॥२०॥

वनाग्निसे जला हुआ वन गीला भी हो जाता है—पुनः हरा भरा हो जाता है, किन्तु जीभसे उत्पन्न वचनरूप अग्निसे पीड़ित जन दीर्घकालमें भी गीला—शान्तिको प्राप्त—नहीं होता ॥२१॥

१. N तिर्यक्पथ, T तिर्यक्ष्वपि । २. S F V C J X Y R चन्द्रो मणयो । ३. M कुर्वन्तं निर्वृतिं । ४. Y शुचिप्रिया । ५. L S T F V C X R प्लुष्टं शाड्वलं जायते, J सार्धं संजायते, Y सान्द्रं संजायते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

552) सर्वलोकप्रिये तथ्ये[1] प्रसन्ने[2] ललिताक्षरे ।
वाक्ये सत्यपि किं ब्रूते निकृष्टः परुषं वचः ॥२२

553) सतां विज्ञाततत्त्वानां सत्यसीमा[3]वलम्बिनाम् ।
चरणस्पर्शमात्रेण विशुध्यति धरातलम् ॥२३

554) यमव्रतगुणोपेतं सत्यश्रुतसमन्वितम् ।
यैर्जन्म सफलं नीतं ते धन्या धीमतां मताः ॥२४

552) सर्वलोकप्रिये—निकृष्टो ऽधमः परुषं कठोरं वचो ब्रूते । क्व सति । सत्यपि वाक्ये सत्यवचसि सत्यपि । कीदृशे । सर्वलोकप्रिये सर्वलोकमनोहरे । पुनः कीदृशे । तथ्ये । पुनः । प्रशान्ते* क्रोधाद्यभावेन । पुनः कीदृशे वाक्ये । ललिताक्षरे सुन्दरवर्णे । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ सत्यवादिनां माहात्म्यमाह ।

553) सतां विज्ञात—सतां सत्पुरुषाणां चरणस्पर्शमात्रेण धरातलं पृथ्वीतलं विशुध्यति शुद्धं भवति । कीदृशां सताम् । विज्ञाततत्त्वानां ज्ञातपरमार्थिनाम् । पुनः कथंभूतानाम् । सत्यसीमावलम्बिनां सत्यमर्यादाश्रितानाम् । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ यतीनां माहात्म्यमाह ।

554) यमव्रत—यैः पुरुषैर्जन्म सफलं नीतं प्राप्तम् । कीदृशं जन्म । यमव्रतगुणोपेतम् । सुगमम् । पुनः कीदृशम् । सत्यश्रुतसमन्वितं सत्यवाक्यशास्त्रयुक्तम् । ते पुरुषा धीमतां बुद्धिमतां मता अभीष्टाः, इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथासत्यवादिनां निन्दामाह ।

सब लोगोंको आनन्दप्रद, यथार्थ, प्रसन्न और सुन्दर वर्णोंसे निष्पन्न हुए वाक्यके विद्यमान रहनेपर भी निकृष्ट मनुष्य कठोर वचनको क्यों बोलता है ? अभिप्राय यह है कि उत्तम वाक्योंके होते हुए भी अधम मनुष्य स्वभावतः कठोर वाक्योंको ही बोला करते हैं ॥२२॥

जिन मनुष्योंने वस्तुस्वरूपको जानकर सत्यकी सीमाका आश्रय ले लिया है—जो सदा निर्दोष सत्य वचनको बोला करते हैं—उनके चरणोंके स्पर्श मात्रसे ही पृथिवीतल पवित्र हो जाता है । अभिप्राय यह है कि पृथिवीपर वे ही मनुष्य श्रेष्ठ समझे जाते हैं जो असत्यका सर्वथा परित्याग करके निरन्तर सत्य व प्रिय भाषण ही किया करते हैं ॥२३॥

जिन मनुष्योंने यम व व्रत गुणोंसे संयुक्त तथा सत्य व आगमज्ञानसे विभूषित करके अपने जन्मको सफलतापूर्वक बिताया है उन्हें बुद्धिमान् मनुष्य धन्य मानते हैं ॥२४॥

१. M पथ्ये । २. J तथ्ये प्रशान्ते । ३. L S F V C X R सत्यशीलाव° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

555) नृजन्मन्यपि यः सत्यप्रतिज्ञाप्रच्युतो ऽधमः ।
स केन कर्मणा पश्चाज्जन्मपङ्कं[1] तरिष्यति ॥२५

556) अदयैः संप्रयुक्तानि वाक्शस्त्राणीह भूतले ।
सद्यो मर्माणि कृन्तन्ति शितास्त्राणीव देहिनाम् ॥२६

557) व्रतश्रुतयमस्थानं विद्याविनयभूषणम् ।
चरणज्ञानयोर्बीजं सत्यसंज्ञं व्रतं मतम् ॥२७

555) **नृजन्मन्यपि**—यः पुरुषः नृजन्मन्यपि सत्यप्रतिज्ञाच्युतः सत्याङ्गीकाररहितो भवति। सो ऽधमः पश्चात्केन कर्मणा जन्मपङ्कं प्रस्तावात् भवसमुद्रं तरिष्यति । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ पुनर-सत्यवाक्फलमाह ।

556) **अदयैः संप्रयुक्तानि**—इह भूतले अदयैर्निर्दयैः पुरुषैर्वाक्शस्त्राणि संप्रयुक्तानि उक्तानि। तानि देहिनां सद्यः शीघ्रं मर्माणि मर्मस्थानानि कृन्तन्ति निघ्नन्ति । कानीव । शितास्त्राणीव । यथा शितास्त्राणि देहिनां मर्मस्थानानि निघ्नन्ति तदिवेत्यर्थः ॥२६॥ पुनः सत्यव्रतमाह ।

557) **व्रतश्रुतयमस्थानं**—सत्यसंज्ञव्रतं चरणज्ञानयोर्बीजं कारणं मतम् उक्तम् । कीदृशं सत्यसंज्ञं व्रतम् । व्रतश्रुतयमानां स्थानम् । पुनः कीदृशम् । विद्याविनयभूषणं ज्ञानविनयाभरणम् । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ सत्यवादिनां विघ्नाभावं दर्शयन्नाह ।

जो निकृष्ट मनुष्य मनुष्यभवको पा करके भी सत्यकी प्रतिज्ञासे भ्रष्ट हुआ है वह पीछे कौनसे कर्मके द्वारा संसाररूप कीचड़से पार हो सकेगा ? विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि मनुष्य पर्याय ही एक ऐसी है कि जिसमें जीव सत्य, संयम, तप एवं ध्यान आदिका आलम्बन लेकर इस संसार परिभ्रमणको नष्ट करता है। फिर भला जो अज्ञानी प्राणी उस दुर्लभ मनुष्य पर्यायको पाकर भी उसे असत्यसम्भाषण आदिसे कलंकित करके दुर्गतिको प्राप्त होते हैं उनका उस संसार परिभ्रमणसे अन्त पाना कैसे सम्भव है ? असम्भव है ॥२५॥

यहाँ पृथिवीतलपर दयाहीन दुष्ट मनुष्योंके द्वारा उपयोगमें लाये गये वचनरूप शस्त्र तीक्ष्ण अस्त्रोंके समान प्राणियोंके मर्मोंको शीघ्र ही विदीर्ण करते हैं ॥२६॥

यह सत्य नामका व्रत व्रत, आगमज्ञान एवं यमका स्थान (आधार); विद्या व विनयको विभूषित करनेवाला तथा चारित्र और ज्ञानका बीज (कारण) माना गया है ॥२७॥

१. All others except P M N J Y पङ्कात्तरिष्यति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

558) न हि सत्यप्रतिज्ञस्य[1] पुण्यकर्मावलम्बिनः ।
प्रत्यूहकरणे शक्ता अपि दैत्योरगादयः ॥२८

559) चन्द्रमूर्तिरिवानन्दं वर्धयन्ती जगत्त्रये ।
स्वर्गिभिर्ध्रियते मूर्ध्ना कीर्तिः सत्योत्थिता नृणाम् ॥२९

560) खण्डितानां विरूपाणां दुर्विधानां च रोगिणाम् ।
कुलजात्यादिहीनानां सत्यमेकं विभूषणम् ॥३०

561) यस्तपस्वी जटी मुण्डो[2] नग्नो वा चीवरावृतः ।
सो ऽप्यसत्यं यदि ब्रूते निन्द्यः स्यादन्त्यजादपि ॥३१

558) न हि सत्य—सत्यप्रतिज्ञस्य सत्यव्रताङ्गीकारिणः प्रत्यूहकरणे विघ्नकरणे दैत्योरगादयो ऽसुरपन्नगाः। अपि हि निश्चितम्। न शक्ताः समर्था भवेयुः। कीदृशस्य। पुण्यकर्मावलम्बिनः पुण्यकर्माश्रितस्येत्यर्थः ॥२८॥ अथ सत्यवादिनां माहात्म्यमाह।

559) चन्द्रमूर्तिरिव—नृणां मनुष्याणां सत्योत्थिता कीर्तिः स्वर्गिभिः मूर्ध्ना ध्रियते। स्वर्गिभिर्देवैर्मूर्ध्ना मस्तकेन। कं केव। जगत्त्रये, उभयत्र योज्यम्। चन्द्रमूर्तिरानन्दं वर्धयन्ती स्वर्गिभिर्ध्रियते तथेत्यर्थः ॥२९॥ अथ सत्यस्य सर्वदोषाभावत्वमाह।

560) खण्डितानां—एतेषां सत्यमेव विभूषणमाभरणम्। केषाम्। खण्डितानां हस्ताद्यवयवरहितानां विरूपाणां कुरूपाणां दुर्विधानां दुष्टानाम्। च पुनः। रोगिणां कुलजात्यादिहीनानाम्। इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथासत्यवादिनां निन्द्यत्वमाह।

561) यस्तपस्वी—यस्तपस्वी तपोयुक्तः जटी जटावान्। मुण्डो कृतलोचादिः। नग्नो वस्त्ररहितः। वा अथवा। चीवरावृतः वस्त्रयुक्तो भवति। सो ऽप्येतादृशो ऽपि यद्यसत्यं ब्रूते, तदा

जो पुण्यशाली मनुष्य सत्यपर दृढ़ रहता है उसके अभीष्टमें बाधा पहुँचानेके लिए दैत्य और सर्प आदिमें कोई भी समर्थ नहीं है ॥२८॥

तीनों लोकोंमें चन्द्रमूर्तिके समान आनन्दके समुद्रको बढ़ानेवाली जो मनुष्योंकी कीर्ति सत्यसे उत्पन्न होती है उसे स्वर्गवासी देव शिरसे धारण करते हैं। अभिप्राय यह है कि सत्यवक्ताकी देव भी प्रशंसा किया करते हैं ॥२९॥

जिनके हाथ-पैर आदि अंग-उपांग खण्डित हैं, जो कुरूप हैं, दौर्भाग्यसे युक्त (पापिष्ठ) हैं, रोगी हैं, तथा कुल व जाति आदिसे हीन हैं; उन सब ही का भूषण एक सत्य है ॥३०॥

जो तपस्वी हो, जटाओंको धारण करता हो, शिरके मुण्डनसे संयुक्त हो, वस्त्रसे रहित (नग्न) हो, अथवा वस्त्रसे वेष्टित हो; वह भी यदि असत्य वचन बोलता है तो उसे चाण्डालसे भी निन्दनीय समझना चाहिए ॥३१॥

१. M प्रतिज्ञास्य। २. M N जटी दण्डी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

562) कुटुम्बं जीवितं वित्तं यद्यसत्येन वर्धते[1] ।
तथापि युज्यते वक्तुं नासत्यं शीलशालिभिः ॥३२

563) एकतः सकलं पापमसत्योत्थं ततो ऽन्यतः[2] ।
साम्यमेव वदन्त्यार्यास्तुलायां धृतयोस्तयोः ॥३३

564) मूकता मतिवैकल्यं मूर्खत्वं[3] बोधविच्युतिः[4] ।
बाधिर्यं मुखरोगित्वमसत्यादेव देहिनाम् ॥३४

565) श्वपाकोलूकमार्जारवृकगोमायुमण्डलाः ।
स्वीक्रियन्ते क्वचिल्लोकैर्न सत्याच्च्युतचेतसः[5] ॥३५

स अन्त्यजाच्चाण्डालादपि निन्द्यः स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ ये कुटुम्बार्थमसत्यं ब्रूते तेषामाह ।

562) **कुटुम्बं जीवितं**—यदि कुटुम्बं स्वजनादि । जीवितं प्राणाः, वित्तं द्रव्यं असत्येन वर्धते । तथापि शीलशालिभिः सदाचारैः असत्यं वक्तुं नाभियुज्यते, असत्यं कथं नोच्यते । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथासत्यवादिनः सर्वपापसमतामाह ।

563) **एकतः सकलं**—एकतः सकलं जीवहिंसादि पापं तथासत्योत्थं पापम् अन्यतः । तयोरसत्योत्थसर्वपापयोस्तुलायां धृतयोरार्याः साम्यं वदन्ति एव निश्चयेन ॥३३॥ अथासत्यफलमाह ।

564) **मूकता मति**—देहिनां प्राणिनाम् असत्यादेतत् फलं भवति । किं तत् । मूकता वचो ऽभावः । मतिवैकल्यं बुद्धेर्विपर्यासः । मूर्खत्वं जडत्वम् । बोधविच्युतिः धर्माद् भ्रंशः । बाधिर्यं श्रुत्योः शब्दाभावः । मुखरोगित्वमन्तर्जिह्वादिरोगता । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथासत्यवादिनः के ऽपि न संग्रहन्ति ।

565) **श्वपाकोलूक**—श्वपाकोलूकमार्जारवृकगोमायुमण्डलाः　चण्डालकौशिकमार्जार-

---

यदि असत्यके आश्रयसे कुटुम्ब, जीवन अथवा धनकी वृद्धि होती हो तो भी शीलसे शोभायमान मनुष्योंको उसके लिए असत्य बोलना योग्य नहीं है ॥३२॥

एक ओर समस्त पाप तथा दूसरी ओर असत्यसे उत्पन्न पाप, इन दोनोंको तराजूके ऊपर रखनेपर उन दोनोंको आर्यजन समान बतलाते हैं। तात्पर्य यह कि अन्य सब ही पाप इस असत्यके ही आश्रित हैं, इसीलिए यह सब पापोंमें मुख्य गिना जाता है ॥३३॥

गूँगापन, बुद्धिहीनता, मूर्खता, अज्ञानता, बहरापन और मुखरोग; ये सब प्राणियोंके उस असत्यके आश्रयसे हुआ करते हैं ॥३४॥

चाण्डाल, उल्लू, बिलाव, भेड़िया, गीदड़ और कुत्ता; इनको तो लोग स्वीकार करते

---

१. M N यस्य सत्येन वर्धयेत् । २. J तथान्यतः । ३. S V C J X Y R मूर्खतां । ४. J बोधिविच्युतिः । ५. All others except P सत्यच्युत ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

566) प्रसन्नोन्नतवृत्तानां गुणानां चन्द्ररोचिषाम् ।
संघातं घातयत्येव सकृदप्युदितं[1] मृषा ॥३६

567) न हि स्वप्ने ऽपि संसर्गमसत्यमलिनैः सह ।
कश्चित्करोति पुण्यात्मा दुरितोल्मुक[2]शङ्कया ॥३७

568) जगद्वन्द्ये सतां सेव्ये भव[3]व्यसनशुद्धिदे ।
शुभे कर्मणि योग्यः स्यान्नासत्यमलिनो जनः ॥३८

व्याघ्रगोधाकुर्कुरा लोकैः क्वचित् स्वीक्रियन्ते । सत्यच्युतचेतसो न स्वीक्रियन्ते । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ मृषावाददुष्टतामाह ।

566) **प्रसन्नोन्नत**—मृषा असत्यं वचः सकृदपि एकवारमपि उदितमुक्तम् एतेषां संजातं समूहं घातयत्येव । केषाम् । प्रसन्नोन्नतवृत्तानाम् । पुनः केषाम् । चन्द्ररोचिषां चन्द्रकिरणोज्ज्वलानां गुणानाम् । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथासत्यवादिसंसर्गं निषेधयति ।

567) **न हि स्वप्ने ऽपि**—कश्चित् पुण्यात्मा असत्यमलिनैः सह स्वप्ने ऽपि संसर्गं संबन्धं हि निश्चितम् । न करोति । कया । दुरितोलूकशङ्कया पापग्रहाशङ्कया इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथासत्यवादी धर्मयोग्यो न भवेदित्याह ।

568) **जगद्वन्द्ये सतां**—असत्यमलिनो जनः शुभे कर्मणि योग्यो न स्यात् । कीदृशे कर्मणि । जगद्वन्द्ये जगत्पूज्ये । पुनः कीदृशे । सतां सेव्ये । पुनः कीदृशे । भवव्यसनशुद्धिदे संसारकष्टपवित्रे । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ सत्यासत्यसेवकानाह ।

हैं, किन्तु वे सत्यसे हीन चित्तवाले (असत्यभाषी) को स्वीकार नहीं करते हैं । तात्पर्य यह कि जो असत्य भाषण किया करता है उसे इन चाण्डाल आदिकोंसे भी निन्द्य समझना चाहिए ॥३५॥

असत्य वचन एक बार भी उत्पन्न होकर प्रसन्न व उन्नत प्रवृत्तिसे सहित होते हुए चन्द्रकी किरणोंके समान शान्तिको प्रदान करनेवाले गुणोंके समूहको नष्ट ही करता है ॥३६॥

जो मनुष्य असत्यभाषणसे मलिन हैं उनके साथ कोई भी पुण्यशाली पुरुष पापरूप अंगारकी शंकासे स्वप्नमें भी संगति नहीं करता है ॥३७॥

असत्यसे कलंकित मनुष्य किसी ऐसे शुभ कर्ममें योग्य नहीं है—उस उत्तम अनुष्ठानका अधिकारी नहीं है—जो लोकसे वन्दनीय, सत्पुरुषोंके द्वारा आराधनीय तथा संसारके कष्टोंको दूर करनेवाला है ॥३८॥

---

१. M N सकृदप्युत्थिता । २. F J V दुरितोलूक । ३. M S V C X Y R भव्यव्यसन ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

569) महामतिभिर्निष्ठ्यूतं[1] देवदेवैर्निषेधितम्[2] ।
असत्यं पोषितं पापैर्दुःशीलाधमनास्तिकैः ॥३९

570) सुतस्वजनदारार्थे वित्तबन्धुकृते[3] ऽथवा ।
आत्मार्थे न वचो ऽसत्यं वाच्यं प्राणात्यये ऽपि वा[4] ॥४०

571) [5]परोपरोधादपि[6] निन्दितं वचो ब्रुवन्नरो गच्छति नारकीं पुरीम्[7] ।
अनिन्द्यवृत्तो ऽपि गुणी नरेश्वरो वसुर्यथागादिति लोकविश्रुतम्[8] ॥४१

569) महामतिभिः—इदमसत्यव्रतं महामतिभिर्निष्ठ्यूतं शास्त्रेषु प्रोतं देवदेवैस्तीर्थंकरैर्निषेधितम् । इदम् असत्यं पापैः पापकारिभिः पोषितम् । कीदृशैः पापैः । दुःशीलाधमनास्तिकैः दुराचाराधमनास्तिकैः ॥३९॥ अथ स्वजननिमित्तमसत्यं न वक्तव्यमित्याह ।

570) सुतस्वजन—असत्यं वचो न वाच्यम् । कस्मिन्नर्थे । सुतस्वजनदारार्थे पुत्रपरिवाररामार्थे । अथवा वित्तबन्धुकृते द्रव्यभ्रातृकरणाय । आत्मार्थे । च पुनः । प्राणात्यये प्राणनाशेऽपि । इति सूत्रार्थः ॥४०॥ असत्यभाषणेन नरो नरकं गच्छतीत्याह ।

571) परोपरोधात्—परोपरोधात् परेषाम् आग्रहेण अपि निन्द्यं वचो ब्रुवन् नरः नरकं गच्छति । यथा गुणी तथा अनिन्द्यवृत्तः सन्नपि वसुराजा निन्दितवचनं (अज इत्यस्य छाग इति

जिस असत्य वचनको बुद्धिमान् मनुष्योंने फेंक दिया है—उसका परित्याग कर दिया है—तथा जिसका जिनेन्द्रदेवके द्वारा निषेध किया गया है उसका पोषण पापी व दुष्ट स्वभाववाले निकृष्ट नास्तिकजनोंने किया है ॥३९॥

प्राण चाहे भले ही नष्ट हो जावें; किन्तु पुत्र, कुटुम्बीजन व स्त्रीके लिए, धन अथवा बन्धुके लिए तथा स्वयं अपने लिए भी कभी असत्य वचन नहीं बोलना चाहिए ॥४०॥

दूसरेके आग्रहसे भी निन्दित (असत्य) वचनको बोलनेवाला मनुष्य नारकी पुरीको—नरक गतिको—जाता है । जैसे निर्मल आचरणवाला भी वसु राजा असत्यभाषणके वश नरकगतिको प्राप्त हुआ है, यह लोकप्रसिद्ध बात है ॥ विशेषार्थ—यहाँ असत्यभाषणवश प्राणीको नरकगतिका भयानक दुख सहना पड़ता है, इसके लिए लोकप्रसिद्ध वसुराजाका उदाहरण दिया है । उसकी कथा इस प्रकार है—एक क्षीरकदम्ब नामका ब्राह्मण विद्वान् वेदका अच्छा ज्ञाता था । वह एक दिन वनके भीतर स्थित होकर वसु, अपने पुत्र पर्वत और नारद इन तीनोंको आरण्यक वेद पढ़ा रहा था । उसने उस समय आकाशमें जाते हुए किसी आकाशगामी मुनिको यह कहते हुए सुना कि इन वेदाभ्यासियोंमें से दो तो पापके वशीभूत होकर नरकगतिको प्राप्त होनेवाले हैं और दो पुण्यके वशीभूत होकर ऊर्ध्वगामी हैं । यह सुनकर

१. P L निष्ठूतं । २. N निषीदितं । ३. M N दारार्थं वित्त, L S F V C R दारादिवित्त । ४. M N J °त्यये ऽपि च, S V C J °त्यये ऽथवा । ५. J Om. Verse । ६. All others except P M N L T °दति निन्दितं । ७. X Y नारकीं गतिम् । ८. S V C J विश्रुतिः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विपरीतमर्थम्) उक्त्वा नरकम् अगात् इति लोके विश्रुतम् ।।४१।। अथासत्यवचःफलं दर्शयितुमुपसंहरति । शार्दूलविक्रीडितम् ।

क्षीरकदम्ब संसारसे भयभीत हुआ। तब वह शिष्योंको घर भेजकर स्वयं दूसरी ओर चला गया। उधर ब्राह्मणी (स्वस्तिमती) ने जब क्षीरकदम्बको साथमें आता नहीं देखा तब शिष्योंसे पूछा कि उपाध्याय किधर गया है। इसके उत्तरमें उन्होंने कहा कि 'मैं आता हूँ' कहकर गुरुने हमको यहाँ भेज दिया है। वे भी आते ही होंगे। हे माता! तुम इसके लिए व्याकुल न होओ। परन्तु जब दिन भी बीत गया और रात भी बीत गयी, परन्तु क्षीरकदम्ब घर वापस नहीं आया तब स्वस्तिमती बहुत शोकाकुल हुई। उसे निश्चय हो गया कि उसने दीक्षा ले ली है। अन्तमें पर्वत और नारद उसे खोजनेके लिए निकले। इस प्रकारसे खोजते हुए उनको वह निर्ग्रन्थ अवस्थामें गुरुके समीपमें बैठा हुआ दिखा। उसे देखकर पर्वत तो अधीर होकर यों ही वापस हो गया। परन्तु नारदने प्रदक्षिणापूर्वक उन्हें प्रणाम किया और फिर कुछ सम्भाषण करते हुए उसने उनसे अणुव्रतोंको ग्रहण किया। तत्पश्चात् उसने घर वापस आकर शोकसे सन्तप्त गुरुपत्नीको सान्त्वना दी। इधर वसुके पिताने भी वसुको राज्य देकर दीक्षा ग्रहण कर ली। वसु बहुत धर्मात्मा था। वह स्फटिकमणिमय ऊँचे सिंहासनपर बैठता था। इससे लोगोंको वह आकाशमें स्थित दिखायी देता था। इससे पृथिवीपर उसकी इस प्रकारकी कीर्ति फल गयी थी वह धर्मके प्रभावसे अधर स्थित रहता है।

एक दिन नारद बहुतसे छात्रोंके साथ गुरुपुत्र पर्वतसे मिलने आया। उस समय पर्वत छात्रोंसे घिरा हुआ उन्हें वेद पढ़ा रहा था। प्रकरणमें 'अजैर्यष्टव्यम्' यह वाक्य था। उसकी व्याख्या करते हुए पर्वत बोला कि अज शब्दका अर्थ निःसन्देह पशुविशेष (बकरा) है। स्वर्ग जानेके इच्छा रखनेवाले ब्राह्मणोंको उन पशुओंके द्वारा यज्ञ करना चाहिए। इस व्याख्याको सुनकर नारदने कहा कि हे भट्टपुत्र! तुम और हम साथमें एक ही गुरुके पास पढ़े हैं। क्या तुम्हें स्मरण नहीं है कि गुरुने अज शब्दका अर्थ तीन वर्षका पुराना धान बतलाया था। नारदके इस प्रकार स्मरण करानेपर भी पर्वतने अपने दुराग्रहको नहीं छोड़ा। बल्कि, उसने प्रतिज्ञा की कि हम दोनों वसु राजाकी सभामें जाकर अपने-अपने पक्षको स्थापित करें, यदि मैं उसमें पराजित हूँगा तो अपनी जिह्वाको काट डालूँगा। तत्पश्चात् पर्वतने जाकर यह समाचार मातासे कहा। उसे सुनकर स्वस्तिमतीको बहुत सन्ताप हुआ। उसने पुत्रकी निन्दा करते हुए उससे कहा कि तेरा कहना असत्य और नारदका कहना सत्य है। तेरे पिता जो अज शब्दका अर्थ करते थे वही अर्थ नारद कहता है। यह कहकर वह पुत्रमोहसे रात्रिमें वसुराजाके घर गयी। वसुने यथायोग्य आदर करते हुए उससे आनेका कारण पूछा। उत्तरमें उसने प्रकृत घटनाको सुनाकर उससे पूर्वमें धरोहरके रूपमें रखी हुई गुरुदक्षिणाकी याचना करते हुए कहा कि हे पुत्र! तू यद्यपि सत्य व असत्य वस्तुस्वरूपको जानता है, फिर भी तुझे नारदके पक्षको दूषित ठहराकर पर्वतके पक्षको स्थापित करना चाहिए। वसुने इसे स्वीकार कर लिया। तदनुसार नियत समयपर उसकी सभामें सब लोगोंके समक्ष पर्वत और नारदके बीच उसपर विवाद हुआ। अन्तमें विद्वानोंने नारदके पक्षकी प्रशंसा करते हुए वसु राजासे प्रार्थना की कि आप भी इन दोनोंके साथ एक ही गुरुके पासमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

572) न्यञ्चन्मस्तकमौलिरत्नविकटज्योतिश्छटाडम्बरै-
र्देवाः पल्लवयन्ति यच्चरणयोः पीठं[2] लुठन्तो ऽप्यमी ।
कुर्वन्ति ग्रहलोकपालखचरा यत्प्रातिहार्यं नृणां
शाम्यन्ति ज्वलनादयश्च यदिदं[3] तत्सत्यवाचः फलम् ॥४२

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्यश्रीशुभचन्द्र-
विरचिते सत्यव्रतप्रकरणम् ॥९॥

---

572) न्यञ्चन्मस्तक—अमी ग्रहलोकपालखचराः देवाः। नृणां मनुष्याणां प्रातिहार्यं कुर्वन्ति। किं कुर्वन्तः। यच्चरणयोः पीठे* लुठन्तो ऽपि। *चञ्चन्मस्तकमौलिरत्नविकटद्योतिच्छटाडम्बरैः चञ्चलमस्तकमुकुटरत्नविस्तारिकान्तिच्छटाडम्बरैः पल्लवयन्ति नवपल्लवयुक्तं करोति। च पुनः। ज्वलनादयो ऽग्निप्रमुखाः शाम्यन्ति। यत् यस्मात् तदिदं सत्यवाचः फलम्। इति सूत्रार्थः ॥४२॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्य-विरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा तत्पुत्र साहटोडर तत्कुलकमलदिवाकर साहऋषिदास-स्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन मिथ्यावादप्रकरणं समाप्तम् ॥९॥

समजनिष्ट पुरा किल पूर्वजः सुकृतभावितमानसपार्श्वकः। तदिकपुत्रवरो गुणटोडरः जयतु तत्र न ऋषिदासकः ॥१॥ इत्याशीर्वादः। अथ सत्यव्रतानन्तरं यथोद्देशन्यायेन तृतीयव्रतमाह।

पढ़े हैं, इसलिए आप उस विषयमें जो गुरुका अभिप्राय रहा हो उसे आगमके अनुसार बतलाइए। तब वसुने मूढ सत्यमें विमूढ होकर गुरुके वाक्यका स्मरण करते हुए भी यह कहा कि नारदने युक्तियुक्त उपन्यास किया है, परन्तु पर्वतने जो गुरुका कहना था उसे ही कहा है। यह कहते ही वसु राजाका वह स्फटिक मणिमय सिंहासन पृथिवीके भीतर धँस गया और वसु राजा मरकर इस असत्य भाषणजनित पापके प्रभावसे सातवीं पृथिवीमें स्थित महारौरव नामक नारकबिलमें नारकी उत्पन्न हुआ ॥४१॥ देखिए हरिवंशपुराण १७,३९-१५२।

वे देव जो चरणोंमें लोटते हुए उनके (सत्यभाषी जनके) पादपीठको नीचे झुके हुए मस्तकपर स्थित मुकुटके रत्नोंकी प्रभाके समूहके आरम्भसे पल्लवित (अंकुरित या विस्तृत) करते हैं; ग्रह, लोकपाल एवं विद्याधर जो मनुष्योंके द्वारपालका काम करते हैं, तथा अग्नि आदि जो शान्त हो जाती हैं; यह सब उस सत्य वचनका ही फल है ॥४२॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
सत्यव्रतप्रकरण समाप्त हुआ ॥९॥

---

१. All others except P M N चञ्चन्मस्तक। २. All others except P M N J पीठे। ३. All others except P M N L J °दयश्च नियतं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

X

[चौर्यपरिहारः]

573) अनासाद्य व्रतं नाम तृतीयं गुणभूषणम् ।
नापवर्गपथि प्रायः क्वचिद्धत्ते मुनिः स्थितिम् ॥१

574) यः समीप्सति जन्माब्धेः पारमाक्रमितुं सुधीः ।
स त्रिशुद्ध्यातिनिःशङ्को नादत्ते कुरुते मतिम्[1] ॥२

575) वित्तमेव मतं सूत्रे प्राणा बाह्याः शरीरिणाम् ।
तस्यापहारमात्रेण स्युस्ते प्रागेव घातिताः ॥३

573) अनासाद्य व्रतं—नाम संबोधने । तृतीयं व्रतम् अनासाद्याप्राप्य नापवर्गपथि मोक्षमार्गे प्रायो बाहुल्येन मुनिः स्थितिं क्वचिन्न धत्ते । कीदृशं तृतीयं व्रतम् । गुणभूषणं ज्ञानादिगुण युक्तमिति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ संसाराब्धेः पारमिच्छता नादत्तं ग्रहीतव्यमित्याह ।

574) यः समीप्सति—सुधीः पुमान् जन्माब्धेर्भवसमुद्रस्य पारमाक्रमितुं प्राप्तुं समीप्सति वाञ्छति, स त्रिशुद्ध्या मनोवाक्कायशुद्ध्या अदत्ते अदत्तादाने मतिं न कुरुते । कीदृशः । अतिनिःशङ्कः शङ्कारहितः । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ द्रव्यस्य बाह्यप्राणत्वमाह ।

575) वित्तमेव मतं—सूत्रे शरीरिणां वित्तमेव बाह्याः प्राणाः मतम् । तस्य वित्तस्यापहारमात्रेण ते शरीरिणः प्रागेव पूर्वमेव घातिता हताः स्युर्भवेयुरिति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ चौर्यफलमाह ।

मुनि जब तक तीसरे अचौर्यमहाव्रतको नहीं प्राप्त कर लेता है तब तक वह प्रायः मोक्षमार्गमें स्थितिको नहीं धारण करता है। तात्पर्य यह कि मोक्षमार्गमें स्थिरताकी प्राप्तिके लिए अचौर्यमहाव्रतका पालन आवश्यक है ॥१॥

जो बुद्धिमान् संसाररूप समुद्रसे पार होनेकी इच्छा करता है वह अतिशय निःशंक होकर मन, वचन एवं कायकी शुद्धिपूर्वक अदत्तके ग्रहणमें—चौर्यकर्ममें—बुद्धिको नहीं करता है ॥२॥

आगममें प्राणियोंका बाह्य प्राण धन ही माना गया है। इसीलिए धनका हरण करने मात्रसे प्राणीके वे बाह्य प्राण पहले ही नष्ट हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि मनुष्य धनको प्राणोंसे भी बढ़कर मानते हैं। इसलिए धनके चुराये जानेपर मनुष्यको भारी कष्ट होता है।

१. F numbers verses २, ३, ४, as ४, २, ३ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

576) [1]गुणा गौणत्व[2]मायान्ति यान्ति विद्या विडम्बनाम् ।
चौर्येणाकीर्तयः पुंसां शिरस्या[3]दधते पदम् ॥४

577) पुण्यानुष्ठानजातानि प्रणश्यन्तीह देहिनाम् ।
परवित्तामिषग्रासलालसानां धरातले ॥५

578) परद्रव्यग्रहार्तस्य [4]तस्करस्यातिनिर्दया[5] ।
गुरुं[6] बन्धुं सुतान् हन्तुं प्रायः प्रज्ञा प्रवर्तते[7] ॥६

576) गुणा गौणत्वम्—विद्याः सम्यग्ज्ञानोपदेशकानि शास्त्राणि परवित्तगर्हितैर्विडम्बिनस्तेषां यान्ति गुणा गौणत्वं गुणहीनत्वम् आयान्ति प्राप्नुवन्ति। पुंसां पुरुषाणाम्। शिरसि अपकीर्तयः पदं स्थानं दधते। केन। चौर्येण। इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ चौर्ये सुकृतमाह।

577) पुण्यानुष्ठान—इह धरातले संसारे देहिनां शरीरिणां पुण्यानुष्ठानजातानि सुकृतकर्मसमूहाः प्रणश्यन्ति नाशं यान्ति। कीदृशानां देहिनाम्। परवित्तामिषग्रासलालसानाम् अन्यद्रव्यमांसकवलभक्षणलुब्धानाम्। इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ चौरस्य निर्दयत्वमाह।

578) परद्रव्य—*इह संसारे तस्करस्य चौरस्य गुरुबन्धुसुतान् हन्तुं मारयितुं प्रायो बाहुल्येन प्रज्ञा बुद्धिर्वर्तते। कीदृशस्य। परद्रव्यग्रहार्तस्य परवित्तग्रहणपीडितस्य। कीदृशी प्रज्ञा। निर्दया दयारहितेत्यर्थः ॥६॥ अथ चौरस्य स्वरूपमाह।

यहाँ तक कि कितने ही मनुष्य तो धनके नष्ट हो जानेपर अतिशय सन्तप्त होकर प्राणोंको भी दे देते हैं। इस प्रकार वह चौर्यकर्म महती हिंसाका कारण है ॥३॥

चौर्यकर्मसे उत्तमोत्तम गुण गौण हो जाते हैं—उनका कोई भी कीर्तन नहीं करता है, विद्याएँ तिरस्कार अथवा उपहासको प्राप्त होती हैं, तथा उससे मनुष्योंकी अपकीर्ति सिरपर पैरको धारण करती है। तात्पर्य यह कि चोरीसे उत्तम गुण तो सब लुप्त हो जाते हैं और मनुष्यकी अकीर्ति सब ओर फैल जाती है ॥४॥

संसारमें दूसरेके धनरूप मांसके ग्रासकी इच्छा करनेवाले प्राणियोंके सभी पवित्र अनुष्ठानोंका समूह नष्ट हो जाता है—चोरीके कारण मनुष्योंके सब सदाचरण व्यर्थ हो जाते हैं ॥५॥

जो चोर दूसरेके धनके ग्रहणमें व्याकुल रहता है उसकी अत्यन्त दुष्टबुद्धि प्रायः करके गुरु, हितैषी, मित्र आदि और पुत्रोंके भी घातमें प्रवृत्त होती है ॥६॥

१. Ms. C ends here। २. F गुणत्वमायान्ति। ३. J शिरसि दधते। ४. L S F V J X R तस्करस्येह, Y तस्करस्यापि। ५. J निर्दयं। ६. All others except P गुरुबन्धुसुतान्। ७. प्रजायते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

579) हृदि यस्य पदं धत्ते परवित्तामिषस्पृहा ।
करोति किं न किं तस्य कण्ठलग्नेव सर्पिणी ॥७

580) चुराशीलं विनिश्चित्य परित्यजति शङ्किता ।
वित्तापहारदोषेण जनन्यपि सुतं निजम् ॥८

581) भ्रातरः पितरः पुत्राः स्वकुल्या मित्रबान्धवाः ।
संसर्गमपि नेच्छन्ति क्षणार्धमपि[1] तस्करैः ॥९

582) न जने न वने चेतः स्वस्थं चौरस्य जायते ।
मृगस्येवोद्धतव्याधादाशङ्क्य वधमात्मनः ॥१०

579) हृदि यस्य—यस्य पुंसः हृदि पदं स्थानं परवित्तामिषस्पृहा परद्रव्यमांसस्पृहा वाञ्छा धत्ते, तस्य पुंसः कण्ठलग्ना सर्पिणीव किं किं न करोति । अपि तु सर्वं करोतीत्यर्थः ॥७॥ अथ चौरं मातापि त्यजति तदाह ।

580) चुराशीलं—जनन्यपि मातापि निजं सुतं परित्यजति । किं कृत्वा । चुराशीलं चौर्यंकरिष्णुं विनिश्चित्य निश्चयीकृत्य । कीदृशी जननी । वित्तापहारदोषेण शङ्किता भीता । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ तस्करसंसर्गी निषेधयति ।

581) भ्रातरः पितरः—इह जगति तस्करैः चौरैः सार्धं क्षणमपि एते न संसर्गमिच्छन्ति । के । भ्रातरः, पितरः, पुत्राः । सुगमम् । स्वकुल्याः निजकुलोद्भवाः मित्रबान्धवाः । पुनर्बान्धवग्रहणं मुखजल्पिता । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ चौरास्थिरत्वमाह ।

582) न जने न—चौरस्य चेतः स्वस्थं न जायते । जने लोके । न वने कानने । किं कृत्वा । आत्मनो वधं मरणमाशङ्क्य ज्ञात्वा । कस्येव । मृगस्येव । यथा उद्धतव्याधात् उग्रवधिकादात्मनो मरणमाशङ्कति तद्वदिति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ चौरस्य स्वरूपमाह ।

जिसके हृदयमें परधनरूप मांसकी इच्छाने घर कर लिया है उसके कण्ठमें लगी हुई सर्पिणीके समान वह क्या-क्या अनर्थ नहीं करती है । तात्पर्य यह कि परधनकी अभिलाषा सर्पिणीकी अपेक्षा भी अतिशय घातक है ॥७॥

अपने पुत्रको चोरी करनेका स्वभाववाला ज़ानकर माता भी चौर्यकर्मके दोषसे भय-भीत होकर उसका परित्याग कर देती है ॥८॥

भाई, पिता, पुत्र, अपने वंशज, मित्र और बान्धव (हितैषी जन) आदि चोरोंके साथ आधे क्षणके लिए संगतिकी भी इच्छा नहीं करते हैं । तात्पर्य यह कि चोरोंको सब ही घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं ॥९॥

जिस प्रकार प्रबल व्याधसे अपने मारे जानेकी आशंकासे मृगका चित्त कहींपर निराकुल नहीं रहता है उसी प्रकार चोरका चित्त भी न जनसमुदायमें निराकुल रहता है

1. All others except P M N क्षणार्धमिह ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

583) संत्रासोद्भ्रान्तचेतस्कश्चौरो जागर्त्यहर्निशम् ।
वध्येयात्र[1] ध्रियेयात्र मार्येयात्रेति[2] शङ्कितः ॥११

584) नात्मरक्षा[3] न दाक्षिण्यं नोपकारो[3] न धर्मता[3] ।
न सतां शंसितं कर्म चौरः स्वप्ने ऽपि बुध्यते[4] ॥१२

585) तृणाङ्कुरमिवादाय[5] घातयन्त्यविलम्बितम्[6] ।
चौरं विज्ञाय निःशङ्का[7] धीमन्तो ऽपि धरातले ॥१३

586) गुरवो लाघवं नीता गुणिनो ऽप्यत्र खण्डिताः ।
चौरसंश्रयदोषेण यतयो निधनं गताः ॥१४

583) **संत्रासोद्भ्रान्त**—चौरो ऽहर्निशं दिवारात्रं जागर्ति । कीदृशः चौरः । संत्रासोद्भ्रान्तचेतस्कः भयभ्रान्तमनाः । अत्राहं वध्येय ताडनीयः । अत्राहं ध्रियेय धरणीयः । अत्र मार्येय मारणीयः । अत्रेति शङ्कितः शङ्काकुलः । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ चौरो धर्मं न किमपि वेत्ति ।

584) **नात्मरक्षा**—चौर एतत्सर्वं स्वप्ने ऽपि न बुध्यते जानाति । किं तत् । नात्मरक्षा निजरक्षणं, न दाक्षिण्यं, नोपकारः, न धर्मता, न सतां सत्पुरुषाणां शंसितं वाञ्छितं कर्म । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ तेषां वध्यतामाह ।

585) **तृणाङ्कुरम्**—धीमन्तो बुद्धिमन्तः चौरं विज्ञाय ज्ञात्वा अविलम्बितं घातयन्त्येव धरातले पृथ्वीतले । कीदृशा धीमन्तः । निःशङ्काः । किं कृत्वा । तृणाङ्कुरमिवादाय गृहीत्वा । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ तत्संसर्गफलमाह ।

586) **गुरवो लाघवं**—चौरसंश्रयदोषेण चौरसंसर्गवशात् गुरवो ऽपि पूज्या अपि लाघवं

और न वनमें (एकान्तमें) भी निराकुल रहता है । तात्पर्य यह कि चाहे गृहस्थ हो और चाहे साधु हो, जिसके हृदयमें परधनकी अभिलाषा है वह सदा और सर्वत्र व्याकुल ही रहता है ॥१०॥

चित्तमें भयसे व्याकुल रहनेवाला चोर यहाँ पीड़ित किये जाने, पकड़े जाने और मारे जानेकी आशंकासे भयभीत होकर दिन-रात जागता है—वह सदा ही व्याकुल रहता है ॥११॥

चोर स्वप्नमें भी न अपनी रक्षाको जानता है, न सरलताको जानता है, न उपकारको जानता है, न धर्मके स्वरूपको जानता है, और न सत्पुरुषोंके प्रशंसित कर्म (क्रिया) को भी जानता है ॥१२॥

इस पृथिवीतलपर चोरको जानकर बुद्धिमान् मनुष्य भी उसे तृणके अंकुरके समान

१. M बुध्येयात्र । २. J मार्गेयात्रेति । ३. All others except P J रक्षां....नोपकारं....धर्मतां । ४. All others except P बुध्यति । ५. S V R interchanges १३-१४, X Y om: । ६. L S घातयत्यवि° । ७. L S T F V R निःशङ्कं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

587) विशन्ति नरकं घोरं दुःखज्वालाकरालितं[1] ।
अमुत्र[2] नियतं[3] मूढंप्राणिनश्चौर्यचर्विताः[5] ॥१५

588) सरित्पुरगिरिग्रामवनवेश्मजलादिषु ।
स्थापितं पतितं[6] नष्टं परस्वं त्यज सर्वथा ॥१६

589) चिदचिद्रूपतापन्नं यत्परस्वमनेकधा ।
तत्त्याज्यं संयमोद्दामसीमँसंरक्षणोद्यतैः[8] ॥१७

नीता लघुत्वं प्राप्ताः। गुणिनो ऽपि पण्डिता अपि खण्डिताः कृताः। यतयो ऽपि जितेन्द्रिया अपि निधनं विनाशं गताः। इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ तेषां नरकफलमाह।

587) **विशन्ति**—अमुत्र परलोके घोरं नरकं विशन्ति प्रविशन्ति मूढाः। कीदृशं नरकम्। दुःखज्वालाकरालितं दुःखाग्निशिखापीडितम्। नियतं निश्चितम्। प्राणिनः मूढाः। पुनः। चौर्यचर्चिताः* चौर्यासक्ताः। इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथान्येषामनुशासति।

588) **सरित्पुरगिरि**—रे भव्य, परस्वं परद्रव्यं सर्वथा त्यज। कीदृशं परस्वम्। सरित्पुरगिरिग्रामवनवेश्मजलादिषु स्थापितम्। तत्र सरित् नदी। पुरादिकं प्रसिद्धम्। गिरयः पर्वताः, ग्रामाः जनवास्तव्याः, वनं प्रसिद्धं, वेश्म शून्यं गृहं, जलादिषु तडागादिषु ॥१६॥

589) **चिदचिद्रूपता**—यत् परस्वम् अनेकधा परद्रव्यं तत् त्याज्यं हेयम्। कैः। संयमोद्दामसीमासंरक्षणोद्यतैः चारित्रोत्तममर्यादासंरक्षणपरैः। कीदृशं परस्वम्। चिद्रूपतापन्नं चेटिकादि, अचिद्रूपतापन्नं सर्वद्रव्यमिति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ सर्वथा अदत्तं निषेधयति।

—तुच्छ घासके तिनकेके समान—ग्रहण करते हैं और निःशंक होकर शीघ्र ही घात कर डालते हैं ॥१३॥

चोरकी संगतिसे उत्पन्न दोषके कारण यहाँ महापुरुष लघुताको प्राप्त हुए हैं, गुणीजन अपमानित हुए हैं, और मुनिजन मरणको प्राप्त हुए हैं ॥१४॥

चौर्यकर्मसे चबाये गये—उसमें संलग्न रहनेवाले—मूर्ख प्राणी नियमसे परलोकमें दुःखोंकी ज्वालाओंसे विकराल भयानक नरकके भीतर प्रविष्ट होते हैं ॥१५॥

हे भव्य ! नदी, नगर, पर्वत, ग्राम, वन, घर और जल आदिमें रखे गये, गिरे हुए अथवा नष्ट हुए दूसरेके धनका सर्वथा परित्याग कर—उसकी किसी भी अवस्थामें तू इच्छा न कर ॥१६॥

जो संयमकी प्रचण्ड सीमा—दृढ प्रतिज्ञा—के संरक्षणमें प्रयत्नशील हैं उन्हें, जो परधन चेतन (स्त्री, पुत्र, दास-दासी व पशु-पक्षी आदि) और अचेतन (सोना, चाँदी एवं वस्त्र-बर्तन आदि) के रूपमें अनेक प्रकार का है उसका परित्याग करना चाहिए ॥१७॥

१. J करालिताः। २. P अमुत्र = भवान्तरे। ३. T नयनं मूढं॰। ४. All others except P M N T मूढाः प्राणिनं॰। ५. M N L T F V J चर्चिताः। ६. J तत्र तन्नष्टं। ७. All others except P सीमासंरक्षणो॰। ८. R ॰क्षणोद्यमैः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

590) आस्तां परधनादित्सां[1] कर्तुं स्वप्ने ऽपि धीमताम् ।
तृणमात्रमपि ग्राह्यं नादत्तं दन्तशुद्धये ॥१८

591) अतुलसुखसिद्धिहेतोर्धर्मयशश्चरणरक्षणार्थं च ।
इह परलोकहितार्थं च कुरु स्वप्ने ऽपि[2] मा चौर्यम् ॥१९

592) विषयविरतिमूलं संयमोत्तुङ्गशाखं[3]
यमदलशमपुष्पं ज्ञानलीलाफलाढ्यम् ।
विबुधजनशकुन्तैः सेवितं धर्मवृक्षं
दहति मुनिरपीह स्तेयतीव्रानलेन ॥२०

---

590) आस्तां पर—धीमतां बुद्धिमतां स्वप्ने ऽपि तृणमात्रमप्यदत्तं न ग्राह्यं दन्तशुद्धये । परधनादित्सां परद्रव्यग्रहणेच्छां कर्तुं दूरे आस्ताम् । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ इहलोके परलोके च चौर्यं निषेधयति । आर्या ।

591) अतुलसुख—इह परलोकहितार्थं चित्ते चौर्यमाकलयतः । पुनः किमर्थम् । अतुलसुखसिद्धिहेतोर्बहुसुखसिद्धिनिमित्ताय । च पुनः । धर्मयशश्चरणरक्षणार्थं, चरणं चारित्रं, शेषं सुगमं तदर्थम् । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ तमुपसंहरति । मालिनी छन्दः ।

592) विषयविरति—इह जगति मुनिरपि स्तेयतीव्रानलेन चौर्यतीव्राग्निना धर्मवृक्षं दहति । कीदृशं धर्मवृक्षम् । विषयविरतिमूलम् इन्द्रियव्यापारप्रत्याख्यामूलम् । पुनः कीदृशम् । संयमोद्दा*-मशाखं चारित्रोत्कटशाखम् । यमा एव शम एव पुष्पाणि, यमदलानि च शमपुष्पाणि च यमदलशमपुष्पम् । पुनः कीदृशम् । ज्ञानलीलाफलाढ्यं ज्ञानक्रीडाफलपूर्णम् । पुनः कीदृशम् । विबुधजनशकुन्तैः शकुन्ताः पक्षिणः तैः सेवितमित्यर्थः ॥२०॥

बुद्धिमान् पुरुषोंके परधन ग्रहण करनेकी इच्छा तो स्वप्नमें भी दूर रहे, उन्हें तो दाँतोंकी शुद्धिके लिए—उन्हें स्वच्छ करनेके लिए—बिना दिये हुए तृणमात्र (दातौन) को नहीं ग्रहण करना चाहिए ॥१८॥

अनुपम सुखकी सिद्धिके लिए; धर्म, यश और चारित्रकी रक्षाके लिए, तथा इस लोक और परलोकसम्बन्धी हितके लिए चोरीको चित्तमें भी नहीं करो—मनसे चोरीका विचार भी न करो ॥१९॥

जो धर्मरूपी वृक्ष विषयविरतिरूप जड़से स्थिर, संयमरूप ऊँची शाखाओंसे विस्तृत, महाव्रतोंरूप पत्तों एवं कषायोपशमरूप पुष्पोंसे सुशोभित, ज्ञानकी लीलारूप फलोंसे संयुक्त और पण्डितजनरूप पक्षियोंसे सेवित है; उसे मुनि भी यहाँ चोरीरूप तीव्र अग्निके द्वारा जला डालता है ॥२०॥

---

१. M N दित्सा, P = ग्रहणेच्छां । २. All others except P चित्तेऽपि । ३. L S F V J R °मोद्दामशाखं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्रीशुभचन्द्र-विरचिते चौर्यपरिहार[1]प्रकरणम् ॥१०॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा तत्पुत्रसाहटोडर तत्कुलकमलदिवाकर साहऋषिदासस्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन कारापिते चौर्यनिषेधप्रकरणं समाप्तम् ॥१०॥

साहश्रीपार्श्वराजः समजनि पुरा धर्मविख्यातकीर्तिस्तत्पुत्रष्टोडराख्यः सकलगुणभून्माननीयः स्वभूपैः। राजत्सौभाग्यभाग्यः परमसुमनोरेषिदासः प्रसिद्धो ज्ञातुं तस्य तृतीयव्रतमिह सुमतेर्विश्रुतोद्दामतेजः ॥१॥ इत्याशीर्वादः। अथ यथाक्रमन्यायेन चौर्यविरत्यनन्तरं स्त्रीविषयविरतिमाह।

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें चौर्यपरिहार प्रकरण समाप्त हुआ ॥१०॥

---

१. Y चौर्यपरिहारः संपूर्णम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

XI

[कामप्रकोपः]

593) विदन्ति[1] परमं ब्रह्म यत्समालम्ब्य योगिनः ।
तद्व्रतं ब्रह्मचर्यं [2]स्याद्धीरधौरेयगोचरम् ॥१

594) सप्रपञ्चं प्रवक्ष्यामि ज्ञात्वेदं गहनं व्रतम् ।
स्वल्पो ऽपि न सतां क्लेशः कार्यो ऽस्यालोक्य[3] विस्तरम् ॥२

595) एकमेव व्रतं श्लाघ्यं ब्रह्मचर्यं जगत्त्रये ।
यद्विशुद्धिं समापन्नाः पूज्यन्ते पूजितैरपि ॥३

593) विदन्ति—तद् ब्रह्मचर्यं व्रतं स्यात् यद् ब्रह्मचर्यं समालम्ब्य आश्रित्य । परमं ब्रह्म परमं ज्ञानं विदन्ति जानन्ति योगिनः । कीदृशम् । *वीरधौरेयगोचरम् । धौरेयाः प्रधानाः तेषां गोचरम् । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ तत् सविस्तरमाह ।

594) सप्रपञ्चं—इदं गहनं तुर्यव्रतं ज्ञात्वा सप्रपञ्चं सविस्तरं प्रवक्ष्यामि । अस्य व्रतस्य विस्तरमालोक्य स्वल्पो ऽपि क्लेशः सतां सत्पुरुषाणां न कार्यः । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ तस्य माहात्म्यमाह ।

595) एकमेव—जगत्त्रये ब्रह्मचर्यमेकमेव व्रतं श्लाघ्यम् । यद्विशुद्धि समापन्ना ब्रह्मविशुद्धिमाश्रिताः पूजितैरपि पूज्यन्ते । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

जिसका आलम्बन लेकर योगीजन उत्कृष्ट आत्माको जानते हैं तथा जो वीर धुरंधरोंका विषय है—जिसके बोझको वीर धुरंधर ही धारण करते हैं—वह ब्रह्मचर्यव्रत है ॥१॥

इस व्रतको गहन जानकर मैं उसका विस्तारपूर्वक कथन करूँगा । इसके विस्तारको देखकर साधुजनोंको थोड़ा-सा भी क्लेश नहीं करना चाहिए ॥२॥

तीनों लोकोंमें वह एक ही ब्रह्मचर्यव्रत प्रशंसनीय है जिसकी विशुद्धिको प्राप्त होकर साधुजन पूजित जनोंके द्वारा भी पूजे जाते हैं ॥३॥

१. All others except P L F विन्दन्ति । २. P J स्याद्वीर । ३. M N कार्यं स्याल्लोकविस्तरं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

596) ब्रह्मव्रतमिदं जीयाच्चरणस्यैव[1] जीवितम् ।
स्युः सन्तो ऽपि गुणा येन विना क्लेशाय देहिनाम् ॥४

597) नाल्पसत्त्वैर्न निःशीलैर्न दीनैर्नाक्षनिर्जितैः[2] ।
स्वप्ने ऽपि[3] चरितुं शक्यं ब्रह्मचर्यमिदं नरैः ॥५

598) पर्यन्तविरसं विद्धि दशधान्यच्च मैथुनम् ।
योषित्संगाद्विरक्तेन[4] त्याज्यमेव मनीषिणा ॥६

599) आद्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृष्यसेवनम्[5] ।
तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात् संसर्गस्तुर्यमिष्यते[6] ॥७

596) ब्रह्मव्रतमिदं—इदं ब्रह्मव्रतं जीयात् । चरणस्यैव जीवितं चारित्रस्यैव जीवितम् । येन ब्रह्मव्रतेन विना सन्तो ऽपि गुणाः क्लेशाय देहिनां स्युरिति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ ब्रह्मचर्यव्रतस्वरूपं दर्शयति ।

597) नाल्पसत्त्वैर्न—एतादृशैर्नरैः इदं ब्रह्मचर्यं स्वप्ने ऽपि, चरितुं न शक्यम् । कीदृशैः । अल्पसत्त्वैः । न शक्यं चरितुम् इति सर्वत्र योज्यम् । न निःशीलैः आचाररहितैः । न दानैः । न अक्षिभिर्जितैः इन्द्रियैर्जितैः । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ पुनर्ब्रह्मचर्यस्वरूपमाह ।

598) पर्यन्तविरसं—च पुनः । अन्यत् मैथुनं दशधा दशप्रकारेण विद्धि जानीहि । कीदृशम् । पर्यन्तविरसम् अन्ते नीरसम् । मनीषिणा पण्डितेन योषित्संगविरक्तेन स्त्रीसंसर्गरहितेन त्याज्यमेव त्यजनीयमेवेत्यर्थः ॥६॥ अथ तस्य दशधात्वमेवाह ।

599) आद्यं शरीर—आद्यं प्रथमं शरीरसंस्कारः । द्वितीयं वृष्यसेवनम् इष्टरससेवनम् । तृतीयं तौर्यत्रिकं स्यात् । संसर्गः तुर्यं चतुर्थमिष्यते । इति सूत्रार्थः ॥७॥

जिसके बिना अन्य गुण विद्यमान होते हुए भी प्राणियोंके लिए क्लेशके कारण होते हैं वह चारित्रका प्राणभूत ब्रह्मचर्यव्रत जीता रहे ॥४॥

जो मनुष्य दुर्बल, शीलसे रहित, दीन और इन्द्रियोंके अधीन हैं वे स्वप्नमें भी इस ब्रह्मचर्यव्रतका पालन नहीं कर सकते हैं ॥५॥

इस ब्रह्मचर्यके विरुद्ध अन्य जो मैथुन है वह दस प्रकारका है और वह अन्तमें नीरस है—परिणाममें अहितकारक है, ऐसा निश्चित जानना चाहिये। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्यको स्त्रीसंभोगसे विरक्त होकर उस मैथुनका परित्याग ही करना चाहिए ॥६॥

उक्त दस प्रकारके मैथुनमें प्रथम शरीरका संस्कार (शृंगार), द्वितीय गरिष्ठ भोजन,

१. X जीयाच्चारित्रस्यैव । २. J नाक्षिभिर्जितैः । ३. N स्वल्पे ऽपि । ४. Y योषिदङ्गाद्विरक्तेन । ५. L वृष-सेवनं, F V मिष्टभोजनं । ६. L °मिष्यति,, S F V तुर्यमीक्ष्यते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

600) योषिद्विषयसंकल्पः पञ्चमं परिकीर्तितम् ।
तदङ्गवीक्षणं षष्ठं सत्कारः[1] सप्तमं[2] मतम् ॥८

601) पूर्वानुभू[3]तसंभोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम् ।
नवमं[4] भाविनी चिन्ता दशमं बस्ति[5]मोक्षणम् ॥९

602) किंपाकफलसंभोगसंनिभं तद्धि मैथुनम् ।
[6]आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाके ऽत्यन्तभीतिदम् ॥१०

603) [7]विरज्य कामभोगेषु ये ब्रह्म समुपासते ।
एते दश महादोषास्तैस्त्याज्या[8] भावशुद्धये ॥११॥ अपि च[9]-

600) योषिद्विषय—योषिद्विषयसंकल्पः स्त्रीविषयेच्छा पञ्चमं परिकीर्तितम् । तदङ्गवीक्षणं तस्याः स्त्रियः अङ्गवीक्षणं षष्ठम् । संस्कारः* सप्तमं मतम् । इति सूत्रार्थः ॥८॥

601) पूर्वानुभूत—पूर्वानुभूतसंभोगस्मरणं पूर्वभुक्तभोगस्मृतिः तदष्टमं स्यात् । नवमं भाविनी भविष्यच्चिन्ता । दशमं बस्तिमोक्षणं वीर्यमोचनमिति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ तेषां विपाकमाह ।

602) किंपाक—तन्मैथुनं हि निश्चितं किंपाकफलसंनिभं किंपाकफलसदृशं मारणात्मकत्वात् इति । पुनः कीदृशम् । आपातरम्यम् आगमनमात्रमनोहरं स्यात् । विपाके कर्मजन्यफलभोक्तव्ये अत्यन्तभीतिदं भयदमिति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथैतेषां दशदोषाणां त्याज्यत्वमाह ।

603) विरज्य—ये पुरुषा ब्रह्म समुपासते सेवन्ते । किं कृत्वा । कामभोगेषु विरज्य विरक्तीभूय । एते दश महादोषा भावशुद्धये तैः त्याज्याः । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अपि च । अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

तीसरा तौर्यत्रिक—गीतका सुनना, नृत्यका देखना और वाद्यका सुनना—चौथा स्त्रीसे सम्बन्ध स्थापित करना, पाँचवाँ स्त्रीविषयक विचार, छठा स्त्रीके अंगोंका देखना, सातवाँ स्त्रीका सत्कार करना, आठवाँ पूर्वमें अनुभव किये गये सम्भोगका स्मरण करना, नौवाँ आगेकी चिन्ता और दसवाँ वीर्यका क्षरण माना गया है ॥७-९॥

वह मैथुन किम्पाक फल (विषफल) के समान प्रारम्भमें ही—भोगते समय ही—रमणीय प्रतीत होता है । परन्तु परिपाकके समय वह अतिशय भयप्रद होता है ॥१०॥

जो सज्जन कामभोगोंसे विरक्त होकर ब्रह्म (आत्मा) की उपासना करते हैं उन्हें अपने परिणामोंको निर्मल रखनेके लिए इन दस दोषोंका परित्याग करना चाहिए ॥११॥

१. All others except P N T X संस्कारः । २. N T परमं मतम् । ३. S V R पूर्वानुभोग । ४. X नवमी । ५. F V वस्तुमोक्षणम् । ६. P Second line added on the margin. ७. P 1st line added on the margin । ८. T Y दोषास्त्याज्यास्तैः । ९. P M L F अपि च- ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

604) स्मरप्रकोपसंभूतान् स्त्रीकृतान् मैथुनोत्थितान् ।
संसर्गप्रभवान् ज्ञात्वा दोषान् स्त्रीषु विरज्यताम् ॥१२॥ तद्यथा[1]–

605) सिक्तो ऽप्यम्बुधरव्रातैः प्लावितो ऽप्यम्बुराशिभिः ।
न हि त्यजति संतापं कामवह्निप्रदीपितः ॥१३

606) मूले ज्येष्ठस्य मध्याह्ने व्यभ्रे नभसि भास्करः ।
न प्लोषति तथा लोकं यथा दीप्तः स्मरानलः ॥१४

607) हृदि ज्वलति कामाग्निः पूर्वमेव शरीरिणाम् ।
भस्मसात्कुरुते पश्चादङ्गोपाङ्गानि निर्दयः ॥१५

---

604) **स्मरप्रकोप**—भो लोकाः, स्त्रोषु विरज्यतां विरक्तीभूयताम् । किं कृत्वा । दोषान् पूर्वोक्तान् संसर्गप्रभवान् स्त्रीसंबन्धजातान् । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ तद्यथा दर्शयति ।

605) **सिक्तो ऽप्यम्बु**—कामवह्निः प्रदीपितः संतापं न हि त्यजति । कीदृशः । अम्बुधरव्रातैः मेघसमूहैः सिक्तो ऽपि । पुनः कीदृशः । अम्बुराशिभिः जलसमूहैः प्लावितो ऽपि तारितो ऽपि । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ कामस्य संतापकारित्वमाह ।

606) **मूले ज्येष्ठस्य**—भास्करः सूर्यः लोकं तथा न प्लोषति न दहति । क्व । ज्येष्ठस्य मासस्य मध्याह्ने नभसि आकाशे मूले । पुनः कीदृशे । व्यभ्रे अभ्ररहिते । यथेति दृष्टान्तोपन्यासार्थे । स्मरानलः कन्दर्पाग्निः दीप्तः सन् यथा लोकं ज्वालयति । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ तत्कार्यमाह ।

607) **हृदि ज्वलति**—कामाग्निः शरीरिणां पूर्वमेव हृदि ज्वलति । पश्चात् अङ्गोपाङ्गानि

इसके अतिरिक्त कामके प्रकोपसे उत्पन्न हुए स्त्रीके द्वारा किये गये, मैथुन क्रियासे उत्पन्न हुए, तथा संगतिके आश्रयसे होनेवाले भी दोषोंको जानकर स्त्रियोंके विषयमें विरक्त होना चाहिए ॥१२॥

वे दोष इस प्रकार हैं—जो प्राणी कामरूप अग्निसे सन्तप्त होता है वह मेघसमूहोंके द्वारा अभिषिक्त होकर भी सन्तापको नहीं छोड़ता है तथा समुद्रमें डुबोया जानेपर भी वह उस सन्तापको नहीं छोड़ता है ॥१३॥

ज्येष्ठ मासके प्रारम्भमें मध्याह्न (दोपहर) के समय मेघोंसे रहित आकाशमें स्थित सूर्य प्राणियोंको वैसा सन्तप्त नहीं करता है जैसी कि उद्दीप्त हुई (भड़की हुई) कामरूप अग्नि उन्हें सन्तप्त करती है। तात्पर्य यह कि कामका सन्ताप सूर्यके सन्तापसे भी भयानक होता है ॥१४॥

कामरूप अग्नि निश्चयसे प्राणियोंके हृदयमें जलती है। परन्तु वह पीछे निर्दयतापूर्वक

---

१. P M L F तद्यथा— ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

608) अचिन्त्यकामभोगीन्द्रविषव्यापारमूर्छितम्[1] ।
वीक्ष्य विश्वं विवेकाय यतन्ते योगिनः परम् ॥१६

609) स्मरव्यालविषो[2]द्गारैर्वीक्ष्य विश्वं कदर्थितम् ।
यमिनः शरणं जग्मुर्विवेकविनतासुतम्[3] ॥१७

भस्मसात् सर्वं भस्म कुरुते । कीदृशः । निर्दयः ॥१५॥ अथ योगिनः कामं व्याप्तं लोके दृष्ट्वा यत् कुर्वंते तदाह ।

608) अचिन्त्यकाम—योगिनः परं केवलं विवेकाय यतन्ते यत्नं कुर्वंते । किं कृत्वा । विश्वं जगत् वीक्ष्य दृष्ट्वा । कीदृशं विश्वम् । अचिन्त्यकामभोगीन्द्रविषव्यापारमूर्छितम् अचिन्तनीयकन्दर्पनागेन्द्रगरलक्रियामोहितमिति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ जगत् कामार्तं विवेकमुपगच्छतीत्याह ।

609) स्मरव्याल—यमिनो व्रतिनः विवेकविनतासुतं विवेकगरुडं शरणं जग्मुः । किं कृत्वा । विश्वं कदर्थितं पीडितं वीक्ष्य । कैः । स्मरव्यालविषोद्गारैः कन्दर्पविषोद्गारैरिति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ कन्दर्पमाहात्म्यमाह ।

उनके अंग और उपांगोंको जला डालती है। अभिप्राय यह है कि हृदयमें कामवासनाके उत्पन्न होनेपर प्राणियोंका सारा ही शरीर पीड़ित होता है ॥१५॥

योगीजन लोकको अचिन्तनीय कामरूप महान् सर्पके विषके प्रयोगसे मूर्छित देखकर केवल विवेकके लिए—स्व-परभेदविज्ञानके लिए—ही प्रयत्न करते हैं। विशेषार्थ—प्राणीके हृदयमें जब तक स्व-परविवेक नहीं होता है तभी तक वह विषयभोगोंमें रत रहता है। परन्तु जैसे ही उसे वह विवेक प्राप्त होता है वैसे ही वह स्त्री आदिको पर व हेय जानकर उनकी ओर से विरक्त होता हुआ संयम व तपमें उद्युक्त हो जाता है। कहा भी है—
ज्ञानिसंग-तपोध्यानैरप्यसाध्यो रिपुः स्मरः । देहात्मभेदज्ञानोत्थवैराग्येणैव साध्यते ॥
अर्थात् कामदेवरूप शत्रु ज्ञानियोंकी संगति, तप और ध्यानसे भी नहीं जीता जाता है। वह तो केवल शरीर और आत्माके भेदज्ञानसे उत्पन्न हुए वैराग्यके ही प्रभावसे जीता जाता है। [सा० ध० ६, ३२] ॥१६॥

संयमीजन लोकको कामदेवरूप सर्पके विषके उगाल (वमन) से पीड़ित देखकर विवेकरूप गरुड पक्षीकी शरणमें प्राप्त हुए हैं। विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार गरुड पक्षीका आश्रय लेनेसे सर्पका विष नष्ट हो जाता है उसी प्रकार विवेकका आश्रय लेनेसे उस विषके समान भयानक वह कामदेव भी नष्ट हो जाता है। यही कारण है जो साधुजन कामको वशमें करनेके लिए उसी स्व-परविवेकका आश्रय लिया करते हैं ॥१७॥

---

१. J मूर्च्छितः । २. Y व्यालमुखोद्गारैः । ३. P = गरुडं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

610) एक एव स्मरो वीरः स चैको ऽचिन्त्यविक्रमः ।
अवज्ञयैव येनेदं पादपीठीकृतं जगत् ॥१८

611) एकाक्यपि जयत्येष[1] जीवलोकं चराचरम् ।
मनोभूर्भङ्गमानीय स्वशक्त्याव्याहतक्रमः ॥१९

612) पीडयत्येव निःशङ्को मनोभूर्भुवनत्रयम् ।
प्रतीकारशतेनापि यस्य भङ्गो न भूतले ॥२०

613) कालकूटादहं मन्ये स्मरसंज्ञं महाविषम् ।
स्यात्पूर्वं सप्रतीकारं निःप्रतीकारमुत्तरम् ॥२१

---

610) एक एव—स्मरः कन्दर्पः एक एव वीरः सुभटः एक एव अचिन्त्यविक्रमः अचिन्त्यपराक्रमः । येन कामेन इदं जगत् अवज्ञया इव खेदेन विना पादपीठीकृतम् अधस्तात् कृतम् । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

611) एकाक्यपि—एष कन्दर्पो जयति एकाक्यपि । कम् । जीवलोकं चराचरं त्रसस्थावरम् । मनोभूः कामः । भङ्गम् आनीय पराजयं कृत्वा । स्वशक्त्या स्वबलेन व्याहतक्रमः सर्वतश्चारी इत्यर्थः ॥१९॥ अथ कामस्य अजेयत्वमाह ।

612) पीडयत्येव—मनोभूः कामः भुवनत्रयं जगत्त्रयं पीडयत्येव । कीदृशः । निःशङ्कः । यस्य कामस्य प्रतीकारशतेनापि उपायशतेनापि भूतले भङ्गो न भवतीति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ तस्य दुःप्रतीकारत्वमाह ।

613) कालकूटादहं—अहमेवं मन्ये । कालकूटात् स्मरसंज्ञं कन्दर्पनाम महाविषं स्यात् । पूर्वं सप्रतीकारं उपायसाध्यमित्यर्थः । उत्तरं कन्दर्पविषं निःप्रतीकारम् उपायरहितमित्यर्थः ॥२१॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

चूँकि कामदेवने इस लोकको तिरस्कारपूर्वक अपना पादपीठ बना लिया है—उसे पैरोंसे कुचल डाला है, अतएव निश्चित है कि लोकमें एक वही वीर है और वही एक अचिन्त्य पराक्रमका भी धारक है ॥१८॥

निर्बाध पराक्रमका धारक वह कामदेव त्रस व स्थावर प्राणियोंसे परिपूर्ण जीवलोकको अपनी शक्तिके प्रभावसे अकेला ही खण्डित करके जीतता है ॥१९॥

वह कामदेव निर्भय होकर तीनों ही लोकोंको पीड़ित करता है। यदि उसका सैकड़ों प्रकारसे भी प्रतीकार किया जाय तो भी इस पृथिवीके ऊपर वह किसीके द्वारा भी नहीं रोका जा सकता है ॥२०॥

कामदेवनामक महाविष कालकूट विषकी अपेक्षा अतिशय भयानक है, ऐसा मैं मानता हूँ। कारण यह कि कालकूट विषका तो प्रतीकार (उपाय) है, किन्तु उस कामदेव नामक महाविषका कोई प्रतीकार नहीं है ॥२१॥

---

१. S V J X R नयत्येष ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

614) जन्तुजातमिदं मन्ये स्मरवह्निप्रदीपितम् ।
मज्जत्यगाधमध्यास्य पुरन्ध्रीकायकर्दमम्[1] ॥२२

615) अनन्तव्यसनासारदुर्गे भवमरुस्थले ।
स्मरज्वरपिपासार्ता विपद्यन्ते शरीरिणः ॥२३

616) घृणास्पदमतिक्रूरं पापाढ्यं योगिदूषितम् ।
जनो ऽयं कुरुते कर्म स्मरशार्दूलचर्वितः ॥२४

617) दिङ्मूढमथ[2] विभ्रान्तमुन्मत्तं शङ्किताशयम् ।
विलक्षं[3] कुरुते लोकं स्मरवैरी विजृम्भितः ॥२५

614) जन्तुजातम्—अहम एवं मन्ये । इदं जन्तुजातं प्राणिसमूहः अगाधं पुरन्ध्रीकायपङ्कम् अध्यास्य आश्रयित्वा मज्जति निमज्जति । कीदृशम् । स्मरवह्निप्रदीपितं कन्दर्पाग्निज्वलितम् इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ शरीरिणां संसारभ्रमणमाह ।

615) अनन्त—[शरीरिणः विपद्यन्ते म्रियन्ते । कीदृशाः । स्मरज्वरेण या पिपासा तृषा तया आर्ताः पीडिताः सन्तः । क्व । भवः संसारः एव मरुस्थलं निर्जलप्रदेशः तत्र । पुनः कीदृशं तत् स्थलम् । अनन्तानि यानि व्यसनानि दुःखानि तेषाम् आसारेण वृष्टया दुर्गं गन्तुं कठिनम् इत्यर्थः ॥२३॥ स्मरार्तस्य चेष्टितमाह ।

616) घृणास्पदम्—स्मर एव शार्दूलः व्याघ्रः तेन चर्वितः ग्रसितः अयं जनः घृणास्पदं निन्दितम् । अतिक्रूरम् अतिनिष्ठुरं पापपूर्णं योगिभिः दूषितं कर्म कुरुते । इत्यर्थः ॥२४॥ स्मरवैरिणः चेष्टितमाह ।

617) दिङ्मूढं—विजृम्भितः प्रवृद्धः स्मरः एव शत्रुः लोकं दिङ्मूढं दिग्ज्ञानरहितं, शङ्किताशयं संशययुक्तान्तःकरणं तथा विलक्षं लज्जितं करोति ॥२५॥] अथ शरीरिणां संसारभ्रमणम् आह ।

यह प्राणिसमूह कामदेवरूप अग्निसे सन्तप्त होकर स्त्रीके शरीररूप अथाह कीचड़का आश्रय लेता हुआ उसके भीतर डूब जाता है ऐसा मैं समझता हूँ ॥२२॥

अनन्त दुखरूप सैन्यकी व्याप्तिसे दुर्गम (अथवा अनन्त दुखसे परिपूर्ण होकर वर्षाकी दुर्लभतासे सहित) ऐसे संसाररूप मरुस्थलके भीतर कामज्वररूप प्याससे पीड़ित प्राणी खेदको प्राप्त होते हैं ॥२३॥

यह प्राणी कामदेवरूप सिंहका ग्रास बनकर जिस घृणित व अतिशय क्रूरतापूर्ण कृत्यको करता है वह पापसे परिपूर्ण होनेके कारण योगीजनोंके द्वारा निन्दित है ॥२४॥

कामदेवरूप शत्रुका विकास लोकको दिग्मूढ—दिशाज्ञानसे रहित, भ्रान्तिसे संयुक्त, उन्मत्त—सुध-बुधसे रहित, शंकित चित्तवाला और आश्चर्यचकित करता है ॥२५॥

१. L S कायकर्दमे । २. M N दिग्मूढमतिविभ्रान्तं । ३. All others except P M विलक्ष्यं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

618) न हि क्षणमपि स्वस्थं चेतः स्वप्ने ऽपि जायते ।
मनोभवशरव्रातैर्भिद्यमानं शरीरिणाम् ॥२६

619) जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ।
लोकः कामानलज्वालाकलापकवलीकृतः ॥२७

620) भोगिदष्टस्य जायन्ते वेगाः सप्तैव देहिनः ।
स्मरभोगीन्द्रदष्टानां दश स्युस्ते महाभयाः[1] ॥२८॥ तद्यथा[2]-

621) प्रथमे जायते चिन्ता द्वितीये द्रष्टुमिच्छति ।
[3]स्युस्तृतीये ऽतिनिश्वासाश्चतुर्थे भजते ज्वरम् ॥२९

622) पञ्चमे दह्यते गात्रं षष्ठे भक्तं[4] न रोचते ।
सप्तमे स्यान्महामूर्च्छा उन्मत्तत्वमथाष्टमे ॥३०

618) न हि क्षणमपि—शरीरिणां चेतः क्षणमपि । हि निश्चितम् । स्वप्ने ऽपि स्वस्थं न जायते । कीदृशं चेतः । मनोभवशरव्रातैः कन्दर्पशरसमूहैः भिद्यमानम् । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ कामव्याप्तलोकस्य विवेकाभावमाह ।

619) जानन्नपि—लोकः जानन्नपि न जानाति । पश्यन्नपि न पश्यति । कीदृशः लोकः । कामानलज्वालाकलापकवलीकृतः कन्दर्पाग्निज्वालासमूहग्रासीकृतः । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ पुनः कामतो ऽपायमाह ।

620) भोगिदष्टस्य—देहिनः भोगिदष्टस्य सर्पदष्टस्य सप्तैव वेगा जायन्ते । स्मरभोगीन्द्रदष्टानां कन्दर्पसर्पेन्द्रदष्टानां दंशा महाभयाः स्युरिति सूत्रार्थः ॥२८॥ तद्यथा ।

कामदेवके बाणसमूहोंसे बेधा जानेवाला प्राणियोंका मन स्वप्नमें भी क्षणभरके लिए स्वस्थ नहीं रहता है—वह सदा ही व्याकुल रहता है ॥२६॥

कामरूप अग्निकी ज्वालाओंके समूहसे ग्रसित लोक वस्तुस्वरूपको जानता हुआ भी नहीं जानता है तथा देखता हुआ भी नहीं देखता है । तात्पर्य यह कि कामसे पीड़ित मनुष्य की विवेकबुद्धि नष्ट हो जाती है ॥२७॥

सर्पके द्वारा डसे गये प्राणीके सात ही वेग उत्पन्न होते हैं । किन्तु कामदेवरूप सर्पराजके द्वारा डसे गये—उसके वशीभूत हुए—प्राणियोंके महान् भयको उत्पन्न करनेवाले वे वेग दस हुआ करते हैं ॥२८॥

वे दस वेग इस प्रकार हैं—पहले वेगमें चिन्ता उत्पन्न होती है—स्त्रीके विषयमें विचार उदित होता है, दूसरे वेगमें उसके देखनेकी इच्छा करता है, तीसरे वेगमें अतिशय श्वासोच्छ्वास होते हैं—वह दीर्घ श्वासोंको छोड़ता है, चौथे वेगमें ज्वरका अनुभव करता है, पाँचवें वेगमें शरीरमें दाह उत्पन्न होती है, छठे वेगमें भोजन नहीं रुचता है, सातवें वेगमें

१. L S F V R स्युस्ते भयानकाः । २. P M L F तद्यथा— । ३. S F V R तृतीये दीर्घनिश्वासाः, X Y तृतीयेऽपि । ४. S F V X Y R भुक्तं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

623) नवमे प्राणसंदेहो दशमे मुच्यते ऽसुभिः[1] ।
एतैर्वेगैः[2] समाक्रान्तो[3] जीवस्तत्त्वं न पश्यति ॥३१

624) संकल्पवशतस्तीव्रा वेगा मन्दाश्च मध्यमाः ।
मोहज्वरप्रकोपेन[4] प्रभवन्तीह देहिनाम् ॥३२

625) अपि मानसमुत्तुङ्गनगशृङ्गाग्रवर्तिनाम् ।
स्मरवीरः क्षणार्धेन विधत्ते मानखण्डनम् ॥३३

626) शीलशालमतिक्रम्य धीधनैरपि तन्यते[5] ।
दासत्वमन्त्यजस्त्रीणां संभोगाय स्मराज्ञया ॥३४

621-3) प्रथमे जायते—असुभिः, प्राणैः । इति सूत्रार्थः ॥२९-३१॥ अथ कामसंकल्पतारतम्यमाह ।

624) संकल्पवशतः—इह संसारे देहिनां प्राणिनां *कामज्वरप्रकोपेन कन्दर्पज्वरक्रोधात् । संकल्पवशतः तीव्रा वेगाः । च पुनः । मन्दाः मध्यमाः जायन्ते । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ मारस्य सर्वजयित्वमाह ।

625) अपि मान—स्मरवीरः कन्दर्पसुभटः क्षणार्धेन मानखण्डनं विधत्ते । केषाम् । मानसमुत्तुङ्गनगशृङ्गाग्रवर्तिनामपि मानोच्चपर्वतशृङ्गाग्रवर्तिनामपि । इत्यर्थः ॥३३॥ अथ बुद्धिमतामपि कामवश्यत्वमाह ।

626) शीलशालम्—अन्त्यजस्त्रीणां चाण्डालस्त्रीणामपि दासत्वं तन्यते विस्तार्यते । कैः ।

दीर्घ मूर्छा आती है—वह अचेत हो जाता है, आठवेंमें उन्मत्तता होती है—वह पागलके समान चेष्टा करने लगता है, नौवें वेगमें प्राणोंका सन्देह होने लगता है—वह मरणोन्मुख हो जाता है, और दसवें वेगमें प्राणोंसे मुक्त हो जाता है—मर जाता है। इस प्रकार इन दस वेगोंसे पीड़ित होकर कामी जीव वस्तुस्वरूपको नहीं देखता है ॥२९-३१॥

लोकमें मोहरूप ज्वरके प्रकोपसे प्राणियोंके संकल्पके अनुसार वे वेग तीव्र, मध्यम और मन्द भी होते हैं ॥३२॥

जो प्राणी मानरूप ऊँचे पर्वतके शिखरपर स्थित हैं उनके उस मानका खण्डन कामदेवरूप सुभट क्षणभरमें कर डालता है। अभिप्राय यह है कि कामके आगे बड़े बड़े अभिमानी जनोंका भी मान गलित हो जाता है ॥३३॥

जो बुद्धिरूप धनके धारक हैं—अतिशय बुद्धिमान् हैं—वे भी कामदेवकी आज्ञासे

१. P Second line added on the margin, असुभिः = प्राणैः । २. J एतैरङ्गौ । ३. M समाक्रान्तं ।
४. S T F V J X Y R कामज्वर । ५. L मन्यते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

627) प्रवृद्धमपि चारित्रं ध्वंसयत्याशु देहिनाम् ।
निरुणद्धि श्रुतं सत्यं धैर्यं च मदनव्यथा ॥३५

628) नासने शयने याने स्वजने भोजने स्थितिम् ।
क्षणमात्रमपि प्राणी प्राप्नोति स्मरशल्यितः[1] ॥३६

629) वित्तवृत्तबलस्यान्तं[2] स्वकुलस्य च लाञ्छनम् ।
मरणं वा[3] समीपस्थं न स्मरार्तः प्रपश्यति ॥३७

घोषनैरपि । किं कृत्वा । शीलशालं शीलमर्यादामतिक्रम्य । किमर्थम् । संभोगाय कर्मणे । स्मराज्ञया । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ कामस्य चारित्रध्वंसकत्वमाह ।

627) **प्रवृद्धमपि**—मदनव्यथा कामपीडा प्रवृद्धमपि चारित्रम् आशु शीघ्रम् । देहिनां ध्वंसयति विनाशयति । श्रुतं शास्त्रं निरुणद्धि रुन्धनं करोति। इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ सर्वावस्थासु कामिनः चञ्चलत्वमाह ।

628) **नासने**—स्मरशल्यितः कन्दर्पशल्यवान् प्राणी जीवः क्षणमात्रमपि स्थितिं न प्राप्नोति । क्व । आसने, उपवेशने, शय्यायां, याने, गमने, स्वजने परिवारे, भोजने भोजनवेलायामपीत्यर्थः ॥३६॥ अथान्धत्वं कामिनो दर्शयति ।

629) **वित्तवृत्त**—स्मरार्तः वित्तवृत्तबलस्यान्तं । वित्तं द्रव्यं, वृत्तम् आचारः, बलं शरीरबलं, तेषामन्तं विनाशं समीपस्थं न पश्यति । च पुनः । स्वकुलस्य लाञ्छनं कलङ्कं न पश्यति । समीपस्थमिति सर्वत्र योज्यम् । वा अथवा । मरणं समीपस्थं न प्रपश्यति । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ मदनस्य सर्वतः आधिक्यमाह ।

शीलरूप कोटको लाँघकर सम्भोगके लिए चाण्डाल स्त्रियोंकी भी दासताको करते हैं । तात्पर्य यह कि कामके वशीभूत हुआ मनुष्य नीच स्त्रियोंकी भी सेवा किया करता है ॥३४॥

कामकी पीड़ा प्राणियोंके वृद्धिंगत भी चारित्रको शीघ्र नष्ट करके उनके आगमज्ञान, सत्य और धैर्यको भी रोक देती है ॥३५॥

प्राणी कामरूप काँटेसे पीड़ित होकर आसन (बैठने), शयन, गमन, कुटुम्बीजन और भोजनके विषयमें क्षणभर भी स्थिरताको नहीं प्राप्त होता है । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार काँटे से विद्ध हुआ मनुष्य उसकी वेदनासे अतिशय दुखी होता है और इसीलिए उसका मन भोजन-पानादि किसी भी कार्यमें नहीं लगता है उसी प्रकार कामकी वेदनासे व्याकुल मनुष्यका भी मन किसी कार्यमें नहीं लगता है ॥३६॥

कामसे पीड़ित मनुष्य धन, संयम व शक्तिके विनाशको; अपने कुलकी मलिनताको तथा समीपमें आये हुए मरणको भी नहीं देखता है ॥३७॥

१. All others except P L F शल्यतः । २. M N वित्तं वृत्तं बल° । ३. M N J मरणं च ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

630) न पिशाचोरगा रोगा न दैत्यग्रहराक्षसाः ।
पीडयन्ति तथा लोकं यथेयं मदनव्यथा[1] ॥३८

631) अनासाद्य जनः कामी कामिनीं हृदयप्रियाम् ।
विषशस्त्रा[2]नलोपायैः सद्यः स्वं हन्तुमिच्छति ॥३९

632) दक्षो मूढः क्षमी क्षुद्रः शूरो भीरुर्गुरुर्लघुः
तीक्ष्णः कुण्ठो वशी भ्रष्टो जनः[3] स्यात् स्मरमोहितः[4] ॥४०

633) कुर्वन्ति वनिताहेतोरचिन्त्यमपि साहसम् ।
नराः कामहठात्कारविधुरीकृतचेतसः ॥४१

630) **न पिशाचोरगाः**—यथा अयं मदनज्वरः* कामज्वरः लोकं पीडयति न पिशाचोरगाः तथा लोकं पीडयन्ति । न रोगाः लोकं तथा पीडयन्ति । तथा न दैत्यग्रहराक्षसाः लोकं पीडयन्ति । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ कामिनः स्त्रीविरहेणापायत्वमाह ।

631) **अनासाद्य**—अनासाद्य अप्राप्य । कैः । विषशस्त्रानलोपायैः गरशस्त्राग्निप्रमुखोपायैः । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथ कामार्तस्य सर्वदोषाकरत्वमाह ।

632) **दक्षो मूढः**—स्मरवञ्चितो* जनः वशी वशेन्द्रियः भ्रष्टः स्यात् । तीक्ष्णः कुण्ठः स्यात् । गुरुः गम्भीरो लघुः स्यात् । शूरो भीरुः स्यात् । क्षमी क्षमावान् । क्षुद्रः कोपवान् । दक्षः चतुरः मूढः स्यादित्यर्थः ॥४०॥ अथ कामिनां साहसमाह ।

633) **कुर्वन्ति**—नराः मनुष्याः, वनिताहेतोः स्त्रीहेतोः, अचिन्त्यमपि साहसं कुर्वन्ति । कथंभूताः । कामहठात्काराः कामवशगाः । पुनः कीदृशाः । विधुरीकृतचेतसः विकलीकृतमानसाः[5] । इति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथ कामस्य निरङ्कुशत्वमाह ।

पिशाच, सर्प, रोग, दैत्य, ग्रह और राक्षस भी प्राणियों को उतनी पीड़ा नहीं देते जितनी कि कामकी वेदना उनको पीड़ा दिया करती है ॥३८॥

कामी पुरुष अपने हृदयको प्रिय लगनेवाली स्त्रीको न पाकर विष, शस्त्र और अग्नि आदि उपायोंके द्वारा शीघ्र ही अपने आतमघातकी इच्छा करता है ॥३९॥

कामसे मुग्ध हुआ प्राणी चतुर होकर भी मूर्ख हो जाता है, क्षमाशील होकर भी दुष्ट बन जाता है। शूर होकर भी कायर जैसी चेष्टा करने लगता है, महान् होकर भी हीनताका कार्य करता है, तीक्ष्ण होकर भी कुण्ठित हो जाता है, तथा जितेन्द्रिय होकर भी भ्रष्ट हो जाता है ॥४०॥

जिन मनुष्योंका मन कामके द्वारा बलपूर्वक व्याकुल किया गया है वे स्त्रीके निमित्त अचिन्तनीय (अपूर्व) भी साहसको किया करते हैं। अभिप्राय यह है कि जो कार्य सर्व-

१. All others except P यथायं मदनज्वरः । २. N शस्त्रनलापायैः । ३. N भ्रष्टो नरः । ४. All others except P स्मरवञ्चितः । ५. S F V X R °कृतमानसाः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

634) उन्मूलयत्यविश्रान्तं पूज्यं श्रीधर्मपादपम् ।
मनोभवमहादन्ती मनुष्याणां निरङ्कुशः ॥४२

635) प्रकुप्यति नरः कामी बहुलं ब्रह्मचारिणे ।
जनाय जाग्रते चौरो रजन्यां संचरन्निव ॥४३

636) स्नुषां श्वश्रूं सुतां धात्रीं गुरुपत्नीं तपस्विनीम् ।
तिरश्चीमपि कामार्तो नरः स्त्रीं भोक्तुमिच्छति ॥४४

637) किं च कामशरव्रातजर्जरे मनसि स्थितिम्¹ ।
निमेषमपि बध्नाति न विवेकसुधारसः ॥४५

634) उन्मूलयति—मनोभवमहादन्ती । श्रीधर्मपादपं श्रीधर्मवृक्षम् । अविश्रान्तं निरन्तरम् उन्मूलयति । पुनः कीदृशम् । पूज्यम् । केषाम् । मनुष्याणाम् । कीदृशः मनोभवमहादन्ती । निरङ्कुशः अङ्कुशरहितः । इति सूत्रार्थः ॥४२॥ अथ कामी शीलवन्तं द्वेष्टितमाह ।

635) प्रकुप्यति—कामी नरः बहुलं ब्रह्मचारिणे प्रकुप्यति । क इव । चौर इव । यथा चौरः रजन्यां संचरन् जाग्रते जनाय प्रकुप्यति । इति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथ कामी सर्वाः स्त्रीः कामयते ।

636) स्नुषां श्वश्रूं—कामार्तो नरः स्नुषां वधूं, श्वश्रूं, सुतां पुत्रीं, धात्रीं मातृविशेषां, गुरुपत्नीं, तपस्विनीं, तिरश्चीमपि तिर्यक्स्त्रीमपि । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ मनोभववश्यतामाह ।

637) किं च काम—विवेकसुधारसः मनसि स्थितिं न बध्नाति । कीदृशे मनसि । कामशरव्रातजर्जरे कन्दर्पबाणसमूहजर्जरे । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ हरिहरादीनां संसर्गमाह ।

साधारणके लिए अतिशय कठिन प्रतीत होते हैं उनके करनेका भी कामी पुरुष साहस किया करता है। इसके लिए अंजनचोर आदिके अनेकों उदाहरण कथाग्रन्थोंमें देखे जाते हैं ॥४१॥

कामदेवरूप मदोन्मत्त हाथी निरंकुश—नियन्त्रणसे रहित—होकर निरन्तर मनुष्योंके पूजनीय व शोभायमान धर्मरूप वृक्षको उखाड़ा करता है ॥४२॥

जिस प्रकार रातमें संचार करनेवाला चोर जागनेवाले मनुष्यके ऊपर कुपित होता है उसी प्रकार प्रायः कामी पुरुष ब्रह्मचारी मनुष्यके ऊपर कुपित होता है ॥४३॥

कामसे पीड़ित मनुष्य पुत्रवधू, सास, पुत्री, उपमाता (माता भी), गुरुकी पत्नी, साध्वी और तिर्यंचनी (स्त्री पशु) के भी भोगनेकी इच्छा करता है ॥४४॥

और भी—कामके बाणसमूहसे जर्जर (छेदयुक्त) किये गये मनके भीतर विवेकरूप अमृतरस क्षणभर भी स्थितिको नहीं बाँधता है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार छेदोंसे

१. M स्थितं, T स्थिते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

638) हरिहरपितामहाद्या बलिनो ऽपि तथा स्मरेण विध्वस्ताः ।
त्यक्तत्रपा यथैते स्वाङ्कान्नारीं न मुञ्चन्ति ॥४६

639) यदि प्राप्तं त्वया मूढ नृत्वं जन्मोग्रसंक्रमे[1] ।
तदा तत्कुरु येनेयं स्मरज्वाला विलीयते ॥४७

640) स्मरदहनसुतीव्रानन्तसंतापविद्धं
भुवनमिति समस्तं वीक्ष्य योगिप्रवीराः ।
विगतविषयसंगाः प्रत्यहं संश्रयन्ते
प्रशमजलधितीरं संयमारामरम्यम् ॥४८

---

638) **हरिहर**—हरिहरपितामहाद्याः कृष्णमहादेवब्रह्माद्याः बलिनो ऽपि तथा स्मरेण कन्दर्पेण विध्वस्ताः । यथा एते गतत्रपा गतलज्जाः स्वाङ्कान्नारीं मुञ्चन्ति नेत्यर्थः ॥४६॥ अथ नरस्योपदेशमाह ।

639) **यदि प्राप्तं**—हे मूढ, त्वया नृत्वं यदि प्राप्तम् । क्व । जन्मोग्रसंक्रमे भवोग्रसंक्रमणे तदा तत् कुरु । येनेयं स्मरज्वाला कामज्वाला विलीयते विलयं यातीत्यर्थः ॥४७॥ अथ ब्रह्म[चर्य]-मुपसंहरति । मालिनी छन्दः ।

640) **स्मरदहन**—योगिप्रवीराः योगिसुभटाः प्रशमजलधितीरं क्षान्तिसमुद्रपारं प्रत्यहं निरन्तरं संश्रयन्ते आश्रयन्ते । कीदृशं प्रशमजलधितीरम् । संयमारामरम्यं चरित्रारामममनोहरम् । किं कृत्वा । भुवनं समस्तम् इति वीक्ष्य पूर्वोक्तप्रकारेण विलोक्य । कीदृशा योगिप्रवीराः । विगत-विषयसंगाः नष्टेन्द्रियव्यापारसंगाः । कीदृशं भुवनम् । स्मरदहनसुतीव्रानन्तसंतापविद्धं कन्दर्पाग्निसुतीव्रानन्तसंतापयुक्तम् । इति सूत्रार्थः ॥४८॥

युक्त बर्तनमें भरा गया पानी क्षणभर भी स्थित नहीं रहता है उसी प्रकार कामबाणसे विद्ध हुए मनमें अमृतके समान सुखप्रद विवेक भी क्षणभरके लिए स्थित नहीं रहता ॥४५॥

विष्णु, महादेव और ब्रह्मा आदि बलशाली जन भी इस कामदेवके द्वारा इस प्रकारसे नष्ट किये गये हैं कि जिससे ये निर्लज्ज होकर स्त्रीको अपनी गोदसे नहीं छोड़ते हैं ॥४६॥

हे मूर्ख ! यदि तूने संसारमें तीव्र गतिसे परिभ्रमण करते हुए मनुष्यभवको प्राप्त कर लिया है तो वह कार्य कर कि जिससे यह कामकी ज्वाला शान्त हो जावे ॥४७॥

समस्त लोक कामरूप अग्निके अतिशय तीव्र व अनन्त सन्तापसे पीड़ित हो रहा है, यह देख करके श्रेष्ठ योगीजन विषयोंकी संगतिसे रहित होकर—उनका परित्याग करके—निरन्तर संयमरूप उद्यानसे रमणीय शान्तिरूप समुद्रके तटका आश्रय लेते हैं ॥४८॥

---

१. L S T F V Y R संक्रमात् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

634) उन्मूलयत्यविश्रान्तं पूज्यं श्रीधर्मपादपम् ।
मनोभवमहादन्ती मनुष्याणां निरङ्कुशः ॥४२

635) प्रकुप्यति नरः कामी बहुलं ब्रह्मचारिणे ।
जनाय जाग्रते चौरो रजन्यां संचरन्निव ॥४३

636) स्नुषां श्वश्रूं सुतां धात्रीं गुरुपत्नीं तपस्विनीम् ।
तिरश्चीमपि कामार्तो नरः स्त्रीं भोक्तुमिच्छति ॥४४

637) किं च कामशरव्रातजर्जरे मनसि स्थितिम्[1] ।
निमेषमपि बध्नाति न विवेकसुधारसः ॥४५

634) उन्मूलयति—मनोभवमहादन्ती । श्रीधर्मपादपं श्रीधर्मवृक्षम् । अविश्रान्तं निरन्तरम् उन्मूलयति । पुनः कीदृशम् । पूज्यम् । केषाम् । मनुष्याणाम् । कीदृशः मनोभवमहादन्ती । निरङ्कुशः अङ्कुशरहितः । इति सूत्रार्थः ॥४२॥ अथ कामी शीलवन्तं द्वेष्टितमाह ।

635) प्रकुप्यति—कामी नरः बहुलं ब्रह्मचारिणे प्रकुप्यति । क इव । चौर इव । यथा चौरः रजन्यां संचरन् जाग्रते जनाय प्रकुप्यति । इति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथ कामी सर्वाः स्त्रीः कामयते ।

636) स्नुषां श्वश्रूं—कामार्तो नरः स्नुषां वधूं, श्वश्रूं, सुतां पुत्रीं, धात्रीं मातृविशेषां, गुरुपत्नीं, तपस्विनीं, तिरश्चीमपि तिर्यक्स्त्रीमपि । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ मनोभववश्यतामाह ।

637) किं च काम—विवेकसुधारसः मनसि स्थितिं न बध्नाति । कीदृशे मनसि । कामशरव्रातजर्जरे कन्दर्पबाणसमूहजर्जरे । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ हरिहरादीनां संसर्गमाह ।

साधारणके लिए अतिशय कठिन प्रतीत होते हैं उनके करनेका भी कामी पुरुष साहस किया करता है। इसके लिए अंजनचोर आदिके अनेकों उदाहरण कथाग्रन्थोंमें देखे जाते हैं ॥४१॥

कामदेवरूप मदोन्मत्त हाथी निरंकुश—नियन्त्रणसे रहित—होकर निरन्तर मनुष्योंके पूजनीय व शोभायमान धर्मरूप वृक्षको उखाड़ा करता है ॥४२॥

जिस प्रकार रातमें संचार करनेवाला चोर जागनेवाले मनुष्यके ऊपर कुपित होता है उसी प्रकार प्रायः कामी पुरुष ब्रह्मचारी मनुष्यके ऊपर कुपित होता है ॥४३॥

कामसे पीड़ित मनुष्य पुत्रवधू, सास, पुत्री, उपमाता (माता भी), गुरुकी पत्नी, साध्वी और तिर्यंचनी (स्त्री पशु) के भी भोगनेकी इच्छा करता है ॥४४॥

और भी—कामके बाणसमूहसे जर्जर (छेदयुक्त) किये गये मनके भीतर विवेकरूप अमृतरस क्षणभर भी स्थितिको नहीं बाँधता है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार छेदोंसे

१. M स्थितं, T स्थिते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

638) हरिहरपितामहाद्या बलिनो ऽपि तथा स्मरेण विध्वस्ताः ।
त्यक्तत्रपा यथैते स्वाङ्कान्नारीं न मुञ्चन्ति ॥४६

639) यदि प्राप्तं त्वया मूढ नृत्वं जन्मोग्रसंक्रमे[1] ।
तदा तत्कुरु येनेयं स्मरज्वाला विलीयते ॥४७

640) स्मरदहनसुतीव्रानन्तसंतापविद्धं
भुवनमिति समस्तं वीक्ष्य योगिप्रवीराः ।
विगतविषयसंगाः प्रत्यहं संश्रयन्ते
प्रशमजलधितीरं संयमारामरम्यम् ॥४८

---

638) **हरिहर**—हरिहरपितामहाद्याः कृष्णमहादेवब्रह्माद्याः बलिनो ऽपि तथा स्मरेण कन्दर्पेण विध्वस्ताः । यथा एते गतत्रपा गतलज्जाः स्वाङ्कान्नारीं मुञ्चन्ति नेत्यर्थः ॥४६॥ अथ नरस्योपदेशमाह ।

639) **यदि प्राप्तं**—हे मूढ, त्वया नृत्वं यदि प्राप्तम् । क्व । जन्मोग्रसंक्रमे भवोग्रसंक्रमणे तदा तत् कुरु । येनेयं स्मरज्वाला कामज्वाला विलीयते विलयं यातीत्यर्थः ॥४७॥ अथ ब्रह्म[चर्यं]-मुपसंहरति । मालिनी छन्दः ।

640) **स्मरदहन**—योगिप्रवीराः योगिसुभटाः प्रशमजलधितीरं क्षान्तिसमुद्रपारं प्रत्यहं निरन्तरं संश्रयन्ते आश्रयन्ते । कीदृशं प्रशमजलधितीरम् । संयमारामरम्यं चरित्राराममनोहरम् । किं कृत्वा । भुवनं समस्तम् इति वीक्ष्य पूर्वोक्तप्रकारेण विलोक्य । कीदृशा योगिप्रवीराः । विगत-विषयसंगाः नष्टेन्द्रियव्यापारसंगाः । कीदृशं भुवनम् । स्मरदहनसुतीव्रानन्तसंतापविद्धं कन्दर्पाग्निसुतीव्रानन्तसंतापयुक्तम् । इति सूत्रार्थः ॥४८॥

युक्त बर्तनमें भरा गया पानी क्षणभर भी स्थित नहीं रहता है उसी प्रकार कामबाणसे विद्ध हुए मनमें अमृतके समान सुखप्रद विवेक भी क्षणभरके लिए स्थित नहीं रहता ॥४५॥

विष्णु, महादेव और ब्रह्मा आदि बलशाली जन भी इस कामदेवके द्वारा इस प्रकारसे नष्ट किये गये हैं कि जिससे ये निर्लज्ज होकर स्त्रीको अपनी गोदसे नहीं छोड़ते हैं ॥४६॥

हे मूर्ख ! यदि तूने संसारमें तीव्र गतिसे परिभ्रमण करते हुए मनुष्यभवको प्राप्त कर लिया है तो वह कार्य कर कि जिससे यह कामकी ज्वाला शान्त हो जावे ॥४७॥

समस्त लोक कामरूप अग्निके अतिशय तीव्र व अनन्त सन्तापसे पीड़ित हो रहा है, यह देख करके श्रेष्ठ योगीजन विषयोंकी संगतिसे रहित होकर—उनका परित्याग करके—निरन्तर संयमरूप उद्यानसे रमणीय शान्तिरूप समुद्रके तटका आश्रय लेते हैं ॥४८॥

---

१. L S T F V Y R संक्रमात् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-विरचिते ब्रह्मव्रतविचारे[1] कामप्रकोपप्रकरणम् ॥११॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा तत्पुत्रसाहटोडर तत्कुलकमलदिवाकर साहऋषिदास-स्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन स्त्रीविषयविरतिः समाप्ता ॥११॥

भूतपूर्वः सुपार्श्वाख्यः टोडरो गुणवत्सलः। ऋषिदासस्सुतस्तस्य पातु तं नाभिनन्दनः ॥१॥ आशीर्वादः। अथ स्त्रीणां चरितमाह।

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें ब्रह्मव्रत-विचारमें कामप्रकोप प्रकरण समाप्त हुआ ॥११॥

---

१. M विचारकामप्रकोप°।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[स्त्रीस्वरूपम्]

641) कुर्वन्ति यन्मदोद्रेकदर्पिता[1] भुवि योषितः ।
शतांशमपि तस्येह न वक्तुं कश्चिदीश्वरः ॥१

642) धारयन्त्यमृतं वाचि हृदि हालाहलं विषम् ।
निसर्गकुटिला नार्यो न विद्मः केन निर्मिताः ॥२

643) वज्रज्वलनलेखेव भोगिदंष्ट्रेव केवलम् ।
वनितेयं मनुष्याणां संतापभयदायिनी ॥३

641) **कुर्वन्ति**—भुवि पृथिव्यां योषितः रामाः मदोद्रेकदर्पिताः मदाधिक्यगर्विताः यत् कुर्वन्ति । इह जगति तस्य स्त्रीकर्तव्यस्य शतांशमपि वक्तुं कश्चिन्नेश्वरः समर्थो भवेत्, इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ तासां स्वरूपमाह ।

642) **धारयन्त्यमृतं**—हालाहलं सहस्रघातिविषविशेषम् । निसर्गकुटिलाः स्वभाववक्राः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ पुनस्तत्स्वरूपं दर्शयति ।

643) **वज्रज्वलन**—इयं वनिता स्त्री मनुष्याणां संतापभयदायिनी । कीदृशी । वज्रज्वलनलेखेव वज्राग्निशिखेव । केवलं भोगिदंष्ट्रेव सर्पदाढा इव । इति सूत्रार्थः ॥३॥ [पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

इस भूतलपर कामके उन्मादकी वृद्धिसे गर्वको प्राप्त हुई स्त्रियाँ जो अकार्य करती हैं उसके सौवें भागका वर्णन करनेके लिए कोई समर्थ नहीं हैं ॥१॥

स्वभावसे मायापूर्ण व्यवहार करनेवाली स्त्रियाँ वचनमें अमृतको तथा हृदयमें हालाहल (एक विशेष जातिका भयानक विष) विषको धारण करती हैं—वे दूसरोंको ठगनेके लिए वचन तो मधुर बोलती हैं, परन्तु मनमें उनके घातका ही विचार करती हैं। हम नहीं जानते कि उन्हें किसने बनाया है ॥२॥

यह स्त्री वज्राग्निकी रेखाके समान अथवा सर्पकी विषैली दाढ़के समान मनुष्योंको केवल सन्ताप और भयको ही दिया करती है ॥३॥

१. M N °द्रेकाद्दर्पिता ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

644) उद्वासयति[1] निःशङ्का जगत्पूज्यं गुणव्रजम्[2] ।
बध्नती वसतिं चित्ते सतामपि नितम्बिनी ॥४

645) वरमालिङ्गिता क्रुद्धा चलल्लोलात्र सर्पिणी ।
न पुनः कौतुकेनापि नारी नरकपद्धतिः ॥५

646) हृदि दत्ते तथा दाहं न स्पृष्टा हुतभुक्शिखा ।
वनितेयं यथा पुंसामिन्द्रियार्थप्रकोपिनी ॥६

647) संध्येव क्षणरागाढ्या निम्नगेवाधरप्रिया[3] ।
वक्रा बालेन्दुलेखेव भवन्ति नियतं[4] स्त्रियः ॥७

644) उद्वासयति—नितम्बिनी वनिता । सज्जनानामपि गुणव्रजं गुणसमूहम् उद्वासयति विनाशयति । कीदृशी नितम्बिनी । चित्ते वसतिं बध्नती मनसि तिष्ठन्ती । यदा सुजनः तामहर्निशं ध्यायति तदा । इति सूत्रार्थः ॥४॥] पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

645) वरमालिङ्गिता—वरं चलल्लोला अतिसर्पिणी गच्छच्चञ्चला अतिसर्पिणी आलिङ्गिता क्रुद्धा कुपिता । न पुनः । कौतुकेनापि नारी आलिङ्गिता । कीदृशी । नरकपद्धतिः नरकश्रेणी । इति सूत्रार्थः ॥५॥ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

646) हृदि दत्ते—यथा इयं वनिता स्त्री पुंसां पुरुषाणाम् । इन्द्रियार्थप्रकोपिनी पञ्चेन्द्रियविषयार्थकोपिनी । तथा हुतभुक्शिखा अग्निज्वाला स्पृष्टा सती हृदि दाहं न *धत्ते । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ स्त्रीणां वक्रत्वमाह ।

647) संध्येव—स्त्रियः नियतं निश्चितं क्षणरागाढ्याः क्षणरागयुक्ताः । केव । संध्येव यथा संध्या क्षणरागवती । पुनः कीदृशी । अधरप्रिया नीचप्रिया । केव । निम्नगेव, यथा निम्नगा नदी

सत्पुरुषोंके भी मनमें घरको बाँधनेवाली—स्थानको प्राप्त करनेवाली—स्त्री निर्भय होकर समस्त संसारसे पूजे जाने योग्य गुणसमूहको उजाड़ देती है—नष्ट कर देती है ॥४॥

चलती हुई चंचल जिह्वावाली क्रुद्ध सर्पिणीका आलिंगन करना कहीं अच्छा है, परन्तु नरकके मार्गभूत—नरकको प्राप्त करानेवाली—स्त्रीका कुतूहलपूर्वक भी आलिंगन करना ठीक नहीं है ॥५॥

आलिंगन की गई अग्निकी ज्वाला मनुष्योंके हृदयमें वैसे दाहको नहीं देती है जैसे दाहको यह इन्द्रियविषयोंको कुपित करनेवाली स्त्री दिया करती है ॥६॥

जिस प्रकार सन्ध्या क्षणभरके लिए राग (लालिमा) से व्याप्त हुआ करती है उसी प्रकार स्त्रियाँ भी नियमसे क्षणभरके लिए ही रागसे व्याप्त हुआ करती हैं—क्षणभरके लिए ही वे पुरुषसे अनुराग किया करती हैं, जिस प्रकार नदी अधर (अधोभाग) से प्रीति किया करती है—नीचली भूमिकी ओर बहा करती है—उसी प्रकार स्त्रियाँ भी अधर (नीच पुरुष)

१. J om. । २. M गुणव्रतम् । ३. All others except P M °वाधरप्रिया । ४. N नितरां स्त्रियः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

648) धूमावल्य इवाशङ्काः कुर्वन्ति मलिनं क्षणात् ।
मदनोन्मादसंभ्रान्ता योषितः स्वकुलगृहम्[1] ॥८

649) निर्दयत्वमनार्यत्वं मूर्खत्वमतिचापलम् ।
वञ्चकत्वं कुशीलत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥९

650) [2]विचरन्त्यः[3] कुशीलेषु लङ्घयन्त्यः[4] कुलक्रमम् ।
न स्मरन्ति गुरुं मित्रं पतिं पुत्रं च योषितः ॥१०

651) वश्याञ्जनानि[5] तन्त्राणि मन्त्रयन्त्रा[6]द्यनेकधा ।
व्यर्थीभवन्ति[7] सर्वाणि वनिताराधनं प्रति ॥११

अधरप्रिया अधोभूगामिनीत्यर्थः । पुनः कीदृश्यः । वक्रा वक्रस्वभावाः । कीदृशी । बालेन्दुलेखेव क्षीणचन्द्रलेखेव । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ योषितां स्वकुलकलङ्कदायित्वमाह ।

648) **धूमावल्यः**—योषितः स्त्रियः क्षणात् स्वकुलगृहं मलिनं कुर्वन्ति । कीदृश्यः । मदनोन्मादसंभ्रान्ताः । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ तासां स्वभावदोषानाह ।

649) **निर्दयत्वम्**—स्त्रीणां स्वभावजा दोषा जायन्ते । के । निर्दयत्वं दयारहितत्वम् । अनार्यत्वं ऋजोरभावः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥९॥ [योषितां कृतघ्नतामाह ।

650) **विचरन्त्यः**—योषितः गुर्वादीन् न स्मरन्ति । कीदृश्यः योषितः । कुशीलेषु दुराचारिषु जनेषु विचरन्त्यः वसन्त्यः । पुनः कीदृश्यः । कुलक्रमं कुलपरम्परां उल्लङ्घयन्त्यः ॥१०॥] अथ तासाम् आराधनमन्त्रादीनां निष्फलत्वमाह ।

651) **वश्याञ्जनानि**—वनिताराधनं प्रति स्त्रीसमाराधनं प्रति सर्वाणि *व्यर्थं भवन्ति । शेषं सुगमम् ॥११॥ अथ तासां चरितेन जगतो दुःखदायित्वमाह ।

से प्रेम किया करती हैं, तथा जिस प्रकार बाल (द्वितीयाका) चन्द्रकी रेखा कुटिल (तिरछी) होती है उसी प्रकार स्त्रियाँ भी नियमसे कुटिल (मायाचारिणी) हुआ करती हैं ॥७॥

जिस प्रकार धुएँकी पंक्तियाँ (समूह) निःसन्देह घरको मलिन (काला) किया करती हैं उसी प्रकार कामके उन्मादसे त्रस्त हुई स्त्रियाँ भी निश्चयसे अपने कुलको क्षणभरमें मलिन (कलंकित) कर दिया करती हैं ॥८॥

निर्दयता, दुष्टता, मूर्खता, अतिशय चपलता, धोखादेही और कुशीलता; ये दोष स्त्रियोंके स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले हैं ॥९॥

स्त्रियाँ दुराचारी जनोंमें विचरण करती हुई कुलकी परिपाटीका उल्लंघन किया करती हैं । वे उस समय गुरु, मित्र, पति और पुत्रका भी स्मरण नहीं करती हैं—दुराचरणमें प्रवृत्त होकर वे गुरु आदिकी भी परवाह नहीं करती हैं ॥१०॥

वश करनेके योग्य अंजन, उत्तम औषधियाँ तथा अनेक प्रकारके मन्त्र और यन्त्र आदि ये सब स्त्रीकी आराधनामें व्यर्थ सिद्ध होते हैं ॥११॥

१. All others except P स्वकुलं गृहम् । २. J om. । ३. All others except P M N विचरन्ति । ४. All others except P लङ्घयन्ति । ५. All others except P M N वश्याञ्जनादि । ६. M N T J Y यन्त्राण्यनेकधा । ७. J व्यर्थं भवन्ति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

652) अगाधक्रोधवेगान्धाः कर्म कुर्वन्ति तत्स्त्रियः ।
सद्यः पतति[1] येनैतद्भुवनं दुःखसागरे ॥१२

653) स्वातन्त्र्यमभिवाञ्छन्त्यः[2] कुलकल्पमहीरुहम् ।
अविचार्यैव निघ्नन्ति स्त्रियो ऽभीष्टफलप्रदम् ॥१३

654) न दानं न च सौजन्यं न प्रतिष्ठा न गौरवम् ।
न च पश्यन्ति कामान्धा योषितः स्वान्ययोर्हितम् ॥१४

655) न तत् क्रुद्धा[3] हरिव्याघ्रव्यालानलनरेश्वराः ।
कुर्वन्ति यत्करोत्येका नरि नारी निरङ्कुशा ॥१५

---

652) अगाधक्रोध—स्त्रियः तत्कर्म कुर्वन्ति । कीदृश्यः स्त्रियः । अगाधक्रोधवेगान्धाः कुपित (?) कोपवेगान्धाः । येन कर्मणा एतद् भुवनं जगत् दुःखसागरे सद्यः पतति । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ तासां कुलनाशकत्वमाह ।

653) स्वातन्त्र्यमभि—स्त्रियः कुलकल्पमहीरुहं कुलकल्पपादपं निघ्नन्ति अविचार्यैव । किं कुर्वन्त्यः । स्वातन्त्र्यमपि* वाञ्छन्त्यः । कीदृशं कुलकल्पमहीरुहम् । अभीष्टफलप्रदम् । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ तासां विवेकाभावमाह ।

654) न दानं—योषितः स्वान्ययोरात्मपरयोः हितं न पश्यन्ति । न प्रतिष्ठां यशोविशेषं, सौजन्यं सुजनता । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ यथा स्त्रियः कुर्वन्ति न तथा केनापि क्रियते इत्याह ।

655) न तत्क्रुद्धा—एका नारी निरङ्कुशा सती नरि मनुष्ये यत् करोति । कीदृशी नारी । क्रुद्धा । हरिव्याघ्रव्यालानलनरेश्वराः क्रुद्धाः सन्तः न तत् कुर्वन्ति यथा सा । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ तासां वार्तापि न सुखदा इत्याह ।

स्त्रियाँ अथाह क्रोधके वेगसे अन्धी होकर उस कार्यको करती हैं कि जिससे यह लोक शीघ्र ही दुखरूप समुद्रमें पड़ जाता है ॥१२॥

स्वतन्त्रताकी इच्छा करनेवाली स्त्रियाँ मूर्खतासे अभीष्ट फलके देनेवाले कुलरूप कल्पवृक्षको नष्ट कर डालती हैं ॥१३॥

कामसे अन्धी हुई स्त्रियाँ न दानको देखती हैं, न सुजनताका विवेक रखती हैं, न प्रतिष्ठाका विचार करती हैं न अपनी व अपने कुलकी महानताको देखती हैं, और न अपने व दूसरेके हितका भी ध्यान रखती हैं ॥१४॥

स्त्री स्वतन्त्रताको प्राप्त होकर अकेली ही मनुष्यके जिस अनर्थको करती है उसे क्रोधको प्राप्त हुए सिंह, व्याघ्र, सर्प, अग्नि और राजा भी नहीं करते हैं ॥१५॥

---

१. J पतन्ति । २. Y °मभिवाञ्छन्ति । ३. Y तत्क्रुद्धहरिव्याघ्र ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

656) यामासाद्य त्वया कान्तां सोढव्या नारकी व्यथा ।
तस्या वार्तापि न श्लाघ्या कथमालिङ्गनादिकम् ॥१६
657) स को ऽपि स्मर्यतां[1] देवो मन्त्रो वालम्ब्य साहसम् ।
यतो[2] ऽङ्गनापिशाचीयं ग्रसितुं नोपसर्पति ॥१७
658) एकैव वनिताव्याली दुर्विचिन्त्यपराक्रमा ।
लीलयैव यया मूढ खण्डितं जगतां त्रयम् ॥१८
659) न तद्दृष्टं श्रुतं ज्ञातं[3] न तच्छास्त्रेषु चर्चितम् ।
यत्कुर्वन्ति महापापं स्त्रियः काम[4]कलङ्किताः ॥१९

656) यामासाद्य—हे पुरुष, त्वया कान्ताम् आसाद्य प्राप्य नारकी व्यथा सोढव्या। तस्याः कान्तायाः वार्तापि न श्लाघ्या। आलिङ्गनादिकं कथं श्लाघ्यम्। इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ नार्याः पिशाचसाम्यमाह।

657) स को ऽपि—स को ऽपि देवः "स्मर्यते। वा अथवा। आलम्ब्य आश्रित्य साहसं मन्त्रः स्मर्यते"। यतः अङ्गनापिशाची इयं ग्रसितुं भक्षितुं नोपसर्पति न गच्छति। इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ वनिताया अचिन्त्यपराक्रमम् आह।

658) एकैव वनिता—हे मूढ, यया स्त्रिया लीलयैव क्रीडयैव जगतां त्रयं खण्डितं सा एका वनिताव्याली स्त्रीसर्पिणी। कीदृशी। दुर्विचिन्त्यपराक्रमा अचिन्त्यमहाबला। इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ तत्पापं न यत्स्त्रियो न कुर्वन्ति [इत्याह]।

659) न तद् दृष्टं—स्त्रियः यत् महापापं कुर्वन्ति। कीदृश्यः स्त्रियः। कामकलङ्किताः। तत्पापं दृष्टं न, श्रुतं न, ज्ञातं न, तत् शास्त्रेषु चर्चितं न। इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ तासां जन्मदुष्टत्वमाह।

जिस स्त्रीको प्राप्त करके तुझे नरककी वेदना सहनी पड़ेगी उसकी जब बात करना भी प्रशंसनीय नहीं है—निन्दनीय है—तब भला उसका आलिंगन आदि तो प्रशंसनीय हो ही कैसे सकता है ? नहीं हो सकता है ॥१६॥

इसलिए हे भव्य ! साहसका आश्रय लेकर तुझे ऐसे किसी देव या मन्त्रका स्मरण करना चाहिए कि जिसके प्रभावसे यह स्त्रीरूप पिशाची ग्रसित करनेके लिए निकट ही न आ सके ॥१७॥

हे मूर्ख ! जिस स्त्रीने अनायास ही तीनों लोकोंको खण्डित कर डाला है—उन्हें अपने प्रभावसे वशमें कर लिया है—वह एक स्त्रीरूप सर्पिणी ही अचिन्त्य पराक्रमकी धारक है ॥१८॥

कामसे कलंकित स्त्रियाँ जिस घोर पापको करती हैं वह न देखा गया है, न सुना गया है, न जाना गया है, और न शास्त्रोंमें चर्चाका विषय भी बना है ॥१९॥

१. L J स्मर्यते। २. J यत्राङ्गना। ३. M श्रुतज्ञानं। ४. N पापकलङ्किताः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

660) यमजिह्वानलज्वालावज्रविद्युद्विषाङ्कुरान् ।
समाहृत्य कृता मन्ये वेधसेयं विलासिनी ॥२०

661) मनस्यन्यद्वचस्यन्यद्वपुष्यन्यद्विचेष्टितम् ।
यासां प्रकृतिदोषेण प्रेम तासां कियच्चिरम्[1] ॥२१

662) अप्युत्तुङ्गाः पतिष्यन्ति नरा नार्यङ्गसंगताः ।
यथावामिति लोकस्य स्तनाभ्यां प्रकटीकृतम् ॥२२

663) यदीन्दुस्तीव्रतां धत्ते चण्डरोचिश्च शीतताम् ।
दैवात्तथापि नो धत्ते नरि नारी स्थिरं मनः ॥२३

---

660) यमजिह्वा—इयं विलासिनी स्त्री । अहम् एवं मन्ये । यमजिह्वानलज्वाला वज्र-विद्युद्विषाङ्कुरा समाहृत्य, मृत्युरसनाग्निशिखा अशनिविद्युद्गरसमाङ्कुरा एकत्र संमील्य कृता । केन । वेधसा ब्रह्मणा । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ तासां वक्रत्वमाह ।

661) मनस्यन्यत्—यासां प्रकृतिदोषेण स्वभावदोषेण सर्वचेष्टितं भिन्नम् । तासां प्रेम कियत्कालं चिरम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ तासां जगत्पातमाह ।

662) अप्युत्तुङ्गाः—नराः नार्यङ्गसंगताः नारीसंगयुक्ताः उत्तुङ्गा अपि पतिष्यन्ति । यथा आवाम् इति लोकस्य स्तनाभ्यां प्रकटीकृतम् । स्तनाभ्याम् एव आवाम् इति नाम प्रकटीकृतम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ तासां मनश्चञ्चलत्वमाह ।

663) यदीन्दुः—यदि इन्दुः चन्द्रः तीव्रतां तीव्रतापवत्त्वं धत्ते । च पुनः । चण्डरोचिः सूर्यः । दैवात् भाग्यतः । शीततां शीतलत्वं धत्ते । तथापि नारी स्त्री नरि मनुष्ये स्थिरं मनः नो धत्ते ॥२३॥ महाप्राज्ञास्तासां चरितं न जानन्ति ।

मैं समझता हूँ कि ब्रह्माने यमराजकी जीभ, अग्निकी ज्वाला, वज्र, बिजली और विषके अंकुरोंको लेकर इस स्त्रीको निर्मित किया है। तात्पर्य यह कि स्त्री उक्त यमराजकी जीभ आदि की अपेक्षा भी अधिक सन्ताप देनेवाली है ॥२०॥

जिन स्त्रियोंके स्वभावदोषसे ही मनमें अन्य, वचनमें अन्य तथा प्रवृत्तिमें कुछ अन्य ही होता है उनकी प्रीति कितने काल रह सकती है ? तात्पर्य यह कि स्त्रियोंकी वह कपटमय प्रीति कुछ ही समय तक रहती है, तत्पश्चात् वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥२१॥

स्त्रीके जो दोनों उन्नत स्तन नीचेकी ओर झुके रहते हैं वे मानो यही प्रगट करते हैं कि स्त्रीके शरीरके साथ संयोगको प्राप्त होकर उन्नत (महान्) पुरुष भी नीचे गिरेंगे—अधोगतिको प्राप्त होंगे, जैसे कि उसके शरीरसे संयुक्त होकर हम दोनों भी नीचे गिर रहे हैं ॥२२॥

यदि दैववश चन्द्रमा तीव्रताको धारण कर लेता है और सूर्य कदाचित् शीतलताको धारण कर लेता है, तो भी स्त्री पुरुषके विषयमें अपने मनको स्थिर नहीं रख सकती है।

---

१. All others except P M N T. कियद्वरम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

664) देवदैत्योरगव्यालग्रहचन्द्रार्कचेष्टितम् ।
विदन्ति ये महाप्राज्ञास्ते ऽपि वृत्तं न योषिताम् ॥२४

665) सुखदुःखजयपराजयजीवितमरणानि ये विजानन्ति ।
मुह्यन्ति ते ऽपि नूनं तत्त्वविदश्चेष्टिते[2] स्त्रीणाम् ॥२५

666) जलधेर्यानपात्राणि ऋक्षाणि[3] गगनस्य च ।
यान्ति पारं न तु स्त्रीणां दुश्चरित्रस्य केचन ॥२६

667) आरोपयन्ति संदेहतुलायामतिनिर्दयाः ।
नार्यः पतिं च पुत्रं च पितरं च क्षणादपि ॥२७

664) देवदैत्योरग—ये महाप्राज्ञा महाबुद्धयः । देवदैत्योरगव्यालग्रहचन्द्रार्कचेष्टितं, देवदैत्योरगाः सुगमाः । व्यालाः सर्पाः । ग्रहाः प्रसिद्धाः । चन्द्रः । अर्कः सूर्यः । तेषां चेष्टितं विदन्ति । ते ऽपि योषितां वृत्तं चरितं न विदन्तीत्यर्थः ॥२४॥ अथ स्वकीयमरणं विदन्ति ये ते स्त्रीणां चरितं न विदन्तीत्याह ।

665) सुखदुःख—ये सुखदुःखजयपराजयजीवितमरणानि विजानन्ति । नूनं निश्चितम् । ते ऽपि तत्त्वविदः चेष्टिते स्त्रीणां चरिते मुह्यन्ति । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ स्त्रीणां चरितस्य पारं के ऽपि न जानन्तीत्याह ।

666) जलधेर्यान—यानपात्राणि जलधेः समुद्रस्य पारं यान्ति । च पुनः । गगनस्य आकाशस्य ग्रहाद्याः पारं यान्ति । स्त्रीणां दुश्चरित्रस्य केचन पारं न यान्तीति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ सर्वेषां मनः चञ्चलं स्त्रियः कुर्वन्तीत्याह ।

667) आरोपयन्ति—नार्यः पतिम् । च पुनः । पुत्रं च पितरं च । क्षणादपि संदेहतुलायाम् आरोपयन्ति । कीदृश्यः नार्यः । अतिनिर्दयाः । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ मीनादीनां जले गतिं कदाचिद् विदन्ति तामाह ।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार चन्द्रमाका उष्ण होना कभी सम्भव नहीं है तथा सूर्यका कभी शीतल होना सम्भव नहीं है उसी प्रकार स्त्रीके प्रेमका किसी एक पुरुषमें स्थिर रहना सम्भव नहीं है ॥२३॥

जो अतिशय बुद्धिमान् मनुष्य देव, दैत्य, सर्प, हाथी, ग्रह, चन्द्र और सूर्यकी चेष्टाको जानते हैं वे भी स्त्रियोंके चरित्रको नहीं जानते हैं ॥२४॥

जो मनुष्य सुख-दुख, जय-पराजय और जीवन-मरणको जानते हैं वे तत्त्वके जानकार पुरुष भी स्त्रियोंके चरित्रके विषयमें मूढ़ताको प्राप्त होते हैं—उसे नहीं जानते हैं ॥२५॥

जहाज समुद्रके पार पहुँचते हैं तथा नक्षत्र आकाशके पार पहुँचते हैं परन्तु स्त्रियोंके दुश्चरित्रके पार कोई भी नहीं पहुँचते हैं—उसे जाननेके लिए कोई भी समर्थ नहीं है ॥२६॥

स्त्रियाँ अतिशय निर्दय होकर पति, पुत्र और पिताको भी सन्देहकी तराजूपर क्षण-

१. N महाप्रज्ञा° । २. FVJ चेष्टितं । ३. All others except P ग्रहाद्या गगनस्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

668) गृह्णन्ति विपिने व्याघ्रं शकुन्तं गगने स्थितम् ।
सरिद्ध्रदगतं मीनं न स्त्रीणां चपलं मनः ॥२८
669) न तदस्ति जगत्यस्मिन् मणिमन्त्रौषधाञ्जनम् ।
विद्याश्च येन सद्भावं प्रयास्यन्तीह योषितः ॥२९
670) मनोभवसमं शूरं कुलीनं भुवनेश्वरम् ।
हत्वा स्त्रियः पतिं सद्यो रमन्ते चेटिकासुतैः[1] ॥३०
671) स्मरोत्सङ्गमपि प्राप्य वाञ्छन्ति पुरुषान्तरम् ।
नार्यः सर्वाः स्वभावेन वदन्तीत्यमलाशयाः ॥३१

---

668) गृह्णन्ति—विपिने वने व्याघ्रं गृह्णन्ति । गगने स्थितं शकुन्तं गृह्णन्ति । सरिद्ध्रदगतं नदीह्लदगतं मीनम् । न स्त्रीणां चपलं मनः । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ स्त्रीणां वशीकरणे मन्त्रादिकं नास्तीत्याह ।

669) न तदस्ति—अस्मिन् जगति मणिमन्त्रौषधाञ्जनं तदस्ति । च पुनः । विद्या । येन मण्यादिना विद्यया इह जने योषितः स्त्रियः सद्भावं प्रयास्यन्ति यास्यन्तीत्यर्थः ॥२९॥ अथ स्त्रीणां स्वभर्तृमारकत्वं दर्शयतीत्याह ।

670) मनोभवं—चेटिकासुतैः दासीपुत्रैः । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ तासां सर्वथा पतिसंगेऽपि चञ्चलत्वमाह ।

671) स्मरोत्संगमपि—सर्वा नार्यः स्मरोत्संगमपि प्राप्य पुरुषान्तरं वाञ्छन्ति स्वभावेन । इति अमुना प्रकारेण अमलाशया निर्मलचित्ता वदन्ति इत्यर्थः ॥३१॥ अथ पुनस्तासां स्वरूपमाह ।

भरमें आरोपित किया करती हैं । अभिप्राय यह है कि स्त्रियाँ अपने पति, पुत्र और पिताको भी सन्देहकी दृष्टिसे देखने लगती हैं ॥२७॥

कितने ही मनुष्य वनमें स्थित व्याघ्रको, आकाशमें स्थित पक्षीको तथा नदी व तालाबमें स्थित मछलीको ग्रहण किया करते हैं । परन्तु स्त्रियोंके चंचल मनको कोई भी नहीं ग्रहण कर सकता है—उनके मनमें स्थित विचारको कोई भी नहीं जान पाता है ॥२८॥

इस संसारमें वह कोई मणि, मन्त्र, औषध और अंजन तथा ऐसी वे विद्याएँ भी नहीं हैं जिनके आश्रयसे यहाँ स्त्रियाँ उत्तम अभिप्रायको प्राप्त करेंगी । तात्पर्य यह कि स्त्रियोंको सुमार्गपर लानेका कोई उपाय नहीं है ॥२९॥

स्त्रियाँ कामदेवके समान सुन्दर, पराक्रमी, कुलीन और लोकके स्वामी (राजा) जैसे पतिको शीघ्र ही मार करके दासीपुत्रों (नीच पुरुषों) के साथ रमण किया करती हैं ॥३०॥

सब स्त्रियाँ कामदेवकी गोदको भी पा करके—कामदेवके समान सुन्दर पतिको भी प्राप्त करके—स्वभावसे अन्य पुरुषकी इच्छा किया करती हैं ऐसा निर्मल अभिप्रायवाले मुनिजन बतलाते हैं ॥३१॥

---

१. J interchanges No 30-31 ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

672) विनाञ्जनेन तन्त्रेण मन्त्रेण विनयेन च ।
वञ्चयन्ति नरं नार्यः प्रज्ञाधनमपि क्षणे[1] ॥३२

673) कुलजातिगुणभ्रष्टं निकृष्टं दुष्टचेष्टितम् ।
अस्पृश्यमधमं प्रायो मन्ये स्त्रीणां प्रियं नरम् ॥३३

674) वैरिवारणदन्ताग्रे समारुह्य स्थिरीकृता ।
वीरश्रीयैर्महासत्त्वैर्योषिद्भिस्ते ऽपि खण्डिताः ॥३४

675) गौरवेषु प्रतिष्ठासु गुणेष्वाराध्यकोटिषु ।
धृता अपि निमज्जन्ति दोषपङ्के स्वयं स्त्रियः ॥३५

672) विनाञ्जनेन—नार्यः नरं वञ्चयन्ति । क्षणे सुरतसमये । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ जात्यादिगुणहीनं स्त्रियो वाञ्छन्ति ।

673) कुलजाति—अहम् एवं मन्ये । कासां । स्त्रीणाम् । एतादृशं नरं प्रियम् । प्रायो बाहुल्येन । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ स्त्रीभिः वीरा अपि खण्डिता इत्याह ।

674) वैरिवारण—यैः महासत्त्वैः वीरश्रीः वैरिवारणदन्ताग्रे शत्रुवारणदन्ताग्रभागे समारुह्य रोहित्वा स्थिरीकृता । ते ऽपि महासत्त्वा योषिद्भिः खण्डिताः । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ गौरवादिगुणेषु स्थापिता अपि स्त्रियः नीचत्वं यान्तीत्याह ।

675) गौरवेषु—स्त्रियः स्वयं दोषपङ्के निमज्जन्ति । कीदृश्यः स्त्रियः । गौरवेषु प्रतिष्ठासु, वार्धक्ये, गुणेषु महत्तरादिषु, आराध्यकोटिषु आराधनीयमर्यादासु धृता अपि । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ तासां कुटिलत्वमाह ।

स्त्रियाँ अंजन, औषधि, मन्त्र, और विनयके बिना भी क्षणभरमें अतिशय बुद्धिमान् पुरुषको भी धोखा दिया करती हैं ॥३२॥

जो पुरुष कुल, जाति एवं गुणसे भ्रष्ट; निन्द्य, दुराचारी, छूनेके अयोग्य और हीन होता है वह प्रायः स्त्रियोंको प्रिय लगता है; ऐसा मैं मानता हूँ ॥३३॥

जिन अतिशय बलशाली पुरुषोंने शत्रुके हाथीके दाँतके अग्र भागपर चढ़कर वीर-लक्ष्मीको स्थिर कर दिया है वे भी स्त्रियोंके द्वारा खण्डित किये जा चुके हैं—उनको भी स्त्रियोंने अपने वशमें कर लिया है ॥३४॥

गौरव, प्रतिष्ठा और आराधनीय उत्कृष्ट गुणोंमें स्थापित की गयी भी स्त्रियाँ स्वयं दोषरूप कीचड़में निमग्न हुआ करती हैं । अभिप्राय यह है कि स्त्रियोंको उत्तम गुणोंमें प्रवृत्त करानेपर भी वे उन गुणोंमें प्रवृत्त न होकर दोषोंमें ही प्रवृत्त हुआ करती हैं ॥३५॥

१. S F V क्षणं, X Y R क्षणात् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

676) दोषान् गुणेषु पश्यन्ति प्रिये कुर्वन्ति विप्रियम् ।
संमानिताः[1] प्रकुप्यन्ति निसर्गकुटिलाः स्त्रियः ॥३६

677) कृत्वाप्यकार्यलक्षाणि[2] प्रत्यक्षमपि योषितः ।
छादयन्त्येव निःशङ्का विश्ववञ्चनपण्डिताः ॥३७

678) दानसन्मानसंभोगप्रणतिप्रतिपत्तिभिः ।
अपि सेवापरं नाथं घ्नन्ति नार्यो ऽतिनिर्दयाः ॥३८

679) विषमध्ये सुधास्यन्दं सस्यजातं शिलोच्चये ।
संभाव्यं न तु संभाव्यं चेतः स्त्रीणामकश्मलम्[3] ॥३९

---

676) **दोषान् गुणेषु**—स्त्रियः निसर्गकुटिलाः स्वभाववक्राः दोषान् गुणेषु पश्यन्ति । प्रिये पुत्रादौ विप्रियं प्रतिकूलं कुर्वन्ति । सन्मानिताः सन्मानं दत्ताः प्रकुप्यन्ति, क्रोधं कुर्वन्ति । इत्यर्थः ॥३६॥ अथ तासां जगद्वञ्चनपाण्डित्यमाह ।

677) **कृत्वाप्यकार्य**—योषितः स्त्रियः अकार्यलक्षाणि कृत्वापि । प्रत्यक्षमपि छादयन्त्येव आच्छादयन्त्येव निःशङ्काः । कीदृश्यः । विश्ववञ्चनपण्डिताः जगद्वञ्चनचतुराः । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ तासां पतिघातनमाह ।

678) **दानसन्मान**—नार्यो ऽतिनिर्दयाः सत्यः सेवापरं नाथमपि भर्तारमपि घ्नन्ति मारयन्ति । काभिः सेवापरम् । दानसन्मानप्रतिपत्तिभिः दानसन्माननमस्काराङ्गीकारैः । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ स्त्रीणां चेतःस्वरूपमाह ।

679) **विषमध्ये**—विषमध्ये सुधास्यन्दं सुधाद्रावः संभाव्यम् । शिलोच्चये पर्वतशिलायां सस्यजातम् अन्नसमूहः संभाव्यम् । स्त्रीणाम् अकश्मलं निष्पापं चेतः न तु संभाव्यम् । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथ स्त्रीणां चेतोऽशुद्धिमाह ।

स्वभावसे कुटिल स्त्रियाँ गुणोंमें दोषोंको देखा करती हैं, प्रिय (हितैषी) के विषयमें वे दुष्टतापूर्ण व्यवहार करती हैं, तथा उनका आदर किये जानेपर वे क्रोधको प्राप्त होती हैं ॥३६॥

स्त्रियाँ सब ही जनोंके ठगनेमें चतुर होती हैं। वे प्रत्यक्षमें लाखों अयोग्य कार्योंको करके भी उन्हें सन्देहसे रहित होकर आच्छादित किया करती हैं—हमारे दोष कभी प्रगट हो सकते हैं, ऐसा उन्हें सन्देह भी नहीं रहता है ॥३७॥

जो दान, सन्मान, सम्भोग, नमन और आदर-सत्कारके द्वारा निरन्तर ही उनकी सेवामें तत्पर रहता है ऐसे सुयोग्य पतिको भी वे स्त्रियाँ निर्दयतापूर्वक मार डालती हैं ॥३८॥

कदाचित् विषके मध्यमें अमृतके प्रवाहकी तथा शिलासमूहके ऊपर धान्य (फसल) के समूहकी सम्भावना भले ही की जा सकती हो, परन्तु स्त्रियोंके मनमें निर्मलताकी कभी सम्भावना नहीं की जा सकती है—उनका मन सदा मलिन ही रहता है ॥३९॥

---

१. All Mss. सन्मानिताः । २. All others except PMNJ कृत्वापकार्य । ३. MN स्त्रीणामकल्मषम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

680) वन्ध्याङ्गजस्य[1] राज्यश्रीः पुष्पश्रीर्गगनस्य च ।
स्याद्दैवान्न तु नारीणां मनःशुद्धिर्मनागपि ॥४०
681) कुलद्वयमहाकक्षं भस्मसात् कुरुते क्षणात् ।
दुश्चरित्रसमीरालीप्रदीप्तो वनितानलः ॥४१
682) सुराचल इवाकम्पा अगाधा वार्धिवद् भृशम् ।
नीयन्ते ऽत्र नराः स्त्रीभिरवधूर्तिं[2] क्षणान्तरे ॥४२
683) वित्तहीनो जरी[3] रोगी दुर्बलः स्थानविच्युतः ।
कुलीनाभिरपि स्त्रीभिः सद्यो भर्ता विमुच्यते ॥४३

680) वन्ध्याङ्गजस्य—वन्ध्याङ्गजस्य वन्ध्यासुतस्य राज्यश्रीः दैवात् भाग्यात् स्यात् । च पुनः । गगनस्य आकाशस्य पुष्पश्रीः दैवात् स्यात् । न तु स्त्रीणां मनागपि स्तोकमपि मनःशुद्धिः स्यात् ॥४०॥ अथ तासां स्वरूपमाह ।

681) कुलद्वय—वनितानलः स्त्रीवह्निः कुलद्वयमहाकक्षम् उभयकुलतृणसमूहं भस्मसात् कुरुते क्षणात् । कीदृशो वनितानलः । दुश्चरित्रसमीरालिप्रदीप्तः दुश्चारपवनसमूहप्रदीप्तः । इति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथ तासां निष्कम्पादिगुणोपायमाह ।

682) सुराचलः—अत्र जगति स्त्रीभिः नराः अवधूर्तिं भस्म क्षणान्तरे नीयन्ते प्राप्यन्ते । शेषं सुगमम् ॥४२॥ अथ ताभिः वित्तहीनादियुक्तो भर्ता त्याज्यः इत्याह ।

683) वित्तहीनो—शारीरबलरहितः स्थानच्युतः स्थानभ्रष्टः । शेषं सुगमम् ॥४३॥ अथ नराणां स्त्रियः दुःखहेतवः इत्याह ।

संयोगसे बन्ध्या स्त्रीके पुत्रको राज्यलक्ष्मी तथा आकाशको पुष्पोंकी शोभा भले ही प्राप्त हो जावे, परन्तु स्त्रियोंके मनकी शुद्धि थोड़ी सी भी नहीं हो सकती है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार असम्भव बन्ध्यापुत्रके कभी राज्यलक्ष्मीकी सम्भावना नहीं है तथा आकाशके कभी फूलोंकी सम्भावना नहीं है उसी प्रकार स्त्रियोंके मनमें शुद्धि (निर्मलता) की सम्भावना नहीं है ॥४०॥

स्त्रीरूप अग्नि दुराचरणरूप वायुके समूहसे प्रज्वलित होकर दोनों ही कुलों (मातृवंश व पतिका वंश) को क्षणभरमें भस्म कर देती है ॥४१॥

जो मनुष्य सुमेरुके समान निष्कम्प (स्थिर) और समुद्रके समान अतिशय गम्भीर होते हैं उन्हें भी विचलित करके स्त्रियाँ क्षणभरके भीतर तिरस्कारको प्राप्त कराती हैं। अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य अतिशय गम्भीर होते हैं उन्हें भी स्त्रियाँ अपने वशमें करके अपमानित किया करती हैं ॥४२॥

यदि पति धनहीन, वृद्ध, रोगी, दुर्बल और स्थानसे रहित होता है तो उसे कुलीन स्त्रियाँ भी शीघ्र छोड़ दिया करती हैं। फिर नीच स्त्रियोंका तो कहना ही क्या है—यदि वे उसे छोड़ देती हैं तो इसमें आश्चर्य कुछ भी नहीं है ॥४३॥

१. L वन्ध्यासुतस्य । २. M °रवधूतं । ३. MN ज्वरी ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

684) भेत्तुं शूलमसिं छेत्तुं कर्तितुं क्रकचं[1] दृढम् ।
नरान् पीडयितुं यन्त्रं वेधसा विहिताः स्त्रियः ॥४४

685) विधुर्वधूभिर्मन्ये ऽहं नभःस्थो ऽपि प्रतारितः ।
अन्यथा क्षीयते कस्मात् [2]कलङ्कोपहतप्रभः[3] ॥४५

686) यद्रागं संध्ययोर्धत्ते यद्भ्रमत्यविलम्बितम् ।
तन्मन्ये वनितासार्थै[4]र्विप्रलब्धः[5] खरद्युतिः ॥४६

684) भेत्तुं शूलं—स्त्रियः वेधसा विधात्रा नरान् भेत्तुं शूलं विहिताः कृताः । कर्तृकर्म-क्रियाध्याहारः सर्वत्र योज्यः । नरान् छेत्तुमसिः खड्गः स्त्रियः विहिताः, कर्तितुं दृढक्रकचं विहिताः । नरान् पीडयितुं यन्त्रं विहिताः । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ ताः सर्वेषां विप्रतारयन्ति तदाह ।

685) विधुर्वधूभिः—अहं मन्ये । वधूभिः स्त्रीभिः नभःस्थोऽपि विधुः चन्द्रः विप्रतारितः । अन्यथा नो चेत् प्रतारितः । कलङ्कोपहतक्रमः कलङ्कव्याप्तमध्यः कस्मात् क्षीयते । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ पुनस्तासां विप्रतारणमाह ।

686) यद्रागं—अहं मन्ये । खरद्युतिः सूर्यः संध्ययोः प्रातःसायंसंध्ययोः यत् रागं धत्ते, यत् अविलम्बितं भ्रमति । तत् तस्मात् कारणात् वनितासार्थैः स्त्रीसमूहैः विप्रलब्धः* भ्रामितः । इति सूत्रार्थः ॥४६॥ अथ तासां कृते सरित्पतिकष्टतामाह ।

ब्रह्माने मनुष्योंको खण्डित करनेके लिए शूल (अस्त्रविशेष) जैसी, छेदनेके लिए तलवार जैसी, काटनेके लिए आरी जैसी तथा पेलनेके लिए दृढ़ यन्त्र (कोल्हू) जैसी स्त्रियोंको रचा है ॥४४॥

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आकाशमें स्थित रहनेवाला चन्द्रमा भी उन स्त्रियोंके द्वारा ठगा गया है। कारण कि यदि नहीं होता तो वह कलंकसे कान्तिहीन होकर भला किस कारणसे क्षीण होता ॥४५॥

सूर्य चूँकि दोनों सन्ध्याकालोंमें लालिमाको धारण करता है तथा निरन्तर परिभ्रमण भी करता है, इससे मैं ऐसा समझता हूँ कि वह भी स्त्रीसमूहके द्वारा ठगा गया है ॥४६॥

धैर्यशाली भी समुद्र चूंकि स्त्रीके निमित्तसे मथा गया है और बाँधा भी गया है इसीलिए भीतरसे रिक्त होकर वह वेला (किनारा) के मिषसे रोता है और काँपता भी है—किनारेपर टकरानेवाली लहरोंके शब्दसे मानो वह रो रहा है तथा उनकी चंचलतासे मानो काँप ही रहा है ॥ विशेषार्थ—यहाँ जो समुद्रमन्थनमें स्त्री (विद्याधरी व लक्ष्मी) को जो निमित्त बतलाया गया है उसकी कथा इस प्रकार है—

एक बार पृथिवीपर विचरण करते हुए दुर्वासा ऋषिको एक सुन्दर विद्याधर स्त्री दिखी। उसके हाथमें सन्तानक पुष्पोंकी माला थी। उसे दुर्वासा ऋषिने उससे माँग लिया। आगे जानेपर उन्हें देवोंके साथ ऐरावत हाथीपर चढ़कर आता हुआ इन्द्र दिखा। तब

१. F कर्तुं क्रकचनं दृढम् । २. L S X Y R कलङ्कापहत । ३. FVJ क्रमः for प्रभः । ४. FV सार्धैर्विप्र । ५. V लुब्धः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

687) अन्तःशून्यो भृशं रौति वेलाव्याजेन वेपते[1] ।
धीरो ऽपि मथितो बद्धः स्त्रीनिमित्ते सरित्पतिः ॥४७

688) सुरेन्द्रप्रतिमा धीरा अप्यचिन्त्यपराक्रमाः ।
दशग्रीवादयो याताः कृते स्त्रीणां रसातलम् ॥४८

687) अन्तःशून्यः—सरित्पतिः समुद्रः स्त्रीनिमित्ते भृशं रौति । वेलाव्याजेन कल्लोलकपटेन वेपते कम्पते । कथंभूतः । अन्तो मध्यः शून्यः । धीरो ऽपि मथितो बद्धः । इति सूत्रार्थः ॥४७॥ अथ स्त्रीणां स्वरूपमाह ।

688) सुरेन्द्रप्रतिमा—स्त्रीणां कृते कारणाय दशग्रीवादयो दशकन्धराद्याः पृथ्वीतलं याताः । कीदृशा दशग्रीवादयः । सुरेन्द्रप्रतिमाः सुरेन्द्रसदृशाः । धीरा अचिन्त्यपराक्रमाः । इति सूत्रार्थः ॥४८॥ पुनस्तासां निन्द्यत्वमाह ।

उन्होंने उस मालाको लेकर इन्द्रके ऊपर फेंक दिया। इन्द्रने उसे ऐरावत हाथीके मस्तकपर डाल दिया तथा उस हाथीने उसे सूँघकर पृथिवीके ऊपर फेंक दिया। इस प्रकार उस मालाके तिरस्कारको देखकर दुर्वासाने क्रुद्ध होते हुए इन्द्रको यह शाप दे डाला कि तेरे तीनों लोकोंकी लक्ष्मी नष्ट हो जाय। तदनुसार तीनों लोकोंकी वह श्री नष्ट हो गयी और तब श्रीहीन हो जानेसे दैत्यों द्वारा देवलोग जीत लिये गये। उस लक्ष्मीको पुनः प्राप्त करनेके लिए देव लोग ब्रह्माजीके साथ विष्णुके पास पहुँचे। वहाँ उन सबने विष्णु भगवान्की स्तुति करते हुए उनसे दर्शन देनेकी प्रार्थना की। तदनुसार विष्णु भगवान्के प्रगट होनेपर देवगणने अपनी नष्ट हुई लक्ष्मीको पुनः वृद्धिगत करनेकी प्रार्थना की। इसपर विष्णु भगवान्ने उन्हें दैत्योंके साथ क्षीरसमुद्रके मन्थनका उपदेश दिया। इस प्रकार क्षीरसमुद्रका मन्थन करनेपर उसमें-से क्रमशः कामधेनु, वारुणी देवी, कल्पवृक्ष, अप्सरासमूह, चन्द्रमा, विष, अमृतसे परिपूर्ण कमण्डलुको लिये हुए धन्वन्तरि देव और अन्तमें लक्ष्मी देवी प्रगट हुई। तब विष्णु भगवान्की सहायतासे वह अमृतका कमण्डलु देवगणको प्राप्त हो गया। उसका पान करनेपर वे अतिशय बलशाली हो गये। तब उनसे पराजित होकर दैत्य सेना भाग गयी। अन्तमें इन्द्र द्वारा स्तुति करनेपर लक्ष्मी देवीने सन्तुष्ट होकर उसकी इच्छानुसार यह वर दिया कि अब मैं तेरे तीनों लोकोंको कभी नहीं छोड़ूँगी तथा जो मनुष्य मेरी स्तुति करेगा उसके मैं कभी पराङ्मुख नहीं होऊँगी। इस प्रकार लक्ष्मी जी की कृपासे तीनों लोकोंकी शोभा फिरसे पूर्ववत् हो गयी।

समुद्रका बन्धन सीताके निमित्तसे हुआ है—रामचन्द्रके वनवासके समय जब रावण सीताको हरकर समुद्रसे वेष्टित लंकामें ले गया था तब रामचन्द्र हनुमान्के द्वारा इसका पता लगाकर वानरसेनाके साथ शत्रुके विनाशार्थ लंका पहुँचे थे। उस समय उन्होंने लवण-समुद्रके ऊपर सेतु (पुल) को बाँधा था ॥४७॥

इन्द्रके सदृश बलशाली, धीर और अचिन्त्य पराक्रमके धारक रावण आदि स्त्रियोंके निमित्तसे नरकको प्राप्त हुए हैं ॥४८॥

१. M N T व्याजेन कम्पते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

689) दुःखखानिरगाधेयं क्लेर्मूलं भयस्य च ।
पापबीजं शुचां कन्दः[1] श्वभ्रावनिर्नितम्बिनी ॥४९

690) यदि मूर्ताः प्रजायेरन्[3] स्त्रीणां दोषाः कथंचन ।
पूरयेयुस्तदा नूनं निःशेषं भुवनोदरम् ॥५०

691) कौतुकेन समाहर्तुं विश्ववर्त्यङ्गिसंचयम्[4] ।
वेधसेयं कृता मन्ये नारी व्यसनवागुरा ॥५१

692) एकं दृशा परं भावैर्वाग्भिरन्यं तथेङ्गितैः ।
संज्ञयान्यं रतैश्चान्यं रमयन्त्यङ्गना[5] जनम् ॥५२

689) दुःखखानिः—शुचां शोकानां कन्दः, श्वभ्रावनिः नरकभूः, नितम्बिनी स्त्री । शेषं सुगमम् ॥४९॥ अथ स्त्रीणां दोषस्वरूपमाह ।

690) यदि मूर्ताः—यदि नूनं निश्चितं स्त्रीणां दोषाः, कथंचन केनचित्प्रकारेण मूर्ताः शरीरवन्तः प्रजायन्ते*। तदा निःशेषं समस्तं भुवनोदरं पूरयेयुः पूर्णं कुर्युः । इति सूत्रार्थः ॥५०॥ अथ स्त्रियो वागुरासाम्यमाह।

691) कौतुकेन—वेधसा ब्रह्मणा इयं नारी व्यसनवागुरा कृता । अहं मन्ये । किं कृत्वा । विश्ववर्त्यङ्गिसंचयं जगद्वर्तिप्राणिसमूहं कौतुकेन *समाहृत्य गृहीत्वा । इति सूत्रार्थः ॥५१॥ अथ तासां सर्वसाधारणत्वमाह ।

692) एकं दृशा—अङ्गना स्त्री, एकं जनं दृशा रमयति । अपरं जनं भावैः चित्तसमुद्भवैः । तथा वाग्भिः अन्यम् । इङ्गितैः अन्यम् । संज्ञया अङ्गुलीभ्रूभ्यां कृतया । च पुनः । रतैः संभोगैः अन्यं रमयतीत्यर्थः ॥५२॥ अथ तासां त्यागो यैः कृतस्तानाह ।

यह स्त्री दुःखोंकी गहरी खान, लड़ाई और भयकी जड़, पापकी कारण, शोककी जड़ तथा नरककी पृथिवी—नरक प्राप्तिका कारण है ॥४९॥

स्त्रियोंमें इतने अधिक दोष होते हैं कि यदि वे किसी प्रकारसे मूर्त स्वरूपको धारण कर लें तो वे निश्चयसे समस्त लोकको पूर्ण कर देंगे ॥५०॥

ब्रह्माने आपत्तियोंकी वागुरा (मृगोंके फँसानेका जाल) स्वरूप जो इस स्त्रीकी रचना की है वह मानो उसने कुतूहलसे लोकके भीतर रहनेवाले प्राणिसमूहके एकत्रित करनेके लिए ही की है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥५१॥

स्त्री कटाक्षपातसे किसी एक पुरुषको, भावोंसे दूसरेको, वचनों व शरीरकी चेष्टाओंसे किसी औरको, संकेतसे किसी अन्यको तथा सम्भोगसे अन्य ही पुरुषको सन्तुष्ट किया करती है ॥५२॥

१. T शोककन्दः । २. All others except P S F श्वभ्रभूमिः । ३. All others except P M N प्रजायन्ते । ४. M N विश्ववर्त्यागसां चयम् । ५. N T रमयत्यङ्गना ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

693) धीर[1] धैर्यं समालम्ब्य विवेकामललोचनैः ।
त्यक्ताः[2] स्वप्ने ऽपि निःशङ्कैर्नार्यः[3] श्रीसूरिपुंगवैः ॥५३

694) यद्वक्तुं न बृहस्पतिः शतमखः श्रोतुं न साक्षात्क्षम-
स्तत्स्त्रीणामगुणव्रजं निगदितुं मन्ये न को ऽपि प्रभुः ।
आलोक्य[4] स्वमनीषया कतिपयैर्वर्णैर्यदुक्तं मया
तच्छ्रुत्वा गुणिनस्त्यजन्तु वनितासंभोगपापग्रहम् ॥५४

695) परिभवफलवल्लीं दुःखदावानलालीं
विषयजलधिवेलां श्वभ्रसौधप्रतोलीम् ।
मदनभुजगदंष्ट्रां मोहतन्द्रासवित्रीं
परिहर परिणामैः[5]स्थैर्यमालम्ब्य नारीम् ॥५५॥अथवा[6]–

693) धीर धैर्यं—श्रीसूरिपुङ्गवैः श्रीसूरिवरैः । शेषं सुगमम् ॥५३॥ अथ तासां दोषान् वक्तुं न को ऽपि समर्थ इत्याह ।

694) यद्वक्तुं—तत् स्त्रीणाम् अगुणव्रजं दोषसमूहं निगदितुं कथयितुं न कः प्रभुः समर्थः । अहं मन्ये । यत् अगुणव्रजं वक्तुं बृहस्पतिः न क्षमः । यत् अगुणव्रजं स्वमनीषया स्वबुद्ध्या आलोक्य कतिपयैर्वर्णैः मया अत्रोक्तम् । तत् अगुणव्रजं श्रुत्वा हे गुणिनः त्यजन्तु वनितासंभोगपापग्रहम् । इति सूत्रार्थः ॥५४॥ अथ तासां परित्यागमाह । मालिनी ।

695) परिभव—हे भव्य, परिणामैः* नारीं स्त्रियं परिहर त्यज । कीदृशीं नारीम् । परिभवफलवल्लीं पराभवफललताम् । पुनः कीदृशीम् । दुःखदावानलालीं दुःखदावाग्निश्रेणीम् । पुनः कीदृशीम् । विषयजलधिवेलाम् इन्द्रियविषयसमुद्रवेलाम् । पुनः कीदृशीम् । श्वभ्रसौधप्रतोलीं

हे धीर ! विवेकरूप निर्मल नेत्रोंके धारक श्रेष्ठ आचार्योंने निर्भय होकर धैर्यके आश्रयसे उन स्त्रियोंका स्वप्नमें भी परित्याग कर दिया है ॥५३॥

स्त्रियोंके जिस दोषसमूहका वर्णन करनेके लिए साक्षात् बृहस्पति समर्थ नहीं है तथा जिसके सुननेके लिए साक्षात् इन्द्र भी समर्थ नहीं है उसका वर्णन करनेके लिए कोई भी समर्थ नहीं है, ऐसा मैं मानता हूँ । फिर भी अपनी बुद्धिके अनुसार उनके उस दोष-समूहको देखकर मैंने जो कुछ वर्णोंके आश्रयसे उसका कथन किया है उसको सुनकर गुणी-जन स्त्रीके सम्भोगरूप क्रूर ग्रहको छोड़ दें ॥५४॥

जो स्त्री तिरस्काररूप फलको उत्पन्न करनेके लिए बेलके समान है, दुःखरूप वनाग्नि-की पंक्ति है, विषयभोगरूप समुद्रकी वेला (किनारा) है, नरकरूप प्रासादकी प्रतोली

१. All others except P N धीरैर्धैर्यं । २. M त्यक्त्वा । ३. S T F V X Y R निःसङ्गैर्नार्यः, MNJ निःकम्पै° । ४. M N आलोच्य स्व° । ५. L T परिणामैः स्थैर्यं, S F V J X Y R परिणामैर्धैर्यं । ६. PMLFY अथवा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

696) यमिभिर्जन्मनिर्विण्णैर्दूषिता यद्यपि स्त्रियः ।
तथाप्येकान्ततस्तासां विद्यते नाघसंभवः[1] ॥५६

697) ननु सन्ति जीवलोके काश्चिच्छमशीलसंयमोपेताः ।
निजवंशतिलकभूताः श्रुतसत्य[2]समन्विता नार्यः ॥५७

698) सतीत्वेन महत्त्वेन वृत्तेन विनयेन च ।
विवेकेन स्त्रियः काश्चिद् भूषयन्ति धरातलम् ॥५८

नरकमहल्लप्रतोलीम् । पुनः कीदृशीम् । मदनभुजगदंष्ट्राम् । सुगमम् । पुनः कीदृशीम् । मोहतन्द्रा-सवित्रीम् । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५५॥ अथवा । अथ पुनस्तासां त्यागमाह ।

696) यमिभिः—तथापि तासाम् अघसंचयः* [पाप] संग्रहो ऽत्र न विद्यते । शेषं सुगमम् ॥५६॥ अथ कासां शीलत्वमाह ।

697) ननु सन्ति—क्रोधाभावाचारसंयमोपेताः । शेषं सुगमम् ॥५७॥ अथ कासांचित् गुणानाह ।

698) सतीत्वेन—वृत्तेनाचारेण, विनयेन भक्त्या । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५८॥ अथ काश्चिन्मुनिभिर्नन्दिता न निन्द्याः ।

(भीतर जानेका मार्ग) है, कामरूप सर्पकी विषैली दाढ़के समान है, तथा मोह व आलस्यकी माता है; उसको हे भव्य, तू परिणामोंकी स्थिरताका आश्रय लेकर छोड़ दे ॥५५॥

अथवा—यद्यपि संसारसे विरक्त हुए मुनियोंने स्त्रियोंको दोषयुक्त बतलाया है तो भी उनके सर्वथा ही पापकी सम्भावना नहीं है। विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि यहाँ जो स्त्रियोंको अनेक दोषोंसे दूषित बतलाया गया है उससे सभी स्त्रियोंको नियमतः दोषयुक्त नहीं समझ लेना चाहिए। कारण कि उन स्त्रियोंमें अनेक स्त्रियाँ ऐसी भी होती हैं जो अपनी सदाचार प्रवृत्तिसे दोनों कुलोंको उज्ज्वल करती हैं। यहाँ जो उनकी विशेष निन्दा की गयी है वह केवल विषयभोगोंसे विरक्त करानेके उद्देश्यसे की गयी है। इसी अभिप्रायको ग्रन्थकार आगे स्वयं व्यक्त करते हैं ॥५६॥

संसारमें निश्चयसे कुछ ऐसी भी स्त्रियाँ हैं जो शम (शान्ति), शील (पातिव्रत्य) एवं संयमसे विभूषित तथा आगमज्ञान व सत्यसे संयुक्त हैं। ऐसी स्त्रियाँ अपने वंशकी तिलक मानी जाती हैं—जिस प्रकार तिलक उत्तम अंगस्वरूप मस्तकके ऊपर विराजमान होता है और उससे समस्त शरीरकी शोभा बढ़ जाती है उसी प्रकार उपर्युक्त स्त्रियोंके द्वारा उनके कुलकी भी शोभा बढ़ जाती है ॥५७॥

कितनी ही स्त्रियाँ पातिव्रत्य, महानता, सदाचरण, विनय और विवेकके द्वारा इस पृथिवीतलको विभूषित करती हैं ॥५८॥

१. L F V J नाघसंचयः । २. FV सत्त्व ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

699) निर्विण्णैर्भवसंक्रमाच्छ्रुतधरैरेकान्ततो निःस्पृहै-
र्नार्यो यद्यपि निन्दिताः[1] शमधनैर्ब्रह्मव्रतालम्बिभिः ।
निन्द्यन्ते न तथापि निर्मलयम[2]स्वाध्यायवृत्ताङ्किता
निर्वेदप्रशमादिपुण्यचरितैर्याः शुद्धिभूता[3] भुवः[4] ॥५९

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे ब्रह्मव्रताधिकारे
आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-विरचिते स्त्रीस्वरूप[5]-
प्रतिपादनं नाम प्रकरणम् ॥१२॥

699) निर्विण्णैः—यद्यपि नार्यः श्रुतधरैः एकान्ततो निन्दिताः । कीदृशैः । भवसंक्रमात् निर्विण्णैः विरक्तैः । पुनः कीदृशैः । निःस्पृहैः । पुनः कीदृशैः । शमधनैः । पुनः कीदृशैः । ब्रह्मव्रतालम्बिभिः । तथापि भुवि* पृथिव्यां शुद्धिभूता या न निन्द्यन्ते । कैः । निर्वेदप्रशमादिपुण्यचरितैः वैराग्यक्षान्त्यादिपुण्यचरितैः । कीदृश्यः । निर्मलयमस्वाध्यायवृत्ताङ्किता विमलव्रतस्वाध्यायचारित्राङ्किताः । इति सूत्रार्थः ॥५९॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन
साहपासा-तत्पुत्रसाहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकरसाहऋषिदास-स्वश्रवणार्थं
पण्डितजिनदासोद्यमेन स्त्रीस्वरूपप्रतिपादनप्रकरणम् ॥१२॥

साहपार्श्वो हि संभूतष्टोडरः कुलमण्डनः । तत्पुत्रो ऋषिदासस्तु परस्त्रीत्यागसंयुतः ॥१॥
इति श्री-आशीर्वादः ।

जो मुनिजन संसारपरिभ्रमणसे विरक्त हो चुके हैं, आगमके पारगामी हैं, सर्वथा विषयोंकी इच्छासे रहित हैं, शान्तिरूप धनके स्वामी हैं तथा ब्रह्मचर्यव्रतके धारक हैं उनके द्वारा यद्यपि स्त्रियोंकी निन्दा की गयी है; तो भी जो स्त्रियाँ निर्दोष संयम, स्वाध्याय एवं चारित्रसे चिह्नित हैं—इन गुणोंसे विभूषित हैं—और लोककी शुद्धिभूत हैं—जनशुद्धिकी कारण हैं—उनकी वैराग्य व प्रशम आदिरूप पवित्र गुणोंका आचरण करनेवाले महापुरुष कभी निन्दा नहीं करते हैं ॥५९॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
ब्रह्मव्रत-विचारमें स्त्रीरूपप्रतिपादन नामक प्रकरण
समाप्त हुआ ॥१२॥

१. L S F V Y R यद्यपि दूषिताः । २. X निर्मलधियः स्वाध्याय । ३. L °तैः शुद्धास्तु योषा भुवि ।
४. All others except PMN भुवि । ५. X स्त्रीस्वरूपप्रकरणं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

XIII

[मैथुनम्]

700) स्मरज्वलनसंभ्रान्तो यः प्रतीकारमिच्छति ।
मैथुनेन स दुर्बुद्धिराज्येनाग्निं निषेधति ॥१

701) वरमाज्यच्छटोन्नद्धः[1] परिरब्धो हुताशनः ।
न पुनर्दुर्गतेर्द्वारं योषितां जघनस्थलम् ॥२

700) स्मरज्वलन—यो मनुष्यः स्मरज्वलनसंभ्रान्तः कन्दर्पाग्निसंभ्रान्तः प्रतीकारं तच्छमनोपायम् इच्छति । केन । मैथुनेन । स दुर्बुद्धिः, आज्येन घृतेनाग्निं निषेधयति उपशमयति । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ तासामालिङ्गनं निषेधयति ।

701) वरमाज्य—हुताशनो ऽग्निः परिरब्धो आलिङ्गितो वरम् । कीदृशो हुताशनः । आज्यच्छटासिक्तः* घृतच्छटासिक्तः । योषितां जघनस्थलं न पुनः परिरब्धव्यम् आलिङ्गितव्यम् । कीदृशं जघनस्थलम् । दुर्गतिद्वारम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ तासां पङ्कत्वमाह ।

जो कामरूप अग्निसे व्याकुल होकर उसका प्रतीकार मैथुन क्रियासे करना चाहता है वह मूर्ख घीके द्वारा अग्निको रोकता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार घीके डालनेसे अग्नि कभी शान्त नहीं होती है, बल्कि अधिकाधिक प्रज्वलित ही होती है उसी प्रकार विषयसेवनसे कभी कामकी बाधा शान्त नहीं होती है, बल्कि वह उत्तरोत्तर वृद्धिंगत ही होती है ॥१॥

घीके समूहसे सींची गयी अग्निका आलिंगन करना तो अच्छा है, किन्तु नरकादि दुर्गतिके द्वारभूत स्त्रियोंके जघनस्थानका आलिंगन करना अच्छा नहीं है । विशेषार्थ—तात्पर्य यह है कि स्त्रीसम्भोग घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुई अग्निकी अपेक्षा भी भयानक है । कारण यह कि अग्निसे जला हुआ प्राणी तो उसी भवमें कष्ट पाता है तथा कदाचित् योग्य औषधि आदिके उपचारसे वह उस भवमें भी उसके कष्टसे मुक्त हो जाता है, परन्तु स्त्रीसम्भोगसे उत्पन्न पापके कारण प्राणी अनेक भवोंमें दुर्गतिके कष्टको भोगता है तथा उसका कोई प्रतीकार भी सम्भव नहीं है ॥२॥

१. All others except P छटासिक्तः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

702) स्मरशीतज्वरातङ्कशङ्किताः शीर्णबुद्धयः ।
विशन्ति वनितापङ्के तत्प्रतीकारवाञ्छया ॥३

703) वासनाजनितं मन्ये सौख्यं स्त्रीसंगसंभवम् ।
सेव्यमानं यदन्ते स्याद्वैरस्यायैव केवलम् ॥४

704) प्रपश्यति यथोन्मत्तः शश्वल्लोष्ठे ऽपि काञ्चनम् ।
मैथुने ऽपि तथा सौख्यं प्राणी रागान्धमानसः ॥५

705) अपथ्यानि यथा रोगी पथ्यबुद्धया निषेवते [3] ।
सुखबुद्धया तथाङ्गानि स्त्रीणां कामी गतत्रपः ॥६

702) **स्मरशीत**—शीर्णबुद्धयो नष्टमतयः, वनितापङ्के स्त्रीकर्दमे विशन्ति । कया । तत्प्रतीकारवाञ्छया । कीदृशाः । स्मरशीत[1]करातङ्कशङ्किताः कन्दर्पचन्द्रातङ्कभीताः । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ स्त्रीसौख्यं विरसमित्याह ।

703) **वासना**—अहं मन्ये । स्त्रीसंगसंभवं सौख्यं वासनाजनितं पूर्वकर्मोपार्जितं यत् सौख्यं सेव्यमानम् अन्ते प्रान्ते केवलं वैरस्यायैव स्यात् ॥४॥ अथ रागान्धः विपरीतं पश्यति ।

704) **प्रपश्यति**—यथा उन्मत्तः शश्वत् निरन्तरं लोष्टे ऽपि पाषाणे ऽपि काञ्चनं प्रपश्यति, तथा मैथुने ऽपि विपरीतं रागान्धमानसः प्राणी सौख्यं प्रपश्यति । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ स्त्रीणां भोगस्वरूपमाह ।

705) **अपथ्यानि**—यथा रोगी अपथ्यानि अन्नादीनि पथ्यबुद्धया निषेवते, तथा स्त्रीणाम् अङ्गानि कामी सुखबुद्धया निषेवते । कीदृशः कामी । गतत्रपः निर्लज्जः । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ रूढिमात्रे न सुखमपीत्याह ।

कामरूप शीतज्वरके सन्तापसे भयभीत हुए मूर्खजन उसके प्रतीकारकी इच्छासे स्त्रीरूप कीचड़के भीतर निमग्न होते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कीचड़में फँसा हुआ प्राणी दुख पाता है उसी प्रकार विषयभोगमें निमग्न हुआ प्राणी भी अतिशय दुख पाता है ॥३॥

स्त्रीके संयोगसे उत्पन्न हुआ जो सुख सेवन करते हुए अन्तमें केवल नीरसताका ही कारण होता है वह पूर्वकृत कर्मकी वासनासे उत्पन्न होता है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥४॥

जिस प्रकार पागल मनुष्य निरन्तर मिट्टीके ढेलेमें भी सुवर्णको देखता है उसी प्रकार रागमें अन्धे हुए मनवाला—विषयानुरागसे अविवेकको प्राप्त हुआ—प्राणी मैथुनके सेवनमें भी सुख मानता है ॥५॥

जिस प्रकार रोगी पुरुष पथ्य (हितकर) समझकर अपथ्योंका—अहितकर (रोगवर्धक) भोजन आदिका—सेवन करता है उसी प्रकार कामी पुरुष सुखकी इच्छासे निर्लज्ज होकर स्त्रियोंके अंगोंका सेवन किया करता है ॥६॥

१. J शीतकरातङ्क । २. N लोष्ठेषु का° । ३. P निषेवित ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

706) कश्चिद् ब्रूते यथा दीपं[1] निर्वाणमपि नन्दितम् ।
स्मरमूढः सुखं तद्वद् दुःखमप्यत्र[2] मैथुनम्[3] ॥७

707) किंपाकफलसमानं वनितासंभोगसंभवं सौख्यम् ।
आपाते रमणीयं प्रजायते विरसमवसाने ॥८

708) मैथुनाचरणे कर्म निर्घृणैः क्रियते ऽधमम् ।
पीयते वदनं स्त्रीणां लालाम्बुकलुषीकृतम् ॥९

709)[4]कण्डूयनं तनुस्वेदाद्वेत्ति कुष्ठी यथा सुखम् ।
तीव्रस्मररुजातङ्कपीडितो[5] मैथुनं तथा ॥१०

706) कश्चिद् ब्रूते—कश्चिद्यथा निर्वाणं शमितमपि दीपं नन्दितं ब्रूते, तद्वत् अत्र जगति मैथुनं दुःखमपि सुखं स्मरमूढः ब्रूते। इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ वनितासुखमन्ते विरसं तदाह। आर्या।

707) किंपाक—वनितासंभोगसंभवं सौख्यं किंपाकफलसमानं किंपाकफलसदृशं प्रजायते। पुनः कीदृशम्। आपाते रमणीयं प्रथमतः आगमने रमणीयम्। पुनः कीदृशम्। अवसाने प्रान्ते विरसम्। इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ मैथुनाधिकारे निन्दितं कर्म करोति तदाह।

708) मैथुनाचरणे—निर्घृणैर्निर्दयैरधमं कर्म क्रियते। क्व। मैथुनाचरणे। सुगमम्। स्त्रीणां वदनं पीयते। कीदृशम्। लीलाकलुषीकृतं लालाजलमलिनीकृतमित्यर्थः ॥९॥ अथ मैथुनस्य पीडनमाह।

709) कण्डूयनं—यथा कुष्टी सुखं वेत्ति जानाति। कस्मात्। कण्डूयनतनुस्वेदात्। कण्डूयनेन तनोः स्वेदः तस्मात्। तथा मैथुनं सुखं तीव्रस्मररुजातङ्कपीडिताः तीव्रकन्दर्परोगभयभीताः जानन्ति। इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथाङ्गनानाम् अङ्गकुत्सितत्वमाह।

जिस प्रकार कोई बुझे हुए भी दीपकको नन्दित (बढ़ा हुआ) कहता है उसी प्रकार कामसे मूढ हुआ मनुष्य यहाँ दुखदायक भी मैथुनको सुखकर कहता है ॥७॥

स्त्रीके सम्भोगसे उत्पन्न होनेवाला सुख किम्पाक फल (एक विषैला फल) के समान भोगनेके समयमें रमणीय प्रतीत होता है, परन्तु अन्तमें वह नीरस—परिणाममें दुखदायक—होता है ॥८॥

कामी जन मैथुनके सेवनमें घृणासे रहित होकर जघन्य कार्य करते हैं, वे लारके जलसे मलिन हुए स्त्रियोंके मुखका पान करते हैं ॥९॥

जिस प्रकार शरीरके तापसे पीड़ित कुष्ठरोगी खुजलानेको सुखकारक मानता है उसी प्रकार तीव्र कामरूप रोगके तापसे पीड़ित मनुष्य मैथुनको सुखकारक मानता है। परन्तु यह

१. M N दीपनिर्वाण। २. J दुःखमत्रापि मैं॰। ३. All others except P M N मैथुने। ४. All others except PNT कण्डूयनतनु। ५. J पीडितैर्मैथुनं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

710) अशुचीन्यङ्गनाङ्गानि स्मराशीविषमूर्छिताः[1] ।
जिह्वाभिर्विलिहन्त्युच्चैः शुनीनामिव कुक्कुराः[2] ॥११

711) ग्लानिर्मूर्च्छा भ्रमः कम्पः श्रमः स्वेदो[3] ऽङ्गविक्रियाः[4] ।
क्षयरोगादयो दोषा मैथुनोत्थाः शरीरिणाम् ॥१२

712) अनेकदुःखसंघात[5]निदानं विद्धि मैथुनम् ।
कथं तदपि सेवन्ते हन्त रागान्धबुद्धयः ॥१३

713) कुष्टव्रणमिवाजस्रं वाति स्रवति पूतिकम् ।
यत्स्त्रीणां जघनद्वारं रतये तद्धि रागिणाम् ॥१४

710) अशुचीनि—स्मराशीविषमूर्च्छिताः कन्दर्पाशीविषमोहिताः अङ्गनाङ्गानि अशुचीनि जिह्वाभिरुच्चैर्यथा स्याद्विलिहन्ति । कासां के इव । शुनीनां कुक्कुराः इव । यथा शुनीनामङ्गानि कुक्कुराः जिह्वाभिर्विलिहन्तीत्यर्थः ॥११॥ अथ मैथुनोत्थदोषानाह ।

711) ग्लानिः—शरीरिणां क्षयरोगादयो दोषा मैथुनोत्था भवन्ति । पुनर्ग्लानिः शरीराबलता, मूर्च्छा, भ्रमः, कम्पः, श्रमः, स्वेदः, अङ्गविक्रिया, कुष्टादिः । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अनन्तदुःखं मैथुनस्याह ।

712) अनेकदुःख—हे भव्य, अनेकदुःखसंतानं* मैथुनं त्वं विद्धि जानीहि । हन्तेति खेदे । तदपि मैथुनं रागान्धबुद्धयः कथं सेवन्ते । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथाशुचित्वं जघनद्वारस्याह ।

713) कुष्टव्रणं—यत् कुष्टव्रणमिव अजस्रं निरन्तरं वाति दुर्गन्धयति पूतिकं स्रवति । तत् हि रागिणां रतये जघनद्वारं स्त्रीणां भवतीत्यर्थः ॥१४॥ अथ स्त्रीमैथुनरतानां कुत्सितत्वमाह ।

उसका भ्रम है, क्योंकि जिस प्रकार खुजलानेसे अन्तमें कोढ़ीको अधिक ही कष्ट होता है उसी प्रकार कामसेवनसे भी अन्तमें कष्ट ही अधिक होता है ॥१०॥

कामरूप सर्पके विषसे मूर्छित मनुष्य स्त्रीके अपवित्र अंगोंको जीभसे इस प्रकार चाटा करते हैं जिस प्रकार कि कुत्ते कुतियोंके अपवित्र अंगोंको अतिशय चाटा करते हैं ॥११॥

प्राणियोंके जो ग्लानि (खेद), मूर्छा, भ्रान्ति, कम्प, श्रम (थकावट), स्वेद (ताप या पसीना), अंगविकार और क्षयरोग आदि दोष उत्पन्न होते हैं वे सब मैथुनसे उत्पन्न होते हैं ॥१२॥

मैथुनको अनेक दुखसमूहका कारण समझना चाहिए। फिर खेद है कि जिनकी विवेकबुद्धि रागसे नष्ट हो चुकी है वे उस मैथुनका सेवन कैसे करते हैं ? ॥१३॥

जो स्त्रीका जघनद्वार (योनि) कोढ़के घावके समान निरन्तर गतिशील होकर दुर्गन्धयुक्त मलिन द्रवको बहाता है वह रागी जनोंकी प्रीतिका कारण होता है, यह खेदकी बात है ॥१४॥

१. P स्मराशीर्विष, M N स्मरासवविमूर्छितः । २. M कुर्कुराः । ३. M स्वेदाङ्ग । ४. All others except P M विक्रिया । ५. All others except P दुःखसन्तान ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

714) काकः कृमिकुलाकीर्णे करङ्के कुरुते रतिम्[1] ।
यथा तद्वद्वराको ऽयं कामी स्त्रीगुह्यमन्थने ॥१५

715) वक्तुमपि लज्जनीये दुर्गन्धे मूत्रशोणितद्वारे ।
जघनबिले वनितानां रमते बालो न तत्त्वज्ञः ॥१६

716) स्वतालुरक्तं किल कुक्कुराधमैः प्रपीयते यद्वदिहास्थिचवणात् ।
तथा विटैर्विद्धि वपुर्विडम्बनैर्निषेव्यते मैथुनसंभवं सुखम् ॥१७

717) अशुचिष्वङ्गनाङ्गेषु संगताः पश्य रागिणः ।
जुगुप्सां जनयन्त्येते लोलन्तः कृमयो यथा[2] ॥१८

---

714) काकः कृमि—यथा काकः करङ्के अस्थ्नि रतिं कुरुते । कीदृशे करङ्के । कृमिकुलाकीर्णे । तद्वद्वराको ऽयं कामी स्त्रीगुह्यमन्थने रतिं कुरुते । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ स्त्रीणां भगस्याशुचित्वमाह ।

715) वक्तुमपि—वनितानां स्त्रीणां जघनबिले बालो मूर्खः रमते । कीदृशे । वक्तुमपि लज्जनीये, दुर्गन्धे । पुनः कीदृशे । मूत्रशोणितद्वारे । न तत्त्वज्ञः । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ मथुनस्य विडम्बनत्वमाह । वंशस्थछन्दः ।

716) स्वतालु—किल सत्ये । कुक्कुराधमैः स्वतालुरक्तं प्रपीयते । इह जगति । यद्वत् यथा । कस्मात् । अस्थिचर्वणात् । तथा विटैर्लम्पटैर्मैथुनसंभवं सौख्यं निषेव्यते । रे जन, त्वं विद्धि जानीहि । कैः । वपुर्विडम्बनैः । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथाङ्गनाङ्गाशुचित्वमाह ।

717) अशुचिषु—रे सुजन, त्वं पश्य । रागिणः अशुचिष्वङ्गनाङ्गेषु संगताः व्याप्ताः जुगुप्सां निन्दां जनयन्ति । यथा एते कृमयो लोलन्तश्चलन्तः जुगुप्सां जनयन्ति । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ स्त्रीभगस्य दुस्त्यजत्वमाह ।

जिस प्रकार कौवा कीड़ोंके समूहसे व्याप्त हड्डीमें अनुराग करता है उसी प्रकार यह बेचारा कामी स्त्रीके गुप्त अंगके मथनेमें अनुराग करता है ॥१५॥

स्त्रियोंके जिस योनिछिद्रका नाम लेना भी लज्जाजनक है तथा जो दुर्गन्धयुक्त होकर मूत्र और रुधिरको निकाला करता है उसमें मूर्ख (अविवेकी) मनुष्य ही रमता है, तत्त्वज्ञ—वस्तुस्वरूपका जानकार विवेकी—मनुष्य नहीं रमता है ॥१६॥

जिस प्रकार यहाँ निकृष्ट कुत्ते हड्डीके चबानेसे अपने ही तालुसे निकले हुए रुधिरको पीकर सुखका अनुभव करते हैं उसी प्रकार कामी जन अपने शरीरकी विडम्बना करते हुए मैथुनसे उत्पन्न हुए सुखका सेवन करते हैं ॥१७॥

देखो ये रागी जन स्त्रियोंके अपवित्र अंगोंकी संगतिको प्राप्त होकर इस प्रकार घृणाको उत्पन्न करते हैं जिस प्रकार कि अपवित्र मलमें विचरण करनेवाले क्षुद्र कीड़े उस घृणाको उत्पन्न करते हैं ॥१८॥

---

१. M गुह्यमैथुने । २. M कृमयो ऽथवा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

718) योनिरन्ध्रमिदं स्त्रीणां दुर्गतेर्द्वारमग्रिमम् ।
तत्त्यजन्ति ध्रुवं धन्या न दीना दैववञ्चिताः ॥१९

719) मालतीव मृदून्यासां विद्धि चाङ्गानि योषिताम् ।
दारयिष्यन्ति मर्माणि विपाके ज्ञास्यसि स्वयम्[1] ॥२०

720) मैथुनाचरणे मूढ[2] म्रियन्ते जन्तुकोटयः ।
योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिङ्गसंघट्टपीडिताः[3] ॥२१

721) बीभत्सानेकदुर्गन्धमलाक्तं स्वकलेवरम् ।
यत्र तत्र वपुः स्त्रोणां कस्यास्तु रतये भुवि ॥२२

718) **योनिरन्ध्रं**—स्त्रीणाम् इदं योनिरन्ध्रं ध्रुवं तत् त्यजन्ति धन्याः । न दीनाः दैववञ्चिताः । कीदृशम् । दुर्गतेरग्रिमं द्वारमित्यर्थः ॥१९॥ अथ स्त्रीणाम् अङ्गानां दारुणत्वमाह ।

719) **मालतीव**—रे जीव, त्वं ज्ञास्यसि । आसां योषितामङ्गानि कर्मभोक्तव्ये मर्माणि दारयिष्यन्ति विदारयिष्यन्ति । कीदृशानि अङ्गानि । मालती इव मृदूनि सुकुमाराणि । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ मैथुनहिंसायां भगसंगे जीवहिंसामाह ।

720) **मैथुनाचरणे**—मूढ, मूर्ख, मैथुनाचरणे जन्तुकोटयो म्रियन्ते । कीदृशा जन्तुकोटयः । योनिरन्ध्रसमुत्पन्नाः भगजाताः । पुनः कीदृशाः । लिङ्गसंघट्टपीडिताः । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ स्त्रीणां शरीरस्याशुचित्वमाह ।

721) **बीभत्सानेक**—यत्र स्त्रीणां वपुः । तत्र कलेवरं शरीरं, भुवि पृथिव्यां, कस्य रतये ऽस्तु । न कस्यापि । कीदृशं स्त्रोणां वपुः । बीभत्सानेकदुर्गन्धं, सुगमम् । मलाक्तं मलव्याप्तम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे ।

स्त्रियोंका यह योनिछिद्र दुर्गतिका मुख्य द्वार है। उसका परित्याग निश्चयसे पुण्यशाली मनुष्य ही करते हैं, दैवसे वंचित—पुण्यहीन—बेचारे साधारण मनुष्य उसका परित्याग नहीं कर सकते हैं ॥१९॥

इन स्त्रियोंके अंगोंको तू मालती लताके समान कोमल समझ, अन्तमें ये तेरे मर्मस्थानोंको विदीर्ण करनेवाले हैं। इसका अनुभव परिपाकके समय तुझे स्वयं हो जावेगा ॥२०॥

हे मूर्ख ! मैथुनके सेवनमें योनिछिद्रमें उत्पन्न हुए करोड़ों जीव लिंगके संघर्षणसे पीड़ित होकर मारे जाते हैं ॥२१॥

जहाँ अपना शरीर घृणाको उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकारके दुर्गन्धयुक्त मलोंसे व्याप्त है वहाँ भला इस पृथिवीपर स्त्रियोंका शरीर किसकी प्रीतिके लिए हो सकता है ? अभिप्राय यह है कि पुरुष शरीरकी अपेक्षा स्त्रियोंका शरीर अधिक मलिन होता है, इसलिए उसके विषयमें विवेकी जीव अनुरक्त नहीं होते ॥२२॥

१. T Y ज्ञास्यसि ध्रुवम् । २. Y मूढा । ३. All others except P M X Y संघप्रपीडिताः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

722) उक्तं च[1] —

उत्तानोच्छूनमण्डूकदारितोदरसंनिभे ।
चर्मखण्डे[2] मनुष्याणामपूर्वः को ऽप्यसद्ग्रहः ॥२२*१॥इति[3] ।

723) [[4]नारीजघनरन्ध्रस्थविण्मूत्रमयचर्मणा ।
वराह इव विड्भक्षी हन्त मूढः सुखायते ॥२२*२॥इति ।]

724) सर्वाशुचिमये काये दुर्गन्धामेध्यसंभृते[5] ।
रमन्ते रागिणः स्त्रीणां विरमन्ति तपस्विनः ॥२३

725) कुथितकुणिप[6]गन्धं योषितां योनिरन्ध्रं
कृमिकुलशत[7]पूर्णं निर्झर[8]त्क्षारवारि ।

722) उत्तानोच्छून—असद्ग्रहः कदाग्रहः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२२*१॥ [अत्र स्त्रीशरीरस्य अभिलाषिणो मूढतामाह ।

723) नारीजघन—मूढो जनः सुखायते सुखमनुभवति । केन । नारीजघनरन्ध्रस्थचर्मणा । कीदृशं तत् । विण्मूत्रमयं विष्ठया मूत्रेण च परिपूर्णम् । क इव । विड्भक्षी वराहः सूकरः इव ॥२२*२॥ अथ स्त्रीशरीरस्य हेयत्वमाह ।

724) सर्वाशुचिमये—विरमन्ति विरक्ता भवन्तीत्यर्थः । शेषं सुगमम् ॥२३॥ अथ स्त्रीणामङ्गानि निन्द्यानीत्युपसंहरति ।

725) कुथित—मुनिनिकायः यतिसमूहः योषितां योनिरन्ध्रं त्यजति । कीदृशं योनिरन्ध्रम् । *कुथितकुणपगन्धं शटन्मांसदुर्गन्धम् । पुनः कीदृशम् । *कृमिकुलशतकीर्णं सुगमम् । पुनः कीदृशम् ।

कहा भी है—

उलटा करके सड़े गले मेंढकके उदरको चीरनेपर जो स्वरूप उसका होता है वही स्वरूप (स्वभाव) स्त्रियोंके चर्मखण्ड अर्थात् चमड़ेके अंशभूत योनिप्रदेशका भी है। फिर भी मनुष्योंका उसके विषयमें कोई अपूर्व ही दुराग्रह है ॥२२-१॥

[जिस तरह विष्ठा खानेवाला सूकर अपनेको सुखी मानता है, उसी तरह मूर्ख मनुष्य स्त्रियोंके जघनबिलके विष्ठा और मूत्रसे भरे हुए चमड़ेसे सुखका अनुभव लेता है ॥२२-२॥]

समस्त अपवित्र वस्तुओंसे निर्मित तथा दुर्गन्ध एवं घृणाके स्थानभूत मल-मूत्रादिसे परिपूर्ण स्त्रियोंके शरीरमें रागीजन ही अनुराग करते हैं साधु-जन तो उससे विरक्त रहते हैं ॥२३॥

सड़े-गले निर्जीव शरीर (मुर्दा) के समान दुर्गन्धवाला जो स्त्रियोंका योनिछिद्र कीड़ोंके सैकड़ों समूहोंसे परिपूर्ण होकर क्षार जलको छोड़ा करता है उसका परित्याग वह मुनिसमूह

१. P M L Y उक्तं च । २. All others except P चर्मरन्ध्रे । ३. P इति । ४. Only in MN । ५. M दुर्गन्धे ऽमेध्य । ६. All others except P कुणप । ७. Y कृमिशतकुल । ८. M निर्भरक्षार ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्यजति मुनिनिकायः क्षीणजन्मप्रबन्धो
भजति मदनवीरप्रेरितो ऽङ्गी वराकः ॥२४

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे ब्रह्मव्रतविचारे
आचार्य-श्री-शुभचन्द्रविरचिते मैथुन-
प्रकरणम् ॥ १३ ॥

निस्सरत्क्षारवारि। सुगमम्। कीदृशो मुनिगणः। क्षीणजन्मप्रबन्धः गतजन्मपरंपरः। पुनः कीदृशः। मदनवीरप्रेरितः। अङ्गी प्राणी वराकः। इति सूत्रार्थः ॥२४॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन
साहपासा-तत्पुत्रसाहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकरसाहरिषिदास-स्वश्रवणार्थं
पण्डितजिनदासोद्यमेन मैथुनप्रकरणं समाप्तम् ॥१३॥

मालिनी छन्दः। सकलगुणगरिष्ठो भाविपासाख्यसाहः सुकृतविदितभावष्टोडरः पुण्यपात्रः। सदयहृदययुक्तः कामलीलाविरक्तः स जयति ऋषिदासः स्वप्रतापैकधामा ॥१॥ इत्याशीर्वादः। अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह।

ही करता है जिसकी कि संसारपरम्परा नष्ट होनेको है। परन्तु जो बेचारा कामरूप सुभट-की आज्ञामें चलता है वह उस योनिछिद्रका सेवन ही करता है ॥२४॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
ब्रह्मव्रतविचारमें मैथुनप्रकरण समाप्त हुआ ॥१३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[संसर्गः]

726) विरज्याशेषसंगेभ्यो यो वृणीते शिवश्रियम् ।
स क्रुद्धाहेरिव स्त्रीणां संसर्गाद्विनिवर्तते ॥१

727) यथा सद्यो विदार्यन्ते[1] गिरयो वज्रताडिताः ।
तथा मत्ताङ्गनापाङ्गप्रहारेणाल्पचेतसः[2] ॥२

728) यस्तपस्वी व्रती मौनी संवृतात्मा जितेन्द्रियः ।
कलङ्कयति निःशङ्कः[3] स्त्रीसखः सो ऽपि संयमम् ॥३

---

726) विरज्याशेष—यो ऽशेषसंगेभ्यः समस्तपरिग्रहेभ्यो विरज्य विरक्तीभूय शिवश्रियं वृणुते स स्त्रीणां संसर्गाद्विनिवर्तते । कस्येव । क्रुद्धाहेरिव । यथा क्रुद्धाहेः कुपितसर्पस्य संगाद्विनिवर्तते तथेत्यर्थः ॥१॥ अथ कटाक्षस्वरूपमाह ।

727) यथा सद्यः—मदोन्मत्तस्त्रीकटाक्षप्रहारेणाल्पचेतसः विलीयन्ते । इति सूत्रार्थः । शेषं सुगमम् ॥२॥ अथ स्त्रीसंसर्गात्संयमं कलङ्कं दत्ते तमाह ।

728) यस्तपस्वी—संवृतात्मा अशुभव्यापारात् । शेषं सुगमम् ॥३॥ अथ तपस्विनो ऽप्यङ्गनासंसर्गादपायमाह ।

जो समस्त परिग्रहसे रहित होकर मुक्तिरूपी लक्ष्मीका वरण करता है वह प्रचण्ड सर्पके समान भयानक स्त्रियोंके संसर्गसे दूर रहता है ॥१॥

जिस प्रकार वज्रसे ताड़ित होकर पर्वत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार मदसे उन्मत्त स्त्रियोंके कटाक्षोंके प्रहारसे मन्दबुद्धि जन भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं—उनके वशीभूत हो जाते हैं ॥२॥

जो तपश्चरणमें तत्पर है, व्रतोंका परिपालन करता है, मौनको धारण करता है, सावद्य प्रवृत्ति से रहित है तथा इन्द्रियोंको वशमें रखता है; वह भी निर्भय होकर स्त्रीके अनुरागसे संयमको कलंकित कर डालता है ॥३॥

---

१. All others except P विलीयन्ते । २. J B interchange Nos. 2–3 । ३. S F V J X Y R निःशङ्कं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

729) मासे मासे व्यतिक्रान्ते यः पिबत्यम्बु केवलम् ।
विमुह्यति नरः सो ऽपि संगमासाद्य सुभ्रुवः[1] ॥४

730) [2]सर्वत्राप्युपचीयन्ते संयमाद्यास्तपस्विनाम् ।
गुणाः किन्त्वङ्गनासंगं प्राप्य यान्ति क्षयं क्षणात् ॥५

731) संचरन्ति जगत्यस्मिन् स्वेच्छया यमिनां गुणाः ।
विलीयन्ते पुनर्नारीवदनेन्दुविलोकनात् ॥६

732) तावद्धत्ते मुनिः स्थैर्यं श्रुतं शीलं[3] कुलक्रमम् ।
यावन्मत्ताङ्गनानेत्रवागुराभिर्न रुध्यते ॥७

---

729) मासे मासे—विमुह्यति मोहनीयपुरुषवेदोदयात् । योषितः स्त्रियः संगमासाद्य प्राप्य । शेषं सुगमम् ॥४॥ अथ स्त्रीणां संगे संयमादिगुणहानिमाह ।

730) सर्वत्रापि—तपस्विनां संयमाद्याः गुणाः सर्वत्राप्युपचीयन्ते । वृध्यन्ते । किं तु पक्षान्तरे । अङ्गनासंगं प्राप्य क्षणात् क्षयं यान्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥ अथ व्रतिनां गुणाः स्त्रीसंगान्नश्यन्तीत्याह ।

731) संचरन्ति—यमिनां व्रतिनां गुणाः मूलोत्तरभेदभिन्नाः । शेषं सुगमम् ॥ ६ ॥ अथ स्त्रीविलोकने धैर्यादिगुणनाशमाह ।

732) तावद्धत्ते—मुनिर्ज्ञाततत्त्वः, स्थैर्यं, श्रुतं द्वादशाङ्गं, शीलं देशसर्वचारित्रं, कुलक्रमं कुलमर्यादां, तावद्धत्ते यावन्मत्ताङ्गनामत्तस्त्रीनेत्रवागुराभिर्न विरुध्यते । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ स्त्रीपुंसोर्वेदभेदमाह ।

जो मनुष्य एक-एक माहके बीत जानेपर केवल जलको पीता है--महीने-महीनेका उपवास करके पारणाके समय केवल जलको ही ग्रहण करता है--वह भी स्त्रीके संयोगको पाकर मोहित हो जाता है ॥४॥

तपस्वियोंके संयम आदि गुण सर्वत्र वृद्धिको प्राप्त होते हैं । परन्तु स्त्रीके संयोगको पाकर वे क्षणभरमें ही नष्ट हो जाते हैं ॥५॥

संयमी जनोंके गुण इस लोकमें इच्छानुसार सर्वत्र संचार करते हैं । परन्तु वे स्त्रीके मुखरूप चन्द्रके दर्शनसे नाशको प्राप्त होते हैं ॥६॥

मुनि स्थिरता (दृढ़ता), श्रुत, शील और कुलकी परम्पराको तब तक ही धारण करता है जब तक कि वह उन्मत्त स्त्रीके नेत्रोंरूप बन्धनसे नहीं रोका जाता है ॥७॥

---

१. L J °साद्य योषितः । २. M सर्वत्राप्यप । ३. M N श्रुतं सत्यं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

733) नवनीतनिभं पुंसां मनः सद्यो विलीयते ।
वनितावह्निसंतप्तं सतामपि न संशयः ॥८

734) अन्तःसुप्तो ऽपि जागर्ति स्मरः संगेन योषिताम् ।
रोगव्रज इवापथ्यसेवासंभावितात्मनाम् ॥९

735) क्रियते यैर्मनः स्वस्थं[1] श्रुतप्रशमसंयमैः ।
ते ऽपि संसर्गमासाद्य वनितानां क्षयं गताः ॥१०

736) स्थिरीकृत्य मनस्तत्त्वे तावत्तिष्ठति संयमी ।
यावन्नितम्बिनीभोगिभ्रूकुटिं न समीक्षते[3] ॥११

733) नवनीत—पुंसां सतामपि मनः नवनीतमिव सद्यो विलीयते । कीदृशं मनः । वनितावह्निसंतापं स्त्रीवह्निसंतप्तम् । इत्यत्र न संशयः कार्यः ॥८॥ अथ शमितकामो ऽपि स्त्रीसंगाज्जागर्ति तदाह ।

734) अन्तःसुप्तः—स्मरः कन्दर्पः अन्तःसुप्तो ऽपि योषितां संगेन जागर्ति । केषां क इव । अपथ्यसेवासंभावितात्मनाम् अपथ्यान्नभोजनव्याप्तदेहानां रोगव्रजः इव रोगसमूहः इव । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ पुनर्वनितासंगदोषमाह ।

735) क्रियते—यैः श्रुतप्रशमसंयमैः शास्त्रक्षान्तिचारित्रैर्मनः स्वस्थं क्रियते । ते ऽपि श्रुताद्याः वनितानां स्त्रीणां संसर्गं संबन्धमासाद्य प्राप्य क्षयं गताः । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ मनःस्थिरोपायमाह ।

736) स्थिरीकृत्य—संयमी चारित्रवान् तत्त्वे स्वात्मस्वरूपे मनः स्थिरीकृत्य तावत्तिष्ठति यावन्नितम्बिनीभोगिभ्रूकुटिं स्त्रीभोगिजनकटाक्षं न समीक्षते । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ यासां ध्यानतः कन्दर्पं जनयति तदाह ।

इसमें सन्देह नहीं कि सज्जन पुरुषोंका भी मन स्त्रीरूप अग्निके संयोगसे सन्तप्त होकर मक्खनके समान शीघ्र ही पिघल जाता है ॥८॥

भीतर सोया हुआ भी काम स्त्रियोंके संगसे इस प्रकार जाग उठता है जिस प्रकार कि अपथ्य भोजनका सेवन करनेवाले मनुष्योंका रोगसमूह जाग उठता है ॥९॥

जिन महापुरुषोंने श्रुत, प्रशम और संयमके द्वारा अपने मनको अपनी आत्मामें स्थिर कर लिया है वे भी स्त्रियोंकी संगतिको पाकर नाशको प्राप्त होते हैं ॥१०॥

संयमका परिपालक साधु मनको वस्तुस्वरूपमें स्थिर करके तबतक ही स्थित रहता है जब तक वह स्त्रीरूप सर्पकी भ्रूकुटिको नहीं देखता है ॥११॥

१. M N मनः स्वास्थ्यं । २. M भोगीभ्रूकुटिर्न । ३. All others except S R समीक्ष्यते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

737) यासां संकल्पलेशो ऽपि तनोति मदनज्वरम् ।
प्रत्यासत्तिर्न किं तासां रुणद्धि चरणश्रियम्[1] ॥१२

738) यस्याः संसर्गमात्रेण[2] यतिभावः कलङ्क्यते ।
तस्याः किं न कथालापैर्भ्रूभङ्गैश्चारुविभ्रमैः ॥१३

739) सुचिरं सुष्ठु निर्णीतं लब्धं वा वृद्धसंनिधौ ।
लुप्यते स्त्रीमुखालोकाद् वृत्तरत्नं[3] शरीरिणाम् ॥१४

740) पुस्तोपलविनिष्पन्नं दारुचित्रादिकल्पितम् ।
अपि वीक्ष्य वपुः स्त्रीणां मुह्यत्यङ्गी न संशयः ॥१५

737) यासां—यासां स्त्रीणां संकल्पलेशो ऽपि मदनज्वरं तनोति तासां प्रत्यासत्तिः संबन्धो न । किं चरणश्रियं चारित्रलक्ष्मीं रुणद्धि रोधं करोति इत्यर्थः ॥१२॥ अथ स्त्रीणां कथादिनिषेधमाह ।

738) यस्याः—यस्याः स्त्रियः संसर्गमात्रेण संबन्धमात्रेण यतिभावः कलङ्क्यते कलङ्कीक्रियते, तस्याः कथालापैः भ्रूभङ्गैः कटाक्षैः चारुविभ्रमैः कटाक्षभेदैः यतिभावः कथं न कलङ्क्यते इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ स्त्रीमुखविलोकनादचारित्रमाह ।

739) सुचिरं—शरीरिणां वृत्तरत्नं चारित्ररत्नं स्त्रीमुखालोकात् लुप्यते लोपं याति । सुचिरं चिरकालं सुष्ठु निर्णीतं वृद्धसंनिधौ । वा अथवा । लब्धं प्राप्तमित्यर्थः ॥१४॥ अथ स्त्रीणां प्रतिमापि मोहकारणमाह ।

740) पुस्तोपल—स्त्रीणां वपुः शरीरं वीक्ष्यापि । अङ्गी प्राणी मुह्यति मोहं याति । कीदृशं वपुः । पुस्तोपलनिष्पन्नं लेपपाषाणमयम् । पुनः कीदृशम् । दारुचित्रादिकल्पितं काष्ठचित्रलिखितम् । न संशयः । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ मनोमोहभेदमाह ।

जिन स्त्रियोंका संकल्पमात्र भी कामज्वरको विस्तृत करता है उनका सांनिध्य क्या चारित्ररूप लक्ष्मीको नहीं रोकता है ? अवश्य ही उनका सांनिध्य उस चारित्रको नष्ट करनेवाला है ॥१२॥

जिस स्त्रीकी संगतिमात्रसे भी मुनि-अवस्था कलंकित होती है उसके साथ भृकुटियोंके भंगयुक्त और सुन्दर विलाससे परिपूर्ण कथावार्तासे क्या वह मुनि-अवस्था मलिनताको प्राप्त नहीं होगी ? अवश्य होगी ॥१३॥

अतिशय दीर्घ कालसे यह भलीभाँति निश्चित हो चुका है अथवा वृद्धोंके समीपमें रहकर यह ज्ञात हो चुका है कि स्त्रीके मुखके देखनेसे प्राणियोंका चारित्ररूप रत्न नष्ट हो जाता है ॥१४॥

लेप्यकर्म और पत्थरसे निर्मित हुए तथा लकड़ोसे और चित्र आदिके रूपमें रचे गये भी स्त्रियोंके शरीर (आकार) को देखकर प्राणी मोहित हो जाया करता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥१५॥

१. M N श्रियः । २. M संकल्पमात्रेण । ३. P वित्तरत्नं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

741) दृष्टिपातो भवेत्पूर्वं व्यामुह्यति ततो मनः ।
प्रणिधत्ते जनः पश्चात्तत्कथागुणकीर्तने ॥१६

742) ततः प्रेमानुबन्धः स्यादुभयोरपि निर्भरम्[1] ।
उत्कण्ठते ततश्चेतः प्रेमकाष्ठाप्रतिष्ठितम्[2] ॥१७

743) दानदाक्षिण्यविश्वासैरुभयोर्वर्धते स्मरः ।
ततः शाखोपशाखाभिः प्रीतिवल्ली विसर्पति[3] ॥१८

744) मनो मिलति चान्योन्यं निःशङ्कं[4] संगलालसम् ।
प्रणश्यति ततो लज्जा प्रेमप्रसरपीडिता[4] ॥१९

---

741) दृष्टिपातः—पूर्वं दृष्टिपातो भवेत् । ततो मनो व्यामुह्यति मोहं याति । पश्चान्मनः प्रणिधत्ते स्नेहं करोति । क्व । तत्कथागुणकीर्तने गुणकथने । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ ततो ऽपि यत् स्यात्तदाह ।

742) ततः प्रेमानुबन्धः—ततः उभयोरपि निर्भरं प्रेमानुबन्धः स्यात् ततश्चेतः उत्कण्ठते । कीदृशं प्रेम । काष्ठाप्रतिष्ठितं प्रेमदशाव्याप्तम् इति सूत्रार्थः ॥१७॥ [प्रेमप्रसरणस्य प्रकारमाह ।

743) दानदाक्षिण्य—उभयोः स्त्रीपुरुषयोः स्मरः मदनः वर्धते । ततः अनन्तरं शाखोपशाखाभिः । प्रीतिरेव वल्ली । विसर्पति प्रसरतीत्यर्थः ॥१८॥] पुनरग्रतः कार्यमाह ।

744) मनो मिलति—च पुनः । मनो ऽन्योन्यं परस्परं मिलति निःशङ्कम् । पुनः कीदृशम् । संगलालसम् । ततो लज्जा प्रणश्यति । कीदृशो लज्जा । प्रेमप्रसरपीडिता प्रेमसमूहपीडिता ॥१९॥ ततो यद्भवति तदाह ।

प्रथमतः स्त्रीके ऊपर दृष्टि (निगाह) पड़ती है, पश्चात् उसके विषयमें मन व्यामोहको प्राप्त होता है, तत्पश्चात् मनुष्य उसकी वार्ता और गुणोंके कीर्तनमें उपयोग लगाता है ॥१६॥

फिर दोनोंमें प्रेमका सम्बन्ध हो जाता है, पश्चात् मन उस प्रेमकी अन्तिम सीमापर स्थित होकर उत्कण्ठाको प्राप्त होता है ॥१७॥

इसके पश्चात् उन दोनोंमें दान, दाक्षिण्य (उदारता या सरलता) और विश्वासके द्वारा कामकी वासना वृद्धिंगत होती है । पश्चात् प्रीतिरूप बेल शाखा और उपशाखाओंसे विस्तारको प्राप्त होती है ॥१८॥

पश्चात् संयोगके लिए उत्सुक हुआ मन निर्भय होकर परस्परमें मिल जाता है । तत्पश्चात् प्रेमके विस्तारसे पीड़ित होकर दोनोंकी लज्जा नष्ट हो जाती है ॥१९॥

---

१. M N निर्भरः । २. All others except P N T प्रेमकाष्ठप्रति । ३. N प्रसर्पति । ४. N निःशङ्की''''प्रसरखण्डिता ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

745) निःशङ्कीकुरुते[1] नर्म रहोजल्पावलम्बितम् ।
वीक्षणादीन्धनोद्भूतः कामार्चिः[2] प्रविजृम्भते ॥२०

746) बहिरन्तस्ततस्तेन दह्यमानो ऽग्निना भृशम् ।
अविचार्य जनः शीघ्रं ततः पापे प्रवर्तते ॥२१

747) श्रुतं सत्यं तपः शीलं विज्ञानं वृत्तमुन्नतम्[3] ।
इन्धनीकुरुते मूढः प्रविश्य वनितानले ॥२२

748) स्फुरन्ति हृदि संकल्पा ये स्त्रीव्यासक्तचेतसाम् ।
रागिणां तानिह[4] भ्रातर्न को ऽपि गदितुं क्षमः ॥२३

745) निःशङ्कीकुरुते—ततो निःशङ्कं नर्म हास्यं कुरुते । कीदृशं नर्म । रहोजल्पावलम्बितम् एकान्तवार्तावलम्बितम् । ततः कामाग्निः प्रविजृम्भते प्रगटीभवति । कीदृशः कामाग्निः । वीक्षणादीन्धनोद्भूतः दर्शनादीन्धनजातः । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ ततो यद्भवति तदाह ।

746) बहिरन्तः—ततस्तदनन्तरं तेनाग्निना दह्यमानः । बहिरन्तर्बाह्यमध्ये । ततो जनः शीघ्रं पापे प्रवर्तते । किं कृत्वा । अविचार्य । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ श्रुतादीन्धनं भवति वह्नौ तदाह ।

747) श्रुतं सत्यं—वनितानले स्त्रीवह्नौ प्रविश्य वृत्तमाचारम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ स्त्रीसंकल्पकथनमाह ।

748) स्फुरन्ति—स्त्रीव्यासक्तचेतसां हृदि ये संकल्पाः स्फुरन्ति । इह जगति हे भ्रातः, तान् संकल्पान् गदितुं कथयितुं न को ऽपि क्षमः समर्थः । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

फिर परस्परके दर्शन-स्पर्शन आदि रूप इंधनसे उत्पन्न हुई कामरूप अग्नि वृद्धिंगत होती है । तब प्राणी निर्भय होकर एकान्तमें प्रेमभाषणादि के आश्रित क्रीड़ा करता है ॥२०॥

अन्तमें मनुष्य उस कामाग्निसे बाहर और अन्तरंगमें अतिशय सन्तप्त होता हुआ विवेकबुद्धिको नष्ट करके शीघ्र ही पापमें प्रवृत्त हो जाता है ॥२१॥

इस प्रकारसे मूर्ख मनुष्य स्त्रीरूप अग्निमें प्रविष्ट होकर वहाँ आगमज्ञान, सत्य, तप, शील, विज्ञान और उन्नत चारित्रको इंधन बना डालता है—उन्हें भस्म कर देता है ॥२२॥

जिनका चित्त स्त्रीके विषयमें अत्यन्त आसक्तिको प्राप्त हुआ है उन विषयानुरागी मनुष्योंके हृदयमें जो कल्पनाएँ उठती हैं, हे भाई ! उनका वर्णन करनेके लिए यहाँ कोई भी समर्थ नहीं है ॥२३॥

१. All others except P M L निःशङ्कं कुरुते । २. All others except P कामाग्निः । ३. All others except P M N वृत्तमुत्तमम् । ४. S तमिह भ्रातः, V J X Y R तानि हे भ्रातः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

749) संसर्गप्रभवा नूनं गुणा दोषाश्च देहिनाम् ।
एकान्ततः स दोषाय स्त्रीभिः सार्धं विवर्धितः[1] ॥२४

750) पुण्यानुष्ठानसंभूतं महत्त्वं क्षीयते नृणाम्[2] ।
सद्यः कलङ्क्यते वृत्तं साहचर्येण योषिताम् ॥२५

751) अपवादमहापङ्के निमज्जन्ति न संशयः ।
यमिनोऽपि जगद्वन्द्यवृत्ता रामास्पदं श्रिताः ॥२६

752) अनन्तमहिमाकीर्णं प्रोत्तुङ्गं वृत्तपादपम् ।
वामाकुठारधारेयं[3] विच्छिनत्त्याशु देहिनाम् ॥२७

749) संसर्ग—देहिनां प्राणिनां गुणाः । च पुनः । दोषाः नूनं निश्चितं संसर्गप्रभवाः संबन्धात् जाताः स्त्रीभिः सार्धं कृतः क्षणः कृतः प्रस्तावः । एकान्ततः एकान्तेन सदोषाय भवतीत्यर्थः ॥२४॥ अथ स्त्रीसंगे वृत्तभङ्गमाह ।

750) पुण्यानुष्ठान—नृणां मनुष्याणां पुण्यानुष्ठानसंभूतं महत्त्वं क्षीयते । वृत्तं चारित्रं सद्यः कलङ्क्यते । केन साहचर्येण योषिताम् । साहचर्येण संगेनेत्यर्थः ॥२५॥ अथ रामासंगिनामयशो दर्शयति ।

751) अपवाद—रामास्पदं श्रिताः स्त्रीगृहं प्राप्ताः व्रतिनोऽपि अपवादमहापङ्के निमज्जन्ति ब्रुडन्ति । क्व । अयशोमहाकर्दमे । कीदृशाः । जगद्वन्द्यवृत्ताः जगद्वन्दनीयचारित्राः । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ स्त्रियः संगेन चारित्रं नश्यति ।

752) अनन्त—इयं वामाकुठारधारा स्त्रीपरशुधारा आशु शीघ्रं देहिनां वृत्तपादपं चारित्रवृक्षं विच्छिनत्ति । कीदृशम् । अनन्तमहिमाकीर्णं बहुतरमहिमाव्याप्तम् । कीदृशम् । प्रोत्तुङ्गमुच्चैस्तरमिति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ स्त्रीणां लोचनविकारमाह ।

प्राणियोंके गुण और दोष नियमतः संसर्गसे उत्पन्न होते हैं। परन्तु स्त्रियोंके साथ बढ़ाया गया वह संसर्ग सर्वथा दोषके लिए ही होता है। अभिप्राय यह है कि अन्य जनकी संगतिसे तो कुछ गुण और दोष दोनों ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु स्त्रियोंकी संगतिसे केवल दोष ही उत्पन्न होते हैं ॥२४॥

पवित्र अनुष्ठानसे—सदाचरणसे—उत्पन्न हुआ मनुष्योंका माहात्म्य स्त्रियोंकी संगतिसे नष्ट हो जाता है तथा उससे उनका चारित्र शीघ्र ही दूषित हो जाता है ॥२५॥

जिन संयमी जीवोंका चारित्र लोकमें वन्दना करनेके योग्य होता है वे भी स्त्रीरूप स्थानका आश्रय पाकर निन्दारूप गहरे कीचड़के भीतर डूब जाते हैं ॥२६॥

प्राणियोंका जो उन्नत चारित्ररूप वृक्ष अपरिमित महिमासे व्याप्त होता है उसे यह स्त्रीरूप कुठार (फरसा) की धारा शीघ्र ही छिन्न-भिन्न कर डालती है ॥२७॥

१. M J X Y R सार्धं कृतः क्षणम् , L T कृतक्षणः , S F V कृतक्षणं । २. N क्षीयते क्षणात् । ३. S T F V X R धारेव ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

753) लोचनेषु मृगाक्षीणां क्षिप्तं किंचित्तदञ्जनम् ।
येनापाङ्गैः[1] क्षणादेव मुह्यत्यासां जगत्त्रयम् ॥२८

754) कौतुकेन भ्रमेणापि दृष्टिर्लग्नाङ्गनामुखे ।
क्रष्टुं न शक्यते लोकैः पङ्कमग्नेव हस्तिनी ॥२९

755) एकत्र वसतिः साध्वी वरं व्याघ्रोरगैः सह ।
पिशाचैर्वा न नारीभिर्निमेषमपि शस्यते[2] ॥३०

756) भ्रूलताचलनैर्येषां स्खलत्यमरमण्डली ।
ते ऽपि संसर्गमात्रेण वनितानां विडम्बिताः[3] ॥३१

753) लोचनेषु—मृगाक्षीणां स्त्रीणां लोचनेषु तत् किंचिदञ्जनं क्षिप्तम् । येनाञ्जनेनापाङ्गः कटाक्षः । आसां क्षणादेव जगत्त्रयं मुह्यति । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ तासां दृष्टौ लग्नायां दुष्करत्वमाह ।

754) कौतुकेन—अङ्गनामुखे स्त्रीवदने दृष्टिर्लग्ना लोकैः क्रष्टुमाकर्षितुं न शक्यते । केन लग्ना । कौतुकेन भ्रमेणापि । का इव । पङ्कमग्ना हस्तिनी यथा । हस्तिनी पङ्कमग्ना क्रष्टुं न शक्यते । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथ स्त्रीवासो ऽपि न युक्त इत्याह ।

755) एकत्र—व्याघ्रोरगैः सह सर्पैः सह एकत्र वसतिः वासः साध्वी वरम् । वा अथवा । पिशाचैः । नारीभिर्निमेषमपि निमेषमात्रमपि न शस्यते प्रशस्यते । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथामरादयो-ऽपि यासां दृष्टितश्चलन्तीत्यर्थः ।

756) भ्रूलता—येषां मुनीनां भ्रूलताचलनाद् अमरमण्डली स्खलति धैर्यं त्यजति । ते ऽपि तादृशबलोपेताः वनितानां संसर्गमात्रेण विडम्बिताः । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ स्त्रीदर्शनात् मुनयो-ऽपि भग्ना इत्याह ।

हिरणके समान चंचल नेत्रोंवाली स्त्रियोंके उन नेत्रोंमें वह कोई अंजन डाला गया है, जिससे कि उन स्त्रियोंके कटाक्षोंके द्वारा तीनों ही लोक क्षणभरमें मुग्ध हो जाते हैं ॥२८॥

यदि दृष्टि कुतूहलसे या भ्रान्तिसे भी स्त्रीके मुखपर संलग्न होती है तो उसे मनुष्य कीचड़में फँसी हुई हथिनीके समान वहाँसे खींचनेके लिए समर्थ नहीं होते हैं ॥२९॥

व्याघ्र, सर्प अथवा पिशाचोंके साथ एक स्थानपर रहना अच्छा है। परन्तु स्त्रियोंके साथ एक स्थानपर क्षणभर रहना भी निन्दनीय है—अच्छा नहीं है ॥३०॥

जिनकी भृकुटिरूप लताके चलनेसे—क्रुद्ध होनेपर—देवोंका समूह भी रुक जाता है वे धीर-वीर महापुरुष भी स्त्रियोंके संसर्गमात्रसे ही तिरस्कृत हुआ करते हैं—उनके वशीभूत हो जाते हैं ॥३१॥

१. L S T N येनापाङ्गे । २. M °मपि सह्यते । ३. M N वनितानां क्षयं गताः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

757) त्यजन्ति वनिताचौररुद्धाश्चारित्रमौक्तिकम् ।
यतयो ऽपि तपोभङ्ग[1]कलङ्कमलिनाननाः ॥३२

758) ब्रह्मचर्यच्युतः सद्यो महानप्यवमन्यते ।
सर्वैरपि जनैर्लोके विध्यात इव पावकः ॥३३

759) विशुध्यति जगद्येषां स्वीकृतं पादपांसुभिः ।
वञ्चिता [2]बहुशस्ते ऽपि वनितापाङ्गवीक्षणात् ॥३४

760) तपःश्रुतकृताभ्यासा ध्यानधैर्यावलम्बिनः ।
श्रूयन्ते यमिनः पूर्वं योषाभिः[3] कश्मलीकृताः ॥३५

757) त्यजन्ति—यतयो ऽपि वनिताचौररुद्धाश्चारित्रमौक्तिकं त्यजन्ति । कीदृशाः । तपोभङ्गकलङ्कमलिनाननाः तपोभङ्गः एव कलङ्कः तेन मलिनमाननं येषां ते तथा । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ ब्रह्मचर्यत्यागान्महानपि निन्द्यते इत्याह ।

758) ब्रह्मचर्य—महानपि ब्रह्मचर्यच्युतः अवमन्यते निन्द्यते पावक इव विध्यातः । यथा विध्यातः शमितः पावको ऽग्निर्जनैर्निन्द्यते । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ महात्मनामपि स्त्रीसंसर्गाद्दोषमाह ।

759) विशुध्यति—येषां पादपांसुभिः चरणरजोभिर्जगद् विशुध्यति । ते ऽपि बहुशः वनितापाङ्गवीक्षणात् वञ्चिताः । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ पूर्वमुनीनां योषित्संगादपायमाह ।

760) तपःश्रुत—यमिनो व्रतिनः, योषाभिः स्त्रीभिः कश्मलीकृता मलिनीकृताः श्रूयन्ते । कीदृशाः । तपःश्रुतकृताभ्यासात् ध्यानात् धैर्यावलम्बिनः । इति सूत्रार्थः ॥३॥ [अत्र दृष्टान्तमाह ।]

स्त्रीरूप चोरोंके द्वारा रोके गये संयमीजन भी तपसे भ्रष्ट होकर उत्पन्न हुए कलंकसे मलिनमुख होते हुए चारित्ररूप मोतीको छोड़ देते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार चोरोंके द्वारा रोके गये मनुष्य उनके सामने अपने धनको छोड़कर मलिनमुख हो जाते हैं उसी प्रकार स्त्रियोंके द्वारा रोके जानेपर संयमी साधुजन भी उनके सामने अपने चिररक्षित चारित्ररूप धनको छोड़ देते हैं तथा इस प्रकार तपसे भ्रष्ट हो जानेके कारण उत्पन्न हुई निन्दासे मलिनमुख होते हैं—मुँह दिखलानेके योग्य भी नहीं रहते ॥३२॥

ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट हुआ महान् पुरुष भी लोकमें सभी जनोंके द्वारा बुझी हुई अग्निके समान शीघ्र ही अपमानित होता है ॥३३॥

जिन महर्षियोंके पैरोंकी धूलिको स्वीकार करके जगत् विशुद्ध होता है वे भी प्रायः स्त्रियोंके कटाक्षोंके देखनेसे ठगे गये हैं ॥३४॥

जिन ऋषियोंने तप और आगमका अच्छा अभ्यास किया था तथा जो ध्यानके विषयमें धैर्यका अवलम्बन लेते थे—दृढ़तापूर्वक ध्यानमें अवस्थित रहते थे—वे भी पूर्वमें स्त्रियोंके द्वारा कलंकित किये गये हैं, यह पुराणोंसे सुना जाता है ॥३५॥

१. M ततो भङ्ग । २. N बहवस्ते ऽपि । ३. Y योषिद्भिः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

761) उह्यते[1] यत्र मातङ्गैर्नगोत्तुङ्गैर्जलप्लवे।
तत्र व्यूढा न संदेहः प्रागेव मृगशावकाः ॥३६

762) इह हि वदनकञ्जं हावभावालसाढ्यं
मृगमदललिताङ्कं विस्फुरद्भ्रूविलासम्।
क्षणमपि रमणीनां लोचनैर्लक्ष्यमाणं[2]
जनयति हृदि कम्पं धैर्यनाशं च पुंसाम् ॥३७

763) यासां सीमन्तिनीनां कुरबकतिलकाशोकमाकन्दवृक्षाः
प्राप्योच्चैर्विक्रियन्ते ललितभुजलतालिङ्गनादीन् विलासान्।
तासां पूर्णेन्दुगौरं मुखकमलमलं वीक्ष्य लीलारसाढ्यं[3]
को योगी यस्तदानीं कलयति कुशलो मानसं निर्विकारम् ॥३८

761) उह्यते—यत्र जलप्लवे जलप्रवाहे मातङ्गैर्हस्तिभिः प्रतिस्रोतस्त्वेन उह्यते गम्यते। कीदृशैर्मातङ्गैः। नगोत्तुङ्गैः पर्वतोच्चैस्तरैः। तत्र मृगशावकाः मृगबालकाः प्रागेव व्यूढाः, न संदेहः। इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ पुंसां धैर्यनाशमाह। मालिनी।

762) इह हि—इह जगति। हि निश्चितम्। पुंसां हृदि कम्पं जनयति। रमणीनां वदनं मुखं, लोचनैः क्षणमपि *वीक्ष्यमाणम्। च पुनः। धैर्यनाशं जनयति। कीदृशं रमणीनां वदनम्। हावभावालसाढ्यं, हावो मुखविकारः, भावश्चित्तसमुद्भवः, ताभ्यामलसाढ्यम्। मृगमदललिताङ्कं कस्तूरिकामनोहरपत्रवल्लीकम्। पुनः कीदृशम्। विस्फुरद्भ्रूविलासं शोभायमानभ्रूविलासम्। इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ स्त्रीणां संसर्गात् कामोद्रेकमाह। स्रग्धरा।

763) यासां—यासां सीमन्तिनीनां, ललितभुजलतालिङ्गनादीन् चारुबाहुलतालिङ्गनादीन् विलासान् प्राप्य। कुरबकतिलकाशोकसहकारादीनां वृक्षाणां कृतषोडशशृङ्गाराः सुराभृतवदनाः

जिस जलप्रवाहमें पर्वतके समान उन्नत बड़े-बड़े हाथी भी बह जाते हैं उसमें मृगके बच्चे तो पहले ही बह जानेवाले हैं, इसमें कुछ सन्देह ही नहीं है ॥३६॥

हाव-भाव एवं आलस्यसे परिपूर्ण, मध्यमें कस्तूरीसे सुशोभित तथा भृकुटियोंके विलाससे संयुक्त; ऐसे स्त्रियोंके मुख-कमलको क्षणभर भी नेत्रोंसे देखनेपर वह पुरुषोंके हृदयमें कम्पनको उत्पन्न करता हुआ उनके धैर्यको नष्ट कर देता है ॥३७॥

जिन स्त्रियोंकी सुन्दर भुजारूपी लताके आलिंगन आदि विलासोंको पाकर कुरबक, तिलक, अशोक और आम्रवृक्ष अतिशय विकारको प्राप्त होते हैं—विकसित हो जाते हैं—उनके पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान गौर और लीलारससे परिपूर्ण मुखरूप कमलको देखकर वह कौन-सा कुशल योगी है जो उस समय अपने मनको विकारसे रहित प्रगट कर सकता

१. M L F V ऊह्यन्ते। २. S वीक्षमाणें, All others except P वीक्ष्यमाणं। ३. M X Y लीलालसाढ्यं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

764) तावद्धत्ते प्रतिष्ठां प्रशमयति[1] मनश्चापलं चैष तावत्
तावत्सिद्धान्तसूत्रं स्फुरति हृदि परं विश्वतत्त्वैकदीपम् ।
क्षीराकूपारवेलावलयविलसितैर्मानिनीनां कटाक्षै-
र्यावन्नो हन्यमानं कलयति हृदयं दीर्घदोलायितानि[2] ॥३९

765) संसर्गाद् दुर्बलां दीनां संत्रस्तामप्यनिच्छतीम् ।
कुष्ठिनीं रोगिणीं जीर्णां दुःखितां क्षीणविग्रहाम् ॥४०

766) निन्दितां निन्द्यजातीयां स्वजातीयां तपस्विनीम् ।
बालामपि तिरश्चीं स्त्रीं कामी भोक्तुं प्रवर्तते ॥४१

सुमृदुबाहुलताभ्यामाश्लिष्य मुखेन सुराच्छटोत्क्षेपं ददति । ततस्ते वृक्षाः पुष्पादिकोपेता जायन्ते । अन्यथा न । इति तासां पूर्णेन्दुगौरं मुखकमलम् अलम् अत्यर्थं वीक्ष्य । कीदृशं मुखकमलम् । *लीलालसाढ्यं क्रीडालस्यमहार्घ्यम् । कः । योगी । यः कुशलः तदानीं मानसं चित्तं निर्विकारं कलयति धारयति, स एव योगी । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ यावत् स्त्रीणां रूपं न पश्यति तावत् प्रतिष्ठादि पूर्वं भवति इत्याह । स्रग्धरा ।

764) तावद्धत्ते—यावन्मानिनीनां कटाक्षैर्हन्यमानं हृदयं दीर्घलोलायितानि* दीर्घलोलाकर्म न कलयति, तावत् प्रतिष्ठां धत्ते । तावदेव मनः चापलं परिहरति* च । एव निर्धारणार्थः । तावत्सूत्रं सिद्धान्तं हृदि स्फुरति । कीदृशम् । परं प्रकृष्टम् । पुनः कीदृशम् । विश्वतत्त्वैकदीपम् । कीदृशम् । क्षीरकूपारवेलावलयविलसितैः क्षीरसमुद्रकल्लोलवलयः भ्रमविशेषः, तद्विलसितैः । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथ कुत्सितां नारीं भोक्तुं कामी वाञ्छति इत्याह ।

765-66) संसर्गात्—कामी संसर्गात् संबन्धात् । एतादृशीं स्त्रीं भोक्तुं प्रवर्तते इति संबन्धः ।

हो ? अभिप्राय यह है कि जो वृक्ष लोकमें तुच्छ गिने जाते हैं वे भी जब स्त्रियोंके संसर्गसे विकारको प्राप्त होते हुए देखे जाते हैं तब भला विशेष चतुर समझे जानेवाले मनुष्य तो उनके संसर्गसे विकारको प्राप्त होंगे ही ॥३८॥

यह मनुष्य तब तक ही प्रतिष्ठाको धारण करता है—तब तक ही अपनी प्रतिष्ठाको स्थिर रख सकता है, तब तक ही अपने मनकी चंचलताको शान्त करता है—उसे वशमें रख सकता है, और तब तक ही हृदयमें समस्त वस्तुस्वरूपके प्रगट करनेमें अनुपम दीपकके समान सिद्धान्त-सूत्र—आगमका रहस्य भी प्रकाशमान रहता है जबतक कि क्षीरसमुद्रके किनारेके घेरेके समान विलाससे संयुक्त स्त्रियोंके कटाक्षोंसे व्यथित हुआ हृदय दीर्घ हिंडालेके लम्बे झोकोंका अनुभव नहीं करता है । तात्पर्य यह कि स्त्रियोंके कटाक्षोंसे विद्ध होनेपर मनुष्योंकी प्रतिष्ठा और आगमज्ञान आदि सब कुछ नष्ट हो जाता है ॥३९॥

विषयी मनुष्य अतिशय पुरुषसंयोगके कारण दुर्बलताको प्राप्त हुई, दरिद्र, भयभीत, स्वयं इच्छा न करनेवाली, कोढ़से ग्रसित, रोगयुक्त, वृद्ध, दुःखित, कृश शरीरवाली, घृणित,

१. All others except P प्रतिष्ठां परिहरति । २. M दीर्घलोलायितानि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

767) अङ्गनापाङ्गबाणालीं प्रपतन्तीं निवारय ।
विधाय हृदयं धीर[1] दृढं[2] वैराग्यवर्मितम् ॥४२

768) ब्रह्मचर्यविशुद्ध्यर्थं संगः स्त्रीणां न केवलम् ।
त्याज्यः पुंसामपि प्रायो विटविद्यावलम्बिनाम् ॥४३

769) मदान्धैः कामुकैः पापैर्वञ्चकैर्मार्गविच्युतैः ।
स्तब्धलुब्धाधमैः सार्धं संगो लोकद्वयान्तकः ॥४४

770) सूत्रे दत्तावधानाः प्रशमयमतपोध्यानलब्धावकाशाः
शश्वत्संन्यस्तसंगा विमलगुणमणिग्रामभाजः स्वयं ये ।

कीदृशीं स्त्रीम् । अवाञ्छन्तीं, क्षीणशरीराम् । शेषं सुगमम् । तां कुत्सितत्वेन निन्द्यजातीयां चाण्डालजातीयाम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रद्वयार्थः ॥४०-४१॥ अथ स्त्रीकटाक्षवारणयत्नमाह ।

767) अङ्गना—हे धीर, अङ्गनापाङ्गबाणालीं स्त्रीकटाक्षशरावलीं प्रपतन्तीं निवारय । किं कृत्वा । हृदयं दृढं विधाय । कीदृशं हृदयम् । वैराग्यकवचितम् । इति सूत्रार्थः ॥४२॥ अथ ब्रह्मव्रतरक्षार्थं लम्पटसंसर्गत्यागमाह ।

768) ब्रह्मचर्य—न केवलं ब्रह्मचर्यरक्षार्थं स्त्रीणां संगः त्याज्यः । प्रायः विटविद्यावलम्बिनां पुंसामपि संगस्त्याज्यः । इति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथ यैः सार्धं संगस्त्याज्यस्तानाह ।

769) मदान्धैः—कठोरलुब्धाधमैः सार्धं संगः लोकद्वयान्तकः इहपरलोकविनाशकः । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ स्त्रीणां शरीरविलोकनात्तीर्थंकरतपोभङ्ग इत्याह । स्रग्धरा ।

770) सूत्रे—ये जिनपतियतयः, ते प्राक् पूर्वं कथासु स्वयं प्रसिद्धाः सन्तः ते ऽपि भग्नाः श्रूयन्ते । कस्मात् । कामिनीनां स्तनजघनमुखालोकनात् स्तनजङ्घामुखालोकनात् । कीदृशास्ते ।

नीच जातिकी, अपनी ही जातिकी, तपस्या करनेवाली, अल्पवयस्क और पशुस्त्री तकके भोगनेमें प्रवृत्त हो जाता है ॥४०-४१॥

हे धीर! अपने दृढ हृदयको वैराग्यरूप कवचसे आच्छादित करके गिरती हुई स्त्रियोंके कटाक्षरूप बाणोंकी पंक्तिका निवारण कर ॥४२॥

ब्रह्मचर्यव्रतको निर्मल रखनेके लिए केवल स्त्रियोंके ही संसर्गका परित्याग करना आवश्यक नहीं है, बल्कि कामकलाका आलम्बन करनेवाले दुराचारियोंके भी संसर्गका परित्याग करना आवश्यक है ॥४३॥

जो मदसे अन्धे हो रहे हैं, विषयी हैं, पापी हैं, धूर्त हैं, सन्मार्गसे भ्रष्ट हैं, अभिमानी हैं, लोभी हैं और निकृष्ट आचरण करनेवाले हैं; उनके साथ किया गया संसर्ग दोनों ही लोकोंको नष्ट करनेवाला होता है ॥४४॥

जो स्वयं सूत्रग्रन्थके अभ्यासमें उपयोगको दिया करते थे; जिनको प्रशम, यम, तप एवं ध्यानके लिए अवकाश प्राप्त था—जो उक्त प्रशमादिमें सदा अवस्थित रहा करते थे;

---

१. Y वीर for धीर । २. M N दृढवैराग्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रूयन्ते कामिनीनां स्तनजघनमुखालोकनात्ते ऽपि भग्ना
मज्जन्तो मोहवार्धौ जिनपतियतयः[1] प्राक् प्रसिद्धाः कथासु ॥४५

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे ब्रह्मव्रतविचारे आचार्य-
श्री-शुभचन्द्र-विरचिते संसर्गप्रकरणम् ॥१४॥

सूत्रे द्वादशाङ्गे दत्तावधानाः दत्तचित्ताः । पुनः कीदृशाः । प्रशमयमतपोध्यानलब्धावकाशाः क्षान्तिव्रततपोध्यानेषु लब्धः प्राप्तो ऽवकाशो यैस्तथा । पुनः कीदृशाः । शश्वत् संन्यस्तसंगाः निरन्तरापास्तसंगाः । पुनः कीदृशाः । विमलगुणमणिग्रामभाजः । सुगमम् । स्त्रीणामङ्गविलोकनान्मोहवार्धौ मज्जन्तः । इति सूत्रार्थः ॥४५॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन
साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहरिषिदास-स्वश्रवणार्थं
पण्डितजिनदासोद्यमेन स्त्रीणां संसर्गप्रकरणम् ॥१४॥

मालिनी छन्दः । विमलगुणनिधानः स्वक्रियासावधानः परमचरितयुक्तः पार्श्वसाहः प्रमुक्तः । तदनु इह समृद्धस्तोडरो भावशुद्धो जयति जगति चैषः रेषिदासः सुरेशः ॥१॥ अथ स्त्रीसंगत्यागात् महतां सेवा भवतीत्याह ।

जो निरन्तर परिग्रहकी ओरसे विमुख रहते थे, तथा जो निर्मल गुणरूप मणियोंके समूहकी आराधना किया करते थे; वे जैन मुनि भी पूर्व समयमें स्त्रियोंके स्तन, जघन और मुखके देखनेसे भ्रष्ट होकर मोहरूप समुद्रके भीतर मग्न हुए हैं। उनकी कथाएँ पुराणग्रन्थोंमें प्रसिद्ध हैं ॥४५॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
ब्रह्मव्रतविचारमें संसर्ग प्रकरण समाप्त हुआ ॥१४॥

---

१. F जिनमतयतयः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[वृद्धसेवा]

771) लोकद्वयविशुद्ध्यर्थं भावशुद्ध्यर्थमेव वा[1] ।
विद्याविनयवृद्ध्यर्थं वृद्धसेवैव शस्यते ॥१

772) कषायदहनः शान्तिं याति रागादिभिः समम् ।
चेतःप्रसत्तिमाधत्ते[2] वृद्धसेवावलम्बिनाम् ॥२

771) लोकद्वय—वृद्धसेवैव शस्यते प्रशस्यते । किमर्थम् । लोकद्वयविशुद्धयर्थम् । पुनः किमर्थम् । अञ्जसा* सुखेन भावशुद्धयर्थम् । पुनः किमर्थम् । विद्याविनयवृद्धयर्थम् । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ वृद्धसेवाफलमाह ।

772) कषाय—चेतः प्रशान्तिमाधत्ते । केषाम् । वृद्धसेवावलम्बिनां वृद्धसेवां कुर्वताम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ सति वृद्धे धर्मकर्तव्यमाह ।

दोनों लोकोंकी विशुद्धि, परिणामोंकी निर्मलता तथा ज्ञान एवं विनयकी वृद्धिके लिए वस्तुतः वृद्ध जनोंकी सेवा की ही प्रशंसा की जाती है ॥ विशेषार्थ—वृद्ध जनोंसे अभिप्राय यहाँ उन बुड्ढोंका नहीं है जो केवल आयुमें अधिक होते हैं। किन्तु जो आगमके पारंगत होकर संयमका परिपालन करते हैं; जो आत्म-परस्वरूपके ज्ञाता होनेसे संसार, शरीर एवं भोगोंकी ओरसे विरक्त रहते हैं; तथा जो दृढ़तापूर्वक तप एवं ध्यानमें लीन रहते हैं; उन महात्माओंको यहाँ वृद्ध पदसे ग्रहण करना चाहिए। कारण कि ऐसे महापुरुष ही आत्महित-के साथ परहितके सम्पादनमें भी समर्थ होते हैं। इसके विपरीत जो अवस्थामें वृद्ध होते हैं वे परका कल्याण तो कर ही नहीं सकते, किन्तु साथ ही वे आत्महितके साधनमें भी अस-मर्थ हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि उस समय उनका शरीर शिथिल हो जाता है, इन्द्रियाँ अपना कार्य नहीं करती हैं, तथा स्मृति क्षीण और विचारशक्ति नष्ट हो जाती है ॥१॥

जो जन वृद्धसेवाका आश्रय लेते हैं उनकी कषायरूप अग्नि रागादिके साथ ही शान्त हो जाती है तथा चित्त निर्मल होकर प्रसन्नताको धारण करता है ॥२॥

१. All others except P शुद्ध्यर्थमञ्जसा । २. L J चेतःप्रशान्ति° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

773) निश्चलीकुरु वैराग्यं चित्तदैत्यं नियन्त्रय ।
आसादय परां शुद्धिं[1] दुर्बुद्धे वृद्धसाक्षिकम् ॥३

774) सत्तत्त्व[2]निकषोद्भूतं विवेकालोकवर्धितम् ।
येषां बोधमयं चक्षुस्ते वृद्धा विदुषां मताः ॥४

775) तपःश्रुतधृतिध्यान[3]विवेकयमसंयमैः ।
ये वृद्धास्ते ऽत्र शस्यन्ते न पुनः पलिताङ्कुरैः ॥५

776) प्रत्यासत्तिं समायातैर्विषयैः स्वान्तरञ्जकैः ।
न धैर्यं स्खलितं येषां ते ऽपि वृद्धा[4] बुधैर्मताः ॥६

---

773) निश्चलीकुरु—हे दुर्बुद्धे, दुर्मते, वृद्धसाक्षिकम् एतत्सर्वं कुरु । चित्तदैन्यं नियन्त्रय बद्धं कुरु । परां शुद्धिम् आसादय प्रापय । इति सूत्रार्थः । शेषं सुगमम् ।॥३॥ अथ वृद्धानां स्वरूपमाह ।

774) सत्तत्त्व—येषां बोधमयं ज्ञानमयं चक्षुर्वर्तते । कीदृशम् । *स्वतत्त्वनिकषोद्भूतं स्वात्मतत्त्वकषपट्टजातम् । पुनः कीदृशम् । विवेकालोकवर्धितं विवेकप्रभावर्धितम् । ते पूर्वोक्तलक्षणलक्षिता विदुषां पण्डितानां मता अभिमताः । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ पुनर्वृद्धानां स्वरूपमाह ।

775) तपःश्रुत—अत्र जगति तपःश्रुतधृतिज्ञान*विवेकयमसंयमैः ये वृद्धास्ते शस्यन्ते । न पुनः पलिताङ्कुरैः श्वेतकेशैः । इति सूत्रार्थः ॥५॥ पुनर्वृद्धानां स्वरूपमाह ।

776) प्रत्यासत्ति—येषां धैर्यं न स्खलितम् । कैः । विषयैः इन्द्रियव्यापारैः । कीदृशैः ।

हे दुष्टबुद्धि ! तू उन वृद्धोंके समीपमें चित्तरूप दैत्यको वशमें करके वैराग्यभावको स्थिर करता हुआ उत्कृष्ट शुद्धिको प्राप्त कर ॥३॥

जिनका ज्ञानरूप नेत्र समीचीन तत्त्वके परीक्षणसे उत्पन्न होकर विवेकरूप प्रकाशकी सहायतासे वृद्धिको प्राप्त हुआ है वे महापुरुष विद्वानोंके द्वारा वृद्ध माने गये हैं—उन्हें ही पण्डित जन वृद्ध समझते हैं ॥४॥

लोकमें जो मनुष्य तप, श्रुत, धैर्य, ध्यान, विवेक, यम (व्रताचरण), और संयम (इन्द्रियनिग्रह) इन गुणोंके द्वारा वृद्धिको प्राप्त हैं उन वृद्धोंकी ही प्रशंसा की जाती है। किन्तु जो बालोंकी सफेदीसे वृद्धिको प्राप्त हैं—अवस्थामें ही वृद्ध हैं—उनकी लोकमें प्रशंसा नहीं की जाती है ॥५॥

मनको अनुरंजायमान करनेवाले विषयोंके साथ समीपताके होनेपर भी जिनका धैर्य

---

१. S V J X R वरां बुद्धिं । २. All others except P स्वतत्त्वनिकषो° । ३. J ज्ञान for ध्यान । ४. N S T F V J Y R ते वृद्धा विबुधै° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

777) न हि स्वप्ने ऽपि संजाता[1] येषां सद्वृत्तवाच्यता ।
यौवने ऽपि मता[2] वृद्धास्ते धन्याः शीलशालिभिः[3] ॥७॥ किं च[4]-

778) प्रायः शरीरशैथिल्यात्स्यात्स्वस्था मतिरङ्गिनाम्[5] ।
यौवने तु क्वचित्कुर्याद् दृष्टतत्त्वो ऽपि विक्रियाम् ॥८

779) वार्धक्येन[6] वपुर्धत्ते शैथिल्यं च यथा यथा ।
तथा तथा मनुष्याणां विषयाशा निवर्तते ॥९

*प्रत्यासत्तिसमायातैः संबन्धमात्रसमागतैः । पुनः कीदृशैः । स्वान्तरञ्जकैः चित्तरञ्जकैः । ते ऽपि वृद्धा बुधैर्मताः ॥६॥ अथ पुनस्तेषां लक्षणमाह ।

777) न हि स्वप्ने—[के वृद्धाः । येषां सद्वृत्तवाच्यता शीलनिन्दा लोके न संजाता ते । शीलशालिनः शीलेन शोभमानाः । शेषं सुगमम्] ॥७॥ किं च । अथ यौवने ऽपि तल्लक्षणमाह ।

778) प्रायः शरीर—वृद्धत्वे अङ्गिनां स्वस्था मतिः स्यात् । कस्मात् । प्रायः शरीरशैथिल्यात् । तु पुनः । यौवने दृष्टतत्त्वो ऽपि क्वचिद्विक्रियां कुर्यात् । इति सूत्रार्थः ॥८॥ पुनर्वार्धके यत्तदाह ।

779) वार्धक्येन—वृद्धस्य भावो वार्धक्यम् । तेन । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ तत्संगफलमाह ।

स्खलित नहीं हुआ है—जो उन सुलभ भोगोंकी प्राप्तिके लिए कभी अधीर नहीं होते हैं—उन्हें भी पण्डित जन वृद्ध मानते हैं ॥६॥

जिनका चारित्र स्वप्नमें भी कलंकित नहीं हुआ है उन्हें शीलसे विभूषित मुनिजन युवावस्थामें भी वृद्ध मानते हैं । वे धन्य हैं—उनकी प्रशंसा करना चाहिये ॥७॥

इसके अतिरिक्त वृद्धावस्थामें प्रायः शरीरके शिथिल हो जानेसे प्राणियोंकी बुद्धि आत्मस्वरूपमें स्थित होती है । परन्तु युवावस्थामें तो वस्तुस्वरूपका जानकार भी कहीं विकारको कर सकता है ॥ विशेषार्थ—इसका अभिप्राय यह है कि जब वृद्धावस्थामें शरीर शिथिल हो जाता है उस समय यदि कोई मनुष्य विषयोंसे विरक्त होकर आत्म-कल्याणमें प्रवृत्त होता है तो यह विशेष आश्चर्यकी बात नहीं है । परन्तु जिस युवावस्थामें विकारके अनेकों साधन उपस्थित रहते हैं उस अवस्थामें भी जो विवेकी जीव उन विषयोंसे विरक्त होकर आत्महितकी इच्छासे संयम व तपश्चरण आदिमें प्रवृत्त हो जाते हैं वे अतिशय प्रशंसनीय हैं ॥८॥

वृद्धावस्थाके कारण जैसे-जैसे शरीर शिथिलताको धारण करता है वैसे-वैसे मनुष्योंकी विषयतृष्णा नष्ट होती जाती है । अभिप्राय यह है कि वृद्धावस्थामें शरीरके शिथिल हो जानेसे मनुष्योंकी विषयलोलुपता प्रायः स्वयमेव शान्त हो जाती है ॥९॥

१. All others except P J संयाता । २. Y ऽपि क्वचिद्वृद्धा° । ३. J शालिनः । ४. P M L F किं च । ५. N स्वस्था देहिनां मतिः । ६. N वार्धक्ये तु वपु° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

780) हीनाचरणसंभ्रान्तो वृद्धो ऽपि तरुणायते ।
तरुणो ऽपि सतां धत्ते श्रियं [1]सत्संगवासितः ॥१०

781) विद्धि[2] वृद्धानुसेवेयं मातेव हितकारिणी ।
विनेत्री वागिवाप्तानां दीपिकेवार्थदर्शिनी ॥११

782) कदाचिद्दैववैमुख्यान्मातापि विकृतिं व्रजेत्[3] ।
न देशकालयोः क्वापि वृद्धसेवा कृता सती ॥१२

---

780) हीनाचरण—हीनाचरणसंभ्रान्तो वृद्धो ऽपि तरुणायते तरुण इव आचरते। तरुणोऽपि सतां श्रियं धत्ते । कीदृशः । सत्संगवासितः सत्संगव्याप्तः । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ वृद्धसेवायाः फलमाह ।

781) विद्धि—इयं वृद्धानुसेवा साक्षात्* माता इव । कीदृशी । हितकारिणी । पुनः कीदृशी । आप्तानां सर्वज्ञानां वागिव वाणीव । कीदृशी । विनेत्री । पुनः कीदृशी । दीपिकेव अर्थदर्शिनी । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ पुनर्वृद्धसेवाफलमाह ।

782) कदाचित्—देशकालयोर्विषये वृद्धसेवा कृता सती क्वापि विकृतिं विकारं न भजेदिति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ कस्यचिद्वाणीदोषमाह ।

जो हीन आचरणसे व्याकुल है वह अवस्थामें वृद्ध होकर भी युवकके समान आचरण करता है—उसे युवक (जवान) ही समझना चाहिए। इसके विपरीत जो साधु जनकी संगतिमें रहकर उत्तम संस्कारको प्राप्त है वह अवस्थामें युवा होकर भी सत्पुरुषोंकी लक्ष्मीको धारण करता है—उसे युवा होनेपर भी वृद्ध समझना चाहिए ॥१०॥

यह वृद्धसेवा माताके समान हित करनेवाली, आप्तकी वाणीके समान विनयशील बनाने वाली (या शिक्षा देनेवाली) और दीपकके समान पदार्थोंके स्वरूपको दिखलानेवाली है ॥११॥

दैवके विपरीत होनेपर कदाचित् माता तो विकारको प्राप्त हो सकती है—वह अपनी हितकरताको छोड़ भी सकती है, परन्तु विधिपूर्वक की गयी वह वृद्धसेवा किसी भी देश और किसी भी कालमें विकारको नहीं प्राप्त होती है—वह सदा और सर्वत्र ही प्राणीका हित किया करती है ॥१२॥

---

१. N तत्सङ्गवासितः । २. All others except P साक्षाद्वृद्धा° । ३. All others except P M भजेत् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

783) अन्ध एव वराको ऽसौ न सतां यस्य भारती ।
श्रुतिरन्ध्रं समासाद्य [1]प्रस्फुरत्यधिकं हृदि ॥१३

784) सत्संसर्गसुधास्यन्दैः पुंसां हृदि पवित्रिते ।
ज्ञानलक्ष्मीः पदं धत्ते विवेकमुदिता सती ॥१४

785) वृद्धोपदेशघर्मांशुं प्राप्य चित्तकुशेशयम् ।
न प्राबोधि कथं तत्र संयमश्रीः स्थितिं दधे ॥१५

---

783) अन्ध एव—श्रुतिरन्ध्रं कर्णमूलं प्राप्य हृदि अधिकं प्रस्फुरति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ सत्संसर्गफलमाह ।

784) सत्संसर्गं—पुंसां हृदि ज्ञानलक्ष्मीः पदं स्थानं धत्ते । कीदृशी । विवेकमुदिता सती । कीदृशैः । सत्संसर्गसुधास्यन्दैः सत्संबन्धामृतनिष्यन्दैः पूते पवित्रिते । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ [अथ वृद्धोपदेशफलमाह ।

785) वृद्धोपदेश—यावत् चित्तमेव कुशेशयं कमलम् । वृद्धोपदेश एव घर्मांशुः सूर्यः तं प्राप्य । न प्राबोधि न विकसितम् । तावत् संयम एव श्रीः शोभा । तत्र कथं स्थितिं दधे आश्रयं कुर्यात् । वृद्धोपदेशाच्चित्तशुद्धिः । ततः संयमस्य प्रादुर्भाव इत्यर्थः] ॥१५॥ अथ वृद्धसेवाफलमाह ।

कानरूप छेदको पा करके जिसके हृदयमें सत्पुरुषोंकी वाणी अतिशय प्रकाशमान नहीं होती है उस बेचारेको अन्धा ही समझना चाहिए। विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जो सत्पुरुषोंके हितकर वचनोंको नहीं सुनता है और न उनका मनन भी करता है उसे अन्धे मनुष्यसे भी गया-बीता समझना चाहिये। कारण यह कि अन्धा मनुष्य तो विवेक के आश्रयसे अपना हित कर सकता है, परन्तु जो आप्तजनके सदुपदेशको नहीं सुनता है वह अविवेकी कभी भी अपना हित नहीं कर सकता है ॥१३॥

जिन पुरुषोंका हृदय सत्समागमरूप अमृतके प्रवाहसे पवित्र हो चुका है उनके उस हृदयमें ज्ञानरूप लक्ष्मी विवेकसे हर्षको प्राप्त होकर स्थानको धारण करती है—निवास करती है। अभिप्राय यह कि जो साधुजनकी संगतिमें रहते हैं उनका ज्ञान वृद्धिको प्राप्त होता है ॥१४॥

जिनका हृदयरूप कमल वृद्धोंके उपदेशरूप सूर्यको पाकर प्रबोधको नहीं प्राप्त हुआ है—विकसित नहीं हुआ है—उनके उस हृदय-कमलके भीतर संयमरूप लक्ष्मी कैसे अवस्थित रह सकती है ? नहीं रह सकती है। अभिप्राय यह कि वृद्धोंकी संगतिसे जैसे ज्ञान वृद्धिंगत होता है वैसे ही उससे उनका संयम (चारित्र) भी वृद्धिंगत होता है ॥१५॥

---

१. N S T F V विस्फुरं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

786) अनुपास्यैव यो वृद्धमण्डलीं मन्दविक्रमः ।
जगत्तत्त्वस्थितिं वेत्ति स[1] मिमीते नभः करैः ॥१६

787) [1]सुधांशुरश्मिसंपर्का[2]द्विसर्पति यथाम्बुधिः ।
तथा सद्वृत्तसंसर्गान्नृणां प्रज्ञापयोनिधिः ॥१७

788) नैराश्यमनुबध्नाति विध्याप्याशाहविर्भुजम् ।
आसाद्य यमिनां योगी वाक्पथातीतसंयमम् ॥१८

789) वृद्धानुजीविनामेव स्युश्चरित्रा[1]भिसंपदः ।
भवत्यपि च निर्लेपं मनः क्रोधादिकश्मलम् ॥१९

786) अनुपास्यैव—यो मनुष्यः वृद्धमण्डलीम् अनुपास्यैव अदृष्ट्वैव जगत्तत्त्वस्थितिं भुवनतत्त्वमर्यादां वेत्ति जानाति । कीदृशः । मदविक्रमः मदबलवान् । स करैर्हस्तैर्नभः आकाशं मिमीते । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ सत्संसर्गात् प्रजावृद्धिमाह ।

787) सुधांशु—यथा अम्बुधिः समुद्रः *शीतांशुरश्मिसंपर्कात् चन्द्रकिरणसंबन्धात् विसर्पति । [तथा] सद्वृत्तसंसर्गात् सच्चारित्रसंबन्धात् । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ योगिकर्तव्यमाह ।

788) नैराश्यमनु—योगी नैराश्यं निर्लोभतामनुबध्नाति बन्धयति । किं कृत्वा । यमिनां व्रतिनां वाक्पथातीतसंयमं वचनागोचरसंयमम् आसाद्य प्राप्य । आशाहविर्भुजं वाञ्छाग्निं विध्याप्य उपशमयित्वा । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ सेवतां फलमाह ।

789) वृद्धानुजीविनां—वृद्धानुजीविनां वृद्धसेवावतां चारित्रादिसंपदः चारित्रलक्ष्म्यः स्युः ।

जो हीन पराक्रमवाला मनुष्य वृद्धसमूहकी उपासना न करके ही संसारके यथार्थ स्वरूपको जानना चाहता है वह मानो हाथों के द्वारा आकाश को मापना चाहता है। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार अनन्त आकाश का हाथों के द्वारा मापा जाना सम्भव नहीं है उसी प्रकार वृद्ध सेवाके विना तत्त्वका परिज्ञान होना भी सम्भव नहीं है ॥१६॥

जिस प्रकार चन्द्रकी किरणोंके संसर्गसे समुद्र विस्तारको प्राप्त होता है उसी प्रकार सदाचारी जनोंके संसर्गसे मनुष्योंका बुद्धिरूप समुद्र भी विस्तारको प्राप्त होता है ॥१७॥

योगी अनिर्वचनीय मुनियोंके संयमको पाकर आशारूप अग्निको बुझाता हुआ निराशभावका अनुसरण करता है। अभिप्राय यह है कि प्राणीकी विषयतृष्णा तभी नष्ट होती है जब कि वह मुनिव्रत (सकलचारित्र) को स्वीकार करता है ॥१८॥

चारित्ररूप सम्पदाएँ उनको ही प्राप्त होती हैं जो कि वृद्धजनके आश्रयमें रहकर

१. N न मिमीते । १. All others except P शीतांशु । २. M N रश्मिसंस्पर्शात् । १. M N L T चरित्रादि; S F V J X Y R चारित्रादि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

790) सुलभेष्वपि भोगेषु नृणां तृष्णा निवर्तते ।
सत्संसर्गसुधास्यन्दैः शश्वदार्द्रीकृतात्मनाम् ॥२०

791) कातरत्वं परित्यज्य धैर्यमेवावलम्बते ।
सत्संगजपरिज्ञानरञ्जितात्मा जनः स्वयम् ॥२१

792) पुण्यात्मनां गुणग्रामसीमसंसक्तमानसैः[1] ।
तीर्यते यमिभिः किं न अविद्यारागसागरः[2] ॥२२

793) तत्त्वे तपसि वैराग्ये परां प्रीतिं समश्नुते ।
हृदि स्फुरति यस्योच्चैर्वृद्धवाग्दीपसंततिः ॥२३

च पुनः । क्रोधादिकश्मलं क्रोधादिमलोपेतं मनः निर्लेपं भवत्यपि इत्यर्थः ॥१९॥ अथ तृष्णा-निवर्तनमाह ।

790) सुलभेष्वपि—सत्संसर्गसुधास्यन्दैः सतां संबन्धामृतद्रावैः शश्वन्निरन्तरम् आर्द्री-कृतात्मनाम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ सतां संबन्धतो धैर्यं भवतीत्याह ।

791) कातरत्वं—सतां संगाज्जातपरिज्ञानरञ्जितात्मा जनः । स्वयम् आत्मना । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ यमिभिर्यत्कार्यं तदाह ।

792) पुण्यात्मनां—यमिभिः कुविद्यागरसागरः* कुशास्त्रविषसमुद्रः किं न तीर्यते । अपि तु तीर्यते एव । कीदृशैः । पुण्यात्मनां गुणग्रामसीमासंसक्तमानसैः गुणसमूहमर्यादास्थापितचित्तै-रिति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ पुनर्वृद्धसेवाफलमाह ।

793) तत्त्वे तपसि—यः तत्त्वे परमार्थे तपसि वैराग्ये परां प्रकृष्टां प्रीतिं समश्नुते प्राप्नोति ।

उनकी सेवा किया करते हैं। ऐसे महापुरुषोंका क्रोधादि कषायोंके द्वारा कलुषित हुआ भी मन निर्मल हो जाता है ॥१९॥

जिनकी आत्मा सत्समागमरूप अमृतके प्रवाहसे निरन्तर आर्द्र (गीली) की गयी है उन मनुष्योंकी विषयतृष्णा भोगोंके सुलभ होनेपर भी शान्त हो जाती है ॥२०॥

जिस मनुष्यकी आत्मा सत्संगतिसे उत्पन्न हुए सम्यग्ज्ञानसे अनुरंजित है वह कातरताको छोड़कर स्वयं धैर्यका ही आश्रय लेता है ॥२१॥

जिन साधुओंका मन पुण्यपुरुषोंके गुणसमूहकी सीमामें संलग्न है वे क्या अज्ञानतासे परिपूर्ण रागरूप समुद्रको पार नहीं करते हैं? अवश्य करते हैं। अभिप्राय यह है कि जो महापुरुषोंके समागममें रहकर उनके उत्तमोत्तम गुणोंको ग्रहण किया करते हैं उनका मिथ्याज्ञान एवं राग-द्वेष आदि नष्ट हो जाते हैं ॥२२॥

जिसके हृदयमें वृद्ध जनके वचनरूप दीपोंकी परम्परा अतिशय प्रकाशमान है वह तत्त्वचिन्तन, तपश्चरण और वैराग्यभावनामें उत्कृष्ट प्रीतिको प्राप्त होता है ॥२३॥

---

१. All others except P सीमासंसक्त । २. L S T F V Y R कुविद्या; J X कुविद्यागरसा° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

794) [1]मिथ्यात्वादिनगोत्तुङ्गशृङ्गभङ्गाय कल्पितः ।
विवेकः साधुसंगोत्थो वज्रादप्यजयो नृणाम् ॥२४

795) अप्यनादिसमुद्भूतं क्षीयते गहनं[2] तमः ।
वृद्धानुयायिनां च स्याद्विश्वतत्त्वैकनिश्चयः ॥२५

796) अन्तःकरणजं कर्म यः [3]स्फेटयितुमिच्छति ।
स योगिवृन्द[4]माराध्य करोत्यात्मन्यवस्थितिम् ॥२६

यस्य पुरुषस्य हृदि वृद्धवाग्दोपसंततिरुच्चैः स्फुरति । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ [इदानीं विवेकस्य फलमाह ।

794) मिथ्यात्वादि—मिथ्यात्वादय एव पर्वतास्तेषाम् उत्तुङ्गशृङ्गाणां भङ्गाय विनाशाय कल्पितः विवेकः नृणां कृते वज्रादपि अजयः ज्ञातव्यः साधुसंगोत्थः साधुसंसर्गेण उत्पन्न इत्यर्थः] ॥२४॥ अथ पुनः वृद्धसेवाफलमाह ।

795) अप्यनादि – वृद्धानुयायिनां तमो ऽज्ञानं क्षीयते । अपि च कीदृशम् । अनादिसमुद्भूतम् अनादिकालजातम् । कीदृशं तमः । निबिडं सघनम् । च पुनः । विश्वतत्त्वैकनिश्चयः जगत्तत्त्वैकनिश्चयः । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथान्तःकरणजातपापकर्म निषेधयति ।

796) अन्तःकरणजं—यः पुमान् अन्तःकरणजं चित्तसंभूतं कर्म स्फेटयितुं दूरीकर्तुम् इच्छति, स पुमान् आत्मनि अवस्थितिं करोति । किं कृत्वा । योगिवृन्दम् आराध्य । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ वृद्धसेवाया ज्ञानहेतुत्वमाह ।

मनुष्योंके साधुजनकी संगतिसे जो विवेक उत्पन्न होता है वह वज्रकी अपेक्षा भी अजेय (दृढ़) होनेसे मिथ्यादर्शनादिरूप पर्वतोंकी उन्नत शिखरोंके खण्डनका कारण होता है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार वज्र बड़े-बड़े पर्वतोंके ऊँचे-ऊँचे शिखरोंको खण्डित कर देता है उसी प्रकार साधु समागमसे प्राप्त हुआ विवेक मिथ्यादर्शनादिरूप पर्वतशिखरोंको खण्डित कर देता है—उन्हें नष्ट करके सम्यग्दर्शन आदिको उत्पन्न करा देता है ॥२४॥

जो वृद्धोंका अनुसरण करते हैं—उनके संसर्गमें रहते हैं—उनका अनादि कालसे उत्पन्न हुआ भी—अनादि परम्परागत भी—अज्ञानरूप गहरा अन्धकार नष्ट हो जाता है और समस्त तत्त्वोंका अनुपम निश्चय आविर्भूत होता है ॥२५॥

जो भव्य अन्तःकरणसे उत्पन्न हुए कर्मको नष्ट करनेकी इच्छा करता है वह योगिसमूहकी आराधना करके अपनी आत्मामें अवस्थित होता है। तात्पर्य यह कि साधुसंगतिसे आत्मस्वरूपमें अवस्थान और उससे पूर्वोपार्जित कर्मोंका विनाश होता है ॥२६॥

---

१. J om. । २. All others except P निबिडं तमः । ३. N S T V J X Y R स्फोटयितु° । ४. M N योगिवृद्ध° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

797) एकैव[1] महतां सेवा स्याज्जेत्री[2] भुवनत्रये ।
यथैव यमिनां[3]मुच्चैरन्तर्ज्योतिर्विजृम्भते ॥२७

798) दृष्ट्वा श्रुत्वा यमी योगिपुण्यानुष्ठानमूर्जितम् ।
आक्रामति निरातङ्कः पदवीं तैरुपासिताम् ॥२८

799) विश्वविद्यासु चातुर्यं विनयेष्वतिकौशलम् ।
भावशुद्धिः स्वसिद्धान्ते[3] सत्संगादेव देहिनाम् ॥२९

800) यथात्र शुद्धिमाधत्ते स्वर्णमत्यन्तमग्निना ।
मनःशुद्धिं[4] तथा ध्यानी योगिसंसर्गवह्निना ॥३०

797) **एकैव महतां**—भुवनत्रये एकैव महतां सेवा जैत्री* स्यात् । यया सेवया यमिनां व्रतिनाम् अन्तर्मध्ये उच्चैर्ज्योतिर्विजृम्भते चकास्ते । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ पुण्यानुष्ठानेन योगिध्यानं भवतीत्याह ।

798) **दृष्ट्वा**—यमी व्रती योगी पुण्यानुष्ठानं दृष्ट्वा श्रुत्वा अर्जितमुपार्जितम् । तैर्योगिभिरुपासितां पदवीम् आक्रामति समारोहति । कीदृशो यमी । निरातङ्कः गतभयः । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ सतां संगेन फलमाह ।

799) **विश्वविद्यासु**—देहिनां प्राणिनां सत्संगादेव स्वसिद्धान्ते भावशुद्धिः स्यात् । विश्वविद्यासु समस्तविद्यासु चातुर्यं, विनयेषु सेवासु अतिकौशलम् । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथ योगिसंसर्गान्मनःशुद्धिमाह ।

800) **यथात्र**—अत्र यथा स्वर्णम् अग्निना अत्यन्तशुद्धिमादत्ते । तथा ध्यानी योगिवह्निना मनःशुद्धिम् । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

जिस वृद्धसेवाके द्वारा मुनियोंके अन्तःकरणमें अन्तर्ज्योतिकी—उत्कृष्ट ज्ञानरूप प्रकाशकी—अतिशय वृद्धि होती है वह एक ही महान् (वृद्ध) पुरुषोंकी सेवा तीनों लोकोंमें विजय प्राप्त करानेवाली है ॥२७॥

संयमका परिपालन करनेवाला साधु योगियोंके प्रतापपूर्ण पवित्र अनुष्ठान (तपश्चरणादि) को देखकर और सुन करके निर्भय होता हुआ उनके द्वारा सेवित मार्गपर आक्रमण करता है—उनके द्वारा अनुष्ठित तपश्चरणादिमें सरलतासे प्रवृत्त हो जाता है ॥२८॥

प्राणियोंको जो समस्त विद्याओंमें कुशलता, विनयों अथवा संयमभेदोंमें निपुणता और अपने सिद्धान्तके विषयमें उपयोगकी विशुद्धि प्राप्त होती है; वह साधुसंगतिके प्रभावसे ही प्राप्त होती है ॥२९॥

जिस प्रकार यहाँ सुवर्ण अतिशय अग्निके संयोगसे शुद्धिको—कीट और कालिमासे

१. F एकैका । २. M स्याज्जैत्री...यामिनीमुच्चै° । ३. X स्यात्संगादेव । ४. All others except P J मनःसिद्धि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

801) भयलज्जाभिमानेन धैर्यमेवावलम्बते ।
साहचर्यं[1] समालम्ब्य[2] संयमी पुण्यकर्मणाम् ॥३१

802) शरीराहारसंसारकामभोगेष्वपि स्फुटम् ।
विरज्यति नरः क्षिप्रं सद्भिः सूत्रे प्रतिष्ठितः ॥३२

803) यथा यथा मुनिर्धत्ते चेतः[2] सत्संगवासितम् ।
तथा तथा तपोलक्ष्मीः परां प्रीतिं प्रकाशते[3] ॥३३॥ उक्तं च[4]–

804) न हि भवति निर्विगोपकमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम् ।
प्रकटितपश्चिमभागं पश्यत नृत्यं मयूरस्य ॥३३*१॥ इति[5]

801) भयलज्जा--धैर्यमेवावलम्बते । केन । भयलज्जाभिमानेन । कः संयमी । पुण्यकर्मणां साहचर्यं समासाद्य । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ वैराग्यमाह ।

802) शरीराहार—नरः स्फुटं क्षिप्रं विरज्यति । केषु । शरीराहारसंसारकामभोगेषु अपि । कीदृशः । सूत्रे प्रतिष्ठितः ॥३२॥ अथ सत्संसर्गफलमाह ।

803) यथा यथा—सतां संगवासितं भावितम् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे ।

804) न हि भवति—अनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानं निर्विगोपकं प्रगटं न हि भवति ।

रहित अवस्थाको—प्राप्त करता है उसी प्रकार ध्यानी साधु योगियोंकी संगतिरूप अग्निके संयोगसे मनकी शुद्धिको—राग-द्वेषसे रहित अवस्थाको--प्राप्त करता है ॥३०॥

मुनि पवित्र आचरण करनेवाले योगियोंकी संगतिका आश्रय पाकर भय, लज्जा अथवा अभिमानसे धैर्यका ही सहारा लेता है। अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य सदाचारियोंकी संगतिमें रहता है वह समीचीन मार्गसे भ्रष्ट करनेवाली साधन-सामग्रीके उपस्थित होनेपर उनके भयसे, लज्जासे अथवा स्वाभिमानके कारण मार्गभ्रष्ट नहीं होता है ॥३१॥

जो मनुष्य साधु जनोंके द्वारा परमागममें प्रतिष्ठित किया गया है—आगममें सुशिक्षित किया गया है--वह शीघ्र ही शरीर, भोजन, संसार और कामभोगके विषयमें स्पष्टतया विरक्त हो जाता है ॥३२॥

मुनि जैसे-जैसे चित्तको सत्संगतिसे संस्कारित करता है वैसे ही वैसे तपरूप लक्ष्मी उसके प्रति उत्कृष्ट प्रीतिको प्रगट करती है--वह तपश्चरणमें स्थिरताको प्राप्त करता है ॥३३॥ कहा भी है--

जिसने गुरु-परिवारकी--गुरुसमूहकी—उपासना नहीं की है उसका विज्ञान तिरस्कारसे रहित नहीं होता--निन्दनीय ही होता है। जैसे--मयूरके नृत्यको देखो।

१. All others except P समासाद्य। २. M N संसर्गवा°। ३. N L T V X R प्रकाशयेत्, J प्रकाशतः। ४. P M उक्तं च। ५. P इति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

805) तपः कुर्वन्तु वा मा वा चेद् वृद्धान् समुपासते ।
तीर्त्वा व्यसनकान्तारं यान्ति पुण्यां गतिं नराः ॥३४

806) कुर्वन्नपि तपस्तीव्रं विदन्नपि श्रुतार्णवम् ।
नासादयति कल्याणं चेद् वृद्धानवमन्यते[1] ॥३५

अतो मयूरस्य नृत्यं पश्यत । कीदृशम् । प्रगटितपश्चिमभागम् । इति सूत्रार्थः ॥३३*१॥ अथ वृद्धसेवाफलमाह ।

805) तपः कुर्वन्तु—नराः मनुष्याः तपः कुर्वन्तु । वा अथवा । मा कुर्वन्तु । चेत् वृद्धान् समुपासते सेवते । पुण्यां गतिं यान्ति । किं कृत्वा । व्यसनकान्तारं कष्टवनं तीर्त्वा । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ वृद्धसेवातिक्रमे फलमाह ।

806) कुर्वन्नपि—तीव्रं तपः कुर्वन्नपि श्रुतार्णवं विदन्नपि जानन्नपि तथापि कल्याणं नासादयति न प्राप्नोति । चेत् वृद्धान् पूर्वोक्तान् अवमन्यते अवधीरणां करोतीत्यर्थः ॥३५॥ अथ महात्मनः संगफलमाह ।

वह जो नृत्य करता है सो उसमें अपने पिछले भागको स्पष्ट दिखलाता हुआ करता है जो निन्दनीय है ॥ विशेषार्थ--अभिप्राय इसका यह है कि मयूर जो नृत्य करता है वह कुछ नाट्यशास्त्रोक्त विधिके अनुसार नहीं करता है, क्योंकि तद्विषयक शिक्षा उसे उपलब्ध ही नहीं होती है । इसीलिए वह नृत्य करते समय पिच्छको फैलाकर अपने पृष्ठभागको उघाड़ देता है । यह शिष्टताके विरुद्ध होनेसे निन्दनीय है । ठीक इसी प्रकारसे जो मनुष्य गुरुजनोंके मध्यमें नहीं रहा है उसको जो विशेष ज्ञान प्राप्त है वह चूँकि गुरुओंके समागममें रहकर विधिपूर्वक नहीं प्राप्त किया गया है, अतएव वह अन्यथा भी हो सकता है । यही कारण है जो वह निन्दनीय समझा जाता है । नीतिकारोंका भी यही कहना है कि 'संदिग्धं हि परिज्ञानं गुरुप्रत्ययवर्जितम्' (च० च० २-४३) अर्थात् जिस ज्ञानके उपार्जनमें गुरुजनका विश्वास उपलब्ध नहीं हुआ वह प्रमाणमें अधिक होने पर भी समीचीनताके विषयमें सन्देहास्पद ही रहता है । इससे वृद्धसमागमकी उपादेयता सिद्ध है ॥३३*१॥

यदि वृद्धोंकी उपासना (सेवा) की जाती है तो फिर मनुष्य तपश्चरण करें अथवा न भी करें । फिर भी वे दुःखोंसे परिपूर्ण संसाररूप वनके पार पहुँचकर पवित्र गतिको—मोक्षको—प्राप्त होते हैं ॥३४॥

इसके विपरीत मनुष्य यदि वृद्धजनोंका अपमान करता है तो भले ही वह घोर तपश्चरण भी क्यों न कर रहा हो तथा आगमरूप समुद्रको भी क्यों न जानता हो, फिर भी वह कल्याणको—मोक्षसुखको—नहीं प्राप्त कर सकता है ॥३५॥

---

१. F V वृद्धा नैव मन्यते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

807) मनो ऽभिमतनिःशेषफलसंपादनक्षमम् ।
कल्पवृक्ष इवोदारं[1] साहचर्यं महात्मनाम् ॥३६
808) जायते यत्समासाद्य न हि स्वप्ने ऽपि दुर्मतिः ।
मुक्तिबीजं तदेकं स्यादुपदेशाक्षरं सताम् ॥३७
809) तन्न लोके परं धाम न तत्कल्याणमग्रिमम् ।
यद्योगिपाद[2]राजीवसंश्रितैर्नाधिगम्यते ॥३८
810) अन्तर्लीनमपि ध्वान्तमनादिप्रभवं नृणाम् ।
क्षीयते साधुसंसर्गप्रदीपप्रसराहतम् ॥३९

807) मनो ऽभिमत—महात्मनां साहचर्यं संसर्गः कल्पवृक्ष इव । कीदृशम् । मनो ऽभिमत-निःशेषफलसंपादनक्षमं मनोवाञ्छितसमस्तफलकरणसमर्थम् । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ सताम् उपदेशस्वरूपं दर्शयति ।

808) जायते—सतां तदेकम् उपदेशाक्षरं मुक्तिबीजं स्यात्, यत् उपदेशाक्षरं समासाद्य प्राप्य स्वप्ने ऽपि दुर्मतिर्न जायते । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ सर्वं योगिप्राप्यमाह ।

809) तन्न लोके—यद्योगिपदराजीवसंश्रितैर्योगिपदकमलाश्रितैर्नाधिगम्यते न प्राप्यते । लोके तत्परं धाम तदग्रिमं कल्याणं नेति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ साधुसंसर्गफलमाह ।

810) अन्तर्लीनमपि—नृणां मनुष्याणाम् अन्तर्लीनं मनःस्थं ध्वान्तमज्ञानमपि क्षीयते । कीदृशम् । अनादिप्रभवम् । पुनः कीदृशम् । साधुसंसर्गः एव प्रदीपः, तस्य प्रसरः समूहः तेनाहतम् । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथ पुनर्वृद्धसेवाफलमाह । मालिनी ।

सत्पुरुषोंकी संगति महान् कल्पवृक्षके समान मनवांछित समस्त फलोंके प्राप्त करानेमें समर्थ है । विशेषार्थ—तात्पर्य यह कि प्राणियोंको जिस प्रकार कल्पवृक्षोंसे अभीष्ट सब सामग्री प्राप्त होती है उसी प्रकार वह अभीष्ट सामग्री उन्हें वृद्धोंकी संगतिसे प्राप्त हुआ करती है । इतना ही नहीं, बल्कि वह वृद्धसेवा तो उस कल्पवृक्षोंसे भी बढ़कर है । कारण यह कि मोक्षकी साधनभूत जिस रत्नत्रयस्वरूप अभीष्ट सामग्रीको वह वृद्धसेवा प्रदान किया करती है उसके प्रदान करनेमें कल्पवृक्ष सर्वथा असमर्थ होते हैं ॥३६॥

जिसको पा करके स्वप्नमें भी दुर्बुद्धि (आर्त-रौद्ररूप दुर्ध्यान) नहीं उदित होती है वह साधुजनोंके उपदेशका एक अक्षर भी मुक्तिकी प्राप्तिका कारण होता है ॥३७॥

लोकमें वह कोई उत्कृष्ट स्थान नहीं है तथा वह कोई उत्कृष्ट हित नहीं है जिसको कि योगिजनोंके चरणकमलोंका आश्रय लेनेवाले महापुरुष प्राप्त न कर सकते हों । तात्पर्य यह कि योगिजनोंके आराधनसे मनुष्योंका सब ही मनोरथ पूर्ण होता है ॥३८॥

मनुष्योंका अनादि कालसे उत्पन्न होकर भीतर लीन हुआ अज्ञानरूप अन्धकार साधु-समागमरूप दीपकके विस्तारसे आहत होकर नष्ट हो जाता है ॥३९॥

१. All others except M Y वृक्षमिवोदारं । २. All others except P पदराजीव ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

811) दहति दुरितकक्षं कर्मबन्धं लुनीते
वितरति यमसिद्धिं भावशुद्धिं तनोति ।
नयति जननतीरं ज्ञानराज्यं च दत्ते
ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी ॥४०[1]

812) विरम विरम संगान् मुञ्च मुञ्च प्रपञ्चं
विसृज विसृज मोहं विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम् ।
कलय कलय वृत्तं पश्य पश्य स्वरूपं
कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्दहेतोः[2] ॥४१

813) अतुलसुखनिधानं ज्ञानविज्ञानबीजं
विलयगतकलङ्कं शान्तविश्वप्रचारम् ।

---

811) दहति—वृद्धसेवा एव एतत्सर्वं दत्ते। दुरितकक्षं दहति। कर्मबन्धं लुनीते। यमसिद्धिं व्रतसिद्धिं वितरति ददाति। भावशुद्धिं तनोति विस्तारयति। जननतीरं भवसमुद्रं पारं प्रापयति। च पुनः। ज्ञानराज्यं दत्ते। ध्रुवं निश्चितम्। इह जगति। केषाम्। मनुजानां मनुष्याणाम्। इति सूत्रार्थः॥ इति वृद्धसेवा ॥४०॥ अथ धर्मोपदेशमाह। मालिनी।

812) विरम—हे भव्य, संगात् परिग्रहात् विरम विरम त्यज त्यज। अत्र क्रियाद्वित्वप्रतिपादनमत्यादरसूचनाय। प्रपञ्चं कुटुम्बादिविस्तारं मुञ्च मुञ्च। मोहं स्वजनादिषु विसृज विसृज स्वतत्त्वं परमात्मस्वरूपं विद्धि विद्धि जानीहि जानीहि। वृत्तं चारित्रं कलय कलय आश्रय आश्रय। स्वरूपमात्मतत्त्वं पश्य पश्य। पुरुषार्थं धर्मरूपं कुरु कुरु। निर्वृतस्य मोक्षस्य आनन्दहेतोः कारणाय। इति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथ पुनरुपदेशमाह। मालिनी।

813) अतुलसुख—हे भव्य, स्वात्मना स्वस्वरूपेणात्मानं भज सेवस्व। एव निर्धारणार्थः। कीदृशमात्मानम्। अतुलसुखनिधानम्। सुगमम्। पुनः कीदृशमात्मानम्। ज्ञानविज्ञानबीजं,

---

भली भाँति की गयी वृद्धसेवा ही यहाँ निश्चयसे मनुष्योंके पापरूप वनको भस्म करती है, कर्मबन्धको काटती है, संयमकी सिद्धिको देती है, परिणामोंकी निर्मलताको विस्तृत करती है, संसाररूप समुद्रके किनारे ले जाती है, तथा ज्ञानरूप राज्यको—केवलज्ञानरूप लक्ष्मीको प्रदान करती है ॥४०॥

हे भव्य ! तू परिग्रहसे सर्वथा विराम ले ले—बाह्य सब वस्तुओंसे ममत्वभावको छोड़ दे, धूर्तता को शीघ्रतासे छोड़ दे, मोहका परित्याग कर दे, आत्मस्वरूपको प्रयत्नपूर्वक जान ले, चारित्र को पहचान करके उससे सम्बन्धको स्थापित कर—उसे धारण कर ले, अपने असाधारण स्वरूपको देख तथा निर्बाध मोक्षसुखके लिए पुरुषार्थको कर ॥ ४१ ॥

हे भव्य ! जो अपनी आत्मा अनुपम सुखका भण्डार, ज्ञान व विवेकका कारण, पापरूप मलसे रहित, समस्त प्रवृत्तियोंसे—संकल्प-विकल्पोंसे—अतीत, समस्त शंकाओं अथवा

---

१. P M adds वृद्धसेवा। २. M N Y निर्व्ययानन्द।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शमितसकलशङ्कं[1] विश्वरूपं विशालं
भज विगतविकारं स्वात्मनात्मानमेव ॥४२

814) धन्यास्ते मुनिमण्डलस्य गुरुतां प्राप्ताः स्वयं योगिनः
शुध्यत्येव जगत्त्रयी शमवतां श्रीपादरागाङ्किता ।
तेषां संयमसिद्धयः सुकृतिनां स्वप्ने ऽपि येषां मनो
नालीढं विषयैर्न कामविशिखैर्नैवाङ्गनालोचनैः ॥४३

815) येषां वाग्भुवनोपकारचतुरा विद्या[2] विवेकास्पदं
ध्यानं ध्वस्तसमस्तकर्मकवचं वृत्तं कलङ्कोज्झितम् ।

प्रसिद्धम् । पुनः कीदृशम् । विलयगतकलङ्कं विलयं गतः कलङ्को यस्मात् स तम् । पुनः कीदृशम् । शान्तविश्वप्रचारं शान्तविश्वे जगति प्रचारः पर्यटनं यस्मिन् स तम् । पुनः कीदृशम् । विगतविकारम् । इति सूत्रार्थः ॥४२॥ अथ योगिमाहात्म्यमाह । शार्दूलविक्रीडितम् ।

814) धन्यास्ते—ते योगिनो धन्याः स्वयमात्मना मुनिमण्डलस्य गुरुतां प्राप्ताः । तेषां शमवतां श्रीपादरागाङ्किता श्रीचरणरागचिह्निता जगत्त्रयी शुद्ध्यति एव । येषां सुकृतिनां संयमसिद्धयो जायन्ते । पुनर्येषां [मनो] विषयैर्नालीढं न व्याप्तम् । न कामविशिखैर्बाणैर्नालीढम् । नैवाङ्गनालोचनैर्नालीढमिति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथ पुनस्तेषामेव योगिनां स्वरूपमाह । शार्दूलविक्रीडितम् ।

815) येषां वाग्—येषां योगिनां वाग् वचनं भुवनोपकारचतुरा जगदुपकारचतुरा । येषां प्रज्ञा* विवेकास्पदम् । येषां ध्यानं ध्वस्तसमस्तकर्मकवचं वर्तते । येषां वृत्तमाचारः कलङ्कोज्झितं

भयसे रहित, समस्त पदार्थोंका ज्ञाता होनेसे विश्वस्वरूप, विस्तृत तथा सब प्रकारके विकारोंसे—राग-द्वेषादिसे—रहित है उसकी ही तू स्वयं आराधना कर ॥ ४२ ॥

जिनका मन विषयभोगों, कामके बाणों और स्त्रियोंके नेत्रों (कटाक्षों) से स्वप्नमें भी नहीं छुआ गया है वे योगी धन्य हैं—अतिशय प्रशंसनीय हैं, वे ही स्वयं मुनिसंघकी गुरुताको—मुनिसमूहके मध्यमें प्रमुखताको प्राप्त होते हैं, राग-द्वेषादिको उपशान्त करनेवाले उन योगियोंके शोभायमान चरणों के राग (लालिमा और अनुराग) से चिह्नित तीनों लोक नियमसे शुद्धिको प्राप्त होते हैं तथा उन्हीं पुण्यशाली महात्माओंके विविध प्रकारके संयमकी सिद्धि भी होती है । अभिप्राय यह है कि जो योगी ब्रह्मचर्यका दृढ़तासे परिपालन करते हैं वे संयममें परिपूर्ण होनेसे मुनियोंके मध्यमें आचार्य आदिके प्रतिष्ठित पदको प्राप्त करते हैं तथा उनके चरणोंकी आराधनासे तीनों लोकोंके जीव कर्ममलसे रहित होकर विशुद्ध हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

जिन योगियों की वाणी जगत्के प्राणियोंका उपकार करनेमें समर्थ है, जिनकी विद्या (ज्ञान) विवेकका स्थान है—उसका अनुसरण करनेवाली है; जिनका ध्यान कर्मरूप कवच-

१. All others except P गलितसकल । २. All others expect P चतुरा प्रज्ञा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्ज्ञानसुधातरङ्गनिचयैश्चेतश्च निर्वापितं
धन्यास्ते शमयन्त्वनङ्गविशिखव्यापारजास्ते[1] रुजः ॥४४

816) चञ्चद्भिश्चिरमप्यनङ्गपरशुप्रख्यैर्वधूलोचनै-
र्येषामिष्टफलप्रदः कृतधियां नाच्छेदि शीलद्रुमः ।
धन्यास्ते शमयन्तु संततमिलद्दुर्वारकामानल-
ज्वालाजालकरालमानसमिदं विश्वं विवेकाम्बुभिः ॥४५

817) यदि विषयपिशाची निर्गता देहगेहात्
सपदि यदि विशीर्णो मोहनिद्रातिरेकः ।

वर्तंते । च पुनः । येषां चेतो निर्वापितं शीतलीभूतम् । कैः । सम्यग्ज्ञानसुधातरङ्गनिचयैः सम्यग्ज्ञानामृतकल्लोलसमूहैः । ते धन्याः अनङ्गविशिखव्यापारजा रुजः ते शमयन्तु । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह । शार्दूलविक्रीडितम् ।

816) चञ्चद्भिः—येषां शीलद्रुमः नाच्छेदि न च्छेदं चकार । कैः । वधूलोचनैः । कीदृशैः । चञ्चद्भिः चञ्चलैः । चिरं चिरकालमप्यनर्मपरशुप्रख्यैः कठोरकुठारसदृशैः । कीदृशः शीलद्रुमः । इष्टफलप्रदः । कीदृशानां येषाम् । कृतधियाम् । ते धन्याः इदं विश्वं विवेकाम्बुभिः शमयन्तु । कीदृशं विश्वम् । संततमिलद्दुर्वारकामानलज्वालाजालकरालमानसं निरन्तरमिलद्दुर्वारकन्दर्पाग्निशिखासमूहरौद्रचित्तम् । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ पुनस्तत्कर्तव्यतामाह । मालिनी छन्दः ।

817) यदि विषय—ननु निश्चयेन । हे भव्य, तदा ब्रह्मवीथीविहारं ब्रह्मचर्यमार्गविहारं विधेहि । यदि देहगेहात् विषयपिशाची निर्गता । सपदि शीघ्रं यदि मोहनिद्रातिरेकः । अतिरेकः

को नष्ट करता है, जिनका चारित्र मलसे—दोषोंसे—रहित है, तथा जिनका अन्तःकरण सम्यग्ज्ञानरूप अमृतकी तरंगोंके समूह द्वारा शीतल किया जा चुका है; वे योगीन्द्र धन्य हैं। वे कामके बाणोंके व्यापारसे उत्पन्न हुए रोगोंको—विषयभोगाभिलाषरूप घावोंको—शान्त करें ॥ ४४ ॥

जिनका अभीष्ट फलको देनेवाला शीलरूप वृक्ष चिरकालमें भी कामदेवके फरसाके समान चमकते हुए स्त्रियोंके नेत्रों द्वारा नहीं छेदा गया है—जो कामिनीजनके कटाक्षोंके वशीभूत कभी नहीं होते हैं—वे विवेकी योगी धन्य हैं। वे निरन्तर मिलनेवाली दुर्निवार कामरूप अग्निकी भयानक ज्वालाओंसे उद्विग्न मनवाले विश्वको—लोकके प्राणियोंको—विवेकरूप जलके द्वारा शान्त करें ॥ ४५ ॥

हे भव्य ! यदि शरीररूप गृहसे विषयरूप राक्षसी—दुर्गतिदायक भोगाकांक्षा निकल चुकी है, यदि मोहरूप निद्राका आधिक्य शीघ्रतासे नष्ट हो चुका है, तथा स्त्रीके हड्डियोंके

१. All others except P व्यापारजाता ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि युवतिकरङ्के निर्ममत्वं प्रपन्नो
झगिति ननु[1] विधेहि ब्रह्मवीथीविहारम् ॥४६

818) स्मरभोगीन्द्रदुर्वारविषानलकरालितम् ।
जगद्यैः शान्तिमानीतं ते जिनाः सन्तु शान्तये ॥४७

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्रीशुभचन्द्र-
विरचिते चातुर्थवृद्धसेवाप्रकरणम्[2] ॥१५॥

आधिक्यम् । यदि झगिति शीघ्रं युवतिकरङ्के स्त्रीशरीरे निर्ममत्वं प्रपन्नः प्राप्तः । इति सूत्रार्थः ॥४६॥ अथ जिनानां नमस्कारमाह ।

818) स्मरभोगीन्द्र—ते जिनाः रागद्वेषजेतारः शान्तये सन्तु । ते के । यैः जगत् शान्तिमानीतं शान्तिं प्रापितम् । कीदृशं जगत् । स्मरभोगीन्द्रदुर्वारविषकरालितं कन्दर्पसर्पदुर्वारविषरौद्रम् । इति सूत्रार्थः ॥४७॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्य-विरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनय-
विलासेन साहपासा तत्पुत्र साहटोडर तत्कुलकमलदिवाकर साहऋषिदास
स्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन ब्रह्मचर्यप्रकरणं समाप्तम् ॥१५॥

मालिनी । विगतदुरितभावो ज्ञानविश्वैकभावः समभवदिह पार्श्वष्टोडरः शुद्धबुद्धः । परिगतकुलचन्द्रो ब्रह्मचर्यैककन्दः स जयति ऋषिदासो जैनधर्मैकदासः । इति आशीर्वादः । नागृहीता योषित् परिभुज्यते इत्यतो ब्रह्मचर्यानन्तरं परिग्रहमाह ।

पंजरमें मलमूत्रादि से परिपूर्ण शरीरमें—ममत्वबुद्धि (अनुराग) से रहित हो चुका है; तो फिर तू शीघ्र ही ब्रह्मचर्यरूप गलीमें विहार कर ब्रह्मचर्यका दृढ़ता से पालन करता हुआ अपने आत्मस्वरूपमें रमण कर ॥ ४६ ॥

कर्मविजेता जिन अरिहन्त केवलियोंने कामरूप विकराल सर्पकी दुर्निवार विषरूप अग्निसे भयभीत हुए लोकको शान्ति प्राप्त कराया है—शान्त किया है—वे शान्तिके निमित्त होवें ॥ ४७ ॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपधिकारमें
चातुर्थवृद्धसेवाप्रकरण समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

---

१. M N झटिति तदवधेहि....विहारे । २. M X Y चतुर्थव्रतप्रकरणम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[परिग्रहदोषविचारः]

819) यानपात्रमिवाम्भोधौ गुणवानपि मज्जति ।
परिग्रहगुरुत्वेन संयमी जन्मसागरे ॥१

820) बाह्यान्तर्भूतभेदेन द्विधा स्युस्ते[1] परिग्रहाः ।
चिदचिद्रूपिणो बाह्या अन्तरङ्गास्तु[2] चेतनाः ॥२

821) दश ग्रन्था मता बाह्या अन्तरङ्गाश्चतुर्दश ।
तान् मुक्त्वा[3] भव निःसंगो भावशुद्धया भृशं मुने ॥३

819) यानपात्रं—गुणवानपि संयमो जन्मसागरे समुद्रे मज्जति । केन । परिग्रहगुरुत्वेन परिग्रहभारवत्त्वेन । कस्मिन् क इव । अम्भोधौ समुद्रे यानपात्रमिव । यथा यानपात्रं नौः समुद्रे गुरुत्वेन मज्जति । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ परिग्रहभेदमाह ।

820) बाह्यान्तर्भूत—ते परिग्रहा द्विधा स्युः । केन । बाह्यान्तरङ्गभेदेन । तत्र बाह्या द्विधा स्युः । चिदचिद्रूपिणः । एके चिद्रूपाः, एके अचिद्रूपाः । अन्तरङ्गाः सचेतनाः । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

821) दश ग्रन्थाः—भृशमत्यर्थम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३॥ [अथ बाह्यान् दश ग्रन्थान् निर्दिशति ।

जिस प्रकार गुणवान् भी—योग्य शिल्पीके द्वारा विधिपूर्वक निर्मित दृढ जहाज भी—परिग्रहकी गुरुतासे—रखी गयी अधिक वस्तुओं के बोझसे—समुद्रमें डूब जाता है उसी प्रकार परिग्रहकी गुरुतासे—धन-धान्यादिविषयक मोहकी अधिकतासे—संयमी साधु भी संसाररूप समुद्रके भीतर डूब जाता है ॥ १ ॥

वे परिग्रह बाह्य और अभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारके हैं। इनमें बाह्य परिग्रह भी चेतन (स्त्री-पुत्रादि) और अचेतन (धन-धान्यादि) स्वरूपसे दो प्रकारके हैं। परन्तु अभ्यन्तर परिग्रह (मिथ्यात्व-राग-द्वेषादि) चेतनारूप ही हैं ॥ २ ॥

उनमें बाह्य परिग्रह दस तथा अभ्यन्तर परिग्रह चौदह माने गये हैं। हे साधो ! तू उन सब परिग्रहोंको छोड़कर परिणामोंकी निर्मलतासे निर्ममत्व हो जा ॥ ३ ॥

१. All others except P द्विधा ते स्युः परि° । २. P M °रङ्गास्त्वचे°, L F J °रङ्गाश्च चे° । ३. N तान् हित्वा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

822) [वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं द्विपदाश्च चतुष्पदाः ।
शयनासनयानं च कुप्यं भाण्डममी दश ॥३*१]

823) निःसंगो ऽपि मुनिर्न स्यात्संमूर्च्छः संगवर्जितः ।
यतो मूर्च्छैव तत्त्वज्ञैः संगसूतिः प्रकीर्तिता ॥४

824) स्वजनधनधान्यदारापशुपुत्रपुराकरा गृहं भृत्याः ।
मणिकनकरजतशय्यावस्त्राभरणादि बाह्यार्थाः ॥५

825) उक्तं च—
मिथ्यात्ववेदरागा दोषा हास्यादयो ऽपि षट् चैव ।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्था: ॥५*१॥ इति

822) वास्तु क्षेत्रं—द्विपदा मनुष्याः पक्षिणः च। चतुष्पदाः चतुश्चरणा मृगादयः। यानं वाहनम्। कुप्यं रजतसुवर्णादि। अन्यत्सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥३*१॥] अथ मूर्च्छायाः परिग्रहत्वमाह।

823) निःसंगो ऽपि—निःसंगो मुनिरपि न स्यात्। कीदृशः। सन्मूर्च्छः मूर्च्छासहितः। पुनः कीदृशः। संगवर्जितः। यतः कारणात् तत्त्वज्ञैः मूर्च्छैव संगसूतिः परिग्रहः प्रकीर्तिता। इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ दशधा परिग्रहत्वमाह। आर्या।

824) स्वजनधन—रजतं रूप्यम्। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥५॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे। चतुर्दशान्तरङ्गग्रन्थाः तानाह। आर्या।

825) मिथ्यात्व—[मिथ्यात्वं, वेदः, रागः, दोषः नाम द्वेष एते चत्वारः, हास्यं, रतिः

वास्तु (गृह), क्षेत्र (खेत), धन (चाँदी-सोना आदि), धान्य (गेहूँ-चावल आदि), द्विपद (स्त्री-पुत्रादि), चतुष्पद (गाय-भैंस आदि पशु), शय्या व आसन, यान (रथ आदि), कुप्य (रेशमी और सूती वस्त्र अथवा सोना और चाँदी के अतिरिक्त अन्य पीतल आदि) और बर्तन ये दस बाह्य परिग्रह हैं ॥ ३*१ ॥

बाह्य परिग्रहसे रहित होकर भी यदि मुनि अभ्यन्तरमें ममत्वभावसे संयुक्त है तो वह वस्तुतः परिग्रहसे रहित नहीं होता है। कारण यह है कि तत्त्वज्ञ पुरुषोंने उस मूर्च्छा (ममत्वभाव) को ही परिग्रहकी उत्पत्तिका कारण बतलाया है ॥ ४ ॥

कुटुम्बी जन, धन, धान्य, स्त्री, पशु (हाथी, घोड़ा व गाय आदि), पुत्र, नगर, खान घर, सेवक, मणि, सुवर्ण, चाँदी, शय्या (पलंग आदि) तथा वस्त्र और आभूषण आदि बाह्य परिग्रह कहे जाते हैं ॥ ५ ॥

कहा भी है—

मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्य आदि (रति, अरति, शोक, भय व जुगुप्सा) छह तथा क्रोधादि चार कषाय; इस प्रकार ये चौदह अभ्यन्तर परिग्रह हैं ॥ ५*१ ॥

१. P M N om. Verse। २. T संगमूर्तिः। ३. All others except P दाराः पशु। ४. R रचित। ५. M °भरणानि। ६. M N बाह्यो ऽर्थः। ७. P L F उक्तं च। ८. P M इति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

826) संवृतस्य सुवृत्तस्य[1] जितातक्षस्यापि योगिनः ।
व्यामुह्यति मनः क्षिप्रं धनाशाव्यालविप्लुतम् ॥६

827) त्याज्य एवाखिलः संगो मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः ।
स चेत्त्यक्तुं न शक्येत[2] कार्यस्तर्ह्यात्मदर्शिभिः ॥७

828) नाणवो ऽपि गुणा लोके दोषाः शैलेन्द्रसंनिभाः ।
भवन्त्यत्र न संदेहः संगमासाद्य देहिनाम् ॥८

अरतिः, शोकः, भयं, जुगुप्सा एते षट् तथा क्रोधः, मानः, माया, लोभश्चेत्येवं चत्वारः कषायाः एवं मिलित्वा चतुर्दश अभ्यन्तरा ग्रन्था भवन्ति । इति सूत्रार्थः ॥५*१॥] अथ योगिनो ऽपि धनाशां विडम्बयन्ति ।

826) संवृतस्य—योगिनो ऽपि मनो व्यामुह्यति मोहं याति । कीदृशं मनः । धनाशाव्याल-विप्लुतं द्रव्येच्छासर्पविप्लुतं पीडितम् । कीदृशस्य योगिनः । संवृतस्य संवरयुक्तस्य, सुवृत्तस्य स्वाचारस्य, जिताक्षस्यापि । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ मुक्तिकामिभिः संगस्त्याज्यः तदाह ।

827) त्याज्य एव—मुनिभिः अखिलः समस्तः संगः त्याज्य एव । कीदृशैर्मुनिभिः । मोक्तु-मिच्छुभिः । स संगः चेत्त्यक्तुं न शक्नोति, तर्हि आत्मदर्शिभिः कार्यः । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ संगे ऽपि दोषमाह ।

828) नाणवो ऽपि—अत्र लोके जगति देहिनां संगमासाद्य प्राप्याणवो ऽपि स्तोका अपि गुणाः [न ।] शैलेन्द्रसंनिभाः पर्वतसदृशाः दोषाः [तु] भवन्ति, न संदेहः । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथान्तरङ्गबाह्यशुद्ध्या शुद्धिमाह ।

योगी सावद्य प्रवृत्तिसे रहित, सम्यक्चारित्रका परिपालक और इन्द्रियों का निग्रह करनेवाला भी क्यों न हो; परन्तु यदि उसका मन धनकी अभिलाषारूप उपद्रवसे व्याप्त है तो वह शीघ्र ही मोहको प्राप्त हो जाता है—मुनिमार्ग से भ्रष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥

मुक्ति की इच्छा करनेवाले मुनियोंको सब ही संगका—परिग्रहकी संगतिका—परित्याग कर देना चाहिए। और यदि सब प्रकारका संग नहीं छोड़ा जा सकता है तो फिर उन्हें आत्मद्रष्टा योगियोंके साथ उस संगको करना चाहिए—आत्माका अवलोकन करनेवाले महात्माओंकी संगति करनी चाहिए ॥ ७ ॥

परिग्रहीकी संगतिको प्राप्त होकर यहाँ प्राणियोंके गुण तो अणुप्रमाण भी नहीं रहते, परन्तु दोष मेरु पर्वतके समान विशाल हो जाते हैं ॥ ८ ॥

---

१. L सुगुप्तस्य । २. All others except P M N न शक्नोति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

829) अन्तर्बाह्यभुवोः शुद्ध्योर्योगाद्योगी विशुध्यति ।
न ह्येकं पत्रमालम्ब्य व्योम्नि पत्री विसर्पति ॥९

830) साध्वीयं स्याद् बहिःशुद्धिरन्तःशुद्ध्यात्र देहिनाम् ।
फल्गुभावं भजत्येव बाह्या त्वाध्यात्मिकीं[1] विना ॥१०

831) संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्धिंसा तयाशुभम् ।
तेन श्वाभ्री गतिस्तस्यां दुःखं वाचामगोचरम्[2] ॥११

832) संग एव मतः सूत्रे निःशेषानर्थमन्दिरम् ।
येनासन्तो ऽपि सूयन्ते रागाद्या रिपवः क्षणे ॥१२

829) अन्तर्बाह्य—योगी विशुध्यति । कस्मात् । अन्तर्बाह्यभुवोः अन्तरङ्गबाह्यजातयो-विशुद्धयोर्योगात् संबन्धात् । हि निश्चितम् । एकं पक्षमालम्ब्याश्रित्य, व्योम्नि आकाशे, पत्री पक्षी विसर्पति गच्छति । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथाभ्यन्तरशुद्धया बाह्यशुद्धिमाह ।

830) साध्वीयं—अत्र जगति देहिनाम् अन्तःशुद्धया इयं बहिः शुद्धिः साध्वी स्यात् । आध्यात्मिकीं शुद्धिं विना बाह्या शुद्धिः । तु पुनरर्थे । फल्गुभावं व्यर्थतां भजत्येव । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ संगस्य परम्परया नरकदुःखहेतुत्वमाह ।

831) संगात्कामः—तेनाशुभेन । श्वाभ्री गतिः नरकगतिः । तस्यां दुःखं वाचामगोचरं वचनातीतम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ संगस्य सर्वानर्थकारणतामाह ।

832) संग एव—येन संगेन असतो ऽपि अविद्यमाना अपि । शेषं प्रसिद्धम् । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ संगेन मुनेः क्षान्त्यादिधर्मा नश्यन्ति इत्याह ।

योगी अभ्यन्तर और बाह्य इन दोनों ही शुद्धियों के सम्बन्धसे विशुद्धिको प्राप्त होता है । ठीक है—पक्षी आकाशमें जो गमन करता है वह कुछ एक पंखके आश्रयसे नहीं करता है, किन्तु दोनों ही पंखोंके आश्रयसे करता है । अभिप्राय यह है कि मुक्ति बाह्य और अभ्यन्तर दोनों ही प्रकारके परिग्रहसे रहित हो जाने पर प्राप्त होती है, न कि केवल बाह्य परिग्रहसे ही रहित हो जाने पर ॥९॥

लोकमें प्राणियोंकी यह बाह्यशुद्धि अभ्यन्तर शुद्धिके साथ योग्य होती है । परन्तु उस अभ्यन्तर शुद्धिके विना अकेली बाह्यशुद्धि व्यर्थ ही होती है ॥१०॥

परिग्रहसे विषयवांछा उत्पन्न होती है, फिर उस विषयवांछासे क्रोध, उस क्रोधसे हिंसा, उससे अशुभ कर्मका उपार्जन, उससे नरकगतिकी प्राप्ति और वहाँ पर अनिर्वचनीय दुःख होता है ॥ ११ ॥

आगममें समस्त अनर्थोंका स्थान यह परिग्रह ही माना गया है । इसका कारण यह है कि उसके प्रभावसे यदि क्रोधादि न भी हों तो भी वे क्षणभरमें ही उत्पन्न हो जाते हैं ॥१२॥

१. M N °त्मिकं । १. T वाचामगो° ।

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

833) रागादिविजयः सत्यं क्षमा शौचं वितृष्णता ।
मुनेः प्रच्यवते[1] नूनं संगैर्व्यामोहितात्मनः ॥१३

834) संगाः शरीरमासाद्य स्वीक्रियन्ते शरीरिभिः ।
तत्प्रागेव मुनिःसारं योगिभिः परिकीर्तितम् ॥१४

835) हृषीकराक्षसानीकं कषायभुजगव्रजम् ।
वित्तामिषमुपादाय धत्ते कामप्युदीर्णताम् ॥१५

836) उन्मूलयति निर्वेदविवेकद्रुममञ्जरीः ।
प्रत्यासत्तिं समायातः सतामपि परिग्रहः ॥१६

---

833) रागादि—मुनेर्ज्ञाततत्त्वस्य प्रच्याव्यते दूरीक्रियते। व्यामोहितात्मनः मुग्धात्मनः। शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ शरीरकारणाय संगः क्रियत इत्याह ।

834) संगाः शरीरम्—शरीरिभिः जीवैः शरीरमासाद्य प्राप्य। संगाः स्वीक्रियन्ते। तच्छरीरं मुनिभिर्योगिभिः। प्रागेव पूर्वमेव। मुनिःसारं निःफलम्। प्रकीर्तितं कथितमिति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ वित्तस्य इन्द्रियाणां हेतुमाह ।

835) हृषीक—वित्तामिषं द्रव्यमांसम् उपादाय गृहीत्वा हृषीकराक्षसानीकम्, अनीकं सेना। कामपि उदीर्णतां धत्ते। कषायभुजगव्रजं कषायसर्पसमूहः ॥१५॥ अथ परिग्रहः विवेकमपास्यतीत्याह ।

836) उन्मूलयति—परिग्रहः सतां सत्पुरुषाणां निर्वेदविवेकद्रुममञ्जरी वैराग्यविवेकतरुमञ्जरी उन्मूलयति मूलतः उत्पाटयति। कीदृशः परिग्रहः। प्रत्यासत्तिसमायातः संबन्धं प्राप्तः। इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ संगस्य सर्वदोषतामाह ।

जो मुनि परिग्रहमें मूढ़ होता है उसके इस परिग्रहके प्रभावसे राग-द्वेषका जीतना, सत्यभाषण, क्षमा, शौच और निःस्पृहा आदि गुण नष्ट हो जाते हैं ॥ १३ ॥

प्राणी शरीरको पा करके ही परिग्रहोंको स्वीकार किया करते हैं। और उस शरीरको योगीजन पूर्वमें ही सारहीन बतला चुके हैं ॥ १४ ॥

इन्द्रियरूप राक्षसकी सेनास्वरूप, कषायरूप, सर्पोंका समूह धनरूप मांस को ग्रहण करके असाधारण सामर्थ्य को धारण करता है ॥१५॥

परिग्रह साधुजनोंकी भी समीपताको पाकर वैराग्य और विवेकरूप वृक्षके बौर (मंजरी)को सर्वथा नष्ट कर देता है। अभिप्राय यह कि परिग्रहके संयोगसे उत्तम पुरुषोंका भी वैराग्य और विवेक नष्ट हो जाता है ॥१६॥

---

1. All others except P प्रच्याव्यते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

837) लुप्यते विषयव्यालैर्भिद्यते मारमार्गणैः ।
रुध्यते वनिताव्याधैर्नरः संगैस्तरङ्गितः ॥१७

838) यः संगपङ्कनिर्मग्नो ऽप्यपवर्गाय चेष्टते ।
स मूढः पुष्पनाराचैर्विभिन्द्यात्त्रिदशाचलम् ॥१८

839) अणुमात्रादपि ग्रन्थान्मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत् ।
विसर्पति ततस्तृष्णा यस्यां विश्वं न शान्तये ॥१९

840) परीषहरिपुव्रातं तुच्छवृत्तैकभीतिदम् ।
वीक्ष्य धैर्यं विमुञ्चन्ति यतयः संगसंगताः ॥२०

837) लुप्यते—नरो मनुष्यः संगैः परिग्रहैरभिद्रुतः पीडितः । विषयव्यालैर्विषयसर्पैः लुप्यते । मारमार्गणैः कामबाणैर्भिद्यते । वनिताव्याधैः स्त्रीलुब्धकैः रुध्यते । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ परिग्रहस्य मोक्षाभावमाह ।

838) यः संग—यः संगपङ्कनिर्मग्नो ऽप्यपवर्गाय चेष्टते मोक्षाय यतते स मूढो मूर्खः पुष्पनाराचैः पुष्पबाणैः । त्रिदशाचलं सुरगिरिं, विभिन्द्यात् विशेषेण भिन्द्यात् । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ स्तोको परिग्रहः मोहस्य कारणमाह ।

839) अणुमात्रादपि—अणुमात्रात् स्तोकतरादपि ग्रन्थात् । मोहग्रन्थिः दृढीभवेत् । ततो मोहग्रन्थेः तृष्णा विसर्पति । यस्यां तृष्णायां विश्वं जगन्न शान्तये । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ धैर्यविलोपकत्वं संगस्याह ।

840) परीषह—यतयः संगसंगिताः संगव्याप्ताः धैर्यं विमुञ्चन्ति । परीषहरिपुव्रातं वीक्ष्य । कीदृशम् । तुच्छवारैकभयदम् । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ परिग्रहस्य सर्वघातकत्वमाह ।

परिग्रहसे तरंगित (व्याकुल) मनुष्य विषयरूप सर्पोंके द्वारा नष्ट किया जाता है, कामके बाणोंसे भेदा जाता है, तथा स्त्रीरूप व्याधोंके द्वारा रोका जाता है । अभिप्राय यह है कि परिग्रहमें आसक्त रहनेवाला मनुष्य विषयभोगोंमें अनुरक्त होकर पापको उपार्जित करता है और उससे दुर्गतिके दुःखको सहता है ॥१७॥

जो मनुष्य परिग्रहरूप कीचड़में फँसकर मोक्षके लिए प्रयत्न करता है वह मूर्ख फूलों के बाणोंसे मानो मेरु पर्वतको खण्डित करता है । तात्पर्य यह कि परिग्रहमें आसक्त रहते हुए मोक्षकी प्राप्ति सर्वथा असम्भव है ॥१८॥

परमाणुप्रमाण भी परिग्रहसे मोहकी गाँठ अतिशय दृढ़ होती है और फिर उससे तृष्णा विस्तारको प्राप्त होती है, जिसमें कि समस्त लोक भी शान्तिके लिए नहीं होता है । अभिप्राय यह है कि थोड़े-से भी परिग्रहके मोहसे जो उत्तरोत्तर विषयतृष्णा वृद्धिंगत होती है उसकी पूर्ति विश्वमें जितनी भी इष्ट सामग्री है उस सब के प्राप्त हो जानेपर भी नहीं होती है ॥१९॥

परिग्रहमें आसक्त रहनेवाले मुनि थोड़ेसे संयमका पालन करनेवाले व्रतीजनोंको

१. M N S F V J X Y R संगैरभिद्रुतः; L T संगैरुपद्रुतः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

841) सर्वसंगपरित्यागलक्षणः[1] श्रीजिनागमः[2] ।
यस्तमेवान्यथा ब्रूते स हीनः स्वान्यघातकः ॥२१
842) यमप्रशमजं राज्यं तपःश्रुतपरिग्रहम् ।
योगिनो ऽपि विमुञ्चन्ति वित्तवेतालपीडिताः ॥२२
843) पुण्यानुष्ठानजातेषु निःशेषाभीष्टसिद्धिषु ।
कुर्वन्ति नियतं पुंसां प्रत्यूहं वित्तवैरिणः[3] ॥२३
844) अत्यक्तसंगसंतानो मोक्तुमात्मानमुद्यतः ।
बध्नन्नपि न जानाति स्वं घनैः कर्मबन्धनैः ॥२४

841) सर्वसंग—यः पुमान् । तं सर्वसंगपरित्यागमन्यथा ब्रूते । स हीनः स्वान्यघातकः स्वस्यान्यस्य [च] घातकः इत्यर्थः । शेषं सुगमम् ॥२१॥ अथ वित्तस्य सर्वधर्मानुष्ठाना-भावत्वमाह ।

842) यमप्रशमजं—योगिनो ऽपि यमप्रशमजं व्रतक्षान्तिजं । राज्यं तपःश्रुतपरिग्रहं विमुञ्चन्ति । कीदृशा योगिनः । वित्तवेतालपीडिताः धनराक्षसाक्रान्ताः । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ पुण्यानुष्ठानस्याभावो सति परिग्रहे भवतीत्याह ।

843) पुण्यानुष्ठान—धनसंग्रहाः पुंसां नियतं निश्चितं प्रत्यूहं विघ्नं कुर्वन्ति । केषु । पुण्यानुष्ठानजातेषु पुण्यकर्तव्यसमूहेषु । कीदृशेषु । निःशेषाभीष्टसिद्धिषु सर्ववाञ्छितसिद्धिषु । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ मुक्तकामस्यापि संगे दुस्त्यजत्वमाह ।

844) अत्यक्त—आत्मानं मोक्तुम् उद्यतः सावधानो यः बध्नन्नपि स्वं न जानाति । कैः ।

अतिशय भयभीत करनेवाले परीषहरूप शत्रुओंके समूहको देखकर धैर्यको छोड़ देते हैं। अभिप्राय यह है कि जो मुनि होकर भी परिग्रहमें अनुराग रखते हैं वे संयममें परिपूर्ण न होनेसे परीषहों के जीतनेमें असमर्थ रहा करते हैं ॥२०॥

समस्त परिग्रहका त्याग, यह श्री जिन भगवान्के द्वारा प्ररूपित आगम का लक्षण है। फिर उसे जो मूर्ख अन्यथा—हिंसाका पोषक बतलाता है वह अपनेको तो नष्ट करनेवाला है ही, साथमें वह उन अन्य प्राणियोंको भी नष्ट करनेवाला है जो उस कल्पित आगमका अभ्यास आदि करते हैं ॥२१॥

धनरूप पिशाचसे पीड़ित होकर योगीजन भी संयम और प्रशमसे उत्पन्न होकर तप व आगमरूप परिग्रहसे परिपूर्ण हुए राज्यको छोड़ देते हैं। तात्पर्य यह है कि धनके मोहसे बड़े-बड़े योगी भी संयम, प्रशम, तप और आगम ज्ञानसे भ्रष्ट हो जाते हैं ॥२२॥

धनरूप वैरी मनुष्योंके पवित्र अनुष्ठान से उत्पन्न हुई सभी अभीष्ट सिद्धियोंके विषय में नियमसे विघ्न किया करते हैं ॥२३॥

जिसने परिग्रहकी परम्पराको तो नहीं छोड़ा है—उससे जिसका अनुराग बना हुआ

१. M N L T F J Y त्यागः कीर्तितः श्री, S V X R कीर्त्यंते । २. All others except P श्रीजिनागमे । ३. All others except P धनसंग्रहाः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

845) अपि सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्वं वा सुराचलः ।
न पुनः संगसंकीर्णो[1] मुनिः स्यात्संवृतेन्द्रियः ॥२५

846) बाह्यानपि च यः संगान् परित्यक्तुमनीश्वरः ।
स क्लीबः कार्मणं[2] सैन्यं कथमग्रे हनिष्यति ॥२६

847) स्मरभोगीन्द्रवल्मीकं रागाद्यरिनिकेतनम् ।
क्रीडास्पदमविद्यानां बुधैर्वित्तं प्रकीर्तितम् ॥२७

धनैः । कीदृशैः । कर्मबन्धजनकैः । कोदृशः । अत्यक्तसंगसंतानः । इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथ संगवतो जितेन्द्रियत्वं न भवतीत्याह ।

845) अपि सूर्यः—सूर्यो ऽपि धाम तेजस्त्यजेत् । वा अथवा । सुराचलः सुमेरुः । स्थिरत्वं त्यजेत् । न पुनः मुनिः संगसंकीर्णः स्यात् संवृतेन्द्रियः । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ संगं परित्यक्तुं न क्षमः स क्लीबः इत्याह ।

846) बाह्यानपि—पुमान् बाह्यानपि संगान् परित्यक्तुम् अनीश्वरो ऽसमर्थः स्यात् । स क्लीबः पुंवेदरहितः स कर्मसैन्यं कथम् अग्रे हनिष्यति । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ वित्तं रागादीनां जनकत्वमाह ।

847) स्मरभोगीन्द्र—बुधैः पण्डितैरविद्यानां कुशास्त्राणां क्रीडास्पदं लीलागृहं प्रकीर्तितं कथितम् । पुनः कोदृशं वित्तम् । स्मरभोगीन्द्रवल्मीकं सुगमम् । पुनः कीदृशम् । रागाद्यरिनिकेतनं रागादिशत्रुगृहमिति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ स्तोकमपि धनं दोषाणां कलङ्कमाह ।

है—फिर भी मोक्षप्राप्तिके लिए उद्यत हो रहा है वह अपनेको सघन कर्मरूप बन्धनोंसे जकड़ता हुआ भी उसे नहीं जानता है। अभिप्राय यह है कि परिग्रहपरित्यागके विना मुक्ति तो सम्भव है ही नहीं, किन्तु दृढ़ कर्मबन्ध ही हुआ करता है ॥२४॥

कदाचित् सूर्य अपने तेजको भले ही छोड़ दे अथवा मेरु पर्वत अपनी स्थिरताको भी भले ही छोड़ दे, परन्तु परिग्रहसे व्याप्त मुनि कभी जितेन्द्रिय नहीं हो सकता है—वह इन्द्रियों का निग्रह कभी नहीं कर सकता है ॥२५॥

जो बाह्य धन-धान्यादिरूप परिग्रहको ही नहीं छोड़ सकता है वह नपुंसक भविष्यमें कर्मकी सेनाको कैसे नष्ट करेगा। अभिप्राय यह कि बाह्य परिग्रह के परित्यागके विना परिणामोंकी विशुद्धि नहीं हो सकती और उस परिणाम विशुद्धिके विना कर्मबन्धनसे मुक्ति नहीं हो सकती है ॥२६॥

पण्डितजनोंने धनको कामदेवरूप सर्पराजकी बाम्बी, राग-द्वेषादिका स्थान तथा अविद्याओंका क्रीड़ागृह बतलाया है ॥२७॥

१. P संगसंकीर्णे । २. M N S F V J Y R कर्मणां सैन्यं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

848) अत्यल्पे धनजम्बाले निमग्नो गुणवानपि ।
जगत्यस्मिन् जनः क्षिप्रं दोषलक्षैः[1] कलङ्क्यते ॥२८

849) संन्यस्तसर्वसंगेभ्यो गुरुभ्यो ऽप्यतिशङ्क्यते ।
धनिभिर्धनरक्षार्थं रात्रावपि न सुप्यते ॥२९

450) सुतस्वजनभूपालदुष्टचौरारिविड्वरात् ।
बन्धुमित्रकलत्रेभ्यो धनिभिः शङ्क्यते ऽनिशम्[2] ॥३०

851) कर्म बध्नाति यज्जीवो धनाशाकश्मलीकृतः ।
तस्य शान्तिर्यदि क्लेशाद् बहुभिर्जन्मकोटिभिः ॥३१

848) अत्यल्पे—गुणवानपि चारित्रादिगुणयुक्तो ऽपि अस्मिन् जगति क्षिप्रं दोषैः कलङ्क्यते । कीदृशः । अत्यल्पे अतिस्तोके धनजम्बाले वित्तकर्दमे मग्नो ऽपि मज्जितो ऽपि । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ पुनः संगत्यागस्वरूपमाह ।

849) संन्यस्तसर्वं—धनिभिर्वित्तरक्षकैर्धनरक्षार्थं रात्रावपि न सुप्यते शयनं करोति [क्रियते] । गुरुभ्यो ऽपि तत्त्वप्रख्यायकेभ्यो ऽपि अतिशङ्क्यते शङ्कां करोति । कीदृशेभ्यो गुरुभ्यः । संन्यस्तसर्वसंगेभ्यः दूरीकृतसर्वपरिग्रहेभ्यः । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथ धनिभ्यः सर्वेभ्यः शङ्क्यत इत्याह ।

850) सुतस्वजन—धनिभिर्भृशमत्यर्थं शङ्क्यते । केभ्यः । बन्धुमित्रकलत्रेभ्यः । सुतस्वजनभूपालदुष्टचौरारिविड्वरात् पुत्रपरिजन[नृप]दुष्टचौरशत्रुकलहात् । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ धने वाञ्छां कुर्वतो यत् कर्मबन्धनं तस्य दुःसाध्यत्वमाह ।

851) कर्म बध्नाति—जीवः धनाशाकश्मलीकृतः वित्तवाञ्छामलिनीकृतः सन् यत्कर्म बध्नाति, तस्य कर्मणः शान्तिर्यदि बहुभिर्जन्मकोटिभिः भवेदिति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ सर्वसंगपरित्यागे योगी ध्यानं करोतीत्याह ।

इस लोकमें थोड़ी-सी भी धनरूप कार्इके भीतर फँसकर गुणवान् मनुष्य भी शीघ्र ही लाखों दोषोंसे कलंकित हो जाता है ॥२८॥

धनवान् मनुष्य जिन महात्माओंने सर्व परिग्रहसे ममत्वभावको छोड़ दिया है उन गुरुओं की ओरसे भी शंकित रहा करते हैं तथा वे उस धनकी रक्षाके लिए रात्रिमें सोते भी नहीं हैं ॥२९॥

धनी जन पुत्र, कुटुम्बीजन, राजा, दुष्ट, चोर, शत्रु, दुराचारी, बन्धु (भाई), मित्र और स्त्रीकी ओरसे भी शंकित रहा करते हैं ॥३०॥

धनकी तृष्णासे मलिन किया गया जीव जिस प्रबल कर्मको बाँधता है उसकी शान्ति क्लेशका अनुभव करते हुए करोड़ों जन्मोंमें कदाचित् ही हो पाती है। अभिप्राय यह है कि परिग्रहके व्यामोहसे जो दृढ़ कर्म बाँधा जाता है वह प्राणीको करोड़ों जन्म तक दुःख देता है ॥३१॥

१. M F V दोषलक्ष्यैः । २. All others except P Y भृशं, Y ध्रुवम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

852) सर्वसंगविनिर्मुक्तः संवृताक्षः स्थिराशयः ।
धत्ते ध्यानधुरां धीरः संयमी वीरवर्णिताम् ॥३२

853) संगपङ्कात्समुत्तीर्णो नैराश्यमवलम्बते ।
ततो नाक्रम्यते दुःखैः पारतन्त्र्यैः क्वचिन्मुनिः ॥३३

854) विजने[1] जनसंकीर्णे सुस्थिते दुःस्थिते ऽपि वा ।
सर्वत्राप्रतिबद्धः[2] स्यात्संयमी संगवर्जितः ॥३४

852) **सर्वसंग**—संयमी ध्यानधुरां धत्ते । कीदृशो धीरः । निःप्रकम्पः । पुनः कीदृशः । सर्वसंगविनिर्मुक्तः सर्वपरिग्रहरहितः । पुनः कीदृशः । संवृताक्षः गुप्तेन्द्रियः । स्थिराशयः स्थिरचित्तः । पुनः कीदृशां धुराम् । वीरवर्णितां सुभटश्लाघ्याम् । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ संगपरित्यागात्सुखी भवतीत्याह ।

853) **संगपङ्कात्**—मुनिर्नैराश्यं निराशतामवलम्बते । कीदृशः । संगपङ्कात् समुत्तीर्णः । सुगमम् । ततो नैराश्यात् दुःखेनाक्रम्यते व्याप्नोति । कीदृशैः दुःखैः । पारतन्त्रैः कर्मजनितैः क्वचित् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ पुनः संगत्यागे गुणमाह ।

854) **विजने जन**—संयमी संगवर्जितः सर्वत्राप्रतिबद्धः मायारहितः स्यात् । क्व । विजने जनरहितस्थाने । अप्रतिबद्धः इति सर्वत्र योज्यम् । जनसंकीर्णे लोकव्याप्तस्थाने । सुस्थिते सातावस्थायाम् । दुःस्थिते दुःखावस्थायामपि । वा विकल्पार्थः । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ धनवतां सर्वत्र दुःखमाह ।

जो धीर-वीर साधु सम्पूर्ण परिग्रहसे ममत्वको छोड़ चुका है वह इन्द्रियों का निग्रह करता हुआ स्थिर अभिप्रायके साथ वीरजिनेन्द्रके द्वारा प्ररूपित ध्यानके भारको धारण करता है ॥३२॥

जो मुनि परिग्रहरूप कीचड़के पार हो चुका है वह चूंकि निराशताका आश्रय ले लेता है—उसकी सब विषयवांछा नष्ट हो जाती है—इसीलिए वह पराधीनतारूप दुःखके आक्रमणका विषय नहीं होता । तात्पर्य यह कि जो परिग्रहके मोहसे रहित हो जाता है वह सब प्रकारके दुःखोंसे रहित होकर स्वाधीन अनुपम सुखका अनुभव करता है ॥३३॥

जो मुनि परिग्रहकी ममताको छोड़कर निःस्पृह हो जाता है वह चाहे जनसे शून्य वन आदि एकान्त स्थानमें अवस्थित हो और चाहे जनसमुदायसे व्याप्त किसी नगर आदिमें अवस्थित हो, तथा इसी प्रकारसे वह चाहे दुःखकी अवस्थामें हो और चाहे सुखकी अवस्था में हो; वह सब ही अवस्थाओंमें प्रतिबन्धसे रहित होता है—वह सर्वत्र स्वाधीन सुखका ही अनुभव करता है ॥३४॥

१. Before this verse X Reads (V. Nos.) ३८*१ & *२ । २. M N सर्वत्राप्रतिबन्धः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

855) दुःखमेव धनव्यालविषविध्वस्तचेतसाम् ।
अर्जने रक्षणे नाशे पुंसां तस्य परिक्षये ॥३५
856) स्वजातीयैरपि प्राणी सद्यो ऽभिद्रूयते[1] धनी ।
यथात्र सामिषः पक्षी पक्षिभिर्बद्धमण्डलैः ॥३६
857) आरम्भो जन्तुघातश्च कषायांश्च[2] परिग्रहात् ।
जायते[3] ऽत्र ततः पातः प्राणिनां श्वभ्रसागरे ॥३७
858) न स्याद् ध्यातुं प्रवृत्तस्य चेतः स्वप्ने ऽपि निश्चलम् ।
मुनेः परिग्रहग्राहैः खण्ड्यमानमनेकशः[4] ॥३८

855) दुःखमेव—पुंसां पुरुषाणां तस्य द्रव्यस्य अर्जने उपार्जने दुःखमेव। तस्य रक्षणे दुःखमेव। तस्य नाशे दुःखमेव। तस्य परिक्षये सामस्त्येन गमने। कीदृशानां पुंसाम्। धनव्यालविषविध्वस्तचेतसां धनसर्पविषेण नष्टचित्तानाम्। इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथात्मजनैरपि धनी संताप्यते।

856) स्वजातीयैः—प्राणी जीवो धनी। स्वजातीयैः स्वजनैरपि सद्यस्तत्कालं विद्रूयते संताप्यते। अत्र जगति यथा सामिषः मांसयुक्तः पक्षी। पक्षिभिर्विद्रूयते। कीदृशैः। बद्धमण्डलैः बद्धश्रेणिभिः। इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ परिग्रहात् आरम्भादि सर्वं जायत इत्याह।

857) आरम्भो—अत्र जगति प्राणिनां परिग्रहात् आरम्भो जायते। च पुनः। जन्तुघातो जायते प्राणिहिंसा। च पुनः। कषायानन्तानुबन्धादि क्रोधादयो जायन्ते। ततः क्रोधादेः श्वभ्रसागरे नरकसमुद्रे पातः पतनं भवेदिति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ परिग्रहस्य ध्यानाभावमाह।

858) न स्याद् ध्यातुं—मुनेश्चेतः स्वप्ने ऽपि निश्चलं न स्यात्। कीदृशस्य मुनेः। ध्यातुं प्रवृत्तस्य ध्यानोद्यतस्य। कैः। परिग्रहग्राहैः परिग्रहा एव ग्राहाः नक्रमकरादयः, तैः। कीदृशं चेतः। अनेकधा भिद्यमानम्। इति सूत्रार्थः ॥३८॥ संबन्धो दुःखकारणमित्याह।

जिन मनुष्योंका चित्त धनरूप सर्पके विषसे नष्ट किया गया है—मूर्च्छाको प्राप्त हुआ है—उनको उस धनके उपार्जन, रक्षण, विनाश और स्वयं क्षयमें दुःख ही होता है ॥३५॥

जिस प्रकार यहाँ मांससे संयुक्त पक्षीको अन्य पक्षी घेरकर पीड़ा पहुँचाते हैं उसी प्रकार धनवान् मनुष्यको अपने कुटुम्बीजन भी घेरकर पीड़ा पहुँचाया करते हैं ॥३६॥

परिग्रहसे आरम्भ, प्राणियोंका संहार और क्रोधादि कषायें उत्पन्न होती हैं तथा उससे प्राणियोंका नरकरूप समुद्रमें पतन होता है—नरकमें जाकर उन्हें घोर दुःख सहना पड़ता है ॥३७॥

ध्यानके लिए प्रवृत्त हुए मुनिका परिग्रहरूप हिंस्र जलजन्तुओंके द्वारा अनेक प्रकारसे खण्डित किया जानेवाला मन स्वप्नमें भी स्थिर नहीं रह सकता है ॥३८॥

१. J विद्रूयते, Y ऽभिभूयते। २. M N L T कषायश्च। ३. All others except P N T जायते।
४. All others except P ग्राहैर्भिद्यमानमनेकधा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

859) [[1]यावन्तः कुरुते जन्तुः संबन्धान् मानसेप्सितान् ।
तावन्तो ऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥३८*१

860) [2]मार्जारभक्षिते दुःखं यादृशं गृहकुक्कुटे ।
न तादृङ्ममताशून्ये कलविङ्के ऽथ मूषके ॥३८*२]

861) सकलविषयबीजं सर्वसावद्यमूलं
नगरकुरुहकन्दं [3] वित्तजातं विहाय ।
अनुसर मुनिवृन्दानन्दि संतोषराज्य-
मभिलषसि यदि त्वं जन्मबन्धव्यपायम् ॥३९

862) एनः केन[4] धनप्रसक्तमनसा[5] नासादि हिंसादिना
कस्तस्यार्जनरक्षणक्षयकृतैर्नादाहि दुःखानलैः ।

---

859) [यावन्तः—जन्तुः प्राणी । मानसेप्सितान् इष्टान् । संबन्धान् अन्येषां पदार्थानाम् इत्यर्थः । शोकः एव शङ्कुः । हृदये निखन्यन्ते शोकेन हृदयं दूयते । इति सूत्रार्थः ॥३८*१॥ ममताधिक्ये दुःखाधिक्यमाह ।

860) मार्जार—गृहकुक्कुटे गृहे पालितकुक्कुटे । मार्जारेण बिडालेन भक्षिते । यावत् दुःखं भवति तावत् मूषके अथवा कलविङ्के भक्षिते सति न भवतीत्यर्थः ॥३८*२॥] अथोपदेशद्वारा संगत्यागमुपसंहरति । मालिनी ।

861) सकल—हे मुने, संतोषराज्यं अनुसराश्रय । कीदृशं संतोषराज्यम् । मुनिवृन्दानन्दो मुनिसमूहानन्दनः । यदि चेत् । त्वं जन्मबन्धव्यपायं तव बन्धनाशं अभिलषसि वाञ्छसि । किं कृत्वा । वित्तजातं विहाय द्रव्यसमूहं परित्यज्य । कीदृशं वित्तजातम् । सकलविषयबीजं सर्वेन्द्रियव्यापारजनकम् । पुनः कीदृशम् । सर्वसावद्यमूलं सर्वपापमूलम् । पुनः कीदृशं वित्तजातम् । नरकनगरकेतुं नरकपुरध्वजम् । इति सूत्रार्थः॥३९॥ अथ संगस्य पापकारितामाह । शार्दूलविक्रीडितम् ।

862) एनः केन—केन पुरुषेण । हिंसादिना जीववधेन एनः पापं नासादि नाप्रापि ।

प्राणी मनके लिए अभीष्ट जितने सम्बन्धोंको करता है वह हृदयमें उतने ही शोकरूप कीलोंको खोदता है ॥३८*१॥

घरके मुर्गेको बिल्लीके खा लेनेपर जैसा दुःख होता है वैसा ममतासे रहित चिड़ियाके खाये जाने पर नहीं होता है ॥३८*२॥

हे भव्य ! यदि तू संसारकी परम्पराको नष्ट करना चाहता है तो जो धनसमूह समस्त विषयभोगोंका मूल कारण सब पापोंकी जड़ और नरकरूप वृक्षका कन्द है उसको छोड़कर मुनिसमूहको आनन्दित करनेवाले सन्तोषरूप राज्यका अनुसरण कर ॥३९॥

जिनका मन धनमें अनुरक्त रहता है उनके हिंसा आदि किस दुराचरणके द्वारा

१-२. Only in F V X । ३. All others except P नरकनगरकेतुं । ४. S J X Y R एनः किं न । ५. F V प्रशस्तमनसा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्प्रागेव विचार्य वर्जय [1]वरं व्यामूढवित्तस्पृहां
येनैकास्पदतां न यासि विषयं[2] पापस्य तापस्य च ॥४०

863) एवं तावदहं लभेय विभवं रक्षेयमेवं तत-
स्तद्वृद्धिं गमयेयमेवमनिशं भुञ्जीय चैवं[3] पुनः ।
इत्याशारसरुद्धमानसभृशं नात्मानमुत्पश्यसि
क्रुध्यत्क्रूरकृतान्तदन्तपटलीयन्त्रान्तरालस्थितम् ॥४१

कीदृशेन केन । धनप्रसक्तमनसा धनव्याप्तचित्तेन । कः पुमान् तस्य द्रव्यस्य अर्जनमुपार्जनं, रक्षणं पालनम्, क्षयः हानिः, [आसादि] प्राप्तम् । येन कारणेन पापस्य एकास्पदतां न यासि । च पुनः । तापस्य विषयं न यासि । इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथ सर्वसंगपरित्यागे फलमाह ।

863) एवं तावदहं—रे जीव, भृशमत्यर्थम् । इत्याशारसरुद्धमानसः इतिवाञ्छारसरन्वित- (?) चित्तः आत्मानं नोत्पश्यसि । इतीति किम् । एवं तावत् अहं द्रव्यं लभेय लभिष्ये (?) । एवम् अमुना प्रकारेण भुञ्जीय भुञ्जिष्ये । कीदृशमात्मानम् । क्रुद्धक्रूरकृतान्तदन्तपटलीयन्त्रान्तरालस्थितं कुपितरौद्रमृत्युदंष्ट्रासमूहयन्त्रमध्यस्थितमिति सूत्रार्थः ॥४१॥

पापका उपार्जन नहीं हुआ है ? अर्थात् वे हिंसा आदि अनेक पापकार्योंको करके अशुभ कर्मको उपार्जित करते हैं । तथा उस धनमें अनुराग रखनेवाला कौन-सा मनुष्य उसके उपार्जन, रक्षण और नाशसे उत्पन्न हुए दुःखरूप अग्निसे सन्तप्त नहीं हुआ है ? सब ही धनानुरागी उसके अर्जन आदिके कारण दुःखी होते हैं । इसलिए हे मूर्ख ! तू पहले ही इसका भलीभाँति विचार करके उस धनकी इच्छाको छोड़ दे । इसका परिणाम यह होगा कि तू विषयोंके साथ पाप और सन्तापका एक स्थान नहीं बनेगा ॥४०॥

पहले मैं इस प्रकार से विभूतिको प्राप्त करूँगा, फिर उसका इस प्रकार से रक्षण करूँगा, पश्चात् उसको इस प्रकारसे वृद्धिको प्राप्त कराऊँगा और उसके पश्चात् निरन्तर उसका इस प्रकारसे उपभोग करूँगा; इस प्रकारकी आशारूप रसके द्वारा जिसका मन रोका गया है—इस विषयतृष्णाके वश होकर जो विवेकसे रहित हो चुका है—ऐसा हे भव्य ! तू अपनेआपको क्रोधको प्राप्त हुए दुष्ट यमराज के दाँतोंके समूहरूप यन्त्रके मध्यमें स्थित नहीं देखता है । अभिप्राय यह है कि प्राणीकी धनके उपार्जन आदिकी इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती ही है, वह कम नहीं होती । और इस बीच आयुके क्षीण हो जाने पर वह मरणको प्राप्त होकर आत्महितसे सर्वथा वंचित ही रह जाता है ॥४१॥

---

१. L परं । २. L विषये, S F V X Y R विषयैः । ३. P भुञ्जीयमेवं । ४. S V Y द्रव्याशारस ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति ज्ञानार्णवे संयमाधिकारे आचार्य-श्रीशुभचन्द्र-
विरचिते परिग्रहदोष[1]विचारप्रकरणम् ॥१६॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा तत्पुत्र-साह-टोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साह-रिषिदास-स्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन परिग्रहदोषविचारप्रकरणं समाप्तम् ॥१६॥

मालिनी। सुकृतपरमपात्रं दत्तदानैकपात्रं दुरितनिधनपात्रं पार्श्वसाहाङ्गजातम्। विदित-जिनपधर्मं टोडरं दत्तसर्वम् अवतु च ऋषिदासः शान्तिनाथप्रकाशः ॥१॥ इति आशीर्वादः। अथ निराशताफलमाह।

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्णवके संयमाधिकारमें
परिग्रहदोष प्रकरण समाप्त हुआ ॥१६॥

---

१. Y परिग्रहविचार।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[आशापिशाची]

864) बाह्यान्तर्भूतनिःशेषसंगसंन्याससिद्धये[1] ।
आशां सद्भिर्निराकृत्य नैराश्यमवलम्बितम्[2] ॥१

865) यावद्यावच्छरीराशा धनाशा वा विसर्पति ।
तावत्तावन्मनुष्याणां मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत् ॥२

866) अनिरुद्धा सती शश्वदाशा विश्वं विसर्पति[3] ।
ततो निर्बद्धमूलासौ[4] पुनश्छेत्तुं न शक्यते ॥३

---

864) बाह्यान्तर्भूत—सद्भिः सत्पुरुषैर्नैराश्यमवलम्बितं निराशता अङ्गीकृता । किं कृत्वा । आशां धनाशां निराकृत्य दूरीकृत्येत्यर्थः । कस्यै । बाह्यान्तर्भूतनिःशेषसंगसंन्याससिद्धये बाह्याभ्यन्तरसर्वपरिग्रहत्यागसिद्धये इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ धनाशावृद्धौ मोहग्रन्थिवृद्धिमाह ।

865) यावद्यावत्—यावच्छरीराशा विसर्पति विस्तरति । वा अथवा । धनाशा विसर्पति । तावत्पूर्वं तावत् मनुष्याणां मोहग्रन्थिर्दृढीभवेदिति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ धनाशारुन्धने फलमाह ।

866) अनिरुद्धा—आशा धनाशा शश्वन्निरन्तरं अनिरुद्धा सती विश्वं जगत् विसर्पति व्याप्नोति । ततो व्याप्त्यनन्तरं निबद्धमूला दृढमूला असौ आशा छेत्तुं पुनः न शक्यते । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ धनाशाशान्तौ फलमाह ।

साधुजनोंने बाह्य और अभ्यन्तररूप समस्त परिग्रहके त्यागको सिद्ध करनेके लिए अपरिग्रह महाव्रतका परिपालन करनेके लिए—उस विषयतृष्णाको नष्ट करके नैराश्यभाव (निःस्पृहता) का ही आश्रय लिया है ॥१॥

मनुष्योंकी जितनी-जितनी शरीर सम्बन्धी और धन सम्बन्धी इच्छा विस्तृत होती है उतनी ही उतनी उनकी मोहरूप गाँठ दृढ होती जाती है ॥२॥

निरन्तर फैलनेवाली उस आशाको यदि रोका नहीं जाता है तो फिर वह समस्त लोकमें फैल जाती है। उस समय चूँकि वह अपनी गहरी जड़ोंको जमा लेती है, अतएव उसका काटना अशक्य हो जाता है ॥३॥

---

१. Y संन्यासवृद्धये । २. All others except P M N X °मवलम्ब्यते । ३. All others except P M N T प्रसर्पति । ४. M तनोति बन्धमालासौ, N तनोति बन्धमालां सा, F V ततो निरुद्धमूलासौ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

867) यद्याशा शान्तिमायाता तदा[1] सिद्धं समीहितम् ।
अन्यथा भवसंभूतो दुःखवार्धिर्दुरुत्तरः ॥४

868) यमप्रशमराज्यस्य सद्बोधार्कोदयस्य च ।
विवेकस्यापि भूतानामाशैव प्रतिबन्धिका[2] ॥५

869) आशामपि न सर्पन्तीं यः क्षणं रक्षितुं क्षमः ।
तस्यापवर्गसिद्ध्यर्थं वृथा मन्ये परिश्रमम्[3] ॥६

870) [4]आशैव मदिराक्षाणामाशैव विषमञ्जरी ।
आशामूलानि दुःखानि प्रभवन्तीह देहिनाम् ॥७

867) यद्याशा—साधनाशा यदि शान्तिमायाता प्राप्ता । शेषं सुगमम् ॥४॥ अथाशाया धर्मनिषेधकत्वमाह ।

868) यमप्रशम—लोकानाम् आशा एव यमप्रशमराज्यस्य व्रतक्षान्तिराज्यस्य प्रतिषेधिका । च पुनः । सद्बोधार्कोदयस्य सद्ज्ञानसूर्यस्य । अपि पक्षान्तरे । विवेकस्य प्रतिषेधिका । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथाशां यो न रुन्धति तदाह ।

869) आशामपि—यः पुमान् आशां धनाशां विसर्पन्तीं रक्षितुं क्षणमपि न क्षमः समर्थो भवति । अहं मन्ये । तस्य पुरुषस्य अपवर्गसिद्ध्यर्थं मुक्तिसाधनाय वृथा परिश्रमः । इति सूत्रार्थः ॥६॥ [आशायाः सर्वदुःखानि प्रभवन्तीत्याह ।

870) आशैव—आशा एव अक्षाणाम् इन्द्रियाणां मदिरा मदोत्पादिका । विषमञ्जरी विषवल्ली । अन्यत्सुगमम् ॥७॥] अथ धनाशात्यागफलमाह ।

यदि वह आशा शान्तिको प्राप्त हो चुकी है तो फिर प्राणीका मनोरथ सिद्ध हो चुका—तब उसकी मुक्तिप्राप्तिमें सन्देह नहीं रहता । और इसके विपरीत यदि वह आशा नष्ट नहीं हुई है तो फिर प्राणीका संसारपरिभ्रमणसे उत्पन्न हुआ दुःखरूप समुद्र दुर्लंघ्य है—उसके संसारपरिभ्रमणका दुःख नष्ट होनेवाला नहीं है ॥४॥

प्राणियोंके संयम व प्रशमरूप राज्यको, सम्यग्ज्ञानरूप सूर्यके उदयको तथा विवेकको भी रोकनेवाली उनकी वह आशा ही है ॥५॥

जो उस फैलनेवाली आशासे क्षणभर भी अपनी रक्षा नहीं कर सकता है उसका मुक्तिकी प्राप्तिके लिए किया जानेवाला परिश्रम व्यर्थ है, ऐसा मैं मानता हूँ । अभिप्राय यह है कि जब तक मनुष्यकी विषयतृष्णा नष्ट नहीं होती है तब तक वह संयम आदिका परिपालन कर ही नहीं सकता है । फिर भी यदि वह व्रत व तपश्चरण आदिके कष्टको कुछ सहता भी है तो भी उससे अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है ॥६॥

आशा इन्द्रियोंको उन्मत्त करनेवाली मदिरा ही है तथा वह आशा विषकी लता ही

१. All others except P M N T तथा सिद्धं । २. N प्रतिबन्धिका, All others except P N प्रतिषेधिका । ३. M N परिश्रमः । ४. J om. verse ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

871) त एव सुखिनो धीरा यैराशाराक्षसी हता ।
महाव्यसनसंकीर्ण[1] उत्तीर्णः क्लेशसागरः ॥८
872) येषामाशा कुतस्तेषां मनःशुद्धिः शरीरिणाम् ।
अतो नैराश्यमालम्ब्य शिवीभूता मनीषिणः ॥९
873) सर्वाशां यो निराकृत्य नैराश्यमवलम्बते ।
तस्य क्वचिदपि स्वान्तं संगपङ्कैर्न लिप्यते ॥१०
874) तस्य सत्यं श्रुतं वृत्तं विवेकस्तत्त्वनिश्चयः ।
निर्ममत्वं च यस्याशापिशाची निधनं गता ॥११

871) **त एव**—यैः पुरुषैराशाराक्षसी हता त एव सुखिनः, त एव धीराः । च पुनः क्लेशसागरः समुद्रः तैरेवोत्तीर्णः कीदृशः । महाव्यसनसंकीर्णः महाकष्टव्याप्तः । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथाशायां सत्यां कुतो मनःशुद्धिरित्याह ।

872) **येषामाशा**—येषां जीवानां धनाशा, तेषां शरीरिणां मनःशुद्धिः कुतः । न क्वापीत्यर्थः । अतः कारणान्मनीषिणः पण्डिताः शिवीभूता मुक्ताः कर्मबन्धनैः । किं कृत्वा । नैराश्यमवलम्ब्य । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ यो धनाशां दूरीकरोति तस्य पापं न भवतीत्याह ।

873) **सर्वाशां यो**—यः पुमान् नैराश्यमवलम्बते । किं कृत्वा । सर्वाशां निराकृत्य । तस्य मनुष्यस्य स्वान्तं चित्तं संगपङ्कैर्न लिप्यते । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ यस्य धनाशा नाशं गता तस्य सत्यादि सर्वमस्ति इत्याह ।

874) **तस्य सत्यं**—यस्य पुरुषस्य आशा वाञ्छापिशाची निधनं गता विनाशं प्राप्ता, तस्य श्रुतं, सत्यं, वृत्तम् आचारः, सत्यं तस्य विवेकः, तस्य तत्त्वनिश्चयः परमार्थनिर्णयः । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथाशायां सत्यां दुःखशान्तिर्न भवतीत्याह ।

है । प्राणियोंको यहाँ जितने भी दुःख प्राप्त होते हैं उन सबका मूल कारण यह एक आशा ही है ॥७॥

जिन धीर पुरुषोंने उस आशारूप राक्षसीको नष्ट कर दिया है वे ही वास्तवमें सुखी हैं तथा उन्हींने महती आपत्तियोंसे व्याप्त क्लेशरूप समुद्रको पार कर लिया है ॥८॥

जिन प्राणियोंकी आशा बनी हुई है—वह नष्ट नहीं हुई है—उनके मनकी निर्मलता भला कहाँसे हो सकती है ? नहीं हो सकती । इसीलिए बुद्धिमान् (विवेकी) जीव नैराश्यभावका आश्रय लेकर उस आशाका सर्वथा परित्याग करके—मुक्तिको प्राप्त हुए हैं ॥९॥

जो जीव पूर्णतया उस आशाका निराकरण करके नैराश्यभावका आश्रय ले लेता है उसका मन कहीं पर भी परिग्रहरूप कीचड़ से लिप्त नहीं होता है ॥१०॥

जिसकी आशारूप पिशाची मरण को प्राप्त हो चुकी है—नष्ट हो गयी है—उसके सत्य, आगमज्ञान, चारित्र, विवेक तत्त्वका निश्चय और निर्ममता आदि उत्तम गुण सुरक्षित रहते हैं ॥११॥

१. All others except P संकीर्णश्चोत्तीर्णः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

875) यावदाशानलश्चित्ते जाज्वलीति विशृङ्खलः ।
तावत्तव महादुःखदाहशान्तिः कुतस्तनी ॥१२

876) निराशतासुधापूरैर्यस्य[1] चेतः पवित्रितम् ।
तमालिङ्गति सोत्कण्ठं शमश्रीर्बद्धसौहृदा ॥१३

877) न मज्जति मनो येषामाशापङ्के[2] दुरुत्तरे ।
तेषामेव जगत्यस्मिन् फलितो ज्ञानपादपः ॥१४

878) शक्रो ऽपि न सुखी स्वर्गे स्यादाशानलदीपितः[3] ।
विध्याप्याशानलज्वालां श्रयन्ति यमिनः शिवम्[3] ॥१५

---

875) यावदाशानलः—चित्ते यावदाशानलः वाञ्छाग्निः जाज्वलीति अतिशयेन ज्वलति । कीदृशः आशानलः । विशृङ्खलः । तावत्तव रे जीव, महादुःखशान्तिः कुतस्तनी कुतोभवा इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ निराशस्य शमश्रीः भवतीत्याह ।

876) निराशता—यस्य चेतः निराशतासुधापूरैः पवित्रितं पुनीतं भवति । तं पुरुषं शमश्रीः उपशमश्रीः सोत्कण्ठं उत्कण्ठासहितं यथा स्यात्तथालिङ्गति । कीदृशी बद्धसौहृदा जातप्रीतिः । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ ये परिग्रहं न कुर्वन्ति तेषां ज्ञानमाह ।

877) न मज्जति—येषां मन आशाम्भसि वाञ्छाजले न मग्नं भवति । कीदृशे । दुस्तरे दुस्तरणीये । तेषामेव अस्मिन् । जगति ज्ञानपादपः फलितः इति । सूत्रार्थः ॥१४॥ अथाशासद्भावे कुत्रापि न सुखम् इत्याह ।

878) शक्रो ऽपि न—आशानलदीपितः शक्रो ऽपि न सुखी । यमिनो व्रतिनः शिवं मोक्षं श्रयन्ति । किं कृत्वा । आशानलज्वालां विध्याप्येति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथाशायां नष्टायां किं न सिद्धमित्याह ।

हे भव्य! जब तक तेरे हृदयमें शृंखलासे रहित (निर्बाध,या विविध प्रकारकी) आशारूप अग्नि जलती है तब तक तेरे महादुःखरूप दाहकी शान्ति कहाँसे हो सकती है ? नहीं हो सकती। तात्पर्य यह कि प्राणीके हृदयमें जबतक आशाका निवास रहता है तबतक वह निरन्तर दुःखोंसे सन्तप्त रहा करता है ॥१२॥

जिसका अन्तःकरण नैराश्यरूप अमृतके प्रवाहसे पवित्र हो चुका है उसका शान्ति-रूप लक्ष्मी मित्रतामें बद्ध होकर उत्कण्ठापूर्वक आलिंगन किया करती है ॥१३॥

जिनका मन दुर्लंघ्य आशारूप कीचड़में निमग्न नहीं होता है उन्हीं का ज्ञानरूप वृक्ष इस लोकमें फलशाली (सफल) होता है ॥१४॥

स्वर्गमें आशारूप अग्निसे सन्तप्त हुआ इन्द्र भी सुखी नहीं है। इसीलिए मुनिजन उस आशारूप अग्निकी ज्वालाको बुझाकर मोक्षका आश्रय लेते हैं ॥१५॥

---

१. M N सुधास्यन्दैः । २. All others except P °माशाम्भसि । ३. M N °नलपीडितः....यमिनः श्रियम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

879) चरस्थिरार्थजातेषु[1] यस्याशा प्रलयं गता।
किं किं न तस्य लोके ऽस्मिन् मन्ये सिद्धं समीहितम् ॥१६
880) चापलं[2] त्यजति स्वान्तं विक्रियां[3]चाक्षदन्तिनः।
प्रशाम्यति कषायाग्निर्नैराश्याधिष्ठितात्मनाम् ॥१७
881) किमत्र बहुनोक्तेन यस्याशा निधनं गता।
स एव महतां सेव्यो लोकद्वयविशुद्धये ॥१८
882) आशा जन्मोग्रपङ्काय शिवायाशाविपर्ययः।
इति सम्यक्[6] समालोच्य[7] यद्धितं तत्समाश्रय ॥१९

879) **चरस्थिरार्थं**—यस्य पुंसः चरस्थिरार्थजातेषु स्थावरजङ्गमपदार्थेषु आशा प्रलयं नाशं गता। तस्य पुरुषस्य किं किं नास्मिन् समीहितं वाञ्छितं सिद्धं जातम्। अहम् एवं मन्ये। इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथाशारहितस्येन्द्रियाणि विकारं त्यजन्तीत्याह।

880) **चापलं**—नैराश्याधिष्ठितात्मनां निःसंगताश्रितानां स्वान्तं चित्तं चापल्यं* त्यजति। च पुनः अक्षदन्तिन इन्द्रियगजाः विक्रियाः त्यजन्ति। कषायाग्निः क्रोधाद्यनलः प्रशाम्यति। इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ यस्याशा नष्टा तस्य महत्त्वमाह।

881) **किमत्र**—यस्याशा निधनं नाशं गता। अत्र जगति बहुना उक्तेन किम्। स एव महतां सेव्यः। कस्यै। लोकद्वयविशुद्धये। इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथाशा संसारदुःखाय भवतीत्याह।

882) **आशा जन्मोग्र**—रे जीव, यत्ते हितं हितकारि तत् समाचर। किं कृत्वा। इति सम्यक् समालोच्य। इतीति किम्। जन्मोग्रपङ्काय भवोग्रकर्दमाय आशा भवति। शिवाय मोक्षाय आशाविपर्ययः। इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथाशाविक्षिप्तचित्तानां न कुत्रापीष्टसिद्धिरित्याह।

जिसकी चर–स्त्री-पुत्र आदि-तथा अचर (धन-धान्यादि) पदार्थोंके विषयमें आशा नष्ट हो चुकी है उसका इस लोकमें कौन-कौन-सा मनोरथ पूर्ण नहीं होता है? अर्थात् उसका सब अभीष्ट सिद्ध हो जाता है ॥१६॥

जिनका अन्तःकरण नैराश्यभावसे अधिष्ठित हो चुका है उनका मन अस्थिरताको तथा इन्द्रियरूप हाथी विकार (उपद्रव) को छोड़ देते हैं। आशासे रहित हुए मनुष्यकी कषायरूप अग्नि भी शान्त हो जाती है ॥१७॥

यहाँ बहुत कहनेसे क्या लाभ? जिसकी आशा नष्ट हो चुकी है उसकी दोनों लोकोंको विशुद्ध करनेके लिए महापुरुष आराधना किया करते हैं। अभिप्राय यह कि निःस्पृह योगीकी अन्य महापुरुष भी अपने अभीष्ट की सिद्धिके लिए आराधना किया करते हैं ॥१८॥

आशा तो संसाररूप भयानक कीचड़की कारण है और उसके विपरीत निराशता मुक्तिकी कारण है। हे भव्य! ऐसा भलीभाँति विचार करके जो हितकारक प्रतीत हो उसका तू आचरण कर—उसको अपना ले ॥१९॥

१. M जातेषु। २. M N L S T F V चापल्यं। ३. All others except P विक्रियाश्चाक्ष। ४. All others except P M कषायाग्निर्नै°, M कषायो ऽग्निर्नै°। ५. Y इति वृत्तं। ६. All others except P L समालोक्य। ७. All others except P समाचर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४४३) न स्याद्विक्षिप्तचित्तानां स्वेष्टसिद्धिः क्वचिन्नृणाम् ।
कथं प्रक्षीण[1]विक्षेपा भवन्त्याशाग्रहक्षताः ॥२०

४४४) विषयविपिनवीथीसंकटे पर्यटन्ती
झटिति घटितवृद्धिः क्वापि लब्धावकाशा ।
अपि नियमिनरेन्द्रानाकुलत्वं नयन्ती
छलयति[2] खलु कं वा नेयमाशापिशाची ॥२१

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्रीशुभचन्द्रविरचिते
आशापिशाची-प्रकरणम् ॥१७॥ पञ्चव्रतानि[3] ।

---

४४३) न स्याद्विक्षिप्त—विक्षिप्तचित्तानां रागद्वेषाक्रान्तचेतसां नृणां क्वचिदिष्टसिद्धिर्न स्यात् । आशाग्रहक्षताः वाञ्छाकदाग्रहपीडिताः । प्रक्षीणविक्षेपा नष्टमनोविकल्पाः कथं भवन्तीति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथाशापिशाची कं न छलतीत्याह । मालिनी ।

४४४) विषयविपिन—खलु निश्चये । कं पुरुषम् इयम् आशापिशाची न छलयति, अपि तु सर्वान् छलयति । वेति वक्रोक्तिसूचकः । किं कुर्वन्ती । विषयविपिनवीथीसंकटे विषयवनमार्गविषमे पर्यटन्ती भ्रमन्ती । पुनः कीदृशी । झटिति शीघ्रं घटितवृद्धिः प्रापितवृद्धिः । क्वापि लब्धावकाशा नियमनरेन्द्रानप्याकुलत्वं नयन्ती प्रापयन्ती । इति सूत्रार्थः ॥२१॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा तत्पुत्रसाहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहरिषिदास-स्वश्रवणार्थं पण्डित-जिनदासोद्यमेन कारापितं आशापिशाची-प्रकरणं समाप्तम् ॥१७॥

मालिनी । सुरसरिदिह साम्यं यस्य कीर्तिर्लभेत गुणगणपरिवीतः पार्श्वसाहो बभूव । तदनुसुकृतयुक्तष्टोडरो धर्मवेदी सुचरितऋषिदासो जयति ज्ञानप्रकाशः ॥१॥ इत्याशीर्वादः । इति पञ्च महाव्रतानि । अथ महाव्रतवतां समितिगुप्तयो भवन्तीत्याह । उपेन्द्रवज्रा ।

जिनका चित्त विक्षिप्त—क्षोभको प्राप्त—है उन मनुष्योंको कहीं भी अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती है तथा जो आशारूप पिशाचीसे पीड़ित हैं वे उस चित्तविक्षेपसे (मनः-क्षोभसे) रहित कैसे हो सकते हैं ? नहीं हो सकते । अभिप्राय यह है कि विषयवांछासे चित्तमें जो क्षोभ होता है वह अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धि में बाधक होता है ॥२०॥

जो यह आशारूप पिशाची इन्द्रियविषयरूप वनकी विषयवीथी में विचरण किया करती है, जो कहीं भी—किसी भी विषयके आश्रित—स्थान पा करके शीघ्र ही वृद्धिंगत होती है, तथा जो संयमी जनरूप राजाओंको व्याकुल किया करती है; वह भला किसको धोखा नहीं दिया करती है ? वह सबको ही ठगा करती है ॥२१॥

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें आशा पिशाचीप्रकरण समाप्त हुआ ॥१७॥ पंचमहाव्रत समाप्त ।

---

१. M प्रकीर्णविक्षेपा । २. M N चलयति । ३. M N पञ्चमहाव्रतानि, V इति पञ्चमहाव्रतानि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

XVIII

[अक्षविषयनिरोधः]

885) महत्त्वहेतोर्गुणिभिः श्रितानि महान्ति मत्वा त्रिदशैर्नुतानि ।
महासुखज्ञाननिबन्धनानि महाव्रतानीति सतां मतानि[1] ॥१

886) [[2]उक्तं च–
आचरितानि महद्भिर्यच्च महान्तं प्रसाधयन्त्यर्थम् ।
स्वयमपि महान्ति यस्मान्महाव्रतानीत्यतस्तानि ॥१*१]

---

885) महत्त्वहेतोः—सतां सत्पुरुषाणां महाव्रतानि इति मतानि उक्तानि । कीदृशानि । महत्त्वहेतोर्महत्त्वकारणाय गुणिभिः सम्यग्ज्ञानादिगुणयुक्तैः श्रितानि आश्रितानि । त्रिदशैर्देवैर्नुतानि । किं कृत्वा । महान्ति मत्वा ज्ञात्वा । पुनः कीदृशानि । महासुखज्ञाननिबन्धनानि । निबन्धनं कारणम् । इति सूत्रार्थः ॥१॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे । अथ महाव्रतव्युत्पत्तिमाह । आर्या ।

886) आचरितानि—अतः कारणात् इति अमुना प्रकारेण महाव्रतानि । इतीति किम् । यस्मान्महद्भिराचरितानि च पुनः । यन्महान्तमर्थं प्रसाधयन्ति । स्वयमपि महान्ति । इत्यतो महाव्रतानीति सूत्रार्थः ॥१*१॥ अथ महाव्रतविशुद्ध्यर्थं पञ्चविंशतिभावनाः कथयति ।

पूर्वोक्त अहिंसा आदि पाँच व्रत चूँकि महत्त्व के—महान् बना देने के—हेतु होने से गुणी जनोंके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, उन्हें महान् मानकर देव नमस्कार करते हैं, तथा वे महान् सुख और ज्ञानके कारण हैं; इसीलिये सत्पुरुष उन्हें महाव्रत मानते हैं । अभिप्राय यह है कि इन व्रतोंके आश्रयसे गुणी जन महान् (श्रेष्ठ) बन जाते हैं, देव उन्हें महान् मानते हैं, तथा उनके आश्रयसे जीवोंको महान् सुख (अनन्त सुख) और ज्ञान (अनन्त ज्ञान) प्राप्त होता है; इसीलिये उनका 'महाव्रत' यह सार्थक नाम माना जाता है ॥ १ ॥

कहा भी है—चूँकि महापुरुषोंने उनका परिपालन किया है, वे महान् अर्थको—मोक्ष पुरुषार्थको—सिद्ध करते हैं, तथा स्वयं भी महान् हैं; इसीलिये वे महाव्रत माने गये हैं ॥१*१॥

---

१. M N °नीति समामनन्ति । २. P X om. this verse ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

887) महाव्रतविशुद्ध्यर्थं भावनाः पञ्चविंशतिः[1] ।
परां[2]मासाद्य निर्वेदपदवीं भव्य भावय ॥२

888) ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञकाः[3] ।
सद्भिः समितयः पञ्च निर्दिष्टाः संयतात्मभिः[4] ॥३

889) वाक्कायचित्तजाने[5]कसावद्यप्रतिषेधकम् ।
त्रियोगरोधकं[6] वा स्याद्यत्तद्गुप्तित्रयं[7] मतम् ॥४॥ तद्यथा[8]–

890) सिद्धक्षेत्राणि चैत्यानि[9] जिनबिम्बानि वन्दितुम् ।
गुर्वाचार्यश्रुतोपेतान्[10] सेवितुं व्रजतो ऽथवा ॥५

887) महाव्रत—हे भव्य पञ्चविंशतिभावनाः भावय । किमर्थम् । महाव्रतविशुद्ध्यर्थम् । प्रसिद्धम् । किं कृत्वा । निर्वेदपदवीं वैराग्यमार्गम् आसाद्य प्राप्येति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ समितयो नामग्राहमाह ।

888) ईर्याभाषैषणा—संयतात्मभिः मुनिभिः । ईर्यासमितिः, भाषासमितिः, एषणासमितिः, आदाननिक्षेपसमितिः उत्सर्गसमितिश्च इति पञ्च समितयः । निर्दिष्टाः कथिताः । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ गुप्तयः प्राह ।

889) वाक्काय—तद् गुप्तित्रयं मतं कथितम् । तत् किम् । यत् यस्मात् कारणात् त्रियोगरोधनं स्यात् । च पादपूरणे । कीदृशं त्रियोगरोधनम् । वाक्कायचित्तजानेकसावद्यप्रतिषेधकं वचनकायमनोजातानेकापायप्रतिषेधकमिति सूत्रार्थः ॥४॥ तद्यथा समितिगुप्तयो दर्शयति । तत्प्रथमत ईर्यासमितिमाह । श्लोकः ।

हे भव्य ! इन महाव्रतोंको निर्मल रखनेके लिए उत्कृष्ट वैराग्यकी पदवीको प्राप्त करके पच्चीस भावनाओंका चिन्तन कर ॥ २ ॥

अपनेको नियंत्रित करनेवाले सत्पुरुषोंने ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेप और उत्सर्ग नामोंवाली पाँच समितियाँ निर्दिष्ट की हैं ॥ ३ ॥

जो वचन, काय और मन इन तीन योगोंसे उत्पन्न होनेवाली अनेक प्रकारकी पाप-प्रवृत्तिको रोकती हैं उनको. अथवा इन तीनों योगोंका जो निरोध करती हैं वे तीन गुप्तियाँ मानी गयी हैं ॥ ४ ॥

जो मुनि सिद्धक्षेत्र, जिनालयों और जिन प्रतिमाओंकी वंदनाके लिए अथवा गुरु, आचार्य एवं आगमसे संयुक्त उपाध्यायकी सेवाके लिए गमन करते हुए दयार्द्र होकर

१. N पञ्चविंशतिम् । २. All others except PLJ परमासाद्य । ३. M संज्ञिकाः । ४. L संयतात्मनाम् । ५. Y चित्तजातेन । ६. All others except P M N Y रोधनं । ७. P गुप्तित्रयी । ८. P M L F तद्यथा । ९. S V X R सिद्धानि for चैत्यानि । १०. All others except P °चार्यंतपोवृद्धान् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

891) दिवा सूर्यकरैः स्पृष्टं¹ मार्गं लोकातिवाहितम् ।
दयार्द्रसत्त्वरक्षार्थं² शनैः संश्रयतो मुनेः ॥६

892) प्रागेवालोक्य यत्नेन युगमात्राहितेक्षणैः³ ।
प्रमादरहितस्यास्य समितीर्या प्रकीर्तिता ॥७

893) धूर्तकामुकक्रव्याद⁴चौरचार्वाकसेविता ।
शङ्कासंकेतपापाढ्या त्याज्या भाषा मनीषिभिः ॥८

894) दशदोषविनिर्मुक्तां सूत्रोक्तां साधुसंमताम् ।
गदतो ऽस्य मुनेर्भाषां स्याद्भाषासमितिः परा ॥९

890-92) सिद्धक्षेत्राणि—त्रिभिः कुलकम् । अस्य मुनेरीर्यासमितिः प्रकीर्तिता कथिता । किं कुर्वतो मुनेः । सिद्धक्षेत्राणि, चैत्यानि जिनबिम्बानि, वन्दितुं व्रजतः अथवा गुर्वाचार्यतपोवृद्धान् सेवितुं व्रजतः । इति सूत्रार्थः । पुनः कीदृशस्य मुनेः । दयार्द्रस्य । पुनः किं कुर्वतो मुनेः । अङ्गिरक्षार्थं जीवरक्षार्थं मार्गं शनैः संश्रयतः आश्रयतः । कीदृशं मार्गम् । लोकातिवाहितं लोकपदमर्दितम् । दिवा दिवसे सूर्यकरैः स्पृष्टम् । इति द्वितीयश्लोकार्थः । प्रागेव पूर्वमेव । मार्गमालोक्य संश्रयतो यत्नेन युगमात्रहितेक्षणात् चतुर्हस्तप्रमाणस्थापितदृष्टेः सकाशात् । प्रमादरहितस्य । हेतौ पञ्चमी । इति सूत्रत्रयार्थः ॥५-७॥ अथ भाषासमितिमाह ।

893) धूर्तकामुक—मनीषिभिः पण्डितैरेतादृशी भाषा त्याज्या । कीदृशी । धूर्तकामुकक्रव्यादचोरचार्वाकसेविता, धूर्तः कपटी, कामुकः कामी, क्रव्यादः मांसाशी, चौरः प्रसिद्धः, चार्वाको नास्तिकः, एभिः सेविता । पुनः कीदृशी । शङ्का शङ्कारूपा संकेतपापाढ्या अथवा शङ्कायाः संकेतः तस्माज्जातं यत् पापं तेनाढ्या पूर्णा । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

894) दशदोष—अस्य मुनेर्भाषासमितिः स्यात् । परा प्रकृष्टा । कीदृशस्य मुनेः । एवं

प्राणियोंके रक्षणार्थ दिनमें सूर्यकिरणोंसे स्पृष्ट व जन-समुदायके आवागमनसे संयुक्त मार्गका आश्रय लेता है तथा सावधानीसे जुएँ प्रमाण मार्गको पहिले ही देख लेता है उस प्रमादरहित मुनिके ईर्यासमिति होती है ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि सिद्धक्षेत्र आदिकी वंदना अथवा गुरुसेवा आदिके निमित्तसे गमनमें प्रवृत्त हुआ मुनि प्रमादसे रहित होकर सावधानीपूर्वक युगप्रमाण (४ हाथ) मार्गको देखता हुआ जो गमन करता है, इसका नाम ईर्यासमिति है। इस ईर्यासमितिका धारक मुनि अतिशय दयालु होकर प्राणिरक्षामें सदा तत्पर रहता है तथा दिन हो जानेपर जब मार्ग सूर्यकिरणोंसे व्याप्त व प्राणियोंके गमनागमनसे परिपूर्ण हो जाता है तब ही वह उसपरसे गमन करता है ॥५-७॥

जिस भाषाकी सेवा (उपयोग) धूर्त, कामी, राक्षस, चोर और चार्वाक (जीवना-

१. All others except P M N स्पष्टं for स्पृष्टं । २. All others except P L दयार्द्रस्याङ्गिरक्षार्थं । ३. M N Y यत्नेन गन्तुकामस्य लीलया; All others except P T °हितेक्षिण; T हितेक्षणात् । ४. N क्रव्यादि, T क्रव्यादा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

895) [[1]उक्तं च—
कर्कशा परुषा कट्वी निष्ठुरा परकोपिनी ।
छेद्याङ्कुरा[2] मध्यकृशातिमानिनी भयंकरी[3] ॥९*१
896) [4]भूतहिंसाकरी चेति दुर्भाषां दशधा त्यजेत् ।
हितं मितमसंदिग्धं स्याद्भाषासमितिर्वदेत्[5] ॥९*२]

भाषां गदतो वदतः । कीदृशीं भाषाम् । दशदोषविनिर्मुक्ताम् ॥९॥ दोषाणां दशत्वमेवाह [उक्तं च]

895-96) कर्कशा—श्लोकद्वयं सुगमम् । एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्ताम् । पुनः कीदृशीं भाषाम् । सूत्रोक्ताम् । सुगमम् । पुनः कीदृशीम् । साधुसंमतां साधुयोग्याम् । इति सूत्रार्थः ॥९*१-२॥ अथैषणासमितिमाह ।

स्तित्ववादी) किया करते हैं तथा जो शंका, संकेत (दुराचारी जनका व्यभिचारविषयक इशारा) एवं पापसे परिपूर्ण है उसका बुद्धिमान् मनुष्योंको परित्याग करना चाहिये । मुनि जो दस दोषोंसे रहित और साधुओंसे सम्मत आगमानुकूल भाषाका व्यवहार करता है उसका नाम भाषासमिति है ॥ ८–९ ॥

कहा भी है—भाषासमितिका धारक मुनि कर्कशा, परुषा, कट्वी, निष्ठुरा, परकोपिनी, छेदंकरा, मध्यकृशा, अतिमानिनी, भयंकरी और भूतहिंसाकरी; इस दस प्रकारकी दुष्ट भाषाको छोड़कर हित, मित और सन्देहरहित वचनको बोले ॥ विशेषार्थ—जो भाषा (वचन व्यवहार) सन्तापको उत्पन्न करनेवाली हो वह कर्कशा कहलाती है । जैसे—तू मूर्ख है, कोरा बैल है और कुछ नहीं जानता है आदि । जिसके सुननेपर मर्मको कष्ट पहुँचे वह परुषा भाषा कही जाती है । जैसे—तू अनेक दोषोंसे दुष्ट है आदि । जो भाषा उद्वेगको उत्पन्न करती हो उसे कट्वी कहते हैं । जैसे—तू जातिसे निकृष्ट है, पापी है आदि । जो भाषा निर्दयतासे परिपूर्ण हो उसे निष्ठुरा समझना चाहिये । जैसे—मैं तुझे मार डालूँगा, तेरा शिर धड़से अलग कर दूँगा आदि । जिसको सुनकर दूसरेके हृदयमें क्रोध उत्पन्न हो सकता हो उसे परकोपिनी कहते हैं । जैसे—तेरे तपश्चरणमें क्या बल है, तू निर्लज्ज है आदि । जो भाषा व्रत, शील व गुण आदिको नष्ट करनेवाली हो वह छेदंकरा कही जाती है, अथवा जो दूसरेमें अविद्यमान दोषोंको प्रगट करनेवाली हो उसे छेदंकरा समझना चाहिये । जो हड्डियोंके मध्यभागको भी कृश करती हो ऐसी अतिशय कठोर भाषा मध्यकृशा कहलाती है । जिस भाषाके द्वारा अपनी महिमाको तथा अन्यकी निन्दाको प्रगट किया जाता है उसका नाम अतिमानिनी है । जो भाषा भयको उत्पन्न करनेवाली होती है वह भयंकरी कही जाती है । जो भाषा प्राणिहिंसामें प्रवृत्त कराती है वह भूतहिंसाकरी कहलाती है । यह दस प्रकारकी भाषा भाषासमितिको नष्ट करनेवाली है । इसीलिए भाषासमितिका धारक साधु ऐसी किसी

१. P N om. । २. F V Y छेदांङ्कुरा । ३. F कृशा भयंकरोति मानिनी, V भयंकर्यतिमानिनी, Y कृशा तिग्मा नित्यभयंकरी । ४. P N om. । ५. S R समितिर्मुनेः, T समितिर्वदन्, Y समितौ वदन् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

897) उद्‌गमोत्पादसंभूतै[1]र्धूमाङ्गारादिकल्पितैः ।
दोषैर्मलैर्विनिर्मुक्तं विघ्नशङ्कादिवर्जितम् ॥१०

898) शुद्धं काले परैर्दत्तमनुद्दिष्टमयाचितम् ।
वल्भतो[2]ऽन्नं मुनेर्ज्ञेया ए[3]षणासमितिः परा ॥११

897-98) उद्‌गमोत्पाद— एषैषणासमितिर्मुनेर्ज्ञेया ज्ञातव्या । यस्यामदत्तान्नं न गृह्यते । कीदृशम् । शुद्धम् । अष्टप्रकारपिण्डशुद्धिनिर्मलम् । तथा चोक्तम् । "उग्गम-उप्पादण-एसणं च संयोजणं पमाणं च । इंगालधूमकारण अट्ठविहा पिंडसुद्धी दु ।" उद्‌गतिरुत्पद्यते यैरुपायैर्दातृपात्रगतैराहारादिस्ते उद्‌गमदोषाः । उत्पद्यते निष्पाद्यते यैरभिप्रायैः पात्रगतैः आहारादिस्ते उत्पादनदोषाः आहारार्थानुष्ठानविशेषाः । अश्यते भुज्यते तेभ्यः पारिवेषकेभ्यः तेषामशुद्धयो अशनदोषाः । संयोज्यन्ते संयोजनमात्रं वा संयोजनदोषः । प्रमाणातिरेकः प्रमाणदोषः । अङ्गारमिव चारित्रं करोति सोऽङ्गारदोषः । धूम इव धूमदोषः । कारणं निमित्तं कारणदोषः । एतैरष्टभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तं रहितं मलैर्विनिर्मुक्तम् । पुनः कीदृशम् । विघ्नशङ्कादिवर्जितम् अन्तरायद्वात्रिंशकेन वर्जितम् । पुनः कीदृशम् । काले भोजनकाले परैः श्राद्धैर्दत्तम् । अनुद्दिष्टं उद्देशरहितम् अयाचितमिति सूत्रद्वयार्थः ॥१०-११॥ अथादानसमितिमाह ।

भी भाषाका उपयोग न करके निरन्तर हितकारक व परिमित भाषण करता है। उसके वचन सन्देहको दूर करनेवाले होते हैं ॥९*१-२ ॥

जो मुनि भोजनके उद्‌गम और उत्पादनसे उत्पन्न दोषोंसे, धूम और अंगार आदि (प्रमाण व संयोजन) से कल्पित दोषोंसे तथा मल दोषोंसे हीन और विघ्न (अन्तराय) व शंका आदि (मलदोष) से रहित दूसरों (श्रावकों) के द्वारा समयपर दिये गये शुद्ध, अनुद्दिष्ट एवं अयाचित भोजनको ग्रहण करता है उसके उत्कृष्ट एषणासमिति जानना चाहिये॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि दाताके द्वारा योग्य समयपर विधिपूर्वक दिये गये निर्दोष (उद्‌गमादि दोषोंसे रहित) भोजनको दिनमें एक बार ग्रहण करना, इसका नाम एषणासमिति है । इस समितिका धारक मुनि जिन दोषोंको दूर कर आहारको ग्रहण करता है वे छयालीस (४६) हैं जो इस प्रकार हैं—१६ उद्‌गमदोष, १६ उत्पादनदोष, १० एषणादोष, १ संयोजन, १ प्रमाण, १ अंगार और १ धूम । दाताके जिन मार्गविरोधी क्रियाभेदों (व्यापार विशेषों) के द्वारा भोजन उत्पन्न होता है वे उद्‌गमदोष कहलाते हैं । ये उद्दिष्ट व साधिक आदिके भेदसे सोलह हैं । मुनिके जिन मार्गविरोधी क्रियाभेदोंके द्वारा भोजन उत्पन्न कराया जाता है वे उत्पादनदोष कहे जाते हैं । ये धात्री, दूत व निमित्त आदिके भेदसे सोलह हैं। भोजनसम्बन्धी दोषोंका नाम एषणादोष है । ये शंकित, पिहित व म्रक्षित आदिके भेदसे दस होते हैं । शीत भोजनके उष्ण जलादिसे अथवा शीत जलादिके उष्ण भोजनसे किये जानेवाले संयोगका नाम संयोजनदोष है । प्रमाणसे अधिक आहारके ग्रहण करनेपर प्रमाण दोष होता है । गृद्धिके साथ भोजनका ग्रहण करना, यह अंगारदोष है । अनिष्ट समझकर

१. All others except P °दसंज्ञैस्तैर्धू.... °दिगैस्तथा । २. All others except P अदतो ऽन्नं ।
३. N चैषणा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

899) शय्यासनाभिधानानि[1] शास्त्रोपकरणानि च ।
[2]पूर्वं सम्यक् समालोक्य[3] प्रतिलिख्य पुनः पुनः ॥१२

900) गृह्णतो ऽस्य प्रयत्नेन क्षिपतो वा धरातले ।
भवत्यविकला साधोरादानसमितिः स्फुटम् ॥१३

901) विजन्तुके[4]धरापृष्ठे मूत्रश्लेष्ममलादिकम् ।
क्षिपतो ऽतिप्रयत्नेन व्युत्सर्गसमितिर्भवेत्[5] ॥१४

902) विहाय सर्वसंकल्पान् रागद्वेषार्तिसूचकान्[6] ।
स्वाधीनं कुरुते[7] चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितम्[8] ॥१५

899-९00) शय्या—अस्य साधोरादानसमितिः स्फुटं प्रगटं यथा स्यात् तथा भवति। कीदृशस्य। धरातले पृथ्वीतले एतानि वस्तूनि क्षिपतः। वा अथवा। गृह्णतः प्रयत्नेन। एतानि कानि। शय्या शयनोपष्टम्भकं काष्ठम्। आसनं काष्ठनिर्मितमेव। अभिधानानि सुगमम्। शास्त्रोपकरणानि। च पक्षान्तरसूचकम्। पुनः पुनः प्रतिलिख्य प्रमार्ज्य। पूर्वं सम्यक् समालोक्य दृष्ट्वा। गृह्णतः वा क्षिपतः अविकलाः संपूर्णाः। इति सूत्रार्थः ॥१२-१३॥ अथ व्युत्सर्गसमितिमाह।

901) विजन्तुक—पूर्वोक्तमुनेर्व्युत्सर्गसमितिर्भवेत्। किं कुर्वतः। विजन्तुकधरापृष्ठे जीवरहितभूप्रदेशे अतिप्रयत्नेन मूत्रश्लेष्ममलादिकं क्षिपतः। इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ चेतोवशीकरणमाह।

902) विहाय—मुनिः चेतः स्वाधीनं कुरुते। कीदृशं चेतः। समत्वेषु प्रतिष्ठितं समतया स्थापितम्। किं कृत्वा। सर्वसंकल्पान् शुभाशुभव्यवसायान् विहाय त्यक्त्वा। कीदृशान् संकल्पान्। रागद्वेषावलम्बितान् रागद्वेषाश्रितान्। इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ गुप्तिप्रस्तावे मनोगुप्तिमाह।

घृणा प्रदर्शित करते हुए भोजनको ग्रहण करनेका नाम धूमदोष है। इनके अतिरिक्त ये १४ मलदोष भी छोड़ने योग्य हैं—नख, रोम, जन्तु, अस्थि, कण (गेहूँ आदिका बाहरी अंश), कुण्ड (शालि आदिका भीतरी सूक्ष्म अंश) पीव, चमड़ा, रुधिर, मांस, बीज, फल, कन्द और मूल। इन दोषोंका विशेष स्वरूप मूलाचारके पिण्डशुद्धि अधिकारमें अथवा अनगार धर्मामृतके पिण्डशुद्धिविधानीय नामक पाँचवें अध्यायमें देखना चाहिये ॥१०-११॥

शय्या व आसन नामक उपकरणोंको तथा शास्त्र एवं संयमके उपकरण स्वरूप पीछी व कमण्डलु आदिको पूर्वमें भली-भाँति देखकर और तत्पश्चात् बार-बार पीछीसे शोधित करके प्रयत्नपूर्वक—सावधानीसे—ग्रहण करनेवाले और पृथिवीपर रखनेवाले इस साधुके पूर्ण आदान (आदाननिक्षेप) समिति होती है, यह स्पष्ट है ॥१२-१३॥

जन्तुओंसे रहित पृथिवीके ऊपर अतिशय सावधानीके साथ मूत्र, कफ और मल आदिका परित्याग करनेवाले साधुके व्युत्सर्ग समिति होती है ॥ १४ ॥

१. T °सनोपधान्यानि, All others except P N °सनोपधानानि। २. N प्रागालोक्य प्रतिलेख्य गृहीतानि पुनः पुनः। ३. All others except P T J समालोच्य। ४. T J विजन्तुके, S विजन्तुकं। ५. L T समितिः स्फुटम्। ६. All others except P द्वेषावलम्बितान्। ७. N कुर्वतः। ८. N T समत्वेषु प्रति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

903) सिद्धान्तसूत्रविन्यासे शश्वत्प्रेरयतो ऽथवा ।
भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिणः ॥१६

904) साधुसंवृतवाग्वृत्तेर्मौनारूढस्य वा मुनेः ।
संज्ञादिपरिहारेण वाग्गुप्तिः[1] स्यान्महामतेः[2] ॥१७

905) स्थिरीकृतशरीरस्य पर्यङ्कं संश्रितस्य[3] वा ।
परीषहप्रपाते[4] ऽपि कायगुप्तिर्मता मुनेः ॥१८[5]

906) जनन्यो यमिनामष्टौ रत्नत्रयविशुद्धिदाः ।
एताभी रक्षितं दोषैर्मुनिवृन्दं न लिप्यते ॥१९

903) सिद्धान्त—मनीषिणो ज्ञाततत्त्वस्य मनोगुप्तिर्नाम भवति । कीदृशी । अविकला संपूर्णा । किं कुर्वतः मनीषिणः । सिद्धान्तसूत्रविन्यासे ज्ञायते शश्वन्निरन्तरं प्रेरयतः । अथवेति अर्थसाकाङ्क्षः इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ वाग्गुप्तिमाह ।

904) साधुसंवृत—महामुनेः वाग्गुप्तिः स्यात् । केन । संज्ञादिपरिहारेण । कीदृशस्य महामुनेः । साधुसंवृतवाग्वृत्तेर्यतिस्वाचारे वाग्वृत्तिर्यस्य सः, तस्याः । वा अथवा । मुनेर्मौनारूढस्य मौनं कुर्वतः । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ कायगुप्तिमाह ।

905) स्थिरीकृत—मुनेः कायगुप्तिर्मता कथिता । कीदृशस्य मुनेः । स्थिरीकृतशरीरस्य । पर्यङ्कं पर्यासनं संश्रितस्य । वाशब्दो विकल्पार्थः । परीषहादिप्रपाते परीषहागमने । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ समितिगुप्तीनां फलमाह ।

906) जनन्यः—अष्टौ पञ्च समितयः, त्रयो गुप्तयः मिलिता अष्टौ । यमिनां व्रतिनां जनन्यो मातरः स्मृताः । एताभी रक्षितं मुनिवृन्दं दोषैर्न लिप्यते । कीदृशाः । रत्नत्रयाणां सम्यग्दर्शनादित्रयाणां विशुद्धिदाः । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ चारित्रमुपसंहरति । मालिनी ।

जो बुद्धिमान साधु राग और द्वेषके सूचक सब संकल्प-विकल्पोंको छोड़कर अपने मनको स्वाधीन करता हुआ उसे समताभावमें स्थापित करता है अथवा सिद्धान्त शास्त्रकी रचनाकी ओर निरन्तर प्रेरित करता है उसके परिपूर्ण मनोगुप्ति होती है ॥ १५-१६ ॥

जो मुनि अपने वचन व्यापारपर नियन्त्रण रखता है अथवा जो संज्ञा (संकेत) आदिका परित्याग करके मौनपर आरूढ होता है—उसको स्वीकार करता है—उस अतिशय बुद्धिमान् मुनिके वचनगुप्ति रहती है ॥ १७ ॥

जो मुनि परीषहके उपस्थित होनेपर भी शरीरको स्थिर रखता है अथवा पल्यंक आसनका आश्रय लेता है—स्थिरतापूर्वक उसे सहन करता है उसके कायगुप्ति मानी गयी है ॥ १८ ॥

रत्नत्रयको विशुद्धि प्रदान करनेवाली ये आठ—५ समिति और ३ गुप्ति मुनियोंकी माताओंके समान हैं । इनके द्वारा रक्षित मुनियोंका समूह दोषोंसे लिप्त नहीं होता है ॥१९॥

१. J वाग्गुप्तेः । २. All others except P N महामुनेः । ३. All other except P L F J पर्यङ्कसंस्थितस्य । ४. Y परीषहप्रतापे । ५. These three verses are numbered in P १, २, ३ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

907) इति कतिपयवर्णैश्चर्चितं चित्ररूपं
चरणमनघमुच्चैश्चेतसां शुद्धिधाम ।
अविदितपरमार्थैर्यन्न साध्यं विपक्षै-
स्तदिदमनुसरन्तु ज्ञानिनः शान्तदोषाः ॥२०

908) सम्यगेतत्समासाद्य त्रयं त्रिभुवनार्चितम् ।
द्रव्यक्षेत्रादिसामग्र्या भव्यः सपदि मुच्यते ॥२१

909) एतत्समयसर्वस्वं मुक्तेश्चैतन्निबन्धनम् ।
हितमेतद्धि जीवानामेतदेवाग्रिमं पदम् ॥२२

910) ये याता यान्ति यास्यन्ति यमिनः पदमव्ययम् ।
समाराध्यैव ते नूनं रत्नत्रयमखण्डितम् ॥२३

907) **इति कतिपय**—हे ज्ञानिनः, तदिदं चरणं चारित्रम् । अनुसरन्तु । कीदृशाः । शान्ताः । कीदृशं चरणम् । इति अमुना प्रकारेण । कतिपयवर्णैरक्षरैः चर्चितम् । पुनः कीदृशम् । चित्ररूपं नानाप्रकारम् । पुनः कीदृशम् । अनघं सफलम् । पुनः कीदृशम् । उच्चैश्चेतसाम् उन्नतचित्तानां शुद्धिधाम । पुनः कीदृशम् । विपक्षैर्मिथ्यात्विभिर्यच्चारित्रं न साध्यम् । कीदृशै-र्विपक्षैः । अविदितपरमार्थैः । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ सम्यग्दर्शनत्रिकस्य फलमाह ।

908) **सम्यगेतत्**—तत् सम्यक् त्रयं सम्यग्दर्शनादित्रिकं समासाद्य प्राप्य भव्यः सपदि शीघ्रं मुच्यते मुक्तो भवति । कया । द्रव्यक्षेत्रादिसामग्र्या । सुगमम् । कीदृशं तत्त्रयम् । सम्यक्त्रयं त्रिभुवनार्चितम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ पुनः सम्यक्त्रयफलमाह ।

909) **एतत्समय**—एतद् रत्नत्रयं समयसर्वस्वं सिद्धान्तपरमार्थं एतन्मुक्तेर्निबन्धनं कारणम् । पक्षान्तरे । एतद् हि निश्चितं हितं हितकारि । एतद् अग्रिमं पदं प्रधानं स्थानमिति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ त्रैकाल्ये ऽपि रत्नत्रयस्य मुक्तिकारणत्वमाह ।

910) **ये याताः**—अव्ययं पदं शाश्वतस्थानं, मुक्तिमिति पर्यायः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ रत्नत्रयाभावे मुक्तेरभावमाह ।

इस प्रकार जिसका यहाँ कुछ वर्णोंके द्वारा—कितने ही श्लोकोंमें—वर्णन किया गया है, जिसका अनेक प्रकारका स्वरूप आश्चर्यजनक है, जो पापसे रहित होकर उन्नत मनवाले संयमी जनोंकी शुद्धिका कारण है, तथा जिसे विरुद्ध आचरण करनेवाले (विधर्मी) वस्तु-स्वरूपके यथार्थ ज्ञानसे रहित होनेके कारण सिद्ध नहीं कर सकते हैं; ज्ञानी जन दोषोंसे रहित होकर उस इस निर्मल चारित्रका अनुसरण करें—उसे धारण करें ॥ २० ॥

तीनों लोकोंसे पूजित इस समीचीन रत्नत्रयको द्रव्य-क्षेत्रादिरूप सामग्रीके अनुसार प्राप्त करके भव्य जीव शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥

यह रत्नत्रय आगम या आत्माका सर्वस्व (सब धन) है, यह मुक्तिका कारण है, यह निश्चयसे प्राणियोंका कल्याण करनेवाला है, तथा यही उनका सर्वोत्कृष्ट पद है ॥ २२ ॥

जो मुनि अविनश्वर पद (मोक्ष) को प्राप्त कर चुके हैं, वर्तमानमें प्राप्त कर रहे हैं,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

911) साक्षादिदमनासाद्य जन्मकोटिशतैरपि ।
दृश्यते न हि केनापि मुक्तेर्वदनपङ्कजम् ॥२४॥ अथवा[2]–

912) दृग्बोधचरणान्याहुः स्वमेवा[3]ध्यात्मवेदिनः ।
यतस्तन्मय एवासौ शरीरी वस्तुतः स्थितः ॥२५

913) निर्णीते ऽस्मिन् स्वयं साक्षान्नापरः को ऽपि मृग्यते ।
यतो रत्नत्रयस्यैष[4] प्रसूतेर्बीजमग्रिमम्[5] ॥२६

914) जानाति यः स्वयं स्वस्मिन् स्वस्वरूपं गतभ्रमः ।
तदेव तस्य विज्ञानं तद्वृत्तं तच्च दर्शनम् ॥२७

---

911) साक्षाद्—इदं रत्नत्रयं साक्षादनासाद्यप्राप्य केनापि मुक्तिश्रीमुखपङ्कजं मुखकमलं न दृश्यते । हि निश्चितम् । जन्मकोटिशतैरपि इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथवा पक्षान्तरे ।

912) दृग्बोध—अथात्मवेदिनः दृग्बोधचरणान्याहुः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि स्वयमेवाहुः कथयामासुः । यतः कारणात् असौ शरीरी वस्तुतः परमार्थतस्तन्मय एवासौ । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ रत्नत्रये सम्यगवधारिते स्वयमेवात्मा वर्तत इत्याह ।

913) निर्णीते—अस्मिन् रत्नत्रये निर्णीते । स्वयमात्मना साक्षात् प्रकारेण नापरः को ऽपि मृग्यते । यतः कारणात् एष आत्मा रत्नत्रयस्य प्रसूतेरग्रिमं प्रधानं पदं स्थानम् । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथात्मनि ज्ञाते रत्नत्रयं विज्ञातम् इत्याह ।

914) जानाति—यः पुमान् स्वस्वरूपम् आत्मस्वरूपं स्वयमात्मना जानाति । कीदृशो यः । गतभ्रमः नष्टाज्ञानः । तस्य पुंसः तदेव विज्ञानम् । च पुनः । तद्वृत्तमाचारः तद्दर्शनं सम्यक्त्वमिति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ बन्धमोक्षयोः सर्वस्वं स्वज्ञानमेवाह ।

तथा भविष्यमें प्राप्त करेंगे उन सबने निश्चयसे उस पूर्ण रत्नत्रयकी आराधना करके उसे प्राप्त किया है, प्राप्त करते हैं, और आगे प्राप्त करेंगे ॥ २३ ॥

इस रत्नत्रयको न प्राप्त करके कोई भी सत्पुरुष सैकड़ों जन्मोंमें भी मुक्तिरूप लक्ष्मीके मुखकमलको नहीं देख सकता है—उसे नहीं पा सकता है ॥ २४ ॥

अथवा—आत्मस्वरूपके ज्ञाता गणधरादि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय) को आत्मा ही बतलाते हैं। इसका कारण यह है कि यह आत्मा शरीराश्रित होकर उस रत्नत्रयस्वरूपसे ही वस्तुतः—निश्चय नयकी अपेक्षा—अवस्थित है ॥ २५ ॥

प्रत्यक्षमें स्वयं ही उस रत्नत्रयस्वरूप आत्माका निश्चय हो जानेपर फिर अन्य किसी-की भी खोज नहीं की जाती है । कारण यह कि रत्नत्रयकी उत्पत्तिका मुख्य स्थान यह आत्मा ही है ॥ २६ ॥

जीव भ्रमको छोड़कर जो स्वयं अपनेमें अपने आत्मस्वरूपको जानता है वही उसका सम्यग्ज्ञान है, वही सम्यक्चारित्र है, और वही सम्यग्दर्शन भी है ॥ २७ ॥

---

१. All others except P मुक्तिश्रीमुख । २. P N अथवा–after this N adds यत्रात्मदर्शिनो वदन्ति (?) । ३. J स्वयमेव । ४. J °त्रयस्यैव । ५. All others except P प्रसूतेरग्रिमं पदम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

915) स्वज्ञानादेव मुक्तिः स्याज्जन्मबन्धस्ततो ऽन्यथा ।
एतदेव जिनोद्दिष्टं सर्वस्वं बन्धमोक्षयोः ॥२८

916) आत्मैव मम विज्ञानं[1] दृग्वृत्तं चेति निश्चयः ।
मत्तः[2] सर्वे ऽप्यमी भावा बाह्याः संयोगलक्षणाः ॥२९

917) अयमात्मैव सिद्धात्मा स्वशक्त्यपेक्षया[3] स्वयम् ।
व्यक्तीभवति विज्ञानवह्निनात्यन्तसाधितः ॥३०

918) एतदेव परं तत्त्वं ज्ञानमेतद्धि शाश्वतम् ।
अतो ऽन्यो यः श्रुतस्कन्धः स तदर्थं प्रपञ्चितः ॥३१

---

915) **स्वज्ञानादेव**—बन्धमोक्षयोः सर्वस्वं जिनोद्दिष्टं जिनैः कथितम् । एतत्किम् । स्वज्ञानादेवात्मज्ञानादेव मुक्तिः स्यात् । तत अन्यथा आत्मज्ञानाभावात् । जन्मबन्धः संसारपर्यटनं स्यादिति सूत्रार्थः ॥२८॥ आत्मनः सकाशात् सर्वे भावा इत्याह ।

916) **आत्मैव**—आत्मैव मम विज्ञानम् । च पुनः । दृश्यते दर्शनम् । वृत्तमाचारः इति निश्चयः । अमी सर्वे ऽपि भावा मत्तो बाह्याः संयोगलक्षणाः स्युरिति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथात्मनः सिद्धत्वमाह ।

917) **अयमात्मैव**—अयम् आत्मैव सिद्धात्मा स्वयं स्वशक्त्यपेक्षया व्यक्तीभवति प्रगटीभवति । कीदृशः आत्मा । *सद्ध्यानवह्निना अत्यन्तसाधितः । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथात्मनः स्वरूपवर्णनमाह ।

918) **एतदेव परं**—एतदेवात्मस्वरूपमेव परं प्रकृष्टं तत्त्वं परमार्थम् । हि निश्चितम् । एतदेव शाश्वतं ज्ञानम् । अत आत्मस्वरूपात् अन्यो यः श्रुतस्कन्धः स श्रुतस्कन्धः तदर्थमात्मस्वरूपार्थं प्रपञ्चितः विस्तारितः । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथात्मस्वरूपवतो रत्नत्रयं भवतीत्याह ।

अपने इस आत्मस्वरूपके ज्ञानसे ही मुक्ति प्राप्त होती है और इसके विपरीत उस आत्मस्वरूपको न जाननेसे जन्मका सम्बन्ध बना रहता है—जन्म-मरणस्वरूप संसारकी परम्परा चालू रहती है ॥ २८ ॥

मेरी आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है; यह मुझे निश्चय हो चुका । मुझसे संयोग रखनेवाले ये सब ही बाह्य पदार्थ वस्तुतः मुझसे भिन्न हैं ॥ २९ ॥

अपनी शक्तिकी अपेक्षा यह आत्मा ही स्वयंसिद्ध आत्मा है । उसे विशिष्ट ज्ञान (विवेकज्ञान) रूप अग्निके द्वारा अतिशय सिद्ध करनेपर वह प्रगटमें सिद्ध हो जाती है ॥३०॥

उपर्युक्त निश्चय ही उत्कृष्ट तत्त्व है और वही शाश्वत ज्ञान है, इसके अतिरिक्त अन्य जो श्रुतस्कन्ध—आगमसमूह अथवा आगमरूप वृक्षका स्कन्ध (तना)—है उसका विस्तार इस उत्कृष्ट तत्त्वके जाननेके लिये ही किया गया है ॥ ३१ ॥

---

१. All others except P विज्ञानं । २. N Y शेषाः सर्वे । ३. All others except P शक्त्यापेक्षया....सद्ध्यानवह्निना ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

919) अपास्य कल्पनाजालं चिदानन्दमये स्वयम् ।
यः स्वरूपे लयं प्राप्तः स स्याद्रत्नत्रयास्पदम् ॥३२
920) सुप्तेष्वक्षेषु[1] जागर्ति पश्यत्यात्मानमात्मनि ।
वीतविश्वविकल्पो यः[2] स स्वदर्शी बुधैर्मतः ॥३३
921) [[3]निःशेषक्लेशनिर्मुक्तममूर्तं परमाक्षरम् ।
निष्प्रपञ्चं व्यतीताक्षं पश्य स्वं स्वात्मनि स्थितम् ॥३३*१
922) [4]नित्यानन्दमयं शुद्धं चित्स्वरूपं[5] सनातनम् ।
पश्यात्मनि परं ज्योतिरद्वितीयमनव्ययम्[6] ॥३३*२]

919) अपास्य—यः चिदानन्दमये स्वरूपे स्वयमात्मना लयं प्राप्तः ध्यानं प्राप्तः। किं कृत्वा। कल्पनाजालं दुरध्यवसायसमूहम्। अपास्य दूरीकृत्य। स पुरुषः रत्नत्रयास्पदं सम्यग्दर्शनादित्रिकगृहम् इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथात्मनः स्वदर्शित्वमाह।

920) सुप्तेष्वक्षेषु—यः अक्षेषु इन्द्रियेषु सुप्तेषु जागर्ति। आत्मानम् आत्मनि स्वस्मिन् पश्यति। कीदृशो यः। वीतविश्वविकल्पः गतजगद्विकल्पः। स पुमान् बुधैः स्वदर्शी मतः कथितः। इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ स्वस्मिन् स्वं पश्येत्याद्युपदेशमाह।

921) निःशेष—रे भव्य, स्वमात्मानं स्वात्मनि स्थितं पश्य। कीदृशं स्वम्। निःशेषक्लेशनिर्मुक्तं समस्तक्लेशरहितम्। पुनः कीदृशम्। अमूर्तम्। पुनः कीदृशम्। परमाक्षरम्। पुनः कीदृशम्। निःप्रपञ्चं प्रपञ्चरहितम्। पुनः कीदृशम्। व्यतीताक्षं नष्टेन्द्रियविषयम्। इति सूत्रार्थः ॥३३*१॥ पुनः परमात्मस्वरूपमाह।

922) नित्यानन्द—रे भव्य, आत्मनि परंज्योतिः पश्य। कीदृशं ज्योतिः। नित्यानन्दमयम् सुगमम्। पुनः कीदृशम्। अनव्ययं व्ययरहितम्। इति सूत्रार्थः ॥३३*२॥ अथ पुनर्ज्ञानस्वरूपमाह।

जो योगी सब ही विकल्पसमूहको नष्ट करके स्वयं उस चिदानन्दस्वरूप अपने आत्मस्वरूपमें लीन होता वह रत्नत्रयका स्थान बन जाता है ॥ ३२ ॥

जो साधु समस्त विकल्पोंसे रहित होकर इन्द्रियोंके सो जानेपर—अपने-अपने विषयसे विमुख हो जानेपर स्वयं जागता है—आत्मस्वरूपमें लीन होता है—और अपनी आत्मामें ही आत्माको देखता है उसे पण्डितजन आत्मदर्शी समझते हैं ॥ ३३ ॥

हे भव्य ! तू अपनी आत्मामें स्थित अपने आपको समस्त क्लेशोंसे रहित, अमूर्त, उत्कृष्ट, अविनश्वर, छल-कपटसे रहित और इन्द्रियोंसे भी रहित देख—अनुभव कर ॥३३*१॥

हे भव्य ! तू अपनी आत्मामें उस उत्कृष्ट ज्योतिको देख जो अविनश्वर आनन्दस्वरूप, शुद्ध, विश्वरूप—समस्त पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली (व्यापक), नित्य, अनुपम और विनाशसे रहित है ॥ ३३*२ ॥

१ J स्वप्नेष्व° । २. M S V X Y विकल्पोऽस्ति स । ३. P X om. । ४. P X om. । ५. N T शुद्धं विश्वरूपं । ६. N ज्योतिरमूर्तमजमक्षयं, Y °रद्वितीयमनामयम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

923) यस्यां[1] निशि जगत्सुप्तं तस्यां जागर्ति यः स्वयम्[2] ।
निष्पन्नं कल्पनातीतं स वेत्त्यात्मानमात्मनि ॥३४

924) [[3]या निशा सर्वभूतेषु तस्यां जागर्ति संयमी[4] ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥३४*१]

925) यस्य हेयं न चादेयं निःशेषं भुवनत्रयम् ।
उन्मीलयति विज्ञानं तस्य स्वान्यप्रकाशकम् ॥३५

923) यस्यां निशि—स आत्मानम् आत्मनि वेत्ति । स इति कः । यस्यां निशि रात्रौ जगत् सुप्तं किमपि न वेत्ति स्वशरीरादिकम्, तस्यां रात्रौ संयमी जागर्ति तदवस्थया तिष्ठतीत्यर्थः । कीदृशमात्मानम् । निष्पन्नम् । पुनः कीदृशम् । कल्पनातीतं कल्पनारहितम् । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ पुनरध्यात्मस्वरूपमाह ।

924) या निशा—सर्वभूतेषु प्राणिषु या निशा रात्रिः निद्राहेतुका तस्यां यः पुमान् स्वयमात्मना जागर्ति । स्वापावस्थायां जागर्तीति भावः । यस्यां रात्रौ मोहरूपायां भूतानि जाग्रति, इदं वपुर्मम, इमे मे स्वजनाः, इत्याद्यपेक्षया जाग्रति । पश्यतो द्रष्टुकामस्य मुनेर्निशा अज्ञानात्मिका तदवस्थां मुनिः न वेत्तीति सूत्रार्थः ॥३४*१॥ अथ स्वान्यप्रकाशकं ज्ञानमाह ।

925) यस्य हेयं—यस्य योगिनः निःशेषं भुवनत्रयं सव जगत्त्रयं हेयं त्याज्यम् । च पुनः । नादेयं न ग्राह्यम् । तस्य मुनेः स्वान्यप्रकाशकं स्वपरदीपकविज्ञानम् उन्मीलयति चकास्ते इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ परमेष्ठिध्याने जन्माभावमाह । शार्दूल० ।

जिस रातमें—अज्ञानरूप अन्धकारमें—समस्त संसार सोता है उसमें जो योगी स्वयं जागता है—आत्मस्वरूपके उन्मुख होकर प्रबुद्ध रहता है—वह अपनेमें अवस्थित सिद्ध और सब कल्पनाओंसे रहित आत्माको जानता है ॥ ३४ ॥

सब प्राणियोंके विषयमें जो रात्रि है—स्व-परभेद सम्बन्धी अज्ञान है—उसमें योगी जागता है, प्रबुद्ध रहता है। तथा अन्य प्राणी जिस रातमें जागते हैं—जिस विषयानुरागमें निरन्तर प्रतिबुद्ध रहते हैं—वह आत्मस्वरूपके देखनेवाले मुनिके लिये रात्रि है—वह उसमें सदा अप्रतिबुद्ध रहता है। तात्पर्य यह कि आत्मावबोधका न होना रात्रिके समान तथा उसका होना दिनके समान है ॥ ३४*१ ॥

जिसके लिये सब ही तीनों लोक न हेय हैं और न उपादेय हैं, अर्थात् जो तीनों लोकोंके किसी पदार्थको अनिष्ट मानकर छोड़नेकी इच्छा नहीं करता तथा किसीको भी इष्ट मानकर ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं करता, किन्तु रागद्वेषसे रहित होता है; उसके ही आत्मा और पर पदार्थोंका प्रकाशक विशिष्ट ज्ञान प्रगट होता है ॥ ३५ ॥

१. T Y read verses 33*1-2 after this verse । २. M S T F V J जागर्ति संयमी । ३. P om. । ४. T J जागर्ति यः स्वयं । ५. All others except P J वा for चा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

926) दृश्यन्ते भुवि किं न ते कृतधियः[1] संख्याव्यतीताश्चिरं
ये लीलां परमेष्ठिनः प्रतिदिनं तन्वन्ति वाग्भिः परम् ।
तं साक्षादनुभूय नित्यपरमानन्दाम्बुराशिं पुन–
र्ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति सहसा धन्यास्तु ते दुर्लभाः[2] ॥३६

927) [3]दुःप्रज्ञाबललुप्तवस्तुनिचया विज्ञानशून्याशया
दृश्यन्ते प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थोद्यता देहिनः ।
आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैर्निर्वाप्य जन्मज्वरं
ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपरास्ते सन्ति द्वित्रा यदि ॥३७

926) दृश्यन्ते—भुवि पृथिव्यां ते मनुष्या अल्पमतयः संख्याव्यतीता असंख्याताश्चिरं चिरकालं किं न दृश्यन्ते, अपि तु दृश्यन्त एव । ये पुमांसः परमेष्ठिनो लीलां निजनिजैर्वाग्भिः परं यथा स्यात् तन्वन्ति विस्तारयन्ति । तु पुनः । ते धन्या दुर्लभाः नित्यपरमानन्दाम्बुराशिं नित्यपरम-हर्षसमुद्रं तं साक्षादनुभूय । पुनः सहसा शीघ्रं जन्मभ्रममुत्सृजन्ति त्यजन्ति इति सूत्रार्थः ॥३६॥ [मुमुक्षूणां दुर्लभत्वमाह ।

927) दुःप्रज्ञाबल—दुःप्रज्ञाबललुप्तवस्तुनिचयाः दुष्टबुद्धेः प्रभावेण यैः वस्तुस्वरूपं यथार्थज्ञानं नाशितं ते । जन्मज्वरं जन्मदुःखम् । निर्वाप्य विनाश्य । कैः । आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैः आनन्द-रूपामृतसमुद्रबिन्दुसमूहैः इत्यर्थः ॥३७॥] किं च चारित्रस्य प्रतिबन्धककषायस्वरूपमाह ।

जो प्रतिदिन केवल वचनों (व्याख्यानों) के द्वारा ही परमात्माकी लीलाका विस्तार करते हैं वे बुद्धिशाली जीव क्या पृथिवीपर चिरकाल तक असंख्यात नहीं दिखते हैं ? अवश्य दिखते हैं । परन्तु जो शाश्वतिक एवं उत्कृष्ट आनन्दके समुद्रस्वरूप उस परमात्माका स्वयं प्रत्यक्षमें अनुभव करके संसारपरिभ्रमणका परित्याग करते हैं—मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होते हैं वे ही प्रशंसनीय हैं और वे अतिशय दुर्लभ हैं । तात्पर्य यह कि अपनी बुद्धिकी तीव्रतासे पर-मात्माका रोचक ढंगसे व्याख्यान करनेवाले तो बहुत हैं, परन्तु उसका स्वयं अनुभव करके उसी स्वरूपकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेवाले बहुत थोड़े हैं । परन्तु प्रशंसाके पात्र वस्तुतः वे ही हैं ॥ ३६ ॥

जिन्होंने दुष्ट बुद्धिके प्रभावसे वस्तुसमूहके यथार्थ स्वरूपको नष्ट कर दिया है—अर्थात् जो दुष्ट बुद्धिसे वस्तुस्वरूपका अन्यथा व्याख्यान करते हैं, जिनका हृदय विवेकज्ञानसे रहित है, तथा जो अपने-अपने स्वार्थके सिद्ध करनेमें सदा प्रयत्नशील रहते हैं; ऐसे प्राणी तो प्रत्येक घरमें देखे जाते हैं—वे बहुत अधिक हैं । परन्तु जो आनन्दरूप अमृतसमुद्रके जलबिन्दु समूहोंके द्वारा संसाररूप ज्वर (ताप) को शान्त करके मुक्तिरूप लक्ष्मीके मुँहके देखनेमें उद्यत हो रहे हैं वे यदि हैं तो दो तीन ही सम्भव हैं—अधिक सम्भव नहीं हैं ॥ ३७ ॥

१. All others except P ते ऽल्पमतयः.... °ष्ठिनो निजनिजैस्तन्वन्ति । २. T R ends here प्रकरण.। ३. Only in P ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

928) सत्संयममहारामं[1] यमप्रशमजीवितम् ।
देहिनां निर्दहत्येव क्रोधाद्यग्निः[2] समुत्थितः ॥३८

929) दृग्बोधादिगुणानर्घ[3]रत्नप्रचयसंचितम् ।
भाण्डागारं दहत्येव क्रोधवह्निः समुत्थितः ॥३९

930) संयमोत्तमपीयूषं सर्वाभिमतसिद्धिदम् ।
कषायविषसेको ऽयं निःसारीकुरुते क्षणात् ॥४०[4]

931) तपःश्रुतयमाधारं वृत्तविज्ञानवर्धितम् ।
भस्मीभवति रोषेण पुंसां धर्मात्मकं वपुः ॥४१

928) **सत्संयम**—देहिनां प्राणिनां क्रोधाद्यग्निः यमप्रशमजीवितं निर्दहत्येव ज्वालयति । समुत्थितः उत्पन्नः । सत्संयममहारामं सच्चारित्रमहावनम् इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ पुनः क्रोधस्वरूपमाह ।

929) **दृग्बोधादि**—दृग्बोधादिगुणानर्घ्यरत्नप्रचयसंचितं भाण्डागारं सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानादिगुणमहार्घ्यरत्नसमूहभृतं दहत्येव । कः । क्रोधवह्निः समुत्थितः । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ पुनः कषायस्वरूपमाह ।

930) **संयमोत्तम**—अयं कषायविषसेकः क्षणात् संयमोत्तमपीयूषं चारित्रोत्तमामृतं निःसारीकुरुते । कीदृशं संयमोत्तमपीयूषम् । सर्वाभिमतसिद्धिदं सर्ववाञ्छितसिद्धिदातारम् । इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथ क्रोधस्य धर्मापायकारणमाह ।

931) **तपःश्रुत**—पुंसां पुरुषाणां धर्मात्मकं वपुः धर्मरूपं शरीरं रोषेण भस्मीभवति । कीदृशं वपुः । तपःश्रुतयमाधारम् । सुगमम् । पुनः कीदृशम् । वृत्तविज्ञानवर्धितं चारित्रविज्ञानवृद्धिनीतम् । इति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथ पुनर्धर्माभावजनकतां क्रोधस्य दर्शयति ।

क्रोधादि कषायरूप अग्नि उत्पन्न होकर प्राणियोंके यम (महाव्रत) और प्रशमरूप प्राणोंसे संयुक्त समीचीन संयमरूप उद्यानको जलाती ही है। तात्पर्य यह कि कषाय के रहनेपर प्राणीके संयम नहीं रह सकता है ॥ ३८ ॥

क्रोधरूप अग्नि आविर्भूत होकर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आदि गुणोंरूप अमूल्य रत्नोंके समूहसे संचित भण्डार (खजाना) को निश्चयसे ही जला डालती है ॥ ३९ ॥

यह कषायरूप विषका सिंचन समस्त प्राणियोंके अभीष्टको सिद्ध करनेवाले संयमरूप उत्तम अमृतको क्षणभरमें ही व्यर्थ कर देता है। तात्पर्य यह कि कषायके साथ धारण किया गया संयम प्राणीके हितको कभी सिद्ध नहीं कर सकता है ॥ ४० ॥

तप, शास्त्रज्ञान और संयमका आधारभूत जो पुरुषोंका धर्ममय शरीर चारित्र एवं ज्ञानसे वृद्धिको प्राप्त हुआ है उसे क्रोध भस्म कर डालता है ॥ ४१ ॥

१. L किं च- । २. M L S V J Y R क्रोधवह्निः, X क्रोधादग्निः । ३. All others except P गुणानर्घ्य । ४. Y interchanges verses No. 40-41 ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

932) अयं समुत्थितः क्रोधो धर्मसारं सुरक्षितम् ।
निर्दहत्येव निःशङ्कं[1] शुष्कारण्यमिवानलः ॥४२

933) पूर्वमात्मानमेवासौ क्रोधान्धो दहति ध्रुवम् ।
पश्चादन्यान्[2] न वा लोको विवेकविकलाशयः ॥४३

934) कुर्वन्ति यतयो ऽप्यत्र क्रुद्धास्तत्कर्म निन्दितम् ।
हत्वा लोकद्वयं येन विशन्ति धरणीतलम् ॥४४

935) क्रोधाद् द्वीपायनेनापि कृतं कर्मातिगर्हितम् ।
दग्धा द्वारवती[3] नाम पूः स्वर्गनगरीनिभा ॥४५

932) अयं समुत्थितः—अयं क्रोधः समुत्थितः उत्पन्नः धर्मसारं धर्मपरमार्थं निर्दहत्येव । कीदृशम् । सुरक्षितम् । कीदृशः । निःशङ्कः । शुष्कारण्यं शुष्ककाष्ठवनम् । अनल इव, यथा अनलो ऽग्निः शुष्कारण्यं निर्दहत्येव । इति सूत्रार्थः । ४२॥ अथ क्रोधवतः स्वान्यघातकत्वमाह ।

933) पूर्वमात्मानम्—असौ क्रोधान्धः । ध्रुवं निश्चितम् । पूर्वं प्रागेवात्मानं दहति । पश्चात् अन्यान् । वा अथवा । लोकः क्रोधान्धः न दहति । अपि तु दहत्येव । कीदृशो लोकः । विवेकविकलाशयः विवेकेन शून्यचित्तः । इति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथ मुनयो ऽपि क्रोधवशात् कुत्सितं कर्म कुर्वन्तीत्याह ।

934) कुर्वन्ति—यतयो ऽपि अत्र जगति क्रुद्धाः सन्तः तत्कर्म निन्दितं निन्दास्पदं कुर्वन्ति । येन कर्मणा लोकद्वयम् इहपरलोकद्वयं हत्वा धरणीतलं विशन्ति प्रविशन्तीति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ क्रोधकर्तारं दृष्टान्तेनाह ।

935) क्रोधात्—पूः पुरी । स्वर्गनगरीसदृशा । [द्वीपायनेन अतिगर्हितमतिनिन्दितं कर्म कृत्वा दग्धा] । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ पुनः क्रोधस्य स्वरूपमाह ।

जिस प्रकार अग्नि सूखे वनको निश्चित ही भस्म कर देती है उसी प्रकार उत्पन्न हुआ यह क्रोध अतिशय संरक्षित धर्मरूप धनको नियमसे भस्म कर देता है ॥ ४२ ॥

क्रोधमें अन्धा हुआ प्राणी विवेकसे रहित होकर पूर्वमें निश्चयसे अपने आपको ही जलाता है—स्वयं सन्तप्त होता है । तत्पश्चात् वह अन्य प्राणियोंको जलाता है और कदाचित् नहीं भी जलाता है ॥ ४३ ॥

अन्य मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, किन्तु मुनिजन भी क्रोधको प्राप्त होकर ऐसे निन्दित कार्यको करते हैं कि जिसके आश्रयसे वे अपने दोनों लोकोंको नष्ट करके पृथिवीतलमें प्रविष्ट होते हैं—नरकमें नारकी उत्पन्न होते हैं ॥ ४४ ॥

क्रोधके वशीभूत होकर द्वीपायन मुनिने भी स्वर्गपुरीके सदृश द्वारिकापुरीको जलाकर अतिशय निन्दित कार्य किया है (देखिए, ह. पु. ६१, १७-९०) ॥ ४५ ॥

१. L T F V निःशङ्कः । २. All others except P N T °दन्यन्न । ३. All others except P N T द्वारावती नाम ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

936) लोकद्वयविनाशाय पापाय नरकाय च ।
स्वपरस्यापकाराय क्रोधः शत्रुः[1] शरीरिणाम् ॥४६

937) अनादिप्रभवो वैरी[2] कषायविषमग्रहः ।
स एवानन्तदुर्वारदुःखसंपादनक्षमः ॥४७

938) तस्मात्प्रशममालम्ब्य क्रोधवैरी निवार्यताम् ।
शमामृतं[3] महाम्भोधेरवगाहश्च सेव्यताम् ॥४८

939) क्रोधवह्नेः क्षमैकेयं[4] प्रशान्तौ[5] जलवाहिनी ।
उद्दामसंयमारामवृतिर्वात्यन्तनिर्भरा ॥४९

936) लोकद्वय—शरीरिणां क्रोधशत्रुः । लोकद्वयविनाशाय इहपरलोकनाशाय । चकारः सर्वत्र योज्यः । पापाय नरकाय रौरवादिनरकाय । स्वपरस्यापकारायेति सूत्रार्थः ॥४६॥ अथ कषायस्य दुःखदायित्वमाह ।

937) अनादि—कषायविषमग्रहः कषायदुष्टकदाग्रहः अनादिकाल[2]संभूतः । सुगमम् । स एव विषमग्रहः अनन्तदुर्वारदुःखसंपादनक्षमः अनन्तदुर्वारदुःखकरणसमर्थः । इति सूत्रार्थः ॥४७॥ अथ क्रोधनिग्रहमाह ।

938) तस्मात्प्रशमम्—तस्मात् कारणात् प्रशमम् आलम्ब्याश्रित्य क्रोधवैरी निवार्यताम् । च पुनः । जिनागममहाम्भोधेर्जिनप्रणीतागममहासमुद्रस्यावगाहः सेव्यताम् । इति सूत्रार्थः ॥४८॥ अथ क्रोधोपशमाय क्षान्तिः कर्तव्येत्याह ।

939) क्रोधवह्नेः—इयम् एका शक्तौ सत्यां दुष्टवाक्यसहनं क्षमा । क्रोधवह्नेः प्रशान्त्यै प्रशमाय जलवाहिनी जलप्रवाहिका । वा अथवा । क्षमा उद्दामसंयमारामवृत्तिः उत्तमचारित्रवनवृत्तिः अत्यन्तनिर्भरा अत्यन्तगहना । इति सूत्रार्थः ॥४९॥ अथ व्रतिनां क्रोधजयनमाह ।

प्राणियोंका वास्तविक शत्रु यह क्रोध ही है, क्योंकि वह उनके दोनों लोकोंके नाश, पापसंचय, नरकप्राप्ति और स्व-परके अपकार (अहित) का कारण है ॥ ४६ ॥

अनादिकालसे उत्पन्न हुआ वह कषायरूप भयानक पिशाच शत्रुके समान अनन्त और दुर्निवार दुखके उत्पन्न करनेमें समर्थ है ॥ ४७ ॥

इस कारण उत्कृष्ट शान्तिका आश्रय लेकर उस क्रोधरूप शत्रुका निराकरण करते हुए शमभावरूप विशाल अमृतके समुद्रका अवगाहन करना चाहिए ॥ ४८ ॥

क्रोधरूप अग्निको शान्त करनेके लिए यह क्षमा अनुपम नदीके समान है तथा वह उत्कृष्ट संयमरूप उद्यानकी अतिशय दृढ़ वृति (काँटों आदिसे निर्मित खेतकी बाड) है ॥४९॥

१. N L S T F V क्रोधशत्रुः । २. All others except P अनादिकालसंभूतः । ३. All others except P जिनागममहा° । ४. N क्षमैकैव । ५. L F V J प्रशान्त्यै ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

940) जयन्ति यमिनः क्रोधं लोकद्वयविराधकम्[1] ।
तन्निमित्ते ऽपि संप्राप्ते भावयन्[2] भावनामिमाम् ॥५०॥ तद्यथा[3]

941) यद्यद्य[4] कुरुते को ऽपि मां स्वस्थं कर्मपीडितम् ।
चिकित्सित्वा स्फुटं दोषं स एवाकृत्रिमः सुहृत् ॥५१

942) हत्वा स्वपुण्यसंतानं मद्दोषं यो निकृन्तति ।
तस्मै यदिह रुष्यामि मदन्यः को ऽधमस्तदा ॥५२

943) आक्रुष्टो[5] ऽहं हतो[6] नैव हतो वा [7]न द्विधाकृतः ।
मारितो न हतो धर्मो मदीयो ऽनेन बन्धुना ॥५३

940) जयन्ति—हे भव्य, इमां भावनां भावय । यमिनो व्रतिनः क्रोधं जयन्ति । कीदृशं क्रोधम् । लोकद्वयविराधकम् इहपरलोकनाशकम् । क्रोधनिमित्ते क्रोधकारणे संप्राप्ते सतीति सूत्रार्थः ॥५०॥ अथ कर्मणः दुःसाध्यत्वमाह ।

941) यद्यद्य—अद्य यदि को ऽपि मां कर्मपीडितं स्वस्थं सुखिनं करोति । किं कृत्वा । स्फुटं प्रगटं दोषं कर्मजनितं चिकित्सित्वा चिकित्सां कृत्वा । स एवाचिकित्सकः अकृत्रिमः अकृतः सुहृत् मित्रम् । इति सूत्रार्थः ॥५१॥ अथ पुनः कर्मासाध्यतामाह ।

942) हत्वा स्वपुण्य—इह जगति यः पुमान् मद्दोषं मम कर्मजं दोषं निकृन्तति छेदयति । किं कृत्वा । स्वपुण्यसंतानं निजपुण्यसमूहं हत्वा । यथा यस्मात् । तस्मै मद्दोषनिकृन्तनकर्त्रे यदि रुष्यामि रोषं कुर्वे, तदा मदन्यः मत्तो ऽधमो ऽन्यः कः । न को ऽपि । इति सूत्रार्थः ॥५२॥ अथ यतिनः क्षान्तिसद्रूपमाह ।

943) आक्रुष्टो ऽहं—अनेन बन्धुना आक्रुष्टो आक्रोशितो ऽहं हतो नैव । एवकारः पक्षान्तरसूचकः । वा अथवा । हतश्चेत् द्विधा न कृतः द्विखण्डो न कृतः । द्विधा कृतश्चेत् हतो न । कः । मदीयो धर्मः । इति सूत्रार्थः ॥५३॥ अथ निःश्रेयसि पथि प्रवृत्तानां विघ्ना भवन्तीत्याह ।

मुनि क्रोधके निमित्तके उपस्थित होनेपर भी इस आगे कही जानेवाली भावनाका चिन्तन करते हुए दोनों लोकोंके विघातक उस क्रोधपर विजय प्राप्त किया करते हैं ॥ ५० ॥

वह भावना इस प्रकार है—यदि आज कोई कर्मसे पीड़ित मेरे दोषकी चिकित्सा करके मुझे स्वस्थ—नीरोग (आत्मस्थ)—करता है तो उसे स्पष्टतया अकृत्रिम (स्वयं प्राप्त) मित्र ही समझना चाहिए ॥ ५१ ॥

जो अपने पुण्यकी परम्पराको नष्ट करके मेरे दोषको दूर करता है उसके ऊपर यदि मैं यहाँ क्रोध करूँगा तो मुझसे निकृष्ट दूसरा कौन होगा ? कोई नहीं ॥ ५२ ॥

यदि कोई अपशब्द कहता है—गाली देता है—तो मुनि उस समय यह विचार करते हैं कि मेरे लिए इसने अपशब्द ही तो कहे हैं, मुझे कुछ मारा तो नहीं है । यदि वह कदाचित्

१. All others except P J N T विरोधकम् । २. M S T F V X Y संप्राप्ते भजन्तो, N भावयेत् भावना° । ३. P L F तद्यथा– । ४. L F V यदद्य, T यद्यपि, J यथाद्य । ५. F आक्रुष्टो ऽहं । ६. N हतो । ७. Y हतो नैव द्विधा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

944) संभवन्ति महाविघ्ना इह निःश्रेयसार्थिनाम् ।
ते चेत् किल समायाताः समत्वं संश्रयाम्यतः ॥५४

945) चेन्मामुद्दिश्य भ्रश्यन्ति शीलशैलात्तपस्विनः ।
अमी अतो ऽत्र मज्जन्म परध्वंसाय[1] केवलम् ॥५५

946) प्राङ्मया यत्कृतं कर्म तन्मयैवोपभुज्यते ।
मन्ये निमित्तमात्रो ऽन्यः सुखदुःखोद्यतो जनः ॥५६

944) संभवन्ति—इह जगति निःश्रेयसार्थिनां मोक्षं गन्तुकामानां महाविघ्नाः संभवन्ति । किलेति सत्ये । चेत्ते विघ्नाः समायाताः उपस्थिताः । अतः कारणात् समत्वं संश्रयामि । इति सूत्रार्थः ॥५४॥ अथात्मजन्मनो निन्दामाह ।

945) चेन्माम्—अमी तपस्विनः चेत् शीलशैलात् ब्रह्मचर्याचलात् भ्रश्यन्ति पतन्ति । किं कृत्वा । मामुद्दिश्य । अत्र भवे । अतः मज्जन्म केवलं क्लेशाय । इति सूत्रार्थः ॥५५॥ अथ स्वकृतं कर्म स्वयमेवोपभुज्यते इत्याह ।

946) प्राङ्मया—मया प्राक् पूर्वं शुभाशुभं कर्म कृतं तत्कर्म शुभाशुभं मयैवोपभुज्यते । अहं मन्ये । अन्यः सुखदुःखोद्यतो जनः । कः । निमित्तमात्रः । कर्मणि भोक्तव्ये सहकारिकारणम् । इति सूत्रार्थः ॥५६॥ अथ क्रोधादिभिर्ज्ञाततत्त्वा न भिद्यन्तीत्याह ।

मारने भी लग जावे तो वे विचार करते हैं कि इसने मुझे मारा ही तो है, मेरे कुछ दो टुकड़े तो नहीं किये—प्राणघात तो नहीं किया । कदाचित् वह प्राणोंके घातमें ही प्रवृत्त हो जाता है तो वे सोचते हैं कि इसने मेरे शरीरका ही घात किया है, मेरे धर्मका कुछ घात नहीं किया—उसका तो उसने संरक्षण ही किया है; अतएव वह मेरा बन्धु (हितैषी) ही हुआ । फिर भला उसके ऊपर क्रोध क्यों करना चाहिए ? अर्थात् उसके ऊपर क्रोध करना उचित नहीं है ॥ ५३ ॥

यहाँ जो मोक्षके अभिलाषी हैं उनके मार्गमें बहुत बड़े विघ्नोंकी सम्भावना है । तब यदि वे विघ्न आकर उपस्थित हुए हैं तो मैं समताभावका आश्रय लेता हूँ—उनके कारण क्षोभको प्राप्त होना उचित नहीं है ॥ ५४ ॥

यदि मेरा उद्देश करके—मुझे मार्गभ्रष्ट होता हुआ देखकर—ये तपस्वी शीलरूप पर्वतसे गिरते हैं तो फिर यहाँ मेरा जन्म—उत्पन्न होना—केवल दूसरोंके विनाशका ही कारण होगा ॥ ५५ ॥

मैंने पूर्वमें जो कर्म किया है उसका फल मुझे ही भोगना है । यदि कोई अन्य प्राणी मेरे उस सुख या दुखमें उद्यत होता है तो उसे मैं केवल निमित्त मात्र ही मानता हूँ ॥ ५६ ॥

१, All others except T X Y परक्लेशाय, P reads this verse on the margin ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

947) मदीयमपि चेच्चेतः क्रोधाद्यैर्विप्रलभ्यते[1] ।
अज्ञातज्ञाततत्त्वानां को विशेषस्तदा भवेत् ॥५७[2]

948) न्यायमार्गोपपन्ने[3] ऽस्मिन् कर्मपाके पुरःस्थिते ।
विवेकी कस्तदात्मानं क्रोधादीनां वशं नयेत् ॥५८

949) सहस्व प्राक्तनासातफलं स्वस्थेन चेतसा ।
निष्प्रतीकारमालोक्य भविष्यद्दुःखशङ्कितः[4] ॥५९

947) मदीयमपि—कं प्रति कश्चिद् ज्ञानी प्राह । मदीयमपि चेत् यदि चेतो मनो विप्रलुप्यते । तदा अज्ञातज्ञाततत्त्वानां को विशेषो भवेत् । मदीयस्य चेतो न विप्रलुप्यते । ज्ञाततत्त्वात् । अन्येषां तु लुप्यते अज्ञाततत्त्वात् । इति सूत्रार्थः ॥५७॥ अथ पूर्वोपार्जितकर्मविपाके समुपस्थिते विवेको क्रोधाद्यैरात्मानं न वशं कर्तव्यमाह ।

948) न्यायमार्गोपपन्ने—तदा को विवेको आत्मानं क्रोधाद्यैर्वशं नयेत् प्रापयेत् । क्व सति । अस्मिन् कर्मपाके कर्मोदये पुरःस्थिते । कीदृशेऽस्मिन् । न्यायमार्गोपपन्ने न्यायमार्गाश्रिते । इति सूत्रार्थः ॥५८॥ अथ प्रागर्जितकर्मफलं सहनीयमित्यत आह ।

949) सहस्व—रे भव्य, प्राक्तनासातफलं पूर्वोपार्जितदुःखफलं सहस्व । केन । स्वस्थेन चेतसा । किं कृत्वा । निःप्रतीकारं पूर्वोपार्जितदुःखं प्रतीकाररहितम् आलोक्य । कीदृशः । भविष्यद्दुःखशङ्कितः आगामिदुःखशङ्कितः । इति सूत्रार्थः ॥५९॥ अथोदिताः क्रोधादयः शमश्रियं विलोपयन्ति इत्याह ।

यदि मेरा भी मन इन क्रोधादि कषायोंके द्वारा ठगा जाता है, अर्थात् वस्तुस्वरूपको जानते हुए भी यदि मैं क्रोधादि कषायोंके वशीभूत होता हूँ तो फिर अतत्त्वज्ञ और तत्त्वज्ञ इन दोनोंमें भला भेद ही क्या रहेगा ? कुछ भी नहीं ॥ ५७ ॥

यह कर्मका फल जब न्यायमार्गसे संगत है तब उसके उपस्थित होनेपर कौन-सा विवेकी जीव अपनेको क्रोधादि कषायोंके वशमें ले जाता है ? विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि प्राणीने अच्छा या बुरा जो भी कर्म किया है उसका सुख-दुख रूप फल उसे न्यायमार्गसे भोगना ही चाहिए । ऐसी अवस्था में यदि वह पूर्वकृत कर्मका फल किसीके निमित्तसे आकर उपस्थित हो जाता है तो मुझे उस निमित्तके ऊपर क्रोध क्यों करना चाहिए ? नहीं करना चाहिए, क्योंकि, उसका फल तो मुझे किसी न किसी निमित्तके आश्रयसे अनिवार्यरूपमें भोगना ही था । ऐसा विचार कर संयमी जीव किसीके भी ऊपर क्रोध नहीं करता है ॥५८॥

हे आत्मन् ! तू पूर्वकृत असातावेदनीयके फलको प्रतीकाररहित देखकर आगामी दुखसे भयभीत होता हुआ शान्त चित्तसे सह । विशेषार्थ—दुखके उपस्थित होनेपर साधु विचार करता है कि हे आत्मन् ! तूने पूर्वमें जिस असातावेदनीय कर्मको उपार्जित किया है उसका यह दुखरूप फल इस समय प्राप्त हुआ है । अतएव तू उसे प्रतीकार रहित देखकर

१. All others except P विप्रलुप्यते । २. P writes this verse on the margin, N interchanges Nos. 54 & 57 । ३. All others except P N न्यायमार्गप्रपन्ने । ४. F V दुःखपीडितः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

950) उद्दीपयन्तो रोषाग्निं बहु विक्रम्य विद्विषः ।
मन्ये विलोपयिष्यन्ति क्वचिन्मत्तः शमश्रियम् ॥६०

951) अप्यसह्ये समुत्पन्ने महाक्लेशसमुत्करे ।
तुष्यत्यपि च विज्ञानी प्राक्कर्मविलयोद्यतः ॥६१

952) यदि वाक्कण्टकैर्विद्धो नावलम्बे क्षमामहम् ।
ममाप्याक्रोशकादस्मात् को विशेषस्तदा भवेत् ॥६२

953) विचित्रैर्वधबन्धादिप्रयोगैर्न चिकित्सति ।
यद्यसौ मां तदा क्व स्यात्संचितासातनिष्क्रयः ॥६३

950) उद्दीपयन्तः—अहं मन्ये । विद्विषः शत्रवः । रोषाग्निं क्रोधाग्निमुद्दीपयन्तः प्रकटी-कुर्वन्तः । बहु विक्रम्य पराक्रमं कृत्वा विलोपयिष्यन्ति । क्वचिन्मत्तः सकाशात् (?) शमश्रियम् । इति सूत्रार्थः ॥६०॥ अथ समुपस्थिते क्लेशे विज्ञानी मोदत इत्याह ।

951) अप्यसह्ये—अपि पक्षान्तरे । च पादपूरणे । विज्ञानी तुष्यति मोदते । क्व सति । महाक्लेशसमुत्करे क्लेशसमूहे । असह्ये ऽपि असहनीये ऽपि समुत्पन्ने सति । कीदृशो विज्ञानी । प्राक्कर्मविलयोद्यतः पूर्वार्जितकर्मक्षयसावधानः । इति सूत्रार्थः ॥६१॥ अथ वाक्स्वरूपं दर्शयति ।

952) यदि वाक्—यद्यहं वाक्कण्टकैर्विद्धः क्षमां नावलम्बे नाश्रितवान्, तदा अस्माद् आक्रोशकात् ममापि को विशेषो भवेत् । न को ऽपि भवेदिति सूत्रार्थः ॥६२॥ अथ पुनः शत्रुस्व-भावमाह ।

953) विचित्रैः—यद्यसौ शत्रुः मां न चिकित्सति उपचारं न करोति । विचित्रैर्नानाप्रकारैः वधबन्धादिप्रयोगैस्तदा संचितासातनिष्क्रियः पूर्वसंचितदुःखनिर्गमः क्व स्यादिति सूत्रार्थः ॥६३॥ अथ प्राक् समभ्यस्तोपशमस्वभावमाह ।

शान्तचित्तसे सह । और यदि तू उस न्यायप्राप्त दुखको शान्तचित्तसे नहीं सहता है तो पुनः असातावेदनीयका बन्ध अनिवार्य होनेसे तुझे भविष्यमें फिर भी दुख सहना पड़ेगा। अतएव उससे भयभीत होकर तू इस न्यायप्राप्त दुखको समताभावसे सहन कर ॥५९॥

ये शत्रु बड़ी वीरतासे मेरी क्रोधरूप अग्निको भड़काकर कहीं मेरी शान्तिरूप लक्ष्मीको मुझसे पृथक् कर देंगे, ऐसा मैं मानता हूँ ॥६०॥

असह्य अतिशय तीव्र कष्टसमूहके भी उत्पन्न होनेपर विवेकी जीव पूर्वकृत कर्मके नाशमें उद्यत होकर उससे सन्तुष्ट ही होता है, न कि विकल ॥६१॥

यदि वचनरूप काँटोंसे विद्ध होकर मैं क्षमाका आश्रय नहीं लेता हूँ—क्रोधको प्राप्त होता हूँ—तो फिर मुझमें इस गाली देनेवालेकी अपेक्षा विशेषता ही क्या रहेगी ? कुछ भी नहीं—मैं भी उसीके समान हो जाऊँगा ॥६२॥

यदि वह अनेक प्रकारके मारने व बाँधने आदि प्रयोगोंके द्वारा मेरी चिकित्सा (इलाज) नहीं करता है तो मेरे पूर्वसंचित असातावेदनीय कर्मका निर्गमन (निर्जरा) कहाँसे हो सकता ? नहीं हो सकता ॥६३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

954) यः शमः प्राक्समभ्यस्तो विवेकज्ञानपूर्वकः।
तस्यैते ऽद्य परीक्षार्थं प्रत्यनीकाः समुत्थिताः ॥६४

955) यदि प्रशमसीमानं[1] भित्त्वा रुष्यामि शत्रवे।
उपयोगः कदास्य स्याच्चदा मे ज्ञानचक्षुषः ॥६५

956) अयत्नेनापि सैवेयं संजाता कर्मनिर्जरा।
चित्रोपायैर्ममानेन यत्कृता भर्त्स्ययातना ॥६६

957) [2]ममापि चेद्द्रोहमुपैति[3] मानसं परेषु सद्यः[4] प्रतिकूलवर्तिषु।
अपारसंसारपरायणात्मनां किमस्ति तेषां मम वा विशेषणम् ॥६७

954) यः शमः—यः शमः प्राक्समभ्यस्तः। कीदृशः। विवेकज्ञानपूर्वकः। तस्य प्रागभ्यस्तोपशमस्याद्य परीक्षार्थम् एते प्रत्यनीकाः शत्रवः समुत्थिताः ॥६४॥ अथ शमं भित्त्वा क्रोधं कुर्वे तदा मे धर्माभावमाह।

955) यदि प्रशम—यदि अहं शत्रवे वैरिणे रुष्यामि। किं कृत्वा। प्रशममर्यादां भित्त्वा। अस्य शत्रोः उपयोगः। कदा। तदा। मे मम ज्ञानचक्षुषः स्यात्। इति सूत्रार्थः ॥६५॥ अथ पुनः शत्रोः कृत्यमाह।

956) अयत्नेनापि—इयं सा कर्मनिर्जरा संजाता अयत्नेनापि। यत् यस्मात्कारणात्। अनेन शत्रुणा मम भर्त्स्ययातना कृता अपकारवचनपूर्वकं पीडा कृतेति। 'भर्त्स्यं चापकारवाग्' इति शेषनागः। इति सूत्रार्थः ॥६६॥ अथ मम ज्ञानवतो ऽपि क्रोधाभावः इत्याह। उक्तं च शास्त्रान्तरे।

957) ममापि—परेषु शत्रुषु मह्यं प्रतिकूलवर्तिषु विपरीतकारिषु। ममापि चेतः मानसं

मैंने विवेकज्ञानपूर्वक जिस शान्तिका पहिले अभ्यास किया है, इस समय उसकी परीक्षाके लिए ये शत्रु उपस्थित हुए हैं ॥६४॥

यदि मैं इस समय शान्तिकी मर्यादाको लाँघकर शत्रुके ऊपर क्रोध करता हूँ तो फिर मेरे इस ज्ञानरूप नेत्रका उपयोग कब हो सकता है ? विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि ऐसे समयमें साधु यह विचार करता है कि मुझे जो विवेक-बुद्धि प्राप्त है उससे यह विचार करना चाहिए कि संसारमें मेरा कोई भी शत्रु व मित्र नहीं है। यदि कोई वास्तविक शत्रु है तो वह मेरा ही पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म है और उसे यह वधबन्धनादिके द्वारा मुझसे पृथक् कर रहा है—उसकी निर्जराका कारण बन रहा है। अतएव ऐसे उपकारीके ऊपर क्रोध करनेसे मेरी अज्ञानता ही प्रमाणित होगी। ऐसा सोचकर वह क्रोधके ऊपर विजय प्राप्त करता है ॥६५॥

इसने अनेक प्रकारके उपायों द्वारा जो मुझे निन्दाके साथ पीड़ा की है वही यह बिना किसी प्रकारके प्रयत्नके मेरी कर्मनिर्जराका कारण हुई है—उससे मेरे पूर्वकृत कर्मकी निर्जरा ही हुई है; यह इसने मेरा बड़ा उपकार किया है ॥६६॥

कहा भी है—इन विरुद्ध आचरण करनेवाले दूसरे प्राणियोंके विषयमें यदि मेरा भी

१. All others except P प्रशममर्यादां। २. P writes this verse on the margin, J R उक्तं च शास्त्रान्तरे। ३. N चेद्रोष°, J चद्रोह°। ४. N T J मह्यं for सद्यः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

958) [1]अपारयन् बोधयितुं पृथग्जनानसत्प्रवृत्तेष्वपि[2] नासदाचरेत् ।
अशक्नुवन् पीतविषं चिकित्सितुं पिबेद्विषं कः स्वयमप्यबालिशः ॥६८

959) [[3]न चेदयं मां दुरितैः[4] प्रकम्पयेदहं[5] यतेयं प्रशमाय नाधिकम् ।
अतो ऽतिलाभो ऽयमिति प्रतर्कयन् विचाररूढा हि भवन्ति निश्चलाः ॥६८*१]

चित्तद्रोहम् उपैति । अपारसंसारे परायणात्मनां स्थितात्मनां तेषां, मम वा विशेषणम् । इति सूत्रार्थः ॥६७॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

958) अपारयन्—जनान् पृथग् बोधयितुं ज्ञापयितुम् अपारयन् असमर्थयन् । असत्प्रवृत्तिषु विरुद्धतया प्रवर्तमानेषु असत् नाचरेत् । पीतविषं चिकित्सितुम् उपचरितुम् अशक्नुवन् । कः । बालिशः मूर्खः । स्वयमपि विषं पिबेत् । इति सूत्रार्थः ॥६८॥ अथ यथा शत्रुः प्रकम्पयति, तदा प्रशमो वर्धत इत्याह ।

959) न चेदयं—अयं शत्रुः मां चेत् दुरितैः पापैर्न विकम्पयेत् । अहम् अधिकं प्रशमाय न यतेयम् । अतः कारणात् अयमतिलाभ इति प्रतर्कयन् विचारयन् । हि निश्चितम् । विचाररूढा विचारवन्तः निश्चला भवन्ति । इति सूत्रार्थः ॥६८*१॥ अथ केषां संतोषार्थं धनादिकं त्यजतीत्याह ।

मन द्वेषभावको प्राप्त होता है तो फिर अपरिमित संसार-परिभ्रमणमें तत्पर रहनेवाले उन लोगोंसे मुझमें विशेषता ही क्या रह जाती है ? कुछ भी नहीं ॥६७॥

सज्जन मनुष्य कुमार्गमें प्रवृत्त होनेपर भी यदि अन्य जनोंके प्रबोधित करनेमें असमर्थ होता है तो उनके समान उसे स्वयं निन्द्य आचरण नहीं करना चाहिए । यह ठीक भी है, क्योंकि ऐसा कौन-सा चतुर वैद्य है जो विषको पिये हुए अन्य मनुष्यकी चिकित्सा करनेमें असमर्थ होकर स्वयं भी विषको पीता हो ? अर्थात् जिस प्रकार कोई भी बुद्धिमान् वैद्य विषका पान करनेवाले अन्य मनुष्यके उस विषकी यदि चिकित्सा नहीं कर सकता है तो वह स्वयं कुछ विषका पान नहीं करता है उसी प्रकार यदि कोई साधु कुमार्गमें प्रवृत्त रहनेवाले अन्य मनुष्योंका उससे उद्धार नहीं कर सकता है तो उसका स्वयं कुमार्गमें प्रवृत्त होना—स्वयं क्रोधादि कषायोंके वशीभूत होना—उचित नहीं है ॥६८॥

यदि यह मुझे पापोंसे कम्पायमान नहीं करता है—'यह पूर्वकृत अशुभ कर्मका फल है' इस विचारको उत्पन्न नहीं कराता है । अथवा वध-बन्धनादिरूप दुर्व्यवहारोंसे यदि क्षुब्ध नहीं करता है—तो मैं राग-द्वेषकी शान्तिके लिए अधिक प्रयत्न नहीं कर सकता था । यह मेरे लिए बड़ा भारी लाभ है । इस प्रकार विचार करता हुआ साधु क्रोधादि विकारों को जीतता है । ठीक है—जो मनुष्य विचारमें तत्पर होते हैं वे अपने कार्यमें दृढ़ रहा करते हैं ॥६८*१॥

१. P writes this verse on the margin । २. J प्रवृत्तिष्वपि । ३. P om. । ४. N दुरिते । ५. N T J X विकम्पये° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

960) [1]परपरितोषनिमित्तं त्यजन्ति केचिद्धनं शरीरं वा ।
दुर्वचनबन्धनाद्यैर्वयं रुषन्तो न लज्जामः ॥६९

961) अस्य[2] हानिर्ममात्मार्थसिद्धिः स्यान्नात्र संशयः ।
हतो यदि न रुष्यामि रोषश्चेद् व्यत्ययस्तदा ॥७०

962) प्राणात्यये ऽपि संपन्ने प्रत्यनीक[3]प्रतिक्रिया ।
मता सद्भिः स्वसिद्ध्यर्थं[4] क्षमैका स्वस्थचेतसाम् ॥७१

963) इयं निकषभूरद्य संपन्ना पुण्ययोगतः ।
समत्वं[5] किं प्रपन्नो ऽस्मि[6] न वेत्यद्य परीक्ष्यते ॥७२

960) परपरितोष—परपरितोषनिमित्तं परेषां संतोषनिमित्तं वयं रुषन्तः कोपं कुर्वन्तः न लज्जामः । दुर्वचनबन्धनाद्यैः । इति सूत्रार्थः ॥६९॥ अथ मारणोद्यतस्य पापं भवतीत्यादिकमाह ।

961) अस्य हानिः—हन्तुर्हननशीलस्य हानिर्भवति । ममात्मार्थसिद्धिः स्यात् । नात्र संदेहः हन्तुर्यदि न रुष्यामि । चेत् रोषः क्रियते तदा व्यत्ययः । हन्तुरात्मार्थसिद्धिः मम हानिः स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥७०॥ अथ प्राणापहारकत्वे ऽपि क्षमायुक्तप्रतिक्रियामाह ।

962) प्राणात्यये—प्राणात्यये प्राणनाशे ऽपि प्रत्यनीकप्रतिक्रिया शत्रोः प्रतीकारो न कर्तव्यः इति शेषः । सद्भिः सत्पुरुषैः स्वसिद्ध्यर्थम् एका क्षमा स्वस्थचेतसां मता । इति सूत्रार्थः ॥७१॥ अथ क्षमास्वरूपमाह ।

963) इयं निकषभूः—अद्य इयं क्षमा निकषभूः परीक्षाभूमिः संपन्ना । कस्मात् । पुण्ययोगतः । अद्य । च पुनः । क्षमा न परीक्ष्यते । समत्वं किं प्रपन्नो ऽस्ति । इति सूत्रार्थः ॥७२॥ अथ प्रशमस्वरूपमाह ।

वह और भी विचार करता है--कितने ही परोपकारी जन दूसरोंको सन्तुष्ट करनेके लिए धन और शरीरका भी त्याग कर दिया करते हैं। परन्तु हम दूसरोंके द्वारा प्रयोगमें लाये गये दुष्ट वचन और बन्धन आदिसे क्रोधको प्राप्त होते हुए लज्जित नहीं होते हैं-- इसके लिए अवश्य ही लज्जित होना चाहिए ॥६९॥

यदि इसके द्वारा पीड़ित होकर मैं क्रोध नहीं करता हूँ तो इसकी हानि (पापबन्ध) और मेरा आत्मप्रयोजन ही सिद्ध होता है, परन्तु यदि मैं उसके ऊपर क्रोध करता हूँ तो उससे विपरीत अवस्था होती है—उसका भला न भी हो, परन्तु मेरी हानि (दुर्गति) निश्चित है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥७०॥

प्राणोंके नष्ट होनेपर भी शान्तचित्त साधुजनोंकी प्रतिकूल प्रतिक्रिया (प्रतीकार) एक क्षमा ही है, जो आत्मसिद्धिका कारण है। इसीलिए वह सत्पुरुषोंको विशेष अभीष्ट है ॥७१॥

आज यह (वध-बन्धनादिरूप बाधा) पुण्यके संयोगसे मुझे परीक्षाका स्थान प्राप्त हुआ है। मैं क्या समताभावको—राग-द्वेषसे रहित अवस्थाको—प्राप्त हो चुका हूँ अथवा

१. P writes this verse on the margin। २. All others except P J हन्तुर्हानिं, J हन्तुर्यदि। ३. M N प्रत्यनीका। ४. J सिद्ध्यर्थः। ५. All others except P ह्यमत्वं। ६. J प्रपन्नो ऽस्ति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

964) स एव प्रशमः श्लाघ्यः स च श्रेयोनिबन्धनम्[1] ।
अदयैर्हन्तुकामैर्यो न पुंसां कश्मलीकृतः ॥७३

965) चिराभ्यस्तेन किं तेन शमेनास्त्रेण वा फलम् ।
व्यर्थीभवति यत्कार्ये समुत्पन्ने शरीरिणाम् ॥७४

966) प्रत्यनीके समुत्पन्ने यद्धैर्यं तद्धि शस्यते ।
स्यात्सर्वो ऽपि जनः स्वस्थः सत्यशौचक्षमास्पदम् ॥७५

964) स एव—स एव प्रशमः श्लाघ्यः स्पृहणीयः । च पुनः । स एव प्रशमः श्रेयोनिबन्धनं कल्याणकारणम् । स इति कः । यः हन्तुकामैर्हन्तुमुद्यतैः । पुंसां पुरुषाणां कश्मलीकृतः मलिनीकृतः इति सूत्रार्थः ॥७३॥ अथ येन शमेन पुंसां कार्यसिद्धिर्न भवेत् तदाह ।

965) चिराभ्यस्तेन—तेन शमेन उपशमेन । चिराभ्यस्तेन चिरकालाधीतेन किम् । वा अथवा । अस्त्रेणायुधेन शरीरिणां कार्ये समुत्पन्ने यत्फलं व्यर्थीभवति । इति सूत्रार्थः ॥७४॥ अथ सति परीषहे धैर्यश्लाघ्यतामाह ।

966) प्रत्यनीके—प्रत्यनीके परीषहे समुत्पन्ने यद्धैर्यं विशस्यते तत् प्रशस्यते । सर्वो ऽपि जनः सत्यशौचक्षमास्पदम् । इत्यजहल्लिङ्गत्वात् नपुंसकत्वम् । एतादृशः स्वस्थः संतोषितः स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥७५॥ अथ मनसः रागद्वेषाभावत्वमाह ।

नहीं, इस बातकी यहाँ आज परीक्षा की जा रही है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार शाणोपल (कसौटी) पर कसकर सुवर्णके खरे-खोटेपनकी परीक्षा की जाती है उसी प्रकार इन उपद्रवोंके द्वारा मेरी क्षमाशीलताकी भी परीक्षा की जा रही है। यदि मैं क्रोधको प्राप्त होकर इस समय इस परीक्षामें असफल हो जाता हूँ तो अबतकका मेरा वह सब परिश्रम व्यर्थ हो जावेगा। यह विचार करके साधु प्राप्त हुए उपद्रवको शान्तिपूर्वक सहता है ॥७२॥

मनुष्योंका वही प्रशमभाव प्रशंसनीय है और वही मोक्षका भी कारण है जो कि प्राणघातके इच्छुक दुष्टजनोंके द्वारा मलिन नहीं किया जाता है। अभिप्राय यह कि इस प्रकारके उपद्रवको शान्तिके साथ सह लेनेपर मोक्षकी प्राप्ति होती है और उसके विपरीत क्रोधादिको प्राप्त होनेपर नरकादि दुर्गतिकी प्राप्ति होती है ॥७३॥

प्राणियोंने जिस शमभावका चिरकालसे अभ्यास किया है वह यदि कार्यके उपस्थित होनेपर व्यर्थ हो जाता है तो फिर उसका कुछ भी फल नहीं है। जिस प्रकार कि जिन प्राणियोंने बहुत समयसे जिस शस्त्रसंचालनका अभ्यास किया है वह यदि युद्धके समय व्यर्थ होता है—उसके द्वारा शत्रुका शिरच्छेद नहीं होता है—तो उनके उस शस्त्राभ्यासका कुछ भी फल नहीं होता ॥७४॥

प्रतिकूलताके उत्पन्न होनेपर—क्रोधादिके उत्पादक कारणोंके उपस्थित होनेपर जिस धैर्यका आलम्बन लिया जाता है वह धैर्य ही प्रशंसनीय माना जाता है। अन्यथा—प्रति-

१. P निबन्धनः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

967) वासीचन्दनतुल्यां[1] तैर्वृत्तिमालम्ब्य केवलम् ।
आरब्धं सिद्धिमायातं[2] प्राचीनैर्मुनिसत्तमैः ॥७६

968) कृतैर्वान्यैः स्वयं जातैरुपसर्गैः कलङ्कितम् ।
येषां चेतः कदाचित्तैर्न प्राप्ताः स्वेष्टसंपदः[3] ॥७७

969) प्राक्कृताय[4] न रुष्यन्ति कर्मणे निर्विवेकिनः ।
तस्मिन्नपि च क्रुध्यन्ति यस्तदेव चिकित्सति ॥७८

967) **वासीचन्दन**—प्राचीनैः पूर्वजैर्मुनिसत्तमैः मुनिप्रधानैः सिद्धिमानीतम् आरब्धम् । किं कृत्वा । केवलं वासीचन्दनतुल्यान्तर्वृत्तिमालम्ब्य परशुघातचन्दनलेपयोतुंल्या अन्तर्वृत्तिः यत्र स्यात् वासीचन्दनतुल्यान्तर्वृत्तिः तामवलम्ब्याश्रित्य इति सूत्रार्थः ॥७६॥ अथ परोषह-भग्नचेतसां कार्यसिद्धिर्न भवेदित्याह ।

968) **कृतैर्वान्यैः**—येषां मुनिवराणां चेतः उपसर्गैः कलङ्कितम् । कीदृशैरुपसर्गैः । अन्यैर्म्लेच्छादिभिः कृतैः । वा अथवा । स्वयं जातैः । आत्मना संभूतैः । तैः मुनिभिः । स्वेष्टसंपदः कदाचिन्न संप्राप्ताः । इति सूत्रार्थः ॥७७॥ अथ पूर्वकृतकर्मणे सन्तो न कुप्यन्तीत्याह ।

969) **प्राक्कृताय**—विवेकिनः *प्राक्कृताय पूर्वं कृताय कर्मणे न रुष्यन्ति न रोषं यान्तीति । च पुनः । तस्मिन्नपि शत्रौ न क्रुध्यन्ति, न क्रोधं कुर्वन्ति । यः शत्रुः तदेव प्राक्कृतं कर्म चिकित्सति निराकर्तुमुद्यतः । इति सूत्रार्थः ॥७८॥ अथोपकारिणि कः कुप्येदित्याह ।

कूल सामग्रीके अभावमें तो—सब ही मनुष्य शान्त रहकर सत्य, शौच एवं क्षमाका आश्रय लिया करते हैं ॥७५॥

वसूला और चन्दनके समान स्वभाववाले प्राचीन श्रेष्ठ मुनियोंने केवल उसी स्थितिका आश्रय लेकर अपने प्रारम्भ किये हुए रत्नत्रयसाधनरूप कार्यको सिद्धिको प्राप्त कराया है ॥ विशेषार्थ—जिस प्रकार वसूलासे काटा जानेवाला चन्दन अपनी स्वाभाविक सुगन्धसे सबको सुगन्धित ही करता है उसी प्रकार सत्पुरुष दूसरोंके द्वारा पीड़ित किये जानेपर भी अपनी स्वाभाविक क्षमाशीलतासे उनके ऊपर क्रोध न करके उनके हितकी कामना ही करते हैं । इसी मार्गका आश्रय लेकर पूर्व समयमें मुमुक्षु महर्षियोंने रत्नत्रय-को सिद्ध करके मोक्षसुखको प्राप्त किया है ॥७६॥

इसके विपरीत जिनका चित्त अन्य प्राणियोंके द्वारा किये गये अथवा स्वयं ही उत्पन्न हुए उपद्रवोंके द्वारा कलंकित—क्रोधादि विकारोंसे मलिन—किया गया है वे अपनी अभीष्ट सम्पत्ति (स्वर्ग-मोक्षादि)को कभी भी नहीं प्राप्त कर सके हैं ॥७७॥

अविवेकी जीव अपने द्वारा उपार्जित स्वाभाविक कर्मके लिये तो रुष्ट नहीं होते हैं, किन्तु जो उसीकी चिकित्सा कर रहा है—वध-बन्धनादिके द्वारा उक्त कर्मकी निर्जराका कारण बन रहा है—उसके ऊपर रुष्ट होते हैं, यह खेदकी बात है ॥७८॥

१. M N तुल्यं तै°, All others except P M N X तुल्यान्तर्वृत्तिं । २. M N °मायातुं, L S F V J X Y R सिद्धिमानीतं । ३. M N श्रेष्ठसंपदः । ४. M प्राक्कृताय ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

970) यः श्वभ्रान्मां समाकृष्य क्षिप्यत्यात्मानमस्तधीः ।
वधबन्धनिमित्ते ऽपि कस्तस्मै[1] विप्रियं चरेत् ॥७९[2]

971) यस्यैव कर्मणो नाशाज्जन्मदाहः प्रशाम्यति ।
तच्चेद्भुक्तिं[3] समायातं सिद्धं तर्ह्यद्य वाञ्छितम् ॥८०

972) अनन्तक्लेशसप्तार्चिःप्रदीप्तेयं भवाटवी ।
तत्रोत्पन्नैर्न किं सह्यस्तदुत्थो व्यसनोत्करः ॥८१

970) यः श्वभ्रान्मां—यः पुमान् श्वभ्रान्नरकान्मां समाकृष्य निष्कास्य । आत्मानं वधबन्धनिमित्ते वधबन्धकारणे ऽपि क्षिपति । कीदृशः । अस्तधीर्नष्टबुद्धिः । तस्मै उपकारिणे को विप्रियं चरेत् विरूपम् आचरेत् । इति सूत्रार्थः ॥७९॥ अथ कर्मणो जन्मनाशमाह ।

971) यस्यैव—यस्य पूर्वकृतस्य कर्मणो नाशात् । एवकारः निश्चयार्थः । जन्मदाहः भवसंतापः प्रशाम्यति । च पुनः । चेत्तत्कर्म भुक्तिं समायातम् उदयप्राप्तं, तर्हि अद्य जन्मनि वाञ्छितं सिद्धमिति सूत्रार्थः ॥८०॥ अथ संसारस्य क्लेशनाश्यतामाह ।

972) अनन्त—इयं भवाटवी भवारण्यम् अनन्तक्लेशसप्तार्चिःप्रदीप्ता अनन्तक्लेशाग्निज्वलितः । तत्रोत्पन्नैर्भवाटवीजातैः तदुत्थो अनन्तक्लेशाग्निसमुत्थो व्यसनोत्करः कष्टसमूहः किं न सह्यः न सहनीयः । इति सूत्रार्थः ॥८१॥ अथ यदि दुर्जना न भवन्ति तदा कर्म कथं भोक्तव्यमित्याह ।

जो मूर्ख मनुष्य वध-बन्धनादिके निमित्तको उपस्थित करके भी मुझे नरककी ओरसे खींचकर अपनेआपको नरकमें डालता है उसके प्रति अप्रिय (क्रोधादिस्वरूप) व्यवहार कौन करता है ? कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य ऐसे उपकारी प्राणीके ऊपर क्रोध नहीं किया करता है ॥७९॥

जिस कर्मके ही नाशसे संसारका सन्ताप शान्त होता है वह यदि भोगनेमें आ रहा है—इन वध-बन्धनादि उपद्रवोंको शान्तिपूर्वक सह लेनेपर यदि स्वयं निर्जीर्ण हो रहा है—तो मेरा अभीष्ट (कर्मनाश) आज ही सिद्ध हो जाता है ॥८०॥

यह संसाररूप वन अपरिमित कष्टरूप अग्निसे प्रज्वलित हो रहा है। उस संसाररूप वनके भीतर उत्पन्न हुए प्राणियोंको उक्त कष्टरूप अग्निसे उत्पन्न होनेवाले दुखसमूहको क्या नहीं सहना चाहिए ? सहना ही चाहिए॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार जो वन सब ही ओरसे अग्निसे प्रज्वलित हो रहा है उसके भीतर उत्पन्न होनेवाले प्राणियोंको अग्निसे उत्पन्न दुखको सहना ही पड़ता है उसी प्रकार सर्वथा दुखमय इस संसारमें भी जन्म लेनेवाले प्राणियोंको जब वध-बन्धनादिरूप अनेक कष्टोंको सहना ही पड़ता है तब क्यों न उन्हें राग-द्वेषसे रहित होकर शान्तिके साथ सहा जाय ? कारण कि उन्हें शान्तिपूर्वक सह लेनेसे नवीन कर्मोंके आस्रवका निरोध (संवर) होता है और इसके विपरीत उससे व्याकुल होकर राग-द्वेषादिके वशीभूत होनेपर नवीन कर्मोंका बन्ध होता है जो भविष्यमें भी दुखका कारण बननेवाला है ॥८१॥

१. T तस्मिन् । २. V Ms. ends here । ३. All others except P M भुक्तिसमा° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

973) सम्यग्ज्ञानविवेकशून्यमनसः पापा गुणद्वेषिणो[1]
निस्त्रिंशाः प्रशमसत्यसूत्रविमुखाः कार्यं विना वैरिणः[2] ।
दौर्जन्यादि[3]कलङ्किता यदि नरा न स्युर्जगत्यां तदा
कस्मात्तीव्रतपोभिरुन्नतधियः काङ्क्षन्ति मोक्षश्रियम् ॥८२

974) अहो कैश्चित्कर्माण्युदयगतमानीय[4] रभसा-
दशेषं निर्धूतं प्रबलतपसा जन्मचकितैः ।
स्वयं यद्यायातं[5] तदिह मुदमालम्ब्य मनसा
न किं सह्यं धीरैरतुलसुखसिद्धे[6]र्व्यवसितैः ॥८३[7]

973) सम्यग्ज्ञान—यदि एतादृशा नरा जगत्यां न स्युर्न भवेयुः । तदा कस्मात् तीव्रतपोभिरुन्नतधियः उत्कटमतयः मोक्षश्रियं मोक्षलक्ष्मीं काङ्क्षन्ति वाञ्छन्ति । कीदृशा नराः । सम्यग्ज्ञानविवेकशून्यमनसः सम्यग्ज्ञानविवेकाभ्यां शून्यं मनो येषां ते तथा । पुनः कीदृशा नराः । सिद्धान्तसूत्रद्विषः द्वादशाङ्गसूत्रवैरिणः । पुनः कीदृशाः । निस्त्रिंशाः निर्दयाः । पुनः कीदृशाः । परलोकनष्टमतयः । पुनः कीदृशाः । मोहानलोद्दीपिताः मोहाग्निज्वलिताः । पुनः । दौर्जन्यादिकलङ्किताः । इति सूत्रार्थः ॥८२॥ अथ कर्म सह्यमेवेत्याह ।

974) अहो कैश्चित्—अहो इत्याश्चर्ये । कैश्चित् मनुष्यैरनुदयगतम् उदयकालाप्राप्तम् । अशेषं समस्तं कर्म आनीय । रभसा वेगेन तपसा निर्धूतम् । कीदृशैः कैः । जन्मचकितैर्भवभीतैः । यदि तत्कर्म स्वयमायातम् उदयावलिकायां प्राप्तम् । इह भवे किं न सह्यम् । अपि तु सह्यमेव । धीरैः । किं कृत्वा । मनसा मुदं हर्षम् आलम्ब्य आश्रित्य । कीदृशैः धीरैः । अतुलसुखसिद्धेर्व्यवसितैः कृतोद्यमैः । इति सूत्रार्थः ॥८३॥ अथ मायास्वभावमाह ।

यदि लोकमें सम्यग्ज्ञान और विवेकसे शून्य मनवाले, पापी, गुणोंमें द्वेष करनेवाले; प्रशम, सत्य व सिद्धान्तसूत्रसे पराङ्मुख; प्रयोजनके विना भी शत्रुतापूर्ण व्यवहार करनेवाले और दुर्जनता आदिसे दूषित मनुष्य न होते तो फिर उत्कृष्ट बुद्धिके धारक भव्य जीव घोर तपश्चरणके द्वारा मुक्तिरूप लक्ष्मीकी इच्छा ही क्यों करते ? नहीं करते ॥८२॥

आश्चर्य है कि संसारसे भयभीत हुए कितने ही महापुरुषोंने जो कर्मनिषेक उदयमें प्राप्त नहीं था—भविष्यमें उदयको प्राप्त होनेवाला था—उस सबको बलपूर्वक घोर तपश्चरणके द्वारा वर्तमान उदयमें प्राप्त कराकर निर्जीर्ण किया है। फिर यदि वह कर्म स्वयं ही उदयमें आकर प्राप्त हो गया है तो जो धीर मुनि यहाँ अनुपम सुख (मुक्तिसुख)के साधनेमें प्रयत्नशील हैं उन्हें क्या उसे हर्षपूर्ण मनसे सहन नहीं करना चाहिए ? अवश्य सहन करना चाहिए ॥८३॥

१. All others except P T F मनसः सिद्धान्तसूत्रद्विषः, F सर्वज्ञतत्त्वद्विषः, T सर्वज्ञसूत्रद्विषः । २. All others except P निस्त्रिंशाः परलोकनष्टमतयो मोहानलोद्दीपिताः । ३. M रौद्रध्यानकलङ्किता । ४ P गतमप्यानीय बला° । ५. J यद्यायान्तं । ६. Y सुखसिद्धयै । ७. All others except P interchange Nos 83-84 ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

975) वयमिह[1] परमात्मध्यानदत्तावधानाः
परिकलितपदार्थास्त्यक्तसंसारमार्गाः ।
यदि निकषपरीक्षासु[2] क्षमा नो तदानीं
भजति विफल[3]भावं सर्वथैष प्रयासः ॥८४

976) [[4]उक्तं च—
यो धर्मं दहति द्रुमं दव इवोन्मथ्नाति नीतिं लतां
दन्तीवेन्दुकलां विधुन्तुद इव क्लिश्नाति कीर्तिं नृणाम् ।
स्वार्थं वायुरिवाम्बुदं विघटयत्युल्लासयत्यापदं
तृष्णां घर्म इवोचितः कृतकृपालोपः स कोपः कथम् ॥८४*१]

क्रोधकषायजयः[5] ।

975) **वयमिह**—इह जगति वयं यदि निकषपरीक्षासु परीक्षाभूमिषु नो क्षमाः समर्थाः भवेयुः । कीदृशा वयम् । परमात्मध्याने दत्तावधाना दत्तचित्ताः । पुनः कीदृशा वयम् । परिकलितपदार्थाः ज्ञातसकलभावाः । पुनः कीदृशाः । त्यक्तसंसारमार्गाः । तदानीं एष प्रयासः एष उद्यमः सर्वथा विफलभावं भजति । इति सूत्रार्थः ॥८४॥ कोपस्यानौचित्यमाह ।

976) **यो धर्मं**—स कोपः कथम् उचितः । कीदृशः । यः दवः वनाग्निः द्रुमम् इव धर्मं दहति । लताम् एव नीतिं उन्मथ्नाति । कः । दन्ती हस्ती । विधुन्तुदः राहुः इन्दुकलाम् इव । यः नृणां कीर्तिं क्लिश्नाति नाशयति । वायुः अम्बुदं जलदम् इव यः स्वार्थं विघटयति विनाशयति, घर्मः यथा तृष्णां तथा यः आपदम् उल्लासयति वर्धयतीत्यर्थः ॥८४*१॥ इति क्रोधकषायजयो वर्णितः । अथ मदजनितकर्मबन्धं कथयति ।

परमात्मस्वरूपके चिन्तनमें सावधान, वस्तुस्वरूपके ज्ञाता और संसारके कारणभूत पापाचरणका त्याग कर देनेवाले ऐसे हमलोग यदि यहाँ क्षमाकी कसौटीभूत इन परीक्षाओंमें—वध-बन्धनादि अनेक प्रकारके उपद्रवोंके सहनेमें समर्थ नहीं होते हैं तो हमारा यह सब परिश्रम—व्रत-संयमादिका परिपालन—सर्वथा निष्फलताको प्राप्त हो जाता है ॥८४॥

कहा भी है—जो क्रोध धर्मको, दावानल जैसे वृक्षको, जलाता है। हाथी जैसे लताको वैसे जो नीतिको उखाड़ता है। राहु जैसे चन्द्रमाको उसी तरह जो मनुष्योंकी कीर्तिको गिलता है। वायु जैसे मेघको वैसे जो स्वार्थको उड़ाता है। उष्णकाल जिस तरह तृष्णाको बढ़ाता है उसी तरह जो संकटोंको बढ़ाता है। तथा जो कृपाका नाश करता है, ऐसा कोप करना कैसा योग्य है ॥८४*१॥

क्रोधकषायके जीतनेका कथन समाप्त हुआ ॥

१. T वयमपि । २. M N परीक्षां न क्षमामस्तदानीं । ३. J विकलभावं । ४. Only in F X । ५. M विजयः, R °कषायवर्णनं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

977) कुलजातीश्वरत्वादिमदमू[1]च्छीस्तबुद्धिभिः ।
सद्यः संचीयते कर्म नीचैर्गतिनिबन्धनम् ॥८५

978) मानग्रन्थिर्मनस्युच्चैर्यावदास्ते दृढस्तव[2] ।
तावद्विवेकमाणिक्यं प्राप्तमप्यपसर्पति ॥८६

979) प्रोत्तुङ्गमानशैलाग्रवर्तिभिः स्तब्ध[3]बुद्धिभिः ।
क्रियते मार्गमुल्लङ्घ्य पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥८७

980) लुप्यते मानिनः[4] शश्वद् विवेकामललोचनम् ।
ततः प्रच्युवते[5] शीघ्रं शीलशैलाग्रसंक्रमात् ॥८८

977) कुलजातीश्वरत्वादि—सद्यः शीघ्रं कर्म संचीयते । कैः । कुलजातीश्वरत्वादिमदविध्वस्तबुद्धिभिः कुलमदजातिमदईश्वरत्वादिमदैर्विध्वस्ता बुद्धिर्येषां ते कुलजातीश्वरत्वादिमदविध्वस्तबुद्धयः । तैः । तथा कीदृशं कर्म । नीचैर्गतिनिबन्धनं कारणम् । इति सूत्रार्थः ॥८५॥ अथ माने सति विवेकाभाव इत्याह ।

978) मानग्रन्थिः—हे भव्य, ते तव मनसि उच्चैर्यावद् मानग्रन्थिरास्ते दृढः तावद् यावतीः । समाराधिकरणत्वात् (?) ॥८६॥ अथ सति माने धर्ममार्गः वाच्य इत्याह ।

979) प्रोत्तुङ्ग—लुप्तबुद्धिभिर्नष्टमतिभिः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः पूज्या गुर्वादयस्तेषां पूजाव्यतिक्रमः उन्नतमानपर्वतशृङ्गस्थितैः । इति सूत्रार्थः ॥८७॥ अथ मानसद्भावे विवेकाभाव इत्याह ।

980) लुप्यते—पुंसां पुरुषाणां विवेकामललोचनं लुप्यते नश्यति । कस्मात् । मानतः ।

जिनकी बुद्धि कुल, जाति और प्रभुता आदिके मदके मोहसे नष्ट हो चुकी है वे शीघ्र ही नीच गतिके कारणभूत कर्मका संचय करते हैं। अभिप्राय यह है कि ज्ञान, पूजा-प्रतिष्ठा, कुल (पितृपक्ष), जाति (मातृपक्ष), बल, धन-सम्पत्ति, अनशनादि तप और शरीर-सौन्दर्य आदिके विषयमें अभिमान करनेसे प्राणीके जो नीच गोत्र आदि पापकर्मोंका बन्ध होता है उससे वह दुर्गतिके दुखको सहता है ॥८५॥

हे भव्य ! जब तक तेरे हृदयमें अतिशय दृढ मानकी गाँठ विद्यमान है तब तक विवेकरूप मणि प्राप्त होकर भी नष्ट हो जाता है ॥८६॥

जो अभिमानपूर्ण बुद्धिके धारक मनुष्य अतिशय उन्नत मानरूपी पर्वतके शिखरपर स्थित रहते हैं वे समीचीन पद्धतिका उल्लंघन करके पूज्योंकी—अर्हत्-सिद्धादि परमेष्ठियोंकी—पूजाको नष्ट करते हैं। तात्पर्य यह कि अभिमानी मनुष्य अपने सामने अन्य सबको तुच्छ समझा करता है, इसीलिए वह जो अरिहन्त आदि पूजनेके योग्य हैं उनकी भी वह भक्ति-पूजा आदि नहीं करता ॥८७॥

अभिमानी प्राणीका विवेकरूप निर्मल नेत्र निरन्तर छुपा रहता है। इसीलिये वह शीलरूपी पर्वतशिखरके मार्गसे शीघ्र ही च्युत हो जाता है ॥८८॥

१. All others except P मदविध्वस्त । २. L S F X R दृढस्तदा । ३. All others except P लुप्त for स्तब्ध । ४-५. All others except P मानतः पुंसां वि°....प्रच्यवन्ते ततः शीघ्रं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

981) ज्ञानरत्नमपाकृत्य गृह्णात्यज्ञानपन्नगम् ।
गुरूनपि जनान्[1] मानी विमानयति गर्वितः[2] ॥८९

982) करोत्युद्धतधीर्मानाद्विनयाचारलङ्घनम् ।
विराध्याराध्यसंतानं स्वेच्छाचारेण वर्तते ॥९०

983) मानमालम्ब्य मूढात्मा विधत्ते कर्म निन्दितम् ।
कलङ्कयति चाशङ्कश्चरणं[3] चन्द्रनिर्मलम् ॥९१

984) गुणरिक्तेन किं तेन मानेनार्थः प्रसिध्यति ।
तन्मन्ये मानिनां मानं यल्लोकद्वयशुद्धिदम्[4] ॥९२

ततो विवेकामललोचने लुप्ते सति । शीघ्रं शैलाग्रसंक्रमात् स्वाचारपर्वतश्रृङ्गसंक्रमात् प्रच्यवन्ते पतन्तीति सूत्रार्थः ॥८८॥ अथ मानवतो गुरोरवबीरणामाह ।

981) ज्ञानरत्नम्—मानी जनः अज्ञानपन्नगं गृह्णाति । पन्नगं सर्पम् । किं कृत्वा । ज्ञानरत्नम् अपाकृत्य दूरीकृत्य । इति भावः । अपि पक्षान्तरे । गुरून् तत्त्वोपदेशकान् विमानयति अवधीरयति । कीदृशः । मानी गर्वितः अहंकारवान् । इति सूत्रार्थः ॥८९॥ अथ मानेन विनयादि नश्यत इत्याह ।

982). करोत्युद्धत—उद्धतधीर्विनयाचारलङ्घनं भक्तिसेवाचारविलङ्घनं करोति । आ-समन्तात् राध्यन्त इत्याराध्याः । तेषां संतानमाराध्य संतानं विराध्य विरोधयित्वा स्वेच्छाचारेण वर्तते । इति सूत्रार्थः ॥९०॥ अथ पुनर्मानियुक्तश्चरणं कलङ्कयतीत्याह।

983) मानमालम्ब्य—मूढात्मा मूर्खः निन्दितं कुत्सितं कर्म विधत्ते करोति । किं कृत्वा । मानमालम्ब्याश्रित्य । च पुनः । स मूढात्मा अशेषं संपूर्णं चरणं चारित्रं कलङ्कयति । कीदृशम् । चन्द्रनिर्मलम् । इति सूत्रार्थः ॥९१॥ अथ मानेनार्थसिद्धिर्न भवेदित्याह ।

984) गुणरिक्तेन—गुणरिक्तेन गुणशून्येन मानेन तेन किम् अर्थः प्रसिध्यति प्रकर्षेण

मानी मनुष्य ज्ञानरूपी रत्नको नष्ट करके अज्ञानरूप विषको ग्रहण किया करता है तथा वह अभिमानके वशीभूत होकर गुरुजनोंको भी अपमानित करता है ॥८९॥

गर्विष्ठबुद्धि मनुष्य मानके कारण विनयाचारका उल्लंघन करता है—वह गुरुजन-के प्रति विनयपूर्ण व्यवहार नहीं करता है, तथा वह आराधनीय सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी परम्परा विराधना करके स्वच्छन्द आचरणमें प्रवृत्त होता है ॥९०॥

मूर्ख मनुष्य मानका आश्रय लेकर निन्दित कार्यको करता है, वह निर्भय होकर चन्द्रके समान निर्मल चारित्रको कलंकित करता है ॥९१॥

गुणसे रहित उस अभिमानसे भला क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? कुछ भी नहीं । मानी जनोंका सच्चा मान तो वही कहा जा सकता है जो कि दोनों लोकोंको शुद्धि प्रदान

१. All others except P जनो । २. All others except P J गर्वतः । ३. All others except P M N चाशेषचरणं । ४. M सिद्धिदं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

985) अपमानकरं कर्म येन दूरान्निषिध्यते ।
स उच्चैश्चेतसां मानो ऽपरः स्वपरघातकः ॥९३

सिद्धो भवति । अहम् एवं मन्ये । तन्मानिनां मानं यल्लोकद्वयसिद्धिदम् इहपरलोकसिद्धिदातारम् इति सूत्रार्थः ॥९२॥ अथ महतां मानकार्यमाह ।

985) अपमान—स उच्चैश्चेतसाम् उन्नतचित्तानां मानः परः प्रकृष्टः । पुनः कीदृशः । स्वपरयोर्घातकः स्वपरघातकः । स इति कः । येन मानेन अपमानकरं कर्म दूरान्निषिध्यते दूरतः परिवर्ज्यते । इति सूत्रार्थः ॥९३॥ अथ संसारभ्रमे मानाभावं दर्शयति ।

करनेवाला हो ॥ विशेषार्थ—प्रकृतमें प्रशस्त और अप्रशस्तके भेदसे मानके दो भेद किये जा सकते हैं । उनमें जो मान प्राणीको कुमार्गसे हटाकर सन्मार्गमें प्रवृत्त करता है वह प्रशस्त मान है । उदाहरणस्वरूप कुछ दुर्व्यसनी मनुष्य एक मनुष्यसे मित्रता जोड़कर यदि उसे भी व्यसनोंमें प्रवृत्त कराना चाहते हैं तो उस समय उसे यह अभिमान होना चाहिये कि मैं ऐसे उच्च कुलमें उत्पन्न होकर इस हीन कृत्यमें कैसे प्रवृत्त होऊँ, इससे मेरा निर्मल कुल कलंकित होगा । मुझे इन दुराचारियोंकी संगतिमें भी रहना योग्य नहीं है । इस प्रकारका अभिमान प्रशस्त समझा जाता है जो उपादेय ही है । इस प्रकारके स्वाभिमानसे प्राणी पापाचरणसे दूर रहता है । इससे वह इस लोकमें प्रतिष्ठा आदिको तथा परलोकमें उत्तम देवगति व मुक्तिको भी प्राप्त करता है । इस प्रकार यह प्रशस्त अभिमान प्राणीके उभय लोकोंको शुद्ध करता है । दूसरा अप्रशस्त अभिमान वह है कि जिसके आश्रयसे हीन मनुष्य अपनेमें अभिमानके योग्य गुणोंके न होते हुए भी उनके सद्भावको प्रगट करके अपनी तो प्रशंसा करता है तथा दूसरेमें उत्तम गुणोंके होनेपर भी उनके अभावको बतलाकर उनकी निन्दा करता है । ऐसा अभिमानी मनुष्य पूज्य जनोंकी विनय व भक्ति आदि नहीं करता, इतना ही नहीं, बल्कि वह प्रायः अपने ज्ञान-चारित्र व धन-सम्पत्ति आदिके अभिमानमें मूढ होकर साधु जनोंका तिरस्कार भी करता है । इस दुरभिमानके कारण वह हिंसा व असत्यभाषणादि पापाचारमें प्रवृत्त रहता है, जिससे उसे इस लोकमें निन्दापूर्वक दण्डका पात्र तथा परलोकमें नरकादि दुर्गतिका पात्र बनना पड़ता है । इसीलिये यहाँ ग्रन्थकारने यह भाव प्रगट किया है कि आत्महितैषी जीवोंको इस दुरभिमानको छोड़कर स्वाभिमानमें प्रवृत्त होना चाहिये । इससे वह दोनों ही लोकोंमें सुखी रहेगा ॥९२॥

जो मान अपमानित करनेवाले कार्यको दूरसे ही रोक देता है—प्राणीको दुराचारसे बचाता है—वही मनस्वी जनोंका मान प्रशंसनीय है । इसके विपरीत जो मान प्राणीको अपमानित करनेवाले कार्यमें—दुर्व्यसन एवं हिंसादि पापकार्योंमें—प्रवृत्त करता है वह स्व और परका घातक है—उसके कारण अपने साथमें अन्य प्राणियोंका भी अहित होनेवाला है ॥९३॥

१. All others except P मानः परः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

986) क्व मानो नाम संसारे जन्तुव्रजविडम्बके[1] ।
यत्र प्राणी नृपो भूत्वा विष्ठामध्ये कृमिर्भवेत् ॥९४

987) [[2]मुष्णाति यः कृतसमस्तसमीहितार्थं
संजीवनं विनयजीवितमङ्गभाजाम् ।
जात्यादिमानविषयं विषमं विकारं
तं मार्दवामृतरसेन नयस्व शान्तिम् ॥९४*१

988) औचित्याचरणं विलुम्पति पयोवाहं नभस्वानिव
प्रध्वंसं विनयं नयत्यहिरिव प्राणस्पृशां जीवितम् ।
कीर्तिं कैरविणीं मतङ्गज इव प्रोन्मूलयत्यञ्जसा
मानो नीच इवोपकारनिकरं हन्ति त्रिवर्गं नृणाम् ॥९४*२] मानम्[3] ।

986) क्व मानः—नामेति कोमलामन्त्रणे । संसारे क्व मानः । न क्वापीति । कीदृशे संसारे । जन्तुव्रजविडम्बके जीवसमूहविडम्बनकर्तरि । यत्र संसारे प्राणी नृपो भूत्वा राजा भूत्वा विष्ठामध्ये कृमिः कीटविशेषो भवेदिति सूत्रार्थः ॥९४॥ [अथ मानस्यानिष्टतामाह ।

987) मुष्णाति यः—तं मानं शान्ति नयस्व । कीदृशम् । जात्यादिविषयकम् । किमर्थम् । यः कृतसमस्तसमीहितार्थं संपादितसमस्ताभीष्टवस्तुजातं मुष्णाति चोरयति । पुनः कीदृशम् । विषमम् अनर्थकारिणम् । केन । मार्दवामृतरसेन मार्दवं विनयः स एव अमृतरसः, तेन । अन्यत्सुगमम् ॥९४*१॥ पुनस्तदेवोपमया आह ।

988) औचित्याचरणं—यथा नभस्वान् वायुः पयोवाहं मेघं विलुम्पति तथा मानः औचित्याचरणं विलुम्पति । यथा वा अहिः सर्पः प्राणस्पृशां प्राणिनां जीवितं प्रध्वंसं नयति तथा मानो विनयम् । यथा वा मतङ्गजः मत्तहस्ती कैरविणीं नलिनीम् प्रोन्मूलयति उत्पाटयति तथा मानः कीर्तिम् । यथा वा नीचः उपकारनिकरं उपकृतसमूहं हन्ति तथा अयं मानः नृणां त्रिवर्ग धर्मार्थकामस्वरूपं नाशयतीत्यर्थः ॥९४*२॥] मानम् । अथ मानानन्तरं मायास्वरूपमाह ।

प्राणिसमूहको तिरस्कृत करनेवाले जिस संसारमें प्राणी राजा होकर मलके मध्यमें क्षुद्र कीड़ा उत्पन्न हो सकता है उस संसारमें भला मान कहाँ और किसका रह सकता है ? तात्पर्य यह कि संसारमें जब धन-सम्पत्ति एवं शरीर-सौन्दर्य आदि सब ही नश्वर हैं तब उनके आश्रयसे प्राणीका अभिमान करना उचित नहीं है ॥९४॥

जो मान प्राणियोंके समस्त ईप्सित साध्य करनेवाले नम्रताको चुरा लेता है, ऐसा जात्यादिरूप मान, जो कि अनिष्ट विकार है, उसे मृदुतारूप अमृतसे नष्ट कर ॥९४*१॥

वायु जैसे अम्बुदको वैसे जो मान योग्य आचरणको नष्ट करता है, सर्प जैसे प्राणियोंका जीवित वैसे जो नम्रताको नष्ट करता है, मदमस्त हाथी जैसे कमलकी लताको वैसे जो झटसे मानवोंकी कीर्तिको उखाड़ता है तथा नीच जैसे उपकारोंका वैसे जो मानवोंके त्रिवर्गका नाश करता है ॥९४*२॥

१. F Y विडम्बिते । २. Only in X । ३. M मानः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

989) जन्मभूमिरविद्यानामकीर्तेर्वासमन्दिरम् ।
पापपङ्कमहागर्ता[1] निकृतिः कीर्तिता बुधैः ॥९५

990) अर्गलेवापवर्गस्य पदवी श्वभ्रवेश्मनः ।
शीलशालवने ज्वाला[2] मायेयमवगम्यताम् ॥९६

991) कूटद्रव्यमिवासारं स्वप्नराज्यमिवाफलम् ।
अनुष्ठानं मनुष्याणां मन्ये मायावलम्बिनाम् ॥९७

992) लोकद्वयहितं केचित्तपोभिः कर्तुमुद्यताः ।
निकृत्या वर्तमानास्ते हन्त हीना[3] न लज्जिताः ॥९८

989) जन्मभूमिः—बुधैः पण्डितैर्निकृतिः माया पापपङ्कमहागर्ता पापकर्दममहागर्ता कीर्तिता । कीदृशी निकृतिः । अविद्यानां कुशास्त्राणां जन्मभूमिः जन्मस्थानम् । पुनः कीदृशी । अकीर्तेः वासमन्दिरम् । इति सूत्रार्थः ॥९५॥ अथ पुनर्मायाविशेषमाह ।

990) अर्गलेव—इयं माया अवगम्यतां विज्ञायताम् । कीदृशी माया । अपवर्गस्य मोक्षस्य अर्गला इव । श्वभ्रवेश्मनः नरकगृहस्य पदवी । पुनः कीदृशी । शीलशालवने शीलसहकारकानने वह्निः । इति सूत्रार्थः ॥९६॥ अथ मायावतामसारमाह ।

991) कूटद्रव्यं—मनुष्याणाम् अनुष्ठानं कूटद्रव्यमिव असारं स्वप्नराज्यमिवाफलम् । मायावलम्बिनां मायाश्रितानाम् । अहं मन्ये । इति सूत्रार्थः ॥९७॥ अथ मायाकृतं तपो व्यर्थमित्याह ।

992) लोकद्वय—ते निकृत्या मायया वर्तमानाः । हन्त खेदे । हीनाः हीनसत्त्वाः न

विद्वान् जनोंने माया (छल-कपट) को अविद्याओंकी जन्मभूमि—अज्ञानको उत्पन्न करनेवाली, अकीर्तिका निवासस्थान—अपयशका कारण, और पापरूप कीचड़का विशाल गड्ढा—उसे संचित करनेवाली बतलाया है ॥९५॥

यह माया मोक्षकी अर्गला—उसके द्वारको रोकनेवाली आगल (कपाटोंके पीछे लगायी जानेवाली विशेष लकड़ी) के समान, नरकरूप गृहके मार्गसमान और शीलरूप शाल (साखू वृक्ष) वनके भस्म करनेमें अग्निज्वालाके समान है; ऐसा निश्चित समझना चाहिए ॥९६॥

मायाचारी मनुष्योंका आचरण—जप-तप व व्रत-संयमादि—कूटद्रव्य (बाजीगरके द्वारा दिखलायी जानेवाली बनावटी अँगूठी आदि वस्तु) के समान निःसार और स्वप्नमें प्राप्त हुए राज्यवैभवके समान निष्फल होता है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥९७॥

मायाचारके साथ अवस्थित जो कितने ही निकृष्ट जन तपश्चरणके द्वारा दोनों लोकों सम्बन्धी आत्महित करनेके लिए उद्यत होते हैं, खेद है कि वे इसके लिए लज्जित नहीं होते । अभिप्राय यह है कि मायापूर्वक की जानेवाली जप-तप आदिरूप कोई भी क्रिया

१. M N S T J Y R गर्तो । २. All others except P वने वह्निर्माये° । ३. M N भीता न ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

993) मुक्तेरविप्लुतैवोक्ता[1] गतिर्ऋज्वी जिनेश्वरैः ।
तत्र मायाविभिः[2] स्थातुं न स्वप्ने ऽप्यस्ति योग्यता ॥९९

994) व्रती निःशल्य एव स्यात् सशल्यो वृत्तघातकः[3] ।
माया शल्यं मता[4] साक्षात् सूरिभिर्भूरिभीतिदम् ॥१००

995) इहाकीर्तिं समादत्ते मृतो यात्येव दुर्गतिम् ।
मायाप्रपञ्चदोषेण जनो ऽयं जिह्मिताशयः ॥१०१

लज्जिताः । ते के । ये केचित्तपोभिर्लोकद्वयहितम् इहपरलोकहितं कर्तुम् उद्यताः सावधानाः । इति सूत्रार्थः ॥९८॥ अथ माया मुक्तेः कारणं नेत्याह ।

993) **मुक्तेरविप्लुता**—जिनेश्वरैः मुक्तेः ऋज्वी सरला गतिः च उक्ता । चकारः पादपूरणार्थः । कीदृशैः । *अविद्रुतैर्निर्मलैः । तत्र ऋजुगत्यां माया विनिस्थातुं स्वप्ने ऽपि योग्यता नास्ति । इति सूत्रार्थः ॥९९॥ अथ पुनर्मायाशल्यस्य दुःखदायित्वमाह ।

994) **व्रती**—व्रती चारित्रयुक्तः निःशल्य एव स्यात् । सशल्यो व्रतघातकः । माया शल्यं मतं कथितम् । कैः । सूरिभिः । भूरिभीतिदं बहुभयदमिति सूत्रार्थः ॥१००॥ अथ मायाजनितदोषमाह ।

995) **इहाकीर्ति**—अयं जनो लोकः इह जगति अकीर्तिम् अयशः समादत्ते गृह्णाति । मृतो यात्येव गच्छत्येव । दुर्गतिं नरकादिगतिम् । केन । मायाप्रपञ्चदोषेण मायाविस्तारदोषेण । कीदृशो जनः । जिह्मिताशयः कुटिलचित्तः । इति सूत्रार्थः ॥१०१॥ अथ मायाकृतं प्रगटयत्येवेत्याह ।

कार्यकारी नहीं होती । इसीलिए जो जीव दूसरोंको धोखा देनेके लिए व्रत-संयमादिका परिपालन करते हैं वे वस्तुतः दूसरोंको धोखा नहीं देते, बल्कि अपने आपको ही धोखा देते हैं । इसके लिए उन्हें लज्जा आनी चाहिए ॥९८॥

जिनेन्द्र देवने मुक्तिकी गति—मोक्षमार्गका अनुष्ठान—निरुपद्रव और सरल (कुटिलतासे रहित) बतलाया है । इसलिए वहाँ कपटी मनुष्योंको स्थित होनेके लिए स्वप्नमें भी योग्यता नहीं है । तात्पर्य यह है कि मायाचारी जन सरलतापूर्ण मोक्षमार्गका अनुष्ठान कभी भी नहीं कर सकते हैं ॥९९॥

जो माया, मिथ्या और निदान इन तीन शल्योंसे रहित होता है वही व्रती हो सकता है । इसके विपरीत जो इन शल्योंसे सहित होता है वह समीचीन चारित्रको नष्ट ही करता है । आचार्योंने मायाकषायको प्रत्यक्षमें ही अतिशय भयप्रद शल्य माना है ॥१००॥

अन्तःकरणमें कुटिलताको धारण करनेवाला यह मनुष्य मायाव्यवहारके दोषसे इस लोकमें अपकीर्तिको ग्रहण करता है तथा मर करके परलोकमें नरकादि दुर्गतिको प्राप्त होता है ॥१०१॥

१. All others except P M N प्लुतैश्चोक्ता । २. All others except P M मायाविनां । ३. All others except P F व्रतघातकः । ४. All others except P मतं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

996) छाद्यमानमपि प्रायः कुकर्म स्फुटति स्वयम् ।
अलं मायाप्रपञ्चेन लोकद्वयविरोधिना ॥१०२

997) क्व मायाचरणं हीनं क्व सन्मार्गपरिग्रहः ।
नापवर्गपथे मूढ[1] संचरन्तीह वञ्चकाः ॥१०३

998) बकवृत्तिं समालम्ब्य[2] वञ्चकैर्वञ्चितं जगत् ।
कौटिल्यकुशलैः पापैः प्रसन्नं कश्मलाशयैः ॥१०४

---

996) छाद्यमानम्—कुकर्म छाद्यमानमपि । प्रायः स्वयं स्फुटति प्रगटीभवति । अतः कारणात् मायाप्रपञ्चेन मायाविस्तारेण अलं श्रितम् । कीदृशेन मायाप्रपञ्चेन । लोकद्वयविरोधिना नाशकत्वेन, इहपरलोकवैरिणा । इति सूत्रार्थः ॥१०२॥ अथ मायावतां मोक्षमार्गाभावमाह ।

997) क्व मायाचरणं—मायाचरणं मायाचरितं क्व । कीदृशम् । हीनं हीनफलम् । सन्मार्गपरिग्रहः मोक्षमार्गाङ्गीकारः क्व । महदन्तरम् । हे भ्रातः,* इह भवे वञ्चकाः मायाविनः अपवर्गपथि न संचरन्ति । इति सूत्रार्थः ॥१०३॥ अथ कुटिलैर्जगत् वञ्चितमित्याह ।

998) बकवृत्ति—वञ्चकैर्धूर्तैर्जगत् वञ्चितम् । किं कृत्वा । बकवृत्ति बकजीववृत्ति समालम्ब्य । कीदृशैर्वञ्चकैः । कौटिल्यकुशलैः कुटिलताचतुरैः । पुनः कीदृशैः । पापैः कश्मलाशयैः मलिनचित्तैः । कीदृशं जगत् । प्रसन्नं निर्मलमिति सूत्रार्थः ॥१०४॥ [मायाया अनिष्टतामाह । यदुक्तम् ।

दोनों लोकोंके विरोधी उस मायाव्यवहारसे छुपाया जानेवाला भी दुष्कर्म प्रायः स्वयं ही फूट जाता है—स्पष्ट हो जाता है । इसीलिए उक्त मायाव्यवहारका सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥१०२॥

निकृष्ट मायाचार कहाँ और समीचीन मार्गका ग्रहण कहाँ—दोनोंमें परस्पर विरोध है । हे भाई ! दूसरोंको धोखा देनेवाले मनुष्य यहाँ मोक्षमार्गमें प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं ॥१०३॥

कुटिलतापूर्ण व्यवहारमें चतुर पापी और मलिन अन्तःकरणवाले धूर्तजन बकवृत्तिका आश्रय लेकर निर्मल विश्वको—सीधे व सरल प्राणियोंको—ठगा करते हैं । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार बगुला मछलियोंके पकड़नेके विचारसे उन्हें धोखा देनेके लिए शरीरको स्थिर करके ध्यानकी अवस्थामें स्थित हो जाता है और जब मछली सामने आयी कि उसे पकड़कर खा जाता है उसी प्रकार कितने ही धूर्त अपनी कपटपूर्ण धार्मिकताको प्रगट करके दूसरोंको धोखा देते हैं और उनसे अपने स्वार्थको सिद्ध किया करते हैं ॥१०४॥

---

१. M N पथि प्रायः, All others except P M N पथि भ्रातः । २. Y समासाद्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

999) [[1]यदुक्तम्—

कुशलजननवन्ध्यां सत्यसूर्यास्तसंध्यां
कुगतियुवतिमालां मोहमातङ्गशालाम् ।
शमकमलहिमानीं दुर्यशोराजधानीं
व्यसनशतसहायां दूरतो मुञ्च मायाम् ॥१०४*१

1000) विधाय मायां विविधैरुपायैः परस्य ये वञ्चनमाचरन्ति ।
ते वञ्चयन्ते हृदि वापवर्गात् सुखान्महामोहसखाः स्वमेव ॥१०४*२

1001) मायैव विश्वासविलासमन्दिरं दुराशयो यः कुरुते धनाशया ।
सो ऽनर्थसार्थं न पतन्तमीक्षते यथा बिडालो लगुडं पयः पिबन्॥१०४*३

999) कुशलजनन—मायां दूरतः मुञ्च। कीदृशीम्। कुशलजननवन्ध्यां कल्याणस्य संपादने अक्षमाम्। सत्यसूर्यास्तसंध्यां सत्यमेव सूर्यः तस्य अस्तमने विलोपने संध्यां संध्यासदृशीम्। कुगतिः एव युवतिः तस्याः मालां मालासदृशीम्। मोह एव मातङ्गः मत्तगजः तस्य शालां वसतिस्थानम्। शमः शान्तिः एव कमलं तस्य विनाशने हिमानीं हिमवृष्टिसदृशीम्। दुर्यशोराजधानीम् अपकीर्तिरेव राजधानी राजसभा तत्सदृशीम्। व्यसनशतसहायां विघ्नशतोत्पादने साहाय्यकर्त्रीमिति सूत्रार्थः ॥१०४*१॥ परवञ्चना स्वहानिकरीत्याह।

1000) विधाय—ये मायां कपटं विधाय। परस्य वञ्चनम् आचरन्ति ते महामोहसखाः मोहयुक्ताः। अपवर्गात् सुखात् मोक्षसुखात् स्वमेव आत्मानमेव वञ्चयन्ते इत्यर्थः ॥१०४*२॥ पुनस्तदेव पक्षान्तरेणाह।

1001) मायैव—यः दुराशयः दुष्टान्तःकरणः धनाशया द्रव्येच्छया मायैव विश्वासविलासमन्दिरं कुरुते। सः पतन्तम् आगच्छन्तम् अनर्थसार्थम् अनर्थसमूहं न ईक्षते न पश्यति। यथा पयः पिबन् बिडालः मार्जारः लगुडं यष्टिं न पश्यति तद्वत् इत्यर्थः ॥१०४*३ ॥ पुनस्तदेवाह।

[कल्याणको जन्म न देनेवाली, सत्यरूप सूर्यका अस्त करनेमें संध्याके समान, नीच गतिरूप युवतिकी मानो माला, मोहरूप हाथीका निवासस्थान, शान्तिरूप कमलोंको हिमवृष्टि जैसी, अकीर्तिकी मानो राजनगरी और सैंकड़ों संकटोंको साहाय्य करनेवाली मायाको, हे भव्य, तू दूर रख ॥१०४*१॥

जो लोग मायासे विविध उपाय बनाकर लोगोंको ठगते हैं वे महामोहके मित्र होकर अपनेको मोक्षसुखसे वञ्चित रखते हैं ॥१०४*२॥

जो दुष्ट द्रव्यकी इच्छासे मायाको विश्वासका विलासमन्दिर बनाता है, यानी कपटसे जो दूसरोंका विश्वास नष्ट करता है, वह अपनेपर आनेवाले संकटोंके समूहको नहीं देखता है। जिस तरह दूध पीनेवाला मार्जार लकड़ीको नहीं देखता ॥१०४*३॥

१. Thse four verses are found only in X ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1002) मुग्धप्रतारणपरायणमुज्जिहीते यत्पाटवं कपटलम्पटचित्तवृत्ते ।
जीर्यत्युपप्लुर्वश्यमेहाप्युक्त्वा नापथ्यभोजनमिवामयमायतोजत् ।। (१)
१०४*४] ।। माया ।

1003) नयन्ति विफलं जन्म प्रयासैर्मृत्युगोचरैः ।
वराकाः प्राणिनो ऽजस्रं लोभादप्राप्तवाञ्छिताः ।।१०५

1004) शाकेनापीच्छया[1] जातु न भर्तुमुदरं क्षमाः ।
लोभात्तथापि वाञ्छन्ति नराश्चक्रेश्वरश्रियम् ।।१०६

1002) मुग्धप्रतारण—अस्य श्लोकस्य शुद्धः पाठः नोपलभ्यते । अतो ऽस्य टीकापि कर्तुं न पार्यते ।।१०४*४।।] माया । अथ मायानन्तरं क्रमायातलोभं निदर्शयति ।

1003) नयन्ति—प्राणिनो वराकाः अजस्रं निरन्तरं जन्म विफलं निष्फलं नयन्ति प्राप्नुवन्ति । कैः । प्रयासैः उद्यमैः । कीदृशैः । मृत्युगोचरैः । कीदृशाः प्राणिनः । अप्राप्तवाञ्छिताः । कस्मात् । लोभादिति सूत्रार्थः ।।१०५।। अथ लोभादुदरंभरित्वमाह ।

1004) शाकेनापि—नराः मनुष्याः । जातु कदाचित् । शाकेनापि व्यञ्जनेनापि इच्छया उदरं भर्तुं न क्षमाः न समर्थाः । तथापि नराः लोभात् चक्रेश्वरश्रियं चक्रवर्तिलक्ष्मीं वाञ्छन्ति । इति सूत्रार्थः ।।१०६।। अथ लोभवतो निन्द्यकर्माह । आर्या ।

इस श्लोकका संस्कृत रूप अशुद्ध होनेसे इसका बराबर अर्थ देना असंभव है ।।१०४*४।।] माया कषायका वर्णन समाप्त हुआ ।।

कितने ही दीन प्राणी निरन्तर लोभकषायके वशीभूत होकर अभीष्ट पदार्थोंको न प्राप्त करते हुए मृत्युके कारणभूत परिश्रमसे अपने जन्मको निष्फल करते हैं । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोभकषायके वशमें होकर अभीष्ट धन-सम्पत्ति आदिको प्राप्त करनेके लिए देश-विदेशमें परिभ्रमण करता हुआ उसके लिए घोर परिश्रम करता है और दुखी होता है । यहाँ तक कि कभी-कभी प्राणी अपनी आशाकी पूर्तिके लिए दुष्कर कार्यको करते हुए प्राणोंको भी दे देता है । लोभी जीव यह नहीं सोचता है कि प्राणीको जो अभीष्ट सुखकी सामग्री प्राप्त होती है वह उसके पूर्वोपार्जित कर्मके अनुसार प्राप्त होती है—केवल परिश्रमसे ही वह नहीं प्राप्त होती है । इसीलिए पूर्व पुण्यके बिना उसका वह सब परिश्रम व्यर्थ होता है ।।१०५।।

जो मनुष्य यद्यपि इच्छाके अनुसार शाकसे भी अपने उदरको पूर्ण करनेके लिए समर्थ नहीं होते हैं तो भी वे लोभके वश चक्रवर्तीकी लक्ष्मीकी इच्छा किया करते हैं ।।१०६।।

१. M N स्तोकेनापीच्छया ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1005) स्वामिगुरुबन्धुवृद्धानबलाबालांश्च जीर्णदीनादीन् ।
व्यापाद्य विगतशङ्को[1] लोभार्तो वित्तमादत्ते ॥१०७

1006) ये केचित्सिद्धान्ते दोषाः श्वभ्रस्य साधकाः प्रोक्ताः ।
प्रभवन्ति निर्विचारं ते लोभादेव जन्तूनाम् ॥१०८॥ लोभः ।

1007) शमाम्बुभिः क्रोधशिखी निवार्यतां नियम्यतां मानमुदारमार्दवैः ।
इयं च मायार्जवशस्त्रधारया मुनीश लोभश्च परिग्रहात्ययात्[2] ॥१०९

1008) यत्र यत्र प्रसूयन्ते तव क्रोधादयो द्विषः ।
तत्तत् प्रागेव मोक्तव्यं वस्तु तत्सूतिशान्तये ॥११०

1005) **स्वामि**—लोभार्तः पुरुषः वित्तं द्रव्यमादत्ते । कीदृशः । विगतशङ्कः इह परलोकशङ्कारहितः । स्वामिगुरुबन्धुवृद्धान् स्वपतिगुरुभ्रातृज्येष्ठान् । पुनरबलान् बलरहितान् । बालांश्च बालकान् । जीर्णदीनादीन् जरितकान्दिशीकान् व्यापाद्य हत्वेति सर्वत्र योज्यम् । इति सूत्रार्थः ॥१०७॥ अथ लोभादेव सर्वप्राणिनां दोषवत्त्वमाह । आर्या ।

1006) **ये केचित्**—[सिद्धान्ते शास्त्रे । श्वभ्रस्य नरकस्य साधकाः ।] निर्विचारं निःसंदेहम् । इति सूत्रार्थः ॥१०८॥ अथ क्रोधादीनां युगपन्निरासमाह ।

1007) **शमाम्बुभिः**—रे भव्य, क्रोधशिखी क्रोधाग्निः निवार्यताम् । कैः । शमाम्बुभिः उपशमजलैः । उदारमार्दवैः प्रधानऋजुतया मानं नियम्यतां बध्यताम् । च पुनः । आर्जवतः प्रतिक्षणं माया निग्रहीतव्या । च पुनः पक्षान्तरसूचकः । *लोभशान्तये निरीहतां निर्लोभताम् आश्रय । इति सूत्रार्थः ॥१०९॥ अथ क्रोधादीनाम् उत्पत्तिनाशं कथयति ।

1008) **यत्र यत्र**—रे भव्य, तव यत्र यत्र यस्मिन् यस्मिन् वस्तुनि क्रोधादयो द्विषः वैरिणः प्रसूयन्ते उत्पद्यन्ते तत्तद्वस्तु प्रागेव पूर्वमेव भोक्तव्यम् । कस्यै । तेषां क्रोधादीनां सूतिशान्तये

लोभसे पीड़ित मनुष्य निर्दय होकर स्वामी, गुरु, बन्धु, वृद्ध, स्त्री, बालक, दुर्बल और दरिद्र (या दुखी) आदि प्राणियोंका घात करता हुआ धनको ग्रहण करता है ॥१०७॥

आगममें नरकके कारणभूत जो कितने ही दोष कहे गये हैं वे सब विवेकसे रहित होनेके कारण प्राणियोंके लोभके निमित्तसे ही उत्पन्न होते हैं ॥१०८॥

हे मुनीन्द्र ! शम (क्रोधका निग्रह–क्षमा) रूप जलसे क्रोधरूपी अग्निका निवारण करना चाहिए, मृदुतापूर्ण व्यवहारसे महान् मानका निग्रह करना चाहिए, आर्जव (सरलता) रूप शस्त्रकी धारसे इस मायाका विनाश करना चाहिए, और परिग्रहके विनाशसे लोभको नष्ट करना चाहिए ॥१०९॥

हे भव्य ! जिस-जिस वस्तुके आश्रयसे तेरे क्रोधादि शत्रु उत्पन्न होते हैं उस-उस वस्तुको उक्त क्रोधादि की उत्पत्तिको नष्ट करनेके लिए छोड़ देना चाहिए ॥११०॥

१. All others except P विगतशङ्को । २. All others except P °र्जवतः प्रतिक्षणं निरीहतां चाश्रय लोभशान्तये ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1009) येन येन निवार्यन्ते क्रोधाद्याः परिपन्थिनः ।
स्वीकार्यमप्रमत्तेन[1] तत्तत्कर्म मनीषिणा ॥१११

1010) गुणाधिकतया मन्ये स योगी गुणिनां गुरुः ।
तन्निमित्ते ऽपि नाक्षिप्तं क्रोधाद्यैर्यस्य मानसम् ॥११२

1011) यदि क्रोधादयः क्षीणास्तदा किं खिद्यते वृथा ।
तपोभिरथ तिष्ठन्ति तपस्तत्राप्यपार्थकम्[2] ॥११३

जन्मशान्तिनिमित्तम् । इति सूत्रार्थः ॥११०॥ अथ येन क्रोधादयो निवारणीयाः तत् कर्म कर्तव्यम् इत्याह ।

1009) **येन येन**—येन येन कर्मणा क्रोधाद्या निवार्यन्ते निषेध्यन्ते । कीदृशाः क्रोधाद्याः । परिपन्थिनः प्रतिकूलाः । मनीषिणा पण्डितेन तत्कर्म स्वीकार्यम् अङ्गीकर्तव्यम् । कीदृशेन मनीषिणा । अप्रमत्तेन प्रमादरहितेन । इति सूत्रार्थः ॥१११॥ अथ क्रोधाद्यैर्यन्मनः न भिद्यते, तेषां महत्त्वमाह ।

1010) **गुणाधिकतया**—अहं मन्ये । गुणिनां स गुरुः वृद्धतया पूज्यः । कया । गुणाधिकतया गुणाधिकत्वेन । तन्निमित्ते ऽपि क्रोधादिनिमित्ते ऽपि यस्य मानसं चित्तं क्रोधाद्यैः नाक्षिप्तं न पीडितम् । इति सूत्रार्थः ॥११२॥ अथ क्रोधादिसद्भावे किं वृथा प्रयासः इत्याह ।

1011) **यदि क्रोधादयः**—यदि क्रोधादयः कषायाः क्षीणाः तदा किं वृथा खिद्यते खेदः क्रियते । अथ तपोभिस्तिष्ठन्ति तपः कुर्वन्ति, तत्रापि तपःकरणे तपो ऽपार्थकम् । इति सूत्रार्थः ॥११३॥ अथ कषाये स्तोके स्वसंवेदनमाह ।

शत्रुभूत वे क्रोधादि जिस-जिस कार्यके द्वारा रोके जाते हैं बुद्धिमान् मनुष्यके लिए प्रमादको छोड़कर उस-उस कार्यको स्वीकार करना चाहिए ॥१११॥

जिसका मन क्रोधादिके कारणोंके उपस्थित होनेपर भी क्षुब्ध नहीं होता है वह गुणोंकी अधिकताके योगसे योगी और गुणीजनोंका गुरु है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥११२॥

हे आत्मन्, यदि वे क्रोधादि विकार नष्ट हो चुके हैं तो फिर तपश्चरण के द्वारा व्यर्थ क्यों खेदको प्राप्त होता है ? और यदि वे अवस्थित हैं--नष्ट नहीं हुए हैं—तो उनके होते हुए भी वह तप व्यर्थ है । तात्पर्य यह कि क्रोधादि कषायोंका निग्रह करने के विना तपश्चरण आदि सब निष्फल होता है । कारण यह कि तपश्चरण आदिका प्रयोजन उन क्रोधादि विकारोंको जीतना ही है ॥११३॥

---

१. M N °मप्रयत्नेन । २. 　प्यनर्थकं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1012) स्वसंवित्तिं समायाति यमिनां तत्त्वमुत्तमम् ।
आसमन्ताच्छमं नीते कषायविषमज्वरे ॥११४[1]॥ अथवा[2]–

1013) अजिताक्षः कषायाग्निं विनेतुं न प्रभुर्भवेत् ।
अतः क्रोधादिकं जेतुमक्षरोधः प्रशस्यते ॥११५

1014) विषयाशाभिभूतस्य विक्रियन्ते ऽक्षदन्तिनः ।
पुनस्त एव दृप्यन्ति[3] क्रोधादिगहनं श्रिताः ॥११६

1015) इदमक्षकुलं धत्ते मदोद्रेकं यथा यथा ।
कषायदहनः पुंसां विसर्पति तथा तथा ॥११७

1012) **स्वसंवित्ति**—यमिनां व्रतिनां स्वसंवित्तिम् आत्मानुभवनं समायाति । कीदृशम् । उत्तमं तत्त्वम् । क्व सति । कषायविषमज्वरे आसमन्ताच्छमम् उपशमं नीते सति । इति सूत्रार्थः ॥११४॥ अथवा पक्षान्तरमाह ।

1013) **अजिताक्षः**—अजिताक्षः अजितेन्द्रियः कषायाग्निं विनेतुं विनाशयितुं न प्रभुः समर्थः भवेत् । अतः कारणात् क्रोधादिकं जेतुम् अक्षरोध इन्द्रियरोधनं प्रशस्यते ॥११५॥ [पुनस्तदेवाह ।]

1014) **विषयाशा**—विषयाशाभिभूतस्य विक्रियन्ते ऽक्षदन्तिनः इन्द्रियगजाः विक्रियन्ते । पुनरेवाक्षदन्तिनः क्रोधादिकं गहनम् आश्रिताः दृश्यन्ते* । इति सूत्रार्थः ॥११६॥ अथेन्द्रियाणां कषायकारणत्वमाह ।

1015) **इदमक्षकुलं**—इदमक्षकुलम् इन्द्रियसमूहः यथा यथा मदोद्रेकं मदाधिक्यं धत्ते तथा तथा कषायदहनः क्रोधवह्निः विसर्पति प्रसरति । इति सूत्रार्थः ॥११७॥ अथ कषायजयम् आह ।

कषायरूप विषमज्वरके सब ओरसे शान्तिको प्राप्त हो जानेपर—कषायके सर्वथा नष्ट हो जानेपर—उत्तम तत्त्व (परमात्मस्वरूप) मुनि जनोंके स्वसंवेदनको प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार तीव्र ज्वरमें प्राणीको मूर्च्छाके कारण अपनी कुछ सुध-बुध नहीं रहती है उसी प्रकार क्रोधादि कषायोंके रहनेपर प्राणीको कभी आत्मस्वरूपकी सुध-बुध नहीं रहती है—वह आत्मसंवेदन सर्वथा असमर्थ रहता है ॥११४॥

जिसने अपनी इन्द्रियोंपर विजय नहीं प्राप्त की है वह कषायरूप अग्निको नष्ट करनेके लिए समर्थ नहीं होता है। इसलिए उन क्रोधादि कषायोंको जीतनेके लिए इन्द्रियनिग्रहकी प्रशंसा की जाती है ॥११५॥

जो प्राणी विषयतृष्णासे पराभूत होता है उसके अक्ष (इन्द्रियाँ) रूप हाथी विकारको प्राप्त होते हैं और फिर वे ही क्रोधादिरूप वनका आश्रय पा करके उन्मत्तताको प्राप्त होते हैं ॥११६॥

जैसे-जैसे यह इन्द्रियोंका समूह मदकी तीव्रताको धारण करता है—मदोन्मत्त होता है—वैसे-वैसे मनुष्योंको कषायरूप अग्नि विस्तारको प्राप्त होती है ॥११७॥

१. All others except P N T Y end of Chapter। २. L S J R om. अथवा।
३. All others except P N दृश्यन्ते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1016) कषायवैरिव्रजनिर्जयं यमी करोतु पूर्वं यदि संवृतेन्द्रियः ।
किलानयोर्निग्रहलक्षणो विधिर्न हि क्रमेणात्र बुधैर्विधीयते ॥
११८ । तद्यथा[1]–

1017) यदक्षविषयोद्भूतं दुःखमेव न तत्सुखम् ।
अनन्तजन्मसंतानक्लेशसंपादकं[2] यतः ॥११९

1018) दुर्दमेन्द्रियमातङ्गान् शीलशाले नियन्त्रय ।
वीर[3] विज्ञानपाशेन विकुर्वाणान्[4] यदृच्छया ॥१२०

1016) कषायवैरि—यमी व्रती कषायवैरिव्रजनिर्जयं कषायशत्रुसमूहजयं यदि पूर्वं करोतु । कीदृशः । संवृतेन्द्रियः । किलेति सत्ये । अनयोः इन्द्रियकषाययोर्निग्रहलक्षणः विनाशात्मको विधिः । अत्र लोके । हि निश्चितम् । क्रमेण न बुधैः पण्डितैः विधीयते क्रियते । इति सूत्रार्थः ॥११८॥ तद् यथा दर्शयति । अथाक्षसंभूतं दुःखम् आह ।

1017) यदक्ष—अक्षविषयोद्भूतं इन्द्रियव्यापारजनितं यद् दुःखं तत् सुखं न भवति । यतो यस्मात् कारणात् । अनन्तजन्मसंतानक्लेशसंपादकम् अनन्तभवसमूहक्लेशजनकम् इति सूत्रार्थः ॥११९॥ अथेन्द्रियाणां दुर्दमत्वम् आह ।

1018) दुर्दमेन्द्रिय—हे *धीर, दुर्दमेन्द्रिय-मातङ्गान् हस्तिनः शीलशाले स्तम्भे ब्रह्मचर्यमहावृक्षे नियन्त्रय बध्नीहि । केन । विज्ञानपाशेन ॥१२०॥ साधनोपायमाह ।

यदि मुनि पूर्वमें इन्द्रियोंका निरोध कर चुका है तो वह कषायरूप शत्रुओंपर विजय प्राप्त करे । कारण यह कि विद्वान् महात्मा इन दोनोंके मध्यमें निग्रह करनेरूप विधिको विधान क्रमसे नहीं करते हैं । तात्पर्य यह है कि इन्द्रियनिग्रह और कषायनिग्रहमें पूर्वापरताका क्रम नियत नहीं है—यदि मुनि पूर्वमें इन्द्रियोंका निग्रह कर चुका है तो तत्पश्चात् उसे कषायोंका निग्रह करना चाहिए और यदि पूर्वमें वह कषायोंका निग्रह कर चुका है तो तत्पश्चात् उसे इन्द्रियोंका निग्रह करना चाहिए ॥११८॥

वह इस प्रकारसे—इन्द्रियविषयोंसे उत्पन्न हुआ सुखका आभास वस्तुतः दुख ही है, वह सुख नहीं है । कारण यह कि वह विषयसुख अनन्त संसारकी परम्पराके क्लेशको उत्पन्न करनेवाला है ॥११९॥

हे वीर ! स्वतन्त्र रहकर इच्छानुसार उपद्रव करनेवाले दुर्दम इन्द्रियरूप हाथियोंको विज्ञानरूप रस्सीसे शीलरूप वृक्षमें नियन्त्रित कर—उससे बाँध दे । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार हाथी स्वतन्त्र रहकर चूँकि अनेक प्रकारके उपद्रव करता है, अतएव चतुर महावत उसे मोटे रस्सेके आश्रयसे किसी वृक्ष या खम्भेसे बाँध देता है; उसी प्रकार ये इन्द्रियाँ भी चूँकि स्वतन्त्र रहकर इच्छानुसार स्पर्शादि विषयोंमें प्रवृत्त होती हुई राग-द्वेष-बुद्धिको उत्पन्न करती हैं, अतएव विवेकी मुनि उन्हें कुशलतापूर्वक संयममें प्रवृत्त करते हैं ॥१२०॥

१. P M L F X तद्यथा । २. X Y संपादनक्षमम् । ३. All others except P धीर । ४. All others except P T विकुर्वन्तो ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1019) हृषीकभीमभोगीन्द्रदीप्र¹दर्पोपशान्तये ।
स्मरन्ति वीरनिर्दिष्टं योगिनः परमाक्षरम् ॥१२१

1020) निरुध्य बोधपाशेन क्षिप्ता वैराग्यपञ्जरे ।
हृषीकहरयो येन स मुनीनां महेश्वरः ॥१२२

1021) हृदि स्फुरति तस्योच्चैर्बोध²रत्नं सुनिर्मलम् ।
शीलशालो न यस्याक्षदन्तिभिः प्रविदारितः ॥१२३

1022) दुःखमेवाक्षजं सौख्यमविद्याव्याललालितम् ।
मूर्खास्तत्रैव रज्यन्ते न विद्मः केन हेतुना ॥१२४

1019) हृषीक—योगिनः परमाक्षरं परमश्रुताक्षरं स्मरन्ति । कीदृशम् । वीरनिर्दिष्टं वर्धमानकथितम् । कस्मै । हृषीकभीमभोगीन्द्रक्रुद्ध*दर्पोपशान्तये इन्द्रियरुद्रनागेन्द्रकोपितदर्पोपशमाय । इति सूत्रार्थः ॥१२१॥ अथ वैराग्येन हृषीकपराजयम् आह ।

1020) निरुध्य—हृषीकहरयः प्रस्तावात् पक्षिणः येन वैराग्यपञ्जरे क्षिप्ताः । बोधपाशेन ज्ञानपाशेन निरुध्य रोधयित्वा । स मुनीनां ज्ञाततत्त्वानां महेश्वरः प्रभुः । इति सूत्रार्थः ॥१२२॥ जिनधर्मः शीलरक्षणेन भवतीत्याह ।

1021) हृदि स्फुरति—तस्य पुंसो हृदि बोधिरत्नम्* उच्चैः यथा स्यात् सम्यग्दर्शनादि रत्नं स्फुरति प्रगटीभवति । कीदृशं बोधिरत्नम् । सुनिर्मलम् । तस्येति कस्य । यस्य शीलशालः शीलतरुः, अक्षदन्तिभिः इन्द्रियगजैर्न प्रविदारितः भेदितः । इति सूत्रार्थः ॥१२३॥ अथेन्द्रियसुखं दुःखानुबन्धित्वाद् दुःखमेवाह ।

1022) दुःखमेव—अक्षजमिन्द्रियजं यत्सुखं दुःखमेव । प्रान्ते दुःखदायित्वात् । कीदृशम् । अविद्याव्याललालितम् अज्ञानसर्पपोषितम् । मूर्खाः बालिशास्तत्रैव अक्षजे सुखे रज्यन्ते । केन हेतुना इति न विद्मः न जानीमहे । इति सूत्रार्थः ॥१२४॥ अथेन्द्रियेषु वशमानीतेषु ज्ञानोत्पत्तिमाह ।

योगी जन इन्द्रियरूप भयानक सर्पराजके तेजपूर्ण गर्वको शान्त करनेके लिए वीर जिनेन्द्रके द्वारा उपदिष्ट सर्वश्रेष्ठ वर्ण (ॐ) का स्मरण किया करते हैं ॥१२१॥

जिस मुनिने इन्द्रियरूप सिंहोंको सम्यग्ज्ञानरूप रस्सीसे रोककर वैराग्यरूप पिंजरेके भीतर फेंक दिया है वह मुनियोंका महेश्वर है—मुनियोंके मध्यमें सर्वश्रेष्ठ मुनि है ॥१२२॥

जिसका शीलरूप वृक्ष इन्द्रियरूप हाथियोंके द्वारा छिन्न-भिन्न नहीं किया गया है उसके हृदयमें अतिशय निर्मल उत्कृष्ट ज्ञानरूप रत्न प्रकाशमान होता है ॥१२३॥

अज्ञानरूप सर्पके द्वारा स्नेहपूर्वक पालित इन्द्रियजन्य सुख वास्तवमें दुख ही है । फिर हम नहीं जानते कि मूर्खजन किस कारणसे उसीके विषयमें अनुरक्त होते हैं ॥१२४॥

१. All others except P क्रुद्ध for दीप्र । २. L S T F J Y R बोधिरत्नं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1023) यथा यथा हृषीकाणि स्ववशं यान्ति देहिनाम् ।
तथा तथा स्फुरत्युच्चैर्हृदि विज्ञानभास्करः ॥१२५

1024) विषयेषु यथा चित्तं जन्तोर्मग्नमनाकुलम् ।
तथा यद्यात्मनस्तत्त्वे सद्यः को न शिवीभवेत् ॥१२६

1025) अतृप्तिजनकं मोहदाववह्नेर्महेन्धनम् ।
असातसंततेर्बीजमक्षसौख्यं जगुर्जिनाः ॥१२७

1026) नरकस्यैव सोपानं पाथेयं वा तदध्वनि ।
अपवर्गपुरद्वारकपाटयुगलं[1] दृढम् ॥१२८

1023) **यथा यथा**—यथा यथा येन प्रकारेण हृषीकाणि इन्द्रियाणि स्ववशं यान्ति वश्यानि भवन्ति । केषाम् । देहिनां प्राणिनाम् । तथा तथा देहिनां हृदि स्फुरति प्रगटीभवति । कः । उच्चैः विज्ञानभास्करः विशिष्टज्ञानसूर्यः । इति सूत्रार्थः ॥१२५॥ अथ विषयेषु यथास्थितमनसः शिवत्वाभावमाह ।

1024) **विषयेषु**—[अनाकुलम् अवशम् । मग्नम् आसक्तम् ।] कः न [सद्यः] शीघ्रं मुक्तो भवति । इति सूत्रार्थः ॥१२६॥ अथाक्षजसौख्यस्यातृप्तिजनकतामाह ।

1025) **अतृप्तिजनकं**—अक्षसौख्यमिन्द्रियसुखं जिनाः केवलं न अतृप्तिजनकं जगुः कथयामासुः । कीदृशम् अक्षसौख्यम् । मोहदाववह्नेः मोहदावाग्नेः महेन्धनं महावनीयकाष्ठम् । पुनः कीदृशम् अक्षसौख्यम् । अशातसंततेर्बीजं दुःखसमूहस्य जनकम् । इति सूत्रार्थः ॥१२७॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

1026) **नरकस्यैव**—पुनः कीदृशम् अक्षसौख्यम् । नरकस्यैव सोपानं पङ्क्तिः श्रेणिः । वा अथवा । तदध्वनि नरकमार्गे पाथेयं शम्बलम् । पुनः कीदृशम् । अपवर्गपुरद्वारकपाटयुगलं मोक्षनगरद्वारकपाटयुग्मं दृढम् । इति सूत्रार्थः ॥१२८॥ अथाक्षजसौख्यरूपमाह ।

प्राणियोंकी इन्द्रियाँ जैसे-जैसे अपने वशमें होती हैं वैसे-वैसे उनके हृदयमें विशिष्ट ज्ञानरूप सूर्य अतिशय प्रकाशित होता है ॥१२५॥

प्राणीका मन निराकुल होकर जिस प्रकार विषयोंमें मग्न (आसक्त) होता है उस प्रकार यदि वह आत्माके स्वरूपमें निमग्न होता तो फिर शीघ्र ही कौन न मुक्त हो जाता ? सभी शीघ्र मुक्त हो सकते थे ॥१२६॥

जिन भगवान्ने इन्द्रियजन्य सुखको असन्तोषका उत्पन्न करनेवाला, मोहरूप वनाग्निको बढ़ानेवाला महान् इंधन और दुःखपरम्पराका कारण बतलाया है ॥१२७॥

इन्द्रियविषयोंसे जो सुख उत्पन्न होता है वह नीचे नरकमें जानेके लिए सीढ़ीके समान अथवा उसी नरकके मार्गमें खाने योग्य नाश्ता जैसा, मोक्षरूप नगरके द्वारके दृढ़ दोनों

१. N कवाट ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1027) विघ्नबीजं विपन्मूलमन्यापेक्षं भयास्पदम् ।
करणग्राह्यमेतद्धि[1] यदक्षार्थोत्थितं सुखम् ॥१२९

1028) जगद्वञ्चनचातुर्यं विषयाणां न केवलम् ।
नरान्नरकपाताले नेतुमप्यतिकौशलम् ॥१३०

1029) निसर्गचपलैश्चित्रैर्विषयैर्वञ्चितं जगत् ।
प्रत्याशा निर्दयेष्वेषु कीदृशी पुण्यकर्मणाम् ॥१३१

1027) विघ्नबीजं—पुनः कीदृशम् । विघ्नबीजं विघ्नोत्पादकम् । पुनः कीदृशम् । विपन्मूलं विपदामापदामुत्पत्तिकम् । पुनः कीदृशम् । अन्यापेक्षं परद्रव्यसापेक्षम् । भयास्पदं भयस्थानम् । पुनः कीदृशम् । करणमनोवाक्कायग्राह्यम् । हि निश्चितम् । एतत् यत् अक्षार्थोत्थितं इन्द्रियव्यापारजनितं सुखम् । इति सूत्रार्थः ॥१२९॥ अथ पुनर्विषयाणां स्वरूपमाह ।

1028) जगद्वञ्चन—विषयाणां न केवलं जगद्वञ्चनचातुर्यं जगतो वञ्चनदक्षम् । नरकपाताले नरान् मनुष्यान् नेतुमपि प्राप्तुमपि अतिकौशलम् अतिचतुरम् । इति सूत्रार्थः ॥१३०॥ अथ पुनर्विषयाणां स्वरूपमाह ।

1029) निसर्गचपलैः—विषयैः इन्द्रियव्यापारैः जगद्वञ्चितं विप्रतारितम् । कीदृशैः । निसर्गचपलैः स्वभावचञ्चलैः । पुनः कीदृशैः । चित्रैः नानाप्रकारैः । एषु विषयेषु निर्दयेषु पुण्यकर्मणाम् । कीदृशी । प्रत्याशा निकटता । इति सूत्रार्थः ॥१३१॥ अथ विषयैः लोभादिकं जन्यते इत्याह ।

कपाटोंके सदृश, बाधाका कारण, विपत्तिकी जड़, अन्य बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा रखनेवाला, भयका स्थान और इन्द्रियोंसे ही ग्रहण किया जानेवाला है ॥१२८-२९॥

इन इन्द्रिय विषयोंके केवल लोकको ठगनेकी ही चतुरता नहीं है, बल्कि उनमें मनुष्योंको नरकरूप पातालमें ले जानेकी भी कुशलता है। तात्पर्य यह कि ये इन्द्रियविषय प्रथम तो प्राणियोंको इच्छानुसार प्राप्त ही नहीं होते, दूसरे यदि वे कुछ प्राप्त भी हुए तो शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें आसक्त होनेसे जो पाप कर्म संचित होता है उसके कारण नरकादि दुर्गतिकी प्राप्ति भी होती है ॥१३०॥

स्वभावसे चंचल (अस्थिर) और अनेक अवस्थाओंको धारण करनेवाले वे विषय लोकके प्राणियोंको ठगा करते हैं। ऐसे दुष्ट स्वभाववाले इन विषयोंमें पवित्र आचरण करनेवाले संयमीजनकी फिरसे इच्छा किस प्रकार होती है ? तात्पर्य यह कि प्राणियोंको जब उन विषयोंकी प्राप्ति अपने-अपने पुण्य कर्मके अनुसार होती है तब उनके नष्ट हो जानेपर पुनः-पुनः उनकी इच्छा करना योग्य नहीं है ॥१३१॥

१. P करणग्राह्यदुःखाग्निं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1030) वर्धते गृद्धिरश्रान्तं संतोषश्चापसर्पति ।
विवेको[1] विलयं याति[1] विषयैर्वञ्चितात्मनाम् ॥१३२

1031) विषस्य कालकूटस्य विषयोत्थस्य[2] चान्तरम् ।
वदन्ति लब्धनिर्वेदा मेरुसर्षपयोरिव ॥१३३

1032) अनन्तदुःखसंकीर्णे[3] विषयैर्व्याकुलीकृतम् ।
पतत्येव जगज्जन्मदुर्गे दुःखाग्निदीपिते ॥१३४

1033) इन्द्रियाणि न गुप्तानि नाभ्यस्तश्चित्तनिर्जयः ।
न निर्वेदः कृतो मित्रं नात्मा दुःखेन भावितः ॥१३५

1030) **वर्धते गृद्धिः**—गृद्धिः तृषा अश्रान्तं निरन्तरं वर्धते । च पुनः । संतोषः अपसर्पति गच्छति । विवेको विलयं याति नाशं प्राप्नोति । केषाम् । विषयैः वञ्चितात्मनाम् । इति सूत्रार्थः ॥१३२॥ अथ विषयविषयोः साम्यमाह ।

1031) **विषस्य**—ज्ञाततत्त्वार्था योगिनः कालकूटस्य विषस्य । च पुनः । विषयाख्यस्य* अन्तरं मेरुसर्षपयोरिव । इति सूत्रार्थः ॥१३३॥ अथ विषयैः जगत् दुःखे स्थापितमाह ।

1032) **अनन्तदुःख**—जगत् जन्मदुर्गे पतत्येव । कीदृशे । दुःखाग्निदीपिते । पुनः कीदृशम् । अनासादितनिर्वेदम्* अप्राप्तवैराग्यम् । पुनः । विषयैः व्याकुलीकृतम् आतुरीकृतम् । इति सूत्रार्थः ॥१३४॥ पुनरेतत्स्वरूपमाह ।

1033) **इन्द्रियाणि**—इन्द्रियाणि न गुप्तानि । चित्तनिर्जयो नाभ्यस्तः न साधितः । न निर्वेदः वैराग्यं मित्रं कृतः । न आत्मा दुःखेन भावितः । इति सूत्रार्थः ॥१३५॥ अथ मूढैः स्वं वञ्चितम् इत्याह ।

जो प्राणी विषयोंसे ठगे जाते हैं उनकी लोलुपता निरन्तर वृद्धिको प्राप्त होती है, सन्तोष भाग जाता है, और विवेकबुद्धि नष्ट हो जाती है ॥१३२॥

वैराग्यभावको प्राप्त हुए योगी कालकूट विष और इन्द्रियजन्य विषयसुख इन दोनोंके मध्यमें मेरु और सरसोंके समान अन्तर बतलाते हैं। तात्पर्य यह कि विषयजन्य सुख काल-कूट विषकी अपेक्षा भी अधिक भयानक है ॥१३३॥

विषयोंके द्वारा व्याकुल किया गया लोक अनन्त दुःखोंसे व्याप्त और दुखरूप अग्निसे जलते हुए संसाररूप दुर्गम स्थान (वन) में गिरता ही है ॥१३४॥

जिन मूर्खोंने विषयोंकी ओरसे इन्द्रियोंका संरक्षण नहीं किया है, मनके जीतनेका अभ्यास नहीं किया है, मित्रको वैराग्यकी ओर नहीं झुकाया है, तथा आत्माके विषयमें दुःखका

---

१. N विवेका....यान्ति । २. All others except P विषयाख्यस्य....वदन्ति ज्ञाततत्त्वार्थाः । ३. All others except P अनासादितनिर्वेदं विषयै° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1034) एवमेवापवर्गाय प्रवृत्तैर्ध्यानसाधने ।
स्वमेव वञ्च्यते[1] मूढैर्लोकद्वयपथात्[2] च्युतैः ॥१३६

1035) अध्यात्मजं तदत्यक्षं[3] स्वसंवेद्यमनश्वरम्[4] ।
आत्माधीनं निराबाधमनन्तं योगिनां सुखम्[5] ॥१३७

1036) अपास्य करणग्रामं यदात्मन्यात्मना स्वयम् ।
सेव्यते योगिभिस्तद्धि सुखमाध्यात्मिकं मतम् ॥१३८

1037) आपातमात्ररम्याणि विषयोत्थानि देहिनाम् ।
विषपाकानि[6] पर्यन्ते विद्धि सौख्यानि सर्वथा ॥१३९

1034) **एवमेव**—मूढैः मूर्खैः स्वमेव वञ्चितं ध्यानसाधने । अपवर्गाय एवमेव प्रवृत्तैः कृतोद्यमैः । पुनः कीदृशैः । लोकद्वयपथच्युतैः इहपरलोकभ्रष्टैः । इति सूत्रार्थः ॥१३६॥ अथ योगिनां सुखमाह ।

1035) **अध्यात्मजं**—योगिनां सुखं भवति । कीदृशम् । अध्यात्मजं ध्यानजातम् । पुनः कीदृशम् । यत्सुखम् अत्यक्षम् अतीन्द्रियम् । पुनः कीदृशम् । स्वसंवेद्यं स्वानुभवजम् । पुनः कीदृशम् । अनश्वरम् अविनाशि । पुनः कीदृशम् । आत्माधीनम् । पुनः कीदृशम् । निराबाधं बाधारहितम् । पुनः । अनन्तम् अनन्तविषयावच्छेदकम् । इति सूत्रार्थः ॥१३७॥ अथाक्षनाशे स्वसंवेदनमाह ।

1036) **अपास्य**—हि निश्चितम् । योगिभिः आध्यात्मिकं सुखं मतमभीष्टम् । यत्सुखमात्मनि आत्मना स्वयं सेव्यते । किं कृत्वा । करणग्रामम् इन्द्रियसमूहम् अपास्य दूरीकृत्य । इति सूत्रार्थः ॥१३८॥ अथ संसारसौख्यासारतामाह ।

1037) **आपातमात्र**—देहिनां विषयोत्थानि सौख्यानि आपातमात्ररम्याणि विद्धि जानीहि

चिन्तन नहीं किया है; फिर भी जो यों ही मोक्षप्राप्तिकी इच्छासे ध्यानके सिद्ध करनेमें प्रवृत्त हुए हैं वे मूर्ख दोनों लोकोंके मार्गसे भ्रष्ट होकर अपने आपको ही ठगते हैं ॥१३५-३६॥

योगियोंका वह आध्यात्मिक सुख इन्द्रियोंकी अपेक्षासे रहित, स्वसंवेदनका विषय, अविनश्वर, आत्मामात्रकी अपेक्षा रखनेवाला (परनिरपेक्ष), सब प्रकारकी बाधासे रहित और अनन्त है ॥१३७॥

इन्द्रियसमूहकी अपेक्षा न करके योगीजन स्वयं आत्मामें आत्माके द्वारा जिस सुखका अनुभव करते हैं वह आध्यात्मिक सुख माना गया है ॥१३८॥

विषयोंसे उत्पन्न हुआ प्राणियोंका सुख केवल अनुभवनकालमें ही रमणीय प्रतीत होता

१. M N बध्यते, L S T F J X Y R वञ्चितं । २. All others except P पथच्युतैः । ३. All others except P N F Y यदत्यक्षं । ४. Y –मनक्षरं । ५. All others except P M N X योगिनां मतं । ६. L विषतुल्यानि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1038) हृषीकतस्करानीकं चित्तदुर्गान्तराश्रितम् ।
पुंसां विवेकमाणिक्यं हरत्येवानिवारितम् ॥१४०

1039) त्वामेव वञ्चितुं मन्ये प्रवृत्ता विषया इमे ।
स्थिरीकुरु तथा चित्तं यथैतैर्न कलङ्क्यते ॥१४१

1040) उदधिरुदकपूरैरिन्धनैश्चित्रभानु-
र्यदि कथमपि दैवात्तृप्तिमासादयेताम् ।
न पुनरिह शरीरो कामभोगैर्विसंख्यै-
श्चिरतरमपि भुक्तैस्तृप्तिमायाति कश्चित्[1] ॥१४२

त्वम् । सर्वथा पर्यन्ते विषपाकानि विषवद्विपाकानि इति सूत्रार्थः ॥१३९॥ अथ पुंसां विवेकमाणिक्यम् इन्द्रियाणि हन्तीत्याह ।

1338) हृषीक—हृषीकतस्करानीकं इन्द्रियचौरसैन्यं पुंसां विवेकं हरत्येव । कीदृशम् । अनिवारितम् । कीदृशं हृषीकतस्करानीकम् । चित्तदुर्गान्तराश्रितं मनोदुर्गान्तरव्याप्तम् । इति सूत्रार्थः ॥१४०॥ अथ विवेकिनमुपदिशतीत्याह ।

1039) त्वामेव—अहम् एवं मन्ये । हे विवेकिन्, इमे विषयाः त्वामेव वञ्चितुं प्रवृत्ताः, तथा चित्तं स्थिरीकुरु । यथा एतैर्विषयैः चित्तं न कलङ्क्यते न कलङ्कयुक्तं कुरुते । इति सूत्रार्थः ॥१४१॥ अथ नराः संसारसुखतृप्ता न भवन्तीत्याह । मालिनी ।

1040) उदधिः—उदधिः समुद्रः उदकपूरैः जलसमूहैः । तथा चित्रभानुरग्निः इन्धनैः । एतौ द्वौ यदि कथमपि केनचित् प्रकारेण दैवात् भाग्यात् तृप्तिमासादयेताम् प्राप्नुयाताम् । इहलोके न पुनः शरीरी कैश्चित् कामभोगैः तृप्तिमायाति प्राप्नोति । कीदृशैः कामभोगैः । विसंख्यैः संख्यारहितैः । पुनः कीदृशैः । चिरतरमपि भुक्तैः बहुकालभुक्तैः । इति सूत्रार्थः ॥१४२॥ अथ विषयसुखस्य सुप्राप्यत्वं नास्तीत्याह । आर्या ।

है, परन्तु अन्तमें उसका परिपाक सर्वथा विषके समान घातक होता है, ऐसा निश्चित जानना चाहिए ॥१३९॥

चित्तरूप दुर्ग (किला) के भीतर आश्रय लेनेवाली इन्द्रियरूप चोरोंकी सेना प्राणियोंके विवेकरूप रत्नका निर्बाधरूपसे (वेरोक-टोक) अपहरण करती है ॥१४०॥

हे भव्य ! मैं यह मानता हूँ कि ये विषय तुझे ही ठगनेके लिए प्रवृत्त हुए हैं । इसलिए तू अपने चित्तको इस प्रकारसे स्थिर कर कि जिससे ये विषय उसे कलंकित न कर सकें ॥१४१॥

यदि दैववश किसी प्रकारसे समुद्र अनेक जलप्रवाहोंसे तथा अग्नि ईंधनके समूहसे भले ही तृप्तिको प्राप्त कर लें, किन्तु संसारमें कोई प्राणी चिरकालसे भी भोगे गये असंख्यात कामभोगोंके द्वारा तृप्तिको नहीं प्राप्त कर सकता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अग्नि-

१. All others except P कैश्चित् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1041) यद्यपि दुर्गतिबीजं तृष्णा[1]संतापपापसंकलितम् ।
तदपि न सुखसंप्राप्यं विषयसुखं वाञ्छितं नृणाम् ॥१४३ । किं च[2]–

1042) विषयेषु भवेद्वाञ्छा संभवन्ती[3] यथा यथा ।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्पति ॥१४४

1043) अनिषिध्याक्षसंदोहं यः साक्षान्मोक्ष[4]मिच्छति ।
विदारयति दुर्बुद्धिः शिरसा स महीधरम् ॥१४५

1041) **यद्यपि**—नृणां मनुष्याणां वञ्चितं विषयसुखम् । तदपि सुखसंप्राप्यं न भवसंतापपापव्याप्तम् । इति सूत्रार्थः ॥१४३॥ किं च युक्त्यन्तरमाह ।

1042) **विषयेषु**—यथा यथा कामाः वाञ्छाः संकल्पिताः अपि संभवन्ति । तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं सामस्त्यं वा जगद्विसर्पति प्रसरति । इति सूत्रार्थः ॥१४४॥ अथाक्षसमूहम्-निर्जित्य मोक्षं वाञ्छतीत्याह ।

1043) **अनिषिध्य**—यः पुमान् साक्षात् प्रकारेण मोक्षमिच्छति वाञ्छति । किं कृत्वा । अक्षसंदोहम् इन्द्रियसमूहम् अनिषिध्यानिवार्य । स दुर्बुद्धिः महीधरं पर्वतं शिरसा मस्तकेन विदारयति भिनत्तीति सूत्रार्थः ॥१४५॥ अथ पुनर्विषयसुखं हेयम् इत्याह । मालिनी ।

में जितना ही अधिक ईंधन डाला जाय उतनी ही वह अधिक बढ़ती है, किन्तु शान्त नहीं होती; उसी प्रकार प्राणीको जितने अधिक विषयभोग प्राप्त होते जाते हैं उतनी ही अधिक उसकी भोगाकांक्षा बढ़ती जाती है, किन्तु शान्त नहीं होती ॥१४२॥

मनुष्योंका अभीष्ट वह विषयसुख यद्यपि दुर्गतिका कारण तथा तृष्णा, सन्ताप एवं पापसे परिपूर्ण है तो भी वह उन्हें सुखपूर्वक—सरलतासे—नहीं प्राप्त होता है । अभिप्राय यह है कि जो विषयसुख पापका कारण होनेसे नरकादि दुर्गतिको प्राप्त कराता है वह भी मनुष्योंको सरलतासे प्राप्त नहीं होता, किन्तु जिनके कुछ पूर्वोपार्जित पुण्य शेष होता है उन्हींको वह प्राप्त हुआ करता है ॥१४३॥

दूसरे—जैसे-जैसे मनुष्योंको अभीष्ट कामभोग प्राप्त होते जाते हैं वैसे-वैसे उनकी विषयतृष्णा विस्तृत होकर लोकको व्याप्त करती है—वह और भी अधिक बढ़ती जाती है ॥१४४॥

जो दुर्बुद्धि मनुष्य इन्द्रियोंके समूहका निषेध न करके—उन्हें वशमें करनेके बिना ही—साक्षात मोक्षकी इच्छा करता है वह मानो शिरसे पर्वतको विदीर्ण करता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार शिरसे आहत करके पर्वतका खण्डन करना असम्भव है, उसी प्रकार इन्द्रियोंको वशमें करनेके बिना मोक्षकी प्राप्ति भी असम्भव है ॥१४५॥

१. MN तुच्छं for तृष्णा । २. PML किं च, F तद्यथा । ३. All others except P अपि संकल्पिताः कामाः संभवन्ति यथा । ४. All others except P मोक्तुमिच्छति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1044) इदमिह विषयोत्थं यत्सुखं तद्धि दुःखं
व्यसनविपिनबीजं तीव्रसंतापविद्धम् ।
कटुकतरफलाढ्यं निन्दितं ज्ञानवृद्धैः
परिहर किमिहान्यैर्धूर्तवाचां प्रपञ्चैः ॥१४६

1045) तत्तत्कारकपारतन्त्र्यमचिरान्नाशः सतृष्णान्वय[3]-
स्तैरेभिर्निरुपाधिसंगमभृतो[4] बाधानिदानैः परैः ।
शर्माणि[6] स्पृहयन्ति हन्त विषयानाश्रित्य यद्देहिन-
स्तत्क्रुध्यत्फणिनायकाग्रदशनैः कण्डूविनोदः स्फुटम् ॥१४७

1044) इदमिह—इह जगति यद्विषयोत्थं सुखम् । हि निश्चितम् । तत्सुखं दुःखमेव । कीदृशम् । व्यसनविपिनबीजम् आपद्वनस्य कारणम् । पुनः कीदृशं तत् सुखम् । कटुतरपरिपाकं कटुतरः दुःसहः परिपाको भुक्तिकालो यस्य तत् । पुनः कीदृशम् । ज्ञानवृद्धैर्निन्दितं हेयतया अपवर्णितम् । तत्सुखं, हे भव्य, परिहर त्यज । इह प्रस्तावे अन्यैर्धूर्तवांचप्रपञ्चैः । कपटिवाग्विस्तारैः किम् । न किमपीत्यर्थः ॥१४६॥ अथ विषयैः यत्सुखं वाञ्छति तानाह । शार्दूल० ।

1045) तत्तत्कारक—तत् इन्द्रियसुखं तत्कारकपारतन्त्र्यं पराधीनम् । सतृष्णान्वयः । अचिरान्नाशः शीघ्रनाशः । निरुपाधिसंगमभृतः निर्ग्रन्थलिङ्गधारका यतयः । एभिर्विषयैः परैः अन्यैर्वा बाधानिदानैः दुःखकारणैः शर्मभ्यः सुखेभ्यः स्पृहयन्ति वाञ्छन्ति । अत्र स्पृहादियोगे द्वितीयास्थाने चतुर्थी । हन्त खेदे । किं कृत्वा । विषयानाश्रित्य । यत्सुखं देहिनः स्पृहयन्ति, तत् क्रुध्यत्फणिनायकाग्रदशनैः कोपितनागेन्द्राग्रदशनैः स्फुटं यथा स्यात् तथा कण्डूविनोदः खर्जूःक्रीडा । इति सूत्रार्थः ॥१४७॥ अथेन्द्रियविषयवतां वैराग्याभावमाह ।

संसारमें यह जो विषयोंसे उत्पन्न हुआ सुख है वह निश्चयसे दुख ही है। कारण यह कि वह कष्टरूप वनका बीज—अनेक कष्टोंको उत्पन्न करनेवाला, तीव्र सन्तापसे वेधा गया—अतिशय सन्तापका कारण, अत्यन्त कड़ुवे फलोंसे व्याप्त और विशिष्ट ज्ञानियोंके द्वारा निन्दित है। इसलिए हे भव्य ! तू उसे छोड़ दे, क्योंकि, यहाँ अन्य धूर्तजनोंके वचनोंके विस्तारसे तुझे क्या लाभ होनेवाला है ? कुछ भी नहीं ॥१४६॥

वह विषयसुख उन-उन कारकोंके अधीन—बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा रखनेवाला, क्षणनश्वर एवं तृष्णाका अविनाभावी है। बाधाके कारणभूत उन इन पर पदार्थोंके साथ उपाधिरहित संयोगको धारण करनेवाले प्राणी जो विषयोंका आश्रय लेकर सुखोंकी अभिलाषा करते हैं वह स्पष्टतया क्रोधको प्राप्त हुए भयानक सर्पके अगले दाँतोंके द्वारा—विषैली दाढ़ोंसे—खुजलाकर खुजलीको नष्ट करनेके समान है। अभिप्राय यह है कि विषयसुख क्षणनश्वर होकर भी पर पदार्थोंके अधीन है। परन्तु उन पर पदार्थोंकी अनुकूलता प्राणीके अधीन नहीं

१. All others except P कटुतरपरिपाकं । २. MN कारमपार । ३. TJXYR तृष्णान्वयै[?] । ४. All others except PMN संयम । ५. P बाधानिन्नोध्या (?) । ६. All others except P शर्मभ्यः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1046) निःशेषाभिमतेन्द्रियार्थरचनासौन्दर्यसंदानितः
प्रीतिप्रस्तुतलोभलङ्घितमनाः को नाम निर्वेद्यताम् ।
अस्माकं तु नितान्तघोरनरकज्वालाकलापा[1] पुरः
सोढव्याः[1] कथमित्यसौ तु महती चिन्ता मनः कृन्तति ॥१४८

1047) मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिता दन्तिनः स्पर्शरुद्धा
नद्धा[2]स्ते वारिबन्धे ज्वलनमुपगताः पत्रिणश्चाक्षिदोषात् ।
भृङ्गा गन्धोद्धताशाः प्रलयमुपगताः श्रोतुकामाः[2] कुरङ्गाः
कालव्यालेन दष्टा[3]स्तदपि तनुभृतामिन्द्रियार्थेषु रागः ॥१४९

1046) निःशेषाभि—नामेति कोमलामन्त्रणे। को निर्वेद्यतां वैराग्यतां भजेत्। न कोऽपीति। कीदृशः कः। निःशेषाभिमतेन्द्रियार्थरचनासौन्दर्यसंदानितः सर्वाभिमतेन्द्रियार्थरचना, तस्याः सौन्दर्यं, तेन संदानितः संमिश्रितः। पुनः कीदृशः। प्रीतिप्रस्तुतलोभलङ्घितमनाः प्रीत्या प्रारब्धो यो ऽसौ लोभः तेन लङ्घितं मनो यस्य सः। तु पुनः। अस्माकं नितान्तघोरनरकज्वाला-कलापाः निरन्तररौद्रनरकज्वालासमूहाः। पुरः अग्रतः सोढव्याः। कथम्। तुर्भिन्नोक्तिकः। असौ महती चिन्ता इति मनः कृन्तति छिनत्ति। इति सूत्रार्थः ॥१४८॥ अथ पञ्चेन्द्रियाणां विषयैः प्रत्येकं जीवा दुःखमनुभवन्तीत्याह। स्रग्धरा।

1047) मीना मृत्युं—मीना मत्स्याः मृत्युं प्रयाताः। कीदृशाः। रसनवशमिताः जिह्वावश-प्राप्ताः। दन्तिनः स्पर्शरुद्धाः मृत्युं प्रयाताः। ते दन्तिनः वारिबन्धे बद्धाः। च पुनः। पत्रिणः पतङ्गाः ज्वलनं वह्निमुपगताः प्राप्ताः। कस्मात्। अक्षदोषात्। भृङ्गाः भ्रमराः प्रलयं नाशम् उपगताः। कीदृशा भृङ्गाः। गन्धोद्धताशाः। कुरङ्गा हरिणाः। कालव्यालेन कालसर्पेण दष्टाः।

है। अतएव पर पदार्थोंके संयोगसे विषयसुखकी अभिलाषा करना सर्पकी विषपूर्ण दाढ़ोंके संयोगसे खुजलीके नष्ट करनेकी अभिलाषाके समान दुखदायक है ॥१४७॥

समस्त अभीष्ट इन्द्रियविषयोंकी रचनाके सौन्दर्यसे सम्बद्ध—उनकी सुन्दरतामें अनुरक्त—तथा जिसका मन प्रीतिसे प्रस्तुत लोभके द्वारा लाँघा गया है, अर्थात् जो उनके विषयमें अतिशय लुब्ध है, ऐसा कौन-सा मनुष्य है जो वैराग्यको प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् समस्त अभीष्ट विषयसामग्रीको प्राप्त करनेवाला कोई भी मनुष्य विरक्त नहीं हो सकता है। परन्तु हमारे मनको तो यह बड़ी भारी चिन्ता व्यग्र करती है कि वह अतिशय भयानक नरककी ज्वालाओंका समूह प्राणीसे कैसे सहा जावेगा ॥१४८॥

मछलियाँ रसना इन्द्रियके वशीभूत होकर मृत्युको प्राप्त हुई हैं, हाथी स्पर्शसे रुद्ध होकर—स्पर्शन इन्द्रियके वशमें होकर वारिबन्ध में बाँधे गये हैं, पतंग चक्षु इन्द्रियके

---

१. All others except PMY कलापः....सोढव्यः। २. All others except P वद्धास्ते....गीत-लोलाः कुरङ्गाः। ३. P दुष्टाः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1048) एकैककरणपरवशमपि मृत्युं याति जन्तुजातमिदम् ।
सकलाक्षविषयलोलः कथमिह कुशली जनो ऽन्यः स्यात् ॥१५०

1049) संवृणोत्यक्षसैन्यं यः कूर्मो ऽङ्गानीव संयमी ।
स लोके दोषपङ्काढ्ये चरन्नपि न लिप्यते ॥१५१

1050) अयत्नेनापि जायन्ते तस्यैता दिव्यसिद्धयः ।
विषयैर्न मनो यस्य मनागपि कलङ्कितम् ॥१५२

कीदृशाः गीतलोलाः गानचपलाः । तदपि यथा एभिः पञ्चभिः जीवैः एकैकेन इन्द्रियेण दुःखं तथापि तनुभृतां शरीरिणाम् इन्द्रियार्थेषु इन्द्रियविषयेषु रागः । इति सूत्रार्थः ॥१४९॥ अथ सकलेन्द्रियविषयविरागमाह ।

1048) एकैक—इदं जन्तुजातं जीवसमूहः मृत्युं याति । कीदृशं जन्तुजातम् । एकैककरण-परवशमपि । जनो लोकः इह लोके अन्यः स्यात् । कुशलं कल्याणं कथं प्राप्नोति इति गम्यम् । कीदृशो जनः । सकलाक्षविषयलोलः सर्वेन्द्रियविषयचपलः । इति सूत्रार्थः ॥१५०॥ अथेन्द्रिय-संवरमाह ।

1049) संवृणोत्यक्ष—स संयमी अक्षसैन्यं वृणोत्यावृणोति । यः कूर्मो ऽङ्गानीव यथा कूर्मः स्वाङ्गानि वृणोति, स संयमो लोके दोषपङ्काढ्ये चरन्नपि न लिप्यते पापैः । इति सूत्रार्थः ॥१५१॥ अथ विषयरहितस्य फलमाह ।

1050) अयत्नेनापि—तस्य पुंसः एता दिव्यसिद्धयो जायन्ते उत्पद्यन्ते । केन । अयत्नेनापि तपःप्रमुखादिना विनैव । यस्य मनः विषयैः मनागपि न कलङ्कितम् । इति सूत्रार्थः ॥१५२॥

दोषसे अग्निको प्राप्त हुए हैं—अग्निमें भस्मसात् हुए हैं, गन्धमें उत्कट इच्छा रखकर भ्रमर नाशको प्राप्त हुए हैं तथा गीत सुननेमें अनुरक्त होकर हिरण भी कालरूप सर्पके द्वारा काटे गये हैं—मरणको प्राप्त हुए हैं। फिर भी प्राणियोंको इन इन्द्रियविषयोंमें अनुराग है ॥१४९॥

यह जन्तुसमूह एक-एक इन्द्रियके अधीन होकर भी मरणको प्राप्त होता है। फिर जो अन्य प्राणी यहाँ सब ही इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त हो उसकी कुशलता कैसे रह सकती है ? वह तो दुःसह दुखका भाजन होगा ही ॥१५०॥

जिस प्रकार कछुआ अपने अवयवोंका संरक्षण करता है उसी प्रकार जो संयमी साधु इन्द्रियरूप सेनाका संरक्षण करता है—उसे अपने अधीन रखता है—वह अनेक दोषरूप कीचड़से व्याप्त लोकमें संचरण करता हुआ भी उन दोषोंसे लिप्त नहीं होता है ॥१५१॥

जिसका मन इन्द्रियविषयोंके द्वारा थोड़ा भी कलंकित नहीं किया गया है उसके बिना प्रयत्नके ही ये दिव्य सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं ॥१५२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्रीशुभचन्द्र-विरचिते अक्षविषयनिरोधप्रकरणम्[1] ॥१८॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साह-पासा तत्पुत्र साहटोडर तत्कुलकमलदिवाकर साहऋषिदास स्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन अक्षविषयनिरोधप्रकरणं समाप्तम् ॥१८॥

मालिनी छन्दः । सकलमहिमधामध्वस्तदुर्जयकामः समभवदिह पार्श्वकर्मकान्तारपार्श्वः । तदिककुलसमुद्रोल्लासचन्द्रप्रकाशो जयतु विगतशङ्कष्टोडरः स्वर्षिदासः ॥१॥ आशीर्वादः । अथ ध्यानेनेन्द्रियजयो भवत्यत इन्द्रियजयानन्तरं ध्यानं हेतुमद्भावत्वेनाह ।

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें अक्षविषयनिरोध प्रकरण समाप्त हुआ ॥१८॥

१. F विंशतितमः सर्गः, R विंशं प्रकरणम्, L प्रकरणं ॥१८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

XIX

[त्रितत्त्वम्]

1051) अयमात्मा स्वयं साक्षाद् गुणरत्नमहार्णवः ।
सर्वज्ञः सर्वगः सार्वः परमेष्ठी निरञ्जनः ॥१

1052) तत्स्वरूपमजानानो जनो ऽयं विधिवञ्चितः ।
प्रपश्यतीन्द्रियार्थेषु दुःखमेव सुखास्थया ॥२

1053) यत्सुखं वीतरागस्य मुनेः प्रशमपूर्वकम् ।
न तस्यानन्तभागो ऽपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरैः ॥३

1051) **अयमात्मा**—अयम् आत्मा स्वयमात्मनैव साक्षात् प्रत्यक्षं गुणरत्नमहार्णवो भवति । अयमात्मा सर्वज्ञः, सर्वदृक्, सार्वः सर्वरूपः, परमेष्ठी निरञ्जनश्च ॥१॥ [विषयसुखं विषान्नवदित्याह ।]

1052) **तत्स्वरूपम्**—तत्स्वरूपम् आत्मस्वरूपम् अजानानः अजानन् अयं लोकः विषयेषु सुखं वेत्ति । किंभूतो जनः । विधिवञ्चितो दैववञ्चितः स्वरूपज्ञानात् प्रच्यवितः । किंभूतं च तद्विषयसुखम् । यदिदमेवं विनिन्द्यते । *अथ यत्पाके परिणामे विषयसुखं विषान्नवत् विषमिलितान्नवत् स्यात् ॥२॥ [वीतरागसुखं देवदुर्लभमित्याह ।]

1053) **यत्सुखं**—वीतरागस्य मुनेः प्रशमपूर्वकं यत्सुखं वर्तते, तस्य सुखस्यानन्तभागो ऽपि त्रिदशेश्वरैः देवैरपि न प्राप्यते ॥३॥ [तत्सुखं साधनैः विना प्राप्यते इत्याह ।]

यह आत्मा प्रगटमें स्वयं गुणरूप रत्नोंका महासमुद्र, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक—अनन्तज्ञानकी अपेक्षा सर्वत्र व्याप्त, सबका हित करनेवाला, परम पदमें स्थित और कर्मरूप कज्जलसे रहित है ॥१॥

यह प्राणी दैवसे ठगा जाकर—कर्मोदयके वशीभूत होकर—आत्माके उपर्युक्त स्वरूपको न जानता हुआ इन्द्रियविषयोंमें उनके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले दुखको ही सुखकी दृष्टिसे देखता है । अभिप्राय यह है अज्ञानी प्राणी अशुभ कर्मके उदयसे आत्माके यथार्थ स्वरूपको न समझकर बाह्य इन्द्रियविषयोंमें सुखकी कल्पना करता है । परन्तु ऐसा है नहीं, यथार्थ सुख तो आत्मामें ही है—वह बाह्य पदार्थोंमें नहीं है ॥२॥

राग-द्वेषके उपशमपूर्वक जो सुख वीतराग मुनिको प्राप्त होता है, इन्द्रोंको उसके अनन्तवें भाग भी वह सुख नहीं प्राप्त होता । अभिप्राय यह है कि प्राणीके अन्तःकरणमें जब

१. N L S T F J K R सर्वदृक् सार्वः । २. All others except P 2nd line विषयेषु सुखं वेत्ति यत्स्यात् पाके विषान्नवत् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1054) अनन्तबोधवीर्यादिनिर्मला गुणिभिर्गुणाः ।
स्वस्मिन्नेव स्वयं मृग्या अपास्य करणान्तरम् ॥४

1055) अहो अनन्तवीर्यो ऽयमात्मा विश्वप्रकाशकः ।
त्रैलोक्यं चालयत्येव ध्यानशक्तिप्रभावतः ॥५

1056) अस्य वीर्यमहं मन्ये योगिनामप्यगोचरम् ।
यत्समाधिप्रयोगेण स्फुरत्यव्याहतं क्षणे ॥६

1057) अयमात्मा स्वयं साक्षात् परमात्मेति निश्चयः ।
विशुद्धध्याननिर्धूतकर्मेन्धनसमुत्करः ॥७

1054) **अनन्त**—गुणिभिः पण्डितैः अनन्तबोधानन्तवीर्यादयो निर्मला ये गुणास्ते स्वस्मिन्नेव मृग्याः । अपास्य करणान्तरम् । किं कृत्वा । करणान्तरं साधनान्तरम् अपास्य । न हि ऐन्द्रियिकसुखवदत्र साधनान्तरमुपभुज्यते । इत्यर्थः ॥४॥ [अथात्मनः सामर्थ्यमाह ।]

1055) **अहो अनन्त**—अहो आश्चर्यम् । अनन्तवीर्यः अयमात्मा विश्वेषां प्रकाशकः ध्यानशक्तिप्रभावतः त्रैलोक्यं चालयत्येव स्थानान्तरं नयत्येव । इदम् उपलक्षणम् । ध्यानशक्त्या उत्पादयति पोषयति च विश्वम् इति नासंभावितमात्मनः किंचिदस्तीत्यर्थः ॥५॥ [आत्मनः सामर्थ्यं वचसो ऽप्यगम्यमित्याह ।]

1056) **अस्य वीर्यं**—अस्यात्मनो वीर्यम् अहं योगिनामप्यगोचरम् अविषयं मन्ये । यत्समाधिप्रयोगेण अस्यात्मनः स्फुरति । किंभूतं वीर्यम् । अव्याहृतं वचसो ऽगम्यम् ॥६॥ [अयमात्मैव परमात्मेत्याह ।]

1057) **अयमात्मा**—अयमात्मा स्वयं स्वरूपतः साक्षात् प्रत्यक्षं परमात्मा इति निश्चयः । किंविशिष्टः आत्मा । विशुद्धध्यानेन परब्रह्मस्वरूपविचारणसमाधिना निर्धूतः कर्मेन्धनानां समुत्करः

तक राग-द्वेष विद्यमान रहते हैं तब तक उसे स्थायी व बाधारहित सुख प्राप्त नहीं होता, वह सुख तो उसे आकुलताको उत्पन्न करनेवाले उन राग और द्वेषके दूर कर देनेपर ही प्राप्त हो सकता है ॥३॥

गुणी जनोंको अनन्त ज्ञान और अनन्तवीर्य आदि (अनन्तसुखादि) निर्मल गुणोंको इन्द्रियोंके व्यवधानको हटाकर स्वयं अपनी आत्माके भीतर ही खोजना चाहिए । अभिप्राय यह है कि यथार्थ सुख आत्माके ही भीतर है । उसका अनुभव इन्द्रियोंकी अपेक्षा न करके स्वसंवेदन (स्वानुभव) से किया जा सकता है ॥४॥

अरे यह आत्मा अनन्त शक्तिसे सम्पन्न होकर समस्त लोकका प्रकाशक (ज्ञाता द्रष्टा) है । वह ध्यानके बलसे तीनों लोकोंको विचलित कर सकता है । तात्पर्य यह कि आत्मध्यानके प्रभावसे तीनों लोकोंके प्राणी आकर भक्तिपूर्वक पूजा-वन्दनादि किया करते हैं ॥५॥

ग्रन्थकार कहते हैं कि ध्यानके प्रभावसे क्षणभरमें जो निर्बाध शक्ति प्रगट होती है वह योगी जनकी भी विषय नहीं है—उसे केवली ही जानते हैं, ऐसा मैं मानता हूँ ॥६॥

निर्मल ध्यानके द्वारा कर्मरूप ईंधनके समूहको नष्ट करनेवाला यह आत्मा प्रगटमें स्वयं परमात्मा है, यह निश्चित है ॥७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1058) [1]ध्यानादेव गुणग्राम[2]मस्याशेषं स्फुटीभवेत् ।
क्षीयते च तथानादिकर्मौ[3]घध्वान्तसंततिः ॥८

1059) शिवो ऽयं वैनतेयश्च स्मरश्चात्मैव कीर्तितः ।
अणिमादिगुणान[4]र्घ्यरत्नवार्धिर्बुधैर्मतः ॥९

1060) उक्तं च—

आत्यन्तिकस्वभावोत्थानन्तज्ञानसुखः पुमान् ।
परमात्मा विधुः[5] कन्तुरहो माहात्म्यमात्मनः ॥९*१॥ इति

समूहः येन इति। अनेन व्यवहारतः संसारित्वे ऽपि पारमार्थिकम् आत्मस्वरूपम् असंसारि एव इति निर्णीतम् ॥७॥ [ध्यानादेव कर्मक्षय इत्याह।]

1058) **ध्यानादेव**—मम अशेषो गुणग्रामः ध्यानादेव स्फुटीभवेत्। तथा अनादिसंभवा कर्मसंततिः च क्षीयते ॥८॥ [आत्मनो विविधरूपाण्याह।]

1059) **शिवो ऽयं**—अयम् आत्मैव शिवः, वैनतेयः गरुडः, स्मरः च कीर्तितः मतः। किं च। अणिमादिगुणानर्घ्यरत्नवार्धिः अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यम्, ईशित्वं, वशित्वं चैता अष्टसिद्धय एव गुणाः। त एवानर्घ्याणि अमूल्यानि रत्नानि, तेषां वार्धिः समुद्रः। बुधैः ज्ञानिभिः। मतः कथितः। इत्यर्थः ॥९॥ तदेवार्थान्तरेणाह। उक्तं च।

1060) **आत्यन्तिक**—अहो इत्याश्चर्ये। आत्यन्तिकस्वभावोत्थानन्तज्ञानसुखः स्वभावेनैवोत्पन्नमनन्तं ज्ञानं सुखं च यस्य एतादृशः। पुमान् आत्मा। परमात्मा, गरुडः, कामः। इति विविध-

---

1059) **शिवो ऽयं**—अयम् आत्मा शिवः सिद्धः कीर्तितः शुक्लध्यानात्। तथा अयम् आत्मा वैनतेयो गरुडः कीर्तितः ध्यानबलात्। तथा स्मरः कन्दर्पः कीर्तितः। पुनः किंविशिष्टः। अणिमादीत्यादि—अणिमा अणोर्भावः। आदिशब्दात् महिमादयोऽष्टौ गृह्यन्ते। ते च ते गुणास्त एव अनर्घ्याणि अमूल्यानि रत्नानि तेषां वार्धिः समुद्रः। बुधैः गणधरदेवादिभिः। मतः कथितः। अणिमादिगुणानां विचारश्चारित्रसारादौ वेदितव्यः ॥१॥ तत्र तावत् ध्यानबलादयं आत्मा शिवः कथमिति गद्येन शुभचन्द्रदेवा निरूपयन्ति। तद्यथा—तदेव निरूपयन्ति यथेत्यादि।

इस आत्माके सब ही गुणोंका समूह एकमात्र ध्यानके ही प्रभावसे प्रगट होता है तथा अनादि कालसे संचित कर्मोंके समूहरूप अन्धकारकी परम्परा इस ध्यानके बलसे ही नष्ट होती है ॥८॥

यह आत्मा ही शिव, गरुड़ और काम भी कहा जाता है। विद्वान् जन इसे अणिमा-महिमा आदि गुणों रूप अमूल्य रत्नोंका समुद्र मानते हैं ॥९॥ कहा भी है—

अपने अविनश्वर स्वभावसे उत्पन्न हुए अनन्तज्ञान और अनन्तसुखसे परिपूर्ण यह

---

१. N ज्ञानादेव। २. M गुणाम्भोधिरस्या। ३. All others except P °नादिसंभवा कर्मसंततिः। ४. P अनर्घ। ५. N दिपः, L विपाकं तु, T विपः, M S F J K X Y R विपः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[1]अमुमेवार्थं संप्रति गद्यैर्विशदयामः । तद्यथा—

यथान्तर्बहिर्भूतनिजनिदानं[2]संदोहसंपाद्यमानद्रव्या[3]दिकं[4]चतुष्कसकलसामग्रीस्वभावप्रभावात्स्फुरित[5]रत्नत्रयातिशयसमुल्लसितस्वशक्तिनिराकृतं[6]सकलतदावरणप्रादुर्भूतशुक्लध्यानानलबहलं[7]ज्वालाकलापकवलितगहनतरानादि[8]सकलजीवप्रदेशघनघटितसंसारका-

---

रूपैः ज्ञायते । आत्मनः माहात्म्यं सामर्थ्यम् । आश्चर्यकारीत्यर्थः ।।९*१।। श्लोकोक्तमेवार्थं गद्येन विशदयति ।

यथान्तर्बहिर्भूत—अन्तर्भूतं निजनिदानम् आत्मनः कारणम् । भव्यत्वादि । तथा बहिर्भूतं सुद्रव्यादि । तेषां संदोहः समूहः तेन संपाद्यमानां उत्पाद्यमाना । या द्रव्यादिचतुष्कस्य द्रव्यक्षेत्रभवभावचतुष्कस्य सकला सामग्री तस्याः । स्वभावः प्रभावः । तस्मात् स्फुरितं यद् रत्नत्रयं सम्यग्दर्शनादिलक्षणं तस्यातिशयेन प्रादुर्भूतस्वशक्त्या आत्मशक्त्या निराकृतं निर्मूलितं यत्सकलं तदावरणम् आत्मावरणम् । तेन प्रादुर्भूतं शुक्लध्यानम् एव अनलः अग्निः तस्य बहलाः ज्वालाः, तासां कलापेन समूहेन कवलितं ग्रसितं यद्गहनं गुपिलम् आन्तरमात्मप्रदेशेषु वह्न्यः पिण्डवदेकीभूतम् ।

यथा—यथेत्युदाहरणे । अन्तर्भूतं निजनिदानं भव्यत्वं कर्मलघुत्वं निःकषायत्वं चेत्यादि । बहिर्भूतं निजनिदानम् । आत्मनः कारणम् । सुद्रव्य-सुक्षेत्र-सुकाल-सुभव-सुभावादिकं सुगुर्वादिकं च । एतेषां निदानानां हेतूनां योऽसौ संदोहः समूहः तेन संपाद्यमाना उत्पाद्यमाना या द्रव्यादीनां द्रव्यक्षेत्रभवभावचतुष्कस्य या सकला परिपूर्णा सामग्री समग्रता तस्याः स्वभावः तस्य प्रभावः तेन अन्तर्मनसि यत्स्फुरितं जागरितं यद्रत्नत्रयं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं तस्य अतिशयेन सर्वोत्कृष्टतया समुल्लसिता उच्छलिता प्रादुर्भूता या स्वस्य आत्मनः शक्तिः सामर्थ्यम् अनादिजीवलग्नप्रभुत्वम् । तथा निराकृतं निर्मूलितं स्फेटितं समूलकाषंकषितं यत्सकलं समग्रं तदावरणम् आत्मावरणं मतिश्रुताद्यावरणं तेन प्रादुर्भूतम् उत्पन्नं यत् शुक्लध्यानं पृथक्त्ववितर्कवीचारलक्षणम् एकत्ववितर्कावीचारलक्षणं च, तदेव अनलो ऽग्निः, तस्य बहुलाः प्रचुरा अर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिलक्षणोपलक्षिता

आत्मा ही परमात्मा (शिवतत्त्व), विधु (विष्णु या गरुड तत्त्व) और कामतत्त्व है । आत्माकी महिमा आश्चर्यजनक है ।।९*१।।

अब इसी अर्थको गद्योंके द्वारा स्पष्ट करते हैं । वह इस प्रकारसे । जैसे—अपने अन्तरंग और बहिरंग कारणोंके समूहसे प्राप्त होनेवाली द्रव्यादि (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) चाररूप समस्त सामग्रीके स्वभावके प्रभावसे जो रत्नत्रय प्रगट हुआ है उसके अतिशयसे विकसित हुई शक्तिसे जिसने समस्त आवरण कर्मको नष्ट कर दिया है; इससे उत्पन्न हुई शुक्लध्यानरूप अग्निकी मोटी ज्वालाओंके समूहसे जिसने अतिशय गहन, अनादि

---

१. N S T J K R om. this sentence । २. All others except P M N निजनिजानन्द । ३. N स्वद्रव्या° । ४. All others except P द्रव्यादिच° । ५. M प्रभावपरिस्फुरित, N प्रभावस्फुरित, L S F J K X R प्रभावात् परिस्फुरित, T प्रभावजपरि° । ६. N T निराकृति । ७. L S F K X Y R बहुल । ८. All others except P L F गहनान्तरालादि, L F गहनान्तरानादि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रणज्ञानावरणादिद्रव्यभावबन्धनविशेषैस्ततो[1] युगपत्प्रादुर्भूतानन्त-चतुष्टयो[2] घनपटलविगमे सवितुः प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिवत् स[3] खल्वयमात्मैव परमात्मव्यपदेशभाग्भवति ॥ [इति] [4]शिव-तत्त्वम् ॥१

अनादि आदिरहितं सकलं प्रतिप्रदेशव्याप्तम्। जीवप्रदेशेषु घनं निबिडं घटितं रचितं संसारस्य कारणम् एतादृशं यत् ज्ञानावरणादि। आदिशब्दादष्टकर्म ग्राह्यम्। तस्य यत् द्रव्यभावबन्धनं प्रकृति-स्थितिप्रदेशानुभागरूपं तस्य विशेषो यस्मिन्नात्मनि स तथा। ततो ज्ञानावरणादिकर्मनाशानन्तरम्। किंभूत आत्मा। युगपत्प्रादुर्भूतानन्तचतुष्टयः सकलोत्पन्नानन्तचतुष्टयो वीर्यादिरूपो यस्य स तथा। किंवत्। घनपटलविगमे सवितुः प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिवत्; घनपटलो मेघसमूहः तस्य विगमे नाशे सवितुः सूर्यस्य प्रतापस्तेजः प्रकाशः तस्याभिव्यक्तिः प्राकटयं तद्वत्॥ इति शिवतत्त्वम् ॥१॥ अथ पृथ्व्यादितत्त्वानां गरुडप्रतिरूपके निर्दिशन्नाह। तत्र गरुडजानु....इन्द्रप्रति रूपकत्वेन पृथ्वीतत्त्वमाह।

या ज्वालाः कीलास्तासां कलापः समूहः, तेन कवलितो मूलादुन्मूलितः गहनान्तरः अविज्ञातसंधिः। अनादौ काले सकलेषु जीवप्रदेशेषु घनघटितो निबिडतया जटितो यो ऽसौ संसारस्य कारणभूतो ज्ञानावरणादिद्रव्यभावबन्धनविशेषो यस्य आत्मनः स तथोक्तः। अत्र द्रव्यबन्धनविशेषः कर्मरजः। भावबन्धनविशेषः रागद्वेषमोहादिर्ज्ञातव्यः। ततस्तदनन्तरं द्रव्यभावबन्धनविशेषकवल-नानन्तरं शुक्लध्यानानलव्याप्त्यनन्तरं युगपत्समकालं प्रादुर्भूतं प्रकटीभूतम्। अनन्तचतुष्टयम् अनन्तकेवलज्ञानदर्शनशक्तिसुखचतुष्कं यस्य स तथोक्तः, घनपटलविगमे मेघपटलविघटने सति सवितुः श्रीसूर्यस्य प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिवत्। तदेव प्रतापः उष्णतालक्षणः तदेव प्रकाशः उद्योत-लक्षणः. तयोः अभिव्यक्तिवत् प्रकटनवत्। खलु निश्चयनयेन। अयं प्रत्यक्षीभूतः आत्मैव संसारी

कालसे सब ही जीवप्रदेशोंमें सघनरूपसे निर्मित एवं संसारके कारण ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके द्रव्य और भावरूप बन्धविशेषको सर्वथा निर्मूल कर दिया है; तथा इसीलिए जिसके मेघसमूहके नष्ट हो जानेपर सूर्यके प्रताप और प्रकाशके समान एक साथ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख व अनन्तवीर्य स्वरूप अनन्तचतुष्टय प्रगट हो चुका है; वह यह आत्मा ही 'परमात्मा' नामको प्राप्त करता है। शिवतत्त्वका कथन समाप्त हुआ। विशेषार्थ— कितने विद्वान् ध्यानके लिए शिवतत्त्व, गरुडतत्त्व और कामतत्त्वको अभीष्ट (ध्येय) मानते हैं। इसके लिए यहाँ यह कहा गया है कि उक्त तीनों आत्मस्वरूप ही हैं, उससे पृथक् नहीं हैं। उनमें सर्वप्रथम यह आत्मा शिवतत्त्व किस प्रकार है, इसको स्पष्ट करते हुए यह बत-लाया है कि आत्मा जब अन्तरंग और बाह्य कारणोंसे योग्य द्रव्य-क्षेत्रादि रूप सामग्रीको सम्पादित कर उसके प्रभावसे रत्नत्रयको प्राप्त कर लेता है तब उसके अतिशयसे जिस आत्मशक्तिका विकास होता है उससे जीव पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क रूप शुक्लध्यान-को प्राप्त कर लेता है और तब उसके आश्रयसे वह जिस प्रकार अग्निकी ज्वाला विशाल

१. Y भावसंबन्धन। २. S K X R विश्लेषः। ३. P M N T om. स। ४. P M only read शिवतत्त्वम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अविरलमरीचिमञ्जरीपुञ्जपिञ्जरितभास्वर[2]तरशिरोमणिमण्डलीसहस्रमण्डितविकटतरस्फूत्कार[3]मारुतपरंपरोत्पातप्रेङ्खोलितकुलाचलसंमिलितशिखिशिखासंतापद्रवत्काञ्चनकान्तिकपिशैर्निजकाय-

---

अविरल—एतादृशः पृथ्वीतत्त्वो भवति । कीदृशः । अविरला निरन्तरा ये मरीचयः किरणास्त एव मञ्जरीपुञ्जास्तैः पिञ्जरिताः पिञ्जरीभूता भासुरतराः शिरोमणयो येषां ते । मण्डलीसहस्राः सर्पसहस्राः तैर्मण्डिता रचिता विकटतरी फूत्कारमारुतपरम्परा पवनपरम्परा तासामुत्पातः तेन प्रेङ्खोलिताः कम्पिताः कुलाचलाः येन सः । च पुनः । कीदृशाः । संमिलिता एकत्र जाताः शिखिशिखाः अग्निज्वालाः तासां संतापेन द्रवत् द्रवीभूतं काञ्चनं स्वर्णं तस्य कान्तिस्तद्वत्कपिशः पीतवर्णः निजकायः तस्य कान्तिः छटापटलः छटासमूहः, तेन जटिलितः मिश्रितो दिग्वलयः येन सः ।

जीवः । परमात्मव्यपदेशभाक् परमात्मनामभागी अर्हंत्सिद्धलक्षणो भवति संजायते ॥ शिवतत्त्वं समासम् ॥१॥ अथ गारुडतत्त्वमात्मनो निरूप्यते । तथाहि—तत्रायं क्रियाकारकसंबन्धः । कथम् । आत्मैव नान्यः को ऽपि पुद्गलादिकः । गारुडगीर्गोचरत्वं गारुडविद्यां वेत्तीति गारुडः । गारुड इति गीर्नाम गारुडगीः, तस्य गोचरत्वं विषयत्वम् अवगाहते प्राप्नोति आत्म-गारुड इति कथ्यते इत्यर्थः । कथंभूतः सन् । अविरल इत्यादि—अविरला अविच्छिन्ना या मरीचयः किरणाः ता एव मञ्जर्यो वल्लर्यः तासां पुञ्जः समूहः तेन पिञ्जरिताः पीतवर्णाः ते च ते भासुरतराः अतिशयेन देदीप्यमानाः । ये शिरोमणयः फणारत्नानि तेषां मण्डली चक्रवालं तस्याः सहस्रं तेन मण्डितं शोभितम् । क्षत्रियभुजङ्गपुङ्गवद्वितयमित्यस्य विशेषणमिदम् । तच्च तद्विकटतरेत्यादि—विकटतराः प्रकटतरा ये फूत्कारमारुता वायवः तेषां परंपरा श्रेणिः तस्याः उत्पातेन उच्छलनेन प्रेङ्खोलिताः कम्पिताः ये कुलाचलाः कुलपर्वताः तेषां संमिलितः समुद्भूतः यों ऽसौ शिखी अग्नि. तस्य शिखा ज्वालाः तासां संपातेन आगमनेन द्रवत् निर्गलत् यत् काञ्चनं सुवर्णं तस्य या कान्तिर्दीप्तिः तया कपिशौ पीतरक्तौ

वनको भस्म कर देती है उस प्रकार आत्माके साथ अनादि कालसे सम्बन्धको प्राप्त हुए ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंको भस्म कर देता है—उन्हें आत्मासे सर्वथा पृथक् कर देता है। उस समय उस के अनन्तज्ञानादि चार अनन्तगुण एक साथ प्रगट हो जाते हैं। तब वही आत्मा परमात्मा कहा जाता है तथा वही शिवस्वरूप—कल्याणकारक—होनेसे शिवतत्त्व माना जाता है ॥१॥

सघन किरणरूप लताओंके समूहसे पीतवर्णवाली व अतिशय चमकीली ऐसी शिरकी मणियोंकी—फणोंमें स्थित रत्नोंकी—हजार पंक्तियोंसे सुशोभित तथा अतिशय विस्तीर्ण फुंकारकी वायुओंकी परम्पराके उपद्रवसे विचलित हुए कुलपर्वतोंकी उत्पन्न हुई अग्निकी ज्वालाओंके सन्तापसे पिघले हुए सुवर्णकी कान्तिसे कपिश (काला-पीला) वर्णयुक्त अपने शरीरको कान्तिके समूहसे दिग्मण्डलको व्याप्त करनेवाले ऐसे क्षत्रिय जातिके दो श्रेष्ठ सर्पों

---

१. K starts here, J reads passages Nos. 2 to 7 after No. ८। २. All others except P भासुर। ३. All others except P M फूत्कार। ४. M N कान्तिपिङ्गल।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[1]कान्तिच्छटापटलजटिलितदिग्वलयक्षत्रियभुजङ्गपुङ्गव[2]द्वितयपरिक्षिप्तक्षितिबीजविशिष्ट[3]प्रकटपविपञ्जरपिनद्धसवनगिरि[4] चतुरस्रमेदिनीमण्डलावलम्बनगजपतिपृष्ठप्रतिष्ठितपरिकलितकुलिशकर[5]शचीप्रमुखविलासिनीशृङ्गारदर्शनोल्लसितलोचनसहस्रश्रीत्रिदशपतिमुद्रालंकृतसमस्तभुवनावलम्बिशुनासीर[6]परिकलितजानुद्वयः ॥ [इति पृथ्वीतत्त्वम्[7] ।] ॥२

च पुनः । कीदृशः । क्षत्रकुलोत्पन्नसर्पप्रधानद्वितयेन परिक्षिप्तं वेष्टितं यत् क्षितिबीजं धरामूलं तत्र विसृष्टः स्थापितः प्रगटो वज्रपञ्जराच्छादितः सवनगिरिः सुमेरुः । च पुनः । कीदृशः । चतुरस्रमेदिनीमण्डलस्य अवलम्बनं यः सः । च पुनः । कीदृशः । गजपतिपृष्ठप्रतिष्ठित ऐरावतपृष्ठारोहितः । परिकलितः स्थापितः कुलिशो वज्रः करे येन सः । च पुनः । कीदृशः । श्रीत्रिदशपतिर्देवेन्द्रः, तस्य मुद्रया प्रतिबिम्बेनालंकृतं समस्तं भवनं तदवलम्बी यः सुनासीर इन्द्रः, तेन परिकलितं व्याप्तं जानुद्वयं यस्य स च तेषां समाहारस्तथा । इति पृथ्वीतत्त्ववर्णनं समाप्तम् ॥२॥ ततो पूतत्वं तदधिष्ठायकवरुणाकारेण वर्णयति ।

निजकायौ स्वशरीरे तयोः याः कान्तयो दीप्तयः तासां छटापटलं धारासमूहः तेन जटिलितं कर्बुरीकृतं दिग्वलयं दिक्चक्रं येन तत् क्षत्रियभुजङ्गपुङ्गवद्वितयं क्षत्रियजातिवासुकिशङ्खपालनामधेयसर्पराजयुगलं, तेन परिक्षिप्तं वेष्टितं तच्च [तत्क्षिति-] बीजविसृष्टं लक्षि [?] इति वर्णद्वयचतुष्टयसंयुक्तं तच्च तत् प्रकटपविपञ्जरपिनद्धं स्फुटतरवज्ररेखाचतुष्टयेन वेष्टितम् । यत्सुवर्णगिर्युपलक्षितं मेरुगिरिशोभमानम् । यत् चतुरस्रं चतुष्कोणम् । यन्मेदिनीमण्डलं पृथ्वीतत्त्वं तत् अवलम्बनम् आधारो यस्य स चासौ गजपतिपृष्ठप्रतिष्ठितः ऐरावणस्कन्धमारूढः । स चासौ परिकलितकुलिशकरः समुद्धृतवज्रहस्तः स चासौ शचीप्रमुखविलासिनीशृङ्गारदर्शनोल्लसितलोचनसहस्रः, शची इन्द्राणी, प्रमुखा मुख्या यासां विलासिनीनां कमनीयकामिनीनां तासां शृङ्गारदर्शने स्तनजघनवदनादिशोभाविलोकने उल्लसितम् उत्फुल्लं लोचनसहस्रं यस्य स चासौ त्रिदशपतिर्देवराजः तस्य या मुद्रा तया अलंकृतं शोभितं यत्समस्तं भुवनं जगत् तत्र अवलम्बते । इत्येवंशीलः तदवलम्वी स चासौ सुनासीरो देवेन्द्रः तेन परिकलितं रचितं जानुद्वयम् अष्ठीवत्पर्यन्तं जङ्घायुगलं येनात्मना स तथोक्तः ॥२॥

(वासुकि और शंखपाल) से वेष्टित; 'क्ष' इस बीजाक्षरसे विशेषताको प्राप्त होता हुआ स्पष्टतया चार वज्र-रेखाओंसे वेष्टित सुमेरुसे युक्त चौकोन पृथिवीमण्डलका आश्रय लेनेवाले ऐरावण हाथीकी पीठपर अवस्थित, हाथमें वज्रको लिये हुए, और इन्द्राणी आदि देवांगनाओंके शृंगार (सजावट) के देखनेमें हर्षको प्राप्त हुए हजार नेत्रोंकी शोभासे सम्पन्न ऐसे

---

१. E N कायजनितकान्ति । २. N पुङ्गवविनताद्वितय । ३. All others except P M विसृष्ट । ४. F गिरिः । ५. Y करप्रकरशची । ६. N भुवनालम्बिसुनासीरमुनिसारपरि, T भुवनावलिसुना' । ७. All others except P M read इति पृथ्वी etc. ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तदुपरि पुनरानाभिविपुलतरसुधासमुद्रसंनिभसमुल्लसन्निज-
शरीरप्रभापटलव्याप्तसकलगगनान्तरालवैश्याशीविषधरावनद्धवारुण-
बीजाक्षरमण्डनंपुण्डरीकलक्ष्मोपलक्षितपारावारमयखण्डेन्दुमण्ड-
लाकारवरुणपुरप्रतिष्ठितविपुलतरप्रचण्डमुद्राग्रहेतिविकीर्णशिशिर-

तदुपरि—एतादृशो ऽस्त्वो भवति। तदुपरि पृथ्वीतत्त्वोपरि आनाभि गरुडनाभि मर्यादीकृत्य विपुलतरसुधासमुद्रसंनिभसमुल्लसन्निजशरीरप्रभापटलः कान्तिसमूहः तेन व्याप्तं सकलं गगनान्तरालमाकाशमध्यं येन स तथा। च पुनः। कीदृशः। वैश्याशीविषविषधरावनद्धवारुणबीजाक्षरमण्डनः वैश्यः च आशीविषश्च एतादृशौ विषधरौ कर्कोटकपद्मनागौ ताभ्याम् अवनद्धं व्याप्तं यद्वारुणबीजाक्षरं वारुणमन्त्राक्षरं तन्मण्डनं यस्य स तथा। च पुनः। कीदृशः। पुण्डरीकलक्ष्मोपलक्षितकमललाञ्छनोपयुक्तो यः स तथा। च पुनः। कीदृशः। पारावारमयखण्डेन्दुमण्डलाकारवरुणपुरप्रतिष्ठितविपुलतरप्रचण्डशुण्डाग्रहेतिविकीर्णशिशिरतरपयःकणाक्रान्तिकर्बुरितसकलदिक्चक्रं, पारावारमयः समुद्रमयः यः खण्डेन्दुमण्डलः अर्धचन्द्रमण्डलः तदाकारं यद्वरुणपुरं वरुणमण्डलं तत्र प्रतिष्ठितं यः स तथा। च विपुलतरो विस्तीर्णतरः प्रचण्डमुद्राग्रहः आयुधाग्रहः तस्मिन् अतिविकीर्णा अतिविक्षिप्ताः शिशिर-

तदुपरि—तदुपरि तस्य सुनासीरपरिकल्पितजानुद्वयस्योपरि तदुपरि। पुनः पुनरपि पूर्वोक्तध्यानविधानानन्तरम् अपरं ध्यानम्। आनाभि तुन्दिकापर्यन्तं विपुलतरो विस्तीर्णतरो यः सुधासमुद्रोऽमृतसमुद्रः क्षीरसागरः तेन संनिभम्। अतिशुक्लं समुल्लसत् सम्यगुल्लासं प्राप्नुवत् यन्निजशरीरं सर्पशरीरद्वयं तस्य प्रभापटलानि तेजःसमूहाः तैः व्याप्तं शबलीकृतं सकलं समग्रं गगनान्तरालम् आकाशमध्यं याभ्यां तौ वैश्याशीविषविषधरौ वैश्यजात्युत्पन्नौ आशीविषौ दंष्ट्राविषौ विषधरौ कर्कोटपद्मनामानौ ताभ्याम्, अवनद्धं वेष्टितं तच्च तद्वारुणबीजाक्षरमण्डनं वारुणबीजाक्षरैः चतुर्भिः वकारैः चतुर्दिक्स्थितैः मण्डनं शोभा यस्य तच्च तत्पुण्डरीकलक्ष्मोपलक्षितं पञ्चपत्रकमललक्षणोपशोभितं तच्च तत्पारावारमयं क्षीरसागरमयं तच्च तत् खण्डेन्दुमण्डलाकारम् अर्धचन्द्रमण्डलसदृशं यत् वरुणपुरं वरुणतत्त्वं जलमण्डलमिति यावत्। तत्र वरुणपुरे प्रतिष्ठितः स्थितो यो ऽसौ विपुलतरो विस्तीर्णतरः प्रचण्डमुद्रः अद्भुतमूर्तिः। स चासौ अग्रहेतिविकीर्णशिशिरपयःकणा-

इन्द्रकी प्रतिकृति (मुहर) से अलंकृत एवं समस्त पृथ्वीका आश्रय लेनेवाले इन्द्रके द्वारा रचे गये दोनों घुटनोंसे संयुक्त, पृथिवीतत्त्व ॥२॥

फिर इन्द्रके द्वारा रचे गये उन दोनों घुटनोंके ऊपर नाभिपर्यन्त अतिशय विस्तृत अमृतसमुद्रके समान विकसित होनेवाली अपने शरीरकी कान्तिके समूहसे समस्त आकाशके मध्य भागको व्याप्त करनेवाले ऐसे वैश्य जातिके दो सर्पों (कर्कोट और पद्म) से वेष्टित वारुण बीजाक्षरोंसे—चारों दिशाओंमें स्थित चार वकारोंसे—मण्डित; पाँच पत्तोंवाले कमलके चिह्नसे उपलक्षित क्षीरसमुद्रस्वरूप, अर्ध चन्द्रमण्डलके सदृश आकारवाले वरुणपुरमें प्रतिष्ठित, अतिशय विस्तृत आश्चर्यजनक मूर्तिसे संयुक्त, मुख्य किरणोंसे मिश्रित अतिशय

१. M N धरावबद्ध। २. J मण्डल। ३. M °लक्ष्योपल°, J लक्ष्म्योपल°।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तरपयःकणाक्रान्तिकर्बुरितसकलककुप्चक्रकरिमकरमारूढप्रशस्त-पाशपाणिवरुणामृतमुद्राबन्धविधुरितनिःशेषविषानलसंतानभगवद्वरुणनिगूढोत्संगदेशः [इति अप्तत्त्वम्] ॥३

विस्फुरितनिजवपुर्बहलज्वालावलीपरिकलितसकलदिग्वलय-द्विजदन्दशूकरक्षिताशुशुक्षणिवर्णविस्फुरितविस्तीर्णस्वस्तिकोपपन्न-

---

तरपयःकणाः। तेषाम् आक्रान्तिः आक्रमणं तेन कर्बुरितं सकलं ककुप्चक्रं येन तथा। च पुनः कीदृशः। करिमकरीरूढप्रशस्तपाशपाणिवरुणामृतमुद्राबन्धः करिरूपो यो मकरो मत्स्यः तत्रारूढ आरोहितः प्रशस्तो मनोहरो यः पाशः स पाणौ यस्य एतादृशः वरुणः तस्यामृतमुद्रासुधा रक्षा तस्या बन्धुस्तत्सदृशः यः स तथा। च पुनः। कीदृशः। विधुरितो अपास्तो निःशेषः समस्तो विषानलसंतानो विषाग्निसमूहो येन स तथा। पुनः कीदृशः। भगवता वरुणेन निर्गूढो व्याप्तो उत्संगः प्रदेशो यस्य स तेषां समाहारस्तथा॥ अप्तत्त्वार्थः समाप्तः॥३॥ अथाप्तत्त्वानन्तरं वह्नितत्त्वमाह।

विस्फुरित—विस्फुरिता प्रगटिता निजवपुषः सकाशात् बहला सघना ज्वालावली ताभिः परिकलितं व्याप्तं सकलदिग्वलयं येन स तथा। पुनः कीदृशः। द्विजदन्दशूकौ विलेशयसर्पौ ताभ्यां

क्रान्तिकर्बुरितसकलककुप्चक्रः। अस्यायं समासः। अग्राः पूज्यतराः याः हेतयः किरणाः ताभिर्विकीर्णाः मिश्रिताः ये शिशिरतरा अतिशीतलाः ते च ते पयःकणाः चूर्णजलानि तेषाम् आक्रान्तिः व्याप्तिः तया कर्बुरितं लिप्तं सकलं समग्रं ककुप्चक्रं दिङ्मण्डलं येन स तथोक्तः, स चासौ करिमकरः जलगजेन्द्रः तम् आरूढः स चासौ प्रशस्तो ऽतिरुचिरो यो ऽसौ पाशपाणिः नागपाशपाणिः स चासौ वरुणः प्रतीचीदिशापालकः, तस्य यो ऽसौ अमृतमुद्राबन्धः तेन विधुरितः स्फेटितः निःशेषः समस्तः विषानलसंतानो येन विषाग्निसमूहो येन स चासौ भगवान् पूज्यतरः स चासौ वरुणः तेन निर्गूढो वेष्टितः ध्यानवलेनात्मसात्कृतः उत्संगप्रदेशः उत्संगस्थानं येनात्मना स तथोक्तः॥३॥

विस्फुरित—विस्फुरिता सकलजगद्विद्योतकारिणी सा चासौ निजवपुर्बहलज्वालावली निजवपुषोः सर्पद्वयशरीरयोः या बहुलातिप्रचुरतरा ज्वालावली तेजसां श्रेणिस्तया परिकलितं

शीतल जलकणोंकी व्याप्तिसे दिग्मण्डलको लिप्त करनेवाला; जलहाथीपर आरूढ, हाथमें सुन्दर नागपाशको लिये हुए, ऐसे वरुण दिक्पालकी अमृतमय मूर्तिके सम्बन्धसे समस्त विषरूप अग्निके समूहको नष्ट करनेवाले भगवान् वरुण दिग्पालके द्वारा जिसका मध्य भाग गुप्त किया गया है, अप्तत्त्व ॥३॥

विकास को प्राप्त हुई अपने शरीरकी ज्वालाके समूहसे दिग्मण्डलको व्याप्त करनेवाले ऐसे ब्राह्मण जातिके दो सर्पों (अनन्त और कुलिक) से रक्षित, आशुशुक्षणि (अग्नि) वर्ण (र)

---

१. M N कणाङ्कित, All others except P M L कणक्रान्ति। २. M N समारूढ। ३. All others except P T निर्गूढो°, T निर्व्यूढो। ४. All others except P M N त्संगप्रदेशः। ५. All others except P M इति अप्तत्त्वम्। ६. M S J X Y °क्षणिरवर्णं। ७. M विस्फुरद्विस्फारितविस्तीर्ण, N विस्फुरितविस्तारितविस्तीर्ण।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्रिकोणतेजोमयपुरमध्यबद्धवसतिवस्ताधिरूढज्वलद्लातहस्तानल[1]-
मुद्रोद्दीपितसकललोकवह्निविरचितोरःप्रदेशः ॥ [इति वह्नि-
तत्त्वम् ।] ॥४

अविरतपरिस्फुरत्स्फूत्कारमारुतान्दोलितसकलभुवनाभोग-
परिभूतषट्चरणचक्रवालकालिमानिजतनुसमुच्छलद्बहुलकान्तिपटल-

रक्षितः आशुशुक्षणिरग्निः तस्य वर्णः, तद्वद्विस्फुरितमुद्दीपितं विस्तीर्णं स्वस्तिकोपपन्नं स्वस्तिकसदृशं त्रिकोणं त्रिकोणाकारं यत्तेजोमयपुरमग्निमण्डलं तन्मध्ये बद्धा रचिता वसतिः स्थानं येन स तथा। पुनः कीदृशः। ज्वलदिलातलहस्तानलमुद्रोद्दीपितसकललोकवह्निविरचितोरःप्रदेशः, ज्वलदिलातले दीप्यमानपृथ्वीतलहस्तानलमुद्रया उद्दीपितो यः सकललोकवह्निः तेन विरचितोरःप्रदेशो यस्य तेषां पदानां समाहारः स तथा। इति वह्नितत्त्वम्। व्याख्या समाप्ता ॥४॥ अथाग्नितत्त्वानन्तरं वायुतत्त्वमाह।

अविरत—अविरतापरिस्फुरत्"फूत्कारमारुतान्दोलितसकलभुवनाभोगः, अविरता निरन्तराः परिस्फुरन्तः फूत्कारमारुताः तैरान्दोलितः कम्पितः सकलभुवनाभोगो जगद्विस्तारो येन स तथा। पुनः कीदृशः। परिभूतषट्चरणचक्रवालकालिमानिजतनुसमुच्छलद्बहलकान्तिपटलपिहितनभस्तल-

वेष्टितं सकलं समग्रं दिग्वलयं हरिच्चक्रं याभ्यां द्विजदन्दशूकाभ्यां द्विजजातीयसर्पाभ्याम् अनन्त-कुलिकनामभ्यां तौ रक्षणं यस्य तेजोमयपुरस्य तच्च तत् आशुशुक्षणिवर्णविस्फुरितम् अग्निबीज-शोभितं रकाराक्षरशोभितं तच्च तत् विस्तीर्णस्वस्तिकोपपन्नं त्रिकोणेषु महास्वस्तिकत्रयसंयुक्तं त्रिकोणं त्र्यस्रं यत्तेजोमयपुरम् अग्निमण्डलं तस्य मध्ये बद्धा विरचिता वसतिः स्थितिर्येन स चासौ बस्तः छागराजः तमधिरूढः चटितः स चासौ प्रज्वलदलातहस्तः जाज्वल्यमानोल्मुककरः स चासौ अनलमुद्रोद्दीपितसकललोकः अनलमुद्रया अग्निमुद्रया उद्दीपितः उद्द्योतितः सकलो निरवशेषो लोको जगद्येन स तथोक्तः स चासौ एवंविधविशेषणत्रयविशिष्टो वह्निरग्निदेवता तेन विरचितो ध्यानेन परिकल्पितः उरःप्रदेशो हृदयप्रदेशो येनात्मना स तथोक्तः ॥४॥

अविरत—अविरतं निरन्तरं परिस्फुरत् समन्ततो धावन् योऽसौ फूत्कारमारुतः फूत्कार-पवन. तेन आन्दोलितः कम्पितः योऽसौ सकलः समग्रो भुवनाभोगो जगद्विस्तारस्तेन परिभूता उड्डापिता ये षट्चरणा भ्रमरास्तेषां चक्रवालं मण्डलं तस्येव कालिमा कृष्णत्वं येषां तानि च तानि निजतनुसमुच्छलद्बहलकान्तिपटलानि निजतनुभ्यां समुच्छलन्ती उत्पद्यमाना यासौ बहला

से प्रकाशमान तथा विस्तीर्ण स्वस्तिक (साँथिया) चिह्नसे संयुक्त, ऐसे तीन कोन वाले तेजसे निर्मित नगरके मध्य भागमें अवस्थित, बकरेपर चढ़ा हुआ, जलते हुए काष्ठ (या अंगार) को हाथमें लिये हुए; अग्निकी मुद्रासे समस्त लोकको व्याप्त करनेवाले ऐसे अग्नि लोकपालसे जिस का वक्षस्थल रचा गया है, वह्नितत्त्व ॥४॥

निरन्तर चलती हुई फुंकार वायुसे कम्पित हुए समस्त लोकप्रदेशके द्वारा परिभवको प्राप्त हुए भ्रमरसमूहकी कालिमाके समान अपने शरीरसे निकलनेवाली विस्तृत कान्तिके

१. K ज्वलदिलातलहस्ता°।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पिहितनिखिलनभस्तलशूद्रकाद्रवेयवलयितमरुन्मुद्रोपपन्नबिन्दु-संदोहसुन्दरमहामारुतवलयत्रितयात्मकसकलभुवनाभोगवायुपरि-मण्डलनभस्वत्पुरान्तर्गतबभ्रुवाहनकुरङ्गवेगविहरणदुर्ललितःकर-तलकलितचलविटपकोटिकिसलयशालशालिमरुन्मुद्रोच्छलितसकल-भुवनः पवनमयवदनारविन्दः। [इति वायुतत्त्वम्।] ॥९

शूद्रकाद्रवेयः, परि सामस्त्येन परिभूता जिता। षट्चरणचक्रवालस्य भृङ्गसमूहस्य कालिमा यदा एवंभूता निजतनुः स्वशरीरं तस्याः समुच्छलत् समन्तादुच्छलत् यो ऽसौ बहलकान्तिपटलः सघन-कान्तिसमूहः तेन पिहितमाच्छादितं निखिलं नभस्तलं येन स तथा। पुनः कीदृशः। शूद्रकाद्रवेय-वलयितमरुन्मुद्रोपपन्नबिन्दुसंदोहसुन्दरमहामारुतवलयत्रितयात्मकः, शूद्रकाद्रवेयाः सर्पविशेषाः तदिव वलयिता वलयाकारेण जाता मरुन्मुद्रा मरुदलंकृतिः तया उपपन्नाः स्थिता ये बिन्दवस्तेषां संदोहेन सुन्दरः यो महामारुतः महावायुः तस्य वलयत्रितयं तदात्मकं यः स तथा। पुनः कीदृशः। सकल-भुवनाभोगो भुवनविस्तारः, तत्र यो वायुपरिमण्डलः, तेन नभस्वत्पुरान्तर्गतवायुमण्डलान्तरस्थितः यः स तथा। पुनः कीदृशः। वाहनकुरङ्गवेगविहरणः वाहनो यो ऽसौ कुरङ्गो हरिणः तस्य वेगस्तेन विहरणं शीघ्रगामित्वाद्यस्य स तथा। पुनः कीदृशः। ललिता दुर्नमिता करतलेन कलिता व्याप्ता चलाश्चञ्चला ये विटपास्तेषां कोटयः, तासां किसलयाः, तैः शालते यः स तथा। पुनः। मरुन्मुद्रो-

अतिप्रचुरा यासौ कान्तिर्दीप्तिः तस्याः पटलानि समूहास्तैः पिहितम् आच्छादितं निखिलं समस्तं नभस्तलं गगनमण्डलं याभ्यां तौ च तौ शूद्रकाद्रवेयौ शूद्रजातीयसर्पौ तक्षक-महापद्मनामानौ ताभ्यां वलयितं वेष्टितं तच्च तत्सुरतमुद्रोपपन्नबिन्दुसंदोहसुन्दरं सुरतस्य संभोगस्य या मुद्रा आलिङ्गन-चुम्बनादिव्यापारलक्षणा तस्याम् उत्पन्नाः संजाता ये बिन्दवः प्रस्वेदजलकणाः तेषां संदोहः समूहः तेनैव सुन्दरं मनोहरं जलबिन्दुभिर्व्याप्तमित्यर्थः। तच्च तन्महामारुतवलयत्रितयात्मकं महान्तो ऽतिप्रचण्डाः अतिस्थूलतराश्च ये मारुताः पवनास्तेषां वलयत्रितयं गोमूत्रिकाकारचक्र-वालत्रितयं, तत् आत्मा स्वरूपं यस्य तत् महामारुतवलयत्रितयात्मकं तच्च तत्सकलभुवनाभोगवायु-परिमण्डलं सकलं च तत् भुवनं जगत् तस्य आभोग आटोप. तत्र यत् वायुपरिमण्डलं वातचक्रं तन्मयं यत् नभस्वत्पुरं वायुमण्डलं तस्य अन्तर्गतो मध्येस्थितो यो ऽसौ वाहनकुरङ्गः वाहनसंबन्धी मृगः वातप्रमीनामको हरिणः तस्य वेगविहरणे शीघ्रधावने दुर्ललितम् अप्रतिहतव्यापारम् आस्फालनकर्कशं कठिनं यत्करतलं हस्ततलं तेन कलितो धृतो यो ऽसौ चलविटपकोटिकिसलयशालः चलानि चपलानि विटपकोटिषु विटपाग्रेषु किसलयानि पल्लवाः यस्य स चासौ शालो वृक्षः तेन

समूहसे समस्त आकाशमण्डलको आच्छादित करनेवाले ऐसे शूद्र जातिके दो सर्पों (तक्षक व महापद्म) से वेष्टित, वायुकी मुद्रासे युक्त, बिन्दुसमूहसे सुन्दर, महावायुके तीन मण्डलस्वरूप समस्त लोकके मध्यवर्ती वायुमण्डल स्वरूप ऐसे वायुपुरके मध्यमें स्थित विष्णुका वाहन हिरणके वेगसे दुर्ललित, हाथमें ग्रहण किये गये चंचल वृक्षके अग्र भागमें स्थित कोमल

१. M N काद्रवेयावलम्बित। २ M N भोगपूरवायु। ३. All others except P M N om. बभ्रु। ४. All others except P दुर्ललितकर॰। ५. M N मुद्रोच्चलित। ६. P M om. इति वायुतत्त्वम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गगनगोचरामूर्तजयविजयभुजङ्गभूषणो[1] ऽनन्ताकृतिपरम-
विभुर्नभस्तलनिलीन[2][3]समस्ततत्त्वात्मकः[4] समस्तज्वररोगविषधरोड्डमर-
डाकिनीग्रहयक्षकिंनरनरेन्द्रारिमारिपरयन्त्रतन्त्र[5][6]मुद्रामण्डलज्वलन-
हरिशरभशार्दूलद्विपदुष्टदैत्य[7]प्रभृतिसमस्तोपसर्गनिर्मूलनकारिसामर्थ्यः[8]

च्छलितसकलभुवनपवनमयवदनारविन्दः, मरुन्मुद्रया उच्छलितः यः सकलभुवनपवनसर्वजगद्वायुः तन्मयो वदनारविन्दे यस्य स तेषां समाहारः स तथा ॥ इति वायुतत्त्वार्थः ॥५॥ अथात्मनः समस्ततत्त्वात्मनः गरुडतत्त्वमाह ।

गगन—कीदृशः आत्मा । गगनगोचरः आकाशस्वरूपो यः स च । पुनः कीदृशः । जयविजयनामानौ भुजङ्गौ सर्पौ भूषणं यस्य स तथा । पुनः कीदृशः । अनन्ताकृतिरनन्ताकाररूपो यः स तथा । पुनः कीदृशः । परमविभुः परमव्यापकः यः स तथा । पुनः । नभस्तले निलीनानि स्थितानि समस्ततत्त्वानि यस्मिन् स तदात्मकः स तथा । पुनः कीदृशः । समस्तज्वररोगविषधरोद्दुरडाकिनीग्रहयक्षकिंनरनरेन्द्रारिमारिपरयन्त्रमन्त्रमुद्रामण्डलज्वलनहरिशरभशार्दूलद्विपदैत्यदुष्टप्रभृतिसमस्तोपसर्गनिर्मूलनकारिसामर्थ्यपरिकलितसमस्तगारुडमुद्रामण्डलाडम्बरसमस्ततत्त्वात्मकः सन् । कीदृशः सन् । समस्ता ये ज्वरादयः, ज्वररोगः प्रसिद्धः, विषधराः सर्पाः, उद्दरा भयजनककायाः, डाकिन्यः

शालते शोभते इत्येवंशीला शालशालिनी तादृशी या मरुन्मुद्रा वायुमुद्रा तस्या उच्छलित उत्पन्नः सकले भुवने समस्ते जगति यो ऽसौ पवनः तेन निर्वृत्तं तन्मयं कृतं चिन्तितं ध्यानेन परिकल्पितं वदनारविन्दं मुखकमलं येनात्मना स तथोक्तः ॥५॥ पुनरपि कथं भूतः सन्नयमात्मा ।

गगन—गगनगोचरामूर्तजयविजयभुजंगमभूषणः गगनं वियत् आकाशं गोचरो विषयो ययोस्तौ च तौ अमूर्तौ ध्यानगम्यौ चक्षुरादीनामपि अविषयौ एवंविधौ यौ जयविजयनामानौ लेलिहानौ तौ भूषणं मण्डनं यस्यात्मनः स यथोक्तः । एतेन आकाशतत्त्वं सूचितम् । भूयो ऽपि कथंभूतो ऽयमात्मा । अनन्ताकृतिपरमविभुः अनन्तं व्योम तस्य आकृतिः आकारो यस्यासौ अनन्ताकृतिः स चासौ परमविभुः सर्वोत्कृष्टव्यापकः आकाशमयः । अपरम् किंविशिष्टः । नभस्तलनिलीन-

पत्तोंवाले शालवृक्षसे सुशोभित, वायुकी मुद्रासे समस्त लोकको उछालनेवाला तथा वायुस्वरूप मुख-कमलसे संयुक्त, वायुतत्त्व ॥५॥

आकाशको विषय करनेवाले अमूर्तिक जय व विजय नामके दो सर्पोंसे विभूषित, अनन्त आकाशकी आकृतिको धारण करता हुआ सर्वव्यापक, आकाशमें अवस्थित पृथ्वी आदि समस्त तत्त्वों स्वरूप; समस्त (एकंतरा आदि अनेक प्रकारका) ज्वर रोग, विषैले सर्पादि प्राणी, महाभय, डाकिनी, शनि आदि क्रूर ग्रह, यक्ष, किन्नर (अश्वमुख), राजा, शत्रु, मारि (प्लेग आदि संक्रामक रोग), दूसरेके द्वारा किये गये यन्त्र, तन्त्र, मुद्रामण्डल, तथा अग्नि, सिंह, अष्टापद, व्याघ्र, हाथी, दैत्य और दुर्जन आदि इन सब उपद्रवोंको सर्वथा

१. M भूषणानन्ता । २. M विभुनभस्तल । ३. M N निलीनः । ४. All others except P तत्त्वात्मकः । ५. All others except P M N °रोड्डामर । ६. M J X Y यन्त्रमन्त्र । ७. All others except P द्विपदैत्यदुष्ट । ८. M N T F सामर्थ्यपरि° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिकलितसमस्तगारुडमुद्राकारिडम्बरसमस्ततत्त्वात्मकः सन्नात्मैव गारुडगीर्गोचरत्वमवगाहते ॥ [इति ²वितत्त्वम्] ॥६

ग्रहाः केत्वादयः, यक्षाः व्यन्तरविशेषाः, किंनरा अश्वमुखाः व्यन्तरभेदाः एव। नरेन्द्रा एवारयः, मारिर्मरणप्रवृत्तिः, परेषां यन्त्रं त्रिकोणाद्युच्चाटनादिविषयम्, मन्त्रं दुष्टदेवाधिष्ठायकम्, मुद्रामण्डलं कौलशास्त्रे प्रसिद्धम्। ज्वलनो ऽग्निः, हरिः सिंहः, शरभा अष्टापदाः, शार्दूला व्याघ्राः, द्विपा हस्तिनः, दैत्या दानवाः, अन्ये ये दुष्टप्रभृतयः तेषां समाहारः ते तथा। तेषां समस्तोपसर्गाः तैः कृता वा समस्तोपसर्गास्तेषां निर्मूलनं दूरीकरणं तत्कारि यत्सामर्थ्यं तेन परिकलितः संयुक्तः यः समस्तः गारुडमुद्रामण्डलः गरुडाकृतिमण्डलः तस्याडम्बरो यस्मिन् स समस्ततत्त्वात्मकश्च यः स तेषां समाहारः स तथा सन्॥ इति वियत्तत्त्वार्थः* ॥६॥ अथात्मनः कामरूपतामाह।

समस्ततत्त्वात्मकः नभस्तले गगनमण्डले निलीनानि स्थितानि समस्तानि विश्वानि पृथ्वीवरुणाग्निवायुनामानि यानि यानि तत्त्वानि पूर्वोक्तलक्षणोपलक्षितानि चत्वारि तत्त्वानि आत्मा स्वभावो यस्यात्मनः स नभस्तलनिलीनसमस्ततत्त्वात्मकः। अन्यच्च कथंभूतो ऽयमात्मा। समस्तेत्यादि महागद्यम्। समस्ता विश्वे ते च ते ज्वररोगाः वातपित्तश्लेष्मोद्भवा व्याधयः आयुर्वेदनिश्चितनामानः ते च ज्वरश्च एकाहिकद्व्याहिकत्र्याहिकादिकः ज्वरो महारोगत्वात्पृथगुपात्तः। विषधराश्च अनेकभेदनागाः। उड्डामरश्च महती भीतिः, डाकिन्यश्च कुत्सितमन्त्राः स्त्रियः, ग्रहाश्च पिशाचाः शनिप्रभृतयश्च, यक्षाश्च धनदाः, किंनराश्च अश्वमुखाः, नरेन्द्राश्च राजानः, अरयश्च शत्रवः, मारिश्च मरकः, परेषां मिथ्यादृष्टीनां यन्त्रमन्त्रमुद्रामण्डलानि च, ज्वलनश्च दावादिलक्षणः, हरयश्च सिंहाः, शरभाश्च अष्टापदाः, शार्दूलाश्च व्याघ्राः, द्विपाश्च हस्तिनः, दैत्याश्च व्यन्तरादयः, दुष्टाश्च दुर्जनाः, कर्णेजपाः ते प्रभृतयो मुख्या येषां शाकिनीब्रह्मराक्षसादीनां तेषां संबन्धी समस्तः सर्वः यो ऽसावुपसर्गः तस्य निर्मूलनकारि समूलकाषंकाषकारि सामर्थ्यं बलं यस्यात्मनः स तथोक्तः। अपरं च कथंभूतः। परि इत्यादि। परिकलिता स्वसात्कृता या समस्ता पञ्चविधापि या गारुडमुद्रा तस्या आडम्बरः आटोपः परिपूर्णता येषु समस्तेषु तत्त्वेषु तानि च तानि तत्त्वानि आत्मा स्वभावो यस्यात्मनः स तथोक्तः। एवंविधध्यानाविष्टः आत्मा गारुडो भवति। विषादिसामर्थ्यं निरर्थयति इत्यर्थः। इति वियत्तत्त्वं समाप्तम् ॥६॥ अथेदानीं कामतत्त्वं प्रकाशयितुमनाः यदि पुनरित्याह।

नष्ट कर देनेवाली शक्तिसे सम्पन्न, तथा गारुडमुद्राको करनेवाले आडम्बरसे परिपूण पृथिवी आदि समस्त तत्त्वोंस्वरूप होता हुआ आत्मा ही गारुडगीकी—गारुड विद्याका ज्ञाता इस नामकी—विषयताको प्राप्त होता है, वितत्त्व समाप्त हुआ ॥६॥

१. M N F X Y मुद्रामण्डलसमस्त, L मुद्रामण्डलाडम्बर, S T J R मुद्राडम्बरसमस्त। २. P विषतत्त्वम्, L F वियत्तत्त्वम्, T गुरुतत्त्वम्, J om.।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि पुनरसौ सकलजगच्चमत्कारिकार्मुकास्पदनिवेशित-
मण्डलीकृतसरसेक्षुकाण्ड[1]स्वरसहितकुसुमसायकविधिलक्ष्यीकृतदु-
र्लक्ष्य[2]मोक्षलक्ष्मीसमागमोत्कण्ठितकठोरतरमुनिमनाः स्फुरन्मकर-
केतु[3]कमनीयः[4] [5]सकलललनावृन्दवन्दितसौन्दर्यरतिकेलिकलापदुर्ल-

यदि पुनः—यदि पुनरसौ आत्मा सकलजगच्चमत्कारिकार्मुकास्पदनिवेशितमण्डलीकृतसरसेक्षुकाण्डस्वरसहितकुसुमसायकविधिलक्ष्यीकृतदुर्लक्ष्यमोक्षलक्ष्मीसमागमोत्कण्ठितकठोरतरमुनिमनाः । सकलजगतः चमत्कारिकार्मुकास्पदनिवेशितो धनुःस्थानारोपितो मण्डलीकृतो वक्रीकृतः सरसेक्षुकाण्डस्तस्य स्वरसे आहिता आरोपिताः कुसुमसायकाः पुष्पबाणाः तेषां विधिमोचनेन लक्ष्यीकृतं वेधीकृतम् । दुर्लक्ष्या दुष्प्राप्या या मोक्षलक्ष्मीः तस्याः समागमोत्कण्ठितकठोरतरमुनीनां मनो येन स तथा । पुनः कीदृशः । स्फुरन्मकरकेतुकमनीयसकलललनावृन्दवन्दितसौन्दर्यरतिकेलिकलापदुर्ललितचेताः स्फुरन् यो मकरकेतुः कन्दर्पः तद्वत् कमनीयं प्रधानं यत्सकलललनावृन्दं स्त्रीसमूहः तेन वन्दितं सौन्दर्यं यस्या रतेः तस्याः केलीनां कलापाः समूहाः, तैर्दुर्ललितं चेतो यस्य स तथा । पुनः कीदृशः ।

यदि—यदि चेत् पुनर्भूयो ऽपि असौ स्वसंवेदनप्रत्यक्षीभूत आत्मा इति अमुना प्रकारेण चिन्त्यते ध्यायते । तदा तस्मिन् काले अयं चिच्चमत्कारलक्षणो ज्ञायकैकस्वभावः आत्मैव नान्यः को ऽपि कामोक्तिविषयतां कामनामगोचरताम् अनुभवति प्राप्नोति इति क्रियाकारकसंबन्धः । कामभूत आत्मा कथंभूतः । सकलजगदित्यादि—सकलजगतां चमत्कारि स्फुरद्रूपं यत्कार्मुकं धनुः तस्यास्पदे स्थाने निवेशितः आरोपितः स चासौ मण्डलीकृतः आकृष्य कुण्डलाकारीकृतः । रागलक्षणरससहितत्वात् सरसः स चासौ इक्षुदण्डः स च स्वरसहितकुसुमसायकश्चेति द्वन्द्वसमासः इतरेतरलक्षणः । स्वरः शब्दः टङ्कार इति यावत् । तेन सहिताः संयुक्ताः ये कुसुमसायकाः पुष्पबाणाः उन्मादनमोहनसंतापनशोषणमारणलक्षणोपलक्षिताः पञ्च । तेषां कार्मुकसायकानां यो विधिर्विधानम् आरोपणं तेन लक्ष्यीकृतं तच्च तत् दुर्लक्ष्यं लक्षयितुम् अशक्यम् । 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्रार्थेषु खल् ह्यण्प्रत्ययापवादभूतः खल्प्रत्ययः ।' तच्च तत् मोक्षलक्ष्मीसमागमोत्कण्ठितं मोक्षलक्ष्मीः परमानन्दसुखदायिनीत्वात् । तस्याः समागम आगमनं तत्र उत्कण्ठितं बद्धहेवाकं कठोरतरं दीक्षाकाले पुत्रकलत्रमित्रस्नेहरहितत्वात् निर्दयम् । मुनीनां स्वपरसमययतीनां मनः चित्तं येन आत्मना स तथोक्तः । पुनः कथंभूतो ऽयमात्मा । स्फुरन्नित्यादि—स्फुरन् भुवनत्रयजनमनस्सु चमत्कुर्वन् मकराकारचित्रशोभितः केतुः ध्वजो यस्य स स्फुरन्मकरकेतुः स चासौ कमनीयसकलललनावृन्दवन्दित-

यदि आगे कहे जानेवाले स्वरूपके अनुसार चिन्तन किया जाता है तो वह कामतत्त्व भी आत्मास्वरूप ही है—उससे भिन्न नहीं है । यथा—जिसने समस्त लोकको आश्चर्यचकित करनेवाले धनुषके स्थानमें रसपूर्ण ईखके दण्डके समान स्वर (टंकार) युक्त पुष्पबाणको रखकर और फिर धनुषको खींचकर उसे मण्डलाकार करके विधिपूर्वक दुर्लक्ष (अदृश्य) मुक्तिरूप लक्ष्मीके समागममें उत्सुक व अतिशय कठोर ऐसे मुनियोंके मनको अपने उस

१. M N काण्डासनसहित....विधिः । २. N S T Y R दुर्लभ, X दुर्मोक्ष । ३. S J X Y R केतुः । ४. M N रमणीयः । ५ All others except P M N °यसकल ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लितचेताश्चतुरचेष्टितभ्रूभङ्गमात्रवशीकृतजगत्त्रयस्त्रैणसाधनो दुरधिगमागाधगहनतररागसागरान्तर्दोलितसुरासुरनरभुजगयक्षसिद्धगन्धर्वविद्याधरादिवर्गस्त्रीपुरुषभेदभिन्नसमस्तसत्त्वपरस्परमनःसंघट्टनसूत्रधारः विविधवनराजिपरिमलपरिमिलितमधुकरनिकरवि-

चतुरचेष्टितभ्रूभङ्गमात्रवशीकृतजगत्त्रयस्त्रैणसाधनः, चतुरचेष्टा इताः प्राप्ता यैरेतादृशा ये भ्रूभङ्गाः कटाक्षाः तन्मात्रेण वशीकृतं जगतां त्रयं एतादृशं स्त्रीणां समूहः स्त्रैणं तदेव साधनं यस्य स तथा। पुनः कीदृशः। दुरधिगमागाधगहनरागसागरान्तर्दोलितसुरासुरनरभुजगयक्षसिद्धगन्धर्वविद्याधरादिवर्गः, दुरधिगमः दुर्ज्ञेयः, अगाधो गुपिलः, गहनः रागसागरः रागसमुद्रः, तत्रान्तर्दोलिता कम्पिताः, सुरासुरा नराश्च, भुजगाः सर्पाः, यक्षाश्च सिद्धाश्च गन्धर्वा विद्याधराश्च तेषां समूहः तदादिवर्गो येन स तथा। पुनः कीदृशः। स्त्रीपुरुषभेदभिन्नसमस्तसत्त्वपरस्परमनःसंघट्टनसूत्रधारः कलाचार्यः। पुनः कीदृशः। वसन्तसुहृदा वसन्तमित्रेण दूरमारोपितप्रतापः। कीदृशेन वसन्तेन। विविधवनराजिपरिमलपरिमिलितमधुकरकुलविकसितसितकुसुमस्तबकतरलितकटाक्षप्रगटसौभाग्येन विविधा नाना-

सौन्दर्यरतिकेलिकलापदुर्ललितचेता. कमनीया मनोनयनहारिण्यः याः सकलाः समस्ता ललना मनोहरकोमलतरशरीरास्तरुण्यः तासां वृन्दैः समूहैः वन्दितं सौन्दर्यं सौभाग्यं यस्या सा चासौ रतिः कामभार्या तस्याः केलयः तया सह क्रीडनानि आलिङ्गनचुम्बनभाषणादीनि तेषां कलापाः समूहाः तत्र दुर्ललितम् अनिवारितचेष्टितं चेतो मनो यस्य आत्मनः स तथोक्तः। पुनरपि कथंभूत आत्मा। चतुरेत्यादि—चतुरचेष्टितं विदग्धचेष्टासहितं यद्भ्रूभङ्गमात्रं भ्रूविक्षेपमात्रं चिल्लीचलनमात्रं तेन वशीकृतं वशमानीतं स्वनाथवत्कृतं यत् जगत्रयस्त्रैणं त्रैलोक्यवनितासमूहः 'स्त्रीपुंसाभ्यां नणस्नणौ' तदेव साधनं सैन्यं यस्यात्मनः स तथोक्तः। पुनः किंविशिष्टो ध्यानेन कन्दर्पीभूत. स आत्मेत्याह। दुरधिगमेत्यादि—दुरधिगमो दुर्गमः अगाधः अतलस्पर्शः गम्भीर इति यावत्। गहनः अविज्ञातमध्यमर्मा स चासौ रागसागरः राग एव सागरः अप्राप्तपर्यन्तत्वात्। तस्य अन्तः मध्ये दोलितो निर्मथितः सुरासुरनरभुजगयक्षसिद्धगन्धर्वविद्याधरादिवर्गो येन। सुराश्च कल्पवासिनो देवाः, असुराश्च भुवनवासिव्यन्तरज्योतिष्काः, नराश्च राजादिलोकाः, भुजङ्गाश्च धरणेन्द्रादयः शेषनागादयः,

बाणका लक्ष्य बनाया है, जो प्रकाशमान मगरके चिह्नसे चिह्नित ध्वजासे रमणीय है, जिसका चित्त समस्त स्त्रियोंके समूहसे वन्दित (प्रशंसित) सुन्दरताको धारण करनेवाली अपनी पत्नी रतिके साथ की जानेवाली क्रीड़ाओंके समूहसे दुर्ललित है—उनसे विमुख नहीं होता है, जिसने कुशल चेष्टापूर्वक भृकुटियोंके भंग करने मात्रसे—उन्हें टेढ़ा करके ही तीनों लोकोंके स्त्रीसमूहरूप सैन्यको वशमें कर लिया है; जो दुर्गम अथाह एवं अतिशय गहन रागरूप समुद्रके भीतर झूलते हुए देव, असुर, मनुष्य, सर्प, यक्ष, सिद्ध, गन्धर्व और विद्याधर आदिके समूहोंमें स्त्री व पुरुष इन दो भेदोंमें विभक्त हुए समस्त प्राणियोंके मनके परस्पर संघर्षण

१. All others except P M चतुरश्चे°। २. N जगत्त्रयः। ३. All others except P M N om. तर। ४. M °रान्तर्लोलित। ५. All others except P वर्गः। ६. All others except P N T K संघटन। ७. All others except P M X Y °राजिमञ्जरीपरि°।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कसितसितकुसुमस्तबकतरलितकटाक्षप्रकटसौभाग्येन सहकार-लताकिसलयकरोन्मुक्तमञ्जरीपरागपिष्टातकपिशुनितप्रवेशोत्सवेन मदमुखरमधुकरकुटुम्बिनीकोमलालापसंवलितमांसलितकोकिलकुलक्वणत्कारसंगीतकप्रियेण मलयगिरिमेखलावनकृतनिलयचन्दन-

प्रकारा या वनराजयः तासां परिमलेन परिमिलिता एकीभूता मधुकरा भ्रमराः, तेषां कुलं यत्। तथा विकसितानि सितानि कुसुमानि तेषां स्तबको गुच्छः, तेन तरलिताः चञ्चलाः कटाक्षाः तैः प्रकटसौभाग्यं यस्य स तेन। पुनः कीदृशेन। सहकारलताकिसलयकरोन्मुक्तमञ्जरीपरागपिष्टातक-पिशुनितप्रवेशोत्सवेन सहकारलतानां किसलयान्येव आम्रलतापल्लवा एव करास्तैरुन्मुक्तमञ्जरीपराग एव पिष्टातकं चूर्णं तेन सूचितः प्रवेशोत्सवो यस्य स तथा तेन। पुनः कीदृशेन। मदमुखरमधुकर-कुटुम्बिनीकोमलालापसंवलितमांसलितकोकिलालापकुलक्वणत्कारसंगीतकप्रियेण मदमुखरा मद-

यक्षाश्च धनदादयः, सिद्धाश्च अञ्जनगुटिकादिना लोकमनोरञ्जकाः, गन्धर्वाश्च देवगायकाः, विद्याधराश्च गगनगामिनः उभयश्रेणिवर्तिनः, ते आदिर्येषां हरिहरब्रह्मादीनां तेषां वर्गः समूहो येन आत्मना ध्यानविषयिणा स तथोक्तः। पुनरपि कथंभूत आत्मा। स्त्रीपुरुषेत्यादि-स्त्रियश्च पुरुषाश्च तेषां भेदेन प्रकारैः भिन्नाः नानाविधा ये सत्त्वाः तिर्यङ्मनुष्यदेवादयः तेषां परस्परम् अन्योन्यं मनसां चेतसां संघट्टने मेलने सूत्रधारः विश्वकर्मा। पुनरपि कथंभूतः आत्मा। कन्दर्पं इत्याह—वसन्तसुहृदा मधुमासमित्रेण दूरम् अतिशयेन आरोपितः प्रतापः स्थापितः उत्कर्षितप्रभावः। कथंभूतेन वसन्तसुहृदा। विविधेत्यादि—विविधा नानाप्रकारा या वनराजयः वनश्रेणयः तासां परिमलैः सुगन्धैः परिमिलिताः समन्तादागता या मधुकरकुटुम्बिन्यः भ्रमर्यः तासां कोमलालापैः मृदुतरशब्दैः संवलिताः मिश्रिताः मांसलिताः द्विरुक्ताः पोषिता ये कोकिलकुलकणत्काराः पुंस्कोकिलसमूहशब्द-विशेषाः [समूहविशेषाः] त एव संगीतकानि समीचीनगीतानि प्रियाणि हृदयंगमानि यस्य [स] वसन्तसुहृद् तेन तथोक्तेन। पुनः कथंभूतेन वसन्तसुहृदा। मलयमारुतैः मलयगिरीत्यादि—मलय-गिरेश्चन्दनाचलस्य या मेखलास्तटानि कटिन्यः तासु यानि वनानि चन्दनगहनानि तेषु कृता

करनेमें—उसे परस्पर मुग्ध करनेके लिए—सूत्रधार (प्रधान नट) का काम करता है; जिसका प्रताप उस वसन्तरूप मित्रके द्वारा अतिशयित किया गया है जो अनेक प्रकारकी वनपंक्तियों-के बौरकी सुगन्धिसे एकत्रित हुए भ्रमरोंके समूहसे तथा फूले हुए धवल फूलोंके गुच्छोंरूप चंचल कटाक्षोंसे प्रकटित सौभाग्यसे सहित है, आम्रलताके कोमल पत्तोंरूप हाथोंसे छोड़े गये बौरके पराग (धूलि) रूप सुवासित चूर्णके द्वारा जिसके शुभागमनसम्बन्धी उत्सवकी सूचना कर दी गयी है, जो हर्ष (या उन्मत्तता) से शब्द (गुंजार) करनेवाली भ्रमरियोंके कोमल शब्दसे मिलकर पुष्ट हुए कोइलसमूहके कण-क्रण शब्दरूप संगीतसे अनुराग रखता है; मलयपर्वतके तटपर स्थित वनोंमें स्थानको प्राप्त करनेवाली चन्दनलताओंको नृत्यविषयक

१. All others except P M N मधुकरकुलविकसितकुसुम। २. M स्तबकः तरलतर। ३. J पिष्टातक्य। ४. All others except P N कोकिला। ५. M N झणत्कार, F रणत्कार, others कणत्कार।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लतालास्योपदेशकुशलैः सुरतभरप्रखिन्नपन्नगनितम्बिनीजनवदनकवलिताशेषैरपि विरहिणीनिःश्वासमांसलीकृतकायैः केरलीकुरलान्दोलनदक्षैरुत्कम्पितकुन्तलकामिनीकुन्तलैः परिगतसुरतखेदोन्मिषितलाटीललाटस्वेदाम्बुकणिकापानदोहदवद्भिरासादि-

वाचाला ये मधुकरा भ्रमराः तेषां कुटुम्बिन्यः भ्रमर्यः तासां कोमलालापः तेन संवलितो मिश्रितः मांसलितः पुष्टः यः कोकिलालापः तस्य कुलं तस्य क्वणत्कारः तदेव संगीतकं तत्प्रियं तेन। पुनः कीदृशेन। मलयमारुतैः समुल्लसितसौभाग्येन मलयगिरिमेखलावनकृतनिलयचन्दनलतालास्योपदेशकुशलैः। मलयगिरेर्मेखलाया यानि वनानि तत्र कृतं निलयं स्थानं याभिश्चन्दनलताभिः तासां लास्यो मनोहरः यः उपदेशः तत्र कुशलैः चतुरैः। पुनः कीदृशैः। सुरतभरेण खिन्नाः पन्नगनितम्बिन्यः सर्पस्त्रियः। ता एव जनः, तस्य वदनं तेन कवलिता ग्रसिता शिखा अग्रभागो येषां ते, तैरपि। पुनः कीदृशैः। विरहिणीनिःश्वासमांसलीकृतकायैः विरहिणीनिःश्वासैर्मांसलीकृतः स्थूलीकृतः कायो येषां तैः। पुनः कीदृशैः। केरलीकुरलान्दोलनदक्षैः केरलीदेशस्त्रीकुरलान्दोलनदक्षैश्चतुरैः। पुनः कीदृशैः उत्कम्पितकुन्तलकामिनीकुन्तलः उत्कम्पितकुन्तलदेशस्त्रीणां कुन्तलाः केशा यैः ते,

निलयाः स्थानानि याभिस्ताश्च ताः चन्दनलताः चन्दनवल्ल्यश्चन्दनशाखाश्च तासां लास्योपदेशे नर्तनशिक्षणे कुशलाः प्रवीणा मलयमारुतास्तैः तथोक्तैः। पुनरपि कथंभूतैः मलयमारुतैः। सुरतभरखिन्नपन्नगनितम्बिनीजनवदनकवलितशिखैरपि विरहिणीनिःश्वासमांसलीकृतकायैः सुरतभरेण संभोगातिशयेन खिन्नाः खेदं प्राप्ताः ये पन्नगनितम्बिनीजनाः नागस्त्रीसमूहाः सर्पवनितावृन्दानि तेषां वदनानि मुखानि तैः कवलिताः आस्वादिताः शिखा अग्राणि येषां मलयमारुतानां ते तथोक्तास्तैः तथोक्तैः। ईदृग्विधव्ययुक्तैरपि विरहिणीनां विप्रलब्धानां स्त्रीणां निःश्वासैः ऊर्ध्वमुक्तश्वसितैः मांसलीकृतः स्थूलीकृतः पुनरुक्तः 'पुष्टिं नीतः कायो येषां मलयमारुतानां ते तथोक्ताः तैः तथोक्तैः। भूयोऽपि कथंभूतैः मलयमारुतैः। केरलीकुरलान्दोलनदक्षैः। केरलदेशस्त्रीणां केशकम्पनचतुरैः। अपरं किंविशेषणैर्मलयमारुतैः। उत्कम्पितकुन्तलकामिनीकुन्तलैः उत्कम्पिताः नर्तिताः कुन्तलकामिनीनां कुन्तलदेशस्त्रीणां कुन्तलाः केशाः यैः ते तथोक्ताः तैः। अन्यत् कथंभूतैः मलयमारुतैः। परिगतेत्यादि —परिगतः उत्पन्नः सुरतखेदः संवेशश्रमः तेन उन्मिषितः प्रादुर्भूतः लाटीनां नर्मदातटस्त्रीणां ललाटेषु निटिलतटेषु यो ऽसौ स्वेदः प्रस्वेदजलं तस्य कणिकाश्चूर्णार्णांसि तासां पाने आचमने दोहद इच्छा

उपदेशके करनेमें कुशल (मलयमारुतका विशेषण), सम्भोगकी अधिकतासे खेदको प्राप्त हुई सर्पिणी जनके मुखका सामस्त्येन (पूर्णरूपसे) ग्रास बन जानेपर भी वियोगिनी स्त्रियोंकी निःश्वासोंसे पुष्ट किये गये शरीरको धारण करनेवाला, केरल देशवासिनी स्त्रियोंके बालोंके कम्पनमें कुशल, कुन्तल देशकी कामिनी जनके केशोंको कम्पित करनेवाला, प्राप्त हुए सम्भोगके खेदसे उत्पन्न हुए लाट देशकी स्त्रियोंके स्वेद (पसीना) जलके पानकी इच्छा

१. All others except P भरखिन्न। २. All others except P M N कवलितशिखैरपि। ३. M N आन्दोलदक्षैः। ४. L उत्कम्पितकामिनी। ५. T खेदोन्मिलितः। ६. K श्वेताम्बु, S T X Y R खेदाम्बु। ७. P M N T दोहद्भिः°।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तानेकनिर्झर[1]शिशिरशीकरैर्बकुलामोदसंदर्भनिर्भरैः[2] परिलुण्ठित[3]-पाटलासौरभैः[4] परिमिलितनवमालिकामोदैर्मन्दसंचरणशीलै-राकुलीकृतसकलभुवनजनमनोभिर्मलयमारुतैः समुल्लासित[5]-सौभाग्येन वसन्तसुहृदा दूरमारोपितप्रतापः प्रारब्धोत्तमतपस्तप्त[6]-

तैः। पुनः कीदृशैः। परिगतसुरतस्वेदोन्मीषितलाटीललाटस्वेदाम्बुकणिकापानदोहद्भिः परिगतः प्राप्तो यः सुरतखेदः संभोगश्रमः, तेनोन्मीषितमुत्पादितं यत् लाटीललाटदेशस्त्रीस्वेदाम्बुजलं तस्य कणिकाः, तेषां पानं तदेव दोहृदो येषां ते, तैः। पुनः कीदृशैः। आसादितानेकनिर्झरशिशिरशीकरैः प्राप्तानेकनिर्झरणशीतलतरुपरिमलरचनापुष्टैः। पुनः कीदृशैः। परिलुण्ठितपाटलासौरभैः सामस्त्येन गृहीतपाटलसुरभिगन्धैः। पुनः कीदृशैः। परिमिलितनवमालिकामोदैः संमिश्रितनवमालिकापरिमलैः। पुनः कीदृशैः। मन्दसंचरणशीलैः मन्दगतिमच्छीलैः। पुनः कीदृशैः। आकुलीकृतसकलभुवनमनोभिः आतुरीकृतसर्वजगन्मनोभिः। एतादृशैर्मलयमारुतैः प्राप्तसौभाग्येन वसन्तेन सुहृदा मित्रेण दूरमारोपितप्रतापः दूरस्थापितप्रतापः। पुनः कीदृशेन वसन्तसुहृदा। प्रारब्धोत्तमतपस्तप्तश्रान्तमुनिजन-

विद्यते येषां ते तद्दोहदवन्तः तैः तथोक्तैः। पुनरपि किंलक्ष्मभिः मलयमारुतैः। आसादितानेकनिर्झरशिशिरशीकरैः आसादिता अनेकेषां निर्झराणां शिशिराः शीतलाः शीकराः जलकणाः यैस्ते तथोक्तास्तैः। भूयो ऽपि किंचिह्नैः मलयमारुतैः। बकुलामोदसंदर्भनिर्भरैः बकुलानां मदगन्धिवृक्षपुष्पाणाम्। आमोदो दूरव्यापिपरिमलः तस्य संदर्भः समूहः तेन निर्भरा अतिशयगन्धवन्तस्ते तथोक्तास्तैः तथोक्तैः। अपरं च किंचिह्नैः मलयमारुतैः। परिलुण्ठितपाटलासौरभैः परिलुण्ठितं लूषितं पाटलानां वसन्तदूतीनां सौरभं सौगन्ध्यं यैस्ते तथोक्तास्तैस्तथोक्तैः। पुनरपि किंलक्षणैः मलयमारुतैः। परिमिलितनवमालिकामोदैः परि समन्तात् मिलितो नवमालिकानां वनमालिनीनां नेमालीनामिति यावत्। आमोदः परिमलो यैः ते तथोक्ताः तैः। पुनः किंविशिष्टैः मलयमारुतैः। मन्दसंचरणशीलैः शनैः गमनस्वभावैः। पुनः कथंभूतैर्मलयमारुतैः। आकुलीकृतसकलभुवनजनमनोभिः अनाकुलानि आकुलानि कृतानि विषयलम्पटानि कृतानि सकलस्य समस्तस्य भुवनजनस्य त्रैलोक्यलोकस्य मनांसि चित्तानि यैस्ते तथोक्तास्तैः। एवंविधमलयमारुतैः समुल्लासितसौभाग्येन वसन्तसुहृदा दूरम् आरोपितप्रतापः कन्दर्पभूतः आत्मा। कथंभूतः प्रारब्धोत्तमतपस्तप्तश्रान्तमुनिजनप्रार्थितप्रवेशोत्सवेन कृत्वा स्वर्गापवर्गद्वारि विघटनवज्रार्गलः प्रारब्धं उत्तमं निरतिचारं जैनं च

करनेवाला, अनेक झरनोंके शीतल जलकणोंसे संयुक्त, बकुल वृक्षोंके पुष्पोंकी दूर तक फैलनेवाली सुगन्धिके समूहसे परिपूर्ण, पाटल पुष्पोंकी सुगन्धिको लूटनेवाला, नवमालिका पुष्पोंकी सुगन्धिसे मिश्रित, स्वाभाविक मन्द संचारसे परिणत, तथा समस्त लोकके प्राणियोंके मनको व्याकुल करनेवाला, इस प्रकारकी मलय पर्वतकी वायुके द्वारा जिसके सौभाग्यको विकसित किया गया है ऐसे वसन्तरूप मित्रके द्वारा जिस कामके प्रतापको अतिशय बढ़ावा दिया गया है; जो प्रारम्भ किये हुए उत्तम तपसे सन्तप्त होकर थके हुए

१. M N निर्भरशिशिर। २. J संदर्भनिर्झरैः। ३. All Ms. read लुण्ठित। ४. M N T पाटलसौरभैः। ५. All others except P M N समुल्लसित। ६. S J X तपस्तपन, Y तपःश्रान्त।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रान्तमुनिजनप्रार्थितप्रवेशोत्सवेन[1] स्वर्गापवर्गद्वारविघटनवज्रार्गलः सकलजगद्विजयवैजयन्तीकृतचतुरकामिनीभ्रूविभ्रमः क्षोभणादिमुद्राविशेषशाली सकलजगद्वशीकरणसमर्थः[3] इति चिन्त्यते तदायमात्मैव कामोक्तिविषयतामनुभवति ॥ [इति कामतत्त्वम्[4]] ॥७

प्रार्थितप्रवेशोत्सवेन प्रारब्धं यदुत्तमं तपः तेन तप्ताः श्रान्ताः ये मुनिजनाः, तैः प्रार्थितः प्रवेशोत्सवः येन स तेन। कीदृशः कामः। स्वर्गापवर्गद्वारसंघट्टनवज्रार्गलः स्वर्गमोक्षयोर्द्वारमिलनवज्रार्गलः। पुनः कीदृशः। सकलजगद्विजयवैजयन्तीकृतचतुरकामिनीभ्रूविभ्रमः सकलजगतो विजयेन वैजयन्तीकृतः पताकीकृतः चतुरकामिनीनां भ्रूविभ्रमा येन सः। पुनः कीदृशः। क्षोभणादिमुद्राविशेषशाली क्षोभणादि-आकारविशेषशोभायमानः। पुनः कीदृशः। सकलजगद्वशीकरणसमर्थं इति चिन्त्यते। तदा अयमात्मैव कामोक्तिविषयतामनुभवति ॥७॥

यत्तपो दीक्षालक्षणं तेन पूर्वं तप्ताः पश्चात् श्रान्ताः खेदखिन्नाः जाता ये मुनिजना यतिवर्गाः तैः प्रार्थितो याचितो ऽभिलषितः प्रवेशोत्सवः समागमनमहोत्सवः तेन कारणभूतेन हेतुना कृत्वा स्वर्गापवर्गद्वारविघटनवज्रार्गलः स्वर्गश्च त्रिषष्टिपटलभेदभिन्नः अपवर्गश्च परमनिर्वाणं तयोर्द्वारं व्यवहार-निश्चयरत्नत्रयलक्षणं तस्य विघटने विशेषेण संघट्टने निश्छिद्रतया झम्पने वज्रार्गलः वज्रमयम् अर्गलं काष्ठमयो लोहमयो दण्डः। स्वर्गं मोक्षं वा गन्तुं न ददाति दीक्षाभङ्गेन प्रायो नरक एव भवतीति कारणात् अर्गला। अर्गलं च इत्येतस्य प्रधानत्वात् पुंस्त्वं निरूपितम्। पुनरपि कथंभूतः ध्यानेन कामभूत आत्मा। [सकलजगद्विजयवैजयन्तीकृतचतुरकामिनीभ्रूविभ्रमः] सकलजगद्विजयेन समस्तत्रैलोक्यभङ्गेन वैजयन्तीकृतः ध्वजीकृतः चतुरकामिनीनां विदग्धसुन्दरीणां भ्रूविभ्रमः चिल्लीसमाटोपो येन आत्मना स तथोक्तः। भूयो ऽपि कथंभूतः आत्मा। क्षोभणादिमुद्राविशेषशाली क्षोभणं चित्तादिचालनम् आदिर्येषां ते मोहनवशीकरणोच्चाटनादीनां तेषां तेषां ये मुद्राविशेषाः आकारभेदाः तैः शालते शोभते इत्येवंशीलः क्षोभणादिमुद्राविशेषशाली। 'शालृ शोभायां' वि[धि]-णिण्। पुनरपि कथंभूतः आत्मा। सकलजगद्वशीकरणसमर्थः। सकलस्य जगतः त्रैलोक्यस्य वशी-

मुनिजनोंके द्वारा याचित प्रवेशके उत्सवसे स्वर्ग और मोक्षके द्वारके खोलनेमें वज्रमय अर्गला (काष्ठमय दण्ड) के समान बाधक होता है, जिसने चतुर स्त्रियोंके भ्रकुटियोंके विलासको अपने तीनों लोकोंके जीतनेकी विजयपताका बना ली है, जो चित्तको क्षोभित एवं मोहित आदि करनेकी मुद्राविशेषसे शोभायमान है, तथा समस्त लोकके वश करनेमें समर्थ है; ऐसे जो इस कामतत्त्वका चिन्तन किया जाता है उस कामकी उक्ति (नाम) की विषयताका अनुभव यह आत्मा ही करता है, कामतत्त्व ॥७॥

१. N प्रवेशोत्सवस्वर्गा'। २. L F J संघटन, S X Y संविघटन, T संकटन। ३. M समर्थत इति। ४. P N om. इति कामतत्त्वम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदेवं[1] यदिह जगति शरीरविशेषसमवेतं किमपि सामर्थ्यमुपलभामहे तत्सकलमात्मन एवेति निश्चिन्मः[2] । आत्मप्रवृत्तिपरंपरोपपादितत्वा[3]द्विग्रहग्रहणस्येति[4] ॥८

यदेवं—यत् इह जगति शरीरविशेषसमवेतं संयुक्तं किमपि सामर्थ्यमुपलभामहे तत्सकलमात्मन एवेति निश्चयः। विग्रहग्रहणस्य शरीरग्रहणस्य आत्मप्रवृत्तिः परंपरोत्पादितत्वात् ॥८॥ अर्थान्तरेणात्मानं स्तौति ।

करणे नाथवद्विधाने समर्थः क्षमः स तथोक्तः। इति यदा आत्मा चिन्त्यते तदा अयम् आत्मैव कामोक्तिविषयतामनुभवतीति क्रियाकारकसंबन्धः ॥७॥

यदेवं—ततस्तस्मात्कारणात् । एवं अमुना प्रकारेण । यदि चेत् जगति संसारे । शरीरविशेषसमवेतं कायभेदेषु समवायमागतम् । किमपि किंचिदपि । सामर्थ्यं समर्थताम् । वयमुपलभामहे पश्यामः । तत्सकलं समस्तम् । आत्मन एव सामर्थ्यं वर्तते । नान्यस्य शरीरादेः । इति निश्चयो निर्धारः । इदं सामर्थ्यं आत्मन एव कथमिति प्रश्ने सति हेतुमाह । आत्मप्रवृत्तिपरंपरोत्पादितत्वाद्विग्रहग्रहणस्य इति । आत्मनो जीवस्य या प्रवृत्तिर्मनोवचनकायावलम्बनेन चेष्टितानि तेषां परंपरा श्रेणिः संतानः तया उत्पादितत्वात् । कस्य । विग्रहग्रहणस्य शरीरग्रहणस्य । यत् आत्मा शरीरं गृह्णाति तत् । आत्मनः अशुद्धपरिणाममाहात्म्यम् । विशुद्धपरिणामैस्त्वात्मनो मोक्ष एव स्यादिति ॥८॥ 'यदिह जगति किंचिदित्यादि' सुगमम् ।

आचार्यैरिह शुद्धतत्त्वमतिभिः श्रीसिंहनन्द्याह्वयैः
संप्रार्थ्य श्रुतसागरं कृतिवरं भाष्यं शुभं कारितम् ।
गद्यानां गुणवत्प्रियं विनयतो ज्ञानार्णवस्यान्तरे
विद्यानन्दिगुरुप्रसादजनितं देयादमेयं सुखम् ॥

इति श्रीज्ञानार्णवस्थितगद्यटीका तत्त्वत्रयप्रकाशिनी समाप्ता ॥

इसका कारण यह है कि इस प्रकार यहाँ लोकमें शरीरविशेषमें समवायको प्राप्त हुई जिस किसी भी शक्तिको हम प्राप्त करते हैं वह सब आत्माकी ही है, ऐसा हम निश्चित समझते हैं, क्योंकि, शरीरका जो ग्रहण होता है वह आत्माकी प्रवृत्ति—मन, वचन एवं कायके आश्रयसे होनेवाली चेष्टा—की परम्पराके अनुसार उत्पन्न किया जाता है ॥८॥

---

१. All others except P तदेवं । २. M S J X Y K R विनिश्चयः, N निश्चितुमः, L F T निश्चयः । ३. All others except P परंपरोत्पादि । ४. M N °त्पादितत्त्वात् परंपरविद्धिग्रहं । ५. J इति कामतत्त्वं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1061) यदिह जगति किंचिद्विस्मयोत्पत्तिबीजं
भुजगमनुजदेवेष्वस्ति सामर्थ्यमुच्चैः ।
तदखिलमपि मत्वा नूनमात्मैकनिष्ठं
भजत नियतचित्ताः शश्वदात्मानमेव ॥१०

1062) अचिन्त्यमस्य सामर्थ्यं प्रवक्तुं[1] कः प्रभुर्भवेत् ।
तच्च नानाविधध्यानपदवीमधितिष्ठतः[2] ॥११

1063) तदस्य कर्तुं जगदङ्घ्रिलीनं तिरोहितास्ते सहजैव शक्तिः ।
प्रबोधितस्तां समभिव्यनक्ति प्रसह्य विज्ञानमयः प्रदीपः ॥१२

[3]अथवा ।

1061) **यदिह**—इह जगति यत्किंचिद् भुजगमनुजदेवेषु उच्चैः सामर्थ्यमस्ति। कीदृशं सामर्थ्यम्। विस्मयोत्पत्तिबीजम् आश्चर्यजन्मकारणम्। नूनं निश्चितम्। तदखिलमपि समस्तमपि मत्वा ज्ञात्वा। कीदृशम्। आत्मैकनिष्ठमात्मैकवर्ति। हे नियतचित्ताः वशीकृतमनसः। शश्वन्निरन्तरमात्मानमेव भजत सेवत। इति सूत्रार्थः ॥१०॥ पुनरात्मस्वरूपमाह।

1062) **अचिन्त्यमस्य**—अस्यात्मनः सामर्थ्यमचिन्त्यमपि तत् प्रवक्तुं कथयितुं कः क्षमः समर्थो न को ऽपि इति भावः। च पुनः। तत्सामर्थ्यं नानाविधं यद् ध्यानं तस्य पदवीं श्रेणीम् अधिरोहति अधितिष्ठति ॥११॥ पुनः।

1063) **तदस्य**—अस्यात्मनो जगत् अङ्घ्रिलीनं पादलीनं कर्तुं ते स्थिरीकृतचित्ताः तिरोहिता आच्छादितास्तिष्ठन्ति। यद्यस्मात् कारणात् सा तेषां सहजैव शक्तिः। विज्ञानमयः प्रदीपः प्रबोधितः जागृतः स्यात्। प्रसह्य हठात् तां सहजशक्ति समभिव्यनक्ति प्रकटीकरोति। इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथवा पक्षान्तरमाह।

यहाँ लोकमें अधोलोकवासी नागोंमें—नागकुमारादि देवोंमें, मध्यलोकवासी मनुष्योंमें और ऊर्ध्वलोकवासी देवोंमें जो कुछ भी आश्चर्यकी उत्पत्तिका कारणभूत विशेष सामर्थ्य है वह सब ही निश्चयसे एक आत्मामें ही अवस्थित है, ऐसा मानकर निरन्तर चित्तकी स्थिरतापूर्वक उस आत्माकी ही आराधना करना चाहिए ॥१०॥

अनेक प्रकारके ध्यानके मार्गपर अधिष्ठित होनेवाले इस आत्माकी उस अचिन्त्य शक्तिका वर्णन करनेके लिए भला कौन समर्थ है? उसका वर्णन कोई नहीं कर सकता है। तात्पर्य यह है कि ध्यानके निमित्तसे आत्मामें अभूतपूर्व शक्ति उत्पन्न होती है ॥११॥

विश्वको उस आत्माके चरणोंमें लीन करनेके लिये इस आत्माके भीतर स्वाभाविक ही शक्ति अवस्थित है जो तिरोहित है—कर्मसे आच्छादित है। आत्माकी उस शक्तिको विज्ञानस्वरूप दीपक प्रबोधित (प्रगट) होकर बलपूर्वक प्रगट करता है ॥१२॥

१. M N प्रवक्तुः। २. All others except P तिष्ठति। ३. P M only अथवा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1064) अयं त्रिजगतीभर्ता विश्वज्ञो ऽनन्तशक्तिमान् ।
नात्मानमपि जानाति स्वस्वरूपात् परिच्युतः ॥१३

1065) अनादिप्रभवैर्भीमैः[1] कलङ्कैः कश्मलीकृतः ।
स्वेच्छयार्थान् समादत्ते स्वतो ऽत्यन्तविलक्षणान् ॥१४

1066) दृग्बोधनयनः सो ऽयमज्ञानतिमिराहतः ।
जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ॥१५

1067) अविद्योद्भूतरागादिगरव्यग्रीकृताशयः[2] ।
पतत्यनन्तदुःखाग्निप्रदीप्ते जन्मदुर्गमे ॥१६

1064) **अयं त्रिजगती**—अयमात्मा आत्मानमपि न जानाति । त्रिजगतीभर्ता त्रिजगतां स्वामी । पुनः कीदृशः । विश्वज्ञः सर्ववेदी । पुनः कीदृशः । अनन्तशक्तिमान् अनन्तशक्तियुक्तः । पुनः कीदृशः । स्वस्वरूपात् परिच्युतः ॥१३॥ अथात्मा स्वकृतकर्मणा कलङ्क्यत इत्याह ।

1065) **अनादि**—अयमात्मा स्वतो ऽत्यन्तविलक्षणान् आत्मस्वरूपरहितान् समादत्ते गृह्णाति । कीदृशः । कलङ्कैः स्वकृतकर्मभिः कश्मलीकृतो मलिनीकृतः । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथात्मनो ज्ञानप्राबल्यमाह ।

1066) **दृग्बोध**—सो ऽयमात्मा जानन्नपि न जानाति वेत्ति स्वस्वरूपमिति गम्यम् । कीदृशः । दृग्बोधनयनः सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानलोचनद्वयः । कीदृशो न जानाति । अज्ञानतिमिराहतः अनेकभवजनिताज्ञानान्धकार-आसमन्ताद् हतः । पुनः कीदृशः । पश्यन्नपि नानाजीवस्वरूपं स्वं न पश्यति । दर्शनावरणाभृताभ्यन्तरेन्द्रियत्वात् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथाविद्यावशीकृतात्मनः फलमाह ।

1067) **अविद्योद्भूत**—अयमात्मा जन्मदुर्गमे भवसंकटे पतति । कीदृशे । अनन्तदुःखाग्नि-

---

अथवा—अनन्त शक्तिवाला यह आत्मा समस्त पदार्थोंका ज्ञाता होकर तीनों लोकोंका स्वामी है । परन्तु वह अपने स्वरूपसे च्युत होकर अपने आपको भी नहीं जानता है ॥१३॥

अनादि कालसे उत्पन्न हुए भयानक मिथ्यात्वादि दोषोंसे मूर्छित किया गया वह आत्मा अपनेसे अतिशय भिन्न चेतन व अचेतन रूप पर पदार्थोंको अपनी इच्छानुसार ग्रहण किया करता है ॥१४॥

वही यह आत्मा दर्शन और ज्ञानरूप दोनों नेत्रोंसे संयुक्त होकर भी अज्ञानरूप अन्धकारसे प्रेरित होता हुआ वस्तुस्वरूपको जानता हुआ भी नहीं जानता है और देखता हुआ भी नहीं देखता है ॥१५॥

अविद्या (मिथ्याज्ञान) से उत्पन्न हुए रागादिरूप विषके द्वारा मनमें व्याकुलताको

---

१. All others except P अनादिकालसंभूतैः । २. X व्यर्थीकृता° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1068) लोष्टेष्वपि यथोन्मत्तः स्वर्णबुद्धया प्रवर्तते ।
अर्थेष्वनात्मभूतेषु स्वेच्छयायं तथा[1] भ्रमात्[2] ॥१७

1069) वासनाजनितान्येव सुखदुःखानि देहिनाम् ।
अनिष्टमपि येनायमिष्टमित्यभि[3]मन्यते ॥१८

1070) अत्यजस्रमसौ[4] जीवो यथा कामार्थलालसः ।
खिद्यते[5]ऽत्र यदि स्वार्थे तथा तत् किं न मुच्यते[6] ॥१९

प्रदीप्ते। कीदृश आत्मा। अविद्योद्भूतरागादिगरव्यग्रीकृताशयः अज्ञानजनितरागादिविष-व्याकुलीकृतः आशयः अभिप्रायो यस्य। इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथात्मनो भ्रमाद् विपरीतज्ञानमाह।

1068) **लोष्टेष्वपि**—यथा उन्मत्तो मदिरादिभिः लोष्टे पाषाणे अपि स्वर्णबुद्धया प्रवर्तते। अयं जीवः तथा भ्रमात् भ्रमज्ञानात् अनात्मभूतेषु स्वात्मव्यतिरिक्तपदार्थेषु स्वेच्छया प्रवर्तते। इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ सुखदुःखादीनां वासनाकारणमाह।

1069) **वासना**—देहिनां सुखदुःखानि वासनाजनितानि। एवकारो निश्चयार्थः। येन कारणेनात्मनानिष्टं विरूपमपि इष्टमित्यभिमन्यते जानाति। इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथात्मा कामुको भवति, तथा स्वार्थेनेत्याह।

1070) **अत्यजस्रम्**—असौ जीवो यथा अविश्रान्तं निरन्तरं कामलालसो भवति, तादृशः सन् खिद्यते। तर्हि किं न विमुच्यते कर्मभ्यः। इति सुगमम् ॥१९॥

प्राप्त होकर—बाह्य पदार्थोंमें आसक्त होकर—अनन्त दुखरूप अग्निसे जलते हुए संसार-रूप गहन वनमें जा गिरता है ॥१६॥

जिस प्रकार पागल मनुष्य सुवर्ण समझकर ढेलोंके ग्रहण करनेमें प्रवृत्त होता है उसी प्रकार यह अज्ञानी प्राणी भ्रान्तिके वश होकर अपनेसे भिन्न बाह्य पर पदार्थोंके ग्रहणमें इच्छानुसार प्रवृत्त होता है ॥१७॥

संसारी जीवोंके सुख-दुख नियमसे संस्कारजनित हैं—काल्पनिक हैं, जिससे यह जीव अनिष्ट वस्तुको भी इष्ट माना करता है ॥१८॥

वह जीव जिस प्रकार निरन्तर काम और अर्थ (धन) की इच्छा करता हुआ यहाँ खेदको प्राप्त होता है उस प्रकार यदि वह आत्मप्रयोजन (मोक्ष) के सिद्ध करनेमें प्रयत्न-शील होकर खेदको प्राप्त होता तो क्या मुक्तिको प्राप्त न हो जाता ? अवश्य हो जाता ॥१९॥

---

१. N तदा। २. T भ्रमेत्। ३. M °मिष्टमप्यभि°। ४. All others except P अविश्रान्तमसौ। ५. All others except P N T X विद्यते। ६. All others except P तथा किं न विमुच्यते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्यश्रीशुभचन्द्रविरचिते
त्रितत्त्वप्रकरणम् ॥ १९ ॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्य-विरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन
साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहरिषिदासस्व-
श्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन [कारापितं] इति
त्रितत्त्वं प्रकरणं समाप्तम् ॥१९॥ संधिः ॥

धृतपरतमभावः पार्श्व(:) धर्मस्वभावः
सुकृतविहितकीर्तिष्टोडरः काममूर्तिः ।
भवभयपरिभीतः पात्रलक्ष्मीप्रणीतो
जयति विदितनामा रेषिदासः सुधामा ॥१॥

आशीर्वादः ॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
त्रितत्त्व प्रकरण समाप्त हुआ ॥१९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[मनोव्यापारप्रतिपादनम्]

अथ[1] कैश्चिद्यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानं[2]समाधय इत्यष्टावङ्गानि योगस्य[3]। तथान्यैर्यमनियमावपास्यासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानं[5]समाधयः इति[6] षट्[7]।

1071) उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात् संतोषात्तत्त्वनिश्चयात्[8]।
मुनेर्जनपदत्यागात्[9] षड्भिर्योगः प्रसिध्यति[10] ॥१[11]

अथाष्टाङ्गयोगं निरूपयति। अथ कैश्चिद्यमनियमासन [ानि], प्राणायामः श्वासोच्छ्वासरोधनम्, प्रत्याहार इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः संकोचनम्, धारणा क्वचिद् ध्येयवस्तुनि चित्तस्य स्थिरता, ध्यानं ध्येयवस्तुना सहैकरूपता, समाधिः अर्थमात्राभ्यासनविषयः। इत्यष्टाङ्गयोगवर्णनम्। तथान्यैः पण्डितैर्यमनियमावपास्य आसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः इति षड्रूपो योगः। एतेषु अष्टयोगाङ्गेषु यमनियमौ अपास्य दूरीकृत्य। शेषाणि षट् योगाङ्गानि। शेषं सुगमम्। तथान्यैर्योग उक्तः।

1071) **उत्साहात्**—उत्साहाद् उद्यमाद् योगः प्रकीर्तितः। निश्चयात् प्रतीतेर्योगः। यत्संतोषात् तत्त्वदर्शनात् परमात्मस्वरूपदर्शनात्। जनपदत्यागात् मुनेर्योगः षड्भिः प्रकीर्तितः*। इति सूत्रार्थः ॥१॥ [तथान्यैरप्युक्तम्।

कितने ही दार्शनिक यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठको योगके अंग मानते हैं तथा कितने दार्शनिक उक्त आठ अंगोंमेंसे यम और नियमको छोड़कर आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन छहको ही योगके अंग मानते हैं। तथा अन्य दार्शनिक कहते हैं—

उत्साह, निश्चय, धैर्य, सन्तोष, तत्त्वनिश्चय और देशत्याग इन छहसे मुनिके योग की सिद्धि होती है ॥१॥

१. S om this sentence। २. P ध्यानं। ३. All others except P M N F योगस्य स्थानानि। ४. S F om. this sentence। ५. P ध्यानं। ६. L om. इति। ७. T om. षट्। ८. All others except P तत्त्वदर्शनात्। ९. M पुनर्जनं°। १०. K योगः प्रकीर्तितः। ११. S om. this verse।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1072) [तथान्यैरप्युक्तम्[1]—
ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरत्र चतुष्टयम् ।
गुरूपदेशः श्रद्धानं सदाभ्यासः स्थिरं मनः ॥१*१]

1073) एतान्येवाहुरेके[2] च मनःस्थैर्याय शुद्धये ।
तस्मिन् स्थिरीकृते साक्षात् स्वार्थसिद्धिर्ध्रुवा[3] भवेत् ॥२

1074) यमादिषु कृताभ्यासो निःसंगो निर्ममो मुनिः ।
रागादिक्लेशनिर्मुक्तं करोति स्ववशं मनः ॥३

1072) **ध्यानस्य**—गुरोः उपदेशः, श्रद्धानं गुरौ शास्त्रवाक्येषु च विश्वासः, सदाभ्यासः तत्त्व चिन्तायाः, स्थिरं मनः मनसः एकाग्रता । इति चतुष्टयं ध्यानस्य मुख्यं कारणं प्रोक्तम् । इति सूत्रार्थः ॥१*१॥ केचित्तु मनःस्थैर्याय एतेषां प्राधान्यमाहुः ।]

1073) **एतान्येव**—एतान्येवाष्टाङ्गादियोगलक्षणानि केचित् मनःस्थैर्याय आहुः कथयामासुः । च पुनः । मनःशुद्धये । तस्मिन्मनसि स्थिरीकृते साक्षात्स्वार्थसिद्धिर्ध्रुवा निश्चला भवेत् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ मनसो वशीकरणमाह ।

1074) **यमादिषु**—मुनिः स्ववशं मनः करोति । कीदृशो मुनिः । यमादिषु अष्टाङ्गयोगेषु कृताभ्यासः । पुनः कीदृशः । निःसंगः बाह्याभ्यन्तरसंगरहितः । पुनः कीदृशः । निर्ममः मायारहितः । कीदृशं मनः । रागादिक्लेशनिर्मुक्तं रागाद्युपद्रवरहितमिति सूत्रार्थः ॥३॥ अथाष्टाङ्गयोगानां मुक्तिबीजत्वमाह ।

[तथा अन्य आचार्योंने भी कहा है—ध्यानका प्रधान कारण यह चतुष्टय है । १) गुरुका उपदेश, २) उपदेशपर भक्ति, ३) सतत चिन्तन और ४) मनकी स्थिरता ॥१*१॥]

कितने ही साधक मनकी स्थिरता और उसकी शुद्धिके लिए इन यम-नियमादिकोंको ही बतलाते हैं, क्योंकि उस मनके स्थिर कर लेनेपर निश्चयसे आत्मप्रयोजनकी सिद्धि प्रगटमें हो जाती है ॥२॥

जिस मुनिने उक्त यमादिकोंका अभ्यास कर लिया है वह परिग्रहसे रहित होकर निर्ममत्व होता हुआ रागादि क्लेशोंसे रहित हुए मनको अपने अधीन कर लेता है ॥३॥

१. Only in M N । २. All others except L S F °वाहुः केचिच्च । ३. All others except P M N T ध्रुवं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1075) अष्टावङ्गानि योगस्य[1] यान्युक्तान्यार्यसूरिभिः ।
चित्तप्रसत्तिमार्गेण बीजं स्युस्तानि मुक्तये ॥४

1076) अङ्गान्यष्टावपि प्रायः प्रयोजनवशात् क्वचित् ।
उक्तान्यत्रैव तान्युच्चैर्विदांकुर्वन्तु योगिनः ॥५

1077) तथान्यैरप्युक्तम्[2]—
मनोरोधे भवेद्रुद्धं विश्वमेव शरीरिभिः ।
प्रायो[3] ऽसंवृतचित्तानां शेषरोधो ऽप्यपार्थकः ॥५*१॥ इति[4] ।

1078) कलङ्कविलयः साक्षान्मनःशुद्ध्यैव देहिनाम् ।
तस्मिन्नपि शमीभूते[5] स्वार्थसिद्धिरुदाहृता ॥६

1075) अष्टावङ्गानि—यानि अष्टाङ्गयोगस्याङ्गानि आर्यसूरिभिरुक्तानि तानि मुक्तये बीजं स्युः । केन । चित्तप्रसत्तिमार्गेण मनोयोगप्रशान्तिपथा । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथाष्टाङ्गानि योगिनो जानन्तु तदाह ॥

1076) अङ्गान्यष्टौ—अष्टावपि अङ्गानि प्रायः प्रयोजनवशात् कुत्रचित् उक्तानि । अत्रैव तानि अष्टावप्यङ्गानि योगिन उच्चैर्विदांकुर्वन्तु ज्ञानविषयीकुर्वन्तु । इति सूत्रार्थः ॥५॥ तथाप्यन्यैरप्युक्तम् ।

1077) मनोरोधे—मनोरोधे शरीरिभिर्विश्वं बुद्धमेव सर्वं ज्ञातमेव । प्रायः संवृतचित्तानां* संवरितमनसां शेषं रोधो ऽपि अपार्थकः निरर्थकः । इति सूत्रार्थः ॥५*१॥ अथ मनःशुद्धेः फलमाह ।

1078) कलङ्कविलयः—देहिनां प्राणिनां मनःशुद्ध्यैव कलङ्कविलयः साक्षाद्भवति । तस्मिन्नपि कलङ्कविलये समीभूते* स्वार्थसिद्धिरेव तेषां मुनीनाम् उदाहृता कथिता ॥ इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ मुक्तिप्राप्तिहेतुमाह ।

श्रेष्ठ आचार्योंने योगके जिन आठ अंगोंका उल्लेख किया है वे मनकी प्रसन्नता (निर्मलता)के द्वारा मुक्तिके कारण होते हैं ॥४॥

उन आठों ही अंगोंका कथन प्रायः यहींपर (इस ज्ञानार्णवमें) प्रयोजनके अनुसार कहीं कहींपर किया गया है, ऐसा योगीजन ज्ञात करें ॥५॥ तथा अन्य आचार्योंने भी कहा है—

जिन प्राणियोंने मनको रोक लिया है—उसे स्वाधीन कर लिया है—उनने विश्वको ही स्वाधीन कर लिया है । परन्तु जिन्होंने उस मनका निरोध नहीं किया है उनका प्रायः शेष इन्द्रियों आदिका निरोध करना भी व्यर्थ होता है ॥५*१॥

प्राणियोंके दोषोंका विनाश प्रगटमें मनकी शुद्धिसे ही होता है । तथा उस मनके शान्त हो जानेपर स्वार्थकी सिद्धि—मोक्षकी प्राप्ति—कही गयी है ॥६॥

१. P योगयस्य । २. P M L तथान्यै etc., F X अथ अन्यैरप्युक्तं । ३. L प्रायः संवृत । ४. P M इति । ५. All others except P M L F समीभूते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1079) चित्तप्रपञ्चजानेकविकारप्रतिबन्धकाः ।
प्राप्नुवन्ति नरा नूनं मुक्तिकान्ताकरग्रहम् ॥७

1080) अतस्तदेव संरुध्य कुरु स्वाधीनमञ्जसा ।
यदि छेत्तुं समुद्युक्तस्त्वं कर्मनिगडं दृढम् ॥८

1081) सम्यगस्मिन् शमं[1] नीते दोषा जन्मभ्रमोद्भवाः ।
जन्मिनां[2] खलु शीर्यन्ते ज्ञानश्रीप्रतिबन्धकाः ॥९

1082) एक एव मनोदैत्यजयः सर्वार्थसिद्धिदः ।
अन्यत्र विफलः क्लेशो यमिनां तज्जयं विना ॥१०

1079) **चित्तप्रपञ्च**—सिद्धिस्त्रीपाणिग्रहं प्राप्नुवन्ति । कीदृशा नराः । चित्तप्रपञ्चजानेकविकारप्रतिबन्धकाः मनोविस्तारजातानन्तविकारप्रतिरोधकाः । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ मनोरुन्धनोपायमाह ।

1080) **अतस्तदेव**—अतः कारणात् तदेव मनः संरुध्य रोधयित्वा स्वाधीनं कुरु अञ्जसा सुखेन । त्वं यदि कर्मनिगडं दृढं छेत्तुं समुद्युक्तः उद्यतो भवेदिति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ मनसि शमिनो जन्मजातदोषमाह ।

1081) **सम्यगस्मिन्**—अस्मिन् मनसि शमं नीते उपशमं प्राप्ते जन्मभ्रमोद्भवा भवभ्रमणजाता । खलु निश्चितम् । यमिनां व्रतिनाम् । शीर्यन्ते नाश्यन्ते । कीदृशा दोषाः । ज्ञानश्रीप्रतिबन्धकाः ज्ञानलक्ष्मीप्रतिकूलाः । इति सूत्रार्थः ॥९॥ पुनर्मनोजयोपायमाह ।

1082) **एक एव**—एक एव मनोदैत्यजयः सर्वार्थसिद्धिदः अभिमतसौख्यदः । अन्यत्र तपःप्रमुखे तज्जयं विना मनोजयं विना यमिनां व्रतिनां क्लेशो विफलो निष्फलः । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ तस्यैव मनसो रोधमाह ।

जिन मनुष्योंने मनके प्रपंच (प्रतारण या दुष्प्रवृत्ति) से उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारके क्रोधादि विकारोंको रोक लिया है वे निश्चयसे मुक्तिरूप महिलाके साथ पाणिग्रहणको प्राप्त होते हैं—उसे प्राप्त कर लेते हैं ॥७॥

इसलिए हे भव्य ! यदि तू दृढ़ कर्मरूप सांकलके तोड़नेमें उद्यत है तो उस मनका ही निरोध करके वास्तवमें उसे अपने अधीन कर ले ॥८॥

इस मनके भली भाँति उपशान्त हो जानेपर संसारपरिभ्रमणसे उत्पन्न हुए जो दोष प्राणियोंके ज्ञानरूप लक्ष्मीकी प्राप्तिमें बाधक हैं वे नियमसे नष्ट हो जाते हैं ॥९॥

एक मात्र मनरूप दैत्यकी विजय ही समस्त अभीष्ट पदार्थोंको सिद्ध करनेवाली होती है । और उस मनकी विजयके विना व्रत-संयमादिके परिपालनमें जो संयमी जन कष्ट सहते हैं वह व्यर्थ होता है ॥१०॥

---

१. All others except P M J समं । २. K यमिनां खलु ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1083) एक एव मनोरोधः सर्वाभ्युदयसाधकः ।
यमेवालम्ब्य संप्राप्ता योगिनस्तत्त्वनिश्चयम् ॥११

1084) पृथक्करोति यो धीरः स्वपरावेकतां गतौ ।
स चापलं निगृह्णाति पूर्वमेवान्तरात्मनः ॥१२

1085) मनःशुद्ध्यैव शुद्धिः स्याद्देहिनां नात्र संशयः ।
वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्येयं[1] कदर्थना ॥१३

1086) ध्यानसिद्धिं[2] मनःशुद्धिः करोत्येव न केवलम् ।
विच्छिनत्त्यपि निःशङ्का[3] कर्मजालानि[4] देहिनाम् ॥१४

1083) **एक एव मनोरोधः**—मनोरोध एक एव सर्वाभ्युदयसाधकः सर्वकल्याणकारकः यं मनोरोधमेवालम्ब्य प्राप्य योगिनः तत्त्वनिश्चयं परमात्मस्वरूपं प्राप्ताः । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ स्वपरयोर्विवेचनमाह ।

1084) **पृथक्करोति**—यो धीरो निःप्रकम्पः स्वपरौ आत्मकर्मणी पृथक्करोति । कीदृशौ स्वपरौ । एकतां गतौ । स एव पुमान् पूर्वमेव प्रागेवान्तरात्मनः चापलं निगृह्णाति दूरीकरोति । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ मनःशुद्ध्या सर्वं शुध्यतीत्याह ।

1085) **मनःशुद्ध्यैव**—देहिनां प्राणिनाम् । अत्र जगति मनःशुद्ध्यैव शुद्धिः स्यात् न संशयः । तद्व्यतिरेकेण मनःशुद्धिव्यतिरेकेण कायस्य शरीरस्य इयं कदर्थना वेदना वृथा निष्फला स्यात्, इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ मनःशुद्धौ ध्यानशुद्धिमाह ।

1086) **ध्यानसिद्धिं**—मनःशुद्धिः ध्यानशुद्धिं* केवलं न करोत्येव । देहिनां कर्मजालानि । अपि पक्षान्तरे । विच्छिनत्ति निकृन्तति निःशङ्कम् इति क्रियाविशेषणम् ॥१४॥ अथ स्थिरचित्तस्य जगत्त्रयं पादलीनमाह ।

जिस मनके नियन्त्रणका आश्रय लेकर योगी जन तत्त्वके निश्चयको प्राप्त हुए हैं, एक मात्र वह मनका नियन्त्रण ही समस्त सम्पत्तियोंको सिद्ध करनेवाला है ॥११॥

जो धीर पुरुष अभेदरूपताको प्राप्त हुए स्व (आत्मा) और पर पदार्थ इन दोनोंको पृथक् कर देता है—उन्हें भिन्न समझने लगता है—वह अन्तःकरणकी चंचलताको पूर्वमें ही नष्ट कर देता है ॥१२॥

प्राणियोंकी शुद्धि—कर्ममलसे रहितता—इस मनकी शुद्धिसे ही होती है, इसमें सन्देह नहीं है । और उस मनशुद्धिके विना—रागद्वेषकी शान्तिके विना—तपश्चरणादिसे होनेवाला यह कायक्लेश व्यर्थ होता है—उससे अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ॥१३॥

मनकी शुद्धि केवल ध्यानकी शुद्धिको ही नहीं करती है, किन्तु वह प्राणियोंके कर्म-समूहोंको भी छिन्न-भिन्न (नष्ट) करती है ॥१४॥

१. S Y R कायस्यैव कदर्थनं । २. All others except P ध्यानशुद्धिं । ३. All others except P M N T निःशङ्कं । ४. M N जालादि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1087) पादपङ्कजसंलीनं तस्यैतद्भुवनत्रयम् ।
यस्य चित्तं स्थिरीभूय स्वस्वरूपे लयं गतम् ॥१५

1088) मनः कृत्वाशु[1] निःसंगं निःशेषविषयच्युतम् ।
मुनिभृङ्गैः समालीढं मुक्तेर्वदनपङ्कजम् ॥१६

1089) यथा यथा मनःशुद्धिर्मुनेः साक्षात्प्रजायते ।
तथा तथा विवेकश्रीर्हृदि धत्ते स्थिरं पदम् ॥१७

1090) चित्तशुद्धिमनासाद्य मोक्तुं यः सम्यगिच्छति ।
मृततृष्णातरङ्गिण्यां स पिबत्यम्बु केवलम् ॥१८

1087) **पादपङ्कज**—तस्य पुंसः एतद् भुवनत्रयं जगत्त्रयं पादपङ्कजसंलीनं चरणकमलस्थितम् । यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात् । यस्य चित्तं स्वस्वरूपे आत्मस्वरूपे लयं गतं ध्यानत्वेन प्राप्तम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ मनोनिःसंगफलमाह ।

1088) **मनः कृत्वा**—मुनिभृङ्गैर्मुक्तेर्वदनपङ्कजं मुखकमलं समालीनम् आश्रितम् । किं कृत्वा । मनः [1]सुनिःसंगं कृत्वा । कीदृशं मनः । निःशेषविषयच्युतं समस्तविषयरहितम् । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ मनःशुद्धिविवेकस्य कारणत्वेनाह ।

1089) **यथा यथा**—यथा यथा मुनेर्ज्ञाततत्त्वस्य साक्षान्मनःशुद्धिः प्रजायते । तथा तथा मुनेः एव हृदि विवेकश्रीः स्थिरं पदं धत्ते । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ मनःशुद्धिं विना मुक्तिर्न भवतीत्याह ।

1090) **चित्तशुद्धि**—यः चित्तशुद्धिमनासाद्याप्राप्य मोक्तुं सम्यगिच्छति स मृगतृष्णातरङ्गिण्यां मरीचिकानद्यां केवलम् अम्बु पानीयं पिबति । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ स्थिरतामाह ।

जिसका मन स्थिर हो करके आत्मरूपमें लीन हो गया है उसके चरण-कमलमें ये तीनों लोक लीन हो गये हैं—वह मुक्त होकर तीनों लोकोंका स्वामी बन जाता है ॥१५॥

मुनिरूप भ्रमर मनको परिग्रहसे अतिशय रहित (निर्मम) एवं सब विषयोंसे विमुख करके मुक्तिरूप लक्ष्मीके मुखरूप कमलका आलिंगन करते हैं ॥१६॥

जैसे-जैसे मुनिके मनकी शुद्धि प्रगटमें होती जाती है वैसे ही वैसे विवेकरूप लक्ष्मी हृदयमें स्थिर स्थानको धारण करती है। अभिप्राय यह है कि विवेककी स्थिरता मनकी शुद्धिसे ही होती है ॥१७॥

जो जीव मनकी निर्मलताको न प्राप्त करके—उसके विना ही—भली भाँति मुक्त होना चाहता है वह मृगतृष्णारूप नदीमें केवल पानीको पीता है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मरुभूमिमें बालूको जल जानकर मृग अपनी तृष्णा (प्यास) को शान्त करनेकी इच्छासे दौड़ते हैं, परन्तु उन्हें कहीं भी जल प्राप्त नहीं होता है; उसी प्रकार मनकी-निर्मलताके बिना जो मुक्त होनेका प्रयत्न करता है उसे वह मुक्ति कभी प्राप्त नहीं हो सकती है ॥१८॥

१. P M L F कृत्वासुनिःसङ्गं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1091) तद्ध्यानं तद्धि विज्ञानं तद्ध्येयं[1] तत्त्वमेव वा ।
येनाविद्यामतिक्रम्य मनस्तत्त्वे स्थिरीभवेत् ॥१९

1092) विषयग्रासलुब्धेन चित्तदैत्येन सर्वथा ।
विक्रम्य स्वेच्छयाजस्रं जीवलोकः कदर्थितः ॥२०

1093) अवार्यविक्रमः सो ऽयं चित्तदन्ती निवार्यताम् ।
न यावद् ध्वंसयत्येष[2] सत्संयमनिकेतनम् ॥२१

1094) विभ्रमन्[3] विषयारण्ये चलच्चेतोवलीमुखः[4] ।
येन रुद्धो ध्रुवं सिद्धं फलं तस्यैव वाञ्छितम् ॥२२

1091) **तद् ध्यानं**—येनोपायेन मनः स्थिरं भवेत् । क्व । तत्त्वे । तद् ध्यानम् । हि निश्चितम् । तद् विज्ञानम् । तदेव ध्येयं ध्यानार्हम् । वा अथवा । तत् तत्त्वमेव । किं कृत्वा । अविद्याम् अज्ञानमतिक्रम्य त्यक्त्वेति सूत्रार्थः ॥ १९॥ अथ जीवलोकस्य चित्तकृतपरिदेवनमाह ।

1092) **विषयग्रास**—चित्तदैत्येनाजस्रं निरन्तरं स्वेच्छया जीवलोकः कदर्थितः पीडितः । किं कृत्वा । सर्वथा विक्रम्य । कीदृशेन । विषयग्रासलुब्धेन इन्द्रियव्यापारकवललम्पटेन । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ चित्तदन्तिनो ऽनिवार्यत्वमाह ।

1093) **अवार्य**—सो ऽयं चित्तदन्ती निवार्यताम् निषेध्यताम् । कीदृशः । अनिवार्यविक्रमः दुर्वारपराक्रमः । एषः चित्तदन्ती यावत् संयमनिकेतनं संयमगृहं न ध्वंसयति न विध्वंसयति । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ पुनः चित्तस्वरूपमाह ।

1094) **विभ्रमन्**—येन पुंसा चलच्चेतोवलीमुखः चञ्चलचेतोमर्कटः ध्रुवं निश्चितं रुद्धः । किं कुर्वन् । विषयारण्ये विषयविपिने विभ्रमत्* तस्यैव पुंसो वाञ्छितं फलं सिद्धमिति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ यः चेतो न जयति तस्य सर्वं विफलमाह ।

जिसके आश्रयसे मन अज्ञानको लाँघकर—उसे छोड़कर—आत्मस्वरूपमें स्थिर हो जाता है वही ध्यान है, वही विज्ञान है, वही ध्येय है, और तत्त्व (परमार्थ) है ॥१९॥

चित्तरूप दैत्य विषयरूप ग्रासके लोभसे आक्रमण करके निरन्तर प्राणिसमूहको इच्छानुसार सब प्रकारसे पीड़ित किया करता है ॥२०॥

जो यह मनरूप हाथी अनिवार्य पराक्रमका धारक है वह जब तक समीचीन संयमरूप प्रासादको ध्वस्त नहीं करता है तब तक उसका निवारण करना उचित है ॥२१॥

जिसने विषयरूप वनमें विचरते हुए चंचल चित्तरूप बन्दरको रोक लिया है उसीके निश्चयसे अभीष्ट फलकी सिद्धि होती है ॥२२।

१. M N तद्धैयं । २. J Y R यावद्विसय॰ । ३. M S J K X Y R विभ्रमद्विष॰, L ॰मन्विष॰ । ४. M N चलच्चित्तो, F T चलचेतो ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1095) चित्तमेकं न शक्नोति जेतुं स्वातन्त्र्यवर्ति यः ।
ध्यानवार्तां ब्रुवन्मूढः स किं लोके न लज्जते[1] ॥२३

1096) यदसाध्यं[2] तपोनिष्ठैर्मुनिभिर्वीतमत्सरैः ।
तत्पदं प्राप्यते धीरै[3] चित्तप्रसरबन्धकैः ॥२४

1097) अनन्तजन्मजानेककर्मबन्धस्थितिर्दृढा ।
भावशुद्धिं प्रपन्नस्य मुनेः प्रक्षीयते क्षणात् ॥२५

1098) यस्य चित्तं स्थिरीभूतं प्रसन्नं ज्ञानवासितम् ।
सिद्धमेव मुनेस्तस्य साध्यं किं कायदण्डनैः ॥२६

1095) **चित्तमेकं**—यः पुमान् एकं चित्तं जेतुं न शक्नोति समर्थो न भवति । कीदृशं चित्तम् । स्वातन्त्र्यवर्ति स्वाधीनवर्ति । स मूढो मूर्खः लोके न लज्जते । अपि तु लज्जत एव । किं कुर्वन् । ध्यानवार्तां ब्रुवन् वदन् । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ [मनोजयेन सर्वं साध्यं भवतीत्याह ।

1096) **यदसाध्यं**—मुनिभिः यत् पदम् असाध्यं तत् चित्तप्रसरबन्धकैः मनोजयिभिः प्राप्यते । कीदृशैः मुनिभिः । तपोनिष्ठैः तप आचरद्भिः । अपि च कीदृशैः । वीतमत्सरैः ईर्ष्यारहितैः । इति सूत्रार्थः ॥२४॥ भावशुद्धेः फलमाह ।

1097) **अनन्त**—मुनेः कर्मबन्धस्थितिः क्षणात् प्रक्षीयते नश्यति । कीदृशस्य मुनेः । भावशुद्धिं मनोजयं प्रपन्नस्य प्राप्तस्य । कीदृशी कर्मबन्धस्थितिः । दृढा स्थिरा । पुनः कीदृशी । अनन्तजन्मजा अनन्तजन्मसमुद्भवा । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ पुनस्तदेवाह ।

1098) **यस्य चित्तं**—यस्य चित्तं स्थिरीभूतं तस्य मुनेः सर्वं सिद्धमेव । कीदृशं चित्तम् । प्रसन्नं ज्ञानवासितं च । तस्य मुनेः कायदण्डनैः किं साध्यम् । न किमपीत्यर्थः ॥२६॥] अथाजितचित्तस्य सर्वं विफलमाह ।

जो स्वतन्त्रतासे प्रवृत्ति करनेवाले उस एक चित्तके जीतने में समर्थ नहीं है, परन्तु ध्यानकी बात करता है; वह मूर्ख इस लोकमें लज्जाको क्यों नहीं प्राप्त होता है ? अर्थात् उसे लज्जित होना चाहिये, क्योंकि, मनकी एकाग्रताके बिना उस ध्यानकी सम्भावना नहीं है ॥२३॥

मात्सर्यभावको छोड़कर तपका अनुष्ठान करनेवाले साधुजन जिस पदको नहीं सिद्ध कर पाते हैं, हे धीर ! उस पदको चित्तके संचारको रोकनेवाले—उसे वशमें कर लेनेवाले—सज्जन प्राप्त कर लेते हैं ॥२४॥

जो मुनि भावोंकी निर्मलताको प्राप्त कर चुका है उसके अनन्त जन्मोंमें उत्पन्न हुई अनेक कर्मोंकी दृढ़ स्थिति क्षणभरमें क्षीण हो जाती है ॥२५॥

जिसका निर्मल व ज्ञानसे संस्कारित मन स्थिरताको प्राप्त हो चुका है उस मुनिका साध्य—रत्नत्रयरूप अभीष्ट—सिद्ध ही हो चुका। अब उसे शरीरको क्लेश पहुँचानेवाले

१. Y लज्जितः । २. K om. 24 to 26 verses । ३. All others except PMF धीरैश्चित्त ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1099) तपःश्रुतयमज्ञानतनुक्लेशादिसंश्रयम्[1][2] ।
अनियन्त्रितचित्तस्य स्यान्मुनेस्तुषकण्डनम् ।।२७

1100) एकैव हि मनःशुद्धिर्लोकाग्रपथदीपिका ।
स्खलितं बहुभिस्तत्र तामनासाद्य निर्मलाम् ।।२८

1101) असन्तो ऽपि गुणाः सन्ति यस्यां[3] सत्यां शरीरिणाम् ।
सन्तो ऽपि यां विना यान्ति सा मनःशुद्धिरुच्यते ।।२९

1099) **तपःश्रुत**—मुनेः पूर्वोक्तस्य तपःश्रुतयमज्ञानाः तनुक्लेशादिसंचयं सर्वं तुषखण्डनं निरर्थकम् । कीदृशस्य मुनेः । अनियन्त्रितचित्तस्य अनिबद्धचित्तस्य । इति सूत्रार्थः ।।२७।। अथ पुनर्भावाशुद्धिफलमाह ।

1100) **एकैव हि**—एकैव, हि निश्चितं, मनःशुद्धिः लोकाग्रपथदीपिका मुक्तिपथदीपिका वर्तते । तत्र लोके । तां चित्तशुद्धि निर्मलामनासाद्याप्राप्य । बहुभिः स्खलितं बहुभिः पतितम् । इति सूत्रार्थः ।।२८।। अथ पुनस्तस्यैव फलमाह ।

1101) **असन्तो ऽपि**—यस्यां मनःशुद्धौ सत्याम् । असन्तो ऽपि अविद्यमाना अपि सन्ति । यां विना मनःशुद्धिमन्तरेण सन्तो ऽपि चारित्रादयः यान्ति गच्छन्ति । सा मनःशुद्धिः शस्यते प्रशस्यते ।।२९।। अथ पुनश्चित्तस्य स्वरूपमाह ।

संयम व तप आदिसे क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नहीं । अभिप्राय यह है कि बाह्य तप व संयम आदिकी अपेक्षा अन्तःकरणकी निर्मलता ही मुख्य है, क्योंकि उसके बिना वे सब व्यर्थ ही रहते हैं ।।२६।।

जिस मुनिका मन वशमें नहीं हुआ है उसका तप, शास्त्राभ्यास, संयम, ज्ञान और कायक्लेश आदिका आश्रय लेना तुषखण्डनके समान धान्यके कणोंसे रहित कोरे भूसेके कूटनेके समान व्यर्थ ही है ।।२७।।

लोकशिखरके मार्गको—मोक्षमार्गको—प्रकाशित करनेवाली दीपिका (छोटा दीपक) एक वह मनशुद्धि ही है । उस निर्मल दीपिका को न पाकर वहाँ बहुत-से जीव भ्रष्ट हुए हैं ।।२८।।

जिसके होने पर प्राणियोंके अविद्यमान भी गुण विद्यमान हो जाते हैं तथा जिसके विना उनके विद्यमान गुण भी चले जाते हैं—नष्ट हो जाते हैं—उस मनशुद्धिकी ही प्रशंसा की जाती है ।।२९।।

१. F J यमध्यान । २. Y संचयं । ३. All others except P M X सन्ति यस्य यस्यां शरी° । ४. All others except N शुद्धिः शस्यते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1102) अपि लोकत्रयैश्वर्यं सर्वाक्षप्रीणनक्षमम् ।
भजत्यचिन्त्यवीर्यो ऽयं चित्तदैत्यो निरङ्कुशः ॥३०

1103) शमश्रुतयमोपेता जिताक्षाः शंसितव्रताः ।
विदन्त्यनिर्जितस्वान्ताः स्वस्वरूपं न योगिनः ॥३१

1104) विलीनविषयं शान्तं निःसङ्गं त्यक्तविक्रियम् ।
स्वस्थं कृत्वा मनः प्राप्तं मुनिभिः पदमव्ययम् ॥३२

1102) **अपि लोक**—अथ चित्तदैत्यः लोकत्रयैश्वर्यमपि भजति । कीदृशम् । सर्वाक्षप्रीणनक्षमं सर्वेन्द्रियहर्षोत्पादकम् । कीदृशः चित्तदैत्यः । अचिन्त्यवीर्यः अनन्तपराक्रमः । पुनः कीदृशः । निरङ्कुशः अङ्कुशरहितः । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथाजितस्वान्ता आत्मस्वरूपं न विदन्तीत्याह ।

1103) **शमश्रुत**—अनिर्जितस्वान्ता अजितचित्ताः । स्वस्वरूपम् आत्मस्वरूपं योगिनो ऽपि न विदन्ति न जानन्ति । कीदृशाः । शमश्रुतयमोपेताः क्षान्तिज्ञानव्रतोपेताः । पुनः कीदृशाः । जिताक्षा जितेन्द्रियाः । पुनः कीदृशाः । शंसितव्रताः प्रशंसितमहाव्रताः । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ यथा मुनिभिर्मोक्षः प्राप्तः तथाह ।

1104) **विलीनविषयं**—मुनिभिरव्ययम् अविनाशपदं मोक्षपदं प्राप्तम् । किं कृत्वा । मनः स्वस्थं कृत्वा । कीदृशं मनः । विलीनविषयं विनष्टेन्द्रियव्यापारम् । पुनः कीदृशम् । शान्तं क्रोधाद्यभावोपेतम् । पुनः । निःसंगम् बाह्याभ्यन्तरसंगमुक्तम् । पुनः कीदृशम् । त्यक्तविक्रियं तर्जितविकारम् । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ चित्तस्य त्रैलोक्यव्याप्यत्वमाह ।

अचिन्त्य शक्तिवाला यह मनरूप दैत्य स्वतन्त्र रहकर सब इन्द्रियोंके प्रसन्न करनेमें समर्थ ऐसे तीनों लोकोंके भी ऐश्वर्यको भोगता है । अभिप्राय यह है कि जब तक मनको वशमें नहीं किया जाता है तबतक वह तीनों ही लोकोंकी सम्पत्तिके भोगने का विचार (आर्तध्यान) करता रहता है ॥३०॥

शम, आगमज्ञान और संयमसे सहित, जितेन्द्रिय एवं प्रशस्त व्रतोंके धारक हो करके भी जिन योगियोंने अपने मनको नहीं जीता है वे आत्माके स्वरूपको नहीं जानते हैं ॥३१॥

इसके विपरीत जिन मुनियोंने उस मनको विषयोंसे विमुख, शान्त, निर्मम और क्रोधादि विकारोंसे रहित करके आत्मस्वरूपमें स्थित कर लिया है उन्होंने अविनश्वर पद (मोक्ष) को प्राप्त कर लिया है ॥३२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1105) दिक्चक्रं दैत्यधिष्ण्यं त्रिदशपतिपुराण्यम्बुवाहान्तरालं
द्वीपाम्भोधिप्रकाण्डं खचरनरसुराहीन्द्रवासं समग्रम् ।
एतत्त्रैलोक्यनीडं पवनचयचितं चापलेन क्षणार्धे-
नाश्रान्तं चित्तदैत्यो भ्रमति तनुमतां दुर्विचिन्त्यप्रभावः ॥३३

1106) प्रशमयमसमाधिध्यानविज्ञानहेतो-
र्विनयनयविवेकोदारचारित्रसिद्धयै[3] ।
य इह जयति चेतःपन्नगं दुर्निवारं
स खलु जगति योगिव्रातवन्द्यो मुनीन्द्रः ॥३४

1105) **दिक्चक्रं**—तनुमतां चित्तदैत्यो ऽश्रान्तं निरन्तरं क्षणार्धेन भ्रमति । कीदृशः । दुर्विचिन्त्यप्रभावः । किं भ्रमति । समग्रं समस्तम् एतत्त्रैलोक्यनीडम् एतत्त्रिभुवनम् भ्रमति । कर्तृ-क्रियाव्याहारो विशेषणैर्योग्यः । दिक्चक्रं चित्तदैत्यो भ्रमति । पुनः । दैत्यधिष्ण्यं दैत्याश्च धिष्ण्याश्च दैत्यधिष्ण्यम् । त्रिदशपतिपुराणि इन्द्रनगराणि भ्रमति । अम्बुवाहान्तरालं मेघमध्यम् । पुनः कीदृशम् । चित्तदैत्यो द्वीपाम्भोधिप्रकाण्डं द्वीपसमुद्रसमूहं भ्रमति । पुनः किं भ्रमति । खचरनरसुराहीन्द्रवासं विद्याधरमनुष्यामरनागेन्द्रभवनम् । पुनः कीदृशं भुवनम् । पवनचयचितं वायुसमूहव्याप्तम् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ चेतोविनयफलमाह ।

1106) **प्रशमयम**—यः पुमान् इह जगति चेतःपन्नगं मनःसर्पम् । कीदृशम् । दुर्निवारं जयति । किमर्थम् । प्रशमयमसमाधिध्यानविज्ञानहेतोः [प्रशमयम] चित्तस्थिरताध्यानविशिष्टज्ञाननिमित्तम् । पुनः कस्यै । विनयनयविवेकोदारचारित्रसिद्ध्यै विनयो भक्तिः, नयविवेकैः उदारं प्रधानं यच्चारित्रं तस्य सिद्धिः, तस्यै । खलु निश्चयेन । स चेतःपन्नगजेता मुनीन्द्रो योगिव्रातवन्द्यो योगिसमूहनमस्यो भवति । इति सूत्रार्थः ॥३४॥

अचिन्त्य प्रभावका धारक वह प्राणियोंका चित्तरूप दैत्य सब दिशाओंके घेरेमें, दैत्योंके स्थानमें, इन्द्रके पुरोंमें, मेघोंके मध्यमें, द्वीप व समुद्रोंके अन्तरालमें तथा विद्याधर, मनुष्य, देव और धरणेन्द्रके स्थानमें, इस प्रकार वायुसमूहसे वेष्टित इस तीन लोकरूप घरमें अपनी चंचलतासे निरन्तर आधे ही क्षणके भीतर चक्कर लगाया करता है। तात्पर्य यह कि जब तक मनको वशमें नहीं किया जाता है तब तक वह जो वस्तु स्वप्नमें भी प्राप्त नहीं हो सकती है उसके विषयमें भी कुछ न कुछ सोचा ही करता है ॥३३॥

जो मुनीन्द्र प्रशम (कषायोंकी शान्ति), महाव्रत, प्रतिमायोग (आत्मलीनता), ध्यान और विशिष्ट ज्ञानके कारणसे तथा विनय, न्याय-नीति, विवेक और महान् चारित्रकी शुद्धिके लिए उस कष्टसे निवारण किये जानेवाले मनरूप सर्पको जीत लेता है—उसे अपने अधीन कर लेता है—वह लोकमें योगियोंके समूहसे वंदनीय होता है ॥३४॥

---

१. Y क्षणैर्नाविश्रान्तं । २. M N F J तनुभृतां । ३. N S T J K X R शुद्धयै ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्रीशुभचन्द्र-विरचिते मनोव्यापारप्रतिपादनप्रकरणम् ॥२०॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहऋषिदासस्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन मनोव्यापारप्रतिपादनप्रकरणम् ॥२०॥

अभावि पार्श्वः पूर्वं यो टोडरः साधुबुद्धिकः ।
जीयात् प्रसिद्धकीर्तिस्तु ऋषिदासो नरोत्तमः ॥१॥
इत्याशीर्वादः ॥

अथ मनोजये रागाद्यभावो भवति । अतः रागाद्यभावप्रतिपादकं प्रकरणमाह ।

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योग प्रदीपाधिकारमें मनोव्यापार प्रतिपादन प्रकरण समाप्त हुआ ॥२०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

XXI

[रागादिनिवारणम्]

1107) निःशेष[1]विषयोत्तीर्णं विकल्पव्रजवर्जितम् ।
स्वतत्त्वैकपरं धत्ते मनीषी नियतं मनः ॥१॥ अथवा-[2]

1108) क्रियमाणमपि स्वस्थं मनः सद्यो ऽभिभूयते ।
अनाद्युत्पन्नसंबन्धै[3] रागादिबलिभिर्बलात् ॥२

1109) स्वतत्त्वानुगतं चेतः करोति यदि संयमी ।
रागादयस्तथाप्येते क्षिपन्ति[5] भ्रमसागरे ॥३

1107) **निःशेष**—मनीषी पण्डितः मनः स्वतत्त्वैकपरम् आत्मैकतत्त्वसावधानं नियतं निश्चितं धत्ते । कीदृशं मनः । निःशेषविषयोत्तीर्णं समस्तविषयरहितम् । पुनः कीदृशं मनः । विकल्पव्रजवर्जितं दुरध्यवसायवर्जितम् । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथवा पक्षान्तरे ।

1108) **क्रियमाणमपि**—मनो रागादिरिपुभिर्बलात् हठात् सद्यः शीघ्रम् अभिभूयते पीड्यते । कीदृशैः रागादिरिपुभिः[4] । अनाद्युत्पन्नसंबन्धैः अनादिकालसंबन्धजातैः । स्वस्थं क्रियमाणमपि । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ रागादीनां दुष्टफलमाह ।

1109) **स्वतत्त्वानुगतं**—संयमी यदि स्वतत्त्वानुगतम् आत्मैकतत्त्वागतं चेतः करोति, तथापि एते रागादयः भ्रमसागरे भवसमुद्रे क्षिपन्ति पातयन्ति । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ रागादिजये उद्यममाह ।

बुद्धिमान् योगी नियमसे अपने मनको समस्त विषयोंसे विमुख और विकल्पजालसे रहित करके उसे एक मात्र अपने आत्मस्वरूपमें लीन करता है ॥१॥

अथवा—मनको आत्मस्वरूपमें स्थित करनेपर वह शीघ्र ही उन रागादिरूप बलशाली शत्रुओंके द्वारा बलपूर्वक पराभवको प्राप्त होता है जिनका कि सम्बन्ध जीवके साथ अनादि कालसे उत्पन्न हुआ है ॥२॥

यद्यपि संयमका परिपालक मुनि उस मनको अपने आत्मस्वरूपमें अवस्थित करता है फिर भी ये रागादि शत्रु उसे भ्रमरूप समुद्रमें फेंक देते हैं ॥३॥

१. J विशेष । २. P M L F अथवा । ३. All others except P M N T संबद्धै । ४. All others except P रागादिरिपुभि° । ५. J क्षपन्ति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1110) आत्माधीनमपि स्वान्तं सद्यो रागैः कलङ्क्यते ।
अस्ततन्द्रैरतः पूर्वमत्र यत्नो विधीयताम् ॥४

1111) अयत्नेनापि जायन्ते चित्तभूमौ शरीरिणाम् ।
रागादयः स्वभावोत्थ[1]ज्ञानराज्याङ्गघातकाः ॥५

1112) इन्द्रियार्थम[2]पाकृत्य स्वतत्त्वमवलम्बते[3] ।
यदि योगी तथाप्येते छलयन्ति मुहुर्मनः[4] ॥६

1113) क्वचिन्मूढं क्वचिद्भ्रान्तं क्वचिद्भीतं क्वचिद्रुतम्[5] ।
शङ्कितं च क्वचित्क्लिष्टं रागाद्यैः क्रियते मनः ॥७

1110) **आत्माधीनमपि**—यदि स्वान्तं चित्तम् आत्माधीनम् आत्मलीनं क्रियते तथापि रागैः स्वान्तं सद्यः शीघ्रं कलङ्क्यते मलिनीक्रियते । अतः कारणात् पूर्वम् अस्ततन्द्रैरनालस्यैरत्र रागादि-जये यत्नो विधीयतां क्रियताम् । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ रागादीनां स्वभावमाह ।

1111) **अयत्नेनापि**—रागादयः शरीरिणां चित्तभूमौ मनोभूमिकायाम् अयत्नेनापि यत्नं विनापि जायन्ते । कीदृशा रागादयः । स्वभावोत्थज्ञानराज्याङ्गघातकाः स्वभावजनितज्ञानसाम्रा-ज्याङ्गघातकाः विनाशकाः । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ रागादयो योगिनां मनः चालयन्ति ।

1112) **इन्द्रियार्थम्**—यदि योगी स्वतत्त्वं स्वस्वरूपमवलम्बते आश्रयति । किं कृत्वा । इन्द्रियार्थान्[2] इन्द्रियव्यापारान् अपाकृत्य तिरस्कृत्य । तथापि इन्द्रियार्थानपाकरणे ऽपि एते पूर्वोक्ता रागादयः मुहुर्वारंवारं मनः छलयन्ति । इन्द्रियविषयेषु [मनसः] प्रवृत्तिं कुर्वन्ति । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ मनसो रागाद्यैः क्लिश्यमानत्वमाह ।

1113) **क्वचिन्मूढं**—रागाद्यैर्मनः एतादृशं क्रियते । कीदृशम् । क्वचिन्मूढं मूर्च्छितं क्रियते । क्वचिद् भ्रान्तं रागाद्यैर्विपरीतमति क्रियते । क्वचिद् भीतं भयभ्रान्तं क्रियते । क्वचिद् द्रुतं[5] व्याधि-

अपने अधीन हुआ भी वह मन रागादिकोंके द्वारा शीघ्र ही मलिन कर दिया जाता है । इसलिए मुमुक्षु मुनियोंको प्रथमतः आलस्यको छोड़कर उन रागादिकोंके विषयमें ही प्रयत्न करना चाहिए ॥४॥

स्वभावसे उत्पन्न होकर ज्ञानरूप राज्यके अंगोंका घात करनेवाले वे रागादि प्राणियों-की मनरूप भूमिमें बिना किसी प्रयत्नके ही उत्पन्न हुआ करते हैं ॥५॥

यदि योगी इन्द्रियविषयको दूर करके आत्मतत्त्वका आश्रय लेता है तो भी ये रागादि उस मनको बार-बार ठगते हैं—मलिन करते हैं ॥६॥

रागादिक उस मनको कहींपर मुग्ध, कहींपर भ्रान्तिसंयुक्त, कहींपर भयभीत, कहींपर रोता हुआ (अथवा द्रुत=पीडित) कहींपर शंकायुक्त और कहींपर क्लेशसे परिपूर्ण किया करते हैं ॥७॥

१. J स्वभावोत्था । २. All others except P इन्द्रियार्थानपा° । ३. M °मवलम्ब्यते । ४. J Y मुहुर्मुहुः । ५. M L क्वचिद्द्रुतम्, N क्वचिद् ध्रुवम्, others क्वचिद्रतम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1114) अजस्रं रुध्यमाने ऽपि चिराभ्यासाद् दृढीकृताः ।
चरन्ति हृदि निःशङ्का नृणां रागादिराक्षसाः ॥८

1115) प्रयासैः फल्गुभिर्मूढैः[1] किमात्मा दण्डयते[2] ऽधिकम् ।
शक्यते न हि चेच्चेतः कर्तुं रागादिवर्जितम् ॥९

1116) क्षीणरागं च्युतद्वेषं[3] ध्वस्तमोहं सुसंवृतम् ।
यदि चेतः समापन्नं तदा सिद्धं समीहितम् ॥१०

विलम्बितम् । च पुनः । शङ्कितं क्रियते स्वस्वरूपे शङ्कोपेतम् । क्वचित् क्लिष्टं क्लेशयुक्तं क्रियते । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ रागादीनां स्वरूपमाह ।

1114) **अजस्रं**—नृणां रागादिराक्षसाः हृदि मनसि चरन्ति संचरन्ति । कीदृशाः । निःशङ्काः शङ्कारहिताः । पुनः कीदृशे हृदि । अजस्रं निरन्तरं रुध्यमाने ऽपि । पुनः कीदृशाः । चिराभ्यासात् चिरकालम् अभ्यासात् दृढीकृता । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ पुनः रागादिस्वरूपमाह ।

1115) **प्रयासैः**—मूढैर्मूर्खैः किमधिकमात्मा दण्ड्यते । प्रयासैः तपो ऽनुष्ठानजनितैः । कीदृशैः प्रयासैः । फल्गुभिर्निःसारैः । हि यस्मात् कारणात् । चेत् यदि चेतो रागादिवर्जितं कर्तुं न शक्यते तदेति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ स्वच्छचेतसः फलमाह ।

1116) **क्षीणरागं**—यदि चेतः एतादृशं समापन्नं जातम् । कीदृशम् । क्षीणरागं नष्टरागं, च्युतद्वेषम् । पुनः कीदृशम् । सुसंवृतम् अशुभव्यापारेभ्यः संकोचितम् । तदा समीहितं वाञ्छितं सिद्धम् । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ [अथ मूर्खविदुषोर्भेदमाह ।

दीर्घकालके अभ्याससे प्रबल किये गये रागादिरूप राक्षस रोके जानेपर भी मनुष्योंके हृदयमें निरन्तर संचार किया करते हैं ॥८॥

अज्ञानीजन यदि मनको रागादिसे रहित नहीं कर सकते हैं तो फिर वे व्यर्थके परिश्रमोंसे—व्रत, संयम एवं तपश्चरण आदिसे उत्पन्न होनेवाले क्लेशोंसे—आत्माको अधिक पीड़ित क्यों करते हैं ? तात्पर्य यह कि रागादिकी शान्तिके विना संयम व तपश्चरण आदि व्यर्थ ही रहते हैं ॥९॥

यदि मन राग और द्वेषसे रहित होकर मोहको नष्ट करता हुआ समस्त सावद्य प्रवृत्ति-से रहित हो चुका है तो समझना चाहिए कि प्राणीका अभीष्ट सिद्ध हो चुका—मुक्ति उसके निकट ही है ॥१०॥

---

१. S J K X Y R मूढ । २. T दह्यते । ३. T गतद्वेषं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1117) [¹मूर्खास्तपोभिः क्रशयन्ति देहं बुधा मनो देहविकारहेतुम् ।
श्वा क्षिप्तमस्त्रं ग्रसते ऽतिकोपात् क्षेप्तारमस्त्रस्य निहन्ति सिंहः ॥१०*१]

1118) मोहपङ्के परिक्षीणे प्रशान्ते रागविभ्रमे ।
पश्यन्ति यमिनः स्वस्मिन् स्वरूपं परमात्मनः ॥११

1119) महाप्रशमसंग्रामे शिवश्रीसंगमोत्सुकैः ।
योगिभिर्ज्ञानशस्त्रेण रागमल्लो निपातितः ॥१२

1120) असंक्लिष्टमविभ्रान्तमविप्लुतमनाकुलम् ।
निश्चलं² च मनः कृत्वा वस्तुतत्त्वं निरूपय ॥१३

1117) **मूर्खास्तपोभिः**—मूर्खाः तपोभिः तपांसि कृत्वा देहं क्रशयन्ति कृशं कुर्वन्ति । किन्तु बुधाः विद्वांसः देहविकारहेतुं देहविकारकारणं मनः कृशं कुर्वन्ति । तदर्थं दृष्टान्तमाह । यथा श्वा कुक्कुरः स्वस्मिन् क्षिप्तम् अस्त्रम् अतिक्रोधात् ग्रसति किंतु सिंहः अस्त्रस्य क्षेप्तारं मनुजमेव निहन्ति । इति सूत्रार्थः ॥१०*१॥] अथ स्वस्वरूपोपलब्धिमाह ।

1118) **मोहपङ्के**—यमिनो व्रतिनः परमात्मनः स्वरूपं स्वस्मिन् पश्यन्ति शुद्धबोधतया । कीदृशे स्वस्मिन् । मोहपङ्के मोह एव पङ्कः मालिन्यकारित्वात् पङ्कः । तस्मिन् मोहपङ्के परिक्षीणे क्षये संजाते सति । पुनः क्व सति । रागविभ्रमे प्रशान्ते सति । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ योगिभिर्ज्ञानेन रागादयो जेतव्या इत्याह ।

1119) **महाप्रशम**—योगिभिः ज्ञानशस्त्रेण ज्ञानायुधेन रागमल्लो रागसुभटो निपातितः । क्व । महाप्रशमसंग्रामे महाशान्तिसमरे । कीदृशैः । शिवश्रीसंगमोत्सुकैः मोक्षलक्ष्मीमेलापकोत्कण्ठितैः । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ मनोनिश्चलत्वमाह ।

1120) **असंक्लिष्टम्**—हे योगिन्, वस्तुतत्त्वं वस्तुस्वरूपं निरूपय । 'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते' इति अवलोकय । किं कृत्वा । मनो इन्द्रियविषयनिर्वर्तितत्वेन निश्चलं कृत्वा ।

[मूर्ख लोग तप करके अपना शरीर कृश बनाते हैं, लेकिन विद्वान् लोग शरीरमें विकार बनानेवाले मनकी ही शक्ति क्षीण करते हैं । मनको जीतते हैं । जैसे कुत्ता आदमीके फेंके हुए लकड़ी आदि हथियारको क्रोधसे दंश करता है । लेकिन सिंह हथियार फेंकनेवालेको ही मार डालता है ॥१०*१॥]

जिन मुनियोंका मोहरूप कीचड़ नष्ट हो चुका है तथा रागका विलास अतिशय शान्त हो चुका है वे परमात्माके स्वरूपको अपने आपमें ही देखते हैं ॥११॥

मुक्तिरूप लक्ष्मीके संयोगमें उत्सुक हुए योगियोंने राग-द्वेषके उपशमरूप घोर युद्धमें ज्ञानरूप शस्त्रके प्रहारसे रागरूप योद्धाका घात किया है ॥१२॥

हे भव्य ! तू मनको संक्लेश, भ्रान्ति, उपद्रव और आकुलतासे रहित करके उसे स्थिर करता हुआ वस्तुस्वरूपका निरूपण कर ॥१३॥

१. Only in M N । २. S R स्ववशं च मनः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1121) रागाद्यभिहतं[1] चेतः स्वतत्त्वविमुखं भवेत् ।
ततः प्रच्यवते क्षिप्रं ज्ञानरत्नाद्रिमस्तकात् ॥१४

1122) रागद्वेषभ्रमाभावे मुक्तिमार्गे स्थिरीभवेत् ।
संयमी जन्मकान्तारसंक्रमक्लेशशङ्कितः ॥१५

1123) रागादिभिरविश्रान्तैर्[2]वञ्च्यमानं[3] मुहुर्मनः ।
न पश्यति परंज्योतिः पुण्यपापेन्धनानलम् ॥१६

चकारो विशेषणाकाङ्क्षी । कीदृशं मनः । असंक्लिष्टं क्लेशरहितम् । पुनः कीदृशम् । अविभ्रान्तं भ्रान्तिरहितम् । पुनः कीदृशम् । अविप्लुतं स्थिरीभूतम् । पुनः कीदृशम् । अनाकुलं चञ्चलत्वरहितम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ रागाद्यभिद्रुतं चेतः आत्मतत्त्वं न वेत्तीत्याह ।

1121) **रागाद्यभिहतं**—चेतो रागाद्यभिहतं रागादिपीडितं सत् स्वतत्त्वे विमुखं आत्मतत्त्वपराङ्मुखं भवेत् । ततो रागाद्यभिहतचित्तत्वात् ज्ञानरत्नाद्रिमस्तकात् शुद्धबोधरोहणाचलमस्तकात् क्षिप्रं शीघ्रं प्रच्यवते पतति । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ रागद्वेषाभावे यत्तदाह ।

1122) **रागद्वेष**—संयमी व्रती । मुक्तिमार्गे सम्यग्ज्ञानादित्रयरूपे निश्चलो भवेत् । कैः । रागद्वेषभ्रमाभावैः इष्टानिष्टवस्तुविषयैः तेभ्यो भ्रमः । अथवा भ्रमो भिन्नत्वेन ग्राह्यः । ततो रागश्च द्वेषश्च भ्रमश्च रागद्वेषभ्रमास्तेषामभावः, तैः । कीदृशः संयमी । जन्मकान्तारसंक्रमात् भवाटवीभ्रमणात् क्लेशशङ्कितः क्लेशभीतः । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ रागादिभिर्वञ्च्यमानः परं ज्योतिः न पश्यति ।

1123) **रागादिभिः**—संयमी परं प्रकृष्टं ज्योतिः स्वात्मप्रकाशं न पश्यति । कथम् । रागादिभिर्मुहुर्वारंवारं मनः वञ्च्यमानम् । अत्र सप्तम्यर्थे प्रथमा । कीदृशं मनः । अविश्रान्तं विश्रामरहितम् । कीदृशं ज्योतिः । पुण्यपापेन्धनानलं शुभाशुभकर्मेन्धनेषु अनलवदनलं, दाहकत्वात् । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ पुनः रागाद्यभावफलमाह ।

रागादिसे आहत चित्त आत्मतत्त्वसे विमुख होता है और तब प्राणी ज्ञानरूप रत्न पर्वतके शिखरसे शीघ्र ही च्युत हो जाता है ॥१४॥

संसाररूप वनमें भटकनेके क्लेशसे भयभीत हुआ मुनि राग, द्वेष एवं मोहके अभावसे मोक्षमार्गमें स्थिर हो जाता है ॥१५॥

निरन्तर विद्यमान रहनेवाले रागादिकोंके द्वारा बार-बार ठगा गया मन उस उत्कृष्ट ज्योतिको नहीं देखता है जो कि पुण्य-पापरूप ईंधनके भस्म करनेमें अग्निके समान है ॥१६॥

१. L T रागादिभिर्हतं । २. All others except P °रविशान्तं । ३. J बन्ध्यमानं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1124) रागादिपङ्कविश्लेषात् प्रसन्ने चित्तवारिणि ।
परिस्फुरति निःशेषं मुनेर्वस्तुकदम्बकम् ॥१७

1125) स को ऽपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते ।
येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यचिन्त्यं तृणायते ॥१८

1126) प्रशाम्यति विरागस्य दुर्बोधविषमग्रहः ।
स एव वर्धते ऽजस्रं रागार्तस्येह देहिनः ॥१९

1127) स्वभावजमनातङ्कं वीतरागस्य यत्सुखम् ।
न तस्यानन्तभागो ऽपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरैः ॥२०

1124) **रागादिपङ्क**—मुनेर्ज्ञानशीलस्य वस्तुकदम्बकं वस्तुसमूहं निःशेषं समस्तं परिस्फुरति प्रगटीभवति । क्व सति । चित्तवारिणि मनोजले प्रसन्ने निर्मले सति । कस्मात् । रागादिपङ्कविश्लेषात् रागादिकर्दमविभागात् । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ वीतरागसुखस्वरूपमाह ।

1125) **स को ऽपि**—वीतरागस्य रागद्वेषरहितस्य स को ऽपि वक्तुमशक्यो ऽपि परमानन्दः स्वात्मोपलब्धिसंभवो जायते । येनानन्देन लोकत्रयैश्वर्यं जगत्त्रयसाम्राज्यम् अचिन्त्यमपि अचिन्तनीयमपि तृणायते तृणम् इव चरते । निःस्पृहत्वादित्यर्थः ॥१८॥ अथ वीतरागस्य यद्भवतीत्याह ।

1126) **प्रशाम्यति**—विरागस्य नीरागस्य दुर्बोधविषमग्रहः अज्ञानविकटकदाग्रहः प्रशाम्यति उपशमं याति । स एव दुर्बोधविषमग्रहः अजस्रं निरन्तरं वर्धते वृद्धिं याति । इह लोके रागार्तस्य । उपलक्षणात् द्वेषो ऽपि ग्राह्यः । रागद्वेषपीडितस्य देहिनः प्राणिनः । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ वीतरागसुखस्वरूपमाह ।

1127) **स्वभावजम्**—वीतरागस्य पूर्वोक्तार्थयुक्तस्य यत्सुखं रागद्वेषाभावजनितं परमानन्दरूपम् । कीदृशं सुखम् । स्वभावजं सहजोत्पन्नम् । पुनः कीदृशम् । अनातङ्कं निर्भयमारोग्यरूपं वा । तस्य तादृशविशेषणोपेतस्य सुखस्यानन्तभागो ऽपि त्रिदशेश्वरैर्देवेन्द्रैः प्राप्यते । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ रागद्वेषयोरनन्तदुःखकारणमाह ।

रागादिरूप कीचड़के हट जानेपर निर्मलताको प्राप्त हुए मुनिके चित्त रूप जलके भीतर समस्त वस्तुओंका समूह प्रतिभासित होने लगता है ॥१७॥

उस समय उक्त वीतराग मुनिके वह कोई असाधारण उत्कृष्ट आनन्द उत्पन्न होता है जिसके कि आश्रयसे वह तीनों लोकोंके अचिन्त्य ऐश्वर्यको भी तृणके समान तुच्छ समझने लगता है ॥१८॥

जो मुनि राग-द्वेषसे रहित हो चुका है उसका मिथ्याज्ञान रूप भयानक पिशाच शान्त हो जाता है और इसके विपरीत जो प्राणी यहाँ रागसे पीड़ित होता है उसका वही मिथ्याज्ञानरूप पिशाच निरन्तर वृद्धिको प्राप्त है ॥१९॥

वीतराग मुनिको जो पीड़ासे रहित स्वाभाविक (अतीन्द्रिय) सुख प्राप्त होता है, इन्द्रोंको उसके अनन्तवें भाग मात्र भी वह सुख प्राप्त नहीं होता ॥२०॥

Gaṇesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1128) एतावनादिसंभूतौ रागद्वेषौ महाग्रहौ[1] ।
अनन्तदुःखसंतानप्रसूतेश्चाग्रिमाङ्कुरौ[2] ॥२१

1129) उक्तं च—

रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुञ्चति[3] ।
जीवो जिनोपदेशो ऽयं समासाद्[4] बन्धमोक्षयोः ॥२१*१॥ इति[5] ।

1130) तद्विवेच्य ध्रुवं धीर[6] ज्ञानार्कालोकमाश्रय[7] ।
विशुष्यति[8] च यं प्राप्य रागकल्लोलमालिनी ॥२२

1128) **एतावनादि**—एतौ रागद्वेषौ अनन्तदुःखसंतानप्रसूतेः पूर्वक्तानन्तदुःखसमूहजन्मनः प्रथमाङ्कुरौ प्रारम्भाङ्कुरौ । कीदृशौ । अनादिसंभूतौ अनादिकालसंजातौ । पुनः कीदृशौ । महासुरौ दुःखदायकत्वात् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे ।

1129) **रागी बध्नाति**—रागी जीवो कर्माणि बध्नाति । वीतरागो जीवो विमुच्यते कर्मभ्यः । समासात् संक्षेपतो बन्धमोक्षयोर्विषयेष्वयं जिनोपदेशः । बन्धमोक्षौ च कथितौ जिनैः । इति सूत्रार्थः ॥२१*१॥ अथ रागद्वेष [रहितं] यथार्थं ज्ञानमुपादेयमित्याह ।

1130) **तद्विवेच्य**—हे धीर, तदज्ञानसूर्यप्रकाशं विवेच्य विवेकविषयीकृत्य । ज्ञानार्कालोकं प्राप्य रागकल्लोलमालिनी रागतरङ्गिणी शुष्यति शोषं यातीत्यर्थः ॥२२॥ अथ रागद्वेषयोः सतोरध्यात्मं नास्तीत्याह ।

ये राग-द्वेष रूप दो महा पिशाच अनादिकालसे उत्पन्न होते हुए अपरिमित दुःख-परम्पराकी उत्पत्तिके प्रधान अंकुर हैं—मुख्य कारण हैं ।२१॥

कहा भी है—

रागी जीव कर्मोंको बाँधता है और वीतराग उन्हीं कर्मोंको छोड़ता है—उनकी निर्जरा करता है, यह जिनेन्द्र देवने संक्षेपमें बन्ध और मोक्षविषयक उपदेश दिया है ॥२१*१॥

इसलिए हे धीर! पूर्वोक्त बन्धमोक्षके स्वरूपका विचार करके उस स्थिर ज्ञानरूप सूर्यके प्रकाशका आश्रय ले, जिसको पा करके वह रागरूप नदी सूख जानेवाली है ॥२२॥

---

१. M L T F J K Y महासुरौ । २. All others except P °तेः प्रथमा° । ३. All others except P विमुच्यते । ४. T °यं मम स्याद्वन्ध° । ५. P M इति । ६. M N वीर, J धीरः । ७. J °माश्रयः । ८. L विशुध्यति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1131) चिदचिद्रूपिभावेषु सूक्ष्मस्थूलेष्वपि क्षणम् ।
राग: स्याद्यदि वा द्वेषः क्व तदाध्यात्मनिश्चयः ॥२३

1132) नित्यानन्दमयीं साध्वीं शाश्वतीं चात्मसंभवाम् ।
वृणोति वीतसंरम्भो वीतरागः शिवश्रियम् ॥२४

1133) यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रैति निश्चयः ।
उभावेतौ समालम्ब्य विक्रामत्यधिकं मनः ॥२५

1131) **चिदचिद्रूपि**—सूक्ष्मस्थूलेषु भावेषु पदार्थेषु रागः स्यात् यदि वा द्वेषः स्यात् । कीदृशेषु भावेषु । चिदचिद्रूपभावेषु[1] चेतनाचेतनभावेषु । तदाध्यात्मनिश्चयः परमात्मनिर्णयः क्व । न क्वापीति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ वीतरागस्य मोक्षलक्ष्मीकारणत्वमाह ।

1132) **नित्यानन्द**—वीतरागो निःस्पृहः शिवश्रियं मोक्षलक्ष्मीं वृणोति । कीदृशः । वीतसंरम्भो गतमनोविकल्पः । कीदृशीम् । नित्यानन्दमयीं शाश्वतानन्दरूपाम् । पुनः कीदृशीम् । साध्वीं प्रधानीम् । पुनः । शाश्वतीम् अविनश्वराम् । पुनः कीदृशीम् । आत्मोपपन्नाम् । च पादपूरणे ॥२४॥ पुनस्तयोः स्वरूपमाह ।

1133) **यत्र रागः**—यत्र मनुष्ये रागः पदं स्थानं धत्ते तत्र जने द्वेषः पदं धत्ते, इति निश्चयः । एतौ उभौ रागद्वेषौ समालम्ब्याश्रित्याधिकं मनो विक्रामति विक्रियां करोति । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ ज्ञानमिच्छन् रागं हन्तीत्याह ।

सूक्ष्म व स्थूल स्वभाववाले चेतन, अचेतन और रूपी (मूर्तिक) पदार्थोंके विषयमें यदि क्षणभरके लिए भी राग अथवा द्वेष होता है तो फिर अध्यात्मका निश्चय भला कहाँ सम्भव है ? राग-द्वेषके होते हुए आत्मस्वरूपका निश्चय सम्भव नहीं है ॥२३॥

वीतराग योगी संरम्भसे—हिंसादि पापोंके संकल्पसे—रहित होकर शाश्वतिक आनन्दरूप, उत्कृष्ट, अविनश्वर और आत्ममात्रसे उत्पन्न होनेवाली मुक्तिरूप लक्ष्मीका वरण करता है ॥२४॥

जहाँ (जिसके हृदयमें) राग अपने चरणको धारण करता है—स्थान प्राप्त करता है—वहाँ द्वेष भी आकर उपस्थित होता है, यह निश्चित है। और इन दोनोंके आश्रयसे मन अतिशय पराक्रम दिखलाता है—वह इष्टसंयोग एवं अनिष्ट वियोग आदिके दुर्ध्यानमें प्रवृत्त होता है ॥२५॥

---

१. All others except P चिद्रूप । २. M द्विष ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1134) सकलज्ञानसाम्राज्यं स्वीकर्तुं य: समीप्सति ।
स धन्य: शमशस्त्रेण रागशत्रुं[1] निकृन्तति ॥२६

1135) यथोत्पाताक्षम: पक्षी लूनपक्ष: प्रजायते ।
रागद्वेषच्छदच्छेदे स्वान्तपत्ररथस्तथा ॥२७

1136) चित्तप्लवङ्गदुर्वृत्तं स हि नूनं विजेष्यते[2] ।
यो रागद्वेषसंतानतरुमूलं निकृन्तति ॥२८॥ अथवा[3]—

1137) अयं मोहवशाज्जन्तु: क्रुध्यति द्वेष्टि रज्यते ।
अर्थेषु न[4] स्वभावेन तस्मान्मोहो जगज्जयी ॥२९

1134) **सकलज्ञान**—य: सकलज्ञानसाम्राज्यं सर्वज्ञानैश्वर्यं स्वीकर्तुमङ्गीकर्तुं समीप्सति वाञ्छति स पुमान् धन्य: शमशस्त्रेण उपशमायुधेन रागशत्रुं रागवैरिणं निकृन्तति छिनत्ति । इति सूत्रार्थ: ॥२६॥ अथ रागस्वरूपमाह ।

1135) **यथोत्पाताक्षम:**—यथा पक्षी लूनपक्ष: छेदितपक्ष: उत्पाताक्षम: उड्डयनायासमर्थो जायते । तथा स्वान्तपत्ररथ: चित्तपक्षी रागद्वेषच्छदच्छेदे रागद्वेषपक्षच्छेदने सति नोड्डीयते । इति सूत्रार्थ: ॥२७॥ अथ रागद्वेषभावस्य दुष्टचित्तं कारणमाह ।

1136) **चित्तप्लवंग**—य: पुमान् रागद्वेषसंतानतरुमूलं रागद्वेषसमूहवृक्षमूलं निकृन्तति छिनत्ति । हि यस्मात् । नूनं निश्चितम् । स चित्तप्लवंगदुर्वृत्तं चित्तव्यन्तरदुष्टाचरणं विजेष्यते जयं करिष्यति । इति सूत्रार्थ: ॥२८॥ अथ पक्षान्तरे । अथ मोहलक्षणमाह ।

1137) **अयं मोह**—अयं जन्तु: अन्य:* स्वभावेषु परस्परं पृथक् स्वभावेषु मोहवशात् अर्थेषु पदार्थेषु क्रुध्यति क्रोधं करोति, द्वेष्टि द्वेषं करोति, रज्यते । तस्मात् कारणात् मोहो जगज्जयी जगज्जेता । इति सूत्रार्थ: ॥२९॥ अथ मोहस्य रागद्वेषौ कारणमाह ।

जो पुण्यशाली मनुष्य समस्त ज्ञान (केवलज्ञान) रूप साम्राज्यको स्वीकार करनेकी इच्छा करता है वह कषायोपशमरूप शस्त्रके द्वारा रागरूप शत्रुको खण्डित करता है ॥२६॥

जिस पक्षीके पंख कट गये हैं वह जिस प्रकार उपद्रव करनेमें असमर्थ हो जाता है उसी प्रकार रागद्वेषरूप पंखोंके कट जानेपर—उनके नष्ट हो जानेपर मनरूप पक्षी भी उपद्रव करनेमें—बाह्य पदार्थोंमें इष्टानिष्ट बुद्धि करके उनकी प्राप्ति व परिहारके लिए पापाचरण करनेमें—असमर्थ हो जाता है ॥२७॥

जो साधु राग-द्वेषकी परम्परारूप वृक्षकी जड़को काट डालता है वह निश्चित ही मनरूप बन्दरके दुष्ट व्यवहारको जीतेगा—उसे अपने अधीन कर लेगा ॥२८॥

अथवा—यह प्राणी बाह्य पदार्थोंमें जो किसीपर क्रोध करता है, किसीके साथ शत्रुताका व्यवहार करता है, और किसीमें आसक्त होता है वह मोहके प्रभावसे वैसा करता है; न कि स्वभावसे । इस कारण वह मोह ही जगत्का विजेता है ॥२९॥

---

१. M शत्रू । २. R विजेष्यति । ३. P M L F अथवा । ४. All others except P M N अर्थेष्वन्यस्वभावेषु ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1138) रागद्वेषविषोद्यानं मोहबीजं जिनैर्मतम् ।
अतः स एव निःशेषदोषसेनानरेश्वरः ॥३०

1139) असावेव भवोद्भूतदाव[1]वह्निः शरीरिणाम् ।
तथा दृढतरानन्तकर्मबन्धनिबन्धनम् ॥३१

1140) रागादिगहने खिन्नं मोहनिद्रावशीकृतम् ।
जगन्मिथ्याग्रहाविष्टं जन्मपङ्के निमज्जति ॥३२

1141) स पश्यति मुनिः साक्षाद्विश्वमध्यक्षमञ्जसा ।
यः स्फेटयति[2] मोहान्धपटलं[3] ज्ञानचक्षुषः[4] ॥३३

1138) **रागद्वेष**—रागद्वेषविषोद्यानं रागद्वेषावेव विषोद्यानं मोहबीजं मोह एव बीजं जिनैस्तीर्थंकरैर्मतमभिमतम् । अतः कारणात् मोह एव स एव निःशेषदोषसेनानरेश्वरः समस्तदोषकटकराजा वर्तते । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ पुनर्मोहस्वरूपमाह ।

1139) **असावेव**—असावेव मोह एव दृढतरानन्तकर्मबन्धनिबन्धनं घनतरानन्तकर्मबन्धस्य निबन्धनं कारणम् । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ जगतो मोहवशीकृतस्य स्वरूपमाह ।

1140) **रागादि**—जगत् जन्मपङ्के निमज्जति । कीदृशं जगत् । रागादिगहने रागादिगुपिले खिन्नं खेदितम् । पुनः कीदृशम् । मोहनिद्रावशीकृतं । सुगमम् । पुनः कीदृशं जगत् । मिथ्याग्रहाविष्टं मिथ्याग्रहगृहीतम् । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ मोहाभावे योगिनो ज्ञानमाह ।

1141) **स पश्यति**—स पश्यति मुनिः । कम् । साक्षाद् विश्वं प्रत्यक्षम् । अञ्जसा सुखेन । स इति कः । यः मोहान्धकारं ज्ञानचक्षुषा[4] स्फेटयति दूरीकरोति । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ मोहस्य नाशोपायमाह ।

जिन भगवान् राग-द्वेषरूप विषयवृक्षमय बगीचेका बीज मोहको मानते हैं । इसलिए समस्त दोषोंकी सेनाका स्वामी एक वह मोह ही है ॥३०॥

वह मोह प्राणियोंके संसार रूप वनमें उत्पन्न हुई वनकी अग्नि ही है—दावाग्निके समान विस्तारको प्राप्त होकर प्राणियोंको सन्तप्त करनेवाला वह मोह ही है, तथा प्राणियोंके अतिशय दृढ़ व अपरिमित कर्मबन्धका कारण भी वही मोह है ॥३१॥

सब ही संसारी प्राणी मिथ्यादर्शनरूप पिशाचसे पीड़ित होकर राग-द्वेषादिरूप भयानक वनमें विचरण करते हुए खेदको प्राप्त होते हैं और तब मोहरूप निद्राके वशीभूत होकर संसाररूप कीचड़में निमग्न हो जाते हैं—संसारमें परिभ्रमण करते हुए अनन्त दुखको सहते हैं ॥३२॥

जो मुनि ज्ञानरूप नेत्रके (या ज्ञानरूप नेत्रके निमित्तसे) आवारक अज्ञानरूप अन्धकारके समूहको नष्ट कर देता है वह यथार्थमें विश्वको—सचराचर लोकको—प्रकटमें प्रत्यक्ष देखता है ॥३३॥

---

१. P दाह । २. L R स्फोटयति । ३. M L F K X Y मोहान्धतिमिरं, N S T J R मोहाख्यं पटलं । ४. All others except P N चक्षुषा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1142) इयं मोहमहाज्वाला जगत्त्रयविसर्पिणी ।
क्षणादेव क्षयं याति प्लाव्यमाना शमाम्बुभिः ॥३४

1143) यस्मिन् सत्येव संसारी यद्वियोगे शिवीभवेत् ।
जीवः स एव पापात्मा मोहमल्लो निवार्यताम् ॥३५

1144) यत्संसारस्य वैचित्र्यं नानात्वं यच्छरीरिणाम् ।
यदात्मीयेष्वनात्मास्था तन्मोहस्यैव वल्गितम्[1] ॥३६

1145) रागादिवैरिणः क्रूरा मोहभूपेन्द्रपालिताः[2] ।
निकृत्य शमशस्त्रेण मोक्षमार्गं निरूपय ॥३७

1142) **इयं मोह**—इयं मोहमहाज्वाला क्षणादेव क्षयं याति । कीदृशी मोहमहाज्वाला । जगत्त्रयविसर्पिणी जगत्त्रयप्रसरणशीला । पुनः कीदृशी । शमाम्बुभिः उपशमजलैः प्लाव्यमाना सिच्यमाना । इति सूत्रार्थः ॥३४ ॥ [अथ मोहसामर्थ्यमाह ।]

1143) **यस्मिन्सत्येव**—स एव जीवः यस्मिन् मोहे सति संसारी भवति । यस्य मोहस्य वियोगे निराकरणे सति शिवीभवेत् मोक्षं लभते । अतः पापात्मा पापरूपः मोहमल्लः मोह एव मल्लः शक्तिशाली निवार्यताम् । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ मोहस्यानिवार्यत्वमाह ।

1144) **यत्संसारस्य**—संसारस्य यद्वैचित्र्यं विचित्रता, शरीरिणां मनुष्याणां यन्नानात्वमनेकप्रकारत्वं, यदात्मीयेषु पदार्थेषु अनात्मास्था परबुद्धिनिष्ठता तन्मोहस्यैव वल्गितं वैभवं चेष्टितं वा । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ मोहस्य स्वरूपमाह ।

1145) **रागादि**—हे भव्य, मोक्षमार्गं सम्यग्दर्शनादित्रयरूपं निरूपय प्रकाशय । शमशस्त्रेण उपशमायुधेन रागादिवैरिणः रागादिशत्रून् निकृत्य छित्त्वा । कीदृशान् । क्रूरान्* रौद्रान् । पुनः

शमभावरूप जलके द्वारा डुबोयी गयी वह तीनों लोकोंमें फैलनेवाली मोहरूप विशाल अग्निकी ज्वाला क्षणभरमें शान्त हो जाती है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अग्निकी शान्ति जलसे हुआ करती है उसी प्रकार मोहकी शान्ति राग-द्वेषके उपशमनसे होती है ॥३४॥

जिस मोहके होने पर ही जीव संसारी होता है—जन्म-मरणके दुखको सहता है—और जिसके नष्ट हो जानेपर वह उस दुखसे मुक्त होकर कल्याणका भाजन होता है उसी पापरूप मोह-सुभटका निवारण करना चाहिए ॥३५॥

प्राणियोंके जो संसारकी विचित्रता—नर-नारकादिस्वरूप विविधरूपता, भिन्नता और आत्मीय भावोंमें—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, संयम एवं क्षमा-मार्दवादिमें—आत्मभिन्नताका जो विश्वास होता है वह मोहकी चाल है—उसीके प्रभावसे ऐसा होता है ॥३६॥

हे साधो ! ये रागादिरूप शत्रु मोहरूप राजाके द्वारा रक्षित हैं। इसलिए तू उस मोहको और उसके द्वारा रक्षित इन रागादिकोंको शमभावरूप शस्त्रसे काटकर मोक्षमार्गका अवलोकन कर ॥३७॥

१. P वल्गिनम्, F °स्यैव चालितम् । २. All others except P M क्रूरान्........पालितान् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1146) इति मोहवीरवृत्तं रागादिवरूथिनीसमाकीर्णम् ।
सुनिरूप्य भावशुद्धया यतस्व तद्बन्धमोक्षाय ॥ ३८

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्यश्रीशुभचन्द्रविरचिते
रागद्वेषप्रकरणम् ॥२१॥

कीदृशान् । मोहभूपेन्द्रपालितान्* मोहराजेन्द्ररक्षितान् । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ मोहस्वरूपमुपसंहरति ।

1146) इति मोह—हे भव्य, तत्तस्मात्कारणात् बन्धमोक्षाय यतस्व । इति अमुना प्रकारेण मोहवीरवृत्तं मोहसुभटचरितं भावशुद्धया निरूप्य कथयित्वा । कीदृशम् । रागादिवरूथिनीसमाकीर्णं रागादिसेनाव्याप्तम् । इति सूत्रार्थः ॥३८॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवमूलसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डित-
जिनदासोद्यमेन रागद्वेषप्रकरणं समाप्तम् ॥२१॥

बभूव पार्श्वः श्रीयुक्तः टोडरः कृतिटोडरः ।""स्वभावज्ञः ऋषिदासो जयत्विह ॥१॥ इति आशीर्वादः । अथ रागद्वेषाभावे उपशमो भवतीत्याह ।

इस प्रकार रागादिरूप सैन्यसे व्याप्त—उसके आश्रयसे चलनेवाले उस मोहरूप सुभटके वृत्तान्त (व्यवहार) को देखकर भावशुद्धिके द्वारा उस कर्मबन्धसे छूटनेका प्रयत्न कर ॥३८॥

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
राग-द्वेषप्रकरण समाप्त हुआ ॥२१॥

---

१. J स निरूप्य । २. X Y रागद्वेषमोहनिवारणप्रकरणं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[साम्यवैभवम्]

1147) मोहवह्निमपाकर्तुं स्वीकर्तुं संयमश्रियम् ।
छेत्तुं रागद्रुमोद्यानं समत्वमवलम्ब्यताम्[1] ॥१

1148) चिदचिल्लक्षणैर्भावैरिष्टानिष्टतया स्थितैः ।
न मुह्यति मनो यस्य तस्य साम्ये[2] स्थितिर्भवेत् ॥२

1149) विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।
समत्वं[3] भज सर्वज्ञज्ञानलक्ष्मीकुलास्पदम् ॥३

1147) **मोहवह्निम्**—हे भव्य, शमत्वम् उपशमत्वम् अवलम्ब्यताम् आश्रयताम्। किं कर्तुम् । मोहवह्निं मोहाग्निम् अपाकर्तुम् । पुनः किं कर्तुम् । संयमश्रियं स्वीकर्तुम् अङ्गीकर्तुम् । पुनः किं कर्तुम् । रागद्रुमोद्यानं छेत्तुम् । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ मनसो मोहाभावफलमाह ।

1148) **चिदचिल्लक्षणैः**—यस्य पुंसः मनः चित्तं न मुह्यति मोहं न याति । कैः । भावैः पदार्थैः । कीदृशैः । चिदचिल्लक्षणैः ज्ञानाज्ञानरूपैः । पुनः कीदृशैः । इष्टानिष्टतया अभीष्टानभीष्टतया स्थितैः । तस्य पुंसः साम्ये समतायां स्थितिरवस्थानं भवेदिति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ सम्यक्त्वफलमाह ।

1149) **विरज्य**—हे [भव्य], समत्वं समतां भज सेवय । किं कृत्वा । कामभोगेषु विरज्य विरक्तीभूय । पुनः किं कृत्वा । वपुषि स्पृहां ममत्वं विमुच्य त्यक्त्वा । कीदृशम् । सर्वज्ञज्ञानलक्ष्मीकुलास्पदम् अर्हत्केवलज्ञानकमलाकुलगृहमिति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ भवबन्धनच्छेदननिबन्धनमाह ।

हे भव्य ! तू मोहरूप अग्निको शान्त करनेके लिए, संयमरूप सम्पत्तिको स्वीकार करनेके लिए और रागरूप वृक्षोंके वनको नष्ट करनेके लिए समताभावका—माध्यस्थ्य वृत्तिका अवलम्बन कर ॥१॥

जिस महात्माका मन इष्ट और अनिष्ट रूपसे अवस्थित चेतन (मित्र-शत्रु आदि) व अचेतन (कोमल शय्या व शस्त्रादि) पदार्थोंसे मुग्ध नहीं होता है वही साम्यभावमें स्थित रह सकता है ॥२॥

हे भव्य ! तू विषयभोगोंसे विरक्त होकर शरीरके विषयमें निःस्पृह होता हुआ उस समताभावकी आराधना कर जो सर्वज्ञकी ज्ञानरूप लक्ष्मीके कुलगृहके समान है—सर्वज्ञकी विभूतिको प्राप्त करानेवाला है ॥३॥

१. M L J शमत्व । २. M N साम्यस्थिति° । ३. M शमत्वं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1150) छित्त्वा प्रशमशस्त्रेण भवव्यसनवागुराम् ।
मुक्तेः स्वयंवरागारं वीर[1] व्रज शनैः शनैः ॥४

1151) साम्य[2]सूर्यांशुनिर्भिन्ने रागादितिमिरोत्करे ।
प्रपश्यति [3]शमी स्वस्मिन् स्वरूपं परमात्मनः ॥५

1152) साम्यसीमान[4]मालम्ब्य कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम् ।
पृथक् करोति विज्ञानी संश्लिष्टे जीवकर्मणी[5] ॥६

1153) साम्यवारिणि शुद्धानां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम् ।
इहैवानन्तबोधादिराज्यलक्ष्मीः सखी भवेत् ॥७

1150) **छित्त्वा प्रशम**—हे धीर, मुक्तेः स्वयंवरागारं शिवश्रीस्वयंवरमण्डपं गृहं शनैः शनैः व्रज गच्छ । किं कृत्वा । भवव्यसनवागुरां संसारबन्धनं छित्त्वा । केन । प्रशमशस्त्रेण उपशमायुधेन । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ परमात्मनः स्वरूपमाह ।

1151) **साम्यसूर्यांशुभिः**—यमी व्रती स्वस्मिन् परमात्मनः स्वरूपं प्रपश्यति प्रकर्षेण पश्यति । क्व सति । रागादितिमिरोत्करे रागाद्यन्धकारसमूहे साम्यसूर्यांशुभिः उपशमादित्यकिरणैः भिन्ने भेदिते सतीति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ जीवकर्मणोर्विवेचनमाह ।

1152) **साम्यसीमानम्**—विज्ञानी विशिष्टज्ञानोपयुक्तः जीवकर्मणी जीवश्च कर्म च जीवकर्मणी पृथक् करोति । कीदृशे जीवकर्मणी । संश्लिष्टे परस्परमनादिकालतो मिलिते । किं कृत्वा । साम्यसीमानम् उपशममर्यादाम् आलम्ब्य आश्रित्य । पुनः किं कृत्वा । आत्मनि आत्मनिश्चयं परमात्मनिर्णयं कृत्वा । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ पुनरुपशमस्वरूपमाह ।

1153) **साम्यवारिणि**—इहैव भवे सतां सत्पुरुषाणाम् अनन्तबोधादिराज्यलक्ष्मीः अनन्तज्ञानादिसाम्राज्यश्रीः सखी भवेत् सहायिनी भवेत् । कीदृशां सताम् । साम्यवारिणि शुद्धानां

हे वीर ! तू प्रशमरूप शस्त्रके द्वारा संसारपरिभ्रमणके दुखरूप फाँसको काटकर धीरे-धीरे मुक्तिरूप लक्ष्मीके स्वयंवर मन्दिरकी ओर गमन कर । अभिप्राय यह है कि संसारपरिभ्रमणके कारणभूत जो राग-द्वेष हैं उनको नष्ट कर देनेसे जीवको मुक्तिरूप लक्ष्मी स्वयं ही वरण कर लेती है—उसे फिर मोक्षसुखके प्राप्त करनेमें विलम्ब नहीं होता ॥४॥

समताभावरूप सूर्यकी किरणोंके द्वारा रागादिरूप अन्धकारसमूहके नष्ट कर देनेपर प्रशमभावका आश्रय लेनेवाला जीव अपने आपमें ही परमात्माके स्वरूपको देखता है—तब वह स्वयं आराध्य बन जाता है, उसका आराध्य अन्य कोई नहीं रहता ॥५॥

विवेकी जीव समताभावकी सीमाका आश्रय लेकर जब आत्मामें आत्माके निश्चयको करता है तब वह परस्परमें सम्बद्ध जीव और कर्मको पृथक् करता है—उनको स्वरूपसे भिन्न समझने लगता है ॥६॥

विवेकज्ञानरूप नेत्रके धारक जो सज्जन समताभावरूप जलमें स्नान करके शुद्धिको

१. T धीर । २. P शम corrected into शाम्य, M J शाम्य । ३. All others except P यमी । ४. M N सीमां समालम्ब्य । ५. M कर्मणि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1154) भावयस्व तथात्मानं समत्वेनातिनिर्भरम् ।
न यथा द्वेषरागाभ्यां गृह्णात्यर्थकदम्बकम् ॥८

1155) रागादिविपिनं भीमं मोहशार्दूलपालितम् ।
दग्धं मुनिमहावीरैः साम्यधूमध्वजार्चिषा ॥९

1156) मोहपङ्के परिक्षीणे शीर्णे रागादिबन्धने ।
नृणां हृदि पदं धत्ते साम्यश्रीर्विश्ववन्दिता ॥१०

साम्यपानीये शुद्धानाम् । पुनः कीदृशां सताम् । ज्ञानैकचक्षुषां ज्ञानैकलोचनानाम् । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ शमसद्भावे रागद्वेषाभावमाह ।

1154) **भावयस्व**—हे जीव, तथात्मानं भावयस्व चिन्तयस्व । केन । अतिनिर्भरं बहुभावं शमत्वेनोपशमत्वेन । यथा अर्थकदम्बकं परिग्रहादिसमूहं रागद्वेषाभ्यां न गृह्णाति, तद्ग्रहणं न करोतीति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ पुनः साम्यसाध्यमाह ।

1155) **रागादिविपिनं**—मुनिमहावीरैर्मुनिमहासुभटैः रागादिविपिनं वनं दग्धं ज्वालितम् । कया । साम्यधूमध्वजार्चिषा साम्याग्निज्वालया । कीदृशं रागादिविपिनम् । भीममोहशार्दूलपालितं रौद्रमोहव्याघ्रपालितम् । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ मोहरागादिहीने साम्यतामाह ।

1156) **मोहपङ्के**—साम्यश्रीरुपशमश्रीर्नृणां हृदि पदं स्थानं धत्ते । कीदृशी साम्यश्रीः । विश्ववन्दिता जगत्पूजिता । क्व सति । मोहपङ्के परिक्षीणे । पुनः क्व सति । रागादिबन्धने शीर्णे विनश्वरे सतीति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ पुनः साम्यफलमाह ।

प्राप्त हुए हैं उनकी अनन्तज्ञानादिरूप राज्यलक्ष्मी इस जन्ममें सखी (सहचारिणी) होती है—उन्हें इसी जन्ममें मुक्ति प्राप्त हो जाती है ॥७॥

हे भव्य ! तू अपनी आत्माका पूर्णतया समताभावस्वरूपसे इस प्रकार चिन्तन कर कि जिससे वह पदार्थसमूहको राग-द्वेषके साथ ग्रहण नहीं करे—किसीसे राग और किसीसे द्वेष न करे ॥८॥

मुनिरूप महायोद्धाओंने मोहरूप सिंहसे संरक्षित भयानक रागादिरूप वनको समता-भावरूप अग्निकी ज्वालाके द्वारा भस्म किया है ॥९॥

जब मनुष्योंका मोहरूप कीचड़ नष्ट हो जाता है तथा रागादिरूप बन्धन टूट जाता है तब उनके हृदयमें समस्त लोकसे वन्दित समतारूप लक्ष्मी पदार्पण करती है । अभिप्राय यह है कि जब तक प्राणीका मोह नष्ट नहीं होता है तबतक राग-द्वेष भी नष्ट नहीं होते हैं और जबतक वे राग-द्वेष नष्ट नहीं होते तबतक उसके हृदयमें समताभावको स्थान नहीं मिलता है । इसलिए उस समताभावको प्राप्त करनेके लिए राग-द्वेष और मोहको नष्ट करना चाहिए ॥१०॥

---

१. M शाम्य for साम्य everywhere । २. P शमश्री° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1157) आशाः सद्यो विपद्यन्ते[1] यान्त्यविद्याः क्षयं क्षणात् ।
म्रियते चित्तभोगीन्द्रो[2] यस्यां[3] सा साम्यभावना ॥११

1158) साम्यकोटिं समारूढो यमी जयति कर्म यत् ।
निमेषा[4]न्तेन तज्जन्मकोटिभिस्तपसेतरः ॥१२

1159) साम्यमेव परं ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभिः ।
तस्यैव व्यक्तये नूनं मन्ये ऽयं शास्त्रविस्तरः ॥१३

1160) साम्यभावितभावानां स्यात्सुखं यन्मनीषिणाम् ।
तन्मन्ये ज्ञानसाम्राज्य[5]समत्वमवलम्बते ॥१४

1157) **आशाः सद्यः**—यस्य पुंसः आशाः वाञ्छाः सद्यः शीघ्रं विपद्यन्ते विनश्यन्ति । क्षणात् अविद्याः अज्ञानानि क्षयं यान्ति । यस्य चित्तभोगीन्द्रो म्रियते, तस्य सा साम्यभावना वर्तते । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ साम्यावस्थावतो कर्माभावमाह ।

1158) **साम्यकोटिं**—यमी व्रती यत्कर्म निमेषान्तेन जयति । कीदृशो यमी । साम्यकोटि-समारूढः साम्यभावस्थितः । तत्कर्म इतरः साम्यभावनारहितः तपसा जन्मकोटिभिर्न जयति । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ साम्यस्य ध्यानकारणत्वमाह ।

1159) **साम्यमेव**—विश्वदर्शिभिः सर्वज्ञैः साम्यमेव परं ध्यानं प्रणीतं कथितम् । नूनं निश्चितम् । तस्यैव व्यक्तये साम्यस्य प्रगटनायायं शास्त्रविस्तरः । इत्यहं मन्ये । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ साम्यजनितफलमाह ।

1160) **साम्यभावित**—मनीषिणां पण्डितानां यत्सुखं स्यात् । कीदृशां मनीषिणाम् ।

जिसके होनेपर जीवकी सब इच्छाएँ शीघ्र नष्ट हो जाती हैं, अविद्याएँ (मिथ्या दुरभि-निवेश) क्षणभरमें क्षीण हो जाती हैं, तथा मनरूप महाभयानक सर्प मर जाता है उसका नाम साम्यभावना है ॥११॥

समताभावके अग्रभागपर—शिखरपर—आरूढ़ हुआ योगी जिस कर्मको निमेष (नेत्रकी टिमकार) मात्र कालके भीतर—क्षणभरमें ही—जीत लेता है उसीको उक्त समता-भावसे रहित अन्य जीव तपश्चरणके द्वारा करोड़ों जन्मोंमें जीत पाता है ॥१२॥

समस्त लोकके ज्ञाता द्रष्टा सर्वज्ञ देवने एक साम्यभावको ही उत्कृष्ट ध्यान निरूपित किया है । यह शास्त्रविस्तार तो निश्चयसे उसी साम्यभावके प्रकट करनेके लिए है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥१३॥

साम्यभावसे पदार्थोंका चिन्तन करनेवाले बुद्धिमान् महापुरुषोंको जो सुख प्राप्त होता है वह ज्ञानके साम्राज्य (केवलज्ञान) की समानताका आश्रय लेता है, ऐसा मैं मानता हूँ ।

१. F विलीयन्ते । २. F J Y रागादिरिपुभिः सार्धं यस्य सा । ३. All others except P यस्य । ४. All others except P M N निमिषा॰ । ५. M साम्राज्यं समत्वं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1161) यः स्वभावोत्थितां साध्वीं विशुद्धिं स्वस्य वाञ्छति ।
स धारयति पुण्यात्मा समत्वाधिष्ठितं मनः ॥१५

1162) तनुत्रयविनिर्मुक्तं दोषत्रयविवर्जितम् ।
यदा वेत्त्यात्मनात्मानं तदा साम्ये स्थितिर्भवेत्[1] ॥१६

1163) अशेषपरपर्यायैः परद्रव्यैर्[2]विलक्षणम् ।
निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्यं[3] प्रसूयते ॥१७

साम्यभावितभावानां साम्यवासितचित्तानाम् । अहं मन्ये तत्सुखं ज्ञानसाम्राज्यसमत्वं तुल्यताम् अवलम्बते आश्रयते । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ समयुक्तस्य स्वरूपमाह ।

1161) **यः स्वभावोत्थितां**—यः पुमान् तस्यात्मनः विशुद्धि वाञ्छति । कीदृशीम् । स्वभावोत्थिताम् । पुनः कीदृशीम् । साध्वीं समीचीनाम् । स पुमान् पुण्यात्मा समत्वाधिष्ठितम् उपशमाश्रितं धारयति । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ साम्यस्थितिप्रकारम् आह ।

1162) **तनुत्रय**—यदा यस्मिन् समये आत्मना आत्मानं वेत्ति जानाति । कीदृशम् । तनुत्रयविनिर्मुक्तम् औदरिकवैक्रियकार्मणशरीररहितम् । पुनः कीदृशम् । दोषत्रयविवर्जितम्, जन्ममृत्युजरा-रागद्वेषमोह-मिथ्यादर्शनमिथ्याज्ञानमिथ्याचारित्राणि वा, तैर्विवर्जितं त्यक्तम् । तदा साम्ये स्थितिर्भवेदिति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ साम्योत्पत्तिमाह ।

1163) **अशेषपर**—यदा आत्मानं स्वस्वरूपेण निश्चिनोति निर्णयति । कीदृशमात्मानम् । परद्रव्यैः शरीरादिभिर्विलक्षणं रहितम् । कीदृशैः परद्रव्यैः । अशेषपरपर्यायैः समस्तपरपर्यायैः । तदा साम्यं प्रसूयते उत्पद्यते । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ समत्ववतो सौख्यादिकमाह ।

अभिप्राय यह है कि केवलज्ञानके प्राप्त होनेपर जो जीवको सुख होता है लगभग वैसा ही सुख अन्य बाह्य पदार्थोंके विषयमें राग-द्वेषबुद्धि न करनेवाले सत्पुरुषोंको भी प्राप्त होता है ॥१४॥

जो पवित्र जीव अपनी (आत्माकी) स्वभावसे उत्पन्न हुई उत्तम विशुद्धिकी इच्छा करता है वह समताभावसे परिपूर्ण मनको धारण करता है। अभिप्राय यह है कि मनके समताभावसे अधिष्ठित हो जानेपर जीव अपनी स्वाभाविक सर्वोत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त कर लेता है ॥१५॥

जब जीव अपनी आत्माको आत्माके द्वारा औदारिक, तैजस व कार्मण इन तीन शरीरोंसे तथा राग, द्वेष व मोह इन तीन दोषोंसे भी रहित जानता है तब उसका साम्यभावमें अवस्थान होता है ॥१६॥

जब जीव समस्त भिन्न पर्यायोंसे तथा परद्रव्योंसे विलक्षण—भिन्न स्वरूपवाली—अपनी आत्माका निश्चय करता है तब उसके साम्यभाव उत्पन्न होता है ॥१७॥

---

१. M स्थिरीभवेत् । २. S T J K R °यैरन्यद्रव्यै° । ३. Y तदा साम्ये स्थितिर्भवेत् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1164) तस्यैवाविचलं सौख्यं तस्यैव पदमव्ययम् ।
तस्यैव बन्धविश्लेषः समत्वं यस्य योगिनः ॥१८

1165) यस्य हेयं न चादेयं जगद्विश्वं चराचरम् ।
स्यात्तस्यैव मुनेः साक्षाच्छुभाशुभमलक्षयः ॥१९॥ तथा हि[1]।

1166) शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरा बद्धवैराः परस्परम् ।
अपि स्वार्थ[2]प्रवृत्तस्य मुनेः साम्यप्रभावतः ॥२०

1164) **तस्यैवाविचलं**—यस्य योगिनः समत्वं समभावः, तस्यैव अविचलं निश्चलं सौख्यम् । तस्यैव पदम् अविनाशि अव्ययं मोक्षपदम् । तस्यैव बन्धविश्लेषः बन्धवियोगः । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ जगद्धेयोपादेयाभावेन शुभाशुभभावमाह ।

1165) **यस्य हेयं**—यस्य मुनेः जगत् हेयं न । च पुनः । जगत् उपादेयं ग्राह्यं न स्यात् । कीदृशम् । विश्वं समस्तम् । पुनः कीदृशम् । चराचरं त्रसस्थावरम् । तस्यैव मुनेः साक्षात्प्रकारेण शुभाशुभमलक्षयः शुभकर्माशुभकर्ममलनाशः स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ मुनेः साम्यभावप्रभावमाह । तथा हि दर्शयति ।

1166) **शाम्यन्ति**—जन्तवः प्राणिनः शाम्यन्ति उपशमं प्राप्नुवन्ति । कीदृशा जन्तवः । क्रूराः क्रूरकर्माणः । पुनः कीदृशाः । परस्परमन्योन्यं बद्धवैराः संधितवैराः । कस्मात् । मुनेः । साम्यप्रभावतः समताप्रभावात् । अपि निश्चये । कीदृशस्य मुनेः । स्वार्थे आत्महिते प्रवृत्तस्य प्रवृत्ति कुर्वतः । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ समतावलम्बिसंयोगादन्योन्यं प्राणिनां प्रीतिर्भवतीत्याह ।

जिस योगीके समताभाव है उसीके स्थिर सुख, उसीके अविनश्वर पद और उसीके बन्धका अभाव होता है ॥१८॥

जिस मुनिके लिए चर (त्रस) व अचर (स्थावर एवं अन्य अचेतन पदार्थ) पदार्थोंसे व्याप्त यह समस्त संसार न हेय है और न आदेय (ग्राह्य) है उसीके साक्षात् शुभ और अशुभरूप कर्म-मलका क्षय होता है। तात्पर्य यह कि जिस मुनिके राग-द्वेष बुद्धिके नष्ट हो जानेसे कोई भी परपदार्थ न ग्रहण करनेके लिए शेष रहा है और छोड़नेके लिए भी शेष रहा है उसके पुण्य और पापरूप दोनों प्रकारके कर्मकी निर्जरा होती है ॥१९॥

आगे इसीको स्पष्ट किया जाता है—अपने आत्मप्रयोजनकी सिद्धिमें प्रवृत्त हुए मुनिके साम्यभावके प्रभावसे परस्परमें वैरभावको रखनेवाले दुष्ट जीव शान्तिको प्राप्त होते हैं—जातिगत दुष्ट स्वभावको छोड़ देते हैं ॥२०॥

१. P M L तथा हि, F तद्यथा । २. All others except P स्वार्थे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1167) भजन्ति जन्तवो मैत्र्यमन्योन्यं[1] त्यक्तमत्सराः ।
समत्वालम्बिनां प्राप्य पादपद्मार्चितां क्षितिम् ॥२१

1168) शाम्यन्ति[2] योगिभिः क्रूरा [3]जन्तवो नेति शङ्क्यते ।
दावदीप्तमिवारण्यं यथा वृष्टैर्बलाहकैः ॥२२

1169) भवन्त्यतिप्रसन्नानि कश्मलान्यपि देहिनाम् ।
चेतांसि योगिसंसर्गे ऽगस्त्ययोगे जलानि[4] व ॥२३॥ अपि[5] च

1170) क्षुभ्यन्ति ग्रहयक्षकिंनरनरास्तुष्यन्ति नाकेश्वरा
मुञ्चन्ति द्विपदैत्यसिंहशरभव्यालादयः क्रूरताम् ।

1167) **भजन्ति**—जन्तवो जीवा अन्योन्यं परस्परं मैत्रीं मित्रभावं भजन्ति समाश्रयन्ति । कीदृशाः । त्यक्तमत्सराः त्यक्तगुणिषु द्वेषाः । किंकृत्य । समत्वावलम्बिनां साम्यभावाश्रितानां क्षितिं भूमिं प्राप्य । कीदृशीं क्षितिम् । पादपद्मार्चितां पदकमलपूजिताम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ योगिभिः क्रूरजन्तवः शाम्यन्त इत्याह ।

1168) **शाम्यन्ति**—मया इति शङ्क्यते । इतीति किम् । योगिभिर्ज्ञाततत्त्वैः क्रूराः क्रुद्धा जन्तवः शाम्यन्ते* । कैः कमिव । बलाहकैररण्यमिव यथा बलाहकैर्मेघैररण्यं दावदीप्तं वह्निज्वालितं शाम्यते विध्याप्यते । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ योगिसंबन्धे पापनाशनमाह ।

1169) **भवन्त्यति**—योगिसंसर्गे योगिसंबन्धे देहिनां चेतांसि मनांसि अतिप्रसन्नानि अतिनिर्मलानि । पुनः कीदृशानि । कश्मलान्यपि मलिनान्यपि । कस्मिन् कानीव । अगस्त्ययोगे अगस्त्यमुनिसंबन्धे जलानीव* । यथा अगस्त्ययोगे जलानि निर्मलानि भवन्तीति सूत्रार्थः ॥२३॥ अपि च पक्षान्तरे । अथ योगिसाम्यस्य सर्वं साध्यमाह ।

1170) **क्षुभ्यन्ति**—भुवि पृथिव्यां योगीन्द्रसमत्वं योगीश्वरसमता तत्साध्यम् । अथवा पक्षान्तरे । किं किं न स्यात् । तत्किम् । ग्रहयक्षकिनरनराः, ग्रहाः केत्वादयः, यक्षा व्यन्तर-

---

साम्यभावका आश्रय लेनेवाले मुनियोंके चरण-कमलोंसे पूजित (अधिष्ठित) पृथ्वीको पाकर प्राणी परस्परमें मत्सरता (द्वेष व ईर्ष्या) छोड़कर मित्रताको प्राप्त होते हैं ॥२१॥

जिस प्रकार वर्षाको प्राप्त हुए मेघोंके प्रभावसे दावानलसे प्रज्वलित वन शान्त हो जाता है उसी प्रकार साम्यभावको प्राप्त हुए योगियोंके प्रभावसे दुष्ट जीव अपनी क्रूरताको छोड़कर शान्त हो जाते हैं, इसमें शंका नहीं है ॥२२॥

जिस प्रकार अगस्त्य ताराके संयोगसे बरसातका मलिन जल निर्मल हो जाता है उसी प्रकार योगियोंके संसर्गसे प्राणियोंके मलिन मन भी अतिशय निर्मल हो जाते हैं ॥२३॥

साम्यभावके धारक योगियोंके प्रभावसे शनि आदि दुष्ट ग्रह, यक्ष, किंनर और मनुष्य क्षोभको प्राप्त होते हैं; वैमानिक इन्द्र सन्तुष्ट होते हैं; हाथी, दैत्य, सिंह, अष्टापद और सर्प

---

१. All others except P M N मैत्रीम° । २. M शाम्यन्ते । ३. Y जन्तवो दुष्टबुद्धयः । ४. N जलं यथा, T जलानि वा F जलानि च, J X Y R जलानिवत् । ५. P M अपि च ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रुग्वैरप्रतिबन्धविभ्रमभयभ्रष्टं जगज्जायते
स्याद्योगीन्द्रसमत्वसाध्यमथवा[1] किं किं न सद्यो भुवि ॥२४

1171) चन्द्रः सान्द्रैर्विकिरति सुधामंशुभिर्जीवलोके
भास्वानुग्रैः किरणपटलैरुच्छिनत्त्यन्धकारम् ।
धात्री धत्ते भुवनमखिलं विश्वमेतच्च वायु-
र्यद्वत्साम्याच्छमयति तथा जन्तुजातं यतीन्द्रः ॥२५

1172) सारङ्गी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजङ्गम् ।

विशेषाः, किंनरास्तद्भेदा एव, नरा मनुष्याः, तेषां समाहारः। ते क्षुभ्यन्ति क्षोभं यान्ति। योगिसमतासाध्यत्वमेव सर्वेषामाह। नाकेश्वरा देवेन्द्राः। तुष्यन्ति हर्षिता भवन्ति। तथा द्विपदैत्यसिंहशरभव्यालादयः हस्तिदैत्यसिंह-अष्टापदसर्पादयः क्रूरतां क्रूरभावं मुञ्चन्ति। जगत् रुग्वैरप्रतिबन्धविभ्रमभयभ्रष्टम्। रोगवैरौ प्रसिद्धौ, प्रतिबन्धः स्नेहः, तेषां विभ्रमो भ्रमः, तस्य भयं भीतिः, तेन भ्रष्टं रहितं जायते। इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथ योगिभिर्जीवानां साम्यसाध्यत्वमाह।

1171) **चन्द्रः सान्द्रैः**—यथा चन्द्रः सुधाम् अंशुभिः किरणैर्जीवलोके विकिरति। कीदृशैः। सान्द्रैः सघनैः। भास्वान् सूर्यः अन्धकारम् उच्छिनत्ति। कैः। उग्रैरुत्कटैः, किरणपटलैः धामसमूहैः, अखिलं समस्तं, भुवनं जगत्, धात्री पृथ्वी धत्ते। च पुनः। एतद् विश्वं सर्वं वायुर्धत्ते। यद्वत् यथा। तथा यतीन्द्रो योगी जन्तुजातं प्राणिसमूहं साम्यात् समतया शमयति उपशमयति। इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ योगिसमीपस्थजीवानां वैराभावमाह।

1172) **सारङ्गी**—अन्ये जन्तवो वैराणि वैरभावान् त्यजन्ति। कीदृशानि। आजन्मजातानि

आदि दुष्टताको छोड़ देते हैं; तथा लोक रोग, विघ्न-बाधा, विभ्रम (भ्रान्ति) और भयसे रहित हो जाता है। अथवा ठीक ही है—लोकमें योगीन्द्रोंके समताभावसे शीघ्र ही क्या-क्या नहीं सिद्ध किया जाता है ? उसके प्रभावसे सब प्रकारका अभीष्ट, सिद्ध होता है ॥२४॥

जिस प्रकार चन्द्रमा स्वभावसे अपनी सघन किरणोंके द्वारा जीवलोकमें अमृतकी वर्षा करता है, जिस प्रकार सूर्य स्वभावसे अपने तीक्ष्ण किरण समूहोंके द्वारा अन्धकारको नष्ट करता है, जिस प्रकार पृथिवी स्वभावसे समस्त लोकको धारण करती है, तथा जिस प्रकार वायु (वातवलय) स्वभावसे इस विश्वको धारण करती है; उसी प्रकार मुनीन्द्र स्वभावसे प्राणिसमूहको शान्त किया करते हैं ॥२५॥

जिस योगीने मोहसे रहित होकर पापको शान्त कर दिया है और असाधारण साम्य-

---

१. M शमत्व ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवो ऽन्ये त्यजन्ति
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम् ॥२६

1173) एकः पूजां रचयति नतः पारिजातप्रसूनैः
क्रुद्धः कण्ठे क्षिपति भुजगं हन्तुकामस्ततो ऽन्यः।
तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्यं स योगी
साम्यारामं विशति परमज्ञानि[2]दत्तावकाशम् ॥२७

जन्मपर्यन्तोत्पन्नानि। अपिशब्दाद्वैरस्य दीर्घकालत्वं सूचितम्। कीदृशा जन्तवः। गलितमदाः नष्टाहंकाराः। किं कृत्वा। योगिनं श्रित्वा। कीदृशम्। साम्यैकरूढम् उपशमैकारोहितम्। पुनः कीदृशम्। प्रशमितकलुषं प्रकर्षेण शामितपापम्। पुनः कीदृशम्। क्षीणमोहं नष्टमोहनीयम्। के ते। जन्तवो वैराणि त्यजन्ति। सारङ्गी हरिणी सिंहशावं सिंहबालं स्पृशति परामृशति। कया। सुतधिया। कस्मात्। प्रणयपरवशात् स्नेहतरालसात्। इति सर्वत्र योज्यम्। केकिकान्ता मयूरस्त्री भुजङ्गं सर्पसुतधिया स्पृशति। इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ योगिनः साम्यरूपमाह।

1173) **एकः पूजां**—स योगी साम्यारामं साम्यवनं प्रविशति। कीदृशं साम्यारामम्। परमज्ञान[2]दत्तावकाशं प्रकृष्टज्ञाने दत्तावकाशम्। स इति कः। एको नरः[1]। यस्य योगिनः पारिजातप्रसूनैः कल्पद्रुमपुष्पैः पूजां रचयति। कीदृश एकः। नतः नम्रीभूतः सन्। ततो ऽन्यः पुरुषः कण्ठे भुजङ्गं सर्पं क्रुद्धः सन् क्षिपति। किं कर्तुकामः। हन्तुकामो मारणोद्यतः। यस्य नित्यं पूजकहन्तुकयोः तुल्या वृत्तिर्भवति। चकारः पक्षान्तरसूचकः। इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथान्तःकरणशुद्धस्य साम्यभावमाह।

भावको प्राप्त कर लिया है उसका आश्रय पाकर मृगी सिंहके बच्चेको पुत्रके समान स्नेहसे स्पर्श करती है, गाय व्याघ्रके बच्चेसे बछड़ेके समान प्रेम करती है, बिल्ली हंसके बच्चेसे स्नेह करती है, तथा मयूरी स्नेहके वशीभूत होकर सर्पका स्पर्श करती है। इसी प्रकार अन्य प्राणी भी अभिमानसे रहित होकर उक्त योगीके प्रभावसे जन्मसे उत्पन्न हुए भी वैरभावको छोड़ देते हैं ॥२६॥

एक मनुष्य तो नम्र होकर पारिजात पुष्पोंके द्वारा पूजाको रचता है और इसके विपरीत दूसरा क्रोधको प्राप्त होकर घात करनेकी इच्छासे गलेमें सर्पको डालता है। इन दोनोंके विषयमें जिसका व्यवहार सर्वदा समान होता है—जो पूजा करनेवालेके ऊपर प्रसन्न नहीं होता और सर्प डालनेवालेके ऊपर क्रोधको प्राप्त नहीं होता है—वह योगी उत्कृष्ट ज्ञानियोंके लिए जिसमें स्थान दिया गया है ऐसे समताभावस्वरूप उद्यानमें प्रवेश करता है ॥२७॥

---

१. J K X Y R नरः। २. All others except P ज्ञान।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1174) नो[1] ऽरण्यान्नगरं न मित्रमहिताल्लोष्टान्न जाम्बूनदं
न स्रग्दामं[2] भुजंगमान्न दृषदस्तल्पं शशाङ्कोज्ज्वलम् ।
यस्यान्तःकरणा[3]वलम्बि कलयत्युत्कृष्टतामीषद-
प्यार्यास्तं[4] परमोपशान्तप[5]दवीमारूढमाचक्षते ॥२८

1175) सौधोत्सङ्गे श्मशाने स्तुतिशपनविधौ कर्दमे कुङ्कुमे वा
पल्यङ्के कण्टकाग्रे दृषदि शशिमणौ चर्मचीनांशुकेषु ।
[6]शीर्णाङ्गे दिव्यनार्यामसमशमवशाद्यस्य चित्तं विकल्पै-
र्नालीढं सो ऽयमेकः कलयति कुशलः साम्यलीलाविलासम् ॥२९

1174) नो ऽरण्यात्—यस्य योगिनः अन्तःकरणं चित्तं कलया लेशमात्रेण ईषदपि स्तोकमपि उत्कृष्टतां न बिभर्ति । अरण्याद् वनान्नगरं नोत्कृष्टतां कलया लेशमात्रेण बिभर्ति । अहितात् शत्रोः मित्रं नोत्कृष्टतां बिभर्ति । यस्यान्तःकरणं चित्तम् इति सर्वत्र योज्यम् । लोष्टात् पाषाणात् जाम्बूनदं स्वर्णं नोत्कृष्टतां बिभर्ति । भुजङ्गमात् सर्पात् स्रग्दाम पुष्पादिदाम नोत्कृष्टतां बिभर्ति । दृषदः शिलायाः तल्पं शय्या नोत्कृष्टतां बिभर्ति । कीदृशं तल्पम् । शशाङ्कोज्ज्वलम् । आर्या विद्वांसः तं योगिनम् आचक्षते कथयन्ति । कीदृशं तम् । परमोपशान्तपदवीं प्रकृष्टोपशमश्रेणिम् आरूढम् आरोहितम् । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ शमलीलावतां स्वरूपमाह ।

1175) सौधोत्संगे—अयं स एकः । कीदृशः । कुशलः चतुरः । स इति कः । यस्य चित्तं विकल्पैः संकल्पैर्नालीढम् । कस्मात् । असमशमवशात् । असदृशोपशमवशात् । क्व । सौधोत्संगे धवलगृहे, श्मशाने । साम्यलीलाविलासम् इति सर्वत्र योज्यम् । तथा स्तुतिशपनविधौ, केनचित्

जिसके अन्तःकरणका अवलम्बन लेकर नगर वनकी अपेक्षा, मित्र शत्रुकी अपेक्षा, सुवर्ण ढेलेकी अपेक्षा, माला सर्पकी अपेक्षा, तथा चन्द्रमाके समान निर्मल शय्या पत्थरकी अपेक्षा किंचित् भी उत्कृष्टताका अनुभव नहीं कराती है; उसे पूज्य पुरुष अतिशय उपशान्त मार्गपर आरूढ हुआ बतलाते हैं। अभिप्राय यह है कि जो नगरादिको अभीष्ट समझकर उपादेय तथा उनके विपरीत वनादिको अनिष्ट समझकर हेय नहीं मानता है, किन्तु दोनोंके ही विषयमें समताभावका आश्रय लेता है; उसके ही कषायोंका उत्कृष्ट उपशम समझना चाहिए ॥२८॥

जिसका मन असाधारण समताभावके प्रभावसे प्रासादके मध्यभाग व श्मशानमें, स्तुति व शापमें, कीचड़ व केसरमें, पलंग व काँटेकी नोकमें, पत्थर व चन्द्रकान्त मणिमें, चमड़ा व रेशमी वस्त्रमें तथा गलितशरीर व दिव्य स्त्रीके विषयमें राग-द्वेषरूप विकल्पोंसे

१. M N T F नारण्यात् । २. M N स्रग्भीमभुज° । ३. M N J °न्तःकरणं, All others except P करणे बिभर्ति कलया नोत्कृष्टता° । ४. L प्यार्यास्ते । ५. M Y शान्तिपदवीं । ६. All others except P M Y शीर्णाङ्के ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1176) चलत्यचलमालेयं कदाचिद्दैवदोषतः[1] ।
नोपसर्गैरपि स्वान्तं मुनेः साम्य[2]प्रतिष्ठितम् ॥३०

1177) उन्मत्तमथ विभ्रान्तं दिग्मूढं सुप्तमेव वा[3] ।
साम्यस्थस्य जगत्सर्वं योगिनः प्रतिभासते ॥३१

1178) वाचस्पतिरपि ब्रूते यद्यजस्रं समाहितः ।
वक्तुं तथापि शक्नोति न हि साम्यस्य वैभवम् ॥३२[4]

स्तुतिः कृता, तेनैव शपनं कृतम् । तथैव कर्दमे कुङ्कुमे वा पङ्कचन्दनलेपे साम्यलीलाविलासं कलयति । तथा पल्यङ्के कण्टकाग्रे, दृषदि पाषाणे, शशिमणौ, पट्टकूले, चर्मचीनांशुकेषु चर्मवस्त्रे तथा शीर्णाङ्गे जर्जरिताङ्गे दिव्यनार्यां दिव्यरूपस्त्रियां सो ऽयं चित्तं साम्यलीलाविलासं कलयति । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अ [थ मुनेश्चित्तं अचल] माह ।

1176) **चलत्यचल**—इयम् अचलमाला पर्वतसमूहः कदाचिद्दैवयोगतः तथोपसर्गैरपि मुनेः स्वान्तं चित्तं साम्यप्रतिष्ठितम् । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ साम्यस्थस्य योगिनो जगत्प्रतिभासकारणमाह ।

1177) **उन्मत्तमथ**—योगिनः सर्वं जगत् प्रतिभासते । कीदृशस्य मुनेः । साम्यस्थस्य समतास्थितस्य । कीदृशम् । उन्मत्तं पीतमदिरावतो विवेकाभावात् उन्मत्तता जगतः । पुनः कीदृशम् । अथेति पक्षान्तरे । विभ्रान्तं विशेषेण भ्रान्तं भ्रमयुक्तम् । पुनः कीदृशम् । दिङ्मूढम् । स्वगतेः परिज्ञानाभावात् । वा अथवा । सुप्तं नष्टसकलज्ञानपदार्थत्वात् । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ साम्यवैभवस्यावक्तव्यतामाह ।

1178) **वाचस्पतिरपि**—साम्यस्य वैभवं माहात्म्यं वाचस्पतिः बृहस्पतिरपि यदि अजस्रं निरन्तरं न शक्नोति समर्थो भवति । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ योगिनामल्पत्वमाह ।

नहीं छुआ गया है वही एक यह कुशल योगी समताभावकी लीलाके विलासका अनुभव करता है। तात्पर्य यह कि जो इष्ट व अनिष्ट प्रतिभासित होनेवाले पदार्थोंके विषयमें कभी राग व द्वेषको नहीं करता है उसे ही उत्कृष्ट साम्यभावके आश्रयसे होनेवाले निराकुल सुखका अनुभव हुआ करता है ॥२९॥

दैवके दोषसे कदाचित् यह पर्वतपंक्ति भले ही विचलित हो जाय, परन्तु साम्यभावमें प्रतिष्ठित—उसका आश्रय लेनेवाला—मुनिका मन उपद्रवोंके द्वारा भी कभी विचलित नहीं होता है ॥३०॥

जो योगी साम्यभावका आश्रय ले चुका है उसको समस्त जगत् उन्मत्त (पागल), विपरीतताको प्राप्त, दिशाको भूला हुआ अथवा सोया हुआ जैसा प्रतिभासित होता है ॥३१॥

यदि बृहस्पति भी एकाग्रचित्त होकर निरन्तर इस साम्यभावके वैभवकी प्ररूपणा करे तो वह भी उसके वैभवका वर्णन नहीं कर सकता है ॥३२॥

१. All others except P M N दैवयोगतः । २. J साम्यं । ३. T च for वा । ४. N L S T F R read दुष्प्रज्ञाबल etc. at the end of this chapter, others read this verse as the

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1179) [1]दुष्प्रज्ञावललुप्तवस्तुनिचया विज्ञानशून्याशया
विद्यन्ते प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थोद्यता[2] देहिनः ।
आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैर्निर्वाप्य जन्मानलं[3]
ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपरास्ते सन्ति नो वा[4] यदि ॥३३

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-
विरचिते साम्यप्रकरणम् ॥२२॥

1179) दुष्प्रज्ञा—प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थोद्यताः स्वस्वस्वार्थोद्यताः सावधाना विद्यन्ते । कीदृशा देहिनः । दुष्प्रज्ञाबललुप्तवस्तुनिचयाः दुर्बुद्धिबललोपितपदार्थसमूहाः । पुनः कीदृशाः । विज्ञानशून्याशयाः विशिष्टज्ञानशून्यचित्ताः । एतादृशाः प्रतिमन्दिरं विद्यन्ते सन्ति । ते पुरुषा यदि द्वित्रा" द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः । ते के । ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपराः मोक्षस्य वदनचन्द्रदर्शनसावधानाः । किं कृत्वा । जन्मानलं जन्माग्निं निर्वाप्य विध्याप्य । कैः । आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैः हर्षसुधारस-समुद्रबिन्दुसमूहैः । इति सूत्रार्थः ॥३३॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवमूलसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा तत्पुत्रसाहटोडर तत्पुत्रसाहश्रीरिषिदासेन स्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन कारापितं साम्यप्रकरणं समाप्तम् ॥२२॥

स्वस्वत् श्रीपार्श्वसाहः समभवदधिकं पुण्यप्राग्भारमूर्तिस्तद्वंशोद्द्योतनेनः परमकरणास्वच्छ-चेता महेभ्यः । साहश्रीटोडराह्वः सुकृतविपिने पुष्करावर्तमेघस्तत्पुत्रः श्रीविलासो जयति जगती-मण्डले रेषिदासः ॥१॥ इति आशीर्वादः । अथ पुनः साम्यस्वरूपमाह ।

जिन्होंने दुष्ट बुद्धिके प्रभावसे वस्तुसमूहको—उसकी यथार्थताको—नष्ट कर दिया है तथा जिनका हृदय विज्ञान (विवेकबुद्धि व विशिष्ट ज्ञान) से रहित है ऐसे अपने-अपने स्वार्थमें मग्न रहनेवाले प्राणी तो घर-घरमें विद्यमान हैं—सर्वत्र पाये जाते हैं । परन्तु जो आनन्दरूप अमृतसमुद्रके जलकणोंके समूहसे संसाररूप अग्निको बुझाकर मुक्तिरूप कान्ताके मुखावलोकनमें तत्पर हैं वे हैं अथवा हैं ही नहीं हैं—बहुत ही थोड़े हैं ॥३३॥

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभचन्द्र-विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
साम्य प्रकरण समाप्त हुआ ॥२२॥

first verse of the next chap. । P, however, writes this on the margin at the beginning of the next Chapter; M om.

१. N दुष्प्रज्ञानपि लब्धवस्तु । २. S K Y R स्वार्थो दिता । ३. T जन्मज्वरं । ४. All others except P सन्ति द्वित्रा यदि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

XXIII

[आर्तध्यानम्]

1180) साम्यश्रीर्नातिनिःशङ्कं सतामपि हृदि स्थितिम् ।
धत्ते सुनिश्चलध्यानसुधासंबन्धवर्जिते ॥१

1181) यस्य ध्यानं सुनिष्कम्पं समत्वं[3] तस्य निश्चलम् ।
मानयोर्विद्धयधिष्ठानमन्योन्यंस्माद् विभेदतः ॥२

1182) साम्यमेव न सद्धयानात् स्थिरीभवति केवलम् ।
शुध्यत्यपि च कर्मौघकलङ्की यन्त्रवाहकः ॥३

1180) **साम्यश्रीः**—साम्यश्रीः समतालक्ष्मीः अतिनिःशङ्कं यथा स्यात् सतामपि हृदि स्थितिं मर्यादां धत्ते । कीदृशे । सुनिश्चलध्यानसुधासंबन्धवर्जिते सु [स्व] च्चञ्चलताध्यानामृतसंयोगरहिते । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथानयोरन्योन्यं भेदाभेदमाह ।

1181) **यस्य ध्यानम्**—यस्य योगिनः ध्यानं वक्ष्यमाणं सुनिःकम्पं समत्वं समतारूपं निश्चलं भवति, तस्य निश्चलो (?) ऽनयोर्ध्यानसाम्ययोः भेदतः अधिष्ठानं न* । अन्योन्यं परस्परमधिष्ठानमवस्थितं स्यात् । तत्र विधिरस्तिस्त्वम् (?) इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ ध्यानसाम्ययोः परस्परं शुद्धिमाह ।

1182) **साम्यमेव**—सद्ध्यानात् प्रधानध्यानात् केवलं साम्यमेव न स्थिरीभवति । अपि च पक्षान्तरे । यन्त्रवाहको जीवः शुध्यति । कीदृशः । कर्मौघकलङ्की कर्मसमूहकलङ्कवान् । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ समत्वे शुद्धध्यानमाह ।

समतारूप लक्ष्मी अतिशय स्थिर ध्यानरूप अमृतके सम्बन्धसे रहित सत्पुरुषोंके भी हृदयमें निर्भयतापूर्वक स्थितिको नहीं धारण करती है। अभिप्राय यह है कि जब प्राणीका हृदय स्थिर ध्यानमें उद्यत होता है तब ही वह समताभाव उसके हृदयमें अवस्थित होता है ॥१॥

जिसका ध्यान अतिशय निश्चल है उसीके स्थिर साम्यभाव होता है। इन दोनोंके परस्परके भेदसे—एककी दूसरेके विना—उनकी स्थिति सम्भव नहीं है, ऐसा निश्चय करना चाहिए ॥२॥

समीचीन ध्यानसे केवल साम्यभाव ही स्थिर नहीं होता है, बल्कि, कर्मसमूहसे मलिन हुआ यह शरीरधारी आत्मा उससे शुद्ध होता है ॥३॥

१. M शाम्य । २. F सुनिश्चलाम् । ३. M N समस्तं । ४. All others except P नानयोः । ५. All others except P °न्योन्यं स्यात् । ६. M N L विभेदवत् । ७. N ध्यानं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1183) यदैव संयमी साक्षात् समत्वमवलम्बते ।
स्यात्तदैव परं ध्यानं तस्य कर्मौघघातकम् ॥४

1184) अनादिविभ्रमोद्भूतं रागादितिमिरं घनम् ।
स्फेटयत्याशु[1] जीवस्य ध्यानार्कः प्रविजृम्भितः ॥५

1185) भवज्वलनसंभूतमहादाहप्रशान्तये ।
शश्वद् ध्यानाम्बुधेर्धीरैरवगाहः प्रशस्यते ॥६

1186) ध्यानमेवापवर्गस्य मुख्यमेकं[2] निबन्धनम् ।
तदेव दुरितव्रातगुरुकक्ष[3]हुताशनं[4] ॥७

1183) **यदैव**—संयमी चारित्रयुक्तः यदैव साक्षात्प्रकारेण समत्वं समतामवलम्बते आश्रयते तदैव तस्य संयमिनः परं प्रकृष्टं कर्मौघपातकं कर्मसमूहनाशकं स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ ध्यानस्य फलमाह ।

1184) **अनादि**—ध्यानार्को ध्यानसूर्यः । आशु शीघ्रं रागादितिमिरं रागाद्यन्धकारं स्फेटयति । कीदृशम् । घनं निबिडम् । पुनः कीदृशम् । अनादिविभ्रमोद्भूतम् अनादिभ्रान्त्योत्पन्नम् । कीदृशः ध्यानार्कः । प्रविजृम्भितः प्रसरितः । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ पुनरपि ध्यानफलमाह ।

1185) **भवज्वलन**—धीरैर्धीरपुरुषैरवगाहो ऽभ्यासः प्रशस्यते श्लाघ्यते । शश्वन्निरन्तरम् । कस्य । ध्यानाम्बुधेर्ध्यानसमुद्रस्य । कस्यै । भवज्वलनसंभूतमहादाहप्रशान्तये भवाग्निसंजात-महासंतापशान्तिनिमित्तमिति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ पुनर्ध्यानस्य मोक्षकारणत्वमाह ।

1186) **ध्यानमेव**—अपवर्गस्य मोक्षस्य मुख्यं प्रधानम् एकम् अद्वितीयं निबन्धनं कारणं ध्यानमेवास्ति । तदेव ध्यानं दुरितव्रातगुरुकक्षहुताशनं पापसमूहगरिष्ठवनहुताशनम्* अग्निम् । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ कुवासनात्यागेन ध्यानस्य मोक्षसाधनत्वमाह ।

संयमका धारक मुनि जब प्रगटमें समताभावका आश्रय लेता है तभी उसके कर्मसमूह-को नष्ट करनेवाला उत्कृष्ट ध्यान होता है ॥४॥

जीवका विकसित हुआ ध्यानरूप सूर्य उसके अनादिकालीन मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न हुए सघन रागादिरूप अन्धकारको शीघ्र ही नष्ट कर देता है ॥५॥

धीर (गणधरादि) पुरुष संसाररूप अग्निके संयोगसे उत्पन्न हुए तीव्र सन्तापकी शान्तिके लिए निरन्तर ध्यानरूप समुद्रके स्नानकी प्रशंसा करते हैं ॥६॥

मोक्षका मुख्य कारण एक वह ध्यान ही है। वही ध्यान पापसमूहरूप विस्तृत वनके भस्म करनेके लिए अग्निके समान है ॥७॥

१. S J K X Y R स्फुटयत्याशु । २. T °मेकान्तिवन्धनं । ३. F शुष्कवृक्ष for गुरुकक्ष । ४. T J K X Y R °शनं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1187) अपास्य खण्डविज्ञानरसिकां पापवासनाम्[1]।
असद्ध्यानानि[2] चादेयं ध्यानं मुक्तिप्रसाधकम् ॥८
1188) अहो कैश्चिन्महामूढैरज्ञैः स्वपरवञ्चकैः।
ध्यानान्यपि प्रणीतानि श्वभ्रपाताय केवलम् ॥९
1189) विषायते ऽमृतं यत्र ज्ञानं मोहायते ऽथवा।
ध्यानं श्वभ्रायते कष्टं नृणां चित्रं विचेष्टितम् ॥१०
1190) अभिचारपरैः कैश्चित् कामक्रोधार्ति[3]वञ्चितैः।
भोगार्थमरिघातार्थं क्रियते ध्यानमुद्धतैः ॥११

1187) **अपास्य**—मुक्तिप्रसाधकं मुक्तिकारणं ध्यानमादेयं ग्राह्यम्। पापवासनाम् अपास्य त्यक्त्वा। कीदृशां पापवासनाम्। खण्डविज्ञानरसिकाम् अर्धज्ञानं पाखण्डिज्ञानं तत्र रसिकामिति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ केषांचिद् ध्यानं दुर्गतिसाधनत्वमाह।

1188) **अहो कैश्चित्**—अहो [इ] त्याश्चर्ये। अज्ञैर्मूर्खैः केवलं श्वभ्रपाताय नरकपाताय प्रणीतानि। कानि। ध्यानानि। कीदृशैरज्ञैः। महामूढैर्मूर्खैः स्वपरवञ्चकैः स्वस्य परस्य [च] वञ्चकैः। इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ पुनर्ध्यानस्य नरकस्य कारणत्वमाह।

1189) **विषायते**—अमृतं यत्र विषायते नृणां चित्रं विचेष्टितं विषमिवाचरते। यत्र ज्ञानं मोहायते। अथवा तेषां नृणां ध्यानं श्वभ्रायते नरकायते। तेषामेव विचेष्टितं कर्तव्यं चित्रं नानाप्रकारं कष्टं कष्टदायि। इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ ध्यानं कार्यान्तरार्थं कैश्चित् क्रियत इत्याह।

1190) **अभिचार**—कैश्चित् उद्धतैः उत्कटैः पाखण्डिभिर्ध्यानं क्रियत इति संबन्धः। कीदृशैः। अविचारपरैर्विचाररहितैः। पुनः कीदृशैः। कामक्रोधार्तिवञ्चितैः कामक्रोधयोरार्तिः पीडा तया

आंशिक (क्षायोपशमिक) विशिष्ट ज्ञानके विषयमें आनन्द माननेवाली पापवासनाको तथा निकृष्ट ध्यानोंको भी नष्ट करके मुक्तिके सिद्ध करनेवाले समीचीन ध्यानको ग्रहण करना चाहिए ॥८॥

स्वयं अपनेको और दूसरोंको भी ठगनेवाले कितने ही अतिशय मूढ अज्ञानी जनोंने केवल नरकवासके कारणभूत ध्यानोंका भी निरूपण किया है, यह खेदकी बात है। अभिप्राय यह है कि कितने ही अज्ञानी जनोंने ऐसे भी ध्यानोंका वर्णन किया है जो असमीचीन होनेसे एकमात्र नरकगतिके कारण हैं ॥९॥

अथवा जहाँ अमृत विषरूप परिणत होता है और ज्ञान अज्ञानरूप परिणत होता है, कष्ट है कि वहाँ ध्यान नरकका कारण बन जाता है। ठीक है—मनुष्योंकी प्रवृत्ति अनेक प्रकारकी होती है ॥१०॥

काम और क्रोधकी पीड़ासे ठगे गये कितने ही अभिमानी या उन्मत्त जन अभिचार

१. F पापभावनां। २. L T ध्यानं न चा°। ३. L J K Y R क्रोधादि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1191) ख्यातिपूजाभिमानार्तैः कैश्चिच्चोक्तानि सूरिभिः ।
पापाभिचारकर्माणि क्रूरशास्त्राण्यनेकधा ॥१२

1192) अनाप्ता वञ्चकाः पापा[1] दीना मार्गद्वयच्युताः ।
दिशन्त्यज्ञे[2]ष्वनात्मज्ञा ध्यानमप्यन्तभीतिदम्[3] ॥१३॥ आस्तां तावत्[4] ।

1193) संसारसंक्रम[5]श्रान्तो यः शिवाय विचेष्टते ।
स युक्त्यागमनिर्णीते विवेच्य पथि वर्तते ॥१४

वञ्चितैः विप्रतारितैः तैर्ध्यानं किमर्थं क्रियते । भोगार्थम्, इह परलोके इन्द्रियसुखार्थम् । पुनः किमर्थम् । अरिघातार्थं शत्रुमारणार्थं दुष्टदेवताध्यानं मन्त्रे क्रियते । इति भावार्थः ॥११॥ अथान्यकृतशास्त्राणां वैफल्यमाह ।

1191) ख्यातिपूजा—कैश्चित् सूरिभिः पण्डितैरनेकधा नानाप्रकारक्रूरशास्त्राणि दुष्टशास्त्राणि उक्तानि प्रतिपादितानि । क्रूरत्वमेवाह । कीदृशानि । पापाभिचारकर्माणि पापं पापजनकम् अभिचारकर्म मैथुनकर्म येषु तानि । कीदृशैः सूरिभिः । ख्यातिपूजाभिमानार्तैः, ख्यातिः प्रसिद्धिः, पूजा इष्टवस्तुप्राप्तिः, ताभ्याम् अभिमानः अहंकारः तेनार्तैः पीडितैः । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ मिथ्यादृष्टीनां ध्याने क्रूराणामिव स्वभावमाह ।

1192) अनाप्ताः—अनाप्ताः मिथ्यादृष्टयः अन्येषु शास्त्रेषु ध्यानं दिशन्ति कथयन्ति । कीदृशा वञ्चकाः । मिथ्योपदेशेन लोकान् वञ्चयन्ति ते वञ्चकाः । पुनः । पापाः पापोपदेशकाः । दीना वराकाः । पुनः कीदृशाः । मार्गद्वयच्युताः निश्चयव्यवहारमार्गरहिताः । पुनः कीदृशाः । आत्मज्ञान-रहिताः । कीदृशं ध्यानम् । *अत्यन्तभीतिदं अधिकभयप्रदम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ आस्तां तावत् । एतत्तिष्ठतु ।

1193) संसार—यो मनुष्यः शिवाय मोक्षाय विचेष्टते । कीदृशो यः । संसारसंक्रमश्रान्तः । संसारे चतुर्गतिरूपे यः संक्रमः परिभ्रमः तेन श्रान्तः खिन्नः स मनुष्यो युक्त्या पथि सम्यग्दर्शनादिके

(दूसरेके वधके लिए किया जानेवाला यन्त्रादिका प्रयोग) में उद्यत होकर भोगके लिए व शत्रुके घातके लिए ध्यान किया करते हैं ॥११॥

कितने ही आचार्योंने प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा एवं अभिमानसे पीड़ित होकर पाप स्वरूप अभिचार कर्ममें प्रवृत्त करनेवाले अनेक प्रकारके सदोष शास्त्रोंको रचा है ॥१२॥ जो स्वयं आप्त (देव) नहीं हैं, दूसरोंको ठगनेवाले हैं, पापिष्ठ हैं, दीन हैं तथा इस लोक व परलोकके मार्गसे भ्रष्ट हैं वे यदि आत्मस्वरूपसे अनभिज्ञ होकर अतिशय भयको उत्पन्न करनेवाले ध्यान-का उपदेश मूर्खजनोंके मध्यमें करते हैं तो भले ही करें—उनको छोड़कर बुद्धिमान् मनुष्य उनके इस उपदेश को ग्रहण करनेवाले नहीं हैं ॥१३॥

और तो रहे—जो विवेकी जीव संसार परिभ्रमणसे थककर मोक्षके लिए चेष्टा करता है

१. J दीना पापा । २. All others except P M दिशन्त्वज्ञे° । ३. All others except P मत्यन्त । ४. N S T J K R om. । ५. J K R संभ्रम ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1194) उक्तं च[1]–उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ।
उत्कृष्टकायबन्धस्य साधोरन्तर्मुहूर्ततः ।
ध्यानमाहुरथैकाग्रचिन्तारोधो[2] बुधोत्तमाः ॥१४*१

1195) एकचिन्तानुरोधो[3] यस्तद्ध्यानं[4] भावनाः[5] पराः ।
अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते ॥१४*२॥ इति[6] ।

वर्तते । कीदृशे पथि । आगमनिर्णीते आगमेन निर्णीतः आगमनिर्णीतः तस्मिन्नागमनिर्णीते । किं कृत्वा । विवेच्य विचार्य । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे । ध्यानस्वरूपमाह । उत्तम संहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् एतदर्थः ।

1194) **उत्कृष्टकाय**—उत्तमसंहननस्य उत्कृष्टकायबन्धस्य साधोर्यतिनः अन्तर्मुहूर्तात् अन्तर्मुहूर्ततः एकाग्रचिन्तानिरोधने । अथ पक्षान्तरे । एकाग्रचिन्तारोधे ध्यानमाहुर्बुधोत्तमाः पण्डिताः । इति सूत्रार्थः ॥१४*१॥ अथ पुनरपि ध्यानमाह ।

1195) **एकचिन्ता**—एकचित्तनिरोधो" यः तदध्यानं कथितम् । अपरा एकचिन्तानिरोधादपरा भावना । वा अथवा । अनुप्रेक्षार्थचिन्तातज्ज्ञैः ध्यानज्ञायकैः अभ्युपगम्यते अङ्गीक्रियते । इति सूत्रार्थः ॥१४*२॥ अथ ध्यानस्य द्वैविध्यमाह ।

वह युक्ति और आगमसे निश्चित मार्गमें ही विवेकके साथ प्रवृत्त होता है—वह अन्य दुर्बुद्धियोंके द्वारा निर्दिष्ट दुर्ध्यानमें प्रवृत्त नहीं होता है ॥१४॥ कहा भी है—

एकाग्रचिन्तानिरोध अर्थात् चिन्तनको अन्य विषयोंकी ओरसे हटाकर किसी एक प्रमुख विषयकी ओर लगाना, इसका नाम ध्यान है। वह उत्तम संहननवाले—वज्रर्षभवज्रनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन और नाराचसंहनन इन तीन उत्तम संहननोंमेंसे किसी भी संहननके धारक—जीवके अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है । [त. सू. ९-२७]

विद्वानोंमें श्रेष्ठ गणधरादि एकाग्रचिन्तानिरोधको ध्यान बतलाते हैं। वह उत्कृष्ट शरीरबन्धन (संहनन) से संयुक्त साधुके अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है ॥१४*१॥

किसी एक ही विषयकी ओर जो चिन्ताको रोका जाता है, इसका नाम ध्यान है। इससे भिन्न भावनाएँ होती हैं—उनमें संसार-शरीर आदि अनेक विषयोंकी ओर चिन्ताका झुकाव होता है। भावनाओंके ज्ञाता उन भावनाओंको अनुप्रेक्षा अथवा अर्थचिन्ता भी स्वीकार करते हैं ॥१४*२॥

१. P M L F X Y उक्तं च (F) तत्त्वार्थसूत्रम् । २. M N चिन्तारोधं । ३. K चित्तनिरो°, All others except P निरोधो । ४. S F K X Y R ध्यानभावना । ५. All others except P M T भावना परा । ६. P M N इति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1196) प्रशस्तेतरसंकल्पवशात्तद्भिद्यते द्विधा ।
इष्टानिष्टफलप्राप्तेर्बीजभूतं[1] शरीरिणाम् ॥१५

1197) अस्तरागो मुनिर्यत्र वस्तुतत्त्वं विचिन्तयेत् ।
तत्प्रशस्तं मतं ध्यानं सूरिभिः क्षीणकल्मषैः ॥१६

1198) अज्ञातवस्तुतत्त्वस्य रागाद्युपहतात्मनः ।
स्वातन्त्र्याद्[2] वृत्तिर्या जन्तोस्तदसद्ध्यानमुच्यते ॥१७

1199) आर्तरौद्रविकल्पेन दुर्ध्यानं देहिनां द्विधा ।
द्विधा प्रशस्तमप्युक्तं [3]धर्मशुक्लविकल्पतः ॥१८

1196) **प्रशस्तेतर**—तद् ध्यानं द्विधा द्विप्रकारं भिद्यते भेदवद्भवति । कस्मात् । प्रशस्तेतर-संकल्पवशात् प्रशस्तः शुभः, इतरो ऽशुभः प्रशस्तश्चेतरश्च प्रशस्तेतरः शुभाशुभः यः संकल्पो ऽध्यवसायः तद्वशात् । पुनः कीदृशं ध्यानम् । शरीरिणां प्राणिनामिष्टानिष्टफलप्राप्तेः मनोज्ञामनोज्ञफलागमनस्य बीजभूतं कारणभूतम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ तयोराद्यभेदमाह ।

1197) **अस्तरागः**—सूरिभिराचार्यैः तत् प्रशस्तं ध्यानं मतं कथितम् । कीदृशैः सूरिभिः । क्षीणकल्मषैः गतपापैः । तत् किम् । यत्र ध्याने मुनिरस्तरागः सन् गतरागद्वेषः सन् वस्तुतत्त्वं परमार्थस्वरूपं विचिन्तयेत् । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथाशुभध्यानस्य स्वरूपमाह ।

1198) **अज्ञात**—जन्तोर्जीवस्य तदसद्ध्यानम् अशुभध्यानम् उच्यते । अज्ञातवस्तुतत्त्वस्य जीवस्य [*]स्वातन्त्र्यवृत्तिर्न । कीदृशस्य । रागाद्युपहतात्मनः रागाद्युपहतः व्याप्तः आत्मा यस्य सः तस्य । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ पक्षान्तरेण ध्यानद्वैविध्यमाह ।

1199) **आर्तरौद्र**—देहिनां प्राणिनाम् आर्तं [रौद्रविकल्पेन] दुर्ध्यानं द्विधा । प्रशस्तमपि

वह ध्यान प्रशस्त विचार (ध्यान) और अप्रशस्त विचारके वशसे दो भेदरूप है जो प्राणियोंको क्रमशः इष्टफल (स्वर्गादि) और अनिष्ट फल (नरकादि) की प्राप्तिका कारण होता है ॥१५॥

जिस ध्यानमें मुनि रागसे रहित होकर वस्तुस्वरूपका विचार करते हैं उसे पापसे रहित हुए आचार्य प्रशस्त ध्यान मानते हैं ॥१६॥

जो जीव वस्तुस्वरूपके यथार्थ ज्ञानसे रहित है तथा जिसका मन राग-द्वेषादि विकारोंसे आहत है उसके मनकी जो स्वतन्त्रतासे प्रवृत्ति होती है—वह जो यद्वा तद्वा विचार करता है—उसे अप्रशस्त ध्यान कहा जाता है ॥१७॥

प्राणियोंका यह दुर्ध्यान (अप्रशस्त ध्यान) आर्त और रौद्रके भेदसे दो प्रकारका है । पूर्वोक्त प्रशस्त ध्यान भी धर्म और शुक्लके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है ॥१८॥

१. P प्राप्ते बीज, N प्राप्तेर्हेतु । २. All others except P M L K स्वातन्त्र्यवृत्तिर्या, L वृत्तिजन्तोर्या K वृत्तिर्न जन्तो° । ३. M धर्म्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1200) स्यातां तत्रार्तरौद्रे द्वे दुर्ध्याने ऽत्यन्तदुःखदे[1]।
धर्मशुक्ले[2] ततो ऽन्ये द्वे जन्मसंबन्धशुद्धिदे[3] ॥१९

1201) प्रत्येकं तु[4] चतुर्भेदैश्चतुष्टयमिदं मतम्।
अनेकवस्तुसाधर्म्यवैधर्म्यालम्बनं यतः ॥२०॥ तद्यथा[5]—

1202) ऋते भवमथार्तं स्यादसद्ध्यानं शरीरिणाम्।
दिङ्मोहोन्मत्ततातुल्यमविद्यावासनावशात् ॥२१

द्विधा भवति। कस्मात्। धर्मशुक्लविकल्पतः धर्मध्यानशुक्लध्यानभेदात्। इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथार्तरौद्रधर्मशुक्लानां फलमाह।

1200) **स्याताम्**—तत्र द्वे आर्तरौद्रे दुर्ध्याने तीव्रदुःखदे दुःखदायिनी स्यातां भवेताम्। तत्र आर्तरौद्रदुर्ध्यानादपरे धर्मशुक्ले द्वे ऽन्ये। कीदृशे। कर्मनिर्मूलनक्षमे कर्मक्षपणसमर्थे स्यातामिति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ ध्यानस्य चातुर्विध्यमाह।

1201) **प्रत्येकं तु**—इदं चतुष्टयं मतं कथितम्। प्रत्येकं तु पादपूरणे। चतुर्भेदैः चतुःप्रकारैः। यतः कारणादनेकवस्तुसाधर्म्यवैधर्म्यावलम्बनम्। अनेकवस्तूनां यत्साधर्म्यं समानधर्मता-विरुद्धधर्मतयोरालम्बनम्। इति सूत्रार्थः ॥२०॥ तद्यथा दर्शयति ध्यानचतुष्टयार्थम्।

1202) **ऋते भवम्**—ऋते सकाशाद् भवं जातम् अथार्तमार्तनामासद्ध्यानं शरीरिणां प्राणिनां भवति। कीदृशमार्तमसद्ध्यानम्। दिङ्मोहोन्मत्ततातुल्यं दिङ्मोहश्च उन्मत्तता च तासां तुल्या सदृशा। कस्मात्। अविद्यावासनावशात् अज्ञानवासनावशादिति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ पुनस्तेषां ध्यानानां स्वरूपमाह।

उनमें आर्त और रौद्र ये दुर्ध्यान जीवोंको अत्यन्त दुःख देनेवाले हैं। उनसे भिन्न धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान जीवोंके कर्मोंके नष्ट करनेमें समर्थ हैं—कर्मनिर्जराके कारण हैं ॥१९।

उक्त चारों ध्यानों (आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल) मेंसे प्रत्येक ध्यान अनेक वस्तुओंके साधर्म्य और वैधर्म्यका अवलम्बन लेनेके कारण चार-चार प्रकारका माना गया है ॥२०॥

वह इस प्रकारसे—'ऋते भवम् आर्तम्' इस निरुक्तिके अनुसार जो ऋत अर्थात् पीड़ामें जो होता है वह आर्तध्यान कहा जाता है। प्राणियोंके मिथ्याज्ञानकी वासनासे उत्पन्न होनेवाला यह दुर्ध्यान दिङ्मूढता या उन्मत्तताके समान है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कोई पथिक दिशाभ्रमको प्राप्त होकर—दिशाओंको भूलकर या विपरीत दिशाका आश्रय लेकर—व्यर्थ भटकता है, अथवा जिस प्रकार पागल मनुष्य विवेकहीन होनेसे यद्वा-तद्वा कार्य करता है उसी प्रकार आर्तध्यानसे संयुक्त प्राणी भी अविवेकसे इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग आदिमें व्याकुल होकर यद्वातद्वा विचार किया करता है ॥२१॥

१. M N सर्व, L T F J K X Y तीव्र for अत्यन्त। २. M धर्म्य। ३. All others except P द्वे कर्मनिर्मूलनक्षमे। ४. All others except P M N T च for तु। ५. P M F तद्यथा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1203) अनिष्टयोगजन्माद्यं[1] तथेष्टार्थात्ययात्परम् ।
रुक्प्रकोपात्तृतीयं स्यान्निदानात्तुर्यमङ्गिनाम् ॥२२

1204) अनिष्टयोगार्तम्[2] । तद्यथा—
ज्वलनवनविषास्त्रव्यालशार्दूलदैत्यैः
स्थलजलबिलसत्त्वैर्दुर्जनारातिभूपैः ।
स्वजनधनशरीरध्वंसिभिस्तैरनिष्टै-
र्भवति यदिह योगादाद्यमार्तं तदेतत् ॥२३

1205) तथा चरस्थिरैर्भावैरनेकैः समुपस्थितैः ।
अनिष्टैर्यन्मनः क्लिष्टं स्यादार्तं तत्प्रकीर्तितम् ॥२४

1203) **अनिष्टयोग**—आद्यं प्रथममार्तध्यानम् अनिष्टयोगजम् अमनोज्ञसंयोगजातम् । तथेष्टार्थात्ययात् मनोज्ञार्थविनाशात् परं द्वितीयम् । रौद्रमसद्ध्यानं रुक्प्रकोपात् पीडाचिन्तनात् तृतीयम् । अङ्गिनां प्राणिनां निदानात्तुर्यं चतुर्थं स्यादित्यर्थः ॥२२॥ अनिष्टयोगजं तद्यथा ।

1204) **ज्वलनवन**—तदेतद् आद्यमार्तध्यानं भवति । इह जगति । कस्मात् । तैरनिष्टैर्योगात् संबन्धात् । कीदृशैस्तैः । स्वजनधनशरीरध्वंसिभिः कुटुम्बद्रव्यदेहनाशकैः । पुनः कैः । ज्वलनवनविषास्त्रव्यालशार्दूलदैत्यैः अग्निपानीयगरलास्त्रसर्पसिंहदैत्यैः । पुनः कैः । स्थलजलबिलसत्त्वैः स्थलचरजलचरबिलसत्त्वैः प्राणिभिः । पुनः कैः । दुर्जनारातिभूपैः दुष्टजनशत्रुराजभिः । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ पुनरार्तलक्षणमाह ।

1205) **तथा चर**—तत् आर्तध्यानं प्रकीर्तितं कथितम् । कैः । अनिष्टैर्भावैः पदार्थैः । कीदृशैः । चरस्थिरैः त्रसस्थावरैः । पुनः कीदृशैः । समुपस्थितैः समीपस्थैः । एतादृशैरनिष्टैर्भावैर्यन्मनः क्लिष्टं स्यात् । इत्यर्थः ॥२४॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

प्राणियोंके अनिष्ट (विषकण्टकादि) के संयोगसे प्रथम (अनिष्ट संयोगज) आर्तध्यान, इष्ट अर्थ—स्त्री-पुत्रादि व धनसम्पत्ति आदि—के विनाशसे दूसरा (इष्टवियोगज) आर्तध्यान, रोगके प्रकोपमें उसके परिहारार्थ तीसरा (वेदनाजनित) आर्तध्यान और आगामी भवमें भोगाकांक्षारूप निदानसे चतुर्थ (निदान) आर्तध्यान होता है ॥२२॥

उनमें अनिष्टके संयोगसे होनेवाले प्रथम आर्तध्यानका स्वरूप इस प्रकार है—अपने कुटुम्बीजन, धन-सम्पत्ति और शरीरको नष्ट करनेवाले अग्नि, अरण्य (अथवा जल) विष, शस्त्र, सर्प, सिंह व दैत्य तथा स्थलके प्राणी, जलके प्राणी एवं बिलके प्राणी (सर्पादि) और दुर्जन, शत्रु व राजा इत्यादि; इन अनिष्ट पदार्थोंके सम्बन्धसे जो यहाँ संक्लेश और चिन्ता होती है उसका नाम प्रथम आर्तध्यान है ॥२३॥

इसके अतिरिक्त चर (चलते-फिरते) और स्थिर अनेक अनिष्ट पदार्थोंके उपस्थित होनेपर जो मनमें क्लेश उत्पन्न होता है उसे आर्तध्यान कहा जाता है ॥२४॥

१. Y योगजं त्वाद्यं । २. M N अनिष्टयोगं, T °योगात्, L F X योगजं, others om. ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1206) श्रुतैर्दृष्टैः स्मृतैर्ज्ञातैः[1] प्रत्यासत्तिं च संश्रितैः[2] ।
यो ऽनिष्टार्थैर्मनःक्लेशः पूर्वमार्तं तदिष्यते ॥२५

1207) अशेषानिष्टसंयोगे तद्वियोगानुचिन्तनम् ।
यत्स्यात्तदपि तत्त्वज्ञैः पूर्वमार्तं प्रकीर्तितम् ॥२६॥ प्रथमम्[3] ।

1208) राज्यैश्वर्यकलत्रबान्धवसुहृत्सौभाग्यभोगात्यये
चित्तप्रीतिकरप्रसन्नविषयप्रध्वंसभावे ऽथवा ।
संत्रासभ्रमशोकमोहविवशैर्यत्खिद्यते[4] ऽहर्निशं
तत्स्यादिष्टवियोगजं तनुमतां ध्यानं कलङ्कास्पदम् ॥२७

1206) **श्रुतैर्दृष्टैः**—तत् पूर्वं प्रथमम् आर्तम् इष्यते । तत्किम् । यो मनःक्लेशः अनिष्टार्थैः क्रियते । कीदृशैरनिष्टार्थैः । श्रुतैरन्यस्मात्, दृष्टैः स्वयं साक्षात्प्रकारेण । पुनः कीदृशैः । पूर्वानुभूत-स्मृतगोचरीकृतैः । ज्ञातैः स्वयमवगतैः । च पुनः । प्रत्यासत्ति संबन्धमाश्रितैः । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ प्रकारान्तरेणार्तध्यानमाह ।

1207) **अशेषानिष्ट**—तदपि तत्त्वज्ञैः परमार्थज्ञैः पूर्वमार्तं ध्यानं प्रकीर्तितम् । तत्किम् । यत् अशेषानिष्टसंयोगे सर्वानिष्टसंयोगे सति तद्वियोगानुचिन्तनम् इष्टवियोगानुचिन्तनम् । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ इति प्रथममार्तम् । अथ द्वितीयध्यानमाह ।

1208) **राज्यैश्वर्य**—तनुमतां प्राणिनां तद् ध्यानं कलङ्कास्पदं पापस्थानं स्यात् । कीदृशम् । इष्टवियोगजं मनोज्ञवियोगजातम् । अहर्निशम् अहोरात्रं यत् खिद्यते प्राणिभिः । कीदृशैः । संत्रासभ्रमशोकमोहविवशैः, संत्रासश्च भ्रमश्च शोकश्च मोहश्च संत्रासभ्रमशोकमोहाः तेषां विवशैः परवशैः । क्व सति । राज्यैश्वर्यकलत्रबान्धवसुहृत्सौभाग्यभोगात्यये । राज्यं चतुरङ्गम्, ऐश्वर्यं, कलत्रं स्त्री, बान्धवा भ्रातरः, सुहृत् मित्रम्, सौभाग्यं, भोगाः, तेषां समाहारस्तद्विनाशे सति । अथवा । चित्तप्रीतिकरप्रसन्नविषयप्रध्वंसभावे, चित्तस्य प्रीतिकराः प्रसन्ना ये विषयाः तेषां प्रध्वंस-भावः । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ द्वितीयभेदमाह ।

सुने हुए, देखे हुए, स्मरणमें आये हुए और समीपताको प्राप्त हुए अनिष्ट पदार्थोंके निमित्तसे जो मनमें क्लेश होता है वह प्रथम आर्तध्यान माना जाता है ॥२५॥

समस्त अनिष्ट पदार्थोंका संयोग होनेपर उनके वियोगके लिए जो चिन्ता होती है उसे भी तत्त्वज्ञ जनोंने प्रथम आर्तध्यान कहा है ॥२६॥ प्रथम आर्तध्यान समाप्त हुआ ।

राज्य, ऐश्वर्य, स्त्री, बन्धुजन, मित्र एवं सुभगता (लोकप्रियता) के नष्ट हो जानेपर अथवा चित्तमें अनुराग उत्पन्न करनेवाले उत्तम विषयका विनाश होनेपर प्राणी जो पीड़ा, भ्रान्ति, शोक और मोहके वशीभूत होकर दिन-रात खेदको प्राप्त होते हैं वह इष्टवियोगज आर्तध्यान कहलाता है और वह प्राणियोंके लिए पापका कारण होता है ॥२७॥

---

१. M जातैः । २. S K X R संसृतैः । ३. P M प्रथमं । ४. M भिद्यते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1209) दृष्टश्रुतानुभूतैस्तैः पदार्थैश्चित्तरञ्जकैः ।
वियोगे यन्मनः खिन्नं स्यादार्तं तद्द्वितीयकम् ॥२८

1210) मनोज्ञवस्तुविध्वंसे [1]पुनस्तत्संगमार्थिभिः ।
क्लिश्यते यत्तदे[2]तत्स्याद्द्वितीयार्तस्य लक्षणम् ॥२९॥ द्वितीय[3]म् ।

1211) कासश्वासभगंदरोदर[4]यक्रुत्कुष्ठातिसारज्वरैः
पित्तश्लेष्ममरुत्प्रकोपजनितैः रोगैः शरीरान्तकैः ।
स्याच्छश्वत्प्र[5]बलैः प्रतिक्षणभवैर्यद्व्याकुलत्वं नृणां
तद्रोगार्तमनिन्दितैः प्रकटितं दुर्वारदुःखाकरम् ॥३०

1209) **दृष्टश्रुतानुभूतैः**—तद् द्वितीयकम् आर्तं स्यात् । चित्तरञ्जकैः पदार्थैर्यन्मनः खिन्नं खेदितम् । कीदृशैः । दृष्टश्रुतानुभूतैः दृष्टश्च श्रुतश्चानुभूतश्च तैः दृष्टश्रुतानुभूतैः । इति सूत्रार्थः॥२८॥ अथार्तस्य द्वितीयभेदमाह ।

1210) **मनोज्ञ**—तद् द्वितीयार्तस्य लक्षणं स्यात् । यद्यस्मात्कारणात् मनोज्ञवस्तुविध्वंसः* क्लिश्यते सत्संगमार्थिभिः । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथार्तस्य तृतीयभेदमाह ।

1211) **कासश्वास**—तद् रोगार्तं प्रकटितं यत् नृणां रोगैर्व्याकुलत्वं स्यात् । कीदृशैः । शरीरान्तकैः शरीरध्वंसकैः । पुनः कीदृशैः । पित्तश्लेष्ममरुत्प्रकोपजनितैः, पित्तं च श्लेष्मा च मरुच्च पित्तश्लेष्ममरुतः । तेषां प्रकोपः तेन जनिताः, तैः । अनेन रोगाणां निदानं [कृतम् ।] कैः रोगैः । कासश्वासभगंदरोदरयक्रुत्कुष्ठातिसारज्वरैः, कासश्च श्वासश्च भगंदरश्च उदरयक्रुत्कुष्ठश्चातिसारश्च ज्वरश्च तेषां समाहारस्तैः । पुनः । शश्वत्प्रबलैः निरन्तरबलवत्तरैः । पुनः कीदृशैः । प्रतिक्षणभवैं-र्जातैः । कीदृशं रोगार्तम् । दुर्वारदुःखाकरम् । इति सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ पुनस्तृतीय-स्वरूपमाह ।

देखे गये, सुने गये और अनुभवमें आये हुए ऐसे मनमें अनुरागको उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंका वियोग होनेपर जो चित्तमें खेद होता है वह दूसरा आर्तध्यान है ।।२८।।

मनोहर वस्तुओंका विनाश होनेपर उनके पुनः संयोगकी इच्छासे जो प्राणी क्लेशको प्राप्त होते हैं, यह उस द्वितीय आर्तध्यानका लक्षण है ।।२९।। द्वितीय आर्तध्यानका कथन समाप्त हुआ ।

काश, श्वास, भगन्दर, पेटका यकृत्, कोढ़, अतिसार और ज्वरसे तथा पित्त, कफ और वायुके प्रकोपसे उत्पन्न होकर शरीरको नष्ट करनेवाले रोगोंसे, इनके अतिरिक्त निरन्तर प्रतिसमय उत्पन्न होनेवाले प्रबल रोगोंसे जो मनुष्योंको व्याकुलता होती है उसे निन्दासे रहित (प्रशस्त) जनोंने रोगार्त नामका तीसरा आर्तध्यान प्रगट किया है । वह प्राणियोंके लिए दुर्निवार दुःखोंका कारण है ।।३०।।

१. L S F J K R मनस्त° । २. L X तदेव स्या° । ३. P M द्वितीयम् । ४. T °दररुजाकुष्ठा°, F °दरजरुक्कुष्ठा°, L S J K X Y R °दरजराकुष्ठा° । ५. S K Y R स्यातसत्त्वप्र° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1212) अल्पानामपि रोगाणां माभूत्स्वप्ने ऽपि संभवः ।
ममेति या नृणां चिन्ता स्यादार्तं तत्तृतीयकम् ॥३१॥ तृतीयम् ।

1213) भोगा भोगीन्द्रसेव्यास्त्रिभुवनजयिनी रूपसाम्राज्यलक्ष्मी
राज्यं क्षीणारिचक्रं विजितसुरवधूलास्यलीलायुवत्यः ।
अन्यच्चानन्दभूतं कथमिह भवतीत्यादिचिन्तासुभाजां
या तद्भोगार्तमुक्तं परमगणधरैर्जन्मसंतानसूत्रम् ॥३२

1214) पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पदं यज्जिनेन्द्रामराणां
यद्वा तैरेव वाञ्छत्यहितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात् ।
पूजासत्कारलाभप्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पैः
स्यादार्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणां दुःखदावोग्रधाम ॥३३

1212) **अल्पानामपि**—ममाल्पानामपि रोगाणां स्वप्ने ऽपि संभव उत्पत्तिर्माभूत् इति नृणां चिन्ता स्यात्, तत् तृतीयमार्तं स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ तुरीयभेदमाह ।

1213) **भोगा भोगीन्द्र**—परमगणधरैर्गौतमादिभिर्यावत् भोगार्तमुक्तं कथितम् । कीदृशं भोगार्तम् । जन्मसंतानसूतं संसारोत्पत्तिकारणम् । केषाम् । इत्यादिचिन्तासुभाजां जीवानाम् इह जगति अन्यच्चानन्दभूतं हर्षभूतं कथं भवतीति । इति किम् । ममेति गम्यम् । भोगा भोगीन्द्रसेव्याः धरणीन्द्रसेव्याः । रूपसाम्राज्यलक्ष्मीः त्रिभुवनजयिनी जगत्त्रयाधिका । क्षीणारिचक्रं नष्टवैरिसमूहं राज्यम् । युवत्यो वनिताः विजितसुरवधूलास्यलीलाः विजितामरवधूदेवाङ्गनाः तासां लास्यलीलाः [नृत्य] प्रधानलीलाः । इति सूत्रार्थः ।।३२ ।। अथ पुनश्चतुर्थभेदमाह ।

1214) **पुण्यानुष्ठान**—इह जगति नृणां मनुष्याणां तत् आर्तं स्यात् । कीदृशम् । निदानप्रभवं निदानजातम् । पुनः कीदृशम् । दुःखदावोग्रधाम दुःखदावोत्कटगृहं यत् जिनेन्द्रामराणां तीर्थंकर-

स्वप्नमें भी मेरे थोड़े-से भी रोगोंकी सम्भावना न हो, इस प्रकारकी जो मनुष्योंको चिन्ता होती है वह तीसरा (वेदनाजन्य) आर्तध्यान है ॥३१॥ तृतीय आर्तध्यानका कथन समाप्त हुआ ।

धरणेन्द्रके द्वारा भोगने योग्य भोग, तीनों लोकोंको जीतनेवाली सुन्दरतारूप साम्राज्य-लक्ष्मी, शत्रुसमूहसे रहित निष्कण्टक राज्य, देवांगनाओंके नृत्यकी लीलाको जीतनेवाली तरुण स्त्रियाँ तथा अन्य भी सुखसामग्री मुझे यहाँ किस प्रकारसे प्राप्त होती है; इत्यादि प्रकारकी जो प्राणियोंको चिन्ता होती है उसे श्रेष्ठ गणधरोंने भोगार्तध्यान कहा है। वह जन्मपरम्परा—संसारपरिभ्रमण—का कारण है ॥३२॥

पवित्र संयम एवं तप आदि अनुष्ठानोंके समूहसे जो जिनेन्द्र अथवा देवोंके पदकी अभिलाषा की जाती है, अथवा उक्त अनुष्ठानसमूहसे ही जो क्रोधके वशीभूत होकर शत्रु-

१. All others except P M F J स्वल्पानामं । २. P M तृतीयं । ३. N S T K X Y R यत्तद्, F यावद्भो° । ४. L S J K X Y R गुणधरै । ५. L S Y R संतानमूलं, F K °सूतम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1215) इष्टभोगादिसिद्ध्यर्थं रिपुघातार्थमेव वा[1]।
यन्निदानं मनुष्याणां स्यादार्तं तत्तुरीयकम् ॥३४॥ [चतुर्थम्[2]]

1216) इत्थं चतुर्भिः प्रथितैर्विकल्पैरार्तं समासादिह हि प्रणीतम् ।
अनन्तजीवाशयभेदभिन्नं ब्रूते समग्रं यदि वीरनाथः ॥३५

1217) अपथ्यमपि[3] पर्यन्ते रम्यमप्यग्रिमक्षणे ।
विद्ध्यसद्ध्यानमेतद्धि षड्गुणस्थानभूमिकम् ॥३६

देवानां पदं स्थानमभिलषति वाञ्छति । कैः । पुण्यानुष्ठानजातैः पुण्याचरितसमूहैः । वा अथवा । यत्तैरेव विकल्पैः अत्यन्तकोपात् अहितकुलकुजच्छेदं शत्रुकुलच्छेदनं वाञ्छति । वा अथवा पूजा-सत्कारलाभप्रभृतिकं याचते । विकल्पैरिति सर्वत्र योज्यम् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ चतुर्थभेदमुप-संहरन्नाह ।

1215) **इष्टभोगादि**—तत्तृतीयकं मनुष्याणां यन्निदानं स्यात् । किमर्थम् । इष्टभोगादिसिद्ध्यर्थं सुगमम् । वा अथवा । रिपुघातार्थं च मे स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ चतुर्भेदध्यानमुपसंहरति ।

1216) **इत्थं चतुर्भिः**—इह हि निश्चितं इत्थममुना प्रकारेण आर्तं समासात् संक्षेपतः प्रणीतं कथितम् । कैः । विकल्पैश्चतुर्भिः । प्रथितैर्विश्रुतैः । यदि वीरनाथः समग्रम् अनन्तजीवाशयभेदभिन्नम् अनन्तजीवाध्यवसायभेदभिन्नम् । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ ध्यानस्वरूपमाह ।

1217) **अपथ्यमपि**—हि निश्चितम् । एतद् ध्यानं विद्धि जानीहि । कीदृशम् । षड्गुणस्थान-भूमिकम् अपथ्यमपि पर्यन्ते उदयकाले अग्रिमक्षणे प्रथमसमये रम्यं मनोज्ञम् । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ गुणस्थानवर्तित्वमाह ।

समूहरूप वृक्षोंके विनाशकी अभिलाषा की जाती है, अथवा विविध प्रकारके विचारों द्वारा जो पूजा, सत्कार और लाभ आदिकी प्रार्थना की जाती है; वह निदानजन्य आर्तध्यान है जो यहाँ प्राणियोंके दुखरूप दावानलका उत्कृष्ट स्थान है ॥३३॥

अभीष्ट भोगादिकोंकी सिद्धिके लिए अथवा शत्रुओंके घातके निमित्त भी जो मनुष्यों-की अभिलाषा होती है वह चौथा (निदानजन्य) आर्तध्यान है ॥३४॥

इस प्रकार उक्त चार प्रसिद्ध भेदोंके साथ यहाँ संक्षेपसे आर्तध्यानका निरूपण किया गया है। वैसे जीव अनन्त तथा उनके अभिप्राय भी चूँकि अनन्त हैं, अतएव उक्त आर्त-ध्यानके भी अनन्त भेद हो जाते हैं। उनका यदि पूर्णरूपसे कोई निरूपण कर सकता है तो वे वीर जिनेन्द्र ही कर सकते हैं, अन्य कोई छद्मस्थ उसका पूर्णतया निरूपण नहीं कर सकता है ॥३५॥

यह असमीचीन आर्तध्यान यद्यपि प्रथम क्षणमें रम्य प्रतीत होता है फिर भी वह परिणाममें अहितकारक ही है, यह जान लेना चाहिए। वह प्रथम छह गुणस्थानोंमें पाया जाता है ॥३६॥

---

१. T च for वा । २. M L चतुर्थम् । ३. M अपथ्यमिति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1218) संयतासंयतेष्वेतच्चतुर्भेदं प्रजायते ।
प्रमत्तसंयतानां तु निदानरहितं त्रिधा ॥३७

1219) कृष्णनीलाद्यसल्लेश्याबलेन प्रविजृम्भते ।
इदं दुरितदावार्चिःप्रसूतेरिन्धनोपमम् ॥३८

1220) एतद्विनापि यत्नेन स्वयमेव प्रसूयते ।
अनाद्यसत्समुद्भूतसंस्कारादेव[1] देहिनाम् ॥३९

1221) अनन्तदुःखसंकीर्णमस्य तिर्यग्गतिः[2] फलम् ।
क्षायोपशमिको भावः कालश्चान्तर्मुहूर्तकः[3] ॥४०

1218) **संयतासंयतेषु**—एतच्चतुर्भेदमपि ध्यानं संयतासंयतेषु प्रजायते । तु पुनः । प्रमत्तसंयतानां निदानरहितं चतुर्भेदरहितं त्रिधा भवति । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ पुनस्तस्यैव स्वरूपमाह ।

1219) **कृष्णनीलादि**—इदं ध्यानं प्रविजृम्भते प्रसरति । केन । कृष्णनीलाद्यसल्लेश्याबलेन कृष्णनीलादिअशुद्धलेश्याबलेन । कीदृशम् । दुरितदावार्चिःप्रसूतेः पापदावाग्निजन्मनः इन्धनोपमम् इन्धनसदृशम् । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ पुनरप्येतत्स्वरूपमाह ।

1220) **एतद्विनापि**—एतदार्तं यत्नेनापि विना प्रसूयते उत्पद्यते । केषाम् । देहिनां प्राणिनाम् अनाद्यसत्समुद्भूतसंस्कारात् अनादिकालोत्पन्नवासनात् । इति सूत्रार्थः ॥ ३९ ॥ अथास्य फलमाह ।

1221) **अनन्त**—अस्यार्तस्य तिर्यग्गतिः फलम् । कीदृशम् । अनन्तदुःखसंकीर्णम् अनन्तदुःखव्याप्तम् । एतस्य भावः कः । क्षायोपशमिकः । च पुनः । अन्तर्मुहूर्तकः । इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथार्तध्यानचिह्नानि दर्शयति ।

वह संयतासंयतोंमें—प्रथम पाँच गुणस्थानोंमें—उपर्युक्त चारों भेदोंसे संयुक्त रहता है। परन्तु प्रमत्तसंयत जीवोंके वह निदानभेदसे रहित शेष तीन भेदयुक्त पाया जाता है ॥३७॥

जिस प्रकार ईंधन दावानलकी ज्वालाको विस्तृत करता है उसी प्रकार यह आर्तध्यान पापरूप अग्निकी ज्वालाको विस्तृत करता है। वह कृष्ण और नील आदि अशुभ लेश्याके बलसे वृद्धिंगत होता है ॥३८॥

यह प्राणियोंके बिना प्रयत्नके ही अनादि कालसे उत्पन्न हुए दुष्ट संस्कारके वश स्वयं उत्पन्न होता है ॥३९॥

इस ध्यानका फल अनन्त दुःखोंसे व्याप्त तिर्यंच गतिकी प्राप्ति है। यह क्षायोपशमिक भाव है और काल इसका अन्तर्मुहूर्त है ॥४०॥

---

१. N संसारादेव । २. All others except P M N F गतेः । ३. M N T मुहूर्तिकः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1222) शङ्काशोकभयप्रमादकलहश्चिन्ताभ्रमोद्भ्रान्तय[1][2]
उन्मादो विषयोत्सुकत्वमसकृन्निद्राङ्गजाड्यं श्रमाः ।[3]
मूर्च्छादीनि शरीरिणामविरतं लिङ्गानि बाह्यान्यल-
मार्ताधिष्ठितचेतसां श्रुतधरैर्व्यावर्णितानि स्फुटम् ॥४१

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्रीशुभचन्द्र-
विरचिते आर्तध्यानप्रकरणम् ॥२३॥

1222) शङ्काशोक—आर्ताधिष्ठितचेतसाम् आर्तध्यानव्याप्तचित्तानां शरीरिणामविरतं निरन्तरं लिङ्गानि चिह्नानि श्रुतधरैर्गौतमादिभिः स्फुटं प्रगटं व्यावर्णितानि कथितानि। कानि तानि। शङ्काशोकभयप्रमादकलहाः, शङ्का वस्तुसंदेहः, शोकः प्रसिद्धः, भयं प्रसिद्धम्, प्रमादकलहावपि प्रसिद्धौ। पुनः कानि लिङ्गानि। चिन्ताभ्रमोद्भ्रान्तयः, सुगमम्। पुनः कानि। उन्मादो कान्दर्पजनितो धर्मः, विषयोत्सुकत्वम् इन्द्रियसुखोत्कण्ठा, असकृद् वारंवारम्। निद्राङ्गजाद्याः* श्रमाः। पुनः कानि। मूर्च्छादीनि। एतानि सर्वविशेषणानि आर्तस्य लिङ्गानि भवन्ति। बाह्यानलं बाह्यशरीरसंतापः। इति सूत्रार्थः ॥४१॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवमूलसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा तत्पुत्र-साहटोडर-तत्पुत्र-साहश्रीरिषिदासेन स्वश्रवणार्थं पण्डित-जिनदासोद्यमेन कारापितम् आर्तिध्यानप्रकरणं समाप्तम् ॥ २३ ॥

समाबभूव श्रीपार्श्वः तत्पुत्रटोडरो भूतः। जीयादिह रिषिदासः गतार्तध्यानसंसारः ॥१॥ अथ रौद्रध्यानं सभेदमाह।

शंका, शोक, भय, प्रमाद, झगड़ालु वृत्ति, चिन्ता, भ्रान्ति, व्याकुलता, पागलपन, विषयोंकी अभिलाषा, निरन्तर निद्रा, शरीरकी जड़ता, परिश्रम और मूर्छा आदि; ये उस आर्तध्यानसे आक्रान्त मनवाले प्राणियोंके निरन्तर बाह्य चिह्न होते हैं जो स्पष्टतया पूर्णश्रुतके धारक गणधरोंके द्वारा कहे गये हैं ॥४१॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
आर्तध्यान प्रकरण समाप्त हुआ ॥२३॥

१. M N L T F K कलहा° । २. S J X Y R चित्तभ्र° । ३. P M जाद्यं° , T F K जाद्याः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

XXIV

[आर्तरौद्रम्]

1223) रुद्राशयभवं भीममपि रौद्रं चतुर्विधम् ।
कीर्त्यमानं [1]विदन्त्वार्याः[2] सर्वसत्त्वाभयप्रदाः[3] ॥१[4]

1224) रुद्रः क्रूराशयः प्राणी[5] रौद्रकर्मास्य कीर्तितम् ।
रुद्रस्य खलु भावो वा रौद्रमित्यभिधीयते ॥२

1225) हिंसानन्दान्मृषानन्दाच्चौर्यात् संरक्षणात्तथा ।
प्रभवत्यङ्गिनां शश्वदपि रौद्रं चतुर्विधम् ॥३

1223) **रुद्राशय**—रुद्राशयभवं रुद्राध्यवसायजातं भीममपि रौद्रं चतुर्विधम् आर्या विदन्तु जानन्तु । कीर्त्यमानं मया इति गम्यम् । कीदृशा आर्याः । सर्वसत्त्वाभिनन्दकाः सर्वजीवहितकारिणः । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ प्रकारान्तरेण रौद्रमप्युपदिशति ।

1224) **रुद्रः**—तत्त्वदर्शिभिः तीर्थंकरैः प्रणीतः* । कः । प्राणी । रुद्रः क्रूराशयः क्रूरचित्तः । रौद्रमित्यभिधीयते कथ्यते । रुद्रस्य *कर्म रौद्रम् । वा अथवा । रुद्रस्य भावो रौद्रम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ प्रकारान्तरेण रौद्रस्य भेदानाह ।

1225) **हिंसानन्दात्**—अङ्गिनां प्राणिनां रौद्रं शश्वन्निरन्तरं चतुर्विधं भवति । कस्मात् । हिंसानन्दात् हिंसारूप आनन्दः तस्मात् । पुनः कस्मात् । चौर्यात् । संरक्षणात् । तथेति पक्षान्तरसूचकः । इति सूत्रार्थः ॥३॥ हिंसारौद्रम् । तद्यथा ।

जिस रौद्रध्यानका आगे निरूपण किया जा रहा है वह दुष्ट अभिप्रायसे उत्पन्न होनेवाला भयानक रौद्रध्यान भी चार प्रकारका है। सब जीवोंके लिए अभय प्रदान करनेवाले आर्य जनोंको उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ॥१॥

रौद्र शब्दका निरुक्तार्थ करते हुए यहाँ यह बतलाते हैं कि रुद्रका अर्थ यहाँ दुष्ट अभिप्रायवाला प्राणी है, उस रुद्र प्राणीका जो कर्म (क्रिया) है उसे रौद्र कहा गया है। अथवा उक्त रुद्र प्राणीका जो भाव है उसे रौद्र इस प्रकार कहा जाता है ॥२॥

हिंसामें आनन्द माननेसे, असत्यभाषणमें आनन्द माननेसे, चोरीके अभिप्रायसे तथा विषयोंके संरक्षणसे प्राणियोंके निरन्तर चार प्रकारका रौद्रध्यान उत्पन्न होता है ॥३॥

१. X Y वद॰ । २. M N T F Y न्त्यार्याः । ३. All others except P L S R सत्त्वाभिनन्दकाः । ४. J missed the portion from V. No. 1222 to 1512 । ५. All others except P प्राणी प्रणीतस्तत्त्वदर्शिभिः । रुद्रस्य कर्म ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1226) हिंसारौद्रं तद्यथा[1]—
हते निष्पीडिते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते ।
स्वेन [2]चान्येन यो हर्षस्तद्धिंसारौद्रमुच्यते ॥४

1227) अनारतं निष्करुणस्वभावः
स्वभावतः क्रोधकषायदीप्तः ।
मदो[3]द्धतः पापमतिः कुशीलः
स्यान्नास्तिको यः स हि रौद्रधामा ॥५

1228) हिंसाकर्मणि कौशलं निपुणता पापोपदेशे भृशं
दाक्ष्यं नास्तिकशासने प्रतिदिनं प्राणातिपाते रतिः ।
संवासः सह निर्दयैरविरतं नैसर्गिकी क्रूरता
यत्स्याद्देहभृतां तदत्र गदितं रौद्रं प्रशान्ताशयैः ॥६

1226) हते—जन्तुजाते प्राणिसमूहे । स्वेनात्मना । च पुनः । अन्येन केनचित् हते सति । निष्पीडिते नितरां पीडिते सति । ध्वस्ते निराकृते, कदर्थिते पीडिते यो हर्षः तद् हिंसारौद्रमुच्यते कथ्यते । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1227) अनारतं—अनारतं निष्करुणस्वभावः । स्वभावतः क्रोधकषायदीप्तः क्रोधादिकषायज्वलितः । पुनः कीदृशः । मदोद्धतः मदोत्कटः । पुनः पापमतिकुशीलौ सुगमौ । एतादृशः कः । नास्तिकः । हि निश्चितम् । स पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टो नास्तिकः । रौद्रधाम रौद्रस्थानम् । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ पुनः रौद्रस्वरूपमाह ।

1228) हिंसाकर्मणि—प्रशान्ताशयैः प्रशान्तचित्तैरत्र तद्रौद्रं देहभृतां प्राणिनां गदितं कथितम् । यत् हिंसाकर्मणि चतुरता पापोपदेशे निपुणता । सुगमम् । भृशमत्यर्थं नास्तिकशासने नास्तिकमते दाक्ष्यम् । प्रतिदिनं निरन्तरं प्राणातिपाते रतिर्वाञ्छा । निर्दयैः सहाविरतं संवासः । नैसर्गिकी स्वभावजा क्रूरता । यद्यस्मात् तत् । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ हिंसानन्दा[ख्य]रौद्रमाह ।

हिंसारौद्र जैसे—स्वयं अपने द्वारा अथवा अन्यके द्वारा प्राणिसमूहके मारे जानेपर, दबाये जानेपर, नष्ट किये जानेपर, अथवा पीड़ित किये जानेपर जो हर्ष हुआ करता है उसे रौद्रध्यान कहते हैं ॥४॥

जो जीव निरन्तर क्रूर स्वभावसे संयुक्त, स्वभावतः क्रोधकषायसे सन्तप्त, अभिमानमें चूर रहनेवाला, पापबुद्धि, दुराचारी और नास्तिक (लोक-परलोकको न माननेवाला) होता है उसे रौद्रध्यानका स्थान (रौद्रध्यानी) समझना चाहिए ॥५॥

प्राणियोंके जो हिंसा करनेमें कुशलता, पापके उपदेशमें अतिशय प्रवीणता, नास्तिक मतके प्रतिपादनमें चतुरता, प्रतिदिन प्राणघातमें अनुराग, दुष्ट जनोंके साथ सहवास, तथा निरन्तर जो स्वाभाविक दुष्टता रहती है उसे यहाँ वीतराग महात्माओंने रौद्रध्यान कहा है ॥६॥

१. P M X हिंसारौद्रं तद्यथा । २. M N T वान्येन । ३. T महोद्धतः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1229) केनोपायेन घातो भवति तनुमतां कः प्रवीणो ऽत्र हन्ता
हन्तुं कस्यानुरागः कतिभिरिह दिनैर्हन्यते जन्तुजातम् ।
हत्वा पूजां करिष्ये द्विजगुरुमरुतां कीर्तिशान्त्यर्थमित्थं
यः स्याद्धिंसाभिनन्दो जगति तनुभृतां तद्धि रौद्रं प्रणीतम् ॥७

1230) गगनवनधरित्रीचारिणां देहभाजां
दलनदहनबन्धच्छेदघातेषु यत्नम्[3] ।
दृतिनखकरनेत्रोत्पाटने कौतुकं यत्
तदिह गदितमुच्चैश्चेतसां रौद्रमित्थम् ॥८

1231) अस्य घातो जयो ऽन्यस्य समरे जायतामिति ।
स्मरत्यङ्गी तदप्याहू रौद्रमध्यात्मवेदिनः ॥९

1229) **केनोपायेन**—जगति तनुभृतां, हि निश्चितं, तद्रौद्रं प्रणीतं कथितम् । तत् किम् । यत् यस्मात् । स इत्थम् अमुना प्रकारेण हिंसाभिनन्दः स्यात् । तनुभृतां प्राणिनां केनोपायेन घातो भवति । अत्र कः प्रवीणः चतुरः हन्ता । कस्य । पुंसः हन्तुम् अनुरागः प्रीतिः । इहाधिकारे कतिभिर्दिनैः जन्तुजातं प्राणिसमूहः हन्यते । द्विजगुरुमरुतां ब्राह्मणगुरुदेवानां जन्तुजातं हत्वा अहं पूजां करिष्ये । किमर्थम् । पुष्टिशान्त्यर्थम् । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ शरीरिणामङ्गच्छेदेनार्तध्यानमाह ।

1230) **गगन**—इह जगति तनुमतां प्राणिनामुच्चैश्चेतसामित्थममुना प्रकारेण रौद्रं गदितं कथितम् । तत्कियदेतत् । देहभाजां प्राणिनां दलनदहनबन्धच्छेदघातेषु खण्डनज्वालनबन्धनच्छेदनहननेषु यत् यत्नं स्यात् । पुनः । दृतिनखकरनेत्रोत्पाटने यत् कौतुकं चर्मनखहस्तनेत्राणाम् उत्पाटने यत् कौतुकम् । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ प्रकारान्तरेणार्तध्यानमाह ।

1231) **अस्य घातः**—अध्यात्मवेदिनः तदपि रौद्रमाहुः कथयामासुः । यदङ्गी प्राणी इति स्मरति वाञ्छति । इतीति किम् । समरे संग्रामे अस्य घातो जायताम्, अन्यस्य जयो जायताम् । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ प्रकारान्तरेणार्तमाह ।

प्राणियोंका घात किस उपायसे हो सकता है, यहाँ कौन-सा घातक चतुर है, प्राणघातमें अनुराग किसे रहता है, यह प्राणियोंका समूह यहाँ कितने दिनमें मारा जा सकता है, मैं उसे मारकर कीर्ति और शान्तिके लिए ब्राह्मण, गुरु और वायुदेवकी पूजा करूँगा; इस प्रकार संसारमें प्राणियोंको जो हिंसाकर्ममें आनन्द हुआ करता है उसे रौद्रध्यान कहा जाता है ॥७॥

आकाश, जल और पृथिवीके ऊपर संचार करनेवाले प्राणियोंके पीसने, जलाने, बाँधने, काटने और प्राणघात करनेमें जो प्रयत्न होता है तथा उनका चमड़ा, नख, हाथ और नेत्रोंके उखाड़नेमें जो कुतूहल होता है उसे यहाँ मनस्वी जनोंने रौद्रध्यान कहा है ॥८॥

युद्धमें अमुक प्राणीका घात हो तथा दूसरेकी जीत हो, इस प्रकारसे जो स्मरण किया जाता है उसको भी अध्यात्मके वेत्ता जन रौद्रध्यान कहते हैं ॥९॥

१. M N L T पुष्टि for कीर्ति । २. All others except P यत्स्यात् । ३. M N यत्नः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1232) श्रुते दृष्टे स्मृते जन्तुवधाद्युरुपराभवे ।
या [1]मुदस्तद्धि विज्ञेयं रौद्रं दुःखानलेन्धनम् ॥१०

1233) [[2]अहं कदा करिष्यामि पूर्ववैरस्य निष्क्रयम्[3] ।
अस्य चित्रैर्वधैश्चेति चिन्ता रौद्राय कल्पिता ॥१०*१

1234) किं कुर्मः शक्तिवैकल्याज्जीवन्त्यद्यापि विद्विषः ।
तर्ह्यमुत्र हनिष्यामः प्राप्य कालं तथा बलम् ॥१०*२]

1235) अभिलषति नितान्तं यत्परस्यापकारं
व्यसनविशिखभिन्नं वीक्ष्य यत्तोषमेति ।
यदिह गुणगरिष्ठं द्वेष्टि दृष्ट्वान्यभूतिं
भवति हृदि सशल्यस्तद्धि रौद्रस्य लिङ्गम् ॥११

1232) **श्रुते दृष्टे**—हि निश्चितं तद्रौद्रं विज्ञेयम् । कीदृशम् । दुःखानलेन्धनं दुःखाग्निसमेन्धनम् । यो हर्षः श्रुते दृष्टे स्मृते जन्तुवधाद्युरुपरो जन्तुमारणादिगरिष्ठपरो भवेदिति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ चिन्तारौद्रमाह ।

1233) **अहं कदा**—इति चिन्ता रौद्राय रौद्रध्यानाय कल्पिता । इति किम् । अहं पूर्ववैरस्य कदा निष्क्रयं ऋणच्छेदं करिष्यामि । अस्य वैरिणः चित्रैर्नानाप्रकारैर्वधैर्मारणैः । इति सूत्रार्थः ॥१०*१॥ अथ तत्स्वरूपमाह ।

1234) **किं कुर्मः**—विद्विषः शत्रवः अद्यापि जीवन्ति शक्तिवैकल्यात् शक्तिरहितत्वात् । वयं किं कुर्मः । तर्हि अमुत्र परभवे कालं प्राप्य तथा बलं प्राप्य हनिष्यामः । इति सूत्रार्थः ॥१०*२॥ अथ पुना रौद्रस्य लिङ्गमाह ।

1235) **अभिलषति**—हि निश्चितम् । रौद्रस्य तल्लिङ्गं स्यात् । नितान्तं निरन्तरम् ।

जीवोंके वध आदि तथा उनके महान् पराजयके सुनने, देखने अथवा स्मरण होनेपर जो हर्ष हुआ करता है उसे रौद्रध्यान जानना चाहिए। वह रौद्रध्यान दुखरूप अग्निके बढ़ानेमें ईंधनके समान काम करता है ॥१०॥

इसके अनेक प्रकारके वधके द्वारा मैं पूर्व वैरका प्रतिकार कब करूँगा, इस प्रकारका चिन्तन भी रौद्रध्यानके लिए—उसका कारणभूत—माना गया है ॥१०*१॥

क्या करें, शक्तिकी हीनतासे शत्रु आज भी जीवित हैं। यदि वे इस समय नष्ट नहीं किये जा सकते हैं तो मर करके और तब बलको प्राप्त करके उन्हें अगले भवमें नष्ट करेंगे, इस प्रकारका जो विचार किया जाता है वह रौद्रध्यान ही है ॥१०*२॥

दूसरेके अपकारकी जो अतिशय अभिलाषा होती है, उसे दुखरूप बाणोंसे विधा हुआ

१. All others except P यो हर्षस्तद्धि । २. P. om. two verses, though it shows merely a sign of addition । ३. MNY निष्क्रियां । ४. M यं तोष, Y संतोष ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1236) हिंसानन्दोद्भवं[1] रौद्रं वक्तुं कस्यास्ति कौशलम् ।
जगज्जन्तुसमुद्भूतविकल्पशतसंभवम् ॥१२

1237) हिंसोपकरणादानं क्रूरसत्त्वेष्वनुग्रहम्[2] ।
निस्त्रिंशतादिलिङ्गानि रौद्रे वाह्यानि देहिनाम्[3] ॥१३[4]

परस्यापकारम् अभिलषति वाञ्छति । अन्यं व्यसनविशिखभिन्नम् आपद्बाणभेदितं वीक्ष्य यत्तोषं संतोषमेति प्राप्नोति । इह यदन्यगुणगरिष्ठं द्वेष्टि द्वेषं करोति । अन्यभूतिम् अन्यलक्ष्मीं दृष्ट्वा हृदि सशल्यो भवति । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ हिंसानन्दाख्यं ध्यानमाह ।

1236) **हिंसानन्दोद्भवम्**—हिंसानन्दोद्भवं रौद्रं वक्तुं कस्यास्ति कौशलं चातुर्यम् । कीदृशम् । जगज्जन्तुसमुद्भूतविकल्पशतसंभवं जगज्जीवोत्पन्नसंकल्पशतसंभवं जातम् । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ रौद्रस्य लिङ्गान्याह ।

1237) **हिंसोपकरणादानम्**—निस्त्रिंशतादि लिङ्गानि निर्दयत्वादि लिङ्गानि बाह्यानि भवन्ति । क्रूरसत्त्वेषु रौद्रसत्त्वेषु प्रसादं हिंसोपकरणादानं वधोपकरणग्रहणम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते...कारापितं रौद्रध्यानप्रकरणं समाप्तम् ॥ प्रगुणगुणगरिष्ठः पार्श्वधर्मप्रकृष्टः परमसुमतिशिष्टः टोडरः श्रीबलिष्ठः । सततसुकृतवासः कीर्तिविद्योतिताशः स जयति ऋषिदासः आर्तध्यानप्रणाशः ॥१॥ इत्याशीर्वादः । अथ मृषारौद्रमाह ।

देखकर जो सन्तोष होता है, गुणोंसे महान् व्यक्तिको देखकर जो उससे द्वेष उत्पन्न होता है, तथा दूसरेके वैभवको देखकर जो हृदयमें चिन्ता या ईर्ष्या होती है; यह सब उस रौद्रध्यान-की पहिचान है ॥११॥

हिंसामें आनन्द माननेसे उत्पन्न होनेवाले उस रौद्रध्यानके वर्णनकी कुशलता किसके है ? अर्थात् उक्त रौद्रध्यानका निरूपण करनेके लिए कोई भी समर्थ नहीं है । कारण यह है कि संसारी प्राणियोंके सैकड़ों विकल्पोंसे वह रौद्रध्यान उत्पन्न हुआ करता है ॥१२॥

हिंसाके उपकरणभूत विष-शस्त्रादिका ग्रहण करना, दुष्ट जीवोंके विषयमें उपकारका भाव रखना तथा निर्दयतापूर्ण व्यवहार आदि; ये प्राणियोंके उस रौद्रध्यानके बाह्य चिह्न हैं ॥१३॥ इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें हिंसानन्द प्रथम रौद्रध्यान समाप्त हुआ ॥

१. M जन्तुम् । २. N ग्रहः, L °निग्रहं । ३. M L S T F K R देहिनः । ४. PMN इति.... विरचिते (L) हिंसानन्दप्रथमः, T X Y इति.... विरचिते महाकाव्ये हिंसानन्दप्रकरणं ॥२६॥ F हिंसानन्दप्रथमभेदं, K रौद्रध्यानप्रकरणं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1238) असत्यकल्पनाजालकश्मलीकृतमानसः ।
चेष्टते यज्जनस्तद्धि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम् ॥१४॥ तद्यथा[1]—

1239) विधाय वञ्चकं शास्त्रं मार्गमुद्दिश्य निर्दयम् ।
प्रपात्य व्यसने लोकं भोक्ष्ये ऽहं वाञ्छितं सुखम्[2] ॥१५

1240) असत्यचातुर्यबलेन लोकाद्वित्तं ग्रहीष्यामि बहुप्रकारम् ।
तथाश्वमातङ्गपुराकराणि कन्यादिरत्नानि[3] च बन्धुराणि ॥१६

1241) असत्यवाग्वञ्चनया[4] नितान्तं प्रवर्तयत्यत्र जनं वराकम् ।
स्वधर्म[5]मार्गादतिवर्तनेन मदोद्धतो यः स हि रौद्रधामा[6] ॥१७

1238) **असत्य**—जनो यच्चेष्टते क्रियां करोति । कीदृशः । असत्यकल्पनाजालकश्मलीकृतमानसः अनृतविकल्पसमूहमलिनीकृतचित्तः । हि निश्चितम् । तन्मृषारौद्रं रौद्रध्यानं प्रकीर्तितम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ तद्यथा दर्शयति ।

1239) **विधाय**—अहं वाञ्छितं सुखं भोक्ष्ये । किं कृत्वा । लोकं व्यसने कष्टे प्रपात्य । पुनः किं कृत्वा । वञ्चकं वञ्चनशीलं शास्त्रं विधाय कृत्वा । किमुद्दिश्य । मार्गं निर्दयं दयारहितमुद्दिश्य समुद्दिश्य । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ लोकवञ्चनमेवाह ।

1240) **असत्य**—अहं बहुप्रकारं तथाश्वमातङ्गपुराकराणि वित्तं द्रव्यं लोकाद् ग्रहीष्यामि । केन । असत्यचातुर्यबलेन अलीकवाक्चातुर्यबलेन वीर्येण । तथाश्वमातङ्गपुराकराणि हयगजनगराः प्रसिद्धाः । आकरः स्वर्णादिखानिः । च पुनः । कन्यादिरत्नानि । बन्धुराणि मनोहराणीति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ रौद्रास्पदमाह ।

1241) **असत्यवाग्**—अत्र जगति वराकं जनं नितान्तं निरन्तरं असत्यवाग्वञ्चनया मृषावाक्यवाचनेन प्रवर्तयति । केन । सद्धर्ममार्गादतिवर्तनेन परित्यजनेन यो मदोद्धतः मदोत्कटः । हि निश्चितम् । स रौद्रधामास्पदं भवति । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अतिरौद्रचिन्तामाह ।

जिस मनुष्यका हृदय असत्य कल्पनाओंके समूहसे मोहको प्राप्त हुआ है वह जो कुछ भी प्रवृत्ति करता है उसे मृषारौद्रध्यान कहा जाता है ॥१४॥

वह इस प्रकारसे—जो असत्यभाषी अभिमानके वशीभूत होकर यह विचार करता है कि मैं ठगनेवाले शास्त्रको रचकर और दुष्टतापूर्ण मार्गका उपदेश देकर लोगोंको आपत्तिमें डालूँगा व अभीष्ट सुखको भोगूँगा, इसके अतिरिक्त असत्यभाषणकी चतुराईके प्रभावसे मैं लोगोंसे बहुत प्रकारके धनको, तथा घोड़ा, हाथी, नगर, सुवर्णादिकी खानों एवं सुन्दर कन्यादिरूप रत्नोंको ग्रहण करूँगा; इस प्रकार जो असत्य वचनोंके द्वारा बेचारे साधारण जनोंको अतिशय ठगता हुआ उन्हें समीचीन मार्गसे भ्रष्ट करके कुमार्गमें प्रवृत्त कराता है वह रौद्रध्यानका स्थान (आश्रय) होता है ॥१५-१७॥

१. PM तद्यथा । २. F फलं । ३. N कन्याश्च । ४. M वञ्चनता । ५. All others except PMF सद्धर्मं । ६. LF धाम ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1242) असत्यसामर्थ्यवशादरातीन्नृपेण [1]चान्येन च घातयामि ।
अदोषिणां दोषचयं विधाय चिन्तेति रौद्राय मता मुनीन्द्रैः ॥१८
1243) पातयामि जनं मूढं व्यसने ऽनर्थसंकटे ।
वाक्कौशल्यप्रयोगेण[2] वाञ्छितार्थप्रसिद्धये ॥१९
1244) इमान् जडान्बोधविचारविच्यु[3]तान्प्रतारयाम्यद्य वचोभिरुन्नतैः ।
अमी प्रवर्त्स्यन्ति मदीयकौशलादकार्यवर्ग्येष्विति[4] नात्र संशयः ॥२०
1245) अनेकासत्यसंकल्पैर्यः प्रमोदः प्रजायते ।
मृषानन्दात्मकं रौद्रं तत्प्रणीतं पुरातनैः ॥२१[5]

1242) **असत्यसामर्थ्य**—मुनीन्द्रैर्योगिभिः सा चिन्ता *अतिरौद्राय मता कथिता । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथैतदेवाह ।

1243) **पातयामि**—अहं मूढं मूर्खं जनं व्यसने कष्टे पातयामि । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ लोकानां मूढत्वमेवाह ।

1244) **इमान्**—अमी मूढा अकार्यवर्गेषु प्रवर्त्स्यन्ति प्रवर्तयिष्यन्ति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ मृषानन्दात्मकं रौद्रमाह ।

1245) **अनेकासत्य**—पुरातनैः पूर्वाचार्यैः मृषानन्दात्मकं रौद्रं तत्प्रणीतं कथितम् । इति सूत्रार्थः । शेषं सुगमम् ॥२१॥ इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते .. कारापितम् असत्यं रौद्रं द्वितीय-प्रकरणं समाप्तम् ॥ विदितगणिसुपार्श्वः पाससूजातपार्श्वः विहितमहिमधामोद्दामकामैकदाम । जयति जगति सुपुत्रष्टोडरो जाड्यदात्रः महिमचरितवासः शुद्धश्रीर्रिषिदासः ॥१॥ आशीर्वादः । अथ चौर्यानन्दमेवाह ।

मैं असत्यके बलसे राजाके द्वारा अथवा अन्यके द्वारा शत्रुओंको नष्ट करता हूँ, इस प्रकार निर्दोष जनोंके दोषसमूहको करके जो चिन्ता होती है उसे महर्षि जन रौद्रका कारण मानते हैं ॥१८॥

मैं अभीष्ट प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिए वचनचातुर्यका उपयोग करके मूर्ख जन-को अनर्थोंसे भयानक आपत्तिमें डालता हूँ, ऐसे चिन्तनका नाम मृषानन्द रौद्रध्यान है ॥१९॥

मैं ज्ञान और विचारसे रहित इन मूर्खोंको आज अपने उन्नत वचनोंके द्वारा ठगता हूँ। ये मेरी चतुराईसे महान् अकार्योंमें प्रवृत्त होंगे, इसमें सन्देह नहीं है, ऐसा विचार करना रौद्रध्यान ही है ॥२०॥

उक्त रीतिसे अनेकों असत्य विचारोंके द्वारा जो हर्ष उत्पन्न होता है उसे प्राचीन ऋषियोंने मृषानन्दस्वरूप रौद्रध्यान कहा है ॥२१॥

१. All others except PMNT वान्येन । २. MN वाक्कौटिल्य । ३. X विचारमुक्तान् । ४. M L T F K X वर्गे°, NYR वर्षे° । ५. P M N L T X इति····विरचिते असत्यरौद्रं द्वितीयम्, N ॥२५॥, T ॥२७॥, F इति रौद्रध्यानस्य द्वितीयं भेदं समाप्तं, K असत्यं रौद्रप्रक-°, Y इति····मृषानन्दप्रक° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1246) चौर्योपदेशबाहुल्यं चातुर्यं चौर्यकर्मणि ।
यच्चौर्यैकरतं[1] चेतस्तच्चौर्यानन्दमिष्यते[2][3][4] ॥२२॥ तद्यथा[5]—

1247) यच्चौर्याय शरीरिणामहरहश्चिन्ता समुत्पद्यते
कृत्वा चौर्यमपि प्रमोदमतुलं कुर्वन्ति यत्संततम् ।
चौर्येणापहृते[6] परैः परधने यज्जायते संभ्रम-
स्तच्चौर्यप्रभवं वदन्ति निपुणा रौद्रं सुनिन्दास्पदम् ॥२३

1248) कृत्वा सहायं वरवीरसैन्यं
तथाभ्युपायांश्च बहुप्रकारान् ।
धनान्यलभ्यानि चिरार्जितानि
सद्यो हरिष्यामि जनस्य धात्र्याम् ॥२४

1246) **चौर्योपदेश**—[स चौर्यानन्द इष्यते कथ्यते। स इति कः। यत्र चौर्योपदेशबाहुल्यम्। यत्र च चौर्यकर्मणि चातुर्यं कौशल्यं दृश्यते। यत् कार्यं चौर्यैकपरं चौर्यप्रधानं विद्यते। इत्यर्थः] ॥२२॥ तद्यथा।

1247) **यच्चौर्याय**—शरीरिणां प्राणिनां यद्यस्मात् कारणात् चौर्याय अहरहः प्रतिदिनं चिन्ता समुत्पद्यते। यत्पुनः चौर्यं कृत्वा अतुलं समस्तं प्रमोदं संततं हर्षं निरन्तरं कुर्वन्ति। परधने परद्रव्ये चौर्येणापि परैः हृते यत् संभ्रमो जायते, तच्चौर्यप्रभवं चौर्योत्पन्नं सुनिन्दास्पदं निन्दाधाम रौद्रं निपुणा वदन्तीति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ चौर्यचिन्तासाह।

1248) **कृत्वा सहायं**—धात्र्यां जनस्य चिरार्जितानि धनानि सद्यः शीघ्रं हरिष्यामि। तथाभ्युपायान् प्रपञ्चान् बहून् कृत्वा। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथ चौर्यचिन्तामाह।

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें द्वितीय असत्य रौद्रध्यान समाप्त हुआ॥

जो चोरीविषयक उपदेशकी अधिकता, चोरीके कार्यमें चतुरता और उस चोरीके विषयमें जो असाधारण रति होती है उसे चौर्यानन्द रौद्रध्यान माना जाता है ॥२२॥

वह इस प्रकारसे—प्राणियोंके लिए जो प्रतिदिन चोरीके निमित्त चिन्ता उत्पन्न होती है, चोरीको करके भी जो निरन्तर अनुपम आनन्द करते हैं, और जो दूसरोंके द्वारा चोरीसे हरण किये गये दूसरेके धनके विषयमें आदर या उत्सुकता होती है उसे तत्त्वज्ञ जन चोरीसे उत्पन्न होनेवाला (चौर्यानन्द) रौद्रध्यान कहते हैं। वह अतिशय निन्दाका कारण है ॥२३॥

दीर्घकालसे कमाया हुआ जो लोगोंका धन पृथिवीपर सरलतासे नहीं प्राप्त किया जा

---

१. All others except P °कपरं। २. M N T X चेतः स चौर्या°। ३. All others except P °नन्द इष्यते। ४. X इष्यति। ५. P तद्यथा। ६. MN °णोपहृते, T णापि हृते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1249) द्विपदचतुष्पदसारं धनधान्यवराङ्गनासमाकीर्णम् ।
वस्तु परकीयमपि मे स्वाधीनं चौर्यसामर्थ्यात् ॥२५

1250) इत्थं चुरायां विविधप्रकारः शरीरिभिर्यः[1] क्रियते ऽभिलाषः ।
अपारदुःखार्णवहेतुभूतं रौद्रं तृतीयं तदिह प्रणीतम् ॥२६[2]

1251) बह्वारम्भपरिग्रहेषु नियतं रक्षार्थमभ्युद्यतो[3]
यत्संकल्पपरंपरां वितनुते प्राणीह रौद्राशयः ।
यच्चालम्ब्य महत्त्वमुन्नतमना राजेत्यहं मन्यते
तत्तुर्यं प्रवदन्ति निर्मलधियो रौद्रं भवाशंसिनाम् ॥२७॥ तद्यथा[5]

1249) **द्विपदचतुष्पद**—[द्विपदचतुष्पदसारं पक्षिमनुष्यपशुप्रधानम् । धनं, धान्यं, धरा भूमिः, अङ्गना स्त्री । समाकीर्णं व्याप्तम् । एतादृशं परकीयमपि वस्तु चौर्यसामर्थ्यात् चौर्यवशात् मे स्वाधीनं हस्तगतम् । इति सूत्रार्थः] ॥२५॥ अथ तृतीयरौद्रमुपसंहरति ।

1250) **इत्थं चुरायां**—एतत्तृतीयं चौर्यानन्दम् इहाधिकारे प्रणीतं कथितम् । इति सूत्रार्थः । शेषं सुगमम् ॥२६॥ इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते कारापितं चौर्यानन्दारौद्रं तृतीयं प्रकरणम् ॥ स्यात्पूर्वं परबुद्धिः साहश्रीपार्श्वराजभुवि विदितः । श्रीमत्तोडरनन्दः श्रीऋषिदासो विराजते ॥१॥ आशीर्वादः । अथ चतुर्थं रौद्रभेदमाह ।

1251) **बह्वारम्भ**—निर्मलधियो रौद्रं तत्तुर्यं चतुर्थं भवाशंसिनां भववाञ्छकानां प्रवदन्ति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ तद्यथा दर्शयति ।

सकता है उसको मैं उत्कृष्ट योद्धाओंकी सेनाकी सहायतासे अनेक प्रकारके उपायोंको करके शीघ्र ही ग्रहण करूँगा । दुपद और चतुष्पदोंमें उत्कृष्ट तथा धन, धान्य एवं उत्तम स्त्रियोंसे व्याप्त जो भी दूसरोंकी वस्तु है, वह चोरीके बलसे मेरे स्वाधीन है—मैं उसे सरलतासे प्राप्त कर सकता हूँ । इस प्रकारसे प्राणी जो चोरीके विषय में अनेक प्रकारकी इच्छा किया करते हैं उसे यहाँ तीसरा रौद्रध्यान कहा गया है और वह अपरिमित दुखरूप समुद्रका कारणभूत है।॥२४-२६॥ इस प्रकार ज्ञानार्णवमें चौर्यरौद्र नामक तृतीय रौद्रध्यानका कथन समाप्त हुआ ॥

दुष्ट अभिप्रायवाला प्राणी जो यहाँ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहके विषयमें रक्षणके लिए सदा प्रयत्नशील रहता है, उसके लिए संकल्प-विकल्पोंकी परम्पराको विस्तृत करता है, तथा बड़प्पनका आश्रय लेकर मनको ऊँचा करता हुआ जो अपनेको 'मैं राजा हूँ' ऐसा समझता है; उसे निर्मल बुद्धिके धारक गणधरादि चतुर्थ रौद्रध्यान कहते हैं । वह संसारपरिभ्रमणके अभिलाषी प्राणियोंके होता है । अभिप्राय यह है कि इस रौद्रध्यानका फल दीर्घ संसार है ।॥२७॥

१. M यत्क्रियते । २. PY इति ज्ञानार्णवे चौर्यरौद्रं तृतीयं, MN चौर्यरौद्रं द्वितीयम्, LT चौर्यानन्दरौद्रं तृतीयं ॥२८॥ F रौद्रध्यानस्य चौर्यानन्दं तृतीयं, K चौर्यानन्दरौद्रं प्रकरणम्, X चौर्यरौद्रं तृतीयकं । ३. All others except P °मम्युद्यते । ४. K यत्रालङ्घ्यमहित्वमुं । ५. PM तद्यथा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1252) आरोप्य चापं निशितैः शरोघैर्निकृत्य वैरिव्रजमुद्धताशम् ।
दग्ध्वा पुरग्रामवराकराणि प्राप्स्ये ऽहमैश्वर्यमनन्यसाध्यम् ॥२८

1253) आच्छिद्य गृह्णन्ति धरां मदीयां कन्यादिरत्नानि धनानि[1] नारीः[2] ।
ये शत्रवः संप्रतिं लुब्धचित्तास्तेषां करिष्ये कुलकक्षदाहम् ॥२९

1254) सकलभुवनपूज्यं वीरवर्गोपसेव्यं
स्वजनधनसमृद्धं रत्नरामाभिरामम् ।
अमितविभवसारं विश्वभोगाधिपत्यं
प्रबलरिपुकुलान्तं हन्त कृत्वा मयाप्तम् ॥३०

1255) भित्त्वा भुवं जन्तुकुलानि हत्वा प्रविश्य दुर्गाण्यटवीं[3] विलङ्घ्य ।
कृत्वा पदं मूर्ध्नि मदोद्धतानां मयाधिपत्यं कृतमत्युदारम्[4] ॥३१

1252) **आरोप्य**—अहम् ऐश्वर्यं प्राप्स्ये लभिष्ये। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥२८॥ पुनरेतदेवाह।

1253) **आच्छिद्य**—तेषां शत्रूणां कुलकक्षं क्षणसमूहं तस्य दाहं करिष्ये। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथ पुनरेतदेवाह।

1254) **सकलभुवन**—हन्तेति कष्टे। मया विश्वभोगाधिपत्यं जगद्भोगराज्यमाप्तं प्राप्तम्। सकलभुवनपूज्यं सुगमम्। शेषं सर्वं सुगममिति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ पुनरपि प्रकृतमेवाह।

1255) **भित्त्वा भुवं**—मया आधिपत्यं राज्यम् अत्युदारं प्रधानं कृतम्। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ स्वाभिमानपूर्वकमाह।

विषयसंरक्षणानन्द-रौद्रध्यानी इस प्रकार विचार करता है—मैं धनुषको चढ़ाकर तीक्ष्ण बाणसमूहके द्वारा अतिशय प्रबल आशा रखनेवाले शत्रुओंके समूहको छेद करके और उनके पुर, गाँव व खानोंको जला करके जो ऐश्वर्य दूसरोंको अलभ्य है उसे प्राप्त करूँगा। जो शत्रु लोभयुक्त मनसे मेरी भूमिको आच्छादित करके कन्या आदि रत्नों, धन और दिव्य स्त्रियोंको ग्रहण करते हैं, मैं इस समय उनके कुलरूप वनको भस्म करूँगा। हर्ष है कि मैंने अतिशय बलवान् शत्रुओंके समूहको नष्ट करके समस्त संसारसे पूजनेके योग्य, वीर पुरुषोंके समूह द्वारा उपभोग करनेके योग्य, कुटुम्बीजन और धनसे वृद्धिंगत, रत्नों व स्त्रियोंसे रमणीय तथा अपरिमित श्रेष्ठ वैभवसे परिपूर्ण; ऐसे समस्त भोगोंके स्वामित्वको प्राप्त किया है। मैंने पृथिवीको भेद करके प्राणिसमूहोंका घात करके, दुर्गम स्थानों (पर्वतादि) में प्रवेश करके, वनको लांघ करके और अभिमानमें चूर रहनेवाले शत्रुओंके शिरपर पादप्रहार करके

१. SKR रत्नानि च दिव्यनारीं। २. MNT नारीम्। ३. P दुर्गामटवीं, M दुर्गाण्युदधीन्, L F X Y दुर्गानुदधीन्, NSTKR दुर्गाण्युदधिं। ४. MN मत्युदारं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1256) जलानलव्यालविषप्रयोगैर्विश्वासभेदप्रणिधिप्रपञ्चैः ।
उत्साद्य[1] निःशेषमरातिचक्रं स्फुरत्ययं[2] मे प्रबलः प्रतापः ॥३२

1257) इत्यादिसंरक्षणसंनिबद्धं[3] संचिन्तनं यत्क्रियते मनुष्यैः ।
संरक्षणानन्दभवं तदेतद्रौद्रं प्रणीतं जगदेकनाथैः ॥३३[4]

1258) कृष्णलेश्याबलोपेतं श्वभ्रपातफलाङ्कितम्[5] ।
रौद्रमेतद्धि जीवानां स्यात् पञ्चगुणभूमिकम्[6] ॥३४

1256) **जलानल**—मे मम प्रबलप्रतापः स्फुरति । किं कृत्वा । निःशेषं समस्तमरातिचक्रं वैरिसमूहम् उत्पाद्य उत्पाट्य । जलानलव्यालविषप्रयोगैः पानीयाग्निसर्पविषसंधानैः । विश्वासभेदैः प्रणिधिप्रपञ्चैः । विशेषणद्वयं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ संरक्षणानन्दाभिधं रौद्रमुपसंहरति ।

1257) **इत्यादि**—जगदेकनाथैस्तीर्थंकरैः संरक्षणानन्दभवं रौद्रं प्रणीतं कथितम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ इति श्री–शुभचन्द्राचार्यविरचिते······कारापितं चतुर्थं रुद्रध्यान-प्रकरणम् ॥ धर्मध्यानधुराधीरः पुण्यपार्श्वो हि टोडरः । कल्याणदानमन्दारः ऋषिदासः श्रिये भव ॥१॥ आशीर्वादः । अथ पुना रौद्रमेवाह ।

1258) **कृष्णलेश्या**—हि निश्चितम् । एतद् रौद्रध्यानं जीवानां स्यात् । कीदृशम् । पञ्चगुण-भूमिकं पञ्चगुणस्थानपर्यन्तम् । पुनः कीदृशम् । कृष्णलेश्याबलोपेतं कृष्णलेश्याप्रायोग्याध्यवसाय-युक्तम् । पुनः कीदृशम् । श्वभ्रपातफलाङ्कितं नरकपतनचिह्नितम् । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ रौद्रस्य लिङ्गान्याहुः ।

महान् स्वामित्वको प्राप्त किया है। जल, अग्नि, सर्प और विषके प्रयोगसे तथा विश्वास उत्पन्न कराकर, फूट उत्पन्न कराकर एवं इसी प्रकारकी अन्य भी कपटपूर्ण प्रवृत्तियोंसे समस्त शत्रुसमूहको नष्ट कर देनेसे यह मेरा प्रबल प्रताप प्रगट है। इत्यादि प्रकारसे मनुष्य जो विषयसंरक्षणसे सम्बन्धित विचार किया करते हैं उसे लोकके अद्वितीय अधिपति स्वरूप जिनेन्द्रदेवने संरक्षणानन्दजन्य रौद्रध्यान कहा है ॥२८-३३॥ इस प्रकार ज्ञानार्णवमें चतुर्थ संरक्षणानन्द रौद्रध्यानका वर्णन समाप्त हुआ ॥

कृष्णलेश्याके सामर्थ्यसे संयुक्त एवं नरकपात (अधोगति) रूप परिणामसे चिह्नित यह जीवोंका रौद्रध्यान प्रथम पाँच गुणस्थानों तक रहता है ॥ विशेषार्थ—यहाँ उक्त चार प्रकारके रौद्रध्यानके कारण, फल और उसके अस्तित्वकी सीमाका निर्देश करते हुए जो यह बतलाया गया है कि वह कृष्णलेश्याके निमित्तसे होता है तथा उसका फल नरकगति है सो यह कथन मिथ्यात्व-सहकृत रौद्रध्यानकी प्रधानतासे किया गया है। हिंसादिके अभिप्राय व धनादि संरक्षणके विचारसे जो रौद्रध्यान पाँचवें गुणस्थानमें कदाचित् ही होता है वह सम्यग्दर्शनके सामर्थ्यसे नरकगतिका कारण नहीं होता है। कृष्णलेश्याके निर्देशसे यहाँ तीनों अशुभ लेश्याओंको ग्रहण करना चाहिए ॥३४॥

१. K उत्पाद्य । २. M स्फुरत्यलं । ३. All others except PMNT सन्निबन्धं । ४. PMY इति ज्ञानार्णवे (X) संरक्षणानन्दरौद्रं चतुर्थम्, N ॥२७॥, T ॥२९॥ एकोनत्रिंशत्प्रक., K चतुर्थ-रुद्रध्यानप्रक. । ५. MN फलान्तिकम् । ६. M भूतिकं, F भूषणं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1259) क्रूरता दण्डपारुष्यं वञ्चकत्वं कठोरता ।
निस्त्रिंशत्वं च लिङ्गानि रौद्रस्योक्तानि सूरिभिः ॥३५

1260) विस्फुलिङ्गनिभे नेत्रे भ्रूवक्रा भीषणाकृतिः ।
कंम्पस्वेदादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनाम् ॥३६

1261) क्षायोपशमिको भावः कालश्चान्तर्मुहूर्तिकः ।
दुष्टाशयवशादेतदप्रशस्तावलम्बनम् ॥३७

1262) दहत्येव क्षणार्धेन देहिनामिदमुत्थितम् ।
असद्ध्यानं त्रिलोकश्रीप्रसवं धर्मपादपम् ॥३८

1259) **क्रूरता**—[रौद्रस्य लिङ्गानि चिह्नानि सूरिभिः पण्डितैः उक्तानि कथितानि। कानि। क्रूरता, दण्डपारुष्यं शिक्षाकठोरत्वं, वञ्चकत्वं परवञ्चना, कठोरता, निस्त्रिंशत्वं निर्दयत्वं एतानि तानि इत्यर्थः] ॥३५॥ अथ रौद्रबाह्यलिङ्गानि दर्शयति ।

1260) **विस्फुलिङ्ग**—देहिनां प्राणिनां रौद्रे रौद्रध्याने बाह्यानि लिङ्गानि वर्तन्ते। कानि । विस्फुलिङ्गनिभे अङ्गारसदृशनेत्रे । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ रौद्रे भावादिकमाह ।

1261) **क्षायोपशमिकः**—रौद्रे भावः । कः । क्षायोपशमिकः । च पुनः अन्तर्मुहूर्तकालः । एतद्रौद्रम् अप्रशस्तावलम्बनम् अशुभाध्यवसायालम्बनम् । कस्मात् । दुष्टाशयवशात् दुष्टचित्ताभिप्रायात् । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ ध्यानस्य दुष्टत्वमाह ।

1262) **दहत्येव**—देहिनाम् इदम् असद्ध्यानम् उत्थितं सत् धर्मपादपं धर्मतरुं क्षणार्धेन दहत्येव । कीदृशं धर्मपादपम् । त्रिलोकश्रीप्रसवं जगत्त्रयश्रीजनकम् । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथार्तरौद्रध्यानमुपसंहरति ।

दुष्टता, दण्डकी कठोरता, धूर्तता, कठोरता और स्वभावमें निर्दयता; ये आचार्योंके द्वारा उस रौद्रध्यानके अभ्यन्तर चिह्न कहे गये हैं ॥३५॥

अग्निके कणके समान लाल नेत्र, भृकुटियोंकी कुटिलता, शरीरकी भयानक आकृति, काँपना और पसीना आना इत्यादि रौद्रध्यानके समय प्राणियोंके बाह्य चिह्न होते हैं । ३६।

दुष्ट अभिप्रायसे उत्पन्न होकर निन्द्य वस्तुका आलम्बन लेनेवाला वह रौद्रध्यान क्षायोपशमिक भाव है व काल उसका अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है ॥३७।

यह निन्द्य ध्यान उत्पन्न होकर प्राणियोंके तीनों लोकोंकी लक्ष्मीको उत्पन्न करनेवाले धर्मरूप वृक्षको आधे क्षणमें ही जलाकर भस्म कर देता है ॥३८॥

---

१. All others except PM कम्पः । २. Y लम्बिनं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1263) इत्यार्तरौद्रे गृहिणामजस्रं ध्याने सुनिन्द्ये भवतः स्वतो ऽपि ।
परिग्रहारम्भकषायदोषैः कलङ्किते ऽन्तःकरणे विशङ्कम्[1] ॥३९

1264) क्वचित्क्वचिदमी[2] भावाः प्रवर्तन्ते मुनेरपि ।
प्राक्कर्मगौरवाच्चित्रं[3] प्रायः संसारकारणम् ॥४०

1265) स्वयमेव प्रजायन्ते विना यत्नेन देहिनाम् ।
अनादिदृढसंस्कारा[4]द्दुर्ध्यानानि प्रतिक्षणम् ॥४१

1266) इति विगतकलङ्कैर्वर्णितं[5] चित्ररूपं
दुरितकुरुहकन्दं[6] निन्द्यदुर्ध्यानयुग्मम् ।

1263) **इत्यार्तरौद्रे**—गृहिणां गृहस्थानाम् अजस्रं निरन्तरम् इति अमुना प्रकारेण आर्त-रौद्रध्याने भवतः । कीदृशे । सुनिन्द्ये निन्दनीये । पुनः कीदृशे । अन्तःकरणे चित्ते विशङ्कं स्वतः स्वस्वरूपात् परिग्रहारम्भकषायदोषैः कलङ्किते । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथ पुनस्तेषामेव स्वरूपमाह ।

1264) **क्वचित्**—अमी भावाः प्रस्तावाद्रौद्रादयः मुनेरपि ज्ञाततत्त्वस्यापि क्वचित् क्वचित् प्रवर्तन्ते । कथम् । प्रायः बाहुल्यात् संसारकारणम् । कस्मात् । प्राक्कर्मगौरवात् पुरातनकर्म-गौरवत्वेन चित्रमाश्चर्यमेतदिति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथायत्नेनापि देहिनां दुर्ध्यानानि भवन्तीत्याह ।

1265) **स्वयमेव**—देहिनां प्राणिनां विना यत्नेन दुर्ध्यानानि स्वयमेवात्मना प्रजायन्ते प्रतिक्षणम् । कस्मात् । अनादिदृढसंस्कारात् अनादिकालघनवासतत्त्वात् । इति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथैतेषां त्याज्यत्वमाह ।

1266) **इति विगत**—हे धीर, निन्द्यदुर्ध्यानयुग्मं निन्दनीयदुष्टध्यानद्वयं त्यज । सपदि शीघ्रम् । इति पूर्वोक्तप्रकारं सम्यगालोच्य विचार्य । इतीति किम् । विगतकलङ्कैर्वीतरागैश्चर्चितं

इस प्रकारसे ये अतिशय निन्द्य आर्त और रौद्रध्यान परिग्रह, आरम्भ और कषाय दोषोंसे दूषित गृहस्थ जनके अन्तःकरणमें निरन्तर स्वयं ही हुआ करते हैं, इसमें शंका नहीं है ॥३९॥

कहीं-कहीं पर ये भाव पूर्वकृत कर्मके प्रभावसे मुनिके भी हुआ करते हैं । ठीक है—संसारका हेतु प्रायः अनेक प्रकारका है ॥४०॥

प्राणियोंके अनादि कालके दृढ़ संस्कारसे ये दुष्टध्यान प्रतिसमय प्रयत्नके बिना स्वयं ही हुआ करते हैं ॥४१॥

हे धीर ! निन्दनीय ये दोनों ध्यान अनेक प्रकारके स्वरूपसे संयुक्त और पापरूप वृक्ष-की जड़ होते हुए अतिशय कड़ुवे फलों (नरकादि दुख) से व्याप्त हैं । यदि तू मोक्षमार्गमें

१. Y विशन्ति । २. M किंचिदमी । ३. Y चित्तं । ४. M संसारात् । ५. M N T K X Y लङ्कैश्चर्चितं । ६. SR दुरितविपिनबीजं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कटुकतरफलाढ्यं सम्यगालोच्य धीर
त्यज सपदि यदि त्वं मोक्षमार्गे प्रवृत्तः ॥४२

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्रीशुभचन्द्र-
विरचिते आर्तरौद्रप्रकरणम् ॥२४॥

चर्चाविषयीकृतम् । पुनः कीदृशम् । चित्ररूपम् । पुनः कीदृशम् । दुरितकुरुहकन्दं पापतरुकन्दम् । पुनः कीदृशम् । कटुकतरफलाढ्यम् । यदि त्वं मार्गे सम्यग्ज्ञानादिके प्रवृत्तः । इति सूत्रार्थः ।।४२।।

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा तत्पुत्रसाहटोडर तत्कुलकमल-दिवाकर साहऋषिदास स्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन कारापितं चतुर्थरुद्रध्यानप्रकरणम् ॥२४॥

धर्मध्यानधुराधीरः पुण्यपार्श्वो हि टोडरः। कल्याणदानमन्दारः ऋषिदासः परं जीयात् ॥१॥ आशीर्वादः । अथ धर्मध्यानमाह ।

प्रवृत्त हुआ है तो उनके उपर्युक्त स्वरूपका भलीभाँति विचार करके उन्हें शीघ्र ही छोड़ दे ॥४२॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
आर्त-रौद्र प्रकरण समाप्त हुआ ॥२४॥

---

१. MN लोक्य धीरस्त्यज''''॥२८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

XXV

[ध्यानविरुद्धस्थानानि]

1267) अथ प्रशममालम्ब्य विधाय स्ववशं मनः ।
विरज्य कामभोगेषु धर्मध्यानं निरूपय[1] ॥१

1268) तदेव प्रक्रमायातं सविकल्पं समासतः ।
आरम्भफलपर्यन्तं प्रोच्यमानं निबुध्यताम्[2] ॥२

1269) ज्ञानवैराग्यसंपन्नः संवृतात्मा स्थिराशयः ।
मुमुक्षुरुद्यमी शान्तो ध्याता धीरः प्रशस्यते ॥३

1267) **अथ प्रशमम्**—अथेति आर्तरौद्रध्यानानन्तरं *प्रथममालम्ब्येति सुगमम्। मनः स्ववशं विधाय कृत्वा । च कामभोगेषु विरज्य विरक्तीभूय धर्मध्यानं निरूपय कथयेति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ धर्मध्यानमेवाह ।

1268) **तदेव**—तदेव धर्मध्यानं प्रक्रमायातं प्रस्तावागतं विबुध्यतां जानीयताम् । समासतः संक्षेपात् मया प्रोच्यमानं कथ्यमानम्। कीदृशम्। सविकल्पं सभङ्गम् आरम्भफलपर्यंन्तम् । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ।।२।। अथ ध्यानयोग्यमाह ।

1269) **ज्ञानवैराग्य**—मुमुक्षुः मोक्तुमिच्छुः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ मैत्र्यादिभावना दर्शयति ।

हे भव्य ! तू प्रशम (राग-द्वेषकी शान्ति) का आश्रय लेकर मनको अपने अधीन करता हुआ विषयभोगोंसे विरक्त हो और धर्मध्यानका अवलोकन कर—उसका विचार कर ॥१॥

वही धर्मध्यान यहाँ प्रसंगप्राप्त है। उसका यहाँ भेद-प्रभेदोंके साथ प्रारम्भसे लेकर फल-पर्यन्त संक्षेपसे निरूपण किया जाता है। हे भव्य ! तू उसका अनेक प्रकारसे मनन कर ॥२॥

जो मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाला ध्याता ज्ञान व वैराग्यसे सहित, बन्धके कारणभूत मिथ्यात्वादि परिणामोंसे रहित, चित्तकी स्थिरतासे संयुक्त, प्रयत्नशील और शान्त होता है वही ध्याता प्रशंसाके योग्य हैं ॥३॥

१. MN निरूपयेत्, T निरूपये । २. All others except PM विबुध्यतां ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1270) चतस्रो भावना धन्या[1]: पुराणपुरुषाश्रिताः ।
मैत्र्यादयश्चिरं चित्ते विधेया[2] धर्मसिद्धये ॥४॥ अथ मैत्री[3] –

1271) क्षुद्रेतरविकल्पेषु चरस्थिरशरीरिषु ।
सुखदुःखाद्यवस्थासु संस्थितेषु[4] यथायथम् ॥५

1272) नानायोनिगतेष्वेषु समत्वेनाविराधिका[5] ।
साध्वी महत्त्वमापन्ना मतिर्मैत्रीति पठ्यते[6] ॥६

1273) जीवन्तु जन्तवः सर्वे क्लेशव्यसनवर्जिताः ।
प्राप्नुवन्तु सुखं त्यक्त्वा वैरं पापं पराभवम् ॥७॥ अथ करुणा[7] –

1270) **चतस्रः**—विधेयाः कर्तव्याः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ प्रथमतः मैत्रीमेव आह । अथ मैत्री ।

1271) **क्षुद्रेतर**—चरस्थिरशरीरेषु प्राणिषु मैत्रीति सर्वत्र योज्यम् । कीदृशेषु । क्षुद्रेतर-विकल्पेषु सूक्ष्मबादरेषु । पुनः कीदृशेषु । यथायथं यथाप्रकारं सुखदुःखाद्यवस्थासु संस्थितेषु । इति सूत्रार्थः ॥५॥ पुनरेतदेवाह ।

1272) **नानायोनि**—अविराधिका विराधनारहिता मतिर्बुद्धिर्मैत्री । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ तदेव कथयति ।

1273) **जीवन्तु**—पराभवं मानखण्डनम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ करुणा ।

जिन मैत्री आदि चार भावनाओंका प्राचीन ऋषि-महर्षियोंने आश्रय लिया है, धर्मकी सिद्धिके लिए उन प्रशंसनीय भावनाओंका मनमें चिरकाल तक चिन्तन करना चाहिए ॥४॥

मैत्रीभावना—यथायोग्य सुख व दुख अवस्थाओंमें वर्तमान सूक्ष्म व स्थूल भेदरूप तथा चलते हुए व स्थिर शरीरसे संयुक्त (त्रस-स्थावर) ऐसे अनेक योनियोंमें अवस्थित प्राणियोंके विषयमें जो समभावस्वरूपसे विराधनारहित उत्तम महती बुद्धि होती है उसे मैत्रीभावना कहा जाता है । अभिप्राय यह है कि सब ही संसारी जीवोंमें समानताका भाव रखते हुए उनके लिए दुख उत्पन्न न हो, इस प्रकारकी अभिलाषाका नाम मैत्रीभावना है ॥५-६॥

सब ही प्राणी संक्लेश व आपत्तिसे रहित होकर जीवित रहें तथा वे वैर, पाप एवं अपमानको छोड़कर सुखको प्राप्त हों; ऐसा विचार करना, इसका नाम मैत्री भावना है ॥७॥

१. M पुण्याः for धन्याः । २. P. विधेयात्, S R चित्ते ध्येया धर्मस्य सिद्धये । ३. P M अथ मैत्री । ४. R संसृतेषु । ५. M °विरोधिका । ६. LT मैत्री प्रपद्यते, F मैत्री विपठ्यते, K विपठ्यते । ७. PM अथ करुणा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1274) दैन्यशोकसमुत्त्रास[1]रोगपीडार्दितात्मसु ।
वधबन्धनरुद्धेषु याचमानेषु जीवितम् ॥८

1275) क्षुत्तृट्श्रमाभिभूतेषु शीताद्यैर्व्यथितेषु च ।
अवरुद्धेषु निस्त्रिंशैर्यात्य[2]मानेषु निर्दयैः[3] ॥९

1276) मरणार्तेषु भूतेषु[4] यत्प्रतीकारवाञ्छया ।
अनुग्रहमतिः सेयं करुणेति प्रकीर्तिता ॥१०॥ अथ[5] मुदिता—

1277) तपःश्रुतयमोद्युक्तचेतसां ज्ञानचक्षुषाम् ।
विजिताक्षकषायाणां स्वतत्त्वाभ्यासशालिनाम् ॥११

1274) **दैन्यशोक**—एतेषु जीवेषु करुणादयादैन्यशोकसमुत्त्रासरोगपीडार्दितात्मसु दीनताशोकभयरोगवेदनापीडितात्मसु । पुनः । वधबन्धनरुद्धेषु । पुनः । जीवितं याचमानेषु । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1275) **क्षुत्तृट्श्रमाभिभूतेषु**—एतादृशेष्वपि करुणा कार्या । क्षुत्तृट्श्रमाभिभूतेषु क्षुधातृष्णाश्रमाभिभूयमानेषु शीताद्यैर्व्यथितेषु पीडितेषु । पुनः कीदृशेषु । निस्त्रिंशैर्निर्दयैरवरुद्धेषु । निर्दयं यात्यमानेषु पीड्यमानेषु करुणा विधेया । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ करुणालक्षणमाह ।

1276) **मरणार्तेषु**—सा इयं करुणा इति प्रकीर्तिता कथिता । भूतेषु प्राणिषु मरणार्तेषु यत् प्रतीकारवाञ्छया उपायवाञ्छया अनुग्रहमतिः प्रसादमतिः । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ मुदिता ।

1277) **तपःश्रुत**—ज्ञानचक्षुषां ज्ञाननेत्राणां मुदिता कार्या । कीदृशाम् । तपःश्रुतयमोद्युक्तचेतसां तपःश्रुतव्रतोपेतमनसां मुदिता विजिताक्षकषायाणां विनिर्जितेन्द्रियकषायाणां दृष्ट्वा मोदः कार्यः । स्वतत्त्वाभ्यासशालिनाम् आत्मस्वरूपाभ्यासमनोहराणाम् । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

करुणाभावना—दीनता, शोक, त्रास व रोगकी वेदनासे पीड़ित; वध व बन्धनसे रोके गये; जीवितकी याचना करनेवाले; भूख, प्यास व परिश्रमसे पराजित; शीत आदिकी बाधासे संयुक्त; दुष्ट जीवोंके द्वारा रोककर निर्दयतासे पीड़ित किये जानेवाले; तथा मरणकी वेदनासे व्यथित प्राणियोंके विषयमें उनकी पीड़ाके प्रतीकारकी इच्छासे जो अनुग्रहरूप बुद्धि हुआ करती है वह करुणा कही जाती है ॥८–१०॥

मुदिता (प्रमोद) भावना—जिनका चित्त तप, शास्त्रपरिशीलन और व्रतमें उद्यत है; जो ज्ञानरूप नेत्रसे संयुक्त हैं, जिन्होंने इन्द्रियों व कषायोंको वशमें कर लिया है, जो आत्म-

१. S K X Y R समुत्त्रासे । २. All others except P F X Y यात्यमानेषु, XY पीड्यमानेषु । ३. All others except P निर्दयम् । ४. NTFR जीवेषु for भूतेषु । ५. PM अथ मुदिता ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1278) जगत्त्रयचमत्कारिचरणाधिष्ठितात्मनाम् ।
तद्गुणेषु प्रमोदो[1] यः सद्भिः सा मुदिता मता ॥१२॥ अथोपेक्षा–[2]

1279) क्रोधविद्धेषु[3] सत्त्वेषु निस्त्रिंशक्रूरकर्मसु ।
मधुमांससुरान्यस्त्रीलुब्धेष्वत्यन्तपापिषु ॥१३

1280) देवागमयतिव्रातनिन्दकेष्वात्मशंसिषु ।
नास्तिकेषु च[4] माध्यस्थ्यं यत्सोपेक्षा प्रकीर्तिता ॥१४

1281) एता मुनिजनानन्दसुधास्यन्दैकचन्द्रिकाः ।
ध्वस्तरागाद्युरुक्लेशा लोकाग्रपथदीपिकाः ॥१५

1278) **जगत्त्रय**—सद्भिः सत्पुरुषैः सा मुदिता मता कथिता । सा का । जगत्त्रयचमत्कारिचरणाधिष्ठितात्मनां त्रिभुवनाश्चर्यकारिचारित्राधिष्ठितात्मनां गुणेषु यः प्रमोदो हर्षः स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथोपेक्षा ।

1279) **क्रोधविद्धेषु**—* क्रोधाविद्धेषु सत्त्वेषु प्राणिषु उपेक्षा कर्तव्या । निस्त्रिंशकर्मसु निर्दयक्रूरकर्मसु । मधुमांससुरान्यस्त्रीलुब्धेषु मद्यमांससुराविशेषपरस्त्रीलम्पटेषु । अत्यन्तपापिषु । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथोपेक्षामाह ।

1280) **देवागम**—सा उपेक्षा प्रकीर्तितता कथिता । यत् नास्तिकेषु माध्यस्थम् । कीदृशेषु । देवागमयतिव्रातनिन्दकेषु देवशास्त्रयतिवर्गनिन्दनीयेषु । पुनः कीदृशेषु । आत्मशंसिषु । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथैतासां फलमाह ।

1281) **एता मुनि**—एता मैत्र्यादयो लोकाग्रपथदीपिका मोक्षपथदीपिकाः मुनिजनानन्दसुधास्यन्दैकचन्द्रिका मुनिवृन्दानन्दामृतस्रावैकचन्द्रज्योत्स्नाः । पुनः कीदृश्यः । ध्वस्तरागाद्युरुक्लेशा हतरागादिगरिष्ठक्लेशाः । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ पुनरेतासां फलमाह ।

तत्त्वके अभ्याससे शोभायमान हैं, तथा जिनकी आत्मा तीनों लोकोंको आश्चर्यान्वित करनेवाले चारित्रसे अधिष्ठित है; उन महापुरुषोंके गुणोंमें जो हर्ष होता है वह सत्पुरुषोंके द्वारा मुदिता भावना मानी गयी है ॥११–१२॥

उपेक्षा भावना—जो प्राणी क्रोधसे संयुक्त, निर्दयतापूर्वक दुष्ट कर्म करनेवाले; मधु, मांस, मद्य एवं परस्त्रीमें आसक्त; अतिशय पापी; देव, शास्त्र व मुनिसंघके निन्दक, अपनी प्रशंसा करनेवाले तथा नास्तिक (आत्मा व परलोकके न माननेवाले) हैं उनके विषयमें क्षोभको प्राप्त न होकर जो मध्यस्थताका भाव रखा जाता है वह उपेक्षा भावना कहलाती है ॥१३–१४॥

उपर्युक्त मैत्री आदि चार भावनाएँ मुनिजनके आनन्दरूप अमृतके बहानेके लिए अनुपम चाँदनीके समान, रागादिरूप महाक्लेशको नष्ट करनेवाली और लोकशिखर (सिद्धक्षेत्र) के मार्गको—रत्नत्रयको—प्रकट करनेके लिए दीपकके समान हैं ॥१५॥

१. MLK यो गुणेषु प्रमोदः स्यात्, NT यो गुणेषु प्रमोदो यः, X स्याद्गुणेषु प्रमोदो यः । २. PM अथोपेक्षा । ३. M क्रोधाविद्धेषु, X क्रोधाविष्टेषु । ४. N हि for च ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1282) एताभिरनिशं योगी क्रीडन्नत्यन्तनिर्भरम् ।
सुखमात्मोत्थमत्यक्षमिहैवास्कन्दति ध्रुवम् ॥१६

1283) भावनास्वासु संलीनः करोत्यध्यात्मनिश्चयम् ।
अवगम्य जगद्वृत्तं विषयेषु न मुह्यति ॥१७

1284) योगनिद्रा स्थितिं धत्ते मोहनिद्रापसर्पति ।
आसु सम्यक्प्रणीतासु स्यान्मुनेस्तत्त्वनिश्चयः ॥१८

1285) आभिर्यदानिशं[1] विश्वं भावयत्यखिलं वशी ।
तदौदासीन्यमापन्नश्चरत्यत्रैव मुक्तवत् ॥१९

1282) **एताभिरनिशं**—योगी एताभिर्भावनाभिरनिशं निरन्तरम्। सुखम् इहैवास्कन्दति आश्रयति। ध्रुवं निश्चितम्। कीदृशं सुखम्। आत्मोत्थम्। पुनः कीदृशं सुखम्। अत्यक्षमतीन्द्रियम्। किं कुर्वन्। अत्यन्तनिर्भरं क्रीडन्। इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथासां स्वरूपमाह।

1283) **भावनास्वासु**—आसु भावनासु संलीनः सावधानः अध्यात्मनिश्चयं करोति। किं कृत्वा। जगद्वृत्तं जगच्चरितमवगम्य ज्ञात्वा विषयेषु न मुह्यति। इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथैतासां स्वात्मतत्त्वकारणतामाह।

1284) **योगनिद्रा**—मुनेर्ज्ञाततत्त्वस्य तत्त्वनिश्चयः परमात्मतत्त्वनिश्चयः स्यात्। आसु मैत्र्यादिभावनासु सम्यक्प्रणीतासु कथितासु योगनिद्रा स्थितिं धत्ते। आसु सम्यक्प्रणीतासु मोहनिद्रा प्रसर्पति गच्छति। इति सूत्रार्थः ॥१८॥ पुनरपि तासां फलमाह।

1285) **आभिर्यदा**—वशी वश्येन्द्रियः आभिर्भावनाभिरखिलं विश्वं जगदनिशं निरन्तरम्। तदा औदासीन्यम् आपन्नः। अत्रैव मुक्तवत् चरति विचरति। इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ रागादीनां स्वरूपमाह।

इन भावनाओंके साथ निरन्तर अतिशय क्रीड़ा करनेवाला योगी निश्चयसे यहाँ ही—इसी भवमें—अतीन्द्रिय आत्मिक सुखको प्राप्त कर लेता है ॥१६॥

इन भावनाओंमें निमग्न हुआ योगी अध्यात्मका निश्चय करता है तथा संसारके स्वरूपको जानकर वह विषयोंमें मुग्ध नहीं होता है ॥१७॥

इन भावनाओंका भलीभाँति आचरण (चिन्तन) करनेपर मुनिकी योगनिद्रा (समाधि) स्थिरताको धारण करती है, मोहरूप नींद नष्ट हो जाती है, तथा उसे वस्तुस्वरूपका निश्चय हो जाता है ॥१८॥

जितेन्द्रिय योगी जब इन भावनाओंके साथ निरन्तर समस्त लोकका चिन्तन करता है तब वह उदासीनभावको प्राप्त होकर—राग-द्वेषसे मुक्त होता हुआ—यहाँ (संसारमें) ही सिद्धके समान आचरण करता है—मुक्ति उसके निकट आ जाती है ॥१९॥

१. M N यद्यनिशं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1286) रागादिवागुराजालं निकृत्याचिन्त्यविक्रमः ।
स्थानमाश्रयते धन्यो विविक्तं ध्यानसिद्धये ॥२०

1287) कानिचित्तत्र शस्यन्ते दूष्यन्ते कानिचित्पुनः ।
ध्यानाध्ययनसिद्ध्यर्थं स्थानानि मुनिसत्तमैः ॥२१

1288) विकीर्यते मनः सद्यः स्थानदोषेण देहिनाम् ।
तदेव स्वस्थतां धत्ते स्थानमासाद्य बन्धुरम् ॥२२

1289) म्लेच्छाधमजनैर्जुष्टं[1] दुष्टभूपालपालितम् ।
पाखण्डिमण्डलाक्रान्तं महामिथ्यात्वनाशितम्[2] ॥२३

1286) रागादि—धन्यो पुण्यभाक् स्थानमाश्रयते । किमर्थम् । विविक्तं पृथक् पृथक् ध्यानसिद्धये रागादिवागुराजालं निकृत्य कर्तयित्वा । कीदृशो धन्यः । अचिन्त्यविक्रमः । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ स्थानाश्रयत्वमेवाह ।

1287) कानिचित्—मुनिसत्तमैः मुनिप्रधानैः तत्र कानिचित् स्थानानि शस्यन्ते प्रशस्यन्ते । पुनः । कानिचित् दूष्यन्ते । किमर्थम् । ध्यानाध्ययनसिद्धचर्थम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथैतदेवाह ।

1288) विकीर्यते—देहिनां प्राणिनां मनः सद्यः तत्कालं विकीर्यते विस्तार्यंते । केन । स्थानदोषेण । तदेव तेषां मनः स्वच्छतां निर्मलतां धत्ते । बन्धुरं मनोहरं स्थानमासाद्य प्राप्य । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1289-98) म्लेच्छाधम—एतादृशं स्थानं मोक्तव्यम् । ध्यानविध्वंसशङ्कितैर्ध्यानविघ्नशङ्कितैः । यत् स्थानं किंचित् क्षोभाय ध्यानक्षोभाय जायते, मोहाय जायते, यद्विकाराय जायते, तदपि स्थानं मोक्तव्यमित्यन्तश्लोकार्थः । म्लेच्छाधमजनैर्यवनाधमलोकैः जुष्टं सेवितम् । पुनः

इस प्रकार उन भावनाओंके आश्रयसे राग-द्वेषादिरूप फाँसोंके समूहको काटकर—उनसे सर्वथा रहित होकर—अचिन्त्य पराक्रमको प्राप्त करता हुआ कृतार्थ योगी ध्यानको सिद्ध करनेके लिए एकान्त स्थानका आश्रय लेता है ॥२०॥

उनमें ध्यान और अध्ययनकी सिद्धिके लिए श्रेष्ठ मुनियोंके द्वारा कुछ स्थान तो प्रशंसनीय बतलाये जाते हैं और कुछ स्थान सदोष बतलाये जाते हैं ॥२१॥

स्थानके दोषसे प्राणियोंका मन शीघ्र ही विकारको प्राप्त होता है, तथा वही मन रमणीय स्थानको पाकर स्वस्थताको धारण करता है—राग-द्वेषसे रहित होकर आत्मस्वभावमें अवस्थित होता है ॥२२॥

जो स्थान म्लेच्छ और निकृष्ट जनोंसे सेवित है, दुष्ट राजासे शासित है, पाखण्डियों (धूर्तों) के समूहसे व्याप्त है, महामिथ्यात्वसे नष्ट किया गया है, जहाँपर कौलिकों—तान्त्रिकमतानुयायियों या शक्तिके उपासकों—का तथा कापालिकों (वाममार्गियों) का

१. M जनैर्दुष्टं । २. All others except P °त्ववासितम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1290) कौलकापालिकावासं रुद्रक्षुद्रादिमन्दिरम् ।
उद्भ्रान्तभूतवेतालं[1] चण्डिकाभवनाजिरम् ॥२४

1291) पण्यस्त्रीकृतसंकेतं मन्दचारित्रमन्दिरम् ।
क्रूरकर्माभिचाराढ्यं कुशास्त्राभ्यासवञ्चितम्[2] ॥२५

1292) क्षेत्रजातिकुलोत्पन्नशक्तिस्वीकारदर्पितम्[3] ।
मिलितानेकदुःशीलकल्पिताचिन्त्यसाहसम्[4] ॥२६

1293) द्यूतकारसुरापानविटबन्दिव्रजान्वितम् ।
पापसत्त्वसमाक्रान्तं[5] नास्तिकासारसेवितम्[6] ॥२७

1294) क्रव्यादकामुकाकीर्णं व्याधविध्वस्तश्वापदम् ।
शिल्पिकारुकविक्षिप्तमग्निजीविजनाश्रितम्[7][8] ॥२८

कीदृशम् । दुष्टभूपालपालितं दुष्टराजरक्षितम् । पुनः कीदृशम् । पाखण्डिमण्डलाक्रान्तं सुगमम् । पुनः कीदृशं स्थानम् । महामिथ्यात्ववासितं सुगममिति श्लोकार्थः । पुनः कीदृशं स्थानम् । कौलिकापालिकावासं नास्तिककापालिकगृहम् । पुनः कीदृशम् । रुद्रं क्षुद्रादिमन्दिरं सुगमम् । पुनः कीदृशं स्थानम् । उद्भ्रान्तभूतवेतालं उद्भ्रान्ता भूतवेताला यत्र तत्तथा । पुनः कीदृशम् । चण्डिकाभवनाजिरं रुद्राणीगृहाङ्गणम् । इति सूत्रार्थः । पुनः कीदृशम् । पण्यस्त्रीकृतसंकेतं वाराङ्गनाकृतसंकेतस्थानम् । पुनः कीदृशम् । मन्दचारित्रमन्दिरं मन्दचारित्रगृहम् । पुनः कीदृशम् । क्रूरकर्माभिचाराढ्यं दुष्टाचारव्यभिचारयुक्तम् । पुनः कीदृशम् । कुशास्त्राभ्याससंयुतं सुगमम् । इति श्लोकार्थः । पुनः कीदृशम् । क्षेत्रजातिकुलोत्पन्नशक्तिस्वीकारदर्पितं क्षेत्रजातिकुलानाम् उत्पन्ना या शक्तिः सामर्थ्यं, तस्य स्वीकारः, तेन दर्पितं गर्वितम् । पुनः कीदृशम् । मिलितानेक-

निवास है, जो भयानक व क्रूर आदि जीवोंका घर है, जहाँ भूत और वेताल आदिकोंका संचार है, जो क्रुद्ध स्त्रियोंके भवनका आँगन जैसा है, वेश्याएँ जहाँपर संकेत किया करती हैं, जो चारित्रसे हीन प्राणियोंका घर बन रहा है, जो दुष्ट क्रियाओं एवं शत्रुके घातनार्थ किये जानेवाले मन्त्रादिके प्रयोगोंसे व्याप्त है, जो दूषित शास्त्रोंके अभ्याससे प्रतारित है; जो क्षेत्र, जाति व कुलके निमित्तसे उत्पन्न हुई शक्तिकी स्वीकारतारूप अभिमानसे व्याप्त है, अर्थात् जहाँपर क्षेत्र, जाति एवं कुल आदिका निरर्थक अभिमान करनेवाले व्यक्ति रहते हैं; जहाँपर अनेक दुष्ट स्वभाववाले प्राणी मिलकर अचिन्त्य पराक्रमकी कल्पना किया करते हैं; जो जुआरियों, मद्यपायियों, व्यभिचारियों एवं दासियोंके समूहसे संयुक्त है, जो शत्रु जीवोंसे व्याप्त है, जो नास्तिक व निःसार जीवोंसे सेवित है, जो मांसभक्षी व कामीजनोंसे व्याप्त है,

१. M N ल for लं । २. L K °भ्याससंयुतम् । ३. K शक्तिस्त्रीकाङ्गदं । ४. ….°तानेकसाहसं । ५. M S पापसत्त्व, T पापासत्त्व R पापिसत्त्व । ६. M नास्तिकाचार । ७. K 'कारं च वि' । ८. M N Y जनाचितं, K जनान्वितम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1295) [1]सेनासंचारसंरुद्धं भण्डभार्गवगर्वितम् ।
गीतवादित्रघोषाढ्यं नटन्नारीविडम्बितम् ॥२९

1296) क्षुद्रजन्तुपशुक्लीबपतितास्पृश्यसेवितम् ।
आत्रेयीखण्डितव्यङ्ग[2]संश्रितं[3] च परित्यजेत् ॥३०

1297) विडम्बन्ति[4] जनाः पापाः संचरन्त्यभिसारिकाः[5] ।
क्षोभयन्तीङ्गिताकारैर्यत्र नार्यो ऽपशङ्किताः[6] ॥३१

1298) किं च क्षोभाय मोहाय यद् विकाराय जायते ।
स्थानं तदपि मोक्तव्यं ध्यानविध्वंसशङ्कितैः ॥३२

दुःशीलकल्पितानेकसाहसम् । मिलिता अनेके दुःशीला दुराचाराः तैः कल्पितानि अनेकानि साहसानि यत्र तत्तथा । इति सूत्रार्थः । पुनः कीदृशम् । द्यूतकारसुरापानविटबन्दिव्रजान्वितम्, सुगमम् । पुनः कीदृशम् । पापसत्त्वसमाक्रान्तम्, सुगमम् । पुनः नास्तिकासारसेवितं नास्तिकसमूहसेवितम् । इति सूत्रार्थः । पुनः कीदृशम् । क्रव्यादकामुकाकीर्णं राक्षसकामुकव्याप्तम् । पुनः कीदृशम् । व्याधविध्वस्तश्वापदं भिल्लविनाशिततिर्यञ्चम् । पुनः कीदृशम् । शिल्पिकारुकविक्षिप्तं कारुकजनव्याप्तम् । पुनः कीदृशम् । अग्निजीविजनान्वितं* लोहकारादिजनयुक्तम् । इति सूत्रार्थः । पुनः कीदृशम् । प्रत्यनीकाः* तैरासमन्तात् अवलम्बितं समाश्रितम् । पुनः कीदृशं स्थानम् । आत्रेयीखण्डिताव्यङ्गसंश्रितं पुष्पवती स्त्री, खण्डिता पतिरहिता प्रोषितभर्तृका वा, व्यङ्गा नासादिशरीरावयवविकला ताभिः संश्रितं व्याप्तं परित्यजेत् । इति सूत्रार्थः । यत्र स्थाने पापा जनाः विद्रवन्ति* उपद्रवन्ति, यत्राभिचारिकाः* दूताः संचरन्ति, यत्र नार्यः इङ्गिताकारैर्भ्रूक्षेपादिभिः क्षोभयन्ति पुरुषमिति गम्यम् ।

जहाँपर व्याध हिंसक पशुओंका घात किया करते हैं, जो शिल्पी और कारीगरोंसे दूर किया गया है—छोड़ा गया है, जो अग्निसे आजीविका करनेवाले जनों (लोहार आदि) से व्याप्त है, जो सेनाके संचारसे रोका गया है, जो भाँड़ व भार्गवोंसे गर्वको प्राप्त है, जो गीत, वादित्र और घोषासे व्याप्त है, जो अभिनय करनेवाली स्त्रियोंसे विडम्बनाको प्राप्त है; जो क्षुद्र कीड़े, पशु, नपुंसक, पतित व अस्पृश्य जनोंसे सेवित है; तथा जो रजस्वला स्त्रियों, छिन्नांगों एवं हीनांग जनोंसे आश्रित है; ऐसे स्थानका ध्यानके लिए परित्याग करना चाहिए ॥२३-३०॥

जहाँपर पापी जन दुख देते हों, दुराचारिणी स्त्रियोंका आवागमन हो, तथा स्त्रियाँ निर्भय होकर दूषित शरीरकी चेष्टाओंसे क्षोभको उत्पन्न करती हों, इसके अतिरिक्त जो

१. All others except P N read: प्रतिपक्षशिरः शूल (ले) प्रत्यनीकावलम्बितम् । आत्रेयी····त्यजेत् ॥२९॥, N प्रतिपक्ष....लम्बितम् । आस्तिसंचार····गर्वितम् । गीतवाद्यत्रयेष्वाढ्यं····विडम्बितं ॥ २९ ॥, All others except PN om. this verse and first line of the next verse. । २. K खण्डिताव्यङ्गासंश्रितं । ३. All others except PMX संसृतं । ४. All others except P विद्रवन्ति । ५. MK °भिचारिकाः । ६. MNT नार्यो ऽप्यशङ्किताः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1299) तृणकण्टकवल्मीकविषमोपलकर्दमैः ।
भस्मोच्छिष्टास्थिरक्ताद्यैर्दूषितां संत्यजेद् भुवम्[1] ॥३३

1300) काककौशिकमार्जारखरगोमायुमण्डलैः ।
अवघुष्टं[2] हि विघ्नाय ध्यातुकामस्य योगिनः ॥३४

1301) ध्यानध्वंसनिमित्तानि तथान्यान्यपि भूतले ।
न हि स्वप्ने ऽपि सेव्यानि स्थानानि मुनिसत्तमैः ॥३५

कीदृश्यो नार्यः । अशङ्किता अपि" । इति सूत्रार्थः ॥२३-३२॥ अथ पुनरेतादृशं स्थानं त्याज्यम् । तदेवाह ।

1299) **तृणकण्टक**—एतादृशं स्थानं भुवं पृथ्वीं त्यजेत् । तृणकण्टकवल्मीकं कक्षकण्टकसर्पस्थानम् । पुनः कीदृशीं भुवम् । विषमोपलकर्दमैर्दूषितां वक्रप्रस्तरपङ्कैर्दोषवतीम् । भस्मोच्छिष्टास्थिरक्ताद्यैः रक्षोच्छिष्टास्थिरुधिराद्यैर्दोषवतीम् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ पुनस्तदेवाह ।

1300) **काककौशिक**—योगिनो ध्यातुकामस्य विघ्नाय विघ्नकरणाय हि नियतम् अवघुष्टं परिघोषितम् । कैः । काककौशिकमार्जारखरगोमायुमण्डलैः । काकः प्रसिद्धः, कौशिकः उलूकः, मार्जारः प्रसिद्धः, खरा गर्दभाः, गोमायुः गोधा, मण्डलः श्वा, तेषां समाहारः, तैः । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ पुनः स्थाननिषेधमाह ।

1301) **ध्यानध्वंस**—मुनिसत्तमैः एतादृशानि स्थानानि न हि स्वप्ने ऽपि सेव्यानि । कीदृशानि । ध्यानध्वंसनिमित्तानि ध्याननाशकारणानि । तथा भूतले अन्यान्यपि ध्याननाशकारीणि । इति सूत्रार्थः ॥३५॥

स्थान क्षोभ, मोह और विकारका कारण हो उसको भी ध्यानके विनाशकी आशंकासे छोड़ देना चाहिए ॥३१-३२॥

ध्यानके लिए तृण (घास), काँटे, सर्पकी बाँवी, विषम पत्थर, कीचड़, भस्म, जूँठन, हड्डी और रुधिर आदिसे दूषित भूमिका परित्याग करना चाहिए—ऐसी भूमि ध्यानके योग्य नहीं है ॥३३॥

कौवा, उल्लू, बिलाव, गधा, शृगाल और कुत्ता; इनसे अधिकृत स्थान ध्यानकी अभिलाषा करनेवाले योगीके लिए विघ्नका कारण होता है ॥३४॥

इसी प्रकार इस पृथिवीपृष्ठपर अन्य भी जो स्थान ध्यानके नाशक हैं, श्रेष्ठ मुनिजनोंको उनका सेवन—ध्यानके लिए उपयोग—स्वप्नमें भी नहीं करना चाहिए ॥३५॥

१. L भृशम् for भुवं । २. M N अवधृष्टं, X Y अवश्यतो हि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-विरचिते विरुद्धसंस्थान[1]प्रकरणम् ॥२५ ॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा-तत्पुत्रसाहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकरसाहऋषिदासस्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन कारापितं विरुद्धस्थानप्रकरणं समाप्तम् ॥२५॥

विदितसकलधर्मः पार्श्वसाहः सुशर्मः परममहिमहर्म्यः टोडरो नष्टकर्मः । तदनुसुतविलासो जयति श्रीरेषिदासः सुमतिसुकरवासो ऽपास्तवैरुद्धवासः ॥ इत्याशीर्वादः । अथ ध्यानसिद्धियोग्य-स्थानमाह ।

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें विरुद्धसंस्थान प्रकरण समाप्त हुआ ॥२५॥

१. M विरुद्धस्थान ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[प्राणायामः]

1302) सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते ।
कल्याणकलिते[1] पुण्ये ध्यानसिद्धिः[2] प्रजायते ॥१

1303) सागरान्ते वनान्ते वा शैलशृङ्गान्तरे ऽथवा ।
पुलिने पद्मखण्डान्ते[3] प्राग्भारे[4] शालसंकटे ॥२

1304) सरितां संगमे द्वीपे प्रशान्ते[5] तरुकोटरे ।
जीर्णोद्याने श्मशाने वा गुहागर्भे विजन्तुके ॥३

1302) **सिद्धक्षेत्रे**—कल्याणकलिते जन्मदीक्षादिकल्याणस्थाने। शेषं सुगमम् ॥१॥ अथ पुनरपि स्थानयोग्यतामाह ।

1303) **सागरान्ते**—पुलिने नद्यादिकूले, पद्मखण्डान्ते पद्मोद्याने, प्राग्भारे, अतिशालसंकटे वृक्षसंकीर्णे। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥२॥ [पुनस्तदेवाह ।]

1304) **सरितां**—सरितां नदीनां संगमे मेलापके। द्वीपे समुद्रान्तर्नगराकारे। तरुकोटरे वृक्षसुषिरस्थाने। कीदृशे प्रसन्ने।* पुनः कुत्र। जीर्णोद्याने। वा अथवा। श्मशाने, गुहागर्भे दरी-मध्ये। विजन्तुके जन्तुरहितस्थाने। इति सूत्रार्थः ॥३॥ पुनर्ध्यानार्हस्थानमाह।

ध्यानके योग्य स्थान—ध्यानकी सिद्धि सिद्धक्षेत्रमें, ऋषि-महर्षि आदि किन्हीं पुरातन पुरुषोंसे अधिष्ठित अन्य उत्तम तीर्थमें और तीर्थंकरके गर्भ-जन्मादि कल्याणकोंसे सम्बद्ध पवित्र क्षेत्रमें होती है। अभिप्राय यह है कि ध्याता योगीको ध्यानके लिए किसी ऐसे पवित्र स्थानको देखना चाहिए जहाँसे कोई भव्य जीव मुक्तिको प्राप्त हुआ हो, जहाँ कुछ कालके लिए किसी महापुरुषका निवास रहा हो, अथवा जहाँपर किसी तीर्थंकरका कोई कल्याणक सम्पन्न हुआ हो।.१॥

संयमका साधक योगी संसारपरिभ्रमणके दुखको शान्त (नष्ट) करनेके लिए समुद्रके समीपमें, वनके अन्तमें, पर्वतशिखरोंके मध्यमें, नदी आदिके तटपर, पद्मसमूहके अन्तमें, पर्वतके शिखरपर या गुफामें, वृक्षोंसे संकीर्ण स्थानमें, नदियोंके संयोगस्थानमें, द्वीप (ज़लसे

१. M L Y कल्पिते। २. P सिद्धिप्रदायके। ३. Y पद्मषण्डे वा। ४. All others except P M N K प्राकारे। ५. All others except P R प्रसन्ने, R प्रशस्ते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1305) सिद्धकूटे जिनागारे कृत्रिमे ऽकृत्रिमे ऽपि वा ।
महर्द्धिकमहावीर[1]योगिसंसिद्ध[2]वाञ्छिते ॥४

1306) मनःप्रीतिप्रदे शस्ते शङ्काकोलाहलच्युते ।
सर्वर्तुसुखदे रम्ये सर्वोपद्रववर्जिते ॥५

1307) [3]शून्यवेश्मन्यथ ग्रामे भूगर्भे कदलीगृहे ।
पुरोपवनवेद्यन्ते मण्डपे चैत्यपादपे ॥६

1308) वर्षातपतुषारादिपवनासारवर्जिते ।
स्थाने जागर्त्यविश्रान्तं यमी जन्मार्तिशान्तये ॥७

1305) **सिद्धकूटे**— सिद्धकूटे, कृत्रिमे केनापि कृते, अकृत्रिमे शाश्वते एतादृशे जिनागारे चैत्ये । पुनः कीदृशे । महर्द्धिकमहावीरयोगिसंसिद्धिवाञ्छिते" महर्द्धिका महावीरा ये योगिनः तेषां सिद्धिः, तया वाञ्छिते । इति सूत्रार्थः ॥४॥ पुनर्ध्यानियोग्यस्थानमाह ।

1306) **मनःप्रीति**—एतादृशे स्थाने ध्यानं कुर्यात् । कीदृशे । मनःप्रीतिप्रदे । पुनः कीदृशे । शस्ते मनोज्ञे । पुनः कीदृशे । शङ्काकोलाहलच्युते शङ्काबहुर्वजिते । पुनः कीदृशे । सर्वर्तुसुखदे सर्वेषां ऋतूनां सुखदे । रम्ये मनोहरे । पुनः कीदृशे । सर्वोपद्रववर्जिते । इति सूत्रार्थः ॥५॥ पुनस्तदेवाह ।

1307) **शून्यवेश्मनि**—शून्यवेश्मनि शून्यगृहे । अथवा ग्रामे बहिर्ग्रामे । भूगर्भे भूमिगृहे । कदलीगृहे प्रसिद्धम् । पुरोपवनवेद्यन्ते पुरसमीपतरवनवेदिकानने । मण्डपे, चैत्यपादपे पदद्वयं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६॥ पुनर्ध्यानियोग्यस्थानमाह ।

1308) **वर्षातप**—यमी व्रती जन्मार्तिशान्तये अविश्रान्तं निरन्तरं जागर्ति । कुत्र स्थाने । वर्षातपतुषारादिपवनासारवर्जिते वर्षा आतपश्च तुषाराश्च तदादि च पवनो वायुः आसारो वेगवद्वर्षः तैर्वर्जित इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ ध्यानकालयोग्यस्थानमाह ।

घिरा हुआ स्थान) में, अतिशय शान्त वृक्षके कोटर (पोला भाग) में, पुराने बगीचेमें, श्मशानमें, जीवोंसे रहित गुफाके भीतर, सिद्धकूटपर, कृत्रिम व अकृत्रिम जिनालयमें, जहाँ-पर किसी महाऋद्धिके धारक व अतिशय पराक्रमी योगीका अभीष्ट सिद्ध हुआ है; जो स्थान मनकी प्रसन्नताको देनेवाला, प्रशस्त, भय व कोलाहलसे रहित, सब ही ऋतुओंमें सुखदायक, रमणीय व सब प्रकारके उपद्रवसे रहित हो वहाँपर; सूने घर, गाँव, भूगर्भ (पृथिवीका भीतरी भाग), व केलाके स्तम्भोंसे निर्मित गृहमें; नगर व उपवनकी वेदिकाके समीपमें, लतागृहमें, चैत्य वृक्षके नीचे; तथा वर्षा, घाम व शीत आदि वायुके संचार एवं मूसलाधार वृष्टिसे रहित स्थानमें निरन्तर जागता है—सदा ही विघ्न-बाधाओंसे रहित ध्यानको करता है। तात्पर्य यह कि उपर्युक्त स्थान योगीके लिए ध्यानके योग्य हैं ॥२–७॥

१. All others except P M N T धीर । २. X Y सिद्धि । ३. T om. this verse.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1309) यत्र रागादयो दोषा अजस्रं यान्ति लाघवम् ।
तत्रैव वसतिः साध्वी ध्यानकाले विशेषतः ॥८

1310) दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले ।
समाधिसिद्धये धीरो[1] विदध्यात् सुस्थिरासनम् ॥९

1311) पर्यङ्कमर्धपर्यङ्कं वज्रं वीरासनं तथा ।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च संमतः ॥१०

1312) येन येन सुखासीना[2] विदध्युर्निश्चलं मनः ।
तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम् ॥११

1309) **यत्र रागादयः**—यत्र स्थाने रागादयो दोषा अजस्रं निरन्तरं लाघवं यान्ति । तत्रैव स्थाने वसतिः साध्वी प्रधाना । ध्यानकाले विशेषतः । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथोपवेशस्थानमाह ।

1310) **दारुपट्टे**—दारुपट्टे काष्ठपट्टे । शिलापट्टे प्रसिद्धम् । भूमौ वा सिकतास्थले धूलिस्थाने । शेषं सुगमम् ॥९॥ अथ पुनरपि शासनमाह ।

1311) **पर्यङ्कम्**—पर्यङ्कं पर्यङ्कासनम् । अर्धपर्यङ्कम् अर्धपर्यङ्कासनम् । वज्रासनं, वीरासनम् । मुखारविन्दपूर्वे च मुखारविन्दाकारपूर्वे । कायोत्सर्गश्च संमतः कथितः । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ पुनरपि आसनविशेषमाह ।

1312) **येन येन**—येन येनासनेन सुखासीना निश्चलं मनो विदधुः । मुनिभिः तत्तदेवासनं बन्धुरं विधेयं स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥११॥ पुनरासनविशेषमाह ।

जहाँपर रागादिक दोष निरन्तर हानिको प्राप्त होते हैं, ध्यानके समयमें वहींपर अवस्थित रहना विशेष रूपसे उत्तम है ॥८॥

धीर योगीको ध्यानकी सिद्धिके लिए लकड़ीके पटियेपर, शिलापट्टपर, पृथिवीके ऊपर अथवा बालुमय स्थलके ऊपर अतिशय दृढ़ आसन ग्रहण करना चाहिए ।९॥

पर्यंक आसन, अर्ध पर्यंक आसन, वज्रासन, वीरासन, सुखपूर्व आसन (सुखासन) और अरविन्दपूर्व आसन (पद्मासन); ये आसन ध्यानके लिए अभीष्ट माने गये हैं ॥१०॥

जिस-जिस आसनसे सुखपूर्वक स्थित होकर मनको स्थिर किया जा सकता है, मुनिजनोंके लिए उस उस रमणीय आसनको ग्रहण करना चाहिए ॥११॥

---

१. M N वीरो । २. T सुखासीनं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1313) कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कः प्रशस्तः कैश्चिदीरितः[1] ।
देहिनां वीर्यवैकल्यात् कालदोषेण संप्रति ॥१२
1314) वज्रकाया महासत्त्वा निष्कम्पाः सुस्थिरासनाः ।
सर्वावस्थास्वलं ध्यात्वा गताः प्राग्योगिनः शिवम् ॥१३
1315) उपसर्गैरपि स्फीतैर्देवदैत्यारिकल्पितैः[2] ।
स्वरूपालम्बितं तेषां[3] न चेतश्चाल्यते क्वचित् ॥१४
1316) श्रूयन्ते संवृतस्वान्ताः स्वतत्त्वकृतनिश्चयाः ।
विषह्योग्रोपसर्गाग्निं ध्यानसिद्धिं समाश्रिताः ॥१५

1313) **कायोत्सर्गश्च**—देहिनां जीवानां कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कश्च कैश्चिदाचार्यैः ईरितः कथितः। कस्मात्। वीर्यवैकल्याद् बलराहित्यात्। संप्रति इदानीम्। केन। कालदोषेण। इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथासनप्रयोजनमाह।

1314) **वज्रकायाः**—अङ्गिनः प्राणिनः प्रायो बाहुल्येन शिवं गताः प्राप्ताः। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥१३॥ तथा सति मनश्चञ्चलत्वमाह।

1315) **उपसर्गैः**—तेषां चेतः क्वचित् न चाल्यते। कीदृशं चेतः। स्वरूपालम्बितं स्वात्मस्वरूपावलम्बितम्। कैः। उपसर्गैरपि स्फीतैः। देवदैत्याधिकल्पितैः* देवदैत्यैरधिकं कृतैः। इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ परीषहैरध्यासितैः शिवफलमाह।

1316) **श्रूयन्ते**—श्रूयन्ते लोके शास्त्रे। स्वीकृतस्वान्ताः वशीकृतमनसः ध्यानसिद्धि समाश्रिताः आश्रिताः। कीदृशाः। तत्त्वकृतनिश्चयाः। उपसर्गाग्निं विषह्य सहित्वा। इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ पुनरेतदाह।

इस समय कालके दोषसे शक्तिकी हीनता होनेसे किन्हीं आचार्योंने ध्यानके इच्छुक प्राणियोंके लिए कायोत्सर्ग और पर्यंक ये दो आसन ही प्रशस्त बतलाये हैं ॥१२॥

जो पूर्वसमयके योगी वज्र जैसे दृढ़ शरीरवाले—वज्रर्षभनाराचशरीरसंहननके धारक, अतिशय बलशाली, निश्चल और स्थिर आसनवाले थे वे सब ही अवस्थाओंमें परिपूर्ण ध्यान करके मुक्तिको प्राप्त हुए हैं ॥१३॥

उन योगियोंका आत्मस्वरूपके आश्रित हुआ मन देव, दैत्य और शत्रुओंके द्वारा किये गये वृद्धिंगत (घोर) उपसर्गोंके द्वारा भी कहींपर विचलित नहीं हुआ ॥१४॥

जिन योगियोंने मनको मिथ्यादर्शनादिरूप आस्रवोंसे रहित कर लिया था तथा जिन्हें आत्मस्वरूपका निश्चय हो चुका था वे भयानक उपसर्गरूप अग्निको सहकर ध्यानकी सिद्धिके आश्रित हुए सुने जाते हैं—उनका ध्यान सफल हुआ था ॥१५॥

---

१. All others except P M N S T प्रशस्तं ... °दीरितं । २. N F दैत्यादि । ३. All others except P M येषां ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1317) केचिज्ज्वालावलीढा हरिशरभगजव्यालविध्वस्तदेहाः
केचित्क्रूरारिदैत्यैरदयमभिहताः शूलचक्रासिदण्डैः ।
भूकम्पोत्पातवातप्रलयपविघनव्रातरुद्धास्तथान्ये
कृत्वा स्थैर्यं समाधौ सपदि शिवपदं निष्प्रपञ्चं प्रपन्नाः ॥१६

1318) तद्वीर्यं यमिनां मन्ये न संप्रति पुरातनम् ।
अतः स्वप्ने ऽपि तामास्थां प्राचीनां कर्तुमक्षमाः ॥१७

1319) निःशेषविषयोत्तीर्णो निर्विण्णो जन्मसंक्रमात् ।
आत्माधीनमनाः शश्वत्सर्वदा ध्यातुमर्हति ॥१८

1317) **केचित्**—केचिन्मनुष्याः ज्वालावलीढा ज्वालाव्याप्ताः । हरिशरभगजव्यालविध्वस्तदेहाः सिंहाष्टापदकरिसर्पैर्विध्वस्तदेहाः । केचित् क्रूरारिदैत्यैरदयं निर्दयमपि* चक्रशूलासिदण्डैर्हताः । तथान्ये भूकम्पोत्पातवातप्रबलपरिघनव्रातरुद्धाः* । भूकम्पश्चोत्पातश्च एतादृशो वातः, प्रकर्षेण चलतीति स चासौ परिघनो मेघः तेषां व्रातः समूहः, तेन रुद्धाः । अन्ये निःप्रपञ्चं शिवपदं मोक्षं मोक्षहेतुं वा प्रपन्नाः । किं कृत्वा । समाधौ स्थैर्यं कृत्वा । सपदि शीघ्रम् । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ यमिनां वीर्यमाह ।

1318) **तद्वीर्यम्**—अहं मन्ये । संप्रति यमिनां व्रतिनां न पुरातनं तद्वीर्यम् ।* अन्तःस्वप्ने ऽपि तास् आस्थां प्राचीनां कर्तुम् अक्षमा असमर्थाः । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ ध्यानार्हपुरुषमाह ।

1319) **निःशेष**—शश्वन्निरन्तरं सर्वदा ध्यातुमर्हति ध्यानयोग्यो भवति । निःशेषविषयोत्तीर्णे सर्वविषयोत्तरिते । स निर्विघ्नः* विघ्नरहितः । जन्मसंक्रमात् आत्माधीनमनाः । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ ध्यानसिद्धिफलमाह ।

पूर्व कालमें कितने ही योगी अग्निकी ज्वालाओंसे चाटे जाकर—उनके मध्यमें पड़कर; कितने ही सिंह, अष्टापद, हाथी और सर्पके द्वारा शरीरसे रहित होकर—मारे जाकर; कितने ही दुष्ट शत्रु और दैत्योंके द्वारा शूल, चक्र, तलवार और दण्डसे निर्दयतापूर्वक ताड़ित होकर; तथा दूसरे कितने ही भूकम्प, वायु एवं प्रलयकालीन वज्र व मेघोंके समूहसे रोके जाकर ध्यानमें स्थिरताको प्राप्त करते हुए शीघ्र ही प्रतारणासे रहित मोक्षपदको प्राप्त हुए हैं ॥१६॥

संयमी जनोंका वह प्राचीन तेज इस समय नहीं रहा है, ऐसा मैं मानता हूँ। इसलिए वर्तमान योगी उस प्राचीन श्रद्धा (दृढ़ता) को स्वप्नमें भी प्राप्त करनेके लिए समर्थ नहीं हैं॥१७॥

जो समस्त विषयोंके पार पहुँच चुका है—उनकी इच्छासे रहित हो चुका है, संसार परिभ्रमणसे विरक्त हो चुका है, तथा जिसका मन सर्वदाके लिए अपने अधीन हो चुका है वह निरन्तर ध्यान करनेके लिए योग्य होता है ॥१८॥

१. S R क्रूरादि । २. S K X Y R °मतिहता° । ३. All others except P चक्रशूला° । ४. X खण्डैः । ५. All others except P प्रबलपवि । ६. X धैर्यं । ७. All others except P L F K तद्धैर्यं । ८. N S T X Y अथ, F K अन्तः । ९. All others except P M N T नामास्थां । १०. K निर्विघ्नो ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1320) अविक्षिप्तं यदा चेतः स्वतत्त्वाभिमुखं भवेत् ।
मुनेस्तदेवं निर्विघ्ना ध्यानसिद्धिरुदाहृता ॥१९

1321) स्थानासनविधानानि ध्यानसिद्धेर्निबन्धनम् ।
नैकं मुक्त्वा मुनेः साक्षाद्विक्षेपरहितं मनः ॥२०

1322) संविग्नः संवृतो धीरः स्थिरात्मा निर्मलाशयः ।
सर्वावस्थासु सर्वत्र सदैवं ध्यातुमर्हति ॥२१

1323) विजने जनसंकीर्णे सुस्थिते दुःस्थिते ऽपि वा ।
यदि धत्ते स्थिरं चित्तं न तदास्ति निषेधनम् ॥२२

1320) **अविक्षिप्तं**—यदा चेतः स्वतत्त्वाभिमुखं भवेत् अवक्षिप्तम्* । मुनेर्ज्ञाततत्त्वस्य ध्यानसिद्धिरुदाहृता कथिता । तदैव* निर्विघ्नो भवेदिति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ पुनर्ध्यानस्वरूपमाह ।

1321) **स्थानासन**—ध्यानसिद्धेः स्थानासनविधानानि पूर्वोक्तस्वरूपाणि निबन्धनं कारणम् । मुनेः साक्षाद्विक्षेपरहितम् एकं न मनो मुक्त्वा । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ ध्यानार्हंपुरुषमाह ।

1322) **संविग्नः**—स सर्वत्र सदैव ध्यातुमर्हति ध्यानयोग्यः [भवति] । कीदृशः । संविग्नः संवेगसहितः । संवृतः संवृतेन्द्रियः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1323) **विजने**—यदि स्थिरं चित्तं धत्ते तदा निषेधनं नास्ति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ ध्यानकालासनमाह ।

मुनिका मन भ्रान्तिसे रहित होकर जब आत्मस्वरूपके सम्मुख होता है तभी उसके ध्यानकी सिद्धि निर्बाध कही गयी है ॥१९॥

स्थान, आसन और विधि ये ध्यानके कारण हैं, इनमेंसे किसी एक कारणको भी छोड़कर मुनिका मन भ्रान्ति और क्षोभसे रहित नहीं हो सकता है ॥२०॥

संसारसे भयभीत, धैर्यशाली, मिथ्यात्वादि आस्रवोंसे रहित, दृढ़ और निर्मल परिणामवाला साधु सदा, सर्वत्र और सब ही अवस्थाओंमें ध्यानके योग्य (समर्थ) होता है ॥२१॥

यदि चित्त स्थिरताको प्राप्त कर चुका है तो चाहे एकान्त स्थान हो और चाहे वह जनोंसे व्याप्त भी हो, इसी प्रकार चाहे सुखकी अवस्थामें हो और चाहे विपत्तिसे ग्रस्त हो; किन्तु योगीके ध्यानका निषेध नहीं है—चित्तके स्थिर हो जानेपर वह सर्वत्र और सब ही अवस्थाओंमें निर्विघ्नतासे ध्यान कर सकता है ॥२२॥

१. All others except P L F तदैव । २. S F K X Y R सर्वदा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1324) पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखो ऽथ[1] वा ।
प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते ॥२३॥ अथवा—[2]

1325) चरणज्ञानसंपन्ना जितक्षा वीतमत्सराः[3] ।
प्रागनेकास्ववस्थासु संप्राप्ता यमिनः शिवम् ॥२४

1326) मुख्योपचारभेदेन द्वौ मुनी स्वामिनौ मतौ ।
अप्रमत्तप्रमत्ताख्यौ धर्मस्यैतौ यथायथम् ॥२५

1327) अप्रमत्तः सुसंस्थानो वज्रकायो वशी स्थिरः ।
पूर्ववित्संवृतो धीरो ध्याता संपूर्णलक्षणः ॥२६

1324) **पूर्वाशाभिमुखः**—ध्यानकाले ध्याता प्रशस्यते । कीदृशः । पूर्वाशाभिमुखः पूर्वदिङ्-मुखः । वा अथवा । उत्तराभिमुखः । कीदृशः । प्रसन्नवदनः । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथवा ।

1325) **चरणज्ञान**—यमिनो यतयः शिवं संप्राप्ताः । कीदृशाः । चरणज्ञानसंपन्नाः । पुनः कीदृशाः । जिताक्षाः जितेन्द्रियाः । पुनः कीदृशाः । वीतविभ्रमाः* नष्टभ्रमाः । प्रागनेकासु अवस्थासु शिवं प्राप्ताः । इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथ ध्यानस्य स्वामिनावाह ।

1326) **मुख्योपचार**—धर्मस्यैतौ द्वौ मुनी यथायथं यथाप्रकारं स्वामिनौ मतौ । कौ द्वौ । अप्रमत्तः प्रमत्तश्च । केन । मुख्योपचारभेदेन मुख्यगौणभेदेन । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ ध्यातुर्लक्षणमाह ।

1327) **अप्रमत्तः**—सुसंस्थानः सुष्ठु शरीरावयवः । पूर्ववित् पूर्ववेत्ता । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ धर्मध्यानस्य श्रुतमाह ।

जो ध्याता प्रसन्नमुख होता हुआ ध्यानके समय पूर्व दिशाके अभिमुख अथवा उत्तर दिशाके अभिमुख होता है वह प्रशंसाका भाजन होता है । तात्पर्य यह कि ध्यानके समय पूर्व अथवा उत्तरकी ओर मुख करके स्थित होना उत्तम माना गया है ॥२३॥

अथवा—सम्यक्चारित्र व सम्यग्ज्ञानसे सम्पन्न, इन्द्रियोंके विजेता और मात्सर्य-भावसे रहित मुनिजन पूर्वकालमें अनेक अवस्थाओंमें मुक्तिको प्राप्त हुए हैं—वे पूर्वोत्तरदिशा-भेदादिके विना भी उत्कृष्ट ध्यानके आश्रयसे मुक्तिको प्राप्त हुए हैं ॥२४॥

यथायोग्य मुख्य व उपचारकी अपेक्षा अप्रमत्त और प्रमत्त नामके ये दो मुनि धर्म-ध्यानके स्वामी माने गये हैं ॥२५॥

जो अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि उत्तम संस्थान (समचतुरस्र आदि ३) से सहित, वज्रमय शरीरसे संयुक्त (वज्रवृषभ आदि तीन उत्तम संहननोंमें-से किसी एकसे संयुक्त), जितेन्द्रिय, दृढ़, पूर्वश्रुतका ज्ञाता, मिथ्यादर्शनादि आस्रवोंसे रहित और धैर्यशाली हो उसे ध्यानके सम्पूर्ण लक्षणोंसे युक्त ध्याता जानना चाहिए ॥२६॥

---

१. S F K X Y R अपि for अथ । २. P M अथवा । ३. M N L T वीतविभ्रमाः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1328) श्रुतेन[1] विकलेनापि स्वामी सूत्रे प्रकीर्तितः ।
अधःश्रेण्यां प्रबुद्धात्मा[2] धर्मध्यानस्य सुश्रुतः[3] ॥२७

1329) किं च कैश्चिच्च धर्मस्य[4] चत्वारः स्वामिनः स्मृताः ।
सद्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्ता[5] यथायोग्येन हेतुना ॥२८

1330) ध्यातारस्त्रिविधा ज्ञेयास्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा ।
लेश्याविशुद्धियोगेन फलसिद्धिरुदाहृता ॥२९

1331) अथासनजयं योगी करोतु विजितेन्द्रियः ।
मनागपि न खिद्यन्ते समाधौ सुस्थिरासनाः ॥३०

1328) **श्रुतेन**—विकलेन अहीनेनापि श्रुतेन स्वामी सूत्रप्रकीर्तितः कथितः । कीदृशः । अधः-श्रेण्यां प्रवृत्तात्मा* सुगमम् । धर्मध्यानस्य सुश्रुतः । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ किं च ।

1329) **किं च कैश्चिच्च**—कैश्चिदाचार्यैः* धर्मस्य चत्वारः स्वामिनः स्मृताः कथिताः । के ते चत्वारः । सम्यग्दृष्ट्यादि अप्रमत्तान्ताः । केन । यथायोग्येन हेतुना कारणेन । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ ध्यानस्य चिह्नानि दर्शयति ।

1330) **ध्यातारः**—ध्यातारस्त्रिविधा ज्ञेयाः । तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा । केन । लेश्या-विशुद्धियोगेन । सुगमम् । फलसिद्धिः ध्यानसिद्धिः उदाहृता कथिता । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथासन-स्वरूपमाह ।

1331) **अथासन**—अथेत्यानन्तर्ये । आसनजयं करोतु विजितेन्द्रियः । समाधौ न खिद्यन्ते । समाधौ सुस्थिरासनाः । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथासनशैथिल्ये मनःस्थैर्याभावमाह ।

जो नीचेकी श्रेणीमें वर्तमान होकर आत्मस्वरूपमें प्रबुद्ध (जागृत) है व समीचीन श्रुतका देशतः ज्ञाता है उसे पूर्ण श्रुतके बिना भी आगममें धर्मध्यानका स्वामी कहा है ॥२७॥

इसके अतिरिक्त कितने ही आचार्योंने यथायोग्य निमित्तसे—सम्यग्दृष्टिसे अप्रमत्त तक—असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत—इन चार गुणागुण स्थानवर्ती जीवोंको उस धर्मध्यानके स्वामी माना है ॥२८॥

जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारके ध्याता और उनके ध्यानको भी तीन प्रकारका जानना चाहिए । कारण यह कि उस ध्यानके फलकी सिद्धि लेश्या (आत्म-परिणामों) की विशुद्धिके अनुसार कही गयी है ॥२९॥

योगीको जितेन्द्रिय होकर आसनजय—दीर्घकाल तक किसी एक ही आसनसे स्थित रहनेकी दृढ़ताको—करना चाहिए, क्योंकि, अतिशय दृढ़ आसनवाले योगी समाधिके विषय-में थोड़ेसे भी खेदको नहीं प्राप्त होते हैं ॥३०॥

१. Y श्रुतेनाविकले° । २. All others except P M Y प्रवृत्तात्मा । ३. M N संश्रुतः । ४. N धर्म्यस्य । ५. K सम्यग्दृष्टद्या° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1332) आसनाभ्यासवैकल्याद्वपुःस्थैर्यं न विद्यते ।
खिद्यन्ते[1] त्वङ्गवैकल्यात् समाधिसमये ध्रुवम् ॥३१

1333) वातातपतुषाराद्यैर्जन्तुजातैरनेकशः ।
कृतासनजयो योगी खेदितो ऽपि न खिद्यते ॥३२

1334) आसाद्याभिमतं स्थानं रम्यं[2] चित्तप्रसत्तिदम् ।
उद्भिन्नपुलकः श्रीमान् पर्यङ्कमधितिष्ठति ॥३३

1335) पयङ्कदेशमध्यस्थे प्रोत्ताने करकुड्मले ।
करोत्युद्भिन्न[3]राजीवसंनिभे च्युतचापले ॥३४

1332) **आसनाभ्यास**—आसनाभ्यासवैकल्यात् आसनाभ्यासराहित्यात् वपुःस्थैर्यं न विद्यते । तु पुनः । अङ्गवैकल्यात् सुगमम् । समाधिसमये ध्रुवं खिद्यते* । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अस्य दृढासनस्योपसर्गैर्मनो न चाल्यत इत्याह ।

1333) **वातातप**—योगी कृतासनखेदितो ऽपि न खिद्यते । कैः । अनेकशो जन्तुजातैः । वातातपतुषाराद्यैः वातश्च आतपश्च तुषारश्च तेषां समाहारः, तैः । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ पर्यङ्कासनमाह ।

1334) **आसाद्याभिमतं**—श्रीमान् योगी पर्यङ्कं पर्यङ्कासनम् अधितिष्ठति उपविशति । किं कृत्वा । स्थानम् आसाद्य प्राप्य । कीदृशं स्थानम् । अभिमतं वाञ्छितम् । पुनः कीदृशम् । रम्यम् । चित्तप्रसत्तिदं मनसः विशदभावदम् । उद्भिन्नपुलकः प्रगटरोमाञ्चः इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ पर्यङ्कासनविशेषमाह ।

1335) **पर्यङ्क**—पर्यङ्कदेशमध्यस्थे करकुड्मले प्रोत्ताने करोति ऊर्ध्वीभूते करोति । पुनः कीदृशे करकुड्मले । उद्भिन्नराजीवसंनिभे विकसितकमलसदृशे । पुनः कीदृशे । च्युतचापले । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ पुनरेतदेवाह ।

आसनका अभ्यास न होनेसे—उसकी अस्थिरतासे—शरीरकी स्थिरता नहीं रहती है और शरीरकी अस्थिरतासे समाधिके समयमें नियमसे खेद होता है ॥३१॥

जिस योगीने आसनके ऊपर विजय प्राप्त कर ली है, अर्थात् जो बहुत काल तक दृढ़तापूर्वक एक आसनसे बैठ सकता है; वह वायु, घाम और शैत्य आदिके द्वारा तथा प्राणिसमूहोंके द्वारा खेदको प्राप्त करानेपर खिन्न नहीं होता है ॥३२॥

अभीष्ट, रमणीय एवं मनके प्रसन्न करनेवाले स्थानको पा करके हर्षसे रोमांचको प्राप्त हुआ श्रीमान् योगी पर्यंक आसनसे अधिष्ठित होता है ॥३३॥

इस आसनमें योगी चंचलतासे रहित (स्थिर) और खुले हुए दोनों हाथोंरूप कलिकाओंको पर्यंकभागके मध्यमें स्थित करके विकसित कमलके आकारमें करता है । अभिप्राय यह है कि दोनों जंघाओंके नीचेके भागको दोनों पाँवोंके ऊपर रखकर दोनों खुली हुई

१. All others except P N T खिद्यते । २. All others except P M रम्यं स्थानं । ३. S Y R °त्युत्फुल्लराजीव ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1336) नासाग्रदेशविन्यस्ते धत्ते नेत्रे सुनिश्चले ।
प्रसन्ने सौम्यतापन्ने निष्पन्दे मन्दतारके ॥३५

1337) भ्रूवल्लीविक्रियाहीनं सुश्लिष्टाधरपल्लवम् ।
सुप्तमत्स्यहृदप्रायं विदध्यान्मुखपङ्कजम् ॥३६

1338) अगाधकरुणाम्भोधौ मग्नः संविग्नमानसः ।
ऋज्वायतं वपुर्धत्ते प्रशस्तं पुस्तमूर्तिवत् ॥३७

1339) विवेकवार्धिकल्लोलैर्निर्मलीकृतमानसः ।
ज्ञानमन्त्रोद्धृताशेषरागादिविषमग्रहः ॥३८

1336) **नासाग्र**—नेत्रे सुनिश्चले धत्ते । कीदृशे । प्रसन्ने विकसिते । पुनः कीदृशे । नासाग्रदेशविन्यस्ते सुगमम् । सौम्यतापन्ने सौम्यतायुक्ते । पुनः कीदृशे । निष्पन्दे निमेषोन्मेषरहिते मन्दतारके । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1337) **भ्रूवल्ली**—मुखपङ्कजं वदनकमलम् । कीदृशम् । भ्रूवल्लिविक्रियादीप्तं[1] भ्रूलताविकारदीप्तम् । पुनः कीदृशं वदनपङ्कजम् । सुश्लिष्टाधरपल्लवं प्र-अस्फुट-अधरपल्लवम् । पुनः कीदृशम् । सुप्तमत्स्यहृदप्रायं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ पुनर्ध्यानस्वरूपमाह ।

1338) **अगाध**—संविग्नमानसः वैराग्योपेतचित्तः । ऋज्वायतं सरलविस्तीर्णं वपुः शरीरं धत्ते । अगाधकरुणाम्भोधौ अगाधदयासमुद्रे मग्नः । कीदृशम् । प्रशस्तं मनोहरं पुस्तमूर्तिवत् ऋज्वायतं धत्ते । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ पुनर्योगिस्वरूपमाह ।

1339) **विवेक**—विवेकवार्धिकल्लोलैर्विवेकसमुद्रतरङ्गैः निर्मलीकृतं मानसं चित्तं येन सः । पुनः कीदृशम् । ज्ञानमन्त्रोद्धृताशेषरागादिविषमग्रहः सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ पुनर्योगिस्वरूपमाह ।

हथेलियोंमें-से बाईं हथेलीको नाभिके पास नीचे और उसके ऊपर दाहिनी हथेलीके रखनेपर पर्यंक आसन होता है ॥३४॥

इस आसनमें योगी अतिशय स्थिर, प्रसन्न, शान्त, स्पन्दनसे रहित और पुतलियोंकी मन्दतायुक्त दोनों नेत्रोंको नासिकाके अग्रभागमें रखता है ॥३५॥

इसके साथ ही अपने मुखको वह सोते हुए मत्स्यसे संयुक्त तालाबके समान भृकुटिरूप बेलोंके विकार (कुटिलता) से रहित और अधरोष्ठरूप नवीन पत्तोंके सुन्दर संयोगसे सहित करता है ॥३६॥

उस समय दयारूप अथाह समुद्रके भीतर मग्न हुआ योगी मनमें संसारसे भयभीत होकर सीधे व लम्बे उत्तम शरीरको मिट्टी, लकड़ी अथवा वस्त्रसे निर्मित मूर्तिके समान स्थिर करता है ॥३७॥

उक्त स्वरूपवाले पर्यंक आसनसे ध्यानावस्थित हुए जिस योगीका मन विवेकरूप समुद्रकी लहरों द्वारा निर्मल कर दिया गया है, जिसके कुटिल समस्त रागादिरूप ग्रह

१. L S F X Y R नेत्रे ऽति° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1340) रत्नाकर इवागाधः सुराद्रिरिव निश्चलः ।
प्रशान्तविश्वविस्पन्दः[1] प्रनष्टसकलभ्रमः ॥३९

1341) किमयं लोष्टनिष्पन्नः किं वा पुस्तप्रकल्पितः ।
समीपस्थैरपि प्रायः प्राज्ञैर्ध्यानीति लक्ष्यते ॥४०॥ आसनंजयः[2] ॥

1342) मुनिर्णीत[3]स्वसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते ।
मुनिभिर्ध्यानसिद्ध्यर्थं स्थैर्यार्थं[4] चान्तरात्मनः ॥४१

1343) अतः[5] साक्षात् स विज्ञेयः पूर्वमेव मनीषिभिः[6] ।
मनागप्यन्यथा शक्यो न कर्तुं चित्तनिर्जयः[7] ॥४२

1340) **रत्नाकरः**—उपशमितविश्वविस्पन्दः उपशमितजगद्दाहः सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथ ध्यानलक्षणमाह ।

1341) **किमयं**—प्राज्ञैः पण्डितैः ध्यानी इति लक्ष्यते । समीपस्थैरपि । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथ प्राणायाममाह ।

1342) **सुनिर्णीत**—प्राणायामः प्रशस्यते मुनिभिः । अन्तरात्मनः शुद्ध्यर्थम् ।* शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथैतस्य विस्तरत्वमाह ।

1343) **अतः साक्षात्**—कर्तुं न शक्यः । इति सूत्रार्थः ॥४२॥ अथ ध्यानान्तरमाह ।

(शनि आदि) ज्ञान रूप मन्त्रके द्वारा नष्ट किये जा चुके हैं, जो समुद्रके समान गम्भीर व सुमेरु पर्वतके समान अडिग है, तथा जिसके समस्त संकल्प-विकल्प शान्ति व भ्रान्ति नष्ट हो चुकी है; उस ध्यानावस्थित योगीको देखकर समीपमें स्थित विद्वान् 'क्या यह पाषाणसे निर्मित है, अथवा क्या लेप्यकर्म (मिट्टी, लकड़ी या वस्त्र) से रचित है' ऐसा प्रायः विचार करते हैं ॥३८–४०॥ आसनजयका कथन समाप्त हुआ ।

जिस प्राणायामके स्वरूपका निर्णय अपने (जैन) आगमोंके द्वारा किया गया है उसकी मुनिजनों द्वारा ध्यानकी सिद्धि और अन्तःकरणकी स्थिरताके लिए प्रशंसा की जाती है ॥४१॥

इसलिए बुद्धिमान् मुनिजनोंको उसे पूर्वमें ही प्रकट स्वरूपसे जान लेना चाहिए। कारण यह कि उसके बिना मनके ऊपर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती है ॥४२॥

---

१. All others except P M विस्पन्दप्रणष्ट । २. S Y R end the chapter here; others add only आसनजयः । ३. L F K X Y अथ निर्णीतसि°, N S T R सुनिर्णीतसु° । ४. M N T X Y शुद्ध्यर्थं चा° । K मुख्यार्थश्चा° । ५. Y अथ । ६. N मनीषिणां, L T F Y मनीषिणा । ७. L T F निग्रहः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1344) त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः[1] पूर्वसूरिभिः ।
पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ॥४३

1345) [[2]रेचनादुदरव्याधेः कफस्य च परिक्षयः ।
पुष्टिः पूरकयोगेन व्याधिघातश्च जायते ॥४३*१

1346) [3]विकसत्याशु हृत्पद्मं ग्रन्थिरन्तर्विभिद्यते ।
बलस्थैर्यविवृद्धिश्च कुम्भकाद् भवति स्फुटम् ॥४३*२] तद्यथा[4]–

1347) द्वादशान्तात् समाकृष्य यः समीरः प्रपूर्यते ।
स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदैः ॥४४

1344) त्रिधा लक्षण—पूर्वसूरिभिराचार्यैस्त्रिधा लक्षणभेदेन स्मृतः* । पूरकः कुम्भकः रेचकः तदनन्तरम् । इति सूत्रार्थः ॥४३॥ [अथ पूरकादीनां फलान्याह ।

1345-1346) रेचनात्—रेचनात् उदरव्याधेः उदरस्थितरोगस्य । कफस्य च परिक्षयः नाशः भवति । तथा पूरकयोगेन पूरकप्राणायामसंबन्धेन पुष्टिः व्याधिघातः रोगनाशश्च जायते । तथा च । कुम्भकात् कुम्भकयोगेन हृत्पद्मं हृदयकमलम् । आशु झटिति । विकसति उन्मीलति । अपि च । अन्तः ग्रन्थिः विभिद्यते स्फुटति । बलस्थैर्यविवृद्धिश्च बलस्य स्थैर्यस्य च विवृद्धिः च स्फुटं भवति ॥४३*१-२॥] तद्यथा दर्शयति ।

1347) द्वादशान्तात्—द्वादशान्तात् यः समीरः समाकृष्य प्रपूर्यते स पूरक इति ज्ञेयः । कः । वायुः* । कैः । विज्ञानकोविदैः विज्ञानपण्डितैः । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ कुम्भकमाह ।

वह प्राणायाम पूर्व आचार्योंके द्वारा लक्षणकी विशेषतासे तीन प्रकारका माना गया है—पूरक, कुम्भक और रेचक ॥ विशेषार्थ—श्वास और प्रश्वासरूप वायुकी गतिके रोकनेका नाम प्राणायाम है। नासिकाके छेदोंद्वारा जो वायु बाहर निकलती है उसे श्वास और उक्त छेदोंके द्वारा जो वायु भीतर प्रविष्ट होती है उसे प्रश्वास कहा जाता है। प्राणायाममें इन दोनों प्रकारकी वायुओंकी गतिको रोका जाता है। वह प्राणायाम पूरक, कुम्भक और रेचकके भेदसे तीन प्रकारका है ॥४३॥

रेचक प्राणायामसे उदरकी व्याधि और कफ नष्ट हो जाता है। तथा पूरक करनेसे पुष्टता और बहुत-सी व्याधियोंका नाश हो जाता है ॥४३*१॥

कुम्भकसे हृदयमें स्थित कमल विकसित हो जाता है। अन्तरंगमें स्थित ग्रन्थि फूटती है। शक्ति और स्थिरता निश्चयसे बढ़ जाती है ॥४३*२॥

द्वादशान्त (ब्रह्मतालु-मस्तक) से वायुको खींचकर जो पूर्ण किया जाता है उसे वायुके विशेष ज्ञानमें निपुण जनोंको पूरक जानना चाहिए ॥४४॥

१. M N T स स्मृतः । २-३. Only in M N । ४. P M तद्यथा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1348) निरुणद्धि स्थिरीकृत्य श्वसनं नाभिपङ्कजे ।
कुम्भवन्निर्भरः सो ऽयं कुम्भकः परिकीर्तितः ॥४५

1349) निःसार्यते[1] ऽतियत्नेन यः[2] कोष्ठाच्छ्वसनः शनैः ।
स रेचक इति प्राज्ञैः प्रणीतः पवनागमे ॥४६

1350) नाभिकन्दाद्विनिष्क्रान्तं[3] हृत्पद्मोदरमध्यगम् ।
द्वादशान्ते तु[4] विश्रान्तं तं[5] ज्ञेयं परमेश्वरम् ॥४७

1351) तस्य[6] चारं गतिं बुद्ध्वा संस्थां चैवात्मनः सदा ।
चिन्तयेत् कालमायुश्च शुभाशुभफलोदयम् ॥४८

1348) **निरुणद्धि**—यः योगी श्वसनं स्थिरीकृत्य निरुणद्धि नाभिपङ्कजे । कुम्भवत् निर्भरः सो ऽयं अयं स कुम्भकः परिकीर्तितः । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ रेचकमाह ।

1349) **निःसार्यते**—प्राज्ञैः स इति रेचकः पवनागमे ध्यानशास्त्रे प्रणीतः । स इति कः । यः कोष्ठात् उदरात् शनैः शनैरिति यत्नेन श्वसनो वायुः निःसार्यते । इति सूत्रार्थः ॥४६॥ अथ परमेश्वरं शरीरान्तरे एव दर्शयति ।

1350) **नाभिकन्दात्**—तं परमेश्वरं द्वादशान्ते तु विश्रान्तं स्थितम् । कीदृशम् । नाभिकन्दाद्विनिष्क्रान्तं नाभिमूलाद्विनिर्गच्छन्तम् । पुनः कीदृशम् । हृत्पद्मोदरमध्यगं हृदये पद्ममध्यस्थितम् । इति सूत्रार्थः ॥४७॥ अथ वायोश्चारेणात्मशुभाशुभफलं चिन्तयति ।

1351) **तस्य चारं**—तस्याचारं विनिर्गमः तम् । तस्यैव गतिं बुद्ध्वा ज्ञात्वा । सदा निरन्तरम् आत्मनः संस्थामवस्थितिं चिन्तयेत् । च पुनः । आत्मनः कालं चकारात् आयुरपि चिन्तयेत् विचारयेत् । आत्मनः शुभाशुभफलोदयम् । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४८॥ अथ वायोरभ्यासेनात्मनश्चेष्टितं जानाति ।

उस श्वासवायुको स्थिर करके जो नाभिरूप कमलके भीतर घड़ेके आकारमें अतिदृढ़तापूर्वक रोका जाता है उसे कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है ॥४५॥

श्वासवायुको जो उदरके भीतरसे अतिशय प्रयत्नपूर्वक बाहर निकाला जाता है उसे वायुशास्त्रमें विद्वानोंने रेचक प्राणायाम कहा है ॥४६॥

जो श्वासवायु नाभिरूप कन्दसे निकलकर हृदयरूप कमलके मध्यमें प्राप्त होती हुई द्वादशान्त (ब्रह्मरन्ध्र)में विश्रान्त होती है उसे परमेश्वर जानना चाहिए ॥४७॥

उक्त वायुके चार, गति और संस्थाको जानकर निरन्तर शुभ-अशुभ फलकी उत्पत्ति युक्त अपने काल और आयुका विचार करना चाहिए । विशेषार्थ—नाभिसे वायुके निकालनेका नाम चार है । उस वायुको हृदयके मध्यमें ले जाना, इसे गति कहा जाता है । तथा इस वायुका ब्रह्मरन्ध्रमें अवस्थित रहना, इसका नाम संस्था है ॥४८॥

---

१. T निःकार्यते । २. All others except P M N T K यत्कोष्ठाच्छ्वसनः । ३. L S F R नाभिष्कन्धात् । ४. L S Y R सुविश्रान्तं, T F नु वि॰ । ५. L T Y R तज्ज्ञेयं । ६. K तस्याचारं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1352) अत्राभ्यासप्रयत्नेन प्रास्ततन्द्रः प्रतिक्षणम् ।
कुर्वन् योगी विजानाति यन्त्रनाथस्य चेष्टितम् ।।४९

1353) [[1]उक्तं च श्लोकद्वयम्—
समाकृष्य यदा प्राणधारणं स तु पूरकः ।
नाभिमध्ये स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुम्भकः ।।४९*१

1354) यत्कोष्ठादतियत्नेन नासाब्रह्मपुरातनैः ।
बहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः ।।४९*२]

1355) शनैः शनैर्मनो ऽजस्रं वितन्द्रः सह वायुना ।
प्रवेश्य हृदयाम्भोजकर्णिकायां नियन्त्रयेत् ।।५०

1352) **अत्राभ्यास**— योगी अत्राभ्यासं प्रयत्नेन कुर्वन् यन्त्रनाथस्य जीवस्य चेष्टितं विजानाति । कीदृशः योगी । प्रतिक्षणं प्रास्ततन्द्रः गतालस्यः । इति सूत्रार्थः ।।४९।। [अथ पूरकादीनां लक्षणमाह ।

1353–54) **समाकृष्य**—बहिःस्थं वायुं समाकृष्य यदा प्राणधारणं क्रियते स पूरकः । स एव वायुः नाभिमध्ये यदा स्थिरीक्रियते तदा स एवं कुम्भक इत्युच्यते । अपि च स एव यदा नासा नासिकया बहिः प्रक्षिप्यते तदा स रेचक इति स्मृतः कथितः ।।४९*१-२।।] अथ पुनस्तदेवाह ।

1355) **शनैः शनैः**—मनो ऽजस्रं निरन्तरं शनैर्वायुना । वितन्द्रः गतालस्यः । हृदयाम्भोजे हृदयकमले कर्णिकायां नियन्त्रयेत् ।।५०।। अथ चित्ते स्थिरीकृते मध्ये विज्ञानं स्फुरतीत्याह ।

जो योगी आलस्यको छोड़कर प्रतिसमय प्रयत्नपूर्वक इस वायुके विषयमें अभ्यास करता है वह शरीररूप यन्त्रके अधिष्ठाता (आत्मा)की प्रवृत्तिको जानता है ।।४९।। कहा भी है—

नासिकाके द्वारा बाहरसे वायुको खींचकर उसे जो गुदा पर्यन्त पूर्ण किया जाता है, इसका नाम पूरक प्राणायाम है । तथा उसे नाभिके मध्यमें स्थिर करके जो रोका जाता है उसे कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है ।।४९*१।।

वायुको उदरके भीतरसे निकालकर जो नासिका, ब्रह्मपूर (तालुरन्ध्र) और मुखके द्वारा विशेष प्रयत्नके साथ बाहर फेंका जाता है, इसे रेचक प्राणायाम माना गया है ।।४९*२।।

योगीको आलस्यसे रहित होकर निरन्तर वायुके साथ धीरे-धीरे मनको प्रविष्ट कराकर उसे हृदयरूप कमलकी कर्णिकाके ऊपर रोकना चाहिए ।।५०।।

१. Only in S R ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1356) [1]विकल्पा न प्रसूयन्ते विषयाशा निवर्तते[2] ।
अन्तः स्फुरति विज्ञानं तत्र चित्ते स्थिरीकृते ॥५१

1357) एवं भावयतः स्वान्तं[3] यान्त्यविद्याः क्षयं क्षणात् ।
[4]विमदी स्युस्तथाक्षाणि कषायरिपुभिः समम् ॥५२

1358) कुत्र श्वसनविश्रामः का नाड्यः संक्रमः कथम् ।
का मण्डलगतिः केयं प्रवृत्तिरिति बुध्यते ॥५३

1359) स्थिरीभवन्ति चेतांसि प्राणायामावलम्बिनाम् ।
जगद्वृत्तं च निःशेषं प्रत्यक्षमिव जायते ॥५४

1356) **विकल्पा न**—तत्र हृदयाम्भोजे चित्ते स्थिरीकृते सति अन्तर्मध्ये विज्ञानं स्फुरति । विकल्पाः संकल्पाः न प्रसूयन्ते उत्पद्यन्ते । विषयाशा निवर्तते । इति सूत्रार्थः ॥५१॥ अथैवं सति मिथ्याज्ञानं नश्यतीत्याह ।

1357) **एवं भावयतः**—एवं भावयतो विचारयतः अविद्या मिथ्याज्ञानं क्षणात् क्षयं याति । तदा अक्षाणि इन्द्रियाणि विमदीस्युः मदरहितानि स्युः । कषायरिपुभिः समं सहेति सूत्रार्थः ॥५२॥ अथ तस्यैव विशेषमाह ।

1358) **कुत्र श्वसन**—[श्वसनविश्रामः प्राणस्थितिः कुत्र । नाड्यः शरीरस्थिताः काः । संक्रमः संचारः कथम् भवति । इत्यादि बुध्यते ज्ञायते ।] इति सूत्रार्थः ॥५३॥ अथ प्राणायामस्य स्वरूपमाह ।

1359) **स्थिरीभवन्ति**—चेतांसि स्थिरीभवन्ति । केषाम् । प्राणायामावलम्बिनां श्वासाश्रितानाम् । जगद्वृत्तं जगच्चरितम् । च पुनः । निःशेषं समस्तं प्रत्यक्षं हस्तामलकमिव जायते । इति सूत्रार्थः ॥५४॥ अथ ध्यानसिद्धिमाह ।

इस प्रकारसे मनके स्थिर कर लेनेपर विकल्प—राग-द्वेषस्वरूप विचार—उत्पन्न नहीं होते हैं, विषय-तृष्णा नष्ट हो जाती है, तथा अन्तःकरणके भीतर विशिष्ट ज्ञान प्रकाशमान होता है ॥५१॥

इस प्रकारसे अन्तःकरणको संस्कृत करनेवाले योगीकी अविद्या क्षणभरमें नष्ट हो जाती है तथा कषायरूप शत्रु और उनके साथ ही इन्द्रियाँ भी निर्मद (स्वाधीन) हो जाती हैं ॥५२॥

इसके अतिरिक्त उस मनके संस्कृत हो जानेसे श्वासवायुका विश्राम कहाँपर है, नाड़ियाँ क्या हैं, संक्रमण कैसे होता है, और मण्डलकी गति क्या है; इन सबका परिज्ञान हो जाता है ॥५३॥

प्राणायामका आश्रय लेनेवाले योगियोंके मन स्थिर हो जाते हैं तथा उन्हें संसारका सब ही वृत्त प्रत्यक्ष जैसा हो जाता है ॥५४॥

१. T om. । २. M विवर्तते । ३. L S F K X R स्वान्तं । ४. Y विमन्दीस्युः, M N read 2nd line thus : सगर्वगरिमाभोगं त्यजन्त्यक्षाणि सर्वथा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1360) यः प्राणायाममध्यास्ते स मण्डलचतुष्टयम् ।
निश्चिनोतु[1] यतः साध्वी ध्यानसिद्धिः प्रजायते ॥५५

1361) घोणाविवरमध्यास्य स्थितं पुरचतुष्टयम् ।
पृथक् पवनसंवीतं लक्ष्यलक्षणभेदतः ॥५६

1362) अचिन्त्यमतिदुर्लक्ष्यं तन्मण्डलचतुष्टयम् ।
स्वसंवेद्यं प्रजायेत महाभ्यासात् कथंचन ॥५७

1363) तत्रादौ पार्थिवं ज्ञेयं वारुणं तदनन्तरम् ।
मरुत्पुरं ततः स्फीतं पर्यन्ते[2] वह्निमण्डलम् ॥५८

1360) **यः प्राणायामम्**—यः प्राणायामम् अध्यास्ते आश्रितः । कीदृशं प्राणायामम् । समण्डलचतुष्टयम् । सुगमम् । यतः कारणात् ध्यानसिद्धिः साध्वी प्रजायते । इति सूत्रार्थः ॥५५॥ अथ तस्यैव स्वरूपमाह ।

1361) **घोणाविवरम्**—पुरचतुष्टयं स्थितम् । किं कृत्वा । घोणाविवरमध्यास्य । पृथक्-पवनसंवीतं वायुव्याप्तं लक्ष्यलक्षणभेदतः । इति सूत्रार्थः ॥५६॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1362) **अचिन्त्यम्**—तन्मण्डलचतुष्टयं स्वसंवेद्यं प्रजायेत कथंचन । कस्मात् । महाभ्यासात् । कीदृशम् । अचिन्त्यम् । पुनः कीदृशम् । अतिदुर्लक्षम् । इति सूत्रार्थः ॥५७॥ अथ मण्डलचतुष्टय-मेवाह ।

1363) **तत्रादौ**—तत्र मण्डलचतुष्टये आदौ पार्थिवं मण्डलम् । तदनन्तरं वारुणम् । ततः मरुत्पुरं वायुमण्डलम् । पर्यन्ते प्रान्ते वह्निमण्डलम् । इति सूत्रार्थः ॥५८॥ अथ पार्थिवमाह ।

जो योगी प्राणायामको अधिष्ठित करता है—उसे सिद्ध कर लेता है—उसे जिन चार मण्डलोंके निमित्तसे ध्यानकी सिद्धि होती है उनका निश्चय करना चाहिए ॥५५॥

नासिकाके छेदको अधिष्ठित करके जो चार पुर—पार्थिव, वारुण, वायवीय और आग्नेय—अवस्थित हैं वे वायुसे व्याप्त होते हुए लक्ष्य व लक्षणके भेदसे पृथक् हैं ॥५६॥

वे चार पुर या मण्डल यद्यपि अचिन्त्य—मनके अविषय और अतिशय दुर्लक्ष्य (अलक्ष्य या कष्ट से जाननेके योग्य) हैं तो भी वे महान् अभ्याससे योगीके लिए स्वसंवेद्य हो जाते हैं—उसे उनका स्वरूप संवेदन हो जाता है ॥५७॥

उन चार मण्डलोंमें प्रथम पार्थिव मण्डल, द्वितीय वारुण मण्डल, तत्पश्चात् विस्तृत वायवीय मण्डल और अन्तमें आग्नेय मण्डलको जानना चाहिए ॥५८॥

---

१. X निश्चिनोति । २. F पर्यन्तं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1364) क्षितिबीजसमाक्रान्तं द्रुतहेमसमप्रभम् ।
स्याद्वज्रलाञ्छनोपेतं चतुरस्रं धरापुरम् ॥५९

1365) अर्धचन्द्रसमाकारं वारुणाक्षरलक्षितम् ।
क्षरत्सुधाम्बुसंसिक्तं चन्द्राभं वारुणं पुरम् ॥६०

1366) सुवृत्तं बिन्दुसंकीर्णं नीलाञ्जनसमप्रभम् ।
चञ्चलं पवनोपेतं दुर्लक्ष्यं वायुमण्डलम् ॥६१

1367) स्फुलिङ्गपिङ्गलं भीममूर्ध्वज्वालाशतार्चितम् ।
त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं तद्बीजं वह्निमण्डलम् ॥६२

1364) **क्षितिबीज**—धरापुरं क्षितिबीजसमाक्रान्तम् । पुनः कीदृशम् । द्रुतहेमसमप्रभम् । पुनः कीदृशम् । स्यात् वज्रलाञ्छनोपेतं वज्रलक्ष्मसहितम् । पुनः कीदृशम् । चतुरस्रं संस्थानम् । इति सूत्रार्थः ॥५९॥ अथ वारुणमण्डलमाह ।

1365) **अर्धचन्द्र**—वारुणपुरं वारुणतत्त्वमण्डलम् । कीदृशम् । अर्धचन्द्रसमाकारम् । पुनः कीदृशम् । वारुणाक्षरलक्षितम् । पुनः कीदृशम् । क्षीरसुधाम्बुसंसिक्तं, चन्द्राभम् । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६०॥ अथ वायुमण्डलमाह ।

1366) **सुवृत्तं**—वायुमण्डलम् एतादृशं भवति । सुवृत्तं वर्तुलाकारम् । बिन्दुसंकीर्णं बिन्दुव्याप्तम् । पुनः कीदृशम् । नीलाञ्जनघनप्रभं कालाञ्जनमेघसदृशम् । पुनः कीदृशम् । चञ्चलम्, पवनोपेतम्, दुर्लक्षम् । इति सूत्रार्थः ॥६१॥ अथ वह्निमण्डलमाह ।

1367) **स्फुलिङ्ग**—वह्निमण्डलं तद्बीजं वह्निबीजम् । कीदृशम् । स्फुलिङ्गपिङ्गलम् अग्निकणरक्तस्याभम् । कीदृशम् । भीमं रौद्रम् । पुनः । ऊर्ध्वज्वालाशतार्चितं सुगमम् । कीदृशम् । त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं स्वस्तिकाकारम् । इति सूत्रार्थः ॥६२॥ अथ तेषु वायुप्रवर्तनमाह ।

उनमें जो मण्डल पृथिवी बीज ('क्ष' अक्षर)से व्याप्त, तपे हुए सुवर्णके समान कान्तिवाला, वज्रके चिह्नसे संयुक्त और चौकोण है उसे पार्थिवपुर जानना चाहिए ॥५९॥

अर्धचन्द्रके समान आकारवाला, वारुण (व) अक्षरसे चिह्नित, प्रकाशमान् अमृत-जलसे सींचा हुआ और चन्द्रमाके समान कान्तिवाला वारुणपुर है ॥६०॥

जो मण्डल अतिशय गोल, बिन्दुओंसे व्याप्त, नीले आंजनके समान कान्तिवाला, चंचल, कष्टसे देखने योग्य और वायुसे परिपूर्ण होता है वह वायुमण्डल कहा जाता है ॥६१॥

जो मण्डल अग्निकणोंके समान पीत वर्णवाला, भयानक, ऊपर उठती हुई सैकड़ों ज्वालाओंसे संयुक्त, त्रिकोण आकृतिवाला, स्वस्तिक (सांथिया) चिह्नसे सहित और अग्निबीज (र् अक्षर) चिह्नित होता है उसे आग्नेय मण्डल जानना चाहिए ।६२॥

१. S K Y R स्फुरत्सु° । २. N संसक्तं । ३. All others except P °जनघनप्रभं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1368) ततस्तेषु क्रमाद्वायुः संचरत्यविलम्बितम् ।
स विज्ञेयो यथाकालं प्रणिधानपरैर्नरैः ॥६३

1369) घोणाविवरमापूर्य किंचिदुष्णः[1] पुरन्दरः ।
वहत्यष्टाङ्गुलं स्वस्थः पीतवर्णः शनैः शनैः ॥६४

1370) त्वरितः शीतलो ऽधस्तात् सितरुक् द्वादशाङ्गुलः ।
वारुणः[2] पवनस्तज्ज्ञैर्वहनेनावसीयते ॥६५

1371) तिर्यग्वहत्यविश्रान्तः पवनाख्यः[3] षडङ्गुलः ।
पवनः कृष्णवर्णो ऽसावुष्णशीतश्च[4] लक्ष्यते ॥६६

1368) **ततस्तेषु**—ततः कारणात् तेषु पार्थिवादिमण्डलेषु क्रमाद् वायुः संचरति । अविलम्बितं विलम्बरहितं प्रणिधानपरैर्नरैर्यथाकालं स विज्ञेयो ज्ञातव्यः । इति सूत्रार्थः ॥६३॥ अथ पुरन्दरवायुमाह ।

1369) **घोणाविवरम्**—पुरन्दरः पार्थिवः अष्टाङ्गुलः* स्वस्थः शनैः शनैर्वहति । पुनः कीदृशः । पीतवर्णः । कथं वहति । घोणाविवरम् आपूर्यं पूरयित्वा । किञ्चिदुष्णः । इति सूत्रार्थः ॥६४॥ अथ पुनः पार्थिवादिस्वरूपमाह ।

1370) **त्वरितः**—सितरुक् शुक्लो द्वादशाङ्गुलः द्वादशाङ्गुलप्रमाणः । अधस्ताच्छीतलः । पुनः कीदृशः । त्वरितः शीघ्रगामी । वारुणः पवनः तज्ज्ञैर्वहनेन विशीर्यते । इति सूत्रार्थः ॥६५॥ अथ वायुमण्डलपवनमाह ।

1371) **तिर्यग्वहति**—पवनाख्यः पवनः अविश्रान्तः तिर्यग्वहति । कीदृशः । षडङ्गुलः षडङ्गुलप्रमाणः कृष्णवर्णः । असौ उष्णशीतश्च लक्ष्यते । इति सूत्रार्थः ॥६६॥ अथ वह्निपवनमाह ।

उक्त चार मण्डलोंमें क्रमसे शीघ्र ही जिस वायुका संचार होता है, ध्यानमें तत्पर हुए मनुष्योंको उसे कालके अनुसार जानना चाहिए ॥६३॥

नासिकाके छेदको पूर्ण करके थोड़ा उष्ण, प्रमाणमें बारह अंगुल, स्वस्थ (स्वच्छ) एवं वर्णसे पीत जो धीरे-धीरे वायु बहता है उसे पुरन्दर वायु जानना चाहिए ॥६४॥

जो वायु वेगयुक्त, शीतल, नीचे धवल वर्ण प्रभावाला एवं बारह अंगुल प्रमाण हो वह वरुण पवन कहा जाता है । उसका निश्चय वायुके ज्ञाता वहन क्रियासे करते हैं ॥६५॥

छह अंगुल प्रमाण पवन नामका वायु निरन्तर तिरछा बहता है । वह वायु वर्णसे काला तथा कुछ उष्ण भी होता है और कुछ शीत भी ॥६६।

१. M S T K X Y R °दुष्णं, F °दुष्णपुरन्दरैः । २. L S F K X Y R वरुणः । ३. P पवनाक्षः । ४. All others except P L F उष्णः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1372) बालार्कसंनिभश्चोर्ध्वः[1] सावृत्तश्चतुरङ्गुलः ।
अत्युष्णो ज्वलनाभिख्यः पवनः कीर्तितो बुधैः ॥६७

1373) स्तम्भादिके महेन्द्रो वरुणः शस्तेषु सर्वकार्येषु ।
चलमलिनेषु च वायुर्वश्यादौ वह्निरुद्देश्यः ॥६८

1374) छत्रगजतुरगचामररामाराज्यादिसकलकल्याणम् ।
माहेन्द्रो वदति फलं मनोमतं[3] सर्वकार्येषु ॥६९

1375) अभिमतफलनिकुरुम्बं[4] विद्यावीर्यादिभूतिसंपूर्णम्[7] ।
सुतयुवतिवस्तुसारं वरुणो योजयति जन्तूनाम्[9] ॥७०

1372) **बालार्क**—ज्वलनाभिख्यः वह्निः पवनः बुधैः प्रकीर्तितः कथितः । कीदृशः । बालार्कसंनिभः बालसूर्यसदृशः । ऊर्ध्वः ऊर्ध्वगामी । पुनः । सावर्तः* आवर्तसहितः । पुनः कीदृशः । चतुरङ्गुलः चतुरङ्गुलप्रमाणः । पुनः कीदृशः । अत्युष्णः । इति सूत्रार्थः ॥६७॥ आर्या ।

1373) **स्तम्भादिके**—स्तम्भादिके स्तम्भनादिकार्ये महेन्द्रः पार्थिवः । शस्तेषु सर्वकार्येषु वरुणः । चलमलिनेषु चञ्चलमालिन्ये कार्ये वायुः । वश्यादौ वह्निरुद्दिश्यः वक्तव्यः । इति सूत्रार्थः ॥६८॥ अथ पुनराह ।

1374) **छत्रगज**—माहेन्द्रो पृथ्वीमण्डलो वदति । छत्रचामरगजतुरगरामाराज्यादिसकलकल्याणं फलं वदति । आतपत्रहस्तिवाजिचामरस्त्रीऐश्वर्यादिसर्वमङ्गलं फलं वदति कथयति । कीदृशं फलम् । सर्वकार्येषु मनोगतम्* । इति सूत्रार्थः ॥६९॥ अथ वरुणफलमाह ।

1375) **अभिमत**—जीवानाम्* अभिमतफलनिकुरम्बं वाञ्छितफलकदम्बकम् । रमणी-

जो वायु उदित होते हुए सूर्यके समान कान्तिवाला, ऊपर बहता हुआ, मण्डलाकार परिभ्रमणसे उपलक्षित, चार अंगुल प्रमाणवाला और अतिशय उष्ण होता है उसे विद्वानोंने ज्वलन नामका वायु कहा है ॥६७॥

स्तम्भन आदि कार्योंमें पुरन्दर वायुको, उत्तम सब कार्योंमें वरुण वायुको, चंचल व मलिन कार्योंमें पवन वायुको और वशीकरणादि कार्योंमें ज्वलन वायुको स्वीकार करना चाहिए ॥६८॥

माहेन्द्र (पुरन्दर) वायु सब कार्योंमें छत्र, हाथी, घोड़ा, चँवर, स्त्री एवं राज्य आदि समस्त कल्याणकारक वस्तुओंकी प्राप्तिरूप मनको अभीष्ट फलको सूचित करता है ॥६९॥

वरुण वायु प्राणियोंके लिए विद्या एवं वीर्य आदि विभूतिसे सम्पूर्ण पुत्र व स्त्री आदि श्रेष्ठ वस्तुओंकी प्राप्तिरूप अभीष्ट फलसमूहसे संयोग कराता है ॥७०॥

१. All others except P M F °श्चोर्ध्वं । २. All others except P सावर्तः । ३. All others except P M N मनोगतं । ४. All others except P निकुरम्बं । ५. M N K X Y रमणीराज्यादिविभव । ६. L F T विभव । ७. All others except P L F T संकीर्णं । ८. N T K X Y स्वजनसुतवस्तु । ९. All others except P S R जीवानां ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1376) भयशोकदुःखपीडाविघ्नौघपरम्परां[1] विनाशं च ।
व्याचष्टे देहभृतां दहनो दाहस्वभावो ऽयम् ॥७१

1377) सिद्धमपि[2] याति विलयं सेवाकृष्यादिकं समस्तमपि[3] ।
मृत्युभयकलहवैरं पवने त्रासादिकं[4] च स्यात् ॥७२

1378) सर्वे प्रवेशकाले कथयन्ति मनोमतं[5] फलं पुंसाम् ।
अहितमतिदुःखनिचितं[6] त एव निःसरणवेलायाम् ॥७३

1379) सर्वे ऽपि प्रविशन्तो रविशशिमार्गेण वायवः सततम्[7] ।
विदधति परां सुखास्थां निर्गच्छन्तो विपर्यस्ताम् ॥७४

राज्यादिविभवसंपूर्णम्" । सुगमम् । पुनः कीदृशम् । "स्वजनसुतवस्तुसारं परिजनपुत्रवस्तुसारं वरुणो योजयति । इति सूत्रार्थः ॥७०॥ अथाग्निमण्डलमाह ।

1376) **भयशोक**—अयं दाहस्वभावो दहनः देहभृतां प्राणिनां भयशोकदुःखपीडाविघ्नौघ-परंपराविनाशं च व्याचष्टे कथयति । इति सूत्रार्थः ॥७१॥ अथ पवनफलमाह ।

1377) **सिद्धमपि** – पवने पवनमण्डले सेवाकृष्यादिकं समस्तमपि कार्यं सिद्धमपि विलयं याति । मृत्युभयकलहवैरं स्यात् । च पुनः । त्रासादिकं स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥७२॥ अथ सर्वेषां फलमाह ।

1378) **सर्वे प्रवेश**—सर्वे तत्त्वाः (?) पुंसां पुरुषाणां मनोमतं फलं प्रवेशकाले कथयन्ति । निःसरणवेलायां निर्गमवेलायाम् अहितमतिदुःखनिचितं त एव कुर्वन्ति । इति सूत्रार्थः ॥७३॥ अथ पुनस्तेषां [फल] माह ।

1379) **सर्वे ऽपि**—पुंसां" पुरुषाणां वायवः सर्वे ऽपि रविशशिमार्गेण वामदक्षिणसुरेण परां

दाहस्वरूप यह दहन वायु प्राणियोंके लिए भय, शोक, दुःख, पीड़ा एवं विघ्नसमूहकी परम्पराकी तथा विनाशकी सूचना करता है ॥७१॥

पवन नामक वायुके होनेपर सेवा और कृषि आदि सब ही कार्य सिद्ध होकर भी विनाशको प्राप्त होते हैं तथा उसके होनेपर मरण, भय, कलह, वैरभाव और पीड़ा आदि उत्पन्न होती है ॥७२॥

उक्त चारों वायु मनुष्योंके लिए प्रवेशके समय—पूरक रूपसे मण्डलमें प्रवेश करते समय—मनोमत (मनसे चिन्तित) फलकी सूचना करती हैं तथा वे ही निकलते समय—रेचकरूपमें मण्डलसे बाहर निकलते हुए—अतिशय दुःखसे परिपूर्ण अकल्याणकी सूचना करती हैं ॥७३॥

सब ही वायुएँ सूर्यमार्गसे (दक्षिण नाड़ीसे) और चन्द्रमार्गसे (वाम नाड़ीसे) प्रवेश

१. N L S T F परंपराविनाशं । २. T °मपयाति । ३. M N T F X R समस्तमपि चैव । ४. L नाशादिकं । ५. All others except P मनोगतं । ६. Y निचयं । ७. L F K X Y पुंसां for सततं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1380) वामेन प्रविशन्तौ वरुणमहेन्द्रौ समस्तसिद्धि[1]करौ ।
इतरेण निःसरन्तौ हुतभुक्पवनौ विनाशाय ॥७५

1381) अथ मण्डलेषु वायोः प्रवेशनिःसरणकालमवगम्य ।
उपदिशति भुवनवस्तुषु विचेष्टितं सर्वथा सर्वम् ॥७६

1382) वामायां विचरन्तौ दहनसमीरौ तु मध्यमौ कथितौ ।
वरुणेन्द्रावितरस्यां तथाविधावेव निर्दिष्टौ ॥७७

सुखस्थां विदधति कुर्वन्ति । निर्गच्छन्ति विपर्यस्तां दुःखरूपाम् । इति सूत्रार्थः ॥७४॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

1380) **वामेन**—वरुणमहेन्द्रौ पृथ्वीतत्त्ववरुणतत्त्वौ वामेन प्रविशन्तौ समस्तवृद्धिकरौ* इतरेण दक्षिणेन निःसरन्तौ हुतभुक्पवनौ अग्निपवनौ विनाशाय भवतः । इति सूत्रार्थः ॥७५॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1381) **अथ मण्डलेषु**—योगी भुवनवस्तुषु जगत्पदार्थेषु विचेष्टितं सर्वथा प्रकारेण सर्वम् उपदिशति कथयति । किं कृत्वा । अथेत्यर्थान्तरे । मण्डलेषु पार्थिवादिषु वायोः प्रवेशनिःसरणकालमवगम्य ज्ञात्वा । इति सूत्रार्थः ॥७६॥ अथ तत्त्वानां वामदक्षिणाभ्यां निर्दिशति ।

1382) **वामायां विचरन्तौ**—वामायां नाड्यां दहनसमीरौ विचरन्तौ । तु पादपूरणे । मध्यमौ कथितौ । इतरस्यां दक्षिणायां वरुणेन्द्रौ अप्रभूमण्डलौ तथाविधौ मध्यमावेव निर्दिष्टौ कथितौ । इति सूत्रार्थः ॥७७॥ अथ पुनर्वामदक्षिणयोर्विचारमाह ।

करती हुई निरन्तर उत्कृष्ट सुखके विश्वासको करती हैं—सुखप्राप्तिकी सूचना करती हैं—तथा वे ही निकलती हुईं विपरीत अवस्था (दुख) की सूचना करती हैं ॥७४॥

वाम नासिकाके छिद्रसे प्रविष्ट होती हुई वरुण और पुरन्दर वायु समस्त अभीष्टको सिद्ध करनेवाली हैं तथा दक्षिण नासिका छिद्रसे निकलती हुई दहन और पवन नामकी दो वायु विनाशकी कारण हैं—विनाशकी सूचना करती हैं ॥७५॥

मण्डलोंमें वायुके प्रवेश और निकलनेके कालको जानकर योगी लोकमें अवस्थित समस्त वस्तुओंके विषयमें सब प्रकारसे सब चेष्टाओंका उपदेश करता है ॥७६॥

वाम नासिकामें विचरण (प्रवेश व निःसरण) करनेवाली दहन और पवन नामकी ये दो वायु मध्यम कही गयी हैं तथा दक्षिण नासिकामें विचरण करनेवाली वरुण और पुरन्दर ये दो वायु उसी प्रकार मध्यम निर्दिष्ट की गयी हैं ॥७७॥

---

१. K वृद्धि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1383) उदये वामा शस्ता सितपक्षे दक्षिणा पुनः कृष्णे ।
त्रीणि त्रीणि दिनानि तु शशिसूर्यस्योदयः[1] श्लाघ्यः ॥७८

1384) उदयश्चन्द्रेण हितः सूर्येणास्तं[2] प्रशस्यते वायोः ।
रविणोदये तु शशिना शिवमस्तमनं सदा नृणाम् ॥७९

1385) सितपक्षे रव्युदये प्रतिपद्दिवसे समीक्ष्यते सम्यक् ।
शस्तेतरप्रचारौ वायोर्यत्नेन विज्ञानी ॥८०

1383) **उदये**—सितपक्षे शुक्लपक्षे उदये उदयकाले शस्ता प्रधाना । का । वामा । पुनः । कृष्णे दक्षिणा शस्ता मनोहरा । तु पुनः । त्रीणि त्रीणि दिनानि शशिसूर्यस्योदयः श्लाघ्यः ॥७८॥ अथ पुनर्वामेतरयोर्विशेषमाह ।

1384) **उदयः**—चन्द्रेण उदयः हितः हितकारी । सूर्येणास्तं वायोः प्रशस्यते । नृणां मनुष्याणाम् । तु पुनः । रविणोदये शशिना अस्तमनं शिवं न भवति । इति सूत्रार्थः ॥७९॥ अथैतदेवाह ।

1385) **सितपक्षे**—सितपक्षे शुक्लपक्षे प्रतिपद्दिवसे यः विचारः सम्यक् समीक्ष्यते । कः । विज्ञानी । वायोः शस्तेतरप्रचारौ शुभाशुभविचारौ । केन । यत्नेन । इति सूत्रार्थः ॥८०॥ अथ प्रतिपद्दिवसानन्तरं फलाफलमाह ।

शुक्ल पक्षमें उदयमें वाम नाड़ी उत्तम मानी गयी है तथा कृष्ण पक्षमें उदयमें दक्षिण नाड़ी प्रशस्त मानी गयी है। चन्द्र (वाम नाड़ी) और सूर्य (दक्षिण नाड़ी) का उदय तीन-तीन दिन प्रशंसनीय माना गया है। विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि शुक्ल पक्षमें सूर्योदय-के समय प्रथम तीन दिन—प्रतिपद्, द्वितीया व तृतीया—तक यदि वाम नाड़ीका उदय है तो वह उत्तम माना जाता है। आगे तीन दिन—चतुर्थी, पंचमी और षष्ठी—तक सूर्योदयकालमें यदि दक्षिण नाड़ीका उदय हो तो वह शुभ समझा जाता है। इस क्रमसे आगे भी क्रमशः तीन-तीन दिन वाम और दक्षिण नाड़ीको शुभ समझना चाहिए। कृष्ण पक्षमें सूर्योदयके समय प्रथम तीन दिन—प्रतिपद्, द्वितीया व तृतीया—तक यदि दक्षिण नाड़ीका उदय है तो वह उत्तम माना गया है। उपर्युक्त प्रकारसे आगे भी तीन-तीन दिन इस कृष्ण पक्षमें क्रमसे वाम और दक्षिण नाड़ीको उत्तम समझना चाहिए ॥७८॥

वायुका चन्द्र (वाम स्वर) के साथ उदय होकर सूर्य (दक्षिण स्वर) के साथ अस्त होना प्रशंसनीय है; तथा सूर्यके साथ उदय होनेपर चन्द्रके साथ उसका अस्त होना मनुष्योंके लिए हितकर है ॥७९॥

शुक्ल पक्षमें प्रतिपद्के दिन सूर्योदयके समय वायुके संचारको विशिष्ट ज्ञानवान् योगी प्रयत्नपूर्वक शुभ और अशुभ देखे—उनके शुभ और अशुभ स्वरूपका विचार करे ॥८०॥

---

१. N °दयस्तथा श्लाघ्यः । २. M °णास्तः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1386) व्यस्तः[1] प्रथमे दिवसे चित्तोद्वेगाय जायते पवनः ।
धनहानिकृद्द्वितीये प्रवासदः स्यात्तृतीये ऽह्नि ॥८१

1387) इष्टार्थनाशविभ्रमस्वपदभ्रंशास्तथा महायुद्धम् ।
दुःखं च [2]पञ्चदिवसैः क्रमशः संजायते त्वपरैः ॥८२

1388) [[3]अरुणोदयवेलायां यावन्नाडी वहेत् पुंसाम् ।
मध्याह्ने च पुनः सैव अस्तकाले च सा यदि ॥८२*१

1389) [4]प्रथमे ऽहनि उद्वेगो धननाशो द्वितीयके ।
महाक्लेशस्तृतीये स्याच्चतुर्थे मृत्युमादिशेत् ॥८२*२]

1390) वामा सुधामयी ज्ञेया हिता शश्वच्छरीरिणाम् ।
संहर्त्री दक्षिणा नाडी सम[5]स्तानिष्टसूचिका ॥८३

1386) **व्यस्तः प्रथमे**—प्रथमे दिवसे य* उदयः स चित्तोद्वेगाय जायते पवनः। द्वितीये धनहानिकृत्। तृतीये ऽह्नि प्रवासदः स्यात्। इति सूत्रार्थः ॥८१॥ अथ पुनरेव तदाह।

1387) **इष्टार्थं**—पञ्चदिवसैः क्रमशः संजायते। इष्टार्थनाशः, विभ्रमः, स्वपदभ्रंशः, तथा महायुद्धं, दुःखं पञ्चदिवसैः। तु पुनः। अपरैः। इति सूत्रार्थः ॥८२॥ [ग्रन्थान्तरे उक्तं फलमाह।

1388-89) **अरुणोदय**—यावत् यदि। अरुणोदयवेलायां सूर्योदयात् प्राक्। तथा मध्याह्ने। तथा अस्तकाले। पुंसां नाडी वहेत्। तर्हि। प्रथमे अहनि दिने उद्वेगः मनःक्षोभः। द्वितीये धननाशः। तृतीये महाक्लेशः। चतुर्थे च मृत्युम् आदिशेत् कथयेत्। इति सूत्रार्थः ॥८२*१-२॥] अथ पुनस्तदेवाह।

1390) **वामा सुधामयी**—शरीरिणां शश्वन्निरन्तरं वामा सुधामयी ज्ञेया। हिताहितकारिणी दक्षिणा नाडी संहर्त्री। पुनः कीदृशी। निःशेषानिष्टसूचिका* समस्तोपद्रवकथका। इति सूत्रार्थः ॥८३॥ अथ पुनरपि वामदक्षिणयोर्विचारमाह।

प्रथम दिनमें यदि वायु व्यस्त (अप्रगुण) हो तो वह चित्तको उद्विग्न करनेवाली होती है। वही यदि द्वितीय दिनमें व्यस्त हो तो धनकी हानि करनेवाली तथा तृतीय दिनमें हो तो प्रवास करानेवाली होती है ॥८१॥

आगेके पाँच दिनोंमें क्रमसे वह व्यस्त वायु अभीष्ट वस्तुके नाश, विभ्रम, अपने पदसे भ्रष्ट होने, महान् युद्ध और दुखकी सूचक होती है ॥८२॥

यदि मनुष्योंकी नाड़ी अरुणोदयके समय, मध्याह्नमें तथा अस्तकालमें बहती तो पहले दिन चित्तको उद्विग्न करनेवाली, दूसरे दिन धननाशक, तीसरे दिन महाक्लेश देनेवाली और चौथे दिन मृत्युप्रद कहनी चाहिए ॥८२*१-२॥

वामा नाड़ी प्राणियोंके लिए निरन्तर अमृतस्वरूप और हितकारक जानना चाहिए, तथा दक्षिण नाड़ीको संहार करनेवाली समस्त अनिष्टसूचक जानना चाहिए ॥८३॥

---

१. L F व्यस्ते, K यस्तत्। २. M N दुःखं पञ्चमदिवसैः। ३. ४. Only in M N। ५. All others except P S निःशेषानिष्ट।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1391) अमृतमिव सर्वगात्रं प्रीणयति शरीरिणां ध्रुवं वामा ।
क्षपयति तदेव शश्वद्वहमाना दक्षिणा नाडी ॥८४

1392) संग्रामसुरतभोजनविरुद्धकार्येषु[1] दक्षिणेष्टा स्यात् ।
अभ्युदयहृदयवाञ्छितसमस्तशस्तेषु वामैव[2] ॥८५

1393) नेष्टघटने समर्था राहुग्रहकालचन्द्रसूर्याद्याः ।
क्षितिवरुणौ[3] त्वमृतगतौ समस्तकल्याणदौ ज्ञेयौ ॥८६

1394) पूर्णे पूर्वस्य जयो रिक्ते त्वितरस्य कथ्यते तज्ज्ञैः ।
उभयोर्युद्धनिमित्ते दूतेनाशंसिते प्रश्ने[4] ॥८७

1391) **अमृतमिव**—वामा नाडी शरीरिणां ध्रुवं निश्चयेन सर्वगात्रं शरीरं प्रीणयति । किमिव । अमृतमिव । यथा अमृतं शरीरिणां सर्वगात्रं प्रीणयति दक्षिणा नाडी वहमाना क्षपयति तदेव सर्वगात्रं शश्वन्निरन्तरम् । इति सूत्रार्थः ॥८४॥ अथ द्वयोर्नाड्योः फलं दिशति ।

1392) **संग्रामसुरत**—संग्रामसुरतभोजनविरुद्धकार्येषु दक्षिणेष्टा स्यात् । वा पक्षान्तरे । अभ्युदये कल्याणे वामा इष्टा स्यात् । हृदयवाञ्छितसमस्तशस्तेषु वामा स्यात्* । इति सूत्रार्थः ॥८५॥ अथ पुनस्तत्त्वानां स्वरूपमाह ।

1393) **नेष्टघटने**—राहुग्रहकालचन्द्रसूर्याद्याः इष्टघटने मनोवाञ्छितदाने न समर्थाः । तु पुनः । क्षितिवरुणौ अमृतगतौ समस्तकल्याणदौ ज्ञेयौ ज्ञातव्यौ । इति सूत्रार्थः ॥८६॥ अथ पुनः प्रश्नान्तरमाह ।

1394) **पूर्णे पूर्वस्य**—पूर्णे स्वरे वहमाने पूर्वस्य जयो भवति । रिक्ते शून्यभागे इतरस्य द्वितीयस्य कथ्यते तज्ज्ञैः स्वरज्ञैः । उभयोर्युद्धनिमित्ते दूतेन प्रश्ननेनाशंसितम्* । इति सूत्रार्थः ॥८७॥ अथ एतदेवाह ।

वामा नाड़ी तो निश्चयसे प्राणियोंके समस्त शरीरको अमृतके समान प्रसन्न करती है, परन्तु बहती हुई दक्षिण नाड़ी प्राणियोंके उसी शरीरको निरन्तर क्षीण करती है ॥८४॥

युद्ध, मैथुन और भोजन इन विरुद्ध कार्योंमें दक्षिण नाड़ी शुभ होती है तथा अभ्युदय एवं मनोवांछित समस्त उत्तम कार्योंमें वाम नाड़ी ही शुभ होती है ॥८५॥

राहु, ग्रह (शनि आदि), काल (ग्रहविशेष अथवा ज्योतिषशास्त्रप्रसिद्ध एक कुयोग), चन्द्र और सूर्य आदि इष्टका संयोग करानेमें समर्थ नहीं होते हैं। परन्तु वाम नाडीको प्राप्त पार्थिव और वरुण मण्डलको समस्त कल्याणके देनेवाले जानना चाहिए ॥८६॥

दूतके द्वारा दोके मध्यमें होनेवाले युद्धके निमित्त प्रश्नके पूछे जानेपर तद्विषयक विद्वान् परिपूर्ण (पूरक) नाडीके होनेपर पूर्व व्यक्तिकी विजयको तथा रिक्त (रेचक) नाडीके होनेपर दूसरे व्यक्तिकी विजयको बतलाते हैं ॥८७॥

१. M N T विरुद्धदुर्गेषु । २. L वामा वा, T वामेव । ३. L °णावमृत । ४. M N प्रसन्ने च for प्रश्ने ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1395) ज्ञातुर्नाम प्रथमं पश्चाद्यद्यातुरस्य गृह्णाति ।
दूतस्तदेष्टसिद्धिर्विपरीते[1] स्याद्विपर्यस्ता ॥८८

1396) जयति समाक्षरनामा वामावाहस्थितेन दूतेन ।
विषमाक्षरस्तु[2] दक्षिणदिक्संस्थेनात्र[3] संपाते ॥८९

1397) भूतादिगृहीतानां रोगार्तानां च सर्पदष्टानाम् ।
पूर्वोक्त एव च विधिर्बोद्धव्यो मन्त्रिणावश्यम्[4] ॥९०

1395) **ज्ञातुर्नाम**—दूतो यदि प्रथमं ज्ञातुर्नाम गृह्णाति । पश्चात् आतुरस्य रोगिणः तदा इष्टसिद्धिः । विपर्यस्ते* प्रथमम् आतुरनामग्रहणं पश्चात् ज्ञातुः तदा विपर्यस्ता, इष्टसिद्धिर्नेति सूत्रार्थः ॥८८॥ अथ पुनर्विशेषमाह ।

1396) **जयति**—स रोगी विषमाक्षरनामा वामावाहस्थितेन दूतेन । यदि विषमाक्षरस्तु रोगी दक्षिणदिक्संस्थेन दूतेनास्त्रसंपाते* । इति सूत्रार्थः ॥८९॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1397) **भूतादि**—पूर्वश्लोकोक्त एव विधिर्बोद्धव्यः ज्ञातव्यः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥९०॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

यदि दूत पहले ज्ञाताका नाम और तत्पश्चात् रोगीका नाम ग्रहण करता है तो अभीष्टकी सिद्धि होती है । और यदि वह इसके विपरीत करता है—पहले रोगीका और तत्पश्चात् ज्ञाताका नाम ग्रहण करता है—तो अभीष्टकी सिद्धि न होकर अनिष्टकी प्राप्ति होती है । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि प्रश्न करते समय यदि प्रथमतः शुभाशुभके वेदक (अथवा वैद्य) के नामका निर्देश किया जाता है और तत्पश्चात् रोगीके नामका उल्लेख किया जाता है तो इस प्रकारसे अभीष्ट (रोगकी शान्ति) की सिद्धि समझनी चाहिए । परन्तु यदि प्रश्नकर्ता पहले रोगीके नामका उल्लेख करके पश्चात् ज्ञाताके नामका निर्देश (सम्बोधन आदि) करता है तो उस अवस्थामें अभीष्टसिद्धिकी सम्भावना नहीं है ॥८८॥

दूत (प्रश्नकर्ता) यदि वाम भागमें स्थित होकर युद्धमें किसीके जय-पराजयविषयक प्रश्न करता है तो जिस योद्धाका नाम सम (दो, चार, छह आदि) अक्षरोंमें है उसकी जय होती है । और यदि दूत दक्षिण दिशामें स्थित होकर उक्त प्रश्नको करता है तो विषम (एक, तीन, पाँच आदि) अक्षरोंसे युक्त नामवाले योद्धाकी विजय जानना चाहिए ॥८९॥

भूत-पिशाचादिके वशीभूत हुए, रोगी और सर्पादिके द्वारा काटे गये प्राणियोंके विषयमें प्रश्न किये जानेपर मान्त्रिकको नियमसे पूर्वोक्त (श्लोक ८८) विधि ही जानना चाहिए ॥९०॥

---

१. M N सिद्धिस्तद्वचस्तः, F तद्वचस्ये, L S T K X Y R तद्वचस्ते । २. K यदि विषमाक्षरनामा दक्षिण । ३. All others except P °नास्त्रं । ४. R मान्त्रिकावश्यम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1398) पूर्णा[1] वरुणे प्रविशति यदि वामा जायते क्वचित्पुण्यैः ।
सिध्यन्त्य[2]चिन्तितान्यपि कार्याण्यारभ्यमाणानि ॥९१

1399) जयजीवितलाभाद्या ये ऽर्थाः[3] पूर्वं तु सूचिताः शास्त्रे ।
स्युस्ते सर्वे ऽप्यफला मृत्युस्थे मरुति लोकानाम् ॥९२

1400) अनिलमवबुध्य सम्यक्पुष्पं हस्तात्प्रपातयेज्ज्ञानी ।
मृतजीवितविज्ञाने ततः स्वयं निश्चयं कुरुते ॥९३

1401) वरुणे त्वरितो लाभश्चिरेण भौमे[4] तदर्थिने वाच्यम्[5] ।
तुच्छतरः पवनाख्ये सिद्धो ऽपि विनश्यते वह्नौ ॥९४

1398) **पूर्णा वरुणे**—वरुणे पूतत्वे पूर्णा यदि वामा प्रदिशति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥९१॥ अथ पुनर्विशेषमाह ।

1399) **जयजीवित**—दक्षिणनाडीविशेषे मण्डलान्तरे वा । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥९२॥ अथ ज्ञानिनः स्वरूपमाह ।

1400) **अनिलम्**—अनिलं दक्षिणवामस्वरमवगम्य ज्ञात्वा । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥९३॥ अथ तत्त्वे फलाफलमाह ।

1401) **वरुणे**—तदर्थिने लाभार्थिने । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥९४॥ अथ तत्त्वानां फलाफलमाह ।

यदि कहीं पूर्व पुण्यके उदयसे वरुण मण्डलके प्रवेश करते हुए वामा नाडी पूर्ण बहती है तो जिनकी सिद्धिका कभी विचार भी नहीं किया गया था ऐसे भी कार्य प्रारम्भ किये जानेपर सिद्धिको प्राप्त होते हैं ॥९१॥

वरुण मण्डलके प्रवेश करते समय यदि वायु मृत्युस्थ है—दक्षिण नासिकामें स्थित है—तो प्राणियोंके जिन जय, जीवन और लाभ आदि पदार्थोंकी पहले शास्त्रमें सूचना की गयी है वे सब ही निष्फल होते हैं ॥९२॥

जानकार मनुष्य भलीभाँति वायुको जानकर हाथसे पुष्पको गिरावे, तत्पश्चात् मृत्यु और जीवन सम्बन्धी विशिष्ट ज्ञानके विषयमें स्वयं ही निर्णय करे ॥९३॥

प्रश्न करनेपर उत्तर देते समय यदि उत्तर देनेवालेके वरुण मण्डलका उदय है तो प्रार्थीके लिए शीघ्र ही लाभका निर्देश करना चाहिए। उस समय यदि पार्थिव मण्डलका उदय हो तो दीर्घ कालमें होनेवाले लाभका, यदि पवन नामक मण्डलका उदय हो तो अतिशय तुच्छ लाभका, तथा यदि अग्नि मण्डलका उदय हो तो सिद्ध हुए भी कार्यकी हानिका निर्देश करना चाहिए ॥९४॥

१. S K X Y R पूर्णे । २. N T सिद्ध्यन्त्य॰ । ३. K ज्ञेयाः for येर्थाः । ४. X भूमौ for भौमे । ५. M N वाच्यः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1402) आयाति गतो वरुणे भौमे तत्रैव तिष्ठति सुखेन ।
यात्यन्यत्र श्वसने[1] मृत इति वह्नौ समादेश्यम्[2] ॥९५

1403) घोरतरः[3] संग्रामो[4] हुताशने मरुति भङ्ग एव स्यात् ।
गगने सैन्यविनाशं मृत्युर्वा युद्धपृच्छायाम् ॥९६

1404) ऐन्द्रे विजयः समरे ततो ऽधिको वाञ्छितश्च वरुणे स्यात् ।
सन्धिर्वा रिपुभङ्गात् स्वसिद्धिसंसूचनोपेतः ॥९७

1402) **आयाति—**वरुणे वरुणतत्त्वे गतो प्रवासी आयाति । भौमे पार्थिवे तत्त्वे तत्रैव तिष्ठति । सुखेन याति अन्यत्र वायुतत्त्वे । वह्नितत्त्वे मृत इति समादेश्यं वक्तव्यम् । इति सूत्रार्थः ॥९५॥ अथ पुनर्विशेषमाह ।

1403) **घोरतरः—**घोरतरः संग्रामो हुताशने । मरुति भङ्गः स्यात् । गगने आकाशतत्त्वे सैन्यविनाशः* कटकनाशः ॥९६॥ अथ पुनस्तत्त्वानामेव फलमाह ।

1404) **ऐन्द्रे विजयः—**ऐन्द्रे पार्थिवे तत्त्वे समरे संग्रामे विजयः स्यात् । वरुणे वरुणतत्त्वे । चकारात् ततो ऽधिको विजयः वाञ्छितः । वा अथवा । संधिः सीमास्थापनम् । कस्मात् । रिपुभङ्गात् । विजयः स्वसिद्धिसंसूचनोपेतः स्वार्थकथनयुक्तः । इति सूत्रार्थः ॥९७॥ अथ पुनस्तेषामेव फलमाह ।

यदि कोई अन्यत्र गया है तो उसके विषयमें प्रश्न किये जानेपर वरुण मण्डलके उदयमें यह उत्तर दे कि अन्यत्र गया हुआ वह मनुष्य वापस आ जाता है। यदि उस समय पार्थिव मण्डलका उदय है तो उसके वहींपर सुखपूर्वक स्थित रहनेकी सूचना करना चाहिए। पवन नामक मण्डलका उदय होनेपर 'वह अन्यत्र जानेवाला है' इस प्रकार उत्तरमें कहना चाहिए। तथा यदि उस समय अग्निमण्डलका उदय है तो 'वह मर चुका है' ऐसा निर्देश करना चाहिए ॥९५॥

अग्नि मण्डलके वर्तमान रहते हुए युद्धविषयक प्रश्नके करनेपर अतिशय भयानक युद्ध होना सम्भव है, पवन नामक मण्डलके होते हुए उक्त प्रश्न पूछे जानेपर विनाश (अथवा उसमें पराजय) होता है, आकाश मण्डलमें सैन्यका विनाश या मृत्यु होती है ॥९६॥

पुरन्दर मण्डलके होनेपर यदि उपर्युक्त प्रश्न किया जाय तो युद्धमें विजय होगी, तथा वरुण मण्डलके रहते हुए युद्धविषयक प्रश्नके करनेपर उससे भी अधिक अभीष्ट सिद्ध होगा, अथवा शत्रुके पराजित होनेसे अपनी सिद्धिको सूचित करनेवाली सन्धि होगी ॥९७॥

---

१. L S श्वसनैर्मृत । २. M N समादेश्यः । ३. F घोरतरे । ४. L F संग्रामे""विनाशो ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1405) वर्षति भौमे मघवान्[1] वरुणे तु मनोमतं[2]स्तथाजस्रम् ।
दुर्दिनघनाश्च पवने वह्नौ वृष्टिः कियन्मात्रा[3] ॥९८

1406) सस्यानां निष्पत्तिः स्याद्वरुणे पार्थिवे च सुश्लाघ्या ।
स्वल्पापि न चाग्नेये वाय्वाकाशे तु मध्यस्था ॥९९

1407) नृपतिगुरुबन्धुवृद्धा अपरे ऽप्यभिलषितसिद्धये लोकाः ।
पूर्णाङ्गे कर्तव्या विदुषा वीतप्रपञ्चेन ॥१००

1408) शयनासनेषु दक्षैः पूर्णाङ्गनिवेशितासु योषासु ।
ह्रियते चेतस्त्वरितं नातो ऽन्यद्वश्यविज्ञानम् ॥१०१

1405) **वर्षति भौमे**—भौमे पार्थिवे मघवान् मेघः वर्षति । वरुणे तत्त्वे तथाजस्रं निरन्तरं मनोमतं मनोवाञ्छितं स्यात् । च पुनः । दुर्दिनघनाः श्यामाभ्रमेघाः पवने । वह्नौ वह्नितत्त्वे वृष्टिः कियन्मात्रा भवति । इति सूत्रार्थः ॥९८॥ अथ पुनरेषां विचारमाह ।

1406) **सस्यानाम्**—वरुणतत्त्वे सस्यानां निष्पत्तिः । पार्थिवे । च पुनः । सुश्लाघ्या । आग्नेये स्वल्पापि न च । तु पुनः । वाय्वाकाशे मध्यस्था । इति सूत्रार्थः ॥९९॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1407) **नृपतिगुरु**—विदुषा पण्डितेन वीतप्रपञ्चेन पूर्णाङ्गे पूर्णस्वरे कर्तव्याः । के । लोकाः । किमर्थम् । अभिलषितसिद्धये । अपरे ऽपि । नृपतिगुरुबन्धुवृद्धाः । इति सूत्रार्थः ॥१००॥ अथ स्त्रीणां वश्यतामाह ।

1408) **शयनासनेषु**—अतो ऽन्यद्वश्यविज्ञानं न । कुतः । शयनासनेषु दक्षैश्चतुरैर्योषासु

पार्थिव मण्डलमें वर्षाविषयक प्रश्नके करनेपर इन्द्र बरसता है—वर्षा होती है, वरुण मण्डलके होनेपर निरन्तर मनको अभिमत होता है—इच्छानुसार वृष्टि होती है, पवन नामक मण्डलके होते हुए दुर्दिनस्वरूप आकाश मेघोंसे आच्छादित रहता है, तथा अग्नि मण्डलके होनेपर कुछ ही वर्षा होती है ॥९८॥

धान्य (फसल) की उत्पत्तिविषयक प्रश्न यदि वरुण मण्डलमें किया जाता है तो धान्यों (अनाजों) की सिद्धि होती है, पार्थिव मण्डलमें धान्योंकी उत्पत्ति अतिशय प्रशंसनीय अवस्थामें होती है, आग्नेय मण्डलमें थोड़ी सी भी वर्षा नहीं होती है, तथा वायु व आकाश मण्डलमें मध्यस्थ होती है—अनाजोंकी उत्पत्ति मध्यम अवस्थामें होती है ॥९९॥

अभीष्टकी सिद्धिके लिए विद्वान् मनुष्यको विपरीतभावको छोड़कर राजा, गुरु, बन्धु, वृद्ध तथा अन्य जनोंको भी पूर्णांगमें करना चाहिए—पूरक पवनके होनेपर उनको वशमें करना चाहिए ॥१००॥

जो जन शयन और आसनमें चतुर हैं उन्हें स्त्रियोंको पूर्णांगमें स्थापित करनेपर—

१. K X Y R मघवा । २. M L F मतं, N मनोगत, S K Y R °णे ऽभिमतो मत, T मनोगतं यथा । ३. F कियन्मात्रः स्यात् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1409) [उक्तं च–
राञ्यन्तयामवेलायां प्रसुप्ते कामिनीजने ।
ब्रह्मबीजं पिबेद्यस्तु बालाजीवं हरेन्नरः ॥१०१*१

1410) तसहंतरु ससि उप्परि किज्जइ सत्तवार ससि सूरहं णिज्जइ ।
तिण्णि वार पुणु अप्पा दिज्जइ जो जाणइ सो अमणु हविस्सइ॥१०१*२]

1411) अरिऋणिक[2] चौरदुष्टा अपरे ऽप्युपसर्गविग्रहा[3]द्याश्च ।
रिक्ताङ्गे कर्तव्या जयलाभसुखार्थिभिः पुरुषैः ॥१०२

1412) रिपुशस्त्रसंप्रहारे रक्षति यः पूर्णगात्रभूभागम् ।
बलिभिरपि वैरिवर्गैर्न भिद्यते तस्य सामर्थ्यम् ॥१०३

पूर्णाङ्गे निवेशितासु स्थापितासु। तासां चेतः त्वरितं ह्रियते। इति सूत्रार्थः ॥१०१॥ [पुनस्तदेवाह।

1409-10) **राञ्यन्त**—यो नरः राञ्यन्तयामवेलायां उषःकाले । कामिनीजने प्रसुप्ते निद्रिते । ब्रह्मबीजं पिबेत् । सः बालाजीवं हरेत् बालां वशम् आनयेत् । तस्याभ्यन्तरः शशी उपरि क्रियते, सप्तवारान् शशी सूर्यस्य नीयते, त्रीन् वारान् पुनर् आत्मा दीयते, यः जानाति सो अमनस्कः भवति ॥ इति सूत्रार्थः ॥१०१* १-२॥] अथ शून्यस्वरफलमाह ।

1411) **अरिऋणिक**—अरिऋणिकचौरदुष्टा वैरिअधमर्णदस्युदुष्टाः । रिक्ताङ्गे शुभाङ्गे कर्तव्याः । अपरे ऽपि उपसर्गविग्रहाद्याः म्लेच्छादिकृतदुर्वाक्यकलहाद्याः । कैः । जयलाभसुखार्थिभिः पुरुषैः । इति सूत्रार्थः ॥ १०२ ॥ अथैतदेवाह ।

1412) **रिपुशस्त्र**—यः पूर्णगात्रभूभागं रिपुशस्त्रसंप्रहारे रक्षति तस्य पुंसः सामर्थ्यं बलिभिरपि न भिद्यते । क्व । वैरिवर्गे* । इति सूत्रार्थः ॥१०३ ॥ अथ गर्भविषयविचारमाह ।

जिस ओर नासिकाका स्वर परिपूर्ण हो उस ओर बैठानेपर—उनका मन शीघ्र ही हरा जाता है—वे शीघ्र वशमें हो जाती हैं। इसको छोड़कर वशीभूत करनेके लिए अन्य कोई विशेष ज्ञान (उपाय) नहीं है॥१०१॥

कहा भी है—प्रातःकालमें स्त्रियोंके निद्रित रहनेपर जो मनुष्य ब्रह्मबीज पीता है वह बालिकाओंका मन आकृष्ट करता है॥१०१*१॥ उसके भीतर चन्द्रको ऊर्ध्वस्थानमें रखना चाहिये। सात बार चन्द्रको सूर्यकी तरफ ले लेना चाहिये। उसी तरह तीन बार फिर आत्माको दिया जाता है। इस तरह जो जानता है वह अमनस्क योगी होता है। (?) १०२*२॥ जो पुरुष विजय, लाभ एवं सुखकी इच्छा करते हैं उन्हें शत्रु, ऋणी (कर्जदार), चोर, दुष्ट तथा अन्य भी उपसर्ग एवं युद्ध आदिमें तत्पर रहनेवाले जनोंको रिक्त स्वरमें करना चाहिए—जिस नासिकाछिद्रसे वायु न बहता हो उस ओर उन्हें स्थापित करना चाहिए॥१०२॥

शत्रुके द्वारा किये गये शस्त्रप्रहारमें जो पूर्णांगके भूभागकी—जिस ओर नासिकाका छिद्र परिपूर्ण हो उस ओरके प्रदेशकी—रक्षा करता है उसके सामर्थ्यको बलवान् शत्रुओंके समूह भी खण्डित नहीं कर सकते हैं॥१०३॥

---

१. Only in N। २. M रिणकंचोर, N रणिक, T रिणिक। ३. N निग्रहा°।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1413) वरुणमहेन्द्रौ शस्तौ प्रश्ने गर्भस्य पुत्रदौ ज्ञेयौ ।
इतरौ स्त्रीजन्मकरौ शून्यं गर्भस्य नाशाय ॥१०४

1414) नासाप्रवाहदिग्भागे गर्भार्थं यस्तु पृच्छति ।
पुरुषः पुरुषादेशं शून्यभागे तथाङ्गना ॥१०५

1415) विज्ञेयः संमुखे षण्ढः शुष्मणायामुभौ[1] शिशू ।
गर्भहानिस्तु संक्रान्तौ समे क्षेमं विनिर्दिशेत् ॥१०६

1416) [उक्तं च[2]—
ईडा तोयमयी प्रोक्ता पिङ्गला वह्निरूपिणी ।
सुषुम्ना शंभुरूपेण शंभुर्हंसस्वरूपकः ॥१०६*१]

1413) **वरुणमहेन्द्रौ**—इतरौ वायुखाग्नितत्त्वौ स्त्रीजन्मकरौ । शून्यं गर्भस्य नाशाय । इति सूत्रार्थः ॥१०४॥ अथ पुनः गर्भप्रश्नमाह ।

1414) **नासाप्रवाह**—नासाप्रवाहदिग्भागे गर्भार्थं पृच्छति पुरुषः । पुरुषादेशम् । शून्यभागे तथा अङ्गना वक्तव्या । इति सूत्रार्थः ॥१०५॥ अथ पुनर्गर्भप्रश्नमाह ।

1415) **विज्ञेयः**—सन्मुखे स्वरे षण्ढो विज्ञेयः । शुष्मणायामुभौ शिशू । शुष्मणायां सत्याम् उभौ द्वौ शिशू बालकौ । संक्रान्तौ सूर्याच्चन्द्रे चन्द्रात् सूर्ये । तु पुनरर्थे । गर्भहानिः । समे द्वयोः समावस्थायां क्षेमं कल्याणं विनिर्दिशेत् । इति सूत्रार्थः ॥१०६॥ [ईडादीनां ग्रन्थान्तरोक्तं स्वरूपमाह ।

1416) **ईडा तोयमयी**—तोयमयी जलरूपिणी । सुषुम्ना नाडी शंभुरूपेण शिवरूपेण स्थिता । इति सूत्रार्थः ॥१०६*१॥]

गर्भविषयक प्रश्नमें वरुण और पुरन्दर मण्डलोंको शुभ व पुत्रके देनेवाले तथा शेष पवन और आग्नेय मण्डलोंको पुत्रीजन्मके सूचक जानना चाहिए। शून्य (आकाश मण्डल) गर्भका नाशक होता है ॥१०४॥

जिस नासिकाछिद्रसे वायु बह रहा हो उस दिशाभागमें स्थित होकर जो पुरुष गर्भके विषयमें पूछता है उसके लिए पुत्रोत्पत्तिकी तथा शून्यभागमें—खाली नासिकाछिद्रकी ओर स्थित रहकर प्रश्न करनेपर—पुत्रीकी उत्पत्तिकी सूचना करना चाहिए ॥१०५॥

सामने स्थित रहकर प्रश्न पूछनेपर नपुंका जन्म जानना चाहिए, सुषुम्ना नाडीकी ओर स्थित रहकर प्रश्न करनेपर दो बालकोंकी उत्पत्तिकी सूचना करना चाहिए। संक्रान्तिमें—मण्डलकी परिवर्तित अवस्थामें प्रश्न करनेपर—गर्भके नाश तथा सम अवस्थामें कुशलका निर्देश करना चाहिए ॥१०६॥

कहा भी है—ईडानाडी जलमय, पिङ्गला अग्निमय, सुषुम्ना शंभुमय कही है। और शंभु हंसरूप माना है ॥१०६*१॥

1. All others except P S सुषुम्नायां, S सुष्मनाया । 2. Only in N ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1417) ज्ञायेत यदि न सम्यग्मरुत्तदा विन्दुभिः स निश्चेयः ।
सितपीतारुणकृष्णैर्वरुणावनिदहनपवनोत्थैः ॥१०७

1418) कर्णाक्षिनासिकापुटमङ्गुष्ठप्रथममध्यमाङ्गुलिभिः ।
द्वाभ्यामपिधाय मुखं करणेन हि दृश्यते बिन्दुः ॥१०८

1419) दक्षिणामथवा वामां यो[3] निषेद्धुं समीप्सति ।
तदङ्गं पीडयेदन्यां नासानाडीं समाश्रयेत् ॥१०९

1420) अग्रे वामविभागे चन्द्रक्षेत्रं वदन्ति तत्त्वविदः ।
[4]पृष्ठौ च दक्षिणाङ्गे रवेस्त [देवा] दाहुराचार्याः ॥११०

1417) **ज्ञायेत**—यदि मरुद् वायुर्नाडीविषयो यदि सम्यङ् न ज्ञायेत, तदा स वायुः बिन्दुभिर्निश्चेयो निर्णेतव्यः। कीदृशैर्बिन्दुभिः। सितपीतारुणकृष्णैः शुक्लपीतारक्तश्यामैः। पुनः कीदृशैः। वरुणावनिदहनपवनोत्थैः वरुणपृथ्व्यग्निवायुजातैः। इति सूत्रार्थः ॥१०७॥ अथ बिन्दुदर्शनप्रकारमाह।

1418) **कर्णाक्षि**—कर्णाक्षिनासिकापुटम् अङ्गुष्ठप्रथममध्यमाङ्गुलिभिः पिधायावृत्य। च पुनः। द्वाभ्यामङ्गुलिभ्यां मुखं पिधाय* । हि निश्चितम्। करणेन बिन्दुर्दृश्यते ॥१०८॥ पुनरेतदेवाह।

1419) **दक्षिणाम्**—दक्षिणां नाडीम् अथवा वामां यो निषेद्धुं समीप्सति तदङ्गम् अन्यां नासानाडीं समाश्रयेत्। इति सूत्रार्थः ॥१०९॥ [कस्य किं क्षेत्रं तदाह।]

1420) **अग्रे वाम**—तत्त्वविदः वामविभागे चन्द्रक्षेत्रं वदन्ति कथयन्ति। च पुनः। पृष्टौ* दक्षिणाङ्गे रवेः सूर्यस्य तदेव क्षेत्रमाहुराचार्याः। इति सूत्रार्थः ॥११०॥ अथ मण्डलानां गतिमाह।

यदि वायुका भलीभाँति ज्ञान न हो सकता हो तो फिर उसका निश्चय वरुण, पृथिवी, अग्नि और पवन मण्डलोंसे क्रमशः उत्पन्न हुई धवल, पीली, लाल और काली बिन्दुओंके द्वारा करना चाहिए ॥१०७॥

दोनों अँगूठोंके द्वारा कर्णपुटोंको, प्रथम अँगुलियोंके द्वारा नेत्रपुटोंको, मध्यमा अँगुलियोंके द्वारा नासिका पुटोंको तथा अनामिका और कनिष्ठा अँगुलियोंके द्वारा मुखको ढकनेपर मनके द्वारा बिन्दु देखा जाता है—एकाग्र मनसे उपर्युक्त धवलादि बिन्दुओंको जाना जाता है ॥१०८॥

जो दक्षिण अथवा वाम नाडीको रोकना चाहता है उसे उस अंगको पीड़ित करके—दबा करके—मनसे अन्य नाडीका आश्रय करना चाहिए ॥१०९॥

प्राणायामके ज्ञाता आचार्य अग्र (सामनेका भाग) और वाम विभागमें चन्द्रक्षेत्रको बतलाते हैं तथा पिछले भाग और दक्षिण भागमें सूर्यके क्षेत्रको कहते हैं ॥११०॥

१. S T K X Y R पवनदहनोत्थैः। २. All others except P M N द्वाभ्यां च पिधाय। ३. M N यां। ४. M N पृष्ठे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1421) अवनिवनदहनमण्डलविचलनशीलस्य तावदनिलस्य ।
गतिऋजुरेव मरुत्पुरविहारिणः सा तिरश्चीना ॥१११

1422) पवनः प्रवेशकाले जीव इति प्रोच्यते महामतिभिः ।
निष्क्रमणे निर्जीवः फलमपि च तयोस्तथाभूतम्[1] ॥११२

1423) जीवे जीवति विश्वं मृते मृतं सूरिभिः समुद्दिष्टम् ।
सुखदुःखजयपराजयलाभालाभादिमार्गो ऽयम् ॥११३

1424) संचरति यदा वायुस्तत्त्वात्तत्त्वान्तरं तदा ज्ञेयम् ।
यत्त्यजति तद्धि रिक्तं तत्पूर्णं यत्र संचरति[2] ॥११४

1421) **अवनिवन**—अवनिवनदहनमण्डलविचलनशीलस्य पृथ्व्यब्दहनाग्निविचलनशीलस्य तावदनिलस्य गतिः ऋजुरेव सरलैव। मरुत्पुरविहारिणः सा गतिः तिरश्चीना तिर्यग् इत्यर्थः ॥१११॥ अथ संज्ञान्तरेणाह ।

1422) **पवनः**—पवनः प्रवेशकाले जीव इति प्रोच्यते महामतिभिः पण्डितैः । निष्क्रमणे पवनस्य निर्जीवः । तयोस्तथाभूतं फलं ज्ञातव्यम् । इति सूत्रार्थः ॥११२॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1423) **जीवे जीवति**—जीवे प्राणे जीवति निर्वहति विश्वं जीवति । मृते प्राणे अचलति मृत इति व्यपदिश्यते समुद्दिष्टं सूरिभिराचार्यैः । सुखदुःखजयपराजयलाभालाभादिमार्गः अयं ज्ञातव्यः ॥११३॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1424) **संचरति**—यदा वायुस्तत्त्वात्तत्त्वान्तरं संचरति तत्पूर्णम् । यत्त्यजति तद्धि रिक्तम् । यत्र स्थाने *संक्रमतीति सूत्रार्थः ॥११४॥ अथ पुनः गमनकाले विचारमाह ।

पृथिवी, जल और अग्नि मण्डलोंमें विचरण करनेवाली वायुकी गति सरल (सीधी) ही है, परन्तु पवनपुरमें विचरण करनेवाली वायुकी वह गति तिरछी है ॥१११॥

प्रश्नके समय वायुके प्रवेशकालमें अतिशय बुद्धिमान् मनुष्य 'जीव' ऐसा कहते हैं तथा उक्त पवनके निकलते समय 'निर्जीव' ऐसा कहते हैं। उन दोनोंका फल भी उसी प्रकारका है ॥११२॥

'जीव' कहनेपर 'विश्व जीता है' तथा 'मृत' कहनेपर 'विश्व निर्जीव है' ऐसा आचार्योंके द्वारा कहा जाता है। यह सुख, दुख, जय, पराजय, लाभ और अलाभ आदिका मार्ग है ॥११३॥

वायु जब एक तत्त्वको छोड़कर दूसरे तत्त्वपर संचार करती है तब वह जिस तत्त्वको छोड़ती है उसे रिक्त और जिस तत्त्वपर वह संचार करती है उसे पूर्ण जानना चाहिए ॥११४॥

१. M S R तथा ज्ञेयम् । २. All others except P S संक्रमति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1425) ग्रामपुरयुद्धजनपदगृहराजकुलप्रवेशनिष्कासे ।
पूर्णाङ्गपादमग्रे कृत्वा व्रजतो ऽस्य सिद्धिः स्यात् ॥११५

1426) उक्तं च[1]—
अमृते प्रवहति नूनं केचित्प्रवदन्ति सूरयो ऽत्यर्थम् ।
जीवन्ति विषासक्ता म्रियन्ते च तथान्यथाभूते[2] ॥११५*१

1427) यस्मिन्नसति[3] म्रियते जीवति सति भवति चेतनाकलितः ।
जीवस्तदेव तत्त्वं विरला जानन्ति तत्त्वविदः ॥११५*२

1428) सुखदुःखजयपराजयजीवितमरणानि विद्म इति केचित् ।
[4]वायुप्रपञ्चरचनामवेदिनां कथमयं मानः ॥११५*३ ॥इति[5] ॥

1425) **ग्रामपुर**—अस्य व्रजतः पूर्णाङ्गपादम् अग्रे कृत्वा सिद्धिः स्यात् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥११५॥ अथ विषासक्तानां जीवितमरणज्ञानमाह ।

1426) **अमृते प्रवहति**—नूनं निश्चितम् । अमृते वामस्वरे प्रवहति सति केचित् सूरयो ऽत्यर्थं प्रवदन्ति, जीवन्ति विषासक्ताः । तथान्यथाभूते दक्षिणस्वरे वहमाने नश्यन्ति म्रियन्ते । इति सूत्रार्थः ॥११५*१॥ अथ तयोर्विशेषमाह ।

1427) **यस्मिन्नसति**—यस्मिन् असति प्राणाः म्रियन्ते । जीवति सति प्राणः चेतनाकलितो भवति जीवः । तदेव तत्त्वं विरलास्तत्त्वविदो जानन्ति । इति सूत्रार्थः ॥११५*२॥ अथ एतद्-ज्ञानानां स्वरूपमाह ।

1428) **सुखदुःख**—एतानि सुखादीनि सुगमानि । इति केचित् वदन्ति । विद्मः । वायुप्रपञ्च-रचनाम् अवेदिनाम् अयं मानः कथम् । इति सूत्रार्थः ॥११५*३॥ अथ कुम्भकादीनां सामर्थ्यमाह ।

गाँव, पुर, युद्ध, जनपद, घर और राजकुल; इनके भीतर प्रवेश करते समय और वहाँ से निकलते समय पूर्णांग पादको—जिस नासिका छिद्रसे वायु बह रही हो उस ओरके पाँवको—आगे करके चलनेवाले प्राणीका अभीष्ट सिद्ध होता है ॥११५॥ कहा भी है—

अमृत (चन्द्र-वाम नाडी) के बहनेपर विषमें अतिशय आसक्त प्राणी निश्चयसे जीवित रहते हैं और इसके विपरीत सूर्य (दक्षिण) नाडीके बहनेपर प्राणी मरणको प्राप्त होते हैं, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं ॥११५*१॥ जिसके न रहनेपर प्राणी मरणको प्राप्त होता है तथा जिसके रहनेपर वह जीवित रहकर चेतनासे संयुक्त होता है उसी तत्त्वको विरले ही तत्त्वज्ञ जानते हैं ॥११५*२॥ हम सुख, दुख, जय, पराजय, जीवन और मरण; इनको जानते हैं, ऐसा कितने ही मनुष्य कहा करते हैं। परन्तु वायुके विस्तारकी रचनाको न जाननेवाले उनका वह अभिमान कैसे रह सकता है ? नहीं रह सकता है ॥११५*३॥

१. M N T Y om. उक्तं च । २. M N Y सक्तास्तथा म्रियन्ते ऽन्यथाभूते, L F सक्ता नश्यन्ति तथा, T सक्ता नङ्क्ष्यन्ति तथा, K X R म्रियते च । ३. M N च म्रियते........कुलितः........सत्त्वं । ४. P वायुः । ५. P M N इति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1429) कुर्वीत पूरके सत्याकृष्टिं कुम्भके तथा स्तम्भम् ।
उच्चाटनं च योगी रेचकविज्ञानसामर्थ्यात् ॥११६
1430) इदमखिलं श्वसनभवं सामर्थ्यं स्यान्मुनेर्ध्रुवं तस्य ।
यो नाडिकाविशुद्धिं सम्यक् कर्तुं विजानाति ॥११७
1431) यद्यपि समीरचारश्चपलतरो योगिभिः सुदुर्लक्ष्यः ।
जानाति विगततन्द्रस्तथापि नाड्यां कृताभ्यासः ॥११८
²नाडिकाशुद्धिः । तद्यथा—
1432) सकलं बिन्दुसनाथं रेफाक्रान्तं हवर्णमनवद्यम् ।
चिन्तयति नाभिकमले सुबन्धुरं कर्णिकारूढम् ॥११९

1429) कुर्वीत—पूरके सति आकृष्टिं करोति । तथा कुम्भके स्तम्भं करोति । रेचके योगी रेचकविज्ञानसामर्थ्यात् उच्चाटनं करोति । इति सूत्रार्थः ॥११६॥ अथ पूर्वोक्तानां नाडिकायाः कारणत्वमाह ।

1430) इदमखिलं—तस्य मुनेरिदमखिलं समस्तश्वसनभवं सामर्थ्यं स्यात् । ध्रुवं यो नाडिकाविशुद्धिं सम्यक् कर्तुं विजानाति । इति सूत्रार्थः ॥११७॥ अथ नाडिचारस्य दुर्लक्ष्यत्वमाह ।

1431) यद्यपि—विगततन्द्रः गतालस्यः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥११८॥ अथ नाडिकाविशुद्धिः* । तद्यथा दर्शयति ।

1432) सकलं—हवर्णं चिन्तयति । सकलम् अर्धचन्द्राकारकलङ्कम् । क्व । नाभिकमले । बिन्दुसनाथं बिन्दुसहितम् । पुनः कीदृशम् । रेफाक्रान्तं रेफव्याप्तम् । पुनः कीदृशम् । अनवद्यं निष्पापम् । पुनः कीदृशम् । सुबन्धुरम् । कर्णिकारूढं कर्णिकास्थितम् । इति सूत्रार्थः ॥११९॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

योगी पूरक प्राणायामके होनेपर आकर्षणको, कुम्भक प्राणायामके होनेपर स्तम्भनको और रेचक प्राणायामके होनेपर विशिष्ट ज्ञानके बलसे उच्चाटनको करे ॥११६॥

जो मुनि भली भाँति नाडीकी विशुद्धिको करना जानता है उसके निश्चयसे वायुसे उत्पन्न होनेवाला यह सब ही सामर्थ्य हुआ करता है ॥११७॥

यद्यपि वायुकी गति अतिशय चंचल होनेसे योगी जनोंके द्वारा भी बड़े कष्टसे देखी जाती है तो भी जिस योगीने आलस्यको छोड़कर नाडीके विषयमें योग्य अभ्यास किया है वह उसे जाना करता है ॥११८॥ वह नाडिकाकी शुद्धि इस प्रकार है—

योगी कला (˘) से सहित, बिन्दु (०) से संयुक्त तथा रेफ (˚) से परिपूर्ण ऐसे सुन्दर व निर्दोष 'ह' वर्णको नाभिरूप कमलकी कर्णिकाके ऊपर आरूढ हुआ विचार करता है । अभिप्राय यह है कि योगीको अपने नाभिरूप कमलकी कर्णिकापर अवस्थित निर्मल 'हँ' इस बीज पदका चिन्तन करना चाहिए ॥११९॥

१. M N सत्यामाकृष्टिं, T सत्यां कृष्टिं । २. M N पवनाभ्यासो ऽयम् । नाडिकाशुद्धिस्तद्यथा, L F T नाडिकाविशुद्धिः । तद्यथा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1433) रेचयति ततः शीघ्रं पतङ्गमार्गेण भासुराकारम् ।
ज्वालाकलापकलितं स्फुलिङ्गमालाकराक्रान्तम् ॥१२०

1434) तरलतडिदुग्रवेगं धूमशिखावर्तरुद्धदिक्चक्रम् ।
गच्छन्तं गगनतले दुर्धर्षं देवदैत्यानाम् ॥१२१

1435) शरदिन्दुधामधवलं गगनतलान्मन्दमन्दमवतीर्णम् ।
क्षरदमृतमिव सुधांशोः पूरयति यथा पुनः पुरतः ॥१२२

1436) आनीय नाभिकमलं निवेश्य तस्मिन् पुनः पुनश्चैवम् ।
अनलसमनसा कार्यं प्रवेशनिष्क्रमणमनवरतम् ॥१२३

1433) **रेचयति**—ततो नाभिकमलात् रेचयति शीघ्रम् । केन । पतङ्गमार्गेण सूर्यमार्गेण । कीदृशम् । भासुराकारं सुगमम् । ज्वालाकलापे कलितं, प्रसिद्धम् । पुनः कीदृशम् । स्फुलिङ्गमाला-कराक्रान्तम् । कराः किरणाः । इति सूत्रार्थः ॥१२०॥ अथ पुनस्तस्यैव स्वरूपमाह ।

1434) **तरल**—पुनः कीदृशम् । तरलतडिदुग्रवेगम् । पुनः कीदृशम् । धूमशिखावर्तरुद्ध-दिक्चक्रं धूमशिखाया आवर्तः भ्रमः तेन रुद्धं दिक्चक्रं येन तत्तथा । पुनः कीदृशम् । गगनतले आकाशतले गच्छन्तम् । पुनः कीदृशम् । देवदैत्यानां दुर्धर्षं दुःसहनीयम् । इति सूत्रार्थः ॥१२१॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1435) **शरदिन्दु**—यथा पुनः पुरतः पूरयति । कीदृशम् । शरदिन्दुधामधवलं शरत्कालीन-चन्द्रसदृशम् । पुनः कीदृशम् । गगनतलादवतीर्णम् उत्तरितम् । इवोत्प्रेक्षते । सुधांशोः चन्द्रस्या-मृतमिव क्षरत् । इति सूत्रार्थः ॥१२२॥ अथैतदेवाह ।

1436) **आनीय**—आनीय नाभिकमलम् । तस्मिन् नाभिकमले । पुनः पुनश्चैव । अनवरतं

तत्पश्चात् ज्वालाओंके समूहसे वेष्टित और अग्निकणोंकी पंक्तियोंकी किरणोंसे व्याप्त उस चमकते हुए 'हुँ' को शीघ्र ही सूर्यके मार्ग (दक्षिण नासिकाछिद्र) से बाहर निकालता है। पश्चात् धुएँकी शिखाओंके घेरेसे दिशामण्डलको रोककर चंचल बिजलीके समान तीव्र वेगसे आकाशतलमें जाते हुए देवों व दैत्योंके द्वारा वशमें न हो सकनेवाले, शरत्कालीन चन्द्रमाकी चाँदनीके समान धवल और फिर आकाशतलसे धीरे-धीरे नीचे उतरते हुए मानो अमृतकी ही वर्षा करनेवाले उक्त वर्ण (हुँ) को चन्द्रमाके मार्ग (वाम नासिकाछिद्र) से पूर्ण करता है—उसे पुनः नाभिकमलमें प्रविष्ट कराता है॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि तत्पश्चात् योगीको ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि वह 'हुँ' दाहिनी ओरके नासिकाछिद्रसे बाहर निकलकर अग्निकी ज्वालाओं और कणोंसे वेष्टित होता हुआ तीव्र वेगसे आकाशमें जा रहा है। पश्चात् वह उस आकाशतलसे धीरे-धीरे नीचे उतरकर बायीं ओरके नासिका छिद्रसे पुनः उस नाभिकमलके भीतर प्रविष्ट हो रहा है, ऐसा विचार करना चाहिए ॥१२०-२२॥

इस प्रकारसे उसे लाकर और नाभिकमलके ऊपर स्थापित करके उसके विषयमें मनसे

१. S R निःसरण ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1437) अथ नाभिपुण्डरीकाच्छनैः शनैर्हृदयकमलनालेन ।
निःसारयति समीरं पुनः प्रवेशयति सोद्योगम् ॥१२४

1438) नाडीशुद्धिं कुरुते दहनपुरं दिनकरस्य मार्गेण ।
निष्क्रामद्विशदिन्दोः पुरमितरेणेति के ऽप्याहुः ॥१२५

1439) इति नाडिकाविशुद्धौ[1] परिकलिताभ्यासकौशलो योगी ।
आत्मेच्छयैवं[2] घटयति पुटयोः[3] पवनं क्षणार्धेन ॥१२६

1440) एकस्यामयमास्ते कालं नाडीयुगद्वयं[4] सार्धम् ।
तामुत्सृज्य ततो ऽन्यामधितिष्ठति नाडिकामनिलः ॥१२७

निरन्तरम् । अनलसमनसा आलस्यरहितचित्तेन । प्रवेशनिष्क्रमणं कार्यम् । इति सूत्रार्थः ॥१२३॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1437) **अथ नाभि**—अथ नाभिपुण्डरीकात् समीरं वायुं हृदयनालेन शनैः शनैर्मन्दं मन्दं निःसारयति । पुनः कीदृशम् । सोद्योगं सयत्नम् । प्रवेशयति । इति सूत्रार्थः ॥१२४॥ अथ नाडीशुद्ध्युपायमाह ।

1438) **नाडीशुद्धिम्**—दहनपुरमग्नितत्त्वं दिनकरस्थमार्गेण सूर्यस्वरेण नाडीशुद्धिं कुरुते । निष्क्रामत् इन्दोः पुरं चन्द्रमार्गेण विशत् । इति के ऽप्याहुराचार्याः ॥१२५॥ अथ नाडीशुद्धिकार्यमाह ।

1439) **इति नाडिका**—नाडिकाशुद्धौ जायमानायां परिकलिताभ्यासकौशलो योगी । आत्मेच्छयैव क्षणार्धेन पुटयोर्नासिकाद्वारयोः क्षणार्धेन पवनं घटयति । इति सूत्रार्थः ॥१२६॥ अथ नाडीसंक्रममाह ।

1440) **एकस्यामयम्**—एकस्यां नाडिकायां नाडीयुगद्वयं कालमास्ते तिष्ठत्ययम् । सार्धं ततो

आलस्यको दूर करके—एकाग्रतापूर्वक—निरन्तर उसके बार-बार प्रवेश करने और बाहर निकलनेका विचार करना चाहिए ॥१२३॥

पश्चात् नाभिकमलसे हृदयरूप कमलके नालके द्वारा वह प्रयत्नपूर्वक वायुको बाहर निकालता है और फिर भीतर प्रविष्ट कराता है ॥१२४॥

अग्निपुर सूर्यके मार्गसे निकलकर व प्रवेश करके तथा वरुणपुर दूसरे मार्गसे—चन्द्रके मार्गसे—निकलकर व प्रवेश करके नाडीकी शुद्धिको करता है, ऐसा कितने ही अन्य आचार्य कहते हैं ॥१२५॥

इस प्रकार नाडीकी शुद्धिके हो जानेपर जो योगी वायुके अभ्यासमें निपुणताको प्राप्त कर चुका है वह आधे क्षणमें ही पवनको अपनी इच्छाके अनुसार दोनों नासिकापुटोंके भीतर घटित करता है—उसका इच्छानुसार वहाँ संचालन कर सकता है ॥१२६॥

यह पवन एक नाडीमें अढ़ाई नाली युग (मुहूर्त) प्रमाण काल तक रहता है। तत्पश्चात् वह उसे छोड़कर दूसरी नाडीके भीतर अधिष्ठित होता है ॥१२७॥

१. S विशुद्ध, K X Y R विशुद्धि । २. N °च्छयेव । ३. M N पटयोः । ४. P युगल ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1441) [1]षोडशप्रमितः कैश्चिन्निर्णीतो वायुसंक्रमः ।
अहोरात्र[2]मिते काले द्वयोर्नाड्योर्यथाक्रमम् ॥१२८

1442) षट्शताभ्य[3]धिकान्याहुः सहस्राण्येकविंशतिः ।
अहोरात्रे नरि स्वस्थे प्राणवायोर्गमागमा[4]ः ॥१२९

1443) संक्रान्तिमपि नो वेत्ति यः समीरस्य मुग्धधीः ।
स तत्त्वनिर्णयं कर्तुं प्रवृत्तः किं न लज्जते ॥१३०

1444) अथ कौतूहलहेतोः करोति वेधं समाधिसामर्थ्यात् ।
सम्यग्विनीतपवनः शनैः शनैरर्कतूलेषु[5] ॥१३१

ऽन्यामधितिष्ठति। किंकृत्य। तां नाडीमुत्सृज्य त्यक्त्वा। अनिलः पवनः। इति सूत्रार्थः ॥१२७॥ अथ पुनर्नाडीसंक्रमणकालमाह।

1441) **षोडशप्रमितः**—कैश्चित् षोडशप्रमितः कालः वायुसंक्रमो निर्णीतः। अहोरात्रमिते काले द्वयोर्नाड्योर्यथाक्रमं कालसंक्रमः। इति सूत्रार्थः ॥१२८॥ अहोरात्रे संक्रमकालमाह।

1442) **षट्शताभ्यधिकानि**—अहोरात्रे नरि मनुष्ये स्वस्थे प्राणवायोर्गमागमा एकविंशतिः। अहोरात्रिसहस्राणि षट्शताभ्यधिकानि आहुः कथयामासुः। इति सूत्रार्थः ॥१२९॥ अथ संक्रमणकालाज्ञानिनो मुग्धत्वमाह।

1443) **संक्रान्तिमपि**—यः पुमान् शरीरस्थवायोः संक्रान्तिं संक्रमकालं नो वेत्ति। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥१३०॥ अथ पुनरेतदेवाह।

1444) **अथ कौतूहल**—अथेत्यानन्तर्ये। कौतूहलहेतोः वेधं करोति। कस्मात्। समाधिसामर्थ्यात् शनैः अर्कमूलेषु* सम्यक् विनीतपवनः। इति सूत्रार्थः ॥१३१॥ अथ पुनरेतदेवाह।

कितने ही आचार्योंने दिन-रात (६० घड़ी) प्रमाण कालके भीतर दोनों नाडियोंमें क्रमसे होनेवाले इस वायुके संक्रमणको सोलह बार निश्चित किया है। अभिप्राय यह कि उनके मतानुसार इस वायुका परिवर्तन दिन-रातमें दोनों नाडियोंके भीतर क्रमसे सोलह बार होता है ॥१२८॥

नीरोग मनुष्यमें प्राणवायुका जाना और आना दिन-रातके भीतर इक्कीस हजार छह सौ (२१६००) बार निर्दिष्ट किया गया है ॥१२९॥

जो मूढ़बुद्धि मनुष्य वायुके संक्रमणको भी नहीं जानता है वह तत्त्वका निर्णय करनेके लिए प्रवृत्त होता हुआ लज्जित क्यों नहीं होता है ? उसे अवश्य लज्जित होना चाहिए ॥१३०॥

जिस योगीने भली भाँति पवनके विषयमें अभ्यासकर लिया है वह समाधिके बलसे कौतूहलवश धीरे-धीरे आककी रुईके ऊपर वेध करता है—पवनको उसके ऊपर छोड़ता है ॥१३१॥

१. P षोडशः। २. L रात्र्योर्मिते, F रात्रौ। ३. L S F K X R °शतान्यधिका°....विंशति। ४. L F गमागमः, K X Y R गमागमौ। ५. K मूलेषु।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1445) तत्र कृतनिश्चयो ऽसौ जातीबकुलादिपुष्पमकुलेषु[1] ।
स्थिरलक्ष्यतया शश्वत्करोति वेधं वितन्द्रात्मा ॥१३२

1446) कर्पूरकुङ्कुमागु[2]रुमलयजकुष्ठादिगन्धद्रव्येषु ।
वरुणपवनेन वेधं करोति लक्ष्ये[3] स्थिराभ्यासः[4] ॥१३३

1447) [5]केचित् पुरप्रवेशं तन्वन्ति धनं जयेन पवनेन ।
स हि दुर्विचिन्त्यशक्तिः प्रकीर्तितो वायुतत्त्वज्ञैः ॥१३४

1448) एतेषु लब्धलक्ष्यस्ततो [6]ऽतिसूक्ष्मेषु पत्रिकायेषु ।
वेधं करोति [7]वायुप्रपञ्चसंयोजने चतुरः ॥१३५

1445) **तत्र कृत**—तत्र श्वसने कृतनिश्चयः असौ जातीबकुलादिगन्धद्रव्येषु स्थिरलक्षतया स्थिरविट्त्वेन शश्वन्निरन्तरं वेधं करोति । इति सूत्रार्थः ॥१३२॥ अथ वरुणतत्त्वफलमाह ।

1446) **कर्पूर**—वरुणः पवनवेधं करोति लक्ष्ये वस्तुनि कृताभ्यासः* । पूर्वार्धः सुगमः ॥१३३॥ [अथ वायुतत्त्वफलमाह ।

1447) **केचित् पुर**—केचित् योगिनः पवनजयेन पुरप्रवेशं तन्वन्ति कुर्वन्ति । हि यस्मात् । स पवनः दुर्विचिन्त्यशक्तिः अचिन्तनीयसामर्थ्यः प्रकीर्तितः कथितः । कैः । वायुतत्त्वज्ञैः । इति सूत्रार्थः ॥१३४॥] अथ एतस्यैव स्वरूपमाह ।

1448) **एतेषु**—सूक्ष्मेषु पत्रिकायेषु वेधं करोति । कीदृशः । एतेषु पूर्वोक्तेषु लब्धलक्षः ज्ञाततत्त्वः । वायुः* प्रपञ्चसंयोजने चतुरः । इति सूत्रार्थः ॥१३५॥ एतदेवाह ।

इस प्रकार जिसने उक्त आककी रुईके ऊपर वेधका निश्चय कर लिया है—जो उसका भली भाँति अभ्यास कर चुका है—वह योगी आलस्यसे रहित होकर निरन्तर जाती और बकुल आदि पुष्पोंकी कलियोंपर वेध करता है ॥१३२॥

इस प्रकार लक्ष्यके विषयमें दृढ़ अभ्यासके हो जानेपर योगी वरुण नामक पवनसे कपूर, केसर, अगुरु, मलय चन्दन और कूट आदि गन्धद्रव्योंके विषयमें वेध करता है ॥१३३॥

कितने ही योगी अग्नि नामक पवनके द्वारा पुरप्रवेशको विस्तृत करते हैं। कारण यह कि वायु तत्त्वके ज्ञाता विद्वानोंने उसकी अचिन्त्य शक्तिकी प्रशंसा की है ॥१३४॥

उपर्युक्त कपूर आदि गन्धद्रव्योंमें लक्ष्यके सिद्ध हो जानेपर फिर वायुके विस्तारके जोड़नेमें प्रवीण योगी सूक्ष्म पक्षियोंके शरीरमें वेध करता है ॥१३५॥

१. All others except P °लादिगन्धद्रव्येषु । २. M °मागरु । ३. M N बन्धे for लक्ष्ये । ४. M N L T F कृताभ्यासः । ५. Only in P. । ६. L S X Y R ततो ऽपि सूक्ष्मेषु, F K तनोति सू° । ७. All others except P M वायुः प्रपञ्च ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1449) मधुकरपतङ्गपत्रिषु तथाण्डजेषु[1] मृगशरीरेषु[2] ।
संचरति जातलक्ष्यस्त्वनन्यचित्तो[3] वशी धीरः ॥१३६

1450) नरतुरगकरिशरीरे क्रमेण संचरति निःसरत्येव ।
पुस्तोपलरूपेषु च यदृच्छया संक्रमं कुर्यात् ॥१३७

1451) इति परपुरप्रवेशाभ्यासोत्थसमाधिपरमसामर्थ्यात् ।
विचरति यदृच्छयासौ मुक्त इवात्यन्तनिर्लेपः ॥१३८॥ अथवा[4]–

1452) कौतुकमात्रफलो ऽयं पुरप्रवेशो[5] महाप्रयासेन ।
सिध्यति न वा कथंचिन्महतामपि[6] कालयोगेन ॥१३९

1449) **मधुकर**—वशी धीरः अनन्यचित्तः एकचित्तः जातलक्ष्यः संचरति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३६॥ अथ पुनरपि वायोः स्वरूपमाह ।

1450) **नरतुरग**—वायुः नरतुरगकरिशरीरे क्रमेण संचरति वा निःसरति । पुस्तोपलरूपेषु । च पक्षान्तरे । चित्रलिखितेषु पुस्तोपलेषु रूपेषु यथाक्रमं कुर्यादिति सूत्रार्थः ॥१३७॥ अथैव मुक्तो भवतीत्याह ।

1451) **इति पर**—असौ योगी यदृच्छया विचरति । मुक्त इव अत्यन्तनिर्लेपः निरञ्जनः । इति अमुना प्रकारेण । परपुरप्रवेश–परशरीरप्रवेशेन अभ्यासोत्थसमं समस्तम् अधिसामर्थ्यं तत-स्तस्मात् । इति सूत्रार्थः ॥१३८॥ अथवा परशरीरस्यासाध्यत्वमाह । अथवा ।

1452) **कौतुकमात्र**—अथवा* पक्षान्तरे । अयं परपुरप्रवेशः परशरीरप्रवेशः महाप्रयासेन

तत्पश्चात् पूर्वोक्त अभ्याससे सिद्ध हो जानेपर जितेन्द्रिय एवं धीर-वीर योगी एकाग्रचित्त होकर भ्रमर, पतंगा व पक्षियोंके शरीरमें, अण्डज प्राणियोंके शरीरमें तथा मृगोंके शरीरमें वेधको करता है ॥१३६॥

फिर क्रमसे वह योगी मनुष्य, घोड़ा और हाथीके शरीरमें संचार करता है और निकलता है । इस प्रकारसे उसे लेप्यनिर्मित व पाषाणनिर्मित मूर्तियोंमें भी इच्छानुसार संचार करना चाहिए ॥१३७॥

इस प्रकार दूसरोंके शरीरके भीतर प्रवेश करनेके अभ्याससे उत्पन्न हुई समाधिके उत्कृष्ट सामर्थ्यसे वह योगीमुक्त जीवके समान अतिशय निर्लेप होता हुआ इच्छानुसार विचरण करता है ॥१३८॥

अथवा, इस पुरप्रवेशका दूसरेके शरीरमें प्रवेश करनेका फल केवल कौतूहल ही है— इसके अतिरिक्त अन्य कोई उसका कल्याणकारक फल नहीं है । उक्त पुरप्रवेश कालके योगसे

१. M N L S T Y तथाण्डजेष्वेषु, K तथाण्डजे, X R तथाणुज्येष्ठेषु । २. Y पत्रिकायेषु । ३. S K X R °नन्यचेतो । ४. P M L F अथवा । ५. M L S T K X Y R परपुर° । ६. T °मपि च ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1453) स्मरगरलमनोविजयं समस्तरोगक्षयं[1] वपुःस्थैर्यम् ।
पवनप्रचारचतुरः करोति योगी न संदेहः ॥१४०

1454) जन्मशतजनितमुग्रं प्राणायामाद्विलीयते पापम् ।
नाडीयुगलस्यान्ते यतेर्जिताक्षस्य धीरस्य[2] ॥१४१

1455) उक्तं च[3] —
जलबिन्दुं कुशाग्रेण मासे मासे तु यः पिबेत् ।
संवत्सरशतं[4] साग्रं प्राणायामश्च तत्समः ॥१४१*१

सिध्यति । वा न वा । कथंचित् प्रकारेण महतामपि सत्पुरुषाणामपि कालयोगेन । इति सूत्रार्थः ॥१३९॥ अथ पवनधारणफलमाह ।

1453) **स्मरगरल**—योगी पवनप्रचारचतुरः स्मरगरलमनोविजयं सुगमम् । करोति । समस्तरोगक्षयं करोति । वपुःस्थैर्यं करोति । न संदेहः । इति सूत्रार्थः ॥१४०॥ अथ प्राणायामफलमाह ।

1454) **जन्मशत**—प्राणायामात् ध्यानात् उग्रं पापं विलीयते नश्यति । यतः कारणात् । जिताक्षस्य जितेन्द्रियस्य धीरस्य नाडीयुगलस्यान्ते दक्षिणवामद्वयस्यान्ते । इति सूत्रार्थः ॥१४१॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे* ।

1455) **जलबिन्दुं**—[यः मासे मासे प्रतिमासं कुशाग्रेण जलबिन्दुं पिबेत् पिबति । तस्य फलं संवत्सरशतं यावत् कृतेन प्राणायामेन तुल्यम् । इति सूत्रार्थः ॥१४१*१]

महापुरुषोंके भी अतिशय प्रयत्न करनेपर किसी प्रकारसे सिद्ध होता भी है, और कदाचित् नहीं भी सिद्ध होता है ॥१३९॥

जो योगी पवनके संचारमें दक्ष होता है वह कामवासना, भयानक विष और मनके ऊपर विजय प्राप्त करता है, समस्त रोगोंको नष्ट करता है तथा शरीरको स्थिर करता है; इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है ॥१४०॥

जितेन्द्रिय व धीर योगीके प्राणायामसे सैकड़ों जन्मोंमें उपार्जित महान् पाप दो नालियों (एक मुहूर्त) के भीतर—अन्तर्मुहूर्तमें—नष्ट हो जाता है ॥१४१॥ कहा भी है—

जो योगी एक-एक महीनेमें कुश (काँस) के अग्रभागसे केवल जलकी एक बूँदको सौ वर्षसे भी कुछ अधिक कालतक पीता है, प्राणायाम उसके समान है ॥१४१*१॥

---

१. M रोगः । २. L S F X R वीरस्य । ३. P M उक्तं च । ४. F शतमासं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-विरचिते प्राणायामप्रकरणम् ॥२६॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहऋषिदास-स्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन कारापितं प्राणायामप्रकरणम् ॥२६॥

पुराभवत्पार्श्वसुनामधेयः तदीयपादाम्बुजभास्करामभः। सट्टोडरो धर्मधुराधुरीणः जीयादिह श्रीऋषिदाससंज्ञः ॥१॥ आशीर्वादः। अथ प्राणायामानन्तरं प्रत्याहारमाह। अथ प्रत्याहारलक्षणमाह।

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें प्राणायामप्रकरण समाप्त हुआ ॥२६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

XXVII

[प्रत्याहारः]

1456) समाकृष्येन्द्रियार्थेभ्यः साक्षं[1] चेतः प्रशान्तधीः ।
यत्र यत्रेच्छया धत्ते स प्रत्याहार उच्यते[2] ॥१

1457) निःसंगः[3] संवृतस्वान्तः कूर्मवत्संवृतेन्द्रियः ।
यमी समत्व[4]मापन्नो ध्यानतन्त्रे स्थिरीभवेत् ॥२॥ किं च[5]

1458) गोचरेभ्यो हृषीकाणि तेभ्यश्चित्तमनाकुलम् ।
पृथक्कृत्य वशी धत्ते ललाटे ऽत्यन्तनिश्चलम् ॥३

1456) **समाकृष्य**—स प्रत्याहार उच्यते । स इति कः । इन्द्रियेभ्यः समाकृष्य यत्र यत्रेच्छया *साक्षाच्चेतः धत्ते । कीदृशः । प्रशान्तधीः । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ ध्यानयोग्यमाह ।

1457) **निःसंगः**—यमी व्रती समत्वमापन्नः । ध्यानतन्त्रे ध्यानविषये स्थिरीभवेत् । पूर्वार्धं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ किं च युक्त्यन्तरमाह ।

1458) **गोचरेभ्यः**—वशी गोचरेभ्यो हृषीकाणि इन्द्रियाणि । चित्तं पृथक् कृत्वा । चित्तं तेभ्यः अनाकुलं धत्ते ललाटे । कीदृशं चेतः । अनाकुलम् । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ प्राणायाम-प्रत्याहारयोः पृथक् फलमाह ।

अतिशय शान्तबुद्धि योगी इन्द्रियोंके साथ मनको भी इन्द्रियविषयोंकी ओरसे—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण व शब्दकी ओरसे—खींचकर इच्छानुसार जहाँ-जहाँ धारण करता है उसे प्रत्याहार कहते हैं ॥१॥

जो मुनि परिग्रहसे निर्ममत्व हो चुका है, जिसका मन सावद्य प्रवृत्तिसे रहित है तथा जिसकी इन्द्रियाँ कछुएके समान संकुचित हैं—स्वाधीन हो चुकी हैं वह समताभावको प्राप्त होता हुआ ध्यानके सिद्धान्तमें—उसकी सिद्धिमें—दृढ़ होता है ॥२॥

और भी, जितेन्द्रिय योगी विषयोंसे इन्द्रियोंको तथा इन्द्रियोंसे मनको पृथक् करके—उनकी ओरसे विमुख करके—आकुलतासे रहित हुए उस मनको अतिशय स्थिरतापूर्वक मस्तकमें धारण करता है ॥३॥

१. F साक्षात्, K °न्द्रियेभ्यस्ततसाक्षात् । २. M धत्ते तत्र तत्र स्थिरीभवेत्, N धत्ते प्रत्याहारः स कीर्तितः, T प्रत्याहारः स । ३-४. M निःशङ्कः........शमत्व° । ५. P M किं च ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1459) सम्यक्समाधिसिद्ध्यर्थं प्रत्याहारः प्रशस्यते ।
प्राणायामेन विक्षिप्तं मनः स्वास्थ्यं न विन्दति ॥४

1460) प्रत्याहृतं[1] पुनः स्वस्थं सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चेतः समत्वमापन्नं स्वस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ॥५

1461) वायोः संचारचातुर्यमणिमाद्यङ्गसाधनम् ।
प्रायः प्रत्यूहबीजं स्यान्मुनेर्मुक्तिमभीप्सतः ॥६

1462) किमनेन प्रपञ्चेन स्वसंदेहार्तहेतुना[2] ।
सुविचार्यैव तज्ज्ञेयं यन्मुक्तेर्बीजमग्रिमम् ॥७

1459) **सम्यक्समाधि**—[सम्यक् उत्तमरूपेण समाधिसिद्ध्यर्थं प्रत्याहारः प्रशस्यते उपकारकत्वेन स्तूयते । यतः प्राणायामेन विक्षिप्तं मनः तत्र स्वास्थ्यं न विन्दति न लभते इत्यर्थः ॥४॥] अथ प्रत्याहारफलमाह ।

1460) **प्रत्याहृतं**—स्वस्मिन् आत्मनि लयं साम्यं व्रजेत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ वायुचारं फलमाह ।

1461) **वायोः संचार**—वायोः संचारचातुर्यम् अणिमाद्यङ्गसाधनं स्यात् । मुक्तिमभीप्सतो मुक्तिं वाञ्छतो मुनेः प्रायो बाहुल्येन प्रत्यूहबीजं विघ्नमूलं स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ मुक्तिबीजमाह ।

1462) **किमनेन**—स्वस्य संदेहेनार्तजन्मना* यस्य तेन । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ प्राणायामस्य स्वरूपमाह ।

समाधिको भलीभाँति सिद्ध करनेके लिए प्रत्याहारकी प्रशंसा की जाती है । प्राणायामसे क्षोभको प्राप्त हुआ मन स्वस्थताको प्राप्त नहीं होता है ॥४॥

परन्तु प्रत्याहारको प्राप्त हुआ मन स्वस्थ और समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित होकर समताभावको प्राप्त होता हुआ अपने आत्मस्वरूपमें ही लीन होता है॥५॥

वायुके संचारविषयक प्रवीणता शरीरको अणु (सूक्ष्म) एवं महान् आदि करनेमें कारणभूत है । परन्तु वह मुक्तिकी इच्छा करनेवाले मुनिकी अभीष्ट सिद्धिमें प्रायः बाधा पहुँचानेवाली है ॥६॥

जो वायुके संचारविषयक विस्तार अपने सन्देह और पीड़ाका कारण है उससे क्या अभीष्ट सिद्ध होनेवाला है ? कुछ भी नहीं । इसलिए जो मुक्तिका मुख्य कारण है उसको ही अतिशय विचारपूर्वक जानना चाहिए ॥७॥

१. M N प्रत्याहृत्य । २. All others except P S R °र्तजन्मना ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1463) संविग्नस्य प्रशान्तस्य वीतरागस्य योगिनः ।
वशीकृताक्षवर्गस्य प्राणायामो न शस्यते ॥८

1464) प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्यादार्तसंभवः ।
तेन प्रच्याव्यते नूनं ज्ञाततत्त्वोपलक्षितः ॥९

1465) पूरणे कुम्भने[3] चैव तथा श्वसननिर्गमे ।
व्यग्रीभवन्ति चेतांसि क्लिश्यमानानि वायुभिः ॥१०॥ किं च—

1466) नातिरिक्तं फलं सूत्रे प्राणायामात् प्रकीर्तितम् ।
अतस्तदर्थमस्माभिर्नातिरिक्तः कृतः श्रमः ॥११

1463) संविग्नस्य—वशीकृतेन्द्रियस्य । सुगममिति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ प्राणायामस्य फलमाह ।

1464) प्राणस्यायमने—प्राणस्यायमने निष्कासने पीडा । तस्या आर्तिसंभवः रोगसंभवः स्यात् । तेनार्तेन ज्ञाततत्त्वो ऽपि लक्षितः नूनं प्रच्याव्यते । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1465) पूरणे—व्यग्रीभवन्ति आतुराणि भवन्ति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ किं च युक्त्यन्तरमाह ।

1466) नातिरिक्तं—अतः कारणात् तदर्थं प्राणायामार्थम् अस्माभिः अतिरिक्तकृतश्रमो नेति सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ पुनः प्रत्याहारमाह ।

जो योगी संवेगसे सहित—संसार दुखसे भयभीत, अतिशय शान्त—राग-द्वेषसे रहित और इन्द्रियसमूहका विजेता है उसके लिए प्राणायाम प्रशंसनीय नहीं है—वह उसे कभी स्वीकार नहीं करता है ॥८॥

प्राणवायुके लम्बा करनेमें—प्राणायाममें—पीड़ा होती है, उससे आर्तध्यान उत्पन्न होता है, और उस आर्तध्यानके द्वारा जाने गये वस्तुस्वरूपसे संयुक्त (तत्त्वज्ञ) योगी भी भ्रष्ट किया जाता है ॥९॥

पूरण, कुम्भक और श्वासके निकालनेरूप रेचक प्राणायाममें वायुओंके द्वारा संक्लेशको प्राप्त होनेवाला मन व्याकुल होता है ॥१०।

दूसरे, आगममें प्राणायामसे कोई अतिरिक्त—जनसमूहको आश्चर्यान्वित करनेके सिवाय कोई दूसरा—फल नहीं निर्दिष्ट किया गया है। इसलिये हमने भी उसके लिए अतिरिक्त—उसके स्वरूप और भेदों आदिके वर्णनविषयक परिश्रमके सिवाय कुछ अन्य—परिश्रम नहीं किया है। विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि यहाँ ग्रन्थकर्ताने प्राणायामके स्वरूप,

१. T कृत्याक्ष । २. L S T K X Y R तत्त्वो ऽपि लक्ष्यतः, F तत्त्वे ऽलक्ष्यतः । ३. All others except P M कुम्भके । ४. L प्राणस्य निर्गमे । ५. N वक्रे भवन्ति । ६. P M Y किं च ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1467) [1]निरुध्य करणग्रामं समत्वमवलम्ब्य च ।
ललाटदेशसंलीनं विदध्यान्निश्चलं मनः ॥१२॥ अथवा[2]—

1468) नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे
वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते ।
ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे[3]
तेष्वेकस्मिन् विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम् ॥१३

1469) स्थानेष्वेतेषु[4] विश्रान्तं मुनेर्लक्ष्यं वितन्वतः ।
उत्पद्यन्ते स्वसंवित्तेर्बहवो ध्यानप्रत्ययाः ॥१४

1467) निरुध्य—करणग्रामम् इन्द्रियसमूहम् । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ चित्तस्य ध्यानस्थानमाह ।

1468) नेत्रद्वन्द्वे—अमलमतिभिः निर्मलबुद्धिभिः । अत्र देहे कीर्तितानि । तेषु स्थानेषु एकस्मिन् स्थाने विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथोपसंहरति ।

1469) स्थानेषु—एतेषु स्थानेषु विश्रान्तं मुनेर्लक्ष्यं वितन्वतः विस्तारयतः स्वसंवित्तेर्ध्यानप्रत्यया ध्यानस्वरूपा उत्पद्यन्ते । इति सूत्रार्थः ॥१४॥

उसके भेद और प्रक्रियाका ही वर्णन किया है, परन्तु उसके विशेष फलका कुछ वर्णन नहीं किया है। इसका कारण यह है कि उसका प्रयोजन दर्शक जनोंको केवल आश्चर्यचकित करना ही है, इसके अतिरिक्त आत्माके लिए हितकर उसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। प्रत्युत इसके वह शारीरिक पीड़ा और मानसिक संक्लेशका कारण होनेसे आत्मघातक भी है। इसलिए उसकी ओरसे विमुख करते हुए यहाँ योगीको अपनी इन्द्रियों और मनको वशमें करनेकी ही प्रेरणा की गयी है ॥११॥

इन्द्रियसमूहका निरोध करके—उन्हें अपने-अपने अभीष्ट विषयसे विमुख करके—समताभावका आलम्बन लेता हुआ योगी मनको भालप्रदेशमें भलीभाँति लीन करके उसे स्थिर करे ॥१२॥

अथवा—निर्मल बुद्धिवाले महर्षियोंने इस शरीरमें दोनों नेत्र, दोनों कान, नासिकाका अग्रभाग, मस्तक, मुख, नाभि, शिर, हृदय, तालु और दोनों भ्रुकुटियोंका अन्तभाग; इन दस अवयवोंमें ध्यानके स्थान कहे हैं। उनमेंसे किसी एक स्थानमें विषयोंसे रहित मनको स्थिर करना चाहिए ॥१३॥

उपर्युक्त इन स्थानोंमें विश्रामको प्राप्त हुए, मनको लक्ष्य बनानेवाले मुनिके आत्मसंवेदनसे बहुतसे ध्यानके प्रत्यय उत्पन्न होते हैं ॥१४॥

१. Y interchanges Nos. 11-12। २. P M Y अथवा। ३. N गात्रे for देहे। ४. M °तेष्वविश्रान्तं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-
विरचिते प्रत्याहारधारणाप्रकरणम् ।।२७।।

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन
साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहऋषिदास-स्वश्रवणार्थं
पण्डितजिनदासोद्यमेन कारापितं प्रत्याहारधारणाप्रकरणं समाप्तम् ।।२७।।

विभवसुभवयुक्तः पार्श्वपापाभिमुक्तः सुनयविनयसक्तः टोडरो धर्मरक्तः । तदनुसुतवरिष्ठः भव्यकल्याणशिष्टः जयति जगति शुद्धध्यानकर्मप्रकृष्टः ।। इति आशीर्वादः । अथ सवीर्यध्यानमाह ।

इस प्रकार आचार्य श्रीशुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
प्रत्याहारधारणाप्रकरण समाप्त हुआ ।।२७।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

XXVIII

[सवीर्यध्यानम्]

1470) अनन्तगुणराजीवबन्धुरप्यत्र वञ्चितः ।
अहो भवमहाकक्षे प्रागहं कर्मवैरिभिः ॥१

1471) स्वविभ्रमसमुद्भूतै रागाद्यतुलबन्धनैः ।
बद्धो विडम्बितः[1] कालमनन्तं जन्मदुर्गमे ॥२

1472) [2]अद्य [3]रागज्वरोत्तीर्णो मोहनिद्राद्य[4] निर्गता ।
ततः कर्मरिपुं हन्मि ध्याननिस्त्रिंशधारया ॥३

1470) **अनन्तगुण**—अहो इत्याश्चर्ये । भवमहाकक्षे भवाटव्यां प्राक् पूर्वम् अहं कर्मवैरिभिर्वञ्चितः । कीदृशः । अत्र संसारे अनन्तगुणराजीवबन्धुरपि विज्ञानाद्यनन्तगुणसूर्यो ऽपि । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथैतदेवाह ।

1471) **स्वविभ्रम**—रागाद्यतुलबन्धनैर्बद्धो ऽनन्तं कालं जन्मदुर्गमे विलम्बितः* प्रस्तावाद् भ्रमितः । कीदृशैः । स्वविभ्रमसमुद्भूतैः आत्ममिथ्याज्ञानजातैः । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ पुनर्ध्यानस्वरूपमाह ।

1472) **अद्य राग**—ध्याननिस्त्रिंशधारया कर्मरिपुं हन्मि । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथैतदेवाह ।

ध्यानके अभिमुख हुआ मुनि विचार करता है—खेद है कि मैं अनन्त गुणोंरूप कमलोंका बन्धु—अनन्तज्ञानादि अपरिमित गुणोंरूप कमलोंके विकसित करनेमें सूर्यके समान तेजस्वी होकर भी यहाँ संसाररूप महावनमें कर्मरूप शत्रुओंके द्वारा पहले बहुत ठगा गया हूँ ॥१॥

मैं अपनी ही अज्ञानतासे उत्पन्न हुए राग-द्वेषादिरूप अनुपम (दृढ़) बन्धनोंसे बँधकर अनन्त कालतक इस संसाररूप दुर्गम स्थानमें दुखित रहा हूँ ॥२॥

आज मैं रागरूप ज्वरसे छुटकारा पा चुका हूँ तथा मेरी मोहरूपी निद्रा भी आज निकल चुकी है । इसलिए अब मैं ध्यानरूप खड्गकी धारसे उस कर्मरूप शत्रुको नष्ट कर देता हूँ ॥३॥

१. Q विलम्बितः, Y बद्ध्वा विडम्बितं । २. Q आद्यराग । ३. M N L T F K X Y ज्वरो नष्टो, Q S R ज्वरो जीर्णो । ४. Q M X Y निद्रा विनिर्गता ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1473) आत्मानमेव पश्यामि निर्धूयाज्ञानजं तमः ।
प्लोषयामि[1] तथात्युग्रं कर्मेन्धनसमुत्करम् ॥४

1474) प्रबलध्यानवज्रेण दुरितद्रुमसंक्षयम् ।
तथा कुर्मो यथा दत्ते न पुनर्भवसंभवम् ॥५

1475) जन्मज्वरसमुद्भूतमहामूर्च्छार्तचक्षुषा[2] ।
रत्नत्रयमयः [3]साक्षान्मोक्षमार्गो [4]न वीक्षितः ॥६

1476) [5]मयात्मापि न विज्ञातो विश्वलोकैकलोचनः ।
अविद्याविषमग्राहदन्तचर्वितचेतसा ॥७

1473) **आत्मानमेव**—आत्मानमेव शुद्धचैतन्यावस्थं पश्यामि । अज्ञानजं तमः निर्धूय दूरीकृत्य । तथापि कर्मेन्धनसमुत्करं समूहम् उग्रं प्लोषयामि भस्मीकरिष्यामि । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1474) **प्रबलध्यान**—दुरितद्रुमसंक्षयं पापानोकहनाशं तथा कुर्मः । केन । प्रबलध्यानवज्रेण । यथा पुनर्भवसंभवं न दत्ते । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ मोक्षमार्गावीक्षणे हेतुमाह ।

1475) **जन्मज्वर**—जन्मज्वरसमुद्भूतमहामूर्छान्धचक्षुषा* । सुगमम् । पुरुषेण साक्षान्मोक्षमार्गो न वोक्षितो विलोकितः । कीदृशः । स्वविज्ञानोद्भवः* निजविशिष्टज्ञानजनितः । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथात्मनः परिज्ञानमाह ।

1476) **मयात्मापि**—मया अविद्याविषमग्राहदन्तचर्वितचेतसा मिथ्याज्ञानदुष्टग्राहो जीवविशेषस्तस्य दन्तैश्चर्वितं चेतो यस्य स तेन नात्मा विज्ञातः । कीदृश आत्मा । विश्वलोकैकलोचनः जगल्लोकाद्वितीयनेत्रः । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथात्मा विषयैर्विजित इत्याह ।

इस समय मैं अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको (अज्ञानरूप अन्धकारको) नष्ट करके आत्माको ही देख रहा हूँ । अब मैं तीव्र कर्मरूप ईंधनके समूहको इस प्रकारसे जला डालता हूँ कि जिससे वह फिर कभी दुख नहीं दे सके ॥४॥

मैं प्रबल ध्यानरूप वज्रके द्वारा पापरूप वृक्षका क्षय इस प्रकारसे कर देता हूँ कि जिस प्रकारसे वह फिरसे संसार परिभ्रमणजन्य दुखको न दे सके ॥५॥

अभी तक मैं संसाररूप ज्वरसे उत्पन्न हुई बड़ी भारी मूर्छासे नेत्रोंके पीड़ित रहनेके कारण रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्गको प्रत्यक्षमें नहीं देख सका था ॥६॥

समस्त लोकके देखनेमें समर्थ ऐसे अनुपम ज्ञानरूप नेत्रसे संयुक्त होकर भी मैं अज्ञानरूप भयानक ग्राह (हिंस्र जलजन्तु) के द्वारा चित्त चलाये जानेके कारण अभी तक अपनेआपको भी नहीं देख सका था ॥७॥

१. Q प्रोषयामि । २. L S T F K X R मूर्च्छान्ध । ३. All others except P स्व (Y सु) विज्ञानोद्भवः साक्षा° । ४. Q मार्गानवी° । ५. Y interchanges Nos 7-8 ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1477) परमात्मा परंज्योतिर्जगज्ज्येष्ठो ऽपि वञ्चितः ।
आपातमात्ररम्यैस्तैर्विषयैरन्तनीरसैः ॥८

1478) अहं च परमात्मा च द्वावेतौ ज्ञानलोचनौ ।
अतस्तं ज्ञातुमिच्छामि तत्स्वरूपोपलब्धये ॥९

1479) मम शक्त्या गुणग्रामं[1] व्यक्त्या[2] च परमेष्ठिनः ।
एतावानावयोर्भेदः शक्तिव्यक्तिस्वभावतः ॥१०[3]

1480) उक्तं च[4]—
नासत्पूर्वाश्च पूर्वा नो निर्विशेषविकारजाः ।
स्वाभाविकविशेषा ह्यभूतपूर्वाश्च तद्गुणाः ॥१०*१॥ इति[5] ।

1477) **परमात्मा**—परमात्मा विषयैर्वञ्चितः । परंज्योतिः जगज्ज्येष्ठो जगत्पूज्यः । कीदृशैर्विषयैः । आपातमात्ररम्यैः उदयकालमनोहरैः । तैः अन्तनीरसैः प्रान्तकटुकैः । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथाज्ञानमाह ।

1478) **अहं च**—एतौ द्वौ । कौ । अहं च परमात्मा च । कीदृशौ । ज्ञानलोचनौ । अतः कारणात् सिद्धस्वरूपं ज्ञातुमिच्छामि । कस्यै । तत्स्वरूपोपलब्धये परमात्मस्वरूपप्राप्तये । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथैतदेवाह ।

1479) **मम शक्त्या**—मम शक्त्या गुणग्रामम् । च पुनः । परमेष्ठिनः व्यक्त्या एतौ द्वौ आनन्दयोः भेदौ । कस्मात् । शक्तिव्यक्तिस्वभावतः । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ स्वरूपमाह । उक्तं च ।

1480) **नासत्पूर्वाश्च**—तद्गुणाः तीर्थंकरगुणाः । असत्पूर्वाः असन्तः पूर्वं ये ते असत्पूर्वाः नोपूर्वाः । कीदृशाः । निर्विशेषविकारजा विशेषरहितविकारजाताः नो वर्तन्ते । हि निश्चितम् ।

स्वभावसे परमात्मा, उत्कृष्ट ज्ञानरूप ज्योतिसे संयुक्त तथा संसारमें श्रेष्ठ होकर भी मैं केवल प्रारम्भमें रमणीय प्रतीत होनेवाले, परन्तु अन्तमें नीरस स्वभाववाले—परिणाममें दुखदायक—उन विषयोंसे ठगा गया हूँ ॥८॥

मैं और परमात्मा ये दोनों ही ज्ञानरूप नेत्रसे सहित हैं । इसीलिए मैं उस परमात्माके स्वरूपको प्राप्त करनेके लिए उसे जाननेकी इच्छा करता हूँ ॥९॥

मुझमें ज्ञानादि गुणोंका समुदाय शक्तिके रूपमें अवस्थित है तथा परमात्मामें वह व्यक्त स्वरूपसे—प्रगटमें—अवस्थित है । बस, इस शक्ति और व्यक्ति रूप स्वभावसे हम दोनोंमें इतना ही भेद है ॥१०॥

कहा भी है—जो आत्मगुण विशेषतासे रहित होते हुए भी विकारसे उत्पन्न होते हैं वे न तो असत्पूर्व हैं और न सत्पूर्व भी हैं । किन्तु जो आत्मगुण स्वाभाविक विशेषतासे

१. All others except P Q ग्रामो । २. Q M F व्यक्ता । ३. M इति । ४. P Q L S R उक्तं च, M om. this verse । ५. P इति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1481) तावन्मां पीडयत्येव भवोत्थविषमज्वरः।
यावज्ज्ञानसुधाम्भोधिर्नावगाहः प्रवर्तते ॥११

1482) अहं न नारको नाम न तिर्यग्नापि मानुषः।
न देवः किंतु सिद्धात्मा सर्वो ऽयं कर्मजः क्रमः ॥१२

स्वाभाविकविशेषाः स्वाभाविको विशेषो येषां ते स्वाभाविकविशेषाः। अभूतपूर्वाः पूर्वं न भूताः। इति सूत्रार्थः ॥१०*१॥ अथ भवदाहस्य ज्ञाननाश्यत्वमाह।

1481) तावन्मां—भवोद्भवः* संसारजातः महादाहः* तावत्पीडयत्येव। यावद् ज्ञानसुधाम्भोधेर्ज्ञानसुधासमुद्रस्य मोदगाहः प्रवर्तते। इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथात्मस्वरूपं निरूपयति।

1482) अहं न—आत्मा कथयति। अहं न नारको नामा*। तिर्यक् नामा। सर्वत्र योज्यम्। नापि मानुषः नामा न देवः। किन्तु सिद्धात्मा सिद्धस्वरूपः। अयं सर्वो ऽप्यक्रमः चतुर्गतिपरिभ्रमः कर्मजः कर्मजनितः। इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ पुनरात्मा निरूपयति।

संयुक्त होते हैं वे वास्तवमें अभूतपूर्व ही होते हैं। विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि संसारी जीवोंके अनादि कालसे विभावगुणव्यंजन पर्यायस्वरूप जो मतिज्ञानादि पाये जाते हैं वे विशेषतासे रहित होते हुए विकारसे उत्पन्न हुआ करते हैं। ये गुण सामान्यस्वरूपसे जीवके सदा ही रहते हैं, इसलिए सामान्यकी अपेक्षा ये असत्पूर्व नहीं हैं—उनका सद्भाव पूर्वमें रहा ही है। परन्तु पर्यायस्वरूपसे चूँकि वे सदा समान नहीं रहते हैं—उनकी अवस्था बदलती रहती है, इस दृष्टिसे वे सर्वथा सत्पूर्व भी नहीं हैं—शक्तिकी अपेक्षा पूर्वमें उनके अस्तित्वके होते हुए भी व्यक्तिकी अपेक्षा उनका विवक्षित अवस्थामें पहले सद्भाव नहीं रहा है। तथा तपश्चरण व ध्यानादिके बलसे जीवके जो स्वभावगुण व्यंजनपर्यायस्वरूप अनन्तज्ञानादि प्रगट होते हैं वे अपनी स्वाभाविक विशेषतासे संयुक्त होते हुए असत्पूर्व ही हैं—शक्तिरूपसे अवस्थित रहनेपर भी उनका उस रूपमें पहले कभी किसी भी संसारी प्राणीके सद्भाव नहीं रहा है। यही एक संसारी और सिद्धकी विशेषता है—संसारी जीवके उक्त अनन्त ज्ञानादि शक्तिकी अपेक्षा विद्यमान होते हुए भी प्रगटमें नहीं पाये जाते हैं, परन्तु सिद्धके वे व्यक्त रूपमें आविर्भूत हो जाते हैं। इसी कारण उन्हें अभूतपूर्व कहा जाता है ॥१०*१॥

ध्यानमें योगी और भी विचार करता है—जब तक ज्ञानरूप अमृतके समुद्रमें नहाना नहीं होता है तब तक संसारपरिभ्रमणसे उत्पन्न हुआ भयानक दुखरूप विषमज्वर मुझे पीड़ित ही करता रहेगा ॥११॥

मैं न नारकी हूँ, न तिर्यंच हूँ, न मनुष्य हूँ, और न देव हूँ; किन्तु स्वभावसे मैं सिद्धात्मा हूँ। ये सब नारकी आदि अवस्था विशेष कर्मजनित हैं—स्वाभाविक नहीं हैं ॥१२॥

१. All others except P °त्येव महादाहो भवोद्भवः। २. Q N सुधाम्भोधेर्नाव°, M ज्ञानमहाम्भोधेर्नाव, others except P °म्भोधी नाव°। ३. K मोद for नाव°। ४. L S F K X Y R कर्मविक्रमः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1483) अनन्तवीर्यविज्ञानदृगानन्दात्मको ऽप्यहम् ।
किं न प्रोन्मूलयाम्यद्य प्रतिपक्षविषद्रुमम् ॥१३

1484) अद्यासाद्य स्वसामर्थ्यं प्रविश्यानन्दमन्दिरम् ।
न स्वरूपाच्च्यविष्ये ऽहं बाह्यार्थेषु[1] गतस्पृहः ॥१४

1485) मयाद्यैव विनिश्चेयं स्वस्वरूपं हि वस्तुतः[2] ।
छित्त्वाप्यनादिसंभूतामविद्यावैरिवागुराम् ॥१५

1486) इति प्रतिज्ञां प्रतिपद्य धीरः समस्तरागादिकलङ्कमुक्तः ।
आलम्बते धर्म्यमचञ्चलात्मा शुक्लं च यद्यस्ति बलं विशालम्॥१६॥प्रतिज्ञा[3]॥

1483) **अनन्तवीर्यं**—अहं प्रतिपक्षविषद्रुमं कर्मविषतरुम् अद्य प्रोन्मूलयामि । कीदृशो ऽहम् । अनन्तवीर्यविज्ञानदृगानन्दात्मको ऽपि दृक् सम्यग्दर्शनम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ स्वरूपापरित्यागमाह ।

1484) **अद्यासाद्य**—अहं स्वरूपादात्मस्वरूपान्न च्यविष्ये । अद्य स्वसामर्थ्यम् आसाद्य प्राप्य । आनन्दमन्दिरं प्रविश्य । कीदृशो ऽहम् । बाह्यार्थेषु इन्द्रियार्थेषु गतस्पृहः । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ पुनरात्मानमेवाह ।

1485) **मयाद्यैव**—हि निश्चितम् । अद्यैव वस्तुतः निश्चयात् स्वस्वरूपं मया विनिश्चेयं निर्णेतव्यम् । अविद्यावैरिवागुरां मिथ्याज्ञानबन्धनं छित्त्वा । कीदृशाम् । अनादिसंभूताम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

1486) **इति प्रतिज्ञां**—धीरः धर्ममालम्बते । किं कृत्वा । इति अमुना प्रकारेण प्रतिज्ञां प्रतिपद्य अङ्गीकृत्य । कीदृशः । अचञ्चलात्मा । च पुनः । शुक्लं बलं यद्यस्ति विशालं विस्तीर्णम् । कीदृशः । समस्तरागादिकलङ्कमुक्तः । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथात्मस्वरूपमाह । प्रतिज्ञा ।

मैं अनन्तवीर्य, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तसुख स्वरूप होकर भी क्या आज शत्रुभूत उस कर्मरूप विषवृक्षको निर्मूल नहीं कर सकता हूँ— आत्म-परका विवेक उदित हो जानेसे अब मैं उस कर्म-शत्रुको अवश्य ही नष्ट कर देता हूँ ॥१३॥

आज मैं अपनी स्वाभाविक शक्तिको प्राप्त करके और आनन्दके स्थानभूत उस आत्माके स्वरूपमें प्रविष्ट (लीन) होकर बाह्य विषयोंमें निःस्पृह होता हुआ आत्म-स्वरूपसे च्युत नहीं होऊँगा ॥१४॥

मुझे अनादि कालसे उत्पन्न हुई अविद्यारूप शत्रुकी फाँसको काटकर आज ही यथार्थमें आत्मस्वरूपका निश्चय करना है ॥१५॥

इस प्रकारसे प्रतिज्ञा करके धैर्यशाली ध्याता समस्त रागादिरूप कलंकसे रहित होता हुआ स्थिरतास्वरूपसे धर्मध्यानका आश्रय लेता है तथा यदि विपुलसामर्थ्य हुआ तो शुक्ल-ध्यानका भी आश्रय लेता है॥१६॥

१. M N बाल्यार्थेषु । २. Q वस्तुनः । ३. P Q M L F प्रतिज्ञा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1487) ध्येयं वस्तु वदन्ति निर्मलधियस्तच्चेतनाचेतनं
स्थित्युत्पत्तिविनाशलाञ्छनयुतं मूर्तेतरं च क्रमात् ।
शुद्धध्यानविशीर्णकर्मकवचो देवश्च मुक्तेर्वरः
सर्वज्ञः सकलः शिवः स भगवान् सिद्धः परो निष्कलः ॥१७

1488) अमी जीवादयो भावाश्चिदचिल्लक्ष्मलाञ्छिताः ।
तत्स्वरूपाविरोधेन ध्येया धर्मे मनीषिभिः ॥१८

1487) ध्येयं वस्तु—जीवाजीवरूपम् । पुनः कीदृशं ध्येयं वस्तु । स्थित्युत्पत्तिविनाश-लक्षणयुतम् । सुगमम् । च पुनः । क्रमादनुक्रमात् मूर्तेतरं शुक्लध्यानविशीर्णकर्मकवचः शुक्लध्याननाशितकर्मसन्नाहश्च देवः मुक्तेर्वरः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ पदार्थानाधेयत्वमाह ।

1488) अमी जीवादयः—अमी जीवादयो भावा ध्येयाः । चिदचिल्लक्ष्मलाञ्छिताः चेतनाचेतनलक्षणोपलक्षिताः । कैः । मनीषिभिः । तत्स्वरूपाविरोधेन स्वस्वरूपापरिज्ञानेन । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथैतदेवाह ।

निर्मल बुद्धिके धारक गणधरादि जो वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूपलक्षणसे सहित है उसे ध्येय—ध्यानके योग्य—बतलाते हैं । वह वस्तु चेतन (जीव) और अचेतन (पुद्गल आदि पाँच द्रव्य) के भेदसे दो प्रकारकी है । उनमें चेतन तो अमूर्त है—रूप, रस, गन्ध व स्पर्शसे रहित है—परन्तु अचेतन क्रमसे मूर्त और अमूर्त भी है । अर्थात् पुद्गल द्रव्य मूर्त और शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल अमूर्त हैं । जिसने शुद्ध ध्यानके द्वारा—निर्मल शुक्लध्यानके द्वारा—कर्मरूप कवचको नष्ट कर दिया है तथा जो समस्त पदार्थोंका ज्ञाता-द्रष्टा है वह मुक्तिके द्वारा वरण किया जानेवाला देव (आप्त) माना गया है । जो चार घातिया कर्मोंको नष्ट करके अनन्त चतुष्टयको प्राप्त कर चुका है वह सकल (शरीरसहित) परमात्मा तथा जो आठों ही कर्मोंको नष्ट करके आठ गुणोंको प्राप्त कर चुका है वह सिद्ध निष्कल (शरीरसे रहित हुआ) परमात्मा है । वह भगवान् परमात्मा स्व-परका कल्याण करनेवाला है ॥१७॥

बुद्धिमान् मुनियोंको धर्मध्यानमें चेतन और अचेतन लक्षणोंसे चिह्नित इन जीवादि पदार्थोंका अपने-अपने स्वरूपके अनुसार ध्यान करना चाहिए ॥१८॥

१. N निर्मम । २. Q M L F K X Y लक्षणयुतं । ३. All others except P Q °ल्लक्ष । ४. Q °पावरोधेन । ५. N धर्म्ये ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1489) ध्याने ह्युपरते धीमान् मनः कुर्यात् समाहितम् ।
निर्वेदपदमापन्नं मग्नं वा करुणाम्बुधौ ॥१९

1490) अथ लोकत्रयीनाथममूर्तं परमेश्वरम् ।
ध्यातुं प्रक्रमते साक्षात्परमात्मानमव्ययम् ॥२०

1491) उक्तं च[1]—
त्रिकालविषयं साक्षाच्छक्तिव्यक्तिविवक्षया ।
सामान्येन नयेनैकं परमात्मानमामनेत्[2] ॥२०*१॥ इति[3] ।

1492) साकारं निर्गताकारं[4] निष्क्रियं[5] परमाक्षरम् ।
निर्विकल्पं च निष्कम्पं नित्यमानन्दमन्दिरम्॥२१

1489) **ध्याने ह्युपरते**—धीमान् मनः समाहितं स्वस्थं कुर्यात् । क्व सति । ध्याने हि उपरते विरते । कीदृशं मनः । निर्वेदपदमापन्नं वैराग्यस्थानमापन्नम् । वा अथवा ॥१९॥ [ध्यानिनः उद्यममाह ।]

1490) **अथ लोक**—ध्यातुं साक्षात्परमात्मानं प्रक्रमते उद्यमं कुरुते । अथ लोकत्रयीनाथम् अमूर्तं परमेश्वरम् । अव्ययं नाशरहितम् । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे ।

1491) **त्रिकालविषयं**—साक्षात्प्रकारेण त्रिकालविषयम् । कया । शक्तिव्यक्तिविवक्षया । सामान्येन नयेन एकं परमात्मानम् आमनेत् । इति सूत्रार्थः ॥२०*१॥ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

1492) **साकारम्**—[निर्गताकारम् आकाररहितम् । निष्क्रियं क्रियारहितम् । निष्कम्पम् अस्थिरम् । आनन्दमन्दिरम् आनन्दमयम् । नित्यम् अविनाशि । इति सूत्रार्थः ॥२१॥] पुनरात्मस्वरूपमाह ।

ध्यानके पूर्ण होनेपर बुद्धिमान् योगी मनको समाहित—समाधिमें व्यवस्थित—करे, अथवा वैराग्यभावको प्राप्त हुए उस मनको दयाके समुद्रमें निमग्न करे ॥१९॥

तत्पश्चात् उसे साक्षात् उस अविनश्वर परमात्माका ध्यान प्रारम्भ करना चाहिए जो तीनों लोकोंका अधिपति होकर अमूर्त और उत्कृष्ट ऐश्वर्यसे संयुक्त है ॥२०॥

कहा भी है—जो सामान्य (द्रव्यार्थिक) नयसे शक्ति और व्यक्तिकी विवक्षासे तीनों कालोंको विषय करनेवाला है उस एक परमात्माका ही साक्षात् ध्यान करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सब ही प्राणियोंका आत्मा साक्षात् परमात्मा होकर स्वभावतः तीनों काल और तीनों लोकोंका ज्ञाता-द्रष्टा है । इसलिए शक्ति और व्यक्तिकी अपेक्षा उस एक परमात्माका ही ध्यान करना चाहिए ॥२०*१॥

परमात्माका स्वरूप—वह परमात्मा शरीरके आकार होकर भी वस्तुतः निराकार (अमूर्तिक), परिस्पन्दादिरूप क्रियासे रहित, उत्कृष्ट ज्ञानचेतनासे सहित (या अतिशय

१. P Q M L X Y उक्तं च । २. Q °मानमेत् । ३. P Q इति । ४. Q साकारनिर्गताकारे । ५. Q M N T X Y निश्चलं पर° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1493) विश्वरूपमविज्ञातस्वरूपं [1]सर्वदोदितम् ।
कृतकृत्यं शिवं शान्तं निष्कलं क[2]रणच्युतम् ॥२२[3]

1494) निःशेषभवसंभूतक्लेशद्रुमहुताशनम्[4] ।
शुद्धमत्यन्तनिर्लेपं ज्ञानराज्ये[5] प्रतिष्ठितम् ॥२३

1495) विशुद्धादर्शसंक्रान्तप्रतिबिम्बसमप्रभम् ।
ज्योतिर्म[6]यमतिस्फीतं परिपूर्णं पुरातनम् ॥२४

1496) विशुद्धाष्टगुणोपेतं निर्द्वन्द्वं[7] निर्गतामयम् ।
अप्रमेयं परिच्छिन्नं[8]विश्वतत्त्वव्यवस्थितम्[9] ॥२५

1493) **विश्वरूपम्**—करणच्युतम् अतीन्द्रियम् । इति सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ [पुनस्तदेवाह ।

1494) **निःशेष**—निःशेषाः भवसंभूता ये क्लेशाः त एव द्रुमाः तेषां नाशने हुताशनम् इव स्थितम् । ज्ञानराज्ये प्रतिष्ठितं ज्ञानमयम् । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ तथा च ।

1495) **विशुद्धादर्श**—विशुद्धादर्शे विमलादर्शे संक्रान्तं यत् प्रतिबिम्बं तेन समा प्रभा कान्तिः यस्य तत् । ज्योतिर्मयं तेजोमयम् । अतिस्फीतं सुस्पष्टम् । अन्यत्सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२४॥ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

1496) **विशुद्धाष्ट**—विशुद्धाष्टगुणोपेतं निर्मलाष्टगुणयुक्तम् । निर्द्वन्द्वं सुखदुःखादिरहितम् । अन्यत्सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२५॥] अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

अविनश्वर), विकल्पोंसे रहित, स्थिर, नित्य, आनन्दका स्थान, विश्वरूप होकर भी अविज्ञातस्वरूप—समस्त चराचर पदार्थोंका ज्ञाता होकर भी सर्व-साधारणके द्वारा स्वयं अज्ञात स्वरूपवाला, सर्वदा अभ्युदयको प्राप्त, कृतकृत्य (कृतार्थ), कल्याणस्वरूप, शान्त, शरीरसे रहित, इन्द्रियोंसे च्युत (अतीन्द्रियज्ञानी), संसारपरिभ्रमणसे उत्पन्न हुए समस्त क्लेशरूप वृक्षोंके दग्ध करनेमें अग्निके समान, निर्मल, कर्मलेपसे अतिशय रहित, ज्ञानरूप राज्यपदपर प्रतिष्ठित, निर्मल दर्पणमें प्रतिबिम्बित प्रतिच्छायाके समान प्रभासे संयुक्त—निर्मल ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होनेवाले समस्त पदार्थोंका ज्ञायक, प्रकाशस्वरूप, अतिशय, वृद्धिगत, गुणोंसे परिपूर्ण, प्राचीन, आठों कर्मोंके क्षीण होनेसे आविर्भूत हुए केवल ज्ञानादिरूप आठ गुणोंसे सहित, समस्त आकुलता व क्लेशोंसे रहित, रोगसे आतक्रान्त, प्रमाणसे रहित—सर्वव्यापक, जाने हुए समस्त तत्त्वोंसे व्यवस्थित तथा बाह्य पदार्थोंके द्वारा अज्ञेय होकर भी

१. M सर्वथो° । २. L S T F R करुण । ३. K lnds here । ४. M हुताशनः । ५. N S T X Y R राज्यप्रति । ६. Q L T F X R मयं महावीर्यं, M N मयं भवातीतं, S मयं व्यतीताक्षं, Y मयं महाबीजं । ७. M निर्दयं for निर्द्वन्द्वं । ८. All others except P Q M °च्छिन्नं । ९. P Q M व्यवस्थितिम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1497) यदग्राह्यं बहिर्भावैर्ग्राह्यं चान्तर्मुखैः क्षणम्[1] ।
तत्स्वभावात्मकं साक्षात् स्वरूपं परमात्मनः ॥२६

1498) अणोरपि च यः सूक्ष्मो महानाकाशतो ऽपि च ।
जगद्वन्द्यः स सिद्धात्मा निष्पन्नो ऽत्यन्तनिर्वृतः ॥२७

1499) [2]यस्यानुध्यानमात्रेण शीर्यन्ते जन्मजा रुजः ।
नान्यथा जन्मिनां सो ऽयं जगतां प्रभुरीश्वरः[3] ॥२८

1497) **यदग्राह्यम्**—बहिर्भावैरिन्द्रियादिभिर्यत् परमात्मस्वरूपम् अग्राह्यम् । अन्तर्मुखैर्भावैरिन्द्रियादिभिर्ग्राह्यं क्षणं क्षणमात्रम् । पुनः कीदृशम् । तत्स्वभावात्मकं शुद्धचैतन्यात्मकम् । साक्षात्प्रकारेण । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ पुनरप्यात्मस्वरूपमाह ।

1498) **अणोरपि च**—अणोरपि च यः सूक्ष्मः । चकारात् आकाशतो ऽपि महान् । पुनः कीदृशः । जगद्वन्द्यः समिद्धात्मा निष्पन्नो ऽत्यन्तनिर्वृतः । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ पुनरपि तत्स्वरूपमाह ।

1499) **यस्यानुध्यान**—यस्यानुध्यानमात्रेण जन्मजा जन्मजाता रुजः रोगाः सीद्यन्ते नाश्यन्ते । केषाम् । प्राणिनाम् । नान्यथा सो ऽयं जगतां प्रभुरच्युतः* । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ तस्मिन् ज्ञाने सर्वज्ञानमेवाह ।

अभ्यन्तर परिणामोंके द्वारा क्षणभरमें ही ज्ञेय—जान लेनेके योग्य—है । इस प्रकारके स्वभावरूप साक्षात् परमात्माका स्वरूप है ॥२१-२६॥

जो अणुसे भी सूक्ष्म और आकाशकी अपेक्षा भी महान्, सिद्धिको प्राप्त तथा अत्यन्त सुखी है वह सिद्ध आत्मा विश्वके द्वारा वन्दनीय है । अणुसे भी सूक्ष्म कहनेका अभिप्राय यह है कि उसका स्वरूप सर्वसाधारणके लिए ज्ञात नहीं होता, किन्तु आत्मदर्शी विशिष्ट तत्त्वज्ञानी ही उसे जान पाते हैं । और चूँकि वह सचराचर समस्त विश्वका ज्ञाता-द्रष्टा है, इसीलिए उसे आकाशसे भी महान् कहा गया है, कारण यह कि वह अनन्त आकाश भी उसके अनन्त ज्ञानमें प्रतिविम्बित होता है ॥२७॥

जिसके ध्यान मात्रसे ही प्राणियोंके जन्मसे उत्पन्न होनेवाले रोग—संसार-परिभ्रमणसे उत्पन्न दुःख—नष्ट हो जाते हैं तथा जिसके ध्यानके बिना वे नष्ट नहीं होते हैं वही यह परमात्मा तीनों लोकोंका प्रभु है ॥२८॥

---

१. All others except P Q क्षणात् । २. M N यस्यानुध्यान, L S T F X Y R यस्याणुध्यान । ३. All others except P प्रभुरच्युतः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1500) विज्ञातमपि निःशेषं यदज्ञानादपार्थकम् ।
यस्मिंश्च विदिते विश्वं ज्ञातमेव न संशयः ।।२९

1501) यत्स्वरूपापरिज्ञानान्नात्मतत्त्वे स्थितिर्भवेत् ।
यं[1] ज्ञात्वा मुनिभिः साक्षात्प्राप्तं तस्यैव वैभवम् ।।३०

1502) स एव नियतं ध्येयः स विज्ञेयो मुमुक्षुभिः ।
अनन्यशरणीभूय तद्गतेनान्तरात्मना ।।३१

1503) अवाग्गोचरमव्यक्तमनन्तं शब्दवर्जितम् ।
अजं जन्मभ्रमातीतं निर्विकल्पं विचिन्तयेत् ।।३२

1500) **विज्ञातमपि**—यस्यात्मनो अज्ञानात् निःशेषं समस्तं विज्ञातमपि अपार्थकं निरर्थकम् । यस्मिन्नात्मनि विदिते ज्ञाते विश्वं जगत् ज्ञातमेव न संशयः । इति सूत्रार्थः ।।२९।। अथ पुनस्तस्यैव स्वरूपमाह ।

1501) **यत्स्वरूपापरि**—आत्मतत्त्वे स्थितिर्भवेत् न । कस्मात् । यत्स्वरूपापरिज्ञानात् आत्मस्वरूपापरिज्ञानात् । यमात्मानं ज्ञात्वा । मुनिभिर्योगिभिस्तस्यैव वैभवं माहात्म्यं साक्षात् प्राप्तम् । इति सूत्रार्थः ।।३०।। पुनरपि आत्मनः स्वरूपमाह ।

1502) **स एव**—स एव नियतं निश्चितं ध्येयः आत्मा मुमुक्षुभिः मुक्तिकामैः । स विज्ञेयः ज्ञातव्यः । तद्गतेन शरीरान्तर्गतेन आत्मना अनन्यशरणीभूय । इति सूत्रार्थः ।।३१।। अथ तस्यैव स्वरूपमाह ।

1503) **अवाग्गोचरम्**—पुनः कीदृशं परमात्मानम् । अवाग्गोचरं वचनगोचरं न । पुनः । अव्यक्तममूर्तत्वात् । अनन्तम् अनन्तविषयत्वात् । शब्दवर्जितं नामसंज्ञादिवर्जितम् । अजं जन्मरहितम् । जन्मभ्रमातीतं भवभ्रमरहितं निर्विकल्पम् एकस्वरूपं विचिन्तयेत् । इति सूत्रार्थः ।।३२।। अथ तस्यानन्तत्वमाह ।

जिस परमात्माके जाने बिना अन्य समस्त भी पदार्थोंका परिज्ञान व्यर्थ रहता है तथा जिसके जान लेनेपर अन्य समस्त विश्व भी निश्चयसे जान लिया जाता है, इसके अतिरिक्त जिसके स्वरूपको न जान सकनेके कारण मुनिजनोंका आत्मस्वरूपमें अवस्थान नहीं होता है तथा जिसको जानकर वे साक्षात् उसकी ही विभूतिको प्राप्त कर लेते हैं—स्वयं भी परमात्मा बन जाते हैं; उसीको एक मात्र शरण मानकर मोक्षके अभिलाषी योगी जनोंको उसकी ओर झुके हुए अन्तःकरणके द्वारा—एकाग्रचित्त होकर—नियमसे उसका ही ध्यान करना चाहिए ।।२९–३१।।

वह परमात्मा वचनका अविषय, इन्द्रियोंके द्वारा न देखा जा सकनेवाला, अनन्त, शब्दसे रहित, जन्मसे अतिक्रान्त (अजन्मा), संसार-परिभ्रमणको नष्ट कर देनेवाला और सब प्रकारके संकल्प-विकल्पोंसे रहित है; इस प्रकारसे ध्यानमें उसके स्वरूपका चिन्तन करना चाहिए ।।३२।।

१. All others except P Q Y यज्ज्ञात्वा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1504) [1]यद्बोधानन्तभागे ऽपि द्रव्यपर्यायसंभृतम् ।
लोकालोकं स्थितिं धत्ते स स्याल्लोकत्रयी गुरुः ॥३३

1505) तत्स्वरूपाहितस्वान्तस्तद्गुणग्रामरञ्जितः ।
योजयत्यात्मनात्मानं[2] तस्मिंस्तद्रूपसिद्धये ॥३४

1506) इत्यजस्रं स्मरन् योगी तत्स्वरूपावलम्बितः ।
तन्मयत्वमवाप्नोति ग्राह्यग्राहकवर्जितम् ॥३५

1507) अनन्यशरणीभूय स तस्मिंल्लीयते तथा ।
ध्यातृध्यानोभयाभावे ध्येयेनैक्यं यथा व्रजेत् ॥३६

1504) **यद्बोधानन्त**—स आत्मा लोकत्रयीगुरुः । स कः । यद्बोधानन्तभागे यज्ज्ञानानन्तभागे ऽपि । द्रव्यपर्यायसंभृतं स्यात् । यो लोकालोकस्थितिं धत्ते । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ तद्विषयकध्यानमाह ।

1505) **तत्स्वरूपाहित**—यो जयति आत्मनात्मानम् । पुमानिति गम्यम् । कीदृशम् । तत्स्वरूपे आहितं स्थापितं स्वान्तं चित्तं येन सः । पुनः । तद्गुणग्रामरञ्जितः । स्वात्मानं योजयति । तस्मिन्नात्मनि । किमर्थम् । तद्रूपोपलब्धये तद्रूपप्राप्तये । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ तद्ध्यानफलमाह ।

1506) **इत्यजस्रम्**—योगी तन्मयत्वमात्ममयत्वमवाप्नोति प्राप्नोति । किं कुर्वन् । अजस्रं निरन्तरम् इति स्मरन् । कीदृशः । तत्स्वरूपावलम्बितः आत्मस्वरूपावलम्बितः । कीदृशम् । ग्राह्यग्राहकवर्जितम् । ग्राह्यं वस्तु, ग्राहकः पुरुषः, ताभ्यां वर्जितम् । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ तत्स्वरूपमाह ।

1507) **अनन्य**—अनन्यशरणीभूय एकमेवैनं शरणीकृत्य । तस्मिन् आत्मनि स आत्मा लीयते ।

जिस परमात्माके ज्ञानके अनन्तवें भागमें भी समस्त द्रव्यों और उनकी अनन्त पर्यायोंसे परिपूर्ण पूरा लोक व अलोक स्थितिको धारण करता है वह तीनों ही लोकोंमें महान् है। अभिप्राय यह है कि उक्त परमात्माके अपरिमित ज्ञानमें समस्त लोक और अनन्त अलोकाकाश भी परमाणुके समान अल्प प्रतीत होता है ॥३३॥

उक्त परमात्माके गुणसमूहमें अनुरक्त हुआ योगी उसके स्वरूपको सिद्ध करनेके लिए उसके उस स्वरूपमें अन्तःकरणको स्थापित करता हुआ अपने आत्माको स्वयं उसीके विषयमें योजित करता है ॥३४॥

इस प्रकारसे उसके स्वरूपका आश्रय लेकर योगी निरन्तर उसीका स्मरण करता हुआ ग्राह्य और ग्राहकके विकल्पसे रहित होकर—निर्विकल्प समाधिमें अवस्थित होकर—स्वयं ही उस स्वरूपको प्राप्त कर लेता है ॥३५॥

उस समय योगी परमात्माके सिवाय अन्यको शरण न मानकर उस परमात्मामें

१. Y तद्बोधा° । २. M त्मनाज्ञानं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1508) [सो[1] ऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम् ।
अपृथक्त्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि ॥३६*१

1509) [2]अनन्यशरणै[3]स्तद्धि तत्संलीनैकमानसः ।
तद्गुणस्तत्स्वभावात्मा स[4] तादात्म्याच्च संवसन् ॥३६*२]

1510) उक्तं च[5]—
कटस्य कर्ताहमिति संबन्धः स्याद् द्वयोर्द्वयोः ।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव संबन्धः कीदृशस्तदा ॥३६*३

ध्यातृध्यानोभयाभावे ध्याता च ध्यानं च ध्यातृध्याने तयोरभावे। ध्येयेनैक्यं यथा व्रजेत्। इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह।

1508) सो ऽयं—सो ऽयमात्मा यत्र परमात्मनि लीयते समरसीभावः सर्वत्र समस्तस्वभावः। तदेकीकरणम् एकस्वरूपावस्थानं स्मृतं कथितम्। अपृथक्त्वेन ऐक्यभावेन। इति सूत्रार्थः ॥३६*१॥ [पुनस्तदेवैकीकरणमाह।

1509) अनन्य—अन्यः न विद्यते शरणं यस्य सः। तत्संलीनैकमानसः तद्गतचित्तः। अन्यत्सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥३६*२॥] उक्तं च शास्त्रान्तरे।

1510) कटस्य—कटस्याहं कर्ता इति संबन्धः स्याद् द्वयोर्द्वयोः वस्तुनोः ध्यानम्। ध्येयं वस्तु यदा आत्मैव तदा संबन्धः कीदृशो भवति। इति सूत्रार्थः ॥३६*३॥ अथ पुनरपि तत्स्वरूपमाह।

इस प्रकारसे लीन हो जाता है कि जिससे ध्याता और ध्यानके विकल्पका अभाव हो जानेपर ध्येय (परमात्मा) के साथ वह एकता (अभेद) को प्राप्त हो जाता है ॥३६॥

जिस भावका आश्रय करके जीव अभेदरूपसे परमात्मामें लीन होता है वह यह समरसीभाव परमात्माके साथ अभेदको करानेवाला माना गया है। अभिप्राय यह है कि जब जीव 'जो परमात्मा है वही मैं हूँ' इस प्रकार ध्याता और ध्येयके विकल्पको छोड़कर निर्विकल्पक ध्यानमें लीन होता है तब वह उसके प्रभावसे स्वयं परमात्मा बन जाता है ॥३६*१॥

योगी जब आत्माके अतिरिक्त अन्य किसीको शरण नहीं मानकर एकाग्रचित्तसे एकमात्र उसी आत्मामें लीन होता है तब वह परमात्माके साथ अभिन्न होकर उसीके असाधारण गुणोंसे संयुक्त होता हुआ उसीके स्वभाववाला हो जाता है ॥३६*२॥

कहा भी है—'मैं चटाईका कर्ता हूँ' इस प्रकारका सम्बन्ध भिन्न स्वरूपसे अवस्थित दो-दो पदार्थों (अहं पदसे वाच्य देवदत्तादि और चटाई)के मध्यमें हुआ करता है। परन्तु जब एकमात्र आत्मा ही ध्यान और वही ध्येय बन जाता है तब वह भेद वहाँ किस प्रकारसे रह सकता है ? नहीं रह सकता है ॥३६*३॥

१. P om. । २. P Q om. । ३. M N शरणं । ४. M N Y °त्मा तादात्म्याच्च स एव सन्, T स तदात्मा स एव सत् । ५. P Q M X उक्तं च ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1511) यदज्ञानाज्जन्मी भ्रमति नियतं जन्मगहनं
विदित्वा यं सद्यस्त्रिदशगुरुतो याति गुरुताम् ।
स विज्ञेयः साक्षात्सकलभुवनानन्दनिलयः
परं ज्योतिस्त्राता परमपुरुषो ऽचिन्त्यचरितः ॥३७

1512) इत्थं यत्रानवच्छिन्नभावनाभिर्भवच्युतम्[२] ।
भावयत्यनिशं ध्यानी[३] तत्सबीजं[४] प्रकीर्तितम् ॥३८

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-विरचिते
सवीर्यध्यानप्रकरणम् ॥२८॥

1511) यदज्ञानात्—यदज्ञानात् परमात्माज्ञानात् जन्मी भ्रमति जन्मगहनं संसारारण्यम् । नियतं निश्चितम् । यमात्मानं सद्यः शीघ्रं विदित्वा ज्ञात्वा । त्रिदशगुरुतो बृहस्पतेः सकाशात् गुरुतां गरिष्ठत्वं याति स विज्ञेयो ज्ञातव्यः । कीदृशः । साक्षात् सकलभुवनानन्दनिलयः । स्थानं परं ज्योतिः । त्राता रक्षकः । परमपुरुषो ऽचिन्त्यचरितः । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ परमात्मस्वरूपस्य सवीर्यत्वमाह ।

1512) इत्थं यत्र—इत्थम् अमुनाप्रकारेण अनवच्छिन्नभावनाभिर्भवच्युतं यत्र भावयति अनिशं ध्यानी तत्सवीर्यं प्रकीर्तितम् ॥३८॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुल-कमलदिवाकर-साहऋषिदासस्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन कारापितं सुबीजध्यानप्रकरणं समाप्तम् ॥२८॥

कल्याणसंपादनकल्पवृक्षः पुराभवत् पार्श्वविचारदक्षः । स टोडरः सर्वगुणप्रशस्यः गाङ्गेयनीराविव शुद्धकीर्तिः । जीयात्सदा श्रीरिषिदाससाहः ॥ इत्याशीर्वादः । अथवा ।

जिस परमात्माविषयक अज्ञानके कारण प्राणी सदा संसाररूप वनमें भटकता रहता है तथा जिसके स्वरूपको जानकर वह शीघ्र ही बृहस्पतिकी अपेक्षा भी अधिक गौरवको प्राप्त होता है—मुक्त हो जाता है—वह परमात्मा जाननेके योग्य है । उक्त परमात्मा समस्त लोकके—सब ही प्राणियोंके—आनन्दका गृहस्वरूप केवलज्ञानरूप सर्वोत्कृष्ट प्रकाशसे संयुक्त, प्राणियोंका दुखसे उद्धार करनेवाला, पुरुषोंमें श्रेष्ठ पुरुष और अचिन्त्य चरित्रवाला है ॥३७॥

इस प्रकारसे ध्यान करनेवाला योगी जिस ध्यानमें अविश्रान्त भावनाओंके द्वारा संसारसे मुक्त हुए उस परमात्माका निरन्तर चिन्तन करता है वह सबीज (सवीर्य) ध्यान कहा जाता है ॥३८॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
सवीर्यध्यान प्रकरण समाप्त हुआ ॥२८॥

१. All others except P M N गहने । २. X °भिनिरन्तरं । ३. N X ध्यानं । ४. N सुबीजं, L S T F X Q R सवीर्यं । ५. M N सुबीजध्यानप्रकरणम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

XXIX

[शुद्धोपयोगविचारः]

1513) अथवा[1]—

अज्ञातस्वस्वरूपेण परमात्मा न बुध्यते ।
आत्मैव प्राग्विनिश्चेयो विज्ञातुं पुरुषं परम् ॥१॥ किं च[2]—

1514) आत्मतत्त्वानभिज्ञस्य न स्यादात्मन्यवस्थितिः[3] ।
मुह्यत्यतः[4] पृथक् कर्तुं स्वरूपं देहदेहिनोः ॥२

1515) तयोर्भेदापरिज्ञानान्नात्मलाभः प्रजायते ।
तदभावात्स्वविज्ञानसूतिः स्वप्ने ऽपि दुर्घटा ॥३

1513) **अज्ञात**—अज्ञातस्वस्वरूपेण अज्ञातात्मस्वरूपेण परमात्मा न बुध्यते न ज्ञायते । विज्ञातपुरुषः परम् आत्मैव प्राग् विनिश्चेयः निर्णेयः । इति सूत्रार्थः ॥१॥ किं च ।

1514) **आत्मतत्त्वानभिज्ञस्य**—आत्मतत्त्वानभिज्ञस्य अज्ञातस्य आत्मन्यवस्थितिः न स्यात् । देहदेहिनोः स्वरूपमत्यन्तं पृथक् कर्तुं मुह्यति । इति सूत्रार्थः ॥२॥ तयोरपरिज्ञाने नात्मलाभ इत्याह ।

1515) **तयोर्भेदापरि**—तयोर्देहदेहिनोर्भेदापरिज्ञानात् आत्मलाभो न प्रजायते । तदभावात् भेदाभेदपरिज्ञानात् । स्वविज्ञानात् सूतिः जन्म स्वप्ने ऽपि दुर्घटा । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथात्मस्वरूपमाह ।

जो अपने आत्मस्वरूपको नहीं जानता है वह कभी परमात्माको नहीं जान सकता है । इसलिए उस परमात्माको जाननेके लिए पहले अपने आत्मस्वरूपका निश्चय करना चाहिए ॥१॥

इसके अतिरिक्त—जो आत्मस्वरूपको नहीं जानता है उसका आत्मामें अवस्थान भी नहीं हो सकता है । इसी कारण वह शरीर और शरीरधारी (आत्मा) के स्वरूपको पृथक् करनेमें मूढ़ताको प्राप्त होता है—वह शरीरको ही आत्मा जानता है उससे भिन्न आत्माको नहीं समझ पाता है ॥२॥

शरीर और आत्मा इन दोनोंकी भिन्नताका परिज्ञान न होनेके कारण शरीरसे भिन्न आत्माकी उपलब्धि नहीं होती है तथा उस आत्माकी उपलब्धिके विना आत्माविषयक विशिष्ट ज्ञानकी उत्पत्ति स्वप्नमें भी सम्भव नहीं है ॥३॥

१. P Q L X Y अथवा । २. P Q L S F किं च । ३. Q M °त्मन्यव° । ४. L S F J X Y R मुह्यत्यन्तः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1516) अतः प्रागेव निश्चेयः सम्यगात्मा मुमुक्षुभिः ।
अशेषपरपर्यायकल्पनाजालवर्जितः ॥४॥ तथा हि[1]—

1517) त्रिप्रकारः[2] स भूतेषु सर्वेष्वात्मा व्यवस्थितः ।
बहिरन्तः परश्चेति विकल्पैर्[3]वक्ष्यमाणकैः ॥५

1518) आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात् ।
बहिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तचेतनः ॥६

1519) बहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः ।
सो ऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैर्विभ्रमध्वान्तभास्करः[4] ॥७

1516) **अतः प्रागेव**—अतः कारणात् मुमुक्षुभिः सम्यगात्मा प्रागेव पूर्वं निश्चेयः निर्णेतव्यः। पुनः कीदृशः। अशेषपरपर्यायकल्पनाजालवर्जितः सर्वपरपर्यायकल्पनाजालवर्जितः। इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ पुनरात्मभेदमाह। तथा हि।

1517) **त्रिप्रकारः**—सर्वेषु भूतेषु त्रिप्रकारः आत्मा व्यवस्थितः। बहिरात्मा-अन्तरात्मा-विकल्पैर्वक्ष्यमाणकैः। इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ बहिरात्मानमेवाह।

1518) **आत्मबुद्धिः**—यस्य जीवस्य शरीरादावात्मबुद्धिः स्यात्। कस्मात्। आत्मविभ्रमात्। स बहिरात्मा विज्ञेयः। कीदृशः। मोहनिद्रास्तचेतनः। इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथान्तरात्मानमाह।

1519) **बहिर्भावान्**—यस्य पुंसः आत्मनि आत्मनिश्चयः स्यात्। किं कृत्वा। बहिर्भावान् शरीरादीन् अतिक्रम्य। तज्ज्ञैरन्तरात्मज्ञैः सो ऽन्तरात्मा मतः कथितः। कीदृशैः। विभ्रमध्वान्तभास्करैः* सूर्यैः। इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ परमात्मानमाह।

इसलिए जो भव्य जीव मोक्षसुखकी अभिलाषा करते हैं उन्हें सर्वप्रथम समस्त पर-पदार्थ (शरीरादि) और उनकी सब ही पर्यायोंके कल्पनासमूहसे रहित उस आत्माका ही भलीभाँति निश्चय करना चाहिए ॥४॥

वह इस प्रकारसे—वह आत्मा बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन आगे प्ररूपित किये जानेवाले तीन भेदोंसे तीन प्रकारका है जो सब ही प्राणियोंके भीतर व्यवस्थित है ॥५॥

जिस जीवके अपनी अज्ञानताके कारण—आत्मस्वरूपका यथार्थबोध न होनेसे—शरीरादि पर पदार्थोंके विषयमें आत्मबुद्धि हुआ करती है, अर्थात् जो आत्मस्वरूपसे अनभिज्ञ होकर शरीरको आत्मा और उससे सम्बद्ध अन्य सब ही पर पदार्थों (स्त्री, पुत्र एवं धन-सम्पत्ति आदि) को अपना मानता है, उसे बहिरात्मा जानना चाहिए। उसकी चेतना—विवेकबुद्धि—मोहरूपी निद्राके द्वारा नष्ट कर दी गयी है ॥६॥

जिसे बाह्य पदार्थोंको पृथक् करके आत्माके विषयमें ही आत्माका निश्चय हो चुका है—जो शरीरादिको पर और आत्माको ही आत्मा मानता है—उसे आत्मतत्त्वके ज्ञाता अन्तरात्मा मानते हैं। वह अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट करनेके लिए सूर्यके समान है ॥७॥

१. P Q M Y तथा हि। २. M Y त्रि:, M L S X R प्रकारं। ३. Y विपक्षैर्वक्ष्य। ४. L S T F J X Y R भास्करैः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1520) निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नो ऽत्यन्तनिर्वृतः ।
निर्विकल्पश्च सिद्धात्मा[1] परमात्मेति वर्णितः[2] ॥८

1521) कथं तर्हि पृथक् कृत्वा देहाद्यर्थकदम्बकात् ।
आत्मानमभ्यसेद्योगी निर्विकल्पमतीन्द्रियम् ॥९

1522) अपास्य बहिरात्मानमन्तस्तत्त्वावलम्बितः[3] ।
ध्यायेद्विशुद्धमत्यन्तपरमात्मानमव्ययम्[4] ॥१०॥ तद्यथा[5]—

1523) संयोजयति[6] देहेन सहात्मानं[7] विमूढधीः ।
बहिरात्मार्थ[8] विज्ञानी पृथक् पश्यति देहिनम्[9] ॥११

1520) निर्लेपः—[अत्यन्तनिर्वृतः अत्यन्तानन्दवान् । निर्विकल्पः संकल्पविकल्परहितः । अन्यत् सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥८॥] अथात्माभ्यासमाह ।

1521) कथं तर्हि—तर्हि योगी आत्मानं कथमभ्यसेत् तद्ध्याने कथमभ्यासं कुर्यात् । देहाद्यर्थकदम्बकात् पृथक् कृत्वा । कीदृशमात्मानम् । निर्विकल्पमतीन्द्रियमिति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ परमात्मस्वरूपमाह ।

1522) अपास्य—[बहिरात्मानमपास्य त्यक्त्वा । सुस्थिरेण सुनिश्चलेन । अन्तरात्मना मनसा । अव्ययं नाशरहितम् । इति सूत्रार्थः ॥१०॥] दर्शयति ।

1523) संयोजयति—विमूढधीः चिदात्मानं देहे संयोजयति । ततो बहिरात्मा ज्ञानी देहिनां पश्यति । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथात्मस्वरूपमाह ।

जो कर्मरूप लेपसे रहित, शरीरसे अतिक्रान्त (अशरीर), शुद्ध, कृतकृत्य, अतिशय सुखी और विकल्पसे रहित हो चुका है ऐसे सिद्ध जीवको परमात्मा कहा जाता है ॥८॥

शंका—जब कि आत्मा निर्विकल्प और अतीन्द्रिय है तब योगी उसे शरीरादि बाह्य पदार्थोंके समूहसे पृथक् करके उसका किस प्रकारसे अभ्यास करे ? ॥९॥

उत्तर—योगी बहिरात्मबुद्धिको छोड़कर—बाह्य जड़ शरीरको आत्मा न मान कर—अभ्यन्तर स्वरूपका आश्रय लेकर अन्तरात्मा होता हुआ अतिशय पवित्र व अविनश्वर परमात्माका ध्यान करे ॥१०॥

वह इस प्रकारसे—मूढबुद्धि (शरीरको ही आत्मा समझनेवाला) बहिरात्मा शरीरके साथ आत्माको संयुक्त करता है—बार-बार शरीरको ग्रहण कर तब तक जन्म-मरणके दुखको सहता है । इसके विपरीत विशिष्ट ज्ञानी—विवेकी अन्तरात्मा—उस शरीरसे शरीरधारी (आत्मा) को भिन्न देखता है । [इसीलिए वह उस शरीरसे आत्माको पृथक् भी करता है—शरीरसम्बन्धको छोड़कर मुक्त भी हो जाता है ।] ॥११॥

१. S T X Y R शुद्धात्मा । २. Q M N L F कीर्तितः । ३. M °वलम्बिना, All others except P M °त्मानं सुस्थिरेणान्तरात्मना । ४. M N अच्युतम् for अव्ययं । ५. P Q M तद्यथा । ६. Q Y संयुक्ते (Y °क्तं) स्वशरीरेण चिदा° । ७. All others except P चिदात्मानं । ८. All others except P °रात्मा ततो ज्ञानी । ९. S F J देहिनाम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1524) अक्षद्वारैरविश्रान्तं स्वतत्त्वविमुखैर्भृशम् ।
व्यापृतो[1] बहिरात्मायं वपुरात्मेति मन्यते ॥१२

1525) सुरं त्रिदशपर्याये नृपर्याये[2] तथा नरम् ।
तिर्यञ्चं च तदङ्गे स्वं नारकाङ्गे च नारकम् ॥१३

1526) वेत्त्यविद्यापरिश्रान्तो[3] मूढस्तन्न पुनस्तथा ।
किन्त्वमूर्तं स्वसंवेद्यं तद्रूपं[4] परिकीर्तितम् ॥१४

1527) स्वशरीरमिवान्विष्य[5] पराङ्गं च्युतचेतनम् ।
परात्माश्रितमज्ञानी[6] परबुद्ध्याध्यवस्यति ॥१५

1524) अक्षद्वारैः—बहिरात्मायं वपुरात्मेति मन्यते व्यावृतः । कैः । अक्षद्वारैः । अविश्रान्तं निरन्तरम् । भृशमत्यर्थम् । स्वतत्त्वविमुखैः परमात्मतत्त्वविमुखैरिति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ देहेनात्मव्यपदेशमाह ।

1525) सुरं त्रिदश—त्रिदशपतिपर्यये सुरमित्युच्यते । नृपर्याये तथा नरमित्युच्यते । च तिर्यञ्चं तदङ्गे तिर्यगङ्गे । च तदङ्गे नारकाङ्गे स्वं नारकम् इत्युच्यते । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ स्वस्वरूपमेवाह ।

1526) वेत्त्यविद्या—मूढो मूर्खः । वेत्त्यविद्यापरिश्रान्तः* तदात्मस्वरूपम् । पुनस्तथा । किन्तु पक्षान्तरे । अमूर्तं स्वसंवेद्यं तद्रूपं परिकीर्तितम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ परमात्मानं वेत्तीत्याह ।

1527) स्वशरीरम्—अज्ञानी परमात्मानं परबुद्ध्याध्यवस्यति । किं कृत्वा । स्वशरीरमिवान्विष्य दृष्ट्वा । पराङ्गं च्युतचेतनं नष्टचेतनम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ पुनरेतदाह ।

आत्मस्वरूपसे अतिशय विमुख—उसको विषय न करनेवाले—इन्द्रियद्वारोंसे निरन्तर व्यापृत (प्रवर्तमान) यह बहिरात्मा शरीरको आत्मा मानता है ॥१२॥

अविद्यासे परिश्रान्त (अज्ञानी) मूर्ख बहिरात्मा देव पर्यायमें अवस्थित अपनेको देव, मनुष्य पर्याय में अवस्थित अपनेको मनुष्य, तिर्यंचके शरीरमें स्थित अपनेको तिर्यंच और नारकके शरीरमें स्थित अपनेको नारक जानता है । परन्तु यथार्थमें वह वैसा (देव आदि) नहीं है । कारण यह कि उसका स्वरूप अमूर्त और स्वसंवेद्य—इन्द्रियज्ञानका विषय न होकर स्वानुभवसे ग्रहण करने योग्य—कहा गया है ॥१३-१४॥

मूढ बहिरात्मा अपने शरीरके समान दूसरे प्राणीके द्वारा अधिष्ठित उसके जड़ (चेतनाशून्य) शरीरको खोजकर उसका परकी बुद्धिसे निश्चय करता है—उसे अन्य जीवात्मा मानता है ॥१५॥

१. Y व्यावृतो । २. N S T X Y R पर्यायैर्नृपर्यायैः । ३. J परिभ्रान्तो । ४. T चिद्रूपं, Y तद्रूपं च प्रकी° । ५. Q M N मिवान्वीक्ष्य । ६. S J X Y R परमात्मानमज्ञानी, F परमात्माश्रितज्ञानी ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1528) स्वात्मेतरविकल्पैस्तैः शरीरेष्ववि लम्बितम् ।
प्रवृत्तैर्वञ्चितं विश्वमनात्मन्यात्मदर्शिभिः ॥१६

1529) ततः सो ऽत्यन्तभिन्नेषु पशुपुत्राङ्गनादिषु ।
आत्मत्वं मनुते शश्वदविद्याज्वरजिह्मितः ॥१७

1530) साक्षात्स्वानेव निश्चित्य पदार्थांश्चेतनेतरान् ।
स्वस्यैव मन्यते मूढस्तन्नाशोपचयादिकम् ॥१८

1531) अनादिप्रभवः सो ऽयमविद्याविषमग्रहः ।
शरीरादीनि पश्यन्ति येन स्वमिति देहिनः ॥१९

1528) **स्वात्मेतर**—अनात्मनि आत्मदर्शिभिः । विश्वं जगत् वञ्चितुं प्रवृत्तैः । पुनः कीदृशम् । शरीरेष्ववलम्बनं स्थापितम् । तैः स्वात्मेतरविकल्पैरिति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथात्मान्येषु आत्मत्वं दर्शयति ।

1529) **ततः सो ऽत्यन्त**—शश्वन्निरन्तरम् । अविद्या मिथ्याज्ञानमेव ज्वरस्तेन जिह्मितो मोहितः । इति सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1530) **साक्षात् स्वानेव**—मूढो मूर्खस्तन्नाशोपचयादिकं पदार्थनाशो वृद्धिः । स्वरूपं स्वस्यैव मन्यते । किं कृत्वा । चेतनेतरान् पदार्थान् साक्षात्स्थाने निश्चित्य निर्णयं कृत्वेति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथाज्ञानफलमाह ।

1531) **अनादि**—सो ऽयम् अविद्याविषमग्रहः अज्ञानकदाग्रहः । ये देहिनः स्वमिति न पश्यन्ति । कीदृशो ऽज्ञानकदाग्रहः । अनादिप्रभवो ऽनादिकालजातः शरीरादीनि पश्यति । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ एतदेवाह ।

इस प्रकार आत्मासे भिन्न उस शरीरमें आत्माको देखनेवाले मिथ्यादृष्टियोंने शरीरोंके विषयमें शीघ्रतासे प्रवृत्त हुए उन स्वात्मा और परात्मारूप विकल्पोंके द्वारा समस्त लोकको ठगा है ॥१६॥

इसलिए—आत्मासे भिन्न शरीरको आत्मा समझनेके कारण—वह निरन्तर अविद्यारूप ज्वरसे कुटिल (पीड़ित) होकर शरीरकी अपेक्षा भी प्रत्यक्षमें अतिशय भिन्न दिखनेवाले पशु (हाथी-घोड़ा आदि), पुत्र और स्त्री आदिको स्वकीय मानता है ॥१७॥

वह मूर्ख बहिरात्मा चेतन और अचेतन पदार्थोंको प्रगटमें अपना ही मानकर उनके नाश और वृद्धि आदिको अपना ही नाश और वृद्धि आदि मानता है ॥१८॥

जिस अज्ञानरूप ग्रह (पिशाच) से पीड़ित होकर प्राणी शरीरादि परपदार्थोंको अपना माना करते हैं वह यह भयानक ग्रह अनादि कालसे उत्पन्न हुआ है ॥१९॥

१. N Y आत्मेतर । २. All others except P Q °ष्ववलम्बि° । ३. Q °तरेतरान् । ४. M मनुते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1532) वपुष्यात्मेति विज्ञानं वपुषा घटयत्यमून्[1] ।
स्वस्मिन्नात्मेति बोधस्तु भिनत्त्यङ्गाच्छरीरिणम्[2] ।।२०

1533) वपुष्यात्ममतिः सूते बन्धुवित्तादिकल्पनम् ।
स्वस्य संपदमेतेन[3] मन्वानं मुषितं जगत् ।।२१

1534) [4]तनावात्मेति यो भावः स स्याद्बीजं भवस्थितेः ।
बहिर्वीताक्षविक्षेप[5]स्तत्त्यक्त्वान्तर्विशेत्ततः[6] ।।२२

1532) वपुष्यात्मेति—वपुषा शरीरेण मां घटयति । वपुषात्मेति विज्ञानं स्वस्मिन्नात्मनि बोधस्तु "शरीरिणामङ्गात् विन्दत" जानीतेति सूत्रार्थः ।।२०।। अथ पुनरेतदेवाह ।

1533) वपुष्यात्म—जगत् मुषितम् । वपुषा आत्ममतिः सूते । किं बन्धुवित्तादिकल्पनम् । एतेन वपुषा संकल्पम् । स्वस्य मन्वन्तरम् । इति सूत्रार्थः ।।२१।। अथैतदेवाह ।

1534) तनावात्मेति—तेन कारणेनात्मेति यो भावः भवस्थितेः स्वं स्यात् । बीजं मूलं बहिर्वीताक्षविक्षेपम्" । तत् त्यक्त्वा अन्तर्विशेत् । इति सूत्रार्थः ।।२२।। अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

'जो शरीर है वही मैं हूँ' इस प्रकार अज्ञानताके वश होकर जो शरीरको आत्मा समझा जाता है उसके कारण वे प्राणी उस शरीरसे संयुक्त ही रहते हैं—उनका संसारपरिभ्रमण छूटता नहीं है। किन्तु जो आत्मामें आत्माका निश्चय करते हैं—उस जड़ व मूर्तिक शरीरसे भिन्न अमूर्त एवं चेतन ज्ञानादि गुणोंके पिण्डस्वरूप आत्माको पृथक् ग्रहण करते हैं—उनका यह विवेक ज्ञान उनको उस शरीरसे पृथक् कर देता है—वे मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।।२०।।

शरीरके विषयमें जो आत्मबुद्धि हुआ करती है वह बन्धु और धनादिकी कल्पनाको उत्पन्न करती है तथा उसके द्वारा सम्पत्तिको अपनी माननेवाला जगत् लूटा जाता है। विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जो अज्ञानी जीव शरीरको आत्मा मानता है वह उससे सम्बन्ध रखनेवाले चेतन पदार्थोंके विषयमें यह मेरा भाई है, यह पिता है, यह मेरी पत्नी है, यह मित्र है, और यह मेरा शत्रु है; इत्यादि कल्पनाको किया करता है। इसी प्रकार उस शरीरके ही सम्बन्धके कारण अचेतन पदार्थोंमें भी वह यह मेरा महल है, यह मेरा धन है, और यह इतनी मेरी भूमि है; इत्यादि कल्पनाको किया करता है। इस प्रकार इस ममत्वबुद्धिके वशीभूत होकर प्राणी आत्मस्वरूपसे विमुख होता हुआ उन शरीरादि पर वस्तुओंके ही संरक्षण एवं उनकी वृद्धि आदिमें संलग्न रहा करता है। तथा उनमें-से जब किसीका वियोग होता है तब वह उससे अतिशय शोकसन्तप्त होता है। इस प्रकार अपनी ही अज्ञानताके कारण प्राणी दीर्घकाल तक संसारपरिभ्रमणके दुखको सहता है ।।२१।।

शरीरमें 'यही आत्मा है' इस प्रकारका जो भाव (अविवेक) है वह संसारमें अवस्थानका कारण होता है—इस विपरीत बुद्धिके कारण ही प्राणी संसारमें परिभ्रमण करता

१. Q T F °त्यङ्गात् शरी°, J विन्दत for भिनत्ति, J X R त्यङ्गं शरी° । २. All others except P शरीरिणाम् । ३. L T X J संकल्पमेतेन, Y स्वसंपादनमेतेन । ४. T तेन चात्मेति । ५. J विक्षेपं । ६. M N °विशेषतः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1535) अक्षद्वारैर्गलित्वा[1] मन्निमग्नो गोचरेष्वहम् ।
तानासाद्याहमित्येतन्न[2] हि सम्यगवेदिषम् ॥२३

1536) बाह्यात्मानमपास्यैवा[3]न्तरात्मानं ततस्त्यजेत् ।
प्रकाशयत्ययं योगः[4] स्वरूपं परमेष्ठिनः[5] ॥२४

1535) **अक्षद्वारैः**—अक्षगोचरेषु विषयेषु निमग्नः मज्जितः । अक्षद्वारैरिन्द्रियद्वारैः स्वतश्च्युत्वा । तान् गोचरान् आसाद्य प्राप्य । अहमिति एतन्न स्वस्य गवेषितं विचारितम् । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ परमात्मनः स्वरूपप्रकरणमाह ।

1536) **बाह्यात्मानम्**—अन्तरात्मा स्वात्मानमपास्यैव ततस्त्यजेत् । अयं योगः परमेष्ठिनः स्वरूपं प्रकाशयति । इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

हुआ स्थित रहता है । इस कारण जो आत्महितके अभिलाषी हैं उन्हें बाह्य विषयोंकी ओरसे इन्द्रियोंको हटाकर उस विपरीत बुद्धिको छोड़ते हुए अभ्यन्तर आत्मस्वरूपमें प्रवेश करना चाहिए ॥२२॥

इन इन्द्रिय द्वारोंसे मैं मेरा जो ज्ञायक स्वभाव है उससे भ्रष्ट होकर उन इन्द्रियोंके विषयोंमें ही आसक्त रहा और तब उनको पा करके मैंने 'अहम्' इसको नहीं जाना—मैं कौन हूँ और मेरा निजका क्या स्वरूप है, इसके जाननेका प्रयत्न नहीं किया ॥२३॥

प्रथमतः बाह्य आत्माको छोड़कर तत्पश्चात् अन्तरात्माको भी छोड़ देना चाहिए । इस प्रकारकी यह प्रवृत्ति परमात्माके स्वरूपको प्रकाशित करती है ॥ विशेषार्थ—बाह्य शरीर और तद्गत इन्द्रियोंका नाम बाह्य आत्मा तथा मैं शरीरादिसे भिन्न, राग-द्वेषादिसे रहित, अमूर्तिक, शुद्ध व ज्ञानमय हूँ; इस प्रकारके आत्मविषयक संकल्पका नाम अन्तरात्मा है । इनमें बाह्य आत्मा तो सर्वथा परित्याज्य है ही, साथ ही परमात्मस्वरूपको प्राप्त करनेके लिए अन्तरात्मा—उपर्युक्त आत्मविषयक संकल्प—भी छोड़नेके ही योग्य है । कारण यह कि जब तक संकल्प-विकल्प रहते हैं तब तक निर्विकल्पक ध्यान नहीं हो सकता है और जब निर्विकल्पक ध्यान—आत्मलीनता—नहीं होती है तब तक परमात्मपदकी प्राप्ति सम्भव नहीं है । उस बाह्य आत्मा और अन्तरात्माका परित्याग किस प्रकारसे किया जा सकता है, इसे क्रमशः आगेके दो श्लोकोंमें स्पष्ट किया गया है ॥२४॥

१. Q M N X प्रच्युत्याक्षमुखैरन्तर्निमग्नो, L S T अक्षद्वारैः स्वतश्च्युत्वा, F °द्वारैः स्वतः श्रुत्वा, Y प्रच्युतो ऽक्षमुखैरन्त°, J R °द्वारैस्ततश्च्युत्वा । २. Q Y °द्याहमतस्तन्न । ३. All others except P °स्यैवमन्तरात्मा तत° । ४. Y योगी । ५. N परमात्मनः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1537) यद्यद्दृश्यमिदं रूपं तत्तदज्ञं[1] न चान्यथा ।
ज्ञानवच्च व्यतीताक्षमतः केनात्र वच्म्यहम् ॥२५

1538) [2]यज्जनैरभिबोध्यो ऽहं यज्जनान्[3] बोधयाम्यहम् ।
तद्विभ्रमपदं यस्मादहं विधुर्त[4]कल्पनः[5] ॥२६

1537) यद्यद्दृश्यम्—यदि इदं रूपम् अदृश्यं तद्रूपं तदन्यं * तस्मादन्यम् । अन्यथा न च ज्ञानवच्च । पक्षान्तरे । व्यतीताक्षम् अतीन्द्रियम् । अतः कारणात् अत्र जगति केन कारणेनाहं वच्मीति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथात्मनो भेदाभावमाह ।

1538) यज्जनैरभि—अहम् आत्मा जनैर्लोकैर्बोध्यः । ज्ञानरूपो ऽहमितीक्षते । अहं जनान् लोकान् बोधयामि । तद्विभ्रमपदं भ्रमस्थानम् । यस्मादहं परमात्मा । विध्वस्तकल्पनः* कल्पना-रहितः । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ पुनरपि स्वस्वरूपमाह ।

जो यह रूप दृश्य है—जो शरीरादि इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किया जाता है वह जड़ (चेतनासे शून्य) है, अन्य प्रकार (चेतन) नहीं है । तथा जो (आत्मा) ज्ञानवान् है—चेतन व ज्ञाता द्रष्टा है—वह इन्द्रियोंका विषय नहीं है । ऐसी अवस्थामें मैं यहाँ किससे व किसके (शब्दादि) द्वारा सम्भाषण करूँ ? विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जो शरीरादि बाह्य पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं वे तो जड़ हैं, अतः उनके साथ सम्भाषण करना योग्य नहीं है । अब रहा आत्मा, सो वह इन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं किया जाता है । ऐसी अवस्थामें उससे भी सम्भाषण कैसे किया जा सकता है ? नहीं किया जा सकता है । ऐसा विचार कर शरीरादि बाह्य पदार्थोंमें ममत्वबुद्धिका परित्याग करना चाहिए ॥२५॥

मैं दूसरे विद्वानोंके द्वारा प्रबोधित किया जाता हूँ तथा मैं अन्य जनोंको प्रतिबोधित करता हूँ, इस प्रकारका जो विकल्प होता है वह विपरीत बुद्धिका स्थान है—अज्ञानतासे परिपूर्ण है । इसका कारण यह है कि मैं (आत्मा) यथार्थतः इस बोध्य-बोधक भावकी कल्पनासे रहित हूँ ॥ विशेषार्थ—यद्यपि यह बोध्य-बोधकभावकी कल्पना शरीरादिसे पृथक् आत्माके अस्तित्वको मानकर अन्तरात्माके रूपमें ही होती है, फिर भी शुद्ध नयकी अपेक्षा (यथार्थमें) चूँकि वह आत्मा उपर्युक्त बोध्य-बोधकभावादिरूप सभी प्रकारके विकल्पोंसे रहित है, अतएव आत्मस्थितिके आश्रयसे उसे भी यहाँ त्याज्य बतलाया गया है । तात्पर्य यह कि जब तक इस प्रकारका सामर्थ्य आविर्भूत नहीं होता है तब तक व्यवहारके आश्रयसे वह अन्तरात्मा भी उपादेय है, किन्तु उस प्रकारके सामर्थ्य (आत्मबल) के आविर्भूत हो जानेपर वस्तुतः वह अन्तरात्मा भी हेय ही है । विशिष्ट आत्मबलके अभावमें व्यवहारका आश्रय लेते हुए भी यथार्थ आत्मस्वरूपसे विमुख कभी नहीं होना चाहिए—उसको लक्ष्यमें सदा ही रखना चाहिए ॥२६॥

१. All others except P M N तत्तदन्यन्न । २. L यद्येतैरपि बोध्यो, S T F J X R यज्जनैरपि बोध्यो । ३. M N यज्जनं । ४. L T F विध्वस्त । ५. S T F J X Y R कल्मषः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1539) यः स्वमेव समादत्ते नादत्ते यः स्वतो ऽपरम् ।
निर्विकल्पः स विज्ञानी स्वसंवेद्यो ऽस्मि केवलः[1] ॥२७

1540) [2]जातसर्पमतेर्यद्वच्छृङ्खलायां क्रियाक्रमः[3] ।
तथैव मे[4] क्रियाः पूर्वास्तन्वादौ स्वमिति भ्रमात् ॥२८

1541) शृङ्खलायां यथा वृत्तिर्विनष्टे भुजगभ्रमे ।
तन्वादौ मे तथा वृत्तिर्निवृत्तात्ममृषामतेः[5] ॥२९

1539) **यः स्वमेव**—यः स्वमेवात्मतत्त्वमेवादत्ते । स्वतः परं नादत्ते यः स ज्ञानी निर्विकल्पधीः स्वसंवेद्यो ऽस्ति केवलम्* । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ दृष्टान्तेनात्मतत्त्वं द्रढयति ।

1540) **जातसर्प**—जातसर्पमतेः शृङ्खलायां रज्ज्वां यथा क्रियाभ्रमः* तथैव मे तन्वादौ क्रियापूर्वा स्वमिति मतिर्भवति । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथायमेवार्थः प्रगटीक्रियते ।

1541) **शृङ्खलायां**—यथा भुजगभ्रमे विनष्टे शृङ्खलायां प्रवृत्तिः तथा मे तन्वादौ वृत्तिर्वर्तनम् । वै निश्चितम् । कीदृशस्य मे । नष्टात्मविभ्रमस्येति सूत्रार्थः ॥२९॥ पुनरात्मविचारमाह ।

जो स्वको—चैतन्यमय आत्माको—ही ग्रहण करता है, जो अपनेसे भिन्न अन्य किसी भी बाह्य पदार्थको नहीं ग्रहण करता है, जो सब प्रकारके संकल्प-विकल्पोंसे रहित है तथा जो विशिष्ट ज्ञानवान् होकर आत्मसंवेदनका विषय है—आत्मानुभवनके द्वारा जाना जाता है; वही एकमात्र मैं हूँ—अन्य नहीं हूँ ॥२७॥

जिस प्रकार सांकलको सर्प समझनेवाले मनुष्यकी उसके विषयमें चेष्टा होती है—वह उससे भयभीत होकर उसके घातादिमें प्रवृत्त होता है—उसी प्रकार भ्रमवश शरीरादिको स्व (आत्मा) मानकर उनके विषयमें मेरी भी पूर्व चेष्टाएँ रही हैं—मैं भी अज्ञानतासे शरीर एवं स्त्री-पुत्रादिको अपना मानकर अब तक उन्हींके संरक्षण और भरण-पोषण आदिमें खेदखिन्न रहा हूँ ॥२८॥

सर्पके भ्रमके नष्ट हो जानेपर जिस प्रकार मनुष्यकी प्रवृत्ति सांकलके विषयमें हुआ करती है उसी प्रकार शरीरादिमें आत्माकी जो भ्रान्तबुद्धि हो रही थी उसके हट जानेपर मेरी भी शरीर आदिमें उसी प्रकारकी प्रवृत्ति हो रही है ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सांकलमें उत्पन्न हुई सर्पकी भ्रान्तिके नष्ट हो जानेपर मनुष्य उससे भयभीत न होकर उसे सांकल जानता हुआ ही यथायोग्य प्रवृत्ति करता है उसी प्रकार शरीरादिमें उत्पन्न हुई आत्माकी भ्रान्तिके नष्ट हो जानेपर विवेकी जीव शरीरादिको आत्मासे भिन्न व जड़ जानता हुआ ही उसके प्रति जैसा व्यवहार करता है तथा आत्माके प्रति स्वत्वका व्यवहार करता है ॥२९॥

१. S T F J X Y R केवलम् । २. L J X ज्ञातसर्प, T F ज्ञानं सर्पायते । ३. L S T F J X R क्रियाभ्रमः । ४. M ते for मे । ५. All others except P वृत्तिर्नष्टात्मविभ्रमस्य वै ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1542) एतदेवैष[1] एकद्विबहूनीति[2] धियः पदम् ।
नाहं [3]यत्त्वात्मनात्मानं वेत्त्यात्मनि तदस्म्यहम् ॥३०

1543) यदबोधे[4] मया सुप्तं यद्बोधे पुनरुत्थितम् ।
तद्रूपमयमत्यक्षं[5] स्वसंवेद्यमहं किल ॥३१

1544) ज्योतिर्मयं ममात्मानं[6] पश्यतो ऽत्रैव यान्त्यमी ।
क्षयं रागादयस्तेन न[7] मे कश्चिद्रिपुः प्रियः ॥३२

1545) अदृष्टमत्स्वरूपो ऽयं जनो मे[8] न रिपुः प्रियः ।
[9]साक्षान्मद्दृष्टरूपो ऽपि जनो नेष्टो न च द्विषन् ॥३३

1542) **एतदेवैषः**—एतद् एव एषः । एकं द्वे बहूनि निधयः* पदं स्थानं भवन्ति । आत्मा तत्र नाहम् । यत्र आत्मनात्मानं वेत्त्य ज्ञात्वा आत्मनि तदस्म्यहम् । आत्मनि अहं वर्ते । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

1543) **यदबोधे**—यस्याज्ञाने मया सुप्तम् । यद्बोधे ज्ञाने पुनरुत्थितम् । तद्रूपमयं संवेद्यम् अहम् । किल सत्ये । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

1544) **ज्योतिर्मयं**—मम पश्यतः रागादयः क्षयं नाशं यान्तीति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथैतदेवाह ।

1545) **अदृष्ट**—अयं जनो अदृष्टमत्स्वरूपः न दृष्टं मत्स्वरूपं येन सो ऽरिर्न शत्रुः मे । न प्रियो मित्रम् । साक्षात्सुदृष्टरूपो ऽपि जनो *नारिर्मे न च *सुहृन्मित्रं मे । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ योगिनो माहात्म्यमाह ।

नपुंसक, स्त्री और पुरुष इस प्रकार लिंगभेद विषयक जो बुद्धि होती है तथा एक, दो और तीन इस प्रकारकी जो संख्याभेदविषयक बुद्धि होती है; उसका स्थान मैं नहीं हूँ। किन्तु जो अपने द्वारा अपने आपमें ही अपने आपको जानता है वह मैं हूँ ॥३०॥

जिस रूपका बोध न होनेपर मैं सोया हुआ था—अपने लक्ष्यसे विमुख हो रहा था तथा अब जिसका बोध हो जानेपर मैं उठ गया हूँ—प्रबुद्ध होकर आत्महितके साधनमें प्रवृत्त हो चुका हूँ—उसी रूप-स्वरूप मैं अतीन्द्रिय होकर केवल स्वसंवेदन (आत्मानुभवन) से ही गम्य हूँ ॥३१॥

अपने आपको प्रकाशस्वरूप देखनेवाले मेरे ये राग-द्वेषादि यहींपर विनाशको प्राप्त होते हैं। इस कारण न मेरा कोई शत्रु है और न कोई प्रिय (मित्र) है ॥३२॥

जिसने मेरे स्वरूपको—आत्मस्वरूपको—नहीं देखा है वह यह जन न मेरा शत्रु है और न प्रिय भी है। तथा जिसने प्रत्यक्षमें मेरे स्वरूपको देख लिया है वह भी जन न प्रिय है और न वैरी भी है ॥३३॥

१. P M L S T F एतदेषैष । २. M N L S T X Y R एकं द्वे बहूनीति, F बहूनि निधयः, J द्वौ बहूनि निधयः । ३. M यस्त्वात्म°, All others except P M N यच्चात्मना । ४. Q यदबोधि । ५. M N मजमत्यक्षं, L S T F J X K °मयप्रत्यक्षं । ६. N महात्मानं । ७. All others except P स्तेन नारिः कोऽपि प्रियो न मे । ८. All others except P जनो नारिर्न मे प्रियः....त्सुदृष्टः ...जनो नारिः सुहृन्न मे । ९. M N साक्षाच्च दृष्ट ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1546) [1]इतःप्रभृति निःशेषं पूर्वं पूर्वं विचेष्टितम् ।
मयाद्य ज्ञाततत्त्वस्य भाति स्वप्नेन्द्रजालवत् ॥३४

1547) यो विशुद्धः प्रसिद्धात्मा परंज्योतिः सनातनः ।
सो ऽहं तस्मात्प्रपश्यामि स्वस्मिन्नात्मानमच्युतम् ॥३५

1548) [2]अपाकृत्येति बाह्यात्मा प्रसन्नेनान्तरात्मना[3] ।
विधूतकल्पनाजालं परमात्मानमामनेत् ॥३६

1549) बन्धमोक्षावुभावेतौ भ्रमेतरनिबन्धनौ ।
बन्धश्च[4] परसंबन्धा[5]त्तद्भेदाभ्यासतः शिवम् ॥३७

1546) **इतःप्रभृति**—इतःप्रभृति निःशेषं समस्तं पूर्वं पूर्वं विचेष्टितं कर्तव्यम् । अद्य मम ज्ञाततत्त्वस्य स्वप्नेन्द्रजालवत् प्रतिभाति । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथात्मानं दर्शयति ।

1547) **यो विशुद्धः**—सो ऽहं तस्मादात्मनः स्वस्मिन्नात्मानं प्रपश्यामि । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ परमात्मानमाह ।

1548) **अपाकृत्येति**—परमात्मानमामनेत् । कीदृशं परमात्मानम् । विधूतकल्पनाजालम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ बन्धमोक्षयोः स्वरूपमाह ।

1549) **बन्धमोक्षौ**—एतौ उभौ बन्धमोक्षौ भ्रमेतरनिबन्धनौ सुगमम् । परसंबन्धात् बन्धः देहादिसंबन्धात् बन्धः । भेदाभ्यासात् ततः शिवं मोक्षमिति सूत्रार्थः ॥३७॥ अज्ञानज्ञानिनोः स्वरूपमाह ।

आज जब मुझे वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो चुका है तब इस समयसे लेकर पूर्वमें मैंने जो भी प्रवृत्ति की है वह सब मुझे स्वप्न अथवा इन्द्रजालके समान प्रतीत हो रही है ॥३४॥

जो अतिशय पवित्र, प्रसिद्ध स्वरूपसे संयुक्त, उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप और सदा अवस्थित रहनेवाला है वह मैं हूँ। इसलिए अब मैं अपनेमें अपने अनिश्वर आत्मस्वरूपको देखता हूँ ॥३५॥

बाह्य आत्माका निराकरण करके—शरीरमें आत्मबुद्धिको छोड़कर—निर्मल अन्तरात्माके द्वारा समस्त कल्पनाओंके समूहको नष्ट करके परमात्माका चिन्तन करना चाहिए ॥३६॥

बन्ध और मोक्ष इन दोनोंका कारण क्रमसे मिथ्याज्ञान और यथार्थज्ञान है । बन्ध पर पदार्थोंके सम्बन्धसे होता है । तथा मोक्ष परके भेदके अभ्याससे होता है । अभिप्राय यह है कि जब तक भ्रमवश शरीरादिमें आत्मबुद्धि रहती है तब तक कर्मका बन्ध हुआ करता है और जब उस भ्रमके हट जानेपर प्राणी स्वको स्व तथा पर (शरीरादि) को पर मानकर प्रवृत्ति करने लगता है तब उसका उस बन्धसे छुटकारा (मोक्ष) होता है ॥३७॥

---

१. All others except P Q M N T Y अतः । २. All others except P बाह्यात्मानमपि त्यक्त्वा प्र°, Q M N L F मिति for मपि । ३. N J प्रसन्ने चान्तरात्मनि । ४. बन्धः स्वपर । ५. All others except P L F °न्धाद्भेदाभ्यासात्ततः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1550) अलौकिकमहो वृत्तं ज्ञानिनः केन वर्ण्यते ।
अज्ञानी बध्यते यत्र ज्ञानी तत्रैव मुच्यते ॥३८

1551) यज्जन्मगहने खिन्नं प्राङ्मया दुःखसंकुले ।
तदात्मेतरयोर्नूनं [1]व्यत्ययेनावधारणात् ॥३९

1552) मयि सत्यपि [2]विज्ञानप्रदीपे विश्वदर्शिनि [3] ।
किं [4]निमज्जत्ययं लोको वराको जन्मकर्दमे ॥४०

1553) आत्मन्येवात्मनात्मायं[5] स्वयमेवानुभूयते ।
अतो ऽन्यत्रैष[6] मां ज्ञातुं प्रयासः कार्यनिष्फलः[7] ॥४१

1550) **अलौकिकम्**—ज्ञानिनः वृत्तं चरितम् । अहो इत्याश्चर्ये । केन वर्ण्यते । कीदृशम् । अलौकिकम् । यत्राज्ञानी बध्यते कर्मणा तत्रैव ज्ञानी मुच्यते । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ प्राग्भवेषु ज्ञानाभावमाह ।

1551) **यज्जन्म**—मया प्राग्भवे यज्जन्मगहने खिन्नम् । कीदृशे जन्मगहने । दुःखसंकुले । तदात्मेतरयोरात्मपरमात्मनोः । नूनमभेदेनावधारणात् । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथात्मनः सदयत्वमाह ।

1552) **मयि सत्यपि**—अयं लोको वराको जन्मकर्दमे निमज्जति । मयि सत्यपि विज्ञानं* भवति । प्रदीपे विश्वदर्शिनि । इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथ पुनरात्मानमेवाह ।

1553) **आत्मन्येव**—आत्मना आत्मन्येवात्मानं* स्वयमेवानुभूयते भोग्यते । प्रयासो मां ज्ञातुं कार्यनिष्फलः । इति सूत्रार्थः ॥४१॥ पुनस्तदेवाह ।

ज्ञानी (विवेकी) जीवकी सब ही प्रवृत्ति अलौकिक—लोकको अतिक्रमण करनेवाली—व आश्चर्यजनक होती है । उसका वर्णन भला कौन कर सकता है ? अर्थात् उसका पूर्णतया वर्णन करना सम्भव नहीं है । अज्ञानी प्राणी जिन क्रियाओंके द्वारा कर्मबन्धको प्राप्त होता है उन्हींके द्वारा ज्ञानी जीव उस कर्मबन्धसे मुक्त होता है ॥३८॥

मैं पूर्वमें जो दुखोंसे व्याप्त इस संसाररूप वनमें खेदको प्राप्त हुआ हूँ उसका कारण निश्चयसे आत्मा और पर (शरीरादि) के स्वरूपका विपरीत ज्ञान रहा है ॥३९॥

विशिष्ट ज्ञानरूप दीपकके द्वारा समस्त विश्वका अवलोकन करनेवाले ऐसे मेरे रहते हुए यह बेचारा दीन प्राणी संसाररूप कीचड़में क्यों निमग्न हो रहा है ? ॥४०॥

यह आत्मा अपने द्वारा अपनेमें ही स्वयमेव अनुभवमें आता है । इसलिए शरीरादिमें मुझे—उस आत्माको—जाननेके लिए जो यह परिश्रम किया जाता है वह व्यर्थका कार्य है ॥४१॥

१. All others except P नूनमभेदेना° । २. Q विज्ञाने, J विज्ञानं । ३. T दर्शने । ४. M F किं न, N किं नु । ५. J त्मानं । ६. All others except P N न्यत्रैव । ७. M निष्फलम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1554) स एवाहं स एवाहमित्यभ्यस्यन्ननारतम् ।
वासनां द्रढयन्नेव[1] प्राप्नोत्यात्मन्यवस्थितिम् ॥४२

1555) स्याद्यद्यत्प्रीतये ऽज्ञस्य तत्तदेवापदास्पदम् ।
बिभेत्ययं पुनर्यस्मिंस्तदेवानन्दमन्दिरम् ॥४३

1556) सुसंवृतेन्द्रियग्रामे प्रसन्ने चान्तरात्मनि ।
क्षणं स्फुरति यत्तत्त्वं तद्रूपं परमेष्ठिनः ॥४४

1557) यः सिद्धात्मा परः सो ऽहं यो ऽहं स परमेश्वरः ।
मदन्यो न मयोपास्यो मदन्येन तु[2] नाप्यहम् ॥४५

1554) **स एवाहं**—अनारतं निरन्तरम् इत्यभ्यसन् । आत्मनि अवस्थितिं प्राप्नोति । एवं* वासनां द्रढयन् स एवाहं स एवाहम् । इति सूत्रार्थः ॥४२॥ एतदेवाह ।

1555) **स्याद्यद्यत्**—यस्य यद्यत् प्रीतये स्यात् तत्तदेवापदास्पदं विपदां गृहम् । पुनर्यस्मिन्नयं बिभेति तस्य तदेवानन्दमन्दिरं हर्षधाम । इति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथ परमेष्ठिस्वरूपमाह ।

1556) **सुसंवृतेन्द्रिय**—इन्द्रियग्रामे सुसंवृते । च पुनः । अन्तरात्मनि प्रसन्ने । यत्तत्त्वं क्षणं स्फुरति । परमेष्ठिनः तद्रूपम् । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ सिद्धत्वमाह ।

1557) **यः सिद्धात्मा**—यः सिद्धात्मा परः प्रकृष्टः सो ऽहम् । स परमेश्वरः मदन्यो न मत्तो ऽन्यो न मया उपास्यः सेव्यः । मदन्येन मत्तः अन्येन अहम् [न उपास्यः] इति सूत्रार्थः ॥४५॥ पुनरात्मनः स्वरूपमाह ।

मैं वही परमात्मा हूँ, मैं वही परमात्मा हूँ; इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करनेवाला योगी उस संस्कारको दृढ़ ही करता है, जिससे वह अपने ही आत्मस्वरूपमें अवस्थानको प्राप्त कर लेता है ॥४२॥

अज्ञानीके लिए जो-जो (इन्द्रियविषयादि) प्रीतिके लिए होता है वही-वही दुखका स्थान (दुखदायक) है, तथा जिस संयम व तप आदिके विषयमें वह भयभीत होता है वही वस्तुतः आनन्दका स्थान है ॥४३॥

इन्द्रियसमूहके नियन्त्रित कर लेनेसे अन्तरात्माके प्रसन्न (निर्मल) हो जानेपर जो क्षणभरके लिए निज स्वरूप प्रतिभासित होता है वही स्वरूप परमात्माका है ॥४४॥

जो सिद्ध परमात्मा है वह मैं हूँ और जो मैं हूँ वह सिद्ध परमात्मा है । न मेरे द्वारा मुझसे भिन्न दूसरा कोई आराधनीय है। और न मैं ही मुझसे भिन्न दूसरेके द्वारा आराधनीय हूँ। तात्पर्य यह कि यथार्थमें मैं स्वयं परमात्मा हूँ, इसलिए मैं ही उपास्य और मैं ही उपासक हूँ—निश्चयसे उन दोनोंमें कोई भेद नहीं है ॥४५॥

१. Q M °न्नेवं । २. L नु, S F J X Y R न for तु and च for न ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1558) आकृष्य गोचरव्याघ्रमुखादात्मानमात्मना ।
स्वस्मिन्नहं[1] स्थिरीभू[2]तश्चिदानन्दमये स्वयम् ॥४६

1559) पृथगित्थं न मां वेत्ति[3] यस्तनोर्वीतविभ्रमः ।
कुर्वन्नपि तपस्तीव्रं न स मुच्येत बन्धनैः ॥४७

1560) स्वपरान्तरविज्ञानसु[4]धास्यन्दाभिनन्दितः ।
खिद्यते न तपः कुर्वन्नपि क्लेशैः शरीरजैः ॥४८

1561) रागादिमलविश्लेषाद्यस्य चित्तं सुनिर्मलम् ।
सम्यक् स्वं स हि जानाति नान्यः केनापि हेतुना ॥४९

1558)**आकृष्य**—अहं स्वस्मिन्नात्मनि स्थिरीभूतः आत्मनात्मानं व्याघ्रगोचरमुखादाकृष्य । कीदृशे कस्मिन् । स्वयं चिदानन्दमये । इति सूत्रार्थः ॥४६॥ अथ कर्मबन्धनमोक्षमाह ।

1559) **पृथगित्थं**—यो मां पृथगित्थं न वेत्ति तनोर्वीतविभ्रमः नष्टाज्ञानः । तीव्रं तपः कुर्वन्नपि बन्धनैर्न मुच्यते सः । इति सूत्रार्थः ॥४७॥ अथ विज्ञानी शरीरजातकर्मभिः स्वं न प्राप्नोति इत्याह ।

1560) **स्वपरान्तर**—स्वपरान्तरविज्ञानसुधास्यन्दाभिनन्दितः खिद्यते न वाभिनन्दितः । शेषं सुगममिति सूत्रार्थः ॥४८॥ अथ पुनर्ज्ञानमाह ।

1561) **रागादि**—यस्य चित्तं रागादिमलविश्लेषात् सुनिर्मलं स हि केनापि हेतुना अन्यः सम्यक् न स्वं जानाति । इति सूत्रार्थः ॥४९॥ अथ सम्यक्तत्त्वमाह ।

मैं अपने आपको अपने ही द्वारा इन्द्रियविषयरूप व्याघ्रके मुखसे खींचकर चिदानन्द-स्वरूप अपने-आपमें ही स्वयं स्थिर हो गया हूँ ॥४६॥

जो विपरीत बुद्धिको छोड़कर इस प्रकारसे मुझे (आत्माको) शरीरसे भिन्न नहीं जानता है वह घोर तपश्चरण करता हुआ भी बन्धनोंसे नहीं छूटता है—मुक्त नहीं हो सकता है ॥४७॥

स्व और परके भेद—विज्ञानरूप अमृतके बहनेसे आनन्दको प्राप्त हुआ योगी तपको करता हुआ भी शारीरिक क्लेशोंसे खेदको नहीं प्राप्त होता है। अभिप्राय यह कि स्व-पर-भेद विज्ञानके उदित हो जानेपर योगीको जो आनन्द प्राप्त होता है उसके आगे उसे तप-जन्यक्लेश क्लेश ही प्रतीत नहीं होता ॥४८॥

राग-द्वेषादिरूप मलके पृथक् हो जानेसे जिसका चित्त अतिशय निर्मल हो गया है वही निश्चयसे अपने आपको भलीभाँति जानता है। इसके विपरीत दूसरा—रागादिसे दूषित अन्तःकरणवाला बहिरात्मा—किसी भी हेतुके द्वारा अपने आत्मस्वरूपको नहीं जानता है ॥४९॥

---

१. S J R स्वस्मिन्नेव । २. Y स्थिरीकृत्य । ३. All others except P Q M मां चेति । ४. Q सुखास्पन्दा, All others except P M सुधास्पन्दा° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1562) निर्विकल्पं मनस्तत्त्वं न विकल्पैरभिद्रुतम् ।
निर्विकल्पमतः कार्यमन्त[1]स्तत्त्वप्रसिद्धये ॥५०

1563) अज्ञानविप्लुतं[2] चेतः स्वतत्त्वादपवर्तते[3] ।
विज्ञानवासितं तद्धि पश्यत्यन्तःपुरप्रभुम् ॥५१

1564) मुनेर्यदि मनो मोहाद्रागाद्यैरभिभूयते ।
तन्नियोज्यात्मनस्तत्त्वे तदैव[4] क्षपति[5] क्षणात् ॥५२

1565) यत्राजात्मा[6] रतः काये तस्माद्व्यावर्तितो धिया ।
चिदानन्दमये रूपे [7]युक्तस्तत्प्रीतिमुत्सृजेत् ॥५३

1562) **निर्विकल्पं**—मनस्तत्त्वं निर्विकल्पं कल्पनारहितं विकल्पैरभिद्रुतं न । अतः कारणात् सम्यक्तत्त्वप्रसिद्धये* मनस्तत्त्वं निर्विकल्पं कार्यम् । इति सूत्रार्थः ॥५०॥ अथ पुनरात्मतत्त्वमाह ।

1563) **अज्ञान**—अज्ञानविप्लुतं संविद्रुतं चेतः स्वतत्त्वादपवर्तते । हि निश्चितम् । अन्तः-पुरप्रभुं परमात्मानं विज्ञानवासितमिति सूत्रार्थः ॥५१॥ अथ मोहादीनामभावं दर्शयति ।

1564) **मुनेर्यदि**—यदि मुनेः मनो मोहात् रागाद्यैरभिभूयते । आत्मनस्तत्त्वे क्षणात् तानेव* क्षपति । इति सूत्रार्थः ॥५२॥ अथात्मनि प्रीतियोजनमाह ।

1565) **यत्राजात्मा**—यत्र काये अजात्मा रतः । धिया तस्माद् व्यावर्तितः, चिदानन्दमये रूपे योजितः*, प्रीतिमुत्सृजेत् । इति सूत्रार्थः ॥५३॥ अथ स्वपरमात्मस्वरूपमाह ।

विकल्पोंसे रहित हुआ मन तत्त्व है—परमात्माका स्वरूप है, किन्तु उन विकल्पोंसे पीड़ित हुआ मन तत्त्व नहीं है । इस कारण अभ्यन्तर तत्त्वको सिद्ध करनेके लिए उस मनको विकल्पोंसे रहित करना चाहिए ॥५०॥

अज्ञानसे उपद्रवको प्राप्त हुआ चित्त आत्मतत्त्वसे च्युत होता है तथा विवेकज्ञानसे संस्कारित वही चित्त शरीरके भीतर परमात्माको देखता है ॥५१॥

मोहके वश यदि मुनिका मन रागादिके द्वारा अभिभूत किया जाता है तो मुनि उसे आत्मा-के स्वरूपमें नियुक्त करके उसी समय क्षणभरमें ही उन रागादिकोंको नष्ट कर देता है ॥५२॥

जिस शरीरमें अज्ञानी जीव रत होता है उससे आत्माको बुद्धिपूर्वक हटाकर यदि वह चिदानन्दमय आत्माके स्वरूपमें मग्न होता है तो वह शरीरविषयक अनुरागको छोड़ देता है ॥५३॥

---

१. All others except P कार्यं सम्यक्तत्त्वस्य सि° । २. T वियुतं । ३. X तत्त्वेन प्रवर्तते । ४. Q L Y तानेव, M N S T F X R तान्येव । ५. M L T F Y क्षिपति, S क्षिपते, J R क्षिप्यते । ६. All others except P यत्राज्ञात्मा.... । ७, योजितः प्रीति° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1566) स्वविभ्रमोद्भवं दुःखं स्वज्ञानेनैव हीयते ।
तपसापि न तच्छेद्यमात्मविज्ञानवर्जितैः ॥५४

1567) रूपायुर्बलवित्तादि[1] संपत्तिं स्वस्य वाञ्छति ।
बहिरात्मा च[2] विज्ञानी साक्षात्तेभ्यो ऽपि विच्युतिम्[3] ॥५५

1568) कृत्वाहंमतिमन्यत्र बध्नाति स्वं स्वतश्च्युतः ।
आत्मन्यात्ममतिश्च्युत्वान्यस्माद्[4] ज्ञानी च मुच्यते ॥५६

1569) आत्मानं वेत्त्यविज्ञानी त्रिलिङ्गीसंगतं[5] वपुः ।
सम्यग्वेदी पुनस्तत्त्वं लिङ्गसंगतिवर्जितम् ॥५७

1566) **स्वविभ्रमोद्भवं**—स्वविभ्रमोद्भवं स्वमिथ्याज्ञानजातं दुःखं स्वज्ञानेनैव हीयते हानिं याति। आत्मविज्ञानवर्जिते तपसा तद्दुःखं न छेद्यम्। इति सूत्रार्थः ॥५४॥ अथ बहिरात्मस्वरूपमाह।

1567) **रूपायुर्बल**—बहिरात्मा रूपायुर्बलवित्तादिसंपत्तिं स्वस्य वाञ्छति। अथ* विज्ञानी साक्षात्तेभ्यो ऽपि रूपादिभ्यो विच्युतम्।* इति सूत्रार्थः ॥५५॥ अथ ज्ञानिनो मोक्षमाह।

1568) **कृत्वाहंमतिम्**—अहंमतिम् अहंकारं कृत्वा अन्यत्र स्वं स्वतश्च्युतः। आत्मनि आत्ममतिं कृत्वा अन्यस्माद् ज्ञानी विमुच्यते। इति सूत्रार्थः ॥५६॥ अथात्मानमेवाह।

1569) **आत्मानम्**—अज्ञानी आत्मानं त्रिलिङ्गीसंगतं वपुः वेत्ति। सम्यग्वेदी पुनस्तत्त्वं लिङ्गातिवर्जितं रहितम्। इति सूत्रार्थः ॥५७॥ अथ योगिनमाह।

आत्मस्वरूपको यथार्थ न जाननेके कारण जो दुख उत्पन्न हुआ है वह आत्मस्वरूपके यथार्थ ज्ञानके द्वारा ही नष्ट किया जाता है। जो प्राणी आत्माके ज्ञानसे रहित हैं वे तपके द्वारा भी उस दुखको नष्ट नहीं कर सकते हैं ॥५४॥

बहिरात्मा प्राणी अपने लिए रूप, आयु, बल और धन आदिको चाहता है, परन्तु विवेकी अन्तरात्मा उनसे साक्षात् छुटकारा चाहता है—वह उन्हें छोड़ना चाहता है ॥५५॥

अज्ञानी जीव शरीरादि पर पदार्थोंमें अहंबुद्धि करके—उन्हें अपना मानकर—आत्मस्वरूपसे च्युत होता हुआ अपनेको कर्मसे सम्बद्ध करता है। परन्तु आत्मामें ही आत्मबुद्धि रखनेवाला—शरीरादिसे आत्माको पृथक् देखनेवाला—ज्ञानी जीव शरीरादि पर पदार्थोंसे च्युत होकर उस कर्मबन्धनसे छुटकारा पा लेता है—मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥५६॥

अज्ञानी बहिरात्मा स्त्री, पुरुष व नपुंसक इन तीन लिंगोंसे संयुक्त शरीरको आत्मा जानता है। परन्तु सम्यग्ज्ञानी अन्तरात्मा अपने आत्मस्वरूपको लिंगके संयोगसे रहित—शरीर व तद्गत लिंगभेदसे पृथक्—ही जानता है ॥५७॥

१. Y वित्तज्ञाः। २. All others except P Y °रात्माथ। ३. P विच्युतिः, F विच्युतम्। ४. All others except P Q M N °मतिं कृत्वा तस्माद् ज्ञानी विमुच्यते। ५. Q M संवृतं for संगतं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1570) समभ्यस्तं सुविज्ञातं निर्णीतमपि तत्त्वतः ।
अनादिविभ्रमात्तत्त्वं[1] प्रस्खलत्येव योगिनः ॥५८

1571) अचिद्दृश्यमिदं रूपं न चिद्दृश्यं ततो वृथा[2] ।
मम रागादयो ऽर्थेषु समत्वं[3] संश्रयाम्यतः[4] ॥५९

1572) करोत्यज्ञो ग्रहत्यागौ बहिरन्तस्तु[5] तत्त्ववित् ।
शुद्धात्मा न बहिर्नान्तस्तौ विदध्यात् कथंचन ॥६०

1573) वाक्कायाभ्यां पृथक् कृत्वा मनसात्मानमभ्यसेत् ।
वाक्तनुभ्यां प्रकुर्वीत कार्यमन्यन्न चेतसा ॥६१

1570) **समभ्यस्तं**—योगिनः तत्त्वं प्रस्खलत्येव । कस्मात् । अनादिविभ्रमात् । कीदृशं तत्त्वम् । समभ्यस्तं सुविज्ञातम् । तत्त्वतो निर्णीतम् । इति सूत्रार्थः ॥५८॥ अथात्मस्वरूपमाह ।

1571) **अचिद्दृश्यम्**—इदं रूपम् अचिद्दृश्यम् । मम रागादयो अर्थेषु स्वरूपं संश्रयामि । इति सूत्रार्थः ॥५९॥ अथात्मनो द्वैविध्यमाह ।

1572) **करोत्यज्ञः**—अज्ञो मूर्खः ग्रहत्यागौ करोति बहिरन्तस्तु । तत्त्ववित् शुद्धात्मा न बहिर्नान्तः कथंचन पुरुषः विदध्यात् । इति सूत्रार्थः ॥६०॥ अथवा

1573) **वाक्कायाभ्यां**—मनसा आत्मानमभ्यसेत् । किं कृत्वा । वाक्कायाभ्यां पृथक् कृत्वा । अन्यत्कार्यं वाक्तनुभ्यां प्रकुर्वीत । न चेतसा । इति सूत्रार्थः ॥६१॥ अथात्मवेदिनां स्वरूपमाह ।

जिस योगीके तत्त्वका—आत्मस्वरूपका—भले प्रकार अभ्यास किया गया है, जिसे समीचीनरूपसे जान लिया है, और जिसका यथार्थरूपसे निर्णय भी कर लिया है; वह भी अनादिकालकी विपरीतबुद्धिके संस्कारवश भ्रष्ट हो जाता है ॥५८॥

जो यह रूप (शरीरादि) दिख रहा है वह तो चेतनासे रहित (जड़) है और जो रूप (आत्मा) चेतनासे संयुक्त है वह दृश्य नहीं है—उसे इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है। इसलिए शरीरादि बाह्य पदार्थोंके विषयमें मुझे राग-द्वेषादि करना व्यर्थ है—दृश्यमान जड़पदार्थोंसे राग-द्वेष करना मुझे योग्य नहीं है। इस कारण अब मैं समता भावका आश्रय लेता हूँ-बाह्य पर पदार्थोंसे ममत्वबुद्धिको छोड़कर आत्मस्वरूपमें स्थित होता हूँ ॥५९॥

अज्ञानी बहिरात्मा बाह्यमें ग्रहण व त्यागको करता है और तत्त्वका वेत्ता अन्तरात्मा अभ्यन्तर ग्रहण व त्यागको करता है। परन्तु शुद्धात्मा (परमात्मा) न तो बाह्यमें ग्रहण व त्यागको किसी प्रकारसे करता है और न अभ्यन्तरमें भी ॥६०॥

आत्माको वचन और शरीरसे पृथक् करके उसका मनसे अभ्यास करना चाहिए तथा अन्य कार्यको वचन और शरीरके द्वारा ही करना चाहिए, उसे मनसे नहीं करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि प्रयोजनके वश शरीर और वचनसे व्यवहारकार्यको करते हुए भी मनको निरन्तर आत्मस्वरूपकी ओर ही प्रवृत्त करना चाहिए ॥६१॥

१. M विभ्रमास्तत्त्वं । २. X ततो ऽन्यथा । ३. All others except P स्वरूपं for समत्वं । ४. L S F J R °म्यहं । ५. S J R बहिर्वान्त°, F बहिर्जतः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1574) विश्वासानन्दयोः स्थानं स्याज्जगदज्ञचेतसाम्[1] ।
क्वानन्दः क्व च विश्वासः स्वस्मिन्नेवात्मवेदिनाम् ॥६२

1575) स्वबोधादपरं किंचिन्न स्वान्ते बिभृयात्क्षणम् ।
[2]कुर्यात्प्रयत्नमपाकृत्य वाक्कायाभ्यां प्रयोजनात् ॥६३

1576) यदक्षविषयं[3] रूपं मद्रूपात्तद्विलक्षणम् ।
आनन्दनिर्भरं रूपमन्तर्ज्योतिर्मयं मम[4] ॥६४

1577) अन्तर्दुःखं बहिः सौख्यं योगाभ्यासोद्यतात्मनाम् ।
सुप्रतिष्ठितयोगानां विपर्यस्तमिदं पुनः ॥६५

1574) **विश्वासानन्दयोः**—आत्मवेदिनां स्वस्मिन्नेव विश्वासानन्दयोः स्थानम् । कीदृशाम् । [1]जगदन्यचेतसां जगतो ऽन्यच्चेतो येषां ते तेषाम् । क्व आनन्दः । न क्वापीति । च पुनः विश्वासः क्वेति सूत्रार्थः ॥६२॥ अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

1575) **स्वबोधात्**—स्वबोधात्[2] ज्ञानात् विना परं प्रकृष्टं किंचित् न क्षणं स्वान्ते स्वमनसि बिभृयात् । कार्यवशात् किंचित् कुर्यात् । वाक्कायाभ्यामनादृतः अनादरपरः । इति सूत्रार्थः ॥६३॥ अथाक्षिगोचरमात्मनो भिन्नमित्याह ।

1576) **यदक्षविषयं**—यदक्षविषयं यदिन्द्रियगोचरं रूपं मद्रूपात्तद्विलक्षणं रहितम् । मम आनन्दनिर्भरं रूपं ज्योतिर्मयम् । इति सूत्रार्थः ॥६४॥ अथ योगाभ्यासवर्तिदुःखसुखविपर्यासमाह ।

1577) **अन्तर्दुःखं**—योगाभ्यासोद्यतात्मनाम् अन्तर्मध्ये दुःखं बहिः सौख्यम् । सुप्रतिष्ठितयोगानाम् इदं पुनर्विपर्यस्तमिति सूत्रार्थः ॥६५॥ अथात्मन्येवात्मस्थितिमाह ।

जिनका मन मिथ्याज्ञानसे मलिन हो रहा है उनके लिए संसार विश्वास और आनन्दका घर है । परन्तु जो बाह्य शरीरादिसे भिन्न अपनेमें आत्माका अनुभवन करते हैं उनके लिए आनन्द कहाँ और विश्वास कहाँ ? तात्पर्य यह कि आत्मस्वरूपके जानकार न बाह्य विषयोंमें कभी स्थिरताका विश्वास करते हैं और न उनको सुखका कारण भी मानते हैं । किन्तु जो आत्मज्ञानसे विमुख हैं वे ही उन्हें स्थिर व सुखका कारण समझा करते हैं ॥६२॥

मुमुक्षु जीवको आत्मज्ञानके सिवाय अन्य किसीको क्षणभरके लिए भी अन्तःकरणमें स्थान नहीं देना चाहिए । प्रयोजनके वश यदि कुछ अन्य कार्य करना पड़े तो उसके लिए अनासक्तिपूर्वक केवल वचन और शरीरसे ही प्रयत्न करना चाहिए ॥६३॥

जो रूप इन्द्रियोंका विषय है—जिसे इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं—वह मेरे रूपसे (आत्मस्वरूपसे) भिन्न है । मेरा रूप तो अन्तर्ज्योति (अनन्त ज्ञान) स्वरूप और आनन्दसे परिपूर्ण है ॥६४॥

जो योगके अभ्यासमें उद्यत होते हैं उनके लिए उसे प्रारम्भ करते हुए अन्तरंगमें दुख और बाह्यमें सुख होता है । परन्तु जिनका वह योग सिद्ध हो चुका है उनकी अवस्था

१. N जगत्यज्ञ, L T F °दन्य । २. All others except P कुर्यात्कार्यवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामनादृ- (F वृ) तः । ३. Q विषये । ४. T मनः for मम ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1578) तद्विज्ञेयं तदाख्येयं तत्सेव्यं[1] चिन्त्यमेव वा ।
येनभ्रान्तिमपास्योच्चैः स्यादात्मन्यात्मनः स्थितिः ॥६६

1579) विषयेषु न तत्किंचित्स्याद्धितं यच्छरीरिणाम् ।
तथाप्येष्वेवं[2] कुर्वन्ति प्रीतिमज्ञा न योगिनः[3] ॥६७

1580) अनाख्यातमिवाख्यातमपि न प्रतिपद्यते ।
आत्मानं जडधीस्तेन वन्ध्यस्तत्र ममोद्यमः ॥६८

1581) अनहं[4] यन्मया किंचित्प्रज्ञापयितुमिष्यते ।
नान्यग्राह्यमहं यस्मात्तन्मुधा बोधनोद्यमः ॥६९

1578) **तद्विज्ञेयं**—येन ज्ञानेनात्मनि आत्मस्थितिः स्यात् । किं कृत्वा । भ्रान्तिमपास्योच्चैः । तद्विज्ञेयं ज्ञातव्यम् । तदाख्येयं वक्तव्यम् । तत् श्राव्यं* वा चिन्त्यमेव । इति सूत्रार्थः ॥६६॥ अथात्मज्ञानमाह ।

1579) **विषयेषु**—विषयेषु तत्किंचिन्न यच्छरीरिणां हितं स्यात् । तथाप्येष्वेवाज्ञा न योगिनः प्रीतिं कुर्वन्ति विषयेष्वेति सूत्रार्थः ॥६७॥ अथात्मस्वरूपमाह ।

1580) **अनाख्यातम्**—जडधीरात्मानं न प्रतिपद्यते । आख्यातमपि अनाख्यातमिव । तेन कारणेन तत्र ममोद्यमः वन्ध्यो निष्फलः । इति सूत्रार्थः ॥६८॥ अथ पुनरपि तत्स्वरूपमाह ।

1581) **अनहं**—यत्किञ्चित् मया प्रज्ञापयितुमिष्यते । तन्नाहं* यो न स परिग्राह्यः । तद्बोधनोद्यमः मुधा निष्फलः । इति सूत्रार्थः ॥६९॥ अथात्मस्वरूपमाह ।

उससे विपरीत होती है—उन्हें उससे अन्तरंगमें सुख और बाह्यमें दुख होता है । अभिप्राय यह है कि योगी जब योगको प्रारम्भ करता है तब उसे उसका अभ्यास न होनेसे अन्तरंगमें दुख और बाह्यमें सुख होता है । किन्तु जब वह उसे सिद्ध कर चुकता है तब उसे बाह्यमें दुख और अन्तरंगमें सुख होता है ॥६५॥

जिस तत्त्वके आश्रयसे भ्रमको अतिशय निर्मूल करके आत्माका आत्मा में अवस्थान होता है उसीका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, उसीका व्याख्यान करना चाहिए, उसीका आराधन करना चाहिए, और उसीका चिन्तन करना चाहिए ॥६६॥

इन्द्रियविषयोंमें वह कुछ भी नहीं है जो प्राणियोंके लिए हितकर हो, तो भी अज्ञानी जन उन्हींमें अनुराग किया करते हैं । परन्तु योगी जन उनमें कभी अनुराग नहीं किया करते हैं ॥६७॥

जड़बुद्धि—अतिशय विपरीत बुद्धिवाला दुराग्रही प्राणी—आत्माके स्वरूपको समझानेपर भी वह नहीं कहे हुएके समान उसे स्वीकार नहीं करता है । इस कारण उसके विषयमें मेरा प्रयत्न करना व्यर्थ है ॥६८॥

जो कुछ मैं ज्ञापित करना चाहता हूँ—जिस आत्मस्वरूपका दूसरेके लिए ज्ञान कराना

१. All others except P तच्छ्रव्यं । २. M N ष्वेतेषु । ३. L °मज्ञानयोगतः । ४. All others except P तन्नाहं यन्मया....यो ऽहं न स परग्राह्यस्तन्मुधा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1582) [1]निरुद्धज्योतिरज्ञो[2] ऽन्तः स्वतो ऽन्यत्रव तुष्यति ।
तुष्यत्यात्मनि विज्ञानी बहिर्गलितसंभ्रमः[3] ॥७०

1583) यावदात्मास्थया[5]दत्ते वाक्चित्तवपुषां व्रजम् ।
जन्म तावदमीषां तु भेदज्ञानाद्भवच्युतिः ॥७१

1584) जीर्णे रक्ते घने ध्वस्ते[6] नात्मा जीर्णादिकः पटे[7] ।
एवं वपुषि जीर्णादौ नात्मा जीर्णादिकस्तथा ॥७२

1582) **निरुद्धज्योतिः**—अज्ञातो* मूर्खः स्वतः आत्मतत्त्वतः अन्यत्र शरीरादौ तुष्यति मोदते। कीदृशो ऽज्ञातः। निरुद्धज्योतिर्नष्टात्मस्वरूपः। विज्ञानी आत्मनि तुष्यति। कीदृशः। बर्हिविगत-भ्रमः* बाह्यगताज्ञानः। इति सूत्रार्थः ॥७०॥ अथैतदेवाह।

1583) **यावदात्मास्थया**—यावदात्मेच्छया* वाक्चित्तवपुषां व्रजं दत्ते; तावदमीषां वाचा-दीनां भेदज्ञानात् भवच्युतिः। इति सूत्रार्थः ॥७१॥ आत्मज्ञानमाह।

1584) **जीर्णे रक्ते**—यथा घटे* नात्मा जीर्णादिकः। कीदृशे घटे। जीर्णे रक्ते घने श्वेते। एवमात्मा न जीर्णादिकः वपुषि जीर्णादिके तथेति सूत्रार्थः ॥७२॥ अथ जगतो माहात्म्यं दर्शयति।

चाहता हूँ—वह मैं नहीं हूँ और जो मैं हूँ वह परके द्वारा ग्राह्य नहीं है—वह मेरे द्वारा ही ग्रहण करने योग्य है, परके द्वारा वह ग्रहण करनें योग्य नहीं है। इसलिए दूसरेको प्रबोधित करनेका मेरा प्रयत्न व्यर्थ है ॥६९॥

अज्ञानी बहिरात्मा अभ्यन्तरमें आत्मज्ञानरूप ज्योतिके आच्छादित रहनेसे अपनेसे भिन्न पर पदार्थोंमें सन्तुष्ट होता है, किन्तु ज्ञानी जीव बाह्य शरीरादिमें आत्मविषयक बुद्धिकी भ्रान्तिके नष्ट हो जानेसे अपनेआपमें ही सन्तुष्ट होता है ॥७०॥

प्राणी जब तक वचन, मन और शरीर इन तीनोंके समूहको आत्मबुद्धिसे ग्रहण करता है तभी तक उसका संसारपरिभ्रमण है। किन्तु भेदज्ञानसे—उक्त वचन आदि तीनोंको आत्म-बुद्धिसे ग्रहण न करके परबुद्धिसे ग्रहण करनेपर—उसकी संसारसे मुक्ति है ॥७१॥

जिस प्रकार वस्त्रके जीर्ण, रक्त, सघन और नष्ट होनेपर आत्मा क्रमशः न जीर्ण होता है, न रक्त होता है, न सघन होता है, और न नष्ट होता है; उसी प्रकार शरीरके जीर्ण, रक्त, सघन और नष्ट होनेपर आत्मा भी क्रमसे जीर्ण, रक्त, सघन और नष्ट नहीं होता है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार वस्त्र अपनेसे सर्वथा भिन्न ही सबको प्रतीत होता है उसी प्रकार शरीर-को भी आत्मासे पृथक् समझना चाहिए ॥७२॥

---

१. J Interchanges Nos. ७०-७१। २. J रज्ञातः। ३. All others except P विगत for गलित। ४. L S T F X Y R विभ्रमः, J बहिश्च विगतभ्रमः। ५. L S T J X Y R °दात्मेच्छया-दत्ते, F °दात्मा स्थितिं धत्ते। ६. T F J Y श्वेते for ध्वस्ते। ७. J घटे for पटे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1585) चलमप्यचलाकारं[1] जगद्यस्यावभासते ।
ज्ञानभोगिक्रियाहीनं स एवास्कन्दति[2] ध्रुवम् ।।७३

1586) तनुत्रयावृतो देही ज्योतिर्मयवपुः स्वयम् ।
न वेत्ति यावदात्मानं क्व तावद् बन्धविच्युतिः ।।७४

1587) गलन्मिलदणुव्रातसंनिवेशात्मकं वपुः ।
वेत्ति मूढस्तदात्मानमनाद्युत्पन्नविभ्रमात् ।।७५

1585) **चलमप्यचल**—यस्य योगिनः चलमपि जगत् अचलप्रख्यं* विभासते प्रतिभासते । ज्ञातयोगः* क्रियाहीनः स एव पुरुषः शिवं मोक्षमास्कन्दति आश्लेषयति । इति सूत्रार्थः ।।७३।। अथात्मज्ञानाभावे कर्मसद्भावः ।

1586) **तनुत्रयावृतः**—देही प्राणी तनुत्रयावृतः औदरिकादिशरीरत्रययुक्तः यावदात्मानं न वेत्ति । स्वयमात्मना ज्योतिर्मयं ज्योतिःस्वरूपं तावद्बन्धच्युतिः बन्धाभावः । इति सूत्रार्थः ।।७४।। अथ शरीरपरमाणुनिष्पन्नत्वं दर्शयति ।

1587) **गलन्मिलत्**—वपुः गलन्मिलदणुव्रात-गलन्तो मिलन्तश्च ये परमाणवस्तेषां व्रातः समूहः तस्य संनिवेशात्मकं मेलापकं मूढो तदात्मानं वेत्ति । कस्मात् । अनाद्युत्पन्नविभ्रमात् मिथ्यात्वात् । इति सूत्रार्थः ।।७५।। आत्मस्थितेर्मुक्तिसद्भावत्वं दर्शयति ।

जिसके लिए जगत्—शरीर आदि—अस्थिर होता हुआ भी स्थिर आकारवाला प्रतीत होता है वही ज्ञान, भोग और क्रियासे रहित शाश्वतिक पदको प्राप्त करता है। विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि यद्यपि चेतन आत्मासे अधिष्ठित होनेके कारण शरीर आदि चंचल—क्रियायुक्त—दिखते हैं, फिर भी जिस अन्तरात्माके लिए आत्मा और शरीरादिके भिन्न स्वरूपका ज्ञान हो चुका है वह उन शरीरादिको काष्ठ-पाषाणादिके समान ज्ञान, भोग और परिस्पन्दात्मक क्रियासे रहित ही अनुभव करता है। इसीलिए उसे स्थिर पदस्वरूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है ।।७३।।

स्वयं ज्ञानमय शरीरसे संयुक्त होकर भी बाह्यमें तीन शरीरोंसे—औदारिक अथवा वैक्रियिकमें-से कोई एक तथा तैजस और कार्मण इन पुद्गलमय शरीरोंसे—आच्छादित रहनेवाला प्राणी जब तक अपने इस आत्मस्वरूपको नहीं जानता है तब तक उसके बन्धका विच्छेद (मुक्ति) कहाँ हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता है ।।७४।।

अज्ञानी बहिरात्मा अनादिकालसे उत्पन्न हुई भ्रान्तिके कारण बिछुड़ते और मिलते हुए परमाणुओंके समूहके रचनास्वरूप शरीरको आत्मा जानता है ।।७५।।

१. All others except P °चलप्रख्यं....ज्ञानयोग, Q M भोग । २. M °स्कन्धते शिवं, L N F X स्कन्दते शिवं, Q S T J Y स्कन्दति शिवम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1588) मुक्तिरेव[1] मुनेस्तस्य यस्यात्मन्यचला स्थितिः ।
न तस्यास्ति ध्रुवं मुक्तिर्न यस्यात्मन्यवस्थितिः ॥७६

1589) दृढः स्थूलः स्थिरो दीर्घो जीर्णः शीर्णो गुरुर्लघुः[2] ।
वपुषैवं[3]मसंबध्नन् स्वं विद्याद्[4]वेदनात्मकम् ॥७७

1590) जनसंसर्ग[5]वाक्चित्तपरिस्पन्दमनोभ्रमाः[6] ।
उत्तरोत्तरबीजानि ज्ञानी जनमत[7]स्त्यजेत् ॥७८

1591) नगग्रामादिषु स्वस्य निवासं वेत्त्यनात्मवित् ।
सर्वावस्थासु विज्ञानी स्वस्मिन्नेवास्तविभ्रमः ॥७९

1588) **मुक्तिरेव**—यस्यात्मनि स्वरूपे ऽवस्थितिरवस्थानम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७६॥ अथ शरीरस्वभावमाह ।

1589) **दृढः स्थूलः**—वपुषैवमसंबन्धात्* स्वमात्मानं वेदनात्मकं विन्द्यात् । इति सूत्रार्थः । शेषं सुगमम् ॥७७॥ अथ संसारकारणत्यागमाह ।

1590) **जनसंसर्ग**—ज्ञानी जनस्ततस्त्यजेत् । जनसंसर्गवाक्चित्तपरिस्पन्दमनोभ्रमाः जनसंबन्धयोगत्रयमिलितमनोभ्रमाः उत्तरोत्तरबीजानि संसारस्येति गम्यमिति सूत्रार्थः ॥७८॥ अथ ज्ञानिनः स्वरूपमाह ।

1591) **नगग्रामादिषु**—अनात्मवित् नगग्रामादिषु स्वस्य निवासं वेत्ति जानाति । विज्ञानी सर्वास्ववस्थासु अस्तविभ्रमः स्वस्मिन्नेव वासं मन्यते । इति सूत्रार्थः ॥७९॥ अथ शरीरज्ञानं शरीरकारणमित्याह ।

जिस मुनिका आत्मामें स्थिर अवस्थान हो चुका है उसकी कर्मबन्धसे मुक्ति निश्चित ही होनेवाली है । किन्तु जिसका अपनेआपमें अवस्थान नहीं हुआ है—जो बाह्य परवस्तुओंको ही अपना मान रहा है—उसकी उस बन्धसे मुक्ति सम्भव नहीं है ॥७६॥

मैं दृढ़ हूँ, स्थूल हूँ, स्थिर हूँ, दीर्घ हूँ, जीर्ण हूँ, शीर्ण हूँ, लघु हूँ, और गुरु हूँ; इस प्रकारसे शरीरके साथ सम्बन्ध न करके—इन सब शरीरगत विशेषताओंको आत्माकी न मानकर—अपनेआपको ज्ञानस्वरूप अनुभव करना चाहिए ॥७७॥

जनसंसर्ग, वाक्परिस्पन्द, चित्तपरिस्पन्द और मनोभ्रम ये उत्तरोत्तर एक दूसरेके कारण हैं । इसलिए विवेकी जीवके लिए जनसंसर्गका परित्याग करना चाहिए । अभिप्राय यह है कि लौकिक जनसे सम्बन्ध होनेपर प्रथमतः वाग्व्यवहार होता है, उससे चित्तमें विक्षेप (चंचलता) होता है, और फिर उससे मनमें भ्रान्ति उत्पन्न होती है । इसलिए इस सबका मूल कारण जनसम्पर्कको जानकर उसका परित्याग करना चाहिए ॥७८॥

जो बहिरात्मा आत्मस्वरूपको नहीं जानता है वह अपने निवासको पर्वत और

१. P adds this verse on the margin । २. All others except P Q लघुर्गुरुः । ३. M N वपुष्येव, Y वपुषैव समं बध्नन् । ४. All others except P Q F विन्द्यात् । ५. L S F J X Y R संसर्गे । ६. Y भ्रमं । ७. Q L S T F J R जनस्तत ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1592) आत्मेति वपुषि ज्ञानं कारणं कायसंततेः ।
स्वस्मिन् स्वमिति विज्ञानं स्याच्छरीरान्तरच्युतेः ।।८०

1593) [1]योजयत्यात्मनात्मानं स्वयं जन्मापवर्गयोः ।
अतो रिपुर्गुरुश्चायमात्मैव स्फुटमात्मनः ।।८१

1594) पृथग् दृष्ट्वात्मनः कायं कायादात्मानमात्मवित् ।
[2]ततस्त्यजति संयोगं[3] यथा वस्त्रं घृणास्पदम् ।।८२

1592) **आत्मेति**—वपुषि शरीरे आत्मेति ज्ञानम् । तत् कायसंततेर्जन्मपरंपरायाः कारणम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ।।८०।। पुनरप्यात्मस्वरूपमाह ।

1593) **योजयत्यात्मना**—आत्मा* आत्मना भवं मोक्षं स्वतो जातं मोक्षं यतः आत्मनः कुरुते । अतः कारणात् अयमात्मैव रिपुः शत्रुः । च पुनः । गुरुः । कस्य । स्फुटं यथा स्यादात्मनः । इति सूत्रार्थः ।।८१।। अथ पुनरपि एतदेवाह ।

1594) **पृथग् दृष्ट्वा**—आत्मनः कायं पृथग् दृष्ट्वा कायादात्मानं पृथग् दृष्ट्वा आत्मवित् तथा* त्यजति अशङ्कः । अङ्गं शरीरं घृणास्पदं कुत्सितं वस्त्रमिति सूत्रार्थः ।।८२।। अथात्मशरीरभेदज्ञानमाह ।

नगरादिमें जानता है । किन्तु जिस अन्तरात्माको स्व-परका भेदविज्ञान उत्पन्न हो चुका है वह उस भ्रान्तिको छोड़कर अपने निवासको सभी अवस्थाओंमें अपनेआपमें ही जानता है ।।७९।।

शरीरमें 'यही आत्मा है' इस प्रकारका ज्ञान शरीरपरम्पराका—संसारमें परिभ्रमण करते हुए बार-बार शरीरके ग्रहणका—कारण होता है । इसके विपरीत अपनेआपमें ही जो 'यह शरीरसे पृथक्, अमूर्तिक और ज्ञानमय आत्मा है' इस प्रकारका ज्ञान होता है वह शरीरान्तरकी पृथक्ता—शरीरसम्बन्धसे रहित होकर मुक्तिकी प्राप्तिका कारण है ।।८०।।

यह आत्मा चूँकि स्वयं ही अपनेआपको संसार और मोक्षमें योजित करता है, इसीलिए स्पष्टतया वही स्वयं अपना शत्रु है और वही स्वयं अपना गुरु है ।। विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जब तक प्राणी शरीरादिसे अपनेको पृथक् नहीं समझता है तब तक वह भ्रमवश उनको ही अपना मानता है और निरन्तर उन्हींमें मुग्ध रहता है । तब इससे जो कर्मबन्ध होता है उससे फिर स्वयं संसारमें परिभ्रमण किया करता है । इस प्रकारसे वह स्वयं ही अपना शत्रु हो जाता है । इसके विपरीत यदि वह स्वयं अपनेको स्वभावतः उन शरीरादिसे भिन्न, अमूर्तिक और अनन्तज्ञान-सुखादिस्वरूप अनुभव करता है तो वह संसारपरिभ्रमणसे छूट जाता है । इससे यह समझना चाहिए कि वस्तुतः प्राणी अपना स्वयं ही शत्रु और मित्र है—दूसरा कोई भी उसका शत्रु और मित्र नहीं है ।।८१।।

आत्मस्वरूपका वेत्ता—अन्तरात्मा—आत्मासे शरीरको और शरीरसे आत्माको भिन्न अनुभव करके उसके सम्बन्धको घृणाके कारणभूत वस्त्रके समान छोड़ देता है—जिस प्रकार

---

१. All others except P read first line आत्मात्मना (F नि) भवं मोक्षमात्मनः कुरुते यतः । २. N L S T F J X Y R तथा for ततः । ३. All others except P °त्यशङ्को ऽङ्गं for संयोगं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1595) अन्तर्दृष्ट्वात्मनस्तत्त्वं बहिर्दृष्ट्वा ततस्तनुम् ।
उभयोर्भेदनिष्णातो न स्खलत्यात्मनिश्चये ॥८३

1596) तर्कयेज्जगदुन्मत्तं[1] प्रागुत्पन्नात्मनिश्चयः ।
पश्चाल्लोष्ठमिवाचेष्टं[2] तद्दृढाभ्यासवासितः ॥८४

1597) शरीराद्भिन्नमात्मानं शृण्वन्नपि वदन्नपि ।
तावन्न मुच्यते यावन्न भेदाभ्यासनिष्ठितः ॥८५

1595) **अन्तर्दृष्ट्वा**—उभयोर्भेदनिष्णातो चतुरः आत्मनिश्चये न स्खलति न पततीति सूत्रार्थः ॥८३॥ अथैतदेवाह ।

1596) **तर्कयेत्**—प्रागुत्पन्नात्मनिश्चयः जगदुन्मत्तं तर्कयेत् वितर्कयेत् । तद् दृढाभ्यासवासितं पश्चाल्लोष्टमिवाचेष्टम् । इति सूत्रार्थः ॥८४॥अथ शरीरादात्मनो भेदमाह ।

1597) **शरीराद्भिन्नम्**—आत्मानं शरीराद्भिन्नं शृण्वन्नपि श्रोत्रविषयीकुर्वन् । च पुनः । वदन्नपि । तस्मादपि तावन्न मुच्यते भेदाभ्यासनिष्ठितः यावन्नेति सूत्रार्थः ॥८५॥ अथात्मनि आत्मभावनामाह ।

विवेकी मनुष्य मलिन वस्त्रके छोड़नेमें किसी प्रकार क्लेशका अनुभव नहीं करता है, किन्तु आनन्दका ही अनुभव करता है; उसी प्रकार विवेकी अन्तरात्मा वस्त्रके ही समान ही भिन्न प्रतिभासित होनेवाले शरीरके सम्बन्धको छोड़कर निराकुल एवं अविनश्वर सुखका ही अनुभव करता है ॥८२॥

जो आत्मा और शरीर इन दोनोंके भेदमें निपुण है वह आत्माके स्वरूपको अन्तरंगमें देखकर तथा उससे भिन्न शरीरको बहिर्भूत देखकर आत्माके निश्चयमें स्खलित नहीं होता है—उससे विचलित न होकर उसीमें स्थिर रहता है ॥८३॥

पूर्वमें जिसे आत्माका निश्चय उत्पन्न हो चुका है उसे प्रारम्भकी अवस्थामें जगत् उन्मत्त (पागल) के समान अनेक प्रकारकी चेष्टा करनेवाला प्रतीत होता है। परन्तु पश्चात् जब उसे स्थिर अभ्यासके संस्कारके आत्माका दृढ़ निश्चय हो जाता है तब वह जगत्को लोष्ठके समान निश्चेष्ट देखता है—शरीरादिको आत्मासे भिन्न व चेष्टासे रहित (जड़) समझता है ॥८४॥

प्राणी आत्माको शरीरसे भिन्न सुनता हुआ भी तथा वैसा कहता हुआ—व्याख्यान करता हुआ—भी जब तक उसकी भिन्नताके अभ्यासमें निष्णात नहीं होता है तब तक वह उस शरीरके सम्बन्धसे छूट नहीं सकता है—उसे मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती है ॥८५॥

---

१. M °दुत्पन्नं । २. All others except P M N T °मिवाचष्टे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1598) व्यतिरिक्तं तनोस्तद्वद्भाव्यमात्मानमात्मनि[1] ।
स्वप्ने ऽप्ययं यथाभ्येति पुनर्नाङ्गेन संगतिम् ॥८६

1599) यतो व्रताव्रते[2] पुंसां शुभाशुभनिबन्धने[3] ।
तदभावः[4] पुनर्मोक्षो मुमुक्षुस्ते ततस्त्यजेत् ॥८७

1600) प्रागसंयममुत्सृज्य संयमैकरतो भवेत् ।
ततो ऽपि विरमेत् प्राप्य सम्यगात्मन्यवस्थितिम् ॥८८

1601) जातिलिङ्गमिति द्वन्द्वमङ्गमाश्रित्य[5] वर्तते ।
अङ्गात्मकश्च संसारस्तस्मात्तद्‌द्वितयं त्यजेत् ॥८९

1598) **व्यतिरिक्तं**—तनोः शरीरात् व्यतिरिक्तं तदात्मनि आत्मानं भाव्यम् । अयं स्वप्ने ऽपि यथा येन संगतिं नाभ्येति । इति सूत्रार्थः ॥८६॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1599) **यतो व्रताव्रते**—यतो व्रताव्रते पुंसां शुभाशुभनिबन्धने । तदभावः पुनर्मोक्षो मुमुक्षुस्तेन कारणेन । तदभावः शुभाशुभभावः पुनः मोक्षः । मुमुक्षुस्तेन तत्त्यजेत् । इति सूत्रार्थः ॥८७॥ अथासंयमाभावमाह ।

1600) **प्रागसंयमम्**—असंयमं पृथक् उत्सृज्य त्यक्त्वा संयमैकरतो भवेत् । ततो ऽपि विरमे असंयमात् । किं कृत्वा । सम्यगात्मव्यवस्थितिं प्राप्येति सूत्रार्थः ॥८८॥ अथ शरीरस्वरूपमाह ।

1601) **जातिलिङ्गम्**—जातिलिङ्गमिति द्वन्द्वमङ्गमासाद्य प्राप्य वर्तते । अङ्गात्मकः शरीरात्मकः संसारस्तस्मात् कारणात् । तद्‌द्वितयम् अङ्गसंसारद्वयं त्यजेत् । इति सूत्रार्थः ॥८९॥ अङ्गस्य भेदमाह ।

आत्माका अपनेमें अपने ही द्वारा शरीरसे भिन्न इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए कि जिस प्रकारसे यह आत्मा स्वप्नमें भी उस शरीरके साथ फिरसे संयोगको प्राप्त न हो सके—उसका उस शरीरसे सम्बन्ध ही सर्वथा छूट जाये ॥८६॥

चूँकि व्रत और अव्रत ये दोनों क्रमसे जीवोंके पुण्य और पापके कारण हैं तथा उन दोनोंका पुण्य और पापका—अभाव ही मोक्ष है; अतएव मोक्षाभिलाषी प्राणीको उन दोनोंका—व्रत और अव्रतका—भी परित्याग करना चाहिए ॥८७॥

पहिले असंयम (अव्रत-हिंसादि) को छोड़कर संयममें असाधारण स्वरूपसे अनुरक्त होना चाहिए। तत्पश्चात् फिर आत्मामें भलीभाँति अवस्थानको प्राप्त होकर संयमसे भी विरत हो जाना चाहिए—मुक्तिके बाधक स्वरूप उस संयमका भी परित्याग कर देना चाहिए ॥८८॥

जाति (ब्राह्मणत्वादि) और लिंग (दिगम्बरत्व, श्वेताम्बरत्व और भूति व बल्कल धारण आदि; अथवा पुल्लिंग-स्त्रीलिंग आदि) ये दोनों शरीरके आश्रित रहते हैं—आत्माके आश्रित नहीं हैं—तथा उस शरीरस्वरूप ही संसार है। इसलिए उन दोनोंको छोड़ देना

१. L S Y R °व्य आत्मात्मनात्मनि । २. J व्रतोव्रते । ३. Q निबन्धनम् । ४. All others except P M N Q भावात् । ५. Q M N T J X Y °मासाद्य, F °मावृत्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1602) अभेदविद्यथा पङ्गोर्वेत्ति चक्षुरचक्षुषि ।
अङ्गस्यैव तथा वेत्ति संयोगाद्दृशमात्मनः ॥९०

1603) भेदविन्न यथा वेत्ति पङ्गोश्चक्षुरचक्षुषि ।
ज्ञातात्मा न तथा वेत्ति तां काये दृशमात्मनः ॥९१

1604) मत्तोन्मत्तादिचेष्टासु यथाज्ञस्य स्वविभ्रमः ।
तथा सर्वास्ववस्थासु न क्वचित्तत्त्वदर्शिनः ॥९२

1602) **अभेदविद्यथा**—अभेदविदचक्षुषि चक्षुर्वेत्ति । यथा पङ्गोः पादहीनस्य । तथात्मनः संयोगाद् दृश्यं वेत्ति । इति सूत्रार्थः ॥९०॥ अथ भेदभावं दर्शयति ।

1603) **भेदविन्न**—भेदवित् भेदं वेत्तीति । पङ्गोः चरणहीनस्य । अचक्षुषि नेत्ररहिते । ज्ञातात्मा ज्ञातः आत्मा येन सः । इति सूत्रार्थः ॥९१॥ अथ तत्त्वदर्शिनः स्वरूपमाह ।

1604) **मत्तोन्मत्तादि**—यथाज्ञस्य मूर्खस्य मदोन्मत्तादिचेष्टासु स्वविभ्रमो भवति, तथा सर्वास्ववस्थासु तत्त्वदर्शिनः क्वचिन्नेति सूत्रार्थः ॥९२॥ अथ देहदृष्टेर्मुक्ताभावमाह ।

चाहिए ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातिभेदोंका, विविध प्रकारके साधु आदि वेषोंका तथा पुरुष-स्त्री आदिरूप लिंगभेदोंका सम्बन्ध केवल शरीरसे ही है; न कि अमूर्तिक आत्मासे । इसलिए जिन प्राणियोंका यह आग्रह रहता है कि अमुक जाति, अमुक वेष और अमुक लिंगसे ही मुक्ति प्राप्त होती है, अन्यसे नहीं; उनका यह आग्रह योग्य नहीं है । कारण यह कि शरीर और आत्माका स्वरूप सर्वथा भिन्न है । इसलिए संसारके कारणभूत एकमात्र उस शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली जाति एवं लिंगादिके अभिमानका परित्याग करना चाहिए ॥८९॥

जो अन्धेके कन्धेपर अवस्थित लँगड़ेको उससे भिन्न नहीं देखता है—दोनोंको अभिन्न समझता है—वह जिस प्रकार लँगड़ेकी आँखको अन्धेमें अन्धेकी आँख जानता है उसी प्रकार शरीरसे आत्माको पृथक् न जाननेवाला अज्ञानी प्राणी शरीरके ही संयोगसे आत्माकी दृष्टिको—ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूपको—शरीरकी ही दृष्टि समझता है । परन्तु उन दोनोंमें भेदको देखनेवाला प्राणी जिस प्रकार लँगड़ेकी दृष्टिको अन्धमें नहीं जानता है उसी प्रकार जो विवेकी जीव आत्माको शरीरसे भिन्न जानता है वह आत्माकी उस दृष्टिको—विवेकबुद्धिको—शरीरमें नहीं देखता है ॥९०-९१॥

जिस प्रकार अज्ञानी जीवको केवल नशायुक्त और पागल आदिकी चेष्टाओंमें ही आत्माकी भ्रान्ति होती है उसी प्रकार आत्मदर्शी अन्तरात्माको सब अवस्थाओंमें-से किसी भी अवस्थामें आत्माकी भ्रान्ति नहीं होती है ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि शरीरसे आत्मा-

१. All others except P अङ्गे ऽपि च । २. All others except P Q N T Y दृदृश्य°, Y द्रस° । ३. J भेदभिन्नो । ४. L S F R विज्ञातात्मा तथा, J जातात्मा न, Y ज्ञात्मानस्तथा । ५. L S F J R न काये, X Y तं काये । ६. All others except P Y दृश्यमात्मनः । ७. Q यथान्यस्य स्वं, Y यथाज्ञः स्वस्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1605) देहात्मदृग् न मुच्येत चेज्जागर्ति पठत्यपि ।
सुप्तोन्मत्तो[1] ऽपि मुच्येत स्वस्मिन्नुत्पन्ननिश्चयः ॥९३

1606) आत्मानं सिद्धमाराध्य प्राप्नोत्यात्मापि सिद्धताम् ।
वर्तिः प्रदीपमासाद्य यथाभ्येति प्रदीपताम् ॥९४

1607) आराध्यात्मानमेवात्मा परमात्मत्वमश्नुते ।
यथा भवति वृक्षः स्वं स्वेनोद्घृष्य हुताशनः ॥९५

1608) इत्थं [2]वाग्गोचरातीतं भावयन् परमेष्ठिनम् ।
आसादयति तद्यस्मान्न भूयो विनिवर्तते ॥९६

1605) **देहात्मदृक्**—देहात्मदृक् शरीरमेवात्मदृक् न मुच्येत भवबन्धनात् चेज्जागर्ति पठत्यपि । तर्हि स्वप्नोन्मत्तो ऽपि मुच्येत । स्वस्मिन् उत्पन्ननिश्चयः । इति सूत्रार्थः ॥९३॥ अथ पुनरपि एतदेवाह ।

1606) **आत्मानम्**—वर्तिः प्रदीपमासाद्य प्राप्याभ्येति गच्छति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥९४॥ अथात्मनः परमात्मत्वमाह ।

1607) **आराध्य**—आत्मात्मानमाराध्य परमात्मत्वमश्नुते प्राप्नोति । यथा वृक्षः कश्चित् स्वेन स्वमुद्घृष्य हुताशनो ऽग्निर्भवति । इति सूत्रार्थः ॥९५॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1608) **इत्थं वाक्**—यस्मात् कारणाद्भूयो विनिवर्तते । इति सूत्रार्थः । शेषं सुगमम् ॥९६॥ अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

को पृथक् न जाननेवाला बहिरात्मा केवल सोते समय, मूर्च्छित अवस्थामें, नशेकी अवस्थामें और पागलपन आदिकी अवस्थामें ही भ्रान्तिकी कल्पना करता है तथा शेष सब ही अवस्थाओंको वह भ्रान्तिसे रहित मानता है। परन्तु अन्तरात्माको किसी भी अवस्थामें भ्रान्ति नहीं होती—वह सोते समय व मूर्च्छा आदिकी अवस्थामें भी आत्मज्ञानसे रहित नहीं होता, किन्तु सदा ही प्रबुद्ध रहता है ॥९२॥

शरीरमें आत्माको देखनेवाला बहिरात्मा चाहे जागता हो और चाहे पढ़ता भी हो—आगमका अभ्यासी भी हो—तो भी वह मुक्त नहीं हो सकता है। परन्तु जिस अन्तरात्माको शरीरसे भिन्न अपनेमें ही आत्माका निश्चय उत्पन्न हो चुका है वह यदि सोया हुआ या उन्मादयुक्त भी हो तो भी वह मुक्तिको प्राप्त कर लेता है ॥९३॥

जीव सिद्धात्माकी आराधना करके स्वयं अपनेको भी सिद्धात्मा बना लेता है, जिस प्रकार कि बत्ती दीपकको पाकर स्वयं भी दीपकस्वरूप बन जाती है ॥९४॥

जिस प्रकार वृक्ष (अरणि) अपना अपने साथ ही घर्षण करके अग्नि बन जाता है उसी प्रकार जीव अपना ही आराधन करके परमात्मा बन जाता है ॥९५॥

इस प्रकार वचनके अगोचर उस परमात्माका चिन्तन करनेवाला प्राणी उस पदको—

१. Y सुप्तो मत्तो ऽपि । २. M N इत्थं तं वाक्पथातीतं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1609) अयत्नजनितं मन्य ज्ञानिनां परमं पदम् ।
चेदात्मन्यात्मविज्ञानमात्रमेव समीहते ॥९७[1]

1610) स्वप्नदृष्टविनाशे[2] ऽपि यथात्मा न विनश्यति ।
जागरे ऽपि तथा भ्रान्तेरुभयत्राविशेषतः ॥९८

1611) अतीन्द्रियमनिर्देश्यममूर्तं कल्पनाच्युतम् ।
चिदानन्दमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना ॥९९

1609) अयत्न—अहं मन्ये । ज्ञानिनां परमं पदम् अयत्नजनितं भवति । चेदात्मनि आत्मविज्ञानमात्रमेव समीहते । इति सूत्रार्थः ॥९७॥ अथ स्वप्नजागरणयोरात्मविचारमाह ।

1610) स्वप्नदृष्ट—यथात्मा स्वप्ने* दृष्टविनाशो न विनश्यते तथा जागरे ऽपि भ्रान्तेरुभयत्रापि सुप्तजागरयोरविशेषतः । इति सूत्रार्थः ॥९८॥ अथात्मानमेव विचारयति ।

1611) अतीन्द्रियम्—विद्धि जानीहि । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥९९॥ अथ श्रुतवतो कर्ममोचनाभावमाह ।

शाश्वतिक मोक्षपदको—प्राप्त कर लेता है कि जिससे फिर कभी लौटना नहीं होता है—सदा वहाँपर ही अवस्थित रहता है ॥९६॥

यदि अपने आत्मामें आत्माके केवल विवेकज्ञानमात्रकी ही अभिलाषा करता है तो ज्ञानी जीवोंका उत्कृष्टपद—परमात्मपद—बिना किसी प्रयत्नके ही उत्पन्न होता है, ऐसा मैं मानता हूँ । अभिप्राय यह है कि जिस जीवके भेदविज्ञान हो गया है—जो अन्तरात्मा बन चुका है—उसे परमात्मा बननेके लिए कुछ विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता है ॥९७॥

जिस प्रकार स्वप्नमें देखे गये शरीरादिके विनाशमें आत्मा नष्ट नहीं होता है उसी प्रकार जागृत अवस्थामें भी शरीरादिके विनाशके देखे जानेपर भी आत्माका विनाश नहीं होता है, ऐसा समझना चाहिए । कारण यह कि भ्रान्तिकी समानता दोनोंमें है—जिस प्रकार स्वप्नमें देखे गये शरीरादिका विनाश भ्रान्तिसे परिपूर्ण माना जाता है उसी प्रकार जागृत अवस्थामें देखे जानेवाले शरीरादिके विनाशको (मरणादिको) भी भ्रान्तिपूर्ण ही समझना चाहिए ॥९८॥

आत्मा स्वभावतः अतीन्द्रिय—चक्षुरादि इन्द्रियोंसे रहित और उनके द्वारा न देखा जानेवाला, वचनका अविषय (अवाच्य), रूप-रसादिसे रहित, विकल्पातीत (निर्विकल्प) और चेतन आनन्द स्वरूप है । उसको अपने द्वारा—इन्द्रियों आदिकी अपेक्षासे रहित—अपने भीतर ही (न कि शरीरादिमें) ग्रहण करना चाहिए ॥९९॥

---

१. M N P चिदात्म°, S J X Y R यदात्म । २. All others except P स्वप्ने दृष्टविनाशो ऽपि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1612) मुच्येताधीतशास्त्रो ऽपि नात्मेति कलयन्[1] वपुः ।
आत्मन्यात्मानमन्विष्यन् श्रुतशून्यो ऽपि मुच्यते ॥१००

1613) पराधीनसुखास्वादनिर्वेदविशदस्य ते ।
आत्मैवामृततां गच्छन्नविच्छिन्नं तदिष्यते[2] ॥१०१

1614) यदत्यन्तं[3]सुखाद् ज्ञानं तद् दुःखेनापसर्पति ।
दुःखैकशरणस्तस्माद्योगी तत्त्वं निरूपयेत् ॥१०२

1615) निखिलभुवनतत्त्वोद्भासनैकप्रदीपं
निरुपधि[4]मधिरूढं निर्भरानन्दकाष्ठाम्[5] ।
परममुनिमनीषोद्भेद[6]पर्यन्त[7]भूतं
परिकलय विशुद्धं स्वात्मनात्मानमेव ॥१०३

1612) **मुच्येत**—अधीतशास्त्रो ऽप्यात्मा न मुच्येत् इति । .. च वपुः । क्व मुच्येत । .. शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१००॥ अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

1613) **पराधीन**—निरन्तरं तत्सुखास्वाद इष्यते । इति सूत्रार्थः ॥१०१॥ अथ सुखज्ञानस्यापि दुःखसाध्यत्वमाह ।

1614) **यदत्यन्त** —यत्सुखज्ञानं समभ्यस्तं "तदज्ञानं दुःखेनापसर्पति गच्छति । तस्माद्दुःखैकशरणो योगी तत्त्वं परात्मतत्त्वं निरूपयेत् । इति सूत्रार्थः ॥१०२॥ आत्मनः स्वरूपमाह । मालिनी ।

1615) **निखिल**—आत्मानम् आत्मना परिकलय जानीहि । कीदृशमात्मानम् । निखिलभुवन-

शरीरको 'आत्मा' इस प्रकारसे जाननेवाला जीव आगमका पारगामी भी हो तो भी वह मुक्त नहीं हो सकता है तथा इसके विपरीत आत्मामें आत्माको खोजनेवाला जीव विशेष आगमज्ञानसे रहित भी हो तो भी वह मुक्त हो जाता है ॥१००॥

हे भव्य ! परपदार्थोंके आश्रयसे उत्पन्न होनेवाले सुखके अनुभवनसे विरक्त होकर निर्मलताको प्राप्त हो जानेपर अमृतस्वरूपको जन्म-मरणसे अतीत होकर आनन्दमय अवस्थाको प्राप्त होनेवाला तेरा आत्मा ही वह अविच्छिन्न—निरन्तर रहनेवाला—सुख है, ऐसा तू निश्चित जान ॥१०१॥

अतिशय सुखसे जो ज्ञान होता है वह दुखके द्वारा नष्ट हो जाता है । इस कारण जो योगी एकमात्र दुखको ही शरण मानता है उसे आत्मस्वरूपका अवलोकन करना चाहिए । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि सुखपूर्वक जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह दुखके उपस्थित होनेपर विलीन हो जाता है । इसलिए परीषह एवं तपश्चरणादिसे उत्पन्न दुखमें स्वस्थ रहकर तत्त्वज्ञानको प्राप्त करना चाहिए । कारण कि दुखसे ही उत्पन्न होनेवाले उस तत्त्वज्ञानको नष्ट करनेवाला फिर कोई नहीं रहेगा ॥१०२॥

हे भव्य ! तू अपने द्वारा अपने उस विशुद्ध आत्माका ही निश्चय कर । जो कि समस्त

१. M L S F J Y R कल्पयन् । २. L S F X Y R स्वमीक्षते । ३. All others except P यदभ्यस्तं सुखा° । ४. T निरुपम । ५. J °काढ्यं । ६. L °षोद्भूत, F J X Y R भेद । ७. Q पर्यङ्क ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1616) [1]इति साधारणं ध्येयं ध्यानयोर्धर्मशुक्लयोः[2] ।
विशुद्धिः[3] स्वामिभेदेन भेदः सूत्रे निरूपितः ॥१०४

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-
विरचिते शुद्धोपयोगविचारप्रकरणम् ॥२९॥

तत्त्वोद्भासनैकप्रदीपं सर्वजगत्तत्त्वे प्रकाशनैकप्रदीपम् । निर्भरानन्दकाढ्यम्* । *निरुपममधिरूढ-मारोहितम् । परममुनिमनीषोद्भेदपर्यन्तभूतं* प्रकृष्टमुनीच्छाप्रगटान्तभूतम् । इति सूत्रार्थः ॥१०३॥ अथ ध्यानमुपसंहरति ।

1616) **इति साधारणं**—इति साधारणं ध्येयं ध्यानार्हम् । कयोः । धर्मशुक्लयोः ध्यानयोः । भेदः सूत्रनिरूपितः । केन* । विशुद्धस्वामिभेदेनेति सूत्रार्थः ॥१०४॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन
साहपासा-तत्पुत्रसाहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहऋषिदास-स्वश्रवणार्थं
पण्डितजिनदासोद्यमेन कारापितं शुद्धोपयोगविचारप्रकरणम् ॥२९॥

दिव्यश्रीमनुप्राप्तः पाशाक्षः पुण्ययोगसद्भावात् । तत्पुत्रष्टोडरो जीयात् ऋषिदाससमन्वितः । इति आशीर्वादः ॥ अथात्मनो ज्ञाने ऽपि योगिनो भ्रश्यन्तीत्याह ।

लोकगत पदार्थोंके स्वरूपको प्रगट दिखलानेके लिए अद्वितीय दीपक जैसा उपधि—(माया-जाल) से रहित, अतिशय आनन्दकी अन्तिम सीमाको प्राप्त और उत्कृष्ट मुनिजन की बुद्धिके द्वारा प्रगट करनेके योग्य अन्तिम अवधिस्वरूप (जिसका पूर्णतया अनुभव उत्तम मुनिवृन्दको ही होता है) है ॥१०३॥

इस प्रकार धर्म और शुक्ल इन दो ध्यानोंका ध्येय-ध्यानके योग्य आत्मतत्त्व—समान ही है। उसमें स्वामियोंके भेदसे होनेवाली विशुद्धि विविध प्रकारकी होती है। इस स्वामि-भेदकी प्ररूपणा आगममें की गयी है ॥१०४॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें शुद्धोपयोग
प्रकरण समाप्त हुआ ॥२९॥

---

१. Y om. । २. N धर्म्य for धर्म । ३. All others except P Q विशुद्धिस्वामि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[आज्ञाविचयः]

1617) अथवा[1]—

अनादिविभ्रमान्मोहादनभ्यासादसद्ग्रहात्[2] ।
ज्ञातमप्यात्मनस्तत्त्वं प्रचलत्येव[3] योगिनः ॥१

1618) अविद्यावासनावेशविशेषविवशात्मनाम्[4] ।
योज्यमानमपि स्वस्मिन् न चेतः कुरुते स्थितिम्[5] ॥२

1619) साक्षात्कर्तुमतः[6] क्षिप्रं विश्वतत्त्वं यथास्थितम् ।
विशुद्धिं चात्मनः शश्वद्वस्तुधर्मे[7] स्थिरीभवेत्[8] ॥३

1617) **अनादि**—योगिनो ज्ञातमप्यात्मनस्तत्त्वं प्रचलन्त्येव। असद्ग्रहात् कदाग्रहात्। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथात्मनः स्वरूपमाह।

1618) **अविद्या**—अविद्यावासनावेशविशेषविवशात्मनां मिथ्याज्ञानवासनाप्रवेशविशेषपरवशात्मनां स्वस्मिन् योज्यमानं चेतो न रतिं कुरुते। इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ पुनरेतदेवाह।

1619) **साक्षात्कर्तुं**—शश्वन्निरन्तरं वस्तुधर्मे मनः* स्थिरीभवेत्। विश्वतत्त्वं साक्षात्कर्तुं क्षिप्रं यथास्थितम्। च पुनः। आत्मनो विशुद्धिः साक्षात्कर्तुम्। इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथात्मस्वरूपमाह।

आत्माका वह स्वरूप ज्ञात होकर भी योगीकी अनादिकालीन विपरीत बुद्धिसे, मोहसे, निरन्तर अभ्यास न रहनेसे और दुराग्रहके वश विचलित हो जाता है ॥१॥

जिनका अन्तःकरण मिथ्याज्ञानकी वासनाजनित दुराग्रहसे दूषित है उनका चित्त आत्माके विषयमें नियोजित किया जानेपर भी वहाँ अवस्थित नहीं रहता है ॥२॥

इसलिए जो तत्त्व जिस स्वरूपसे अवस्थित है उसका उस स्वरूप प्रत्यक्ष अनुभव करनेके लिए तथा आत्माकी विशुद्धिका भी अनुभव करनेके लिए निरन्तर वस्तुस्वरूपमें स्थिर रहना चाहिए ॥३॥

१. P अथवा। २. S J X R °दसंग्रहात्। ३. S F J Y R प्रस्खलत्येव। ४. M N °त्मनः। ५. J रतिम्। ६. L F Y कर्तुं मनः। ७. S धर्मो। ८. S स्थिरो भवेत्, L X स्थिरी भव।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1620) अलक्ष्यं लक्ष्यसंबन्धात् स्थूलात् सूक्ष्मं विचिन्तयेत् ।
सालम्बाच्च निरालम्बं तत्त्ववित्तत्त्वमञ्जसा ॥४

1621) आज्ञापायविपाकानां क्रमशः संस्थितेस्तथा ।
विचयौ यः पृथक् तद्धि धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥५

1622) वस्तुतत्त्वं स्वसिद्धान्त[1]प्रसिद्धं यत्र चिन्तयेत् ।
सर्वज्ञाज्ञाभियोगेन तदाज्ञाविचयो मतः ॥६

1623) अनन्तगुणपर्यायसंयुतं[2] तत् त्रयात्मकम् ।
त्रि[3]कालविषयं साक्षाज्जिनाज्ञासिद्धमामनेत्[4] ॥७

1620) **अलक्ष्यम्**—तत्त्वविदञ्जसा सुखेन तत्त्वं विचिन्तयेत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ धर्मध्यानभेदमाह ।

1621) **आज्ञापाय**—हि निश्चितम् । तद्धर्मध्यानं चतुर्विधं तथाज्ञापायविपाकानां संस्थितः क्रमशो विचयो यः आज्ञाविचयादिकः । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथाज्ञाविचयं दर्शयति ।

1622) **वस्तुतत्त्वं**—स्वसिद्धान्तप्रसिद्धं वस्तुतत्त्वं यत्र विचिन्तयेत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ त्रयस्य स्वरूपमाह ।

1623) **अनन्त**—तत्त्रितयात्मकं धर्मत्रयं जिनाज्ञासिद्धम् आमनेत् । कीदृशम् । अनन्तगुणपर्यययुतं साक्षात् त्रिकालविषयम् । इति सूत्रार्थः ॥७॥ उक्तं च ।

तत्त्वके ज्ञाता योगीको लक्ष्यके सम्बन्धसे—जो इन्द्रियोंके द्वारा देखा जा सकता है उसके आश्रयसे—अलक्ष्य (इन्द्रियोंके अगोचर परमात्मा) का, स्थूलके आश्रयसे सूक्ष्मका तथा आलम्बन युक्त अर्थके आश्रयसे निरालम्ब तत्त्वका चिन्तन करना चाहिए ॥४॥

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थानका जो क्रमसे पृथक्-पृथक् विचार किया जाता है उसे धर्मध्यान कहते हैं और वह इस ध्येयके भेदसे क्रमसे चार प्रकारका है—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ॥५॥ आज्ञाविचय—

जिस ध्यानमें अपने सिद्धान्त (परमागम) में प्रसिद्ध वस्तुस्वरूपका विचार सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके अनुसार किया जाता है, वह आज्ञाविचय धर्मध्यान माना गया है ॥६॥

जिनभगवान्की आज्ञासे सिद्ध वह वस्तुस्वरूप प्रत्यक्षमें अनन्त गुण और पर्यायोंसे सहित; उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप तीन अवस्थाओंसे संयुक्त तथा तीनों कालोंको विषय करनेवाला है ॥७॥ कहा भी है—

१. N S T R सिद्धान्तं । २. M N T संवृतं । ३. P विकाल । ४. Y मानयेत् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1624) उक्तं च—
सूक्ष्मं जिनेन्द्रवचनं[1] हेतुभिर्यन्न हन्यते ।
आज्ञासिद्धं च तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥७*१॥ इति[2] ॥

1625) प्रमाणनयनिक्षेपैर्निर्णीतं तत्त्वमञ्जसा ।
स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं चिदचिल्लक्षणं स्मरेत् ॥८

1626) श्रीमत्सर्वज्ञदेवोक्तं श्रुतज्ञानं च निर्मलम्[3] ।
शब्दार्थनिचितं चित्रमत्र चिन्त्यमविप्लुतम्[4] ॥९॥
श्रुतज्ञानं तद्यथा[5]—

1624) **सूक्ष्मं जिनेन्द्र**—[हेतुभिः कारणैः यत् न हन्यते अन्यथाक्रियते । अन्यथावादिनः मृषावादिनः । इति सूत्रार्थः ॥७*१॥] अथ चिदचिल्लक्षणमाह ।

1625) **प्रमाणनय**—प्रमाणं, नयाः स्वसंग्रहाद्याः, निक्षेपाः नामादयः, तैः । तत्त्वम् अञ्जसा सुखेन निर्मितं चिदचिल्लक्षणं स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं स्मरेत् । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ श्रुतज्ञानमाह ।

1626) **श्रीमत्सर्वज्ञ**—अविप्लुतमनुपद्रुतम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥९॥ श्रुतज्ञानं तद्यथा ।

चूँकि जिनेन्द्रका वचन—उनके द्वारा उपदिष्ट वस्तुतत्त्व–सूक्ष्म है जो हेतुओं (युक्तियों) के द्वारा खण्डित नहीं किया जा सकता है अतएव उसे जिनेन्द्र भगवान्की आज्ञासे सिद्ध ही ग्रहण करना चाहिए । कारण यह कि वे जिनेन्द्र वस्तुस्वरूपका अन्यथा उपदेश करनेवाले नहीं हैं ॥ विशेषार्थ—पदार्थोंमें ऐसे बहुतसे हैं जिनका ज्ञान अतिशय सूक्ष्म होनेसे छद्मस्थ जीवोंको नहीं हो सकता है । अतएव उनका स्वरूप वीतराग सर्वज्ञके द्वारा जैसा निर्दिष्ट किया गया है, उसी प्रकारसे ग्रहण करके उनके विषयमें श्रद्धान करना चाहिए । कारण यह कि लोकमें अन्यथा उपदेशके दो ही कारण उपलब्ध होते हैं—विवक्षित तत्त्वविषयक अज्ञान और कषायावेश । सो ये दोनों ही कारण जिनेन्द्रदेवके नहीं रहे हैं, क्योंकि, वे सर्वज्ञ और वीतराग हैं । इसीलिए उनके द्वारा तत्त्वका अन्यथा उपदेश सम्भव नहीं है । ऐसा विचार करते हुए जिनोपदिष्ट तत्त्वका चिन्तन करना, यह आज्ञाविचय धर्मध्यान है ॥७*१॥

जो स्थिति (ध्रौव्य), उत्पाद और व्ययरूप सामान्य लक्षणसे संयुक्त है उसका नाम तत्त्व (द्रव्य) है । वह चेतन और अचेतनके भेदसे दो प्रकारका है । इनके विविध प्रकारके स्वरूपका निर्णय प्रमाण, नय और निक्षेपके आश्रयसे भलीभाँति करके इस आज्ञाविचय धर्मध्यानमें चिन्तन करना चाहिए ॥८॥

श्रीमान् सर्वज्ञ देवके द्वारा जो शब्द और अर्थसे परिपूर्ण अनेक प्रकारका निर्मल श्रुतज्ञान कहा गया है उसका निर्बाधस्वरूपसे चिन्तन करना चाहिए ॥९॥

१. M N जिनोदितं तत्त्वं । २. P M इति । ३. J निष्फलम् । ४. J तत्त्वमवचिन्त्य° । ५. Only in P M Y श्रुत etc. ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1627) परिस्फुरति यत्रैतद्विश्वविद्याकदम्बकम् ।
द्रव्यभावभिदा[1] तद्धि शब्दार्थज्योतिरग्रिमम् ॥१०

1628) अपारमतिगम्भीरं पुण्यतीर्थं पुरातनम् ।
पूर्वापरविरोधादिकलङ्कपरिवर्जितम् ॥११

1629) नयोपनयसंपात[2]गहनं गणिभिः[3] स्तुतम् ।
[4]विचित्रमतिचित्रार्थसंकीर्णं विश्वलोचनम् ॥१२

1630) अनेकपदविन्यासैरङ्गपूर्वैः प्रकीर्णकैः ।
प्रसृतं [5]यद्विभात्युच्चै रत्नाकर इवापरः[6] ॥१३

1627) **परिस्फुरति**—शब्दार्थतेजोमयम् अग्रिमं प्रधानम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ पुनः श्रुतज्ञानमाह ।

1628) **अपारम्**—पुण्यतीर्थमिव पुण्यतीर्थम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ पुनः श्रुतज्ञानमाह ।

1629) **नयोपनय**—नया नैगमाद्याः, उपनया व्यवहारादयः, तेषां संपातस्तेन गहनम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ दृष्टान्तेन श्रुतं स्तौति ।

1630) **अनेकपद**—तत् श्रुतम् उच्चैर्विभाति । अनेकपदविन्यासैः पदस्थापनैरङ्गपूर्वैराचाराङ्गादिभिः पूर्वैश्च प्रकीर्णकैः प्रसृतं विस्तरितरत्नाकर इव । यथा रत्नाकरो रत्नैर्विभाति तथा । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ पुनरपि श्रुतज्ञानमाह ।

उस श्रुतज्ञानका स्वरूप इस प्रकार है—जिसमें यह समस्त आचारादि विषयक विद्याओंका समूह प्रकाशमान होता है तथा जो शब्द और अर्थरूप ज्योतिसे सहित है. वह श्रेष्ठ श्रुतज्ञान है और वह द्रव्य एवं भावके भेदसे दो प्रकारका है । इनमें शब्दात्मक (ग्रन्थ-रचनास्वरूप) श्रुतको द्रव्यश्रुत और अर्थरूप श्रुतको भावश्रुत जानना चाहिए ॥१०॥

पूर्वापरविरोधादि दोषोंसे रहित वह प्राचीन श्रुत पवित्र तीर्थस्वरूप है । जिस प्रकार गंगा व समुद्र आदि तीर्थ अपार—विस्तृत किनारोंसे सहित और अतिशय गहरे होते हैं उसी प्रकार यह श्रुत तीर्थ भी अपार—अपरिमित—और अथाह है ॥११॥

वह श्रुत द्रव्य-पर्यायार्थिक आदि नयों व सद्भूत-असद्भूत आदि उपनयोंसे दुर्भेद्य, गणधरोंके द्वारा प्रशंसित, अनेक रूपोंसे संयुक्त, अनेक प्रकारके पदार्थोंसे व्याप्त—उनका प्रतिपादक—और विश्वका लोचन जैसा है—जिन अदृश्य वस्तुओंका परिज्ञान प्राणियोंको नेत्रके द्वारा नहीं हो सकता है उनका परिज्ञान इस श्रुतज्ञानरूप नेत्रके द्वारा सब ही प्राणियोंको हुआ करता है ॥१२॥

अनेक पदोंकी रचनायुक्त बारह अंगों, चौदह पूर्वों और सामायिक-चतुर्विंशति आदि अनेक प्रकीर्णक ग्रन्थोंसे विस्तृत वह विशाल श्रुत दूसरे समुद्रके समान प्रतीत होता है ॥१३॥

१. Y द्रव्यभावा द्विधा । २. S F संघात । ३. J गणिविश्रुतम् । ४. S J X Y R विचित्रमपि । ५. J तद् for यद् । ६. M N परं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1631) मदमत्तोद्धतक्षुद्रशासनाशीविषान्तकम् ।
दुरन्तघनमिथ्यात्वध्वान्तघर्मांशुमण्डलम् ॥१४
1632) यत्पवित्रं जगत्यस्मिन् विशुध्यति जगत्त्रयी ।
येन तद्धि सतां सेव्यं श्रुतज्ञानं चतुर्विधम् ॥१५
1633) स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं तृतीयं योगिलोचनम् ।
नयद्वयसमावेशात् सा[1]द्यनादिव्यवस्थितम् ॥१६
1634) निःशेषनयनिक्षे[2]पनिकषग्रावसंनिभम् ।
स्याद्वादपविनिर्घातभग्नान्यमतभूधरम् ॥१७

1631) **मदमत्तोद्धत**—कीदृशं श्रुतम् । मदमत्तोद्धतक्षुद्रशासनाशीविषान्तकं मदमत्तचञ्चलक्षुद्रशासनाशीविषान्तकम् । पुनः कीदृशम् । दुरन्तघनमिथ्यात्वध्वान्तघर्मांशुमण्डलं दुष्टान्तनिबिडमिथ्यात्वात्यन्धकारघर्मांशुमण्डलं सूर्यमण्डलमिति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ श्रुतज्ञानचातुर्विध्यमाह ।

1632) **यत्पवित्रं**—तत् । हि निश्चिते । सतां सेव्यम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ तदेवाह ।

1633) **स्थित्युत्पत्ति**—नयद्वयसमावेशात् निश्चयव्यवहारापेक्षया निश्चयनयात् अनाद्यनन्तव्यवहारापेक्षया सादिः सान्तः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ पुनः श्रुतज्ञानमेवाह ।

1634) **निःशेष**—कीदृशं श्रुतम् । निःशेषनयनिक्षेपनिकषग्रावसंनिभं सर्वनयनिक्षेप एव निकषग्रावा कषपट्टग्रावस्तत्संनिभं सदृशम् । स्याद्वाद एव पविः तस्य निपातेन भग्नः अन्यमतभूधरः तत्त्वमिति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ श्रुतज्ञानमेवाह ।

उक्त श्रुत अभिमानसे उन्मत्त अविनीत ऐसे तुच्छ मतरूप आशीविष सर्पोंका विनाशक होकर जिस सघन मिथ्यात्वरूप अन्धकारका नाश बड़ी कठिनतासे होता है उसको नष्ट करनेके लिए सूर्यके मण्डलके समान है ॥१४॥

जो इस लोकमें स्वयं पवित्र है तथा जिसके आश्रयसे तीनों लोकोंके प्राणी विशुद्ध होते हैं वह सत्पुरुषोंके द्वारा आराधन करने योग्य श्रुतज्ञान चार प्रकारका है—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग ॥१५॥

योगियोंके तीसरे नेत्रके समान—उन्हें वस्तुस्वरूपको नेत्रके समान प्रगट दिखलानेवाला वह श्रुत उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे संयुक्त होकर दोनों नयोंके प्रवेशसे सादि व अनादि व्यवस्थित है—द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा वह उत्पाद-व्ययसे रहित होकर सदा अवस्थित रहनेवाला (अनाद्यनन्त) और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उत्पाद व व्ययसे सहित होकर सादि-सान्त भी है ॥१६॥

स्याद्वादरूप वज्रके आघातसे अन्य मतरूप पर्वतोंको भंग करनेवाला वह श्रुतज्ञान समस्त नय और निक्षेपोंके द्वारा वस्तुस्वरूपकी यथार्थताके परीक्षणके लिए शाणोपल (कसौटी) के समान है ॥१७॥

१. J सोद्यनादि, M N °नाद्यव्यव° । २. P Y नयनिष्पेष ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1635) इत्यादिगुणसंदर्भसुन्दरं[1] भव्यशुद्धिदम् ।
ध्यायन्तु धीमतां[2] श्रेष्ठाः श्रुतज्ञानमहार्णवम्[3] ॥१८

1636) यज्जन्मज्वरघातकं त्रिभुवनाधीशैर्यदभ्यर्चितं
यत्स्याद्वादमहाध्वजं नयशताकीर्णं च यत्पठ्यते ।
उत्पादस्थितिभङ्गलाञ्छनयुता यस्मिन् पदार्थाः स्थिता-
स्तच्छ्रीवीरमुखारविन्दगदितं[4] दद्याच्छ्रु[5]तं वः शिवम् ॥१९

1637) वाग्देव्याः कुलमन्दिरं बुधजनानन्दैकचन्द्रोदयं
मुक्तेर्मङ्गलमग्रिमं[6]शिवपथप्रस्थानदिव्यानकम् ।
तत्त्वाभासकुरङ्गपञ्चवदनं भव्यान् विनेतुं क्षमं
तच्छ्रोत्राञ्जलिभिः पिबन्तु गुणिनः[7] सिद्धान्तवार्धेः[8] पयः ॥२०

1635) **इत्यादिगुण**—इत्यादिगुणरचनासघनं सद्यः शुद्धिदम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ श्रुताशीर्वादमाह । शा० विक्रीडितम् ।

1636) **यज्जन्म**—वः युष्माकं शिवं कल्याणं श्रुतं देयात् । श्रीवीरमुखारविन्दगदितं यत् जन्मज्वरघातकं त्रिभुवनाधीशैर्यत् अभ्यर्थितं स्याद्वादमहाध्वजम् । पुनः नयशताकीर्णं यत् पठ्यते । यस्मिन् पदार्थाः स्थिताः । कीदृशाः । उत्पादस्थितिव्ययुताः । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ श्रुतमेवाह ।

1637) **वाग्देव्याः**—हे गुणिनः सिद्धान्तवार्धेः समुद्रस्य पयः पिबन्तु श्रोत्राञ्जलिभिः । शिवपद-प्रस्थाने दिव्यानकं दिव्यवाद्यम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ पुनर्जिनवचनस्वरूपमाह ।

इस प्रकार जो इनको आदि लेकर अन्य अनेक गुणोंके विस्तारसे सुन्दर होकर भव्य जीवोंके लिए निर्मलता प्रदान करनेवाला है उस श्रुतज्ञानरूप महासमुद्रका श्रेष्ठ विद्वानोंको ध्यान करना चाहिए ॥१८॥

जो संसाररूप ज्वरका नाशक, तीनों लोकोंके स्वामियोंके द्वारा—इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्तीके द्वारा—पूजित, स्याद्वादरूप महाध्वजासे उपलक्षित और सैकड़ों नयभेदोंसे व्याप्त कहा जाता है, तथा जिसके भीतर उत्पाद, ध्रौव्य व व्ययरूप लक्षणसे संयुक्त पदार्थ अवस्थित हैं; वह श्री वीर जिनेन्द्रके मुखरूप कमलके द्वारा कहा गया श्रुतज्ञान आपके लिए मोक्षप्रदान करे ॥१९॥

जो आगमरूप समुद्रका जल सरस्वती देवीके कुलगृहके समान, विद्वज्जनोंके आनन्दको वृद्धिंगत करनेके लिए अनुपम चन्द्रोदय, मुक्तिका मुख्य मंगल, मोक्षमार्गमें प्रयाणकी सूचना करनेके लिए दिव्य भेरी जैसा, कुतत्त्वरूप हरिणोंके नष्ट करनेके लिए सिंहसमान तथा भव्य जीवोंको विनयशील बनानेमें समर्थ है उसका गुणीजन कानरूप अंजुलियोंके द्वारा पान करें—बुद्धिमान् जनोंको कानोंसे सुनकर उस परमागमका मनन करना चाहिए ॥२०॥

१. All others except P निर्भरं for सुन्दरं । २. J धीमतो । ३. Y adds त्रिकलं after महार्णवम् । ४. M N Y °विन्दसचिवं । ५. J देयात् । ६. J शिवपदं प्रस्थान । ७. N गणिनः । ८. M सिद्धार्थे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1638) येनैते विदलन्ति[1] वादिगिरयस्तुष्यन्ति [2]वागीश्वरा
भव्या येन विदन्ति निर्वृतिपदं मुञ्चन्ति मोहं बुधाः ।
यद्बन्धुर्यमिनां यदक्षयसुखस्याधारभूतं नृणां
तल्लोकत्रयशुद्धिदं जिनवचः पुष्याद्विवेकश्रियम् ॥२१

1639) सर्वज्ञाज्ञां पुरस्कृत्य सम्यगर्थान् विचिन्तयेत् ।
यत्र तद्ध्यानमाम्नातमाज्ञाख्यं योगिपुङ्गवैः ॥२२

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-विरचिते आज्ञाविचयप्रकरणम् ॥३०॥

1638) **येनैते**—जिनवचः विवेकश्रियं पुष्यात् । तल्लोकद्वयशुद्धिदम्* । येन एते निपतन्ति वादिगिरयः । येन योगीश्वराः* तुष्यन्ति । येन भव्या निर्वृतिपदं मोक्षं विदन्ति जानन्ति । बुधा मोहं मुञ्चन्ति । यमिनां व्रतिनां यद्बन्धुः । यत् अक्षयसुखस्याधारभूतं नृणां *लोकद्वयविशुद्धिदम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1639) **सर्वज्ञाज्ञां**—सर्वज्ञानाम् आज्ञां पुरस्कृत्य सम्यगर्थान् विचिन्तयन् यत्र तद्ध्यानमाम्नातं कथितम् । योगिपुंगवैराज्ञाख्यम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहऋषिदास-स्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन कारापितम् आज्ञाविचयप्रकरणम् ॥३०॥

पुराजनिष्ट सत्यार्थः दानोदारैकस्वस्तरुः । टोडरो धर्मशुद्धो [यो] ऋषिदासो जयत्यपि ॥ आशीर्वादः ॥ अथापायविचयमाह ।

जिस जिनागमके द्वारा वादीरूप पर्वत भंग किये जाते हैं, जिसका आश्रय पाकर योगीजन सन्तोषको प्राप्त होते हैं, जिसका सहारा पाकर भव्यजन मोक्षपदको प्राप्त करते हैं, जिसका आलम्बन लेकर विद्वान् मोहका परित्याग करते हैं, जो संयमी जनोंका बन्धु है—उनका कल्याण करनेवाला है—तथा जो प्राणियोंके अविनश्वर मोक्षसुखका आधारस्वरूप है; ऐसा वह दोनों लोकोंमें शुद्धि प्रदान करनेवाला जिनागम विवेकरूप लक्ष्मीको पुष्ट करे ॥२१॥

जिस ध्यानमें सर्वज्ञकी आज्ञाको आगे करके—तत्पूर्वक—समीचीन पदार्थोंका विचार किया जाता है उसे श्रेष्ठ योगियोंने आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहा है ॥२२॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योग प्रदीपाधिकारमें आज्ञाविचय धर्मध्यानका प्रकरण समाप्त हुआ ॥३०॥

१–३ All others except P निपतन्ति....योगीश्वराः....लोकद्वय ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

XXXI

[अपायविचयः]

1640) अपायविचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः ।
अपायः कर्मणां यत्र सोपायः स्मर्यते बुधैः ॥१

1641) [1]श्रीमत्सर्वज्ञनिर्दिष्टं मार्गं रत्नत्रयात्मकम् ।
अनासाद्य भवारण्ये चिरं नष्टाः शरीरिणः ॥२

1642) निमग्नोन्मग्नतां [2] शश्वद्भजन्ति [3] भवसागरे ।
वराकाः प्राणिनो ऽप्राप्य यानपात्रं जिनेश्वरम् ॥३

1640) **अपायविचयं**—मनीषिणः अपायविचयं ध्यानं तद् वदन्ति । अपायः कर्मणां यत्र सोपायः स्मर्यते बुधैः पण्डितैरिति सूत्रार्थः ॥१॥ तद्यथा दर्शयति ।

1641) **श्रीमत्सर्वज्ञ**—शरीरिणो जीवाः रत्नत्रयात्मकं मार्गमनासाद्य अप्राप्य चिरं नष्टा भवारण्ये । कीदृशम् । श्रीमत्सर्वज्ञनिर्दिष्टम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1642) **निमग्नोन्मग्नतां**—भवसागरे मज्जनोन्मज्जनं* शश्वद् भजन्ति । वराकाः प्राणिनो जिनेश्वरं यानपात्रम् अप्राप्य । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ सम्यग्ज्ञानस्वरूपमाह ।

जिस ध्यानमें विद्वान् जन उपायपूर्वक—हेतुके अन्वेषणके साथ—कर्मोंके विनाशका विचार करते हैं उसे बुद्धिमान् गणधरादि अपायविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥१॥

इस अपायविचयमें योगी इस प्रकारसे विचार करता है—

श्रीमान् सर्वज्ञदेवने जिस रत्नत्रय स्वरूप मोक्ष मार्गका निर्देश किया है उसको न पाकर प्राणियोंने चिरकालसे इस संसाररूप वनमें परिभ्रमण किया है ॥२॥

ये बेचारे संसारी प्राणी जिनेन्द्रदेवरूप जहाजको न पाकर निरन्तर संसाररूप समुद्रके भीतर डूबते और ऊपर आते हैं—जन्म-मरणके दुखको सह रहे हैं ॥३॥

१. M adds तद्यथा । २. All others except P मज्जनोन्मज्जनं । ३. M वदन्ति, N पतन्ति for भजन्ति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1643) महाव्यसनसप्तार्चिःप्रदीप्ते जन्मकानने ।
भ्रमताद्य मया प्राप्तं सम्यग्ज्ञानाम्बुधेस्तटम् ।।४

1644) अद्यापि यदि निर्वेदविवेकागेन्द्र[1]मस्तकात् ।
स्खलेत्तदैव जन्मान्धकूपपातो ऽनिवारितः ।।५

1645) अनादिभ्रमसंभूतं कथं निर्धार्यते[2] मया ।
मिथ्यात्वाविरतिप्रायं कर्मबन्धनिबन्धनम् ।।६

1646) सो ऽहं सिद्धः[3] प्रसिद्धात्मा दृग्बोधविमलेक्षणः ।
जन्मपङ्के चिरं खिन्नः खण्ड्यमानैः[4] स्वकर्मणा ।।७

1643) **महाव्यसन**—अद्य सम्यग्ज्ञानाम्बुधेस्तटं मया प्राप्तं भ्रमता। क्व सति। महाव्यसनसप्तार्चिःप्रदीप्तेमहाकष्टाग्निप्रदीप्ते। जन्मकानने। इति सूत्रार्थः ।।४।। अथ पुनरपि तदेवाह।

1644) **अद्यापि**—अद्यापि यदि निर्वेदविवेकागेन्द्रमस्तकात् निर्वेदविवेकपर्वतमस्तकात्। तदैव स्खलनेन जन्मान्धकूपपातो निवारितः। इति सूत्रार्थः ।।५।। अथ कर्मबन्धनस्य दुर्निवार्यत्वमाह।

1645) **अनादि**—कर्मबन्धनिबन्धनं मया कथं निवार्यते*। कीदृशं कर्मबन्धनिबन्धनम्। अनादिभ्रमसंभूतम् अनादिमिथ्याज्ञानोत्पन्नम्। पुनः मिथ्यात्वाविरतिप्रायम्। इति सूत्रार्थः ।।६।। पुनः कर्मबन्धस्वरूपमाह।

1646) **सो ऽहं सिद्धः**—सो ऽहं शुद्धः* प्रसिद्धात्मा। पुनः कीदृशः। दृग्बोधविमलेक्षणः सम्यग्दर्शनज्ञानविमलनेत्रः। पुनः कीदृशः। जन्मपङ्के चिरं खिन्नः। च पुनः। स्वकर्मणा खण्ड्यमानः। इति सूत्रार्थः ।।७।। अथ पुनरात्मस्वरूपमाह।

भयानक दुखरूप अग्निसे अतिशय जलनेवाले संसाररूप वनमें परिभ्रमण करते हुए मैंने आज सम्यग्ज्ञानरूप समुद्रके किनारेको प्राप्त कर लिया है—अब मुझे वह विवेकबुद्धि प्राप्त हो गयी है जिसके द्वारा मैं उस संसार परिभ्रमणके सन्तापको शान्त कर सकता हूँ ।।४।।

अब भी यदि मैं वैराग्य व विवेकरूप महापर्वतके शिखरसे गिरता हूँ तो फिर संसाररूप अन्धकारयुक्त कुएँके भीतर मेरा गिरना अनिवार्य ही है—उसे कोई रोक नहीं सकता है ।।५।।

कर्मबन्धके कारणभूत जो मिथ्यात्व व असंयम आदि हैं वे अनादिकालकी अज्ञानता (विपरीत बुद्धि) से उत्पन्न हुए हैं। उनका निवारण मैं किस प्रकारसे कर सकता हूँ ? ।।६।।

जो स्वरूप सिद्ध परमात्माका है वही प्रसिद्ध स्वरूप मेरा है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप निर्मल दो नेत्रोंका धारक मैं अपने कर्मसे खण्डित होकर—उसके वशीभूत होता हुआ—संसाररूप कीचड़में फँसकर दीर्घकालसे खेदको प्राप्त हुआ हूँ ।।७।।

१. T विवेकार्येन्द्र°। २. S J X Y R निर्वार्यते, T निर्यतते। ३. M N T शुद्धः। ४. M N खिद्यमानः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1647) एकतः कार्मणं[1] सैन्यमहमेकस्ततो ऽन्यतः ।
स्थातव्यमं[2]प्रमत्तेन मयास्मिन्नरिसंकटे ॥८

1648) निर्धूय कर्मसंघातं प्रबलध्यानवह्निना ।
शोधयामि कदात्मानं[3] धातुस्थमिव काञ्चनम् ॥९

1649) किमुपेयो ममात्मायं किं वा विज्ञानदर्शने ।
चरणं वा[4]पवर्गाय त्रिभिः सार्धं स एव वा ॥१०

1650) को ऽहं ममास्रवः कस्मात् कथं बन्धः क्व निर्जरा ।
का मुक्तिः किं[5] विमुक्तस्य स्वरूपं च निगद्यते ॥११

1647) **एकतः कार्मणं**—एकतः कार्मणं सैन्यम् । ततो ऽन्यतो ऽहमेकः । अप्रमत्तेनास्मिन्नरिसंकटे मया स्थातव्यम् । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथात्मशोधनमाह ।

1648) **निर्धूय**—अहं कदा स्वं शोधयिष्यामि । केन । प्रबलध्यानवह्निना । किं कृत्वा । कर्मसंघातं निर्धूय । धातुस्थं काञ्चनम् इव । यथा कश्चिद् वह्निना धातुस्थं काञ्चनं शोधयति । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ रत्नत्रयस्वरूपमाह ।

1649) **किमुपेयः**—विज्ञानदर्शने वा ज्ञानदर्शने वा । आचरणं चारित्रम् अपवर्गाय मोक्षाय । स एव आत्मा त्रिभिः ज्ञानदर्शनचारित्रैः इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ द्वारमाह ।

1650) **को ऽहं मम**—को ऽहम् । ममास्रवः कस्मात् । कथं बन्धः । निर्जरा क्व । का मुक्तिः । विमुक्तस्य किं स्वरूपं च । निगद्यते । इति सूत्रार्थः ॥११॥ पुनर्द्वारमाह ।

एक ओर तो कर्मकी सेना है और दूसरी ओर मैं अकेला हूँ। ऐसी अवस्थामें मुझे शत्रुके द्वारा निर्मित इस संकटके समयमें प्रमादको छोड़कर—निरन्तर सावधान—रहना चाहिए ॥८॥

जिस प्रकार सुवर्णपाषाणमें अवस्थित सुवर्णको प्रबल अग्निके संयोगसे उसकी कीट और कालिमाको पृथक् करके शुद्ध कर लिया जाता है उसी प्रकार मैं प्रबल ध्यानरूप अग्निके संयोगसे कर्मसमूहको पृथक् करके अपनेको कब शुद्ध कर सकूँगा ? ॥९॥

मुक्तिप्राप्तिके लिए मुझे क्या अपने इस आत्माको सिद्ध करना है; अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रयको सिद्ध करना है; अथवा इन तीनोंके साथ उसी आत्माको सिद्ध करना है ? ॥१०॥

मैं कौन हूँ, मेरे कर्मोंका आगमन किस निमित्तसे होता है, उनका आत्माके साथ बन्ध कैसे होता है, निर्जरा किस अवस्थामें होती है, मुक्ति क्या है, और मुक्त जीवका स्वरूप क्या कहा जाता है ? ॥११॥

१. S X R कर्मणां । २. Y स्थातव्यं नाप्रयत्नेन । ३. All others except P कदा स्वं शोधयिष्यामि । ४. N च for वा । ५. N किमु मुक्तस्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1651) जन्मनः प्रतिपक्षस्य मोक्षस्यात्यन्तिकं सुखम् ।
अव्याबाधं स्वभावोत्थं केनोपायेन लभ्यते ॥१२

1652) मय्येव[1] विदिते साक्षाद्विज्ञातं भुवनत्रयम् ।
यतो ऽहमेव सर्वज्ञः सर्वदर्शी निरञ्जनः ॥१३

1653) उक्तं च—
एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः ।
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः॥१३*१॥ इति[2]

1651) जन्मनः—मोक्षस्य सुखं केनोपायेन लभ्यते। कीदृशम्। आत्यन्तिकम्। कीदृशमोक्षस्य। जन्मनः प्रतिपक्षस्य प्रतिकूलस्य। कीदृशं सुखम्। अव्याबाधं निराबाधम्। पुनः कीदृशम्। स्वभावोत्थं स्वभावाज्जातम्। इत्यर्थः ॥१२॥ अथ पुनरात्मस्वरूपमाह।

1652) मय्येव—मय्येव आत्मन्येव साक्षात् विदिते जाते भुवनत्रयं विज्ञातम्। यतः कारणादहमेव सर्वज्ञः, सर्वदर्शी, निरञ्जनः। इति सूत्रार्थः ॥१३॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे।

1653) एको भावः—एको भावः पदार्थः सर्वभावः सर्वपदार्थस्वभावो भवति। एको भावः पदार्थः तत्त्वतः परमार्थतः येन बुद्धो ज्ञातः, सर्वे भावाः पदार्थाः तत्त्वतः तेन बुद्धा ज्ञाताः। यथा एको घटः सर्वघटस्वभावः। सर्वघटस्वभावः एको घटः। येन परमार्थतः एको घटो ज्ञातः कम्बुग्रीवादिमत्त्वासाधारणलक्षणेन तथा तेनैव तत्त्वतः सर्वे घटाः तेनैव लक्षणेन ज्ञाताः। इत्याद्यास्तां विस्तरः। प्रकृतमेवोच्यते। इति सूत्रार्थः ॥१३*१॥ अथ स्वस्मिन् स्वज्ञानाभावमाह।

संसारके प्रतिपक्षभूत मोक्षका जो शाश्वतिक, निर्बाध और स्वाभाविक सुख है वह किस उपायसे प्राप्त हो सकता है ? ॥१२॥

मेरे अपने आपको जान लेने पर मैंने साक्षात् तीनों ही लोकोंको जान लिया। कारण यह कि मैं स्वयं ही तो सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा और निर्लेप—कर्म-कालिमासे रहित—हूँ ॥१३॥

कहा भी है—

एक पदार्थ सब पदार्थस्वरूप है तथा सब पदार्थ एक पदार्थस्वरूप हैं। इसलिए जिसने वस्तुतः एक पदार्थको जान लिया है उसने यथार्थमें सब ही पदार्थोंको जान लिया है। विशेषार्थ-अभिप्राय यह है कि आत्मा अनन्त ज्ञानदर्शनस्वरूप है। वह जब इस आत्मस्वरूपमें अवस्थित होता है तब लोकके सब ही पदार्थ उसमें प्रतिबिम्बित होते हैं। इस अपेक्षा से एक ही आत्मा सब पदार्थस्वरूप और सब पदार्थ एक आत्मस्वरूप कहे जाते हैं। इसीलिए जिस भव्य जीवने एकमात्र अपने आपको यथार्थ रूपसे जान लिया उसने वस्तुतः सब ही पदार्थोंको जान लिया है, यह कहना सर्वथा योग्य है ॥१३*१॥

---

१. M मयैव। २. P M इति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1654) यावद्यावच्च संबन्धो मम स्याद्बाह्यवस्तुभिः ।
तावत्तावत्स्वयं स्वस्मिन् स्थितिः स्वप्ने ऽपि दुर्लभा[1] ॥१४

1655) तथैवैते ऽनुभूयन्ते पदार्थाः सूत्रसूचिताः ।
अतो मार्गे ऽत्र लग्नो ऽहं प्राप्त एव शिवास्पदम् ॥१५

1656) इत्युपायै[2]र्विनिश्चेयो मार्गाच्च्यवनलक्षणः ।
कर्मणां च तथा[3]पाय उपायः[4] स्वात्मसिद्धये ॥१६

1657) इति नयशतसी[5]मालम्बि निर्धूतदोषं
च्युतसकलकलङ्कैः कीर्तितं ध्यानमेतत् ।

1654) यावद्यावच्च—स्वस्मिन्नात्मनि स्वप्ने ऽपि स्थितिः दुर्घटा* । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ पुनर्विशेषमाह ।

1655) तथैवैते—तेष्वेवानुभूयन्ते ज्ञायन्ते । केचन इतरे पदार्थाः । कीदृशाः । सूत्रसूचिताः । अतः कारणात् मार्गे अहं लग्नः । शिवास्पदं मोक्षं प्राप्त एव । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथोपसंहरति ।

1656) इत्युपायैः—इति अमुना प्रकारेण उपायो* विनिश्चेयो ज्ञातव्यः । कीदृशमार्गात् । मोक्षमार्गात् । यावल्लक्षणः । च पुनः । *यथोपायकर्मणाम् । च पुनः । उपायः आत्मसिद्धये । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ ध्यानमुपसंहरति । मालिनी छन्दः ।

1657) इति नय—च्युतसकलकलङ्कैः नष्टसर्वकलङ्कैः । लक्षणया तीर्थंकरैः । एतद् ध्यानं कीर्तितम् । इति अमुना प्रकारेण । नयानां शतं नयशतं तस्य लीलाम् आलम्बिनः । निर्धूता दोषा

जब-जब तक मेरा सम्बन्ध बाहरी वस्तुओंके साथ है—जब तक मैं परपदार्थोंको अपना समझता रहूँगा—तब-तब तक मेरा आत्मस्वरूपमें अवस्थान स्वप्नमें भी नहीं हो सकता है ॥१४॥

पदार्थोंका स्वरूप जैसा परमागममें कहा गया है, मैं उनका अनुभव उसी स्वरूपसे कर रहा हूँ। इसीलिए मैं मोक्षमार्गमें प्रवृत्त हो चुका हूँ, अब मुझे मोक्षपद प्राप्त हुआ-सा प्रतीत होता है ॥१५॥

इन उपायोंके द्वारा कर्मोंके अपाय (विनाश) का तथा मोक्षमार्गसे च्युत न होने देनेवाले अपने आत्मस्वरूपकी सिद्धिके उपायका भी निश्चय करना चाहिए ॥१६॥

इस प्रकार कर्म-कलंकसे रहित जिनेन्द्रदेवके द्वारा सैकड़ों नयोंका आलम्बन लेनेवाले एवं दोषोंके विघातक उस अपायविचय धर्मध्यानका स्वरूप कहा गया है। जो योगी प्रमाद-

१. All others except P M दुर्घटा । २. All others except P इत्युपायो । ३. J यथा । ४. All others except P उपायश्चात्म° । ५. M N J लीलालम्बि, T शीलालम्बि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अविरतमनुपूर्वं ध्यायतो ऽस्तप्रमादं
स्फुरति यदि विशुद्धज्ञानभास्वत्प्रकाशः ॥१७

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-
विरचिते अपायविचयप्रकरणम् ॥३१॥

यस्य तत्तथा। अविरतं निरन्तरम् एतद् ध्यानम् अनुपूर्वं प्राक् कथितम्। अस्तप्रमादं ध्यायतो हृदि विशुद्धज्ञानभास्वत्प्रकाशः स्फुरति। इति सूत्रार्थः ॥१७॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन
साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहरिखिदास-स्वश्रवणार्थं
पण्डितजिनदासोद्यमेन कारापितम् अपायविचयप्रकरणम् ॥३१॥

समयविदितभावः कर्मकान्तारदावः सुकृतविहितपार्श्वंध्वस्तमिथ्यान्विपार्श्वः। जिनमृति-परिवीतष्टोडरो ज्ञानन्नीतः जयति विगतविघ्नः साहसद्रेषिदासः॥ इति आशीर्वादः॥ अथ विपाक-विचयमाह।

को छोड़कर विधिपूर्वक निरन्तर उसका चिन्तन करता है उसके हृदयमें निर्मल ज्ञानरूप सूर्यका प्रकाश प्रगट होता है ॥१७॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
अपायविचय प्रकरण समाप्त हुआ ॥३१॥

१. S F विशुद्धो, J X R विशुद्धे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

XXXII

[विपाकविचयः]

1958) स विपाक इति ज्ञेयो यः स्वकर्मफलोदयः ।
प्रतिक्षण[1]समुद्भूतश्चित्ररूपः[2] शरीरिणाम् ॥१

1659) कर्मजातं फलं दत्ते विचित्रमिह देहिनाम् ।
आसाद्य नियतं नाम द्रव्या[3]दिकचतुष्टयम् ॥२॥ तद्यथा[4] —

1660) स्रक्शय्यासनयानवस्त्रवनितावादित्रमित्राङ्गजान्
कर्पूरागु[5]रुचन्द्रचन्दनवनक्रीडाद्रिसौधध्वजान् ।

1658) **स विपाकः**—शरीरिणां जीवानां चित्ररूपः नानाप्रकारः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1659) **कर्मजातं**—नामेति कोमलामन्त्रणे । द्रव्यादिचतुष्टयम् आसाद्य प्राप्य । नियतं निश्चितम् । इह जगति देहिनां प्राणिनां विचित्रं कर्मजातं फलं दत्ते । इति सूत्रार्थः ॥२॥ तद्यथा दर्शयति । शार्दूलविक्रीडितम् ।

1660) **स्रक्शय्या**—अङ्गिनः प्राणिनः वस्तुनिचयानुपगम्य प्राप्य सौख्यं श्रयन्ति आश्रयन्ति । कान् वस्तुनिचयान् । स्रक्शय्यासनवस्त्रवनितावादित्रमित्राङ्गजान् स्रक् पुष्पमाला, शय्या पर्यङ्कादि, आसनं सिंहासनादि, यानं वाहनं, वस्त्रं पट्टकूलादि, वनिताः स्त्रियः, वादित्रं घनततविततादि, मित्रं प्रेमपात्रम्, अङ्गजाः पुत्राः, तेषां समाहारः । तान् उपगम्य प्राप्य । कर्पूरागुरुचन्द्रचन्दनवनक्रीडादि-सौधध्वजान् । कर्पूरागुरू प्रसिद्धौ । चन्द्रः अत्यन्तश्वेतकर्पूरः । चन्दनवनक्रीडा चन्दनादिवनविहारः ।

प्राणियोंके प्रतिसमयमें जो अनेक प्रकारका अपने कर्मोंके फलका उदय उत्पन्न होता है उसे विपाक जानना चाहिए। अभिप्राय यह है कि पूर्वमें बाँधे गये ज्ञानावरणादि कर्म उदयको प्राप्त होकर जो प्रतिसमयमें ज्ञानादिके आवरण करने आदिरूप फल दिया करते हैं उसका नाम विपाक है ॥१॥

संसारमें प्राणियोंके द्वारा बाँधा गया कर्मोंका समूह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चारका आश्रय पाकर नियमसे सुख-दुःख आदिके उत्पादनरूप अनेक प्रकारके फलको दिया करता है ॥२॥

जैसे द्रव्यका आश्रय पाकर—माला, शय्या (पलंग व गादी आदि), आसन, रथ आदि संवारी, वस्त्र, स्त्री, वीणा आदि वादित्र, मित्र, पुत्र, कपूर, अगुरु, चन्द्र, चन्दन, वन-

१. J क्षणं । २. T रूपं । ३. J तद्द्रव्यादिचतु° । ४. P M तद्यथा । ५. M °रागरु ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मातङ्गांश्च[1] विहङ्गचामरपुरीभक्षान्नपानानि वा
छत्रादीनुपलभ्य[2] द्रव्यनिचयान् सौख्यं श्रयन्ते ऽङ्गिनः ॥

1661) क्षेत्राणि रमणीयानि सर्वर्तुसुखदानि[3] च ।
कामभोगास्पदान्युच्चैः प्राप्य[4] सौख्यं निषेव्यते ॥४

1662) प्रासासिक्षुरयन्त्रपन्नगगरव्यालानलोग्रग्रहान्
शीर्णाङ्गि[5] कृमिकीटकण्टकरजःक्षारास्थिपङ्कोपलान् ।
काराशृङ्खलशङ्कुकाण्डनिगडक्रूरारिवैरांस्तथा[6]
द्रव्याण्याप्य भजन्ति दुःखमखिलं जीवा भवाध्वस्थिताः[7] ॥५

अद्रयो भूधराः सुखदायित्वात् । सौधा आवासाः । ध्वजाः केत्वादयः तेषां समाहारः । तानुपगम्य च । मातङ्गाश्वविहङ्गचामरपुरीभक्ष्यान्नपानानि च । मातङ्गा हस्तिनः, अश्वाः प्रसिद्धाः, विहङ्गाः शुकादयः पक्षिणः, चामराः प्रसिद्धाः, पुरी पट्टनादिका रत्नयोनिभूता, भक्ष्यं मिष्टान्नादि, अन्नं शाल्यादि, पानं शर्करादि कृतम् । तेषां समाहारः । तानुपगम्य । छत्रादीन्युपगम्य* । इति सूत्रार्थः ॥३॥ पुनरेतदेवाह ।

1661) **क्षेत्राणि**—रमणीयानि क्षेत्राणि प्राप्य सौख्यं निषेव्यते । कीदृशानि । सर्वर्तुसुखदानि । चकारात् पुनः । कानि । कामभोगास्पदानि । उच्चैर्यथा स्यात् । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ दुःखकारणान्याह । शार्दूलविक्रीडितम् ।

1662) **प्रासासि**—द्रव्याण्याप्य प्राप्य भवाध्वस्थिता जीवाः अखिलं समस्तं दुःखं भजन्ति । कानि । प्रासो निःकोशः, असिः खड्गः, क्षुरः क्षुरप्रः, यन्त्रं तैलादिनिष्कासनकाष्ठं, पन्नगगरं सर्पविषं, व्यालः सर्पविशेषः, अनलः अग्निः, उग्रग्रहाः केत्वादयः, तान् आप्य । शीर्णाङ्गी वृद्धशरीरः ।

क्रीड़ा, पर्वत, प्रासाद, ध्वजा, हाथी, तोता आदि पक्षी, चँवर, नगरी, भोजन, अन्न-पान और छत्र आदि अभीष्ट द्रव्यसमूहोंको पाकर प्राणी सुखका अनुभव किया करते हैं—इत्यादि अनेक प्रकारकी अभीष्ट वस्तुओंके आश्रयसे वे अपने पूर्वकृत कर्मके फल (सुख) को भोगते हैं ॥३॥

इसी प्रकारसे वे सब ऋतुओंके सुखको प्रदान करनेवाले और काम-भोगोंके स्थानभूत अतिशय रमणीय क्षेत्रोंको पाकर सुखका उपभोग करते हैं ॥४॥

द्रव्य व क्षेत्रके आश्रित दुःख—भाला, तलवार, छुरा, शूली आदि यन्त्र, सर्प, विष, हाथी, अग्नि, तीव्र शनि आदि ग्रह, सड़े-गले प्राणी, क्षुद्र लट आदि कीड़े, अन्य कीड़े, काँटे,

१. N L मातङ्गाश्व । २. M N L T F J °नुपगम्य, P S न्युपलभ्य । ३. Y सुखदायिनः । ४. N प्राप्यं । ५. M N शीर्णाङ्गीकृतकीट, T शीर्णाङ्गिः कृमि, F शीर्णागः कृमि । ६. X चौरांस्तथा । ७. M N भवाब्धौ स्थिताः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1663) निसर्गेणातिरौद्रेण भयक्लेशास्पदानि च ।
दुःखमेवाप्नुवन्त्युच्चैः क्षेत्राण्यासाद्य जन्तवः ॥६

1664) अरिष्टोत्पातनिर्मुक्तो वातवर्षातिवर्जितः ।
शीतोष्णरहितः कालः स्यात्सुखाय शरीरिणाम् ॥७

1665) वर्षातपतुषाराढ्य ईत्युत्पातादिसंकुलः ।
कालः सदैव सत्त्वानां दुःखानलनिबन्धनम् ॥८

क्रुमिकीटकण्टकरजःक्षारास्थिपङ्कोपलान् उपलाः पाषाणविशेषाः । काराशृङ्खलशङ्कुकाण्डनिगडक्रूरारिवैरान् कारा बन्दिगृहं, शृङ्खला बन्धनं, शङ्कुः कीलकः, काण्डो बाणः, निगडः अयोबन्धनम्, क्रूरारिः दुष्टारिः, वैराः तेषां समाहारः तान् । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ पुनरप्याह ।

1663) **निसर्गेण**—जन्तवः क्षेत्राण्यासाद्य उच्चैर्दुःखमेवाप्नुवन्ति । कीदृशानि । निसर्गेणातिरौद्राणि । पुनः । भयक्लेशास्पदानि च । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ सुखकारणमाह ।

1664) **अरिष्टोत्पात**—शरीरिणां सुखाय कालः । कीदृशः । अरिष्टोत्पातनिर्मुक्तः उपद्रवोत्पातरहितः । पुनः कीदृशः । वातवर्षातिवर्जितः । पुनः कीदृशः । शीतोष्णरहितः । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ दुःखानलमाह ।

1665) **वर्षातप**—सत्त्वानां सदैव कालः दुःखानलनिबन्धनं कारणम् । वर्षातपतुषाराढ्यः ईत्युत्पातादिसंकुलः । वर्षातपौ तुषाराढ्यः ईतयः सप्त उत्पातादिव्याप्तः । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ क्रोधादीनामभावमाह ।

धूल, क्षार द्रव्य, हड्डी, कीचड़, पत्थर, बन्दीगृह, सांकल, कील, बाण, बेड़ी, दुष्ट शत्रु और वैर; इन अनिष्ट द्रव्योंको पाकर संसारके मार्गमें स्थित प्राणी सब प्रकारके दुःखको भोगते हैं ॥५॥

इसी प्रकारसे जो क्षेत्र स्वभावसे ही अतिशय भयानक तथा भय और क्लेशके स्थान (कारण) हैं उनको पाकर प्राणी अतिशय दुःखको ही प्राप्त होते हैं ॥६॥

कालके आश्रित सुख-दुःख—अनिष्टके सूचक गृह व उपद्रवसे रहित, तीव्र वायु व वर्षा आदिसे विहीन तथा शीत और उष्णताकी बाधासे मुक्त काल प्राणियोंके लिए सुखप्रद होता है ॥७॥

इसके विपरीत वर्षा, उष्णता व शैत्यसे परिपूर्ण तथा अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शलभ, चूहे, तोते, स्वचक्र और परचक्ररूप सात प्रकारकी ईति एवं अन्य उपद्रवसे व्याप्त काल निरन्तर प्राणियोंके दुःखरूप अग्निका कारण होता है ॥८॥

१. All others except P M N T वर्षादि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1666) प्रशमादिसमुद्भूतो भावः सौख्याय देहिनाम् ।
कर्मगौरवजः सो ऽयं महाव्यसनमन्दिरम् ॥९

1667) मूलप्रकृतयस्तत्र कर्मणामष्ट कीर्तिताः ।
ज्ञानावरणपूर्वास्ता जन्मिनां बन्धहेतवः ॥१०

1668) ज्ञानावृतिकरं कर्म पञ्चभेदं प्रकीर्तितम्[1] ।
निरुद्धं येन जीवानां मतिज्ञानादिपञ्चकम्[2] ॥११

1669) नवभेदं मतं[3] कर्म दृगावरणसंज्ञकम् ।
रुध्यते येन जन्तूनां शश्वदिष्टार्थदर्शनम् ॥१२

1666) **प्रशमादि**—देहिनां सौख्याय भावः स्यात् । कीदृशः । प्रशमादिसमुद्भूतः कर्मगौरवजः । पुनः । महाव्यसनमन्दिरं महाकष्टगृहम् । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ कर्मबन्धकमाह ।

1667) **मूलप्रकृतयः**—तत्र कर्मणां मूलप्रकृतयः अष्टौ कीर्तिताः । ताः कर्मप्रकृतयः । ज्ञानावरणपूर्वाः जन्मिनां बन्धहेतवः । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ ज्ञानावरणादीनामेवाह ।

1668) **ज्ञानावृति**—ज्ञानावृतिकरं कर्म पञ्चभेदं प्रपञ्चितं विस्तारितम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ दर्शनावरणमाह ।

1669) **नवभेदं मतं**—दृगावरणसंज्ञकं नवभेदं मतं कथितम् । येन जन्तूनां शश्वदिष्टार्थदर्शनं रुध्यते । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ वेदनीयमाह ।

भावाश्रित सुख-दुःख—प्रशम व संवेग आदिसे उत्पन्न हुआ भाव प्राणियोंके लिए सुखका कारण तथा कर्मकी गुरुतासे उत्पन्न हुआ वही भाव उनके लिए महान् दुःखका कारण होता है ॥९॥

कर्मप्रकृतियाँ दो प्रकारकी हैं—मूलप्रकृतियाँ और उत्तरप्रकृतियाँ। उनमें कर्मोंकी मूलप्रकृतियाँ ज्ञानावरणादि आठ कही गयी हैं। वे प्राणियोंके बन्धकी कारण हैं—उन्हें परतन्त्र रखनेवाली हैं ॥१०॥

इनमें जो कर्म ज्ञानका आवरण करता है—उसे प्रगट नहीं होने देता है उसे ज्ञानावरण कहा जाता है। वह पाँच प्रकारका है—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। ये पाँचों क्रमशः मतिज्ञान आदि पाँच ज्ञानोंका आवरण किया करते हैं ॥११॥

जो कर्म निरन्तर जीवोंके अभीष्ट पदार्थोंके दर्शनको रोकता है वह दर्शनावरण कहलाता है। वह नौ प्रकारका है—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ॥१२॥

१. All others except P X Y प्रपञ्चितं । २. J ज्ञानादिकं मतम् । ३. X Y कृतं for मतं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1670) वेदनीयं विदुः प्राज्ञा द्विधा कर्म शरीरिणाम् ।
यन्मधूत्सृष्टतद्व्यस्तशस्त्रधारासमप्रभम् ॥१३

1671) सुरोरगनराधीशसेवितं श्रयते सुखम् ।
सातोदयवशात्प्राणी संकल्पानन्तरोद्भवम् ॥१४

1672) असद्वेद्योदयात्तीव्रं शारीरं मानसं द्विधा ।
[2]जीवैर्विषह्यते दुःखं शश्वच्छ्वभ्रादिभूमिषु ॥१५

1673) दृष्टिमोहप्रकोपेन दृष्टिः साध्वी विलुप्यते[3] ।
तद्विलोपान्निमज्जन्ति प्राणिनः श्वभ्रसागरे ॥१६

1670) **वेदनीयं**—प्राज्ञाः वेदनीयं द्विधा विदुः शरीरिणाम् । यत् मधूच्छिष्टं[1] तद् व्यक्तशस्त्रधारासमप्रभम् । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ सातावेदनीयं दर्शयति ।

1671) **सुरोरग**—प्राणी सुखं श्रयते । कीदृशम् । सुरोरगनराधीशसेवितम् । सुगमम् । कस्मात् । सातोदयवशात् । कीदृशम् । संकल्पानन्तरोद्भवम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ असातावेदनीयमाह ।

1672) **असद्वेद्योदयात्**—जीवैर्दुःखं विषह्यते द्विधा । शारीरं मानसं च । कीदृशम् । असद्वेद्योदयात्तीव्रम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ मोहनीयमाह ।

1673) **दृष्टिमोह**—साध्वी दृष्टिः विलुप्यते । केन । दृष्टिमोहप्रकोपेन । तद्विलोपात् प्राणिनः श्वभ्रसागरे निमज्जन्ति । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ चारित्रमोहं दर्शयति ।

विद्वान् गणधरादि वेदनीय कर्मको दो प्रकारका बतलाते हैं । उनमें जो प्राणियोंके लिए मधुसे अलिप्त और उससे लिप्त शस्त्रकी धाराके समान केवल दुःख और दुःखसे मिश्रित सुख दिया करता है ॥१३॥

प्राणी सातावेदनीयके उदयसे इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्तीसे सेवित व संकल्पके अनन्तर उत्पन्न हुए सुखका आश्रय लेता है—उसका अनुभव करता है ॥१४॥

इसके विपरीत असातावेदनीयके उदयसे प्राणी निरन्तर नारक आदि क्षेत्रोंमें शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकारके तीव्र दुखको सहते हैं ॥१५॥

मोहनीय कर्म दो प्रकारका है—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय । इनमें दर्शनमोहनीयके प्रकोपसे समीचीन दृष्टि—तत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा—नष्ट होती है और तब उसके विनाशसे प्राणी नरकरूप समुद्रमें गोता खाते हैं—नरकके भयानक दुखको सहते हैं ॥१६॥

---

१. All others except P M मधूच्छिष्टतद्व्यक्त, F °ष्टसंपृक्त । २. S X Y R जीवो विस° ।
३. M N विलिप्यते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1674) चारित्रमोहपाकेन नाङ्गिभिर्लभ्यते[1] क्षणम् ।
भावशुद्धया स्वस्यं[2] कर्तुं चरणं स्वान्तशुद्धिदम् ॥१७

1675) लब्ध्वापि यत्प्रमाद्यन्ति यत्स्खलन्त्यथ संयमात् ।
सो ऽपि चारित्रमोहस्य विपाकः परिकीर्तितः ॥१८

1676) सुरायुरारम्भककर्मपाकात्संभूय नाके प्रथितप्रभावैः ।
समर्थ्यते[3] देहिभिरायुरग्र्यं सुखामृतास्वादनलोलचित्तैः[4] ॥१९

1677) नरायुषः पाकविशेषयोगान्नरत्वमासाद्य[5] शरीरभाजः ।
सुखासुखाक्रान्तधियो नितान्तं नयन्ति कालं बहुभिः प्रपञ्चैः ॥२०

1674) **चारित्रमोह**—चरणम् अङ्गिभिः प्राणिभिः न प्राप्यते* क्षणम् । केन । चारित्रमोहपाकेन । किं कर्तुम् । *स्वसात्कर्तुम् । भावशुद्ध्या । कीदृशं चरणम् । स्वान्तःशुद्धिदम् । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ चारित्रमोहम् आह ।

1675) **लब्ध्वापि**—चारित्रमोहस्य विपाकः चारित्रं लब्ध्वापि यत् प्रमाद्यन्ति प्रमादं कुर्वन्ति, अथ संयमात् प्रस्खलन्ति । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ सुरायुर्बन्धमाह ।

1676) **सुरायुरारम्भ**—देहिभिः प्राणिभिः आयुः संप्रार्थ्यते* नाके । कस्मात् । सुरायुरारम्भकर्मपाकात् । कीदृशैः । प्रथितप्रभावैः । कीदृशम् आयुः । अग्र्यं प्रधानम् । पुनः कीदृशैः । सुखामृतास्वादनलोलचित्तैः । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ नरत्वमाह ।

1677) **नरायुषः**—शरीरभाजः कालं नयन्ति । कैः । बहुभिः प्रपञ्चैः विस्तारैः । कीदृशाः शरीरभाजः । सुखासुखाक्रान्तधियः सुखदुःखाक्रान्तबुद्धयः । किं कृत्वा । नरत्वमासाद्य प्राप्य । कस्मात् । नरायुषः । कर्मविपाकयोगा*न्नरत्वमासाद्य शरीरभाजः सन् नितान्तमतिशयेन । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ तिर्यक्स्वरूपमाह ।

चारित्रमोहनीयके उदयसे प्राणी भावोंकी निर्मलतापूर्वक अपने मनकी शुद्धिके कारणभूत चारित्रको क्षणभरके लिये भी नहीं प्राप्त कर पाते ॥१७॥

उस चारित्रको पाकर भी जो उसका परिपालन करनेमें प्रमाद करते हैं और जो उस संयमसे भ्रष्ट होते हैं उसे भी चारित्रमोहनीयका फल कहा जाता है ॥१८॥

चार प्रकारके आयुकर्ममें देवायुके उत्पादक कर्मस्कन्धके उदयसे प्राणी स्वर्गमें उत्पन्न होकर अतिशय प्रभावशाली और सुखरूप अमृतके स्वाद (अनुभव) में मग्न होते हुए उस श्रेष्ठ आयुको पूरा करते हैं ॥१९॥

मनुष्यायुके उदयविशेषके आश्रयसे प्राणी मनुष्य पर्यायको पाकर सुख और दुख दोनोंका अनुभव करते हुए प्रतारण करनेवाले बहुत-से कामोंके द्वारा ही प्रायः कालको बिताया करते हैं ॥२०॥

१. L J प्राप्यते for लभ्यते । २. All others except P स्वसात्कर्तुं । ३. J संप्रार्थ्यते । ४. All others except P M N T °मृतस्वादन । ५. All others except P कर्मविपाकयोगा° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1678) चरस्थिरविकल्पासु तिर्यग्गतिषु[1] जन्तुभिः ।
तिर्यगायुःप्रेपाकेन[2] दुःखमेवानुभूयते ॥२१

1679) नारकायुःप्रकोपेन[3] नरके ऽचिन्त्यवेदने ।
निपतन्त्यङ्गिनस्तूर्णं[4] कृतार्तकरुणस्वनाः ॥२२

1680) नामकर्मोदयः साक्षाद्धत्ते चित्राण्यनेकधा ।
नामानि गतिजात्यादिविकल्पानीह देहिनाम् ॥२३

1681) गोत्राख्यं जन्तुजातस्य कर्म दत्ते स्वकं फलम् ।
शस्ताशस्तेषु गोत्रेषु जन्म निष्पाद्य सर्वथा ॥२४

1678) **चरस्थिर**—जन्तुभिः प्राणिभिः दुःखमेवानुभूयते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ नारकायुर्दुःखमाह ।

1679) **नारकायुः**—अङ्गिनः* नरके पतन्ति तूर्णम् । कृतार्तकरुणस्वनाः कृतौ आर्तकरुणौ स्वनौ येषां ते तथा । शेषं सुगमम् ॥२२॥ अथ नामकर्म आह ।

1680) **नामकर्मोदयः**—नामानि गतिजात्यादीनि विकल्पानि दत्ते अनेकधा । कः । नामकर्मोदयः साक्षात् । कीदृशानि नामानि । गतिजात्यादिविकल्पानि । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ गोत्रमाह ।

1681) **गोत्राख्यं**—गोत्राख्यं कर्म स्वकं फलं दत्ते । कस्य । जन्तुजातस्य । किं कृत्वा । शस्ताशस्तेषु गोत्रेषु जन्म निष्पाद्य उत्पाद्य सर्वथा । इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथान्तरायमाह ।

तिर्यंच आयुके उदयसे प्राणी त्रस और स्थावर भेदरूप तिर्यंच पर्यायोंमें केवल दुखका ही अनुभव करते हैं ॥२१॥

नारकायुके प्रकोपसे प्राणी करुणापूर्ण विलाप करते हुए शीघ्र ही अचिन्त्य वेदनावाले नरकमें जा पड़ते हैं ॥२२॥

नामकर्मका उदय यहाँ प्राणियोंके गति-जाति आदि भेदोंरूप अनेक प्रकारके विचित्र नामोंको धारण करता है। अभिप्राय यह कि जो जीवको नारक आदि अनेक पर्यायोंको प्राप्त कराता है उसे नामकर्म कहा जाता है। वह गति आदिके भेदसे ब्यालीस प्रकारका अथवा उनके अवान्तर भेदोंकी अपेक्षा तेरानवे प्रकारका है ॥२३॥

गोत्र नामका कर्म प्राणीसमूहको ऊँच और नीच गोत्रोंमें उत्पन्न कराकर अपने फलको देता है ॥२४॥

---

१. J तिर्यग्जातिषु । २. All others except P °गायुः प्रकोपेन । ३. P नरका° । ४. M °न्त्यङ्गिनः । ५. X कृत्वार्त, L S F Y R कृतार्ति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1682) निरुणद्धि[1] स्वसामर्थ्याद्दानलाभादिपञ्चकम् ।
विघ्नसंततिविन्यासैर्विघ्नकृत्कर्म देहिनाम् ॥२५

1683) मन्दवीर्याणि जायन्ते कर्माण्यतिबलीन्यपि[2] ।
अपक्वपाचनायोगात् फलानीव वनस्पतेः ॥२६

1684) अपक्वपाकः क्रियते ऽस्ततन्द्रैस्तपोभिरुग्रैः शमशुद्धि[3]जातैः ।
क्रमाद्गुणश्रेणिसमाश्रयेण सुसंवृतान्तःकरणैर्मुनीन्द्रैः ॥२७

1682) **निरुणद्धि**—दानलाभादिपञ्चकं निरुणद्धि रुन्ते । कैः । विघ्नसंततिविन्यासैः । किम् । देहिनां विघ्नकृत् कर्म । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ वीर्यान्तरायमाह ।

1683) **मन्दवीर्याणि**—कर्माणि मन्दवीर्याणि जायन्ते । कस्मात् । अपक्वपाचनायोगात् अविपाकस्योदयाभावात् । कीदृशानि कर्माणि । अतिबलान्यपि* बलवत्तराण्यपि । इवोत्प्रेक्षते । वनस्पतेः फलानीव । यथा फलानि अपक्वपाचनायोगात् मन्दवीर्याणि भवन्ति । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथापक्वकारकानाह ।

1684) **अपक्वपाकः**—मुनीन्द्रैरपक्वपाकः क्रियते । कीदृशैर्मुनीन्द्रैः । अस्ततन्द्रैरालस्यरहितैः । पुनः कैः । उग्रैस्तपोभिः । कीदृशैः । वरशुद्धियुक्तैः । पुनः केन । क्रमाद् गुणश्रेणिसमाश्रयेण । कीदृशैर्मुनीन्द्रैः । सुसंवृतान्तःकरणैरिति ॥२७॥ अथ कर्मघातित्वमाह ।

विघ्नको करनेवाला (अन्तराय) कर्म अपने अनुभागके अनुसार विघ्नसमूहोंकी रचना द्वारा प्राणियोंके दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यको रोका करता है। इसीलिए क्रमशः उसके दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये पाँच भेद हो जाते हैं ॥२५॥

कर्म अतिशय बलवान्—प्रकृष्ट अनुभागशक्तिसे संयुक्त—हो करके भी अपक्वपाचन (उदीरणा) के सम्बन्धसे आम आदि वनस्पतिके फलोंके समान मन्द अनुभागसे संयुक्त हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कच्चे फल पालके सम्बन्धसे—प्याल आदिके सम्बन्धसे—समयके पूर्व भी पक जाया करते हैं उसी प्रकार कर्म भी परिणामविशेषोंसे बाँधी गयी स्थितिके पूर्व भी पक जाते हैं—अपना फल देनेके उन्मुख हो जाते हैं ॥२६॥

आलस्यको छोड़कर अपने अन्तःकरणको सावद्ययोगसे अतिशय रहित करनेवाले मुनीन्द्र प्रशम और शुद्धिके समूहसे संयुक्त होते हुए गुणश्रेणिरूप निर्जराके आश्रयसे क्रमशः तीव्र तपोंके द्वारा अपक्वपाकको—अविपाक निर्जराको—करते हैं ॥२७॥

१. All others except P M Y निरुणद्धिः । २. R बलान्यपि । ३. All others except P °रुग्रैर्वरशुद्धियुक्तैः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1685) द्रव्याद्युत्कृष्टसामग्रीमासाद्योग्रतपोबलात् ।
कर्माणि घातयन्त्युच्चैस्तुर्यध्यानेन योगिनः ॥२८

1686) [[1]विलीनाशेषकर्माणं[2] स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत् ॥२८*१॥]

1687) इति विविधविकल्पं कर्म चित्रस्वरूपं
प्रतिसमयमुदीर्णं जन्मवर्त्यङ्गभाजाम् ।
स्थिरचरविषयाणां भावयन्नस्ततन्द्रो
दहति दुरितकक्षं संयमी शान्तमोहः[3] ॥२९

1685) द्रव्याद्युत्कृष्ट—योगिनः कर्माणि घातयन्त्युच्चैः । केन । तुर्यध्यानेन चतुर्थध्यानेन । किं कृत्वा । द्रव्याद्युत्कृष्टसामग्रीमासाद्य प्राप्य । कस्मात् । उग्रतपोबलात् । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1686) विलीनाशेष—स्वम् आत्मानं स्मरेत् ततः । कीदृशम् । स्वाङ्गगर्भगतम् । पुनः कीदृशम् । पुरुषाकारम् । पुनः कीदृशम् । विलीनाशेषकर्माणम् । स्फुरन्तम् अतिनिर्मलम् । इति सूत्रार्थः ॥२८*१॥ अथैतदुपसंहरति ।

1687) इति विविध—संयमी शान्तदेहः* दुरितकक्षं दहति । किं कुर्वन् । चरस्थिरविषयाणां भावयन् । कीदृशः । अस्ततन्द्रः । अङ्गभाजां प्रतिसमयमुदीर्णम् इति विविधविकल्पं कर्म चित्रस्वरूपम् । कीदृशम् । जन्मवर्ति ॥२९॥ अथोपसंहरति । शा. वि. ।

योगीजन द्रव्य-क्षेत्रादिरूप उत्कृष्ट सामग्रीको प्राप्त करके तीव्र तपके सामर्थ्यसे चतुर्थ ध्यानके द्वारा कर्मोंका घात किया करते हैं ॥२८॥

तत्पश्चात् समस्त कर्मोंको नष्ट करनेवाले, ज्ञानरूप ज्योतिसे प्रकाशमान, अतिशय निर्मल और पुरुष-आकाररूप अपने शरीरके भीतर अवस्थित आत्माका स्मरण करना चाहिए ॥२८*१॥

इस प्रकारसे नाना प्रकारके भेदोंसे संयुक्त वह विभिन्न प्रकारके स्वरूपवाला कर्म स्थावर व त्रस भेदों रूप संसारी प्राणियोंके प्रतिसमय उदित रहता है, ऐसा विचार करने वाला योगी आलस्यको छोड़कर मोहको उपशान्त करता हुआ पाप कर्मरूप वनको भस्म कर देता है ॥२९॥

१. P T Y om. । २. R कर्माणि । ३. J शान्तदेहः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1688) इत्थं कर्मकटुप्रपाककलिताः संसारघोरार्णवे
जीवा दुर्गतिदुःखवाडवशिखासंतानसंतापिताः ।
मृत्यूत्पत्तिमहोर्मिजालनिचिता मिथ्यात्ववातेरिताः
क्लिश्यन्ते तदिदं स्मरन्तु नियतं धन्याः स्वसिद्ध्यर्थिनः ॥३०

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे [[1]आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-
विरचिते] विपाकविचयप्रकरणम् ॥३२॥

1688) इत्थं कर्म—जीवाः संसारघोरार्णवे इत्थममुना प्रकारेण क्लिश्यन्ते । कीदृशाः । कर्मकटुप्रपाककलिताः कटुविपाकसहिताः । पुनः कीदृशाः । दुर्गतिदुःखवाडवशिखासंतानसंतापिताः नरकादिगतिदुःखवडवाग्निज्वालासमूहसंतापिताः । पुनः कीदृशाः । मृत्यूत्पत्तिमहोर्मिजालनिचिताः जन्ममरणमहाकल्लोलमालायुताः । पुनः कीदृशाः । मिथ्यात्ववातेरिताः धन्याः तदिदं स्मरन्तु नियतं स्वसिद्ध्यर्थिनः । इति सूत्रार्थः ॥३०॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा-
तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहरिषिदास-स्वश्रवणार्थं पण्डितजिन-
दासोद्यमेन कारापितं विपाकविचयप्रकरणं समाप्तम् ॥३२॥

विगताशेषमिथ्यात्वः पार्श्वो ऽभूद्विभवान्वितः । टोडरो गुणिविख्यातो जीयाच्छ्री-ऋषिदासकः॥ इति आशीर्वादः । अथ लोकस्वरूपमाह ।

इस प्रकार कर्मके कडुवे फलसे संयुक्त प्राणी संसाररूप भयानक समुद्रमें पड़कर दुर्गतिके दुखरूप बड़वानलकी ज्वालाओंके समूहसे व्याकुल और मिथ्यात्वरूप वायुसे प्रेरित होते हुए मरण एवं जन्मरूप बड़ी-बड़ी लहरोंके समूहसे व्याप्त होकर संक्लेशको प्राप्त हो रहे हैं। इसलिए जो पुण्यशाली जीव आत्मसिद्धि (मुक्ति) की अभिलाषा करते हैं उन्हें निरन्तर उस कर्मके कडुवे फल (अनुभाग) का विचार करना चाहिए ॥३०॥

इस प्रकार ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें विपाकविचय
प्रकरण समाप्त हुआ ॥३२॥

१. P om.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

XXXIII

[संस्थानविचयः]

1689) अनन्तानन्तमाकाशं सर्वतः स्वप्रतिष्ठितम्[1] ।
तन्मध्ये ऽयं स्थितो लोकः श्रीमत्सर्वज्ञवर्णितः ॥१

1690) स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतैः पदार्थैश्चेतनेतरैः ।
संपूर्णो ऽनादिसंसिद्धः कर्तृव्यापारवर्जितः ॥२

1691) ऊर्ध्वाधोमध्यभागैर्यो बिभर्ति भुवनत्रयम् ।
अतः स एव सूत्रज्ञैस्त्रैलोक्याधार[2] इष्यते ॥३

1689) **अनन्तानन्तम्**—आकाशम् अनन्तानन्तम् । कीदृशम् । सर्वतः स्वप्रतिष्ठितम् । तन्मध्ये अयं लोकः स्थितः । कीदृशः । श्रीमत्सर्वज्ञवर्णितः । इति सूत्रार्थः ॥१॥ पुनर्लोकस्वरूपमाह ।

1690) **स्थित्युत्पत्ति**—पदार्थैः चेतनेतरैः संपूर्णः । पुनः कीदृशः । अनादिसंसिद्धः । कीदृशैः । स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतैः । सुगमम् । पुनः कीदृशः । कर्तृव्यापारवर्जितः । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ पुनर्लोकस्वरूपमाह ।

1691) **ऊर्ध्वाधोमध्य**—यो लोकः भुवनत्रयं बिभर्ति । ऊर्ध्वाधोमध्यभागैः । अतः स एव सूत्रज्ञैः त्रैलोक्याधारः इष्यते । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ लोकस्वरूपमाह ।

संस्थानविचय धर्मध्यानमें योगी इस प्रकारसे लोकके स्वरूपका विचार करता है—सब ओर अनन्तानन्त आकाश है जो स्वप्रतिष्ठित है—सबसे अधिक परिणामवाला होनेसे अन्य किसीका आश्रय न लेकर वह स्वाश्रित है । उस अनन्तानन्त आकाशके मध्यमें यह लोक स्थित है । उसके स्वरूपका वर्णन अन्तरंग व बहिरंग लक्ष्मीसे विभूषित सर्वज्ञ देवके द्वारा किया गया है ॥१॥

स्थिति, उत्पाद और व्ययसे संयुक्त ऐसे चेतन व अचेतन पदार्थोंसे परिपूर्ण वह लोक अनादिकालसे सिद्ध तथा कर्ताके व्यापारसे रहित है—उसका निर्माण करनेवाला कोई नहीं है ॥२॥

वह लोक ऊर्ध्व, अधः और मध्य भागोंके द्वारा तीनों लोकोंको—उनमें स्थित प्राणियों-को—धारण करता है । इसीलिए आगमके मर्मज्ञ उसे तीनों लोकोंका आधार मानते हैं ॥३॥

१. Y सु for स्व । २. P त्रि for त्रै ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1692) उपर्युपरि संक्रान्तैः सर्वतो ऽपि निरन्तरैः ।
त्रिभिर्वायुभिराकीर्णो महावेगैर्महाबलैः ॥४

1693) घनाब्धिः प्रथमस्तेषां[1] ततो ऽन्यो घनमारुतः ।
तनुवातस्तृतीयो ऽन्ते विज्ञेया वायवः क्रमात् ॥५

1694) उद्धृत्य सकलं लोकं स्वशक्त्यैव व्यवस्थिताः ।
पर्यन्तरहिते व्योम्नि मरुतः प्रांशुविग्रहाः ॥६

1695) घनाब्धिवलये[2] लोकस्तद्[3]घनान्ते व्यवस्थितम्[4] ।
तनुवाय्वन्तरे[5] सो ऽपि स चाकाशे स्थितः [6]स्वयम् ॥७

1692) **उपर्युपरि**—पुनः कीदृशो लोकः । त्रिभिर्वायुभिराकीर्णः । उपर्युपरि संक्रान्तैः । सर्वतो ऽपि महावेगैः महाबलैः । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ वातत्रयलक्षणमाह ।

1693) **घनाब्धिः**—तेषां घनाब्धिः प्रथमम् । ततो ऽन्यो घनमारुतः । अन्ते तनुवातस्तृतीयः । क्रमात् वायवो विज्ञेयाः । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ तेषामेव वातानां स्वरूपमाह ।

1694) **उद्धृत्य**—सकलं लोकमुद्धृत्य स्वशक्त्यैव व्यवस्थिताः मरुतो वायवः पर्यन्तरहिताः । व्योम्नि प्रांशुविग्रहाः उच्चदेहाः इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ पुनर्लोकस्वरूपमाह ।

1695) **घनाब्धि**—लोकः घनोदधिवलये । तद् घनान्ते व्यवस्थितम् । सो ऽपि तनुवातान्तरे व्यवस्थितः । स च लोकः आकाशे स्वयं स्थितः । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ लोकत्रैविध्यमाह ।

वह अतिशय वेगवाली, बलिष्ठ और सघन ऐसी ऊपर-ऊपर जानेवाली तीन वायुओंके द्वारा—घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय इन तीन वायुमण्डलों द्वारा—सब ओरसे वेष्टित हैं ॥४॥

उनमें प्रथम घनाब्धि वायु, दूसरी घन वायु और अन्त में तीसरी तनुवायु; इस प्रकार ये तीन वायु क्रमसे उस लोकको वेष्टित करनेवाले जानना चाहिए ॥५॥

उन्नत शरीरको धारण करनेवाली ये तीन वायु अपनी शक्तिसे ही अनन्त आकाशके मध्यमें उस समस्त लोकको धारण करके स्थित हैं ॥६॥

लोक घनाब्धिवातवलयमें—उसके आश्रयसे—स्थित है, घनाब्धिवातवलय घनवातके अन्तमें स्थित है, वह घनवातवलय तनुवातवलयके आधारसे स्थित है, तनुवातवलय आकाशमें स्थित है, और वह आकाश स्वयं—विना किसी अन्य आधारके—ही स्थित है ॥७॥

१. J प्रथमं । २. M N वलयो । ३. T X R लोकः स च नान्ते, L S F Y स घनान्ते । ४. All others except P L स्थितः । ५. All others except P वातान्तरे । ६. M N T J Y स्वयं स्थितः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1696) अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याज्झल्लरीनिभः ।
मृदङ्गाभस्ततो ऽप्यूर्ध्वं स त्रिधेति व्यवस्थितः ॥८

1697) अस्य प्रमाणमुन्नत्या सप्त सप्त च रज्जवः ।
सप्तैका पञ्च चैका च मूलमध्यान्तविस्तरे ॥९

1698) तत्राधोभागमासाद्य संस्थिताः सप्त भूमयः ।
यासु नारकपण्ढानां निवासाः सन्ति भीषणाः ॥१०

1699) काश्चिद्वज्रानलप्रख्याः काश्चिच्छीतोष्णसंकुलाः ।
तुषारबहुलाः काश्चिद्भूमयो ऽत्यन्तभीतिदाः ॥११

1696) **अधो वेत्रासनाकारः**—[वेत्रासनाकारः वेत्रासनम् इव आकारः यस्य सः । मृदङ्गाभः मृदङ्गसदृशः । इति सूत्रार्थः ॥८॥] अथास्य प्रमाणमाह ।

1697) **अस्य प्रमाणम्**—[अस्य लोकस्य प्रमाणं मानम् । उन्नत्या उच्चैः । शेषं सुगमम् ॥९॥] अथ तदेवाह ।

1698) **तत्राधोभागम्**—तत्र लोके अधोभागमासाद्य सप्त भूमयो व्यवस्थिताः । यासु सप्तभूमिषु नारकखण्डानां भीषणा रौद्रा निवासाः सन्ति । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ भूमीनां स्वरूपमाह ।

1699) **काश्चिद्**—भूमयो नरकभूमयः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ पुनर्भूमिस्वरूपमाह ।

वह लोक नीचे वेंतसे निर्मित आसन (मूढा) के आकार, मध्यमें झालरके समान—गोल चपटा—और ऊपर (ऊर्ध्वलोक) मृदंगकी आकृतिवाला है; इस प्रकारसे वह तीन आकारोंमें अवस्थित है ॥८॥

ऊँचाईमें उस लोकका प्रमाण सात-सात राजु है, अर्थात् नीचेसे मध्यलोक तक वह सात राजु ऊँचा है तथा उस मध्यलोकके ऊपर अन्तिम भाग तक भी वह सात राजु ही ऊँचा है। इस प्रकारसे वह पूरा चौदह राजु ऊँचा है। मध्यलोक मेरुके बराबर १ लाख योजन ऊँचा है। राजु-जैसे महाप्रमाणमें इन योजनोंकी गणना नहीं की गयी है। विस्तार उसका नीचे सात राजु, मध्यलोकके पास एक राजु, ब्रह्मकल्पके पास पाँच राजु तथा अन्तमें एक राजु मात्र है ॥९॥

लोकके इन तीन विभागोंमेंसे अधोभागके आश्रयसे रत्नप्रभादि वे सात पृथिवियाँ अवस्थित हैं, जिनमें कि नपुंसक नारकियोंके भयानक निवास (बिल) हैं ॥१०॥

उनमें कुछ नारकभूमियाँ वज्राग्निके सदृश, कितनी ही शीत व उष्ण दोनोंकी वेदनासे व्याप्त और कितनी ही प्रचुर शैत्यसे संयुक्त हैं। इस प्रकार वे भूमियाँ अतिशय भयानक हैं ॥११॥

१. M N L T J X Y मृदङ्गसदृशश्चाग्रे । २. M N T Y मुन्नत्यां, F मौन्नत्यां, J मुत्पन्ना । ३. P सप्तैक ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1700) उदीर्णानलदीप्तासु निसर्गोष्णासु भूमिषु ।
मेरुमात्रो ऽप्ययःपिण्डः क्षिप्तः सद्यो विलीयते ॥१२

1701) शीतभूमिष्वपि प्राप्तो मेरुमात्रो ऽपि शीर्यते ।
शतधासावयःपिण्डः प्राप्य भूमिं क्षणान्तरे[2] ॥१३

1702) हिंसास्तेयानृताब्रह्मबह्वारम्भादिपातकैः ।
विशन्ति नरकं घोरं प्राणिनो ऽत्यन्तनिर्दयाः ॥१४

1703) मिथ्यात्वाविरतिक्रोधरौद्रध्यानपरायणाः ।
पतन्ति जन्तवः श्वभ्रे कृष्णलेश्यावशं गताः ॥१५

1700) **उदीर्णानल**—भूमिषु अत्र मेरुमात्रो यः पिण्डः क्षिप्तः सद्यो विलीयते । कीदृशासु भूमिषु । उदीर्णानलदीप्तासु उत्तप्ताग्निप्रज्वलितासु । पुनः कीदृशासु । निसर्गोष्णासु स्वभावोष्णासु । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1701) **शीतभूमिषु**—मेरुमात्रः मेरुप्रमाणः । अयःपिण्डः लोहपिण्डः । शेषं सुगमम् ॥१३॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1702) **हिंसास्तेय**—विशन्ति प्रविशन्ति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ पुनर्नरकगामिनः प्रतिपादयति ।

1703) **मिथ्यात्वाविरति**—श्वभ्रे नरके । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ पुनर्नरकमाह ।

उत्पन्न हुई अग्निसे प्रदीप्त व स्वाभाविक उष्णतासे संयुक्त उन भूमियोंमें यदि मेरु पर्वतके बराबर लोहेका गोला डाला जाये तो वह शीघ्र ही पिघलकर नष्ट हो सकता है ॥१२॥

इसी प्रकार शीत भूमियोंमें भी मेरुके प्रमाण वह लोहेका पिण्ड भूमिको प्राप्त होकर क्षण-भरमें ही सैकड़ों प्रकारसे शीर्ण हो जाता है—गलकर नष्ट हो सकता है ॥१३॥

अतिशय निर्दय प्राणी हिंसा, चोरी, असत्य, अब्रह्म (मैथुन) और बहुत आरम्भादि पापोंके कारण भयानक नरकमें प्रवेश करते हैं ॥१४॥

कृष्णलेश्याके वशीभूत हुए प्राणी मिथ्यात्व, अविरति, क्रोध और रौद्रध्यानमें तत्पर होकर नरकमें पड़ते हैं—नारकी उत्पन्न होते हैं ॥१५॥

---

१. J स तथा for शतधा । २. Y °न्तरं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1704) असिपत्रवनाकीर्णे शस्त्रशूलासिसंकुले ।
नरके ऽत्यन्तदुर्गन्धे वसासृक्कृमिकर्दमे ॥१६

1705) शिवाश्वव्याघ्रकङ्काद्ये[1] मांसाशिविहगाचिते[2] ।
वज्रकण्टकसंकीर्णे[3] शूलशाल्मलिदुर्गमे ॥१७

1706) संभूय कुष्टिकामध्ये[4] ऊर्ध्वपादा अधोमुखाः ।
ततः पतन्ति साक्रन्दं वज्रज्वलनभूतले ॥१८

1707) अयःकण्टककीर्णासु [5]द्रुतलोहाग्निवीथिषु[6] ।
छिन्नभिन्नविशीर्णाङ्गा उत्पतन्ति पतन्ति च ॥१९

1704) **असिपत्र**—कीदृशे नरके। असिपत्रवनाकीर्णे खड्गाकारपत्रव्याप्ते। शस्त्रादि सर्वं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ पुनर्नरकमाह।

1705) **शिवाश्व**—शिवा क्रोष्ट्री। श्वा कुर्कुरः। व्याघ्राः प्रसिद्धाः। कङ्का बकाः। तदाद्यैः*। मांसाशिभिः मांसभक्षकैः विहगैः अञ्चिते* युक्ते। वज्रकण्टकसंकीर्णे। पुनः कीदृशे। शूलशाल्मलिः वृक्षविशेषः। तेन दुर्गमे। इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ पुनर्दुःखमाह।

1706) **संभूय**—वज्रज्वलनभूतले। ततः पतन्ति साक्रन्दम्। कुष्टिकामध्ये संभूय। कीदृशाः। ऊर्ध्वपादा अधोमुखाः। इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ पुनर्नरकदुःखमाह।

1707) **अयःकण्टक**—अयःकण्टककीर्णासु लोहकण्टकव्याप्तासु। ध्रुवं* शीघ्रं लोहाग्निभिर्युता वीथयो मार्गाः तासु। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ पुनर्नरकदुःखमाह।

जो नरक तलवारके समान तीक्ष्ण धारयुक्त पत्तोंवाले वृक्षोंके वनोंसे व्याप्त, शस्त्रस्वरूप शूल और तलवारोंसे परिपूर्ण, अतिशय दुर्गन्धसे सहित; चर्वी, रुधिर और क्षुद्र कीड़ेरूप कीचड़से भरा हुआ; शृगाल, कुत्ता, चीता और कंक पक्षियोंसे व्याप्त; मांसभक्षी पक्षियोंसे परिपूर्ण, वज्रमय काँटोंसे सहित तथा शूल व शाल्मलि वृक्षोंसे दुर्गम है; उसके भीतर अनेक आकारवाली जन्मभूमियोंके मध्यमें उत्पन्न होकर प्राणी ऊपर पाँव और नीचे मुखवाले होते हुए रुदनपूर्वक उन ऊपर स्थित जन्मभूमियोंसे वज्राग्निसे सन्तप्त पृथिवीतलपर गिरते हैं ॥१६-१८॥

वे नारकी लोहमय काटोंसे व्याप्त और पिघले हुए लोहकी अग्निके आधारभूत उन स्थानोंमें गिरते हैं और फिर छिन्न-भिन्न होकर बिखरे हुए शरीरके साथ ऊपर उछलते हैं ॥१९॥

---

१. J कंकाद्यैः। २. L S T विहगांचिते, J °गांकितैः, X Y R गान्विते। ३. J संकीर्णैः। ४. M N क्रोष्ट्रिका, S T F X R कोष्टिका, J कुट्टिका। ५. N धृत for द्रुत। ६. T भूतले for वीथिषु।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1708) दुःसहा निष्प्रतीकारा ये रोगाः सन्ति केचन ।
साकल्येनैव[1] गात्रेषु नारकाणां भवन्ति ते ॥२०

1709) अदृष्टपूर्वमालोक्य तस्य रौद्रं भयास्पदम् ।
दिशः सर्वाः समीक्षन्ते वराकाः शरणार्थिनः ॥२१

1710) न तत्र सुजनः को ऽपि[2] न मित्रं न च बान्धवाः ।
सर्वे ते निर्दयाः पापाः क्रूरा भीमोग्रविग्रहाः ॥२२

1711) सर्वे च[3] हुण्डसंस्थानाः स्फुलिङ्गसदृशेक्षणाः ।
विवर्धिताशुभध्यानाः प्रचण्डाश्चण्डशासनाः ॥२३

1712) तत्राक्रन्दरवैः सार्धं श्रूयन्ते कर्कशाः[4] स्वनाः ।
दृश्यन्ते गृध्रगोमायुसर्पशार्दूलमण्डलाः ॥२४

1708) दुःसहाः—साकल्येनैव सामान्येनैव । शेषं सुगमम् ॥२०॥ [अथ तेषां भयमाह ।]

1709) अदृष्ट—तस्य नरकस्य अदृष्टपूर्वमालोक्य । रौद्रं भयास्पदम् । दिशः सर्वाः समीक्ष्यन्ते । वराका नारकाः शरणार्थिनः । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ तत्र मित्रादीनामभावमाह ।

1710) न तत्र—रौद्रा देहाः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ पुनर्दुःखमाह ।

1711) सर्वे च—च पुनः । ते नारकाः हुण्डसंस्थानाः स्फुलिङ्गसदृशेक्षणाः वह्निसमानाक्षाः । पुनः कीदृशाः । विवर्धिताशुभध्यानाः विशेषेण वर्धिताशुभध्यानाः । कीदृशाः । प्रचण्डा रौद्राः । पुनः । चण्डशासनाः रौद्राज्ञाः । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1712) तत्राक्रन्द—तत्र नरके कर्कशस्वनाः* कठोरशब्दाः श्रूयन्ते । आक्रन्दरवैः सार्धं

जो कितने ही रोग दुःसह और प्रतीकारसे रहित (असाध्य) हैं वे समस्तरूपमें नारकियोंके शरीरमें होते हैं ॥२०॥

वहाँ वे दीन नारकी जिसे पूर्व में कभी नहीं देखा था ऐसे रौद्र भयप्रद स्थानको देखकर रक्षाकी दृष्टिसे सब दिशाओंकी ओर देखते हैं ॥२१॥

परन्तु वहाँपर न कोई सज्जन दिखता है, न कोई मित्र दिखता है, और न कोई बन्धु ही दिखते हैं। वहाँ वे सब ही नारकी निर्दय, पापी, दुष्ट और भयानक तीक्ष्ण शरीरवाले होते हैं ॥२२॥

वे सब ही नारकी हुण्डसंस्थानसे सहित, अग्निकणके समान नेत्रोंवाले, वृद्धिंगत अशुभ ध्यानसे संयुक्त, अतिशय क्रोधी और तीव्र शासन करनेवाले होते हैं ॥२३॥

नरकोंमें रोनेके शब्दोंके साथ कठोर शब्द सुने जाते हैं तथा गीध, श्रृगाल, सर्प, सिंह और कुत्ते देखे जाते हैं ॥२४॥

१. J सामान्येनैव । २. M केचित् । ३. L Y ते for च । ४. N T J कर्कशस्वनाः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1713) घ्रायन्ते पूतयो गन्धाः स्पृश्यन्ते¹ वज्रकण्टकाः ।
जलानि पूतिगन्धीनि² नद्यो ऽसृङ्मांसकर्दमाः ॥२५

1714) चिन्तयन्ति तदालोक्य रौद्रमत्यन्तशङ्किताः ।
केयं भूमिः क्व चा³नीताः के वयं केन कर्मणा ॥२६

1715) ततो विदुर्विभङ्गात्स्वं पतितं श्वभ्रसागरे ।
कर्मणात्यन्तरौद्रेण हिंसाद्यारम्भजन्मना ॥२७

1716) ततः प्रादुर्भवत्युच्चैः पश्चात्तापो ऽपि⁴ दुःसहः ।
दहन्नविरतं चेतो वज्राग्निरिव निर्दयः⁵ ॥२८

गोमायुसर्पशार्दूलमण्डलाः दृश्यन्ते । गृध्रः प्रसिद्धः । गोमायुः गोधा । सर्पशार्दूलौ सुगमौ । मण्डलः श्वा । इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1713) **घ्रायन्ते**—घ्रायन्ते पूतयो गन्धाः । वज्रकण्टकाः [स्पृश्यन्ते ।] जलानि पूतिगन्धीनि । नद्यः असृङ्मांसकर्दमाः रुधिरमांसपङ्काः । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1714) **चिन्तयन्ति**—रौद्रमन्यमालोक्य तत् चिन्तयन्ति न शङ्किताः । इयं का भूमिः । च पुनः । क्वानीताः, के वयं, केन कर्मणा । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ [अन्ते ते आत्मानं नरके पतितं जानन्ति इत्याह ।]

1715) **ततो विदुः**—ततस्तस्मात् विदुर्विभङ्गात् अवध्यज्ञानात् श्वभ्रसागरे स्वं पतितं विदुः । अत्यन्तरौद्रेण कर्मणा हिंसाद्यारम्भजन्मना । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ तेषां चिन्तनमाह ।

1716) **ततः प्रादुर्भवति**—ततः पश्चात्तापो ऽतिदुःसहः* प्रादुर्भवति । उच्चैर्यथा । अविरतं निरन्तरं चेतो दहन् । वज्राग्निरिव निर्दयः । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

वहाँपर अतिशय दुर्गन्ध सूँघनेको मिलता है, वज्रमय काँटोंका स्पर्श होता है, सड़ी दुर्गन्धयुक्त पानी पीनेको मिलता है, तथा नदियाँ रुधिर, मांस व कीचड़से व्याप्त उपलब्ध होती हैं ॥२५॥

वहाँ के उस भयानक दृश्यको देखकर अतिशय भयभीत हुए ये नारकी विचार करते हैं कि यह पृथिवी कौन-सी है और हम कौन हैं तथा किस कर्मसे कहाँ लाये गये हैं ॥२६॥

तत्पश्चात् वे विभंगज्ञानके आश्रयसे यह जान लेते हैं कि हम हिंसादिके आरम्भसे उत्पन्न हुए अतिशय दारुण कर्मसे इस नरकरूप समुद्रमें गिराये गये हैं ॥२७॥

तत्पश्चात् उन्हें निर्दय वज्राग्निके समान निरन्तर चित्तको जलानेवाला अधिक दुःसह पश्चात्ताप उत्पन्न होता है ॥२८॥

---

१. P स्पृशन्ते, S स्पर्श्यन्ते । २. T गन्धानि । ३. M वा for चा । ४. All others except P °त्तापोऽति । ५. N निर्दयं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1717) मनुष्यत्वं समासाद्य तदा[1] कैश्चिन्महात्मभिः[2] ।
अपवर्गाय संविग्नैः कर्म पूज्यमनुष्ठितम् ॥२९

1718) विषयाशामपाकृत्य विध्याप्य मदनानलम् ।
अप्रमत्तैस्तपश्चीर्णं धन्यैर्जन्मार्तिशान्तये ॥३०

1719) उपसर्गाग्निपाते ऽपि धैर्यमालम्ब्य चोन्नतम् ।
तैः कृतं तदनुष्ठानं येन सिद्धं समीहितम् ॥३१

1720) प्रमादमदमुत्सृज्य भावशुद्ध्या मनीषिभिः ।
केनाप्यचिन्त्यवृत्तेन स्वर्गो मोक्षश्च साधितः ॥३२

1717) **मनुष्यत्वं**—तदा कैर्महात्मभिः मनुष्यत्वं समासाद्य अपवर्गाय संविग्नैः कर्म पूज्यम् अनुष्ठितम् । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथ पुनरेतदाह ।

1718) **विषयाशाम्**—अप्रमत्तैस्तपश्चीर्णं धन्यैर्जन्मार्तिशान्तये । किं कृत्वा । विषयाशाम-पाकृत्य । पुनः किं कृत्वा । मदनानलं विध्याप्य । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1719) **उपसर्गाग्नि**—उपसर्गाग्निपाते तैस्तदनुष्ठानं कृतम् । किं कृत्वा । उन्नतं धैर्यमा-लम्ब्य । येनानुष्ठानेन समीहितं वाञ्छितं सिद्धम् । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1720) **प्रमादमदम्**—मनीषिभिः पण्डितैः स्वर्गो मोक्षश्च साधितः । किं कृत्वा । प्रमादमदम् उत्सृज्य । कया । भावशुद्ध्या । केनापि अचिन्त्यवृत्तेन अचिन्त्यचारित्रेण । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

तब वे इस प्रकारसे विचार करते हैं—

कितने ही महात्माओंने मनुष्य भवको पाकर उस समय संसारसे भयभीत होते हुए मोक्षकी इच्छासे उसकी प्राप्तिके लिए पूजाके योग्य पवित्र आचरण किया है ॥२९॥

धन्यवादके योग्य उन महापुरुषोंने प्रमादसे रहित हो विषयेच्छाको नष्ट करके तथा कामरूप अग्निको बुझा करके जन्म-मरणरूप संसारके दुःखको शान्त करनेके लिए तपका आचरण किया है ॥३०॥

उन महात्माओंने उपसर्गरूप अग्निमें पड़ जानेपर भी—भयानक उपद्रवके समयमें भी—अतिशय धैर्यका आलम्बन लेकर उस पवित्र अनुष्ठानको किया है कि जिसके द्वारा उन्होंने अपने अभीष्टको सिद्ध ही कर लिया ॥३१॥

ऐसे निर्मल बुद्धिवाले सत्पुरुषोंने प्रमाद और अभिमानको छोड़कर परिणामोंकी निर्मलतासे किसी अचिन्त्य आचरणके द्वारा स्वर्ग और मोक्षको भी सिद्ध कर लिया है ॥३२॥

---

१. M तथा । २. J कैः कर्महाँ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1721) [[1]शिवाभ्युदयदं[2] मार्गं दिशन्तो ऽप्यतिवत्सलाः ।
मयावधीरिताः सन्तो निर्भर्त्स्य कटुकाक्षरैः ॥३२*१]

1722) तस्मिन्नपि मनुष्यत्वे परलोकैकशुद्धिदे[4] ।
मया तत्संचितं कर्म यज्जातं श्वभ्रशंबलम् ॥३३

1723) अविद्याक्रान्तचित्तेन विषयान्धीकृतात्मना ।
चरस्थिराङ्गिसंघातो निर्दोषो ऽपि हतो मया ॥३४

1724) परवित्तामिषासक्तः परस्त्रीसंगलालसः ।
बहुव्यसनविध्वस्तो रौद्रध्यानपरायणः ॥३५

1721) **शिवाभ्युदयदं**—मार्गं दिशन्तो ऽप्यतिवत्सलाः । कीदृशं मार्गम् । शिवाभ्युदयदं कल्याणाभ्युदयदम् । मया अवधीरिताः सन्तः कटुकाक्षरैः निर्भर्त्स्य । इति सूत्रार्थः ॥३२*१॥ अथ कर्मबन्धस्वरूपमाह ।

1722) **तस्मिन्नपि**—तस्मिन्नपि मनुष्यत्वे सति । कीदृशे । परलोकैकशुद्धिदे । मया तत्कर्म संचितम् । कीदृशम् । यत् श्वभ्रसंबलं जातम् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ प्राणिवधफलमाह ।

1723) **अविद्या**—मया चरस्थिरप्राणिसंघातः समूहो हतः निर्दोषो ऽपि । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ रौद्रध्यानं निदर्शयति ।

1724) **परवित्तामिषासक्तः**—रौद्रध्यानपरायणः तत्परः । इति सूत्रार्थः । शेषं सुगमम् ॥३५॥ अथ पुनर्भवस्वरूपमाह ।

मैंने मोक्ष व स्वर्गके अभ्युदयके देनेवाले मार्गका उपदेश करनेवाले अतिशय स्नेही सत्पुरुषोंका कटु शब्दोंके द्वारा झिड़की देकर तिरस्कार किया है ॥३२*१॥

परलोकके लिए अद्वितीय शुद्धि प्रदान करनेवाले उस मनुष्य भवमें भी मैंने उस पाप कर्मको संचित किया है कि जो नरकका पाथेय (मार्गमें खानेके योग्य नाश्ता) नरक अवस्थाकी प्राप्तिका कारण—बन गया है ॥३३॥

मैंने अज्ञानके वश होकर विषयोंमें अन्ध होते हुए निरपराध भी त्रस और स्थावर प्राणियोंके समूहका घात किया है ॥३४॥

पूर्व भवमें जो मैं चिरकाल तक परधनरूप मांसमें आसक्त, परस्त्रीके सम्भोगका अभिलाषी, बहुत व्यसनोंसे विनष्ट—अतिशय व्यसनी—और रौद्रध्यानमें तत्पर होकर स्थित रहा हूँ उसका यह फल अनन्त पीड़ासे निःसारभूत व दुष्ट परिणामवाले नरकरूप समुद्रमें हुआ है ॥३५–३६॥

---

१. P om. this verse । २. M Y °दयजं । ३. M N विराध्य कटु° । ४. M सिद्धिदे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1725) यत्स्थितः प्राक् चिरं कालं तस्यैतत्फलमागतम् ।
अनन्तयातनासारे दुरन्ते श्वभ्रसागरे[1] ॥३६

1726) यन्मया[2] वञ्चितो लोको वराको मूढमानसः ।
उपायैर्बहुभिर्निन्द्यैः[3] स्वाक्षसंतर्पणार्थिना ॥३७

1727) [[4]कृतः पराभवो येषां धनभूस्त्रीकृते मया ।
घाताश्च ते ऽत्र संप्राप्ताः कर्तुं तस्याद्य निष्क्रियाम्[5] ॥३७*१]

1728) ये[6] तदा शशकप्राया मया बलवता हताः ।
ते ऽद्य[7] जाता मृगेन्द्राभा मां हन्तुं[8] विविधैर्वधैः[9] ॥३८

1725) यत्स्थितः—यत् प्राक् चिरकालं स्थितः तस्य एतत् फलम् आगतम् । क्व । श्वभ्रसागरे । अनन्तयातनासारे अनन्तपीडासारे । दुरन्ते । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ स्वाक्षलाम्पट्यमाह ।

1726) यन्मया—स्वाक्षसमर्पणार्थिना स्वेन्द्रियसंतर्पणार्थिना । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ पूर्वभवबन्धस्वरूपमाह ।

1727) कृतः पराभवः—मया पराभवो येषां घातः धनभूस्त्रीकृते । अत्र भवे । अद्य संप्राप्ताः । किं कर्तुम् । निष्क्रियं कर्तुम् । इति सूत्रार्थः ॥३७*१॥ अथ पुनर्वधस्वरूपमाह ।

1728) ये तदा—मृगेन्द्राभाः सिंहाः । विविधैः नानाप्रकारैः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ मनुष्यभवोचितमाह ।

अपनी इन्द्रियोंको सन्तुष्ट करनेकी इच्छासे बहुत-से निन्द्य उपायोंके द्वारा जो मैंने बेचारे मूढबुद्धि जनको ठगा है तथा धन, भूमि और स्त्रीके निमित्त जिन लोगोंका मैंने तिरस्कार किया है व जिनका घात भी किया है वे आज यहाँ उसका प्रतीकार करनेके लिए प्राप्त हुए हैं ॥३७-३७*१॥

जो प्राणी उस समय खरगोशके समान दुर्बल थे उनका मैंने बलवान् होनेसे घात किया है। वे आज अनेक प्रकारके वधों (प्रहारों) के द्वारा मेरा घात करनेके लिए सिंहके समान बलवान् हुए हैं ॥३८॥

---

१. S F R नरकार्णवे, J मोहसागरे । २. T om. this verse । ३. S F R पापैः for निन्द्यैः । ४. P om. this verse । ५. M L S निष्क्रियं, N निष्क्रयं, T निष्क्रयः । ६. P reads this verse in between the two lines of the verse No. 44 । ७. M N T तेऽत्र । ८. M J हन्तुं मां । ९. T बलैः for वधैः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1729) मानुष्ये ऽपि स्वतन्त्रेण यत्कृतं नात्मनो हितम् ।
तदद्य किं करिष्यामि दैवपौरुषवर्जितः ॥३९

1730) मदान्धेनातिपापेन[1] निस्त्रिंशेनास्तबुद्धिना ।
विराध्याराध्यसंतानं कृतं कर्मातिनिन्दितम् ॥४०

1731) [[2]यत्पुरग्रामविन्ध्येषु मया क्षिप्तो हुताशनः ।
जलस्थलबिलाकाशचारिणो जन्तवो[3] हताः ॥४०*१]

1732) कृन्तन्ति मम मर्माणि स्मर्यमाणान्यनारतम् ।
प्राचीनान्यद्य कर्माणि क्रकचानीव निर्दयम् ॥४१

1729) मानुष्ये ऽपि—दैवपौरुषवर्जितः भाग्योद्यमरहितः। शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथैतदेवाह ।

1730) मदान्धेन—निस्त्रिंशेन निर्दयेन। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथ पुनः स्वनिन्दामाह ।

1731) यत्पुर—यत् मया पुरग्रामविन्ध्येषु। तत्र विन्ध्याः पर्वताः। तेषु हुताशनः क्षिप्तः। जन्तवो हताः। कीदृशाः। जलस्थलबिलाकाशचारिणः। इति सूत्रार्थः ॥४०*१॥ अथ पूर्वकर्मनिन्दामाह ।

1732) कृन्तन्ति—निर्दयं यथा स्यात् तथा। क्रकचानि प्रसिद्धानि। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

मनुष्य पर्यायको पा करके जब मैं स्वतन्त्र था तब तो मैंने अपना हित कुछ भी नहीं किया। अब आज जब मैं यहाँ दैव और पुरुषार्थ दोनोंसे ही वंचित हूँ तब भला क्या अपना हित कर सकूँगा ? कुछ भी नहीं ॥३९॥

अभिमानमें अन्ध, पापी, निर्दय और दुर्बुद्धि होकर मैंने पूज्य जनकी परम्पराकी विराधना करके अतिशय निन्दित कार्य किया है ॥४०॥

मैंने जो नगर, गाँव और पर्वत आदिमें आग लगायी है तथा जल, स्थल, बिल और आकाशमें संचार करनेवाले प्राणियोंका घात किया है उन सब दुष्टतापूर्ण कृत्योंका जब स्मरण करता हूँ तब वे सब पूर्वके कृत्य करोंतके समान निर्दयतापूर्वक मेरे मर्मोंका छेदन करते हैं ॥४०*१-४१॥

१. All others except P M °नापि। २. P om this Verse, but omission indicated।
३. M N चारिणो यद्धताङ्गिनः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1733) किं करोमि क्व गच्छामि कर्मजाते पुरःस्थिते ।
शरणं कं [1]प्रपश्यामि वराको दैववञ्चितः ॥४२

1734) यन्निमेषमपि स्मर्तुं द्रष्टुं श्रोतुं न शक्यते ।
तद्दुःखमत्र सोढव्यं वर्धमानं कथं मया ॥४३

1735) एतान्यदृष्टपूर्वाणि बिलानि[2] च कुलानि च ।
यातनाश्च महाघोरा नारकाणां मयेक्षिताः ॥४४

1736) विषज्वलनसंकीर्णं वर्धमानं प्रतिक्षणम् ।
मम मूर्ध्नि विनिक्षिप्तं दुःखं दैवेन निर्दयम् ॥४५

1737) न दृश्यन्ते ऽत्र ते भृत्या न पुत्रा न च बान्धवाः ।
येषां कृते मया कर्म कृतं स्वस्यैव घातकम् ॥४६

1733) किं करोमि—दैववञ्चितः कर्मवञ्चितः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४२॥ अथवा एतदेवाह ।

1734) यन्निमेषमपि—मया वार्धिमानैः (?) अत्र तद् दुःखं सोढव्यम् । यत् निमेषमपि द्रष्टुं स्मर्तुं श्रोतुं न शक्यते । इति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथ तस्यासह्यतामाह ।

1735) एतान्यदृष्ट—मया नारकाणाम् एतानि पूर्वोक्तानि । ईक्षिताः दृष्टाः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ पुनर्नरकदुःखमाह ।

1736) विषज्वलन—दैवेन दुःखं निर्दयं निक्षिप्तं मम मूर्ध्नि । कीदृशम् । विषज्वलनसंकीर्णम् । पुनः । प्रतिक्षणं वर्धमानम् । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ पुनः पश्चात्तापमाह ।

1737) न दृश्यन्ते—येषां कृते कारणाय स्वस्यैव घातकं कर्म कृतं मया । पूर्वार्धं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४६॥ अथ पुनः कर्मवैचित्र्यमाह ।

दैवसे ठगा गया मैं दीन प्राणी अब यहाँ पूर्वसंचित कर्मसमूहके सामने उपस्थित होनेपर क्या करूँ, कहाँ जाऊँ और किसकी शरण देखूँ ? ॥४२॥

जिस दुःखका क्षणभर भी स्मरण करना, देखना और सुनना भी शक्य नहीं है उस दुःखको मैं यहाँ समुद्रके प्रमाणसे—अपरिमित रूपमें—कैसे सह सकूँगा ? ॥४३॥

नारकियोंके जिन बिलोंको, कुलोंको और अतिशय भयानक वेदनाओंको पहले कभी नहीं देखा था उन्हें मैं यहाँ देख रहा हूँ—अनुभव कर रहा हूँ ॥४४॥

दैवने निर्दयतापूर्वक मेरे शिरपर विष और अग्निसे व्याप्त उस दुःखको पटका है जो प्रतिसमय बढ़ रहा है ॥४५॥

जिन भृत्यादिकोंके लिए मैंने अपनेको ही नष्ट करनेवाले महान् संकटमें डालनेवाले—कार्यको किया है उनमें यहाँ न वे भृत्य दिखते हैं, न पुत्र दिखते हैं, और न बन्धु भी दिखते

१. M N कं प्रपद्यामि, X Y किं करिष्यामि । २. Y बलानि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1738) न कलत्राणि मित्राणि न पापप्रेरको[1] जनः ।
पदमप्येकमायातो[1] मया सार्धं गतत्रपः[1] ॥४७

1739) आश्रयन्ति यथा वृक्षं फलिनं पत्रिणः पुरा ।
फलापाये पुनर्यान्ति तथा ते[2] स्वजना गताः ॥४८

1740) शुभाशुभानि कर्माणि यान्त्येव सह देहिभिः ।
स्वार्जितानीति यत्प्रोचुः सन्तस्तत्सत्यतां गतम् ॥४९

1741) धर्म एव समुद्धर्तुं शक्तो ऽस्माच्छ्वभ्रसागरात् ।
न स स्वप्ने ऽपि पापेन मया सम्यक् पुरार्जितः ॥५०

1738) न कलत्राणि—पापप्रेरको जनो मया सार्धम् एकमपि पदं न यातः। कीदृशः। गतत्रपः निर्लज्जः। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥४७॥ अथ स्वजनानां स्वार्थित्वमाह।

1739) आश्रयन्ति—पत्रिणः पक्षिणः। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥४८॥ अथ परलोकादौ स्वकर्म यातीत्याह।

1740) शुभाशुभानि —सन्तः सत्पुरुषाः यत् प्रोचुः कथयामासुः तत् सत्यतां गतं प्राप्तम्। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥४९॥ अथ पुनः पश्चात्तापमाह।

1741) धर्म एव—मया पापेन स्वप्ने ऽपि स धर्मः पुरा न सम्यगर्जितः उपार्जितः। पूर्वार्धं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥५०॥ अथ पुनरेतदेवाह।

हैं। स्त्रियाँ, मित्र और निर्लज्ज होकर मुझे पापकी ओर प्रेरित करनेवाले अन्य जन भी इस समय मेरे साथ एक कदम भी नहीं आये हैं ॥४६-४७॥

जिस प्रकार पक्षी किसी फलयुक्त वृक्षको देखकर पहले तो उसका आश्रय लेते हैं और जब उसके फल समाप्त हो जाते हैं तब फिर उसको छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं उसी प्रकार कुटुम्बीजन भी जबतक उनका स्वार्थ सिद्ध होता है तबतक रहते हैं और फिर उसकी सम्भावना न रहनेपर छोड़कर चले जाते हैं—संचित पाप-कर्मका उदय आनेपर प्राप्त हुए घोर दुःखका सहभागी कोई भी नहीं होता है ॥४८॥

सत्पुरुष जो यह कहा करते थे कि प्राणियोंके साथ अपने पूर्वोपार्जित शुभ और अशुभ कर्म ही केवल जाते हैं, वह उनका कहना सत्यताको प्राप्त हुआ है ॥४९॥

इस नरकरूप समुद्रसे केवल एक धर्म ही उद्धार कर सकता है। परन्तु मुझ जैसे पापीने उस धर्मका उपार्जन योग्य रीतिसे स्वप्नमें भी नहीं किया है ॥५०॥

---

१. Y प्रेरका जनाः........मायाता........त्रपाः। २. M N तथैते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1742) सहायः को ऽपि कस्यापि नाभून्न[1] च भविष्यति ।
मुक्त्वैकं[2] प्राक्कृतं कर्म सर्वसत्त्वाभिनन्दकम् ॥५१

1743) तत्कुर्वन्त्यधमाः कर्म जिह्वोपस्थादिदण्डिताः ।
येन श्वभ्रेषु पच्यन्ते कृतार्तकरुणस्वनाः ॥५२

1744) चक्षुरुन्मेषमात्रस्य सुखस्यार्थे कृतं मया ।
तत्पापं येन संपन्ना अनन्ता दुःखराशयः ॥५३

1745) याति सार्धं ततः पाति करोति नियतं हितम्[3] ।
हन्ति दुःखं सुखं दत्ते यः स बन्धुर्न पोषितः[4] ॥५४

1742) सहायः—एकं प्राक्कृतं कर्म मुक्त्वा त्यक्त्वा । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५१॥ अथ दुष्कर्मफलमाह ।

1743) तत्कुर्वन्ति—अधमाः तत्कर्म कुर्वन्ति । कीदृशा अधमाः । जिह्वोपस्थादिदण्डिताः । जिह्वा प्रसिद्धा । उपस्थं लिङ्गादि । तैर्दण्डिताः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५२॥ अथ पुनर्दुःखं भावयति ।

1744) चक्षुरुन्मेष—येन पापेन अनन्ता दुःखराशयः संपन्नाः प्राप्ताः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५३॥ अथ धर्मस्वरूपमाह ।

1745) याति सार्धं—यः स धर्मः बन्धुः । न पोषितः बन्धुः भवति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५४॥ अथैतदेवाह ।

सब ही प्राणियोंका अभिनन्दन करनेवाले—उन्हें सुख देनेवाले—एक पूर्वकृत कर्मको छोड़कर अन्य कोई भी किसीका न कभी सहायक हुआ है और न होगा ही ॥५१॥

हीन प्राणी जिह्वा और जननेन्द्रियसे पीड़ित होकर उस कृत्यको किया करते हैं कि जिसके द्वारा करुणापूर्ण आक्रन्दन करते हुए नरकोंमें पकाये जाते हैं—नरकोंमें नारकी होकर असह्य दुःखको सहते व विलाप करते हैं ॥५२॥

मैंने चक्षुके उन्मेष मात्र—नेत्रपलकके परिक्षेपरूप क्षणिक—सुखके लिए वह पाप किया है कि जिसके कारण यहाँ अनन्त दुःखोंकी राशियाँ प्राप्त हुई हैं ॥५३॥

जो (धर्म) प्राणीके साथ जाता है, दुःखसे रक्षण करता है, सदा हित ही किया करता है, दुःखको नष्ट करता है, और सुखको देता है; वह यथार्थमें बन्धु (हितैषी) है। परन्तु जिनका भरण-पोषण किया जाता है वे कुटुम्बीजन वस्तुतः बन्धु नहीं हैं, क्योंकि, उनमें बन्धुत्वका उपर्युक्त लक्षण नहीं पाया जाता है ॥५४॥

---

१. M N न चा भून्न । २. M मुक्त्वैवं....सर्वः सर्वाभि । ३. X Y धर्मो for बन्धुः । ४. N L S T F R योषितः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1746) परिग्रहमहाग्राहविध्वस्ते नार्तचेतसा ।
न दृष्टा यमशार्दूलचपेटा जीवनाशिनी ॥५५

1747) पातयित्वा महाघोरे मां श्वभ्रे ऽचिन्त्यवेदने ।
क्व गतास्ते ऽधुना पापा मद्वित्तफलभोजिनः ॥५६

1748) इत्यजस्रं सुदुःखार्ता विलापमुखराननाः ।
शोचन्ते पापकर्माणि वसन्ति नरकालये ॥५७

1749) [यावन्ति सन्ति रोमाणि शरीरे देहधारिणः ।
तावन्तो नरके कल्पा वसन्ति पिशिताशनाः ॥५७*१]

1746) **परिग्रह**—रे जीव, त्वया यमशार्दूलचपेटा न दृष्टा। कीदृशी। जीवनाशिनी। कीदृशेन। आर्तचेतसा। कीदृशेन। परिग्रह एव महाग्राहः तेन संग्रस्तेन* । इति सूत्रार्थः ॥५५॥ अथैतदेवाह।

1747) **पातयित्वा**—ते पापा मद्वित्तफलभोगिनः* । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५६॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1748) **इत्यजस्रं**—नारकाः पापकर्माणि शोचन्तः* नरकालये । इति अमुना प्रकारेण अजस्रं निरन्तरं सुदुःखार्ताः । पुनः कीदृशाः । विलापमुखराननाः । इति सूत्रार्थः ॥५७॥ अथ पुनर्नरकदुःखमाह ।

1749) **यावन्ति**—देहिनां शरीरे यावन्ति लोमानि* सन्ति तावन्तो नरके कल्पाः पिशिताशनाः वसन्ति । इति सूत्रार्थः ॥५७*१॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

परिग्रहरूप महाग्राह (हिंसक जलजन्तु) के वशीभूत होकर चित्तमें पीड़ाका अनुभव करते हुए मैंने जीवितको नष्ट करनेवाली यमरूप सिंहकी थप्पड़को नहीं देखा—परिग्रहमें आसक्त होकर पापाचरण करते हुए मैंने मृत्युका भी विचार नहीं किया ॥५५॥

मेरे द्वारा उपार्जित धनके फलका उपभोग करनेवाले वे कुटुम्बीजन मुझे इस अचिन्त्य वेदनावाले अतिशय भयानक नरकमें गिराकर अब इस समय कहाँ चले गये हैं—जिस प्रकार वे मेरे द्वारा उपार्जित धनके फलके भोगनेमें सहभागी रहे हैं उसी प्रकार अब उससे उत्पन्न इस पापके फलके भोगनेमें कोई भी सहभागी नहीं हो रहा है ॥५६॥

इस प्रकार अतिशय दुःखसे पीड़ित होकर मुखसे करुणापूर्ण विलाप करनेवाले वे नारकी नरकभूमिमें रहते हैं और शोक करते हैं ॥५७॥

देहधारीके शरीरपर जितने केश हैं उतने कल्पतक नरकमें खून पीते हुए रहते हैं ॥५७*१॥

१. M संग्रस्तेनात्त, S F संग्रस्तेनास्त, N L T J X Y R संग्रस्तेनार्त । २. P नाशनी । ३. N L T J X R भोगिनः, Y भाजिनः । ४. M N L T Y शोचन्तः । ५. M N T कर्माणो । ६. P J X R om. । ७. N L S T F लोमानि....तावतो....कल्पान् । ८. N T पिशिताशिनः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1750) इति चिन्तानलेनोच्चैर्दह्यमानस्य ते तदा ।
धावन्ति शरशूलासिकराः क्रोधाग्निदीपिताः ॥५८

1751) वैरं पराभवं पापं स्मारयित्वा पुरातनम् ।
निर्भर्त्स्य कटुकालापैः पीडयन्त्यतिनिर्दयम् ॥५९

1752) उत्पाटयन्ति नेत्राणि चूर्णयन्त्यस्थिसंचयम् ।
दारयन्त्युदरं क्रुद्धास्त्रोटयन्त्यन्त्रनालिकाम् ॥६०

1753) निष्पीडयन्ति यन्त्रेषु दलन्ति विषमोपलैः ।
शाल्मलीषु निघर्षन्ति कुम्भीषु क्वाथयन्ति च ॥६१

1754) असह्यदुःखसंतानदानदक्षाः कलिप्रियाः ।
तीक्ष्णदंष्ट्राः करालास्या भिन्नाञ्जनसमप्रभाः ॥६२

1750) **इति चिन्तानलेन**—शरशूलासिकराः धावन्ति । कीदृशाः । क्रोधाग्निदीपिताः । इति अमुना चिन्तानलेन उच्चैर्दह्यमानस्य ते तदा । इति सूत्रार्थः ॥५८॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1751) **वैरं पराभवं**—कटुकालापैः कटुकवचनैः । इति सूत्रार्थः ॥५९॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1752) **उत्पाटयन्ति**—नेत्राणि उत्पाटयन्ति । अस्थिसंचयं चूर्णयन्ति । उदरं क्रुद्धाः दारयन्ति । आन्त्रमालिकां[1] [त्रोटयन्ति] । इति सूत्रार्थः ॥६०॥ [पुनस्तदेवाह ।

1753) **निष्पीडयन्ति**—यन्त्रेषु निष्पीडयन्ति । विषमोपलैः कठिनपाषाणैः दलन्ति । शाल्मलीषु निघर्षन्ति । कुम्भीषु कुम्भीपाकेषु क्वाथयन्ति उत्कलयन्ति । इति सूत्रार्थः ॥६१॥] अथ पुनः कीदृशा नारकाः ।

1754) **असह्यदुःख**—असह्यदुःखसंतानदानदक्षाः असहनीयदुःखसमूहदानचतुराः । करालास्याः

इस प्रकार चिन्तारूप अग्निसे जलते हुए उस नव नारकीकी ओर उस समय वे पुराने नारकी क्रोधरूप अग्निसे सन्तप्त होकर हाथमें बाण, शूल और तलवार आदिको लिये हुए दौड़ते हैं तथा पूर्व भवके वैर, अपमान एवं पापका स्मरण कराकर कटुक वचनोंके द्वारा भर्त्सना करते हुए उसे अतिशय निर्दयतापूर्वक पीड़ित करते हैं ॥५८-५९॥

वे दुष्ट नारकी उसके नेत्रोंको उखाड़ते हैं, हड्डियोंके समूहको चूर्णित करते हैं, उदरको फाड़ते हैं, और आँतोंके समूहको तोड़ते हैं ॥६०॥

तथा वे उसे यन्त्रों (कोल्हू आदि) में डालकर पीलित करते हैं, विषम (नुकीले) पत्थरोंके द्वारा खण्डित करते हैं, काँटेदार सेमरके वृक्षोंपरसे घसीटते हैं, और कुम्भियों (क्षुद्र घड़ों) में डालकर काढ़ा बनाते हैं—पकाते हैं ॥६१॥

असह्य दुःखोंकी परम्पराके देनेमें चतुर, युद्धमें अनुरक्त, तीक्ष्ण दाढ़ोंसे संयुक्त, भयानक मुखसे सहित, भिन्न अंजनके समान कान्तिवाले—अतिशय काले, कृष्णलेश्यासे उद्धत—दुष्ट

१. All others except P °मालिकां ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1755) कृष्णलेश्योद्धताः[1] पापा रौद्रध्यानैकभाविताः[2] ।
भवन्ति क्षेत्रदोषेण सर्वे ते नारकाः खलाः ॥६३

1756) वैक्रियिक[3]शरीरत्वाद्विक्रियन्ते यदृच्छया ।
यन्त्राग्निश्वापदाङ्गैस्ते[4] हन्तुं चित्रैर्वधैः परान् ॥६४

1757) न तत्र बान्धवः स्वामी मित्रं[5] भृत्याङ्गनाङ्गजाः ।
अनन्तयातनासारे नरके ऽत्यन्तभीषणे ॥६५

1758) तत्र ताम्रमया[6] गृध्रा लोहतुण्डाश्च वायसाः ।
दारयन्त्येव मर्माणि चञ्चुभिर्नखरैः खरैः ॥६६

रौद्रमुखाः। पुनः कीदृशाः। भिन्नाञ्जनसमप्रभाः। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥६२॥ अथ पुनर्नारकाणां स्वरूपमाह।

1755) **कृष्णलेश्योद्धताः**—खला दुर्जनाः। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥६३॥ अथ पुनर्नरकस्वरूपमाह।

1756) **वैक्रियिक**—ते नारकाः यदृच्छया स्वभावेन विक्रियन्ते वैक्रियत्वेन संभवन्ति। कस्मात्। वैक्रियत्वात्। परान् स्वान्यान् चित्रैर्नानाप्रकारैः वधैः हन्तुं तैः यन्त्राग्निश्वापदाङ्गैः। इति सूत्रार्थः ॥६४॥ अथ पुनर्नरके परिजनाभावमाह।

1757) **न तत्र**—तत्र नरके बान्धवाः भृत्याङ्गनाङ्गजाः न। कीदृशे नरके। अनन्तयातनासारे अनन्तपीडास्थाने। पुनः कीदृशे। अत्यन्तभीषणे रौद्रे। इति सूत्रार्थः ॥६५॥ अथ तत्रस्थजीवानां स्वरूपमाह।

1758) **तत्र ताम्र**—तत्र नरके गृध्राः ताम्रमयाः। च पुनः। लोहतुण्डाः वायसाः। मर्माणि दारयन्त्येव। कैः। चञ्चुभिः। खरैः कठोरैः नखरैः। इति सूत्रार्थः ॥६६॥ अथ पुनर्नरकदुःखमाह।

परिणामोंसे परिणत, पापी और एक मात्र रौद्रध्यानका चिन्तन करनेवाले वे नारकी क्षेत्रके दोषसे स्वभावतः दुष्ट होते हैं ॥६२-६३॥

वैक्रियिक शरीरसे संयुक्त होनेके कारण वे नारकी अनेक प्रकारके घातों द्वारा दूसरोंका घात करनेके लिए अपनी इच्छानुसार यन्त्र, अग्नि और श्वापद (हिंसक पशु) आदिके शरीर स्वरूपसे अपने शरीरकी विक्रिया करते हैं ॥६४॥

अनन्त पीड़ासे निःसार (अथवा अनन्त पीड़ारूप मूसलधार वर्षासे सहित) और अतिशय भयानक उस नरकमें बन्धु, स्वामी, मित्र, सेवक, स्त्री और पुत्र कोई भी नहीं दिखते ॥६५॥

वहाँ ताँबेके गीध पक्षी और लोहेके मुखवाले काक पक्षी तीक्ष्ण चोंचों और नखोंके द्वारा मर्मस्थानोंका विदारण करते हैं ॥६६॥

---

१. J om. । २. T °लेश्याधमाः । ३. P वैक्रियक । ४. M N °पदाङ्गैः स्वैः । ५. S X Y R मित्रभृत्या, J स्वामी न भृत्या नाङ्गना° । ६. All others except P M N ताम्रमुखा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1759) कृमयः पूतिकुण्डेषु वज्रसूचीसमाननाः ।
भित्त्वा चर्मास्थिमांसानि पिबन्त्याकृष्य[1] लोहितम् ॥६७

1760) बलाद्विदार्य संदंशैर्वदनं क्षिप्यते[2] क्षणात् ।
विलीनं प्रज्वलत्ताम्रं यैः पीतं मद्यमुद्धतैः ॥६८

1761) परमांसानि यैः पापैर्भक्षितान्यत्र निर्दयैः ।
शूलपक्वानि मांसानि तेषां खादन्ति नारकाः ॥६९

1762) यैः[3] प्राक्परकलत्राणि सेवितान्यात्मवञ्चकैः ।
योज्यन्ते प्रज्वलन्तीभिः स्त्रीभिस्ते ताम्रजन्मभिः[4] ॥७०

1763) न सौख्यं चक्षुरुन्मेषमात्रमप्युपलभ्यते ।
नरके नारकैर्दीनैर्हन्यमानैः परस्परम् ॥७१

1759) **कृमयः**—पूतिकुण्डेषु राध्यकुण्डेषु कृमयः । कीदृशाः । वज्रसूचीसमाननाः । भित्त्वा चर्मास्थिमांसानि भित्त्वा लोहितं पिबन्त्याकृष्येति सूत्रार्थः ॥६७॥ अथ मद्यपानां दुःखमाह ।

1760) **बलाद्विदार्य**—बलात् विदार्य भित्त्वा । संदंशैः वदनं क्षिप्यते क्षणात् । प्रज्वलत् ताम्रं विलीनम् । यैरुद्धतैर्मद्यं पीतम् । इति सूत्रार्थः ॥६८॥ अथ पुनर्नारकाणां स्वरूपमाह ।

1761) **परमांसानि**—[परमांसानि अन्येषां प्राणिनां मांसानि । पापैः दुष्टैः । शूलपक्वानि शूले पक्वानि । नारकाः नरकस्थिताः प्राणिनः । इति सूत्रार्थः] ॥६९॥ अथैतदेवाह ।

1762) **यैः प्राक्**—आत्मवञ्चकैः स्वात्मवञ्चकैः योज्यन्ते ते । ताम्रजन्मभिः स्त्रीभिः प्रज्वलन्तीभिः । इति सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७०॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

1763) **न सौख्यं**—चक्षुरुन्मेषमात्रमपि सौख्यं नोपलभ्यते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७१॥ अथ नरकदुःखमुपसंहरति ।

तथा अतिशय दुर्गन्धवाले कुण्डोंमें वज्रकी सुईके समान मुखसे संयुक्त कीड़े (जोंक आदि) नारकियोंके चमड़े, हड्डियों और मांसको नोंचते व रुधिरको खींचकर पीते हैं ॥६७॥

जिन जीवोंने उद्धत होकर मद्यका पान किया है उनके मुखको संडासियोंके द्वारा फाड़कर दूसरे नारकी उसके भीतर तपकर पिघले हुए ताँबेको बलपूर्वक क्षणभरमें डाल देते हैं ॥६८॥

जिन पापियोंने यहाँ निर्दयतापूर्वक दूसरे प्राणियोंके मांसका भक्षण किया है उनके मांसको काँटेसे पकाकर वहाँ अन्य नारकी खाते हैं ॥६९॥

जिन कामीजनोंने पूर्व भवमें अपने आपको धोखा देकर परस्त्रियोंका सेवन किया है, दूसरे नारकी उनका संयोग जलती हुई ताँबेकी स्त्रियोंके साथ कराते हैं ॥७०॥

नरकमें परस्पर एक दूसरेके द्वारा घात किये जानेवाले नारकी जीव नेत्रके उन्मेष बराबर—क्षणभरके लिए भी—सुखको नहीं प्राप्त करते हैं ॥७१॥

---

१. M N पचन्त्याकृष्य । २. L F S X Y R °न्यत्ति° । ३. Y ये । ४. M जन्मनि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1764) किमत्र बहुनोक्तेन जन्मकोटिशतैरपि ।
केनापि शक्यते वक्तुं न दुःखं नरकोद्भवम् ॥७२

1765) विस्मृतं यदि केनापि कारणेन क्षणान्तरे ।
स्मारयन्ति तदाभ्येत्य पूर्ववैरं सुराधमाः ॥७३

1766) बुभुक्षा जायते ऽत्यन्तं[1] नरके[2] तत्र देहिनाम् ।
यां न शामयितुं[3] शक्तः पुद्गलप्रचयो ऽखिलः ॥७४

1767) तृष्णा भवति या तेषु वाडवाग्निरिवोल्बणा ।
न सा शाम्यति निःशेषैः[4] पीतैरप्यम्बुराशिभिः ॥७५

1768) बिन्दुमात्रं न तैर्वारि प्राप्यते पातुमातुरैः ।
तिलमात्रो ऽपि नाहारो ग्रसितुं लभ्यते हि तैः ॥७६

1764) **किमत्र**—अत्र किं बहुनोक्तेन । नरकोद्भवं दुःखं केनापि वक्तुं न शक्यते । कैः । जन्मकोटिशतैरपि । इति सूत्रार्थः ॥७२॥ अथ पूर्ववैरस्मरणपूर्वंदुःखमाह ।

1765) **विस्मृतं**—सुराधमाः पूर्ववैरं तदाभ्येत्यागत्य । स्मारयन्ति क्षणान्तरम् । यदि केनापि कारणेन विस्मृतम् । इति सूत्रार्थः ॥७३॥ अथ नरके बुभुक्षा वर्तते इत्याह ।

1766) **बुभुक्षा**—तत्र नरकदेहिनां बुभुक्षा क्षुधा अत्यर्थं* जायते । यां न असमापयितुम्* असंपूर्णां कर्तुं पुद्गलप्रचयो अखिलः पूर्णः । इति सूत्रार्थः ॥७४॥ अथ तृष्णामाह ।

1767) **तृष्णा भवति**—तेषु नारकेषु या तृष्णा भवति । कीदृशी । वडवाग्निरिवोल्बणा । सा तृष्णा न शाम्यति नोपशाम्यति । निःशेषैरम्बुराशिभिरपि पीतैः । इति सूत्रार्थः ॥७५॥ अथ तदेवाह ।

1768) **बिन्दुमात्रं**—ग्रसितुं भक्षितुं हि तैः नो लभ्यते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७६॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

यहाँ बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? कारण यह कि वहाँ इतना अधिक दुःख है कि यदि कोई नरकमें उत्पन्न होनेवाले उस दुःखका वर्णन सैकड़ों करोड़ भवोंके द्वारा भी करना चाहे तो भी वह नहीं किया जा सकता ॥७२॥

यदि कोई नारकी कारणवश क्षणभरके लिए उस दुःखको भूल भी जाये तो असुरकुमार जातिके कुछ निकृष्ट देव आकर उस समय उसे पूर्व वैरका स्मरण करांया करते हैं ॥७३॥

वहाँ नरकोंमें नारकी जीवोंको इतनी अधिक भूख उत्पन्न होती है कि उसको शान्त करनेके लिए समस्त पुद्गलोंका समूह भी समर्थ नहीं हो सकता है ॥७४॥

उन नरकोंमें प्राणियोंको वडवाग्निके समान इतनी उत्कट प्यास उत्पन्न होती है कि वह समस्त समुद्रके भी पानीके पी लेनेपर शान्त नहीं हो सकती है ॥७५॥

परन्तु पानी पीनेके लिए व्याकुल हुए उन नारकियोंको वहाँ बूँदके बराबर भी जल

१. M N जायते तत्र, L S T F J X Y R °तेऽत्यर्थं । २. M N T X नरकेत्यन्त । ३. P शमयितुं ।
४. All others except P M निःशेष° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1769) तिलादप्यतिसूक्ष्माणि कृतं[1] खण्डानि निर्दयैः ।
वपुर्मिलति वेगेन पुनस्तेषां विधेर्वशात् ॥७७

1770) यातनारु[2]क्शरीरायुर्लेश्यादुःखभयादिकम् ।
वर्धमानं[3] विनिश्चेयमधो ऽधः श्वभ्रभूमिषु ॥७८

1771) मध्यभागस्ततो मध्य आस्ते[4] ऽसौ झल्लरीनिभः ।
यत्र द्वीपसमुद्राणां व्यवस्था वलयाकृतिः ॥७९

1772) जम्बूद्वीपादयो द्वीपा लवणोदादयो ऽर्णवाः ।
स्वयंभूरमणान्तास्ते[5] प्रत्येकं द्वीपसागराः ॥८०

1769) **तिलादपि**—निर्दयैः तिलादपि अतिसूक्ष्माणि कृतखण्डानि । पुनस्तेषां वपुः वेगेन मिलति । कस्मात् । विधेर्वशात् । इति सूत्रार्थः ॥७७॥ अथ नरकेषु एतत्सर्वं भवतीत्याह ।

1770) **यातनारुक्**—श्वभ्रभूमिषु नरकभूमिषु यातना पीडा । तदादि सर्वं वर्धमानं निश्चेयम् । अबोधः अज्ञानमपीति सूत्रार्थः ॥७८॥ अथ नरकाणां व्यवस्थानम् आह ।

1771) **मध्यभागः**—ततो मध्यभागः मध्ये असौ आस्ते । कीदृशः । झल्लरीनिभः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७९॥ [अथ द्वीपसागरानाह ।

1772) **जम्बूद्वीपादयः**—लवणोदादयः क्षारसमुद्रादयः अर्णवाः समुद्राः । स्वयंभूरमणान्ताः स्वयंभूरमणपर्यन्ताः । इति सूत्रार्थः ॥८०॥] अथ द्वीपानां स्वरूपमाह ।

नहीं प्राप्त होता है । इसी प्रकार अपरिमित भूखके होनेपर भी उन्हें खानेके लिए तिलके कणके बराबर भी आहार नहीं प्राप्त होता है ॥७६॥

दुष्ट नारकियोंके द्वारा अन्य नारकियोंका शरीर तिलके दानेसे भी छोटे खण्डोंमें खण्डित कर दिया जाता है, फिर भी वह कर्मके वश शीघ्र ही फिरसे मिल जाता है ॥७७॥

नीचे-नीचेकी पृथिवियोंमें—पहलीकी अपेक्षा दूसरी और दूसरीकी अपेक्षा तीसरी आदिमें—वेदना, रोग, शरीरकी ऊँचाई, आयु, लेश्या, दुःख और भय आदि उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होते गये हैं ॥७८॥

उपर्युक्त अधोलोकके ऊपर और ऊर्ध्वलोकके मध्यमें मध्यभाग (मध्यलोक) है जो झालरके समान है । उसके भीतर चूड़ीके आकारमें एक दूसरेको वेष्टित करके द्वीप और समुद्र स्थित हैं ॥७९॥

उन द्वीप-समुद्रोंमें स्वयम्भूरमण द्वीप तक जम्बूद्वीपको आदि लेकर असंख्यात द्वीप और लवणसमुद्रको आदि लेकर स्वयम्भूरमण समुद्र तक असंख्यात समुद्र हैं जो प्रत्येक एक दूसरेको वेष्टित करते हैं । विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि मध्यलोकके ठीक मध्यमें एक लाख

१. F J X Y R कृतखण्डानि । २. M युक् for रुक् । ३. J च निश्चेयं । ४. R मध्ये तत्रास्ते । ५. J लवणान्तास्ते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1773) द्विगुण[1]द्विगुणाभोगाः प्रावृ[2]त्यान्योन्यमास्थिताः ।
सर्वे ते शुभनामानो वलया[3]कारधारिणः ॥८१

1774) मानुषोत्तरशैलेन्द्रमध्यस्थमतिसुन्दरम् ।
नरक्षेत्रं सरिच्छै[4]लैःसुराचलविराजितम् ॥८२

1773) **द्विगुणद्विगुणा**—सर्वे द्वीपसागराः शुभनामानः । पुनः कीदृशाः । वलयाकृतिधारिणः* । इति सूत्रार्थः ॥८१॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

1774) **मानुषोत्तर**—मानुषोत्तरशैलेन्द्रमध्यस्थम् अतिसुन्दरम् । सुराचलविराजितम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥८२॥ अथ तत्र खण्डानि प्रतिपादयति ।

योजन विस्तारवाला गोल जम्बूद्वीप स्थित है। उसको चारों ओरसे वेष्टित करके लवणसमुद्र स्थित है। उसका विस्तार दो लाख योजन प्रमाण है। इसको चारों ओरसे वेष्टित करके दूसरा द्वीप धातकीखण्ड स्थित है, जिसका विस्तार चार लाख योजन है। उस धातकी खण्डको सब ओरसे घेरकर जो कालोद नामका दूसरा समुद्र स्थित है उसका विस्तार आठ लाख योजन है। इसको वेष्टित करके सोलह लाख योजन विस्तृत पुष्कर द्वीप स्थित है। उसके ठीक बीचों-बीच मानुषोत्तर नामका पर्वत स्थित है, जिससे इस द्वीपके दो विभाग हो गये हैं। इस मानुषोत्तर पर्वतके पूर्वका अढ़ाई द्वीप और दो समुद्ररूप क्षेत्र मनुष्यलोक कहा जाता है। उक्त मानुषोत्तर पर्वतके आगे किसी भी अवस्थामें मनुष्योंका अस्तित्व सम्भव नहीं है। इसी क्रमसे एक दूसरेको वेष्टित करके असंख्यात द्वीप-समुद्र स्थित हैं। सबके अन्तमें स्वयम्भूरमण नामका द्वीप और उसको वेष्टित करके स्वयम्भूरमण नामका अन्तिम समुद्र स्थित है ॥८०॥

चूड़ीके आकारसे स्थित वे सब उत्तम नामोंवाले द्वीप-समुद्र विस्तारमें उत्तरोत्तर एक दूसरेसे दूने-दूने होते हुए परस्पर पूर्वके द्वीप व समुद्रको घेरकर स्थित हैं ॥८१॥

मानुषोत्तर पर्वतराजके मध्यमें नदियों, पर्वतों और सुमेरुसे सुशोभित जो अतिशय सुन्दर क्षेत्र है वह मनुष्यलोक है ॥ विशेषार्थ—यद्यपि मनुष्यलोकसे प्रसिद्ध इस क्षेत्रमें मनुष्योंके साथ तिर्यंचोंका भी सद्भाव पाया जाता है, फिर भी चूँकि उन मनुष्योंका गमनागमन मानुषोत्तर पर्वतके बाह्य भागमें कदापि नहीं पाया जाता है अतएव इसे मनुष्यलोक कहा जाता है। उस मानुषोत्तर पर्वतसे आगे स्वयम्भूरमण समुद्र तक चूँकि तिर्यंचोंका ही (सर्वत्र विचरनेवाले देवोंकी यहाँ विवक्षा नहीं है) अस्तित्व पाया जाता है, अतएव इस क्षेत्रको तिर्यग्लोक कहा जाता है। विशेष इतना समझना चाहिए कि मानुषोत्तर पर्वतके बाह्य और स्वयम्भूरमण द्वीपके मध्यमें स्थित स्वयंप्रभ पर्वतके पूर्ववर्ती इन असंख्यात द्वीप-समुद्रोंमें उत्पन्न होनेवाले तिर्यंच संज्ञी पंचेन्द्रिय व पल्य प्रमाण आयुवाले होते हैं। वहाँ विकलत्रय व जलचर जीव नहीं होते। वहाँ जघन्य भोगभूमि (सुषम-दुःषमा) की-सी व्यवस्था है ॥८२॥

१. S T J X Y R द्विगुणा द्विगुणा भोगाः । २. M S J X Y R प्रावर्त्या°, T प्रवृत्त्यान्यान्यं । ३. J वलयाकृति । ४. J °च्छैलं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1775) [1]तत्रार्यम्लेच्छखण्डानि भूरिभेदानि तेष्वमी ।
आर्या म्लेच्छा नराः सन्ति तत्क्षेत्र[2]जनितैर्गुणैः ॥८३

1776) [3]क्वचित्कुमानुषोपेतं क्वचिद्व्यन्तरसंभृतम् ।
क्वचिद्भोगधराकीर्णं नरक्षेत्रं निरन्तरम् ॥८४

1777) [[4]उक्तं च—
क्वचित्सुखं देवसुखोपमं नृणां क्वचिच्च दुःखं नरकोपमं महत् ।
क्वचिच्च तिर्यक्सदृशं च जायते विचित्ररूपः खलु मानुषो भवः ॥८४*१]

1778) ततो नभसि तिष्ठन्ति विमानानि दिवौकसाम् ।
चरस्थिरविकल्पानि ज्योतिष्काणां यथाक्रमम् ॥८५

1775) तत्रार्यं—तेषु द्वीपेषु तत्र आर्यम्लेच्छखण्डानि भूरिभेदानि सन्ति । आर्या म्लेच्छा नराः सन्ति । कीदृशैः । तत्क्षेत्रजनितैः गुणैः । इति सूत्रार्थः ॥८३॥ अथ नरक्षेत्रमाह ।

1776) क्वचित्कुमानुषोपेतं—नरक्षेत्रं निरन्तरं क्वचित् स्थाने कुमानुषोपेतम् । क्वचिद्देशे व्यन्तरसंभृतम् । क्वचिद् देशे भोगधराकीर्णम् । इति सूत्रार्थः ॥८४॥ अथ संसारस्य विचित्रतामाह ।

1777) क्वचित्सुखं—देवसुखोपमं देवसुखसदृशम् । तिर्यक्सदृशं पशुपक्षिसदृशम् । इति सूत्रार्थः ॥८४*१॥ अथ ज्योतिष्काणां स्वरूपमाह ।

1778) ततो नभसि—ततः दिवौकसां देवानां विमानानि नभसि आकाशे तिष्ठन्ति । ज्योतिष्काणां यथाक्रमं चरस्थिरविकल्पानि चरस्थिरस्वरूपाणि । इति सूत्रार्थः ॥८५॥ [अथोर्ध्वंलोकमाह ।

उस मनुष्य क्षेत्रके भीतर जो अनेक भेदोंवाले आर्यखण्ड और म्लेच्छखण्ड स्थित हैं उनमें उस-उस क्षेत्रके निमित्तसे उत्पन्न हुए गुणोंसे आर्य और म्लेच्छ मनुष्य रहते हैं ॥८३॥

वह मनुष्य क्षेत्र निरन्तर कहीं पर कुमानुषोंसे संयुक्त, कहींपर व्यन्तरोंसे परिपूर्ण और कहीं पर भोगभूमिसे व्याप्त है ॥८४॥

मनुष्यों को कहीं देवसुखके सदृश सुख मिलता है, तो कहीं नरकतुल्य दुःख भुगतना पड़ता है। तो कहीं पशु-पक्षियों के सदृश दुःख प्राप्त होता है। तात्पर्य, मनुष्यजन्मके रूप कितने विविध हैं ॥८४*१॥

मनुष्य क्षेत्रसे ऊपर आकाशमें—पृथिवीतलसे ऊपर सात सौ नब्बे (७९०) योजनसे लेकर नौ सौ (९००) योजन तक एक सौ दस (११०) योजनके बाहल्यमें—ज्योतिषी देवोंके चलते हुए व कुछ स्थिर भी विमान यथाक्रमसे स्थित हैं ॥८५॥

१. Y om. this verse । २. J क्षेत्रं जनितं । ३. Y om. this verse । ४. Only in N ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1779) तदूर्ध्वं[1] सन्ति देवेशकल्पाः सौधर्मपूर्वकाः ।
ते षोडशाच्युतस्वर्गपर्यन्ता नभसि स्थिताः ॥८६

1780) उपर्युपरि देवेशनिवासयुगलं क्रमात् ।
अच्युतान्तं तत[2] ऊर्ध्वमेकैकं[3] त्रिदशास्पदम्[4] ॥८७

1781) निशादिनविभागो ऽयं न तत्र[5] त्रिदशास्पदे ।
रत्नालोकः स्फुरत्युच्चैः सततं चक्षुःसौख्यदः[6] ॥८८

1782) वर्षातपतुषारादिसमयैः परिवर्जितः ।
सुखदः सर्वदा सौम्यस्तत्र कालः प्रवर्तते ॥८९

1779) **तदूर्ध्वं**—सौधर्मपूर्वकाः अच्युतस्वर्गपर्यन्ताः षोडश स्वर्गाः नभसि आकाशे स्थिताः । इति सूत्रार्थः ॥८६॥] अथैतदेवाह ।

1780) **उपर्युपरि**—त्रिदिवास्पदं* देवानां स्थानम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥८७॥ अथोर्ध्वम् अहोरात्रेरभावमाह ।

1781) **निशादिन**—सततं निरन्तरं नेत्रसौख्यदः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥८८॥ अथोर्ध्वलोके कालस्वरूपमाह ।

1782) **वर्षातप**—तत्र स्वर्गे कालः प्रवर्तते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥८९॥ अथोर्ध्वलोके यन्नास्ति तदाह ।

उसके ऊपर—मेरुके ऊपर बाल मात्रके अन्तरसे आकाशमें सौधर्मको आदि लेकर अच्युत स्वर्ग तक वे सोलह देवेन्द्रोंके कल्प अवस्थित हैं ॥८६॥

ये देवेन्द्रोंके विमान अच्युत कल्प तक क्रमसे युगलरूपमें—सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र व ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर आदिके क्रमसे—ऊपर-ऊपर अवस्थित हैं। इसके ऊपर एक-एक देवस्थान है—आरण-अच्युत कल्पके ऊपर तीन पटलोंमें नौ ग्रैवेयक, उनके ऊपर एक पटलमें नौ अनुदिश और उनके ऊपर एक पटलमें पाँच विजयादि अनुत्तर विमान अवस्थित हैं ॥८७॥

वहाँ देवलोकमें यह रात और दिनका विभाग नहीं है। कारण कि वहाँ नेत्रोंको सुख देनेवाली रत्नोंकी प्रभा अतिशय प्रकाशमान रहती है ॥८८॥

वहाँपर वर्षाकाल, आतपकाल (ग्रीष्म) और शीतादिकालसे रहित ऐसा निरन्तर सुख देनेवाला रमणीय काल प्रवर्तमान रहता है ॥८९॥

---

१. All others except P M तदूर्ध्वे । २. N ततश्चोर्ध्वं, L ततो ऽप्यर्ध, S T F J X Y R ततो ऽप्यूर्ध्वं° । ३. All others except P M °मेकैकत्रि° । ४. J त्रिदिवास्पदे । ५. X Y न यत्र त्रिदशालये । ६. N L T J R नेत्र for चक्षुः । ७. M N सौख्यदैः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1783) उत्पातभयसंतापभङ्गचौरारिविड्वराः ।
न हि स्वप्ने ऽपि दृश्यन्ते [1]क्षुद्रसत्त्वाश्च दुर्जनाः ॥९० । तद्यथा[2]—

1784) चन्द्रकान्तशिलानद्धाः प्रवालदलदन्तुराः ।
वज्रेन्द्रनीलनिर्माणा विचित्रास्तत्र भूमयः ॥९१

1785) माणिक्यरोचिषां चक्रैः कर्बुरीकृतदिङ्मुखाः ।
वाप्यः स्वर्णाम्बुजच्छन्ना रत्नसोपानराजिताः ॥९२

1786) सरांस्यमलवारीणि हंसकारण्डमण्डलैः ।
वाचालै रुद्धतीर्थानि[3] दिव्यनारीजनेन च ॥९३

1783) **उत्पात**—क्रूरसत्त्वाः हिंसकजीवाः । दुर्जनाः खलाः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥९०॥ पुनः कीदृशास्तानाह । तद्यथा दर्शयति ।

1784) **चन्द्रकान्त**—चन्द्रकान्तशिलाभिर्नद्धा बद्धाः प्रवालदलदन्तुराः । सुगमम् । पुनः कीदृशाः । वज्रेन्द्रनीलनिर्माणाः हीरेन्द्रनीलमाणिकरचिताः । विचित्रा नानाप्रकाराः । तत्र स्वर्गे भूमयो वर्तन्ते । इति सूत्रार्थः ॥९१॥ पुनस्तदाह ।

1785) **माणिक्य**—पुनः कीदृशाः । माणिक्यरोचिषां कान्तीनां चक्रैः समूहैः कर्बुरीकृत-दिङ्मुखाः । वाप्यः स्वर्णाम्बुजच्छन्नाः स्वर्णकमलाच्छादिताः, रत्नसोपानराजिताः । इति सूत्रार्थः ॥९२॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1786) **सरांस्यमल**—सरांसि सरोवराणि । कीदृशानि । अमलवारीणि निर्मलजलानि । रुद्धतीर्थानि । कैः । हंसकारण्डमण्डलैः राजहंसबलाकश्रेणीभिः । च पुनः । दिव्यनारीजनेन । इति सूत्रार्थः ॥९३॥ अथ यत्तदाह ।

देवालयमें उपद्रव, भय, सन्ताप, खण्डन (या विनाश), चोर, शत्रु और दुराचारी तथा क्षुद्र जीव (कृमि आदि) व दुष्टजन स्वप्नमें भी नहीं देखे जाते हैं ॥९०॥

स्वर्गके स्थान चन्द्रकान्त मणियोंकी शिलाओंसे सम्बद्ध, प्रवाल (मूँगा) मणियोंके समूहसे विषम तथा वज्र व इन्द्रनील मणियोंसे निर्मित होते हुए विचित्र हैं ॥९१॥

वहाँ मणियोंकी प्रभाके समूहसे दिङ्मण्डलको अनेक वर्णमय करनेवाली व सुवर्णमय कमलोंसे व्याप्त वापियाँ हैं जो रत्नमय सीढ़ियोंसे अतिशय शोभायमान हैं ॥९२॥

वहाँ जो निर्मल जलवाले तालाब हैं उनके घाट शब्द करनेवाले हंस और कारण्ड पक्षियोंके समूहोंसे तथा देवांगनाजनोंसे रोके जाते हैं ॥९३॥

१. J क्रूर for क्षुद्र । २. P M तद्यथा । ३. N रुद्धतीराणि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1787) गावः कामदुघाः सर्वाः कल्पवृक्षाश्च पादपाः ।
चिन्तारत्नानि रत्नानि स्वर्गलोके स्वभावतः ॥९४

1788) ध्वजचामरछत्राङ्कैर्विमानैर्वनितासखाः ।
संचरन्ति [1]सुरासारसेव्यमानाः सुरेश्वराः ॥९५

1789) यक्षकिंनरनारीभिर्मन्दारवनवीथिषु ।
कान्ताश्लिष्टाभिः [2]सानन्दं गीयन्ते त्रिदशेश्वराः ॥९६

1790) क्रीडागिरिनिकुञ्जेषु पुष्पशय्यागृहेषु च[3] ।
रमन्ते त्रिदशा यत्र वरस्त्रीवृन्दवेष्टिताः ॥९७

1787) **गावः**—स्वर्गलोके स्वभावतः संसर्गात् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥९४॥ अथ देवानां स्वरूपमाह ।

1788) **ध्वजचामर**—संचरन्ति सुरेश्वराः ।* सारैर्विमानैः सेव्यमानाः । कीदृशैः । ध्वजचामरच्छत्राङ्कैः । पुनः । वनितासखाः स्त्रीसहायाः । इति सूत्रार्थः ॥९५॥ अथ देवानां स्वरूपमाह ।

1789) **यक्षकिंनर**—मन्दारवनवीथिषु देवदारुकाननमार्गेषु । यक्षकिंनरनारीभिः कान्ताश्लिष्टाभिः सानन्दं स्त्रीसमालिङ्गनाभिः [?] सहर्षं गीयन्ते त्रिदशेश्वराः । इति सूत्रार्थः ॥९६॥ अथ पुनः सूत्रार्थमाह ।

1790) **क्रीडागिरि**—त्रिदशाः रमन्ते क्रीडन्ति । केषु । क्रीडागिरिनिकुञ्जेषु क्रीडापर्वतकुञ्जेषु । च पुनः । शय्यागृहेषु । वरस्त्रीवृन्दवेष्टिताः प्रधानरामासमूहव्याप्ताः । इति सूत्रार्थः ॥९७॥ अथ तत्र स्वरूपमाह ।

स्वर्गलोकमें स्वभावसे ही सब गायें कामधेनु, सब वृक्ष कल्पवृक्ष और सब रत्न चिन्तामणि हैं ॥९४॥

वहाँ देवसेनासे सेवमान इन्द्र अपनी वल्लभाओंके साथ ध्वजा, चँवर और छत्रसे चिह्नित विमानोंके द्वारा विहार किया करते हैं ॥९५॥

अपने पतियोंसे आलिंगित यक्ष और किन्नर जातिकी देवियाँ मन्दार वृक्षोंकी वनपंक्तियोंमें आनन्द पूर्वक इन्द्रोंका गुणगान किया करती हैं ॥९६॥

देव वहाँ उत्तम स्त्रियों (देवांगनाओं) से वेष्टित होकर क्रीड़ापर्वतोंके लतागृहोंमें तथा पुष्पनिर्मित शय्यागृहोंमें रमण करते हैं ॥९७॥

---

१. All others except P M °सारैः । २. M N T X Y R °ष्टाभिरानन्दं । ३. S X Y R वा for च ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1791) मन्दारचम्पकाशोकमालतीवेणुरञ्जिताः ।
भ्रमन्ति यत्र भृङ्गाढ्या[1] गन्धवाहाः शनैः शनैः ॥९८

1792) लीलावनविहारैश्च पुष्पावचयकौतुकैः ।
जलक्रीडादिविज्ञानैर्विलासास्तत्र योषिताम् ॥९९

1793) वीणामादाय रत्यन्ते कलं गायन्ति योषितः ।
ध्वनन्ति मुरजा धीरं दिवि[2] देवाङ्गनाहताः ॥१००

1794) कोकिलाः कल्पवृक्षेषु चैत्यागारेषु योषितः ।
विबोधयन्ति देवेशांल्ललितैर्गीतनिःस्वनैः ॥१०१

1791) **मन्दार**—यत्र गन्धवाहाः भ्रमन्ति शनैः शनैः। कीदृशाः। भृङ्गाद्याः* । पुनः। मन्दारचम्पकाशोकमालतीरेणुरञ्जिताः कल्पवृक्षचम्पकाशोकमालतीपरागरञ्जिताः । इति सूत्रार्थः ॥९८॥ अथ तत्रत्ययोषितां स्वरूपमाह।

1792) **लीलावन**—तत्र देवलोके योषितां विलासाः वर्तन्ते। कीदृशैः कैः। जलक्रीडादिविज्ञानैः। पुनः कैः। लीलावनविहारैः। पुनः पुष्पावचयकौतुकैः। च पादपूरणे। इति सूत्रार्थः ॥९९॥ पुनस्तदेवाह।

1793) **वीणामादाय**—रत्यन्ते भोगान्ते योषितः कलं गायन्ते। किं कृत्वा। वीणामादाय। ध्वनन्ति वाद्यन्ते। मुरजाः धीरं गम्भीरशब्दं यथा स्यात्। दिवि स्वर्गे। कीदृशाः। देवाङ्गनाहताः वादिताः। इति सूत्रार्थः ॥१००॥ अथ देवाङ्गनानां सौन्दर्यमाह।

1794) **कोकिलाः**—कल्पवृक्षेषु कोकिलाः देवेशान् इन्द्रान् विबोधयन्ति। चैत्यागारे उन्नतप्रासादेषु योषितः तान् विबोधयन्ति। कैः। ललितैः गीतनिस्वनैः गानस्वरूपस्वरैः। इति सूत्रार्थः ॥१०१॥ अथ स्वर्गस्य निरौपम्यमाह।

वहाँ स्वर्गोंमें मन्दार, चम्पक, अशोक और मालती पुष्पोंके परागसे अनुरंजित तथा भ्रमरोंसे व्याप्त वायु धीरे-धीरे भ्रमण करती है ॥९८॥

वहाँ स्त्रियोंकी चेष्टाएँ क्रीड़ावनोंमें विचरण, फूलोंके चुननेका कुतूहल और जलक्रीड़ाके विज्ञानसे परिपूर्ण होती हैं ॥९९॥

स्वर्गमें स्त्रियाँ सुरतके अन्तमें वीणाको लेकर मनोहर गान करती हैं तथा वहाँ देवांगनाओंसे ताड़ित होकर मृदंग मन्द शब्द करते हैं ॥१००॥

कल्पवृक्षोंपर कोयलें और चैत्यालयोंमें स्त्रियाँ सुन्दर गीतोंकी ध्वनिसे इन्द्रोंको जागृत करती हैं ॥१०१॥

१. S Y R गन्धाढ्या, J भृङ्गाद्या। २. M N देव for दिवि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1795) नित्योत्सवयुतं रम्यं सर्वाभ्युदयमन्दिरम् ।
सुखसंपद्गुणाधारं कैः स्वर्गमुपमीयते ॥१०२

1796) पञ्चवर्णमहारत्ननिर्माणाः[1] सप्तभूमिकाः ।
प्रासादाः पुष्करिण्यश्च चन्द्रशाला वनान्तरे ॥१०३

1797) प्राकारपरिखावप्रगोपुरोत्तुङ्गतोरणैः ।
चैत्यद्रुमसुरागारैर्नगर्यो रत्नराजिताः ॥१०४

1898) इन्द्रायुध[2]श्रियं धत्ते यत्र नित्यं नभस्तलम् ।
हर्म्याग्रलग्नमाणिक्यमयूखैः कर्बुरीकृतम् ॥१०५

1795) नित्योत्सव—स्वर्गः कैरुपमीयते । कीदृशम् । नित्योत्सवयुतं सुगमम् । सर्वाभ्युदयमन्दिरं सर्वकल्याणगेहम् । सर्वसंपद्गुणाधारं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०२॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1796) पञ्चवर्ण—[कीदृशाः प्रासादाः । पञ्चवर्णानि यानि महारत्नानि तैः निर्माणं येषां ते । पुनः कीदृशाः । सप्तभूमिकाः । च पुनः । पुष्करिण्यः सरांसि । इति सूत्रार्थः ॥१०३॥] अथ नगरीमाह ।

1797) प्राकार—नगर्यो रत्नराजिताः । कैः । चैत्यद्रुमसुरागारैः चैत्यवृक्षसुरागारैः । पुनः कैः । प्राकारपरिखावप्रगोपुरोत्तुङ्गतोरणैः दुर्गखातिकाकोट्टगोपुरप्रतोलीप्रोत्तुङ्गतोरणैः । इति सूत्रार्थः ॥१०४॥ अथैतदेवाह ।

1798) इन्द्रायुध—इन्द्रायुधश्रियं धत्ते । यत्र स्वर्गे नित्यं नभस्तलम् । आकाशम् । हर्म्याग्रलग्नमाणिक्यमयूखैः, गृहाग्रे लग्ना व्याप्ताः ये माणिक्याः तेषां मयूखाः किरणाः तैः कर्बुरीकृतं मिश्रीकृतम् । इति सूत्रार्थः ॥१०५॥ अथ पुनस्तेषां ऋद्धिमाह ।

जो स्वर्ग निरन्तर होनेवाले उत्सवोंसे संयुक्त, रमणीय, समस्त अभ्युदयका निवासस्थान तथा सुख-सम्पत्ति एवं गुणोंका आश्रयभूत है उसके लिए भला अन्य किसकी उपमा दी जा सकती है ? नहीं दी जा सकती—वह अनुपम ही है ॥१०२॥

वहाँ वनोंके मध्यमें पाँच वर्णवाले महारत्नोंसे निर्मित सात खण्डोंवाले प्रासाद, वापिकाएँ और चन्द्रशालाएँ (अट्टालिकाएँ) हैं ॥१०३॥

वहाँ कोट, खातिका, दुर्ग, गोपुर, उन्नत तोरण, चैत्य-वृक्ष और देवालयोंसे परिपूर्ण नगरियाँ रत्नोंसे सुशोभित हैं ॥१०४॥

वहाँ प्रासादोंके अग्रभागमें लगी हुई मणियोंकी किरणों द्वारा अनेक वर्णमय किया गया आकाश सदा ही इन्द्रधनुषकी शोभाको धारण करता है ॥१०५॥

---

१. M N °रत्ननिर्मलाः । २. M इन्द्रायुधः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1799) सप्तभिस्त्रिदशानीकैर्विमानैरङ्गनान्वि्ताः[1] ।
कल्पद्रुमगिरीन्द्रेषु रमन्ते विबुधेश्वराः[2] ॥१०६

1800) [हस्त्यश्वरथपादातवृषगन्धर्वनर्तकिं[3][4] ।
सप्तानीकानि सन्त्यस्यं प्रत्येकं च महत्तराः[5] ॥१०६*१]

1801) शृङ्गारसारसंपूर्णा[6] लावण्यवनदीर्घिकाः ।
पीनस्तनभराक्रान्ताः पूर्णचन्द्रनिभाननाः ॥१०७

1802) विनीताः कामरूपिण्यो महर्द्धिमहिमान्विताः ।
हावभावविलासाढ्या नितम्बभरमन्थराः ॥१०८

1803) मन्ये[7] शृङ्गारसर्वस्वमेकीकृत्य विनिर्मिताः ।
स्वर्गवासविलासिन्यः[8] सन्ति मूर्ता इव श्रियः ॥१०९

1799) सप्तभिः—विबुधेश्वराः देवेन्द्राः रमन्ते । केषु । कल्पद्रुमगिरीन्द्रेषु । कैः । विमानैः । कीदृशैः । अङ्गनान्वितैः* । सप्तभिः अनीकैः । इति सूत्रार्थः ॥१०६॥] अथ सप्त अनीकानि आह ।

1800) हस्त्यश्व—कानि सप्त अनीकानि । हस्ति-अश्व-रथ-पादात-वृष-गन्धर्व-नर्तकि-रूपाणि सप्त अनीकानि सैन्यानि सन्ति । एतेषु प्रत्येकं उत्तरोत्तरं महत्तरं* श्रेष्ठं वर्तते । इति सूत्रार्थः ॥१०६*१॥] अथ तासां स्वरूपमाह ।

1801) शृङ्गार—लावण्यवनदीर्घिकाः चातुर्यकाननवाप्यः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०७॥ अथ देवानां स्वरूपमाह ।

1802) विनीताः—नितम्बभारेण मन्थराः अलसाः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०८॥ अथ पुनस्तासां स्वरूपमाह ।

1803) मन्ये—अहम् एवं मन्ये । *स्वर्गवासिविलासिन्यः शृङ्गारसर्वस्वमेकीकृत्य विनिर्मिता रचिताः । इवोत्प्रेक्षते । मूर्ता मूर्तवतः श्रियः सन्ति । इति सूत्रार्थः ॥१०९॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

स्वर्गोंमें इन्द्र सात प्रकारकी देवसेनाओं और विमानोंके साथ देवांगनाओंसे संयुक्त होते हुए रमण किया करते हैं ॥१०६॥

हाथी, घोड़ा, रथ, पादचारी, बैल, गन्धर्व और नर्तकी ये सात सेनाएँ हैं। इनमेंसे प्रत्येकमें एक महत्तर (प्रधान) होता है ॥१०६*१॥

वहाँ श्रेष्ठ शृंगारसे परिपूर्ण, लावण्यरूप वनकी वापिकासमान, पुष्ट स्तनोंके भारसे संयुक्त, पूर्ण चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखवाली, नम्र, मनोहर रूपकी धारक, महती ऋद्धिकी महिमासे सहित; हाव-भाव व विलाससे व्याप्त तथा नितम्बोंके भारसे मन्द, ऐसी स्वर्गकी

१. All others except P S °न्वितैः, S °नाचितैः । २. M N त्रिदशेश्वराः, J त्रिदिवेश्वराः । ३. P M N om. । ४. L S J Y R नर्तकी, T नर्तकौ, F X वृषा....नर्तकाः....सन्त्यत्र । ५. L F X महत्तराः, S T महत्तरान्, J Y R महत्तरं । ६. M संपूर्णलावण्य । ७. M N अन्याः for मन्ये । ८. N स्वर्गावास, L F स्वर्गवासि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1804) गीतवादित्रविद्यासु शृङ्गाररसभूमिषु ।
परिरम्भादिबन्धेषु[1] स्त्रीणां दाक्ष्यं स्वभावतः ॥११०

1805) सर्वावयवसंपूर्णा[2] दिव्यलक्षणलक्षिताः ।
अनङ्गप्रतिमा धीराः प्रसन्नाः[3] प्रांशुविग्रहाः ॥१११

1806) हारकुण्डलकेयूरकिरीटाङ्गदभूषिताः ।
मन्दारमालतीगन्धा अणिमादिगुणान्विताः ॥११२

1807) प्रसन्नामलपूर्णेन्दुकान्त[4] कान्ताजनप्रियाः ।
शक्तित्रयगुणोपेताः सत्त्व[5]शीलावलम्बिनः ॥११३

1804) **गीतवादित्र**—स्त्रीणां दाक्ष्यं दाक्षिण्यं स्वभावतो वर्तते । केषु । परिरम्भादिसंगेषु* । कीदृशेषु । शृङ्गाररसभूमिषु । तु पुनः । गीतवादित्रविद्याः स्त्रीणां स्वभावतो भवन्ति । इति सूत्रार्थः ॥११०॥ अथ पुनस्तासां स्वरूपमाह ।

1805) **सर्वावयव**—प्रांशुदेहाः उच्चदेहाः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१११॥ अथ पुनस्तासां स्वरूपमाह ।

1806) **हारकुण्डल**—हारकुण्डले, केयूराः बाह्वाभरणानि, किरीटं मुकुटम्, अङ्गदाः प्रसिद्धाः, तैर्भूषिताः । पुनः कीदृशाः । मन्दारमालतीगन्धाः । पुनः कीदृशाः । अणिमादिगुणान्विताः । इति सूत्रार्थः ॥११२॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

1807) **प्रसन्नामल**—पुनः कीदृशाः । प्रसन्नामलपूर्णेन्दुकान्ताः विमलपार्वणचन्द्रमनोहराः । कान्ताजनप्रियाः स्त्रीजनवल्लभाः । शक्तित्रयम्—उत्साहप्रभुत्वमन्त्रशक्तित्रयगुणोपेताः । शश्वत्* निरन्तरं *लीलावलम्बिनः । इति सूत्रार्थः ॥११३॥ अथ देवानां स्वरूपमाह ।

स्त्रियाँ मूर्तिमती लक्ष्मीके ही समान हैं । उनको शृंगारके सब धनको एकत्रित करके बनाया गया है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥१०७–१०९॥

शृंगाररसकी स्थानभूत गीत व वादित्र विद्याओंमें तथा आलिंगनादिके बन्धनोंमें स्त्रियोंके चतुरता स्वभावसे ही हुआ करती है ॥११०॥

स्वभावसे सुन्दर स्वर्गवासी देव सब अवयवोंसे परिपूर्ण, दिव्य चिह्नोंसे चिह्नित, कामदेवके समान रमणीय, धैर्यशाली, प्रसन्न, उन्नत शरीरसे संयुक्त; हार, कुण्डल, केयूर, मुकुट और बाजूबन्द इन आभूषणोंसे विभूषित; मन्दार व मालती पुष्पके समान सुगन्धिसे व्याप्त, अणिमा आदि गुणोंसे सहित, प्रसन्न व निर्मल पूर्ण चन्द्रके समान सुन्दर देवांगनाजनोंके प्रिय; इच्छा, क्रिया व ज्ञानरूप अथवा सात्त्विकी, राजसी व तामसीरूप तीन शक्तियों एवं

१. M N L F J X Y °दिसंगेषु, S R सर्वेषु, T शृंगेषु । २. M संपूर्णदिव्य । ३. M N S T X Y R प्रसन्नप्रांशु, F प्रसन्नः । ४. All others except P कान्ताः कान्ता° । ५. L F J शश्वल्लीलाव° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1808) विज्ञानविनयोद्दामप्रीतिप्रशम[1]संभृताः ।
निसर्गसुभगाः स्वर्गे[2] भवन्ति त्रिदिवौकसः[3] ॥११४

1809) न तत्र दुःखितो दीनो वृद्धो रोगी गुणच्युतः ।
विकलाङ्गो गतश्रीकः स्वर्गलोके विलोक्यते ॥११५

1810) सभ्यसामानिकामात्यलोकपालप्रकीर्णकाः[4] ।
मित्राद्यभिमतस्तेषां पार्श्ववर्ती परिग्रहः ॥११६

1811) बन्दिगायक[5]शैलीन्ध्री[6]स्वाङ्गरक्षाः पदातयः ।
[7]नटवेत्रिविलासिन्यः सुराणां सेवको जनः ॥११७

1808) **विज्ञान**—त्रिदिवौकसः देवाः स्वर्गे भवन्ति । कीदृशाः । विज्ञान-विनयाभ्याम् उद्दामप्रीतिप्रसरः* तेन संभृताः । पुनः कीदृशाः । निसर्गसुभगाः स्वभावनिपुणाः । इति सूत्रार्थः ॥११४॥ अथ तत्र दुःखादीनामभावमाह ।

1809) **न तत्र**—तत्र स्वर्गे दुःखितादयो न विलोक्यन्ते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥११५॥ अथ तेषां निकटपरिग्रहमाह ।

1810) **सभ्याः**—सभ्याः सभासीनाः देवाः, सामानिकाः इन्द्रसमानाः । अमात्याः मन्त्रिप्रायाः । लोकपालाः कुबेरादयः । प्रकीर्णकाः प्रसिद्धाः । तेषां देवानां पार्श्ववर्तीपरिग्रहः मित्राद्यभिमतः वाञ्छितः । इति सूत्रार्थः ॥११६॥ अथ तेषां सेवकजनमाह ।

1811) **बन्दिगायक**—बन्दी यशःपाठकः, गायको गन्धर्वः, शैलेन्ध्री* इन्द्राणी, स्वाङ्गरक्षाः पदातयः, नटाः प्रसिद्धाः, *वेत्रविलासिन्यः वेत्रोपरि नृत्यन्त्यः । सुराणां सेवको जनः ॥११७॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

गुणोंसे सहित; सत्त्व व शीलका आलम्बन लेनेवाले तथा विज्ञान, विनय, उत्कट प्रीति एवं प्रशमसे परिपूर्ण होते हैं ॥१११-११४॥

वहाँ स्वर्गलोकमें कोई भी दुखी, दीन, वृद्ध, रोगी, गुणोंसे शून्य, विकल शरीरवाले (लँगड़े आदि) और लक्ष्मीसे रहित नहीं देखा जाता है ॥११५॥

पारिषद, सामानिक, अमात्य (त्रायस्त्रिंश), लोकपाल और प्रकीर्णक देव तथा मित्रादिस्वरूपसे माने गये देव; यह सब उनका पासमें रहनेवाला परिग्रह है ॥११६॥

स्तुतिपाठक, गायक, सैरन्ध्री (शिल्पकार्य करनेवाली), आत्मरक्षक, पदाति, नट, दण्डधर और विलासिनी जन; ये देवोंके सेवकजन होते हैं ॥११७॥

१. All others except P प्रसर for प्रशम । २. N S T F R सर्वे भवन्ति । ३. X Y प्रभवन्ति दिवौकसः, M त्रिविधौकसः । ४. P प्रकीर्तिकाः । ५. L S F Y R गायन । ६. L S T F J शैलेन्ध्री, X शैलेन्ध्रः, Y R सैरन्ध्री । ७. T J नटवेत्र ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1812) तत्रातिभव्यताधारे विमाने कुन्दकोमले ।
उपपाद[1]शिलागर्भे संभवन्ति स्वयं सुराः[2] ॥११८[3]

1813) सर्वाक्षसुखदे रम्ये नित्योत्सवविराजिते ।
गीतवादित्रलीलाढ्ये जयजीवस्वनाकुले ॥११९

1814) दिव्याकृतिसुसंस्थानाः सप्तधातुविवर्जिताः ।
कायकान्तिपयःपूरैः प्रसाधितै[4]र्दिगन्तराः ॥१२०

1815) [5]शिरीषसुकुमाराङ्गाः पुण्यलक्षणलक्षिताः ।
अणिमादिगुणोपेता ज्ञानविज्ञानपारगाः ॥१२१

1812) **तत्रातिभव्यता**—तत्र स्वर्गे अतिभव्यता मनोहरत्वं तदाधारं विमानं तस्मिन्। कीदृशे। कुन्दकोमले मुचकुन्दकोमले उपपादशिलागर्भे सुराः संभवन्ति। इति सूत्रार्थः ॥११८॥ अथ विमानं वर्णयति ।

1813) **सर्वाक्ष**—कीदृशे। सर्वाक्षसुखदे सर्वेन्द्रियसुखोत्पादके। रम्ये मनोहरे। नित्योत्सव-विराजिते। सुगमम्। गीतवादित्रलीलाढ्ये। जय, जीव इति स्वनः शब्दः। तेनाकुले व्याप्ते। इति सूत्रार्थः ॥११९॥ अथ पुनः कीदृशाः।

1814) **दिव्याकृति**—दिव्याकृतिः मनोहराकारः, सुसंस्थानाः समचतुरस्रसंस्थानाः। सप्त-धातुविवर्जिताः रुधिरादिसप्तधातुरहिताः। कायकान्तिपयःपूरैः प्रसाधितदिगन्तराः। इति सूत्रार्थः ॥१२०॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह।

1815) **शिरीष**—शिरीषवत् सुकुमाराङ्गाः। पुण्यलक्षणलक्षिताः। पुनः कीदृशाः। अणिमादि-गुणोपेताः अणिमागरिमाद्यष्टगुणसंयुताः। कीदृशाः। ज्ञानविज्ञानपारगाः। इति सूत्रार्थः ॥१२१॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह।

वहाँ अतिशय सुन्दर विमानमें कुन्दपुष्पके समान कोमल उपपादशय्याके मध्यमें देव स्वयं उत्पन्न होते हैं ॥११८॥

सब इन्द्रियोंको सुख देनेवाले, रमणीय, निरन्तर चलनेवाले उत्सवोंसे सुशोभित, गीत-वादित्रोंकी लीलासे व्याप्त और 'जय' व 'जीव' इन आशीर्वादात्मक शब्दोंकी ध्वनिसे परिपूर्ण उस स्वर्गमें दिव्य आकृति और उत्तम संस्थानके धारक, रस-रुधिरादिरूप सात धातुओंसे रहित, शरीरकी कान्तिरूप जलके प्रवाहसे दिङ्मण्डलको अलंकृत करनेवाले, शिरीष पुष्पके समान सुकुमार शरीरसे संयुक्त, पवित्र चिह्नोंसे चिह्नित, अणिमा-महिमा आदि गुणोंसे परिपूर्ण, ज्ञान व विज्ञानके पारगामी, चन्द्रबिम्बके समान आह्लादको उत्पन्न करनेवाले, दोषोंसे रहित, उत्तम अभिप्रायवाले, अचिन्त्य माहात्म्यसे सहित; भय, क्लेश व पीड़ासे विरहित,

१. M उपपात, All others except P M J उपपादि। २. J सुराः सदा। ३. X Y add : चतुःषष्टिकलाभिज्ञा शीलरूपादिसेविनी। प्रसाधनोपचारज्ञा सैरन्ध्रीति निगद्यते ॥ ४. All others except P L F प्रसादित। ५. Y om. this verse।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1816) मृगाङ्कबिम्ब[1]संकाशाः शान्तदोषाः शुभाशयाः ।
अचिन्त्यमहिमोपेता भयक्लेशार्तिवर्जिताः ॥१२२

1817) वर्धमानमहोत्साहा वज्रकाया महाबलाः ।
अचिन्त्यपुण्ययोगेन गृह्णन्ति वपुरूर्जितम् ॥१२३

1818) सुखामृतमहाम्भोधेर्मध्यादिव विनिर्मिताः[2] ।
भवन्ति त्रिदशाः सद्यः क्षणेन नवयौवनाः ॥१२४

1819) किं च पुष्पफलाक्रान्तैः[3] प्रवालदलदन्तुरैः ।
तेषां कोकिल[4]वाचालैर्द्रुमैर्जन्म निवेद्यते[5] ॥१२५

1820) गीतवादित्रनिर्घोषैर्जयमङ्गलपाठकैः ।
विबोध्यन्ते शुभैः शब्दैः सुखनिद्रात्यये[6] यथा ॥१२६

1816) मृगाङ्क—[मृगाङ्कबिम्बसंकाशाः चन्द्रबिम्बतुल्याः । शुभाशयाः कल्याणान्तःकरणाः । भयक्लेशार्तिवर्जिताः भयक्लेशसंकटरहिताः । अन्यत्सुगमम् ॥१२२॥] अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

1817) वर्धमान—कीदृशास्ते । वर्धमानः महोत्साहः येषां ते तथा । वज्रकायाः प्रसिद्धाः । महाबलाः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१२३॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

1818) सुखामृत—पुनः कीदृशाः । सुखामृतमहाम्बुधेर्मध्यात् इव विनिर्गताः* । पुनः कीदृशाः भवन्ति त्रिदशाः । सद्यः क्षणेन नवयौवनाः । इति सूत्रार्थः ॥१२४॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

1819) किं च पुष्प—[तेषां जन्म द्रुमैः निवेद्यते । कीदृशैः । कोकिलवाचालैः कोकिलैः वाचालाः शब्दयुक्ताः तैः । अन्यत् सुगमम्] ॥१२५॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

1820) गीतवादित्र—शुभैः मनोहरैः शब्दैः विबोध्यन्ते जागरीभूताः क्रियन्ते । स्वयं सुखसुप्ताः इव । शेषं सुगमम् ॥१२६॥ अथ तेषामेव स्वरूपमाह ।

उत्तरोत्तर बढ़नेवाले महान् उत्साहसे परिपूर्ण; वज्रके समान शरीरसे संयुक्त और महान् बलके धारक वे देव अचिन्त्य पुण्यके सम्बन्धसे उस उपपादशय्याके ऊपर बलिष्ट शरीरको ग्रहण किया करते हैं ॥११९-२३॥

सुखरूप अमृतके विस्तृत समुद्रके समान उस उपपादशय्याके मध्यमें निर्माणको प्राप्त होकर वे देव शीघ्र क्षणभर ही नवीन यौवनसे सम्पन्न हो जाते हैं ॥१२४॥

उनके जन्मका निवेदन फूलों और फलोंसे परिपूर्ण, कोमल नवीन पत्तोंके समूहसे विषम और कोयलोंकी ध्वनिसे मुखरित (शब्दायमान) ऐसे वृक्षोंके द्वारा किया जाता है ॥१२५॥

जिस प्रकार यहाँ पुण्यशाली महापुरुष निद्राके नष्ट होनेपर—प्रभात समयमें—गीत और वादित्रोंके शब्दोंके साथ स्तुतिपाठकों (बन्दिजनों) के द्वारा उत्तम शब्दोंके आश्रयसे

१. All others except P J मूर्ति for बिम्ब, J भूमि । २. All others except P विनिर्गताः । ३. T क्रान्तिप्रवाल । ४. J कोकिलालापवाचालैः । ५. All others except P निगद्यते । ६. M N L T J X Y सुखसुप्ता इव स्वयं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1821) किंचिद्भ्रममपाकृत्य वीक्षन्ते[1] सरलैः[2] शनैः ।
यावदाशा मुहुः स्निग्धैस्तदा कर्णान्तलोचनैः ॥१२७

1822) इन्द्रजालमथ स्वप्नः किं नु माया भ्रमो नु किम् ।
दृश्यमानमिदं चित्रं नायाति[3] मम निश्चयम् ॥१२८

1823) इदं रम्यमिदं सेव्यमिदं श्लाघ्यमिदं हितम् ।
इदं प्रियमिदं भव्यमिदं चित्तप्रसत्तिदम् ॥१२९

1824) एतत्कन्दलितानन्दमेतत्कल्याणमन्दिरम् ।
एतन्नित्योत्सवाकीर्णमेतदत्यन्तसुन्दरम् ॥१३०

1821) **किंचिद्भ्रमम्**—ते वीक्ष्यन्ते* शनैः शनैः* । किं कृत्वा । किंचिद् भ्रमम् अपाकृत्य दूरीकृत्य । यावद् आशा ककुप् कर्णान्तलोचनैः तदा स्निग्धैः वीक्ष्यते । इति सूत्रार्थः ॥१२७॥ अथ पुनस्तेषां जन्मान्तरचिन्तामाह ।

1822) **इन्द्रजालम्**—मम निश्चयं न याति* चित्रं दृश्यमानम् । कीदृशम् । इन्द्रजालम् इदम् । अथवा स्वप्नः । नु वितर्के । किं नु माया भ्रमः । इति सूत्रार्थः ॥१२८॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1823) **इदं रम्यम्**—तेषां स्वोत्पत्त्यनन्तरं स्वर्गं दृष्ट्वा चिन्तयन्ति । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१२९॥ [पुनस्तदेव विशेषयति ।

1824) **एतत्कन्दलितानन्दम्**—कन्दलितानन्दम् आनन्दस्य मूलभूतम् । नित्योत्सवाकीर्णं नित्योत्सवैर्व्याप्तम् । अन्यत्सुगमम् ॥१३०॥] अथ इन्द्रसभाजिरमाह ।

प्रबोधित किये जाते हैं । उसी प्रकार स्वर्गमें उपपादशय्यापर उत्पन्न हुए उन देवोंको गीत व वादित्रोंके शब्दोंके साथ स्तुति करनेवाले अन्य देवोंके द्वारा प्रबोधित किया जाता है ॥१२६॥

तब वे देव धीरे-धीरे कानोंपर्यन्त विस्तृत, सरल व स्नेहपूर्ण नेत्रोंके द्वारा बार-बार दिशाओंका अवलोकन करते हैं ॥१२७॥

उस समय वे विचार करते हैं—

क्या यह इन्द्रजाल है, अथवा क्या स्वप्न है, या माया है, अथवा क्या भ्रान्ति है ? इस सामने दिखते हुए चित्रके विषयमें मुझे कुछ निश्चय नहीं हो रहा है ॥१२८॥

यह रमणीय है, यह सेवनीय है, यह प्रशंसनीय है, यह हितकर है, यह प्रिय है, यह सुन्दर है, यह चित्तको प्रसन्न करनेवाला है, यह आनन्दको अंकुरित करनेवाला है, यह कल्याणका स्थान है, यह निरन्तर उत्सवोंसे परिपूर्ण है और यह अतिशय सुन्दर प्रतीत होता है ॥१२९-३०॥

१. M L S वीक्ष्यते, N T X R वीक्षते, F J Y वीक्षन्ते । २. L S X R स शनैः, T °तेत्राशनैः, J ऽथ शनैः for सरलैः । ३. M N J न याति मम, L S F X Y R मम नायाति । ४. J प्रशान्तिदम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1825) सर्वर्द्धिमहिमोपेतं महर्द्धिकसुरार्चितम् ।
सप्तानीकान्वितं भाति त्रिदशेन्द्रसभाजिरम्[1] ॥१३१ । किं च[2]—

1826) मामेवोद्दिश्य सानन्दः[3] प्रवृत्तः किमयं जनः ।
पुण्यमूर्तिः प्रियः श्लाघ्यो विनीतो ऽत्यन्तवत्सलः ॥१३२

1827) त्रैलोक्यनाथसंसेव्यः को ऽयं देशः सुखाकरः ।
अनन्तमहिमाधारो विश्वलोकाभिनन्दितः ॥१३३

1828) इदं पुरमतिस्फीतं वनोपवनराजितम् ।
अभिभूय जगद्भूत्या वल्गतीव ध्वजांशुकैः ॥१३४

1825) **सर्वर्द्धिमहिमोपेतम्**—कीदृशम् अजिरम् । सर्वर्द्धिमहिमोपेतम् । पुनः कीदृशम् । महर्द्धिकसुरार्चितम् । पुनः कीदृशम् । सप्तानीकान्वितं त्रिदशेन्द्रसभाजिरं भाति । इति सूत्रार्थः ॥१३१॥ किं च युक्त्यन्तरमाह ।

1826) **मामेवोद्दिश्य**—पुनरपि देवश्चिन्तयति । अयं जनो ऽमरलक्षणः मामेवोद्दिश्य प्रवृत्तः । सानन्दादि विशेषणं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३२॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1827) **त्रैलोक्यनाथ**—अयं देशः को ऽस्ति । कीदृशः । त्रिलोकनाथसंसेव्यः । कीदृशः । सुखाकरः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३३॥ अथ पुनस्तच्चिन्तनमाह ।

1828) **इदं पुरम्**—ध्वजांशुकैर्वल्गतीव । शेषं सुगमम् ॥१३४॥ अथ मन्त्रिमुखात् सर्वं स्तुवन्ति तदाह ।

समस्त ऋद्धियोंकी महिमासे संयुक्त, महती ऋद्धिके धारक देवोंसे पूजित और सात सेनाओंसे सहित यह प्रदेश इन्द्रके अंगणके समान प्रतिभासित होता है ॥१३१॥

पवित्र शरीरको धारण करनेवाले, प्रिय, प्रशंसनीय, अतिशय नम्र और अत्यन्त स्नेही ये जन क्या मुझको ही लक्ष्य करके आनन्दित हो रहे हैं ? ॥१३२॥

अपरिमित महिमाको धारण करनेवाला और समस्त लोकसे प्रशंसित यह तीनों लोकोंके स्वामी द्वारा सेवन करनेके योग्य व सुखकी खानस्वरूप देश कौन-सा है ? ॥१३३॥

अतिशय विस्तीर्ण व वन-उपवनोंसे सुशोभित यह नगर अपनी विभूतिसे लोकको तिरस्कृत करके मानो ध्वज वस्त्रोंके द्वारा नाच ही रहा है ॥१३४॥

---

१. M N °न्द्रसमर्चितं । २. P M किं च । ३. M सानन्दं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1829) आकलय्य तदाकूतं सचिवा दिव्यचक्षुषः ।
नतिपूर्वं प्रवर्तन्ते वक्तुं [1]वृत्तान्तमात्मनः ॥१३५

1830) प्रसादः क्रियतां देव नतानां स्वेच्छया दृशा ।
श्रूयतां च वचो ऽस्माकं पौर्वापर्यप्रकाशकम् ॥१३६ [2]तद्यथा—

1831) अद्य नाथ वयं धन्याः सफलं चाद्य जीवितम् ।
अस्माकं यत्त्वया स्वर्गः संभवेन पवित्रितः ॥१३७

1832) प्रसीद जय जीव त्वं देव पुण्यस्तवोद्भवः ।
भव प्रभुः समग्रस्य स्वर्गलोकस्य संप्रति ॥१३८

1833) [सौधर्मो[3] ऽयं महाकल्पः सर्वामरशतार्चितः ।
नित्याभिनवै[4]कल्याणवार्धिवर्धनचन्द्रमाः ॥१३८*१]

1829) **आकलय्य**—सचिवा मन्त्रिणः तदाकूतमाश्चर्यमाकलय्य ज्ञात्वा। कीदृशाः। दिव्यचक्षुषः। अतिपूर्वम् पूर्वमतिक्रम्येति। प्रवर्तन्ते तदा कालोचितं* वक्तुम्। इति सूत्रार्थः ॥१३५॥ अथ ते देवास्तमूचुः इत्याह।

1830) **प्रसादः**—हे देव, प्रसादः नतानां स्वेच्छया क्रियतां दृशा। च पुनः। अस्माकं वचः श्रूयताम्। कीदृशम्। पौर्वापर्यप्रकाशकम् इति सूत्रार्थः ॥१३६॥ तद्यथा दर्शयति।

1831) **अद्य नाथ**—हे नाथ, त्वया अस्माकं स्वर्गः संभवेन पवित्रितः। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥१३७॥ अथ विज्ञप्तिरेवाह।

1832) **प्रसीद**—हे देव, प्रसीद प्रसादपरो भव। जय, जीव। पुण्यस्तवोद्भवः। समग्रस्य स्वर्गलोकस्य प्रभुर्भव संप्रति। इति सूत्रार्थः ॥१३८॥ अथ ते प्रोचुस्तदेवाह।

1833) **सौधर्मो ऽयम्**—नित्याभिनन्दि*कल्याणसमुद्रवर्धनचन्द्रः। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥१३८*१॥ अथ पुनस्तदाह।

तब उसके इस अभिप्रायको जानकर दिव्य नेत्रवाले (अवधिज्ञानी) मन्त्रीस्वरूप देव नमस्कारपूर्वक अपना वृत्तान्त कहनेके लिए उद्यत होते हैं ॥१३५॥

वे निवेदन करते हैं कि हे देव ! नम्रीभूत हुए हम लोगोंके प्रति आप अपनी अभीष्ट दृष्टिके द्वारा प्रसन्नता प्रकट कीजिए और पूर्वापर अवस्थाओंको प्रकाशित करनेवाले हमारे इस निवेदनको सुनिए ॥१३६॥

वह निवेदन यह है—आपने अपनी उत्पत्तिके द्वारा जो हमारे स्वर्गको पवित्र किया है इसके लिए आज हम कृतार्थ हुए हैं तथा आज हमारा जीवन सफल हुआ है ॥१३७॥

हे देव ! आप प्रसन्न होइए, आपकी जय हो, आप चिरकाल जीवित रहें, आपका जन्म पवित्र (सफल) है, आप अब समस्त स्वर्गलोकको प्रभुताका अनुभव कीजिए ॥१३८॥

१. All others except P वक्तुं कालोचितं तदा । २. P M तद्यथा । ३. P Y om. । ४. T °भिनन्द ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1834) [1]कल्पः सौधर्मनामायमीशानप्रमुखाः सुराः ।
इहोत्पन्नस्य शक्रस्य कुर्वन्ति परिमोत्सवम् ॥१३९

1835) अत्र संकल्पिताः कामा नवं नित्यं च यौवनम् ।
अत्राविनश्वरी लक्ष्मीः सुखं चात्र निरन्तरम् ॥१४०

1836) स्त्रर्विमानमिदं रम्यं कामगं[2] कान्तदर्शनम् ।
पादाम्बुजनता चेयं तव त्रिदशमण्डली ॥१४१

1837) एते दिव्याङ्गनाकीर्णाश्चन्द्रकान्ता मनोहराः ।
प्रासादा रत्नवाप्यश्च क्रीडानद्यश्च भूधराः ॥१४२

1834) **कल्पः सौधर्म**—सौधर्मनामा कल्पः । ईशानप्रमुखाः सुराः देवाः शक्रस्य इन्द्रस्य । इति सूत्रार्थः ॥१३९॥ [पुनस्तदाह ।]

1835) **अत्र संकल्पिताः**—अविनश्वरी अविनाशिनी । च पुनः । निरन्तरं सुखं चात्र विद्यते । इति सूत्रार्थः ॥१४०॥ अथ पुनस्तदेव तमूचुः ।

1836) **स्वर्विमानम्**—हे नाथ, इदं स्वर्विमानं रम्यं मनोहरम् । कामगं कामदर्शनं कामरूपं कान्तदर्शनम् । च पुनः । तव इयं त्रिदशमण्डली पादाम्बुजनता चरणकमलनता । इति सूत्रार्थः ॥१४१॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1837) **एते दिव्याङ्गना**—एते प्रासादाः दिव्याङ्गनाकीर्णाः । पुनः कीदृशाः । चन्द्रकान्तमनोहराः । च पुनः । रत्नवाप्यः रत्नमयदीर्घिकाः । च पुनः । क्रीडानद्यः, भूधराः । इति सूत्रार्थः ॥१४२॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

सब सैकड़ों देवोंसे पूजित यह सौधर्म नामका विस्तृत स्वर्ग है, जो निरन्तर नवीन कल्याणरूप समुद्रके बढ़ानेके लिए चन्द्रमाके समान सिद्ध है ॥१३८*१॥

यह सौधर्म कल्प है । ईशान इन्द्रको आदि लेकर सब देव यहाँ उत्पन्न हुए सौधर्म इन्द्रका महान् उत्सव किया करते हैं ॥१३९॥

यहाँ इच्छानुसार विषयभोग प्राप्त होते रहते हैं, निरन्तर नया यौवन बना रहता है, यहाँ लक्ष्मी अविनश्वर है, तथा सुख निरन्तर रहनेवाला है—उसका विच्छेद नहीं होता है ॥१४०॥

इच्छानुसार गमन करनेमें समर्थ व देखनेमें अतिशय सुन्दर यह रमणीय स्वर्गविमान है तथा आपके चरण-कमलोंमें नम्रीभूत हुआ यह देवोंका समूह है ॥१४१॥

ये इधर दिव्य स्त्रीजनोंसे व्याप्त, चन्द्रके समान रमणीय और मनके हरनेवाले भवन हैं तथा इधर ये रत्नमय वापिकाएँ, क्रीड़ानदियाँ और पर्वत हैं ॥१४२॥

१. M om. this verse । २. M कामदं, J कामाङ्गं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1838) सभाभवनमेतत्ते नतामरशतार्चितम् ।
रत्नद्वीपकृतालोकं पुष्पप्रकरशोभितम् ॥१४३

1839) विनीतवेषधारिण्यः कामरूपा वरस्त्रियः ।
तवादेशं प्रतीक्षन्ते लास्यलीलारसोत्सुकाः ॥१४४

1840) आतपत्रमिदं पूज्यमिदं च हरिविष्टरम् ।
एतच्च चामरव्रातमेते[1] विजयकेतवः ॥१४५

1841) एता [2]अग्रमहादेव्यो वरस्त्रीवृन्दवेष्टिताः[3] ।
तृणीकृतसुराधीशलावण्यैश्वर्यसंपदः ॥१४६

1838) **सभाभवनम्**—हे नाथ, एतत्ते सभाभवनम् । कीदृशम् । नतामरशतार्चितं वृन्दारुदेवशतार्चितम् । पुनः कीदृशम् । रत्नद्वीपकृतालोकम् । पुनः कीदृशम् । पुष्पप्रकरशोभितम् । इति सूत्रार्थः ॥१४३॥ पुनस्ते तं प्रतिपादयन्ति ।

1839) **विनीतवेष**—एताः वरस्त्रियः तवादेशं प्रतीक्षन्ते वाञ्छन्ति । कीदृश्यः । विनीतवेषधारिण्यः । पुनः कीदृश्यः । कामरूपाः । पुनः कीदृश्यः । लास्यलीलारसोत्सुकाः । इति सूत्रार्थः ॥१४४॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1840) **आतपत्रमिदं**—इदं च हरिविष्टरं सिंहासनम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१४५॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

1841) **एता अग्र**—हे नाथ, एता अग्रमहिष्यः* । कीदृश्यः । वरस्त्रीवृन्दवन्दिताः* । सुगमम् । पुनः कीदृश्यः । तृणीकृतसुराधीशलावण्यैश्वर्यसंपदः, तृणीकृता सुराधीशस्य लावण्यस्य ऐश्वर्यम् एव संपद् याभिः ताः । इति सूत्रार्थः ॥१४६॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

यह आपका सभाभवन है जो सैकड़ों नम्रीभूत हुए देवोंसे पूजित, रत्नमय दीपों द्वारा किये गये प्रकाशसे देदीप्यमान और पुष्पसमूहोंसे सुशोभित है ॥१४३॥

नम्र वेषको धारण करनेवाली व इच्छित रूपसे संयुक्त ये उत्तम स्त्रियाँ नृत्यक्रीड़ाके आनन्दकी उत्कण्ठासे आपकी आज्ञाकी प्रतीक्षा कर रही हैं ॥१४४॥

यह आपका पूज्य छत्र है, यह सिंहासन है, यह चँवरोंका समूह है, और ये विजयध्वज हैं ॥१४५॥

उत्तम स्त्रियोंके समूहसे वेष्टित व इन्द्रके लावण्य और ऐश्वर्यरूप सम्पत्तिको तृणके समान तुच्छ प्रकट करनेवाली ये आपकी अग्रमहादेवियाँ हैं । हे स्वामिन् ! शृंगाररूप समुद्रकी वेला (तट) स्वरूप, विलाससे हर्षित भ्रुकुटियोंवाली और क्रीड़ाके अलंकारोंसे परिपूर्ण वे अग्रदेवियाँ आपके लिए समर्पित हैं ॥१४६–४७॥

१. Y चामरवृन्दं । २. L S F X Y R अग्रे, J अग्रमहिष्यो ऽथ । ३. L J X Y R वृन्दवन्दिताः, T °वेदिताः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1842) शृङ्गारजलधेर्वेला विलासोल्लासितभ्रुवः ।
लीलालङ्कारसंपूर्णास्तव नाथ समर्पिताः ॥१४७

1843) सर्वावयवनिर्माण[1]श्रीरासां नोपमास्पदम् ।
यासां श्लाघ्यामलस्निग्धपुण्याणुप्रभवं वपुः ॥१४८

1844) अयमैरावणो[2] नाम देवदन्ती महामनाः ।
धत्ते गुणाष्टकैश्वर्याच्छ्रियं विश्वातिशायिनीम् ॥१४९

1845) इदं मत्तगजानीकमितो ऽश्वीयं मनोजवम् ।
एते स्वर्णरथास्तुङ्गा वल्गन्त्येते[3] पदातयः ॥१५०

1846) एतानि सप्त सैन्यानि पालितान्यमरेश्वरैः ।
नमन्ति ते पदद्वन्द्वं वेत्ति[4] विज्ञप्तिपूर्वकम् ॥१५१

1842) **शृङ्गार**—हे नाथ, एताः स्त्रियः समर्पिताः । कीदृश्यः । शृङ्गारजलधेः शृङ्गारसमुद्रस्य वेलाः । पुनः कीदृश्यः । विलासोल्लासिता भ्रूः यासां ताः । पुनः कीदृश्यः । लीलालङ्कारसंपूर्णाः । इति सूत्रार्थः ॥१४७॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

1843) **सर्वावयव**—आसाम् अग्रस्त्रीदेवीनां सर्वावयवनिर्माणश्रीः सर्वशरीरावयवरचनाश्रीः उपमास्पदं नो वर्तते । यासां वपुः श्लाघ्यम् अमलस्निग्धपुण्याणुप्रभवं निर्मलस्निग्धपवित्रपरमाणुजातम् । इति सूत्रार्थः ॥१४८॥ अथ स्वर्गश्रियं दर्शयन्ति तामाह ।

1844) **अयमैरावणः**—अयमैरावणो नाम देवदन्ती श्रियम् । कीदृशः दन्ती । महामनाः । कीदृशीं श्रियम् । विश्वातिशायिनीम् । कस्मात् । गुणाष्टकैश्वर्यात् । इति सूत्रार्थः ॥१४९॥

1845) **इदं मत्त**—इदं प्रत्यक्षेण दृश्यते मत्तगजानाम् । पश्येति प्रत्येकं योज्यम् । यतः स्वीयम् अश्वानाम् इदम् अश्वीयम् अनीकम् । एते प्रत्यक्षं स्वर्णरथाः तुङ्गाः उन्नताः । वल्गन्ति । कटकान्ते पदातयस्ते । इति सूत्रार्थः ॥१५०॥ अथ स्वर्गसर्वस्वं दर्शयन्नाह ।

1846) **एतानि**—भवान् विज्ञप्तिपूर्वकं वेत्ति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१५१॥ अथ पुनरमराः कथयन्ति ।

इनके समस्त अवयवोंकी रचनाकी लक्ष्मी अनुपम है ! कारण कि उनका शरीर प्रशंसनीय, निर्मल व स्निग्ध, पवित्र परमाणुओंसे उत्पन्न हुआ है ॥१४८॥

यह उदार मनवाला आपका ऐरावण नामका देवहस्ती है जो अणिम-महिमा आदि आठ गुणोंके सामर्थ्यसे समस्त लोकको आश्चर्यान्वित करनेवाली लक्ष्मीको धारण करता है ॥१४९॥

यह मदोन्मत्त हस्तिसेना है, इधर यह मनके समान वेगवाले घोड़ोंकी सेना है, ये उन्नत सुवर्णमय रथ हैं, तथा ये पादचारी चल रहे हैं ॥१५०॥

ये इन्द्रोंके द्वारा रक्षित सात सेनाएँ हैं। वे द्वारपालके निवेदनके साथ आपके चरणयुगलमें नमस्कार कर रहे हैं ॥१५१॥

१. M N निर्मणा, T निर्वाण । २. L अयमैरावतो । ३. M N चलन्त्येते । ४. S वंति, T Y चेति, F वेत्सि, X R नति for वेत्ति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1847) समग्रं स्वर्गसाम्राज्यं दिव्यभूत्योपलक्षितम् ।
पुण्यैस्ते संमुखीभूतं गृहाणं प्रणतामरम् ॥१५२

1848) इतिवादिनि सुस्निग्धे सचिवे[1] ऽत्यन्तवत्सले ।
अवधिज्ञानमासाद्य पौर्वापर्यं स बुध्यते[2] ॥१५३

1849) अहो तपः पुरा चीर्णं मयान्यजनदुश्चरम् ।
वितीर्णं चाभयं दानं प्राणिनां जीवितार्थिनाम् ॥१५४

1850) आराधितं मनःशुद्ध्या दृग्बोधादिचतुष्टयम् ।
देवश्च जगतां नाथः सर्वज्ञः परमेश्वरः ॥१५५

1851) निर्दग्धं विषयारण्यं स्मरवैरी निपातितः ।
कषायतरवश्छिन्ना रागशत्रुर्नियन्त्रितः ॥१५६

1847) **समग्रम्**—[दिव्यभूत्या स्वर्गीयैश्वर्येण उपलक्षितं युक्तम् । प्रणतामरं प्रणताः अमराः यत्र एतादृशम् । संमुखीभूतं संप्राप्तम् । इति सूत्रार्थः ॥१५२॥] अथ पुनस्तदेवाह ।

1848) **इतिवादिनि**—इति अमुना प्रकारेण सुस्निग्धे एवंवादिनि । संचिन्त्य विचार्य । सुवत्सले । अवधिज्ञानमासाद्य पौर्वापर्यं स बुध्यते । इति सूत्रार्थः ॥१५३॥ अथ पूर्वकर्मस्वरूपमाह ।

1849) **अहो तपः**—जीवितार्थिनां जीवितवाञ्छकानां प्राणिनाम् । अभयदानं वितीर्णम् । अहो इत्याश्चर्ये । पुरा चीर्णं तपः मया । कीदृशम् । अन्यजनदुश्चरम् । इति सूत्रार्थः ॥१५४॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1850) **आराधितम्**—दृग्बोधादिचतुष्टयं सम्यग्दर्शनादिचतुष्कं मनःशुद्ध्या आराधितम् । च पुनः । देवः जगतां नाथः सर्वज्ञः परमेश्वरः । इति सूत्रार्थः ॥१५५॥ अथ पुनर्देवस्वरूपमाह ।

1851) **निर्दग्धम्**—विषयारण्यम् इन्द्रियव्यापाराटवीरूपं निर्दग्धं ज्वालितम् । स्मरवैरी कन्दर्पशत्रुः निपातितः । कषायतरवः छिन्नाः छेदिताः । रागशत्रुः नियन्त्रितः बद्धः । इति सूत्रार्थः ॥१५६॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

दिव्य विभूतिसे परिपूर्ण यह समस्त स्वर्गका साम्राज्य आपके पुण्यसे सन्मुख प्राप्त हुआ है । इसे देवोंके नमस्कारपूर्वक ग्रहण कीजिए ॥१५२॥

इस अतिशय स्निग्ध व अत्यन्त प्रेमी मन्त्रीके कहनेपर अवधिज्ञानके आश्रयसे वह पूर्वापरको जान लेता है ॥१५३॥

तत्पश्चात् वह विचार करता है—हर्ष है कि मैंने पूर्वमें जो अन्य जनके द्वारा दुःखपूर्वक अनुष्ठित किये जानेवाले तपका अनुष्ठान किया है, जीवित रहनेकी अभिलाषा रखनेवाले प्राणियोंको अभयदान दिया है; मनकी विशुद्धिपूर्वक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपरूप चार आराधनाओंका आराधन किया है; तीनों लोकोंके अधिपतिस्वरूप सर्वज्ञ

१. J संचिन्त्येव सुवत्सले । २. S J X Y R बुध्यति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1852) सर्वस्तस्य प्रभावो ऽयमहं येनाद्य दुर्गतेः ।
उद्धृत्य स्थापितः[1] स्वर्गराज्ये[2] त्रिदशवन्दिते ॥१५७

1853) रागादिदहनज्वाला न प्रशाम्यन्ति देहिनाम् ।
सद्वृत्तवार्यसंसिक्ताः क्वचिज्जन्मशतैरपि ॥१५८

1854) तन्नात्र सुलभं मन्ये तत्किं कुर्मो ऽधुना वयम् ।
सुराणां स्वर्गलोके ऽस्मिन् दर्शनस्यैव योग्यता ॥१५९

1855) अतस्तत्त्वार्थश्रद्धा मे श्रेयसी स्वार्थसिद्धये ।
अर्हद्देवपदद्वन्द्वे भक्तिश्चात्यन्तनिश्चला ॥१६०

1852) **सर्वस्तस्य**—तस्यायं सर्वः प्रभावः । येनाहमद्य दुर्गतेः उद्धृत्य स्थापितः स्वर्गराज्ये । कीदृशे । त्रिदशवन्दिते देवपूजिते । इति सूत्रार्थः ॥१५७॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

1853) **रागादि**—देहिनां प्राणिनां रागादिदहनशिखा न प्रशाम्यति । कीदृशी । सद्वृत्तं चारित्रं तदेव वारि जलसमूहः तेन असंसिक्ता । क्वचिज्जन्मशतैरपि । इति सूत्रार्थः ॥१५८॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

1854) **तन्नात्र**—अहं मन्ये । अत्र तत्सुलभं न । अधुना वयं तत् कुर्मः । स्वर्गलोके ऽस्मिन् सुराणां दर्शनस्यैव योग्यता वर्तते । इति सूत्रार्थः ॥१५९॥ अथ कर्तव्यतामाह ।

1855) **अतस्तत्त्वार्थ**—अतः कारणात् मे मम तत्त्वार्थश्रद्धा स्वार्थसिद्धये श्रेयसी प्रधाना । च पुनः । अर्हद्देवपदद्वन्द्वे जिनपादयुग्मे । अत्यन्तनिश्चला भक्तिरिति सूत्रार्थः ॥१६०॥ अथ पुनरर्हद्बिम्बानि पूज्यानीत्याह ।

परमात्माका भी आराधन किया है, विषयरूप वनको भस्म किया है, कामरूप शत्रुको मार गिराया है, कषायरूप वृक्षोंको नष्ट किया है, तथा रागरूप शत्रुको जो अपने वशमें किया है उसी सबका यह प्रभाव है कि जिसने मुझे दुर्गतिसे बचाकर आज देवोंसे वन्दित इस स्वर्गके राज्यमें—इन्द्रपदपर प्रतिष्ठित किया है ॥१५४–५७॥

प्राणियोंकी रागादिरूप अग्निकी ज्वाला—विषयतृष्णा—जबतक समीचीन चारित्ररूप जलके द्वारा नहीं सींची जाती है तब तक वह सैकड़ों जन्मोंसे भी कहीं शान्त नहीं हो सकती है ॥१५८॥

वह समीचीन चारित्र यहाँपर सुलभ नहीं है, यह मैं जानता हूँ। इसलिए अब हम क्या करें। यहाँ देवोंके इस स्वर्गलोकमें एकमात्र सम्यग्दर्शन की ही योग्यता है ॥१५९॥

इसलिए अपने प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिए यहाँ मुझे जीवादि तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) और अर्हन्त भगवान्‌के चरण-कमलमें अतिशय दृढ़ भक्ति ही हितकर है ॥१६०॥

१. S J X Y R स्थापितं । २. J स्वर्गे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1856) यान्यत्र प्रतिबिम्बानि स्वर्गलोके जिनेशिनाम् ।
विमानचैत्यवृक्षेषु मेर्वाद्युपवनेषु च ॥१६१

1857) तेषां पूर्वमहं कृत्वा सद्द्रव्यैः स्वर्गसंभवैः ।
पुष्पचन्दननैवेद्यैर्गन्धदीपाक्षतोत्करैः ॥१६२

1858) गीतवादित्रनिर्घोषैः स्तुतिस्तोमैर्मनोहरैः ।
स्वर्गैश्वर्यं ग्रहीष्यामि ततस्त्रिदशवन्दितम् ॥१६३

1859) इति सर्वज्ञदेवस्य कृत्वा पूजामहोत्सवम् ।
स्वीकुर्वन्ति तदा राज्यं पट्टबन्धादिलक्षणम् ॥१६४

1860) तस्मिन् मनोजवैर्यानैर्विचरन्तो यदृच्छया ।
वनाद्रिसागरान्तेषु दीव्यन्ति त्रिदिवौकसः ॥१६५

1856) **यान्यत्र**—यानि अत्र स्वर्गलोके प्रतिबिम्बानि जिनेशिनां तीर्थंकराणाम् । विमाने * चैत्यवृक्षेषु मेर्वाद्युपवनेषु । च पक्षान्तरे । इति सूत्रार्थः ॥१६१॥ अथ तेषां कर्तव्यतामाह ।

1857) **तेषां पूर्वम्**—तेषां जिनबिम्बानाम् अहं पूजां* कृत्वा । कैः । सद्द्रव्यैः । कीदृशैः । स्वर्गसंभवैः स्वर्गजातैः । पुष्पचन्दनादि सर्वं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१६२॥ पुनः कैः पूजा क्रियते ।

1858) **गीतवादित्र**—ततस्तस्मात् त्रिदशवन्दितं देववन्दितम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१६३॥ [पश्चात् राज्यं स्वीकुर्वन्ति तदाह ।]

1859) **इति सर्वज्ञ**—पट्टबन्धादिलक्षणं पट्टाभिषेकादिकम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१६४॥ अथ तत्र देवानां स्वरूपमाह ।

1860) **तस्मिन्मनोजवैः**—तस्मिन् स्वर्गे यानैः वाहनैः यदृच्छया विचरन्तः । कीदृशैः । मनोजवैः मनोवत् शीघ्रगैः । त्रिदिवौकसः देवाः । वनाद्रिसागरान्तेषु दीव्यन्ति क्रीडन्ति । इति सूत्रार्थः ॥१६५॥ अथ पुनः स्वर्गिणां सुखमाह ।

यहाँ स्वर्गलोकमें विमानों व चैत्यवृक्षोंके आश्रित तथा मेरु आदिके उपवनोंमें जो जिनेन्द्र देवोंकी प्रतिमाएँ हैं उनकी मैं पहले स्वर्गमें उत्पन्न हुए पुष्प, चन्दन, नैवेद्य, गन्ध, दीप और अक्षतोंके समूहों द्वारा गीत व वादित्रोंकी ध्वनियुक्त मनोहर स्तुतिसमूहोंके साथ पूजा करता हूँ। तत्पश्चात् देवोंसे वन्दित स्वर्गके ऐश्वर्यको ग्रहण करूँगा ॥१६१-६३॥

इस विचारसे वे सर्व-प्रथम सर्वज्ञ देवके पूजामहोत्सवको करते हैं और तत्पश्चात् पट्टबन्धादिरूप राज्यको स्वीकार करते हैं ॥१६४॥

वे देव वहाँ स्वर्गमें मनके वेगके समान शीघ्र गमन करनेवाले विमानोंके द्वारा इच्छानुसार वन, पर्वत और समुद्रके अन्तमें क्रीड़ा किया करते हैं ॥१६५॥

१. J विमाने । २. M N पूजामहं । ३. M N सद्दिव्यैः, S X R स्वद्रव्यैः । ४. X गन्धधूपा° । ५. Y om. this verse । ६. All others except P M J °वन्दितः । ७. P पूजां । ८. Y R स्वीकरोति । ९. N S T F J Y R ततो for तदा । १०. N T F Y R दीव्यन्ते ते दिवौ° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1861) संकल्पानन्तरोत्पन्नैर्दिव्यभोगैः समर्थितम्[१] ।
सेव्यमानाः[२] सुरानीकैः श्रयन्ति स्वर्गिणः सुखम् ॥१६६

1862) महाप्रभावसंपन्ने महाभूत्योपलक्षिते ।
कालं गतं न जानन्ति निमग्नाः सौख्यसागरे ॥१६७

1863) क्वचिद्गीतैः क्वचिन्नृत्यैः क्वचिद्वाद्यैर्मनोरमैः[३] ।
क्वचिद्विलासिनीव्रातक्रीडाश्रृङ्गारदर्शनैः[४] ॥१६८

1864) दशाङ्गभोगजैः सौख्यैर्लाल्यमानाः[५] क्वचित् क्वचित् ।
वसन्ति[६] स्वर्गिणः स्वर्गे कल्पनातीतवैभवैः[७] ॥१६९

1861) संकल्पानन्तरोत्पन्नैः—स्वर्गिणो देवाः सुखं सेव्यमानाः श्रयन्ति समाश्रयन्ति। सुरानीकैर्देवसैन्यैः समर्थितम्। कीदृशैः। संकल्पानन्तरोत्पन्नैः। इति सूत्रार्थः ॥१६६॥ अथ सौख्यमाहात्म्यमाह।

1862) महाप्रभाव—महालक्ष्म्योपलक्षिते। शेषं सुगममिति सूत्रार्थः ॥१६७॥ अथ पुनस्तदेवाह।

1863) क्वचिद्गीतैः—स्त्रीसमूहक्रीडांश्रृङ्गारावलोकनैः। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥१६८॥ अथैतेषां सुखजनकत्वमाह।

1864) दशाङ्ग—स्वर्गिणः स्वर्गे वसन्ति। कीदृशाः स्वर्गिणः। दशाङ्गजैः सौख्यैः लाल्यमानाः। क्वचित् क्वचित् कुत्र कुत्रापि। कीदृशे। कल्पनातीतवैभवे[*] अचिन्त्यराज्ये। इति सूत्रार्थः ॥१६९॥ अथ कल्पवृक्षान् दर्शयति।

देवसेनाओंके द्वारा सेवमान वे स्वर्गवासी देव संकल्पके अनन्तर ही उत्पन्न हुए दिव्य भोगोंसे परिपूर्ण सुखका उपभोग किया करते हैं ॥१६६॥

वे महान् प्रभावसे सम्पन्न और बड़ी विभूतिसे परिपूर्ण उस सुखके समुद्र में मग्न हाकर बीते हुए समयको नहीं जानते हैं—सुखपूर्वक स्वर्गमें रहते हुए उनका सागरोपमों प्रमाण काल बीत जाता है, जिसका उन्हें पता नहीं लगता है ॥१६७॥

स्वर्गवासी देव कहींपर गीतोंसे, कहीं नृत्योंसे, कहीं मनोहर बाजोंसे, कहीं अप्सरा-समूह की क्रीड़ा और उनके श्रृंगारके दर्शनसे, कहीं पर दशांगभोगोंसे उत्पन्न सुखसे और कहीं पर अचिन्त्य विभूतिसे लालित होते हुए वहाँ स्वर्गमें रहा करते हैं ॥१६८-६९॥

१. L S F Y R समन्वितं, T J समर्पितं। २. M S J X Y R सेवमानाः। ३. M N T J मनोहरैः। ४. X संगीतदर्शिने। ५. S R °र्लम्यमानाः। ६. Y विशन्ति। ७. All others except P M N वैभवे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1865) [मद्यतूर्यगृहज्योतिर्भूषाभोजनविग्रहाः ।
स्रग्दीपवस्त्रपात्राङ्गा दशधा कल्पपादपाः ॥१६९*१]
1866) यत्सुखं नाकिनां स्वर्गे तद्वक्तुं केन पार्यते ।
स्वभावजमनातङ्कं सर्वाक्षप्रीणनक्षमम् ॥१७०
1867) अशेषविषयोद्भूतं दिव्यस्त्रीसंगसंभवम् ।
विनीतजनविज्ञानैर्ज्ञानाद्यैश्वर्यलाञ्छितम् ॥१७१
1868) सौधर्माद्यच्युतान्ता ये स्वर्गाः षोडश वर्णिताः ।
कल्पातीतास्ततो ज्ञेया देवा वैमानिकाः परे ॥१७२

1865) **मद्यतूर्यं**—१. मद्य, २. तूर्यं, ३. गृह, ४. ज्योति, ५. भूषा, ६. भोजन, ७. विग्रहः, ८. स्रक्, ९. दीप, १०. वस्त्रपात्राङ्ग । तत्र मद्यम् । मदजनकवस्तुदायकाः कल्पवृक्षाः । तूर्यवादित्रदातारः । एवं सर्ववस्तुदातृत्वं तेषां यथानाम वाच्यम् । एते दश कल्पवृक्षाः ज्ञातव्याः । इति सूत्रार्थः ॥१६९*१॥ अथ नाकिनां सुखरूपमाह ।

1866) **यत्सुखं**—स्वर्गे नाकिनां यत्सुखं तत्सुखं वक्तुं केन पार्यते । कीदृशम् । स्वभावजम् । पुनः कीदृशम् । अनातङ्कम् । पुनः कीदृशम् । सर्वाक्षप्रीणनक्षमं सर्वेन्द्रियाह्लादसमर्थम् । इति सूत्रार्थः ॥१७०॥ अथ पुनस्तत्सुखमाह ।

1867) **अशेष**—ज्ञानाद्यैश्वर्यलाञ्छितम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१७१॥ अथ स्वर्गाणां स्वरूपमाह ।

1668) **सौधर्मादि**—ये सौधर्माद्यच्युतान्ताः सौधर्माद्याः अच्युतान्ताः षोडश कल्पाः स्वर्गाः वर्णिताः । ततः कल्पातीताः ज्ञेयाः देवाः परे वैमानिकाः । इति सूत्रार्थः ॥१७२॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

मद्यरूप शरीरके धारक—मद्यांग, तूर्यांग, गृहांग, ज्योतिरंग, भूषणांग, भोजनांग, स्रगंग, दीपांग, वस्त्रांग और भाजनांग ये दस प्रकारके वहाँ कल्पवृक्ष होते हैं जो संकल्पके अनुसार यथायोग्य अभीष्ट वस्तुओंको दिया करते हैं ॥१६९*१॥

स्वर्गमें देवोंको जो आकुलतासे रहित व सब ही इन्द्रियोंको प्रसन्न करनेवाला स्वाभाविक सुख प्राप्त होता है उसका वर्णन कौन कर सकता है ? अर्थात् वह अवर्णनीय है ॥१७०॥

समस्त विषयोंसे व देवांगनाओंके संयोगसे उत्पन्न हुआ वह स्वर्गसुख विनीत जनके विज्ञान व ज्ञानादि ऐश्वर्यसे चिह्नित है ॥१७१॥

सौधर्मको आदि लेकर अच्युत पर्यन्त जो सोलह स्वर्ग कहे गये हैं उनके आगेके वैमानिक देवोंको कल्पातीत जानना चाहिये । अहमिन्द्र कहे जानेवाले वे सब देव विषय-

१. P M N om. L F J read this Verse, after No 168, X Y read thus: मद्यतूर्यविभूषास्रक्ज्योतिर्दीपगृहाङ्गकाः । भोजनामृतवस्त्राङ्गा दशधा कल्पशाखिनः, (Y भोजनामात्र) । २. J अशेषं । ३. N स्त्रोसंघ. । ४. M संगसंगमं । ५. All others except P L विज्ञानज्ञाना° । ६. All others except P ये कल्पाः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1869) अहमिन्द्राभिधानास्ते सर्वे[1] वीचारवर्जिताः ।
विवर्धितशुभध्यानाः शुक्ललेश्यावलम्बिनः[2] ॥१७३

1870) अनुत्तरविमानेषु श्रीजयन्तादिपञ्चसु ।
संभूय स्वर्गिणश्च्युत्वा[3] व्रजन्ति पदमव्ययम् ॥१७४

1871) कल्पेषु च विमानेषु परतः परतो ऽधिकाः ।
सुखलेश्यायुर्विज्ञानप्रभावैः स्वर्गिणः स्वयम् ॥१७५

1869) **अहमिन्द्राभिधानाः**—ते अहमिन्द्राभिधानाः । पुनः कीदृशाः । प्रवीचारविवर्जिताः व्यभिचाररहिताः । पुनः कीदृशाः । विवर्धितशुभध्यानाः । पुनः कीदृशाः ।[4] शुभलेश्यावलम्बिनः । इति सूत्रार्थः ॥१७३॥ अथानुत्तरविमानमाह ।

1870) **अनुत्तर**—श्रीजयन्तादिपञ्चसु अनुत्तरविमानेषु संभूय च्युताः[3] स्वर्गिणः अव्ययं पदं व्रजन्ति । इति सूत्रार्थः ॥१७४॥ अथोपरि स्वर्गस्वरूपमाह ।

1871) **कल्पेषु च**—कल्पेषु स्वर्गेषु । च पुनः । विमानेषु । परतः परतो ऽधिकाः । के स्वर्गिणः । स्वयं सुखलेश्यायुर्विमानप्रभावैः सुखं च लेश्या च आयुश्च विज्ञानं च तेषां प्रभावैः । इति सूत्रार्थः ॥१७५॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह ।

वासनासे रहित, वृद्धिंगत शुभ ध्यानसे सहित और शुक्ल लेश्याका आश्रय लेनेवाले हैं ॥१७२-७३॥

श्री विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तर विमानोंमें उत्पन्न हुए वैमानिक देव वहाँसे च्युत होकर अविनश्वर पद (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं—विजयादिक चार विमानोंसे च्युत हुए देव मनुष्य होकर पुनः उन विजयादिकोंमें उत्पन्न होते हैं और तत्पश्चात् मनुष्य होकर मुक्तिको प्राप्त करते हैं, किन्तु सर्वार्थसिद्धि विमानसे च्युत हुए देव मनुष्य होकर नियमतः उसी भवसे मुक्तिको प्राप्त करते हैं ॥१७४॥

सौधर्मादि कल्पोंमें तथा ग्रैवेयकादि कल्पातीत विमानोंमें रहनेवाले वैमानिक देव आगे आगे—सौधर्म-ऐशानसे सानत्कुमार-माहेन्द्र कल्पके तथा उनसे ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर कल्पके, इस क्रमसे उत्तरोत्तर—सुख, लेश्या, आयु, विज्ञान और प्रभावसे स्वयं अधिक हैं ॥१७५॥

१. All others except P स्ते प्रवीचारविवर्जिताः । २. J X Y शुभलेश्या° । ३. J °श्च्युताः ।
४. Y om. this verse S R शुभलेक्ष्या° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1872) [1]ततो ऽग्रे[1] शाश्वतं धाम जन्मजातङ्कविच्युतम् ।
ज्ञानिनां यदधिष्ठानं क्षीणनिःशेषकर्मणाम् ॥१७६

1873) चिदानन्दगुणोपेता निष्ठितार्था[2] विबन्धनाः ।
यत्र सन्ति स्वयंबुद्धाः सिद्धाः सिद्धेः स्वयंवराः ॥१७७

1874) समस्तो ऽयमहो[3] लोकः केवलज्ञानगोचरः ।
तं व्यस्तं वा समस्तं वा स्वशक्त्या चिन्तयेद्यतिः ॥१७८

1875) [विलीनाशेषकर्माणं[4] स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं[5] स्मरेत् ॥१७८*१]

1872) **ततो ऽग्रे**—ज्ञानिनां यद् अधिष्ठानं ततः श्रीभास्वतं* क्रान्तिसूर्यं धाम। पुनः कीदृशम्। जन्मजो य आतङ्कः भयं तेन विच्युतं रहितम्। पुनः कीदृशानाम्। क्षीणनिःशेषकर्मणामिति सूत्रार्थः ॥१७६॥ अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह।

1873) **चिदानन्द**—यत्र स्वयंबुद्धाः सिद्धाः सन्ति। कीदृशाः। सिद्धेः स्वयंवराः। पुनः कीदृशाः। चिदानन्दगुणोपेताः ज्ञानानन्दगुणसहिताः। पुनः कीदृशाः। निष्ठितार्थविबन्धनाः* सिद्धार्थविबन्धनाः। इति सूत्रार्थः ॥१७७॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह।

1874) **समस्तो ऽयम्**—तं लोकं व्यस्तम् ऊर्ध्वाधोविभागेन। वा समस्तं सर्वलोकं स्वशक्त्या चिन्तयेद् यतिः। इति सूत्रार्थः ॥१७८॥ अथ पुनस्तदेवाह।

1875) **विलीनाशेष**—स्वं स्मरेत्। कीदृशं स्वम्। विलीनाशेषकर्माणं नष्टाशेषकर्माणम्। स्फुरन्तं दीप्यमानम्। अतिनिर्मलम्। पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतम्। इति सूत्रार्थः ॥१७८*१॥ अथोपसंहरति। मालिनी छन्दः।

अनुत्तर विमानोंके ऊपर जन्म-मरणरूप संसारमें उत्पन्न होनेवाले दुखसे रहित अविनश्वर स्थान—सिद्धक्षेत्र—है। वह ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंका क्षय करके अनन्त ज्ञानादिको प्राप्त कर लेनेवाले सिद्धात्माओंसे अधिष्ठित है ॥१७६॥

उस सिद्धक्षेत्रमें चैतन्यस्वरूप आनन्द गुणसे सम्पन्न, कृतकृत्य, कर्मबन्धसे सर्वथा रहित, स्वयं-बुद्ध—परनिरपेक्ष समस्त पदार्थोंके ज्ञाता द्रष्टा—तथा सिद्धिरूप लक्ष्मीके द्वारा स्वयं वरण किये गये ऐसे सिद्ध परमात्मा विराजमान हैं ॥१७७॥

आश्चर्यकी बात है कि यह सम्पूर्ण भी लोक केवलज्ञानका विषय है—केवलज्ञानसे प्रत्यक्ष देखा जाता है। योगीको उसका चिन्तन पृथक्-पृथक् स्वरूपसे और सामस्त्येन भी अपनी शक्तिके अनुसार करना चाहिये ॥१७८॥

ध्याताको समस्त कर्ममलसे रहित, प्रकाशमान (ज्ञानमय), अतिशय निर्मल, पुरुषके आकारको धारण करनेवाले और अपने शरीरके मध्यमें अवस्थित ऐसे अपने आत्मस्वरूपका चिन्तन करना चाहिये ॥१७८*१॥

१. J ततो श्रीभास्वतं धाम। २. J °तार्थविव°। ३. T X Y समस्तो ऽयं महा°। ४. P M N om., see 1686। ५. J स्वाङ्गं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1876) इति निगदितमुच्चैर्लोकसंस्थानमित्थं
नियतमनियतं वा ध्यायतः शुद्धबुद्धेः ।
भवति सततयोगाद्योगिनो निष्प्रमादं
नियतमनतिदूरे[1] केवलज्ञानलाभः[2] ॥१७९

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-
विरचिते संस्थानविचयप्रकरणम् ॥३३॥

1876) **इति निगदितम्**—इति पूर्वोक्तप्रकारेण इत्थं लोकसंस्थानं गदितम् । नियतम् अनियतं वा निश्चितम् अनिश्चितं वा । ध्यायतः शुद्धबुद्धेर्योगिनो निःप्रमादं सततयोगात् केवलज्ञानराज्यं* भवति । अनतिदूरे नियतं निश्चितम् । इति सूत्रार्थः ॥१७९॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन
साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहऋषिदास-
स्वश्रवणार्थं—पण्डितजिनदासोद्यमेन कारापितं
संस्थानविचयप्रकरणम् ॥३३॥

सुधाम्बुधिवह्नीरक्षीरदण्डीरसोदरः । श्रीमट्टोडरपुत्रस्य यशः प्रसरतीह वै ॥ इत्याशीर्वादः । अथ ध्यानस्वरूपमाह ।

इस प्रकारसे जिस उन्नत लोककी आकृतिका यहाँ वर्णन किया गया है उसका नियत अथवा अनियत स्वरूपसे जो निर्मलबुद्धि योगी प्रमादसे रहित हो चिन्तन करता है उसको नियमसे निरन्तर उस ध्यानके प्रभावसे थोड़े ही समयमें केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है ॥ १७९ ॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्रविरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
संस्थानविचय प्रकरण समाप्त हुआ ॥३३॥

---

१. S X Y R °दूरं । २. N लक्ष्मीः, All others except P N ज्ञानराज्यं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[पिण्डस्थध्यानम्]

1877) पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
चतुर्धा ध्यानमाम्नातं भव्यराजीवभास्करैः ॥१

1878) पिण्डस्थे[1] पञ्च विज्ञेया धारणा वीरवर्णिताः ।
संयमी यास्वसंमूढो जन्मपाशान् निकृन्तति ॥२

1879) पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसनाख्याथ[2] वारुणी ।
तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम्[3] ॥३॥ तद्यथा[4]—

1877) **पिण्डस्थं च**—ध्यानं चतुर्धा आम्नातं कथितम् । तदेवाह । पिण्डस्थम् । च पुनः । पदस्थम् । च पुनः । रूपस्थम् । चकारात् रूपवर्जितम् । कैः । भव्यराजीवभास्करैः भव्यकमलसूर्यैः । इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ पिण्डस्थध्यानमाह ।

1878) **पिण्डस्थे**—पिण्डस्थे ध्याने पञ्चधारणा विज्ञेया । कीदृशी । *धीरवर्णिता । संयमी यासु धारणासु अमूढः दक्षः । जन्मपाशान् निकृन्तति छिनत्ति । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ तासां स्वरूपमाह ।

1879) **पार्थिवी**—पञ्चतत्त्वरूपवती रूपयुक्ता । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३॥ तद्यथा दर्शयति ।

जो भव्य जीवों रूप कमलोंको सूर्यके समान प्रफुल्लित किया करते हैं उन जिनेन्द्र देवोंने पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीतके भेदसे ध्यानको चार प्रकारका कहा है ॥ १ ॥

पिण्डस्थ ध्यानमें श्री वीर जिनेन्द्रके द्वारा निर्दिष्ट की गयीं वे पाँच धारणाएँ जान लेने योग्य हैं, जिनके विषयमें मूढ़तासे रहित होकर योगी संसाररूप फाँसोंको काटता है ॥२॥

पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती; ये वे पाँच धारणाएँ क्रमसे जान लेने योग्य हैं ॥३॥

१. All others except P M J पिण्डस्थं । २. S X R श्वसना वाथ, J °नाख्या च । ३. J क्रमात् ।
४. P M तद्यथा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1880) तिर्यग्लोकसमं योगी स्मरति क्षीरसागरम् ।
निःशब्दं शान्तकल्लोलं हारनीहारसंनिभम् ।।४

1881) तस्य मध्ये सुनिर्माणं सहस्रदलमम्बुजम् ।
स्मरत्यमितभादीप्तं द्रुतहेमसमप्रभम्[1] ।।५

1882) अब्जरागसमुद्भूतकेसरालीविराजितम् ।
जम्बूद्वीपप्रमाणं च चित्तभ्रमररञ्जकम्[2] ।।६

1883) स्वर्णाचलमयीं दिव्यां तत्र स्मरति कर्णिकाम् ।
स्फुरत्पिङ्गप्रभाजालपिशङ्गितदिगन्तराम्[3] ।।७

1884) शरच्चन्द्रनिभं तस्यामुन्नतं हरिविष्टरम्[4] ।
तत्रात्मानं सुखासीनं प्रशान्तमिति चिन्तयेत् ।।८

1880) **तिर्यग्लोक**—योगी क्षीरसागरं तिर्यग्लोकसमं स्मरति। हारः, नीहारः हिमं, तत्संनिभं सदृशम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ।।४।। अथ तन्मध्ये यत्तदाह ।

1881) **तस्य मध्ये**—तस्य क्षीरसागरस्य मध्ये सुनिर्माणं सहस्रदलम् अम्बुजम् अमितभादीप्तं स्मरति । हुतहेमसमप्रभं भ्रमत्स्वर्णसमानकान्ति । इति सूत्रार्थः ।।५।। अथ पुनस्तदेवाह ।

1882) **अब्जराग**—अब्जरागसमुद्भूतं कमलद्युतिजातम् । केसरालीविराजितं परागश्रेणिशोभितम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ।।६।। एतदेवाह ।

1883) **स्वर्णाचल**—पिशङ्गितं पीतीकृतं दिगन्तरं यत्र तत्तथा । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ।।७।। अथ पुनस्तदाह ।

1884) **शरच्चन्द्र**—तस्यां कर्णिकायाम् उन्नतम् उच्चैस्तरं हरिविष्टरं सिंहासनम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ।।८।। अथ पुनस्तदेवाह ।

उनका स्वरूप इस प्रकार है—पार्थिवी धारणामें योगी शब्द और लहरोंसे रहित तथा हार और वर्फके समान धवल ऐसे क्षीरसमुद्रका तिर्यग्लोकके बराबर स्मरण करता है ।।४।।

फिर उस क्षीरसमुद्रके मध्यमें उत्कृष्ट रचनासे संयुक्त, अपरिमित कान्तिसे सुशोभित, पिघले हुए सुवर्णके समान प्रभावाले हजार पत्तोंसे वेष्टित, कमलकी लालिमासे उत्पन्न परागपंक्तिसे सुशोभित और मनरूप भ्रमरोंको अनुरंजित करनेवाले ऐसे जम्बूद्वीप प्रमाण विस्तृत कमलका स्मरण करता है ।।५-६।।

उस कमलके भीतर प्रकाशमान पीली कान्तिके समूहसे दिग्मण्डलको पीला करनेवाली मेरुपर्वतस्वरूप दिव्य कर्णिकाका स्मरण करता है ।।७।।

उस कमलकर्णिकाके ऊपर शरत्कालीन चन्द्रमाके समान धवल ऊँचे सिंहासनका और उसके ऊपर सुखसे अवस्थित, अतिशय शान्त राग-द्वेषादिरूप समस्त कलंकके नष्ट करनेमें

१. M समभ्रमं । २. Y भ्रमरपञ्जरं । ३. T J दिगन्तरम् । ४. P °मति, M °मपि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1885) रागद्वेषादिनिःशेषकलङ्कक्षपणक्षमम् ।
उद्युक्तं[1] च भवोद्भूतकर्मसंतानशातने ॥९॥ पार्थिवी ॥

1886) ततो ऽसौ निश्चलाभ्यासात् कमलं नाभिमण्डले ।
स्मरत्यतिमनोहारि षोडशोन्नतपत्रकम् ॥१०

1887) प्रतिपत्र[2]समासीनस्वरमालाविराजितम् ।
कर्णिकायां महामन्त्रं विस्फुरन्तं विचिन्तयेत् ॥११

1888) रेफरुद्धं कलाबिन्दुला[3]ञ्छितं शून्यमक्षरम् ।
लसद्बिन्दुच्[4]छटाकोटिकान्तिव्याप्तहरिन्मुखम् ॥१२॥ ऽर्हं[5] ॥

1885) **रागद्वेषादि**—रागद्वेषादयो ये निःशेषकलङ्काः तेषां क्षपणे क्षमं समर्थम् । च पादपूरणे । उद्युक्तं सावधानम् । भवोद्भूतं कर्मसंतानशातने स्फेटने । इति सूत्रार्थः ॥९॥ पार्थिवी ।

1886) **ततो ऽसौ**—ततः असौ योगी नाभिमण्डले कमलं स्मरति । कस्मात् । निश्चलाभ्यासात् । कीदृशम् । अतिमनोहारि । षोडश उन्नतानि पत्राणि यस्मिन् तत् तथा । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ तत्रापि विशेषमाह ।

1887) **प्रतिपत्र**—कीदृशं कमलम् । प्रतिपत्रं समासीनम् । पुनः कीदृशम् । स्वरमालाविराजितं स्वरसमूहशोभितम् । कर्णिकायां महामन्त्रं स्फुरन्तं विचिन्तयेत् । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ पुनः कीदृशम् ।

1888) **रेफरुद्धं**—शून्यमक्षरम् । अर्हन्तम् । कीदृशम् । रेफरुद्धं रकारव्याप्तम् । पुनः कीदृशम् । कलाबिन्दुलाञ्छितं कला च बिन्दुश्च ताभ्यां लक्षितम् । पुनः कीदृशम् । लसद्बिन्दुच्छटाकोटिकान्तिव्याप्तं दीप्यमानबिन्दुच्छटाकोटीनां कान्तिः तया व्याप्तं हरितां दिशां मुखं येन तत् तथा । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ पुनस्तदाह ।

समर्थ एवं संसारमें उत्पन्न हुई कर्मपरम्पराके कृश करनेमें—उसके निर्जीर्ण करनेमें—उद्यत । ऐसे आत्माका चिन्तन करना चाहिए ॥८-९॥ पार्थिवी धारणा ।

तत्पश्चात् योगीको स्थिर अभ्यासपूर्वक नाभिमण्डलमें अतिशय मनोहर व सोलह उन्नत पत्तोंसे संयुक्त कमलका विचार करना चाहिये ॥१०॥

फिर कर्णिकाके ऊपर प्रकाशमान व प्रत्येक पत्तेके ऊपर अवस्थित स्वरमाला (अ, आ, इ, ई आदि) से सुशोभित महामन्त्र का चिन्तन करना चाहिए ॥११॥

रेफसे वेष्टित, कला व बिन्दु ँ से चिह्नित और शोभायमान चन्द्रमाकी कान्तिके समान करोड़ों किरणोंसे दिशाओंके मुखको व्याप्त करनेवाले शून्य अक्षर (ह) स्वरूप उपर्युक्त इस महामन्त्र (हँ) का चिन्तन करना चाहिये ॥१२॥

१. J तद्युक्तं । २. M N T प्रतिपत्रं । ३. M बिन्दुं । ४. N T X Y R लसदिन्दु, F लसन् बिन्दु । ५. L ह्रीं, M T F अर्हं, N आर्हं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1889) तस्य रेफाद्विनिर्यान्तीं शनैर्धूमशिखां स्मरेत् ।
स्फुलिङ्गसंततिं पश्चाज्ज्वालालीं[1] तदनन्तरम् ॥१३

1890) तेन ज्वालाकलापेन वर्धमानेन संततम् ।
दहत्यविरतं धीरः पुण्डरीकं हृदि स्थितम् ॥१४

1891) तदष्टकर्मनिर्माणमष्टपत्रमधोमुखम्[2] ।
दहत्येव महामन्त्रध्यानोत्थ[3]प्रबलानलः[4] ॥१५

1892) ततो बहिः शरीरस्य त्रिकोणं वह्निमण्डलम् ।
स्मरेज्ज्वालाकलापेन ज्वलन्तमिव वाडवम् ॥१६

1889) **तस्य रेफात्**—तस्य हकारस्य रेफात् विनिर्यान्तीं निर्गच्छन्तीं धूमशिखां स्मरेत् । पश्चात् स्फुल्लिङ्गसंतति वह्निकणसमूहं स्मरेत् । तदनन्तरं ज्वालालिं ज्वालाश्रेणीम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ पुनस्तद्विशेषमाह ।

1890) **तेन ज्वाला**—पुण्डरीकं कमलम् । अविरतं निरन्तरम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1891) **तदष्टकर्म**—अर्हन्मन्त्रध्यानोत्थः* जातः प्रबलानलः बहुतराग्निः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ कीदृशमित्याह ।

1892) **ततो बहिः**—ततो बहिः शरीरस्य त्रिकोणं मण्डलं स्मरेत् । इवोत्प्रेक्षते । ज्वालाकलापेन ज्वलन्तम् इव वाडवम् । तथेति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ पुनर्वह्निमण्डलस्वरूपमाह ।

तत्पश्चात् योगीको उस मन्त्रकी रेफसे धीरे-धीरे निकलती हुई धुएँकी शिखाका, तत्पश्चात् स्फुलिंगों (अग्निकणों) की परम्पराका और तत्पश्चात् ज्वालापंक्तिका स्मरण करना चाहिये । फिर ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि निरन्तर बढ़ते हुए उस ज्वालासमूहसे वह धीर योगी हृदयमें स्थित कमलको निरन्तर जला रहा है ॥१३-१४॥

वह हृदयस्थ कमल आठ कर्मोंकी रचनायुक्त आठ पत्तोंवाला है और उसे उपर्युक्त महा मन्त्रके ध्यानसे उत्पन्न हुई प्रबल अग्नि जला रही है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए ॥१५॥

तत्पश्चात् शरीरके बाह्य भागमें वह्नि बीजपद (अ) से व्याप्त, अन्तमें स्वस्तिक चिह्नसे चिह्नित, ऊपर वायुपुरसे प्रादुर्भूत हुए, धुएँसे रहित और सुवर्णके समान कान्तिवाले ऐसे

१. L T ज्वालावली, S F ज्वालाली । २. J °घोक्षजम् । ३. M ध्यानोत्थः । ४. L S T X Y R प्रबलो ऽनलः, T प्रभवानलः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1893) वह्निबीजसमाक्रान्तं पर्यन्ते स्वस्तिकाङ्कितम् ।
ऊर्ध्वं[1] वायुपुरोद्भूतं निर्धूमं काञ्चनप्रभम् ॥१७

1894) अन्तर्दहति मन्त्रार्चिर्बहिर्वह्निपुरं परम् ।
धगद्धगिति विस्फूर्जज्ज्वालाप्रचयभासुरम् ॥१८

1895) भस्मभावमसौ नीत्वा शरीरं तच्च पङ्कजम् ।
दाह्याभावात्स्वयं शान्तिं याति वह्निः शनैः शनैः ॥१९॥आग्नेयी[2] ।

1896) विमानपथमापूर्य संचरन्तं समीरणम् ।
स्मरत्यविरतं योगी महावेगं महाबलम् ॥२०

1893) **वह्निबीज**—वह्निबीजसमाक्रान्तम् अग्निमूलसमाव्याप्तम् । पुनः कीदृशम् । पर्यन्ते प्रान्ते स्वस्तिकाङ्कितं स्वस्तिकाकारम् । ऊर्ध्वं वायुपुरोद्भूतं वायुमण्डलजातम् । निर्धूमं काञ्चनप्रभं स्वर्णसमम् इत्यर्थः ॥१७॥ अथ पुनस्तत्कार्यमाह ।

1894) **अन्तर्दहति**—अन्तः मध्ये मन्त्रार्चिः । बहिर्वह्निपुरं परं प्रकृष्टम् । कीदृशम् । धगद्धगिति विस्फूर्जज्ज्वालाप्रचयभासुरम् ॥१८॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

1895) **भस्मभावम्**—असौ योगी भस्मभावं नीत्वा । शरीरं बहिर्भूतं तच्च पङ्कजम् । मध्ये दाह्याभावात् स्वयं वह्निः शनैः शनैः शान्तिं यातीति सूत्रार्थः ॥१९॥ आग्नेयी भावना । अथ मारुतीभावनामाह ।

1896) **विमानपथम्**—समीरणम् अविरतं निरन्तरं स्मरति । कीदृशम् । विमानपथं वायुम् आपूर्य संचरन्तम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ [कीदृशं वायुं तदाह ।]

त्रिकोण अग्निमण्डलका स्मरण करना चाहिए जो ज्वालाओंके समूहसे जलते हुए वडवानलके समान प्रतीत हो रहा हो ॥१६-१७॥

उस समय भीतर तो मन्त्रकी ज्वाला जलती है और बाहिर वह धक्-धक् इस प्रकार उठती हुई ज्वालाओंके समूहसे प्रकाशमान बाह्य अग्निपुर जलता है ॥१८॥

इस प्रकारसे वह अग्नि शरीर और उस कमलोंको भस्मीभूत करके तत्पश्चात् जलानेके लिये कुछ शेष न रहनेसे धीरे-धीरे स्वयं शान्त हो जाती है ॥१९॥ आग्नेयी धारणा ।

योगीके लिये आकाशको व्याप्त करके संचार करनेवाली उस वायुका निरन्तर स्मरण करना चाहिये जो अतिशय वेगशाली, बलिष्ठ, देवसेनाको विचलित करनेवाली, मेरुको कम्पित करनेवाली, मेघसमूहको विदीर्ण करनेवाली, महासमुद्रको क्षुब्ध करनेवाली, लोकके

१. M N T X Y R ऊर्ध्ववायु । २. Only P M आग्नेयी ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1897) चालयन्तं सुरानीकं धुन्वन्तं[1] त्रिदशाचलम्[2] ।
दारयन्तं घनव्रातं क्षोभयन्तं महार्णवम् ॥२१

1898) व्रजन्तं भुवनाभोगे संचरन्तं हरिन्मुखे ।
विसर्पन्तं जगन्नीडे[3] निर्विशन्तं[4] धरातले[5] ॥२२

1899) उद्धूय तद्रजः शीघ्रं तेन प्रबलवायुना ।
ततः स्थिरीकृताभ्यासः समीरं शान्तिमानयेत् ॥२३॥ मारुती[6] ।

1900) वारुण्यां स हि पुण्यात्मा घनव्रातचितं[7] नभः ।
इन्द्रायुधतडिद्गर्जि[8] चमत्काराकुलं[9] स्मरेत् ॥२४

1897) **चालयन्तम्**—महार्णवं समुद्रं क्षोभयन्तम् । पुनः किं कुर्वन्तम् । सुरानीकं चालयन्तम् । पुनः किं कुर्वन्तम् । त्रिदशाचलं धुन्वन्तम् । पुनः कीदृशम् । घनव्रातं मेघसमूहं दारयन्तमिति सूत्रार्थः ॥२१॥ पुनः कीदृशं वायुम् ।

1898) **व्रजन्तम्**—भुवनाभोगे जगद्विस्तारे व्रजन्तम् । हरिन्मुखे दिङ्मुखे संचरन्तम् । पुनः कीदृशम् । जगन्नीडे विश्वगृहे विसर्पन्तम् । धरातले निर्विशन्तम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथोपसंहरति ।

1899) **उद्धूय**—ततः अनन्तरं समीरं वायुं शान्तिम् आनयेत् । कीदृशः । स्थिरीकृताभ्यासः । तेन प्रबलवायुना तद्रजः पापं शीघ्रम् उद्धूय दूरीकृत्य । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ मारुती भावना । अथ वारुणी भावना ।

1900) **वारुण्यां**—हि निश्चितं वारुण्यां पुण्यात्मा नभः स्मरेत् । कीदृशम् । घनव्रातचितं मेघसमूहव्याप्तम् । पुनः कीदृशम् ।* इन्द्रायुधतडिद्गर्जच्चमत्काराकुलम्, इन्द्रायुधम् इन्द्रधनुः, तडित् विद्युत्, तयोः चमत्कारेण आकुलं व्याप्तम् । इति सूत्रार्थः ॥२४॥ पुनरेतदेवाह ।

विस्तारमें गतिशील, दिशाओंके मुखमें संचार करनेवाली, जगत् रूप घोंसलेके भीतर प्रवेश करनेवाली और पृथिवीतलमें प्रविष्ट हो रही हो । इस प्रकार विचार करता हुआ योगी दृढ अभ्यास पूर्वक उस प्रबल वायुके द्वारा उन भस्म हुए शरीरादिकी धूलिको शीघ्र उड़ाकर तत्पश्चात् उसे शान्त करावे ॥२०-२३॥ मारुती धारणा ।

उस पवित्रात्मा योगीको वारुणी धारणामें मेघसमूहसे व्याप्त और इन्द्रधनुष व बिजलीकी गर्जनासे संयुक्त होकर आश्चर्यचकित करनेवाले आकाशका स्मरण करना चाहिये ॥२४॥

---

१. S J X Y R ध्वनन्तं । २. M J X R त्रिदशालयं । ३. J नीडं । ४. S J X Y R निविशन्तं । ५. S धरातलं । ६. Only P M X मारुती । ७. S R घनजाल । ८. All others except P T गर्जच्चमं । ९. J चमत्कारी ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1901) सुधाम्बुप्रभवैः सान्द्रैर्बिन्दुभिर्मौक्तिकोज्ज्वलैः ।
वर्षन्तं तं स्मरेद्धीरः स्थूलस्थूलैर्निरन्तरैः[1] ॥२५

1902) ततो ऽर्धेन्दुसमं[2] कान्तं पुरं वरुणलाञ्छनम्[3] ।
ध्यायेत्सुधापयःपूरैः प्लावयन्तं नभस्तलम् ॥२६

1903) तेनाचिन्त्यप्रभावेण दिव्यध्यानोत्थिताम्बुना ।
प्रक्षालयति निःशेषं तद्रजः कायसंभवम् ॥२७॥ वारुणी[4] ।

1904) सप्तधातुविनिर्मुक्तं पूर्णचन्द्रामलत्विषम् ।
सर्वज्ञकल्पमात्मानं ततः स्मरति शुद्धधीः[5] ॥२८

1901) **सुधाम्बु**—बिन्दुभिर्वर्षन्तं स्मरेत् । कीदृशैः । सुधाम्बुप्रभवैः अमृताम्बुसंजातैः । सान्द्रैः । पुनः । मौक्तिकोज्ज्वलैः । पुनः कीदृशैः । स्थूलस्थूलैः निरन्तरैरिति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ तदेवाह ।

1902) **ततो ऽर्धेन्दु**—ततः अर्धेन्दुसमम् अर्धचन्द्राकारं कान्तं प्रधानं वरुणमण्डलम् अस्तत्वम् । पुनः नभस्तलं प्लावयन्तम् । सुधापयःपूरैः अमृतजलसमूहैः । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथोपसंहरति ।

1903) **तेनाचिन्त्य**—तेन दिव्यध्यानोत्थिताम्बुना कायसंभवं तद्रजः निःशेषं समस्तं प्रक्षालयति । कीदृशेन । अचिन्त्यप्रभावेण । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ वारुणी । पुनर्ध्यानमाह ।

1904) **सप्तधातु**—ततः शुद्धधीः आत्मानं स्मरति । कीदृशम् आत्मानम् । सप्तधातुविनिर्मुक्तं सप्तधातुरहितम् । पुनः कीदृशम् । पूर्णचन्द्रामलत्विषं पार्वणचन्द्रनिर्मलरोचिषम् । पुनः कीदृशम् । सर्वज्ञकल्पं सर्वज्ञसदृशम् । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

उस आकाशका स्मरण करते हुए धीर योगीको अमृतजलसे उत्पन्न हुए, सघन और और मोतियोंके समान निर्मल ऐसे बड़े-बड़े बिन्दुओंके द्वारा निरन्तर वर्षा करते हुए आकाशका विचार करना चाहिये ॥२५।

तत्पश्चात् अर्धचन्द्रके समान आकृतिको धारण करनेवाले वरुण बीजाक्षरसे चिह्नित उस रमणीय वरुणपुरका ध्यान करना चाहिये जो अमृत रूप जलके प्रवाहसे आकाशको डुबो रहा हो—जलमय कर रहा हो ॥२६॥

तब योगी अचिन्त्य प्रभाववाले उस दिव्य ध्यानसे उत्पन्न जलके द्वारा भस्म हुए शरीरसे उत्पन्न उस समस्त धूलिको धोता है, ऐसा विचार करे ॥२७॥ वारुणी धारणा ।

तत्पश्चात् विशुद्ध बुद्धिके धारक योगीको अपने आपका रस-रुधिरादि सात धातुओंसे रहित और पूर्ण चन्द्रमाके समान निर्मल कान्तिवाला सर्वज्ञतुल्य स्मरण करना चाहिये ॥२८॥

१. All others except P T Y निरन्तरम् । २. T °न्दुसमाकारं । ३. All others except P M लाञ्छितम् । ४. Only PM वारुणी । ५. L S F R संयमी for शुद्धधीः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1905) मृगेन्द्रविष्टरारूढं दिव्यातिशयसंयुतम् ।
कल्याणमहिमोपेतं देवदैत्योरगार्चितम् ॥२९

1906) विलीना[1]शेषकर्माणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत् ॥३०

1907) इत्यवि[2]रतं स योगी पिण्डस्थे जातनिश्चलाभ्यासः ।
शिवसुखमनन्यसाध्यं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥३१

1908) इत्थं यत्रानवद्यं स्मरति नवसुधासान्द्रचन्द्रा[3]वदातं
श्रीमत्सर्वज्ञकल्पं कनकगिरितटे वीतविश्वप्रपञ्चम् ।

1905) **मृगेन्द्र**—पुनः कीदृशमात्मानम् । मृगेन्द्रविष्टरारूढं सिंहासनारूढम् । पुनः कीदृशम् । दिव्यातिशयसंयुतम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1906) **विलीनाशेष**—स्वं स्मरेत् ततः । कीदृशम् । विलीनाशेषकर्माणं नष्टाशेषकर्माणम् । स्फुरन्तम् अतिनिर्मलं स्वाङ्गगर्भगतम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथैतदेवाह । आर्या ।

1907) **इत्यविरतम्**—स योगी अविरतं निरन्तरम् इति प्रकारेण पिण्डस्थे ध्याने जातनिश्चलाभ्यासः शिवसुखं प्राप्नोति । कीदृशं शिवसुखम् । अनन्यसाध्यं नान्यसाध्यम् । केन । अचिरेण कालेन । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ पिण्डस्थध्यानमुपसंहरति । स्रग्धरा ।

1908) **इत्थं यत्र**—जिनसमयमहाम्भोधिपारं प्रयातैः जिनसिद्धान्तमहासमुद्रपारंगतैः तत् पिण्डस्थं प्रणीतम् । इत्थं यत्रानवद्यं निष्पापं स्मरति । नवसुधासान्द्रचन्द्रांशुगौरं* नवामृतसघनचन्द्रांशुगौरम् । पुनः कीदृशम् । श्रीमत्सर्वज्ञकल्पं सर्वज्ञसदृशम् । क्व । कनकगिरितटे । कीदृशम् ।

फिर योगीके लिये अपने शरीरके मध्यमें स्थित पुरुषाकार आत्माको सिंहासनपर आरूढ, दिव्य अतिशयोंसे संयुक्त, कल्याणकोंके माहात्म्यसे परिपूर्ण, देव, दैत्य व नागकुमारोंसे पूजित, समस्त कर्मोंसे रहित, ज्ञानज्योतिसे प्रकाशमान और अतिशय निर्मल स्मरण करना चाहिये—ध्यानमें देखना चाहिये ॥२९-३०॥

इस प्रकार निरन्तर पिण्डस्थ-ध्यानमें दृढतर अभ्यासको प्राप्त हुआ योगी थोड़े ही समयमें अन्यके द्वारा असाध्य मोक्षसुखको प्राप्त कर लेता है ॥३१॥

इस प्रकारसे जिस ध्यानमें निर्मल, नवीन अमृतसे सघन—अतिशय परिपूर्ण—ऐसे चन्द्रमाके समान पवित्र, ज्ञानलक्ष्मीसे आलिंगित सर्वज्ञके सदृश, सुवर्णमय मेरु पर्वतके किनारेपर अवस्थित होकर समस्त प्रपञ्चसे रहित हुए, विश्वरूप—समस्त पदार्थोंके आकारसे परिणत (उनका ज्ञाता) और महान् देवोंके समूहसे भी अचिन्त्य प्रभाववाले आत्माका

१. See 1686 and 1875 । २. T इति विरचितं स । ३. All others except P M N चन्द्रांशुगौरं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मानं विश्वरूपं[1] त्रिदशगुरुगणैरप्यचिन्त्यप्रभावं
तत्पिण्डस्थं प्रणीतं जिनसमयमहाम्भोधिपारं प्रयातैः ॥३२

1909) विद्यामण्डलमन्त्रयन्त्रकुहकं[2]क्रूराभिचार[3]क्रियाः
सिंहाशीविषदैत्यदन्तिशरभा यान्त्येव निःसारताम् ।
शाकिन्यो ग्रहराक्षसप्रभृतयो मुञ्चन्त्यसद्वासना-
मेतद्ध्यानधनस्य संनिधिवशाद्भानोर्यथा कौशिकाः ॥३३

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-
विरचिते पिण्डस्थध्यानप्रकरणम् ॥३४॥

वीतविश्वप्रपञ्चम् । पुनः कीदृशम् । आत्मानं निर्विकल्पम् । पुनः कीदृशम् । त्रिदशगुरुगणैरपि अचिन्त्यप्रभावम् । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथैतदुपसंहरति ।

1909) **विद्यामण्डल**—एतदध्यानधनस्य योगिनः एते सर्वे ऽपि निःसारतां निष्फलतां प्राप्तवन्तम् । विद्या च मण्डलं च मन्त्रश्च यन्त्रं च *कपटं च क्रूरा या अभिचारक्रिया व्यभिचारकार्यं तेषां समाहारः । ताः निष्फलतां यान्ति । पुनः एते ऽपि सिंहश्च आशीविषाः [च] सर्पविशेषाः । दैत्याः प्रसिद्धाः । दन्तिनो हस्तिनः । शरभाः अष्टापदाः तेषां समाहारः । पुनः शाकिन्यः । ग्रहाः केत्वादयः । राक्षसाः, तेषां समाहारः । असद्वासनां मुञ्चन्ति त्यजन्ति इति सूत्रार्थः ॥३३॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवसूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुले कमलदिवाकर-साहऋषिदास-स्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन कारापितपिण्डस्थध्यानप्रकरणं समाप्तम् ॥३४॥

पासराजश्च संभूतः तत्सुतष्टोडरो मतः । जैनधर्ममहाबुद्धिः रिषिदासः सुखोत्तमः ॥१॥ अथ पदस्थध्यानमाह ।

स्मरण किया जाता है उसे जिनागमरूप महासमुद्रके पारको प्राप्त हुए गणधर देवोंने पिण्डस्थ ध्यान कहा है ॥३२॥

जिस प्रकार सूर्यकी समीपता पाकर उल्लू निरर्थकताका अनुभव करते हुए दुर्वासना (कुत्सित संस्कार) को छोड़ दिया करते हैं उसी प्रकार इस पिण्डस्थ ध्यानरूप धनसे सम्पन्न योगीकी समीपताको पाकर विद्या, मण्डल (कुष्ठरोग या सैन्यरचनाविशेष), मन्त्र, इन्द्रजाल व दूसरेके घातके लिये किया जानेवाला क्रूर कर्म, तथा सिंह, आशीविष सर्प, दैत्य, हाथी और शरभ (एक हिंसक पशु) ये सब निरर्थकताको प्राप्त होते हैं—निष्प्रभ हो जाते हैं। साथ ही शाकिनी, दुष्ट ग्रह और राक्षस आदि भी दुर्वासनाको—अपने दुष्ट स्वभावको छोड़ देते हैं ॥३३॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें पिण्डस्थ ध्यान प्रकरण समाप्त हुआ ॥३४॥

---

१. M N योगिनाथं, L T F J निर्विकल्पं, X Y ज्ञानबीजं for विश्वरूपं । २. J कपटक्रूरा° । ३. All others except P M L F °चाराः क्रियाः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

XXXV

[पदस्थध्यानम्]

1910) पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते ।
तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः ॥१॥ तद्यथा[1]—

1911) ध्यायेदनादिसिद्धान्तप्रसिद्धां[2] वर्णमातृकाम्[3] ।
निःशेषशब्द[4]विन्यास[5]जन्मभूमिं जगन्नताम्[6] ॥२

1912) द्विगुणाष्टदलाम्भोजे नाभिमण्डलवर्तिनि ।
भ्रमन्तीं चिन्तयेद् ध्यानी प्रतिपत्रं[7] स्वरावलीम् ॥३

1910) **पदान्यालम्ब्य**—पुण्यानि पदानि आलम्ब्य योगिभिः यद् विधीयते, तत् पदस्थं ध्यानं मतं विचित्रनयपारगैः । इति सूत्रार्थः ॥१॥ तद्यथा दर्शयति ।

1911) **ध्यायेदनादि**—कीदृशीं वर्णमातृकां ध्यायेत् । अनादिसिद्धान्तप्रसिद्धाम् । सुगमम् । पुनः कीदृशीम् । निःशेषशब्दविन्यासजन्मभूमिं सर्वस्थापनाजन्मभूमिकाम् । पुनः कीदृशीम् । जगन्नुताम्[6] । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ पुनराह ।

1912) **द्विगुणाष्ट**—स्वरावलीं चिन्तयेत् । कः । ध्यानी । प्रतिपत्रम् । कीदृशि । नाभिमण्डलवर्तिनि । द्विगुणाष्टदलाम्भोजे षोडशदलकमले । भ्रमन्तीम् । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ स्वरावलीमाह ।

योगीजन पवित्र पदोंका आश्रय लेकर जिस ध्यानको किया करते हैं उसे अनेक प्रकारके नयोंके रहस्यको जाननेवाले विद्वान् पदस्थ ध्यान मानते हैं ॥१॥

वह इस प्रकारसे—योगीको समस्त शब्दरचनाकी कारणभूत और लोकके द्वारा नमस्कृत—जिसकी सब ही प्राणी वन्दना किया करते हैं—ऐसी अनादि परमागममें प्रसिद्ध वर्णमातृकाका—स्वर-व्यञ्जनात्मक वर्णमालाका—ध्यान करना चाहिए ॥२॥

ध्याताको प्रथमतः नाभिमण्डलमें स्थित सोलह पत्तोंवाले कमलके प्रत्येक पत्तेपर विचरण करनेवाली स्वरपंक्ति (अ, आ इत्यादि १६ स्वर) का विचार करना चाहिए ॥३॥

१. P M तद्यथा । २. Y °नादिसंसिद्धां प्र° । ३. T X Y मालिकां । ४. Y निःशेषपद । ५. T शब्दविज्ञानं, J विन्यासं । ६. All others except P M N Y न्नुताम् । ७. Y प्रतिपत्ति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1913) चतुर्विंशतिपत्राढ्यं हृदि कञ्जं सकर्णिकम् ।
तत्र वर्णानिमान् ध्यायेत् संयमी पञ्चविंशतिम्[1] ॥४

1914) ततो वदनराजीवे पत्राष्टकविभूषिते ।
परं वर्णाष्टकं ध्यायेत् संचरन्तं प्रदक्षिणम्[2] ॥५

1915) इत्यजस्रं स्मरन्योगी प्रसिद्धां वर्णमातृकाम्[3] ।
श्रुतज्ञानाम्बुधेः पारं प्रयाति विगतभ्रमः ॥६

1916) उक्तं च—
कमलदलोदरमध्ये ध्यायन् वर्णाननादिसंसिद्धान् ।
नष्टादिविषयबोधं[4] ध्याता संपद्यते कालात् ॥६*१

1913) **चतुर्विंशति**—हृदि कञ्जं कमलं सकर्णिकं कर्णिकासहितम् । तत्र कमले इमान् पञ्चविंशतिवर्णान् संयमी ध्यायेत् । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1914) **ततो वदन**—ततः तदनन्तरं वदनराजीवे पत्राष्टकविभूषिते परं वर्णाष्टकं संचरन्तं प्रदक्षिणं दक्षिणावर्तेन युक्तम् । इति सूत्रार्थः ॥५॥ एतदेवाह ।

1915) **इत्यजस्रं**—विगतभ्रमः नष्टाज्ञानः अजस्रं निरन्तरं इति स्मरन् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ उक्तं च शास्त्रान्तरे ।

1916) **कमलदलोदर**—नष्टादिविषयबोधं ध्याता संपद्यते कालात् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६*१॥ उक्तं च ।

इसी प्रकारसे योगी हृदयमें चौबीस (२४) पत्तोंसे व्याप्त कर्णिकायुक्त कमलका स्मरण करके उसके ऊपर इन (कवर्गादि पाँच वर्गों सम्बन्धी) पचीस (२५) वर्णोंका ध्यान करे ॥४॥

तत्पश्चात् आठ पत्तोंसे सुशोभित मुख-कमलके ऊपर प्रदक्षिण क्रमसे संचार करते हुए आगेके आठ वर्णों (य र ल व श ष स ह) का ध्यान करना चाहिए ॥५॥

इस प्रकारसे उस प्रसिद्ध वर्णमातृकाका भ्रान्तिको छोड़कर निरन्तर ध्यान करनेवाला योगी श्रुतज्ञानरूप समुद्रके पारको प्राप्त होता है—सम्पूर्ण श्रुतका ज्ञाता हो जाता है ॥६॥ कहा भी है—

कमलके पत्तों और उसकी कर्णिकाके मध्यमें अनादिसिद्ध वर्णोंका ध्यान करनेवाला योगी कुछ ही समयमें नष्ट आदि विषय सम्बन्धी—नष्ट हुई, गुमी हुई और अपहृत की गयी आदि वस्तुओंसे सम्बन्धित—ज्ञानको प्राप्त कर लेता है ॥६*१॥

---

१. L S F विंशतिः । २. M N प्रतिक्षणम् । ३. Y मालिकाम् । ४. L दृष्टचादिविषयबोधध्याता ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1917) उक्तं च—

जापाज्जयेत् क्षयमरोचकमग्निमान्द्यं[2]

कुष्ठोदरात्मकसनश्वसनादिरोगान्[3] ।

प्राप्नोति चाप्रतिमवाङ्महतीं महद्भ्यः

पूजां परत्र च गतिं पुरुषोत्तमाप्ताम् ॥६*२॥ इति[4] ।

1918) अथ मन्त्रपदाधीशं सर्वतत्त्वैक[5]नायकम् ।

आदिमध्यान्तभेदेन स्वरव्यञ्जनसंभवम् ॥७[6]

1919) ऊर्ध्वाधोरेफसंरुद्धं सकलं[7] बिन्दुलाञ्छितम् ।

अनाहतयुतं तत्त्वं मन्त्रराजं प्रचक्षते[8] ॥८[9]

1917) **जापात्**—जापात् जयेत् क्षयं क्षयरोगम् । अरोचकम् अनिषाद्यम् (?) । कुष्ठोदरात्मकं जयेत् इति सर्वत्र योज्यम् । मनःश्वसनादिरोगान्* वातादिरोगान् प्राप्नोति चकारात् । अप्रतिमवाङ्महतीं महद्भ्यः पूजां प्राप्नोति जापात् । च पुनः । परत्र पुरुषोत्तमाप्तां पुरुषोत्तमप्राप्ताम् इति सूत्रार्थः ॥६*२॥ अथ पुनस्तदाह ।

1918) **अथ मन्त्र**—अथेत्यानन्तर्ये । मन्त्रपदाधीशम् । पुनः कीदृशम् । सर्व* तत्त्वैकनायकम् । पुनः कीदृशम् । स्वरव्यञ्जनसंभवं स्वरव्यञ्जनात् संभवः यस्य तत् । केन । आदिमध्यान्तभेदेन आदिश्च मध्यश्च अन्तश्च तेषां समाहारः । तस्य भेदेन । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ पुनर्मन्त्रराजमाह ।

1919) **ऊर्ध्वाधोरेफ**—ऊर्ध्वाधोरेफसंरुद्धं सकलं बिन्दुलाञ्छितम् । पुनः कीदृशम् । अनाहतयुतम् । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ तदेवाह ।

जापसे—मन्त्र व वर्णों आदिके ध्यानसे—योगी क्षय, अरुचि, मन्दाग्नि, कोढ़, उदररोग, खाँसी और श्वास (दमा) आदि रोगोंपर विजय प्राप्त करता है तथा अनुपम वचनमाहात्म्यके साथ महापुरुषों द्वारा की जानेवाली पूजाको व परलोकमें श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा प्राप्त की गयी गतिको—स्वर्ग-मोक्षको—भी प्राप्त करता है ॥६*२॥

जो तत्त्व सब मन्त्रपदोंका स्वामी, सब तत्त्वोंका अद्वितीय नायक, आदि मध्य व अन्तके भेदसे स्वर व व्यंजनोंसे उत्पन्न हुआ, ऊपर व नीचे रेफसे रोका गया, कलासे संयुक्त, बिन्दुसे चिह्नित और अनाहत बीजाक्षरसे संयुक्त है उसे मन्त्रराज कहा जाता है ॥७–८॥

१. M N जपा°, L S F J X Y R जाप्या° । २. N मान्द्य। ३. L रोगाः । ४. P M इति । ५. F Y सत्त्वैक । ६. L F after the verse अर्हं । ७. R सपरं । ८. P प्रचक्ष्यते । ९. L S F ह्रं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1920) देवासुरनतं भीमंदुर्बोधध्वान्तभास्करम् ।
ध्यायेन्मूर्धस्थचन्द्रांशुकलापाक्रान्तदिङ्मुखम् ॥९॥ अपि च —

1921) कनककमलगर्भे कर्णिकायां निषण्णं
विगतमलकलङ्कं सान्द्रचन्द्रांशुगौरम् ।
गगनमनुसरन्तं संचरन्तं हरित्सु
स्मर जिनपतिकल्पं मन्त्रराजं यतीन्द्र ॥१०॥ अत्र मतानि —

1922) बुद्धः कैश्चिद्धरिः कैश्चिदजः कैश्चिन्महेश्वरः ।
शिवः सर्वस्तथैशानः सो ऽयं वर्णः प्रकीर्तितः ॥११

1923) मन्त्रमूर्तिं समादाय देवदेवः स्वयं जिनः ।
सर्वज्ञः सर्वगः शान्तः सो ऽयं साक्षाद् व्यवस्थितः ॥१२

1920) **देवासुर**—कीदृशं मन्त्रराजम् । देवासुरनतम् । पुनः कीदृशम् । भीमदुर्बोधध्वान्तभास्करं रौद्राज्ञानान्धकारसूर्यम् । एवंभूतं मन्त्रराजं धारयेत् । कीदृशम् । ऊर्ध्वचन्द्रांशुकलापाक्रान्तदिङ्मुखं शिरःस्थचन्द्रकिरणसमूहव्याप्तदिङ्मुखम् । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अपि च ।

1921) **कनक**—सान्द्रचन्द्रांशुगौरं सघनचन्द्रकरगौरवर्णम् । हरित्सु दिक्षु संचरन्तम् । यतीन्द्र त्वं स्मर । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अत्र मतानि । अथ तदैक्यतामाह ।

1922) **बुद्धः कैश्चित्**—सो ऽयं वर्णं उकारादिकः प्रकीर्तितः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ तस्यैव माहात्म्यमाह ।

1923) **मन्त्रमूर्तिम्**—मन्त्रमूर्तिं समादाय गृहीत्वा । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ तन्मन्त्रस्य महेश्वरमाह ।

जिसे देव और असुर नमस्कार करते हैं, जो भयानक मिथ्याज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट करनेके लिए सूर्यके समान है, तथा जो सिरपर स्थित चन्द्रकी किरणोंके समूहसे दिङ्मण्डलको व्याप्त करता है उस मन्त्रराजका योगीको ध्यान करना चाहिए ॥९॥

और भी—योगीको सुवर्णमय कमलके भीतर कर्णिकापर अवस्थित, मल व कलंकसे रहित, सघन चन्द्रकिरणोंसे गौर वर्ण और आकाशका अनुसरण कर दिशाओंमें संचार करनेवाले ऐसे उस जिनेन्द्रके समान मन्त्रराजका स्मरण करना चाहिए ॥१०॥

उसके विषयमें मतान्तर—उस इस वर्णको कितने ही विद्वान् बुद्ध, कितने ही विष्णु, कितने ही ब्रह्मा, कितने ही महेश्वर, कितने ही शिव, कितने ही सार्व और कितने ही ऐशान कहते हैं ॥११॥

उस मन्त्रस्वरूप शरीरको ग्रहण करके सर्वज्ञ, सर्वव्यापी व शान्त स्वयं जिनदेव ही साक्षात् अवस्थित हैं ॥१२॥

१. M N भीमं । २. P M अपि च । ३. All others except P M J Y जिनवर । ४. P यतीन्द्रः । ५. P M अत्र मतानि । ६. N S T J X Y R सार्वं । ७. M S F तथेशानः, L सर्वस्रष्टेशानः । ८. J तन्त्रमूर्ति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1924) ज्ञानबीजं जगद्वन्द्यं जन्मज्वलनवार्मुचम् ।
पवित्रं मतिमान् ध्यायेदिमं[1] मन्त्रं[2] महेश्वरम् ॥१३

1925) सकृदुच्चारितं येन हृदि येन स्थिरीकृतम् ।
तत्त्वं तेनापवर्गाय पाथेयं प्रगुणीकृतम् ॥१४

1926) यदैवेदं महातत्त्वं मुनेर्धत्ते हृदि स्थितिम् ।
तदैव जन्मसंतानप्ररोहः प्रविशीर्यते ॥१५

1927) स्फुरन्तं भ्रूलतामध्ये विशन्तं वदनाम्बुजे ।
तालुरन्ध्रेण गच्छन्तं स्रवन्तममृताम्बुभिः ॥१६

1928) स्फुरन्तं नेत्रपत्रेषु कुर्वन्तमलके[3] स्थितिम् ।
भ्रमन्तं ज्योतिषां चक्रे स्पर्धमानं सितांशुना ॥१७

1924) **ज्ञानबीजम्**—इमं महेश्वरं मन्त्रं ध्यायेत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

1925) **सकृदुच्चारितं**—येन पुरुषेण मन्त्रराज [तत्त्वं] सकृदेकवारमुच्चारितम् । येन पुंसा हृदि स्थिरीकृतं निश्चलीकृतम् । किं तत् । तत्त्वम् । तेन अपवर्गाय मोक्षाय पाथेयं संबलं प्रगुणीकृतं प्रचुरीकृतम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

1926) **यदैवेदं**—तदैव तत्काले एव जन्मसंतानप्ररोहः प्रविशीर्यते नश्यति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

1927) **स्फुरन्तम्**—सुधाजाले इति भ्रूलतामध्ये भ्रमन्तम् । वदनाम्बुजे मुखकमले विशन्तम् । तालुरन्ध्रेण गच्छन्तम् । अमृताम्बुना स्रवन्तम् । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ पुनः कीदृशं मन्त्रराजम् इत्याह ।

1928) **स्फुरन्तं नेत्र**—नेत्रपत्रेषु स्फुरन्तम् । अलके ललाटे स्थितिं कुर्वन्तम् । ज्योतिषां चक्रे समूहे भ्रमन्तम् । सितांशुना चन्द्रेण स्पर्धमानम् । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ पुनः कीदृशम् ।

बुद्धिमान् योगीको ज्ञानके बीजभूत, संसारसे वन्दनीय, जन्मरूप अग्निको शान्त करनेके लिए मेघ समान, पवित्र और महान् ऐश्वर्यशाली इस मन्त्रका ध्यान करना चाहिए ॥१३॥

जिस महात्माने उस मन्त्रराजका एक बार भी उच्चारण किया और जिसने उसे हृदयके भीतर स्थिर किया है उसने मोक्षको प्राप्त करनेके लिए पाथेयको—मार्गमें खाने योग्य भोजनको—ही तैयार कर लिया है ॥१४॥

यह महान् तत्त्व जिस समय मुनिके हृदयमें स्थिरताको प्राप्त कर लेता है उसी समय उसकी जन्मपरम्पराको बढ़ानेवाला अंकुर—संसारपरिभ्रमणका कारण—नष्ट हो जाता है ॥१५॥

योगीको भ्रुकुटिरूप लताओंके मध्यमें प्रकाशमान, मुखरूप कमलके भीतर प्रवेश करनेवाले, तालुके छेदसे जाते हुए, अमृत स्वरूप जलसे बहते हुए, नेत्रके पलकोंपर प्रकाश-

१. L F °दिदं; Y ध्यायेदादि । २. All others except P L Y मन्त्रमहे° । ३. M °मलिके ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1929) संचरन्तं दिशामास्ये प्रोच्छलन्तं[1] नभस्तले ।
छेदयन्तं कलङ्कौघं स्फेटयन्तं[2] भवभ्रमम् ॥१८

1930) नयन्तं परमस्थानं[3] योजयन्तं शिवश्रियम् ।
इति मन्त्राधिपं धीरं[4] कुम्भकेन विचिन्तयेत् ॥१९॥ ऽर्हं[5] ।

1931) अनन्यशरणः साक्षात्तत्संलीनैकमानसः ।
तथा स्मरत्यसौ ध्यानी यथा स्वप्ने[6]ऽपि न स्खलेत् ॥२०

1932) इति मत्वा स्थिरीभूतं सर्वावस्थासु सर्वथा ।
नासाग्रे निश्चलं धत्ते यदि वा भ्रूलतान्तरे[7] ॥२१

1929) **संचरन्तम्**—दिशामास्ये मुखे संचरन्तम् । नभःस्थले आकाशे प्रोच्छलन्तम् । कलङ्कौघं कलङ्कसमूहं छेदयन्तम् । भवभ्रमं संसारभ्रान्ति स्फेटयन्तं नाशयन्तम् । इति सूत्रार्थः । ॥१८॥ पुनः कीदृशम् ।

1930) **नयन्तम्**—परमस्थाने नयन्तं प्रापयन्तम् । शिवश्रियं योजयन्तम् । इति मन्त्राधिपं धीरः कुम्भकेन ध्यानेन विचिन्तयेत् । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अर्हम् । पुनः कीदृशम् ।

1931) **अनन्यशरणः**—असौ ध्यानी तथा स्मरति । कीदृशो ध्यानी । अनन्यशरणः अनन्यचित्तः । साक्षात् तत्संलीनमानसः तत्र संलीनं मानसं यस्य सः । यथा स्वप्ने ऽपि न स्खलेत् न च्युतो भवेत् । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ पुनराह ।

1932) **इति मत्वा**—सर्वावस्थासु आसनाद्यवस्थासु । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ पुनस्तद्विशेषमाह ।

मान, बालोंमें अवस्थानको प्राप्त करते हुए, ज्योतिषियोंके मण्डलमें घूमते हुए, चन्द्रमाके साथ स्पर्धा करते हुए, दिशाओंके मुखमें संचार करते हुए, आकाशतलमें उछलते हुए, कलंकके समूहको छेदते हुए, संसार परिभ्रमणको नष्ट करते हुए, परम पद (मोक्ष) को ले जाते हुए और मोक्षलक्ष्मीसे संयोग कराते हुए, इस स्वरूपमें उक्त मन्त्रराजका कुम्भकस्वरूपसे विचार करना चाहिए ॥१६-१९॥

ध्याता मुनि उक्त मन्त्रराजके सिवाय अन्य किसीको शरण न मानकर, एक मात्र उसीमें मन लगाता हुआ उसका इस प्रकारसे ध्यान करता है कि जिस प्रकार उससे स्वप्नमें भी च्युत नहीं होता है ॥२०॥

इस प्रकार सब ही अवस्थाओंमें व सब प्रकारसे मन्त्रराजको स्थिर मानकर उसे नासिकाके अग्रभागपर अथवा भ्रुकुटियोंके मध्यमें निश्चल स्वरूपसे धारण करना चाहिए।॥२१॥

---

१. M प्रोच्चलन्तं । २. L S F X R स्फोटयन्तं । ३. J स्थाने । ४. L J धीरः, F वीरः । ५. M N L अर्हं T अर्हीं, X चतुष्कुलं अर्हं । ६. Y स्वप्नेन । ७. M N भ्रूयुगान्तरे, T वाग्भ्रू ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1933) तत्र कैश्चिच्च वर्णादिभेदैस्तत्कल्पितं[1] पुनः ।
मन्त्रमण्डलमुद्रादिसाधनैरिष्टसिद्धिदम्[2] ॥२२

1934) उक्तं च—
अकारादि हकारान्तं रेफमध्यं सबिन्दुकम् ।
तदेव परमं तत्त्वं यो जानाति स तत्त्ववित् ॥२२*१॥ इति[3] ।

1935) सर्वावयवसंपूर्णं ततो ऽवयवविच्युतम् ।
क्रमेण चिन्तयेद्ध्यानी वर्णमात्रं शशिप्रभम् ॥२३॥ हः[4] ।

1936) बिन्दुहीनं कलाहीनं रेफद्वितयवर्जितम् ।
अनक्षरत्वमापन्नमनुच्चार्यं च चिन्तयेत् ॥२४॥ ह[5] ।

1933) **तत्र कैश्चित्**—तत्र शास्त्रे कैश्चित् पण्डितादिभेदैः वर्णान्तरैः तत्त्वं प्रकल्पितं कथितम् । पुनः कैः । मन्त्रमण्डलैः, मुद्रा आसनादि तान्येव साधनानि तैः । इष्टसिद्धिदं वाञ्छितसिद्धिदातारम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे ।

1934) **अकारादि**—अकारः आदौ यस्य तत् अकारादि । पुनः कीदृशम् । हकारान्तं हकारः अन्ते यस्य तत् तथा । पुनः कीदृशम् । रेफमध्यं सबिन्दुकम् । अर्हं सिद्धम् । उत्तरार्धं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२२*१॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1935) **सर्वावयव**—अवयवविच्युतम् अवयवरहितम् । शशिप्रभं शशी इव प्रभा यस्य तत् । शेषं सुगमम् ॥२३॥ अर्हम् । पुनर्विशेषमाह ।

1936) **बिन्दुहीनम्**—अनक्षरं ककारादिव्यञ्जनरहितम् । अनुच्चार्यम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथ पुनर्विशेषमाह ।

वहाँ कितने ही महर्षियोंने उसे वर्णादिके भेदके अनुसार तथा मन्त्र मण्डल और मुद्रा आदिरूप साधनसामग्रीके अनुसार अभीष्ट सिद्धिको देनेवाला माना है ॥२२॥ कहा भी है—

जिसके आदिमें अकार है, अन्तमें हकार है और मध्यमें बिन्दु सहित रेफ है वही (अर्हं) उत्कृष्ट तत्त्व है । उसको जो जानता है वह तत्त्वज्ञ माना जाता है ॥२२* १॥

योगीको उसका ध्यान क्रमशः सब अवयवों (रेफ, बिन्दु व कला) से सम्पूर्ण, और तत्पश्चात् उन अवयवोंसे रहित व चन्द्रसमान कान्तिमान् केवल वर्ण मात्र (ह) के रूपमें करना चाहिए ॥२३॥

फिर बिन्दुसे रहित, कलासे रहित, दोनों रेफोंसे रहित, अक्षर स्वरूपसे रहित और उच्चारणसे भी रहित उसका चिन्तन करना चाहिए ॥२४॥

१. M N L T J X Y भेदैस्तत्त्वं प्रकल्पितं । २. X रष्टसिद्धिं । ३. P M N इति । ४. P M हः । ५. P M N ह, L अं, T अ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1937) चन्द्रलेखा[1]समं सूक्ष्मं[2] स्फुरन्तं भानुभास्वरम्[3] ।
अनाहताभिधं देवं दिव्यरूपं विचिन्तयेत् ॥२५

1938) अस्मिन् स्थिरीकृताभ्यासाः सन्तः शान्तिं समाश्रिताः ।
अनेन दिव्यपोतेन तीर्त्वा जन्मोग्रसागरम् ॥२६

1939) तदेव च पुनः सूक्ष्मं क्रमाद्बालाग्रसंनिभम् ।
ध्यायेदेकाग्रतां प्राप्य कर्तुं चेतः सुनिश्चलम्[4] ॥२७

1940) ततो[5] विगलिताशेषविषयीकृतमानसः ।
अध्यक्षमीक्षते साक्षाज्जगज्ज्योतिर्मयं क्षणे[6] ॥२८

1941) सिध्यन्ति सिद्धयः सर्वा अणिमाद्या न संशयः ।
सेवां कुर्वन्ति दैत्याद्या आज्ञैश्वर्यं च जायते ॥२९

1937) **चन्द्रलेखा**—अनाहताभिधं ह्रींकारं देवं दिव्यरूपं विचिन्तयेत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ [अथ योगिनां गतिमाह ।]

1938) **अस्मिन्**—अस्मिन् ओंकारे स्थिरीकृताभ्यासाः । शेषं सुगमम् ॥२६॥ अथ तस्यैव विशेषमाह ।

1939) **तदेव च**—तदेव ह्रींकारः पुनः सूक्ष्मं क्रमात् । *बालाग्रभिन्नम् । यत्र एतदपि न श्रूयते । एतादृशं ध्यायेत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ ततो विशेषमाह ।

1940) **ततो विगलिताशेष**—ततो ऽपि* बालाग्रमात्रादपि गलिताशेषन्निषयीकृतमानसं येन गतसर्वविषयव्यापारमानसः । साक्षात् जगत् अध्यक्षम् ईक्षते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ तस्यैव फलमाह ।

1941) **सिध्यन्ति**—[अणिमाद्या अष्ट सिद्धयः सिध्यन्ति प्राप्ता भवन्ति । दैत्याद्याः दैत्यदानवराक्षसाः । शेषं सुगमम् ॥२९॥ अथ तस्यैव फलमाह ।]

तत्पश्चात् योगीको चन्द्रकी रेखा (कला) के समान सूक्ष्म, प्रकाशमान और सूर्यके समान तेजस्वी ऐसे अनाहत नामक दिव्य रूपधारी देवका चिन्तन करना चाहिए ॥२५॥

इस अनाहत के विषयमें जिन योगियोंने दृढ़तापूर्वक अभ्यास किया है वे इस अपूर्व नावके आश्रयसे संसाररूप समुद्रको पार करके शान्तिको प्राप्त हुए हैं ॥२६॥

पश्चात् योगी चित्तको अत्यन्त निश्चल करने के लिए एकाग्रताको प्राप्त होकर उसी अनाहतका क्रम से बालके अग्रभागके समान सूक्ष्मस्वरूपसे ध्यान करे ॥२७॥

तत्पश्चात् मनको समस्त विषयोंसे विमुख कर चुकनेवाला योगी अतीन्द्रिय ज्ञानसे जगत्को क्षणभरमें प्रत्यक्षस्वरूपसे ज्योतिस्वरूप देखता है ॥२८॥

इस प्रकार के ध्यानसे योगीके लिए अणिमा-महिमा आदि सब ही सिद्धियाँ सिद्ध हो जाती हैं, दैत्य आदि उसकी सेवा करते हैं, तथा आज्ञा व ऐश्वर्य उदित होता है ॥२९॥

१. J रेखा । २. Y शून्यं for सूक्ष्मं । ३. X भासुरं । ४. M सुनिर्मलं । ५. All others except P M ततो ऽपि गलिता° । ६. M N क्षणं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1942) ततः[1] प्रच्याव्य लक्ष्येभ्य[2] अलक्ष्ये निश्चलं[3] मनः ।
दधतो ऽस्य स्फुरत्यन्तर्ज्योतिरत्यक्षमक्षयम् ॥३०

1943) इति लक्ष्यानुसारेण[4] लक्ष्याभावः[5] प्रकीर्तितः ।
तस्मिन् स्थितस्य मन्ये ऽहं मुनेः सिद्धं समीहितम् ॥३१

1944) एतत्तत्त्वं शिवाख्यं वा समालम्ब्य मनीषिणः ।
उत्तीर्णा जन्मकान्तारमनन्तक्लेशसंकुलम्[6] ॥३२॥

मन्त्रराजमनाहतं[7] [च] ।[8]

1942) **ततः प्रच्याव्य**—ततस्तदनन्तरं अलक्ष्ये शून्ये मनः स्थिरं दधतः अस्य योगिनः अन्तर्ज्योतिः अत्यक्षम् इन्द्रियागोचरं स्फुरति । कीदृशम् । अक्षयम् अविनाशि । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथोपसंहरति ।

1943) **इति लक्ष्यानुसारेण**—इति अमुना प्रकारेण लक्ष्यानुसारेण लक्ष्यं मर्यादीकृत्य मया लक्ष्यभावः* इन्द्रियगोचरव्यापारः प्रकीर्तितः कथितः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथैतदेवाह ।

1944) **एतत्तत्त्वम्**—एतत् शिवाख्यं तत्त्वमालम्ब्य मनीषिणः पण्डिताः जन्मकान्तारम् उत्तीर्णाः । कीदृशम् । अनन्तक्लेशसंकुलं व्याप्तम् । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ मन्त्रराजमनाहतं ह्रीँ ।

तत्पश्चात् मनको लक्ष्योंसे—आलम्बनीभूत पदार्थोंसे—च्युत कराकर उसे अलक्ष्यमें अतिशय निश्चल करनेवाले इस योगीके अतीन्द्रिय व अविनश्वर ज्योति प्रकाशमान होती है ॥३०॥

इस प्रकार लक्ष्यके अनुसार लक्ष्यका अभाव कहा गया है—सालम्बन ध्यानके सहारे निरालम्बन ध्यान का निर्देश किया गया है । जो मुनि उस अलक्ष्यमें अवस्थान प्राप्त कर चुका है उसका अभीष्ट सिद्ध हो गया, ऐसा मानता हूँ ॥३१॥

इस अनाहत तत्त्व अथवा शिवतत्त्वका आलम्बन लेकर अनेक बुद्धिमान् योगी दुःखोंसे व्याप्त अपरिमित संसाररूप वनके पार हो चुके हैं ॥३२॥ मन्त्रराज और अनाहत ।

१. All others except P क्रमात् प्रच्याव्य । २. P F लक्षेभ्य अलक्षे, M N L T J X Y R लक्ष्येभ्यस्ततो ऽलक्ष्ये । ३. All others except P S F स्थिरं मनः, F निश्चले । ४. P लक्ष्यनु° । ५. T J लक्ष्यभावः । ६. All others except P अनन्तं क्लेशं । ७. Only in P M N L T F । ८. L F T add ह्रीं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1945) स्मर दुःखानलज्वालाप्रशान्तेर्नवनीरदम् ।
प्रणवं वाङ्मयज्ञानप्रदीपं पुण्यशासनम् ॥३३

1946) यस्माच्छब्दात्मकं ज्योतिः प्रसूतमतिनिर्मलम् ।
वाच्यवाचकसंबन्धस्तेनैव परमेष्ठिनः ॥३४

1947) हृत्कञ्जकर्णिकासीनं स्वरव्यञ्जनवेष्टितम् ।
स्फीतमत्यन्तदुर्धर्षं देवदैत्येन्द्रपूजितम्[1] ॥३५

1948) प्रक्षरन्मूर्ध्निसंक्रान्तं[2]चन्द्रलेखा[3]मृतप्लुतम् ।
महाप्रभावसंपन्नं कर्मकक्षहुताशनम् ॥३६

1945) **स्मरदुःखानल**—प्रणवम् ओंकारम् । कीदृशम् । *स्मरदुःखानलज्वालाप्रशान्तेः कन्दर्प-दुःखाग्निशिखाशान्तेः । नवनीरदं नवीनमेघम् । वाङ्मयं वाक्स्वरूपं ज्ञानप्रदीपम् । पुनः कीदृशम् । पुण्यशासनं पुण्यस्वरूपम् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ तस्य वाङ्मयत्वं दर्शयति ।

1946) **यस्मात्**—यस्मात् ओंकारात् शब्दात्मकं ज्योतिः प्रसूतम् उत्पन्नम् । अतिनिर्मलम् । तेनैव ओंकारेण परमेष्ठिनः वाच्य-वाचकसंबन्धः, वाच्यं परमेष्ठी, वाचकानि तदक्षराणि, तयोः संबन्धः । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ तस्य स्वरूपमाह ।

1947) **हृत्कञ्ज**—हृत्कञ्जे हृदयकमले कर्णिकास्थितम् । पुनः कीदृशम् । स्वरव्यञ्जनवेष्टितम् । सुगमम् । स्फीतं प्रधानम् । अत्यन्तदुर्धर्षं दुःसहम् । पुनः कीदृशम् । देवदैत्येन्द्रपूजितम् । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ पुनः कीदृशं तदाह ।

1948) **प्रक्षरन्मूर्ध्नि**—प्रक्षरन्मूर्ध्नि संक्रान्तं संक्रमितं चन्द्रलेखामृते* प्लुतं व्यासम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ अथ पुनस्तमाह ।

जो पवित्र शासनस्वरूप प्रणव (ओं) दुःखरूप अग्निकी ज्वालाको शान्त करनेके लिए नवीन मेघके समान और श्रुतका परिज्ञान करानेमें दीपक जैसा है उसका योगीको स्मरण करना चाहिए ॥३३॥

जिस प्रणवसे अतिशय निर्मल शब्दरूप ज्योति उत्पन्न हुई है उसीसे परमेष्ठीका वाच्य-वाचक सम्बन्ध है—वह पाँचों परमेष्ठियोंका वाचक है ॥३४॥

जो प्रणव हृदयरूप कमलकी कर्णिकाके ऊपर स्थित, स्वर व व्यंजनोंसे वेष्टित, विस्तीर्ण अखण्डनीय, देवेन्द्र व दैत्येन्द्रसे पूजित, झरते हुए शिरके ऊपर अवस्थित चन्द्रमाकी कलासे निकलते हुए अमृतसे आर्द्र, महान् प्रभावसे परिपूर्ण और कर्मका क्षय करनेके लिए अग्निस्वरूप है ऐसे स्वरूपसे संयुक्त शरत्कालीन चन्द्रके समान निर्मल महान् तत्त्व, महान् बीज एवं महा-

---

१. M पूजितैः, N वन्दितं । २. M J संक्रान्तं । ३. N T रेखा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1949) महातत्त्वं महाबीजं महामन्त्रं महत्पदम् ।
शरच्चन्द्रनिभं ध्यानी कुम्भकेनैव[1] चिन्तयेत् ॥३७[2]

1950) सान्द्रसिन्दूरवर्णाभं यदि वा विद्रुमप्रभम् ।
चिन्त्यमानं जगत्सर्वं[3] क्षोभयत्यपि संगतम् ॥३८[4]

1951) जाम्बूनदनिभं स्तम्भे विद्वेषे कज्जलत्विषम् ।
ध्येयं वश्यादिके रक्तं चन्द्राभं कर्मशातने[5] ॥३९॥ ॐ[6] ।

1952) गुरुपञ्च[7]नमस्कारलक्षणं मन्त्रमूर्जितम् ।
विचिन्तयं[8] जगज्जन्तुपवित्रीकरणक्षमम् ॥४०

1949) **महातत्त्वम्**—[ध्यानी कुम्भकेनैव चिन्तयेत् । किम् । महामन्त्रम् । कीदृशम् । महातत्त्वं, महाबीजं, महत्पदम् । पुनः कीदृशम् । शरच्चन्द्रतुल्यम् । शेषं सुगमम् ॥३७॥] पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

1950) **सान्द्रसिन्दूर**—जगत् क्षोभयति । अतिसंगतं व्याप्तम् । सिन्दूरवर्णाभं सघनसिन्दूरसदृशं चिन्त्यमानम् । यदि वा विद्रुमप्रभं प्रवालकान्ति चिन्त्यमानम् । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ विशेषमाह ।

1951) **जाम्बूनद**—स्तम्भे स्तम्भने जाम्बूनदनिभं स्वर्णसदृशं ध्येयम् । विद्वेषे द्वेषकरणे कज्जलीत्विषं कज्जलकान्ति । वश्यादिके रक्तं ध्येयम् । कर्मनाशने* चन्द्राभं चन्द्रनिर्मलं लक्ष्यम् । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ सर्वत्र गम्यम् । ॐ । अथ पुनराह ।

1952) **गुरुपञ्च**—पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारलक्षणं मन्त्रम् ऊर्जितं बलवन्तं चिन्तयेत्* । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथ तस्य विशेषमाह ।

मन्त्र स्वरूप महान् पद (ओं) का योगीको कुम्भक रूपसे श्वासको निश्चल करके—ध्यान करना चाहिए ॥३५–३७॥

यदि उस प्रणवका चिन्तन सघन सिन्दूर जैसे वर्णसे संयुक्त और मूँगा जैसी कान्तिसे परिपूर्णके रूपमें किया जाता है तो वह सम्मिलित जगत्‌को—समस्त लोकको भी क्षुब्ध कर देता है ॥३८॥

ध्याताको स्तम्भन कार्यमें कीलित करनेके लिए—सुवर्णके समान पीतवर्ण, वैरभावमें कज्जलके समान कृष्णवर्ण, वशीकरण आदिमें रक्तवर्ण और कर्मकी निर्जरार्थ चन्द्रके समान धवल वर्णके रूपमें उसका चिन्तन करना चाहिए ॥३९॥

पाँचों परमेष्ठियोंको नमस्कार करने रूप लक्षणसे संयुक्त व जगत्‌के प्राणियोंके पवित्र करनेमें समर्थ, ऐसे उस तेजस्वी मन्त्रका ध्यान करना चाहिए ॥४०॥

---

१. All others except P M N °केन विचिन्त° । २. T adds ओं । ३. M N L J Y °यत्यतिसं°, T X R °त्यभिसं । ४. T adds ह्रूं । ५. J कर्मनाशनं । ६. P ओं । ७. M N T J पञ्चगुरुनम° । ८. M N L J X चिन्तयेच्च जग°, S F Y R विचिन्तयेज्जग°, T चिन्तयेत्तु जग° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1953) स्फुरद्विमलचन्द्राभे दलाष्टकविभूषिते ।
कञ्जे तत्कर्णिकासीनं मन्त्रं सप्ताक्षरं स्मरेत् ॥४१

1954) दिग्दलेषु ततो ऽन्येषु विदिक्पत्रेष्वनुक्रमात् ।
सिद्धादिक[1]चतुष्कं च दृष्टिबोधादिकं[2] तथा ॥४२
[3]ओं णमो अरहंताणं । णमो सिद्धाणं । णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं । णमो लोए सव्वसाहूणं । अपराजितमन्त्रो
ऽयम् । दर्शनज्ञानचारित्रतपांसि ।

1955) श्रियमात्यन्तिकीं प्राप्ता योगिनो ये ऽत्र केचन ।
अमुमेव महामन्त्रं ते समाराध्य केवलम् ॥४३

1956) प्रभावमस्य निःशेषं योगिनामप्यगोचरम् ।
अनभिज्ञो जनो ब्रूते[4] यः स मन्ये ऽनिलार्दितः ॥४४

1953) **स्फुरद्विमल**—कञ्जे कमले तत्कर्णिकायां मन्त्रं स्मरेत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४१॥ तदेवाह ।

1954) **दिग्दलेषु**—दिग्दलेषु दिक्पत्रेषु विदिक्पत्रेषु सिद्धादिषु चतुष्कम् । च पुनः । वा दृष्टिबोधादिकं सम्यग्दर्शनज्ञानादिकं स्थापनीयम् । तथा तेन प्रकारेणेति सूत्रार्थः ॥४२॥ ओं णमो अरहंताणं । णमो सिद्धाणं । णमो आयरियाणं । णमो उवज्झायाणं । णमो लोए सव्वसाहूणं । अपराजितमन्त्रो ऽयं दर्शनज्ञानचारित्रतपांसि । [अस्य फलमाह ।]

1955) **श्रियम्**—योगिनः आत्यन्तिकीं श्रियं परमश्रेयः प्राप्ताः । किं कृत्वा । अमुं महामन्त्रं समाराध्य । इति सूत्रार्थः ॥४३॥ अथ तस्य प्रभावमाह ।

1956) **प्रभावमस्य**—यो जनः अस्य मन्त्रस्य प्रभावं ब्रूते । कीदृशो जनः । अनभिज्ञः । अहं मन्ये । सः अनिलार्दितः बालः । कीदृशं प्रभावम् । निःशेषं योगिनामप्यगोचरम् । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ अथ पुनः प्रभावमाह ।

प्रकाशमान निर्मल चन्द्रमाके समान प्रभावाले व आठ पत्तोंसे सुशोभित कमलकी कर्णिका के ऊपर अवस्थित सात अक्षरवाले—णमो अरहंताणं—मन्त्रका, पूर्वादि चार दिशाओंमें स्थित चार पत्तोंपर सिद्धादिक चार—णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं—का तथा चार विदिशागत पत्तों पर दर्शन-ज्ञानादि—सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, सम्यक्तपसे नमः—का स्मरण करना चाहिए॥४१-४२॥

यहाँ जो कितने ही योगी आत्यन्तिकी लक्ष्मीको—मोक्षपदको—प्राप्त हुए हैं वे सब केवल उसी महामन्त्रका आराधन करके प्राप्त हुए हैं ॥४३॥

इस महामन्त्रके सम्पूर्ण प्रभावको तो योगी भी नहीं जानते हैं। फिर जो अज्ञानी जन उसके प्रभावके विषयमें कुछ कहता है उसको मैं वातरोग से पीड़ित मानता हूँ ॥४४॥

१. M N L T X Y R °दिकं । २. F J दिषु । ३. Only in P M L S F X; but M L F om. दर्शनज्ञानचारित्र, om. अपराजित........तपांसि । ४. J तं for ते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1957) अनेनैव विशुध्यन्ति जन्तवः पापपङ्किताः[1] ।
अनेनैव विमुच्यन्ते भवक्लेशान्मनीषिणः ॥४५

1958) असावेव जगत्यस्मिन् भव्यै[2]र्व्यसनबान्धवः ।
अमुं विहाय सत्त्वानां नान्यः कश्चित्कृपापरः[3] ॥४६

1959) एतद्व्यसनपाताले भ्रमत्संसारसागरे ।
अनेनैव जगत्सर्वमुद्धृत्य[4] विधृतं शिवे ॥ ४७

1960) कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च ।
अमुं मन्त्रं समाराध्य तिर्यञ्चो ऽपि दिवं गताः ॥४८

1961) शतमष्टोत्तरं यस्य[5] त्रिशुद्ध्या चिन्तयन्मुनिः[6] ।
भुञ्जानो ऽपि चतुर्थस्य प्राप्नोत्यविकलं फलम् ॥४९

1957) **अनेनैव**—मनीषिणः पण्डिता अनेनैव अपराजितमन्त्रेण भवक्लेशात् विमुच्यन्ते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ तस्यैव स्वरूपमाह ।

1958) **असावेव**—असावेव मन्त्राधिराजः भव*व्यसनबान्धवः संसारकष्टबान्धवः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४६॥ अथ पुनः प्रभावमाह ।

1959) **एतद्व्यसन**—व्यसनपाताले कष्टपाताले भ्रमत्संसारसागरे । अनेनैव जगत् सर्वम् उद्धृत्य विधृतं शिवे । इति सूत्रार्थः ॥४७॥ अथ पुनस्तस्य प्रभावमाह ।

1960) **कृत्वा पाप**—अमुं पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४८॥ अथ पुनराह ।

1961) **शतमष्टोत्तरं**—अस्य* मन्त्रस्याष्टोत्तरशतं विशुद्ध्या मनोवाक्कायशुद्ध्या मुनिश्चिन्तयेत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४९॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

पापरूप कीचड़से लिप्त प्राणी इसी मन्त्रके द्वारा विशुद्ध होते हैं तथा विवेकी जीव इसीके द्वारा संसारके दुःखसे छुटकारा पाते हैं—मोक्षसुखको प्राप्त करते हैं ॥४५॥

इस संसारमें भव्य जीवोंकी आपत्तिमें वह मन्त्र ही बन्धुका काम करता है—उन्हें उस आपत्तिसे मुक्त कराता है । इसको छोड़कर दूसरा कोई भी प्राणियोंके ऊपर दयाका भाव प्रकट करनेवाला नहीं है ॥४६॥

कष्टरूप पातालोंसे संयुक्त संसाररूप समुद्रके भीतर परिभ्रमण करते हुए प्राणीका उद्धार करके उसे यह मन्त्र ही मोक्षसुखमें स्थापित करता है ॥४७॥

हजारों पापोंको करके तथा सैकड़ों जीवोंका घात करके तिर्यंच प्राणी भी इस मन्त्रकी आराधना करके स्वर्गको प्राप्त हुए हैं ॥४८॥

मन, वचन और कायकी शुद्धिपूर्वक इस मन्त्रको एक सौ आठ बार जपनेवाला मुनि भोजन करता हुआ भी चतुर्थभक्त (एक उपवास) के सम्पूर्ण फलको प्राप्त होता है ॥४९॥

१. M N S F X Y पापशङ्किताः । २. F J भव । ३. M N L T J कृपाकरः । ४. MN °मुद्धृतं शिवसत्पथे । ५. All others except P °त्तरं चास्य । ६. M N J चिन्तयेन्मुनिः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1962) स्मर मन्त्रपदोद्भूतां[1] महाविद्यां जगन्नताम्[2] ।
गुरुपञ्चकनामोत्थं[3] षोडशाक्षरराजिताम् ।।५०
अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः । षोडशाक्षरी[4] विद्या ।
1963) अस्याः शतद्वयं ध्यानी जपन्नेकाग्रमानसः ।
अनिच्छन्नप्यवाप्नोति चतुर्थतपसः फलम् ।।५१
1964) विद्यां षड्वर्णसंभूतामजय्यां पुण्य[5]शालिनीम् ।
जपन् प्रागुक्तमभ्येति फलं ध्यानी शतत्रयम् ।।५२।।अरहंतसिद्ध[6]
1965) चतुर्वर्णमयीं[7] विद्यां चतुर्वर्गफलप्रदाम् ।
[8]प्राप्नुयादस्ततन्द्रो ऽसौ ध्यायंश्चातुर्थिकं फलम् ।।५३।। अरहंत[9]

1962) **स्मर मन्त्र**—अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः । षोडशाक्षरविद्या ।।५०।। [अथास्य फलमाह ।]

1963) **अस्याः शत**—ध्यानी अनिच्छन्नपि अवाञ्छन्नपि चतुर्थतपसः एकोपवासस्य फलं प्राप्नोति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ।।५१।। अथ पुनस्तत्फलमाह ।

1964) **विद्यां षड्वर्ण**—ध्यानी शतत्रयं जपन् प्रागुक्तफलमभ्येति प्राप्नोति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ।।५२।। अथ पुनर्विशेषमाह । अरहंत सिद्ध ।

1965) **चतुर्वर्ण**—चतुर्वर्गफलप्रदं धर्मार्थकाममोक्षदायकं चतुर्थस्य एकोपवासस्य फलं भवेत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ।।५३।। अथ पुनर्विशेषमाह । अरहंत ।

जिसे सारा संसार नमस्कार करता है तथा जो पाँच परमेष्ठियोंके नामसे उत्पन्न सोलह अक्षरोंसे सुशोभित है ऐसी उस मन्त्रपदोंसे उत्पन्न हुई महाविद्याका—'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः' इस सोलह अक्षररूप मन्त्रका—स्मरण करना चाहिए ।।५०।।

जो ध्याता एकाग्र चित्तसे इस विद्याको—सोलह अक्षर रूप मन्त्रको—दो सौ बार जपता है वह इच्छा न करता हुआ भी चतुर्थतपके—एक उपवासके—फलको प्राप्त होता है ।।५१।।

अखण्डनीय व पुण्यसे शोभायमान ऐसी छह वर्णोंसे उत्पन्न हुई विद्याको—'अरहंत सिद्ध' इस मन्त्रको—तीन सौ (३००) बार जपनेवाला योगी पूर्वोक्त एक उपवासके फलको प्राप्त होता है ।।५२।।

चार वर्गरूप फलको—चतुर्थ पुरुषार्थस्वरूप मोक्षके फलको—प्रदान करनेवाली चार वर्णरूप विद्याका—'अरहंत' इस चार अक्षररूप मन्त्रका—जो योगी आलस्यको छोड़कर ध्यान करता है वह एक उपवासके फलको प्राप्त करता है ।।५३।।

१. L S F Y R स्मर पञ्चपदो° । २. L T F J X R जगन्नुतां । ३. All others except P L S F नामोत्थां । ४. M °क्षरविद्या, L °क्षरा विद्या, F adds इयं । ५. M गुण for पुण्य । ६. Only in P M । ७. All others except P °मयं मन्त्रं, L युतं मन्त्रं....प्रदम् । ८. All others except P चतुःशतं जपन् योगी चतुर्थस्य फलं लभेत्, M N L F Y शतीं, L जपेत्, M N X भजेत्, L T F भवेत् । ९. Only in P M N L F ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1966) [वर्ण[1]युग्मं श्रुतस्कन्धसारभूतं शिवप्रदम् ।
ध्यायेज्जन्मोद्भवाशेषक्लेशविध्वंसनक्षमम् ।।५३*१।।सिद्धः[2] ।।]

1967) अवर्णस्य सहस्रार्धं जपन्नानन्दसंभृतः ।
प्राप्नोत्येकोपवासस्य निर्जरां निर्जिताशयः ।।५४ ।।अँः[3]।।

1968) एतद्धि कथितं शास्त्रे रुचिमात्रप्रसाधकम् ।
किन्त्वमीषां फलं सम्यक् स्वर्गमोक्षैकलक्षणम् ।।५५

1969) पञ्चवर्णमयीं विद्यां पञ्चतत्त्वोपलक्षिताम् ।
मुनिवीरैः श्रुतस्कन्धाद्बीजबुद्ध्या समुद्धृताम् ।।५६
[4]ओं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा नमः ।

1966) **वर्णयुग्मम्**—जन्मोद्भवो अशेषः सर्वक्लेशः तस्य विध्वंसने क्षमं समर्थं यत् तत् तथा शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ।।५३*१।। अरहंतसिद्ध ।

1967) **अवर्णस्य**—अवर्णस्य सहस्रार्धं पञ्चशतीं जपेत् । योगी कीदृशः । निर्जिताशयः जितचित्तः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ।।५४।। अथ पुनस्तदेवाह ।

1968) **एतद्धि**—हि निश्चितम् । एतच्छास्त्रे रुचिमात्रप्रसाधकं कथितम् । किन्तु अमीषां वर्णानां सम्यक् फलं स्वर्गमोक्षैकलक्षणं भवति । इति सूत्रार्थः ।।५५।। अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

1969) **पञ्चवर्ण**—पञ्चतत्त्वोपलक्षिताम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ।।५६।। ओं ह्राँ ह्रीँ [ह्रूँ] ह्रौं ह्रः । अ सि आ उ सा नमः । अथ पुनस्तदेवाह ।

जो दो अक्षरोंका मन्त्र (सिद्ध) आगमसमूहका सारभूत, मोक्षको प्रदान करनेवाला और संसार-परिभ्रमणसे उत्पन्न होनेवाले समस्त कष्टोंके नष्ट करनेमें समर्थ है उसका ध्यान करना चाहिए ।।५३*१।।

जो योगी चित्तको वशमें करके आनन्दसे परिपूर्ण होता हुआ अवर्ण (अ) का पाँच सौ (५००) बार जप करता है वह एक उपवासरूप तपके द्वारा होनेवाली कर्मनिर्जराको प्राप्त होता है ।।५४।।

शास्त्रमें जो इन मन्त्रोंका उपवासरूप फल बतलाया गया है वह उनकी ओर रुचि मात्रको सिद्ध करनेवाला है । उनका फल तो वस्तुतः समीचीन स्वर्ग व मोक्ष स्वरूप ही है ।।५५।।

पाँच तत्त्वोंसे उपलक्षित जिस पाँच वर्णरूप विद्याका श्रेष्ठ मुनिजनोंने—गणधरोंने बारह अंगरूप श्रुतस्कन्धसे बीजबुद्धिके वश उद्धार किया है उस पाँच वर्णरूप विद्याका—'ॐ ह्राँ ह्रीँ ह्रूँ ह्रौँ ह्रः अ सि आ उ सा नमः' इस मन्त्रका—ध्यान करना चाहिए ।।५६।।

१. P S T F X om. । २. M reads सिद्धः । ३. Only in P M L । ४. Only in P M ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1970) अस्यां निरन्तराभ्यासाद्वशीकृतनिजाशयः ।
प्रोच्छिनत्त्याशु निःशङ्को निर्गूढं जन्मबन्धनम् ॥५७

1971) मङ्गलशरणोत्तमपदनिकुरुम्बं[1] यस्तु संयमी स्मरति ।
अविकलमेकाग्रधिया स चापवर्गश्रियं श्रयति ॥५८

॥ चत्वारि[2] मङ्गलमित्यादि ॥

1972) सिद्धेः सौधं समारोढुमियं सोपानमालिका ।
त्रयोदशाक्षरोत्पन्ना विद्या विश्वातिशायिनी[3] ॥५९
[4]ओं अरहंतसिद्ध अयोगकेवली स्वाहा ।

1970) **अस्याम्**—अस्यां विद्यायां निरन्तराभ्यासात् निर्गूढं गुहिरं जन्मबन्धनं प्रोच्छिनत्ति । आशु शीघ्रम् । कीदृशः । वशीकृतनिजाशयः । पुनः कीदृशः । निःशङ्कः । इति सूत्रार्थः ॥५७॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

1971) **मङ्गल**—यस्तु पुमान् मङ्गलशरणोत्तमपदनिकुरम्बम् । चत्तारि मंगलं । अरहंत मंगलमित्यादि । चत्तारि सरणं पवज्जामि । अरहंत सरणं पवज्जामि इत्यादि । चत्तारि लोगुत्तमा । अरहंत लोगुत्तमा इत्यादि । पदसमूहं स्मरति संयमी । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥५८॥ चत्तारि-मंगलपदाभ्यासादि ।

1972) **सिद्धेः सौधम्**—सिद्धेः सौधं समारोढुम् इयं सोपानमालिका । त्रयोदशाक्षरोत्पन्ना विद्या विश्वातिशयिनी । इति सूत्रार्थः ॥५९॥ पुनरेतस्या विशेषमाह । ओं अरहंतसिद्धअयोगकेवली स्वाहा ।

इस विद्याके विषयमें किये गये निरन्तर अभ्याससे जिस योगीका चित्त अपने वशमें हो चुका है वह शीघ्र ही निर्भय होकर अतिशय दृढ़ संसारके बन्धनको छेद डालता है ॥५७॥

जो मुनि मंगल, शरण और उत्तम इन पदोंके समूहका—'चत्तारि मंगलं—अरहंता मंगलं सिद्धा मंगलं साहू मंगलं केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा—अरहंता लोगुत्तमा सिद्धा लोगुत्तमा साहू लोगुत्तमा केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पवज्जामि—अरहंते सरणं पवज्जामि सिद्धे सरणं पवज्जामि साहू सरणं पवज्जामि केवलि-पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि' इन पदोंका—पूर्णतया एकाग्रचित्त होकर स्मरण करता है वह मोक्षलक्ष्मीका आश्रय लेता है ॥५८॥

सिद्धिके प्रासादपर—मोक्षरूप महलके ऊपर—चढ़नेके लिए सीढ़ियोंकी पंक्तिके समान यह तेरह अक्षरोंसे उत्पन्न हुई विद्या (ॐअरहंत-सिद्ध-अयोगकेवली स्वाहा) लोकका अतिक्रमण करनेवाली—अलौकिक—है ॥५९॥

१. All others except P N T निकुरम्बं । २. M चत्तारि, L मंगलपदानीत्यादि, All others except P M L om. । ३. J त्पन्नां....विद्यां....शायिनीं । ४. Only in P M N T ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1973) प्रसादयितुमुद्युक्तैर्मुक्तिकान्तां यशस्विनीम् ।
दूतिकेयं मता मन्ये जगद्वन्द्यैर्मुनीश्वरैः ॥६०

1974) सकलज्ञानसाम्राज्यदानदक्षं विचिन्तय ।
मन्त्रं जगत्त्रयीनाथ[1]चूडारत्नकृ[2]तास्पदम् ॥६१॥
[3]ओं श्रीं ह्रीं ऽर्हं नमः ।

1975) न चास्य भुवने कश्चित् प्रभावं गदितुं क्षमः ।
श्रीमत्सर्वज्ञदेवेन यः साम्यमवलम्बते ॥६२

1976) स्मर कर्मकलङ्कौघध्वान्तविध्वंसभास्करम् ।
पञ्चवर्णमयं मन्त्रं पवित्रं पुण्यशासनम् ॥६३
णमो सिद्धाणं ।

1973) **प्रसादयितुम्**—उद्युक्तैः मुनीश्वरैः इयं विद्या मुक्तिकान्तां प्रसादयितुं मन्ये दूतिका मता । कीदृशीम् । यशस्विनीम् । कीदृशैः मुनिभिः । जगद्वन्द्यैः । इति सूत्रार्थः ॥६०॥ अथ पुनर्मन्त्रान्तरमाह ।

1974) **सकलज्ञान**—मन्त्रं विचिन्तय । कीदृशम् । सकलज्ञानम् एव साम्राज्यं तस्य दाने दक्षं चतुरम् । पुनः कीदृशम् । जगत्त्रयीनाथस्य त्रैलोक्यनाथस्य चूडारत्ने चूडामणौ कृतं आस्पदं स्थानं येन तम् । इति सूत्रार्थः ॥६१॥ ओं ह्रीँ श्रीँ अर्हं नमः ।

1975) **न चास्य**—अस्य मन्त्रस्य प्रभावो माहात्म्यं, भुवने जगति, गदितुं वक्तुं कश्चिन्न समर्थः । च पादपूरणे, श्रीमत्सर्वज्ञदेवेन साम्यं सादृश्यम् अवलम्बते । इति सूत्रार्थः ॥६२॥ पुनर्मन्त्रान्तरमाह ।

1976) **स्मर कर्म**—पुण्यस्य शासनं कथकम् । इति सूत्रार्थः ॥६३॥ ओं नमो सिद्धाणं । अथ पुनस्तत्प्रभावमाह ।

यह तेरह अक्षररूप विद्या, जो विश्वसे वन्दनीय मुनीन्द्र कीर्तिशालिनी मुक्तिरूप रमणीके प्रसन्न करनेमें उद्यत हैं, उनके लिए दूतीके समान मानी गयी है ॥६०॥

जो मन्त्र—ॐ श्रीँ ह्रीँ अर्हँ नमः—समस्त ज्ञानके साम्राज्य (केवलज्ञानरूप वैभव) के देनेमें समर्थ है तथा जिसमें तीनों लोकोंके स्वामीके शिरोरत्नके द्वारा स्थान प्राप्त किया गया है—जो तीनों लोकोंके प्रभुत्वका सूचक है—उस मन्त्रका ध्यान करना चाहिए ॥६१॥

जो वह मन्त्र श्रीमान् सर्वज्ञदेवके साथ समानताको प्राप्त है उसके प्रभावका वर्णन करनेके लिए लोकमें कोई भी समर्थ नहीं हो सकता है ॥६२॥

जो पाँच वर्णरूप—नमो सिद्धाणं—मन्त्र कर्मकलंकके समूहरूप अन्धकारको नष्ट करनेके लिए सूर्यके समान, पवित्र एवं पुण्य शासनवाला है उसका स्मरण करना चाहिए ॥६३॥

१. J नाथं । २. All others except P M N T रत्नकृपा° । ३. Only in P M ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1977) सर्वसत्त्वाभयस्थानं वर्णमालाविराजितम् ।
स्मर मन्त्रं जगज्जन्तुक्लेशसंततिघातकम् ॥६४

ओं नमो ऽर्हते केवलिने परमयोगिने[1] विस्फुरदुरुशुक्लध्यानाग्नि-निर्दग्धकर्मबीजाय प्राप्तानन्तचतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मङ्गल[2]-वरदाय अष्टादशदोष[3]रहिताय स्वाहा ।

1978) स्मरेन्दुमण्डलाकारं पुण्डरीकं मुखोदरे[4] ।
दलाष्टकसमासीनव[5]र्गाष्टकविराजितम् ॥६५

1979) ओं णमो अरहंताणमिति वर्णानपि क्रमात् ।
एकशः प्रतिपत्रं तु तस्मिन्नेव निवेशयेत् ॥६६

1977) **सर्वसत्त्वाभय**—[सर्वेषां सत्त्वानां प्राणिनाम् अभयस्थानम् । वर्णमालाभिः विराजितं शोभितम् । अन्यत्सुगमम् ॥६४॥] ओं नमो ऽर्हते केवलिने परमयोगिने अनन्तविशुद्धिपरिणाम-चिद्रूपविशुद्धपरिणामचित्तविस्फुरद्गुरुशुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मबीजाय प्राप्तानन्तचतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मङ्गलाय वरदाय अष्टादशदोषरहिताय स्वाहा ।

1978) **स्मरेन्दु**—मुखोदरे पुण्डरीकं कमलं स्मर चिन्तय । इन्दुमण्डलाकारम् । पुनः कीदृशम् । दलाष्टकसमासीनम् । सुगमम् । *वर्णाष्टकविराजितम् । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६५॥ [अथ मन्त्रस्थापनामाह ।]

1979) **ओं णमो**—ओं नमो अरहंताणं । इत्यादिवर्णान् एकशः प्रतिपत्रं तु तस्मिन्नेव निवेशयेत् स्थापयेत् । इति सूत्रार्थः ॥६६॥ [पुनस्तदेवाह ।]

जो यह मन्त्र सब प्राणियोंकी निर्भयताका कारण वर्णमालासे सुशोभित और जगत्के प्राणियोंके कष्टसमूहका विनाशक है उसका स्मरण करना चाहिए—ॐ नमोऽर्हते केवलिने परमयोगिने विस्फुरदुरुशुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मबीजाय प्राप्तानन्तचतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मंगलवरदाय अष्टादशदोषरहिताय स्वाहा ॥६४॥

मुखके भीतर आठ पत्तोंके ऊपर स्थित आठ वर्गों—अकारादि १६ स्वर, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, अन्तस्थ (य र ल व) और ऊष्म (श ष स ह) इन वर्णसमूहों—से सुशोभित ऐसे चन्द्रमण्डलके आकार कमलका स्मरण करना चाहिए ॥६५॥

उसी कमलके ऊपर प्रत्येक पत्रपर 'ॐ नमो अरहंताणं' इन आठ वर्णोंमेंसे क्रमसे एक-एक वर्णको स्थापित करना चाहिए ॥६६॥

१. All others except P योगिने ऽनंत (M L विशुद्ध) शुद्धपरिणामस्फुर° । २. All others except P L मङ्गलाय । ३. M विरहि° । ४. J °दरं । ५. All others except P M N °सीनवर्णाष्टक ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1980) स्वर्णगौरीं स्वरोद्भूतां केशरालीं ततः स्मरेत् ।
कर्णिकां च सुधास्यन्दबिन्दुव्रजविभूषिताम् ॥६७

1981) प्रोद्यत्संपूर्णचन्द्राभं चन्द्रबिम्बाच्छनैः शनैः ।
समागच्छत्सुधाबीजं मायावर्णं तु चिन्तयेत् ॥६८

1982) विस्फुरन्तमतिस्फीतं प्रभामण्डलमध्यगम् ।
संचरन्तं[1] मुखाम्भोजे तिष्ठन्तं कर्णिकोपरि ॥६९॥ ह्रीं[2] ।

1983) भ्रमन्तं प्रतिपत्रेषु चरन्तं वियति क्षणे ।
छेदयन्तं मनोध्वान्तं स्रवन्तममृताम्बुभिः ॥७०

1984) व्रजन्तं तालुरन्ध्रेण स्फुरन्तं भ्रूलतान्तरे ।
ज्योतिर्मयमिवाचिन्त्यप्रभावं[3] भावयेन्मुनिः ॥७१

1980) **स्वर्णगौरीम्**—ततः केसरालीं परागश्रेणीं स्मरेत् । कीदृशीम् । स्वर्णगौरीं स्वरोद्भूतां 'अ आ' इत्यादिजाताम् । च पुनः । कर्णिकां च स्मरेत् । कीदृशीम् । सुधास्यन्दबिन्दुव्रजविभूषिताम् अमृतस्यन्दच्छटासमूहराजिताम् । इति सूत्रार्थः ॥६७॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1981) **प्रोद्यत्संपूर्ण**—मायावर्णं ह्रीँकारं चिन्तयेत् । प्रोद्यत्संपूर्णचन्द्राभम् । उदितपार्वण-चन्द्रसमम् । पुनः कीदृशम् । सुधाबीजम् । किं कुर्वन् । चन्द्रबिम्बात् शनैः शनैः समागच्छन् । इति सूत्रार्थः ॥६८॥ पुनः कीदृशम् ।

1982) **विस्फुरन्तम्**—विस्फुरन्तं दीप्यन्तम् अतिस्फीतं प्रगटम् । प्रभामण्डलमध्यगम् । सुगमम् । मुखाम्भोजे संचरन्तम्* । कर्णिकोपरि तिष्ठन्तम् । इति सूत्रार्थः ॥६९॥ ह्रीं । [पुनस्तदाह ।]

1983) **भ्रमन्तम्**—प्रतिपत्रे भ्रमन्तम् । क्षणे प्रस्तावे वियति आकाशे चरन्तम् । छेदयन्तं मनोध्वान्तम् अन्धकारम् । अमृताम्बुभिः स्रवन्तं क्षरन्तम् । इति सूत्रार्थः ॥७०॥ पुनः कीदृशं तदाह ।

1984) **व्रजन्तम्**—तालुरन्ध्रेण व्रजन्तं, भ्रूलतान्तरे स्फुरन्तं ज्योतिर्मयमिव *अत्यन्तप्रभावं मुनिर्भावयेदिति सूत्रार्थः ॥७१॥ पुनस्तदेवाह ।

पश्चात् स्वरोंसे उत्पन्न हुई व सुवर्णके समान गौर (पीतवर्ण) ऐसी परागपंक्तिका तथा अमृतके झरनेकी बिन्दुओंके समूहसे सुशोभित कर्णिकाका स्मरण करना चाहिए ॥६७॥

कर्णिकाके ऊपर उदयको प्राप्त होते हुए सम्पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रभावाले तथा चन्द्रमण्डलसे धीरे-धीरे आनेवाले अमृतबीजके समान उस मायावर्ण (ह्रीं) का चिन्तन करना चाहिए जो विकासको प्राप्त हो रहा हो, अतिशय विस्तीर्ण हो, प्रभामण्डलके मध्यमें स्थित हो, मुख-कमलके ऊपर संचार कर रहा हो, कर्णिकाके ऊपर स्थित हो रहा हो, प्रत्येक पत्रके ऊपर परिभ्रमण कर रहा हो, क्षणभरमें आकाशमें विचरण कर रहा हो, मनके अन्धकार (अज्ञान) को नष्ट कर रहा हो, अमृतबिन्दुओंसे झर रहा हो, तालुके छिद्रसे जा रहा हो तथा

१. P संचरन्तु । २. P M ह्लीं । ३. J °मिवात्यन्त ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1985) वाक्पथातीतमाहात्म्यं देवदैत्योरगार्चितम् ।
विद्यार्णवमहापोतं विश्वतत्त्वप्रदीपकम् ॥७२

1986) अमुमेव महामन्त्रं भावयन्नस्तसंशयः ।
अविद्याव्यालसंभूतं विषवेगं निरस्यति ॥७३

1987) इति ध्यायन्नसौ ध्यानी तत्संलीनैकमानसः ।
वाङ्मनोमलमुत्सृज्य श्रुताम्भोधिं विगाहते ॥७४

1988) ततो निरन्तराभ्यासान्मासैः षड्भिः स्थिराशयः ।
मुखरन्ध्राद् विनिर्यान्तीं धूमवर्तिं प्रपश्यति ॥७५

1985) **वाक्पथातीत**—[वाक्पथातीतमाहात्म्यं शब्दातीतमाहात्म्यम् । विश्वतत्त्वप्रदीपकं विश्वतत्त्वप्रकाशकम्[1] । महापोतं महतीं नावम् ॥७२॥ अथैतस्य फलमाह ।]

1986) **अमुमेव**—अस्तसंशयः दूरीकृतसंशयः अमुं महामन्त्रम् एवं भावयन् अविद्याव्यालसंभूतविषवेगं निरस्यति । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७३॥ पुनस्तदेवाह ।

1987) **इति ध्यायन्**—इति पूर्वोक्तं ध्यायन् असौ योगी तत्संलीनैकमानसः तद्गतचित्तः वाङ्मनोमलम् उत्सृज्य त्यक्त्वा श्रुताम्भोधिं श्रुतसमुद्रं विगाहते । इति सूत्रार्थः ॥७४॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1988) **ततो निरन्तराभ्यासात्**—मुखरन्ध्रात् विनिर्यान्तीं धूमवर्तिं प्रपश्यति । ततो निरन्तराभ्यासात् मासैः षड्भिः स्थिराशयः । इति सूत्रार्थः ॥७५॥ अथ ततोऽपि विशेषमाह ।

भ्रुकुटिरूप लताओंके मध्यमें प्रतिभासित हो रहा हो; इस प्रकारके स्वरूपसे संयुक्त तेजोमयके समान ही उस अचिन्त्य प्रभाववाले मायावर्णका मुनिको ध्यान करना चाहिए ॥६८-७१॥

जिसकी महिमाका वर्णन वचनके द्वारा नहीं किया जा सकता है, जो देव, दैत्य व नागकुमारोंसे पूजित है, विद्यारूप समुद्रके पार पहुँचानेके लिए विशाल नौकाके समान है, तथा समस्त तत्त्वोंको दिखलानेके लिए दीपक जैसा है; ऐसे उसी महामन्त्रका सन्देहसे रहित होकर ध्यान करनेवाला योगी अज्ञानरूप सर्पसे उत्पन्न हुए विषके वेगको नष्ट करता है ॥७२-७३॥

इस प्रकारसे एकमात्र उसी महामन्त्रके विषयमें मनको संलग्न करके ध्यान करनेवाला योगी वचन और मनके मैलको दूर करके श्रुतरूप समुद्रमें स्नान करता है—आगमका पारगामी हो जाता है ॥७४॥

तत्पश्चात् निरन्तर किये जानेवाले उसके ध्यानके अभ्याससे जिस योगीका चित्त छह महीनोंमें अतिशय स्थिरताको प्राप्त कर चुका है वह अपने मुखके छिद्रसे निकलती हुई धुएँकी बत्ती (शिखा) को देखता है ॥७५॥

---

१. J प्रकाशकम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1989) ततः संवत्सरं साग्रं तथैवाभ्यस्यते यदि ।
प्रपश्यति महाज्वालां निःसरन्तीं मुखोदरात् ॥७६

1990) ततो ऽतिजातसंवेगो निर्वेदालम्बितो वशी ।
ध्यायन् पश्यत्यविश्रान्तं सर्वज्ञमुखपङ्कजम् ॥७७

1991) अथाप्रतिहतानन्दप्रीणितात्मा जितश्रमः ।
श्रीमत्सर्वज्ञदेवं स प्रत्यक्षमिव वीक्षते ॥७८

1992) सर्वातिशयसंपूर्णं दिव्यरूपोपलक्षितम् ।
कल्याणमहिमोपेतं सर्वसत्त्वाभयप्रदम् ॥७९

1993) प्रभावलयमध्यस्थं भव्यराजीवरञ्जकम् ।
ज्ञानलीलाधरं धीरं[2] देवदेवं स्वयंभुवम् ॥८०

1989) **ततः संवत्सरं**—यदि संवत्सरं यावत् तथैव अभ्यसते[*], अभ्यासं करोति, ततः मुखोदरात् निःसरन्तीं महाज्वालां प्रपश्यति, इति सूत्रार्थः ॥७६॥ ततो ऽपि विशेषमाह ।

1990) **ततो ऽतिजात**—[ततः वशी संयमी सर्वज्ञमुखपङ्कजं पश्यति । किं कुर्वन् । अविश्रान्तं ध्यायन् । इति सूत्रार्थः ॥७७॥] अथ पुनस्तदेवाह ।

1991) **अथाप्रतिहत**—अथेति तदनन्तरम् । अप्रतिहतानन्दप्रीणितात्मा अस्खलितप्रमोदप्रीतात्मा । जितश्रमः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७८॥ पुनः कीदृशं तम् आह ।

1992) **सर्वातिशय**—[दिव्यरूपेण उपलक्षितं युक्तम् । सर्वसत्त्वाभयप्रदं सर्वप्राणिनामभयप्रदम् । इति सूत्रार्थः ॥७९॥] पुनस्तस्यैव प्रभावमाह ।

1993) **प्रभावलय**—भव्यराजीवरञ्जकं भव्यप्राणिकमलरञ्जकम् । इति सूत्रार्थः ॥८०॥ अथ ततो विशेषमाह ।

तत्पश्चात् योगी यदि उसी प्रकारसे उसका अभ्यास सालभरसे कुछ अधिक समय तक करता है तो वह मुखके भीतरसे निकलती हुई महाज्वालाको देखता है ॥७६॥

तत्पश्चात् आविर्भूत हुए अतिशय धर्मानुरागसे संयुक्त जितेन्द्रिय योगी वैराग्यका आश्रय लेता हुआ उक्त महामन्त्रके ध्यानसे निरन्तर सर्वज्ञके मुखरूप कमलका दर्शन करता है ॥७७॥

तत्पश्चात् जिसकी आत्मा निर्बाध आनन्दसे अतिशय प्रसन्नताको प्राप्त हुई है, तथा जिसने परिश्रमजनित खेदपर विजय प्राप्त कर ली है ऐसा वह योगी लक्ष्मीसे परिपूर्ण उस सर्वज्ञ प्रभुका प्रत्यक्षमें ही दर्शन करता है ॥७८॥

उस समय उसे वह सर्वज्ञ प्रभु सम्पूर्ण (३४) अतिशयोंसे परिपूर्ण, दिव्य स्वरूपसे सहित, केवलकल्याणकी महिमा (समवसरणादि) से संयुक्त, समस्त जीवोंको अभय प्रदान करता हुआ—दिव्य वाणीके द्वारा उपदेश देता हुआ, भामण्डलके मध्यमें स्थित, भव्य

१. All others except P °त्सरं यावत्तथैवं । २. S F J X R वीरं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1994) ततो विधूततन्द्रो ऽसौ तस्मिन् संजातनिश्चयः ।
भवभ्रममपाकृत्य लोकाग्रमधिरोहति ॥८१
1995) स्मर सकलसिद्धविद्याप्रधानभूतां प्रसन्नगम्भीराम् ।
विधुबिम्बनिर्गतामिव क्षरत्सुधार्द्रां महाविद्याम् ॥८२॥क्ष्वीं[1]।
1996) अविचलमनसा ध्यायंल्ललाटदेश[2]स्थितामिमां देवीम् ।
प्राप्नोति मुनिरजस्रं समस्तकल्याणनिकुरुम्ब[3]म् ॥८३[4]
1997) अमृतजलधिगर्भान्निःसरन्तीं सुदीप्रा[5]-
मलकतलनिषण्णां[6] चन्द्रलेखां स्मर त्वम् ।

1994) **ततो विधूत**—ततस्तदनन्तरम् असौ विधूततन्द्रः । तस्मिन् संजातनिश्चयः । किं कृत्वा । भवभ्रमम् अपाकृत्य । लोकाग्रं मोक्षम् अधिरोहति । इति सूत्रार्थः ॥८१॥ अथ महाविद्यामाह ।

1995) **स्मर सकल**—महाविद्यां स्मर चिन्तय । सकलसिद्धविद्याम् । इव उत्प्रेक्षते । विधुबिम्बनिर्गतां चन्द्रमण्डलनिर्गच्छन्तीं सुधार्द्रां महाविद्याम् इव । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥८२॥ क्ष्वीं । पुनर्विशेषमाह ।

1996) **अविचल**—इमां देवीं ललाटदेशस्थितां मुनिः अविचलमनसा ध्यायन् । अजस्रं सकलकल्याणनिकुरम्बं* समूहं प्राप्नोति । इति सूत्रार्थः ॥८३॥ अथ पुनस्तदाह ।

1997) **अमृतजलधि**—रे सुजन, चन्द्रलेखां त्वं स्मर । कीदृशीम् । अमृतजलधिगर्भात् अमृतसमुद्रमध्यात् निःसरन्तीम् । पुनः कीदृशीम् । सुदीप्ताम्* । पुनः कीदृशीम् । अलकतलनिषण्णां

जीवोंरूप कमलोंको अनुरंजित करता हुआ, ज्ञानलीलाका धारक—केवलज्ञानके चमत्कारको प्रकट दिखलाता हुआ, धीर, देवोंका देव—सब ही देवोंके द्वारा पूजित और स्वयंभूके रूपमें दीखता है ॥७९-८०॥

उस समय जिसे उस सर्वज्ञके विषयमें निश्चय हो चुका है ऐसा वह योगी प्रमादसे रहित होकर संसार परिभ्रमणको नष्ट करता हुआ लोकके शिखरपर अधिरोहण करता है—मुक्त हो जाता है ॥८१॥

समस्त विद्याओंकी सिद्धिकी कारण, प्रधानभूत, निर्मल व गम्भीर तथा चन्द्रमासे निकली हुई के समान झरते हुए अमृतसे आर्द्र ऐसी महाविद्या (क्ष्वीं) का स्मरण करना चाहिए ॥८२॥

जो मुनि ललाट (मस्तक) देशमें स्थित इस देवीका चित्तकी स्थिरतापूर्वक ध्यान करता है वह निरन्तर समस्त कल्याणपरम्पराको प्राप्त करता है ॥८३॥

हे योगिन् ! तू मोक्षपदकी पृथिवीपर प्रभावको धारण करनेवाली उस चन्द्रकलाका

१. Only in P M L S F । २. All others except P L F देशे । ३. All others except P N T निकुरम्बं । ४. N reads ओं ह्म्ल्व्र्यूं । ५. All others except P सुदीप्ता । ६. M N °मलिनिकरनिषणां, P S T J मलिकतल ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अमृतकणविकीर्णां प्लावयन्तीं सुधाभिः
परमपदधरित्र्यां धारयंन्तीं प्रभावम् ॥८४

1998) **एतां विचिन्तयन्नेव[1] स्तिमितेनान्तरात्मना ।**
जन्मज्वरजयं[2] कृत्वा याति योगी शिवास्पदम् ॥८५

1999) **यदि साक्षात् समुद्विग्नो जन्मदावोग्रसंक्रमात् ।**
तदा स्मरादिमन्त्रस्य प्राचीनं वर्णसप्तकम्[3] ॥८६

णमो अरहंताणं ।[4]

2000) **यदत्र प्रणवं शून्यमनाहतमिति त्रयम् ।**
एतदेव विदुः प्राज्ञास्त्रैलोक्यतिलकोपमम्[5] ॥८७

ललाटतटासीनाम् । पुनः । अमृतकणविकीर्णाम् । सुधाभिः अमृतैः प्लावयन्तीम् । परमपदधरित्र्यां प्रभावं धारयन्तीम् । इति सूत्रार्थः ॥८४॥ पुनरेतस्याः प्रभावमाह ।

1998) **एतां विचिन्तयन्**—एतां विद्यां विचिन्तयन्नेव अन्तरात्मना स्तिमितेन निश्चलेन जन्मज्वरजयं कृत्वा योगी शिवास्पदं मोक्षं याति । इति सूत्रार्थः ॥८५॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

1999) **यदि साक्षात्**—आदिमन्त्रस्य प्राचीनं पूर्ववर्णस्य सप्तकं स्मर । यदि जन्मदावोग्रसंक्रमात् समुद्विग्नो विरक्तः । इति सूत्रार्थः ॥८६॥ नमो अरहंताणं ।

2000) **यदत्र प्रणवं**—अत्र ग्रन्थे प्रणवम् ओंकारं, शून्यम्, अनाहतं ह्लींकारम् इति त्रयम् एतदेव वर्णत्रयम् । त्रैलोक्यतिलकोपमम् । प्राज्ञाः बुधाः विदुः ज्ञापयामासुः । इति सूत्रार्थः ॥८७॥ अथ पुनर्विशेषमाह ।

स्मरण कर जो अमृतसमुद्रके भीतरसे निकल रही हो, अतिशय देदीप्यमान हो, मस्तकपर अवस्थित हो, अमृतके कणोंसे व्याप्त हो तथा अमृतसे तैर रही हो—उसमें डूबी हुई हो ॥८४॥

जो योगी स्थिर अन्तःकरणसे केवल इस चन्द्रकलाका स्मरण ही करता है वह संसाररूप ज्वरको नष्ट करके मोक्षपदको प्राप्त होता है ॥८५॥

हे भव्य ! यदि तू संसाररूप तीव्र दावानलमें पड़कर प्रकटमें उद्वेगको प्राप्त हुआ है तो प्रथम (प्रमुख) मन्त्रके प्राचीन सात वर्णोंका—'नमो अरहंताणं' इस मन्त्रवाक्यका—स्मरण कर ॥८६॥

यहाँ जो प्रणव (ॐ), शून्य (०) अनाहत (ह) ये तीन हैं इनको विद्वान् तीन लोकके तिलकके समान सर्वश्रेष्ठ बतलाते हैं ॥८७॥

---

१. M न्नेवं, J न्नेवास्तमिते° । २. All others except P M क्षयं । ३. M N सप्तवर्णकं । ४. Only in P M । ५. L S F X Y R °कोत्तमम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2001) नासाग्रदेशसंलीनं कुर्वन्नत्यन्तनिश्चलम्[1] ।
ध्याता ज्ञानमवाप्नोति प्राप्य पूर्वं[2] गुणाष्टकम् ॥८८॥ओं ह्रै[3]ऽ।

2002) उक्तं[4] च—
शङ्खेन्दु[5]कुन्दधवला[6] ध्याता देवास्त्रयो[6] विधानेन ।
जनयन्ति विश्व[7]विषयं बोधं कालेन तद्ध्यानात् ॥८८*१॥इति[8]।

2003) प्रणवयुगलस्य युग्मं पार्श्वे मायायुगं विचिन्तयति[9] ।
मूर्धस्थं हंसपदं कृत्वा व्यस्तं वितन्द्रात्मा ॥८९[10]

2001) नासाग्र—ध्याता ज्ञानम् अवाप्नोति *पूर्वगुणाष्टकं प्राप्य । किं कुर्वन् । नासाग्रदेश-संलीनम् अत्यन्तनिश्चलं कुर्वन् । इति सूत्रार्थः ॥८८॥ अर्हं । ह्रीं । उक्तं च ।

2002) शङ्खेन्दु—त्रयो देवा ध्याताः सन्तः सर्वविषयं बोधज्ञानं जनयन्ति । कीदृशा देवाः । *शेषेन्दुकुन्दधवलाः सर्पकुन्देन्दुविमलाः । विधानेन पूजया कालेन तद्ध्यानात् । इति सूत्रार्थः ॥८८*१॥ अथ पुनर्मन्त्रान्तरमाह ।

2003) प्रणव—प्रणवयुगलस्य ओंकारद्वयस्य युग्मम् । पार्श्वे उभयतः पार्श्वे मायायुगं ह्रींकारद्वयं विचिन्तयेत् । मूर्धस्थं शिरःस्थं हंसपदं कृत्वा व्यस्तं प्रत्येकं जपन् । वितन्द्रात्मा निरालस्यः । इति सूत्रार्थः ॥८९॥। ह्रीं ओं ओं ह्रीं हं सः । अथ पुनर्मन्त्रान्तरमाह ।

इन तीनोंको नासिकाके अग्रभागपर अतिशय स्थिरतापूर्वक स्थित करके ध्यान करने-वाला योगी पूर्वमें अणिमा-महिमा आदि आठ गुणोंको प्राप्त करके ज्ञान (केवलज्ञान) को प्राप्त करता है ॥८८॥ कहा भी है—

शंख, चन्द्रमा और कुन्दपुष्पके समान धवल ये तीन देव विधिपूर्वक योगीके ध्यानके विषय होकर—योगीके द्वारा उक्त विधिसे उनका ध्यान करनेपर—उस ध्यानके प्रभावसे थोड़े ही समयमें समस्त पदार्थविषयक बोधको—केवलज्ञानको—उत्पन्न करते हैं ॥८८*१॥

प्रणवयुगलके उभय पार्श्वभागमें दो मायावर्णों (ह्रीं) करके तथा हंसपद (सोऽहं ?) को शिरपर स्थित करके योगी आलस्यको छोड़कर उनका पृथक् ध्यान करता है। अभिप्राय यह कि योगीको 'ह्रीं ॐ ॐ ह्रीं' इन बीजपदोंका ध्यान करना चाहिए ॥८९॥

---

१. L S F R निर्मलं । २. X पूर्णं । ३. P M ओं ह्र अ, L ओं ह्रं, F ओं हं ह्रीं । ४. P M उक्तं च । ५. J शेवेन्दु । ६. L धवलं....त्रयं । ७. All others except P सर्व for विश्व । ८. P इति । ९. J मायायुगलं विचिन्तयेत् । १०. M N हं सः ह्रीं ओं ओं ह्रीं ह्रीं सः हं ह्रीं, L F ह्रीं ओं ओं ह्रीं (F हं सः), T ह्रीं सः ओं ओं ह्रीं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2004) ततो ध्यायेन्महाबीजं स्वींकारं[1] छिन्नमस्तकम् ।
अनाहतयुतं दिव्यं विस्फुरन्तं मुखोदरे ॥९०॥ ऽस्वीं ।

2005) श्रीवीरवदनोद्भूतां[3] विद्यां चाचिन्त्य[4]विक्रमाम् ।
कल्पवल्लीमिवाचिन्त्यफलसंपादनक्षमाम् ॥९१

विद्या च[5]। ओं जोग्गे[6] मग्गे तच्चे भूये[7] भव्वे भविस्से अक्षे पक्षे[8] जिणपार्श्वे[9] स्वाहा ॥ ओं ह्रीं अर्हं[10] नमो ऽर्हं[11] नमो अरहंताणं ह्रीं नमः ।

2006) विद्यां जपति यदेमां[12] निरन्तरं शान्तविश्वविस्पन्दः ।
अणिमादिगुणांल्लब्ध्वा ध्यानी शास्त्रार्णवं तरति ॥९२

2004) **ततो ध्यायेत्**—ततः तदनन्तरं महाबीजं ध्यायेत् । स्त्रींकारं छिन्नमस्तकम् । अनाहतयुतं ह्रींकारोपेतम् । मुखोदरविस्फुरन्तम् । इति सूत्रार्थः ॥९०॥ ह्रीं स्त्रीं । अथ पुनस्तदेवाह ।

2005) **श्रीवीर**—अचिन्त्यविक्रमां, फलसंपादनक्षमां, कल्पवल्लीम् इव कामलताम् इव । इति सूत्रार्थः ॥९१॥ ओं विद्याम् । ओं जोग्गे मग्गेति तच्चे भूये भव्वे भविस्से । अक्खे पक्खे जिणपार्श्वे स्वाहा । ओं ह्रीं स्वार्हं नमो नमो अरहंताणं । ह्रीं नमः ।

2006) **विद्यां जपति**—[यदा ध्यानी इमां विद्यां जपति तदा अणिमादिगुणान् लब्ध्वा शास्त्रार्णवं तरति ॥९२॥ योगिनः माहात्म्यमाह ।]

तत्पश्चात् योगीको शिरसे रहित और अनाहतसे सहित ऐसे मुखके मध्यमें प्रकाशमान दिव्य महाबीजस्वरूप स्वींकार (ऽस्वीं) का ध्यान करना चाहिए ॥९०॥

श्री वीर प्रभुके मुखसे निकली हुई जो विद्या अचिन्त्य पराक्रमसे संयुक्त होती हुई कल्पलताके समान अचिन्त्य फलके सम्पादन करनेमें समर्थ है उसका योगीको ध्यान करना चाहिए। वह विद्या यह है—ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूये भविस्से अक्षे पक्षे जिणपार्श्वे स्वाहा । ॐ ह्रीं अर्हं नमो ऽर्हं नमो अरहंताणं ह्रीं नमः ॥९१॥

योगी जब समस्त अस्थिरताको नष्ट करके निरन्तर इस विद्याका ध्यान करता है तब वह अणिमा आदि गुणोंको प्राप्त करके शास्त्र-समुद्रके पार पहुँच जाता है—समस्त श्रुतका पारगामी हो जाता है ॥९२॥

---

१. M F श्रींकारं । २. P S स्वीं M N अस्त्रं । L हस्त्री, T S स्त्री । ३. N S T R °वदनोद्गीर्णां । ४. Y चात्यन्त । ५. F विद्यामन्त्रं कथयति, P M N L T F R read this मन्त्र । ६. M N योगे । ७. R भूदे, L om. । ८. M N L F R अक्खे पक्खे । ९. M N R जिणपारिस्से । १०. L T R स्वर्हं । ११. M L T om. अर्हं । १२. All others except P M N T य इमां ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2007) त्रिकालविषयं साक्षाज्ज्ञानमस्योपजायते ।
विश्वतत्त्वप्रबोधश्च सतताभ्यासयोगतः ॥९३

2008) शाम्यन्ति[1] जन्तवः क्रूरास्तथान्ये व्यन्तरादयः ।
ध्यानविध्वंसकर्तारो येन तद्धि प्रपञ्च्यते ॥९४

2009) दिग्दलाष्टकसंपूर्णे राजीवे सुप्रतिष्ठितम् ।
स्मरत्यात्मानमत्यन्तस्फुरद्ग्रीष्मार्कभास्वरम्[3] ॥९५ [2]

2010) प्रणवाद्यस्य मन्त्रस्य पूर्वाद्येषु[4] प्रदक्षिणम् ।
विचिन्तयति पत्रेषु वर्णैकैकमनुक्रमात् ॥९६॥ ओं णमो[5] अरहंताणं ।

2007) **त्रिकाल**—अस्य योगिनः त्रिकालविषयं साक्षात् ज्ञानम् उपजायते । च पुनः । विश्वतत्त्वप्रबोधः सर्वतत्त्वज्ञानम् । कस्मात् सतताभ्यासयोगतः निरन्तराभ्यासयोगात् । इति सूत्रार्थः ॥९३॥ अथ तस्य फलम् उच्यते ।

2008) **शाम्यन्ति**—तद् ध्यानम् । हि निश्चितम् । येन प्रपञ्च्यते विस्तार्यते । तस्य । इति सूत्रार्थः ॥९४॥ अथ तस्य विशेषमाह ।

2009) **दिग्दलाष्टक**—तद् भास्वरम् । इति सूत्रार्थः ॥९५॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

2010) **प्रणवाद्यस्य**—प्रणवाद्यस्य ओंकारादिकस्य मन्त्रस्य पूर्वादिषु* पत्रेषु प्रदक्षिणं प्रदक्षिणावर्तेन वर्णैकैकं प्रत्येकवर्णं विचिन्तयति । इति सूत्रार्थः ॥९६॥ ओं नमो अरहंताणं ।

उपर्युक्त विद्याके ध्यानविषयक निरन्तर अभ्यासके प्रभावसे उस योगीके साक्षात् तीनों कालविषयक वह ज्ञान—केवलज्ञान—उत्पन्न होता है जिसके द्वारा वह समस्त तत्त्वोंको स्पष्टतया जानने लगता है ॥९३॥

अब जिस ध्यानके द्वारा दुष्ट प्राणी तथा ध्यानको नष्ट करनेवाले व्यन्तरादि देव शान्त हो जाते हैं उसका यहाँ विस्तार किया जाता है ॥९४॥

आठ दिशाओंमें अवस्थित आठ पत्तोंसे परिपूर्ण कमलके ऊपर स्थित व अतिशय तेजस्वी ग्रीष्मकालीन सूर्यके देदीप्यमान आत्माका ध्यान करना चाहिए ॥९५॥

इस कमलके पूर्वादिक दिशाओंमें स्थित उन आठ पत्रोंपर प्रदक्षिणक्रमसे क्रमशः जिसके प्रारम्भमें प्रणव विद्यमान है उस मन्त्र—ॐ नमो अरहंताणं—के एक-एक वर्णका ध्यान करना चाहिए ॥९६॥

---

१. M N ताम्यन्ति....ध्यानस्य ध्वंस । २. F J X Y R स्मरत्वा° । ३. M N L F X भासुरं । ४. All others except P पूर्वादिषु । ५. Only in P M L S F ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2011) अधिकृत्य च्छदं[1] पूर्वं पूर्वाशासंमुखः[2][3] परम् ।
स्मरत्यष्टाक्षरं मन्त्रं सहस्रैकं शताधिकम् ॥९७

2012) प्रत्यहं प्रतिपत्रेषु[4] महेन्द्राशाद्यनुक्रमात्[5] ।
अष्टरात्रं जपेद्योगी प्रसन्नामलमानसः ॥९८

2013) अस्यांचिन्त्यप्रभावेण[6] क्रूराशयकलङ्किताः ।
त्यजन्ति जन्तवो दर्पं सिंहत्रस्ता इव द्विपाः ॥९९

2014) अष्टरात्रे व्यतिक्रान्ते कमलस्यास्य वर्तिनः ।
निरूपयति पत्रेषु वर्णानेताननुक्रमात् ॥१००

2015) आलम्ब्य प्रक्रियामेतां[7] पूर्वं विघ्नौघशान्तये ।
पश्चात्सप्ताक्षरं मन्त्रं ध्यायेत्प्रणववर्जितम् ॥१०१॥

2011) **अधिकृत्य**—पूर्वं छदं पत्रम् अधिकृत्य पूर्वाशासंमुखः पूर्वदिक्संमुखः । परं केवलम् । अष्टाक्षरमन्त्रं सहस्रैकं शताधिकं स्मरति । इति सूत्रार्थः ॥९७॥ अथ तदेवाह ।

2012) **प्रत्यहम्**—योगी प्रत्यहं प्रतिपत्रेषु महेन्द्राद्यनुक्रमात् पूर्वाद्यनुक्रमात् । कीदृशः । प्रसन्नामलमानसः इति सूत्रार्थः ॥९८॥ अथ तस्य प्रभावमाह ।

2013) **अस्याचिन्त्य**—जन्तवः दर्पं त्यजन्ति । सिंहत्रस्ताः द्विपा इव । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥९९॥ अथ पुनर्विशेषमाह ।

2014) **अष्टरात्रे**—[व्यतिक्रान्ते गते । पत्रेषु दलेषु एतान् वर्णान् निरूपयति ॥१००॥ अथ तदेवाह ।]

2015) **आलम्ब्य**—आलम्ब्य एतां प्रक्रियां कर्तव्यतां पूर्वम् । किमर्थम् । विघ्नोपशान्तये[8] । पश्चात् प्रणववर्जितम् ओंकारं सप्ताक्षरं मन्त्रं व्यापारयेत् । इति सूत्रार्थः ॥१०१॥ अथ एतदेवाह ।

योगीको पूर्व दिशाके सम्मुख होकर पूर्व दिशागत पत्रके आश्रयसे उस आठ अक्षरस्वरूप मन्त्रको ग्यारह सौ बार जपना चाहिए ॥९७॥

योगीको प्रतिदिन पूर्व आदि दिशाओंके क्रमसे प्रत्येक पत्रके ऊपर प्रसन्नतापूर्वक निर्मल अन्तःकरणसे आठ दिन तक उस मन्त्रका जप करना चाहिए ॥९८॥

इस मन्त्रके अचिन्त्य प्रभावसे दुष्ट अभिप्रायसे दूषित प्राणी मदको इस प्रकारसे छोड़ देते हैं जिस प्रकार कि सिंहसे पीड़ित होकर हाथी उस मदको छोड़ देता है ॥९९॥

आठ रात्रियोंके बीत जानेपर योगी इस कमलके पत्रोंपर वर्तमान इन वर्णोंका क्रमसे निरूपण करता है—देखता है ॥१००॥

इस प्रक्रियाका पूर्वमें विघ्नोंके विनाशके लिए आश्रय लेना चाहिए और तत्पश्चात्

१. M N पत्रं for छदं । २. S X R सर्वाशा । ३. M N सम्मुखं । ४. M पत्रं च । ५. M N वर्णैकैकमनुक्र° । ६. All others except P तस्यां° । ७. All others except PM एनां । ८. J विघ्नोप° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2016) मन्त्रः प्रणवपूर्वो ऽयं निःशेषाभीष्टसिद्धिदः ।
ऐहिकानेककर्मार्थं[1] मुक्त्यर्थं प्रणवच्युतः ॥१०२॥णमो अ[2]रहंताणं ।

2017) स्मर मन्त्रपदं वा[3]न्यज्जन्मसंघातघातकम् ।
रागाद्युग्रतमस्तोमप्रध्वंसरविमण्डलम् ॥१०३
[4]श्रीमद्वृषभादिवर्धमानान्तेभ्यो नमः ।

2018) मनः[5] कृत्वा सुनिष्कम्पं तां विद्यां पापभक्षिणीम्[6] ।
स्मर सत्त्वोपकाराय या जिनेन्द्रैः प्रकीर्तिता ॥१०४
ओं अर्हन्मुखकमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि[7] श्रुतज्ञानज्वालासहस्र-
प्रज्वलिते सरस्वति मत्पापं हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षैं क्षौं क्षः
क्षीरधवले ऽमृतसंभवे वं वं हूं हूं स्वाहा । पापभक्षिणी ।

2016) मन्त्रः प्रणव—अयं प्रणवपूर्वो मन्त्रः निःशेषाभीष्टसिद्धिदः सर्ववाञ्छितदायकः । ऐहिकानेकधर्मार्थं" ज्ञातव्यः । प्रणवच्युतम् ओंकाररहितं मुक्त्यर्थं भवति । इति सूत्रार्थः ॥१०२॥ नमो अरहंताणं । अथ पुनस्तस्य स्वरूपमाह ।

2017) स्मर मन्त्र—रागाद्युग्रतमःस्तोमप्रध्वंसरविमण्डलं रागद्वेषोत्करान्धकारसमूहनाशन-सूर्यमण्डलम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०३॥ श्रीमद्वृषभादिवर्धमानान्तेभ्यो नमः ।

2018) मनः कृत्वा—प्रकीर्तिता कथिता । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०४॥ ओं अर्हन्मुखकमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि श्रुतज्ञानज्वालासहस्रप्रज्वलिते सरस्वति मत्पापं हनं हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः क्षीरवरधवले अमृतसंभवे वं ह्रूं ह्रूं स्वाहा । पापभक्षिणी । अस्याः प्रभावमाह ।

प्रणवसे रहित सात अक्षरों स्वरूप ही उस मन्त्रका 'नमो अरहंताणं' का—ध्यान करना चाहिए ॥१०१॥

समस्त अभीष्टोंकी सिद्धिको प्रदान करनेवाला यह मन्त्र प्रणवपूर्वक इस लोक सम्बन्धी अनेक कार्योंकी सिद्धिका कारण होता है और वही प्रणवसे रहित मुक्तिका कारण होता है ॥१०२॥

जो जन्मपरम्पराका नाशक होता हुआ राग-द्वेषादिरूप तीव्र अन्धकार समूहको नष्ट करनेके लिए सूर्यके समान है ऐसे अन्य मन्त्रका—'श्रीमद्वृषभादिवर्धमानान्तेभ्यो नमः' का स्मरण करना चाहिए ॥१०३॥

जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा प्राणियोंके उपकारके लिए जो विद्या निर्दिष्ट की गयी है उस पापभक्षिणी विद्याका भी योगीको मनकी अतिशय स्थिरतापूर्वक ध्यान करना चाहिए। वह विद्या यह है ॐ अर्हन्मुखकमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि श्रुतज्ञानज्वालासहस्रप्रज्वलिते सर-

१. M L S F X Y R कामार्थं, T J धर्मार्थं । २. P M read । ३. M N T च for वा । ४. P M read । ५. M नमः कृत्वा । ६. P भक्षणीं । ७. M N क्षयकारिणि....मम पापं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2019) चेतः प्रसत्तिमाधत्ते पापपङ्कः प्रलीयते ।
आविर्भवति विज्ञानं मुनेरस्याः प्रभावतः ॥१०५

2020) मुनिभिः संजयन्ताद्यैर्विद्यावादात्समुद्धृतम् ।
भुक्तिमुक्त्योः[2] परं धाम सिद्धचक्राभिधं स्मर[3] ॥१०६

2021) तस्य[4] प्रयोजकं शास्त्रं तदाश्रित्योपदेशतः[5] ।
ध्येयं मुनीश्वरैर्जन्ममहाव्यसनशान्तये ॥१०७ ॥ सिद्धचक्रं[6] ।

2022) स्मर मन्त्रपदाधीशं मुक्तिमार्गप्रदीपकम् ।
नाभिपङ्कजसंलीनमवर्णं विश्वतोमुखम्[7] ॥१०८ ॥अं[8] ।

2019) **चेतः प्रसत्तिम्**—चेतः प्रशान्तिम्[1] आधत्ते । पापपङ्कः प्रलीयते नाशम् उपयाति । मुनेः अस्याः विद्यायाः प्रभावतः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०५॥ अथ सिद्धचक्रम् आह ।

2020) **मुनिभिः**—संजयन्ताद्यैः मुनिभिः विद्यावादात् पूर्वात् समुद्धृतम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०६॥ पुनरेतस्य प्रभावमाह ।

2021) **तस्य प्रयोजकम्**—तस्य प्रयोजकं शास्त्रं तदाश्रित्य उपदेशतः ध्येयम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०७॥ सिद्धचक्रम् । अथ पुनर्विशेषमाह ।

2022) **स्मर मन्त्र**—मन्त्रपदाधीशं स्मर । कीदृशम् । अवर्णम् । पुनः कीदृशम् । विश्वतोमुखं सर्वव्यापि । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०८॥ अथ पुनराह ।

स्वति मत्पापं हन हन दह दह क्षाँ क्षीं क्षूँ क्षें क्षौं क्षः क्षीरवरधवलेऽमृतसंभवे वं वं हूँ हूँ स्वाहा ॥ पापभक्षिणी ॥१०४॥

इस पापभक्षिणी विद्याके प्रभावसे मुनिका मन प्रसन्नताको धारण करता है, पापरूप कीचड़ नष्ट हो जाता है, और विशिष्ट ज्ञान प्रकट होता है ॥१०५॥

जिस सिद्धचक्रका संजयन्त आदि मुनियोंने भलीभाँति उद्धार किया है तथा जो विषयभोग जनित सुखस्वर्गादिके अभ्युदय व मुक्तिसुखका कारण है उस सिद्धचक्रका मुनिजनोंको ध्यान करना चाहिए ॥१०६॥

जो शास्त्र उस सिद्धचक्रका प्रयोजक है—जिस शास्त्रमें उसका स्वरूप आदि वर्णित है—उसका आश्रय लेकर जैसा उसमें तद्विषयक उपदेश दिया गया है तदनुसार ही मुनिजनोंको संसारके महान् दुखको नष्ट करनेके लिए उसका ध्यान करना चाहिए सिद्धचक्र ॥ ॥१०७॥

जो 'अ' वर्ण सब मन्त्रपदोंका स्वामी मुक्तिके मार्गको दिखलानेवाला उत्कृष्ट दीपक और सर्वव्यापक है उसका स्मरण नाभिकमलपर अवस्थित स्वरूपसे करना चाहिए। इसके

---

१. J प्रशान्ति । २. All others except P N मुक्तेः, P मुक्त्याः । ३. All others except P M N स्मरेत् । ४. M सत्यप्रयो° । ५. T श्रितोप° । ६. Only in P M । ७. F सर्वतो । ८. Only in P M L F ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2023) सिवर्णं[1] मस्तकाम्भोजे साकारं[2] मुखपङ्कजे।
आकारं कण्ठकञ्जस्थं स्मरोंकारं[3] हृदि स्थिरम्[4] ॥१०९
[॥ अ सि आ उ सा[5] ॥]

2024) सर्वकल्याणबीजानि बीजान्यन्यान्यपि[6] स्मरेत्।
यान्याराध्य शिवं प्राप्ता योगिनः शीलसागराः ॥११०
॥ नमः सर्वसिद्धेभ्यः[7] ।

2025) श्रुतिसिन्धुसमुद्भूतमन्यद्वा पदमक्षरम्।
तत्सर्वं मुनिभिर्ध्येयं स्यात्पदस्थप्रसिद्धये ॥१११

2026) एवं समस्तवर्णेषु मन्त्रविद्यापदेषु च।
कार्यः[8] क्रमेण विश्लेषो लक्ष्याभाव[9]प्रसिद्धये ॥११२

2023) **सिवर्णम्**—मस्तकाम्भोजे सिवर्णं साकारं मुखकमले। कण्ठकञ्जस्थं कण्ठकमलस्थम् आकारम्। ओंकारं हृदि स्थितम्*। इति सूत्रार्थः ॥१०९॥ अथ पुनर्मन्त्रमाह।

2024) **सर्वकल्याण**—बीजानि असिआउसा [न्य] न्यानि अपि स्मरेत्। कीदृशानि। सर्वकल्याणबीजानि। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥११०॥ नमः सर्वसिद्धेभ्यः।

2025) **श्रुतिसिन्धु**—श्रुतिसिन्धुः* श्रुतसागरः तस्मात् समुद्भूतं जातम् अन्यद्वा। पदम् अक्षरम्। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥१११॥ अथ पुनस्तदाह।

2026) **एवं समस्त**—*लक्ष्यभावप्रसिद्धये लक्षणीयस्वरूपसिद्धये कार्यः। क्रमेण विश्लेषः कार्यः। क्व। समस्तवर्णेषु। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥११२॥ अथ पुनस्तदाह। सिद्धचक्रम्। द्वापञ्चाशदक्षरमध्ये प्रथमम्। समस्तान् अक्षरान् मुखं प्रथमम् (?)।

अतिरिक्त 'सि'वर्णका मस्तककमलके ऊपर, 'आ' वर्णका कण्ठकमलके ऊपर स्थित रूपमें, 'उ' वर्णका हृदयमें स्थित रूपसे तथा 'सा' वर्णका मुखकमलके ऊपर स्थित रूपसे स्मरण करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि नाभिकमल आदि उक्त पाँच स्थानोंमें वर्णक्रमसे अवस्थित 'अ सि आ उ सा' इस पाँच वर्णमय मन्त्रका ध्यान करना चाहिए ॥१०८-१०९॥

इनके अतिरिक्त जिन अन्य बीजपदोंका भी आराधन करके शीलके समुद्रस्वरूप योगी जन मुक्तिको प्राप्त हुए हैं तथा समस्त कल्याणोंके कारण हैं उन अन्य बीजपदोंका—'नमः सर्वसिद्धेभ्यः' आदि मन्त्रोंका—भी योगीको स्मरण करना चाहिए ॥११०॥

अन्य भी जो अक्षर-पद शास्त्ररूप समुद्रसे उत्पन्न हुए हैं—परमागममें वर्णित हैं—उन सबका इस पदस्थध्यानको सिद्ध करनेके लिए मुनिको ध्यान करना चाहिए ॥१११॥

इस प्रकारसे समस्त वर्णों, मन्त्रपदों और विद्यापदोंके विषयमें भी शरीरके (अथवा छल-कपटके) अभावको सिद्ध करनेके लिए क्रमसे पृथक्करण करना चाहिए ॥११२॥

१. N अवर्णं। २. M N सकारं। ३. All others except P M स्मरोकारं। ४. All others except P स्थितम्। ५. M L F add। ६. P बीजानान्यपि संस्मरेत्। ७. Only in P M। ८. All others except P N T कार्यक्रमेण। ९. All others except P M लक्ष्यभाव।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2027) अन्यद्यद्यच्छ्रुतस्कन्धबीजं निर्वेदकारणम् ।
तत्तद्ध्यायन्नसौ ध्यानी[1] नापवर्गपथि स्खलेत् ॥११३[2]

2028) ध्येयं स्याद्वीतरागस्य विश्ववर्त्यर्थसंचयम्[3] ।
तद्धर्मव्यत्ययाभावान्माध्यस्थमधितिष्ठतः[4] ॥११४

2029) उक्तं च[5]—
वीतरागो भवेद्योगी यत्किंचिदपि चिन्तयेत्[6] ।
तदेव ध्यानमाम्नातमतो ऽन्ये[7] ग्रन्थविस्तराः ॥११४*१ ॥इति[8] ।

2030) वीतरागस्य विज्ञेया ध्यानसिद्धिर्ध्रुवं मुनेः ।
क्लेश एव[9] तदर्थं स्याद्रागार्तस्येह देहिनः ॥११५

2027) **अन्यद्यत्**—उक्तं च शास्त्रान्तरे। अन्यत् यत् यत् श्रुतस्कन्धबीजं निर्वेदकारणम्। असौ ध्यानी। तत्तद् ध्यायन् अपवर्गपथि मोक्षमार्गे न स्खलेत्। इति सूत्रार्थः ॥११३॥ उक्तं च।

2028) **ध्येयं स्यात्**—विश्ववर्त्यर्थसंचयं जगद्वर्तिपदार्थकदम्बकं वीतरागस्य ध्येयं स्यात्। तद्धर्मव्यत्ययाभावात्। पदार्थधर्मप्रतिकूलत्वाभावात् माध्यस्थमधितिष्ठति*। इति सूत्रार्थः ॥११४॥ उक्तं च।

2029) **वीतरागः**—[वीतरागः विरक्तः योगी भवेत्। तदेव ध्यानम् आम्नातं कथितम्। अन्यत् सुगमम् ॥११४*१॥] अथ पुनस्तदेवाह।

2030) **वीतरागस्य**—[वीतरागस्य मुनेः ध्रुवं निश्चितं ध्यानसिद्धिः विज्ञेया। अपि तु रागार्तस्य देहिनः मनुष्यस्य तदर्थं ध्यानसिद्ध्यर्थं क्लेश एव स्यात् ॥११५॥] अथ पुनस्तदेवाह।

अन्य जो-जो श्रुतस्कन्धके बीज निर्वेदके कारण हैं उन-उनका ध्यान करनेवाला योगी मोक्षमार्गमें स्खलित नहीं होता है—वह उसमें अतिशय स्थिर रहता है ॥११३॥

भिन्न-भिन्न पदार्थोंका जो स्वभाव है उसके विषयमें विपरीतभावके न होनेसे मध्यस्थता-का आश्रय लेनेवाले वीतराग योगीके लिए लोकमें वर्तमान सब ही पदार्थोंका समूह ध्यानके योग्य है ॥११४॥ कहा भी है—

जब योगी वीतराग हो जाता है तब वह जो कुछ भी चिन्तन करता है वही ध्यान कहा जाता है। इससे अधिक बीज-पदादिकोंके ध्यानका कथन करनेमें ग्रन्थका ही विस्तार है ॥११४*१॥

जो मुनि वीतराग है—संसार, शरीर व भोगोंसे सर्वथा विरक्त हो चुका है—उसके निश्चयसे ध्यानकी सिद्धि जानना चाहिए। इसके विपरीत जो प्राणी रागसे पीड़ित है—जिसे शरीरादिसे अनुराग है—उसको उस ध्यानके विषयमें केवल क्लेश ही होता है—उसे ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती है ॥११५॥

१. F योगी for ध्यानी। २. L T add उक्तं च, F om. this verse। ३. N विश्वमप्यर्थ। ४. T तिष्ठति, R reads after No. 116। ५. P M N T F उक्तं च। ६. N चिन्तयन्। ७. N F T °न्यो ....बिस्तरः, J X R °न्यद् विस्तरः। ८. P इति। ९. L क्लेशप्रचय एव स्याद्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2031) निर्मथ्य श्रुतसिन्धुमुन्नतधियः श्रीवीरचन्द्रोदये
तत्त्वान्येव समुद्धरन्ति मुनयो यत्नेन रत्नान्यतः ।
तान्येतानि हृदि स्फुरन्तु[1] सुभगन्यासानि भव्यात्मनां
ये वाञ्छन्त्यनिशं विमुक्तिललना[2]वाल्लभ्य[3]संभावनाम् ॥११६

2032) विलीनाशेषकर्माणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत् ॥११७

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्री-शुभचन्द्र-
विरचिते पदस्थध्यानप्रकरणम् ॥३५॥

2031) **निर्मथ्य**—[ये अनिशं सततं विमुक्तिललनावाल्लभ्यसंभावनां मुक्तिस्त्रीप्रियत्वं वाञ्छन्ति। तेषां हृदि मनसि एतानि तत्त्वानि स्फुरन्तु समुल्लसन्तु । इति सूत्रार्थः ॥११६॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

2032) **विलीनाशेष**—स्वं स्मेरत् । कीदृशं स्वम् । विलीनाशेषकर्माणं नष्टाशेषकर्माणम् । स्फुरन्तं दीप्यमानम् । अतिनिर्मलं पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतम् । इति सूत्रार्थः ॥११७॥

पार्श्वसंज्ञा महाधर्मा टोडरः शुद्धमानसः । ऋषिदासो महाबुद्धिर्जयतीह निरन्तरम् । इत्याशीर्वादः । अथ पुनस्तदाह ।

इत्याचार्य-श्रीशुभचन्द्रविरचिते ज्ञानार्णवयोगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन
साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहऋषिदास-स्वश्रवणार्थं
पण्डितजिनदासोद्यमेन कारापिते पदस्थध्यानप्रकरणम् ॥३५॥

श्री वीर जिनेन्द्ररूप चन्द्रका उदय होनेपर उन्नत बुद्धिके धारक मुनि आगमरूप समुद्रका मन्थन करके उसमें-से तत्त्वरूप रत्नोंको ही निकालते हैं। सुन्दर रचनासे परिपूर्ण वे रत्न उन भव्य जीवोंके हृदयमें प्रकाशमान होते हैं जो निरन्तर मुक्तिरूप कान्ताके पतिप्रेमकी सम्भावनाकी इच्छा किया करते हैं। विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य समुद्रके भीतरसे उत्तम रत्नोंको निकालकर उनसे बनाये गये सुन्दर हारसे अपने कण्ठको विभूषित किया करते हैं उसी प्रकार निर्मल बुद्धिके धारक योगी श्री वीर जिनेन्द्रके द्वारा उपदिष्ट समुद्र समान गम्भीर आगमका अभ्यास करके उसमेंसे ध्यानके योग्य अनेक बीजाक्षरों, मन्त्रों और विद्याओंको खोजकर उनसे अपने हृदयको विभूषित करते हैं—उनका ध्यान किया करते हैं ॥११६॥

समस्त कर्मोंसे रहित, देदीप्यमान और अतिशय निर्मल जो पुरुषके आकार आत्मा अपने शरीरके ही भीतर अवस्थित है उसका योगीको स्मरण करना चाहिए ॥११७॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
पदस्थध्यानका प्रकरण समाप्त हुआ ॥३५॥

१. All others except P M स्फुरन्ति । २. N वनिता for ललना । ३. All others except P संभोगसंभा° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[रूपस्थध्यानम्]

2033) आर्हन्त्य[1]महिमोपेतं सर्वज्ञं परमेश्वरम् ।
ध्यायेद्देवेन्द्र[2]चन्द्रार्कसभान्तःस्थं स्वयंभुवम् ॥१

2034) सर्वातिशयसंपूर्णं दिव्य[3]लक्षणलक्षितम् ।
सर्वभूतहितं देवं शीलशैलेन्द्रशेखरम् ॥२

2035) सप्तधातुविनिर्मुक्तं मोक्षलक्ष्मीकटाक्षितम् ।
अनन्तमहिमाधार[4]मयोगिपरमेश्वरम् ॥३

2033) आर्हन्त्य—[स्वयंभुवं स्वयमेवोत्पन्नं सर्वज्ञं परमेश्वरं ध्यायेत् । पुनः कीदृशम् । आर्हन्त्यमहिम्ना उपेतं युक्तम् । शेषं सुगमम् ॥१॥ पुनस्तमेव वर्णयति ।]

2034) सर्वातिशय—ब्रह्मचर्याचलमुकुटम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ पुनः कीदृशं तदाह ।

2035) सप्तधातु—रुधिरादिसप्तधातुरहितम् । मोक्षलक्ष्मीकटाक्षितम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ परमेश्वरं स्तौति ।

जो अर्हन्त अवस्थाकी महिमासे—अनन्तचतुष्टयस्वरूप अन्तरंग और समवसरणादिरूप बहिरंग लक्ष्मीसे—सहित, समस्त पदार्थोंका ज्ञाता, द्रष्टा तथा इन्द्र, चन्द्र, सूर्यकी सभा (समवसरण) के मध्यमें स्थित है उस स्वयम्भू—अनादिनिधन—परमेश्वरका ध्यान करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि रूपस्थध्यानमें जिस लोकातिशायी आत्मस्वरूपमें जिनेन्द्र अवस्थित हैं उसका योगीको ध्यान करना चाहिए ॥१॥

वह सर्वज्ञ परमेश्वर सब (चौंतीस) अतिशयोंसे परिपूर्ण, दिव्य चिह्नोंसे चिह्नित, सब ही प्राणियोंका हित करनेवाला, मोक्षमार्गका प्रणेता, शीलरूप पर्वतराजका शिखर—अठारह हजार शीलभेदोंका स्वामी, रस-रुधिरादि सात धातुओंसे रहित, मोक्षलक्ष्मीके कटाक्षोंका विषय—उसके द्वारा अभिलषित, अपरिमित महिमाका आधार, योगसे रहित

१. S J S R आर्हत्य, T अर्हन्त्य, F अर्हंत । २. X देवं च चन्द्रा° । ३. L T J X Y R सर्वं for दिव्य । ४. All others except P धारं सयोगि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2036) अचिन्त्यचरितं चारुचारित्रैः समुपासितम् ।
विचित्रनयनिर्णीत[1]विश्वं विश्वैकबान्धवम् ॥४

2037) निरुद्धकरणग्रामं निषिद्धविषयद्विषम् ।
ध्वस्तरागादिसंतानं भवज्वलनवार्मुचम् ॥५

2038) दिव्यरूपधरं धीरं[2] विशुद्धज्ञानलोचनम् ।
अपि त्रिदशयोगीन्द्रैः कल्पनातीतवैभवम् ॥६

2039) स्याद्वादपवि[3]निर्घातभिन्नान्यमतभूधरम् ।
ज्ञानामृतपयःपूरै[4]पवित्रितजगत्त्रयम् ॥७

2040) इत्यादिगणनातीतगुणरत्नमहार्णवम् ।
देवदेवं स्वयंबुद्धं[5] स्मराद्यं[6] धर्मचक्रिणम् ॥८ ॥अथवा[7]—

2036) **अचिन्त्य**—कीदृशम् । अचिन्त्यचरितम् । पुनः कीदृशम् । चारुचरित्रैः प्रधानसंयमैः समुपासितं सेवितम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

2037) **निरुद्ध**—निरुद्धकरणग्रामं रुन्धितेन्द्रियजातम् । निषिद्धविषयद्विषं तर्जितविषयवैरि ॥५॥ पुनः कीदृशम् ।

2038) **दिव्यरूप**—त्रिदशयोगीन्द्रैः अपि कल्पनातीतवैभवं चिन्तातीतैश्वर्यम् । शेषं सुगमम् इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ पुनराह ।

2039) **स्याद्वाद**—पुनः कीदृशम् । स्याद्वादवज्रनिर्घातभेदितान्यसिद्धान्तपर्वतम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७॥ पुनस्तदेवाह ।

2040) **इत्यादि**—आद्यं प्रथमं जिनभास्करं [जिन]सूर्यं स्मर चिन्तय । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथवा ।

होता हुआ उत्कृष्ट ऐश्वर्यका स्वामी, अचिन्त्य चरित्रसे संयुक्त, उत्तम चारित्रवाले साधुजनोंके द्वारा आराधित, अनेक नयोंके आश्रयसे विश्वका निर्णय करनेवाला, लोकका अद्वितीय बन्धु (हितैषी), इन्द्रिय-समूहका विजेता, विषयरूप शत्रुका प्रतिरोध करनेवाला, रागादिकी परम्पराका विघातक, संसाररूप अग्निको शान्त करनेके लिए मेघके समान, दिव्य स्वरूपका धारक, धीर, निर्मल ज्ञान (केवलज्ञान) रूप नेत्रसे सुशोभित, इन्द्रों व योगीन्द्रोंकी कल्पनामें न आनेवाले (अचिन्त्य) वैभवसे सम्पन्न, स्याद्वाद सिद्धान्तरूप वज्रके प्रहारसे अन्य मतरूप पर्वतोंको खण्डित करनेवाला और ज्ञानरूप अमृतमय जलके प्रवाहसे तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाला है । इस प्रकार जो इनको आदि लेकर असंख्यात गुणोंरूप रत्नोंका समुद्र, देवोंका

१. All others except P L निर्णीतं । २. M वीरं । ३. M N पद । ४. All others except P M J पूरैः । ५. N T बुद्धस्म° । ६. L S J R °द्यं जिनभास्करं । ७. P M अथवा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2041) जन्ममृत्युरुजा[1]क्रान्तं रागादिविषमूर्छितम् ।
सर्वसाधारणैर्दोषैरष्टादशभिराश्रितम् ॥९

2042) अनेकव्यसनोच्छिष्टं संयमज्ञानविच्युतम् ।
संज्ञामात्रेण केचिच्च सर्वज्ञं प्रतिपेदिरे ॥१०॥ तथा च[2]—

2043) इतरो[3]ऽपि नरः षड्भिः प्रमाणैर्वस्तुसंचयम् ।
परिच्छिन्दन्[4]मतः कैश्चित् सर्वज्ञः सोऽपि [5]नेष्यते ॥११

2044) अतः सम्यक् स विज्ञेयः परित्यज्या[6]न्यशासनम् ।
युक्त्यागमविभागेन[7] ध्यातुकामैर्मनीषिभिः ॥१२

2041) जन्ममृत्यु—[रुजा रोगेणाक्रान्तम्, रागादिविषमूर्छितं रागादयः एव विषं तेन मूर्छितं व्याप्तम् । इति सूत्रार्थः ॥९॥] एतदेवाह ।

2042) अनेक—केचित् वादिनः सर्वज्ञं प्रतिपेदिरे प्रतिपादयांचक्रुः संज्ञामात्रेण । कीदृशम् । अनेकव्यसनोच्छिष्टम् अनेककष्टरहितम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अन्यच्च ।

2043) इतरोऽपि—कैश्चिद् वादिभिः सर्वज्ञो मतः । किं कुर्वन् । षड्भिः प्रमाणैः वस्तुसंचयं पदार्थसमूहं परिच्छिन्दन् । सोऽपि सर्वज्ञः नेष्यते न वाच्यते । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ पर्नविशेषमाह ।

2044) अतः सम्यक्—[सम्यक् समीचीनतया । अन्यशासनम् अन्येषां सिद्धान्तम् । परित्यज्य त्यक्त्वा । विज्ञेयः ज्ञातव्यः । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ तदेव दर्शयति ।

अधिदेव, बिना किसी अन्यके उपदेशके ही स्वयं प्रबोधको प्राप्त हुआ तथा धर्मचक्रका स्वामी है उस प्रथम (वृषभ जिनेन्द्र) परमेश्वरका स्मरण करना चाहिए ॥२-८॥

अथवा—कितने ही विद्वान् नाम मात्रसे ऐसे पुरुषको सर्वज्ञ स्वीकार करते हैं जो जन्म व मरणरूप रोगसे पीड़ित, रागादिरूप विषसे मूर्च्छित, सर्वसाधारणमें रहनेवाले अठारह दोषोंका आधार, अनेक दोषोंसे परिपूर्ण तथा संयम एवं ज्ञानसे रहित है । अन्य कितने ही विद्वान् उस मनुष्यको सर्वज्ञ मानते हैं जो छह प्रमाणों—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभावके द्वारा वस्तुसमूहको जानता है । परन्तु वस्तुतः वह सर्वज्ञ नहीं माना जा सकता है ॥९-११॥

इसलिए ध्यानके इच्छुक बुद्धिमान् योगियोंको दूसरोंके मिथ्या मतको छोड़कर युक्ति और आगम दोनोंके आश्रयसे उस सर्वज्ञको भली भाँति जान लेना चाहिए जिसकी कि सिद्धि

१. All others except P मृत्युजरा....रावृतं । २. P तथा च, M L F अन्यच्च । ३. J इतरेऽपि नराः । ४. M N T परिच्छिन्नमतः कोऽपि । ५. S T J X Y R नेक्षते, F नेक्ष्यते । ६. T त्यक्तान्य । ७. ....विभागो न ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2045) युक्त्या वृषभसेनाद्यैर्निर्धूयासाधु वल्गितम् ।
यस्य सिद्धिः सतां मध्ये लिखिता चन्द्रमण्डले ॥१३॥ तद्यथा[1]–

2046) अनेकवस्तुसंपूर्णं जगद्यस्य चराचरम् ।
स्फुरत्यविकलं बोधे[2]विशुद्धादर्शमण्डले ॥१४

2047) स्वभावजमसंदिग्धं निर्दोषं सर्वदोदितम् ।
यस्य विज्ञानमत्यक्षं लोकालोकं विसर्पति ॥१५

2048) यस्य विज्ञानघर्मांशुप्रभाप्रसरपीडिताः ।
क्षणादेव क्षयं यान्ति खद्योता इव दुर्नयाः ॥१६

2049) पादपीठीकृताशेषत्रिदशेन्द्रसभाजिरम् ।
योगिगम्यं जगन्नाथं गुणरत्नमहार्णवम् ॥१७

2045) **युक्त्या वृषभ**—वृषभसेनाद्यैराचार्यैः असाधु वल्गितम् असम्यक् चर्चितम् । [युक्त्या निर्धूय खण्डनं विधाय यस्य सिद्धिः कृता । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ तद्यथा ।]

2046) **अनेकवस्तु**—अविकलबोधशुद्धादर्शमण्डले यस्य योगिनः चराचरं जगत् स्फुरति प्रतिभासते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ [पुनस्तदेवाह ।]

2047) **स्वभावजम्**—यस्य विज्ञानं विशिष्टज्ञानम् अत्यक्षम् अतीन्द्रियं लोकालोकं विसर्पति । कीदृशम् । स्वभावजम् । पुनः । असंदिग्धम् । पुनः कीदृशम् । निर्दोषम् । सर्वदोदितम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ तदेवाह ।

2048) **यस्य विज्ञान**—दुर्नयाः क्षणादेव क्षयं यान्ति । यस्य विज्ञानघर्मांशुप्रभाप्रसरपीडिता विशिष्टज्ञानसूर्यकान्तिसमूहपीडिताः । इवोत्प्रेक्षते । खद्योता इव । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ एतदेवाह ।

2049) **पादपीठीकृत**—पादपीठीकृताः अशेषाः त्रिदशेन्द्राः तेषां सभाजिरं सभाङ्गणम् । पुनः कीदृशम् । योगिगम्यम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ पुनः कीदृशं तदाह ।

वृषभसेन गणधरादिकोंके द्वारा युक्तिपूर्वक दुष्ट जनोंके बकवादको खण्डित करके सत्पुरुषोंके मध्यमें चन्द्रमण्डलपर लिखी गयी है ॥१२-१३॥ वह इस प्रकारसे—

जिस सर्वज्ञ परमेश्वरके निर्मल ज्ञानरूप दर्पणके घेरेमें अनेक (अनन्त) वस्तुओंसे परिपूर्ण समस्त चराचर लोक प्रतिभासित होता है, जिसका स्वाभाविक, सन्देहसे रहित, निर्दोष और सर्वदा प्रकाशमान अतीन्द्रिय ज्ञान लोक व अलोकमें व्याप्त है; जिसके विशिष्ट ज्ञानरूप सूर्यकी प्रभा (तेज) के विस्तारसे पीड़ित होकर दूषित पक्ष—एकान्तवादी—जुगनुओंके समान क्षणभरमें क्षीण हो जाते हैं, जिसने समस्त इन्द्रोंकी सभारूप आंगनको अपने पावोंके रखनेका आसन बना दिया है—जिसके चरण समस्त इन्द्रसमूहसे पूजित हैं, जो योगी जनोंको गम्य है—जिसके स्वरूपको योगी जनोंके सिवाय अन्य कोई जान नहीं सकता

१. P M तद्यथा । २. F बोधो ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2050) पवित्रित[1]धरापृष्ठं समुद्धृतजगत्त्रयम् ।
मोक्षमार्गप्रणेतारमनन्तं पुण्यशासनम् ॥१८

2051) भामण्डलनिरुद्धार्कं[2] चन्द्रकोटिसमप्रभम् ।
शरण्यं सर्वगं शान्तं दिव्यवाणीविशारदम् ॥१९

2052) अ[3]क्षोरगशकुन्तेशं सर्वाभ्युदयमन्दिरम् ।
दुःखार्णवपतत्सत्त्वदत्तहस्तावलम्बनम् ॥२०

2053) मृगेन्द्रविष्टरारूढं मारमातङ्गघातकम् ।
[4]इन्दुत्रयसमोद्दामच्छत्रत्रयविराजितम् ॥२१

2054) हंसालीपातलीलाढ्य[5]चामरव्रजवीजितम् ।
वीततृष्णं विशां[6] नाथं वरदं विश्वरूपिणम् ॥२२

2050) **पवित्रित**—पुनः कीदृशम् । पवित्रितधरापृष्ठं पृथ्वीपीठम् । किं कृत्वा । जगत्त्रयं समुद्धृत्य । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ पुनः कीदृशम् ।

2051) **भामण्डल**—भामण्डलेन निरुद्धः अर्कः येन सः, तम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ पुनः कीदृशम् । आह ।

2052) **अक्षोरग**—अक्षाण्येव उरगाः, तत्र शकुन्तेशं गरुडम् । पुनः कीदृशम् । सर्वाभ्युदयमन्दिरं सर्वकल्याणगेहम् । दुःखार्णवे दुःखसमुद्रे पतन्तः ये सत्त्वाः, तेषां दत्तहस्तावलम्बनम् । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ पुनः कीदृशं तदाह ।

2053) **मृगेन्द्र**—इन्दुत्रयसमोद्दामछत्रत्रयविराजितं चन्द्रत्रयसमोत्कटछत्रत्रयविराजितम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ पुनराह ।

2054) **हंसालीपात**—हंसानाम् आली श्रेणिः, तस्याः पातः, तस्य लीला, तया आढ्ये पूर्णे, तद्वच्चामरे, तयोः व्रजः समूहः, तस्य वीजितम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ [पुनस्तदेवाह ।]

है, जो लोकका स्वामी है, गुणरूप रत्नोंका विशाल समुद्र है, जिसने पृथिवीतलको पवित्र करके तीनों लोकोंके प्राणियोंका उद्धार किया है, जो मोक्षमार्गका नेता है, जो अनन्त काल तक रहनेवाला (अविनश्वर) है, जिसका शासन (तीर्थ) पवित्र है, जिसने अपने प्रभामण्डलसे सूर्यको तिरस्कृत कर दिया है, जो करोड़ों चन्द्रोंकी प्रभाके समान प्रभावाला है, प्राणियोंका रक्षक है, सर्वव्यापक है, शान्त है, दिव्य उपदेशमें निपुण है, इन्द्रियरूप सर्पोंके लिए गरुड़ पक्षीके समान है, समस्त अभ्युदय (अभिवृद्धि)का स्थान है, दुखरूप समुद्रमें डूबते हुए प्राणियोंको हाथका अवलम्बन देनेवाला है, सिंहासनपर विराजमान है, कामरूप हाथीका घातक है, तीन चन्द्रोंके समान प्रखर तीन छत्रोंसे विभूषित है, हंसपंक्तिके गिरनेकी

१. N जगत्पृष्ठधरापृष्ठं । २. All others except P N J निरुद्धार्कचन्द्र । ३. M N यक्षोरग । ४. M N विधुत्रय । ५. M लीलार्घ्यं । ६. All others except P जगन्नाथं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2055) दिव्यपुष्पानकाशोकराजितं रागवर्जितम् ।
प्रातिहार्यमहालक्ष्मीलक्षितं परमेश्वरम् ॥२३

2056) नवकेवललब्धिश्रीसंभवं स्वात्मसंभवम् ।
तुर्यध्यानमहावह्नौ हुतकर्मेन्धनोत्करम् ॥२४

2057) रत्नत्रयसुधास्यन्दमन्दीकृतभवभ्रमम्[1] ।
वीतसंगं जिताद्वैतं[2] शिवं शान्तं च शाश्वतम्[3] ॥२५

2058) अर्हन्तमजमव्यक्तं कामदं कामघातकम्[4] ।
पुराणपुरुषं[5] देवं देवदेवं[6] जिनेश्वरम् ॥२६

2059) विश्वमूर्तिः[7] परंज्योतिर्योगिनाथं महेश्वरम् ।
अनामयमनाद्यन्तं त्रातारं भुवनेश्वरम् ॥२७

2055) **दिव्यपुष्प**—दिव्यानि पुष्पाणि, आनको दिव्यध्वनिः, अशोकवृक्षः, तैः राजितम् । पुनः कीदृशम् । रागवर्जितम् । पुनः कीदृशम् । प्रातिहार्यमहालक्ष्मीः, तया लक्षितम् । परमेश्वरम् । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ पुनः कीदृशं तदाह ।

2056) **नवकेवल**—नवकेवललब्धिश्रीसंभवं नवीनकेवलोपलब्धिलक्ष्मीसंभवम् । पुनः कीदृशम् । स्वात्मसंभवं निजानन्दजातम् । पुनः कीदृशम् । तुर्येध्यानमहावह्नौ शुक्लध्यानमहाग्नौ हुतकर्मेन्धनोत्करं दग्धकर्मेन्धनसमूहम् । इति सूत्रार्थः ॥२४॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

2057) **रत्नत्रय**—रत्नत्रयं सम्यग्दर्शनादित्रयं, तदेव सुधास्यन्दः अमृतद्रावः, तेन मन्दीकृतः भवभ्रमः येन सः, तं वीतरागम् । पुनः कीदृशम् । जिताद्वैतं जितैकान्तवादम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ [पुनः कीदृशं तदाह ।

2058) **अर्हन्तम्**—अजं जन्मरहितम् । कामदम् ईप्सितप्रदम् । अव्यक्तम् अस्पष्टम् । शेषं सुगमम् ॥२६॥] अथ पुनस्तदेवाह ।

2059) **विश्वमूर्तिः**—विश्वचक्षुः* जगन्नेत्रम् । पुनः कीदृशम् । जगद्वन्द्यम्* । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ [पुनस्तमेव विशेषयन्नाह ।]

लीलायुक्त चामरोंके समूहसे वीज्यमान है, तृष्णासे रहित हो चुका है, मनुष्योंका स्वामी है, अभीष्टको प्रदान करनेवाला है, विश्वरूप है—समस्त पदार्थोंका ज्ञाता है, दिव्य पुष्प, आनक (दुन्दुभी) व अशोक वृक्षसे विराजमान है, रागसे रहित है, प्रातिहार्यरूप महालक्ष्मीसे संयुक्त है, उत्कृष्ट ऐश्वर्यसे सहित है, उत्पन्न हुई नौ केवललब्धियों—केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्रकी शोभासे सम्पन्न है,

---

१. L S T F J X Y R भवभ्रमं । २. M N S T F J Y R जितद्वैतं । ३. All others except P शान्तं सनातनं । ४. S X Y R कामनाशकं । ५. M पुराणं । ६ T देवं वन्दे जगज्जिने° । ७. All others except P विश्वचक्षु (S R नेत्रं) जंगद्वन्द्यं योगि....ज्योतिर्मय ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2060) [1]योगीश्वरं तमीशानमादिदेवं चतुर्मुखम्[2] ।
अनन्तमच्युतं शान्तं[3] भास्वन्तं भूतनायकम् ॥२८

2061) सन्मतिं सुगतं सिद्धं जगज्ज्येष्ठं पितामहम् ।
महावीरं मुनिश्रेष्ठं पवित्रं पर[4]माक्षरम् ॥२९

2062) [5]सर्वज्ञं सर्वदं सार्वं वर्धमानं निरामयम् ।
[6]नित्यमव्ययमव्यक्तं परिपूर्णं पुरातनम् ॥३०

2063) [7]इत्यादिसान्वयानेकपुण्यनामोपलक्षितम् ।
स्मर सर्वगतं देवं [8]तमीश्वरमनामयम् ॥३१

2060-61) **योगीश्वरम्**—भास्वन्तं तेजसा द्योतमानम् । भूतनायकम् चराचरस्य अधिपतिम् । पुनः कीदृशम् । जगज्ज्येष्ठं जगतः ज्येष्ठः तम् । मुनीनां श्रेष्ठं मुनिश्रेष्ठम् । अन्यत्सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२८-२९॥ पुनराह ।

2062) **सर्वज्ञं**—इत्यादिप्रकारेण सान्वयः अन्वयसहितः ।* अनेकेन पुण्येन सहितं यन्नाम तेनोपलक्षितं तत्तथा ।* शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ पुनरेतदाह ।

2063) **इत्यादि**—सह अन्वयेन वर्तते इति सान्वयः ।* एतादृशा अनेके योगीन्द्राः, तैः वन्द्यमानं, तेनोपलक्षितम् ।* शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ अथ तदेवाह ।

स्वयम्भू है, चतुर्थ ध्यान (शुक्ल) रूप अग्निमें कर्मरूप ईंधनके समूहको होम चुका है—जला चुका है, रत्नत्रयरूप अमृतके झरनेसे संसारके परिभ्रमणको मन्द कर चुका है, परिग्रहसे रहित है, अद्वैतपर विजय पा चुका है—अद्वैतभावमें अवस्थित है, आनन्दस्वरूप है, शान्तिको प्राप्त है, शाश्वत है—अनन्त काल तक इसी अवस्थामें स्थिर रहनेवाला है, पूजाके योग्य है, अजन्मा है, अव्यक्त है—सर्वसाधारण के अनुभवमें नहीं आनेवाला है, अभीष्टको प्रदान करनेवाला है, कामका घातक है, पुरातन पुरुष है, आराधनीय है, देवोंका देव है, कर्मरूप शत्रुके विजेताओंमें प्रमुख है, विश्वव्यापक है, उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप है, योगियोंका स्वामी है, महान् ऐश्वर्यसे सुशोभित है, रोगसे रहित है, अनादि-अनन्त है, रक्षक है, लोकका अधीश्वर है, योगियोंका स्वामी है; तथा जो आदिदेव, चतुर्मुख, अनन्त, अच्युत, शान्त, भास्वत्, भूतनायक, सन्मति, सुगत, जगज्ज्येष्ठ, पितामह, महावीर, मुनिश्रेष्ठ, पवित्र, श्रेष्ठ अक्षर, सर्वज्ञ, सर्वद, सार्व, वर्धमान, निरामय, नित्य, अव्यय, अव्यक्त, परिपूर्ण व पुरातन आदि सार्थक अनेक पवित्र नामोंसे पहचाना जाता है उस अनन्त वीर्ययुक्त व रोगरहित सर्वव्यापी देवका स्मरण करना चाहिए ॥१४-३१॥

१. M om. । २. S R देवं जगद्गुरुं । ३. X दान्तं for शान्तं । ४. P पुरुमा । ५. P M N L T J om. first line । ६. J नित्यसंग्रहमव्य° । ७. L F J X Y read first line सान्वयानेकयोगीन्द्रवन्द्यमानोपलक्षितं । ८. M N T F देवं तं (F श्री) वीरं सुरनायकं, L S J X Y R देवं वीरममरनायकं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2064) अनन्यशरणः[1] साक्षात्तत्संलीनैकमानसः ।
तत्स्वरूपमवाप्नोति[2] ध्यानी तन्मयतां गतः ॥३२

2065) यमाराध्य शिवं प्राप्ता योगिनो जन्मनिःस्पृहाः ।
यं स्मरन्त्यनिशं भव्याः शिवश्रीसंगमोत्सुकाः ॥३३

2066) यस्य वागमृतस्यैकामासाद्य कणिकामपि ।
शाश्वते पथि तिष्ठन्ति प्राणिनः प्रास्त[3]कल्मषाः ॥३४

2067) देवदेवः स ईशानो भव्याम्भोजैकभास्करः ।
ध्येय[4]ः सर्वात्मना वीरो[5] निश्चलीकृत्य[6] मानसम् ॥३५

2064) **अनन्य**—ध्यानी तत्स्वरूपमवाप्नोति आत्मस्वरूपं प्राप्नोति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ पुनराह ।

2065) **यमाराध्य**—यम् आराध्य शिवं प्राप्ता योगिनः । कीदृशाः । शिवश्रीसंगमोत्सुकाः मोक्षलक्ष्मीसमागमोत्कण्ठिताः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

2066) **यस्य वाक्**—यस्य योगिनो वागमृतस्य एकामपि कणिकाम् आसाद्य प्राप्य । प्राणिनः शाश्वते पथि मार्गे तिष्ठन्ति । कीदृशाः । प्रास्तकल्मषाः दूरीकृतपापाः । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ अथ पुनराह ।

2067) **देवदेवः**—मानसं चित्तं निश्चलीकृत्य दृढीकृत्य । सर्वात्मना सेव्यः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ पुनराह ।

जो योगी उपर्युक्त सर्वज्ञके सिवाय अन्यको शरण नहीं मानता है वह एकमात्र उसीके विषयमें अपने अन्तःकरणको लीन करके तन्मय होता हुआ साक्षात् उसीके स्वरूपको प्राप्त कर लेता है ॥३२॥

जिस देवाधिदेवकी आराधना करके योगी जन जन्मसे—सांसारिक विषयभोगोंसे—निःस्पृह (विरक्त) होते हुए मोक्षको प्राप्त कर चुके हैं, मुक्तिरूप लक्ष्मीके संयोगके इच्छुक भव्य जीव जिसका निरन्तर स्मरण किया करते हैं, और जिसके वचनरूप अमृतके एक कण मात्रको पाकर प्राणी पापसे रहित होते हुए अविनश्वर पद (मोक्ष) में स्थित होते हैं; उस देवोंके अधिदेव, प्रभु एवं भव्यरूप कमलोंको विकसित करने के लिए सूर्यके समान वीर सर्वज्ञका पूर्णतया मनको स्थिर करके ध्यान करना चाहिए ॥३३-३५॥

---

१. J X Y R शरणं । २. T तस्य रूपं । ३. M प्राप्त । ४. J सेव्यः । ५. M N L J धीरैः, T धीरो ।
६. L T निश्चलीकृतमानसैः (T सः) ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2068) तस्मिन्निरन्तराभ्यासवशात्संजातनिश्चयाः[1] ।
सर्वावस्थासु पश्यन्ति तमेव परमेष्ठिनम् ॥३६

2069) तदालम्ब्य परं ज्योतिस्तद्गुणग्रामरञ्जितः ।
अविक्षिप्तमना योगी तत्स्वरूपमुपाश्नुते ॥३७

2070) इत्थं तद्भावनानन्दसुधास्यन्दाभिनन्दितः ।
न हि स्वप्नाद्यवस्थासु ध्यायन् प्रच्यवते[2] मुनिः ॥३८॥ अथवा[3]–

2071) तस्य[4] लोकत्रयैश्वर्यं ज्ञानराज्यं स्वभावजम् ।
ज्ञानत्रयजुषां मन्ये योगिनामप्यगोचरः[5] ॥३९॥ किं च[6]–

2068) तस्मिन्—तस्मिन्नात्मनि निरन्तराभ्यासवशात् संजातनिश्चयः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ पुनरप्याह ।

2069) तदालम्ब्य—अविक्षिप्तमनाः निश्चलमनाः योगी तत्स्वरूपम् आत्मरूपम् उपासते । तत् परं ज्योतिः आलम्ब्य । कीदृशः । तद्गुणग्रामरञ्जितः तस्य औदार्यादिगुणसमूहप्रीतः । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ पुनर्ध्यानदृढतामाह ।

2070) इत्थं तद्भावना—इत्थम् अमुना प्रकारेण तस्य आत्मनः भावनानन्द-सुधास्यन्दः अमृतद्रावः, तेन अभिनन्दितः स्वप्नाद्यवस्थासु न हि स मुनिः ध्यायन् प्रच्यवते । इति सूत्रार्थः॥३८॥ अथवा ।

2071) तस्य लोक—ज्ञानत्रयजुषां मतिश्रुतावधिज्ञानिनाम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ किं च ।

जिन योगियोंको निरन्तर अभ्यासके वश उक्त सर्वज्ञ परमेष्ठीके विषयमें निश्चय उत्पन्न हो चुका है वे सब अवस्थाओंमें उसी परमेष्ठीको देखते हैं ॥३६॥

उस सर्वज्ञ परमात्मारूप उत्कृष्ट ज्योतिका आश्रय लेकर उसके गुणसमूहमें अनुरागको प्राप्त हुआ योगी स्थिरचित्त होकर उसके स्वरूपको प्राप्त होता है ॥३७॥

इस प्रकार उस सर्वज्ञ परमात्माके चिन्तनसे उत्पन्न हुए आनन्दरूप अमृतके झरनेसे आनन्दको प्राप्त हुआ मुनि स्वप्नादि अवस्थाओंमें भी उसका ध्यान करता हुआ उससे स्खलित नहीं होता है ॥३८॥ अथवा—

उस सर्वज्ञ प्रभुका तीनों लोकोंके ऐश्वर्यसे परिपूर्ण स्वाभाविक ज्ञानरूप राज्य तीन ज्ञानों (मति, श्रुत व अवधि) से संयुक्त योगियोंका भी विषय नहीं है—उस सर्वज्ञ देवके ज्ञानकी महिमाको अवधिज्ञानी भी नहीं जानते हैं ॥३९॥

---

१. S X Y R निश्चलाः । २. P प्रच्युक्ते । ३. P M अथवा । ४. M N अस्य । ५ All others except P °गोचरम् । ६. P M किं च ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2072) साक्षान्निर्विषयं कृत्वा साक्षं चेतः स[1] संयमी ।
नियोजयत्यविश्रान्तं तस्मिन्नेव जगद्गुरौ ॥४०

2073) तद्गुणग्रामसंलीनमानसस्तद्गतांशयः[2] ।
तद्भावभावितो योगी तन्मयत्वं प्रपद्यते ॥४१॥ तथा[3] हि–

2074) यदाभ्यासवशात्तस्य तन्मयत्वं प्रजायते[4] ।
तदात्मानमसौ ध्यानी[5] सर्वज्ञीभूतमीक्षते[6] ॥४२

2075) एष देवः स सर्वज्ञः सो ऽहं तद्रूपतां गतः ।
तस्मात् स एव नान्यो ऽहं विश्वदर्शीति मन्यते ॥४३

2072) **साक्षात्**—स संयमी साक्षात् सेन्द्रियं चेतः साक्षात् निर्विषयं कृत्वा तस्मिन्नेव आत्मनि जगद्गुरौ जगद्धितोपदेशके अविश्रान्तं निरन्तरं नियोजयति। इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथ तन्मयत्वोपायमाह।

2073) **तद्गुण**—योगी तद्गुणग्रामसंलीनमानसः आत्मानुभवादि-गुणव्याप्तमानसः। पुनः कीदृशः। तद्भावभावितः आत्मभावभावितः। तन्मयत्वम् आत्मैकरूपत्वं प्रपद्यते। इति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथ पुनराह। तथा हि।

2074) **यदाभ्यास**—यदा अभ्यासवशात् तस्य आत्मनः तन्मयत्वं प्रपद्यते तदा आत्मानं सर्वज्ञीभूतम् ईक्षते असौ ध्यानी। इति सूत्रार्थः ॥४२॥ तदेवाह।

2075) **एष देवः**—विश्वदर्शी इति मन्यते। सो ऽहं तद्रूपतां गतः। इति सूत्रार्थः ॥४३॥ तदेव दृष्टान्तेनाह।

इसके अतिरिक्त—वह योगी इन्द्रियोंके साथ-साथ मनको भी साक्षात् अन्य विषयोंसे हटाकर निरन्तर लोकके स्वामीभूत उस सर्वज्ञ परमात्माके विषयमें ही नियुक्त करता है ॥४०॥

जिस योगीका मन उस सर्वज्ञ देवके गुणसमूहमें लीन हुआ है तथा जो अपने हृदयको उसीके लिए अर्पित कर चुका है वह उसकी भावनासे संस्कृत होकर उसीके स्वरूपको पा लेता है ॥४१॥

जिस आत्माके ध्यानके अभ्यासवश योगीके तन्मयता—सर्वज्ञरूपता—उत्पन्न होती है उस आत्माको वह योगी स्वयं सर्वज्ञस्वरूप देखता है ॥४२॥

यह देव (आत्मा) ही वह सर्वज्ञ है और वही मैं उस सर्वज्ञरूपताको प्राप्त हूँ। इसलिए वही सर्वज्ञ मैं हूँ, अन्य नहीं हूँ; ऐसा वह योगी मानता है ॥४३॥ कहा भी है—

१. M S J X Y R सुसं°। २. M N तद्गुणां°, L मानसस्तु जिताशयः। ३. P M तथाहि। ४. J प्रपद्यते। ५. L S F Y R ज्ञानी। ६. X °मिष्यते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2076) उक्तं च[1]—

येन येन हि[2] भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः ।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥४३*१॥ इति[1] ।

2077) अथवा[3]—

भव्यतैव[4] हि भूतानां साक्षान्मुक्तेर्निबन्धनम् ।
अतः सर्वज्ञता भव्ये[5] भवन्ती नात्र शङ्क्यते ॥४४

2078) अयमात्मा स्वसामर्थ्याद्विशुध्यति न केवलम् ।
चालयत्यपि संक्रुद्धो भुवनानि चतुर्दश ॥४५

2076) **येन येन**—यन्त्रवाहकः येन येन युज्यते । केन । भावेन । हि निश्चितम् । तेन भावेन तन्मयताम् आत्मस्वरूपतां याति । यथा विश्वरूपो मणिः तन्मयतां याति । इति सूत्रार्थः ॥४३*१॥ अथवा ।

2077) **भव्यतैव**—भव्यता भूतानां साक्षात् मुक्तेः निबन्धनं कारणम् । भव्ये यतः सर्वज्ञता भवति । नात्र शङ्क्यते इति सूत्रार्थः ॥४४॥अथ पुनरप्याह ।

2078) **अयमात्मा**—अयमात्मा न केवलं विशुध्यति निर्मलीभवति । कस्मात् । स्वसामर्थ्यात् । अपि पक्षान्तरे । चतुर्दश भुवनानि चालयति । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ पुनराह ।

जिस प्रकार मणि—स्फटिक मणि—जिस-जिस पदार्थसे संयुक्त होता है उस-उसके रूपसे परिणत होकर विश्वरूपताको प्राप्त होता है उसी प्रकार यह यन्त्रवाहक—शरीररूप यन्त्रका चालक—जिस-जिस भावसे संयुक्त होता है उस-उस स्वरूपताको प्राप्त होता है ॥४३*१॥ अथवा—

साक्षात् मुक्तिकी कारण प्राणियोंकी भव्यता—रत्नत्रयस्वरूपसे परिणत होनेकी योग्यता—ही है। अतएव भव्य जीवके नियमसे सर्वज्ञता होनेवाली है, इसमें सन्देह नहीं है ॥४४॥

यह आत्मा अपनी शक्तिसे केवल विशुद्ध ही नहीं होता, किन्तु अतिशय क्रुद्ध होकर वह चौदह लोकोंको—सात नारकभूमियों, भवनवासी लोक, ज्योतिर्लोक, स्वर्गलोक, ग्रैवेयक क्षेत्र, अनुदिश और अनुत्तर देवलोकको—भी विचलित कर सकता है। अभिप्राय यह है कि आत्माकी शक्ति अचिन्त्य है—जैसे वह क्रोधके वशीभूत होकर समस्त लोकको क्षुब्ध कर सकता है वैसे ही वह निर्मल ध्यानमें निरत होकर मुक्तिको भी प्राप्त कर सकता है ॥४५॥

१. P M उक्तं च....इति । २. Y येनात्र भावेन । ३. P M अथवा J om. this verse । ४. Y भव्यत्वमेव भूतानां । ५. L भव्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2079) त्रैलोक्यानन्दबीजं जननजलनिधेर्यानपात्रं पवित्रं
लोकालोकप्रदीपं स्फुरदमलशरच्चन्द्रकोटिप्रभाढ्यम् ।
कस्यामप्यग्रकोटौ जगदखिलमतिक्रम्य लब्धप्रतिष्ठं
देवं विश्वैकनाथं शिवमजमनघं वीतरागं भजस्व ॥४६

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्रीशुभचन्द्र-
विरचिते रूपस्थध्यानप्रकरणम् ॥३६॥

2079) **त्रैलोक्यानन्द**—हे लोक, वीतरागं भजस्व सेवस्व । कीदृशम् । त्रैलोक्यानन्दबीजं जगत्त्रयामोदकारणम् । पुनः कीदृशम् । जननजलनिधेः भवसमुद्रस्य यानपात्रं नावम् । पुनः कीदृशम् । पवित्रम् । लोकालोकप्रदीपम् । पुनः कीदृशम् । स्फुरदमलशरच्चन्द्रकोटिप्रभाढ्यं दीप्यमानशारदचन्दाग्रकान्त्याढ्यम् । पूर्णम् । पुनः कीदृशम् । कस्यामपि कोटौ अखिलं जगत् अतिक्रम्य । लब्धप्रतिष्ठम् । देवम् । पुनः । विश्वैकनाथं, शिवम्, अजम्, अनघं सफलम् । इति सूत्रार्थः ॥४६॥

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे पण्डितनयविलासेन साह-
पासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहऋषिदास-स्वश्रवणार्थं
पण्डितजिनदासोद्यमेन कारापितं रूपध्यानप्रकरणम् ॥३६॥

स्वसमपवनमालामेघमालासमानः गुणगणयुतपार्श्वंदुःखपूर्दारुपार्श्वः ।महिमपरमसिन्धुष्टोडरो धर्मकन्दः वरविभवसमेतो रेषिदासः सभीतः ॥ इत्याशीर्वादः ॥ अथ रूपातीतमाह ।

जो वीतराग सर्वज्ञ देव तीनों लोकोंके आनन्दका कारण, संसाररूप समुद्रसे पार करनेके लिए जहाज जैसा, कर्म-मलसे रहित, लोक व अलोकको प्रकट दिखलानेवाला उत्तम दीपक, प्रकाशमान निर्मल शरत्कालीन करोड़ों चन्द्रों जैसी कान्तिसे संयुक्त किसी भी प्रमुख विषयमें समस्त लोकका अतिक्रमण करके प्रतिष्ठाको प्राप्त—सर्वलोकातिशायी, विश्वका अद्वितीय प्रभु, आनन्दमय, जन्म-जरा आदिसे रहित और निष्पाप है; उस सर्वज्ञ प्रभुकी आराधना करनी चाहिए ॥४६॥

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
रूपस्थध्यान प्रकरण समाप्त हुआ ॥३६॥

---

१. M N तस्यां ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

XXXVII

[रूपातीतम्]

2080) वीतरागं स्मरन्[1]योगी वीतरागो विमुच्यते ।
रागी सरागमालम्ब्य क्रूरकर्माश्रितो भवेत् ॥१

2081) मन्त्रमण्डलमुद्रादिप्रयोगैर्ध्यातुमुद्यतः ।
सुरासुरनरव्रातं क्षोभयत्यखिलं क्षणात्[2] ॥२

2082) क्रुद्धस्याप्यस्य सामर्थ्यमचिन्त्यं त्रिदशैरपि ।
अनेकविक्रियासारध्यानमार्गावलम्बिनः ॥३

2080–81) वीतरागं—मन्त्रः च मण्डलं च मुद्रा च तदादिप्रयोगैः ध्यातुम् उद्यतः सावधानः अखिलं सर्वंसुरासुरनरजातं क्षणात् क्षोभयति । इति सूत्रार्थः ॥१–२॥ अथ पुनराह ।

2082) क्रुद्धस्याप्यस्य—क्रुद्धस्य अस्य परमात्मनः सामर्थ्यम् अचिन्त्यम् त्रिदशैरपि इति । कीदृशस्य । अनेकविक्रियाभिसरे यद्ध्यानं तन्मार्गम् अवलम्बते यः तस्य । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ पुनस्तदाह ।

जो योगी उस वीतराग सर्वज्ञका ध्यान करता है वह स्वयं वीतराग—राग-द्वेषसे रहित—होकर संसारसे मुक्ति पा लेता है । इसके विपरीत जो रागी प्राणी सरागभावका आश्रय लेकर क्रूरतापूर्ण कृत्योंमें प्रवृत्त होता है वह दीर्घ काल तक संसारमें ही परिभ्रमण करता है ॥१॥

मन्त्र, मण्डल और मुद्रा आदि प्रयोगोंके द्वारा ध्यान करनेमें प्रवृत्त हुआ योगी क्षण-भरमें ही सुर, असुर और मनुष्योंके समूहको क्षुब्ध कर देता है ॥२॥

अनेक प्रकारकी विक्रियारूप शक्तिको उत्पन्न करनेवाले ध्यानमार्ग काआश्रय लेनेवाला योगी जब क्रोधको प्राप्त होता है तब उसके सामर्थ्यके विषयमें देव भी नहीं विचार कर सकते हैं—फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? ॥३॥

१. Y स्मरेत् । २. X क्रमात् for क्षणात् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2083) बहूनि कर्माणि मुनि[1]प्रवीरैर्विद्यानुवादात् प्रकटीकृतानि ।
असंख्यभेदानि कुतूहलार्थं कुमार्गकुध्यानगतानि सन्ति ॥४

2084) असावनन्तप्रथितप्रभावः स्वभावतो यद्यपि यन्त्र[2]नाथः ।
नियुज्यमानः स पुनः समाधौ करोति विश्वं चरणाग्रलीनम् ॥५

2085) अथवा[3]—
स्वप्ने ऽपि कौतुकेनापि नासद्ध्यानानि योगिभिः ।
सेव्यानि यान्ति बीजत्वं यतः सन्मार्गहानये ॥६

2086) सन्मार्गात् प्रच्युतं चेतः पुनर्वर्षशतैरपि ।
शक्यते न हि केनापि व्यवस्थापयितुं पथि ॥७

2083) **बहूनि**—मुनिप्रवीरैः मुनिप्रधानैः बहूनि कर्माणि विद्यानुवादात् प्रगटीकृतानि । कुतूहलार्थम् । असंख्यभेदानि । कुमार्गम् कुध्यानं च कुमार्गकुध्याने । तयोर्गतानि सन्ति । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ पुनराह ।

2084) **असावनन्तः**—यद्यपि यन्त्रनाथो जीवो ऽसौ स्वभावतो निसर्गात् अनन्तः प्रथितः विस्तीर्णः प्रभावो यस्य सः । समाधौ नियुज्यमानः प्रेर्यमाणः चरणाग्रलीनं पदकमलाश्रितं विश्वं करोति । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथवा पक्षान्तरमाह ।

2085) **स्वप्ने ऽपि**—योगिभिः असद्ध्यानानि न सेव्यानि । यतः सन्मार्गहानये मोक्षमार्गनाशाय ते बीजत्वं यान्ति इति सूत्रार्थः ॥६॥ अथ मनश्चञ्चलत्वमाह ।

2086) **सन्मार्गात्**—सन्मार्गात् च्युतं भ्रष्टं चेतः पुनः वर्षशतैरपि पथि मार्गे केनापि व्यवस्थापयितुं न हि शक्यते । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ पुनराह ।

श्रेष्ठ मुनियोंने विद्यानुवाद नामक ग्रन्थमें कुतूहलके लिए—अपूर्व सामर्थ्यके अवलोकनार्थ—असंख्यात भेदरूप बहुत-सी क्रियाओंको प्रकट किया है। परन्तु वे दुर्ध्यानसे सम्बद्ध होनेके कारण कुमार्गमें प्रवृत्त करनेवाली हैं ॥४॥

वह यन्त्रनाथ—शरीररूप यन्त्रका स्वामी आत्मा—स्वभावसे ही अनन्त सामर्थ्यवाला प्रसिद्ध है । फिर भला ध्यानमें नियुक्त किया जानेपर तो वह समस्त लोकको भी पाँवों तले रौंध सकता है ॥५॥

अथवा—योगियोंको कुतूहलसे भी दुर्ध्यानोंका सेवन स्वप्नमें भी नहीं करना चाहिए । कारण यह कि वे दुष्ट ध्यान समीचीन मार्गसे भ्रष्ट करनेके कारण होते हैं ॥६॥

यदि मन समीचीन मार्गसे—मोक्षमार्गसे—भ्रष्ट हो जाता है तो फिर उसे उस समीचीन मार्गमें फिरसे स्थापित करनेके लिए सैकड़ों वर्षोंमें भी कोई समर्थ नहीं हो सकता है ॥७॥

१. M बहु for मुनि । २. J यत्र । ३. P अथवा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2087) असद्ध्यानानि जायन्ते स्वनाशायैव केवलम् ।
वस्तुविप्लवसामर्थ्यात्[1] कौतुकेन कृतान्यपि ।।८

2088) निर्भरानन्दसंदोहपदसंपादनक्षमम् ।
मुक्तिमार्गमतिक्रम्य कः कुमार्गे प्रवर्तते ।।९

2089) क्षुद्रध्यानपरैः[2]प्रपञ्चचतुरा रागानलोद्दीपिता
मुद्रामण्डलयन्त्र[2]मन्त्रकरणैराराधयन्त्यादृताः ।
कामक्रोधवशीकृतानिह[3] सुरान् संसारसौख्यार्थिनो
दुष्टाशाभिहताः पतन्ति नरके भोगार्तिभिर्[4]वञ्चिताः ।।१०

2087) असद्ध्यानानि—रागाद्यसद्ग्रहावेशात् रागद्वेषदुष्टाग्रहप्रवेशात् । कौतुकेन कृतान्यपि । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ।।८।। अथ पुनराह ।

2088) निर्भरानन्द—कुमार्गे कः प्रवर्तते । किं कृत्वा । मुक्तिमार्गम् अतिक्रम्य । कीदृशम् । निर्भरानन्दसंदोहसंपादनक्षमं सघनामोद-समूहदानसमर्थम् । इति सूत्रार्थः ।।९।। अथ पुनराह ।

2089) क्षुद्रध्यान—जीवा भोगार्तिभिः भोगवेदनाभिः वञ्चिताः । कीदृशाः । क्षुद्रध्यानपरप्रपञ्चचतुराः क्षुद्राः दुष्टाः ये ध्यानपराः, तेषां प्रपञ्चचतुराः । पुनः कीदृशाः । रागानलोद्दीपिताः रागाग्निजाज्वल्यमानाः । पुनः कीदृशाः । आदृताः यच्चरणे रताः । किं कृत्वा । मुद्रामण्डले प्रसिद्धे । मन्त्रः पुरुषाधिष्ठायकः, यन्त्रम् एकाशीतिप्रमुखम् । करणैः योगप्रसिद्धैः । तेषां समाहारः तैः । आराध्य* । कान् । इहलोके सुरान् । कीदृशान् । कामक्रोधवशीकृतान् । संसारसौख्यार्थिनो जीवाः दुष्टाशाभिहताः नरके पतन्ति । इति सूत्रार्थः ।।१०।। अथ पुनस्तदाह ।

कुतूहलवश किये गये भी असमीचीन ध्यान वस्तुविनाशके सामर्थ्यसे—यथार्थ मार्गसे भ्रष्ट करनेवाले होनेसे—केवल आत्मघातके ही कारण होते हैं ।।८।।

जो मुक्तिमार्ग अतिशय आनन्दसमूहके स्थानभूत—अनन्त सुखसे परिपूर्ण—मोक्षपदके देनेमें समर्थ है उसका उल्लंघन करके कुमार्गमें प्रवृत्त कौन होगा—कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य उसको छोड़कर कुमार्गमें प्रवृत्त नहीं होगा ।।९।।

जो क्षुद्र ध्यानके द्वारा दूसरोंके ठगनेमें चतुर होते हुए रागरूप अग्निसे जल रहे हैं वे यहाँ संसारसुखके अभिलाषी होकर मुद्रा, मण्डल, यन्त्र और मन्त्ररूप उपायोंके द्वारा आदरपूर्वक काम व क्रोधके वशीभूत हुए कुदेवोंकी आराधना करते हैं और दुष्ट आशाके वश होते हुए भोगोंकी पीड़ासे वंचित होकर नरकमें पड़ते हैं ।।१०।।

---

१. All others except P रागाद्यसद्ग्रहावेशात् कौतु° । २. M पराः····मन्त्रयन्त्र । ३. T कृताश्च नितरां संसार । ४. M भोगार्थिभि° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2090) तद्ध्येयं तदनुष्ठेयं तद्विचिन्त्यं मनीषिभिः ।
यज्जीवकर्मसंबन्धविध्वंसायैव[1] जायते ॥११॥ किं च[2]—

2091) स्वयमेव हि सिध्यन्ति सिद्धयः शान्तचेतसाम् ।
अनेकफलसंपूर्णा[3] मुक्तिमार्गावलम्बिनाम् ॥१२

2092) संभवन्ति न वाभीष्टसिद्धयः[4] क्षुद्रयोगिनाम् ।
भवत्येव पुनस्तेषां स्वार्थभ्रंशो ऽनिवारितः ॥१३

2093) भवप्रभवसंबन्धनिरपेक्षा मुमुक्षवः ।
न हि स्वप्ने ऽपि विक्षिप्तं मनः कुर्वन्ति योगिनः ॥१४

2090) तद्ध्येयं—यद् ध्यानं जीवकर्मणोः विध्वंसाय नाशाय। एव निर्धारणार्थः। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ पुनराह। किं च।

2091) स्वयमेव—[शान्तचेतसां योगिनां सिद्धयः स्वयमेव सिध्यन्ति। कीदृशाः। अनेकफलसंपूर्णाः नानाविधफलयुक्ताः। इति सूत्रार्थः ॥१२॥] अथ पुनस्तेषां स्वरूपमाह।

2092) संभवन्ति—तेषां स्वार्थभ्रंशः स्वार्थनाशः अनिवारितो भवत्येव। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथ पुनराह।

2093) भवप्रभव—संसारोत्पन्नसंबन्धे निरपेक्षाः मुमुक्षवः मुक्तिकामाः। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ पुनराह।

जो जीव और कर्मके बन्धके विघातका ही कारण हो उसका ही बुद्धिमान् मनुष्योंको ध्यान करना चाहिए, उसीका अनुष्ठान करना चाहिए और उसीका चिन्तन करना चाहिए ॥११॥

दूसरे, जो योगी मनको शान्त करके मोक्षमार्गका आश्रय लेते हैं उनके लिए अनेक फलोंसे परिपूर्ण—अभीष्ट अनेक प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाली—सिद्धियाँ स्वयं ही प्राप्त होती हैं ॥१२॥

निकृष्ट ध्यान करनेवाले योगियोंके उन अभीष्ट सिद्धियोंकी सम्भावना नहीं है, इसके विपरीत उनका आत्महितसे वंचित होना नहीं रोका जा सकता है—वे आत्महितसे वंचित होकर अनेक दुःखोंको ही भोगते हैं ॥१३॥

जो योगी मोक्षके अभिलाषी होकर संसारके उत्पादक सम्बन्धोंसे निरपेक्ष होते हैं वे स्वप्नमें भी अपने मनको विक्षिप्त—विषयोंमें मुग्ध—नहीं करते हैं ॥१४॥

---

१. S F J X Y R विश्लेषायैव। २. PM किं च। ३. M N संपूर्णं। ४. All others except P चा for वा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2094) अथ रूपे स्थिरीभूत[1]चित्तः प्रक्षीणविभ्रमः ।
अमूर्त[2]मजमव्यक्तं ध्यातुं प्रक्रमते ततः ॥१५

2095) चिदानन्दमयं शुद्धममूर्तं[3] ज्ञानविग्रहम् ।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते[4] ॥१६॥ अथवा[5]–

2096) वदन्ति योगिनो ध्यानं [6]चित्तमेवमनाकुलम् ।
कथं शिवत्वमापन्नमात्मानं संस्मरेन्मुनिः ॥१७॥ तद्यथा[7] –

2097) विविच्य[8] तद्गुणग्रामं तत्स्वरूपं निरूप्य च ।
अनन्यशरणो ज्ञानी तस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ॥१८

2094) **अथ रूपे**—रूपे स्थिरीभूते । अथ अनन्तरम् । स्थिरीभूतचित्तः । प्रक्षीणविभ्रमः नष्टमिथ्यात्वः । अमूर्तादिविशेषणत्रयं सुगमम् । ध्यातुं प्रक्रमते ततः उद्यमं करोतीति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ ध्यानमाह ।

2095) **चिदानन्द**—अहं स्मरे चिन्तयामि आत्मानम् । तद् ध्यानं रूपातीतम् इष्यते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथवा पक्षान्तरमाह ।

2096) **वदन्ति**—मुनिः कथं शिवत्वमापन्नं प्राप्तम् आत्मानं संस्मरेत् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ तद्यथा दर्शयति ।

2097) **विविच्य**—तद्गुणग्रामं विवेच्य* विवेकीकृत्य । च पुनः । तत्स्वरूपम् आत्मपरमार्थं निरूप्य कथयित्वा अनन्यशरणः ज्ञानी तस्मिन्नेवात्मनि लयं ध्यानं व्रजेत् । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथात्मनः परमात्मनि संयोजनमाह ।

इस प्रकार जिस योगीका चित्त उस वीतराग देवके स्वरूपमें स्थिर हो चुका है तथा जिसकी विपरीत बुद्धि सर्वथा नष्ट हो चुकी है वह उसके पश्चात् अमूर्त, अजन्मा और अव्यक्त आत्माके ध्यानको प्रारम्भ करता है ॥१५॥

जिस ध्यानमें शुद्ध—कर्ममलसे रहित, अमूर्त और ज्ञानमय शरीरसे संयुक्त ऐसे चेतन व आनन्दस्वरूप आत्मा स्मरण किया जाता है उसे रूपातीत ध्यान माना गया है ॥१६॥

अथवा, आकुलतासे रहित जो चित्त है उसे ही योगी ध्यान कहते हैं। इसका कारण यह है कि जो जीव मुक्तिको प्राप्त हो चुका है, मुनि उसका ध्यान कैसे कर सकता है ? नहीं कर सकता है ॥१७॥

वह इस प्रकारसे—ज्ञानी योगी मुक्तिको प्राप्त हुए सिद्धात्माके गुणसमूहका विचार करके और उसके स्वरूपका अवलोकन करके एकमात्र उसको ही शरण मानता हुआ उसीमें लीन हो जाता है ॥१८॥

१. L भूते । २. T अमूर्ति । ३. L S T F J X Y R °मूर्तं परमाक्षरम् । ४. L मीक्ष्यते, F J मीक्षते । ५. P अथवा । ६. N चिन्तामय, P M चितामयमनां° । ७, P M तद्यथा । ८. All others except M विवेच्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2098) तद्गुणग्रामसंपूर्णं तत्स्वभावैकभावितम्[1] ।
कृत्वात्मानं ततो ध्यानी योजयेत्परमात्मनि ॥१९

2099) [2]द्वयोर्गुणैर्मतं साम्यं व्यक्तिशक्तिव्यपेक्षया ।
विशुद्धेतर[3]योर्जीवद्रव्ययोः परमागमे ॥२०॥ किं च[4]—

2100) यः प्रमाणनयैर्नूनं स्वतत्त्व[5]मवबुध्यते ।
बुध्यते परमात्मानं स योगी वीतविभ्रमः ॥२१

2101) व्योमाकारमनाकारं निष्पन्नं शान्तमच्युतम् ।
चरमाङ्गात् कियन्न्यूनं स्वप्रदेशैर्घनैः[6] स्थितम् ॥२२

2098) **तद्गुण**—ध्यानी ततः तदनन्तरं परमात्मानं संयोजयति स्थापयति । तद्गुणग्रामसंपूर्णं परमात्मगुणसमूहसंपूर्णम् । किं कृत्वा । तत्स्वभावैकभावितं परमात्मस्वभावैकभावितं कृत्वा । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ परमात्मस्वरूपमाह ।

2099) **द्वयोर्गुणैः**—द्वयोः आत्मपरमात्मनोर्गुणैः शुद्धबुद्धादि साम्यं सादृश्यं मतम् । कया । व्यक्तिशक्तिव्यपेक्षया । व्यक्तिः आत्मतत्त्वम् । शक्तिः सर्वजीवाभिव्याप्यपरिच्छेदकत्वम् । तयोः व्यपेक्षा । तया । परमागमे सिद्धान्ते । स्वात्मतत्त्वयोः आत्मपरमात्मनोः । कीदृशोः । विशुद्धेतरयोः । विशुद्धः शुद्धबुद्धापेक्षया निश्चयनं यत् । इतरः व्यवहारनयापेक्षया कर्मावृतत्वेन च अशुद्धः । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ पुनरात्मतत्त्वस्वरूपमाह ।

2100) **यः प्रमाण**—नूनं निश्चितं स्वतत्त्वमात्मतत्त्वं प्रमाणैः प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण नया आगमाद्याः तैरेवावबुध्यते ज्ञायते । योगी वीतविभ्रमः नष्टात्यन्ताज्ञानः परमात्मानं बुध्यते । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ परमात्मस्वरूपमाह ।

2101) **व्योमाकारम्**—कीदृशं परमात्मानम् । व्योमाकारम् आकाशसदृशम् । पुनः ।

तत्पश्चात् वह योगी अपनेको उसके गुणसमूहसे परिपूर्ण और उसीके अद्वितीय स्वभावसे संस्कृत करके परमात्मामें—शुद्ध आत्मस्वरूपमें—योजित करता है, अर्थात् स्वयं ही परमात्मस्वरूपका अनुभव करने लगता है ॥१९॥

विशुद्ध और कर्ममलसे लिप्त जो दो जीवद्रव्य—सिद्ध व संसारी जीव—हैं उन दोनोंमें शक्ति और व्यक्तिकी अपेक्षा न करके परमागममें गुणोंसे समानता मानी गयी है। अभिप्राय यह है कि सिद्ध और संसारी जीवोंमें अनन्तज्ञानादिरूप स्वाभाविक गुणोंकी अपेक्षा समानता है—दोनोंमें कोई भेद नहीं है। यदि उन दोनोंमें विशेषता है तो केवल यही है कि सिद्ध जीवके वे गुण प्रकट हो चुके हैं, परन्तु संसारी जीवके वे प्रकट नहीं हुए हैं—शक्तिरूपमें विद्यमान हैं ॥२०॥

इसके अतिरिक्त—जो योगी निश्चयतः प्रमाण और नयोंके द्वारा आत्मस्वरूपको जानता है वह यथार्थमें परमात्माको जानता है ॥२१॥

योगीको रूपातीत ध्यानमें निर्मल आकाशके समान सर्वव्यापक होकर ज्ञाता द्रष्टा,

१. R भावितः । २. F om. । ३. All others except P द्वेतरयोः स्वात्मतत्त्वयोः । ४. PM किं च । ५. M N स्वं तत्त्वं । ६. M N घनस्थितम् ।

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2102) लोकाग्रशिखरासीनं शिवीभूतमनामयम् ।
पुरुषाकारमापन्नमप्यमूर्तं[1] च चिन्तयेत् ॥२३॥ तथा[2] हि-

2103) निष्कलस्य विशुद्धस्य निष्पन्नस्य जगद्गुरोः ।
चिदानन्दमयस्योच्चैः कथं स्यात्पुरुषाकृतिः ॥२४॥ तद्यथा[3]-

2104) विनिर्गतमधूच्छिष्टप्रतिमे मूषिकोदरे ।
यादृग्गगनसंस्थानं तदाकारं स्मरेद्विभुम् ॥२५

अनाकारम् आकाररहितम् । पुनः कीदृशम् । निष्पन्नं कृतकृत्यम् । शान्तं दुःखानलसंतापाभावात् । पुनः कीदृशम् । अच्युतम् । पुनः कीदृशम् । चरमाङ्गात् स्वप्रदेशैः घनैः कियदूनं स्थितम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ पुनरात्मस्वरूपमाह ।

2102) लोकाग्र—कीदृशम् । लोकाग्रशिखरासीनं सुगमम् । पुनः कीदृशम् । अनामये आरोग्ये शिवीभूतमापन्नं व्याप्तम् । यथा अमूर्तं विचिन्तयेत् । इति सूत्रार्थः ॥२३॥ तथा हि ।

2103) निष्कलस्य—[निष्कलस्य निरंशस्य । चिदानन्दमयस्य चैतन्यमोदरूपस्य । पुरुषाकृतिः कथं स्यात् । न कथमपि । इति सूत्रार्थः ॥२४॥] अथ पुनराह ।

2104) विनिर्गत—विनिर्गतमधूच्छिष्टप्रतिमे गतशक्तिकासदृशे[?] । तत्र यादृग् गगनसंस्थानं गगनाकारं तदाकारं विभुं स्मरेत् । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ पुनराह ।

आकारसे रहित—अमूर्तिक, निष्पन्न—सिद्धिको प्राप्त हुआ, राग-द्वेषसे रहित, जन्मान्तर-संक्रमणसे मुक्त, अन्तिम शरीरके प्रमाणसे कुछ हीन, अविरल आत्मप्रदेशोंसे स्थित, लोकके उपरिम शिखरपर विराजमान, आनन्दस्वरूपसे परिणत, रोगसे रहित और पुरुषके आकार होकर भी अमूर्तिक; ऐसे सिद्धात्माका चिन्तन करना चाहिए ॥२२-२३॥

इसको आगे स्पष्ट करते हैं—जो सिद्ध जीव शरीरसे रहित, कर्म-मलसे विमुक्त, सिद्धिको प्राप्त, लोकका नायक और अतिशय ज्ञानानन्दमय है उसके भला पुरुषका आकार कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता है। अभिप्राय यह है कि जब सिद्ध जीव पुद्गलमय शरीरसे रहित हो चुका है तब उसका पुरुषके आकारसे स्थित रहना सम्भव नहीं है ॥२४॥

फिर उसको पुरुषाकार क्यों कहा जाता है, इसको आगे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—जिसके मध्यभागसे मैन गल चुका है ऐसे प्रतिमा (मूर्ति) स्वरूपसे परिणत चूहेके उदरके भीतर जिस प्रकार उस चूहेके आकारमें केवल शुद्ध आकाश रह जाता है उसी प्रकार मुक्ति अवस्थामें शरीरके छूट जानेपर अमूर्तिक आत्मप्रदेश उस पूर्व शरीरके आकारमें स्थित रह जाते हैं। यही सिद्ध जीवकी पुरुषाकारता है ॥२५॥

१. X पुरुषाकारसंपन्नमथामूर्तं विचिन्त° । २. PM तथा हि । ३. PM तद्यथा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2105) सर्वावयवसंपूर्णं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
विशुद्धादर्शसंक्रान्तप्रतिबिम्बसमप्रभम् ॥२६

2106) इत्यसौ संततोभ्यासवशात्संजातनिश्चयः[1] ।
अपि स्वप्नाद्यवस्थासु तमेवाध्यक्षमीक्षते[2] ॥२७

2107) सो ऽहं[3] सर्वगतः सार्वः[4] सिद्धः[5] साध्यो भवच्युतः[6] ।
परमात्मा परंज्योतिर्विश्वदर्शी निरञ्जनः ॥२८

2108) तदासौ निश्चलो ऽमूर्तो निष्कलङ्को जगद्गुरुः ।
चिन्मात्रो[7] विस्फुरत्युच्चैर्ध्यानध्यातृविवर्जितः ॥२९

2105) **सर्वावयव**—[सर्वलक्षणलक्षितं सर्वलक्षणैः परिपूर्णम् । विमलादर्शे संक्रान्तं यत् प्रतिबिम्बं तत्तुल्यमित्यर्थः ॥२६॥] अथ तत्स्वरूपमाह ।

2106) **इत्यसौ**—तमेवात्मानम् अध्यक्षं प्रत्यक्षम् ईक्षते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ पुनस्तमेवाह ।

2107–8) **सो ऽहं सर्वं**—भवच्युतः संसारान्मुक्तः । विश्वदर्शी विश्वं पश्यति इति । निष्कलङ्कः कलङ्करहितः । विस्फुरति प्रगटीभवति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२८-२९॥ अथ पुनरात्मानमेवाह ।

जिस प्रकार सब ही अवयवोंसे परिपूर्ण और समस्त लक्षणोंसे संयुक्त पुरुषका प्रतिबिम्ब—उसकी छाया मात्र—निर्मल दर्पणके ऊपर पुरुषाकारसे पड़ती है उसी प्रकार शरीरसे पृथक् हो जानेपर निर्मल आत्माका आकार शरीरके आकारमें रह जाता है ॥२६॥

इस प्रकारसे जिस योगीको निरन्तर अभ्यासके प्रभावसे विशुद्ध आत्मस्वरूपका निश्चय हो चुका है वह स्वप्नादि अवस्थाओंमें भी उसीका प्रत्यक्ष अवलोकन करता है ॥२७॥

उस समय योगीको वही परमात्मास्वरूपमें सर्वव्यापक, सबका हितकारक, सिद्ध, सिद्ध करनेके योग्य, जन्म-मरणरूप संसारसे रहित, परमात्मा, उत्कृष्ट ज्ञानज्योतिस्वरूप, विश्वदर्शी (सर्वज्ञ), कर्मरूप कालिमासे रहित, निश्चल, अमूर्त, कर्म-कलंकसे रहित, लोकका स्वामी, चैतन्य मात्र स्वरूपवाला और ध्यान व ध्याताके विकल्पसे रहित हूँ, इस प्रकारका वह विशुद्ध आत्मा प्रतिभासमान होता है ॥२८-२९॥

१, All others except P L F सततो° । २. MN तदेवा° । ३. All others except P सो ऽहं सकलवित् । ४. P सार्वसिद्धः, M सार्वं । ५. N सिद्धसाध्यो । ६. P भवाच्युतः । ७. J चिन्मयो । ८. M प्रस्फुर° ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2109) पृथग्भावमतिक्रम्य तथैक्यं परमात्मनि ।
प्राप्नोति स मुनिः साक्षाद्यथान्यत्वं न विद्यते[1] ॥३०

2110) उक्तं च–
निष्कलः परमात्माहं लोकालोकाव[2]भासकः ।
विश्वव्यापी स्वभावस्थो विकारपरिवर्जितः ॥३०*१

2111) इति विगतविकल्पं क्षीणरागादिदोषं
विदित[3]सकलवेद्यं त्यक्तविश्वप्रपञ्चम् ।
शिवमजमनवद्यं विश्वलोकै[4]कप्रदीपं
परमपुरुषमुच्चैर्भावशुद्ध्या भजस्व ॥३१

2109) पृथग्भावम्—पृथग्भावं भिन्नभावम् अतिक्रम्य। तथा ऐक्यं प्राप्नोति। कः। स मुनिः। यथा अन्यत्वं न विद्यते। इति सूत्रार्थः ॥३०॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे।

2110) निष्कलः—[निर्गताः कलाः अंशाः यस्मात् सः निष्कलः। विश्वव्यापी त्रैलोक्यव्यापकः। स्वभावस्थः प्रकृतिरूपेण वर्तमानः। इति सूत्रार्थः ॥३०*१॥] अथोपसंहरति।

2111) इति विगत—हे लोक, परमपुरुषम् उच्चैः भावशुद्ध्या भजस्व सेवस्व। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥३१॥

तब वह मुनि (ध्याता) भेदभावका अतिक्रमण करके—मैं व परमात्मा इस प्रकारकी द्वैतबुद्धिसे रहित होकर—उस परमात्माके विषयमें साक्षात् इस प्रकारकी एकता (अभेद) को प्राप्त होता है कि जिससे वह भेदका अनुभव ही नहीं करता है ॥३०॥

कहा भी है—

मैं पुद्गलमय शरीरसे रहित, लोक वह अलोकको प्रत्यक्ष देखनेवाला, सर्वव्यापक, आत्मस्वभावमें स्थित और विकारसे रहित साक्षात् परमात्मा हूँ; इस प्रकार अभेदका प्रतिभास होता है ॥३०*१॥

इस प्रकार रूपातीत ध्यानमें समस्त विकल्पोंसे रहित, रागादि दोषोंसे विमुक्त, समस्त ज्ञेय पदार्थोंका ज्ञाता, सब प्रकारकी प्रतारणासे विहीन—कृतकृत्य, आनन्दमय, अजन्मा, निष्पाप और समस्त लोकको प्रकाशित करनेवाला अनुपम दीपक; ऐसे उस परमपुरुष परमात्माका आराधन (ध्यान) करना चाहिए ॥३१॥

१. S R न बुध्यते। २. J लोकः सभासकः। ३. M विगतसकल। ४. All others except P J लोकैकनाथं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचाय-श्री-शुभचन्द्र-विरचिते रूपातीतप्रकरणम् ॥३७॥[1]

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमल-दिवाकर-साहऋषिदास-स्वश्रवणार्थं पण्डितजिनदासोद्यमेन कारापितं रूपातीतप्रकरणम् ॥३७॥

पार्श्वो बभूव जगति प्रतिपाद्यनामा तत्पट्टपङ्कजरविवरटोडराख्यः। धर्मप्रधानसुनिधिर्जगदेक-कीर्तिः जीयात्सदा सुकृतमन्दिर आर्षदासः ॥१॥ इत्याशीर्वादः ॥ तदेवाह।

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें रूपातीतध्यानका प्रकरण समाप्त हुआ ॥३७॥

१. P adds रूपातीतम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

XXXVIII

[धर्मध्यानफलम्]

2112) प्रसीद शान्तिं व्रज संनिरुध्यतां दुरन्तमोहानलदीपितं[1][2] मनः ।
अगाधजन्मार्णवपारवर्तिनां[3] यदि श्रियं[4] वाञ्छसि विश्वदर्शिनाम् ॥१

2113) यदि रोद्धुं न शक्नोति तुच्छवीर्यो मुनिर्मनः ।
तदा रागेतरध्वंसं कृत्वा कुर्यात्सुनिश्चलम् ॥२

2114) अनुप्रेक्षाश्च धर्मस्य[5] स्युः सदैव निबन्धनम् ।
चित्तभूमौ स्थिरीकृत्य ताः[6] स्वरूपं निरूपय[7] ॥३

2112) **प्रसीद शान्तिम्**—हे भव्य, विश्वदर्शिनां यदि श्रियं वाञ्छसि, तदा मनः संनिरुध्यतां रुन्धीताम् । कीदृशानां विश्वदर्शिनाम् । अगाधः यो जन्मार्णवः भवसमुद्रः तस्य पारे वर्तन्ते ये तथा । कीदृशं मनः । दुरन्तजन्मज्वरविप्लुतं दुष्टान्तजन्मज्वरेण विप्लुतं द्रुतम् । हे भव्य, त्वं प्रसीद प्रसादपरो भव । शान्ति व्रज गच्छेति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ पुनराह ।

2113) **यदि रोद्धुं**—मुनिः मनः यदि रोद्धुं न शक्नोति । तुच्छवीर्यः अल्पसत्त्वः । तदा रागेतरध्वंसं कृत्वा रागध्वंसं विधाय मुनिः सुनिश्चलं कुर्यात् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ पक्षान्तरमाह ।

2114) **अनुप्रेक्षाश्च**—धर्मस्य अनुप्रेक्षाः निबन्धनं सदैव कारणं स्युः । ताः अनुप्रेक्षाः चित्तभूमौ स्थिरीकृत्य स्वरूपं निरूपय । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ पुनराह ।

हे भव्य ! यदि तू अथाह संसाररूप समुद्रके पार होकर समस्त लोकको देखनेवाले (सर्वज्ञ) उन सिद्धात्माओंकी लक्ष्मीकी इच्छा करता है तो प्रसन्न होकर शान्तिको प्राप्त करता हुआ दुर्विनाश मोहरूप अग्निसे जलते हुए अपने मनका भलीभाँति निरोध कर—उसे अपने वशमें कर ॥१॥

यदि हीन शक्तिवाला मुनि उस मनका निरोध करनेके लिए समर्थ नहीं है तो उसे राग और द्वेषको नष्ट करके उस मनको स्थिर करना चाहिए ॥२॥

अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाएँ सदा ही धर्मध्यानकी कारण होती हैं, इसलिए तू उनको चित्तरूप भूमिमें स्थिर करके आत्मस्वरूपका अवलोकन कर ॥३॥

१. All others except P जन्मज्वर for मोहानल । २. M N L T विप्लुतं, F Y लुम्पितं, S J X R जिह्मितं for दीपितं । ३ M N वर्तिनीं....दर्शिनीं । ४. F यदि स्वयं । ५. M N T J X Y R धर्म्यस्य । ६. L S F J X Y R स्वस्वरूपं । ७. T निरूपयेः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2115) स्फेटयत्याशु[1] निष्कम्पो यथा दीपो घनं तमः ।
तथा कर्मकलङ्कौघं मुनेर्ध्यानं सुनिश्चलम् ॥४॥ अथवा[2]–

2116) चलत्येवाल्पसत्त्वानां क्रियमाणमपि स्थिरम् ।
चेतः शरीरिणां शश्वद्विषयैर्व्याकुलीकृतम् ॥५

2117) न स्वामित्वमतः शुक्ले विद्यते ऽत्यल्पचेतसाम् ।
आद्यसंहननस्यैव तत्प्रणीतं पुरातनैः ॥६

2118) उक्तं च[3]–
छिन्ने भिन्ने हते दग्धे देहे स्वमिव दूरगम् ।
प्रपश्यन् वर्षवातादिदुःखैरपि न कम्पते ॥६*१

2115) स्फेटयत्याशु—यथा दीपो घनं निबिडं तमः स्फेटयति । आशु शीघ्रम् । मुनेः ध्यातुं सुनिश्चलं तथा कलङ्कौघः स्फेटयति इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ पुनराह ।

2116) चलत्येव—शरीरिणां चेतः चलत्येव । कीदृशानाम् । अल्पसत्त्वानाम् । कीदृशम् । स्थिरं क्रियमाणमपि । कीदृशम् । शश्वत् निरन्तरम् । विषयैः व्याकुलीकृतम् । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ पुनराह ।

2117) न स्वामित्वम्—अतः कारणात् शुक्ले ध्याने ऽल्पचेतसाम् अल्पसत्त्वानां न स्वामित्वं विद्यते । तत् शुक्लध्यानं पुरातनैराचार्यैः आद्यसंहननस्यैव वज्रर्षभनाराचस्यैव प्रणीतम् । इति सूत्रार्थः ॥६॥ उक्तं च ।

2118) छिन्ने भिन्ने—देहे छिन्ने छेदिते, भिन्ने भेदिते, हते शस्त्रादिना, दग्धे अग्निना । स्वमिव दूरगं दूरवर्तिनं प्रपश्यन् वर्षवातादिभिः दुःखैः अपि न कम्पते । इति सूत्रार्थः ॥६*१॥ अथ पुनराह ।

इसका कारण यह है कि जिस प्रकार स्थिर दीपक सघन अन्धकारको शीघ्र ही नष्ट कर देता है उसी प्रकार मुनिका स्थिर ध्यान कर्मरूप कलंकको शीघ्र ही नष्ट कर देता है ॥४॥

अथवा—अल्प शक्तिके धारक प्राणियोंका निरन्तर विषयोंसे व्याकुल किया जानेवाला मन स्थिर करनेपर भी चंचलताको प्राप्त होता ही है ॥५॥

इसलिए हीन शक्तिके कारण जिनका चित्त स्थिर नहीं रहता है ऐसे अल्पज्ञ प्राणियोंका शुक्लध्यानके विषयमें अधिकार नहीं है—वे शुक्ल ध्यानके स्वामी नहीं हो सकते हैं। उस शुक्ल ध्यानका स्वामित्व प्राचीन महर्षियोंके द्वारा वज्रर्षभ नाराच संहननके धारक योगीके लिए ही निर्दिष्ट किया गया है ॥६॥ कहा भी है—

शुक्लध्यानका अधिकारी योगी शरीरके छेदे जानेपर, खण्डित किये जानेपर, घात करनेपर और जलाये जानेपर भी अपनेको उस शरीरसे दूरवर्ती जैसा देखता हुआ—उससे

१. X Y R स्फोट° । २. P M अथवा । ३. P M F X उक्तं च ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2119) न पश्यति तदा किंचिन्न शृणोति न जिघ्रति ।
स्पृष्टं किंचिन्न जानाति साक्षान्निर्वृत्तलेपवत्[1] ॥६*२॥ इति[2] ।

2120) आद्यसंहननोपेता निर्वेदपदवीं श्रिताः ।
कुर्वन्ति निश्चलं चेतः शुक्लध्यानक्षमं नराः ॥७

2121) सामग्र्योरुभयोर्ध्यातुर्ध्यानं[3] बाह्यान्तरङ्गयोः ।
[4]पूर्वयोरेव शुक्लं स्यान्नान्यथा जन्मकोटिषु ॥८

2122) अतिक्रम्य शरीरादिसंगानात्मन्यवस्थितः ।
नैवाक्षमनसोर्योगं करोत्येकाग्रतां[5] श्रितः ॥९

2119) **न पश्यति**—न जिघ्रति नाघ्राति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६*२॥ अथ पुनराह ।

2120) **आद्यसंहननोपेताः**—नराः शुक्लध्यानक्षमं समर्थं, निश्चलं कुर्वन्ति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ पुनराह ।

2121) **सामग्र्योरुभयोः**—बाह्याभ्यन्तरयोः सामग्र्योः उभयोः ध्यानं पूर्वयोः एव शुक्लं ध्यानं स्यात् । जन्मकोटिषु न अन्यथा । इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

2122) **अतिक्रम्य**—अतिक्रम्य त्यक्त्वा । शरीरादिसंगान् आत्मनि अवस्थितः अक्षमनसोः इन्द्रियमनसोः योगं करोति । कीदृशः । एकाग्रतां श्रितः । इति सूत्रार्थः ॥९॥ अथ पुनराह ।

अपनेको सर्वथा पृथक् मानता हुआ वर्षा एवं वायु आदिके दुःखोंसे भी विचलित नहीं होता है। वह उस समय लेपक्रियासे भित्तिपर निर्मित चित्रके समान न घातककी ओर देखता है, न कुछ सुनता है, न सूँघता है, और न शरीरसे स्पृष्ट किसी शस्त्रादिका भी अनुभव करता है ॥६*१-२॥

जो मनुष्य प्रथम (वज्रर्षभनाराच) संहननसे संयुक्त होकर वैराग्य मार्गका आश्रय लेते हैं वे अपने मनको स्थिर करके उसे शुक्लध्यान करनेमें समर्थ कर लेते हैं ॥७॥

इन बाह्य (प्रथम संहनन) और अन्तरंग (वैराग्यभाव) स्वरूप पूर्वोक्त दोनों सामग्रियोंके होनेपर ध्याता (योगी) के शुक्लध्यान होता है। उनके बिना करोड़ों जन्मोंमें भी वह किसी योगीके सम्भव नहीं है ॥८॥

शरीरादि परिग्रहोंको छोड़कर—उनमें निर्ममत्व होकर—आत्मस्वरूपमें अवस्थित हुआ योगी एकाग्रताका आश्रय लेकर इन्द्रिय और मनके संयोगको नहीं करता है—इन्द्रियोंसे विषयोंको देखता-जानता हुआ भी उनके विषयमें मनसे राग-द्वेषको नहीं प्राप्त होता है ॥९॥

---

१. M N T J X Y R निर्वृत्त, L निर्वृंत, S निवृत, F निर्वृति । २. P M इति । ३. M N ध्यातं for ध्यातु°, L °योर्ध्यानिं नृणां बाह्या° । ४. F पूर्णयो° । ५. M N °ग्रमानसः, S J X Y R °ग्रताश्रितः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2123) असंख्येयमसंख्येयं [1]सद्दृष्ट्यादिगुणेष्विह[2] ।
क्षीयते क्षपकस्यैव कर्मजातमनुक्रमात् ॥१०

2124) शमकस्य क्रमात् कर्म शान्तिमायाति पूर्ववत् ।
प्राप्नोति निर्गतातङ्कं[3] स [4]सौख्यं शमलक्षणम् ॥११

2125) धर्मध्यानस्य विज्ञेया स्थितिरान्तर्मुहूर्तिकी ।
क्षायोपशमिको भावो लेश्या शुक्लैव शाश्वती ॥१२

2126) इदमत्यन्तनिर्वेदविवेकप्रशमोद्भवम् ।
[5]स्वात्मानुभवमत्यक्षं योजयत्यङ्गिनां[6] सुखम् ॥१३

2123) **असंख्येयम्**—इहलोके क्षपकस्य पुंसः सद्दृष्ट्यादिगुणेषु सम्यग्दर्शनादिगुणेषु असंख्येयमसंख्येयम् अनुक्रमात् कर्मजातं क्षीयते । इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ उपशमश्रेणिमाह ।

2124) **शमकस्य**—असंख्यशमलक्षणं *प्राप्नोति । कीदृशम् । निर्गतातङ्कं निर्भयम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ तदेवाह ।

2125) **धर्मध्यानस्य**—भावः क्षायोपशमिकः । शुक्ललेश्या शाश्वती । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ योगिनां सुखमाह ।

2126) **इदमत्यन्त**—इदम् अत्यन्तनिर्वेदः संसारासारता, विवेकः, शमः, तेषां समाहारः । तयोः जातम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ तथोक्तम् । अथ योगलक्षणमाह ।

सम्यग्दर्शन, देशव्रत व महाव्रतादि गुणों (त. सू. ९-४५) से संयुक्त योगियोंमें यहाँ क्षपकश्रेणिपर आरूढ़ हुए क्षपकका कर्मसमूह क्रमसे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणितरूपमें निर्जराको प्राप्त होता ही है । परन्तु उपशमश्रेणिपर आरूढ़ हुए उपशमकको वह कर्मसमूह उत्तरोत्तर असंख्यातगुणित क्रमसे उपशमभावको प्राप्त होता है । इस प्रकारसे वह दुखसे मुक्त होकर राग-द्वेषके उपशमरूप निराकुल सुखको प्राप्त करता है ॥१०-११॥

धर्मध्यानकी स्थिति—उसका काल—अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जानना चाहिए। धर्मध्यान करनेवाले ध्याताका वह भाव क्षायोपशमिक और लेश्या उसकी सदा अवस्थित रहनेवाली शुक्ल ही होती है ॥१२॥

अतिशय संसार व शरीरादिसे विरक्ति, भेदविज्ञान और राग-द्वेषके उपशमसे उत्पन्न होनेवाला वह धर्मध्यान प्राणियोंको स्वानुभवगम्य अतीन्द्रिय सुखसे संयुक्त कराता है ॥१३॥ कहा भी है—

---

१. N सुदृष्ट्या । २. F गुणेष्विव, S X R गुणे ऽपि च । ३. S J X Y R °तङ्कः । ४. T सत्सौख्यं । ५. M N सात्मानुभव । ६. J त्यङ्गनासुखम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2127) तथा चोक्तम्[1]—

अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं गन्धः शुभो[2] मूत्रपुरीषमल्पम् ।

कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम्॥१३*१॥इति।

2128) अथावसाने स्वतनुं विहाय ध्यानेन संन्यस्तसमस्तसंगाः ।

ग्रैवेयकानुत्तरपुण्यवासे सर्वार्थसिद्धौ च[3] भवन्ति भव्याः ॥१४

2129) तत्राचिन्त्य[4]महाप्रभावकलितं लावण्यलीलान्वितं

स्रग्भूषाम्बरदिव्यलाञ्छनचितं[5] चन्द्रावदातं वपुः ।

संप्राप्योन्नतवीर्यबोधसुभगं कामज्वरार्तिच्युतं

सेवन्ते विगतान्तरायमतुलं सौख्यं चिरं स्वर्गिणः ॥१५

2127) अलौल्यम्—योगप्रवृत्तेः । हि निश्चितम् । प्रथमं चिह्नम् । किं तत् । अलौल्यं निर्लोभता । आरोग्यं प्रसिद्धम् । अनिष्ठुरत्वं सकोमलता । शुभो गन्धः । अमूत्रः पुरीषता अल्पम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१३*१॥ अथ तेषां गतिमाह ।

2121) अथावसाने—भव्याः अवसाने प्रान्ते स्वतनुं विहाय प्रभवन्ति उत्पद्यते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ स्वर्गसुखमाह ।

2129) तत्राचिन्त्य—स्वर्गिणो देवाः चिरम् अतुलं सौख्यं सेवन्ते । तत्र अचिन्त्यमहाप्रभावकलितम् । स्रग्भूषाम्बरदिव्यलाञ्छनयुतं पुष्पदामाभरणवस्त्रदिव्यलक्षणयुतम् । वपुः शरीरं प्राप्य । उन्नतवीर्यबोधसुभगम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

विषयलम्पटताका अभाव, नीरोगता, दयालुता, शरीरका उत्तम गन्ध, मूत्र व मलकी अल्पता, शरीरमें दीप्ति, प्रसन्नता और स्वरकी मधुरता; ये योगीके ध्यानमें प्रवृत्त होनेके चिह्न (पहिचाने) हैं ॥१३*१॥

समस्त परिग्रहसे रहित वे भव्य जीव अन्तमें अपने शरीरको छोड़कर ध्यानके प्रभावसे ग्रैवेयक विमानों, अनुत्तर विमानों एवं सर्वार्थसिद्धि विमानरूप पवित्र स्थानमें उत्पन्न होते हैं ॥१४॥

वहाँपर वे विमानवासी देव अचिन्त्य महाप्रभावसे संयुक्त, लावण्य व विलाससे सहित; माला, आभूषण, वस्त्र एवं दिव्य चिह्नोंसे व्याप्त और चन्द्रमाके समान निर्मल ऐसे शरीरको पाकर अनन्त वीर्य व ज्ञानसे आनन्ददायक और कामरूप ज्वरकी पीड़ासे रहित ऐसे निर्बाध व अनुपम सुखका चिरकाल तक उपभोग करते हैं ॥१५॥

---

१. P M L F तथा चोक्तं, others उक्तं च । २. M N गन्धं शुभं । ३. M L F Y सिद्धौ प्रभवन्ति । ४. M N S T Y R तत्तात्यन्त । ५. J लांछनयुतं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2130) ग्रैवेयकानुत्तरवास[1]भाजां वीचा[2]रहीनं सुखमत्युदारम् ।
निरन्तरं पुण्यपरंपराभिर्विवर्धते वार्धिरिवेन्दुपादैः ॥१६

2131) देवराज्यं समासाद्य यत्सुखं कल्पवासिनः[3] ।
निर्विशन्ति ततो ऽनन्तं सौख्यं कल्पातिवर्तिनः[4] ॥१७

2132) संभवन्त्य[5]थ कल्पेषु तेष्वचिन्त्यविभूतिजं[6]म् ।
प्राप्नुवन्ति परं सौख्यं सुराः स्त्रीलास्यँ[7]लाञ्छितं[8]म् ॥१८

2133) दशाङ्गभोगसंभूतं महाष्टगुणवर्धितम् ।
यत्कल्पवासिनां सौख्यं तद्वक्तुं केन पार्यते ॥१९

2130) **ग्रैवेयकान्**—ग्रैवेयकान् उत्तरवासभाजां देवानां सुखम् अत्युदारं वीचारहीनं सुखहीनं निरन्तरं पुण्यपरंपराभिः पुण्यश्रेणिभिः विवर्धते। इन्दुपादैः इन्दुकरैः वार्धिः वर्धते। इति सूत्रार्थः ॥१६॥ अथ स्वर्गवाससुखमाह।

2131) **देवराज्यम्**—कल्पान्तर्वर्तिनः अनुत्तरवासिनो देवाः। ततो ऽनन्तं सौख्यं निर्विशन्ति भुञ्जते। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ पुनः स्वर्गिसुखम् आह।

2132) **संभवन्त्यथ**—एतादृशकल्पे संभवन्ति उत्पद्यन्ते। अथ तेषु कल्पेषु अचिन्त्यविभूतिं प्राप्नुवन्ति सुराः। परं प्रकृष्टं सौख्यं स्त्रीभोगलाञ्छितं चिह्नितम्। इति सूत्रार्थः ॥१८॥ अथ पुनस्तत्सुखमाह।

2133) **दशाङ्गभोग**—यत् कल्पवासिनां सौख्यं, तत्केन वक्तुं पार्यते। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥१९॥ अथ पुनस्तेषां सुखमाह।

ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानोंमें रहनेवाले उन देवोंका काम-बाधासे रहित महान् सुख निरन्तर पुण्यकी परम्पराओंके द्वारा इस प्रकारसे वृद्धिंगत होता है जिस प्रकार कि चन्द्रकी किरणोंके द्वारा समुद्र वृद्धिंगत होता है ॥१६॥

देवोंके राज्य (इन्द्रपद) को पाकर जिस सुखका उपभोग कल्पवासी—सोलह स्वर्गोंके देव—किया करते हैं उससे कहीं अनन्तगुणे सुखका उपभोग कल्पातीत देव—ग्रैवेयकादि विमानवासी अहमिन्द्र—किया करते हैं ॥१७॥

अथवा, जो उन कल्पोंमें उत्पन्न होते हैं वे देव भी वहाँपर अचिन्त्य विभूतिसे उत्पन्न व देवांगनाओंके नृत्यसे चिह्नित उत्कृष्ट सुखको प्राप्त करते हैं ॥१८॥

दशांग भोगोंसे उत्पन्न व अणिमा, महिमा आदि आठ महागुणोंसे वृद्धिंगत जो सुख कल्पवासी देवोंको प्राप्त होता है उसका वर्णन करनेके लिए कौन समर्थ हो सकता है ? कोई नहीं—वह अवर्णनीय है ॥१९॥

१. L पुण्य for वास। २. M N T F X Y R विचार। ३. L S F J X R वासिनां, T Y स्वर्ग वासिनाम्। ४. L वर्तिनाम्। ५. N संभवन्तो ऽथ। ६. M S T J X Y R विभूतिदं। ७. M N स्त्रीसंग, L S T F J X Y R स्त्रीभोग। ८. M N T वाञ्छितम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2134) सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं सर्वाभ्युदयभूषितम् ।
नित्योत्सवयुतं दिव्यं दिवि सौख्यं दिवौकसाम् ॥२०

2135) प्रतिसमयमुदीर्णं स्वर्गसाम्राज्यरूढं
सकलविषयबीजं स्वान्तदत्ताभिनन्दम् ।
ललितयुवतिलीलालिङ्गनादिप्रसूतं
सुखमतुलं[1]मुदारं स्वर्गिणो निर्विशन्ति ॥२१

2136) सर्वाभिमतभावोत्थं निर्विघ्नं स्वःसुखामृतम् ।
सेव[2]माना न बुध्यन्ते गतं जन्म दिवौकसः ॥२२

2137) तस्माच्च्युत्वा त्रिदिवपटलाद्दिव्यभोगावसाने
कुर्वन्त्यस्यां भुवि नरनुते पुण्यवंशे[3] ऽवतारम् ।

2134) **सर्वद्वन्द्व**—दिवौकसां देवानाम् । दिवि स्वर्गे । दिव्यं चारु । सौख्यम् । वर्तत इति गम्यम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२०॥ अथ पुनः स्वर्गिणां सुखमाह । मालिनी छन्दः ।

2135) **प्रतिसमयम्**—स्वर्गिणो देवाः सुखम् अतुलं निरुपमम् । उदारं प्रधानम् । निर्विशन्ति भुञ्जते । चित्तदत्तानन्दम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ तत्रस्थाः स्वर्गं तत्काले न जानन्ति तदाह ।

2136) **सर्वाभिमत**—दिवौकसो देवाः स्वःसुखामृतं स्वर्गसुखपीयूषं सेवमानाः गतं जन्म न बुध्यन्ते । निर्विघ्नम् । पुनः कीदृशम् । सर्वाभिमतभावोत्थम् । सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२२॥ अथ पुनराह ।

2137) **तस्माच्च्युत्वा**—तस्मात् त्रिदिवपटलाच्च्युत्वा दिव्यभोगावसाने भोगप्रान्ते । अस्यां भुवि भूमौ, पुण्यवंशे पुण्योपयुक्ते वंशे अवतारं कुर्वन्ति । कीदृशे वंशे । नरनुते मुख्यनमस्कृते । तत्र

स्वर्गमें देवोंको जो दिव्य सुख प्राप्त होता है वह सब प्रकारकी आकुलतासे रहित, समस्त अभ्युदय (अभिवृद्धि) से परिपूर्ण और निरन्तर प्रवर्तमान उत्सवोंसे युक्त होता है ॥२०॥

स्वर्गवासी देव निरन्तर उदित रहनेवाले (अविच्छिन्न), स्वर्गके एकछत्र राज्यसे प्रसिद्ध, समस्त विषयोंके उपभोगसे उत्पन्न, मनको आनन्ददायक तथा सुन्दर युवती स्त्रियोंके लीलायुक्त आलिंगन आदिसे प्रादुर्भूत हुए अनुपम महान् सुखको भोगते हैं ॥२१॥

वे विमानवासी देव समस्त अभीष्ट पदार्थोंसे उत्पन्न हुए बाधारहित स्वर्गीय सुखरूप अमृतका उपभोग करते हुए गये हुए जन्मको—व्यतीत हुए सागरोपम कालको—नहीं जानते हैं ॥२२॥

इस प्रकार उस स्वर्गीय दिव्य सुखको भोगकर अन्तमें वे देव उस स्वर्गपटलसे च्युत होते हुए इस पृथिवीपर मनुष्यों द्वारा नमस्कृत पवित्र कुलमें अवतार लेते हैं और वहाँ

१. N T सुखमखिल । २. L S T J X Y R सेव्य । ३. M °वंशावतारं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्रैश्वर्यं च[1]रमवपुषां[2] प्राप्य देवोपनीतै-
र्भोगैर्नित्योत्सवपरिणतैर्लाल्य[3]माना वसन्ति ।।२३

2138) ततो विवेकमालम्ब्य विरज्य जननभ्र[4]मात् ।
त्रिरत्नशुद्धिमासाद्य तपः कृत्वान्यदुष्करम् ।।२४

2139) धर्मध्यानं च शुक्लं च स्वीकृत्य[5] निजवीर्यतः ।
घाति[6]कर्मक्षयं कृत्वा व्रजन्ति पदमव्ययम् ।।२५

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे आचार्य-श्रीशुभचन्द्र-विरचिते
धर्मध्यानफलप्रतिपादनप्रकरणम्[7] ।।३८।।

भूमौ चरमवपुषा शरीरेण । ऐश्वर्यं प्राप्य भोगैः लाल्यमाना वसन्ति । कीदृशैः भोगैः । देवोपनीतैः । पुनः कीदृशैः । नित्योत्सवपरिणतैः निरन्तरमङ्गलयुक्तैः । इति सूत्रार्थः ।।२३।। पुनः श्लोकद्वयेनोपसंहरति ।

2138-39) **ततो विवेकम्**—ततः तदनन्तरं विवेकम् आलम्ब्य कृत्वा । जननभ्रमात् भवभ्रमात् विरज्य त्रिरत्नशुद्धिं सम्यग्दर्शनादिशुद्धिम् आसाद्य प्राप्य । च पुनः । अनन्यदुष्करं तपः कृत्वा । धर्मध्यानम् । च पुनः । शुक्लध्यानं स्वीकृत्य अङ्गीकृत्य । कस्मात् । अनन्तवीर्यतः । पुनः घातिकर्मक्षयं कृत्वा । अव्ययं नित्यपदं स्थानं व्रजन्ति । इति सूत्रार्थः ।।२४-२५।।

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवयोगप्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर - तत्कुलकमलदिवाकर-साहऋषिदास - स्वश्रवणार्थं पण्डितजिन-दासोद्यमेन कारापितं धर्मध्यानप्रतिपादनप्रकरणं समाप्तम् ।।३८।।

धर्मध्यानधुराधीशो पार्श्वसाहप्रभीरतः । तत्पुत्रष्टोडरो ज्ञेयः ऋषिदासः समन्वितः ।।१।। इत्याशीर्वादः ।। अथ धर्मध्यानस्वरूपमाह ।

चरमशरीरी महापुरुषोंकी—तीर्थंकरोंकी—विभूतिको प्राप्त करके निरन्तर उत्सवसे परिणत व देवों द्वारा लाये गये भोगोंसे लालित होकर निवास करते हैं ।।२३।।

तत्पश्चात् वे विवेकका आश्रय लेकर संसार-परिभ्रमणसे विरक्त होते हुए रत्नत्रयकी प्राप्तिपूर्वक घोर तपश्चरण करते हैं और अपनी शक्तिके अनुसार धर्मध्यान व शुक्लध्यानको स्वीकार करके घातिया कर्मोंको नष्ट करते हुए अविनश्वर पद (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं ।।२४-२५।।

इस प्रकार आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
धर्मध्यानफलप्राप्तिप्रतिपादन प्रकरण समाप्त हुआ ।।३८।।

---

१. S F X R परम । २. N S T F X R वपुषं, J वपुषा । ३. N लास्यमाना । ४. Y जनसंभ्रमात् । ५. M N J X °त्यानन्तवीर्यतः, T नत for निज । ६. L S F R कृत्स्नकर्म । ७. P adds समाप्तमिति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

XXXIX

[शुक्लध्यानफलम्]

2140) रागाद्युग्ररुजाकलापकलितं संदेहदो[1]लायितं
विक्षिप्तं सकलेन्द्रियार्थगहने कृत्वा मनो निश्चलम् ।
संसारव्यसनप्रब[2]द्धविलयं मुक्तेर्विनोदास्पदं
धर्मध्यानमिदं वदन्ति[3] निपुणा अत्यक्षसौख्यार्थिनः ॥१

2141) आत्मार्थं श्रय मुञ्च मोहगहनं मित्रं विवेकं कुरु
वैराग्यं भज भावयस्व नियतं भेदं शरीरात्मनोः ।
[4]धर्मध्यानसुधासमुद्रकुहरे कृत्वावगाहं परं
पश्यानन्तसुखस्वभावकलितं मुक्तेर्मुखा[5]म्भोरुहम् ॥२

2140) रागाद्युग्र—निपुणा इदं धर्मध्यानं विदन्तु जानन्तु। कीदृशम्। अत्यक्षम् अतीन्द्रियम्। सौख्यार्थिनः। पुनः कीदृशम्। संसारप्रबन्धव्यसनविलयं भवकष्टसंबन्धनाशम्। पुनः कीदृशम्। मुक्तेः विनोदास्पदं स्थानम्। किं कृत्वा। मनः निश्चलं कृत्वा। कीदृशं मनः। रागाद्युग्ररुजा कलितं रागद्वेषोग्ररोगाक्रान्तम्। पुनः कीदृशं मनः। संदेहदोलायितम्। सुगमम्। पुनः कीदृशम्। सकलेन्द्रियार्थग्रहणे विक्षिप्तम्। इति सूत्रार्थः ॥१॥ अथ पुनरुपदेशमाह।

2141) आत्मार्थं—रे भव्य, आत्मार्थं स्वयं मोहगहनं मुञ्च। विवेकं मित्रं कुरु। वैराग्यं भज। नियतं निश्चितं शरीरात्मनोः भेदं भावय। किं कृत्वा। धर्मध्यानसमुद्रकुहरे परम् अवगाहं

अतीन्द्रिय सुखके अभिलाषी चतुर गणधरादि प्रथमतः रागादिरूप तीव्र रोगसमूहसे संयुक्त और सन्देहसे चंचल होकर समस्त इन्द्रियोंके विषयरूप वनमें मुग्ध हुए मनको स्थिर करके तत्पश्चात् सांसारिक दुखोंकी परम्पराको नष्ट करनेवाले एवं मुक्तिकी क्रीड़ाके स्थानभूत इस धर्मध्यानको बतलाते हैं। अभिप्राय यह है कि अन्तःकरणसे राग-द्वेषादिको दूर करके ही धर्मध्यानमें प्रवृत्त होना चाहिए, तब ही उसके आश्रयसे दुखोंकी परम्परा नष्ट की जा सकती है, अन्यथा नहीं ॥१॥

हे भव्य ! तू प्रथमतः आत्मारूप उपादेय पदार्थका आश्रय लेकर मोहरूप वनको छोड़, विवेकको मित्र—सदा साथमें रहनेवाला—बना, वैराग्यका आराधन कर, और सर्वदा शरीर व आत्माकी भिन्नताका बार-बार चिन्तन कर। इस प्रकारसे अन्तमें तू धर्मध्यानरूप

---

१. All others except P M X Y लोलायितं। २. All others except P प्रबन्ध। ३. All others except P M N °मिदं विदन्तु। ४. M N T J X Y R धर्म्यं। ५. M °र्महाम्भोरुहं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2142) [1]अथ [2]धर्ममतिक्रान्तः शुद्धिं चात्यन्तिकीं श्रितः ।
ध्यातुमारभते [3]धीरः शुक्लमत्यन्तनिर्मलम् ॥३

2143) [4]आदिसंहननोपेतः प्रशान्तैः[5] पुण्यचेष्टितः ।
चतुर्विधमपि ध्यानं स शुक्लं ध्यातुमर्हति ॥४

2144) [6]उक्तं च—
निष्क्रियं करणातीतं ध्यानधारणवर्जितम् ।
अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते ॥४*१

कुरु । मुक्तेः मुखाम्भोरुहं मुखकमलं पश्य । कीदृशम् । अनन्तसुखस्वभावकलितम् । इति सूत्रार्थः ॥२॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

2142) अथ धर्मम्— *धर्मध्यानमतिक्रान्तः । च पुनः । आत्यन्तिकीं शुद्धिं श्रितः आश्रितः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३॥ अथ शुक्लध्यानध्यातारमाह ।

2143) आदिसंहननोपेतः—स पुरुषः ध्यानं ध्यातुमर्हति योग्यो भवति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४॥ अथ शुक्लध्यानमाह ।

2144) निष्क्रियम्—[निष्क्रियं क्रियाशून्यम् । करणातीतम् इन्द्रियरहितम् । ध्यानधारणाभ्यां च वर्जितं त्यक्तम् । इति सूत्रार्थः ॥४*१॥] उक्तं च शास्त्रान्तरे ।

अमृत समुद्रके मध्यमें स्नान करके अनन्त सुखरूप स्वभावसे संयुक्त मुक्तिके उत्कृष्ट मुखरूप कमलका दर्शन कर सकता है ॥२॥

इस क्रमसे योगी फिर उस धर्मध्यानको छोड़कर आत्यन्तिक शुद्धिका आश्रय लेता हुआ अतिशय निर्मल शुक्लध्यानको प्रारम्भ करता है ॥३॥

जो प्रथम वज्रर्षभनाराचसंहननसे सहित, अतिशय शान्त और पवित्र आचरण करनेवाला है वह योगी चारों ही प्रकारके शुक्लध्यानका चिन्तन करनेके लिए योग्य है ॥४॥ कहा भी है—

जो आत्मामात्रके सम्मुख हुआ चित्त क्रिया और इन्द्रियोंसे रहित होकर ध्यान-धारणके विकल्पसे भी युक्त हो चुका है—मैं ध्यानका धारक (ध्याता) हूँ, परमात्मा आदि ध्येय हैं और उनका चिन्तन ध्यान है; इस प्रकारके विकल्पसे सर्वथा रहित हो चुका है—वह शुक्लध्यान कहलाता है ॥४*१॥

---

१. M Om. । २. All others except P J धर्म्यं° । ३. All others except P L F वीरः । ४. M N Om. । ५. All others except P पूर्वज्ञः पुण्य° । ६. P उक्तं च ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2145) [1]शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कषायरजसः क्षयादुपशमाद्वा ।
वैडूर्यमणिशिखा[2] इव सुनिर्मलं निष्प्रकम्पं च ॥४*२॥ इति[3] ।

2146) कषायमलविश्लेषात् प्रशमाद्वा प्रसूयते ।
यतः पुंसामतस्तज्ज्ञैः शुक्लमुक्तं निरुक्तिकम् ॥५

2147) छद्मस्थयोगिनामाद्ये द्वे[4] शुक्ले परिकीर्तिते ।
द्वे चान्ते[5] क्षीणदोषाणां केवलज्ञानचक्षुषाम् ॥६

2148) श्रुतज्ञानार्थसंबन्धाच्छ्रुतालम्बनपूर्वके[6] ।
पूर्वे परे जिनेन्द्रस्य निःशेषालम्बनच्युते[6] ॥७

2145) **शुचिगुण**—शुक्लं कषायरजसः पापक्षयात् उपशमात् वा । कस्मात् । शुचिगुणयोगात् । सुगमम् । वैडूर्यमणिम् इव । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४*२॥ अथ पुनराह ।

2146) **कषायमल**—यतः कारणात् कषायमलविश्लेषात् तत्संबन्धाभावात् । वा अथवा । प्रशमात् कषायोपशमात् । पुंसाम् । प्रसूयते उत्पद्यते । तज्ज्ञैः शुक्लम् । अतः कारणात् निरुक्तिकम् उक्तम् । इति सूत्रार्थः ॥५॥ अथ तद्भेदविचारमाह ।

2147) **छद्मस्थ**—[क्षीणदोषाणां नष्टदोषाणाम् । केवलज्ञानचक्षुषां केवलज्ञानमेव चक्षुः येषां तेषाम् । अन्यत्सुगमम् ॥६॥] अथ पुनर्विशेषमाह ।

2148) **श्रुतज्ञानार्थं**—पूर्वे द्वे ध्याने श्रुतालम्बनपूर्वके । तयोः श्रुतमेवावलम्बनमिति भावः । जिनेन्द्रस्य अपरे द्वे निःशेषालम्बनच्युते । अपरयोः आलम्बनं नास्ति । इति सूत्रार्थः ॥७॥ अथ पुनस्तद्भेदस्वरूपमाह ।

कषायरूप धूलिके क्षयसे अथवा उपशमसे वैडूर्यमणिकी शिखाके समान जो अतिशय निर्मल और स्थिर मनकी एकाग्र प्रवृत्ति होती है उसका नाम शुक्लध्यान है । उसे पवित्रतारूप गुणके कारण शुक्ल नामसे कहा जाता है ॥४*२॥

यह ध्यान चूँकि कषायरूप मैलके सर्वथा पृथक् हो जानेपर अथवा उसके उपशान्त हो जानेपर पुरुषोंके उत्पन्न होता है, इसीलिए ध्यानशास्त्रके ज्ञाता महर्षि उसे शुक्ल इस सार्थक नामसे कहते हैं ॥५॥

आगे वर्णित चार ध्यानोंमें-से आदिके दो (पृथक्त्ववितर्क व एकत्ववितर्क) शुक्लध्यान छद्म योगियोंके तथा अन्तके दो (सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवृत्ति) अठारह दोषोंसे रहित केवलज्ञानियोंके होते हैं ॥६॥

पूर्वके दो शुक्लध्यान श्रुतज्ञानके विषयके सम्बन्धसे श्रुतके आश्रयसे होते हैं, परन्तु अन्तके दो ध्यान जिनेन्द्रके सब प्रकारके आलम्बनसे रहित होते हैं ॥७॥

१. M L S उक्तं च । २. J Y शिखामिव । ३. P M इति । ४. S J X Y R द्वे तु शुक्ले प्रकीर्तिते । ५. M N S द्वे चान्त्ये, L द्वे वा तत क्षीण । ६. M N पूर्वकम्....च्युतेः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2149) सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं च कीर्तितम् ।
शुक्लमाद्यं द्वितीयं तु[1] विपर्यस्तमतो[2] ऽपरम् ॥८

2150) सवितर्कमवीचारमेकत्वपदलाञ्छितम् ।
कीर्तितं मुनिभिः शुक्लं द्वितीयमतिनिर्मलम् ॥९

2151) सूक्ष्मक्रियाप्रतीपाति तृतीयं सार्थनामकम्[3] ।
समुच्छिन्नक्रियं[4] ध्यानं तुर्यमार्यैर्निवेदितम् ॥१०

2152) तत्र त्रियोगिनामाद्यं द्वितीयं त्वेकयोगिनाम् ।
तृतीयं तनुयोगानां[5] स्याच्चतुरीयमयोगिनाम्[6] ॥११॥ तद्यथा[7]—

2149) **सवितर्कं**—अतः प्रथमभेदात्परं द्वितीयं विपर्यस्तम् अवितर्कम्। सवीचारादिरूपम्। इति सूत्रार्थः ॥८॥ अथ द्वितीयभेदमाह।

2150) **सवितर्कमवीचारं**—[एकत्वपदलाञ्छितम् एकत्वपदचिह्नितम्। सवितर्कं वितर्केण सहितम्। मुनिभिः कीर्तितं कथितम्। इत्यर्थः] ॥९॥ अथापरभेदमाह।

2151) **सूक्ष्मक्रिया**—तृतीयं शुक्लध्यानभेदम्। सूक्ष्मा क्रिया यस्मिन् तत् सूक्ष्मक्रियं च। अप्रतिपाति च अपतनशीलम्। सार्थनामकम्। तुर्यं चतुर्थं समुच्छिन्नक्रियम्। ध्यानम् आदौ आचार्यैः निवेदितं कथितम्। इति सूत्रार्थः ॥१०॥ अथ येषां यद्भवति तत्तदाह।

2152) **तत्र त्रियोगिनाम्**—तत्र च त्रियोगिनां मनोवाक्काययोगिनाम् आद्यं शुक्लध्यानभेदं भवति। एकयोगिनां मनोवाक्कायस्य इतरयोगवतां द्वितीयं भवति। तनुयोगानां तृतीयं भेदं स्यात्। अयोगिनां तुरीयं चतुर्थं स्यात्। इत्यर्थः ॥११॥ तद्यथा दर्शयति।

प्रथम पृथक्त्ववितर्क नामका शुक्लध्यान वितर्कवीचार और पृथक्त्व (नानात्व) से सहित कहा गया है तथा दूसरा उससे विपरीत है। वह एकत्व (अभेद) पदसे चिह्नित होकर वितर्कसे सहित और वीचारसे रहित है, ऐसा मुनियोंके द्वारा कहा गया है। यह दूसरा शुक्लध्यान अतिशय निर्मल है। उक्त पृथक्त्वादिका स्पष्टीकरण आगे (श्लोक १४ आदि) ग्रन्थकार द्वारा स्वयं किया जानेवाला है ॥८-९॥

तीसरा शुक्लध्यान सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती इस सार्थक नामवाला है—वह वचन व मन योगोंसे सर्वथा रहित तथा बादर काययोगको सूक्ष्म करनेवाले केवलीके होनेके कारण सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती कहा जाता है। चतुर्थ शुक्लध्यान पूज्य जनोंके द्वारा समुच्छिन्नक्रिय (व्युपरतक्रियानिवृत्ति)—सूक्ष्म कायकी क्रियासे भी रहित—निर्दिष्ट किया गया है ॥१०॥

उक्त चार शुक्लध्यानोंमें प्रथम ध्यान मन, वचन व काय इन तीनों योगवालोंके; दूसरा तीन योगोंमें-से किसी एक योगवालेके, तीसरा काययोगवालोंके और चौथा योगसे रहित अयोग केवलियोंके होता है ॥११॥

---

१. J च for तु । २. L F T °मतः परम् । ३. M N सार्वनायकं । ४. M क्रिया ध्यानं, N क्रियध्यानं । ५. N काययोगानां । ६. Y स्यात्तुर्यमदयोगिनां । ७. P M तद्यथा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2153) पृथक्त्वेन वितर्कस्य[1] वीचारो यत्र विद्यते ।
सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं तदिष्यते ॥१२

2154) अवीचारो वितर्कस्य यत्रैकत्वेन संस्थितः ।
सवितर्कमवीचारं तदेकत्वं विदुर्बुधाः ॥१३

2155) पृथक्त्वं तत्र नानात्वं वितर्कं[2] श्रुतमुच्यते ।
अर्थव्यञ्जनयोगानां वीचारः संक्रमः स्मृतः ॥१४

2156) अर्थादर्थान्तरापत्तिरर्थसंक्रान्तिरिष्यते ।
ज्ञेया[3] व्यञ्जनसंक्रान्तिर्व्यञ्जनाद्व्यञ्जने स्थितिः ॥१५

2157) स्यादियं[4] योगसंक्रान्तिर्योगाद्योगान्तरे स्थितिः[5] ।
विशुद्धध्यानसामर्थ्यात्क्षीणमोहस्य योगिनः ॥१६

2153) **पृथक्त्वेन**—पृथक्त्वेन भिन्नत्वेन वितर्कस्य श्रुतस्य यत्र शुक्लध्याने वीचारो विद्यते तत् सवितर्कं सविचारं सपृथक्त्वम् ईक्षते विलोक्यते । इति सूत्रार्थः ॥१२॥ अथ द्वितीयभेदार्थमाह ।

2154) **अवीचारः**—वितर्कस्य श्रुतस्य अवीचारो यत्र एकत्वेन संस्थितः । सवितर्कम् अवीचारं तदेकत्वं बुधाः विदुः कथयामासुः । इति सूत्रार्थः ॥१३॥ अथः पुनः प्रगटार्थमाह ।

2155) **पृथक्त्वं**—तत्रार्थे पृथक्त्वं नानात्वं वितर्कं श्रुतम् उच्यते कथ्यते । अर्थव्यञ्जनयोगानां संक्रमो वीचारः स्मृतः कथितः । इति सूत्रार्थः ॥१४॥ अथ पुनः वीचारमाह ।

2156) **अर्थात्**—अर्थात् पदार्थात् अर्थान्तरापत्तिः प्राप्तिः सा अर्थसंक्रान्तिः इष्यते । व्यञ्जनात् व्यञ्जने स्थितिः व्यञ्जनसंक्रान्तिः ज्ञेया । इति सूत्रार्थः ॥१५॥ अथ पुनर्वीचारमाह ।

2157) **स्यादियं**—क्षीणयोगिनः योगात्मनोः योगादेः योगान्तरे गतिः इयं योगसंक्रान्तिः स्यात् । कस्मात् । विशुद्धध्यानसामर्थ्यात् । इति सूत्रार्थः ॥१६॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे ।

वह इस प्रकारसे—जिस ध्यानमें द्रव्य-पर्यायादि विषयक भेद बुद्धिके साथ वितर्कका विचार रहता है वह ध्यान सवितर्क-सवीचार और सपृथक्त्व माना जाता है ॥१२॥

जिस ध्यानमें अभेदके साथ उस वितर्कका विचार नहीं रहता है उसे विद्वान् पुरुष वितर्कसहित व वीचाररहित एकत्व कहते हैं ॥१३॥

उनमें पृथक्त्वका अर्थ नानात्व और वितर्कका अर्थ श्रुतज्ञान कहा जाता है। अर्थ, व्यंजन और योगके परिवर्तनको वीचार माना गया है ॥१४॥

एक अर्थसे–ध्यानके योग्य द्रव्य अथवा पर्यायरूप एक पदार्थसे–दूसरे अर्थके परिवर्तन-का नाम अर्थसंक्रान्ति है। व्यंजनका अर्थ वचन होता है, किसी एक श्रुतवचनसे जो दूसरे श्रुतवचनमें स्थिति होती है उसे व्यंजनसंक्रान्ति जानना चाहिए। निर्मल ध्यानके प्रभावसे जिसका मोहनीय कर्म क्षयको प्राप्त हो चुका है ऐसे योगीकी जो किसी एक योगसे दूसरे योग-में स्थिति होती है, यह योगसंक्रान्ति कही जाती है। विशेषार्थ—जिस प्रकार मैलके हट

१. M विचारस्य for वितर्कस्य । २. T J X Y R वितर्कः । ३. M N ज्ञेयो....व्यञ्जनस्थितिः । ४. L स्यादेवं । ५. All others except P गतिः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2158) उक्तं च–

अर्थादर्थं वचः शब्दं योगाद्योगं समाश्रयन्[2] ।
पर्यायादपि पर्यायं द्रव्याणोश्चिन्तयेदणुम् ॥१६*१॥ इति ।

2158) **अर्थादर्थम्**—अर्थात् अर्थसंक्रान्तिः, वचः शब्दसंक्रान्तिः, योगात् योगान्तरं समाश्रयेत् । पर्यायात् अपि पर्यायसंक्रान्तिः । द्रव्याणोः सकाशात् अणुं चिन्तयेत् । इति सूत्रार्थः ॥१६*१॥ अथ पुनराह ।

जानेपर स्वच्छ हुआ वस्त्र शुक्ल (धवल) कहा जाता है उसी प्रकार राग-द्वेषरूप मैलके दूर हो जानेपर जो निर्मल आत्मपरिणति होती है, उससे सम्बद्ध ध्यान शुक्लध्यान कहलाता है। वह चार प्रकारका है—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रिया-निवृत्ति । इनमें पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान सपृथक्त्व, सवीतर्क और सवीचार माना जाता है। कारण इसका यह है कि इस ध्यानमें प्रवृत्त हुआ योगी एकाग्रचित्त होकर राग, द्वेष व मोहको उपशान्त करता हुआ बाह्य व अभ्यन्तर द्रव्य-पर्यायोंका ध्यान करता है। जिस प्रकार मन्द उत्साहयुक्त बालक अव्यवस्थित और मौथरी कुल्हाड़ीसे दीर्घ कालमें वृक्षको काटता है उसी प्रकार ध्यानमें प्रवृत्त योगी वितर्कके बलसे अर्थ, व्यंजन तथा काय व वचनको भेदरूपसे ग्रहण करनेवाले मनके द्वारा मोहनीय प्रकृतियोंका उपशम अथवा क्षय किया करता है। वह हीन शक्तिके कारण एक योगसे दूसरे योगका, एक श्रुतवाक्यसे दूसरे श्रुतवाक्यका तथा अर्थसे अर्थान्तरका आश्रय लेता है। जो मुनि समस्त मोहनीय कर्मको नष्ट करनेका इच्छुक हो विशेष योगका आश्रय लेता हुआ वितर्क (श्रुतज्ञानोपयोग) से सहित परन्तु अर्थ, व्यंजन और योगकी संक्रान्तिसे रहित होकर निश्चल मनसे कषायको क्षीण करता है उसके एकत्व-वितर्क नामका द्वितीय शुक्लध्यान होता है। इस ध्यानके सामर्थ्यसे जिस योगीने घातिया कर्मोंका क्षय करके केवलज्ञानको प्राप्त कर लिया है उसकी आयु जब अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रह जाती है तब यदि उसके नाम, गोत्र व वेदनीयकी स्थिति आयु कर्मके ही समान होती है तो वह समस्त वचनयोग व मनयोगको तथा बादर काययोगको नष्ट करके सूक्ष्म काययोगका आलम्बन लेता हुआ तृतीय सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यानका ध्याता होता है। परन्तु यदि आयु कर्मकी अपेक्षा उक्त तीन कर्मोंकी स्थिति अधिक है तो फिर वह दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घातों द्वारा चार समयोंमें आत्मप्रदेशोंको विस्तृत करता हुआ तत्पश्चात् चार समयोंमें उन विस्तृत आत्मप्रदेशोंको संकुचित करके पूर्वशरीरप्रमाण करता है। उस समय उसके चारों अघातिया कर्मोंकी स्थिति समान हो जाती है। तब वह सूक्ष्म काययोगके द्वारा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यानका ध्याता होता है। तत्पश्चात् वह समुच्छिन्न-क्रियानिवर्ती नामक चतुर्थ शुक्लध्यानको प्रारम्भ करता है। उस समय चूँकि प्राणापानका संचार तथा काय, वचन और मन योगोंके द्वारा होनेवाली आत्मप्रदेशपरिस्पन्दनरूप क्रिया सर्वथा नष्ट हो जाती है, अतएव इस ध्यानको समुच्छिन्न-क्रियानिवर्ती ध्यान कहा जाता है ॥१५-१६॥ कहा भी है।

योगी शुक्लध्यानमें एक अर्थसे दूसरे अर्थका, एक वचनसे दूसरे वचनका, एक योगसे

१. T शब्दात् योगाः । २. All others except P समाश्रयेत् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2159) अर्थादिषु यथा ध्यानी संक्रामत्यविलम्बितम् ।
पुनर्व्यावर्तते तेन प्रकारेण स हि स्वयम् ॥१७

2160) त्रियोगी पूर्वविद्यस्मा[1]दिदं ध्यायत्यसौ मुनिः ।
सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं[2]मतो मतम् ॥१८

2161) अस्याचिन्त्यप्रभावस्य सामर्थ्यात् स प्रशान्तधीः ।
मोहमुन्मूलयत्येव शमयत्यथवा क्षणे ॥१९

2162) उ[3]क्तं च—
इदमत्र तु तात्पर्यं श्रुतस्कन्धमहार्णवात् ।
अर्थमेकं समादाय ध्यायन्नर्थान्तरं व्रजेत् ॥१९*१

2159) **अर्थादिषु**—यथा ध्यानी अर्थादिषु अविलम्बितं संक्रामति । हि निश्चितम् । तेन प्रकारेण पुनः स्वयं व्यावर्तते । इति सूत्रार्थः ॥१७॥ अथ पुनर्विशेषमाह ।

2160) **त्रियोगी**—यस्मात् इदं ध्यायति पूर्ववित् त्रियोगी असौ योगत्रययुक्तः । अतः कारणात् सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं मतम् । इति सूत्रार्थः ॥१८॥ [पुनस्तदेवाह ।]

2161) **अस्याचिन्त्य**—सः प्रशान्तधीः उपशमितबुद्धिः अस्य अचिन्त्यप्रभावस्य सामर्थ्यात् मोहम् उन्मूलयति क्षपयति । एवम् अमुना प्रकारेण । अथवा क्षणे उपशमयति । इति सूत्रार्थः ॥१९॥ उक्तं च शास्त्रान्तरे ।

2162) **इदमत्र तु**—एकम् अर्थं समादाय गृहीत्वा ध्यायन् अर्थान्तरं व्रजेत् । इति सूत्रार्थः । पूर्वार्धं सुगमम् ॥१९*१॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

दूसरे योगका तथा एक पर्यायसे दूसरी पर्यायका आलम्बन लेता हुआ एक द्रव्यपरमाणुसे अन्य द्रव्यपरमाणुका चिन्तन करता है ॥१६*१॥

योगी पृथक्त्ववितर्क ध्यानमें जिस प्रकारसे अर्थ, व्यंजन और योगोंके विषयमें शीघ्रतासे संक्रमण करता है उसी प्रकारसे वह स्वयं फिरसे लौटता है ॥१७॥

चूँकि इस पृथक्त्ववितर्कका ध्यान तीनों योगोंवाला योगी करता है, अतएव वह वितर्कसे सहित, वीचारसे सहित और पृथक्त्वसे सहित माना गया है ॥१८॥

अचिन्त्य प्रभाववाले इस ध्यानके बलसे व अतिशय शान्त बुद्धिसे युक्त योगी क्षण-भरमें मोहको या तो नष्ट ही करता है या फिर उसे उपशान्त करता है ॥१९॥ कहा भी है—

यहाँ तात्पर्य तो यह है कि समस्त आगमरूप समुद्रसे एक अर्थको ग्रहण करके उसका ध्यान करता हुआ पृथक्त्ववितर्क ध्यानी उक्त अर्थको छोड़कर पुनः अन्य अर्थको प्राप्त होता

१. L S J X Y R विद्यः स्यादिदं । २. N सवितर्कमतः । ३. Only in P ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2163) शब्दाच्छब्दान्तरं यायाद्योगं योगान्तरादपि ।
सवीचारमिदं तस्मात् सवितर्कं च लक्ष्यते ॥१९*२

2164) श्रुतस्कन्धमहासिन्धुमवगाह्य महामुनिः ।
ध्यायेत् पृथक्त्ववीतर्कवीचारं[1] ध्यानमग्रिमम् ॥१९*३॥इति[2] ।

2165) [एवं[3] शान्तकषायात्मा कर्मकक्षाशुशुक्षणिः ।
एकत्वध्यानयोग्यः स्यात् पृथक्त्वेन[4] जिताशयः ॥१९*४]

2166) पृथक्त्वे तु यदा ध्यानी भवत्यमलमानसः ।
तदैकत्वस्य योग्यः स्यादाविर्भूतात्मविक्रमः ॥२०

2167) ज्ञेयं प्रक्षीणमोहस्य पूर्वं न्यस्यामितद्युतेः ।
सवितर्कमिदं ध्यानमेकत्वमतिनिश्चलम् ॥२१

2163) **शब्दात्**—[यायात् गच्छेत् । अन्यः शब्दः शब्दान्तरम् । अन्यत् सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१९*२॥] अथ पुनराह ।

2164) **श्रुतस्कन्ध**—महामुनिः ध्यायेत् । किं कृत्वा । श्रुतस्कन्धमहासिन्धुं महासमुद्रम् अवगाह्य । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१९*३॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

2165) **एवं शान्त**—एवम् अमुना प्रकारेण कर्मकक्षाशुशुक्षणिः कर्मदारुमहाग्निः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥१९*४॥ अथ पुनरपि तद्विशेषमाह ।

2166) **पृथक्त्वे तु**—[पृथक्त्वे नानात्वे । अमलमानसः निर्मलचित्तः । आविर्भूतात्मविक्रमः प्रकटीकृतस्वसामर्थ्यः । इति सूत्रार्थः] ॥२०॥ अथ पुनराह ।

2167) **ज्ञेयं प्रक्षीण**—प्रक्षीणमोहस्य पूर्वज्ञस्य अमितद्युतेः असंख्यकान्तेः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२१॥ अथ पुनर्विशेषमाह ।

है । इसी प्रकार वह एक शब्दसे दूसरे शब्दको तथा एक योगसे अन्य योगको भी प्राप्त होता है । इसीलिए यह सवीतर्क और सवीचार माना जाता है। महर्षिको समस्त श्रुतरूप समुद्रका परिशीलन करके इस प्रथम पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यानका चिन्तन करना चाहिए ॥१९*१-३॥

इस प्रकारसे जिसकी समस्त कषाएँ शान्त हो चुकी हैं, जो कर्मरूप वनको भस्म करनेके लिए अग्निके समान है, तथा उस पृथक्त्ववितर्क ध्यानके द्वारा जिसका अन्तःकरण वशीभूत हो चुका है ऐसा वह योगी द्वितीय एकत्ववितर्क ध्यानके योग्य होता है ॥१९*४॥

जब योगीका मन पृथक्त्वके विषयमें अतिशय निर्मल हो जाता है तब वह आत्मपराक्रमके प्रकट हो जानेसे एकत्ववितर्क ध्यानके योग्य हो जाता है ॥२०॥

जिस अपरिमित पराक्रमके धारक पूर्वधर (श्रुतकेवली) योगीका मोह पूर्णतया क्षीण हो चुका है वह इस वितर्कसहित व अतिशय निश्चल एकत्व ध्यानका स्वामी होता है ॥२१॥

१. All others except P L वितर्क । २. P M N इति । ३. P om. । ४. M N पृथक्त्वे निर्जिताशयः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2168) अपृथक्त्वमवीचारं सवितर्कं च योगिनः ।
एकत्वमेकयोगस्य जायते ऽत्यन्तनिर्मलम् ।।२२

2169) द्रव्यं चैकमणुं चैकं पर्यायं चैकमश्रमः[1]
चिन्तयत्येकयोगेन यत्रैकत्वं[2] तदुच्यते ।।२३

2170) उक्तं च—
एकं द्रव्यमथाणुं वा पर्यायं चिन्तयेद्यदि[3] ।
योगेनैकेन यत्क्षीणं[4] तदेकत्वमुदीरितम्[5] ।।२३*१।। इति ।

2171) अस्मिन् सुनिर्मलध्यानहुताशे[6] प्रविजृम्भिते ।
विलीयन्ते क्षणादेव घातिकर्माणि योगिनः ।।२४

2168) अपृथक्त्वम्—एकयोगस्य एकत्वं जायते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ।।२२।। अथ पुनराह ।

2269) द्रव्यं चैकं—एकयोगेन चिन्तयति । तदुच्यते एकत्वं यत्र । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ।।२३।। उक्तं च ।

2170) एकं द्रव्यम्—एकेन योगेन यत् कर्म क्षीणं तदेकत्वम् उदीरितम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ।।२३*१।। अथ कर्मक्षयत्वमाह ।

2171) अस्मिन्—योगिनः घातिकर्माणि क्षणादेव विलीयन्ते । अस्मिन् सुनिर्मलध्यानहुताशे अग्नौ प्रजृम्भते शोभते । इति सूत्रार्थः ।।२४।। अथ शुक्लध्यानमाह ।

पृथक्त्व व वीचारसे रहित तथा वितर्कसे सहित वह अतिशय निर्मल एकत्वध्यान तीन योगोंमें-से किसी एक ही योगवालेके होता है ।।२२।।

जिस शुक्लध्यानमें योगी विना खेदके एक द्रव्य, एक परमाणु और एक पर्यायका एक ही योगके द्वारा चिन्तन करता है वह एकत्ववितर्क शुक्लध्यान कहलाता है ।।२३।। कहा भी है—

किसी एक योगसे जो एक द्रव्य, एक परमाणु अथवा एक पर्यायका चिन्तन किया जाता है वह परिपूर्ण एकत्ववितर्क शुक्लध्यान कहा जाता है ।।२३*१।।

इस अतिशय निर्मल ध्यानरूप अग्निके वृद्धिंगत होनेपर उसमें योगीके घातिया कर्म क्षणभरमें भस्म हो जाते हैं ।।२४।।

१. L F J चैकमग्रिमं । २. T यत्रैकत्वमुदीरितं । ३. M Y °द्यतिः । ४. M L F J यत्क्षीणं । ५. T तत्रैकत्वं तदुच्यते । ६. X Y निश्चल ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2172) दृग्बोधरोधकद्वन्द्वं मोहविघ्नस्य वापरम्[1] ।
स क्षिणोति[2] क्षणादेव शुक्लधूमध्वजार्चिषा[3] ॥२५

2173) आत्मलाभमथासाद्य शुद्धिं चात्यन्तिकीं पराम् ।
प्राप्नोति केवलज्ञानं तथा केवलदर्शनम् ॥२६

2174) अलब्धपूर्वे[4] आसाद्य तदासौ[5] ज्ञानदर्शने ।
वेत्ति पश्यति निःशेषं लोकालोकं यथास्थितम् ॥२७

2175) तदा स[6] भगवान्[7] देवः सर्वज्ञः सर्वदोदितः ।
अनन्तसुखवीर्यादिभूतेः स्यादग्रिमं पदम् ॥२८

2172) दृग्बोध—सः दृग्बोधरोधकद्वन्द्वं दर्शनावरणज्ञानावरणयुग्मम् अन्तरायपञ्चकं क्षिणोति दूरीकरोति । शुक्लधूमध्वजार्चिषा शुक्लध्यानाग्निना । इति सूत्रार्थः ॥२५॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

2173) आत्मलाभम्—केवलज्ञानं केवलदर्शनं प्राप्नोति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२६॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

2174) अलब्धपूर्वे—असौ योगी अलब्धपूर्वे ज्ञानदर्शने आसाद्य प्राप्य निःशेषं लोकालोकं पश्यति वेत्ति । इति सूत्रार्थः ॥२७॥ अथ पुनरपि कथयति ।

2175) तदा स भगवान्—अनन्तसुखवीर्यादिभूतं लक्ष्म्याः अग्रिमं प्रधानं पदं स्थानम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२८॥ अथ तस्य प्रभावमाह ।

वह योगी शुक्लध्यानरूप अग्निकी ज्वालासे दर्शन और ज्ञानके रोधक युगलको—ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दो घातिया कर्मोंको—तथा मोह और अन्तराय इन दो अन्य घातिया कर्मोंको भी क्षणभरमें नष्ट कर देता है ॥२५॥

तत्पश्चात् वह योगी आत्मरूपको और शाश्वतिक उत्कृष्ट विभूतिको पाकर केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त कर लेता है ॥२६॥

तब वह योगी पूर्वमें कभी नहीं प्राप्त हुए उस ज्ञान (केवलज्ञान) और दर्शन (केवलदर्शन) को पा करके समस्त लोक एवं अलोकको, जैसा कि वह अवस्थित है, जानने और देखने लगता है ॥२७॥

उस समय वह भगवान् सर्वज्ञ देव सदा ही उदित रहकर अनन्तसुख और अनन्तवीर्य आदि (अनन्तचतुष्टय) स्वरूप विभूतिका उत्कृष्ट स्थान बन जाता है ॥२८॥

१. M N T चापरं । २. P S T F क्षणोति, N क्षिणाति, L संक्षिणोति । ३. N °र्चिषाम् । ४. N S T J X Y R पूर्वमासाद्य । ५. M N तथासौ । ६. L T F तदासौ । ७. M N S भगवानेव ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2176) इन्द्रचन्द्रार्कभोगीन्द्र[1]नरामरनतक्रमः ।
विहरत्यवनीपृष्ठं स शीलैश्वर्यलाञ्छितः ॥२९

2177) उन्मूलयति मिथ्यात्वं द्रव्यभावगतं[2] भुवि ।
बोधयत्यपि निःशेषां[3] भव्यराजीवमण्डलीम्[4] ॥३०

2178) ज्ञानलक्ष्मीं तपोलक्ष्मीं लक्ष्मीं त्रिदशयोजिताम् ।
आत्यन्तिकीं च संप्राप्य धर्मचक्राधिपो भवेत् ॥३१

2179) कल्याणविभवं श्रीमान् सर्वाभ्युदयसूचकम् ।
समासाद्य[5] जगद्वन्द्यं त्रैलोक्याधिपतिर्भवेत् ॥३२

2176) **इन्द्रचन्द्रार्क**—सः योगी अवनिपृष्ठं विहरति । कीदृशम् अवनिपृष्ठम् । शीलैश्वर्यलाञ्छितं चिह्नितम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥२९॥ अथ पुनरपि तदाह ।

2177) **उन्मूलयति**—द्रव्यभावगतं मिथ्यात्वं भुवम् उन्मूलयति । भव्यराजीवमण्डलीं भव्यकमलश्रेणीं निःशेषां बोधयति । इति सूत्रार्थः ॥३०॥ अथ पुनरपि तदाह ।

2178) **ज्ञानलक्ष्मीम्**—ज्ञानलक्ष्मीं केवलज्ञानश्रियम् । तपोलक्ष्मीं त्रिदशयोजितां समवशरणसंबन्धिनीम् । च पुनः । आत्यन्तिकीं मोक्षलक्ष्मीं संप्राप्य धर्मचक्राधिपः तीर्थंकरो भवेत् । इति सूत्रार्थः ॥३१॥ पुनस्तत्फलमाह ।

2179) **कल्याण**—सर्वाभ्युदयसूचकं सर्वकल्याणदेशकम् । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३२॥ अथ पुनरप्याह ।

उस समय उसके चरणोंमें इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, धरणेन्द्र तथा मनुष्य व अन्य सब देव नमस्कार करते हैं । तब वह अठारह हजार शीलोंके अधिपतित्वसे लक्षित होकर इस पृथिवीतलपर विहार करता है ॥२९॥

इस प्रकार विहार करता हुआ वह द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकारके मिथ्यात्वको निर्मूल करके समस्त भव्य जीवरूप कमलोंके समूहको प्रबोधित करता है ॥३०॥

वह अविनश्वर ज्ञानरूप लक्ष्मी, तपरूप लक्ष्मी और देवोंके द्वारा रची गयी समवसरणादिरूप लक्ष्मीको भी प्राप्त करके धर्मचक्रका स्वामी—तीर्थंकर केवली—हो जाता है ॥३१॥

उपर्युक्त अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकारकी लक्ष्मीसे संयुक्त होता हुआ वह समस्त अभिवृद्धिको सूचित करनेवाले और लोकसे वन्दनीय ऐसे कल्याणविभवको—केवलकल्याणककी महिमाको—प्राप्त करके तीनों लोकोंका स्वामी हो जाता है ॥३२॥

---

१. J योगीन्द्र । २. S Y R भावमलं विभुः, F गतं विभुः । ३. S T X Y R निःशेषं । ४. L S F X R मण्डलम् । ५. N समास्वाद्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2180) तन्नामग्रहणादेव निःशेषा जन्मजा रुजः ।
अप्यनादिसमुद्भूता भव्यानां यान्ति लाघवम् ॥३३

2181) तदार्हन्त्यं[1] परिप्राप्य स देवः सर्वगः शिवः ।
जायते ऽखिलकर्मौघजरामरणवर्जितः[2] ॥३४

2182) किं च तस्य महैश्वर्यं[3] चरणज्ञानवैभवम् ।
ज्ञातुं वक्तुमहं मन्ये योगिनामप्यगोचरम् ॥३५

2183) अनन्तक्लेशबीजे ऽस्मिन्[4] हते घातिचतुष्टये ।
देवस्य[5] व्यक्तिरूपेण शेषमास्ते चतुष्टयम् ॥३६

2180) **तन्नाम**—अनादिकाल-समुद्भूता उत्पन्ना । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३३॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

2181) **तदार्हन्त्यं**—अखिलकर्मौघजरामरणवर्जिताः सर्वकर्मसमूहवार्धक्यमृत्युरहिताः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३४॥ किं च युक्त्यन्तरमाह ।

2182) **किं च तस्य**—तस्य परमात्मनः, परमैश्वर्यं*, चरणज्ञानवैभवं चारित्रबोधसाम्राज्यं, वक्तुं ज्ञातुम् । अहं मन्ये योगिनामप्यगोचरं योगिनामप्यगम्यम् । इति सूत्रार्थः ॥३५॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

2183) **अनन्तक्लेश**—घातिचतुष्टये ज्ञानावरणादिके हते सति मोहेन* सह* दुर्धर्षे* दुष्करे देवस्य व्यक्तिरूपेण । शेषम् अघातिचतुष्टयम् । आयुर्नामादि आस्ते तिष्ठति । इति सूत्रार्थः ॥३६॥ पुनस्तस्यैव स्वरूपमाह ।

उस जिनेन्द्रके केवल नाममात्रके ही लेनेसे भव्य जीवोंके अनादि कालसे उत्पन्न हुए जन्म-मरणरूप संसारजनित रोग कम हो जाते हैं ॥३३॥

तब अर्हन्त अवस्थाको प्राप्त होकर सर्वव्यापक हुआ वह जिनेन्द्र समस्त कर्मसमूहके साथ जरा और मरणसे रहित हो जाता है ॥३४॥

उसकी समवसरणादिरूप बाह्य विभूति तथा चारित्र और ज्ञानका वैभव योगियोंके द्वारा भी न जाना जा सकता है और न कहा भी जा सकता है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥३५॥

अपरिमित क्लेशके कारणभूत उन चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेपर उस सर्वज्ञ जिनके शेष चार कर्म—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार अघातिया कर्म—व्यक्तिरूपमें (उदयप्राप्त) रहते हैं ॥३६॥

१. N S T X Y R तदार्हत्वं । २. Y मरणविच्युतः । ३. L S J X R तस्यैव परमैश्वर्यं, T F किं च–तस्यैव परमैश्वर्यं, Y पारगस्य महैश्वर्यं । ४. All others except P मोहेन सह दुर्धर्षे हते । ५. M देवस्या-व्यक्ति, N देवस्याव्यक्त ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2184) सर्वज्ञः क्षीणकर्मासौ केवलज्ञानभास्करः ।
अन्तर्मुहूर्तशेषायुस्तृतीयं ध्यानमर्हति ॥३७

2185) [षण्मासायुषि शेषे संवृत्ता ये जिनाः प्रकर्षेण ।
[2]ते यान्ति समुद्घातं शेषा भाज्याः समुद्घाते ॥३७*१]

2186) यदायुरधिकानि स्युः कर्माणि परमेष्ठिनः ।
समुद्घातविधिं साक्षात्प्रागेवारभते तदा ॥३८

2187) अनन्तवीर्यः[3] प्रथितप्रभावो दण्डं कपाटं प्रतरं विधाय ।
स लोकमेतं[4] समयैश्चतुर्भिर्निःशेषमापूरयति क्रमेण ॥३९

2184) **सर्वज्ञः क्षीण**—असौ योगी तृतीयध्यानमर्हति योग्यो भवति । कीदृशः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥३७॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

2185) **षण्मासायुषि**—ये जिनाः दीक्षिताः । षण्मासायुषि शेषे । ते प्रकर्षेण समुद्घातं यान्ति प्राप्नुवन्ति । शेषा उर्वरिताः समुद्घाते भाज्या विभजनीयाः इति सूत्रार्थः ॥३७*१॥ अथ समुद्घातस्वरूपमाह ।

2186) **यदायुरधिकानि**—यदा कर्माणि आयुरधिकानि आयुः अधिकं येषां तानि तथा परमेष्ठिनः स्युः, तदा प्रागेव पूर्वमेव साक्षात् समुद्घातम् आरभते । इति सूत्रार्थः ॥३८॥ अथ समुद्घातविधिमाह ।

2187) **अनन्तवीर्यः**—अनन्तवीर्येण प्रथितः विस्तारितः प्रभावो यस्य सः । लोकम् एनं प्रथमं दण्डाकारेण पूरयति । पश्चात् कपाटाकारेण पूरयति । इति सूत्रार्थः ॥३९॥ अथ तस्य विशेषमाह ।

इस प्रकार घातिया कर्मोंसे रहित होकर केवलज्ञानरूप सूर्यसे संयुक्त हुआ वह सर्वज्ञ प्रभु अन्तर्मुहूर्त मात्र आयुके शेष रह जानेपर तृतीय—सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती—शुक्लध्यानके योग्य होता है ॥३७॥

उत्कर्षसे छह मास प्रमाण आयुके शेष रह जानेपर जो अर्हन्त अवस्थाको प्राप्त हुए हैं वे केवल समुद्घातको प्राप्त होते हैं । शेष उस समुद्घातके विषयमें भजनीय हैं—इससे अधिक आयुके साथ अर्हत अवस्थाको प्राप्त हुए जिनोंमें कितने ही उस समुद्घातको करते हैं और कितने ही उसे नहीं भी करते हैं ॥३७*१॥

जब अर्हन्त परमेष्ठीके वेदनीय, नाम और गोत्र ये तीन कर्म आयुकर्मकी अपेक्षा अधिक स्थितिवाले होते हैं तब वे प्रकटमें पहले ही समुद्घातकी विधिको प्रारम्भ करते हैं ॥३८॥

उस समय अनन्तवीर्यसे संयुक्त व प्रसिद्ध पराक्रमका धारक वह परमेष्ठी दण्ड, कपाट और प्रतरको करके चार समयोंमें क्रमसे समस्त लोकको परिपूर्ण करता है । विशेषार्थ—

१. P om., M N interchange ३७*१ and ३८ । २. M N तेऽपि यान्ति । ३. All others except P M L वीर्यप्रथित । ४. All others except P N °मेनं, N मेवं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2188) तदा स [1]सर्वगः सार्वः सर्वज्ञः सर्वतोमुखः ।
विश्वव्यापी[2] विभुर्भर्ता विश्वमूर्तिर्महेश्वरः ॥४०

2189) लोकपूरणमासाद्य करोति ध्यानवीर्यतः ।
आयुःसमानि कर्माणि भुक्तिमानीय तत्क्षणे ॥४१

2188) **तदा सः**—तदा तस्मिन् काले । स परमेष्ठी सर्वगः । ज्ञानापेक्षया अस्खलितगतित्वात् । पुनः कीदृशः । सर्वेभ्यो हितः सार्वः । सर्वज्ञः इति सुगमम् । सर्वत्र संमुखः । पुनः कीदृशः । सर्वव्यापी । विभुः व्यापकः । भर्ता स्वामी । विश्वमूर्तिः महेश्वरः विशेषणद्वयं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४०॥ अथ पुनराह ।

2189) **लोकपूरणम्**—तत्क्षणे तत्प्रस्तावे कर्माणि आयुःसमानि आयुःप्रमाणानि करोति । किं कृत्वा । लोकपूरणम् । दण्डकपाटप्रतरैरासाद्य प्राप्य । पुनः किं कृत्वा । भुक्तिमानीय । कस्मात् । ध्यानवीर्यतः ध्यानबलात् । इति सूत्रार्थः ॥४१॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

आत्मप्रदेशोंके फैलनेका नाम समुद्घात है। केवली भगवान्के जब आयु कर्मकी स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र शेष रहती है, किन्तु वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन अघातिया कर्मोंकी स्थिति उस आयुकी स्थितिसे अधिक रहती है तब उनकी इस स्थितिको समान करनेके लिए जो उक्त केवलिके आत्मप्रदेश ऊपर, नीचे और तिरछे रूपमें फैलते हैं, इसे केवलिसमुद्घात कहा जाता है। वह दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरणके भेदसे चार प्रकारका है। उनमें मूल शरीरके बाहल्यसे (कायोत्सर्गकी अपेक्षा) अथवा उससे तिगुणे बाहल्यसे (पद्मासनकी अपेक्षा) दण्डके आकारमें विस्तारकी अपेक्षा तिगुणी परिधियुक्त जो आत्मप्रदेश फैलते हैं उसका नाम दण्डसमुद्घात है। इस दण्डसमुद्घातमें उन आत्मप्रदेशोंकी लम्बाई कुछ कम चौदह राजु मात्र होती है। जिस प्रकार कपाट मोटाईमें कम होकर भी विस्तार और लम्बाईमें अधिक होता है उसी प्रकार मूल शरीरकी मोटाईमें अथवा उससे तिगुणी मोटाईमें रहकर कुछ कम चौदह राजु लम्बे और सात राजु विस्तृत जो आत्मप्रदेश फैलते हैं वह कपाटसमुद्घात कहलाता है। उक्त आत्मप्रदेशोंका वातवलयोंसे रोके गये क्षेत्रको छोड़कर अन्यत्र सब ही लोकमें जो विस्तार होता है उसका नाम प्रतरसमुद्घात है। इसका दूसरा नाम मन्थसमुद्घात भी है जो सार्थक है। कारण कि इस अवस्थामें उन अघातिया कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका मथन किया जाता है। तत्पश्चात् उक्त जीवप्रदेशका वातवलयरुद्ध क्षेत्रमें भी जो प्रवेश होता है, यह लोकपूरण समुद्घात कहा जाता है। केवलिसमुद्घातकी इन चार अवस्थाओंमें एक-एक समयके क्रमसे चार समय लगते हैं। इसके पश्चात् जिस क्रमसे उन आत्मप्रदेशोंका विस्तार होता है उसी क्रमसे—लोकपूरणसे प्रतरादिके क्रमसे—वे आगेके चार समयोंमें संकुचित होकर मूल शरीरमें अवस्थित हो जाते हैं। इस प्रकार केवलिसमुद्घातसे चार अघातिया कर्मोंकी स्थितिको समान करके अर्हन्त परमात्मा सूक्ष्मकाययोगसे तृतीय सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यानको ध्याते हैं ॥३९॥

इस प्रकार लोकपूरणसमुद्घातको प्राप्त होकर उस समय सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वतो-

१. N तदा सर्वगतः सार्वः, T स तदा । २. T J सर्वव्यापी ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2190) ततः क्रमेण तेनैव स पश्चाद्विनिवर्तते ।
लोकपूरणतः श्रीमान् चतुर्भिः समयैः पुनः ॥४२

2191) काययोगे[1] स्थितिं कृत्वा बादरे ऽचिन्त्यचेष्टितः ।
सूक्ष्मीकरोति वाक्चित्तयोगयुग्मं स बादरम् ॥४३

2192) काययोगं[2] ततस्त्यक्त्वा स्थितिमासाद्य तद्द्वये ।
स सूक्ष्मीकुरुते पश्चात् काययोगं च बादरम् ॥४४

2193) काययोगे ततः सूक्ष्मे पुनः कृत्वा[3] स्थितिं क्षणात् ।
योगद्वयं निगृह्णाति सद्यो वाक्चित्तसंज्ञकम्[4] ॥४५

2190) ततः क्रमेण—[पुनः तेनैव क्रमेण स विनिवर्तते प्रत्यावर्तते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४२॥] अथ पुनस्तदेवाह ।

2191) काययोग—बादरे काययोगे स्थितिं कृत्वा वाक्चित्तं योगयुग्मं बादरम् । वाङ्मनोयोगं सूक्ष्मीकरोति । कीदृशः । अचिन्त्यचेष्टितः अचिन्त्यकर्तव्यः । इति सूत्रार्थः ॥४३॥ पुनर्विशेषमाह ।

2192) काययोगं—ततः काययोगं त्यक्त्वा तद्द्वये वाङ्मनोद्वये स्थितिम् आसाद्य बादरं काययोगम् । च पादपूरणे । पश्चात् सूक्ष्मीकुरुते । इति सूत्रार्थः ॥४४॥ ततो विशेषमाह ।

2193) काययोगे—ततः सूक्ष्मे काययोगे क्षणात् स्थितिं कृत्वा योगद्वयं न गृह्णाति । सूक्ष्मत्वात् । किम् । वाक्संज्ञकचित्तम् । इति सूत्रार्थः ॥४५॥ अथ पुनरपि विशेषमाह ।

मुख, विश्वव्यापी, विभु, भर्ता, विश्वमूर्ति और महेश्वर इन सार्थक नामोंसे संयुक्त वे अर्हन्त केवली ध्यानके प्रभावसे उसी क्षणमें भोगको प्राप्त कराकर—स्थिति व अनुभागको क्षीण करके—चारों अघातिया कर्मोंकी स्थितिमें आयुके समान करते हैं ॥४०-४१॥

तत्पश्चात् अन्तरंग व बहिरंग लक्ष्मीसे संयुक्त वे अर्हन्त उपर्युक्त लोकपूरणसमुद्घात अवस्थासे चार समयोंमें उसी क्रमसे पीछे लौटते हैं—उनके वे आत्मप्रदेश लोकपूरणसे प्रतर, प्रतरसे कपाट और कपाटसे दण्डरूपमें संकुचित होकर अन्तमें पूर्वके समान शरीरके भीतर प्रविष्ट होकर अवस्थित हो जाते हैं ॥४२॥

तब अचिन्त्य चेष्टासे संयुक्त वे भगवान् बादर काययोगमें स्थित होकर बादर वचनयोग और बादर मनयोग इन दोनोंके सूक्ष्म करते हैं ॥४३॥

तत्पश्चात् काययोगको छोड़कर और उन सूक्ष्म वचनयोग और मनयोगमें स्थित होकर वे भगवान् बादर काययोगको सूक्ष्म करते हैं ॥४४॥

फिर वे उस सूक्ष्म काययोगमें स्थित होकर क्षणभरमें वचनयोग, मनयोग, नामवाले उन दो योगोंका शीघ्र ही निग्रह करते हैं—उन दोनोंको नष्ट कर देते हैं ॥४५॥

१. M N योगस्थितिं । २. N योगे । ३. All others except P M स्थितिं कृत्वा पुनः । ४. M संज्ञिकं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2194) सूक्ष्मक्रियं ततो ध्यानं स साक्षाद्ध्यातुमर्हति ।
सूक्ष्मैककाययोगस्थ[1]स्तृतीयं यद्धि पठ्यते[2] ॥४६

2195) द्वासप्ततिर्विलीयन्ते कर्मप्रकृतयस्तदा[3] ।
अस्मिन् सूक्ष्मक्रिये ध्याने देवदेवस्य दुर्जयाः ॥४७

2196) तस्मिन्नेव क्षणे साक्षादाविर्भवति निर्मलम्[4] ।
समुच्छिन्नक्रियं[5] ध्यानमयोगिपरमेष्ठिनः ॥४८

2197) विलयं वीतरागस्य तत्र[6] यान्ति त्रयोदश ।
कर्मप्रकृतयः सद्यः पर्यन्ते या व्यवस्थिताः ॥४९

2194) **सूक्ष्मक्रियं**—स योगी तत् सूक्ष्मक्रियं ध्यातुमर्हति योग्यो भवति । हि निश्चितम् । सूक्ष्मैककाययोगस्थं तृतीयं ध्यानं पठ्यते । इति सूत्रार्थः ॥४६॥ अथ पुनर्विशेषमाह ।

2195) **द्वासप्ततिः**—देवदेवस्य उपान्ते द्वासप्ततिः कर्मप्रकृतयः विलीयन्ते । कीदृश्यः । मुक्तिश्रीप्रतिबन्धकाः मोक्षप्रतिरोधकाः । इति सूत्रार्थः ॥४७॥ अथ पुनरेतदेवाह ।

2196) **तस्मिन्नेव**—तस्मिन्नेव क्षणे प्रस्तावे, समुच्छिन्नक्रियं ध्यानम् आविर्भवति । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥४८॥ अथ पुनर्विशेषमाह ।

2197) **विलयम्**—वीतरागस्य चरमे समये, पर्यन्ते प्रान्ते, व्यवस्थिताः त्रयोदश प्रकृतयः पुनः विलयं यान्ति । इति सूत्रार्थः ॥४९॥ अथ यदसौ तदाह ।

उस समय वे एकमात्र सूक्ष्म काययोगमें स्थित होकर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यानके करनेके लिए योग्य होते हैं । यह ध्यान तीसरा शुक्लध्यान कहा जाता है ॥४६॥

तब अयोगकेवलीके उपान्त्य समयमें इस सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यानके आश्रयसे उन देवाधिदेव अर्हन्त प्रभुकी दुर्जय बहत्तर कर्मप्रकृतियाँ क्षयको प्राप्त होती हैं ॥४७॥

फिर उसी क्षणमें उन अयोगिकेवली जिनके साक्षात् निर्मल समुच्छिन्नक्रिय नामका चतुर्थ शुक्लध्यान प्रकट होता है ॥४८॥

अन्तमें उस वीतराग प्रभुके जो तेरह कर्मप्रकृतियाँ अवस्थित थीं वे वहाँ शीघ्र ही क्षयको प्राप्त हो जाती हैं ॥४९॥

१. M N योगस्थं । २. J यद्विपच्यते । ३. All others except P °प्रकृतयो द्रुतम् । उपान्त्ये देवदेवस्य मुक्तिश्रीप्रतिबन्धकाः, M N प्रकृतयो ऽर्हतः, M उपान्ते....बन्धिकाः । ४. L केवलं । ५. M N °क्रियध्यानं । ६. All others except P पुनः for तत्र....चरमे समये सद्यः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2198) तदासौ निर्मलः शान्तो निष्कलङ्को निरामयः ।
जन्मजानेकदुर्वारबन्धव्यसनविच्युतः ॥५०

2199) सिद्धात्मा सुप्रसिद्धात्मा[1] निष्पन्नात्मा निरञ्जनः ।
निष्क्रियो[2] निष्कलः शुद्धो निर्विकल्पो[3] ऽतिनिश्चलः[4] ॥५१

2200) आविर्भूत[5]यथाख्यातचरणो ऽनन्तवीर्यतः[6] ।
परां शुद्धिं परिप्राप्तो दृष्टेर्बोधस्य चात्मनः ॥५२

2201) अयोगी त्यक्तयोगत्वात् केवलो[7] ऽत्यन्तनिर्वृतः ।
साधितात्म[8]स्वभावश्च परमेष्ठी परः[9] प्रभुः ॥५३

2202) लघुपञ्चाक्षरोच्चारकालं स्थित्वा ततः परम् ।
स[10] स्वभावाद्व्रजत्यूर्ध्वं शुद्धात्मा वीतबन्धनः ॥५४

2198) **तदासौ**—[जन्मजानेकदुर्वारबन्धव्यसनविच्युतः । जन्मनः जाताः अनेके दुर्वाराः ये बन्धाः त एव तेषां वा व्यसनेभ्यः विच्युतः मुक्तः । अन्यत्सुगमम् ॥५०॥] अथ पुनस्तमेवाह ।

2199) **सिद्धात्मा**—[निरञ्जनः कलंकरहितः । निर्विकल्पः संकल्पविकल्परहितः । निष्कलः निरंशः । अन्यत्सुगमम् ॥५१॥] अथ परमशुद्धेः हेतुमाह ।

2200) **आविर्भूत**—तदा आविर्भूतयथाख्यातः प्रगटीभूतयथाख्यातचारित्रः । पुनः कीदृशः अनन्तवीर्यवान्* । च पुनः । आत्मनः बोधस्य ज्ञानस्य । दृष्टेः सम्यग्दर्शनादेः । परां शुद्धिं परिप्राप्तो भवतीति सूत्रार्थः ॥५२॥ अथायोग्यत्वमाह ।

2201) **अयोगी**—अत्यन्तनिर्वृतः प्रचुरसौख्यमयः । शेषं सुगमम् ॥५३॥ पुनर्योगिस्वरूपमाह ।

2202) **लघुपञ्चाक्षरोच्चार**—स्वस्वभावात् ऊर्ध्वं व्रजति । परं किं कृत्वा । लघुपञ्चाक्षरोच्चारकालम् 'अइउऋलृ' इत्युच्चारकालं स्थित्वा । इति सूत्रार्थः ॥५४॥ अथ पुनरतदेवाह ।

उस समय वे अयोगी जिन निर्मल, शान्त, कर्मरूप कलंकसे रहित, रोगसे विहीन, जन्म-मरणरूप संसारके अनेक दुर्निवार बन्धजनित आपत्तियोंसे विमुक्त, सिद्ध, अतिशय प्रसिद्ध व निष्पन्नस्वरूपसे संयुक्त, कर्म-कालिमासे रहित, क्रियासे वियुक्त, शरीरसे रहित, शुद्ध, निर्विकल्प, अतिशय निश्चल, प्रकट हुए यथाख्यातचारित्रसे सहित, अनन्त वीर्यसे विशिष्ट होकर अपने सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानकी उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त, योगोंसे रहित हो जानेके अयोगी, असहाय, अतिशय सुखी, आत्मस्वरूपकी सिद्धिको प्राप्त, परमेष्ठी, सर्वोत्कृष्ट और अपूर्व प्रभावशाली होकर चौदहवें गुणस्थानमें पाँच (अ इ उ ऋ लृ) ह्रस्व अक्षरोंके उच्चारणके कालप्रमाण स्थित रहते हैं और तत्पश्चात् वे शुद्ध स्वरूपको प्राप्त होकर कर्म-बन्धसे सर्वथा मुक्त होते हुए स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करते हैं ॥५०-५४॥

---

१. L F J सुप्रतिष्ठात्मा । २. M निःकलो निःक्रियः । ३. T निर्मलः यो ऽति । ४. S X Y R निर्मलः । ५. J आविर्भूतो । ६. All others except P वीर्यवान् । ७. J X R केवलोत्पादनि° । ८. M सादिरात्मा स्वभा° । ९. M N T परप्रभुः, L S F J X Y R परं प्रभुः । १०. M N L T F स्व for स ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2203) अवरोधविनिर्मुक्तो[1] लोकाग्रं[2] समये प्रभुः ।
धर्माभावे ततो ऽप्यूर्ध्वं[3] गमनं नानुमीयते ॥५५

2204) धर्मो गतिस्वभावो ऽयमधर्मः स्थितिलक्षणः ।
तयोर्योगात्पदार्थानां गतिः[4] स्थितिरुदाहृता ॥५६

2205) तौ लोकगगनान्तःस्थौ[5] ततो लोके गतिस्थिती ।
अर्थानां न तु लोकान्तमतिक्रम्य प्रवर्तते ॥५७

2206) स्थितिमासाद्य सिद्धात्मा तत्र लोकाग्रमन्दिरे[6] ।
आस्ते स्वभावजानन्तगुणैश्वर्योपलक्षितः ॥५८

2203) **अविरोध**—प्रभुः अविरोधविनिर्मुक्तः आवरणरहितः लोकाग्रसमये। तथा ऊर्ध्वं गमनं नानुमीयते। धर्माभावे धर्मास्तिकायाभावे। इति सूत्रार्थः ॥५५॥ अथ धर्मादीनां स्वभावमाह।

2204) **धर्मो गति**—तयोः धर्माधर्मयोः योगात् संबन्धात् पदार्थानां गतिस्थितिः उदाहृता। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥५६॥ पुनस्तयोर्विशेषमाह।

2205) **तौ लोक**—तौ धर्माधर्मलोकगगनान्तःस्थौ लोकाकाशस्थितौ। ततो लोके गतिस्थितौ। अर्थानां पदार्थानाम्। न तु लोकान्तम् अतिक्रम्य परित्यज्य प्रवर्तते। इति सूत्रार्थः ॥५७॥ अथ पुनः तत्स्वरूपमाह।

2206) **स्थितिमासाद्य**—सिद्धात्मा लोकाग्रमन्दिरे आस्ते तिष्ठति। किं कृत्वा। स्थितिम् आसाद्य प्राप्य। कीदृशः। स्वभावजानन्तगुणैश्वर्योपलक्षितः सहजानन्तगुणसाम्राज्यसंयुक्तः। इति सूत्रार्थः ॥५८॥ पुनस्तदेव

इस प्रकार ऊर्ध्वगमन करके वे प्रभु प्रतिबन्धसे रहित होते हुए लोकके अग्रभाग तक ही जाते हैं, उसके आगे धर्मद्रव्यके विना नहीं जाते हैं। लोकशिखरके आगे (अलोकमें) जानेका अनुमान भी नहीं किया जा सकता है ॥५५॥

इस धर्मद्रव्यका लक्षण गतिहेतुता और अधर्मका लक्षण स्थितिहेतुता है। उन दोनोंके सम्बन्धसे पदार्थोंकी—जीवों व पुद्गलोंकी—गति और स्थिति निर्दिष्ट की गयी है ॥५६॥

वे दोनों—धर्म और अधर्म द्रव्य—चूँकि लोकाकाश तक ही अवस्थित हैं, अतएव पदार्थोंका गमन और अवस्थान लोकमें ही होता है, वह लोकके अन्तको लाँघकर अलोकमें नहीं होता है ॥५७॥

वह सिद्ध परमात्मा लोकके शिखरपर अवस्थित होकर स्वाभाविक अनन्त गुणोंके वैभवसे परिपूर्ण होता हुआ वहाँ अनन्त काल रहता है ॥५८॥

१. L S F X R मुक्त । २. J लोकाग्र । ३. S J X Y R प्यूर्ध्व । ४. S T X Y R गतिस्थिती उदाहृते । ५. L S F X Y R गमनां° । ६. J मन्दिरं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2207) आत्यन्तिकं निराबाधमत्यक्षं स्वस्वभावजम् ।
यत्सुखं देवदेवस्य तद्वक्तुं केन पार्यते ॥५९
2208) तथाप्युद्देशतः किंचित् ब्रवीमि सुखलक्षणम् ।
निष्ठितार्थस्य[1] सिद्धस्य सर्वद्वन्द्वातिवर्तिनः ॥६०
2209) यद्[2]देवमनुजाः सर्वे सौख्यमक्षार्थसंभवम् ।
निर्विशन्ति निराबाधं सर्वाक्षप्रीणनक्षमम् ॥६१
2210) सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्तं महर्द्धिकम्[3] ।
भाविनो यच्च[4] भोक्ष्यन्ते[5] स्वादिष्टं स्वान्तरञ्जकम् ॥६२
2211) अनन्तगुणितं तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजम् ।
एकस्मिन् समये भुङ्क्ते तत्सुखं परमेश्वरः ॥६३

2207) आत्यन्तिकं—[देवदेवस्य सुखं वक्तुं केन पार्यते। कीदृशं तत्। अत्यक्षम् अक्षाणि इन्द्रियाणि अतिक्रम्य वर्तते इति। स्वस्वभावजं स्वप्रकृत्यैवोत्पन्नम्। अन्यत्सुगमम् ॥५९॥] पुनस्तदेवाह।

2208) तथाप्युद्देशतः—तथापि उद्देशतः नाममात्रेण सिद्धस्य किंचित् सुखलक्षणं ब्रवीमि। कीदृशस्य। निष्ठितार्थस्य कृतार्थस्य। पुनः कीदृशस्य। सर्वद्वन्द्वातिवर्तिनः सर्वक्लेशरहितस्य। इति सूत्रार्थः ॥६०॥ अथ कीदृशं तदाह।

2209) यद्देव—सर्वे देवाः, मनुजा मनुष्याः, अक्षार्थसंभवं सौख्यं निर्विशन्ति भुञ्जते। शेषं सुगमम्। ॥६१॥ पुनस्तदेवाह।

2210) सर्वेण—भाविनः अनागतकाले। च पुनः। ये च भोक्ष्यन्ते यत् सुखम्। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥६२॥ अथ तद्विशेषमाह।

2211) अनन्तगुणितं—तस्मात् त्रैकालिकविषयिकसौख्यात् अनन्तगुणितं तत्सुखं परमेश्वरः भुङ्क्ते एकस्मिन् समये। सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥६३॥ अथ ज्ञानस्वरूपमाह।

उस देवाधिदेव सिद्ध परमात्माको जो अविनश्वर, निर्बाध, अतीन्द्रिय व स्वाभाविक आत्मिक सुख प्राप्त है उसका वर्णन करनेके लिए भला कौन समर्थ है? कोई भी नहीं—वह उसका सुख अवर्णनीय है ॥५९॥

फिर भी मैं कृतकृत्य और सम्पूर्ण क्लेशोंसे मुक्त हुए उस सिद्ध परमात्माके सुखके स्वरूपका निर्देशमात्रसे कुछ कथन करता हूँ ॥६०॥

सब देव और मनुष्य बाधासे रहित एवं सब ही इन्द्रियोंको प्रसन्न करनेवाले जिस इन्द्रियविषयजनित सुखको वर्तमानमें भोग रहे हैं, समस्त अतीत कालमें उन्होंने जिस महती ऋद्धियुक्त सुखको भोगा है, तथा भविष्यमें वे मनको अनुरंजित करनेवाले जिस

१. M निषिद्धार्थस्य। २. M T X Y R यदेव मनुजाः, F J यद्देवाः। ३. L T महर्धिकैः। ४. M N ये च। ५. All others except P N F भोक्ष्यन्ति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2212) त्रिकालविषयाशेषद्रव्यपर्यायसंकुलम् ।
जगत् स्फुरति बोधार्के युगपद्योगिनां पतेः ॥६४

2213) सर्वतो ऽनन्तमाकाशं लोकेतरविकल्पितम् ।
तस्मिन्नपि घनीभूय यस्य ज्ञानं व्यवस्थितम् ॥६५

2214) निद्रातन्द्राभयभ्रान्तिरागद्वेषार्तिसंशयैः ।
शोकमोहजराजन्ममरणाद्यैश्च विच्युतः ॥६६

2215) क्षुत्तृट्श्रममदोन्मादमूर्च्छामात्सर्यवर्जितः ।
वृद्धिह्रासव्यपेतात्मा कल्पनातीतवैभवः ॥६७

2216) निष्कलः करणातीतो निर्विकल्पो निरञ्जनः ।
अनन्तवीर्यतापन्नो नित्यानन्दाभिनन्दितः ॥६८

2212) त्रिकाल—त्रिकालविषयाः ये अशेषद्रव्यपर्यायाः तैः संकुलं व्याप्तम् । योगिनां पतेः तीर्थंकरस्य बोधार्के ज्ञानसूर्ये जगत् स्फुरति । इति सूत्रार्थः ॥६४॥ पुनर्ज्ञानस्य विषयमाह ।

2213) सर्वतो ऽनन्तम्—सर्वतः सर्वत्र अनन्तम् आकाशं लोकोत्तरविकल्पितं लोकप्रमितासंख्येयखण्डकल्पितम् । तस्मिन्नपि आकाशे घनीभूय यस्य सिद्धस्य ज्ञानं व्यवस्थितम् । इति सूत्रार्थः ॥६५॥ अथ पुनः कीदृशः इत्याह ।

2214) निद्रा तन्द्रा—विच्युतः रहितः । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥६६॥ [पुनः कीदृशः तदाह ।]

2215–17) क्षुत्तृट्श्रम—क्षुधादिशरीरधर्मैः वर्जितः रहितः । वृद्धिह्रासव्यपेतात्मा । वृद्धिश्च ह्रासश्च ताभ्यां रहितः आत्मा स्वरूपं यस्य सः । अनन्तवीर्यतापन्नः अपरिमितसामर्थ्य-

स्वादिष्ट सुखको भोगेंगे; उससे अनन्तगुणे अतीन्द्रिय व स्वाभाविक उस सुखको वह सिद्ध परमात्मा एक समयमें भोगता है ॥६१-६३॥

योगियोंके अधिपतिस्वरूप उस सिद्ध परमात्माके ज्ञानरूप सूर्यमें तीनों कालों विषयक समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायोंसे व्याप्त लोक प्रकाशमान होता है ॥६४॥

लोक और अलोक इन दो भेदोंमें विभक्त आकाश सब ओरसे अनन्त है—उसका अन्त किसी ओरसे भी नहीं पाया जाता है। उस अनन्त आकाशमें भी सिद्धात्माका ज्ञान निरन्तर व्यवस्थित है—सिद्ध परमात्मा समस्त लोक और अनन्त अलोकको भी सदा प्रत्यक्ष देखते हैं ॥६५॥

निद्रा, आलस्य, भय, भ्रम, राग, द्वेष, पीड़ा, संशय, शोक, मोह, जरा, जन्म और मरण आदिसे रहित; क्षुधा, तृष्णा, परिश्रम, मद, उन्माद (विषयासक्ति), मूर्च्छा और ईर्ष्याभावसे विहीन; वृद्धि-हानिसे रहित स्वरूपसे संयुक्त, अकल्पनीय (अचिन्त्य) वैभवसे परिपूर्ण, शरीरसे रहित, इन्द्रियोंसे अतीत, विकल्पोंसे निष्क्रान्त, कलंकसे युक्त, अनन्त वीर्यस्वरूपको

१. J °शेषं । २. J लोकोत्तर....ज्ञाने । ३. S T J X Y R व्यतीतात्मा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2217) परमेष्ठी परंज्योतिः परिपूर्णः सनातनः ।
संसारसागरोत्तीर्णः कृतकृत्यो ऽचलस्थितिः ॥६९

2218) सुतृप्तः[1] सर्वदैवास्ते देवस्त्रैलोक्यमूर्धनि ।
नोपमानं[2] सुखादीनां विद्यते परमेष्ठिनः ॥७०

2219) चरस्थिरार्थसंकीर्णे मृग्यमाणं जगत्त्रये ।
उपमानोपमेयत्वं मन्ये स्वस्यैव[3] स स्वयम्[4] ॥७१

2220) यतो न [5]तद्गुणानां स्यादनन्तांशो ऽपि कस्यचित् ।
[6]ततो न शक्यते कर्तुं तेन साम्यं जगत्त्रये ॥७२

संपन्नः। संसारसागरोत्तीर्णः भवसमुद्रात् उत्तीर्णः विमुक्तः। अन्यत्सुगमम् ॥६७-६९॥ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

2218) सुतृप्तः—परमेष्ठिनः सुखादीनाम् उपमेयं न विद्यते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः॥७०॥ अथ तदेवाह ।

2219) चरस्थिरार्थ—अहं मन्ये । जगत्त्रये उपमानोपमेयत्वं स्वस्यैव स्वयं वर्तते । शेषं सुगमम् । इति सूत्रार्थः ॥७१॥ अथ पुनस्तदेवाह ।

2220) यतो न—यतः कारणात् तद्गुणानां परमात्मगुणानाम् अनन्तांशो ऽपि कस्यचिज्ज्ञातुं न स्यात् । यथा व्योमकालयोः पर्यन्तं प्रान्तं ज्ञातुं न शक्यते । इति सूत्रार्थः ॥७२॥ अथ पुनर्निरुपमताम् आह ।

प्राप्त, शाश्वतिक आनन्दसे प्रशंसित, परम पदमें स्थित, उत्कृष्ट ज्ञान-ज्योतिसे सहित, परिपूर्ण, सनातन, संसाररूप समुद्रके पारको प्राप्त, कृतकृत्य और स्थिर स्थितिसे संयुक्त वह सिद्ध परमात्मा अतिशय सन्तुष्ट होकर सदा तीन लोकके शिखरपर (सिद्धालयमें) स्थित रहता है। उस सिद्ध परमेष्ठीके अनन्त सुखादि गुणोंके लिए अस्थिर और स्थिर पदार्थोंसे परिपूर्ण लोकमें यदि किसी उपमानको खोजा जाये तो वह उपलब्ध नहीं हो सकता है। अर्थात् उनके अनन्त ज्ञानादि गुणोंकी किसी अन्यके साथ तुलना नहीं की जा सकती है। वह स्वयं ही अपने उपमान और उपमेय स्वरूपको प्राप्त है, ऐसा मैं मानता हूँ—सिद्ध परमात्माके वे गुण उसीके समान हैं, अन्य किसीके भी समान नहीं हैं ॥६६-७१॥

यदि सिद्ध परमेष्ठीके अनन्त गुणोंका अनन्तवाँ भाग भी किसी अन्यके सम्भव होता तो उसके साथ उनकी उपमा (तुलना) की जा सकती थी, परन्तु ऐसा है नहीं। इसीलिए तीनों लोकोंमें उनकी तुलना अन्यसे नहीं की जा सकती है ॥७२॥

१. M N T F स तृप्तः, L तृप्तः सः, S J X Y R संतृप्तः । २. L S F J Y R नोपमेयं । ३. N तस्यैव । ४. Y स्वस्यैव शाश्वतं । ५. L Y R ऽनन्तगुणानां । ६. P N om. 2nd line, M शक्यते न यथा, M N J read this verse thus: 1st line यतो न तद् etc. & शक्यते न यथा....कालयोः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2221) शक्यते न यथा ज्ञातुं पर्यन्तो[1] व्योमकालयोः ।
तथा स्वभावजातानां गुणानां परमेष्ठिनः ॥७३
2222) गगनघनपतङ्गाहीन्द्रचन्द्राचलेन्द्र-
क्षितिदहनसमीराम्भोधिकल्पद्रुमाणाम् ।
निचयमपि समस्तं चिन्त्यमानं गुणानां
परमगुरुगुणौघैर्नोपमानत्वमेति ॥७४[3]

2221) शक्यते न—परमेष्ठिनः स्वभावजातानां गुणानाम्। शेषं सुगमम्। इति सूत्रार्थः ॥७३॥ अथ विशेषमाह। मालिनी।

2222) गगनघन—[परमगुरुगुणौघैः परमगुरोः गुणसमुदायैः एतेषां गुणाः उपमानत्वं न यान्ति । केषाम् । आकाश-मेघ-सूर्य-शेष-चन्द्र-हिमालय-पृथ्वी-अग्नि-वायु-समुद्र-कल्पवृक्षाणाम् । निचयं गुणानां समूहमपि। इति सूत्रार्थः ॥७४॥] अथ पुनरात्मस्वरूपमाह।

जिस प्रकार आकाश और कालका अन्त नहीं जाना जा सकता है उसी प्रकार सिद्ध भगवान्के स्वाभाविक गुणोंका भी अन्त नहीं जाना जा सकता है ॥७३॥

यदि सिद्धात्माके गुणोंकी तुलनाके लिए आकाश, मेघ, सूर्य, नागराज, इन्द्र, चन्द्र, सुमेरु, पृथिवी, अग्नि, वायु, समुद्र और कल्पवृक्षके समस्त गुणोंके समूहका भी विचार करें तो वह भी सिद्ध परमेष्ठी गुणसमूहके साथ उपमाको प्राप्त नहीं होता है—सिद्ध परमात्माके गुण उपर्युक्त आकाशादिकोंके गुणोंसे उत्कृष्ट होनेके कारण उनके साथ भी उनकी तुलना नहीं की जा सकती है। हीनाधिकताकी विशेषतासे रहित व विकारसे न उत्पन्न होनेवाले वे सिद्धात्माके गुण न तो असत्पूर्व हैं और सत्पूर्व भी हैं—शक्तिकी अपेक्षा उनका सद्भाव यद्यपि पूर्वमें था, फिर भी व्यक्तिकी अपेक्षा वे अपूर्व ही हैं क्योंकि, शक्तिरूपमें विद्यमान रहकर भी उनका पूर्वमें कभी इस रूपसे विकास नहीं हुआ था। किन्तु उनके वे गुण अपनी स्वाभाविक विशेषताको प्राप्त हो जानेसे अभूतपूर्व भी हैं, कारण कि उनकी यह विशेषता पूर्वमें कभी प्रकट नहीं हुई थी। विशेषार्थ—अभिप्राय इसका यह है कि सिद्धोंके जो अनन्त-ज्ञानादि गुण हैं। वे सर्वथा अभूतपूर्व नहीं हैं, क्योंकि, उनका सद्भाव शक्तिरूपसे संसार अवस्थामें सभी प्राणियोंके पूर्वमें भी रहता है। इसका भी कारण यह है कि यदि वे शक्तिकी अपेक्षा पूर्वमें न होते तो फिर उस अवस्थामें भी वे प्रकट नहीं हो सकते थे। उदाहरणके रूपमें तिलके दानोंमें शक्तिरूपसे तेल जब विद्यमान रहता है तभी कोल्हू आदिकी सहायतासे उनमें वह प्रकट होता हुआ देखा जाता है। परन्तु बालुके कणोंमें वह चूँकि शक्तिरूपसे विद्यमान नहीं है, इसलिए उनसे तेलके निकालनेका कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाये,

१. All others except PN पर्यन्तं, N पर्यन्तव्योम। २. M N read this verse thus : तथा स्वभाव....परमेष्ठिनः। को ऽनन्तावगतादीनां स्वरूपं वक्तुमीश्वरः ॥, J read thus : तथा स्वभाव....पर-मेष्ठिनः। ततो निःशङ्क्यते कर्तुं....जगत्त्रये॥ ३. After this verse J X Y R add नासत्पूर्वाश्च etc. verse No. 1

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2223) वाक्पथातीतमाहात्म्यमनन्तं ज्ञानवैभवम् ।
सिद्धात्मनां गुणग्रामं सर्वज्ञज्ञानगोचरम् ॥७५॥ किं च—

2224) स स्वयं यदि सर्वज्ञः सम्यग्ब्रूते समाहितः ।
तथाप्येति न पर्यन्तं गुणानां परमेष्ठिनः ॥७६

2225) त्रैलोक्यतिलकीभूतं निःशेषविषयच्युतम् ।
निर्द्वन्द्वं नित्यमत्यक्षं स्वादिष्टं स्वस्वभावजम् ॥७७

2226) निरौपम्यमविच्छिन्नं स देवः परमेश्वरः ।
तत्रैवास्ते स्थिरीभूतः पिबन् शश्वत् सुखामृतम् ॥७८

2223) वाक्पथातीत—[सर्वज्ञज्ञानगोचरम् । सिद्धात्मनां योगिनां गुणग्रामं गुणसमूहं सर्वज्ञ एव ज्ञातुं समर्थः । इति सूत्रार्थः ॥७५॥] अथ परमेष्ठिनः गुणानाम् आनन्त्यम् आह ।

2224) स स्वयं—किं च । यदि स्वयं सर्वज्ञः सम्यग् ब्रूते समाहितः तथापि एति न पर्यन्तम् । न एति । इति सूत्रार्थः ॥७६॥ अथ पुनः आत्मस्वरूपमाह ।

2225) त्रैलोक्य—कीदृशं परमात्मानम् । त्रैलोक्यतिलकीभूतं सुगमम् । पुनः कीदृशम् । निःशेषविषयच्युतं सर्वविषयभ्रष्टम् । निर्द्वन्द्वं द्वन्द्वरहितम् । नित्यं शाश्वतम् । अत्यक्षं निर्मलम् । स्वादिष्टं स्वेन आदिष्टं कथितम् । स्वस्वभावजं स्वभावजातम् । इति सूत्रार्थः ॥७७॥ अथ पुनस्तत्स्वरूपमाह ।

2227) निरौपम्यम्—किं कुर्वन् । ज्ञानसुखामृतं पिबन् । कीदृशम् । निरौपम्यम् उपमा-

किन्तु वह त्रिकालमें भी प्रकट नहीं हो सकता है । तात्पर्य यह कि सिद्ध परमात्माके वे गुण सब ही प्राणियोंके अव्यक्त रूपमें विद्यमान हैं जो अपने पुरुषार्थसे व्यक्त भी किये जा सकते हैं, अतएव प्रत्येक आत्महितैषी जीवको अपनी उस शक्तिका परिज्ञान प्राप्त करके उन स्वाभाविक गुणोंके प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए ॥७४॥

सिद्धोंके जिस गुणसमूहकी महिमा वचनों द्वारा प्रकट नहीं की जा सकती है तथा जो अनन्त ज्ञानके वैभवसे परिपूर्ण होकर एक सर्वज्ञके ज्ञानका ही विषय है—छद्मस्थका ज्ञान जिसको जाननेके लिए समर्थ नहीं है, यदि वह सर्वज्ञ भी स्वयं सावधान होकर सिद्ध परमेष्ठीके उस गुणसमूहका वर्णन भलीभाँति करना चाहे तो वह भी उन गुणोंके अन्तको नहीं पा सकता है, क्योंकि, वे अनन्त हैं और शब्द परिमित हैं ॥७५-७६॥

वह सिद्ध परमात्मा तीनों लोकोंमें श्रेष्ठभूत, समस्त विषयोंके सम्बन्धसे रहित, निराकुल, अविनश्वर, इन्द्रियोंकी अपेक्षासे रहित, सुस्वादु, आत्मस्वभावसे उत्पन्न (स्वाधीन), असाधारण और व्यवधानसे वर्जित ऐसे सुखरूप अमृतका सदा पान करता हुआ—निरन्तर

१. All others except P F °मनन्तज्ञान, J सर्वज्ञानामगोचरम् । २. P M X Y किं च । ३. X Y सर्वज्ञसदृशः को ऽपि यदि ब्रूते । ४. Y पर्याप्तं । ५. M N T परमेष्ठिनां । ६. T. सदैव । ७. L T F J स्थिरीभूय । ८. L S T F J X R ज्ञान for शश्वत् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2227) देवः सो ऽनन्तवीर्यो दृगवगमसुखानर्घ्यरत्नावकीर्णः
श्रीमत्[1]त्रैलोक्यमूर्ध्नि प्रतिवसति भवध्वान्तविध्वंसभानुः।
स्वात्मोत्थानन्तनित्यप्रवरशिवसुधा[2]म्भोधिमग्नः सदैवं
सिद्धात्मा निर्विकल्पो ऽप्रतिहतमहिमा शश्वदानन्दधाम[3] ॥७९

इति ज्ञानार्णवे शुक्लध्या[4]नफलम्।

2228) एवं[5] कतिपय [वरं] वर्णैर्ध्यानफलं [6]कीर्तितं समासेन।
निःशेषं[7] यदि वक्तुं प्रभवति देवः स्वयं वीरः ॥८०

रहितम्। अविच्छिन्नम् अव्याहतम्। स देवः परमेश्वरः तत्रैव स्वरूपे स्थिरीभूय आस्ते तिष्ठति। इत्यर्थः ॥७८॥ पुनस्तमेवाह।

2227) **देवः सो ऽनन्त**—स देवः त्रैलोक्यमूर्ध्नि प्रतिवसति। कीदृशः। अनन्तवीर्यः। पुनः कीदृशः। दृगवगमसुखानर्घ्यरत्नावकीर्णः सम्यक्त्वज्ञानसुखानर्घ्यरत्नावकीर्णः तैः विकीर्णः व्याप्तः। श्रीमान्। पुनः कीदृशः। भवध्वान्तविध्वंसभानुः भवान्धकारसूर्यः। पुनः। स्वात्मोत्थानन्तनित्यप्रवरशिवसुधाम्भोधिमग्नः स्वस्वरूपे जातानन्तनित्यविशिष्टमुक्तिपीयूषसमुद्रः। सदैव सिद्धात्मा। पुनः कीदृशः। निर्विकल्पः। पुनः कीदृशः। अप्रतिहतमहिमा सर्वव्यापिसामर्थ्योपेतः। शश्वत् निरन्तरम्। आनन्दधाम। इति सूत्रार्थः ॥७९॥ अथ ग्रन्थप्रमाणमाह।

2228) **इति कतिपय**—निःशेषं सर्वध्यानफलं यदि वक्तुं स्वयं वीरः प्रभवः समर्थो भवति। इति सूत्रार्थः ॥८०॥ पुनर्विशेषमाह।

अनन्त सुखका अनुभव करता हुआ—वहींपर स्थिर होकर रहता है—उसका फिर संसारमें पुनरागमन नहीं होता है ॥७७-७८॥

अनन्त वीर्यसे संयुक्त; केवलदर्शन, केवलज्ञान व समीचीन सुखरूप अमूल्य रत्नोंसे व्याप्त; संसाररूप अन्धकारके नष्ट करनेमें सूर्य समान, समस्त विकल्पोंसे रहित, अबाधित महिमासे परिपूर्ण और निरन्तर सुखका स्थानभूत वह वन्दनीय सिद्ध परमात्मा अपने आत्ममात्रसे उत्पन्न, अविनश्वर व सर्वोत्कृष्ट आनन्दरूप अमृतके समुद्रमें मग्न होकर सर्वदा उस शोभायमान तीन लोकके शिखरपर ही रहता है ॥७९॥

इस प्रकार ज्ञानार्णवमें शुक्लध्यानके फलका वर्णन समाप्त हुआ।

इस प्रकार मैंने कुछ उत्तम वर्णोंके द्वारा संक्षेपमें ध्यानके फलका निरूपण किया है। यदि उसका पूर्णतया वर्णन करनेमें कोई समर्थ हो सकता है तो वह श्री वीर जिनेन्द्र ही हो सकता है—छद्मस्थ उसका पूर्णरूपसे वर्णनसमर्थ नहीं है ॥८०॥

१, ॱ T X Y R श्रीमान्....स देवः। २. M सुखाम्भो°। ३. S X Y R धामा। ४. M इति ध्यानफलम्, N L F प्रकरणसमाप्तिः। ५. All others except P N इति for एवं। ६. J om. वर & reads प्रकीर्तितं। ७. N निःशेषं तत्कथितुम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2229) इति जिनपतिसूत्रात्सारमुद्धृत्य किंचित्
स्वमतिविभवयोग्यं ध्यानशास्त्रं प्रणीतम् ।
विबुधमुनिमनीषाम्भोधिचन्द्रायमाणं
चरतु भुवि विभूत्यै यावदद्रीन्द्रचन्द्रान्[1] ।।८१

2230) [ज्ञानार्णवस्य[2] माहात्म्यं चित्ते[3] को वेत्ति तत्त्वतः ।
यज्ज्ञानात्तीर्यते भव्यैर्दुस्तरो ऽपि भवार्णवः ।।८१*१]

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे पण्डिताचार्य-श्री-
शुभचन्द्राचार्य-विरचिते मोक्षप्रकरणम् ।।३९।।

2229) इति जिनपति—इति अमुना प्रकारेण जिनपतिसूत्रात् सारं किंचित् उद्धृत्य स्वमतिविभवयोग्यं स्वबुद्धिश्रीप्रायोग्यं ध्यानशास्त्रं प्रणीतं कथितम् । कीदृशम् । विबुधमुनिमनीषाम्भोधिचन्द्रायमानं पण्डितमुनिमनीषासमुद्रोल्लासचन्द्रसदृशम् । भुवि पृथिव्याम् । विभूत्यै लक्ष्म्यै चरतु । यावत् अद्रीन्द्रो मेरुः चन्द्रः च यावत् तावत् । इति सूत्रार्थः ।।८१।।

इति श्री-शुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवे योग-प्रदीपाधिकारे पण्डितनयविलासेन
साहपासा-तत्पुत्र-साहटोडर-तत्कुलकमलदिवाकर-साहऋषिदास-स्वश्रवणार्थं
पण्डित-जिनदासोद्यमेन कारापितं मोक्षप्रकरणं समाप्तम् ।।३९।।

अष्टसहस्रं संख्यातं पञ्चांकेन विराजितम् ।
सर्वग्रन्थप्रमाणं हि निर्णीतव्यं महाबुधैः ।।१।।

इति श्रीज्ञानार्णव-टीका समाप्ता ।।८५००।।

इस प्रकार जिनेन्द्रके सूत्रसे—जिनागमसे—कुछ सारको ग्रहण करके मैंने अपनी बुद्धिके वैभवके अनुसार इस ध्यानशास्त्रकी रचना की है । वह विशेष विद्वान् मुनियोंकी बुद्धिरूप समुद्रको वृद्धिंगत करनेके लिए चन्द्रमाके समान है । जबतक यहाँ सुमेरु, इन्द्र और चन्द्र हैं तबतक यह शास्त्र अपने वैभवके लिए इस पृथिवीपर संचार करता रहे ।।८१।।

जिस ज्ञानके प्रभावसे भव्य जीव दुस्तर भी संसाररूप समुद्रकी महिमाको पार किया करते हैं उस ज्ञानरूप समुद्रकी महिमाको कौन अपने चित्तमें जान सकता है ? कोई नहीं जान सकता है ।।८१*१।।

इस प्रकार पण्डिताचार्य श्री शुभचन्द्राचार्य विरचित ज्ञानार्णव योगप्रदीपाधिकारमें
पिण्डस्थध्यान प्रकरण समाप्त हुआ ।।३९।।

१. M N चन्द्राः, L S T J X R चन्द्रः । २. All others except P N T J read this verse after the colophon । ३. Y चित्रं for चित्ते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्यां श्रीमन्नृपुर्यां श्रीमदर्हंदे [द्दे] वचरणकमलचञ्चरीकः सुजनजनहृदयपरमानन्दकन्द-लीकन्दः श्री-माथुरान्वयसमुद्रचन्द्रायमानो भव्यात्मा परमश्रावकः श्री-नेमिचन्द्रो नामाभूत्। तस्याखिलविज्ञानकलाकौशलशालिनी सती पतिव्रतादिगुणगणालंकारभूषितशरीरा निजमनोवृत्ति-रिवाव्यभिचारिणी स्वर्णा नाम धर्मपत्नी संजाता। अथ तयोः समासादितधर्मार्थंकामफलयोः स्वकुलकुमुदवनचन्द्रलेखा निजवंशवैजयन्ती सर्वंलक्षणालंकृतशरीरा जाहिणि नाम पुत्रिका समुत्पन्ना।

ततो गोकर्णश्रीचन्द्रौ सुतौ जातौ मनोरमौ।
गुणरत्नाकरौ भव्यौ रामलक्ष्मणसन्निभौ ॥
सा पुत्री नेमिचन्द्रस्य जिनशासनवत्सला।
विवेकविनयोपेता सम्यग्दर्शनलांछिता ॥
ज्ञात्वा संसारवैचित्र्यं फल्गुतां च नृजन्मनः।
तपसे निरगात् गेहात् शान्तचित्ता सुसंयता ॥
बान्धवैर्वार्यमाणापि प्रणतैः शास्त्रलोचनैः।
मनागपि मनो यस्या न प्रेम्णा कश्मलीकृतम् ॥
गृहीतं मुनिपादान्ते तया संयतिकाव्रतम्।
स्वीकृतं च मनःशुद्धया रत्नत्रयमखण्डितम् ॥
तया विरक्तयात्यन्तं नवे वयसि यौवने।
आरब्धं तत्तपः कर्तुं यत्सतां साध्विति स्तुतम् ॥
यमव्रततपोद्योगैः स्वाध्यायध्यानसंयमैः।
कायक्लेशाद्यनुष्ठानैर्गृहीतं जन्मनः फलम् ॥
तपोभिर्दुष्करैर्नित्यं बाह्यान्तर्भेदलक्षणैः।
कषायरिपुभिः सार्धं निःशेषं शोषितं वपुः ॥
विनयाचारसंपत्त्या संघः सर्वो ऽप्युपासितः।
वैयावृत्त्योद्यमात् शश्वत् कीर्तिर्नीता दिगन्तरम् ॥
किमियं भारती देवी किमियं शासनदेवता।
दृष्टपूर्वैरपि प्रायः पौरैरिति वितर्क्यते ॥
तया कर्मक्षयस्यार्थं ध्यानाध्ययनशालिने।
तपःश्रुतनिधानाय तत्त्वज्ञाय महात्मने ॥
रागादिरिपुमल्लाय शुभचन्द्राय योगिने।
लिखाप्य पुस्तकं दत्तमिदं ज्ञानार्णवाभिधम् ॥

संवत् १२८४ वर्षे वैशाखसुदि १० शुक्रे गोमण्डले दिगम्बरराजकुलसहस्रकीर्तिस्यार्थे
पं. केशरिसुतवीसलेन लिखितमिति ॥ ज्ञानार्णवपु ॥ स्तं ॥ आ २२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1. वृत्तसूची

अनुष्टुभ् : 1–13, 15–48, 51-95, 97–110, 116–131, 133–42, 144–54, 156–68, 170–77, 179–89, 191–99, 201–21, 224–29, 231–42, 244–45, 247–82, 284–86, 288–93, 297–305, 308–16, 318–49, 354–72, 383–437, 439–47, 449–69, 472–98, 500–505, 507–27, 531–70, 573–90, 593–637, 639, 641–64, 666–93, 696, 698, 700–06, 708-14, 717–24, 726–61, 765–69, 771-803, 805–10, 818–23, 826–60, 864-83, 887–906, 908–25, 928–56, 961–72, 977–86, 989–98, 1003–4, 1008–15, 1017–39, 1041–43, 1049–60, 1062, 1064–1104, 1107–16, 1118–45, 1147–69, 1176–78, 1180–1203, 1205–7, 1209–10, 1212, 1215, 1217–21, 1223–26, 1231–33, 1236–39, 1243, 1245–46, 1258–62, 1264–65, 1267–1316, 1318–72, 1388–90, 1409, 1414–16, 1419, 1441–43, 1455–67, 1469–85, 1488–1510, 1512–1614, 1616–35, 1639–52, 1654–56, 1658–59, 1661, 1663–75, 1678–83, 1685–86, 1689–1776, 1778–1875, 1877–1906, 1910–15, 1918–20, 1922–70, 1972–94, 1998–2001, 2004–5, 2007–30, 2032–78, 2080–82, 2085–88, 2090–2110, 2113–26, 2131–34, 2136, 2138–39, 2142–44, 2146–84, 2186, 2188–2221, 2223–26, 2230.

आर्या : 306–307, 438, 528–29, 591, 638, 665, 697, 707, 715, 804, 824–25, 886, 960, 1005–6, 1048, 1146, 1249, 1373–87, 1391–1408, 1411–13, 1417–18, 1420–40, 1444–54, 1907, 1916, 1971, 1995–96, 2002–3, 2006, 2145, 2185.

इन्द्रवज्रा : 1253, 1257.

इन्द्रवंशा : 1001.

उपजाति : 1000, 1117, 1216, 1240–1242, 1248, 1250, 1252, 1255–56, 1263, 1486, 1676, 2083, 2127–28, 2130, 2187.

उपेन्द्रवज्रा : 885, 1063, 1227, 1241, 1677, 1684, 2084.

पृथ्वी : 317.

मन्दाक्रान्ता : 143, 381, 1171, 1173, 1468, 2137.

मालिनी : 96, 169, 190, 223, 230, 243, 448, 470, 506, 592, 640, 695, 725, 762, 811–13, 817, 861, 884, 907, 975, 999, 1040, 1044, 1061, 1106, 1204, 1230, 1235, 1254, 1266, 1615, 1657, 1687, 1876, 1921, 1997, 2111, 2135, 2222, 2229.

वसन्ततिलका : 350–51, 987, 1002, 1917.

वंशस्थ : 14, 294–96, 499, 571, 716, 957–59, 1007, 1016, 1244, 1777, 2112.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शार्दूलविक्रीडित : 50, 112, 113, 115, 132, 155, 222, 246, 287, 352–53, 373–74, 377–79, 382, 572, 694, 699, 814–16, 862–63, 926–27, 973, 976, 988, 1045–46, 1170, 1174, 1179, 1208, 1211, 1222, 1228, 1247, 1251, 1487, 1636–38, 1660, 1662, 1688, 1909, 2031, 2089, 2129, 2140–41.

शालिनी : 1653.

शिखरिणी : 49, 178, 200, 283, 376, 974, 1511.

स्रग्धरा : 111, 114, 375, 380, 471, 530, 763–64, 770, 1047, 1105, 1172, 1175, 1213–14, 1229, 1317, 1908, 2079, 2227.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2. श्लोकानुक्रमणिका

अकारादि हकारान्तं 1934
अक्षताभीष्ट 110
अक्षद्वारैरविश्रान्तं 1524
अक्षद्वारैर्गलित्वा 1535
अक्षोरगशकुन्तेशं 2052
अगम्यं यन्मृगाङ्कस्य 459
अगाधकरुणा 1338
अगाधक्रोध 652
अग्रे वामविभागे 1420
अङ्गनादिमहा 70
अङ्गनापाङ्ग 767
अङ्गान्यष्टावपि 1076
अचिच्चिद्रूपयोः 145
अचिद्‌द्रूयमिदं 1571
अचिद्रूपा विना 416
अचिन्त्यकाम 608
अचिन्त्यचरितं 2036
अचिन्त्यमति 1362
अचिन्त्यमस्य 1062
अजस्रं रुध्यमाने 1114
अजिताक्षः 1013
अजिनपटल 169
अज्ञातवस्तु 1198
अज्ञातस्वस्वरूपेण 1513
अज्ञातस्वस्वरूपो ऽयं 140
अज्ञानजनितः 30
अज्ञानपूर्विका 468
अज्ञानविप्लुतं 1563
अणुप्रचय 147
अणुमात्रादपि 839
अणुस्कन्धविभेदेन 417
अणोरपि च 1498
अतस्तत्त्वार्थ 1855
अतस्तदेव संरुध्य 1080
अतः प्रमादमुत्सृज्य 482
अतः प्रागेव 1516
अतः सम्यक् 2044
अतः साक्षात् स 1343
अतिक्रम्य शरीरादि 2122
अतीन्द्रियमनिर्देश्य 1611
अतुलसुखनिधानं 448
अतुलसुखनिधानं(change)813
अतुलसुखसिद्धि 591
अतृप्तिजनकं 1025
अत्यक्तसंग 844
अत्यक्षं विषयातीतं 254
अत्यजस्रमसौ 1070
अत्यंन्तदुर्लभेष्वेषु 237
अत्यल्पमपि 445
अत्यल्पे धन 848
अत्युग्रतपसा 363
अत्र जन्मनि 83
अत्र संकल्पिताः 1835
अत्राभ्यासप्रयत्नेन 1352
अथ कौतूहल 1444
अथ धर्ममति 2142
अथ नाभिपुण्डरीकात् 1437
अथ निर्णीत 354
अथ प्रशम 1267
अथ मण्डलेषु 1381
अथ मन्त्रपदाधीशं 1918
अथ रूपे 2094
अथ लोकत्रयो 1490
अथान्यैर्वृत्त 310
अथाप्रतिहतानन्द 1991
अथावसाने स्वतनुं 2128
अथासनजयं 1331
अदयैः संप्रयुक्तानि 556
अदृष्टपूर्वमालोक्य 1709
अदृष्टमत्स्वरूपः 1545
अद्य नाथ वयं 1831
अद्य रागज्वरोत्तीर्णः 1472
अद्यापि यदि 1644
अद्यासाद्य स्व 1484
अधिकृत्य च्छदं 2011
अधीतैर्वा श्रुतैः 28
अधो वेत्रासनाकारः 228
अधो वेत्रासनाकारः (change) 1696
अध्यात्मजं तदत्यक्षं 1035
अनन्तक्लेशबीजे 2183
अनन्तक्लेशसर्चिः 972
अनन्तगुणपर्याय 1623
अनन्तगुणराजीव 1470
अनन्तगुणितं 2211
अनन्तजन्मजानेक 1097
अनन्तदुःखसंकीर्ण 1221
अनन्तदुःखसंकीर्णे 1032
अनन्तबोध 1054
अनन्तमहिमा 752
अनन्तवीर्यविज्ञान 1483
अनन्तवीर्यः 2187
अनन्तव्यसनासार 615

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनन्तः सर्वदा 397
अनन्तानन्तभागे 458
अनन्तानन्तमाकाशं 1689
अनन्यशरणस्तद्धि 1509
अनन्यशरणः साक्षात् 1931
अनन्यशरणः साक्षात् (change) 2064
अनन्यशरणीभूय 1507
अनहं यन्मया 1581
अनाख्यातमिव 1580
अनादिकाल 44
अनादिनिधनः 227
अनादिप्रभवः 1531
अनादिप्रभवैः 1065
अनादिप्रभवो वैरी 937
अनादिभ्रम 1645
अनादिविभ्रमात् 1617
अनादिविभ्रमोद्भूतं 1184
अनासा वञ्चकाः 1192
अनारतं निष्करुण 1227
अनासादितनिर्वेदाः 333
अनासाद्य जनः 631
अनासाद्य व्रतं 573
अनित्याद्याः 56
अनिरुद्धाक्षसंतानाः 332
अनिरुद्धा सती 866
अनिलमवबुध्य 1400
अनिषिध्याक्ष 1043
अनिष्टयोग 1203
अनुत्तरविमानेषु 1870
अनुद्युक्तास्तपः 338
अनुद्धृतमनः 336
अनुद्विग्नैस्तथा 23
अनुपास्यैव यः 786
अनुप्रेक्षाश्च धर्मस्य 2114
अनेकजन्मजक्लेश 534
अनेकदुःख 712
अनेकपद 1630
अनेकवस्तु 2046
अनेकव्यसनोच्छिष्टं 2042
अनेकासत्य 1245
अनेन नृ 77
अनेनैव विशुध्यन्ति 1957
अन्तर्दहति मन्त्रार्चिः 1894
अन्तर्दुःखं बहिः 1577
अन्तर्दृष्ट्वात्मनः 1595
अन्तर्बाह्यभुवोः 829
अन्तर्लीनमपि 810
अन्तःकरणजं 796
अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं 325
अन्तःशून्यो भृशं 687
अन्तःसुप्तो ऽपि 734
अन्ध एव वराकः 783
अन्धपाषाणकल्पं 409
अन्यत्वमेव 150
अन्यत्वं किं न 148
अन्यद्यच्छ्रुत 2027
अन्ययोगव्यवच्छेदात् 527
अन्यः कश्चिद् 153
अन्योन्यसंक्रमोत्पन्नः 430
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां 286
अपक्वपाकः 1684
अपथ्यमपि 1217
अपथ्यानि यथा 705
अपमानकरं 985
अपवादमहा 751
अपवादास्पदीभूत 175
अपाकुर्वन्ति 15
अपाकृत्येति 1548
अपायविचयं 1640
अपारमति 1628
अपारयन् 958
अपास्य करण 1036
अपास्य कल्पना 260
अपास्य कल्पना (change) 919
अपास्य खण्ड 1187
अपास्य बहिरात्मानं 1522
अपि तीर्येत 12
अपि दावानल 551
अपि मानसं 625
अपि लोकत्रयैश्वर्यं 1102
अपि सूर्यस्त्यजेत् 845
अपृथक्त्वमवीचारं 2168
अप्यनादि 795
अप्यसह्ये 951
अप्युत्तुङ्गाः 662
अप्येकं दर्शनं 444
अप्रमत्तः सुसंस्थानः 1327
अब्जरागसमुद्भूत 1882
अभयं यच्छ 523
अभव्यानां 410
अभिचारपरैः 1190
अभिमतफल 1375
अभिलषति 1235
अभेदविद्यया 1602
अमी जीवादयः 1488
अमुमेव महा 1686
अमृतजलधि 1997
अमृतमिव सर्व 1391
अमृते प्रवहति 1426
अयत्नजनितं 1609
अयत्नेनापि 956
अयत्नेनापि (change) 1050
अयत्नेनापि (change) 1111
अयमात्मा महामोह 36
अयमात्मा स्वभावेन 144
अयमात्मा स्वयं 1051
अयमात्मा स्वयं (change) 1057
अयमात्मा स्वसामर्थ्यात् 2078
अयमात्मैव 917

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अयमैरावणः 1844
अयं जागर्ति 20
अयं त्रिजगती 1064
अयं मोहवशात् 1137
अयं समुत्थितः 932
अयःकण्टक 1707
अयोगी त्यक्त 2201
अरिऋणिक 1411
अरिष्टोत्पात 1664
अरुणोदय 1388
अर्गलेवापवर्गस्य 990
अर्थादर्थं 2158
अथादर्थान्तरापत्तिः 2156
अर्थादिषु यथा 2159
अर्धचन्द्रसमाकारं 1365
अर्हन्तमज 2058
अलक्ष्यं लक्ष्य 1620
अलब्धपूर्वे 2174
अलौकिकमहो 1550
अलौल्यमारोग्यं 2127
अल्पानामपि 1212
अवकाशप्रदं 423
अवग्रहादिभिः 452
अवनिवन 1421
अवरोधविनिर्मुक्तः 2203
अवर्णस्य सहस्रार्धं 1967
अवश्यं यदि 66
अवाग्गोचर 1503
अवार्यविक्रमः 1093
अविक्षिप्तं यदा 1320
अविचलमनसा 1996
अविचारित 241
अविद्याक्रान्तचित्तेन 1723
अविद्याप्रसरोद्भूत 11
अविद्याप्रसरोद्भूतं 186
अविद्याराग 74
अविद्यावासना 1618
अविद्याविक्रान्तैः 283
अविद्याश्रयणं 347
अविद्योद्भूत 1067
अवीचारो वितर्कस्य 2154
अशुचिष्वङ्गनाङ्गेषु 717
अशुचीन्यङ्गनाङ्गानि 710
अशेषद्रव्यपर्याय 456
अशेषपरपर्यायैः 1163
अशेषविषयोद्भूतं 1867
अशेषसंग 365
अशेषानिष्ट 1207
अष्टरात्रे व्यतिक्रान्ते 2014
अष्टावङ्गानि 1075
असच्छास्त्र 26
असत्यकल्पना 1238
असत्यचातुर्य 1240
असत्यमपि 533
असत्यवाग्वञ्चनया 1241
असत्यसामर्थ्य 1242
असत्येनैव 547
असद्ध्यानानि 2087
असद्वदनवल्मीक 540
असद्विद्या 52
असद्वेद्योदयात् 1672
असन्तो ऽपि गुणाः 1101
असह्यदुःख 1754
असंक्लिष्टमवि 1120
असंख्येयमसंख्येयं 2123
असंयमगरोद्गारं 187
असंयममयैः 182
असावनन्त 2084
असावेव जगत्यस्मिन् 1958
असावेव भवोद्भूत 1139
असिपत्रवनाकीर्णे 1704
असृग्मांसवसा 157
अस्तरागो मुनिः 1197
अस्मिन्ननादि 247
अस्मिन्नन्तक 115
अस्मिन् संसार 471
अस्मिन् सुनिर्मल 2171
अस्मिन् स्थिरीकृताभ्यासाः 1938
अस्य घातो जयः 1231
अस्य प्रमाणमुन्नत्या 1697
अस्य वीर्यमहं 1056
अस्य हानिर्मम 961
अस्याचिन्त्यप्रभावस्य 2161
अस्याचिन्त्यप्रभावेण 2013
अस्यां निरन्तराभ्यासात् 1970
अस्याः शतद्वयं 1963
अहमिन्द्राभिधानाः 1869
अहं कदा करिष्यामि 1233
अहं च परमात्मा 1478
अहं न नारकः 1482
अहिंसाव्रत 532
अहिंसैकापि 518
अहिंसैव जगन्माता 503
अहिंसैव शिवं 504
अहेयोपादेयं 376
अहो अनन्त 1055
अहो कैश्चित् कर्म 974
अहो कैश्चिन्महा 1188
अहो तपः पुरा 1849
अहो विभ्रान्त 349
अहो व्यसन 487
अहो सति 25
आकलय्य तदाकूतं 1829
आकृष्य गोचर 1558
आक्रुष्टो ऽहं हतः 943
आचरितानि 886
आच्छिद्य गृह्णन्ति 1253
आज्ञापायविपाकानां 1621
आतपत्रमिदं 1840
आत्मतत्त्वानभिज्ञस्य 1514
आत्मंन्यात्मप्रचारः 380

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मन्येवात्मना	1553
आत्मबुद्धिः शरीरादौ	1518
आत्मलाभमथ	2173
आत्माधीनमपि	1110
आत्मानमेव पश्यामि	1473
आत्मानं वेत्यविज्ञानी	1569
आत्मानं सिद्ध	1606
आत्मायत्तं विषय	381
आत्मार्थं श्रय	2141
आत्मेति वपुषि	1592
आत्मैव मम	916
आत्मैवोत्क्षिप्य	507
आत्यन्तिकं निराबाधं	2207
आत्यान्तिकस्वभावोत्था	1060
आदिसंहननोपेतः	2143
आद्यसंहननोपेताः	2120
आद्यं शरीर	599
आनीय नाभि	1436
आपातमात्र	1037
आभिर्यदानिशं	1285
आयाति गतः	1402
आयुः सर्वाक्ष	235
आरब्धा मृग	113
आरम्भो जन्तु	857
आराधितं मनःशुद्धचा	1850
आराध्यात्मान	1607
आरोपयन्ति	667
आरोप्य चापं	1252
आर्तरौद्रविकल्पेन	1199
आर्हन्त्यमहिमोपेतं	2033
आलम्ब्य प्रक्रियां	2015
आविर्भूतयथाख्यात	2200
आशा जन्मोग्र	882
आशामपि न	869
आशाः सद्यः	1157
आशैव मदिरा	870
आश्रयन्ति यथा	1739
आसनाभ्यास	1332
आसाद्याभिमतं	1334
आस्तां परधनादित्सां	590
इतरो ऽपि नरः	2043
इतःप्रभृति निःशेषं	1546
इति कतिपयवर्णैः	907
इति चिन्तानलेन	1750
इति जिनपति	2229
इति जीवादयः	441
इति ध्यायन्नसौ	1987
इति नयशत	1657
इति नाडिका	1439
इति निगदित	1876
इति परपुर	1451
इति प्रतिज्ञां	1486
इति मत्वा स्थिरीभूतं	1932
इति मोहवीर	1146
इति लक्ष्यानुसारेण	1943
इतिवादिनि	1848
इति विगतकलङ्कैः	1266
इति विगतविकल्पं	2111
इति विविध	1687
इति सर्वज्ञ	1859
इति संक्षेपतः	282
इति साधारणं	1616
इत्थं कर्मकटु	1688
इत्थं चतुर्भिः	1216
इत्थं चुरायां	1250
इत्थं तद्भावना	2070
इत्थं न किञ्चिदपि	351
इत्थं यत्रानवच्छिन्न	1512
इत्थं यत्रानवद्यं	1908
इत्थं वाग्गोचरातीतं	1608
इत्यजस्रं सुदुःखार्ता	1748
इत्यजस्रं स्मरन्	1506
इत्यज स्रंस्मरन्(change)	1915
इत्यविरतं सः	1907
इत्यसौ सतताभ्यास	2106
इत्यादिगणना	2040
इत्यादिगुण	1635
इत्यादिपरमोदार	370
इत्यादिविक्रिया	344
इत्यादिसंरक्षण	1257
इत्यादिसान्वयानेक	2063
इत्यार्तरौद्रे	1263
इत्युपायैर्विनिश्चेयः	1656
इदमक्षकुलं	1015
इदमखिलं	1430
इदमत्यन्त	2126
इदमत्र तु	2162
इदमिह विषयोत्थं	1044
इदं पुरमति	1828
इदं फलमियं	317
इदं मत्तगजानीक	1845
इदं रम्यमिदं	1823
इन्द्रचन्द्रार्क	2176
इन्द्रजालमथ	1822
इन्द्रायुधश्रियं	1798
इन्द्रियाणि न	1033
इन्द्रियार्थमपा	1112
इमान् जडान्बोध	1244
इमे ऽनन्तभ्रमा	267
इयं निकषभूरद्य	963
इयं मोहमहाज्वाला	1142
इयं मोहमहानिद्रा	264
इष्टभोगादि	1215
इष्टार्थनाश	1387
इह मूर्तममूर्तेन	146
इह हि वदन	762
इहाकीर्तिं समादत्ते	995
ईडा तोयमयी	1416
ईर्याभाषैषणा	888
उत्कर्षेणापकर्षेण	436
उत्कृष्टकाय	1194

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तानोच्छून 722
उत्तितीर्षुर्महा 262
उद्धूय तद्रजः 1899
उत्पद्यन्ते 117
उत्पाटयन्ति 1752
उत्पातभय 1783
उत्साहान्निश्चयात् 1071
उदधिरुदक 1040
उदयश्चन्द्रेण हितः 1384
उदये वामा शस्ता 1383
उदीर्णकर्मेन्धन 290
उदीर्णानल 1700
उद्गमोत्पाद 897
उद्दीपयन्तः 950
उद्धृत्य सकलं 1694
उद्वासयति 644
उन्मत्तमथ 1177
उन्मूलयति निर्वेद 836
उन्मूलयति मिथ्यात्वं 2177
उन्मूलयत्यविश्रान्तं 634
उपर्युपरि देवेश 1780
उपर्युपरि संक्रान्त 43
उपर्युपरि संक्रान्तैः 1692
उपवासादिभिः 197
उपसर्गाग्निपाते 1719
उपसर्गैरपि 1315
उपसंहारविस्तार 404
उह्यते यत्र 761
ऊर्ध्वाधोमध्य 1691
ऊर्ध्वाधोरेफ 1919
ऋजुर्विपुल इत्येवं 455
ऋते भवमथार्तं 1202
एक एव मनोदैत्य 1082
एक एव मनोरोधः 1083
एक एव स्मरः 610
एकचिन्तानुरोधः 1195
एकतः कार्मणं 1647
एकतः सकलं 563
एकत्र वसतिः 755
एकत्वं किं न 139
एकमेव व्रतं 595
एकस्यामयं 1440
एकं दृशा परं 692
एकं द्रव्यमथाणुं 2170
एकं प्रथमसंवेग 393
एकः पूजां 1173
एकः स्वर्गी 143
एकाकित्वं 142
एकाक्यपि जयत्येषः 611
एकादयः प्रदेशाः 432
एकैककरण 1048
एकैकं च त्रिभिः 312
एकैव महतां 797
एकैव वनिता 658
एकैव हि मनःशुद्धिः 1100
एको द्विधा त्रिधा 406
एको भावः सर्व 1653
एतत्कन्दलितानन्द 1824
एतत्तत्त्वं शिवाख्यं 1944
एतत्समयसर्वस्वमेतत् 501
एतत्समयसर्वस्वं मुक्तेः 909
एतदेव परं 918
एतदेवैष 1542
एतद्धि कथितं 1968
एतद्विनापि 1220
एतद्व्यसनपाताले 1959
एता अग्र 1841
एता द्वादश 246
एतानि सप्त 1846
एतान्यदृष्ट 1735
एतान्येवाहुरेके 1073
एताभिरनिशं 1282
एता मुनिजनानन्द 1281
एतावनादि 1128
एतां विचिन्तयन् 1998
एते तृणीकृत 339
एते दिव्याङ्गना 1837
एते पण्डितमानिनः 353
एतेषु लब्ध 1448
एनः केन धन 862
एवमेवापवर्गाय 1034
एवं कतिपय 2228
एवं तावदहं 863
एवं द्रव्याणि 440
एवं भावयतः 1357
एवं शान्तकषायात्मा 2165
एवं समस्त 2026
एष देवः स 2075
ऐन्द्रे विजयः 1404
ओं णमो अरहंताणं 1979
औचित्याचरणं 988
कटस्य कर्ताहं 1510
कण्डूयनं तनु 709
कथं तर्हि पृथक् 1521
कदाचिद्देव 118
कदाचिद्दैव 782
कनककमल 1921
कमलदलोदर 1916
करुणार्द्रं च विज्ञान 514
करोत्यज्ञो ग्रह 1572
करोत्युद्धतधीः 982
कलङ्कविलयः 1078
कलेवरमिदं 163
कषायदहनः 772
कषायदहनोद्दीप्तं 173
कषायमल 2146
कषायवैरिव्रज 1016
कषायाः क्रोधाद्याः 178
कर्कशा परुषा 895
कर्णाक्षिनासिका 1418
कर्पूरकुङ्कुमागुरुमलय 1446

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्पूरकुङ्कुमागुरुमृग 168
कर्मजातं फलं 1659
कर्म बध्नाति 851
कल्पनातीत 457
कल्पः सौधर्म 1834
कल्पेषु च 119
कल्पेषु च (change) 1871
कल्याणविभवं 2179
कश्चिद् ब्रूते 706
काककौशिक 1300
काकतालीयक 248
काकः कृमि 714
कातरत्वं परित्यज्य 791
कानिचित्तत्र 1287
कान्दर्पी कैल्बिषी 330
कान्दर्पीप्रमुखाः 329
काययोगं ततः 2192
काययोगे ततः 2193
काययोगे स्थितिं 2191
कायोत्सर्गश्च 1313
कारकादिक्रमः 316
कालकूटादहं 613
काश्चिद्वह्न्यानल 1699
कासश्वास 1211
किमत्र बहुनोक्तेन जन्म 1764
किमत्र बहुनोक्तेन यस्य 881
किमनेन प्रपञ्चेन 1462
किमयं लोष्ट 1341
किमुपेयो ममात्मा 1649
किं करोमि क्व 1733
किं कुर्मः शक्ति 1234
किं च कामशर 637
किं च कैश्चिच्च 1329
किं च क्षोभाय 1298
किं च तस्य 2182
किं च पाषण्डिनः 303
किं च पुष्पफलाक्रान्तैः 1819
किंचिद्भ्रममपाकृत्य 1821
किं तु तिर्यग्गतावेव 403
किं ते सन्ति 352
किं त्वेतत्पुद्गल 418
किं न तप्तं तपः 525
किंपाकफलसमानं 707
किंपाकफलसंभोग 602
कीर्तिपूजाभिमानार्तैः 324
कुटुम्बं जीवितं 562
कुत्र श्वसन 1358
कुथितकुणिप 725
कुर्वन्ति यत् 641
कुर्वन्ति यतयः 934
कुर्वन्ति वनिता 633
कुर्वन्नपि तपः 806
कुर्वीत पूरके 1429
कुलक्रमागता 492
कुलद्वयमहा 681
कुलजातिगुण 673
कुलजातीश्वरत्वादि 977
कुशलजनन 999
कुष्ठव्रणमिव 713
कूटद्रव्यमिव 991
कृतः पराभवः 1727
कृते येषां त्वया 76
कृतैर्वान्यैः स्वयं 968
कृत्वा पापसहस्राणि 1960
कृत्वाप्यकार्यं 677
कृत्वा सहायं 1248
कृत्वाहं मति 1568
कृन्तन्ति मम 1732
कृमयः पूति 1759
कृमिजालशताकीर्णे 159
कृष्णनीलाद्य 1219
कृष्णलेश्याबलोपेतं 1258
कृष्णलेश्योद्धताः 1755
केचिज्ज्वालावलीढाः 1317
केचित्पुरप्रवेशं 1447
केनोपायेन घातः 1229
कैश्चिच्च कीर्तिता 309
कोकिलाः कल्प 1794
को ऽहं ममास्रवः 1650
कौतुकमात्रफलः 1452
कौतुकेन भ्रमेण 754
कौतुकेन समाहर्तुं 691
कौलकापालिका 1290
क्रव्यादकामुकाकीर्णं 1294
क्रियते यैर्मनः 735
क्रियमाणमपि 1108
क्रीडागिरिनिकुञ्जेषु 1790
क्रुद्धस्याप्यस्य 2082
क्रूरता दण्ड 1259
क्रोधवह्नेः क्षमा 939
क्रोधविद्धेषु 1279
क्रोधादिभीम 359
क्रोधाद्द्वीपायनेनापि 935
क्वचित्कुमानुषोपेतं 1776
क्वचित्त्वचिदमी 1264
क्वचिद्गीतैः क्वचिद् 1863
क्वचिन्मूढं 1113
क्वचित्सरित् 87
क्वचित्सुखं देव 1777
क्व मानो नाम 986
क्व मायाचरणं 997
क्षणं कर्णामृतं 29
क्षणिकत्वं 64
क्षमा क्रोधस्य 184
क्षमादि परमोदारैः 485
क्षायोपशमिकः 1261
क्षितिबीजसमाक्रान्तं 1364
क्षीणरागं च्युतं 1116
क्षीणतन्द्रा जित 464
क्षीणप्रशान्त 389
क्षीणे रागादि 277

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षुत्तृट्श्रम	2215	घनाब्धिः प्रथमः	1693	चित्तशुद्धिमनासाद्य	1090
क्षुत्तृट्श्रमाभि	1275	घनाब्धिवलये	1695	चित्ते तव विवेक	263
क्षुद्रजन्तुपशु	1296	घृणास्पदमति	616	चित्ते निश्चलतां	379
क्षुद्रध्यानपर	2089	घोणाविवरमध्यास्य	1361	चिदचिद्रूपता	589
क्षुद्रेतरविकल्पेषु	1271	घोणाविवरमापूर्य	1369	चिदचिद्रूपि	1131
क्षुभ्यन्ति ग्रह	1170	घोरतरः संग्रामः	1403	चिदचिल्लक्षणैः	1148
क्षेत्रजाति	1292	घ्रायन्ते पूतयः	1713	चिदानन्दगुणोपेताः	1873
क्षेत्राणि रमणीयानि	1661	चक्षुरुन्मेष	1744	चिदानन्दमयं	2095
खण्डितानां	560	चञ्चद्भिश्चिर	816	चिन्तयन्ति तदा	1714
खपुष्पमथवा	300	चतस्रो भावनाः	1270	चिनु चित्ते	54
ख्यातिपूजा	1191	चतुर्गतिमहा	116	चिन्तामणिर्निधिः	204
गगनघन	2222	चतुर्दश समासेषु	413	चिराभ्यस्तेन	965
गगननगर	96	चतुर्धा गति	401	चुराशीलं विनिश्चित्य	580
गगनवन	1230	चतुर्धा ध्यानं	1878	चेतः प्रसत्ति	2019
गजाश्वनर	108	चतुर्वर्णमयीं	1965	चेन्मामुद्दिश्य	945
गर्भादारभ्य	104	चतुर्विंशतिपत्राढ्यं	1913	चौर्योपदेश	1246
गलत्येवायुः	88	चन्द्रकान्तशिला	1784	छत्रगजतुरग	1374
गलन्मिलदणु	1587	चन्द्रमूर्तिरिवानन्दं	559	छद्मस्थयोगिनां	2147
गावः कामदुघाः	1787	चन्द्रलेखासमं	1937	छाद्यमानमपि	996
गीतवादित्रनिर्घोषैर्जय	1820	चन्द्रः सान्द्रैः	1171	छित्त्वा प्रशम	1150
गीतवादित्रनिर्घोषैः स्तुति	1858	चमत्कारकरं	195	छिन्ने भिन्ने	2118
गीतवादित्रविद्यासु	1804	चरणज्ञानयोर्बीजं	443	जगत्त्रयचमत्कारि	1278
गीयते यत्र	81	चरणज्ञानसंपन्नाः	1325	जगत्त्रयजयी	100
गुणरिक्तेन	984	चरस्थिरभवोद्भूत	399	जगद्वञ्चन	1028
गुणा गौणत्व	576	चरस्थिरविकल्पासु	1678	जगद्वन्द्ये सतां	568
गुणाधिकतया	1010	चरस्थिरार्थजातेषु	879	जनन्यो यमिनां	906
गुरवो लाघवं	586	चरस्थिरार्थसंकीर्णे	2219	जनसंसर्गवाक्	1590
गुरुपञ्चनमस्कार	1952	चरुमन्त्रौषधानां	498	जन्तुजातमिदं	614
गृह्णतो ऽस्य	900	चलत्यचलमालेयं	1176	जन्मजानन्त	38
गृह्णन्ति विपिने	668	चलत्येवाल्प	2116	जन्मज्वर	1475
गोचरेभ्यो हृषीकाणि	1458	चलमप्यचलाकारं	1585	जन्मनः प्रति	1651
गोत्राख्यं जन्तु	1681	चापलं त्यजति	880	जन्मभूमिरविद्यानां	989
गौरवेषु प्रतिष्ठासु	675	चारित्रमोह	1674	जन्ममृत्युरुजा	2041
ग्रामपुरयुद्ध	1425	चालयन्तं सुरानीकं	1897	जन्मशतजनित	1454
ग्रैवेयकानुत्तर	2130	चित्तप्रपञ्च	1079	जन्मोग्रभ्रम	520
ग्लानिर्मूर्च्छा	711	चित्तप्लवङ्गं	1136	जम्बूद्वीपादयः	1772
घनमालानुकारीणि	90	चित्तमेकं न	1095	जयजीवित	1399

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जयति समाक्षर	1396	ज्योतिश्चक्रस्य	530	तत्राक्रन्दरवैः	1712
जयन्ति जिन	16	ज्वलनवन	1204	तत्राचिन्त्यमहा	2129
जयन्ति ते	539	त एव सुखिनः	871	तत्रातिभव्यता	1812
जयन्ति यमिनः	940	तच्छ्रुतं तच्च	9	तत्रादौ पार्थिवं	1363
जलधेर्यान	666	ततस्तेषु क्रमात्	1368	तत्राधोभागमासाद्य	1698
जलबिन्दुं कुशाग्रेण	1455	ततः क्रमेण	2190	तत्रार्यम्लेच्छ	1775
जलानलव्याल	1256	ततः प्रच्याव्य	1942	तत्स्वरूपमजानानः	1052
जातसर्पमतेः	1540	ततः प्रादुर्भवत्युच्चैः	1716	तत्स्वरूपाहित	1505
जातिलिङ्गमिति	1601	ततः प्रेमानुबन्धः	742	तथा चरस्थिरैः	1205
जानन्नपि न	619	ततः संवत्सरं	1989	तथाप्युद्देशतः	2208
जानाति यः	914	ततः सोऽत्यन्त	1529	तथैवैते ऽनुभूयन्ते	1655
जापाज्जयेत्	1917	ततो ऽग्रे शाश्वतं	1872	तदष्टकर्मनिर्माणं	1891
जाम्बूनदनिभं	1951	ततो ऽतिजात	1990	तदस्य कर्तुं	1063
जायते यत्समासाद्य	808	ततो ऽर्धेन्दु	1902	तदार्हन्त्यं परि	2181
जायते यस्य	183	ततो ऽसौ निश्चला	1886	तदालम्ब्य परं	2069
जायन्ते भूतयः	524	ततो ध्यायेन्महा	2004	तदा स भगवान्	2175
जीर्णे रक्ते घने	1584	ततो नभसि	1778	तदा स सर्वगः	2188
जीवन्तु जन्तवः	1273	ततो निरन्तराभ्यासात्	1988	तदासौ निर्मलः	2198
जीवाजीवास्रवा	396	ततो निर्विषयं	236	तदासौ निश्चलः	2108
जीवितव्ये	46	ततो बहिः शरीरस्य	1892	तदूर्ध्वं सन्ति	1779
जीवे जीवति	1423	ततो वदन	1914	तदेव च पुनः	1939
जेतुं जन्म	298	ततो विगलिताशेष	1940	तदेव प्रक्रमायातं	1268
ज्ञातुर्नाम प्रथमं	1395	ततो विदुर्विभङ्गात्	1715	तद्गुणग्रामसंपूर्णं	2098
ज्ञानपूर्वमनुष्ठानं	467	ततो विधूततन्द्रः	1994	तद्गुणग्रामसंलीनं	2073
ज्ञानबीजं जगद्वन्द्यं	1924	ततो विवेकं	2138	तद्ध्यानं तद्धि	1091
ज्ञानरत्नमपाकृत्य	981	तत्कुर्वन्त्यधमाः	1743	तद्ध्येयं तदनुष्ठेयं	2090
ज्ञानलक्ष्मीघनाश्लेष	1	तत्तत्कारक	1045	तद्विज्ञेयं तदाख्येयं	1578
ज्ञानलक्ष्मीं तपो	2178	तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं	387	तद्विवेच्य ध्रुवं	1130
ज्ञानवैराग्य	1269	तत्त्वे तपसि	793	तद्वीर्यं यमिनां	1318
ज्ञानहीना क्रिया	313	तत्र कृतनिश्चयः	1443	तनावात्मेति	1534
ज्ञानं पङ्गौ क्रिया	314	तत्र कैश्चिच्च	1933	तनुत्रयविनिर्मुक्तं	1162
ज्ञानादेवेष्ट	308	तत्र जीवत्यजीवच्च	405	तनुत्रयावृतः	1586
ज्ञानार्णवस्य	2230	तत्र जीवादयः	415	तन्न लोके परं	809
ज्ञानावृतिकरं	1668	तत्र ताम्रमयाः	1758	तन्नामग्रहणात्	2180
ज्ञायेत यदि	1417	तत्र त्रियोगिनां	2152	तन्नात्र सुलभं	1854
ज्ञेयं प्रक्षीण	2167	तत्र पुण्याशयः	274	तन्नास्ति जीवलोके	528
ज्योतिर्मयं मम	1544	तत्र बाह्यं तपः	196	तपस्तरल	361

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तपस्तावद्बाह्यं	200	तिर्यग्वहत्यविश्रान्तः	1371	दहति दुरित	811
तपः कुर्वन्तु वा	805	तिलादप्यति	1769	दहत्येव क्षणार्धेन	1262
तपःश्रुतकृताभ्यासाः	760	तृणकण्टक	1299	दह्यमाने जगत्यस्मिन्	291
तपःश्रुतधृति	775	तृणाङ्कुरमिवादाय	585	दानदाक्षिण्य	743
तपःश्रुतयम	513	तृष्णा भवति	1767	दानसन्मान	678
तपःश्रुतयम (Change)	1099	तेन ज्वालाकलापेन	1890	दारुपट्टे शिला	1310
तपःश्रुतयमाधारं	931	तेनाचिन्त्यप्रभावेण	1903	दिक्चक्रं दैत्य	1105
तपःश्रुतयमोद्युक्त	1277	तेषां पूर्वमहं	1857	दिग्दलाष्टक	2009
तपोयमसमाधीनां	486	तैरेव फलमेतस्य	165	दिग्दलेषु ततः	1954
तयोर्भेदापरिज्ञानात्	1515	तैरेव हि	384	दिङ्मूढमथ	617
तरलतडिदुग्र	1434	तौ लोकगगनान्तस्थौ	2205	दिवा सूर्यकरैः	891
तर्कयेज्जगदुन्मत्तं	1596	त्यक्त्वा विवेक	240	दिव्यपुष्पानकाशोक	2055
तव गन्तुं प्रवृत्तस्य	371	त्यजन्ति वनिता	757	दिव्यरूपधरं	2038
तस हृंत	1410	त्यजाविद्यां भज	261	दिव्याकृति	1814
तस्माच्च्युत्वा	2137	त्याज्य एवाखिलः	827	दीव्यन्नाभिरयं	244
तस्मात्प्रशमं	938	त्रिकालगोचरानन्त	449	दुरन्तदुरिताक्रान्तं	10
तस्माद्यदि	232	त्रिकालविषयं	1491	दुरन्तदुरिताराति	231
तस्मिन्नपि मनुष्यत्वे	1722	त्रिकालविषयं(Change)	2007	दुरिततिमिर	470
तस्मिन्निरन्तराभ्यास	2068	त्रिकालविषयाशेष	2212	दुर्दमेन्द्रिय	1018
तस्मिन्नेव क्षणे	2196	त्रिधा लक्षण	1344	दुर्दृशामपि न	301
तस्मिन् मनोजवैः	1860	त्रिप्रकारः स	1517	दुर्ध्यानाद्दुर्गतेः	280
तस्य चारं गतिं	1351	त्रियोगी पूर्ववत्	2160	दुर्ध्यानाज्जन्म	279
तस्य प्रयोजकं	2021	त्रिवर्गं तत्र	251	दुःखखानिः	689
तस्य मध्ये	1881	त्रिशुद्धिपूर्वकं	385	दुःखज्वलन	46)
तस्य रेफात्	1889	त्रैलोक्यतिलकीभूतं	2225	दुःखमत्वादयं	326
तस्य लोकत्रयैश्वर्यं	2071	त्रैलोक्यनाथ	1827	दुःखमेव धन	855
तस्य सत्यं श्रुतं	874	त्रैलोक्यानन्द	2079	दुःखमेवाक्षजं	1022
तस्यानन्तप्रभावस्य	256	त्वरितः शीतलः	1370	दुःप्रज्ञाबललुप्त	377,927,1179
तस्याः प्रशान्तये	22	त्वामेव वञ्चितुं	1039	दुःसहा निष्प्रतीकारा	1708
तस्यैवाविचलं	1164	दक्षिणामथवा	1419	दूयते यस्तृणेन	519
तावद्धत्ते प्रतिष्ठां	764	दक्षो मूढः	632	दूषयन्ति दुराचारा	34
तावद्धत्ते मुनिः	732	दत्ते स्थितिं	422	दृग्बोधचरणानि	912
तावन्मां पीडयत्येव	1481	दश ग्रन्थाः	821	दृग्बोधनयनः	1066
ताश्च संवेग	55	दशदोषविनिर्मुक्तां	894	दृग्बोधरोधकं	2172
तितिक्षा मार्दवं	220	दशलक्ष्मयुतः	202	दृग्बोधादि	929
तितीर्षति ध्रुवं	494	दशाङ्गभोगजैः	1864	दृग्वीर्यादि	253
तिर्यग्लोकसमं	1880	दशाङ्गभोगसंभूतं	2133	दृढः स्थूलः स्थिरः	1589

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दृश्यन्ते भुवि किं	382,926	धर्मनाशे क्रियाध्वंसे	545	न चास्य भुवने	1975
दृष्टश्रुतानुभूतैः	1209	धर्मबुद्धयाधमैः	500	न चेतः करुणा	334
दृष्टिपातो भवेत्	741	धर्मश्चार्थश्च	250	न चेदयं मां	959
दृष्टिमोहप्रकोपेन	1673	धर्मं धर्मं	219	न जने न वने	582
दृष्ट्वा श्रुत्वा	798	धर्मः शर्म	222	न तत्क्रुद्धाः	655
देवदेवः स	2067	धर्माधर्म	414	न तत्त्रिजगती	209
देवदैत्योरग	664	धर्माधर्म (change)	428	न तत्र दुःखितः	1809
देवनारकयोः	454	धर्माधर्मैक	431	न तत्र बान्धवः	1757
देवराज्यं समासाद्य	2131	धर्मो गति	2204	न तत्र सुजनः	1710
देवलोके नृलोके	127	धर्मो गुरुश्च	211	न तथा चन्दनं	550
देवः सो ऽनन्त	2227	धर्मो नरोरगाधीश	205	न तदस्ति	669
देवागमयति	1280	धर्मो व्यसन	206	न तद्दृष्टं श्रुतं	659
देवासुरनतं	1920	धारयन्त्यमृतं	642	न तद्दुःखं सुखं	128
देहात्मदृङ् न	1605	धीर धैर्यं	693	न दानं न च	654
दैन्यशोक	1274	धूमावल्य इव	648	न दृश्यन्ते ऽत्र	1737
दोषान् गुणेषु	676	धूर्तकामुक	893	न धर्मसदृशः	216
द्यूतकारसुरा	1293	ध्याता ध्यानमितः	287	ननु सन्ति जीव	697
द्रव्यक्षेत्रतथा	125	ध्याता ध्यानं तथा	288	न पश्यति तदा	2119
द्रव्यभावोद्भव	252	ध्यातारस्त्रिविधाः	1330	न पिशाचोरगाः	630
द्रव्यं चैकमणुं	2169	ध्यानतन्त्रे निषिध्यन्ते	319	न प्रमादजयः	292
द्रव्यादिकमथ	394	ध्यानध्वंस	1301	न मज्जति मनः	877
द्रव्याद्युत्कृष्ट	1685	ध्यानमेवापवर्गस्य	1186	नमन्ति पाद	210
द्वयोरनादिः	412	ध्यानसिद्धिर्मता	372	नयन्तं परम	1930
द्वयोरपि समं	516	ध्यानसिद्धि	1086	नयन्ति विफलं	1003
द्वयोर्गुणैर्मतं	2099	ध्यानस्य च पुनः	1072	नयोपनय	1629
द्वादशान्तात्	1347	ध्यानादेव गुण	1058	नरकस्यैव	1026
द्वारपालीव	188	ध्यानानल	199	नरकान्धमहा	213
द्वासप्ततिः	2195	ध्याने ह्युपरते	1489	नरतुरगकरि	1450
द्विगुणद्विगुणाभोगाः	1773	ध्यायेदनादि	1911	नरत्वं यद्गुणोपेतं	234
द्विगुणाष्टदलाम्भोजे	1912	ध्येयं वस्तु	1487	नरायुषः पाक	1677
द्विपदचतुष्पद	1249	ध्येयं स्याद्वीत	2028	नर्मकौतुक	337
धत्ते नरक	212	ध्रौव्यादि	450	नवकेवललब्धि	2056
धन्यास्ते मुनि	814	ध्वजचामर	1788	नवनीतनिभं	733
धन्यास्ते हृदये	544	न कलत्राणि	1738	नवभेदं मतं	1669
धर्म एव समुद्धर्तुं	1741	न कवित्वाभिमानेन	19	नवमे प्राण	623
धर्मध्यानस्य	2125	न के बन्धुत्व	129	न स को ऽप्यस्ति	97
धर्मध्यानं च	2139	नगग्रामादिषु	1591	न सम्यगगदितुं	203

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न सास्ति काचिद्	541	निरन्तरार्तानल	295	निसर्गमलिनं	156
न सौख्यं चक्षुः	1763	निरालोकं	461	निसर्गेणाति	1663
न स्याद्ध्यातुं	858	निराशतासुधा	876	निस्त्रपाः कर्म	346
न स्याद्विक्षिप्त	883	निरुद्धकरण	2037	निस्त्रिंश इव	515
न स्वामित्वमतः	2117	निरुद्धज्योतिः	1582	निःशङ्कीकुरुते	745
न हि काल	48	निरुध्य करण	1467	निःशेषक्लेश	281
न हि केनापि	21	निरुध्य बोध	1020	निःशेषक्लेश (change)	921
न हि क्षणमपि	618	निरुणद्धि स्थिरीकृत्य	1348	निःशेषनय	1634
न हि भवति	804	निरुणद्धि स्व	1682	निःशेषभव	1494
न हि सत्य	558	निरूप्य च स	24	निःशेषविषयोत्तीर्णं	1107
न हि स्वप्ने ऽपि संजाता	777	निरौपम्यमविच्छिन्नं	2226	निःशेषविषयोत्तीर्णः	1319
न हि स्वप्ने ऽपि संसर्ग	567	निर्णीते ऽस्मिन्	913	निःशेषं धर्म	218
नाडीशुद्धि कुरुते	1438	निर्दग्धं विषयारण्यं	1851	निःशेषाभिमतेन्द्रियार्थ	1046
नाणवो ऽपि गुणाः	828	निर्दयत्वमनार्यत्वं	649	निःसंगत्वं समासाद्य	362
नातिरिक्तं फलं	1466	निर्दयेन हि किं	496	निःसंगः संवृत	1457
नात्मरक्षा न दाक्षिण्यं	584	निर्धूय कर्म	1648	निःसंगो ऽपि मुनिः	823
नानायोनिगतेषु	1272	निर्भरानन्द	2088	निःसार्यते ऽति	1349
नाभिकन्दात्	1350	निर्मथ्य श्रुत	2031	निःस्पृहत्वं महत्त्वं	491
नामकर्मोदयः	1680	निर्मलो निष्कलः	255	नृजन्मनः फलं	249
नायाता नैव	67	निर्लेपो निष्कलः	1520	नृजन्मन्यपि यः	555
नारकायुःप्रकोपेन	1679	निर्विकल्पं मनः	1562	नृपतिगुरू	1407
नारीजघन	723	निर्विण्णैर्भव	699	नेत्रद्वन्द्वे श्रवण	1468
नाल्पसत्त्वैः	597	निर्विण्णो ऽसि	270	नेष्टघटने	1393
नासत्पूर्वाश्च	1480	निर्वेदपदवीं	198	नैराश्यमनु	788
नासने शयने	628	निशातं विद्धि	463	नो ऽरण्यान्नगरं	1174
नासाग्रदेशविन्यस्ते	1336	निशादिनविभागः	1781	न्यञ्चन्मस्तक	572
नासाग्रदेशसंलीनं	2001	निश्चलीकुरु	773	न्यायमार्गोपपन्ने	948
नासादयसि	51	निष्कलङ्कं	45	पञ्च पञ्च	475
नासाप्रवाह	1414	निष्कलस्य	2103	पञ्चमहाव्रत	474
निखिलभुवन	1615	निष्कलः करणातीतः	2216	पञ्चमे दह्यते	622
नित्यतां केचित्	304	निष्कलः परमात्मा	2110	पञ्चवर्णमयीं	1969
नित्यानन्दमयं	922	निष्क्रियं करणातीतं	2144	पञ्चवर्णमहा	1796
नित्यानन्दमयीं	1132	निष्पन्दीकृत	373	पञ्चव्रतसमित्यश्च	476
नित्योत्सवयुतं	1795	निष्पादितः स	226	पण्यस्त्रीकृत	1291
निद्रातन्द्राभय	2214	निष्पीडयन्ति	1753	पदान्यालम्ब्य	1910
निन्दितां निन्द्य	766	निसर्गचपलं	328	परद्रव्यग्रहार्तस्य	578
निमग्नोन्मग्नतां	1642	निसर्गचपलैः	1029	परपरितोष	960

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परमात्मा परं	1477
परमांसानि	1761
परमेष्ठी परं	2217
परमाणोः परं	512
परवित्तामिषासक्तः	1724
परस्परप्रदेशानु	437
परस्येव न	106
पराधीनसुखास्वाद	1613
परिग्रहमहा	1746
परिभवफल	695
परिस्फुरति	1627
परीषहमहा	358
परीषहरिपु	840
परोपरोधादपि	571
पर्जन्यपवनार्केन्दु	207
पर्यङ्कदेश	1335
पर्यङ्कमर्ध	1311
पर्यन्तविरसं	598
पवनवलय	230
पवनः प्रवेश	1422
पवित्रितधरा	2050
पवित्रीक्रियते	201
पाकः स्वयमुपायाच्च	193
पातयन्ति	71
पातयामि जनं	1243
पातयित्वा महा	1747
पाताले ब्रह्म	114
पादपङ्कज	1087
पादपीठीकृत	2049
पापाभिचार	340
पापाशयवशात्	276
पार्थिवी स्यात्	1879
पिण्डस्थं च	1877
पीडयत्येव	612
पुण्यात्मनां गुण	792
पुण्यानुष्ठानजातानि	577
पुण्यानुष्ठानजातेषु	843
पुण्यानुष्ठानजातैः	1214
पुण्यानुष्ठानसंभूतं	750
पुण्याशयवशात्	275
पुत्रमित्रकलत्राणि	152
पुनात्याकर्णितं	271
पुरक्षोभेन्द्र	342
पुस्तोपल	740
पूरणे कुम्भने	1465
पूर्णा वरुणे	1398
पूर्णे पूर्वस्य	1394
पूर्वमात्मानमेव	933
पूर्वानुभूत	601
पूर्वाशाभिमुखः	1324
पृथक्करोति यः	1084
पृथक्त्वं तत्र	2155
पृथक्त्वे तु यदा	2166
पृथक्त्वेन	2153
पृथगित्थं न	1559
पृथग्दृष्ट्वात्मनः	1594
पृथग्भावमति	2109
पृथिव्यादिविभेदेन	400
पृष्टैरपि न	542
प्रकुप्यति नरः	635
प्रकृतिप्रदेशबन्धौ	438
प्रकृत्यादिविकल्पेन	434
प्रक्षरन्मूर्ध्नि	1948
प्रचण्डपवनैः	299
प्रच्यवन्ते ततः	120
प्रणवयुगलस्य	2003
प्रणवाद्यस्य	2010
प्रतिक्षणं द्वन्द्व	294
प्रतिपत्रसमासीन	1887
प्रतिसमयमुदीर्णं	2135
प्रतीकारशतेनापि	103
प्रत्यनीके समुत्पन्ने	966
प्रत्यहं प्रति	2012
प्रत्यासत्ति समायातैः	776
प्रत्याहृतं पुनः	1460
प्रत्येकमेकद्रव्याणि	419
प्रत्येकं तु	1201
प्रथमे ऽह्नि	1389
प्रथमे जायते	621
प्रपश्यति यथा	704
प्रबलध्यान	1474
प्रबोधाय विवेकाय	8
प्रभावमस्य	1956
प्रभावलय	1993
प्रमाणनय	1625
प्रमाणीकृत्य	495
प्रमादमदमुत्सृज्य	1720
प्रमादविषम	266
प्रयासैः फल्गुभिः	1115
प्रवृद्धमपि	627
प्रशमयमसमाधि	1106
प्रशमादिसमुद्भूतः	1666
प्रशस्तेतर	1196
प्रशान्तमति	7
प्रशाम्यति विरागस्य	1126
प्रसन्नामल	1807
प्रसन्नोन्नत	566
प्रसादयति	35
प्रसादयितुमुद्युक्तैः	1973
प्रसादः क्रियतां	1830
प्रसीद जय	1832
प्रसीद शान्ति	2112
प्रसृतं बहुधा	453
प्रस्रवन्नवभिः	158
प्राकारपरिखा	1797
प्राकृताय न	929
प्रागसंयमं	1600
प्रागेव भावना	439
प्रागेवालोक्य	892
प्राङ्मया यत्कृतं	946
प्राणस्यायमने	1464

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राणात्ययेऽपि	962
प्रातस्तरं	80
प्राप्नुवन्ति शिवं	447
प्राप्नुवन्त्यति	549
प्रायः शरीर	778
प्रासासिक्षुर	1662
प्रोत्तुङ्गमान	979
प्रोद्यत्संपूर्ण	1981
फेनपुञ्जे ऽथवा	91
बकवृत्तिं समालम्ब्य	998
बन्दिगायक	1811
बन्धमोक्षावुभौ	1549
बलाद्विदार्य	1760
बलिभिर्दुर्बलस्यात्र	509
बहिरन्तस्ततः	746
बहिर्भावानतिक्रम्य	1519
बहूनि कर्माणि	2083
बह्वारम्भपरि	1251
बालार्कसंनिभः	1372
बाह्यात्मानमपास्य	1536
बाह्यान्तर्भूत	265
बाह्यान्तर्भूत (change)	864
बाह्यान्तर्भूतभेदेन	820
बाह्यानपि च	846
बिन्दुमात्रं न	1768
बिन्दुहीनं कला	1936
बीभत्सानेक	721
बुद्धः कैश्चित्	1922
बुभुक्षा जायते	1766
बोध एव दृढः	462
ब्रह्मचर्यच्युतः	758
ब्रह्मचर्यविशुद्धयर्थं	768
ब्रह्मव्रतमिदं	596
भजन्ति जन्तवः	1167
भयलज्जाभिमानेन	801
भयवेपित	510
भयशोकदुःख	1376
भवक्लेशविनाशाय	258
भवज्वलनसंभूत	1185
भवज्वलनसंभ्रान्त	3
भवन्त्यति	1169
भवप्रभवदुर्वार	18
भवप्रभवसंबन्ध	2093
भवभ्रमणनिर्विण्णाः	355
भवभ्रमणविभ्रान्ते	40
भवाब्धिप्रभवाः	58
भवोद्भवानि	167
भव्यतैव हि	2077
भव्यः पर्याप्तकः	390
भव्याभव्यविकल्पः	407
भस्मभावमसौ	1895
भामण्डल	2051
भावनास्वासु	1283
भावयस्व तथा	1154
भावाः पञ्चापि	429
भाविनो वर्तमानत्वं	427
भित्त्वा भुवं	1255
भुक्ताः श्रियः	350
भुवनाम्भोज	2
भूतहिंसाकरी	896
भूतादिगृहीतानां	1397
भूपः कृमिर्भवति	130
भृशं दुःखज्वाला	49
भेत्तुं शूलमसिं	684
भेदविज्ञ यथा	1603
भोगा भुजङ्ग	62
भोगा भोगीन्द्र	1213
भोगिदष्टस्य	620
भ्रमन्तं प्रति	1983
भ्रमन्ति नियतं	402
भ्रातरः पितरः	581
भ्रूभङ्गारम्भ	111
भ्रूलताचलनैः	756
भ्रूवल्लीविक्रिया	1337
मङ्गलशरणोत्तम	1971
मतिश्रुतावधि	451
मत्तोन्मत्तादि	1604
मदमत्तोद्धत	1631
मदान्धेनाति	1730
मदान्धैः कामुकैः	769
मदीयमपि चेत्	947
मद्यतूर्यगृह	1865
मधुकरपतङ्ग	1449
मध्यभागस्ततः	1771
मनस्तनुवचः	170
मनस्यन्यत्	661
मनः कृत्वाशु	1088
मनः कृत्वा सुनिष्कम्पं	2018
मनः प्रीणयितुं	360
मनःप्रीतिप्रदे	1306
मनःशुद्धचैव	1085
मनुष्यत्वं समासाद्य	1717
मनुष्यत्वं समासाद्य (change)	348
मनो ऽभिमत	807
मनोज्ञवस्तु	1210
मनोज्ञविषयैः	89
मनोभवसमं	670
मनो मिलति	744
मनोरोधे भवेत्	1077
मन्त्रमण्डल	2081
मन्त्रमूर्तिं समादाय	1923
मन्त्रः प्रणव	2016
मन्दवीर्याणि	1683
मन्दारचम्पकाशोक	1791
मन्ये ऽसौ लोक	208
मन्ये पुरजलावर्त	548
मन्ये मुक्तः स	446
मन्ये शृङ्गार	1803
मम शक्त्या	1479
ममापि चेद्द्रोहं	957

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मयात्मापि न	1476
मयाद्यैव विनिश्चेयं	1485
मयि सत्यपि	1552
मय्येव विदिते	1652
मरणार्तेषु	1276
मर्मच्छेदि मनः	543
महत्त्वहेतोः	885
महातत्त्वं महा	1949
महातिशय	214
महाप्रभाव	1862
महाप्रशम	1119
महामतिभिर्निष्ठ्यूतं	569
महामतिभिर्निःशेष	13
महाव्यसनसप्तार्चिः	1643
महाव्यसनसंकीर्णे	133
महाव्रतविशुद्ध्यर्थं	887
माणिक्यरोचिषां	1785
माता पुत्री स्वसा	131
मानग्रन्थिः	978
मानमालम्ब्य	983
मानुषोत्तर	1774
मानुष्ये ऽपि	1729
मामेवोद्दिश्य	1826
मायैव विश्वास	1001
मार्गमासाद्य	238
मार्जारभक्षिते	860
मार्जाररसिते	331
मालतीव मृद्वन्यासां	719
मासे मासे	729
मिथ्यात्वप्रतिबद्ध	155
मिथ्यात्ववेद	825
मिथ्यात्वादि	794
मिथ्यात्वाविरतिक्रोध	1703
मिथ्यात्वाविरतियोंग	435
मीना मृत्युं	1047
मुक्तिरेव मुनेः	1588
मुक्तिश्रीवक्त्र	42
मुक्तेरविप्लुतैव	993
मुख्योपचार	1326
मुग्धप्रतारण	1002
मुच्येताधीत	1612
मुनिभिः संजयन्ताद्यैः	2020
मुनेर्यदि मनः	1564
मुमुक्षुर्जन्म	289
मुष्णाति यः	987
मूकता मति	564
मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ	395
मूर्खास्तपोभिः	1117
मूर्तैर्विचेतनैः	149
मूर्तो व्यञ्जन	433
मूलप्रकृतयः	1667
मूले ज्येष्ठस्य	606
मृगाङ्कबिम्ब	1816
मृगेन्द्रविष्टरारूढं	1905
मृगेन्द्रविष्टरारूढं (change)	2053
मृते वा जीविते	480
मैथुनाचरणे कर्म	708
मैथुनाचरणे मूढ	720
मोक्षः कर्मक्षयात्	259
मोहपङ्के परिक्षीणे	1118
मोहपङ्के परिक्षीणे (change)	1156
मोहवह्निमपाकर्तुं	1147
मोहाञ्जनमिव	94
मौनमेव हितं	536
म्लेच्छाधमजनैः	1289
यक्षकिंनर	1789
यक्षिणीमन्त्र	343
यच्चतुर्धा मतं	284
यच्चौर्याय शरीरिणां	1247
यज्जनैरभिबोध्यः	1538
यज्जन्तुवध	483
यज्जन्मकोटिभिः	466
यज्जन्मगहने	1551
यज्जन्मज्वर	1636
यज्जन्मनि सुखं	61
यज्जीवादि	388
यतित्वं जीवनोपायं	345
यतो न तद्गुणानां	2220
यतो व्रताव्रते	1599
यत्कर्मणि न	321
यत्किंचित्संसारे	529
यत्कोष्ठादति	1354
यत्पर्याप्तस्तथा	233
यत्पवित्रं जगत्यस्मिन्	1632
यत्पुरग्राम	1731
यत्र बालश्चरत्यस्मिन्	469
यत्र भावा	224
यत्र यत्र प्रसूयन्ते	1008
यत्र रागः पदं	1133
यत्र रागादयः	1309
यत्राजात्मा रतः	1565
यत्रैते जन्तवः	229
यत्संसारस्य	1144
यत्सुखं नाकिनां	1866
यत्सुखं वीतरागस्य	1053
यत्स्थितः प्राक्	1725
यत्स्वरूपापरिज्ञानात्	1501
यथात्र शुद्धि	800
यथा धातोर्मलैः	411
यथा बालं तथा	107
यथा यथा मनः	1089
यथा यथा मुनिः	803
यथा यथा हृदि	526
यथा यथा हृषीकाणि	1023
यथा सद्यः	727
यथोत्पाताक्षमः	1135
यदक्षविषयं	1576
यदक्षविषयोद्भूतं	1017
यदग्राह्यं बहिः	1497

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदज्ञानाज्जन्मी	1511	यद्वद्देशान्तरात्	79	यः संगपङ्क	838
यदत्यन्तसुखाद्	1614	यद्विशुद्धेः परं	472	यः संयमधुरां	531
यदत्र प्रणवं	2000	यन्निमेषमपि	1734	यः सिद्धात्मा	1557
यदबोधे मया	1543	यन्मया वञ्चितः	1726	यः स्वभावोत्थितां	1161
यदमी परिवर्तन्ते	426	यमजिह्वानल	660	यः स्वमेव	1539
यदसाध्यं तपोनिष्ठैः	1096	यमप्रशमजं	842	यातनारुक्	1770
यदाभ्यासवशात्	2074	यमप्रशमनिर्वेद	172	यातायातानि	92
यदायुरधिकानि	2186	यमप्रशमराज्यस्य	868	याति सार्धं	215
यदि क्रोधादयः	1011	यमव्रतगुणोपेतं	554	याति सार्धं	1745
यदि दृष्टः श्रुतः	105	यमादिषु कृताभ्यासः	1074	यानपात्रमिव	819
यदि नरक	223	यमाराध्य शिवं	2065	या निशा सर्व	924
यदि प्रशम	955	यमिभिर्जन्म	696	यान्त्येव न	86
यदि प्राप्तं त्वया	639	यया कर्माणि	191	यान्यत्र प्रतिबिम्बानि	1856
यदि मूर्ताः प्रजायेरन्	690	यस्तपस्वी जटी	561	यामासाद्य त्वया	656
यदि रोद्धुं न	2113	यस्तपस्वी व्रती	728	या मुहुर्मोहयत्येव	546
यदि वाक्कण्टकैः	952	यस्माच्छन्दात्मकं	1946	यावदात्मास्थया	1583
यदि विषय	817	यस्मिन्नसति	1427	यावदाशानलः	875
यदि संवेग	268	यस्मिन् सत्येव	1143	यावद्यावच्च	1654
यदि साक्षात्	1999	यस्मिन् संसार	102	यावद्यावच्छरीराशा	865
यदिह जगति	1061	यस्य चित्तं	1098	यावन्तः कुरुते	859
यदीदं शोध्यते	162	यस्य ध्यानं	1181	यावन्ति सन्ति	1749
यदीन्दुस्तीव्रतां	663	यस्य प्रज्ञा	318	या संसारनिमित्तस्य	181
यदैक्यं मनुते	141	यस्य राज्याभिषेक	82	यासां संकल्प	737
यदैव संयमी	1183	यस्य वागमृतस्य	2066	यासां सीमन्तिनीनां	763
यदैवेदं महातत्त्वं	1926	यस्य विज्ञान	2048	यास्यन्ति निर्दया	73
यद्देवमनुजाः	2209	यस्य हेयं	925	युक्त्या वृषभ	2045
यद्बोधानन्त	1504	यस्य हेयं (change)	1165	ये केचित्सिद्धान्ते	1006
यद्यत्स्वस्यानिष्टं	221	यस्यानुध्यान	1499	ये जाता रिपवः	68
यद्यद्दृश्यमिदं	1537	यस्या निशि	923	ये जाताः सात	93
यद्यद्य कुरुते	941	यस्याः संसर्ग	738	ये तदा शशक	1728
यद्यद्वस्तु शरीरे	160	यस्यैव कर्मणः	971	ये दृष्टिपथं	60
यद्यपि दुर्गति	1041	यः कर्मपुद्गलादान	180	येन येन निवार्यन्ते	1009
यद्यपि समीर	1431	यः प्रमाणनयैः	2100	येन येन सुखासीनाः	1312
यद्यपूर्वं शरीरं	65	यः प्राणायाम	1360	येन येन हि	2076
यद्याशा शान्ति	867	यः शमः प्राक्	954	येनैते विदलन्ति	1638
यद्रागं सन्ध्ययोः	686	यः श्वभ्रान्मां	970	ये याता यान्ति	910
यद्वक्तुं न बृहस्पतिः	694	यः समीप्सति	574	ये ये त्रिजगती	95

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ये ये संबन्धं	151
येषामाशा कुतः	872
येषां वाग्भुवनोपकार	815
यैः प्राक्पर	1762
यैः सुप्तं हिम	378
योगनिद्रा स्थिति	1284
योगीश्वरं	2060
योग्यता न	320
योजयत्यात्मना	1593
यो जिनैर्जगतां	537
यो धर्मं दहति	976
योनिरन्ध्रमिदं	718
यो विशुद्धः	1547
योषिद्विषय	600
रजस्तमोभिः	41
रत्नत्रयमनासाद्य	386
रत्नत्रयसुधा	2057
रत्नाकर इव	1340
रागद्वेषभ्रमाभावे	1122
रागद्वेषविषोद्यानं	1138
रागद्वेषादि	1885
रागद्वेषौ समत्वेन	185
रागादिगहने	1140
रागादिदहन	1853
रागादिपङ्क	1124
रागादिभिरविश्रान्तैः	1123
रागादिमल	1561
रागादिवागुरा	1286
रागादिविजयः	833
रागादिविपिनं	1155
रागादिवैरिणः	1145
रागाद्यभिहतं	1121
रागाद्युग्ररुजा	2140
रागी बध्नाति	1129
राज्यैश्वर्यकलत्र	1208
राज्यन्तयाम	1409
रिपुत्वेन समापन्नाः	69
रिपुशस्त्र	1412
रुद्धे प्राणप्रचारे	375
रुद्रः क्रूराशयः	1224
रुद्राशयभवं	1223
रुद्राशागज	112
रूपाण्येकानि	123
रूपायुर्बल	1567
रेचनादुदर	1345
रेचयति ततः	1433
रेफरुद्धं कला	1888
रौरवादिषु घोरेषु	488
लघुपञ्चाक्षरोच्चार	2202
लब्ध्वापि यत्	1675
लीलावनविहारैश्च	1792
लुप्यते मानिनः	980
लुप्यते विषय	837
लोकद्वयविनाशाय	936
लोकद्वयविशुद्ध्यर्थं	771
लोकद्वयहितं	992
लोकपूरणं	2189
लोकाकाश	424
लोकाग्रशिखरासीनं	2102
लोकानुरञ्जकैः	335
लोचनेषु मृगाक्षीणां	753
लोष्टं च वारिणा	161
लोष्टेष्वपि यथा	1068
वक्तुमपि लज्जनीये	715
वज्रकाया महा	1314
वज्रज्वलन	643
वदन्ति योगिनः	2096
वन्ध्याङ्गजस्य	680
वपुर्विद्धि	59
वपुष्यात्ममतिः	1533
वपुष्यात्मेति	1532
वयमिह परमात्म	975
वरमाज्यच्छटोन्नद्धः	701
वरमालिङ्गिता	645
वरमेकाक्षरं	497
वरुणमहेन्द्रौ	1413
वरुणे त्वरितः	1401
वर्णयुग्मं श्रुत	1966
वर्धते गृद्धिः	1030
वर्धमानमहोत्साहाः	1817
वर्धयन्ति स्व	78
वर्षति भौमे	1405
वर्षातपतुषाराढ्यः	1665
वर्षातपतुषारादि	1308
बर्षातपतुषारादि (change)	1782
वश्याकर्षण	341
वश्याञ्जनानि	651
वस्तुजातमिदं	63
वस्तुतत्त्वं स्व	1622
वस्तुतत्त्वापरि	305
वह्निबीजसमा	1893
वह्नि विशति	75
वाक्कायचित्त	889
वाक्कायाभ्यां पृथक्	1573
वाक्चित्ततनुभिः	479
वाक्पथातीत	366
वाक्पथातीत (change)	1985
वाक्पथातीत (change)	2223
वाग्देव्याः कुल	1637
वाचस्पतिरपि	1178
वातातपतुषाराद्यैः	1333
वामायां विचरन्तौ	1382
वामा सुधामयी	1390
वामेन प्रविशन्तौ	1380
वायोः संचार	1461
वारुण्यां स हि	1900
वार्धक्येन वपुः	779
वार्धेरन्तः समादत्ते	171
वासनाजनितं	703
वासनाजनितान्येव	1069

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वासीचन्दन 967
वास्तु क्षेत्रं 822
विकल्पा न 1356
विकसत्याशु 1346
विकीर्यंते मनः 1288
विक्रमैकरसः 109
विघ्नबीजं विपन्मूलं 1027
विचरन्त्यः कुशीलेषु 650
विचर्य्यासत्य 538
विचारचतुरैः 47
विचित्रैर्वंध 953
विजने जन 854
विजने जन (change) 1323
विजन्तुकधरा 901
विज्ञातमपि 1500
विज्ञानविनयोद्दाम 1808
विज्ञानादित्रिवर्गे 311
विज्ञेयः संमुखे 1415
विडम्बन्ति जनाः 1297
विडम्बयत्यसौ 121
वित्तपुत्रकलत्रादि 137
वित्तमेव मतं 575
वित्तवृत्तबलस्य 629
वित्तहीनो जरी 683
विदन्ति परमं 593
विद्यामण्डल 1909
विद्यां जपति 2006
विद्यां षड्वर्ण 1964
विधाय मायां 1000
विधाय वञ्चकं 1239
विधुर्वधूभिः 685
विद्धि वृद्धानुसेवेयं 781
विद्धचर्हिंसैव 521
विध्याति कषायाग्निः 245
विनाञ्जनेन 672
विनिर्गतमधूच्छिष्ट 2104
विनीतवेष 1839
विनीताः काम 1802
विन्ध्याद्रिर्नगरं 374
विपन्महापङ्क 296
विभ्रमन्विषयारण्ये 1094
विमानपथं 1896
विरज्य काम 269
विरज्य काम (change) 356
विरज्य काम (change) 603
विरज्य काम (change) 1149
विरज्याशेष 726
विरम विरम 812
विलयं वीतरागस्य 2197
विलीनविषयं 1104
विलीनाशेष 1686, 1875, 1906, 2032
विलोक्य भुवनं 37
विविच्य तद्गुण 2097
विवेकवार्धि 1339
विशन्ति नरकं 587
विशुद्धबोध 367
विशुद्धादर्श 1495
विशुद्धाष्टगुणोपेतं 1496
विशुध्यति जगत् 759
विशुध्यति हुताशेन 194
विश्वमूर्तिः परं 2059
विश्वरूपमवि 1493
विश्वविद्यासु 799
विश्वव्यापार 174
विश्वासानन्दयोः 1574
विषज्वलन 1736
विषमध्ये सुधा 679
विषयग्रास 1092
विषयविपिन 884
विषयविरति 592
विषयाशाभि 1014
विषयाशामपाकृत्य 1718
विषयेषुं न 1579
विषयेषु भवेत् 1042
विषयेषु यथा 1024
विषस्य काल 1031
विषायते स्मृतं 1189
विस्तरेणैव 272
विस्फुरन्तमति 1982
विस्फुलिङ्गनिभे 1260
विस्मृतं यदि 1765
विहाय कल्पना 189
विहाय धर्मं 499
विहाय सर्वं 902
वीणामादाय 1793
वीतरागस्य 2030
वीतरागं स्मरन् 2080
वीतरागो भवेत् 2029
वृद्धानुजीविनां 789
वृद्धोपदेश 785
वेत्त्यविद्या 1526
वेदनीयं विदुः 1670
वेष्टयत्यात्मना 465
वेष्टितः पवनैः 225
वैक्रियिकशरीरत्वात् 1756
वैरं पराभवं 1751
वैरिवारणदन्ताग्रे 674
व्यतिरिक्तं तनोः 1598
व्यस्तः प्रथमे 1386
व्यालानलगर 217
व्योमाकारं 2101
व्रजन्तं तालु 1984
व्रजन्तं भुवनाभोगे 1898
व्रतश्रुतयम 557
व्रती निःशल्य एव 994
शक्यते न यथा 2221
शक्यते न वशी 293
शक्रो ऽपि न 878
शङ्काशोकभय 1222
शङ्खेन्दुकुन्द 2002

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शतमष्टोत्तरं	1961	शृङ्गारसार	1801	स को ऽपि स्मर्यतां	657
शतमाशीतं	306	शोचन्ति स्वजनं	101	सततारम्भ	177
शतांशमपि तस्य	285	श्रियमात्यन्तिकीं	1955	सतां विज्ञाततत्त्वानां	553
शनैः शनैर्मनः	1355	श्रियं सकल	5	सतीत्वेन महत्त्वेन	698
शब्दाच्छब्दान्तरं	2163	श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य	17	सत्तत्त्वनिकषोद्भूतं	774
शमकस्य क्रमात्	2124	श्रीमत्सर्वज्ञदेवोक्तं	1626	सत्याद्युत्तरनिःशेष	478
शमश्रुतयमोपेताः	1103	श्रीमत्सर्वज्ञनिर्दिष्टं	1641	सत्संयमधुरा	357
शमाम्बुभिः क्रोध	1007	श्रीवीरवदनोद्भूतां	2005	सत्संयमधुरां	323
शयनासनेषु	1408	श्रुतज्ञानार्थ	2148	सत्संयमपयःपूर	4
शय्यासनाभि	899	श्रुतस्कन्धनभः	6	सत्संयममहा	928
शरच्चन्द्रनिभं	1884	श्रुतस्कन्धमहा	2164	सत्संसर्गसुधा	784
शरदिन्दुधाम	1435	श्रुतं सत्यं तपः	747	सद्दर्शनमहारत्नं	442
शरीरत्वं न ये	84	श्रुतिसिन्धु	2025	सन्मतिं सुगतं	2061
शरीरमेतदादाय	166	श्रुते दृष्टे स्मृते	1232	सन्मार्गात् प्रच्युतं	2086
शरीरं शीर्यते	72	श्रुतेन विकलेनापि	1328	स पश्यति मुनिः	1141
शरीराद्भिन्नं	1597	श्रुतैर्दृष्टैः स्मृतैः	1206	सप्तद्वीपवती	505
शरीराहार	802	श्रूयते सर्वशास्त्रेषु	502	सप्तधातु	1904
शाकेनापीच्छया	1004	श्रूयन्ते संवृत	1316	सप्तधातु (change)	2035
शान्त्यर्थं देव	489	श्वपाकोलूक	565	सप्तभिस्त्रिदशानीकैः	1799
शाम्यन्ति जन्तवः	1166	श्वभ्रे शूलकुठार	132	सप्तानां प्रशमात्	392
शाम्यन्ति जन्तवः (change)	2008	षट्शताभ्यधिकान्याहुः	1442	सप्रपञ्चं	594
शाम्यन्ति योगिभिः	1168	षण्मासायुषि	2185	सभाभवनमेतत्ते	1838
शिरीषसुकुमाराङ्गाः	1815	षष्टिर्विज्ञान	307	सभ्यसामानिकामात्य	1810
शिवाभ्युदयदं	1721	षोडशप्रमितः	1441	समग्रं स्वर्गसाम्राज्यं	1847
शिवाश्वव्याघ्र	1705	स एव नियतं	1502	समत्वं भज	53
शिवो ऽयं वैनतेयः	1059	स एवाहं स	1554	समन्तभद्रादि	14
शीतभूमिष्वपि	1701	स एव प्रशमः	964	समभ्यस्तं सुविज्ञातं	1570
शीलशालमति	626	सकलजलधि	506	समयादिकृतं	425
शुचिगुणयोगात्	2145	सकलज्ञानसाम्राज्य	1974	समस्तो ऽयमहो	1874
शुद्धं काले परैः	898	सकलज्ञानसाम्राज्यं	1134	समाकृष्य यदा	1353
शुभध्यानफलोद्भूतां	278	सकलभुवन	1254	समाकृष्येन्द्रियार्थेभ्यः	1456
शुभाशुभानि	1740	सकलविषय	861	समापतति	98
शून्यवेश्मन्यथ	1307	सकलसमिति	190	सम्यक्त्वमथ	391
शूलचक्रासि	508	सकलं बिन्दु	1432	सम्यक्समाधि	1459
शृङ्खलायां यथा	1541	सकामाकाम	192	सम्यगस्मिन् शमं	1081
शृङ्गारजलधेः	1842	सकृदुच्चारितं	1925	सम्यगेतत्समासाद्य	908
		स को ऽपि परमा	1125	सम्यग्ज्ञानविवेक	973

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्ज्ञानादिकं 257
सम्यग्ज्ञानादि 408
सम्यग्निरूप्य 31
सरांस्यमल 1786
सरितां संगमे 1304
सरित्पुरगिरि 588
सर्वकल्याण 2024
सर्वज्ञं सर्वदं 2062
सर्वज्ञः क्षीणकर्मा 2184
सर्वज्ञाज्ञां पुरस्कृत्य 1639
सर्वतो ऽनन्तं 2213
सर्वत्राप्युप 730
सर्वदैव रुजाक्रान्तं 164
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं 2134
सर्वर्द्धिमहिमोपेतं 1825
सर्वलोकप्रिये 552
सर्वसत्त्वाभय 1977
सर्वसंगपरित्याग 841
सर्वसंगविनिर्मुक्तः 852
सर्वस्तस्य प्रभावः 1852
सर्वाक्षसुखदे 1813
सर्वातिशय 1992
सर्वातिशय (change) 2034
सर्वाभिमत 2136
सर्वावयवनिर्माण 1843
सर्वावयवसंपूर्णं 1935
सर्वावयवसंपूर्णं(change)2105
सर्वावयवसंपूर्णाः 1805
सर्वाशां यः 873
सर्वाशुचिमये 724
सर्वास्रवनिरोधः 179
सर्वे च हुण्ड 1711
सर्वेणातीत 2210
सर्वे ऽपि प्रविशन्तः 1379
सर्वे प्रवेशकाले 1378
सर्वैः सर्वे ऽपि 126
स लोकगगन 420
सवितर्कमवीचारं 2150
सवितर्कं सवीचारं 2149
स विपाक इति 1658
सस्यानां निष्पत्तिः 1406
स स्वयं यदि 2224
सहस्व प्राक्तना 949
सहायः को ऽपि 1742
सहाया अस्य 138
संकल्पवशतः 624
संकल्पाच्छालि 517
संकल्पानन्तरोत्पन्नं 135
संकल्पानन्तरोत्पन्नैः 1861
संक्रान्तिमपि नो 1443
संक्षेपरुचिभिः 273
संग एव मतः 832
संगपङ्कात् 853
संगात्कामस्ततः 831
संगाः शरीरं 834
संगेनापि गुरुत्वं 322
संगैः किं न 50
संग्रामसुरत 1392
संचरति यदा 1424
संचरन्तं दिशां 1929
संचरन्ति जगत्यस्मिन् 731
संत्रासोद्भ्रान्त 583
संदिह्यते मतिः 327
संध्येव क्षण 647
संन्यस्तसर्व 849
संभवन्ति न वा 2092
संभवन्ति महा 944
संभवन्त्यथ 2132
संभूय कुष्टिका 1706
संयतासंयतेषु 1218
संयमोत्तम 930
संयोगे विप्रयोगे 136
संयोजयति 1523
संरम्भादित्रिकं 481
संविग्नस्य प्रशान्तस्य 1463
संविग्नः संवृतः 1322
संवृणोत्यक्ष 1049
संवृतस्य सुवृत्तस्य 826
संसर्गप्रभवाः 749
संसर्गाद्दुर्बलां 765
संसारसंक्रम 1193
साकारं निर्गता 1492
साक्षात्कर्तुमतः 1619
साक्षात्स्वानेव 1530
साक्षादिदमनासाद्य 911
साक्षाद्वस्तु 33
साक्षान्निर्विषयं 2072
सागरान्ते वनान्ते 1303
साधुसंवृत 904
साध्यसिद्धिः 302
साध्वीयं स्यात् 830
सान्द्रसिन्दूर 1950
सामग्र्योरुभयोः 2121
सामायिकादि 473
साम्यकोटिं 1158
साम्यभावित 1160
साम्यमेव न 1182
साम्यमेव परं 1159
साम्यवारिणि 1153
साम्यश्रीर्नाति 1180
साम्यसीमानं 1152
साम्यसूर्यांशु 1151
सारङ्गी सिंह 1172
सिक्तो ऽप्यम्बुधर 605
सितपक्षे रव्युदये 1385
सिद्धकूटे जिनागारे 1305
सिद्धक्षेत्राणि 890
सिद्धक्षेत्रे महा 1302
सिद्धमपि याति 1377
सिद्धस्त्वेकस्वभावः 398
सिद्धात्मा सुप्रसिद्धात्मा 2199

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धान्तसूत्र 903
सिद्धेः सौधं 1972
सिध्यन्ति सिद्धयः 1941
सिवर्णं मस्तकाम्भोजे 2023
सुखदुःखजय 665
सुखदुःखजय (change) 1428
सुखामृतमहा 1818
सुगुप्तेन स्वकायेन 176
सुचिरं सुष्ठु 739
सुतस्वजनदारार्थे 570
सुतस्वजनभूपाल 850
सुतीव्रासात 124
सुतृप्तः सर्वदैव 2218
सुधाम्बुप्रभवैः 1901
सुधांशुरश्मि 787
सुनिर्णीतस्व 1342
सुप्तेष्वक्षेषु 920
सुप्रयुक्तैः 383
सुप्रापं न पुनः 242
सुरं त्रिदश 1525
सुराचल इव 682
सुरायुरारम्भक 1676
सुरासुर 99
सुरेन्द्रप्रतिमा 688
सुरोरगनराधीश 1671
सुरोरगनरैश्वर्यं 85
सुलभमिह 243
सुलभेष्वपि 790
सुवृत्तं बिन्दु 1366
सुसंवृतेन्द्रिय 1556
सूक्ष्मक्रियं ततः 2194
सूक्ष्मक्रिया 2151
सूक्ष्मं जिनेन्द्र 1624
सूत्रे दत्तावधानाः 770
सूनृतं करुणा 535
सेनासंचार 1295
सो ऽयं समरसी 1508
सो ऽहं सर्वगतः 2107
सो ऽहं सिद्धः 1646
सौख्यार्थे दुःख 493
सौधर्माद्यच्युतान्ताः 1868
सौधर्मो ऽयं महा 1833
सौधोत्संगे श्मशाने 1175
स्तम्भादिके महेन्द्रः 1373
स्थानासन 1321
स्थानेष्वेतेषु 1469
स्थितिमासाद्य 2206
स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं 1633
स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतैः 1690
स्थिरीकृतशरीरस्य 905
स्थिरीकृत्य मनः 736
स्थिरीभवन्ति 1359
स्नुषां श्वश्रूं 636
स्फुरद्विमल 1953
स्फुरन्तं नेत्र 1928
स्फुरन्तं भ्रूलता 1927
स्फुरन्ति हृदि 748
स्फुलिङ्गपिङ्गलं 1367
स्फोटयत्याशु 2115
स्मरकर्मकलङ्कौघ 1976
स्मरगरल 1453
स्मरज्वलन 700
स्मरदहन 640
स्मर दुःखानल 1945
स्मरप्रकोप 604
स्मरभोगीन्द्रदुर्वार 818
स्मरभोगीन्द्रवल्मीकं 847
स्मर मन्त्रपदं 2017
स्मर मन्त्रपदाधीशं 2022
स्मर मन्त्रपदोद्भूतां 1962
स्मरव्याल 609
स्मरशीतज्वरातङ्क 702
स्मर सकलसिद्ध 1995
स्मरेन्दुमण्डलाकारं 1978
स्मरोत्संगमपि 671
स्यातां तत्रार्त 1200
स्यादियं योग 2157
स्याद्यद्यत्प्रीतये 1555
स्याद्वादपवि 2039
स्रक्शय्यासन 1660
स्वजनधन 824
स्वजातीयैरपि 856
स्वज्ञानादेव 915
स्वतत्त्वविमुखैः 27
स्वतत्त्वानुगतं 1109
स्वतालुरक्तं 716
स्वपरान्तर 1560
स्वपुत्रपौत्रसंतानं 511
स्वप्नदृष्टविनाशे 1610
स्वप्ने ऽपि कौतुकेनापि 2085
स्वबोधादपरं 1575
स्वभावजनिरातङ्क 364
स्वभावजमनातङ्कं 1127
स्वभावजमसंदिग्धं 2047
स्वयमेव प्रजायन्ते 1265
स्वयमेव हि 2091
स्वयं गन्तुं 421
स्वयं नष्टो जनः 239
स्वयं स्वकर्म 134
स्वर्गी पतति 122
स्वर्णगौरीं स्वरोद्भूतां 1980
स्वर्णाचल इव 368
स्वर्णाचलमयीं 1883
स्वर्विमानमिदं 1836
स्वविभ्रम 1471
स्वविभ्रमोद्भवं 1566
स्वशरीरमिव 1527
स्वसंवित्ति 1012
स्वसिद्ध्यर्थं 32
स्वस्वरूपमति 154
स्वातन्त्र्यमभि 653

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वात्मेतरविकल्पैः	1528	हितोपदेश	369	हृत्कञ्जकर्णिका	1947
स्वान्ययोरप्यनालोच्य	522	हिंसाकर्मणि	1228	हृदि ज्वलति	607
स्वामिगुरुबन्धु	1005	हिंसानन्दात्	1225	हृदि दत्ते तथा	646
हतं ज्ञानं क्रिया	315	हिंसानन्दोद्भवं	1236	हृदि यस्य पदं	579
हते निष्पीडिते	1226	हिंसायामनृते	477	हृदि स्फुरति	1021
हत्वा स्वपुण्य	942	हिंसास्तेयानृताब्रह्म	1702	हृषीकतस्करानीकं	1038
हरिहरपितामहाद्याः	638	हिंसैव दुर्गतेः	490	हृषीकभीमभोगीन्द्र	1019
हस्त्यश्वरथ	1800	हिंसैव नरकागार	484	हृषीकराक्षसाक्रान्तं	39
हंसालीपात	2054	हिंसोपकरणादानं	1237	हृषीकराक्षसानीकं	835
हारकुण्डल	1806	हीनाचरण	780	हृषीकार्थ	57
हिताहितविमूढात्मा	297				

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

3. उक्तं-च तथा तारकाङ्कितक्रमाङ्कयुक्तपद्यानां च अकारादि सूची

(The Numbers of verses in English are put at the beginning, and those in Nāgarī at the end. The *uktaṃ ca* verses are starred at the beginning. All others are those in the square brackets.)

1934 * अकारादि ३५.२२*१
1509 अनन्यशरणः २८.३६*२
527 अन्ययोगव्यवच्छेदात् ८.५४*१
1426 * अमृते प्रवहति २६.११५*१
1388 अरुणोदयवेलायां २६.८२*१
2158 अर्थादर्थं वचः ३९.१६*१
2127 अलौल्यमारोग्यं ३८.१३*१
283 अविद्याविक्रान्तैः ३.३५*१
1233 अहं कदा करिष्यामि २४.१०*१
886 * आचरितानि महद्भिः १७. १*१
1060 * आत्यन्तिकस्वभावोत्था १९. ९*१
351 * इत्थं न किंचिदपि ४.५८*२
2162 * इदमत्र तु तात्पर्यं ३९.१९*१
317 * इदं फलमियं ४.२७*१
1416 * ईडा तोयमयी २६.१०६*१
1194 * उत्कृष्टकाय २३.१४*१
1194 * उत्तमसंहननस्य २३.१४*१
722 * उत्तानोच्छून १३.२२*१
197 उपवासादिभिः २.१४५*१
1195 * एकचिन्तानुरोधः २३.१४*२
139 एकत्वं किं न २.८९*१
2170 * एकं द्रव्यमथाणुं ३९.२३*१
393 * एकं प्रशमसंवेग ६. ६*४
1653 * एको भावः सर्व ३१.१३*१
2165 * एवं शान्तकषायात्मा ३९.१९*४
988 औचित्याचरणं १८.९४*२
1510 * कटस्य कर्ताहं २८.३६*३
1916 * कमलदलोदर ३५. ६*१
895 * कर्कशा परुषा १८. ९*१
330 कान्दर्पी कैल्बिषी ४.३९*१
1234 किं कुर्मः शक्ति २४.१०*२
999 * कुशलजनन १८.१०४*१
1727 कृतः पराभवः ३३.३७*१
1777 * क्वचित्सुखं देव ३३.८४*१
2118 छिन्ने भिन्ने हते ३८. ६*१
1455 * जलबिन्दुं कुशाग्रेण २६.१४१*१
1917 * जापाज्जयेत्क्षयं ३५. ६*२
313 * ज्ञानहीना क्रिया ४.२६*१
314 * ज्ञानं पङ्गौ ४.२६*२
2230 ज्ञानार्णवस्य ३९.८१*१
405 * तत्र जीवत्यजीवच्च ६.१६*१
387 तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं ६. ४*१
1410 * तसहंतरु ससि २६.१०१*२
1491 * त्रिकालविषयं २८.२०*१
280 दुर्ध्यानाद् दुर्गतेः ३.३३*१
382 दृश्यन्ते भुवि ५.२८*१
212 घत्ते नरक २.१५९*१
1072 * ध्यानस्य च पुनः २०. १*१
959 न चेदयं मां १८.६८*१
2119 * न पश्यति तदा ३८. ६*२
804 * न हि भवति १५.३३*१
723 * नारोजघन १३.२२*२
1480 * नासत्पूर्वाश्च २८.१०*१
304 * नित्यतां केचित् ४.२०*१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

922 निल्यानन्दमयं १८.३३*२
2110 * निष्कलः परमात्मा ३७.३०*१
2144 * निष्क्रियं करणातीतं ३९. ४*१
921 निःशेषक्लेश १८.३३*१
474 पञ्चमहाव्रत ८. २*१
438 प्रकृतिप्रदेश ६.४८*१
1389 प्रथमे ऽह्नि २६.८२*२
390 * भव्यः पर्याप्तकः ६. ६*१
350 * भुक्ताः श्रियः ४.५८*१
896 * भूर्तहिंसाकरी १८. ९*२
1865 मद्यतूर्यगृह ३३.१६९*१
1077 * मनोरोधे भवेत् २०. ५*१
1001 * मायैव विश्वास १८.१०४*३
860 मार्जारभक्षिते १६.३८*२
825 * मिथ्यात्ववेदरागाः १६. ५*१
1002 * मुग्धप्रतारण १८.१०४*४
987 मुष्णाति यः १८.९४*१
395 * मूढत्रयं मदाः ६. ७*१
1117 मूर्खास्तपोभिः २१.१०*१
1354 * यत्कोष्ठादति २६.४९*२
1731 यत्पुरग्राम ३३.४०*१
1427 * यस्मिन्नसति २६.११५*२
924 या निशा सर्व १८.३४*१
1749 यावन्ति सन्ति ३३.५७*१
859 यावन्तः कुरुते १६.३८*१
2076 * येन येन हि ३६.४३*१
976 * यो धर्मं दहति १८.८४*१
1129 * रागी बध्नाति २१.२१*१
1409 * रात्र्यन्तयाम २६.१०१*१
1345 रेचनादुदर २६.४३*१
161 लोष्टं च वारिणा २.११०*१
1966 वर्णयुग्मं श्रुत ३५.५३*१
822 वास्तु,क्षेत्रं धनं १६. ३*१
1346 विकसत्याशु २६.४३*२
1000 * विधाय मायां १८.१०४*२
1686 विलीनाशेषकर्माणं ३२.२८*१
1875 विलीनाशेषकर्माणं ३३.१७८*१
2029 * वीतरागो भवेत् ३५.११४*१
2002 * शङ्खेन्दुकुन्द ३५.८८*१
306 * शतमाशीतं प्रथितं ४.२१*१
2163 * शब्दाच्छब्दान्तरं ३९.१९*२
1721 शिवाभ्युदयदं ३३.३२*१
2145 * शुचिगुणयोगात् ३९. ४*२
2164 * श्रुतस्कन्धमहा ३९.१९*३
2185 षण्मासायुषि ३९.३७*१
307 * षष्टिविज्ञान ४.२१*२
392 * सप्तानां प्रशमात् ६. ६*३
1353 * समाकृष्य यदा २६.४९*१
391 * सम्यक्त्वमथ ६. ६*२
1428 * सुखदुःखजय २६.११५*३
1624 * सूक्ष्मं जिनेन्द्र ३०. ७*१
1508 सो ऽयं समरसीभावः २८.३६*१
1833 सौधर्मो ऽयं महा ३३.१३८*१
315 * हतं ज्ञानं ४.२६*३
1800 हस्त्यश्वरथ ३३.१०६*१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4. पारिभाषिकादि-शब्दसूची

अकाम-निर्जरा 191
अक्षरोध 1013 F.
अक्षसुख 1025 F.
अगस्त्य 1169
अङ्ग 284,1075-6,1630
अङ्गार 897
अचौर्य 573 F.
अच्युत 1868
अज 1922
अजीव 396,414 F.
अज्ञानी 1550
अज्ञान 343
अणिमा 1059, 1461,1941, 2006
अणु 417
अधर्म 414,420,422,2204
अध्यात्मवेदिन् 912
अनन्तगुण 1054
अनन्तचतुष्टय 1061*१,1483, 2175
अनभ्यास 1617
अनायतन 395
अनाहत 1937,2004
अनाहततत्त्व 1919
अनित्यता 304
अनित्य-भावना 56 F.
अनिष्टयोग 1203-4 F.
अनिष्टयोगार्त 1204
अनुत्तर 2128,2130
अनुप्रेक्षा 1195,2114
अनुभागबन्ध 436
अनुष्ठेय 2090
अनेकान्त 17
अन्तरात्मा 1517 F.
अन्तर्ज्योति 1942
अन्यत्वभावना 144 F.
अन्ययोगव्यवच्छेद 527
अपराजितमन्त्र 1952
अपायविचय 1621, 1640 F., 1656
असत्त्व 1060*3
अप्रतिपात 455
अप्रमत्त-मुनि 1326
अप्रशस्त ध्यान 1196
अभव्य 407, 409
अभिचार 340, 1190
अभेदविद्य 1602
अमूर्त 2102
अयोगकेवली 1972
अयोगिन् 2152,2196
अयोगिपरमेष्ठी 2196
अरविन्दासन 1311
अरहंत 1965
अरहंतसिद्ध 1964
अर्कतूल 1444
अर्थपर्याय 433
अर्थसंक्रान्ति 2156
अर्धपर्यङ्क 1311
अर्हं 1931
अर्हन्तं 2058
अलक्ष्य 1620
अलोक 224
अवग्रह 452
अवधि 454
अवधिज्ञान 451
अविद्या 261,333,792,1067, 1091,1202,1476
अविद्यावासना 1618
अविरति 435
अव्ययपद 2139
अशरणभावना 97 F.
अशुचित्वभावना 156 F.
अशुभाशय 274
अष्टगुण 1496, 2133
अष्टाक्षरमन्त्र 2011
असत्य 175
असद्ग्रह 1617
असद्ध्यान 1198,1262,2085, 2087
असंयम 1600
असात 124
असातावेदनीय 1672
असिआउसा 2023
अस्वीं 2004
अहम् 1535
अहंज्ञान 1646 F.
अहंमति 1568
अहमिन्द्र 1869
अहिंसा 472,478,503 F.
अ: 1967
आकर्षण 341
आकाश 423
आगम 1193,2044

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आग्नेयी 1879,1886 F.
आज्ञाविचय 1617,1621,1622
आज्ञासिद्ध 1624
आज्ञैश्वर्य 1941
आत्मज्योति 1946
आत्मन् 1051
आत्मज्ञान 1513
आत्मविज्ञान 1609 F.
आत्मसामर्थ्य 1061 F.
आत्मा 916 F.
आत्माभ्यास 1521
आदान (समिति) 899 F.
आदाननिक्षेप (समिति) 888
आदिसंहनन 2143
आदेय 1165
आद्यसंहनन 2117,2120
आभियोगिकी 330
आरम्भ 177,481
आर्त 1199,1203,1218
आर्तध्यान 1180 F., 1199
आर्तरौद्र 1223 F.
आर्तलिङ्ग 1222
आर्य 1775
आर्हन्त्य 2033, 2181,
आवरण 143
आशय 273
आशा 864 F.
आशापिशाची 864 F.
आसन 1071
आसनजय 1331 F.
आस्तिक्य 398
आस्रव 170 F., 396,1650
इन्द्रियार्थरागहानि 1047
इष्टवियोगज 1208-10
इष्टवियोगार्त 1210
इष्टार्थात्यय 1203,1208
ईडा 1416
ईर्यासमिति 888,890 F.
ईशान 1922
उच्चाटन 341
उत्पत्ति 1625
उत्पाद 897
उत्सर्गसमिति 888
उत्साह 1071
उद्गम 897
उपनय 1629
उपेक्षा 1279 F.
एकत्व 133 F., 2150,2169-70
एकत्वध्यान 2166
एकद्रव्य 419
एकाग्रचिन्तारोध 1194
एषणासमिति 888,897 F.
ऐरावण 1844
ओं 1951
ओं अरहंत 1972
ओं अर्हन्मुख 2018
ओं जोग्गे 2005
ओं णमो 2010
ओं नमो ऽर्हते 1977
ओं श्रीं 1974
ओं ह्र ऽ 2001
ओं ह्रां 1969
औदासीन्य 1284
औपशमिक 391
कपाट 2187
करण 2089
करणग्राम 1036
करुणा 1273 F., 1276
कर्मघात 1685
कर्मजक्रम 1482
कर्मनिर्जरा 956
कर्मप्रकृति 2195
कर्मप्रकृतयः 1667 F.
कल्प 119, 1779, 2132
कल्पपादप 1865
कल्पवासिन् 2131, 2133
कल्पातीत 2131
कल्याणमहिमा 1992
कल्याणविभव 2179
कषाय 173, 435, 481, 930, 2146
कषायनिवारण 1007 F.
काकतालीयक 247
कान्दर्पी 330
कापालिक 1290
कामतत्त्व 1060*7
काय 415
कायगुप्ति 889
कायदण्डन 1098
काययोग 2191
कायोत्सर्ग 176, 1311, 1313
काल 414,424-25, 1664 F.
किंनरपुर 50
कुन्तल 1060*7
कुम्भक 1344, 1348, 1353, 1930, 1949
कुशास्त्र 29
कृष्णनीलाद्यसल्लेश्या 1219
कृष्णलेश्या 1257, 1703, 1755
कृष्णलेश्याबल 1258
केरली 1060*7
केवल 456
केवलज्ञान 451, 2173
केवलदर्शन 2173
कैल्बिषी 330
कोप 1117
कौल 1290
कौलिक 547
क्रिया 313
क्रियाविद् 306

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रोध 929, 931, 932 F.
क्रोधजयभावना 940 F.
क्लेश 1074
क्षपक 2123
क्षमा 485, 962, 975
क्षायिक 391
क्षायोपशमिक 1221, 1261, 2125
क्षायोपशमिकभाव 1261
क्षीणमोह 2157
क्षेत्र 1661 F.
क्ष्वीं 1995
गति 401, 1351
गन्धर्व 1060*7
गारुडमुद्रा 1060*6
गुण (स्थान) 413
गुणश्रेणि 1684
गुणाष्टक 2001
गुप्ति 474, 476, 889
गुरुपञ्चक 1952, 1962
गुरूपदेश 1072
गृहाश्रम 294, 300
गोत्र 1681
ग्रन्थ 821, 822, 824, 825, 839
ग्रह 1060*6
ग्राहक 1506
ग्राह्य 1505
ग्रैवेयक 2128, 2130
घातिकर्म 2139, 2171
घातिकर्मक्षय 2139
घातिचतुष्टय 2183
चण्डिका 1290
चतुर्थ 1961, 1963
चतुर्मुख 2060
चत्तारि मंगलं 1971
चन्द्रक्षेत्र 1420
चन्द्रलेखा 1997
चरमवपुस् 2137
चरमाङ्गान्न्यून 2101
चार 1351
चारित्र 473
चारित्रमोह 1674 F.
चार्वाक 547
चित्तदैत्य 1102, 1105
चित्तप्रसक्ति 1075
चित्तयोग 2191
चित्तालम्बन 1468
चिदानन्द 919
चौर्य 573 F., 1225
चौर्यरौद्र 1246
चौर्यानन्द 1246
छत्रत्रय 2053
जनपदत्याग 1071
जम्बूद्वीप 1772
जातिस्मरण 1849 F.
जाप (लाभ) 1917
जिन 1923
जिनपति 1921
जीव 396, 397, 404
जीवप्रदेश 1060*1
जीवाशय 273
ज्योतिर्मय 1940
ज्योतिष्क विमान 1778
ज्ञान 313, 449 F.
ज्ञानवादिन् 308
ज्ञानविज्ञान 813
ज्ञानशास्त्र 25
ज्ञानार्णव 2230
ज्ञानावरण 1060*2, 1668 F.
ज्ञानिन् 466, 1550
डाकिनी 1060*6
णमो अरहंताणं 2016
णमो सिद्धाणं 1976
तत्त्व 396
तत्त्वनिश्चय 1071
तत्त्वरुचि 387
तत्त्वरूपवती 1879, 1904 F.
तत्त्ववित् 1934
तनुत्रय 1162, 1586
तन्त्र 651, 1060*6
तन्मयत्व 2073
तपस् 195 F., 256
तुर्यध्यान 2056
तृष्णा 1042
त्रस 126, 232, 400
त्रिरत्नशुद्धि 2138
त्रिवर्ग 988
त्रिशुद्धि 385
त्रैविद्य 16
दण्ड 2187
दया 398
दर्शन 442 F.
दर्शनमोह 1673
दशग्रीव 688
दशाङ्गभोग 2133
दानवी 330
दिविसौख्य 2133 F.
दिव्यवाणी 2051
दिव्यसिद्धि 1050
दुर्नय 2048
दुर्भाषा 895 F.
दुर्लेश्या 336
दृगावरण 1669 F.
दृग्दोष 395
दृष्टिमोह 1673 F.
देवराज्य 2131
देवलोक 1782 F., 1789
दैत्य 1060*6
दोष (अष्टादश) 2040
दोषत्रय 1162

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्य 414, 1660
द्रव्यपर्याय 1504
द्रव्यसंवर 180
द्रव्यादिचतुष्टय 1060*1, 165 F.
द्विज 547
द्वीपायन 93
धन 848, 855, 862
धनिन् 849-50 F., 856
धर्म 201F, 202 F, 220,414, 420-21, 1199, 1616, 2204
धर्मचक्राधिप 2178
धर्मचक्रिन् 2040
धर्मध्यान 1199, 1267, 1616, 1621, 2112 F, 2125, 2139, 2140 F.
धर्मध्यानस्वामिन् 1329
धर्मध्येय 1488
धर्म्य 1486
धारणा 1071, 1878
धूम 897
धैर्य 1071
ध्याता 288, 289,356, 1269, 1314 F.,1319,1322F., 1327, 1330, 1507 F., 1916, 2108
ध्यान 197,258 F., 284, 288, 1058, 1071, 1184, 1195, 1201, 1334 F., 1470, 1507, 1512., 1685, 2029, 2108
ध्यानकालवसति 1309
ध्यानतन्त्र 271, 319, 1457
ध्यानप्रत्यय 1469
ध्यानप्रभाव 1909
ध्यानलक्षण 273-82
ध्यानविरुद्धस्थान 1267 F.
ध्यानशास्त्र 2229
ध्यानसामग्री 261
ध्यानसिद्धि 1302 F., 1320 F., 2030
ध्यानस्थान 1302 F.
ध्यानस्थिति 1323 F.
ध्यानावलम्बिन् 375
ध्यानावस्था 1323 F.
ध्यानासन 1310
ध्यानिन् 1931
ध्येय 288, 1487 F., 1502, 1507 F., 2067, 2090
नभस् 414
नमः सर्व 2024
नय 1625, 1629, 2036
नरक 1704, 1750, 1769
नरककल्प 1749
नरकभूमि 1698 F.
नरत्व 234, 247
नरेन्द्र 1060*6
नवकेवललब्धि 2056
नाडिकाशुद्धि 1432 F.
नाडी 1358
नाभिकमल 1436
नाम 1680
नास्तिक 328
निकाय 119
निकृति 989
निक्षेप 1625, 1628
निगोद 549
नित्यता 304
निदान 1060*1, 1203, 1214
निदानार्त 1215
नियम 1071
निरालम्ब 1620
निर्जरा 191, 396, 1650
निर्ममत्व 269, 368
निर्वाण 706
निर्वेद 172, 198, 268, 333, 1033, 1489, 1990, 2125.
निर्वेदपदवी 2120
निश्चय 1071
निःसंग 821, 823
नैराश्य 872
पञ्चगुणस्थान 1258
पञ्चतत्त्व 1969
पञ्चनमस्कार 1952, 1955 F.
पञ्चमगुणस्थान 1258
पञ्चमयी विद्या 1969
पतङ्गमार्ग 1433
पदस्थ 1877, 1910 F., 2025
परब्रह्मन् 352
परमतत्त्व 1934
परमसंवर 189
परमागम 181
परमात्मन् 1057,1060, 1490, 1492, 2107
परमेश्वर 1350, 2046 F.
परमेष्ठिन् 1608
परमेष्ठिरूप 1556 F.
परंज्योति 922, 1511
परात्मा 1517
परिग्रह 820, 836
परिग्रहदोष 819
परीषह 332, 840, 905
पर्यङ्क 905, 1311, 1313
पर्याय 128
पवनप्रचार 1453
पातालसिद्धि 343
पादुका 343
पार्थिव 1363, 1364
पार्थिवी 1879 F.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाषण्डिन् 301
पिङ्गला 1416
पिण्डस्थ 1877 F.
पुण्याशय 274
पुद्गल 180, 417
पुरन्दर (वायु) 1369
पुरुषाकार 2032, 2102-3
पुरुषार्थ 249
पूरक 1344, 1347, 1353
पूर्ण 1424
पूर्व 284, 1630
पृथक्त्ववितर्क 2149 F.
पृथ्वीतत्त्व 1060*2
प्रकृतिबन्ध 438
प्रकीर्णक 284, 453, 1630
प्रज्ञा 48, 318, 787
प्रणव 2000, 2010, 2016
प्रतर 2187
प्रत्याहार 1071, 1456
प्रदेश 431
प्रदेशबन्ध 437
प्रमत्त मुनि 1326
प्रमाण 1625, 2040
प्रमाद 292, 435, 467, 482
प्रवृत्ति 1358
प्रवेश (कायादि) 1450 F.
प्रशम 172, 260, 393, 398, 482, 964 F., 1150, 2126, 2146
प्रशस्त ध्यान 1196 F.
प्राणप्रचार 375
प्राणायाम 1071, 1302 F., 1342, 1359, 1459, 1464
प्रातिहार्य 2055
बकवृत्ति 998
बन्ध 396, 434, 480, 915
बन्धुरासन 1311
बभ्रुवाहन 1060*5
बहिरात्मा 1517 F.
बीजाक्षर 1060*3
बुद्ध 1922
बृहस्पति 694
बोधचक्षु 324
बोधि-भावना 231 F., 243
बोधिरत्न 242-3
ब्रह्म 351, 593
ब्रह्मचर्य 593 F.
ब्रह्मलोक 111
ब्रह्मविहार 817
भव्य 5, 407, 908, 2128
भव्यात्मन् 2031
भाव 125, 429, 430, 1666F.
भावना 54, 887, 1195, 1283
भावशुद्धि 482,799,821,1097
भावसंवर 181
भाषासमिति 888, 893 F.
भेदपरिज्ञान 1515
भेदवित् 1603
भेदाभ्यास 1597
भोगार्त 1213
भोगिभय 620
भोगिवेग 620
मङ्गलशरण 1971
मण्डल 1060*6,1362,1933, 2081, 2089
मण्डलगति 1358
मति 452
मतिज्ञान 451
मद 977
मनःपर्यय 455
मनःपर्ययज्ञान 451
मनःशुद्धि 800, 1085 F.,1110
मनःस्थैर्य 1072
मनुष्य (जन्म) 1717 F.
मनोगुप्ति 889, 903
मनोरोध 1077 F., 1083
मनोव्यापार 1071
मन्त्र 651, 1924, 1933, 2081, 2089
मन्त्रपद 1918
मन्त्रमूर्ति 1923
मन्त्रराज 1921
मन्त्राधिप 1930
मरुत् 1363, 1366, 1371
महातत्त्व 1924
महातन्त्र 54
महाबीज 1949
महामन्त्र 1887, 1955 F.
महावीर 2062
महाव्रत 474, 885
महेश्वर 1922
मान 978 F.
मानिन् 981
मानुषोत्तर 1774
माया 990 F.
मायायुग 2003
मायावर्ण 1981
मार्गणा 413
मार्गद्वय 1192
माहेन्द्र (वायु) 1374
मिथ्यात्व 435, 2177
मुदिता 1277, 1278
मुद्रा 1060*6, 1933, 2081, 2089
मूर्च्छा 823
मूषिकोदर 2104
मृषानन्द 1225, 1245
मृषारौद्र 1238
मैत्री 172, 1271 F.
मैथुन 598, 700 F.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मैथुनदोष 711
मोक्ष 45, 252 F., 396, 915
मोक्षाकाङ्क्षा 973
मोह 1137 F. 1617
मोहग्रन्थि 839, 865
मोहनिद्रा 1284
मोहप्रकृति 389
म्लेच्छ 1775
यक्ष 1060*6, 7
यज्ञ 489
यथाख्यातचरण 2200
यन्त्र 651, 1060*6, 2089
यन्त्रनाथ 1352, 2084
यन्त्रवाहक 2076
यम 55, 172, 482, 1071, 1074
यमव्रत 532, 554
युक्ति 1193, 2044
योग 170, 177, 435, 481, 527, 889, 1536
योगनिद्रा 1284
योगप्रवृत्तिचिह्न 2127
योगसंक्रान्ति 2157
योगसिद्धि 1071
योगाभ्यास 1577
योगिन् 2100
योगिसुख 1035 F.
रक्षारौद्र 1251
रजस्तमस् 41
रत्नत्रय 386, 908 F., 910, 914, 916, 1060*1, 1641
रविमार्ग 1379
राग 1107 F., 1119 F.
रागद्वेष 1126, 1131, 1133, 1134
रिक्त 1424
रुक्प्रकोप 1203
रुद्र 1290
रूप 2094
रूपवर्जित 1877
रूपस्थ 1877, 2033 F.
रूपातीत 2080 F., 2094
रेचक 1344, 1349, 1354
रोगार्त 1211 F.
रोष 931 F.
रौद्र 1199, 1223-5, 1755
रौद्रलिङ्ग 1235 F., 1259 F.
रौरव 488
लक्ष्य 1620
लघुपञ्चाक्षरोच्चार 2202
लय 9, 1087, 2097
लाटी 1060*7
लेश्या 1219
लेश्याविशुद्धि 1330
लोक 224 F., 1696
लोकपूरण 2187, 2189 F.
लोकप्रमाण 1697
लोकभावना 224 F.
लोकस्वरूप 1689 F., 1771 F.
लोकान्त 2205
लोभ 1003 F.
वज्रासन 1311
वरुणपुर 1060*3
वर्णमातृका 1911, 1915
वर्णमात्र 1935
वर्णसप्तक 1999
वर्धमान 2062
वह्नि 1363, 1367, 1372
वह्नितत्त्वम् 1060*4
वाक् (योग) 2191
वाग्गुप्ति 889, 904
वाचक 1946
वाचस्पति 1178
वाच्य 1946
वायु (फल) 1374 F.
वायु (त्रय) 1692 F.
वायुतत्त्वम् 1060*5
वायुसंक्रम 1441
वारुण 1363, 1365, 1370
वारुणी 1879, 1900 F.
वासना 1069, 1202, 1618
वासीचन्दन 967
विकल्प 1175
विक्रिया 2082
विक्रियाकर्मन् 344
विघ्नकर्म 1682
विचिन्त्य 2090
विज्ञान 1023, 2047
विज्ञानमयप्रदीप 1063
विज्ञानविद् 307
विज्ञानिन् 951, 1152
विटविद्या 768
वितत्त्व 1060*6
वितर्कवीचार 2149 F.
वित्त 847, 861
विद्याधर 1060*7
विद्यानुवाद 2020, 2083
विपाकविचय 1621, 1658 F.
विभ्रम 1617
विमान 119
विविक्तस्थान 1286
विवेक 268, 2126, 2138
विशुद्धात्मा 1615
विशुद्धि 455
विश्वदर्शिन् 2075
विषय 1030 F.
विषयसुख 1041
वीचार 1869, 2130
वीतराग 1125 F. 2079 F.
वीतरागता 2030

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वीर 476, 852, 1019, 2005, 2031, 2228
वीरनाथ 1216
वीरासन 1311
वृत्त 472
वृद्ध 776
वृद्धसेवा 771 F.
वृषभसेन 2045
वेग 623
वेद 825
वेदनार्त 1212
वेदनीय 1670 F.
वेध 342, 1444 F.
वैक्रियिक 1756
वैनतेय 1059
वैनयिक 307
व्यक्ति 1479, 1491, 2099
व्यञ्जनपर्याय 433
व्यञ्जनसंक्रान्ति 2156
व्यय 1625
व्युत्सर्ग (समिति) 901
व्रत 476-77
शक्ति 1479, 1491, 2099
शतमख 694
शम्भु 1416
शम 954
शमक 2124
शशिमार्ग 1379
शालिमत्स्य 517
शिव 878, 1059, 1193, 1922, 2024
शिवतत्त्व 1060*1, 1944
शिवत्व 2097
शिवपद 255
शिवास्पद 1998
शिवीभवेत् 141
शिवीभूत 872

शुक्ल 1199, 1486, 1616, 2117, 2139, 2142-47F.
शुक्लध्यान 1060*1, 1199, 1616, 2120, 2139, 2143
शुक्ललेश्या 1869, 2125
शुद्धलेश्या 275
शुद्धि (द्विधा) 830
शुद्धोपयोग 274, 1513F., 1616
शुनासीर 1060*2
शुभाशुभ 1599
श्रद्धान 1072
श्रीमद्वृषभादि 2017
श्रुत 453
श्रुतज्ञान 451, 453, 1625, 1627, 1632
श्रुतलक्षण 1636 F.
श्रुतशून्य 1612
श्रुतस्कन्ध 6, 918, 1969, 2162, 2164
श्रुतस्कन्धबीज 2027
श्लेष 145
श्वसना 1879, 1896 F.
षड्गुणस्थानक 1217
षोडशाक्षरी विद्या 1962
सकाम-निर्जरा 191
सत्य 174, 531 F.,
सत्यव्रत 557
सत्संग 803
सदाभ्यास 1072
सन्मति 474, 2061
सन्मार्गच्युति 1028
सप्ताक्षरमन्त्र 2015
सप्तानीक 1800
सबीजध्यान 1512
समत्व 902, 944, 963, 1147, 1170, 1183, 1460

समत्वप्रभाव 1167
समय 909, 2190
समाधि 486, 1071, 1331, 1459
समारम्भ 481
समास 413
समिति 190, 474, 476, 888
समुच्छिन्नक्रिया 2151, 2196
समुद्घात 2184
सम्यक्चारित्र 912
सम्यक्त्व 387, 391
सम्यग्ज्ञान 257, 912
सम्यग्दर्शन 388, 912
सम्यग्दर्शनदोष 395
सयोगिन् 2152
सर्व 1922
सर्वज्ञदेव 1625, 1991
सर्वज्ञशासन 7
सर्वज्ञीभूत 2074
सर्वार्थसिद्धि 2128
सविकल्प (ध्यान) 284, 288
सवितर्कमवीचार 2150 F.
सवीर्यध्यान 1470, 1512
संकल्प 517
संक्रम 1358, 2155
संग 322, 823, 827-28, 831-32 F.
संचरण 1449 F.
संचार 1461
संजयन्त 2020
संज्ञा 904
संतोष 1071
संमोही 330
संयम 298, 819 F., 1600
संयमिन् 854, 924, 1049, 1183
संरक्षण 1225

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संरक्षणानन्द 1257
संरम्भ 481
संवर 179 F., 396
संवृतात्मा 182
संवेग 268, 333, 393, 398, 1990
संसर्ग 726
संसार 116 F., 125
संस्कार 1220
संस्था 1351
संस्थानविचय 1689 F., 1876
संस्थितिविचय 1621
संहनन 1194, 2117
सात 93
सातावेदनीय 1671
सामायिक 473
साम्य 1147 F., 1163, 1165 1182
साम्यवृत्ति 1173
सार 1059
सार्व 1922
सालम्ब 1620
सिद्ध 398, 1060*7, 1956
सिद्धचक्र 2020 F., 2021
सिद्धज्ञान 2212 F.
सिद्धवीर्य 2216
सिद्धवैभव 2217 F., 2221
सिद्धसुख 2208
सिद्धात्मा 1498
सिद्धि 1941
सिद्धिधाम 1872 F.
सुखलेश्या 1871
सुखासन 1311
सुप्रतिष्ठितयोग 1577
सुरसंभव 1812 F.
सुषुम्ना 1416
सूक्ष्म 1620
सूक्ष्मक्रिया 2194
सूक्ष्मक्रियाप्रतीपाति 2151
सौधर्म 1868
स्कन्ध 417
स्त्री 641 F.
स्थान (त्याज्य) 1289 F.
स्थावर 126, 400
स्थिति 1625
स्थितिबन्ध 436
स्थिरमनः 1072
स्थूल 1620
स्याद्वाद 453
स्व 2032
स्वज्ञान 915
स्वतत्त्व 1112
स्वदर्शिन् 920
स्वभावस्थ 2110
स्वयंभू 1993
स्वयंभूरमण 1772
स्वसंवेद्य 1543
स्वस्तिक 1060*4
स्वाङ्गगर्भ 2032
ह 1936
हूँ 1432, 1888
हर 638
हरि 638, 1922
हंसपद 2003
हिंसा 490
हिंसानन्द 1225, 1236 F.
हिंसारौद्र 1226 F.
हेय 1165
ह्रीं 1982

5. विशेषनामसूची

इन्द्रभूति 6
चन्द्रप्रभ 3
जिनसेन 16
देवनन्दी 15
द्वारवती 935
द्वीपायन 935
भट्टाकलङ्क 17
वसु (राजा) 571
वृषध्वज 1
शान्तिनाथ 4
शालिमत्स्य 517
श्रीवर्धमान 5
समन्तभद्र 14
स्वयंभूरमणार्णव 517

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

6. व्याख्यायुक्त-नाम-सूची

अपायविचय 1640
अलोक 224
असद् ध्यान 1198
अहिंसाव्रत 479
आग्नेयी (धारणा) 1886-95
आदानसमिति 899-900
आर्तध्यान 1202-15
आस्रव 170
ईर्यासमिति 890-92
उपेक्षा (भावना) 1279-80
एषणासमिति 897-98
करुणा (भावना) 1274-76
कायगुप्ति 905
काल 424-25
कुम्भक 1348
केवलज्ञान 456
चरण 476
चौर्यरौद्र 1246
ज्वलनाख्य पवन 1372
जीव 405
ज्ञान 449-50
तप 196
द्रव्यसंवर 180
धर्म 220-21
ध्याता 289, 356
ध्यान 275-76, 1194-95
निर्जरा 191
पदस्थ (ध्यान) 1910
परमात्मस्वरूप 1491-99
परिग्रह 820
पवनाख्य पवन 1371
पुरन्दराख्य पवन 1369
पूरक 1347
प्रत्याहार 1456
प्रशस्त ध्यान 1197
पार्थिवी (धारणा) 1880-85
बाह्यार्थ 824
भावसंवर 181
भाषासमिति 893-96
मनोगुप्ति 903
मन्त्रराज 1919
महाव्रत 885-86
मारुती (धारणा) 1896-99
मुदिता (भावना) 1277-78
मृषारौद्र 1238
मैत्री (भावना) 1271-73
मोक्ष 252-55
योग 170
रूपातीत (ध्यान) 2095
रेचक 1349
रौद्रध्यान 1224
लोक 224
वचनगुप्ति 904
वारुणाख्य पवन 1370
वारुणी (धारणा) 1900-1903
विपाकविचय 1658
वृत्त 472, 474
वृद्ध 774-77
व्युत्सर्गसमिति 901
व्रत 477
शुक्लध्यान 2144-46
सबीज ध्यान 1512
सत्यव्रत 557
सम्यग्दर्शनभेद 392
संरक्षणरौद्र 1257
संवर 179
हिंसारौद्र 1226

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

7. शुद्धिपत्रम्

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
105	2	निश्यानित्या	नित्यानित्या
244	5	स्थिचवणात्	स्थिचर्वणात्
257	6	धैयनाशं	धैर्यनाशं
314	5	यस्कृतं कम	कर्म
378	8	मृततृष्णा	मृगतृष्णा
406	3	कलयत्युष्कृष्टता	कलयत्युत्कृष्टता
420	2	चतुथम्	चतुर्थम्
455	7	पयङ्क	पर्यङ्क
476	1	गभस्य	गर्भस्य
525	1	ऽन्यत्रव	ऽन्यत्रैव
533	1	मन्य	मन्ये
537	4	विचयौ	विचयो
553	6	जोवैर्विष	जीवैर्विष
594	2	परिमोत्सवं	परमोत्सवं
601	8	कल्पातीतास्तता	कल्पातीतास्ततो
628	8	श्रुतस्कांधाद्	श्रुतस्कन्धाद्
637	6	मायायुगं	मायायुगं[२]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0:In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi